

भगवत

विआहपण्णत्ती
(खण्ड-२)



नित नया उन्मेष जिस मस्तिष्क का संधान है।
वाचना के प्रमुख तुलसी का सकल अनुदान है।
भाष्य-युग की शृंखला में एक नव्य प्रयोग है।
राष्ट्रभाषा में विनिर्मित “भगवती” - अनुयोग है।।

वाचना - प्रमुख
आचार्य तुलसी

संपादक : भाष्यकार
आचार्य महाप्रज्ञ

भगवई

भगवान् महावीर (इस्वी पूर्व ५९९-५२७) की वाणी द्वादशांगी में संकलित है। उस द्वादशांगी के पांचवें अंग का नाम है- विआहपण्णत्ती जो 'भगवती सूत्र' के नाम से सुप्रसिद्ध है। जैन साहित्य में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भगवती को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसमें दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र, जीवविद्या, लोकविद्या, सृष्टिविद्या, परामनो-विज्ञान आदि अनेक विषयों का समावेश है। प्रस्तुत खंड में पांच शतकों (३ से ७) के मूलपाठ, संस्कृत छाया तथा हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन विस्तृत भाष्य के साथ हुआ है। साथ में अभयदेवसूरि-कृत वृत्ति भी प्रकाशित है। इसमें भावितात्मा अनगार की वैक्रिय शक्ति के विविध पक्षों पर विमर्श किया गया है। इसका संबंध रहस्य-विद्या से है। स्वर्ग के इन्द्रों के विषय में भी इसमें कुछ वर्णन उपलब्ध है। दिन-रात के कालमान के विषय में अनेक कोणों से विचार किया गया है। कुमार श्रमण अतिमुक्तक की चंचलता और उसकी मुक्ति का संक्षिप्त वर्णन इसमें प्राप्त है। पापक्रिया, परमाणु, हेतुवाद, कर्मप्रकृति-बन्धन, तमस्काय एवं कृष्णराजि के बारे में अनेक सूचनाएं इस खंड में उपलब्ध हैं। गणनाकाल और औपमिक काल का उल्लेख भी इसमें किया गया है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म से पूर्व जीव की आहार की स्थिति का वर्णन भी इसमें प्राप्त है। हाथी और कुंथु के जीव की समानता, आघाकर्म, महाशिलाकंटकसंग्राम, रथमुसलसंग्राम, पंचास्तिकाय के बारे में अनेक सूचनाएं इस खंड से प्राप्त की जा सकती हैं। प्रस्तुत ग्रंथ को समग्र दृष्टि से भारतीय दार्शनिक वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है।

भ ग व ई

विआहपण्णत्ती

[खण्ड-२]

(शतक ३, ४, ५, ६, ७)

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य तथा अभयदेवसूरिकृत वृत्ति

एवं परिशिष्ट—शब्दानुक्रम आदि सहित)

वाचना-प्रमुख
आचार्य तुलसी

संपादक: भाष्यकार
आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती

लाडनूं, राजस्थान - ३४१३०६

प्रकाशक:

जैन विश्व भारती

लाडनूँ - ३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूँ

ISBN-81-7195-049-3

सौजन्य : पूज्य पिताजी श्री संतोक्चंदजी ललवानी की पुण्य स्मृति में
उनके सुपुत्र श्री कमल किशोर ललवानी
(नोखा, कलकत्ता)

प्रथम संस्करण: दिसम्बर, २०००

पृष्ठ संख्या : २० + ५७०

मूल्य : ६९५/-
U.S. \$ 50

मुद्रक :

कला-भारती,

नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

फोन: (०११)२२८०९०५

BHAGAWAĪ

VIĀHAPANNATTĪ

[Volume - II]
(Shatak 3, 4, 5, 6, 7)

(Prakrit Text, Sanskrit Renderings, Hindi Translation and Bhāṣya [Critical Annotations] with Vṛtti of Abhayadevasūri and Appendices – Indices etc.)

Synod Chief

(Vāchanā-pramukha)

ACHARYA TULSI

Editor and Annotator (Bhāṣyakāra)

ACHARYA MAHAPRAJNA

JAIN VISHVA BHARATI

Ladnun, Rajasthan - 341306

(INDIA)

Publishers :
Jain Vishva Bharati
Ladnun-341306 (Raj.)

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

ISBN-81-7195-049-3

Courtsey : Shri Kamal Kishore Lalwani (Nokha-Calcutta)
in the auspicious memory of his adorable
father Late Shri Santok Chandji Lalwani.

First Edition : December, 2000

Pages : XX+570

Price : Rs. 695/-
US \$50

Printed by :
KALA-BHARATI
Navin Shahdara, Delhi-32
Phone: (011) 2280905

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्टो वि षण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिव्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लब्धं सुलब्धं णवणीयमच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्धान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में, मेरे में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

विनयावन्त

आचार्य तुलसी

भगवती भाष्य वन्दना

वाणी-वन्दना

सत्य की अभिव्यक्ति में अक्षर सहज अक्षर बना ।
वन्दना उस आप्त-वाणी की करें पुलकितमना ।
भारती कैवल्य-पथ से अवतरित अधिगम्य है ।
सुचिर-संचित तम-विदारक रम्य और प्रणम्य है ॥

वीर-वन्दना

पुरुष के पुरुषार्थ का अधिकृत प्रवक्ता जो रहा ।
चेतना-निष्ठात हो जो कुछ हुआ सबको सहा ।
समन्वय का सूत्र सम्यग् दृष्टि का पहला चरण ।
वीर प्रभु के चरण-चिह्नों का करें हम अनुसरण ॥

भिक्षु-वन्दना

अगम-आगम के पदों का काव्य था जिसने लिखा
सहज प्रज्ञा से अपथ का पंथ था जिसको दिखा ।
भिक्षु का वर मार्गदर्शन भाग्य से उपलब्ध है ।
सूत्र-सम्पादन नियति का वह बना प्रारब्ध है ॥

जय-कालु-वन्दना

सुचिर पोषित आप्त-वाङ्मय-धेनु का दोहन किया
मुनिप जय ने भिक्षु-गण में प्रवर सूर्योदय किया ।
उदय की इस उर्वरा का बीज हर आलेख है ।
पूज्य कालू के सुचिन्तन का नया अभिलेख है ॥

वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी-वन्दना

नित नया उन्मेष जिस मस्तिष्क का संधान है ।
वाचना के प्रमुख तुलसी का सकल अनुदान है ।
भाष्य-युग की शृंखला में एक नव्य प्रयोग है ।
राष्ट्रभाषा में विनिर्मित “भगवती”-अनुयोग है ॥

विनयावनत

आचार्य महाप्रज्ञ

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तुलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है—

संपादक : भाष्यकार	—	आचार्य महाप्रज्ञ
श्रुतलेखन एवं सम्पादन-सहयोगी	—	युवाचार्य महाश्रमण
सहयोगी संस्कृत छाया, अनुवाद	—	साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा
सहयोगी सम्पादन भाष्य	—	मुनि हीरालाल
		मुनि महेन्द्र कुमार
		मुनि विमल कुमार

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभान समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम-प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य संपन्न हुआ है, वह मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हम बत्तीस आगमों का पाठान्तर शब्दसूची तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सुसंपादित मूल पाठ प्रकाशित कर चुके हैं। उसके साथ-साथ आगम-ग्रन्थों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं प्राचीनतम व्याख्या-सामग्री के आधार पर सूक्ष्म ऊहापोह के साथ लिखित विस्तृत मौलिक टिप्पणों से मंडित संस्करण प्रकाशित करने की योजना भी चलती रही है।

इस शृंखला में आठ आगम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

१. दसवेआलियं
२. उत्तरज्झवणाणि
३. सूयगडो
४. ठाणं
५. समवाओ

प्रस्तुत आगम **भगवई विआहपण्णत्ती** उसी शृंखला का छठा आगम है। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख **आचार्य श्री तुलसी** एवं अप्रतिम विद्वान् संपादक-भाष्यकार **आचार्य श्री महाप्रज्ञ** ने जो श्रम किया है, वह ग्रन्थ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा।

भगवई विआहपण्णत्ती खण्ड १ में प्रथम दो शतकों का प्रकाशन भाष्य-सहित सन् १९९४ में हो चुका है।

प्रस्तुत खण्ड २ में तीसरे से सातवें शतक तक का समावेश है। **भगवती-भाष्य** के प्रथम खण्ड के प्रकाशन के पश्चात् दो आगम और प्रकाशित हो चुके हैं—

७. नन्दी
८. अनुओगदाराइ

आयारो पर संस्कृत में **आचारांग-भाष्यम्** भी प्रकाशित हो चुका है।

श्रद्धेय **युवाचार्य श्री महाश्रमण** के अतिरिक्त मुनि श्री हीरालालजी, मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी और मुनि श्री विमलकुमारजी ने इसे सुसज्जित करने में अनवरत श्रम किया है। संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद **महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभा** ने संपन्न किया है। ग्रंथ की पाण्डुलिपि तैयार करने में आदरणीय समणीवृन्द का बहुत सहयोग रहा है। प्रूफ-संशोधन में मुनिश्री अजितकुमारजी और मुनि श्री विनोदकुमारजी की भी सहभागिता रही है।

ऐसे सुसम्पादित आगम ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सौभाग्य **जैन विश्व भारती** को प्राप्त हुआ है।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

लाडनू
१ सितम्बर २०००

श्रीचंद बैंगानी
कुलपति, जैन विश्व भारती

सम्पादकीय

भगवई विआहपण्णत्ती का द्वितीय खंड पाठक के सम्मुख प्रस्तुत हो रहा है। इसके सम्पूर्ण मूलपाठ का सम्पादन **अंगसुत्ताणि** भाग २ में हो चुका है। हमने जो सम्पादन-शैली स्वीकृत की है, उसमें पाठ-शोधन और अर्थ-बोध दोनों समवेत हैं। अर्थ-बोध के लिए शुद्ध पाठ अपेक्षित है और पाठ-शुद्धि के लिए अर्थ-बोध अनिवार्य है।

प्रस्तुत संस्करण अर्थ-बोध कराने वाला है। इसमें मूल पाठ के अतिरिक्त संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और सूत्रों का हिन्दी भाष्य समवेत है। पाठ-सम्पादन का काम जटिल है। अर्थ-बोध का काम उससे कहीं अधिक जटिल है। कथा-भाग और वर्णन-भाग में तात्पर्य-बोध की जटिलता नहीं है। किन्तु तत्त्व और सिद्धान्त का खण्ड बहुत गम्भीर अर्थ वाला है। उसकी स्पष्टता के लिए हमारे सामने दो आधारभूत ग्रन्थ रहे हैं—

१. अभयदेव सूरिकृत वृत्ति—इसे अभयदेवसूरि ने स्वयं विवरण ही माना है और उसे पढ़ने पर वह विवरण-ग्रन्थ का बोध ही कराता है, व्याख्या-ग्रन्थ का बोध नहीं देता।

२. **भगवती जोड़**—इसमें श्रीमज्जयाचार्य ने अभयदेवसूरि की वृत्ति का पूरा उपयोग किया है। 'धर्मसी का टबा' का भी अनेक स्थलों पर उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त आगम और अपने तत्त्वज्ञान के आधार पर अनेक समीक्षात्मक वार्तिक लिखे हैं।

हमने भाष्य के लिए आगम-सूत्रों, श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ साहित्य, वैदिक और बौद्ध परम्परा के अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया है। 'आयारो' का भाष्य संस्कृत भाषा में लिखा गया है। **भगवती** का भाष्य हिन्दी में लिखा गया है। **ठाणं, सूयगडो** आदि की सम्पादन-शैली यह रही—मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा स्थान और अध्ययन की समाप्ति पर टिप्पण अथवा भाष्य। **भगवती** की सम्पादन-शैली में एक नया प्रयोग किया गया है। प्रत्येक सूत्र अथवा प्रत्येक आलापक (प्रकरण) के साथ भाष्य की समायोजना है। अन्त में छह परिशिष्ट हैं—

१. नामानुक्रम

(क) व्यक्ति और स्थान

(ख) देवलोक-संबंधी

(ग) पशु-पक्षी

२. भाष्यविषयानुक्रम

३. परिभाषिक शब्दानुक्रम

४. आधारभूत ग्रन्थ-सूची ।

५. अभयदेवसूरिकृत वृत्ति—शतक तीन से सात

६. चित्र

प्रत्येक शतक के पहले एक आमुख है। पाद-टिप्पण में सन्दर्भ-वाक्य उद्धृत हैं।

उपलब्ध आगम-साहित्य में **भगवती सूत्र** सबसे बड़ा ग्रन्थ है। तत्त्वज्ञान का अक्षयकोष है। इसके अतिरिक्त इसमें प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाले दुर्लभ सूत्र विद्यमान हैं। इस पर अनेक विद्वानों ने काम किया है। किन्तु जितने श्रम-बिन्दु झलकने चाहिए, उतने नहीं झलक रहे हैं, यह हमारा विनम्र अभिमत है। गुरुदेव तुलसी की भावना थी कि **भगवती** पर गहन अध्ययन के साथ कार्य होना चाहिए। हमने उस भावना को शिरोधार्य किया है और उसके अनुरूप फलश्रुति भी हुई है। इसका मूल्यांकन गहन अध्ययन करने वाले ही कर पाएंगे। हमारा यह निश्चित मत है कि सभी परम्पराओं के ग्रन्थों के व्यापक अध्ययन और व्यापक दृष्टिकोण के बिना प्रस्तुत आगम के आशय को पकड़ना सरल नहीं है।

सहयोगानुभूति

जैन परम्परा में वाचना का इतिहास बहुत प्राचीन है। आज से १५०० वर्ष पूर्व तक आगम की चार वाचनाएं हो चुकी हैं। देवर्द्धिगणी के बाद कोई सुनियोजित आगम-वाचना नहीं हुई। उसके वाचना-काल में जो आगम लिखे गए थे, वे इस लम्बी अवधि में बहुत ही अव्यवस्थित हो गए। उनकी पुनर्व्यवस्था के लिए आज फिर एक सुनियोजित वाचना की अपेक्षा थी। गणाधिपति पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने सुनियोजित सामूहिक वाचना के लिए प्रयत्न भी किया था, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। अन्ततः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि हमारी वाचना अनुसन्धानपूर्ण, तटस्थ दृष्टि-समन्वित तथा सपरिश्रम होगी, तो वह अपने-आप सामूहिक हो जाएगी। इसी निर्णय के आधार पर हमारा यह आगम-वाचना का कार्य प्रारंभ हुआ।

हमारी इस वाचना के प्रमुख **आचार्य श्री तुलसी** रहे हैं। वाचना का अर्थ अध्यापन है। हमारी इस प्रवृत्ति में अध्यापन-कर्म के अनेक अंग हैं—पाठ का अनुसंधान, भाषान्तरण, समीक्षात्मक अध्ययन आदि आदि। इन सभी प्रवृत्तियों में गुरुदेव का हमें सक्रिय योग, मार्ग-दर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। यही हमारा इस गुरुतर कार्य में प्रवृत्त होने का शक्ति-बीज है।

प्रस्तुत ग्रन्थ **भगवती** का सानुवाद और सभाष्य संस्करण है। प्रथम खण्ड में **भगवती** के प्रथम दो शतक व्याख्यात हैं। दूसरे खण्ड में तृतीय शतक से सप्तम शतक तक व्याख्यात हैं। मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य और उनके सन्दर्भ-स्थल तथा परिशिष्ट—ये सब प्रस्तुत संस्करण के परिकर हैं। भाष्य के श्रुत-लेखन एवं सम्पादन में **युवाचार्य महाश्रमण** मेरे सहयोगी रहे हैं। संस्कृत छाया एवं अनुवाद-कार्य **साध्वी प्रमुखा कनकप्रभाजी** ने संपन्न किया है। शोध-कार्य और सम्पादन में मुनि हीरालालजी, मुनि श्रीचन्दजी, मुनि महेन्द्रकुमारजी और मुनि विमलकुमारजी सहयोगी रहे हैं। वृत्ति का संपादन गणाधिपति पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी के सक्रिय सान्निध्य में मुनि हीरालालजी, साध्वी जिनप्रभाजी और साध्वी कल्पलताजी ने किया। अन्य परिशिष्टों के निर्माण में मुनि हीरालालजी ने विशेष श्रम किया है। पाण्डुलिपि के लेखन में अनेक समणियों ने निष्ठापूर्वक श्रम किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में अनेक साधु-साध्वियों का योग है। गुरुदेव के वरद हस्त की छाया में बैठकर कार्य करने वाले हम सब संभागी हैं। फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूँ जिनका इस कार्य में स्पर्श हुआ है।

आचार्य महाप्रज्ञ

संकेत-निदेशिका

अंत.—अंतगडदसाओ	जै. आ. व. को.—जैन आगम वनस्पति कोश
अणु.—अणुओगदाराइं	जै. सि. को.—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
अनुकम्पा.—अनुकम्पा की चौथाई	ज्ञाता. वृ.—ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति
अनु. चू.—अनुयोगद्वार चूर्णि	त. भा.—तत्त्वार्थ भाष्य
अनु. म. वृ.—अनुयोगद्वार मलधारीयवृत्ति	त. रा. वा.—तत्त्वार्थ राज वार्तिक
अनु. हा. वृ.—अनुयोगद्वार हारिभद्रीयवृत्ति	त. सू.—तत्त्वार्थ सूत्र
अ.चि., अभि.—अभिधानचिन्तामणि नाममाला	त. सू. भा. वृ.—तत्त्वार्थ सूत्राधिगम भाष्य वृत्ति
आ.चू.—आयार चूला	ति. प.—तिलोय पण्णत्ति
आप्टे—Apte's Sanskrit English Dictionary	दशवै. जि. चू.—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि
आव. चू.—आवश्यक चूर्णि	दसवे.—दसवेआलियं
आव. नि. हा. वृ.—आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयवृत्ति	नि. चू.—निशीथ चूर्णि
आ. वृ.—आचाराङ्ग वृत्ति	नि. भा.—निशीथ भाष्य
उत्तर.—उत्तरज्झयणाणि	नि. भा. चू.—निशीथ भाष्य चूर्णि
उत्तर. नि.—उत्तराध्ययन निर्युक्ति	निसीह.—निसीहज्झययणं
उवा.—उवासगदसाओ	पं. सं.—पंचसंग्रह
ओ. नि.—ओघनिर्युक्ति	पं. सं. दि.—पंचसंग्रह दिगम्बर
ओवा.—ओवाइयं	पज्जो.—पज्जोवसणाकप्पो
क. पा.—कसाय पाहुड	पण्ण.—पण्णवणा
गो. सा. क.—गोम्मटसार कर्म काण्ड	पण्हा.—पण्हावागरणं
गो. सा. जी.—गोम्मटसार जीव काण्ड	पा. यो. द.—पातच्चल योग दर्शन
जंबु.—जंबुद्दीवपण्णत्ती	पा. स. भ.—पाइयसद्दमहण्णवो
जीवा.—जीवाजीवाभिगमे	प्र. सा.—प्रवचन सारो
जीवा. वृ.—जीवाजीवाभिगमवृत्ति	प्र. सारो.—प्रवचनसारोद्धार

बृ. क. भा.—बृहत्कल्प भाष्य

भ./भग.—भगवती

भ. चू.—भगवती चूर्णि

भ. जो.—भगवती जोड़

भ. वि.—भगवई विआहपण्णत्ती

भ. वृ.—भगवती वृत्ति

राज. वृ., रा. वृ.—राजप्रश्नीयवृत्ति

राय.—रायपसेणइयं

वव.—ववहारो

वि.भा.—विशेषावश्यक भाष्य

व्य. भा. वृ.—व्यवहारभाष्य वृत्ति

ष. ख./ष.—षट्खण्डागम

सम.—समवाओ

सम्मति.—सम्मति प्रकरण

स. सि.—सर्वार्थसिद्धि

स्था. वृ.—स्थानाङ्ग वृत्ति

सूय.—सूयगडो

सूर.—सूरपण्णत्ति

सूत्र. नि.—सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति

सूत्र. वृ.—सूत्रकृताङ्ग वृत्ति

अ.—अध्ययन

उ.—उद्देशक

ख.—खण्ड

गा.—गाथा

प.—पत्र

पु.—पुस्तक

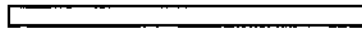
पू.—पूर्ति-स्थल

पृ.—पृष्ठ

(भा.)—भाष्य

भा.—भाग

सू.—सूत्र



विषयानुक्रम

तीसरा शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
आमुख	३-४	१४०-१४२ क्रिया-वेदना-पद	६४-६५
प्रथम उद्देशक		१४३-१४८ अन्तक्रिया-पद	६५-६९
संग्रहणी गाथा	०५	१४९-१५१ प्रमत्त-अप्रमत्त-काल-पद	७०-७१
०१-०३ उत्क्षेप-पद	०५	१५२, १५३ लवणसमुद्र-वृद्धि-हानि-पद	७१
०४-२५ देव-विक्रिया-पद	०५-१८	चौथा उद्देशक	
२६-५३ तामलि का ईशानेन्द्र-पद	१८-३२	१५४-१६३ भावितात्मा-पद	७२-७५
५४-७१ शक्रेशान-पद	३२-३५	१६४-१७१ वायुकाय-पद	७५-७७
७२-७६ सनत्कुमार-पद	३५-३७	१७२-१८२ बलाहक-पद	७७-७९
दूसरा उद्देशक		१८३-१८५ किलेशयोपपाद-पद	७९-८०
७७-७८ चमर का भगवान को वन्दन-पद	३८	१८६-१९३ भावितात्मा-विक्रिया-पद	८१-८३
७९-९६ असुर कुमार वर्णक-पद	३८-४३	पांचवा उद्देशक	
९७-९८ चमर का ऊर्ध्व-उत्पात-पद	४३	१९४-२०८ भावितात्मा विकुर्वणा-पद	८३-८६
९९-१०१ चमर का पूर्व भव में पूरण गृहपति का पद	४३-४४	२०९-२२१ भावितात्मा-अभियोजना-पद	८६-८८
१०२-१०३ पूरण की दानामा प्रब्रज्या का पद	४४-४५	छठा-उद्देशक	
१०४ पूरण का प्रायोपगमन-पद	४५	२२२-२४६ भावितात्मा-विक्रिया-पद	८९-९५
१०५ भगवान की एकरात्रिकी महाप्रतिमा का पद	४६-४७	सातवां उद्देशक	
२०६-१०८ पूरण का चमरत्व-पद	४७-४८	२४७-२४९ लोकपाल-पद	९६
१०९-१११ चमर का कोप-पद	४८-५०	२५०-२५५ सोम-पद	९७-१००
११२ चमर का भगवान की निश्रापूर्वक शक्र की आशातना का पद	५०-५३	२५६-२६० यम-पद	१००-१०३
११३ शक्रेन्द्र द्वारा वज्र-प्रक्षेप-पद	५३-५४	२६१-२६५ वरुण-पद	१०३-१०५
११४ चमर द्वारा भगवान की शरण का पद	५४-५५	२६६-२७१ वैश्रवण-पद	१०५-१०७
११५-११६ शक्र का वज्र-प्रतिसंहरण-पद	५५-५६	आठवां उद्देशक	
११७-१२६ शक्र, चमर और वज्र का गति-विषयक-पद	५६-५९	२७२-२७८	१०८-११०
१२७-१३२ चमर की चिन्ता का पद	५९-६१	नवां उद्देशक	
तीसरा उद्देशक		२७९	१११
१३३-१३९ क्रिया-पद	६२-६४	दसवां उद्देशक	
		२८०-२८१	११२

चौथा शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
आमुख	११५	नवां उद्देशक	
१ से ४ था उद्देशक		०७	१२०
०१-०५	११७-११८	दसवां उद्देशक	
५ से ८ वां उद्देशक		८,९	१२१
०६	११९		

पांचवां शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
आमुख	१२५-१२६	१४-१९	छद्मस्थ और केवली का ज्ञान-भेद-पद १६३-१६४
प्रथम उद्देशक		१००-१०२	केवली के प्रणीत-मन-वचन-पद १६४-१६६
संग्रहणी गाथा	१२७	१०३-१०७	अनुत्तरोपपातिक देवों द्वारा केवली के साथ आलाप-पद १६६-१६८
०१-०३	जम्बूद्वीप में सूर्यवक्तव्यता-पद १२७	१०८-१०९	केवलियों के इन्द्रिय-ज्ञान का निषेध-पद १६८-१६९
०४-१६	जम्बूद्वीप में दिवस-रात्रि-वक्तव्यता-पद १२८-१३२	११०, १११	केवलियों की योग-चंचलता-पद १६९-१७०
१७-२०	जम्बूद्वीप में अयनादि-वक्तव्यता-पद १३२-१३३	११२-११४	चतुर्दशपूर्वियों का सामर्थ्य-पद १७०-१७१
२१-३०	लवणसमुद्रादि में सूर्यादि की वक्तव्यता का पद १३३-१३५	पांचवां उद्देशक	
दूसरा उद्देशक		११५	मोक्ष-पद १७२
३१-५०	वायु-पद १३६-१४०	११६-१२१	एवंभूत-अनेवंभूत-वेदना-पद १७२-१७४
५१-५४	ओदन आदि 'किसके शरीर' का पद १४०-१४२	१२२, १२३	कुलकर आदि-पद १७४
५५, ५६	लवण समुद्र-पद १४२	छठा उद्देशक	
तीसरा उद्देशक		१२४, १२५	अल्पायु-दीर्घायु-पद १७५
५७, ५८	आयुष्य-प्रकरण-प्रतिसंवेदना-पद १४३-१४५	१२६, १२७	अशुभ-शुभ-दीर्घायु-पद १७५-१७६
५९-६३	सायुष्यसंक्रमण-पद १४५-१४८	१२८-१३२	क्रय-विक्रय-क्रिया-पद १७६-१७८
चौथा उद्देशक		१३३	अग्निकाय में महाकर्म आदि-पद १७९
६४-६७	छद्मस्थ और केवली द्वारा शब्द-श्रवण-पद १४९-१५३	१३४, १३५	धनुःप्रक्षेप में क्रिया-पद १७९-१८१
६८-७१	छद्मस्थ और केवली का हास्य-पद १५३-१५५	१३६, १३७	अन्ययुथिक-पद १८१-१८२
७२-७५	छद्मस्थ और केवली का निद्रा-पद १५५-१५६	१३८	नैरयिक विक्रिया-पद १८२-१८३
७६, ७७	गर्भ-पद १५६-१५७	१३९-१४६	आधाकर्म आदि आहार के सम्बन्ध में आराधनादि-पद १८३-१८५
७८-८२	अतिमुक्तक-पद १५७-१५८	१४७	आचार्य-उपाध्याय का सिद्धि-पद १८५
८३-८८	महाशुक्र से समागत देवों द्वारा प्रश्न का पद १५९-१६१	१४८, १४९	अभ्याख्यानी के कर्मबन्ध-पद १८६
८९-९२	देवों की नोसंयतवक्तव्यता का पद १६१-१६२	सातवां उद्देशक	
९३	देवभाषा-पद १६२-१६३	१५०-१५३	परमाणु-स्कन्धों का एजनादि-पद १८७-१८९

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
१५४-१५९	परमाणु-स्कन्धों का छेदन आदि-पद	१८९-१९१	
१६०-१६४	परमाणु-स्कन्धों का सार्द्ध समध्या- -दि-पद	१९१-१९२	
१६५-१६८	परमाणु-स्कन्धों का परस्पर स्पर्शना- -पद	१९२-१९५	
१६९-१७४	परमाणु-स्कन्धों की संस्थिति का पद	१९५-१९७	
१७५-१८०	परमाणु-स्कन्धों का अन्तरकाल-पद	१९७-१९९	
१८१	परमाणु-स्कन्धों का परस्पर अल्प- बहुत्व-पद	१९९	
१८२-१९०	जीवों का सारम्भ सपरिग्रह-पद	१९९-२०३	
१९१-१९९	हेतु-पद	२०३-२०४	
		आठवां उद्देशक	
		२००-२०७	निर्ग्रन्थीपुत्र-नारदपुत्र-पद
		२०८-२२४	जीवों की वृद्धि-हानि-अवस्थिति-पद
		२२५-२३४	जीवों का सोपचय-सापचय-आदि-पद
		नवां उद्देशक	
		२३५-२३६	“यह कौन राजगृह” का-पद
		२३७-२४७	उद्द्योत-अन्धकार-पद
		२४८-२५३	मनुष्य-क्षेत्र में समयादि-पद
		२५४-२५७	पार्श्वार्वापत्यीय-पद
		२५८, २५९	देवलोक-पद
		दसवां उद्देशक	
		२२५	
		२६०	

छठा शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
आमुख	२२९-२३०	चौथा उद्देशक	
प्रथम उद्देशक		५४-६३	काल की अपेक्षा सप्रदेश-अप्रदेश- -पद
१-४	प्रशस्त निर्जरा का श्रेयस्त्व-पद	६४-६९	प्रत्याख्यानादि-पद
५-१४	करण-पद		
१५-१७	महावेदना-महानिर्जरा-चतुर्भङ्ग-पद संग्रहणी गाथा	२३६-२३७	
		२३७	
दूसरा उद्देशक	२३८	पांचवा उद्देशक	
१८-१९		७०-८८	तमस्काय-पद
तीसरा उद्देशक		८९-१०५	कृष्णराजि-पद
		१०६-११९	लोकान्तिक देव-पद
		छठा उद्देशक	
		१२०-१२१	नैस्यिक आदि के आवास-पद
२०, २१	महाकर्म वाले आदि के पुद्गल- -बन्ध-पद	१२४-१२८	मारणान्तिकसमुद्घात-पद
२२, २३	अल्पकर्म वाले आदि के पुद्गल- -भेद का पद		
२४-२६	कर्मोपचय-पद		
२७-२९	कर्मोपचय का सादि-अनादि-पद		
३०-३२	जीवों की सादि-अनादिता पद		
३३-५१	कर्म-प्रकृति-बंध-विवेचन-पद		
५२, ५३	वेदक-अवेदक जीवों का अल्प- -बहुत्व-पद		
		सातवां उद्देशक	
		१२९-१३१	धान्यों की योनि और स्थिति-पद
		१३२	गणना-काल-पद
		१३३, १३४	औपमिक-काल-पद
		१३५, १३६	सुषम-सुषमा में भारतवर्ष-पद
		आठवां उद्देशक	
		१३७-१५०	पृथ्वी आदि में गेह आदि की पृच्छा का पद

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
१५१-१५४	आयुष्कबन्ध-पद	३०२-३०४	
१५५-१६१	लवणादि समुद्र-पद	३०५-३०६	
नवां उद्देशक			
१६२	कर्म-प्रकृति-बन्ध-पद	३०७	
१६३-१६७	महर्द्धिकदेव-विक्रिया-पद	३०७-३०९	
१६८-१७०	अविशुद्धलेश्या आदि देव का ज्ञान-दर्शन-पद	३०९-३१२	
		दशवां उद्देशक	
		१७१-१७३	सुख-दुःख-उपदर्शन-पद ३१३-३१४
		१७४-१८२	जीव-चेतना-पद ३१४-३१६
		१८३-१८५	वेदना-पद ३१६-३१७
		१८६	नैरयिक आदि जीवों का आहार-पद ३१७
		१८७-१८९	केवली का ज्ञान-पद ३१७-३१८

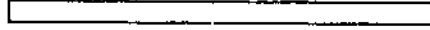
सातवां शतक

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
आमुख	३२१-३२२	चौथा उद्देशक	
प्रथम उद्देशक		१७, १८	संसारस्थ जीव-पद ३५९
	संग्रहणी गाथा ३२३	पांचवा उद्देशक	
१	अनाहारक-पद ३२३-३२६	१९, १००	योनि संग्रह-पद ३६०
२	सर्वअल्पआहार-पद ३२६	छठा उद्देशक:	
३	लोक-संस्थान-पद ३२६	१०१-१०६	आयुष्क-प्रकरण-वेदना-पद ३६१-३६३
४, ५	श्रमणोपासक की क्रिया का पद ३२८	१०७-११२	कर्कश-अकर्कश-वेदनीय-पद ३६३-३६४
६, ७	श्रमणोपासक के अनावृत्ति हिंसा-का पद ३२८	११३-११६	सातासात-वेदनीय-पद ३६४-३६६
८, ९	श्रमण-प्रतिलाभ से लाभ-पद ३२८-३२९	११७-१२४	दुःषम-दुःषमा-पद ३६६-३७०
१०, १५	अकर्म की गति का-पद ३२९-३३१	सातवां उद्देशक	
१६-१९	दुःखी के दुःखस्पर्श आदि का-पद ३३१-३३२	१२५-१२६	संवृत का क्रिया-पद ३७१
२०, २१	ऐर्यापथिक-साम्प्रयायिक-क्रिया-पद ३३२-३३३	१२७-१४५	काम-भोग-पद ३७२-३७४
२२-२६	स-अंगार आदि दोष से दूषित पान-भोजन-पद ३३३-३३८	१४६-१४९	दुर्बलशरीर वाले का भोग परित्याग-पद ३७४-३७६
दूसरा उद्देशक		१५०-१५२	अकामनिकरण-वेदना-पद ३७६
२७, २८	सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान-पद ३३९-३४१	१५३-१५५	प्रकामनिकरण-वेदना-पद ३७७-३७८
२९-३५	प्रत्याख्यान-पद ३४१-३४४	आठवां उद्देशक	
३६-५७	प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी-पद ३४४-३४८	१५६, १५७	मोक्ष-पद ३७९
५८-६१	शाश्वत-अशाश्वत-पद ३४८-३४९	१५८, १५९	हस्ति और कुन्धु के जीव की समानता का पद ३७९-३८१
तीसरा उद्देशक		१६०	सुख-दुःख-पद ३८१-३८२
६२-६५	वनस्पति-आहार-पद ३५०-३५२	१६१	दशविधसंज्ञा-पद ३८२-३८३
६६	अनन्तकाय-पद ३५२-३५३	१६२	नैरयिकों की दशविधवेदना का पद ३८३
६७-७३	अल्पकर्म-महाकर्म-पद ३५३-३५५	१६३, १६४	हस्ति और कुन्धु की अप्रत्याख्यान-क्रिया का पद ३८३
७४-९२	वेदना-निर्जरा-पद ३५५-३५७	१६५, १६६	आधाकर्म आदि-पद ३८३
९३-९६	शाश्वत-अशाश्वत-पद ३५७-३५८		

सूत्र	पृष्ठ	सूत्र	पृष्ठ
नवां उद्देशक		दसवां उद्देशक	
१६७-१७२	असंवृत अनगार की विक्रिया का पद	३८४-३८५	
१७३-१८१	महाशिलाकंटक संग्राम-पद	३८५-३८८	
१८२-१९१	रथमुसलसंग्राम-पद	३८८-३९१	
१९२-२०३	नाग के धेवता वरुण का पद	३९२-३९५	
२०४-२११	नागनप्तृक वरुण के मित्र का पद	३९५-३९६	
		२१२-२१६	कालोदायी प्रभृति का पञ्चास्तिकाय- ३९७-३९८ में सन्देह-पद
		२१७-२२१	कालोदायी का समाधानपूर्वक प्र- ३९८-४०० -ज्या का पद
		२२२-२३३	कालोदायी की कर्म आदि के- ४००-४०३ विषय में प्रश्न (का) पद

परिशिष्ट १ - ६

देखें विवरण पृष्ठ ४०५



तइयं सयं

तीसरा शतक

आमुख

हमारा दृश्य जगत् मनुष्य और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी आदि) तक सीमित है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—यह हमारे ज्ञान की सीमा है। इस ज्ञान की सीमा ने ज्ञेय को भी सीमित बना दिया है। देव, नरक और सूक्ष्म जीवों का जगत् हमारे ज्ञान से परोक्ष है, इसलिए उनके विषय की प्ररूपणा संशय, विकल्प और विरम्य उत्पन्न कर देती है।

आगम-साहित्य में देव, नरक और सूक्ष्म जीवों की चर्चा बहुलता से मिलती है। इसका हेतु है—प्रत्यक्ष दर्शन। प्रत्यक्षदर्शी आप्तपुरुष अपने अतीन्द्रिय ज्ञान (अवधिज्ञान अथवा केवलज्ञान) से अदृश्य जगत् का साक्षात्कार करते हैं और उसका प्रतिपादन करते हैं। वह प्रतिपादन हेतुगम्य नहीं होता, अतः हमारे लिये तर्क का विषय बनता है। परोक्ष दर्शन और प्रत्यक्ष दर्शन की समस्या को सामने रखकर आचार्य सिद्धसेन ने ज्ञेय वस्तु को दो भागों में विभक्त कर दिया—हेतुगम्य और अहेतुगम्य अथवा आगमगम्य। जो प्ररूपक हेतुगम्य सत्य की हेतुवाद के द्वारा और अहेतुगम्य पदार्थ की आगमवाद के द्वारा प्ररूपणा करता है, वह सम्यक् प्रज्ञापना करने वाला है।^१ तर्क और अतीन्द्रियज्ञान की सीमा को समझ लेने पर अन्धविश्वास और यथार्थ का अपलाप—इन दोनों से बचा जा सकता है।

अग्निभूति गौतम ने देवों की वैक्रिय-शक्ति के विषय में कुछ प्रश्न पूछे, भगवान् महावीर ने उनके उत्तर दिए। अग्निभूति ने वैक्रिय शक्ति का विवरण वायुभूति के सामने रखा। वायुभूति ने उनके वक्तव्य पर विश्वास नहीं किया। वे भगवान् महावीर के पास गए। भगवान् ने अग्निभूति के वक्तव्य का अनुमोदन किया। तब वायुभूति के मन में विश्वास हो गया।^२ इस घटना का निष्कर्ष यह है—अहेतुगम्य सत्य की व्याख्या का प्रामाणिक आधार प्रत्यक्षदर्शी आप्तपुरुष ही हो सकता है और वही परोक्षदर्शी के लिए विश्वसनीय बन सकता है।

भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में प्रथम तीन गणधर—इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गौतमगोत्रीय हैं। प्रस्तुत आगम में अधिकांश प्रश्न इन्द्रभूति गौतम के उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि अग्निभूति मुख्य प्रश्नकर्ता हैं तथा वायुभूति उनके संवाद में जुड़े हुए हैं।

प्रस्तुत शतक के तीसरे उद्देशक में छठे गणधर मंडितपुत्र का उल्लेख भी मिलता है।

आगमों में सामान्य रूप से गणधरों के संबंध में बहुत ही कम उल्लेख मिलता है। यद्यपि समवाओ में गणधरों के नाम, आयु आदि के विषय में कुछ स्फुट जानकारी उपलब्ध होती है, फिर भी जीवन के घटना-प्रसंगों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। इस दृष्टि से भगवती का प्रस्तुत शतक बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहां चार गणधरों के जीवन्त घटना-प्रसंग उल्लिखित हैं। यह भी एक विशेष बात है कि तात्त्विक विषयों के संबंध में इन्द्रभूति गौतम की भांति अग्निभूति, वायुभूति और मण्डितपुत्र भी जिज्ञासाशील थे। यहां प्रस्तुत वार्तालाप में यह तथ्य सामने आता है कि इनकी परस्पर सभी विषयों में समान धारणाएं नहीं थीं। भगवान् से उत्तर पाने के बाद उनकी धारणा एकरूप बनीं। गणधरवाद में उपलब्ध गणधरों का परिचय तथा उनकी पूर्व मान्यताओं संबंधी विवेचन उत्तरकालिक हैं। भगवती के प्रस्तुत प्रसंगों से गणधरों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की संपुष्टि होती है।

प्रस्तुत शतक के दस उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक देवों की वैक्रिय शक्ति-विषयक जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। वैक्रिय शक्ति के द्वारा रूप-परिवर्तन और नानारूपों का निर्माण किया जा सकता है। वह शक्ति सभी देवों में होती है, पर सबमें समान रूप से विकसित नहीं होती। इसकी बहुत अच्छी जानकारी प्रथम उद्देशक में मिलती है।

तामली तापस का प्रकरण इस सत्य का साक्ष्य है कि जैन धर्म के सिद्धान्त आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद की पृष्ठभूमि पर विकसित हुए हैं, इसलिए वे सार्वभौम हैं, धर्म की सार्वभौमिकता के प्रतिपादक हैं। वे सांप्रदायिक संकीर्णता से प्रतिबद्ध नहीं हैं। तामली तापस अपने तपोबल से ईशानेन्द्र—द्वितीय कल्प ईशान का अधिपति बनता है। भविष्य में वह मुक्त होगा, यह स्वकीकृति साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं हो सकती।

शक्र और ईशानेन्द्र के पारस्परिक संबंधों का बहुत ही आकर्षक और व्यावहारिक वर्णन प्रस्तुत शतक में मिलता है।^३

देवलोक का मनुष्य-लोक के साथ प्रत्यक्ष संबंध परिलक्षित नहीं होता। उनमें परोक्ष संबंध है। इसका प्रमाण है—सनत्कुमार का प्रकरण। तीसरे स्वर्ग का अधिपति देवेन्द्र सनत्कुमार महावीर के धर्मशासन के प्रति आकृष्ट है। उसका हित चाहने वाला है। महावीर ने स्वयं इस रहस्यपूर्ण वार्ता का उल्लेख किया है।^४

१. सम्मति ३/४३, ४५--

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भविया ऽभवियादओ भावा।।
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आग्गिओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धतविराहओ अन्तो।।

२. भ. ३/८, १०।

३. वही, ३/५४-७१।

४. वही, ३/७२, ७३।

भगवान् महावीर ने कहीं-कहीं अपने जीवन-प्रसंगों का उल्लेख किया है। भगवान् अपने साधनाकाल के ग्यारहवें वर्ष में थे, उस समय असुरेन्द्र चमर और देवेन्द्र शक्र का संघर्ष हुआ। चमर ने महावीर की शरण का उपयोग किया। यह बहुत ही रोमांचक घटनाक्रम है।^१

आधुनिक भौतिक विज्ञान के गति-सिद्धान्त (dynamics) के संदर्भ में शक्र, चमर और वज्र की सापेक्ष गति का अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

वैक्रिय शक्ति का विकास देवों में जन्मना होता है, मनुष्यों में साधनाकृत होता है। भावितात्मा अनगार की वैक्रिय शक्ति के विविध पक्षों पर विमर्श किया गया है।^२ इसका संबंध अध्यात्मविद्या अथवा रहस्यविद्या (Occult Sciences) से है। वर्तमान में भावितात्मा और वैक्रिय शक्ति के साधनासूत्र विस्मृत हो गए हैं। इन शक्ति-सूत्रों की संकलना भी भगवती का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वायुकाय और बलाहक (वादल) में भी विक्रिया करने की शक्ति होती है। किंतु वह अल्पविकसित होती है।^३

प्रस्तुत शतक में शक्र के चार लोकपालों का निरूपण एक विचित्र प्रश्न उपस्थित करता है। जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर विश्व-व्यस्था का नियन्ता नहीं है। प्राकृतिक घटनाएं अपने सार्वभौम नियमों से घटित होती हैं। क्या लोकपाल उनके नियन्ता हैं? लोकपाल के विवरण को पढ़ने से यह धारणा बनती है कि कुछ प्राकृतिक घटनाओं का लोकपाल तथा उनके सहयोगी देवों से संबंध है। हर प्राकृतिक घटना में उनका हस्तक्षेप नहीं है, किंतु प्राकृतिक घटनाएं उनकी जानकारी में रहती हैं, यह स्पष्ट है। भवन्पति देव, ज्योतिष्क देव और व्यन्तर देव उनके आज्ञाकारी हैं। वे लोकपालों के निर्देशानुसार प्राकृतिक घटनाओं में परिवर्तन भी करते हैं।^४ ये देव इन प्राकृतिक घटनाओं में परिवर्तन करते हैं—इसका मूलपाठ में कोई उल्लेख नहीं है। किंतु अन्य आगमिक स्रोतों से यह पता चलता है कि अल्पवृष्टि, महावृष्टि, बादलों की गर्जना, बिजली का कौंधना—ये देवकृत भी होते हैं।^५ प्राचीनकाल में प्राकृतिक आपदाओं और रोगों को देवकृत माना जाता था। उनकी शान्ति के लिए देवों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाता, उनकी पूजा और आराधना की जाती। क्या प्रस्तुत प्रकरण इन अवधारणाओं का प्रतिपादक है अथवा दिव्यशक्ति का हमारी भूमि पर घटित होने वाली कुछ घटनाओं पर नियन्त्रण है—इस सच्चाई को स्वीकृति देता है? निष्कर्ष यह है कि प्राकृतिक घटनाओं और रोगों पर किसी भी दिव्यशक्ति का सर्वथा नियन्त्रण नहीं है, किंतु कुछ स्थितियों में देव परिवर्तन कर सकते हैं, इसका अस्वीकार भी नहीं है। हमारी भूमि, मनुष्य और दिव्यशक्ति-तीनों में परस्पर संबंध है। इस सिद्धान्त को समझने के लिए प्रस्तुत आलापक बहुत उपयोगी है।

प्रस्तुत शतक के तीसरे उद्देशक में छठे गणधर मण्डितपुत्र का प्रकरण मोक्ष की प्रक्रिया को समझने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। एक साधक किस प्रकार सप्रकम्प से अप्रकम्प होता है और क्रिया के अंतिम छोर तक पहुंच कर अक्रिय बन जाता है। इस प्रकरण के 'एयति वेयति' 'नो एयति नो वेयति'—ये सूत्र उपनिषद् के 'तदेजति, तन्नैजति' वाक्यांशों की स्मृति दिला देते हैं।^६ प्रस्तुत शतक रहस्यवादी और परामनोवैज्ञानिक के लिए पठनीय और मननीय है। इसमें अनुसंधान करने के अनेक अवकाश-क्षेत्र हैं।

१. भ. ३/१०५-११६ ।

२. वहीं, ३/१५४-१६३, १८६-१९२, १९४-२२० ।

३. वहीं, ३/१६४-१८२ ।

४. वहीं, ३/२४७-२७० ।

५. टाण, ३/३५६, ३६०, ७१, ७० ।

६. ईशावास्योपनिषद्, ५—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वान्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्वास्य बाह्यतः ॥

तइयं सयं : तीसरा शतक
पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाथा

१. केरिसविउव्वणा २. चमर
३. किरिय ४,५. जाणित्थि ६. नगर ७. पाला य।
८. अहिवइ ९. इंदिय १०. परिसा,
ततियम्मि सए दसुद्देशा ॥१॥

उक्खेद-पदं

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं मोया नामं नयरी
होत्था— वण्णओ॥
२. तीसे णं मोयाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे
दिसीभागे नंदणे नामं चेइए होत्था— वण्णओ ॥
३. तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसडे।
परिसा निग्गच्छइ, पडिगया परिसा॥

देवविक्रुव्वणा-पदं

४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ
महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्गिभूई नामं
अणगारे गोयमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव
पज्जुवासमाणे एवं वदासि—चमरे णं भंते!
असुरिंदे असुरराया केमहिड्डीए ? केमहज्जु-
तीए? केमहाबले? केमहायसे? केमहासोक्खे?
केमहाणुभागे? केवइयं च णं पभू विकु-
व्वित्तए ?

गोयमा ! चमरे णं असुरिंदे असुरराया महि-
ड्डीए, महज्जुतीए, महाबले, महायसे, महा-
सोक्खे, महाणुभागे। से णं तत्थ चोत्तीसाए
भावणावाससयसहसाणां, चउसट्टीए समाणि-
यसाहस्सीणं, तायतीसाए तावतीसगाणां,

संग्रहणी गाथा

कीदृशविक्रिया-चमर-
क्रिया-यान-स्त्री-७-नगर-पालाश्व।
अधिपतिः इन्द्रियं परिषद्,
तृतीये शते दश उद्देशाः॥

उत्क्षेप-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये मोका नाम नगरी
आसीद्—वर्णकः।
तस्याः मोकायाः नगर्याः बहिः उत्तरपौरस्त्ये
दिग्भागे नन्दनं नाम चैत्यम् आसीद्—वर्णकः।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये स्वामी समव-
सृतः। परिषद् निर्गच्छति, प्रतिगता परिषद्।

देवविक्रिया-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः
महावीरस्य द्वितीयः अन्तेवासी अग्निभूतिः
नाम अनगारः गौतमः गोत्रेण सप्तोत्सेधः
यावत् पर्युपासीनः एवमवादीत्—चमरः
भदन्त ! असुरेन्द्रः असुरराजः कियन्महर्द्धिकः?
कियन्महाद्युतिकः? कियन्महाबलः? कियन्-
महायशाः? कियन्महासौख्यः? कियन्महा-
नुभागः? कियच् च प्रभुः विकर्तुम्?

गौतम ! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः महर्द्धिकः,
महाद्युतिकः, महाबलः, महायशाः, महासौख्यः,
महानुभागः। स तत्र चतुर्विंशत् भवना-
वासशतसहस्राणां, चतुषष्ट्याः सामानिकसा-
हस्र्याः, त्रयस्त्रिंशत् तावत्त्रिंशकानां, चतुर्णां

संग्रहणी गाथा

चमर की कैसी विक्रिया, चमर का उत्पात,
क्रिया, यान, स्त्री, नगर, लोकपाल, अधिपति, इन्द्रिय
और परिषद्— तीसरे शतक में ये दश उद्देशक हैं।

उत्क्षेप-पद

१. उस काल और उस समय मोका नाम की नगरी थी—
नगर का वर्णन।
२. उस मोका नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग में
नन्दन नाम का चैत्य था— चैत्य का वर्णन।
३. उस काल और उस समय भगवान् महावीर समवसृत
हुए। परिषद् ने नगर से निर्गमन किया। परिषद् वापस
नगर में चली गई।

देवविक्रिया-पद

४. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के
दूसरे अन्तेवासी अग्निभूति नामक अनगार थे। उनका
गौत्र गौतम था। उनकी ऊंचाई सात हाथ की थी।^१
यावत् वे भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार
बोले—भन्ते! असुरेन्द्र असुरराज चमर कितनी महान्
ऋद्धि वाला,^२ कितनी महान् द्युति वाला, कितने महान्
बल वाला, कितने महान् यश वाला, कितने महान् सुख
वाला, कितनी महान् सामर्थ्य वाला और कितनी विक्रिया
करने में समर्थ है?

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला,
महान् द्युति वाला, महाबली, महायशस्वी, महासुखी
और महान् सामर्थ्य वाला है। वह चमरञ्चा राजधानी
में चौतीस लाख भवनावास, चौसठ हजार सामानिक,^३
तैंतीस तावत्त्रिंशक,^४ चार लोकपाल,^५ पांच सपरिवार

चउण्हं लोगपालाणं, पंचण्हं अग्गमहिंसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिद्वईणं, चउण्हं चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं चमरचंचारायहाणिवत्थव्वाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पारेवच्चं सामित्तं भट्ठित्तं आणा-ईसर-सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महायाहयनट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरइ। एमहि-इडीए, एमहज्जुतीए, एमहाबले, एमहायसे, एमहासोक्खे, एमहाणुभागे। एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए। से जहानामए—जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवामेव गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, तं जहा—रयाणाणं वयराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगम्भाणं पुलगाणं सोगंधियाणं जोईरसाणं अंजणाणं अंजणपुलगाणं रयाणाणं जायख्खाणं अंकाणं फलिहाणं रिट्ठानं अहाबायरे पोग्गले परिसाडेइ, परिसाडेत्ता अहासुहुमे पोग्गले परियायइ, परियाइत्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णति।

पभू णं गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया केवलकणं जंबूद्वीपं दीवं बहूहिं असुरकुमारे-हिं देवेहिं देवीहिं य आइण्णं वित्तिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेतए।

अदुत्तरं च णं गोयमा। पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहिं य आइण्णे वित्तिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेतए।

एस णं गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णे अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, णो चैव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्विति वा विकुव्विस्सति वा ॥

लोकपालानां, पञ्चानाम् अग्रमहिषीणां सपरिवाराणां, तिसृणां परिषदां, सप्तानाम् अनीकानां, सप्तानाम् अनीकाधिपतीनां, चतुर्णां चतुःषष्टीनाम् आत्मरक्षदेवसाहस्र्याः, अन्येषां च बहूनां चमरचञ्चाराजधानीवास्तव्यानां देवानाञ्च देवीनाञ्च आधिपत्यं पौरपत्यं स्वामित्वं भर्तृत्वम् आज्ञेश्वर-सेनापत्यं कारयन् पालयन् महताहतनाट्य-गीत-वादित्र-तन्त्री-तल-ताल-त्रुटित-घनमृदंगपटु-प्रवादितरवेण दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहरति। इयन्महर्षिकः, इयन्महाद्युतिकः, इयन्महाबलः, इयन्महायशः, इयन्महानुभागः। एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्। तद् यथानाम—युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृहीयात्, चक्रस्य वा नाभिः अरकायुक्ता स्याद्, एवमेव गौतम ! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते, समवहत्य संख्येयानि योजनानि दण्डं निसृजति, तद् यथा—रत्नानां वज्राणां वैडूर्याणां लोहिताक्षाणां मसारगल्लानां हंसगर्भाणां पुलकानां सौगन्धिकानां ज्योतिरसानाम् अञ्जनानाम् अञ्जनपुलकानां रजतानां जातरूपाणाम् अडक्कानां स्फटिकानां रिष्टानां यथावादरान् पुद्गलान् परिशाटयति, परिशाट्य यथासूक्ष्मान् पुद्गलान् पर्यादते, पर्यादाय द्वितीयमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते।

प्रभुः गौतम ! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं बहुभिः असुरकुमारेः देवैः देवीभिश्च आकीर्णं व्यतिकीर्णम् उपस्तृतं संस्तृतं स्पृष्टम् अवगाढावगाढं कर्तुम्।

‘अदुत्तरं’ च गौतम ! प्रभुः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः तिर्यग् असंख्येयान् द्वीप-समुद्रान् बहुभिः असुरकुमारेः देवैः देवीभिश्च आकीर्णान् व्यतिकीर्णान् उपस्तृतान् संस्तृतान् स्पृष्टान् अवगाढावगाढान् कर्तुम्।

एष गौतम ! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अयमेव एतद्रूपः विषयः विषयमात्रः उक्तः, नो चैव सम्प्राप्त्या व्यकार्षीत् वा विकरोति वा विकरिष्यति वा ।

पटरानियां, तीन परिषद्, सात सेनाए, सात सेनापति, दो लाख छप्पन हजार आत्मरक्षक^{१०} देव और चमरचञ्चाराजधानी में रहने वाले अन्य अनेक देवों तथा देवियों का आधिपत्य, पौरपत्य, स्वामित्व, भर्तृत्व (पोषण) तथा आज्ञा देने में समर्थ और सेनापतित्व करता हुआ^{११}, अन्य देवों से आज्ञा का पालन करवाता हुआ वह आहत नाट्यों, गीतों^{१२} तथा कुशल वादक के द्वारा बजाए गए वादित्र, तन्त्री, तल, ताल, त्रुटित, घन और मृदंग की महान् ध्वनि से युक्त दिव्य भोगार्ह भोगों को भोगता हुआ रहता है। वह इतनी महान् ऋद्धि वाला^{१३}, इतनी महान् द्युति वाला, इतने महान् बल वाला, इतने महान् यश वाला, इतने महान् सुख वाला, इतनी महान् सामर्थ्य वाला है और इतनी विक्रिया करने में समर्थ है। जैसे कोई युवक युवती का प्रगाढता से हाथ पकड़ता है अथवा गाड़ी के चक्के की नाभि जैसे अरों से युक्त होती है^{१४}, उसी प्रकार गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर (अपनी विक्रिया से निर्मित एवं अपने शरीर से प्रतिबद्ध रूपों से जम्बूद्वीप को आकीर्ण करने के लिए) वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है।^{१५} समवहत होकर वह अपने शरीर से संख्येय योजन लम्बा दंड निकालता है। उसके पश्चात् वह रत्न, वज्र (हीरा), वैडूर्य (लहसुनिया), लोहिताक्ष (लोहितक), मसारगल्ल (मसृणपाषाणमणि), हंसगर्भ (पुष्पराग), पुलक, सौगन्धिक (माणिक्य), ज्योतिरस (सफेद और लाल रंग से मिश्रित मणि), अञ्जन (समीरक), अञ्जनपुलक, चांदी, स्वर्ण, अंक, स्फटिक और रिष्ट नामक मणि—इन रत्नों से स्थूल (असार) पुद्गलों को झटक देता है और सूक्ष्म (सार) पुद्गलों को ग्रहण करता है। उन्हें ग्रहण कर, वह फिर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है।

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप को अनेक असुरकुमार देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तृत (बिछौना-सा बिछाया हुआ), संस्तृत (भलीभांति बिछौना-सा बिछाया हुआ) स्पृष्ट (छूने) और अवगाढावगाढ (अत्यन्त सघन रूप से व्याप्त) करने में समर्थ है।

और दूसरी बात, गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर तिरछे लोक के असंख्य द्वीप-समुद्रों को अनेक असुरकुमार देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तृत, संस्तृत, स्पृष्ट और अवगाढावगाढ करने में समर्थ है।

गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की विक्रिया-शक्ति का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से प्रतिपादित है। चमर ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

भाष्य

१. उनकी ऊंचाई सात हाथ की थी

द्रष्टव्य भ० १/६ का भाष्य । यह उल्लेखनीय है कि यहां 'हाथ' उत्सेध अंगुल के प्रमाण से बताया गया है।^१

२. कितनी महान् ऋद्धि वाला (केमहिड्डीए)

वृत्तिकार ने केमहिड्डीए पद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है—

१. किस रूप में महर्द्धिक, २. कैसी महान् ऋद्धि वाला। एक मतान्तर का उल्लेख भी किया है। उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—कितना महर्द्धिक।^२

३. सामानिक

समृद्धि में इन्द्र के समकक्ष देव। तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार इन्द्रत्व को छोड़कर शेष सब स्थितियों में वे इन्द्र के तुल्य होते हैं।^३ सिद्धसेनगणी ने लिखा है—उनमें इन्द्रत्व नहीं होता, इन्द्र की भांति वे सम्पूर्ण देवलोक के अधिपति नहीं होते। वे पिता, गुरु, उपाध्याय आदि के समान आदरणीय होते हैं।^४ वृत्तिकार ने सामानिक का केवल व्युत्पत्तिजन्य अर्थ किया है।^५

४. तावत्त्रिंशक

तत्त्वार्थ भाष्य में 'त्रायस्त्रिंश' शब्द का प्रयोग मिलता है।^६ भाष्यानुसारिणी वृत्ति और तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी वही प्रयोग प्राप्त है।^७ वे मंत्री और पुरोहित के समान होते हैं। मूलपाठ के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'तावत्त्रिंशक' होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में भी तावत्त्रिंशक का प्रयोग मिलता है।^८

५. लोकपाल

तत्त्वार्थ भाष्य में लोकपाल की तुलना आरक्षक और अर्थचर से की गई है। अपने देश के सीमारक्षक आरक्षक कहलाते हैं।^९ चोरों से जनता की रक्षा करने वाले अर्थचर कहलाते हैं।^{१०} लोकपाल का विस्तृत वर्णन तीसरे शतक के सातवें उद्देशक में मिलता है।

६. सात सेनाएं, सात सेनापति

इनकी विशद जानकारी के लिए द्रष्टव्य ठाणं, ७/११३-१२६।

७. आत्मरक्षक

इसकी तुलना शिरोरक्षक से की गई है। वे हाथ में शस्त्र लिये पीछे खड़े रहते हैं। देवजगत में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, फिर यह क्या अनावश्यक प्रयोग नहीं है? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि यह व्यवस्था बड़प्पन की मर्यादा है अथवा प्रति-प्रकर्ष के लिए की गई है।^{११}

८. आधिपत्य.....सेनापतित्व

प्रस्तुत सूत्र में नेतृत्व के द्योतक पांच शब्द हैं^{१२}—

१. आधिपत्य—अनुशासन

२. पौरपत्य—अग्रगामिता

३. स्वामित्व—स्वामिभाव

४. भर्तृत्व—संरक्षण और पोषण

५. आज्ञा-ईश्वर-सेनापत्य—आदेश-निर्देश देने में समर्थ सेनापति।

९. अहत नाट्यों, गीतों

अहत—वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिये हैं—१. आख्यानक (कथानक)—प्रतिबद्धनाट्य और उसके उपयुक्त गीत। २. अहत—अव्याहत नाट्य और गीत।

प्रथम अर्थ वृद्ध व्याख्या के आधार पर किया गया है और दूसरा वृत्तिकार का अपना अभिमत है।^{१३}

१०. इतनी महान् ऋद्धि वाला (एमहिड्डीए)

वृत्तिकार ने इसका रूप एवं महर्द्धिक किया है। इयन्महर्द्धिक को मतान्तर माना है।^{१४}

११. युवक युवती का..... युक्त होती है

१. अणु सू. ४०१।

२. भ. वृ. ३/४—केन रूपेण महर्द्धिकः? किरुपा वा महर्द्धिरस्येति किमहर्द्धिकः, कियन्महर्द्धिक इत्यन्ये।

३. त. भा. ४/४—इन्द्रसमानाः सामानिकाः अमात्यपितृगुरुपाध्यायमहत्तरवत् केवल-मिन्द्रत्वहीनाः।

४. त. भा. ४/४—सामानिकास्त्विन्द्रतुल्या भवन्त्यायुष्कादिभिः केवलमिन्द्रत्वं सकल-कल्पाधिपत्वं नास्ति, शेषकं समानम्। ते चामात्यपितृगुरुपाध्यायमहत्तरवद् द्रष्टव्याः, अमा सहार्थे, सह भवन्तीत्यमात्याः—कार्यालोचनसमर्थाः पिता गुरुगुरुपाध्यायो महत्तरश्च सर्व एते पूजनीयारत्नद्वत् तेऽपि सामानिका इति।

५. भ. वृ. ३/४—समानया—इन्द्रतुल्या ऋद्ध्या चरन्तीति सामानिकाः।

६. त. भा. ४/४—त्रायस्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहितस्थानीयाः।

७. (क) त. सू. भा. वृ. ४/४—त्रायस्त्रिंशाः।

(ख) त. रा. वा. ४/४—त्रायस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशा इति।

८. सभी जगह पालि त्रिपिटकों में तावत्त्रिंश शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ,

देखें दीर्घनिकाय, महावग्ग, पायसिराजज्ज सुत्तं, तावत्त्रिंशदेव उपमा, पृ० २४४ (नालन्दा संस्करण)।

९. त. भा. ४/४—लोकपाला आरक्षकार्यचरस्थानीयाः।

१०. त. सू. भा. वृ. ४/४—लोकपाला आरक्षकार्यचरस्थानीयाः स्वविषयसन्धिर्रक्षणनिरूपिता आरक्षकाः, अर्थचराश्चौरोद्धरणिकराजस्थानीयादयस्तत्सदृशा लोकपालाः।

११. (क) त. भा. ४/४—आत्मरक्षाः शिरोरक्षास्थानीयाः।

(ख) त. सू. भा. वृ. ४/४—आत्मरक्षाः शिरोरक्षास्थानीयाः उद्यतप्रहरण रीद्राः पृष्ठतो-ऽवस्थायिनः अपायाभावात् कल्पनावैयर्थ्यमिति चेत् तद् न स्थितिमात्रपरिपालनात् प्रतिप्रकर्षहेतुत्वाच्च।

१२. भ. वृ. ३/४—तत्राधिपत्यम्—अधिपतिकर्म, पुरोवर्तित्वम्—अग्रगामित्वं, स्वामित्वं—स्वस्वामित्वं, भर्तृत्वं—पोषकत्वम्।

१३. वही, ३/४—'अहय'ति आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः, अथवा 'अहय'ति अहतानि।

१४. वही, ३/४—'एवमहिड्डीए'ति एवं महर्द्धिक इव महर्द्धिकः, इयन्महर्द्धिक इत्यन्ये।

वैक्रिय शक्ति द्वारा निर्मित रूपों की सघन व्याप्ति बताने के लिए सूत्रकार ने दो दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं—पहला दृष्टान्त युवक और युवती का है। जैसे कोई युवक कामोद्रेक की अवस्था में युवती का हाथ दृढ़ता के साथ पकड़ता है, हाथ की अंगुलियों को निश्छिद्र बना देता है, उसी प्रकार वैक्रिय शक्ति द्वारा निर्मित रूप निश्छिद्र रूप से पूरे जम्बूद्वीप में फैल जाता है।

दूसरा दृष्टान्त है—गाड़ी के चक्के की नाभि का। जैसे चक्के की नाभि अरों से व्याप्त होती है, वैसे ही पूरा जम्बूद्वीप वैक्रिय रूपों से व्याप्त हो जाता है। वे सब रूप मूल शरीर से वैसे ही प्रतिबद्ध रहते हैं, जैसे अर नाभि से।

वृत्तिकार ने वृद्ध व्याख्या का उल्लेख किया है। उसके अनुसार दोनों दृष्टान्तों का आशय इस प्रकार है—जैसे भीड़ में कोई युवती युवक के हाथ से प्रतिबद्ध होकर चलती है, वैसे ही वैक्रिय शक्ति-निर्मित रूप वैक्रिय-कर्ता से प्रतिबद्ध रहते हैं। जैसे गाड़ी की नाभि अरों से प्रतिबद्ध होकर निश्छिद्र बन जाती है, वैसे ही वैक्रियकर्ता अपने शरीर के प्रतिबद्ध रूपों से पूरे क्षेत्र को भर देता है।^१

महर्षि पतञ्जलि ने वैक्रिय शक्ति को निर्माणचित्त कहा है। योगी अस्मितामात्र को ग्रहण कर निर्माणचित्तों का निर्माण कर सकता है। इसके पांच उपाय बतलाये गए हैं—जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि या ध्यान। योगसिद्ध-पुरुष के बहुसंख्यक निर्माणचित्त होने पर भी उनका अस्मितामात्र एक ही रहता है, इसलिए वे सब एक ही जीव से प्रतिबद्ध रहते हैं।^२

मुक्त पुरुष भी निर्माणचित्त का प्रयोग करता है।^३

१२. वैक्रिय समुद्घात से सम्बन्धित होता है

आत्मा शरीर में रहती है। उसके असंख्यात प्रदेश (अवयव) होते हैं। विशेष परिस्थिति में वे प्रदेश शरीर से बाहर भी निकल जाते हैं। उनका बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। समुद्घात के सात प्रकार निर्दिष्ट हैं— १. वेदना समुद्घात, २. कषाय समुद्घात, ३. मारणान्तिक समुद्घात, ४. वैक्रिय समुद्घात, ५. तैजस समुद्घात, ६. आहारक समुद्घात, ७. केवली समुद्घात।^४

जब कोई अनेक रूपों का निर्माण करने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करता है, उस समय आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं। उस अवस्था में वह नाना रूपों का निर्माण करने वाला वैक्रिय समुद्घात से सम्बन्धित होता है। यह वैक्रिय समुद्घात की प्रक्रिया का पहला चरण है। दूसरा चरण है—दण्ड का निर्माण। उसकी लम्बाई संख्येय योजन की होती है। उसकी चौड़ाई और मौटाई शरीर-प्रमाण होती है। वह आत्मा के प्रदेश और कर्मपुद्गलों के योग से निर्मित होता है। तीसरा चरण है—रत्नों के असार पुद्गलों का परिशोधन कर सार पुद्गलों को ग्रहण करना। चौथे चरण में वैक्रिय-कर्ता

वांछित रूप निर्माण के लिए फिर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात का प्रयोग कर उस रूपका निर्माण करता है।

नाना प्रकार के रूपों का निर्माण करने में अनेक मणियों के सूक्ष्म पुद्गलों का उपयोग किया जाता है। लेसर की किरणों का उपयोग आज वैज्ञानिक जगत् में भी प्रचलित है। वह भी मणि के सूक्ष्म पुद्गलों का एक प्रयोग है।

वृत्तिकार ने इस विषय में प्रश्न उपस्थित किया है—मणियों के पुद्गल औदारिक (स्थूल) हैं। फिर उनका वैक्रिय शरीर के निर्माण में कैसे उपयोग हो सकता है? वैक्रिय शरीर के निर्माण में वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों का ही ग्रहण होना चाहिए। इस प्रश्न का समाधान उन्होंने काव्य की भाषा में ही किया है। उनका मत है कि मणियों का उल्लेख सार पुद्गलों का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। इसलिए प्रस्तुत सूत्रांश का अर्थ रत्न, वज्र आदि मणि नहीं, किंतु उन मणियों के तुल्य सार पुद्गल हैं। वृत्तिकार ने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसका अभिप्राय यह है कि वैक्रिय कर्ता वैक्रिय रूप निर्माण के समय औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। तत् पश्चात् वैक्रिय के रूप में परिणत हो जाते हैं।^५

मूल सूत्र-पाठ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मणियों के सूक्ष्म पुद्गल शरीर-निर्माण के काम में लिये जाते हैं। इसलिए उनका वैक्रिय वर्गणा के रूप में परिणमन होना संभव लगता है।

शब्द-विमर्श

तंत्री—वीणा

तल—हथेली

ताल—संगीत में नियत मात्राओं पर हथेली से स्वर उत्पन्न करना। वृत्तिकार ने तल-ताल का अर्थ हस्तताल किया है। वैकल्पिक रूप में तल का अर्थ हस्त और ताल का अर्थ झांझ किया है।^६

मृदंग—ढोल की तरह का एक बाजा, मुरज।

वृत्तिकार ने घन मृदंग का अर्थ घनाकार मृदंग या मर्दल किया है।^७

नाभि—चक्रमध्य।

वज्र—वज्रमणि हीरा। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसके विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है।^८

वैडूर्य—लहसुनिया। धूमिल रंग का एक मणि जो लाल, पीले और हरे रंग का भी होता है।

लोहिताक्ष—किनारो की ओर लाल रंग वाला और बीच में काला। इसका एक नाम 'लोहितक' भी मिलता है।

मसारगल्ल—मसृण पाषाणमणि (चिकनी धातु)। इसका वर्ण मूंगे जैसा होता है।

१. वही, ३/४—यथा युवति युवा हस्तेन हस्ते गृह्णाति कामवशाद्गाढतरग्रहणतो निरन्तरहस्ताङ्गुलितयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह 'चक्केस्ते'त्यादि, चक्रस्य वा नाभिः किभूता?, 'अरगाउत्त'ति अरकेरायुक्ता—अभिविधिनाऽन्यथा अरकायुक्ता 'सिब'ति 'स्यात्' भवेत्, अथवाऽरका उक्तासिता—आस्फालिता यस्यां साऽरकोक्तासिता, 'एवमेव'ति निरन्तरतयेत्यर्थः प्रभुर्जम्बूद्वीपं बहुभिर्देवादिभिराकीर्णं कर्तुमिति योगः, वृद्धैस्तु व्याख्यात—यथा यात्रादिवु युवतिर्पूतो हस्ते लम्बा प्रतिबद्धा गच्छति बहुलोकप्रचिते देशे, एवं यानि स्थापित विकुर्वन्तानि तान्येकरिम्न कर्तारि प्रतिबद्धानि यथा वा चक्रस्य नाभिरैका बहुभिररकैः प्रतिबद्धा घना निश्छिद्रा, एवमात्मशरीरप्रतिबद्धैरसुरदैवैर्वैवीभिश्च पूरयेदिति।

२. पा. यो. द. ४/४, ५, ६।

३. पा. यो. द. १/२५।

४. समुद्घात पर विस्तृत जानकारी के लिए देखें, भगवती (भाष्य), खण्ड १, पृ. २५२।

५. भ. वृ. ३/४—इह च यद्यपि रत्नादिपुद्गला औदारिका वैक्रियसमुद्घाते च वैक्रियस्य एव ग्राह्या भवन्ति तथाऽपीह तेषां रत्नादिपुद्गलानामिव सारताप्रतिपादनाय रत्नानामित्याद्युक्तं, तच्च रत्नानामिवेत्यादि व्याख्येयम्, अन्ये त्याहुः—औदारिका अपि ते गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्तीति।

६. वही, ३/४—तलतालाः हस्ततालाः तला वा—हस्ताः, तालाः—कसिकाः।

७. वही, ३/४—घनाकारो ध्वनिसाधर्म्याद्यो मृदङ्गो—मर्दलः।

८. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २/११/२६।

हंसगर्भ—पुष्पराग, वैदूर्य का एक प्रकार।^१

पुलक—यह बीच में काला होता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में मणियां की अठारह जातियां बताई गई हैं। उनमें एक पुलक भी है।^२

सौगंधिक—माणिक्य। कौटिल्य अर्थशास्त्र में माणिक्य की पांच जातियां बतलाई गई हैं। उनमें यह प्रथम जाति का है।^३

ज्योतिरस—सफेद और लाल रंग से मिश्रित एक मणि।

अंजन—समीरक—रत्नविशेष।

अंजनपुलक—नीले और काले रंग से मिश्रित एक मणि।

अंक—रत्न की एक जाति।

स्फटिक—पारदर्शी मणि।

रिष्ट—रत्नविशेष।

आकीर्ण स्पष्ट—देखें भ. १/४७-५० का भाष्य

विषय—वैक्रिय करने की शक्ति का सामर्थ्य-क्षेत्र।

सम्प्राप्ति—उक्त अर्थ का संपादन।

१. जइ णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्डीए जाव एवइयं च णं पभू विकुवित्तए, चमरस्य णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा केमहिड्डीया? जाव केवइयं च णं पभू विकुवित्तए?

गोयमा! चमरस्य असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा महिड्डीया महज्जुतीया महाबला महायसा महासोक्खा महानुभागा। तेणं तत्थ साणं-साणं भवणाणं, साणं-साणं सामाणियाणं, साणं-साणं अग्गमहिशीणं जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। एम-हिड्डीया जाव एवइयं च णं पभू विकुवित्तए। से जहानामए—जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवामेव गोयमा! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणियदेवे वेउव्वियस-मुग्घाएणं समोहण्णइ जाव दोच्चं पि वेउव्वियस-मुग्घाएणं समोहण्णइ।

पभू णं गोयमा! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणियदेवे केवलकल्पं जंबुदीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारैहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वित्तिक्खिण्णवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए।

अदुत्तरं च णं गोयमा! पभू चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणियदेवे तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्रे बहूहिं असुरकुमारैहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वित्तिक्खिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए।

एस णं गोयमा! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगस्स सामाणियदेवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चैव णं संपत्तीए विकुविसु वा विकुवित्ति वा विकु-

दि भदन्त! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः इयन्महर्द्धिकः यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्? चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य सामानिकाः देवाः कियन्महर्द्धिकाः यावत् कियच्च प्रभुः विकर्तुम्?

गौतम! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य सामानिकाः देवाः महर्द्धिकाः महाद्युतिकाः महाबलाः महायशसः महासौख्याः महानुभागाः। ते तत्र स्वेषां-स्वेषां भवनानां स्वेषां-स्वेषां सामानिकानां स्वेषां-स्वेषाम् अग्रमहिषीणां यावद् दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानाः विहरन्ति। इयन्महर्द्धिकाः यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्। तद् यथानाम—युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृह्णीयात्, चक्रस्य वा नाभिः अरकायुक्ता स्याद्, एवमेव गौतम! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य एकः एकः सामानिकदेवः वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्त्यते यावद् द्वितीयमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्त्यते।

प्रभुः गौतम! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य एकः एकः सामानिकदेवः केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं बहुभिः असुरकुमारैः देवैः देवीभिश्च आकीर्णं व्यतिकीर्णम् उपस्तृतं संस्तृतं स्पृष्टम् अवगाढावगाढं कर्तुम्।

'अदुत्तरं' च गौतम! प्रभुः चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य एकः एकः सामानिकदेवः तिर्यक् असंख्येयान् द्वीप-समुद्रान् बहुभिः असुरकुमारैः देवैः देवीभिश्च आकीर्णान् व्यतिकीर्णान् उपस्तृतान् संस्तृतान् स्पृष्टान् अवगाढावगाढान् कर्तुम्।

एष गौतम! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य एकैकस्य सामानिकदेवस्य अयम् एतद्रूपः विषयः विषयमात्रः उक्तः, नो चैव सम्प्राप्त्या व्यकार्षुः वा विकुर्वन्ति वा वि-

५. भन्ते! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी महान् ऋद्धि वाला है यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है, तो भन्ते! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव कितनी महान् ऋद्धि वाले यावत् कितनी विक्रिया करने में समर्थ हैं?

गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव महान् ऋद्धि वाले, महान् द्युति वाले, महाबली, महायशस्वी, महासुखी और महान् सामर्थ्य वाले हैं। वे वहां पर अपने-अपने भवनों का, अपने-अपने सामानिक देवों का और अपनी-अपनी पटरानियों का आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोगार्ह भोग भोगते हुए रहते हैं। वे इतनी महान् ऋद्धि वाले हैं यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है। जैसे कोई युवक युवती का प्रगाढ़ता से हाथ पकड़ता है अथवा गाड़ी के चक्के की नाभि जैसे अरों से युक्त होती है उसी प्रकार गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव वैक्रिय समुद्घात से समवहत् होता है यावत् दूसरी बार फिर वैक्रिय समुद्घात से समवहत् होता है।

गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप को अनेक असुरकुमार देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तृत, संस्तृत, स्पृष्ट और अवगाढावगाढ करने में समर्थ हैं।

और दूसरी बात, गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव तिर्यक् लोक के असंख्य द्वीप-समुद्रों को अनेक असुरकुमार देवों और देवियों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तृत, संस्तृत, स्पृष्ट और अवगाढावगाढ करने में समर्थ है।

गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर के प्रत्येक सामानिक देव की विक्रिया शक्ति का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से प्रतिपादित है। उन देवों ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करते हैं और

१. उत्तर. ३६/७१-७७ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २/११/२६।

३. वही, २/११/२६।

व्विस्संति वा ॥

करिष्यन्ति वा ।

न करेगे ।

६. जइ णं भंते! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणियदेवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो तावत्तीसया देवा केमहिड्ढीया? तावत्तीसया जहा सामाणिया तहा नेयव्वा। लोयपाला तहेव, नवरं—संखेज्जा दीव-समुद्दा भाणियव्वा ॥

यदि भदन्त! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य सामानिकदेवाः इयन्महर्द्धिकाः यावद् एतावच्च च प्रभुः विकर्तुं, चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य तावत्त्रिंशकाः देवाः कियन्महर्द्धिकाः? तावत्त्रिंशकाः यथा सामानिकाः तथा नेतव्याः। लोकपालाः तथैव, नवरं—संख्येयाः द्वीप-समुद्राः भणितव्याः ।

६. भन्ते ! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव इतनी महान् ऋद्धि वाले यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ हैं, तो भन्ते ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के तावत्त्रिंशक देव कितनी महान् ऋद्धि वाले हैं? जैसे सामानिक देवों की प्रज्ञापना है, वैसा ही तावत्-त्रिंशक देवों के विषय में ज्ञातव्य है। लोकपाल का प्रज्ञापन भी वैसा ही है, केवल इतना अन्तर है—यहां द्वीप-समुद्र संख्येय कहने चाहिए।

७. जइ णं भंते! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो लोयपाला देवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ केमहिड्ढीयाओ जाव केवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए? गौयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ महिड्ढीयाओ जाव महाणुभागाओ । ताओ णं तत्थ साणं-साणं भवणाणं, साणं-साणं सामाणिय-साहस्सीणं, साणं-साणं महत्तरियाणं, साणं-साणं परिसाणं जाव एमहिड्ढीयाओ। अण्णं जहा लोयपालाणं अपरिसेसं ॥

यदि भदन्त ! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य लोकपालाः देवाः इयन्महर्द्धिकाः यावद् एतावच्च च प्रभुः विकर्तुं, चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अग्गमहिष्यः देव्यः कियन्महर्द्धिकाः यावत् कियच्च च प्रभुः विकर्तुम्? गौतम ! चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अग्गमहिष्यः देव्यः महर्द्धिकाः यावन् महानुभागाः । ताः तत्र स्वेषां-स्वेषां भवनानां स्वस्याः-स्वस्याः सामानिकसाहस्र्याः, स्वासां-स्वासां महत्तरिकाणां, स्वासां-स्वासां परिषदां यावद् इयन्महर्द्धिकाः । अन्यद् यथा लोकपालानां अपरिशेषम् ।

७. भन्ते! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर के लोकपाल इतनी महान् ऋद्धि वाले हैं यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ हैं, तो असुरेन्द्र असुरराज चमर की पटरानियां कितनी महान् ऋद्धि वाली यावत् कितनी विक्रिया करने में समर्थ हैं? गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की पटरानियां महान् ऋद्धि वाली यावत् महान् सामर्थ्य वाली हैं। वे अपने-अपने भवनों, अपनी-अपनी एक-एक हजार सामानिक देवियों, अपनी-अपनी महत्तरिकाओं (प्रधान देवियों) और अपनी-अपनी परिषदों का आधिपत्य करती हुई यावत् इतनी महान् ऋद्धि वाली हैं। उनका शेष सारा प्रज्ञापन लोकपालों की तरह वक्तव्य है।

८. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं दोच्चे गौयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव तच्चे गौयमे वायुभूती अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तच्चवं गौयमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासि— एवं खलु गौयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए तं चेव एवं सव्वं अपुट्टवागरणं नेयव्वं अपरिसेसियं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त। इति भगवान् द्वितीयः गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव तृतीयः गौतमः वायुभूतिः अनगारः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य तृतीयं गौतमं वायुभूतिम् अनगारम् एवमवादीद्—एवं खलु गौतम! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः इयन्महर्द्धिकः तच्चैव एवं सर्वम् अपुष्टव्याकरणं नेतव्यं अपरिशेषितं यावद् अग्गमहिषीणां व्यक्तव्यता समाप्ता।

८. “भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है,” इस प्रकार भगवान् द्वितीय गौतम अग्निभूति श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वंदन-नमस्कार कर जहां तीसरे गौतम वायुभूति अनगार हैं, वहां आते हैं। वहां आकर तीसरे गौतम वायुभूति अनगार से इस प्रकार कहते हैं—गौतम! इस प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी महान् ऋद्धि वाला है—यहां से लेकर पटरानियों की वक्तव्यता समाप्त होती है, वहां तक का समग्र विषय अग्निभूति ने बिना पूछे ही वायुभूति को बतला दिया।

९. तेणं से तच्चे गौयमे वायुभूती अणगारे दोच्चस्स अग्गिभूतिस्स अणगारस्स एवमाइखमाणस्स भासमाणस्स पण्णवेमाणस्स परुवेमाणस्स एयमट्ठं नो सद्दहइ नो पत्तियइ नो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपित्तयमाणे अरोएमाणे उट्टाए उट्टेइ, उट्टेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—एवं खलु भंते! दोच्चे

तेन स तृतीयः गौतमः वायुभूतिः अनगारः द्वितीयस्य गौतमस्य अग्निभूतेः अनगारस्य एवमाचक्षतः भाषमाणस्य प्रज्ञापयतः प्ररूपयतः एतदर्थं नो श्रद्धते नो प्रत्येति नो रोचयति, एतदर्थं अश्रद्धधानः अप्रत्ययन् अरोचयन् उत्थया उत्तिष्ठति, उत्थाय यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपागच्छति यावत् पर्युपासीनः एवमवादीद्—एवं खलु भदन्त !

९. तीसरे गौतम वायुभूति अनगार दूसरे गौतम अग्निभूति अनगार के ऐसे आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण पर न श्रद्धा करते हैं, न प्रतीति करते हैं और न रुचि करते हैं। वह इस तथ्य पर अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि करते हुए उठने की मुद्रा में उठते हैं, उठ कर जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां आते हैं, यावत् पर्युपासना करते हुए वे इस प्रकार बोले—भन्ते! दूसरे गौतम अग्निभूति अनगार मेरे सामने इस प्रकार

गोयमे अग्निभूई अणगारे मम एवमाइक्खइ भासइ पण्णवेइ परूवेइ—एवं खलु गोयमा! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्डीए जाव महाणुभागे। से णं तथ्य चोत्तीसाए भवणावास-सयसहस्साणं तं चेव सव्वं अपरिसेसं भाणि-यव्वं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता ॥

१०. से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमादि! समणे भगवं महावीरे तच्चं गोयमं वायुभूतिं अणगारं एवं वयासी—जं णं गोयमा! तव दोच्चे गोयमे अग्निभूई अणगारे एवमाइक्खइ भासइ पण्णवेइ परू-वेइ—एवं खलु गोयमा! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्डीए तं चेव सव्वं जाव अग्ग-महिसीओ। सच्चे णं एसमट्ठे। अहं पि णं गोयमा! एवमाइक्खामि भासामि पण्णवेमि परूवेमि—एवं खलु गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्डीए तं चेव जाव अग्गमहि-सीओ। सच्चे णं एसमट्ठे ॥

११. सेवं भंते ! सेवं भंते! त्ति तच्चे गोयमे वायुभूई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमसित्ता जेणेव दोच्चे गोयमे अग्निभूई अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवा-गच्छित्ता दोच्चं गोयमं अग्निभूई अणगारं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमसित्ता एयमट्ठं सम्मं विण-एणं भुज्जो-भुज्जो खामेइ ॥

१२. तए णं से तच्चे गोयमे वायुभूति अणगारे दोच्चे णं गोयमेणं अग्निभूतिणा अणगारेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—जइ णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्डीए जाव एवतियं च णं पभू वि-कुच्चित्ताए, बली णं भंते ! वइरोयणिंदे वइरोयणराया केमहिड्डीए? जाव केवइयं च णं पभू विकुच्चित्ताए ?

गोयमा ! बली णं वइरोयणिंदे वइरोयणराया महिड्डीए जाव महाणुभागे । जहां चमरस्स तहा बलिस्स वि नेयव्वं, नवरं—सातिरेकं केवलकपं जंबुद्वीपं दीवं भाणियव्वं, सेसं तं

द्वितीयः गौतमः अग्निभूतिः अनगारः मम एवमाख्याति भाषते प्रज्ञापयति प्ररूपयति— एवं खलु गौतम! चमरः असुरेन्द्रः असुर-राजःमहर्द्धिकः यावन् महानुभागः। तत्तत्र चतुस्त्रिंशद् भवनावासशतसहस्राणां तच्चैव सर्वम् अपरिशेषं भणितव्यं यावद् अग्रमहिषीणां वक्तव्यता समाप्ता।

तत् कथमेतद् भदन्तः एवम्?

गौतम ! अयि ! श्रमणः भगवान् महावीरः तृतीयं गौतमं वायुभूतिं अनगारं एवमवादीद्— यद् गौतम ! तव द्वितीयः गौतमः अग्निभूतिः अनगारः एवमाख्याति भाषते प्रज्ञापयति प्ररूपयति—एवं खलु गौतम ! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः महर्द्धिकः तच्चैव सर्वं यावद् अग्र-महिष्यः। सत्यः एष अर्थः। अहमपि गौतम! एवमाख्यामि भाषे प्रज्ञापयामि प्ररूपयामि— एवं खलु गौतम ! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः महर्द्धिक तच्चैव यावद् अग्रमहिष्यः । सत्यः एष अर्थः ।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति तृतीयः गौतम वायुभूतिः अनगारः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा यत्रैव द्वितीयः गौतमः अग्निभूतिः अनगारः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य द्वितीयं गौतमं अग्निभूतिम् अनगारं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एतदर्थं सम्यक् विनयेन भूयो-भूयः क्षमयति।

ततः सः तृतीय गौतमः वायुभूतिः अनगारः द्वितीयेन गौतमेन अग्निभूतिना अनगारेण सार्धं यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपा-गच्छति यावत् पर्युपासीनः एवमादीद्—यदि भदन्त! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः इयन्-महर्द्धिकः यावद् एतवच्च प्रभुः विकर्तुं बलिः भदन्त! वैरोचनेन्द्रः वैरोचनराजः कियन्-महर्द्धिकः यावत् कियच्च प्रभुः विकर्तुम्?

गौतम ! बलिः वैरोचनेन्द्रः वैरोचनराजः मह-र्द्धिकः यावन् महानुभागः। यथा चमरस्य तथा बलेरपि नेतव्यम्, नवरं—सातिरेकं केवलकपं जम्बूद्वीपं द्वीपं भणितव्यम्, शेषं तच्चैव

अख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं— गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है यावत् महान् सामर्थ्य वाला है। वह वहां पर चौतीस लाख भवनावासों का आधिपत्य करता है। पटरानियों की वक्तव्यता समाप्त होती है, वहां तक का समग्र वक्तव्य यहां जानना चाहिए।

१०. भन्ते ! यह कैसे है ?

गौतम ! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने तृतीय गौतम वायुभूति अणगार से इस प्रकार कहा—गौतम! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार तुम्हारे सामने इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता है—गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है। यहां पटरानियों तक का समग्र वक्तव्य पुनरावर्तनीय है। यह अर्थ सत्य है। गौतम! मैं भी इसी प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता हूँ—गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है। भगवान् ने पटरानियों तक की समग्र वक्तव्यता दोहरा दी और अन्त में फिर कहा—यह अर्थ सत्य है।

११. “भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है” इस प्रकार तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर वे जहां द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार हैं, वहां आते हैं, आकर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर वे इस अर्थ (उनकी यथार्थ वाणी पर विश्वास किया) के लिए सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक बार-बार क्षमा याचना करते हैं।

१२. वे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार के साथ जहां श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आये यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भन्ते ! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी महान् ऋद्धि वाला है यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है तो भन्ते ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि कितनी महान् ऋद्धि वाला है यावत् कितनी विक्रिया करने में समर्थ है?

गौतम! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि महान् ऋद्धि वाला है यावत् महान् सामर्थ्य वाला है। जैसी चमर की वक्तव्यता है वैसी ही बलि की है। केवल इतना अन्तर है कि यहां कुछ अधिक जम्बूद्वीप द्वीप वक्तव्य है।

चेव निरवसेसं नेयव्वं, नवरं—नाणत्तं जाणि-
यव्वं भवणेहिं सामाणिएहि य ॥

निरवशेषं नेतव्वं, नवरं—नानात्वं ज्ञातव्वं
भवनेषु सामानिकेषु च ।

शेष समूचा प्रकरण उसी प्रकार है। एक और अन्तर
ज्ञातव्य है--भवन तीस लाख और सामानिक देवों
की संख्या साठ लाख है।

१३. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति तच्चे गोयमे
वायुभूर्इ अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदति
नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासण्णे णाति-
दूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं
पंजलियडे पज्जुवासइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त! इति तृतीयः
गौतमः वायुभूतिः अनगारः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
नात्यासन्नं नातिदूरं शुश्रूषमाणः नमस्यन्
अभिमुखः विनयेन कृतप्राञ्जलिः पर्युपासते।

१३. “भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है”
इस प्रकार तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण
भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं,
वन्दन-नमस्कार कर न अति निकट न अति दूर
शुश्रूषा और नमस्कार की मुद्रा में उनके सम्मुख
सविनय वद्वान्जलि होकर पर्युपासना करते हैं।

१४. तते णं से दोच्चे गोयमे अग्गिभूर्इ अणगारे
समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता
नमंसित्ता एवं वयासी—जइ णं भंते ! बली
वइरोयणिं दे वइरोयणराया एमहिड्डीए जाव
एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, धरणे णं
भंते ! नागकुमारिं दे नागकुमारराया, केमहि-
ड्डीए ? जाव केवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

ततः सः द्वितीयः गौतमः अग्निभूतिः अनगारः
श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति,
वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्—यदि भदन्त!
बलिः वैरोचनेन्द्रः वैरोचनराजः इयन्महर्द्धिकः
यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुं, धरणः भदन्त!
नागकुमारेन्द्रः नागकुमारराजः कियन्महर्द्धिकः
यावत् कियच्च प्रभुः विकर्तुम् ?

१४. द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार श्रमण
भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करते हैं,
वन्दन-
नमस्कार कर वे इस प्रकार बोले—भन्ते ! यदि
वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इतनी महान् ऋद्धि वाला
है यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है, तो भन्ते !
नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण कितनी महान्
ऋद्धि वाला है यावत् कितनी विक्रिया करने में समर्थ
है?

गोयमा ! धरणे णं नागकुमारिं दे नागकुमार-
राया महिड्डीए जाव महानुभागे । से णं तत्थ
चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साणं छण्हं
सामाणियसाहस्सीणं, तावत्तीसाए तावत्तीस-
गाणं, चउण्हं लोगपालाणं, छण्हं अग्गम-
हिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं
अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउव्वी-
साए आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च जाव
विहरइ। एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए । से
जहानामाए—जुवतिं जुवाणे जाव पभू केवल-
कप्पं जंबुद्वीवं दीवं जाव तिरियं संखेज्जे दीव-
समुद्दे बहूहिं नागकुमारीहिं जाव विकुव्विस्सति
वा ॥

गौतम ! धरणः नागकुमारेन्द्रः नागकुमारराजः
महर्द्धिकः यावन् महानुभागः । स तत्र
चत्वारिंशद् भवनावासशतसहस्राणां, षण्णां
सामानिकसाहस्र्याः, त्रयस्त्रिंशत् तावत्-
त्रिंशकानां, चतुर्णां लोकपालानां, षण्णाम्
अग्रमहिर्षीणां सपरिवाराणां, तिसृणां परिषदां,
सत्तानाम् अनीकानाम्, सत्तानाम् अनीकाधि-
पतीनां, चतुर्विंशतेः आत्मरक्षदेवसाहस्र्याः
अन्येषाञ्च यावद् विहरति। एतावच्च प्रभुः
विकर्तुम्। तद् यथानाम—युवतिं युवा यावत्
प्रभुः केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं यावत् तिर्यक्
संख्येयान् द्वीप-समुद्रान् बहुभिः नागकुमारीभिः
यावद् विकरिष्यति वा।

गौतम ! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण महान्
ऋद्धि वाला यावत् महान् सामर्थ्य वाला है। वह वहाँ
चौवालीस लाख भवनावास, छह हजार सामानिक
देव, तेतीस तावत्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, छह
सपरिवार पटरानियां, तीन परिषद्, सात सेनाएँ, सात
सेनापति, चौबीस हजार आत्मरक्षक देव तथा अन्य
अनेक देवों और देवियों का आधिपत्य करता हुआ
रहता है। वह इतनी विक्रिया करने में समर्थ है।
जैसे कोई युवक युवती का प्रगाढ़ता से हाथ पकड़ता
है यावत् सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप उसी प्रकार यावत्
तिरछे लोक के संख्येय द्वीप समुद्रों को अनेक
नागकुमार और नागकुमारियों से आकीर्ण करने में
समर्थ है। यावत् क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी
विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

सामाणिया तावत्तीस-लोगपालग्गमहिसीओ य
तहेव जहा चमरस्स, नवरं—संखेज्जे दीव-
समुद्दे भाणियव्वे ॥

सामानिकः तावत्त्रिंशक-लोकपालाग्रमहिष्य-
श्च तथैव यथा चमरस्य, नवरं—संख्येयाः
द्वीप-समुद्राः भाणितव्याः।

सामानिक, तावत्त्रिंशक, लोकपाल और पटरानियां
उनकी विक्रिया की वक्तव्यता चमर के सामानिक,
तावत्त्रिंशक, लोकपाल और पटरानियों के समान
है। केवल इतना अन्तर है—ये संख्येय द्वीप-समुद्रों
को अपने रूपों से आकीर्ण करने में समर्थ हैं।

१५. एवं जाव थणियक्कुमारा, वाणमंतरा, जोईसिया
वि, नवरं—दाहिणिल्ले सव्वे अग्गिभूर्इ
पुच्छइ, उत्तरिल्ले सव्वे वायुभूर्इ पुच्छइ ॥

एवं यावत् स्तनितकुमारः, वानमन्तरा, ज्योति-
ष्कः अपि, नवरं—दाक्षिणात्यान् सर्वान् अग्नि-
भूतिः पृच्छति, औत्तराहान् सर्वान् वायुभूतिः
पृच्छति।

१५. इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार, वानमन्तर और
ज्योतिष्क देवों के संबंध में भी ज्ञातव्य है। विशेष
बात यह है कि दक्षिण दिशा के सब देवों के संबंध में
अग्निभूति प्रश्न करते हैं और उत्तर दिशा के सब
देवों के संबंध में वायुभूति प्रश्न करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १५

प्रस्तुत सूत्र में संक्षिप्त वक्तव्यता है। इनके आवासों और सामानिक देवों की संख्या पण्णवणा में विस्तार से उपलब्ध है।^१

१६. भंतेत्ति ! भगवं दोच्चे गीयमे अग्निभूई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—जइ णं भंते! जोइसिदे जोइसराया एमहिड्डीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, सक्के णं भंते! देविदे देवराया केमहिड्डीए? जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए?

गीयमा ! सक्के णं देविदे देवराया महिड्डीए जाव महाणुभागे । से णं बत्तीसाए विमाणा-वाससयसहस्साणं, चउरासीय सामाणिय-साहस्सीणं, तायत्तीसाए तावत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं अट्टण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउरासीणं आयरक्खसाहस्सीणं, अण्णेसिं च जाव विहरइ। एमहिड्डीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, एवं जहेव चमरस्स तहेव भाणियव्वं, नवरं—दो केवलकप्पे जंबुदीवे दीवे, अवसेसं तं चेव ।

एस णं गीयमा ! सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वित्ति वा विकु-व्विस्सति वा ॥

१७. जइ णं भंते ! सक्के देविदे देवराया एमहिड्-डीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, एवं खलु देवानुप्पियाणं अंतेवासी तीसाए नामं अणगारे पगइभइए पगइउवसंते पगइपयणु-कोहमाणमायालोभे मिउमद्ववसंपन्ने अल्लीणे विणीए छट्टंछट्टेणं अणिकिखत्तेणं तवोकम्पेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं अट्ट संवच्छराइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता, मासि-याए लेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते स-माहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सयंसिं विमाणांसि उववायसभाए देवसयणि-

भदन्त! अयि! भगवान् द्वितीयः गौतमः अग्निभूतिः अनगारः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यत्वा एवमवादीद्—यदि भदन्त! ज्योतिरिन्द्रः ज्योतीराजः इयन्महर्द्धिकः यावद् एतावच्च च प्रभुः विकर्तुं, शक्रः भदन्त ! देवेन्द्रः देवराजः कियन्महर्द्धिकः? यावत् कियच्च प्रभुः विकर्तुम्?

गौतम ! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः महर्द्धिकः यावन् महानुभागः। स द्वाविंशतिः विमानावास-शतसहस्राणां, चतुरशीतिः सामानिकसाह-स्त्र्याः, त्रयस्त्रिंशत् तावत्त्रिंशकानां, चतुर्णां लोकपालानां, अष्टानां अग्रमहिषीणां सपरिवा-राणां, तिसृणां परिषदां, सप्तानां अनीकानां, सप्तानां अनीकाधिपतीनां, चतुर्णां चतुरशीती-नाम् आत्मरक्षसाहस्र्याः, अन्येषाञ्च यावद् विहरति। इयन्महर्द्धिकः यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्, एवं यथैव चमरस्य तथैव भणितव्यं, नवरं—द्वौ केवलकल्पौ जम्बूद्वीपौ द्वीपौ, अवशेषं तच्चैव।

एषः गौतम ! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अयमेव एतद्रूपः विषयः विषयमात्रः उक्तः, नो चैव सम्प्राप्त्या व्यकर्षितं वा विकरोति वा विकरिष्यति वा।

यदि भदन्त ! शक्रः देवेन्द्रः देवराज इयन्म-हर्द्धिकः यावद्! एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्, एवं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासी तिष्यकः नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः प्रकृत्युपशान्तः प्रकृति-प्रतनुक्रोधमानमायालोभः मृदुमार्दवसम्पन्नः आलीनः विनीतः षष्ठषष्टेन अनिक्षिप्तेन तपःकर्मणा आत्मानं भावयन् बहुप्रतिपूर्णां अष्ट संवत्सरान् श्रामण्यपर्यायं प्राप्य मासिक्या संलेखनया आत्मानं जोषित्वा, षष्टिं भक्तानि अनशनेन छित्वा आलोचित-प्रतिक्रान्तः समा-धिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा सौधर्मं कल्पे स्वरिमन् विमाने उपपातसभायाः देवशयनीये

१६. भन्ते ! इस सम्बोधन से संवोधित कर द्वितीय गौतम भगवान् अग्निभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोले—भन्ते ! यदि ज्योतिरिन्द्र ज्योतीराज इतनी महान् ऋद्धि वाला यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है, तो भन्ते ! देवेन्द्र देवराज शक्र कितनी महान् ऋद्धि वाला है यावत् कितनी विक्रिया करने में समर्थ है?

गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र महान् ऋद्धि वाला है यावत् महान् सामर्थ्य वाला है। वह कत्तीस लाख विमानावास, चौरासी हजार सामानिक देव, तेतीस तावत्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, आठ सपरिवार पटरानियां, तीन परिषद्, सात सेनाएं, सात सेनापति, तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव तथा अन्य देवों और देवियों का आधिपत्य करता हुआ रहता है। वह इतनी महान् ऋद्धि वाला है यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है। इस प्रकार जैसे चमर की वक्तव्यता है वैसे ही शक्र की है, केवल इतना अन्तर है—शक्र दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीपों को अपने रूपों से आकीर्ण कर सकता है, शेष वक्तव्यता उसी प्रकार है।

गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र की विक्रिया का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से प्रतिपादित है, शक्र ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

१७. भन्ते ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र इतनी महान् ऋद्धि वाला यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है, तो भन्ते! तिष्यक देव कसी महान् ऋद्धि वाला है? वह आपका अन्तेवासी तिष्यक नामक अनगार जो प्रकृति से भद्र और प्रकृति से उपशान्त था, जिसकी प्रकृति में क्रोध, मान, माया और लोभ प्रतनु (पतले) थे, जो मृदु-मार्दव से सम्पन्न, आत्मलीन और विनीत था। उसने अविच्छिन्न रूप से दो-दो दिन के उपवास से तपः-कर्म की साधना द्वारा आत्मा को भावित करते हुए पूरे साठ भक्तों को छेदन किया, वह आलोचना और प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्ण दशा में कालमास में काल को प्राप्त हो गया। वह सौधर्म कल्प में अपने

ज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइ-
भागमेत्तीए ओगाहणाए सक्कस्स देविंदस्स
देवरण्णो सामाणियदेवत्ताए उववण्णे।

तए णं तीसए देवे अहुणोववण्णमेत्ते समाणे
पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ (तं
जहा—आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए,
इन्द्रियपज्जत्तीए, आणापाणुपज्जत्तीए, भासा-
मणपज्जत्तीए)

तए णं तं तीसयं देवं पंचविहाए पज्जत्तीए
पज्जत्तिभावं गयं समाणं सामाणियपरि-
सोववण्णया देवा करयलपरिग्यहियं दसनहं
सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विज-
एणं वद्धावित्ति, वद्धावित्ता एव वयासी—अहो
णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्डी दिव्वा देव-
ज्जुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिस-
मण्णागए। जारिसिया णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा
देविड्डी दिव्वा देवज्जुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे
पत्ते अभिसमण्णागए, तारिसिया णं सक्केण
वि देविंदेण देवरण्णा दिव्वा देविड्डी जाव
अभिसमण्णागए। जारिसिया णं सक्केण
देविंदेण देवरण्णा दिव्वा देविड्डी जाव अभि-
समण्णागए, तारिसिया णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा
देविड्डी जाव अभिसमण्णागए।

से णं भंते ! तीसए देवे केमहिड्डीए जाव
केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! महिड्डीए जाव महाणुभागो। से णं
तत्थ सयस्स विमाणस्स, चउण्हं सामाणिय-
साहस्सीणं, चउण्हं अग्गमहिस्सीणं सपरिवा-
राणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं,
सत्तण्हं अणियाहिर्वईणं, सोलसण्हं आयर-
क्खदेवसाहस्सीणं, अण्णेसिं च बहूणं वेमा-
णियाणं देवाणं, देवीण य जाव विहरइ। एमहि-
ड्डीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए।
से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे
गेण्हेज्जा, जहेव सक्करस तहेव जाव एस णं
गोयमा ! तीसयस्स देवस्य अयमेयास्सुवे विसए
विसयमेत्ते बुइए, णो चेव णं संपतीए विकु-
व्विस्सु वा विकुव्विति वा विकुव्विस्सति वा ॥

देवदूष्यान्तरिते अंगुलस्य असंख्येयतमभाग-
मात्रया अवगाहनया शक्रस्य देवेन्द्रस्य देव-
राजस्य सामानिकदेवत्वेन उपपन्नः ।

ततः तिष्यकः देवः अधुनोपपन्नमात्रः सन्
पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तिभावं गच्छति
(तद् यथा—आहारपर्याप्त्या, शरीरपर्याप्त्या,
इन्द्रियपर्याप्त्या, आनापानपर्याप्त्या, भाषा-
मनः-पर्याप्त्या)।

ततः तं तिष्यकं देवं पञ्चविधयाः पर्याप्तेः
पर्याप्तिभावं गतं सन्तं सामानिकपरिषदु-
पपन्नकाः देवाः करतलपरिगृहीतं दशनखं
शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन
विजयेन वर्धापयन्ति, वर्धापयित्वा एवम-
वादीद्—अहो देवानुप्रियैः दिव्या देवर्द्धिः दिव्या
देवद्युतिः दिव्यः देवानुभावः लब्धः प्राप्तः
अभिसमन्वागतः । यादृशी देवानुप्रियैः दिव्या
देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभावः
लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः, तादृशी शक्रे-
णापि देवेन्द्रेण देवराजेन दिव्या देवर्द्धिः यावद्
अभिसमन्वागतः। यादृशी शक्रेण देवेन्द्रेण देव-
राजेन दिव्या देवर्द्धिः यावद् अभिसमन्वागतः,
तादृशी देवानुप्रियैः दिव्या देवर्द्धिः यावद्
अभिसमन्वागतः ।

स भदन्त ! तिष्यकः देवः कियन्महर्द्धिकः यावत्
कियच् च प्रभुः विकर्तुम् ?

गौतम ! महर्द्धिकः यावत् महानुभागः। स
तत्र स्वस्य विमानस्य, चतसृणां सामानिक-
साहस्र्याः, चतसृणां अग्रमहिषीणां सपरिवा-
राणां, तिसृणां परिषदां, सप्तानाम् अनीकानां,
सप्तानाम् अनीकाधिपतीनां, षोडश आत्परक्ष-
देवसाहस्र्याः, अन्येषां च बहूनां वैमानिकानां
देवानां देवीनां च यावद् विहरति। इयन्मह-
र्द्धिकः यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुम् । तद्
यथानाम धुवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृहीयात्,
यथैव शक्रस्य तथैव यावद् एष गौतम !
तिष्यकस्य देवस्य अयम् एतद्रूपः विषयः
विषयमात्रः उक्तः, नो चैव सम्प्राप्त्या व्य-
कार्षीद् वा, विकरोति वा विकरिष्यति वा।

भाष्य

१. उपपात सभा के देवदूष्य से आच्छन्न देवशयनीय में
जन्म के तीन प्रकार हैं—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात। देव उपपात

जन्म से उत्पन्न होते हैं। उनके जन्म-स्थान को उपपात-सभा कहा जाता है। उस
सभा में देवशय्या होती है। उस शय्या पर एक प्रच्छद-पट (चादर) बिछा होता है।

विमान में उपपात सभा के देवदूष्य से आच्छन्न
देवशयनीय में^१ अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी
अवगाहना से^२ देवेन्द्र देवराज शक्र के सामानिक देव
के रूप में उपपन्न हुआ।

तिष्यक देव तत्काल उपपन्न होते ही पांच प्रकार की
पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त होता है^३, जैसे—
आहार पर्याप्ति से, शरीर पर्याप्ति से, इन्द्रिय पर्याप्ति
से, आनापान (श्यासोच्छ्वास) पर्याप्ति से और
भाषा-मन पर्याप्ति से ।

सामानिक परिषद् में उपपन्न देव पांच पर्याप्तियों से
पर्याप्तभाव को प्राप्त हुए उस तिष्यक देव को दोनों
हथेलियों से निष्पन्न सम्पुटवाली दस नखात्मक अंजलि
को सिर के सम्मुख घुमाकर मस्तक पर टिकाकर
जय-विजय ध्वनि से वर्धापित करते हैं, वर्धापित कर
इस प्रकार कहा—अहो ! आपने जैसी दिव्य देवर्द्धि,
दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव उपलब्ध किया है,
प्राप्त किया है और वह भोग्य अवस्था में आया है,
वैसी दिव्य देवर्द्धि देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की
है, प्राप्त की है यावत् वह भोग्य अवस्था में है। जैसी
दिव्य देवर्द्धि देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है
यावत् भोग्य अवस्था में आई है वैसी दिव्य देवर्द्धि
आपने भी भलीभाँति उपलब्ध की है यावत् वह भोग्य
अवस्था में आई है।

भन्ते ! वह तिष्यक देव कितनी महान् ऋद्धि वाला
यावत्! कितनी विक्रिया करने में समर्थ है?

गौतम ! वह महान् ऋद्धि वाला यावत् महान् सामर्थ्य
वाला है। वह वहां पर अपने विमान, चार हजार
सामानिक देव, चार सपरिवार पटरानियां, तीन परिषद,
सात सेनाएं, सात सेनापति, सोलह हजार आत्परक्षक
देव और अन्य अनेक वैमानिक देवों और देवियों का
आधिपत्य करता हुआ रहता है। वह इतनी महान्
ऋद्धि वाला है यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ
है। जैसे कोई युवक युवती का प्रगाढ़ता से हाथ पकड़ता
है, जैसी शक्र की वक्तव्यता है वही वक्तव्यता यहां
जाननी चाहिए। गौतम ! तिष्यक देव की विक्रिया शक्ति
का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से प्रतिपादित
है। तिष्यक ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी
विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

वह शय्या देवदूष्य से ढकी हुई होती है। सिद्धसेन गणी के अनुसार प्रच्छदपट के ऊपर और देवदूष्य के नीचे इन दोनों के अन्तराल में वर्तमान वैक्रिय वर्णणा के पुद्गलों को ग्रहण कर देव उत्पन्न होता है। वह प्रच्छदपट और देवदूष्य के पुद्गलों में अपने शरीर का निर्माण नहीं करता और न शुक्र और शोणित से अपने शरीर का निर्माण करता है। उसके जन्म का हेतु 'उपपात सभा के देवशयनीय क्षेत्र को प्राप्त होना' ही है।^१

२. अंगुल के असंख्यातवे भाग जितनी अवगाहना से

उत्पत्ति के समय भ्रूण की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवे भाग जितनी होती है। उल्कृष्ट अवगाहना भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवे भाग जितनी ही होती है।

३. पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्ति-भाव को प्राप्त होता है

पर्याप्ति का अर्थ है—जीवनीशक्ति का स्रोत। शरीर-निर्माण के प्रारंभ-काल में ही इनकी रचना हो जाती है। इनकी संख्या छह है—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति, मनः पर्याप्ति। देव संज्ञी (समनस्क) होते हैं। संज्ञी जीव में छहों पर्याप्तियों का नियम है, फिर भी यहां पांच पर्याप्ति की प्राप्ति का उल्लेख है। वृत्तिकार ने इस

समस्या पर एक टिप्पणी की है। उसका आशय यह है कि यहां किसी कारणवश भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति का एकत्व विवक्षित है।^२ इसमें कारण का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मलयगिरी के अनुसार भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति के रचनाकाल में अन्तर बहुत थोड़ा होता है। इसलिए उनके एकत्व की विवक्षा की गई है।^३

पर्याप्तियों की रचना उत्पत्ति के प्रथम समय में ही प्रारंभ हो जाती है समाप्ति में काल का अन्तर होता है। आहार पर्याप्ति की रचना एक समय में ही सम्पन्न हो जाती है। शेष पांच पर्याप्तियों में से प्रत्येक का समाप्ति-काल अन्तर्मुहूर्त है। आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार यह समाप्ति-काल का नियम औदारिक शरीर के लिए है। वैक्रिय शरीर के लिए समाप्ति का नियम भिन्न है। देवों के भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति की रचना एक साथ निष्पन्न होती है। इसलिए उनका एकत्व विवक्षित है।^४

इस विषय पर शरीर-शास्त्रीय दृष्टि से समीक्षा करना अपेक्षित है। स्वरयन्त्र और मानसिक क्रिया में परस्पर गहरा संबंध है। स्मृति, चिन्तन और कल्पना—मन की ये तीनों क्रियाएं भाषा के बिना नहीं हो सकती। मन के बिना भाषा हो सकती है, किंतु भाषा के बिना मन का कार्य-सम्पादन नहीं हो सकता। इस आधार पर भाषा और मन के एकत्व की विवक्षा की जा सकती है। देवों के वैक्रिय शरीर में भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति के केन्द्र अधिक संबद्ध हो सकते हैं। इसलिए उनके एकत्व की विवक्षा की जा सकती है।

१८. जइ णं भंते ! तीसए देवे महिड्डीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरणो अवसेसा सामाणिया देवा केमहिड्डीया? तहेव सव्वं जाव एस णं गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरणो एग-मेगस्स सामाणियस्स देवस्स इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपतीए विकुव्विसु वा विकुव्वित्ति वा विकुव्विस्सत्ति वा ॥

तावत्त्रिशक-लोकपाल-अग्रमहिषीणां जहेव चम-रस्स, नवरं—दो केवलकल्पे जंबुद्वीवे दीवे, अण्णं तं चेव ॥

यदि भदन्त ! तिष्यकः देवः महर्द्धिक यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुं, शक्रस्य भदन्त ! देवेन्द्रस्य देवराजस्य अवशेषाः सामानिकाः देवाः कियन्महर्द्धिकाः। तथैव सर्वं यावद् एष गौतम ! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य एकैकस्य सामानिकस्य देवस्य अयमेतद्रूपः दिषयः विषयमात्रः उक्तः, नो चैव सम्प्राप्त्या व्यकार्षीद् वा विकरोति वा विकरिष्यति वा।

तावत्त्रिशक-लोकपाल-अग्रमहिषीणां यथैव चमरस्य, नवरं—द्वौ केवलकल्पौ जम्बूद्वीपौ द्वीपौ, अन्यत् तच्चैव।

१८. भन्ते ! यदि तिष्यकदेव महान् ऋद्धि वाला यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है, तो भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के शेष सामानिक देव कितनी महान् ऋद्धि वाले हैं? यह समग्र प्रकरण पूर्ववत् वक्तव्य है यावत् गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र के एक-एक सामानिक देव की विक्रिया-शक्ति का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से ही प्रतिपादित है। किसी भी देव ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

तावत्त्रिशक, लोकपाल और अग्रमहिषी की वक्तव्यता चमर की भांति ज्ञातव्य है। केवल इतना अन्तर है कि ये दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीपों को अपने रूपों से आकीर्ण कर सकते हैं। शेष वक्तव्यता उसी प्रकार है।

१९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति दोच्चे गोयमे जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति द्वितीयः गौतमः यावद् विहरति।

१९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है। इस प्रकार द्वितीय गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार करते हैं यावत् संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए विहरण कर रहे हैं।

१. त. सू. भा. वृ. पृ. १६०, सूत्र २/३२—उपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रनिमित्तं यज्जन्म । तद्रूपपातशब्देनोच्यते, नहि प्रच्छदपटदेवदूष्यपुद्गलानेवासौ शरीरीकरोति, नापि शुक्रादि-पुद्गलानाद्दान उत्पद्यते, तस्मात् प्रतिविशिष्टक्षेत्रप्राप्तिरेवास्य जन्मनो निमित्तं भवति।

२. भ. वृ. ३/१७—पर्याप्तिः—आहारशरीरादीनामभिनवृत्तिः, सा चान्यत्र षोडोक्ता, इह तु पञ्चधा, भाषामनःपर्याप्त्योर्वहुश्रुताभिर्मतेन केनापि कारणैकत्वविवक्षणात् ।

३. मौवा. वृ. पृ. २४२—भाषामनःपर्याप्त्योः समाप्तिकालान्तरस्य प्रायः शेषपर्याप्ति-

कालान्तरापेक्षया त्तोकत्वादेकत्वेन विवक्षणम् ।

४. प्र. सारो. प. २३२, गा. १२१७-१२१८—

आहारसरीरिंदिय पञ्जत्ती आणपाण भासमणे।

चत्तारि पंच छप्पिव एण्णिंदिय-विगल-सन्नीणं ॥

पटमा समय पभाणा सेसा अंतोमुहुत्तिया य कमा।

सगग पि हुत्ति नवरं पंचम छट्ठा य अमराणं ॥

२०. भंतेति! भगवं तच्चे गीयमे वासुभूई
अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ,
वंदित्ता नमंसित्ता एवं वंदासी—जइ णं भंते!
सक्के देविंदे देवराया महिइड्डीए जाव एवइयं
च णं पभू विकुव्वित्तए, ईसाणे णं भंते !
देविंदे देवराया केमहिइड्डीए? एवं तहेव,
नवरं—साहिए दो केवलकप्पे जंबुदीवे दीवे,
अवसेसं तहेव ॥

२१.जइ णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया ए-
महिइड्डीए जाव एवतियं च ण पभू विकु-
व्वित्तए, एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी
कुरुदत्तपुत्ते नामं अणगारे पगतिभइए जाव
विणीए अट्टमंअट्टमेणं अणिविखत्तेणं, पारणए
आयंवलपरिग्गहिएणं तवोकम्मणं उडढं बा-
हाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूरभिमुहे आया-
वणभूमीए आयावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे
सामणपरियाणं पाउभित्त, अद्धमासियाए
संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता, तीसं भत्ताइं
अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कंते समा-
हिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे
सयंसि विमाणंसि उववायसभाए देवसय-
णिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइ-
भागभेत्तीए ओगाहणाए ईसाणस्स देविंदस्स
देवरण्णे सामाणियदेवत्ताए उववण्णे। जा
तीसए वत्तव्वया सच्चेव अपरिसैसा कुरुदत्त-
पुत्ते वि, नवरं—सातिरेगे दो केवलकप्पे
जंबुदीवे दीवे, अवसेसं तं चेव।

एवं सामाणिय-तावत्तीसग-लोगपाल-अग्ग-
महिशीणं जाव एस णं गीयमा! ईसाणस्स
देविंदस्स देवरण्णे एगमेगाए अग्गमहिशीए
देवीए अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए,
नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति
वा विकुव्विस्सति वा ॥

भदन्त ! अथि। भगवान् तृतीयः गौतमः
वासुभूतिः अनगारः श्रमणं भगवन्तं महावीरं
वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एवमवादीद्—यदि भदन्त ! शक्रः देवेन्द्रः
देवराजः महर्षिकः यावद् एतावच्च प्रभुः
विकर्तुं, ईशानः भदन्त! देवेन्द्रः देवराजः
कियन्महर्षिकः? एवं तथैव, नवरं—साधिकी
द्वौ केवलकल्पौ जम्बूद्वीपौ द्वीपौ, अवशेषं
तथैव।

यदि भदन्त ! ईशानः देवेन्द्रः देवराजः इयन्म-
हर्षिकः यावद् एतावच्च प्रभुः विकर्तुम्, एवं
खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासी कुरुदत्तपुत्रः
नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः यावद् विनीतः
अष्टमाष्टमेन अनिक्षिप्तेन, पारणके परिगृही-
ताचाम्लेन तपःकर्मणा ऊर्ध्वं बाहू प्रगृह्य-प्रगृह्य
सूराभिमुखः आतापनभूम्यां आतापयन् बहु-
प्रतिपूर्णां षण्मासान् श्रामण्यपर्यायं प्राप्य,
अर्धमासिक्या संलेखनया आत्मानं जोषित्वा,
त्रिंशद् भक्तानि अनशनेन छित्त्वा आलोचित-
प्रतिक्रान्तः समाधिप्राप्तः कालमासे कालं कृत्वा
ईशाने कल्पे स्वस्मिन् विमाने उपपात-
सभायाः देवशयनीये देवदूष्यान्तरिते अंगुलस्य
असंख्येयभागमात्रया अवगाहनया ईशानस्य
देवेन्द्रस्य देवराजस्य सामानिकदेवत्वेन उप-
पन्नः। या तिष्यके वक्तव्यता सा चैव अपरि-
शेषा कुरुदत्तपुत्रे ऽपि, नवरं—सातिकी द्वौ
केवलकल्पौ जम्बूद्वीपौ द्वीपौ, अवशेषं तव-
चैव।

एवं सामानिक-तावत्त्रिंशक-लोकपाल-अग्र-
महिशीणां यावद् एष गौतम! ईशानस्य देवे-
न्द्रस्य देवराजस्य एकैकस्याः अग्रमहिष्याः
देव्याः अयमेतद्रूपः विषयः विषयमात्रः उक्तः,
नो चेव सम्प्राप्त्या व्यकर्षाद् वा विकरोति वा,
विकरिष्यति वा।

२०. भन्ते ! इस संबोधन से संबोधित कर तृतीय गौतम
भगवान् वासुभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर
को वन्दन नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर
उन्होंने इस प्रकार कहा— भन्ते ! यदि देवेन्द्र देवराज
शक्र महान् ऋषि वाला है यावत् इतनी विक्रिया करने
में समर्थ है, तो भन्ते ! देवेन्द्र देवराज ईशान कितनी
महान् ऋषि वाला है? यह समग्र प्रकरण पूर्ववत्
वक्तव्य है, केवल इतना अन्तर है— वह अपनी
विक्रिया से कुछ अधिक सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीप द्वीपों को
आकीर्ण कर सकता है। शेष वक्तव्यता उसी प्रकार
है।

२१. भन्ते ! यदि देवेन्द्र देवराज ईशान इतनी महान्
ऋषि वाला यावत् इतनी विक्रिया करने में समर्थ है,
तो आपका अंतेवासी कुरुदत्तपुत्र नामक अनगार जो
प्रकृति से भद्र यावत् विनीत था। वह निरन्तर तेला-तेला
(तीन-तीन दिन के उपवास) और पारणे में आचाम्ल
की स्वीकृति रूप तपः-साधना करता था। वह
आतापना-भूमी" में दोनों भुजाएं ऊपर उठा कर सूर्य
के सामने आतापना लेता था। उसने पूरे छह मास
तक श्रामण्य-पर्याय का पालन कर पन्द्रह दिन की
संलेखना (तपस्या) से अपने आपको कृश बनाया,
अनशन के द्वारा तीस भक्तों का छेदन किया, वह
आलोचना और प्रतिक्रमण कर समाधिपूर्ण दशा में
काल-मास में काल को प्राप्त हो गया। वह ईशान
कल्प में अपने विमान में उपपात-सभा के देवदूष्य से
आच्छन्न देवशयनीय में अंगुल के असंख्यातवै भाग
जितनी अवगाहना से देवेन्द्र देवराज ईशान के
सामानिक देवरूप में उत्पन्न हुआ। तिष्यके के संबंध
में जो वक्तव्यता है, वही समग्र रूप से कुरुदत्तपुत्र के
प्रसंग में ज्ञातव्य है, केवल इतना अन्तर है कि वह
कुछ अधिक सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीप द्वीपों को आकीर्ण
कर सकता है। शेष वक्तव्यता उसी प्रकार है।

इसी प्रकार सामानिक, तावत्त्रिंशक, लोकपाल और
पटरानियों के विषय में ज्ञातव्य है यावत् गौतम!
देवेन्द्र देवराज ईशान की प्रत्येक पटरानी देवी की
विक्रिया-शक्ति का यह इतना विषय केवल विषय की
दृष्टि से प्रतिपादित है। किसी भी पटरानी ने क्रियात्मक
रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करती है और
न करेगी।

भाष्य

१. आतापन-भूमी

आतापन-भूमी के लिए भ० २/६२ का भाष्य द्रष्टव्य है।

२२. एवं सणकुमारं वि, नवरं—चत्वारि केवल-
कप्ये जंबुदीवे दीवे, अदुत्तरं च णं तिरिय-
मसंखेज्जे।

एवं सामाणिय-तावत्तीसग-ल्लोगपाल-अग्ग-
महिशीणं। असंखेज्जे दीव-समुद्वे सव्वे विकु-
व्वंति, सणकुमाराओ आरब्धा उवरिल्ला
लोगपाला सव्वे वि असंखेज्जे दीव-समुद्वे
विकुव्वंति॥

एवं सनत्कुमारं ऽपि, नवरं—चतुरः केवल-
कल्पान् जम्बूद्वीपान् द्वीपान्, 'अदुत्तरं' च
तिर्यक् असंख्येयान्।

एवं सामानिक-तावत्त्रिंशक-लोकपाल-अग्र-
महिषीणाम्। असंख्येयान् द्वीप-समुद्रान् सर्वान्
विकुर्वन्ति, सनत्कुमारद् आरब्धाः उपरितनाः
लोकपालाः सर्वेऽपि असंख्येयान् द्वीप-समुद्रान्
विकुर्वन्ति।

२२ इसी प्रकार सनत्कुमार के संबंध में ज्ञातव्य है केवल
इतना अन्तर है—वह चार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीपों को
आकीर्ण कर सकता है। और दूसरी बात वह तिरछे
लोक के असंख्य द्वीप समुद्रों को आकीर्ण कर सकता
है।

इसी प्रकार सामानिक, तावत्त्रिंशक, लोकपाल और
पटरानियां' ये सब ज्ञातव्य हैं। ये सब असंख्येय
द्वीपसमुद्रों में विक्रिया करते हैं। सनत्कुमार से लेकर
ऊपर के सभी लोकपाल असंख्य द्वीपसमुद्रों में विक्रिया
करते हैं।

भाष्य

१. पटरानियां

सौधर्म और ईशान—इन दो कल्पों में ही देवियां उत्पन्न होती हैं।
सनत्कुमार तीसरा कल्प है। उसमें अग्रमहिषी का उल्लेख प्रासंगिक नहीं है।
वृत्तिकार ने इस विषय में विमर्श किया है। उनके अनुसार सौधर्म कल्प में
उत्पन्न देवियां सनत्कुमार कल्प में जाती हैं और सनत्कुमार वासी देवों के
उपभोग में आती हैं। इस अपेक्षा से सनत्कुमार में अग्रमहिषियों का उल्लेख
किया गया है।^१

वृत्तिकार ने यद्यपि पाठ की संगति बिटाने का प्रयत्न किया है, फिर
भी यह विषय विमर्शनीय रह जाता है। यहां देवियों का उल्लेख नहीं है, अग्रमहिषी

का उल्लेख है। इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि आदर्शों में
'अग्रमहिशीणं' पाठ प्रवाह रूप में आ गया। पूर्ववर्ती ईशान का आलापक
यहां अनुकृत हो गया। वास्तव में प्रस्तुत सूत्र में 'एवं सामाणिय-
तावत्तीसगलोगपालाणं' पाठ होना चाहिए। पण्णवणा में अग्रमहिषी का वर्जन
करने वाला पाठ उपलब्ध है। इससे हमारी संभावना और अधिक पुष्ट हो
जाती है।^२ जयाचार्य ने वृत्तिकार का अभिमत उद्धृत किया है तथा अपनी ओर
से टिप्पणी की है—अग्रमहिषी का उल्लेख एक सामान्य सूत्र के रूप में हुआ
है। अग्रवर्ती विशेष सूत्रों में उसका उल्लेख नहीं है।^३

२३. एवं माहिंदे वि, नवरं—सातिरेगे चत्वारि
केवलकप्ये जंबुदीवे दीवे।

एवं बंभलोए वि, नवरं—अट्ट केवलकप्ये।

एवं लंतए वि, नवरं—सातिरेगे अट्ट केवल-
कप्ये।

महासुक्के सोलस केवलकप्ये। सहस्सारे सा-
तिरेगे सोलस।

एवं पाणए वि, नवरं—बत्तीसं केवलकप्ये।

एवं अच्चुए वि, नवरं—सातिरेगे बत्तीसं
केवलकप्ये जंबुदीवे दीवे, अण्णं तं चेव ॥

एवं माहेन्द्रेऽपि, नवरं—सातिरेकान् चतुरः
केवलकल्पान् जम्बूद्वीपान् द्वीपान्।

एवं ब्रह्मलोकेऽपि, नवरम्—अष्टकेवल-
कल्पान्।

एवं लान्तकेऽपि, नवरं—सातिरेकान् अष्ट
केवलकल्पान्।

महाशुक्के षोडश केवलकल्पान्। सहस्सारे
सातिरेकान् षोडश।

एवं प्राणतेऽपि, नवरं—द्वात्रिंशत् केवल-
कल्पान्।

एवं अच्चुतेऽपि, नवरं—सातिरेकान् द्वात्रिंशत्
केवलकल्पान् जम्बूद्वीपान् द्वीपान् अन्यत्
तच्चैव ।

२३. इसी प्रकार माहेन्द्र देवलोक के संबंध में ज्ञातव्य है।
केवल इतना अन्तर है कि कुछ अधिक चार सम्पूर्ण
जम्बूद्वीप द्वीपों से अधिक क्षेत्र आकीर्ण कर सकता है।
इसी प्रकार ब्रह्मलोक के संबंध में ज्ञातव्य है, केवल
इतना अन्तर है कि वह आठ सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीपों को
आकीर्ण कर सकता है।

इसी प्रकार लान्तक—कुछ अधिक आठ।

महाशुक्र—सोलह, सहस्वार—कुछ अधिक सोलह।

प्राणत—बत्तीस।

अच्चुत—कुछ अधिक बत्तीस, सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीपों
को आकीर्ण कर सकता है। शेष सब उसी प्रकार है।

२४. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति तच्चवे गोयमे

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति तृतीयः

२४. भंते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है। इस

१. भ. वृ. ३/३२—'अग्रमहिशीणं' ति यद्यपि सनत्कुमारं स्त्रीणामुत्पत्तिनास्ति तथा ऽपि याः
सौधर्मोत्पन्नाः समयाधिकपत्योपमादिदशपलयोपमान्तस्थितयो ऽपरिगृहीतदेव्यस्ताः
सनत्कुमारदेवानां भोगाय संपद्यन्ते इतिकृत्वाऽग्रमहिष्य, इत्युक्तमिति।

२. पण्ण. २/५२—सेसं जहा सक्करस अग्रमहिशीवज्जं।
३. भ. जो. १/४६/३७-४१।

वायुभूई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ
नमंसइ जाव विहरइ ॥

गौतमः वायुभूतिः अनगारः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति यावद् विहरति ।

प्रकार तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण भगवान्
महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं यावत् संयम
और तप से अपने आपको भावित करते हुए विहरण
कर रहे हैं ।

२५. तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ
मोयाओ नयरीओ नंदणाओ चेइयाओ पडि-
निक्खमइ, पडिनिक्खमिक्खा बहिया जणवय-
विहारं विहरइ ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः अन्यदा
कदाचित् मोकायाः नगर्याः नन्दनाद् चैत्यात्
प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिः जनपद-
विहारं विहरति ।

२५. श्रमण भगवान् महावीर ने किसी समय मोका नगरी
और नन्दन चैत्य से प्रतिनिष्क्रमण किया, प्रतिनिष्क्रमण
कर वे बाह्य जनपदों में विहार करने लगे ।

तामलिस्स ईसाणिंद-पदं

तामलेः ईशानेन्द्र-पदम्

तामलि का ईशानेन्द्र-पद

२६. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं
नगरे होत्था—वण्णओ जाव परिसा पज्जु-
वासइ ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम
नगरम् आसीत्—वर्णकः यावत् परिषद् पर्यु-
पास्ते ।

२६. उस काल और उस समय राजगृह नाम का नगर
था—नगर का वर्णन (द्रष्टव्य—भ. १/४ का भाष्य)
यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करती है ।

२७. तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे
देवराया ईसाणे कप्पे ईसाणवडेंसए विमाणे
जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव दिव्वं देविडिडिं
दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवानुभागं दिव्वं बत्तीस-
इबद्धं नट्टविहिं उवदंसित्ता जाव जामेव दिसिं
पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये ईशानः देवेन्द्रः
देवराजः ईशाने कल्पे ईशानावतंसके विमाने
यथैव राजप्रश्नीये यावत् दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां
देवद्युतिं दिव्यं देवानुभागं दिव्यं द्वात्रिंशत्बद्धं
नाट्यविधिं उपदर्श्य यावत् यस्याः एव दिशः
प्रादुर्भूतः तस्यामेव दिशि प्रतिगतः ।

२७. उस काल और उस समय ईशान कल्प के ईशाना-
वतंसक विमान में देवेन्द्र देवराज ईशान भगवान्
महावीर की वन्दना के लिए आया (पूरा प्रकरण
रायपसेणइयं के सूर्याभ देव की तरह ज्ञातव्य है।)
वह गौतम आदि मुनिगण को दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य
देवद्युति, दिव्य देवसामर्थ्य और बत्तीस प्रकार की दिव्य
नाट्य-विधि दिखाकर जिस दिशा से आया था, उसी
दिशा में पुनः चला गया ।

२८. भंतेति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी
—अहो णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया
महिड्डीए जाव महाणुभागे । ईसाणस्स णं
भंते ! सा दिव्वा देविड्डी दिव्वा देवज्जुती
दिव्वा देवानुभागे कहिं गते? कहिं अणुपविट्ठे?

भदन्त! अयि! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एवमवादीद्—अहो भदन्त ! ईशानः देवेन्द्रः
देवराजः महर्द्धिकः यावत् महानुभागः । ईशान-
स्य भदन्त ! सा दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः
दिव्यः देवानुभागः कुत्र गतः? कुत्र अनु-
प्रविष्टः?

२८. भन्ते ! इस संबोधन से संबोधित कर भगवान् गौतम
श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन नमस्कार करते हैं ।
वन्दन-नमस्कार कर वे इस प्रकार बोले—आश्चर्य है
भन्ते! देवेन्द्र देवराज ईशान महान् ऋद्धि वाला है
यावत् महान् सामर्थ्य वाला है। भन्ते! ईशान की वह
दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाग कहाँ
गया? कहाँ प्रविष्ट हो गया?

गोयमा ! सरीरं गते, सरीरं अणुपविट्ठे ॥

गौतम ! शरीरे गतः, शरीरे अनुप्रविष्टः ।

गौतम ! वह शरीर में गया, शरीर में प्रविष्ट हो गया ।

२९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ— सरीरं
गते, सरीरं अणुपविट्ठे?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते— शरीरे
गतः, शरीरे अनुप्रविष्टः ?

२९. भन्ते! यह किसी अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह
शरीर में गया, शरीर में प्रविष्ट हो गया ?

गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया
दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णि-
वाययंभीरा। तीसे णं कूडागारसालाए अ-
दूरसामंते, एत्थ णं महेगे जणसमूहे एगं महं
अब्भवदल्लं वा वासवदल्लं वा महावायं वा
एज्जमाणं पासति, पासित्ता तं कूडागारसालं
अंतो अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ। से तेणट्ठेणं
गोयमा ! एवं वुच्चति— सरीरं गते, सरीरं
अणुपविट्ठे ॥

गौतम ! अथ यथानाम कूटाकारशाला स्यात्
द्विधा लिप्ता गुप्ता गुप्तद्वारा निवाता निवात-
गंभीरा। तस्याः कूटाकारशालायाः अदूर-
सामन्ते, अत्र महान् एकः जनसमूहः एकं
महद् अभ्रवार्दल्लं वा वर्षावार्दल्लं वा महावातं
वा आयन्तं पश्यति, दृष्ट्वा तां कूटाकारशालां
अन्तः अनुप्रविश्य तिष्ठति। तत् तेनाऽर्थेन
गौतम! एवमुच्यते—शरीरे गतः शरीरे अनु-
प्रविष्टः ।

गौतम ! जैसे कोई कूटागार (शिखर के आकार
वाली) शाला है। वह भीतर और बाहर दोनों ओर से
लिपी हुई, गुप्त, गुप्तद्वार वाली, पवन-रहित और
निवात गंभीर है। उस कूटागार शाला के पास एक
महान् जनसमूह है। वह आते हुए एक विशाल अभ्र-
बादल, वर्षा-बादल, महावात को देखता है। देख कर
उस कूटागार शाला के भीतर प्रविष्ट हो कर ठहर
जाता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा
है—वह शरीर में गया, शरीर में प्रविष्ट हो गया ।

भाष्य

१. कूटागार शाला

पण्हावागरणाई तथा दसाओ में 'कूटागार' शब्द का प्रयोग मिलता है।^१ प्रश्नव्याकरण की वृत्ति में कूटागार का अर्थ 'शिखरयुक्त भवन' किया गया है।^२ निशीथ चूर्णि में कूटागार का अर्थ 'पर्वत के आकार वाला मकान जो ऊपर की भूमिका में होता है' किया गया है।^३ भगवई और रायपसेणइयं में 'कूटागार शाला' शब्द मिलता है। मलयगिरी और अभयदेव सूरि दोनों ने इसका अर्थ 'कूट के आकार वाली' किया है। मलयगिरी ने एक अर्थ और किया है: 'जिस भवन के ऊपर का आच्छादन शिखर के आकार का हो,' उसका नाम है कूटागारशाला।^४

चरक सूत्रस्थान (१४/२७) की व्याख्या में कूटागार का अर्थ

३०. ईसाणे षं भंते ! देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे ? किण्णा पत्ते? किण्णा अभिसमण्णागए? के वा एस आसि पुव्वभवे? किं नामए वा? किंगोत्ते वा? कयरंसि वा गामंसि वा नगरंसि वा जाव सण्णिवेसंसि वा? किं वा दच्चा? किं वा भोच्चा? किं वा किच्चा? किं वा समायरित्ता? कस्स वा तहारुवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म? जं णं ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए?

ईशानेन भदन्त ! देवेन्द्रेण देवराजेन सा दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभागः कथं लब्धः ? कथं प्राप्तः ? कथं अभिसमन्वागतः ? को वा एष आसीत् पूर्वभवे ? किं नामकः वा ? किंगोत्रः वा ? कतरस्मिन् वा ग्रामे वा नगरे वा यावत् सन्निवेशे वा ? किं वा दत्त्वा ? किं वा भुक्त्वा ? किं वा कृत्वा ? किं वा समाचर्य ? कस्य वा तथारूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निश्चयः यत् ईशानेन देवेन्द्रेण देवराजेन सा दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभागः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः ?

३०. 'भन्ते ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाग किस हेतु से उपलब्ध किया ? किस हेतु से प्राप्त किया ? और किस हेतु से अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) किया। यह पूर्वभव में कौन था ? इसका क्या नाम था ? क्या गोत्र था ? किस ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश में रहता था ? इसने क्या दान दिया ? क्या आहार किया ? क्या तप किया ? क्या आचरण किया तथा किस तथारूप श्रमण या माहन के पास एक भी आर्य धार्मिक सुवचन सुना या अवधारण किया ? जिससे देवेन्द्र देवराज ईशान ने यह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाग उपलब्ध किया है, प्राप्त किया है और अभिसमन्वागत किया है ?

भाष्य

१. सूत्र ३०

देवराज ईशान को ऐसी दिव्य ऋद्धि कैसे मिली— इस विषयमें पांच प्रश्न पूछे गये हैं—१. क्या दिया ? २. क्या खाया ? ३. क्या किया ? ४. क्या आचरण किया ? ५. क्या सुना ? इन प्रश्नों का उत्तर वृत्तिकार ने दिया है— अशन आदि दिया, रुखा-सुखा आहार खाया, शुभ ध्यान आदि किया और

सामाचारी का आचरण किया।^५ इससे पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य देव बनता है। तामलि ने तप तपा और वह ईशानेन्द्र बना, यह किंकिच्चा का निदर्शन है। सुवाहुकुमार की ऋद्धि किंदच्चा का निदर्शन है। उसने सुमुख के भव में मुनि को विशुद्ध आहार दिया था। उस दान के कारण उसने मनुष्य-आयु का निबन्ध किया।^६

३१. एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे तामलिती नामं नयरी होत्था— वर्णणओ॥

एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहेव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे ताम्रलिपिः नाम नगरी आसीद्— वर्णकः ।

३१. गौतम ! उस देश काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप द्वीप के भारतवर्ष में ताम्रलिपि नामक नगरी थी— नगरी का वर्णन।

१. (क) पण्हा. ४/७ ।

(ख) दसाओ, १०/२४।

२. प्रश्न. वृ. प. ८२— कूटागारनिभं सशिखरभवनतुल्यम् ।

३. निशीथ सूत्रम्, भाग २, पृ. ४३३— अधो विसालं उबरुवरिं संवह्णितं कूटागारं ।

४. (क) रा. वृ. पृ. १५०/१५१— कूटस्येव— पर्वतशिखरस्येव आकारो यस्याः सा कूटाकारा— यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारा इति भावः कूटाकारा चासौ शाला च कूटाकारशाला ।

५. रा. वृ. पृ. १५१— वहिर् अन्तश्च गोमवादिना लिप्ता गुप्ता बहिः प्राक्करावृत्ता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात् यदि वा गुप्तद्वारा केषांचिद् द्वाराणां स्थगितत्वात् केषांचिद् वा अस्थगितत्वाद् इति। निवाता वायोरप्रवेशात् किल महद् गृहं निवातं प्रायो न भवति, तत आह— निवातगंभोरा— निवाता सती विशाला इत्यर्थः ।

६. भ. वृ. ३/३०— इह दत्त्वाऽशनादि भुक्त्वाऽन्तप्राप्तादि कृत्वा तपः शुभध्यानादि समाचर्य च प्रत्युपेक्षाप्रमार्जनादि, 'कस्स वे' त्यादि वाक्यस्य चान्ते पुण्यमुपाजितमित्ति वाक्यशेषो दृश्यः ।

७. विवागसुवयं, २/१/१५-२३।

३२. तत्थ णं तामलितीए नयरीए तामली नामं मोरियपुत्ते गाहावई होत्था—अड्ढे दित्ते जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था ॥

३३. तए णं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावइस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयसि कुटुंबजागरियं जागरमाणस्स इमेयाखुवे अज्झत्थिए वित्थिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—अत्थि ता मे पुरा पोरमाणं सुविण्णणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कल्लाणणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफल-वित्थिविसेसे, जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धण्णेणं वड्ढामि, पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, विपुलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावएज्जेणं अतीव-अतीव अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोरमाणं सुविण्णणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कल्लाणणं कडाणं कम्माणं एगंतसो खयं उवेहमाणे विहरामि?

तं जावताव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि जाव अतीव-अतीव अभिवड्ढामि, जावं च मे मित्त-नाति-नियग-सयण-संबंधि-परियणो आढाति परियाणाइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पज्जुवासइ, तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सररिस्सम्मि दिणयरे तेयसा जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहं करेत्ता विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-गंध-मल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता, तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणरस्स पुरओ जेट्ठपुत्तं कुटुंबे ठावेत्ता, तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं जेट्ठपुत्तं च आपु-च्छित्ता, सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयाखुवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि—कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिविखत्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झय-पगिज्झय सूराभिमुहस्स आयावणभूमिआ आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयसि आयावणभूमिओ पच्चोरुभित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं ग-

तत्र ताम्रलिप्त्यां नगर्यां तामलिः नाम मौर्यपुत्रः गाहापतिः (गृहपतिः) आसीद्—आढ्यः दीप्तः यावद् बहुजनस्य अपरिभूतश्चापि आसीत्।

ततः तस्य मौर्यपुत्रस्य तामलेः गाहापतेः अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापरात्रकालसमये कुटुम्ब-जागरिकां जाग्रतः अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—अस्ति तावत् मे पुरा पुराणानां सुचीर्णानां सुपराक्रान्तानां शुभानां कल्याणानां कृतानां कर्मणां कल्याणफलवृत्तिविशेषः, येनाहं हिरण्येन वर्धे, सुवर्णेन वर्धे, धनेन वर्धे, धान्येन वर्धे, पुत्रैः वर्धे, पशुभिः वर्धे, विपुलधन-कनक-रत्न-मणि-मौक्तिक-शंख-शिला-प्रवाल-रक्तारत्न-सत्सारस्वापतेयेन अतीव-अतीव अभिवर्धे, तत् किम् अहं पुरा पुराणानां सुचीर्णानां सुपर-क्रान्तानां शुभानां कल्याणानां कृतानां कर्मणां एकान्तशः क्षयं उपेक्षमाणः विहरामि ?

तद् यावत् तावद् अहं हिरण्येन वर्धे यावद् अतीव-अतीव अभिवर्धे, यावच्च मे मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनः आद्रियते परिजानाति सत्कारयति सम्मानयति कल्याणं मंगलं देवतं विनयेन चैत्यं पर्युपास्ते, तावत् मे श्रेयः कल्यं प्रादुष्यभायां रज्ज्यां यावद् उत्थिते सूरे सहस्सरशमै दिनकरे तेजसा ज्वलति स्व-यमेव दारुमयं प्रतिग्रहकं कृत्वा विपुलं अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यम् उपस्कार्य, मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनम् आमन्त्र्य, तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनं विपुलेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-गन्ध-माल्यालंकारेण च सत्कृत्य संमान्य, तस्यैव मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनस्य पुरतः ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयित्वा तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनं ज्येष्ठ-पुत्रं च आपृच्छ्य, स्वयमेव दारुमयं प्रतिग्रहकं गृहीत्वा मुण्डः भूत्वा प्राणामया प्रव्रज्यया प्रव्रजितुम्। प्रव्रजितोऽपि च सन् एतमेतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिग्रहिष्यामि—कल्पते मे याव-ज्जीवं षष्ठषष्टेन अनिक्षितेन तपःकर्मणा ऊर्ध्वं बाहू प्रगृह्य-प्रगृह्य सूराभिमुखस्य आता-पनभूम्यां आतापयतः विहर्तुम्, षष्ठस्यापि च पारणके आतापनभूम्याः प्रत्यवरुह्य स्वयमेव दारुमयं प्रतिग्रहकं गृहीत्वा ताम्रलिप्त्यां नगर्यां

३२. उस ताम्रलिप्ति नगरी में मौर्यपुत्र तामलि नामक गृहपति रहता था, वह समृद्ध, तेजस्वी यावत् अनेक लोगों द्वारा अपरिभूत था।

३३. 'किसी समय मध्यरात्रि में कुटुम्बजागरिका करते हुए उस मौर्यपुत्र तामलि नामक गृहपति के मन में यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषा-त्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—इस समय मेरे पूर्वकृत पुरातन सुआचरित, सुपराक्रान्त, शुभ और कल्याणकारी कर्मों का कल्याणकारी फल मिल रहा है, जिससे मैं चांदी, सोना, धन, धान्य, पुत्र, पशु तथा विपुल वैभव, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, मेनसिल, प्रवाल, लाल रत्न (पद्मरागमणि) और श्रेष्ठ सार—इन वैभवशाली द्रव्यों से अतीव-अतीव वृद्धि कर रहा हूँ, तो क्या मैं पूर्वकृत पुरातन सुआचरित, सुपराक्रान्त, शुभ और कल्याणकारी कर्मों का केवल क्षय करता हुआ विहरण कर रहा हूँ?

इसलिए जब तक मैं चांदी से वृद्धि कर रहा हूँ यावत् इन वैभवशाली द्रव्यों से अतीव-अतीव वृद्धि कर रहा हूँ और जब तक मेरे मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी और परिजन मेरा आदर करते हैं, मुझे स्वामी के रूप में स्वीकारते हैं, सत्कार-सम्मान देते हैं, कल्याणकारी, मंगलकारी देवरूप और चित्ताह्लादक मानकर विनयपूर्वक पर्युपासना करते हैं तब तक मेरे लिए यह श्रेय है कि मैं कल उषाकाल के पौ फटने पर यावत् (भग. २.६६) सहस्सरशमि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर मैं स्वयं काष्ठमय पात्र का निर्माण कर, विपुल भोजन, पेय, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ तैयार करवा कर मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी और परिजनों को आमन्त्रित कर उन्हें विपुल भोजन पेय, खाद्य, स्वाद्य पदार्थों से तथा वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला और अलंकारों से सत्कृत-सम्मानित कर उन्हीं मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों और परिजनों के सामने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित कर उन मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी परिजनों और ज्येष्ठ पुत्र को पूछ कर, स्वयं काष्ठमय पात्र ग्रहण कर मुण्ड हो कर प्राणामा प्रव्रज्या से प्रव्रजित होना मेरे लिए श्रेयस्कर है। प्रव्रजित हो कर मैं इस आकार वाला यह अभिग्रह स्वीकार करूंगा—मैं जीवन भर निरन्तर बेले-बेले (दो-दो दिन के उपवास) की तपःसाधना करूंगा। मैं आतापना-भूमि में दोनों भुजाए

हाय तामलितीए नयरीए उच्च-नीच-मज्झिमाई कुलाईं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ता सुद्धोदणं पडिग्गाहेत्ता तं तिसत्तक्खुत्तो उदएणं पक्खलेत्ता तओ पच्छा आहारं आहारित्तए त्ति कट्टु इमं एयाख्वं, संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं पाउप्प-भायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते सयमेय दारुमयं पडिग्गहणं करेइ, करेत्ता विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता ततो पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाईं मंगल्लाईं वत्थाईं पवरपरिहिए अप्पमहग्घा-भरणालं कियसरीरे भोयणवेलाए भोयण-मंडवंसि सुहासणवरगए तेणं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परिजणेणं सद्धिं तं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं आसादेमाणे वीसादेमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ। जिमियभुत्तुराणए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइब्भूए तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-गंध-मल्लालंकारेण य सक्कारेइ सम्माणेइ, तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणस्स पुरओ जेट्ठ-पुत्तं कुटुंबे ठावेइ, ठावेत्ता तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ, आपुच्छित्ता मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयाख्वं अभिग्गहं अभिगिण्हइ — कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं जाव आहारित्तए त्ति कट्टु इमं एयाख्वं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवो-कम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभमीए आयावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावण-भूमीओ पच्चोरुभइ, पच्चोरुभित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहणं गहाय तामलितीए नयरीए उच्च-नीच-मज्झिमाई कुलाईं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, अडित्ता सुद्धोदणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेत्ता तिसत्तक्खुत्तो उदएणं पक्खालेइ, पक्खालेत्ता तओ पच्छा आहारं आहारेइ ॥

उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदानस्य भिक्षाचर्यया अटित्वा शुद्धोदनं प्रतिगृह्य तत् त्रिसप्तकृत्वः उदकेन प्रक्षाल्य ततः पश्चात् आहारम् आहर्तुं इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य कल्पं प्रादुष्टमातायां रजन्त्यां यावद् उत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मो दिनकरे तेजसा ज्वलति स्वयमेव दारुमयं प्रतिग्रहकं करोति, कृत्वा विपुलम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यम् उपस्कारयति, उपस्कार्य ततः पश्चात् स्नातः कृत-बलिकर्मा कृतकौतुकमंगलप्रायश्चित्तः शुद्धप्रवेश्यानि मांगल्यानि वस्त्राणि प्रवरपरिहितः अल्प-महाध्यांभरणालंकृतशरीरः भोजनवेलायां भोजनमण्डपे सुखासनवरगतः तेन मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-सम्बन्धि-परिजनेन सार्द्धं तत् विपुलम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यम् आस्वाद-मानः विस्वादमानः परिभाजयन् परिभुञ्जानः विहरति। जेमिभुक्तोत्तरागतोऽपि च सन् आचान्तः चोक्षः परमशुचीभूतः तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबन्धि-परिजनं विपुलेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-गन्ध-माल्या-लंकारेण च सत्कारयति सम्मानयति, तस्यैव मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबन्धि-परिजनस्य पुरतः ज्येष्ठपुत्रं कुटुम्बे स्थापयति, स्थापयित्वा तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबन्धि-परिजनं ज्येष्ठपुत्रं च आपृच्छति, आपृच्छ्य मुण्डः भूत्वा प्राणामया प्रव्रज्याया प्रव्रजितः। प्रव्रजितोऽपि च सन् एतमेतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिगृह्णाति — कल्पते मे यावज्जीवं षष्ठषष्टेन यावद् आहर्तुम् इति कृत्वा एतमेतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिगृह्य यावज्जीवं षष्ठषष्टेन अनिक्षितेन तपःकर्मणा ऊर्ध्वं बाहू प्रगृह्य-प्रगृह्य सूराभिमुखः आतापन-भूम्याम् आतापयन् विहरति। षष्ठस्यापि च पारणके आतापनभूम्याः प्रत्यवरोहति, प्रत्य-वरुह्य स्वयमेव दारुमयं प्रतिग्रहकं गृहीत्वा ताम्रलिप्त्यां नगर्याः उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदानस्य भिक्षाचर्यया अटति, अटित्वा शुद्धोदनं प्रतिगृह्णाति, प्रतिगृह्य त्रि-सप्तकृत्वः उदकेन प्रक्षालयति, प्रक्षाल्य ततः पश्चाद् आहारम् आहरति।

ऊपर उठा कर सूर्य के सामने आतापना लेता हुआ विहार करूंगा। बेले के पारणे में मैं आतापना-भूमि से उतर कर स्वयं काष्ठमय पात्र ग्रहण कर ताम्रलिप्ति नगरी के ऊंच, नीच और मध्यम कुलों में सामुदायिक भिक्षाचरी के लिए पर्यटन कर केवल चावल ग्रहण कर उसे इक्कीस बार पानी से धो कर फिर आहार करूंगा। इस प्रकार सोच कर वह संप्रेक्षा करता है, संप्रेक्षा कर उषाकाल में पौ फटने पर तेज से प्रज्वलित सहस्ररश्मि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर स्वयमेव काष्ठमय पात्र का निर्माण करता है, निर्माण कर विपुल भोजन, पेय, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ पकवाता है, पकवाने के बाद वह स्नान, बलिकर्म (पूजा), कौतुक (तिलक आदि) इष्ट नमस्कार रूप मंगल और प्रायश्चित्त करके शुद्ध प्रवेश्य (सभा में प्रवेशोचित) मांगलिक वस्त्र विधिपूर्वक पहन कर, अल्पभार और बहुमूल्य वाले आभूषणों से शरीर को सजा कर भोजन की बेला में भोजन-मंडप में सुखासन की मुद्रा में बैठा हुआ वह उन मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी और परिजनों के साथ उस विपुल भोजन, पेय, खाद्य और स्वाद्य का आस्वाद लेता हुआ विशिष्ट स्वाद लेता हुआ, बांटता हुआ और परिभोग करता हुआ विहरण करता है। उसने भोजन कर आचमन किया, आचमन कर वह स्वच्छ और परम शुचीभूत (सर्वथा साफ-सुथरा) हो गया। फिर वर अपने बैठने के स्थान पर आया। वहां वह उन मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों और परिजनों को विपुल भोजन, पेय, खाद्य, स्वाद्य पदार्थों से तथा वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला और अलंकारों से सत्कृत-सम्मानित करता है। फिर उन्हीं मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों और परिजनों के सामने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित करता है, स्थापित कर वह उन मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों, परिजनों और ज्येष्ठ पुत्र की अनुमति लेता है। अनुमति ले कर मुण्ड हो कर प्राणामा प्रव्रज्या से प्रव्रजित हो जाता है। प्रव्रजित हो कर वह इस आकार वाला यह अभिग्रह स्वीकार करता है—मैं जीवन भर बेले-बेले की तपः-साधना यावत् केवल चावल को इक्कीस बार पानी से धो कर फिर आहार करूंगा। इस प्रकार सोच कर इस आकार वाला यह अभिग्रह ग्रहण कर वह जीवनभर निरन्तर बेले-बेले की तपः-साधना करता है। वह आतापना-भूमि में दोनों भुजाएं ऊपर उठा कर सूर्य के सामने आतापना लेता हुआ विहार करता है। बेले के पारणे में आतापना-भूमि से उतरता है, उतर कर स्वयं काष्ठमय पात्र ग्रहण कर ताम्रलिप्ति नगरी के उच्च, नीच और मध्यम कुलों में

सामुदानिक भिक्षाचरी के लिए पर्यटन करता है। पर्यटन कर केवल चावल ग्रहण करता है, ग्रहण कर उसे इक्कीस बार पानी से धोता है, धो कर फिर आहार करता है।

भाष्य

१. सूत्र ३३

प्रस्तुत सूत्र में पूर्वकृत कल्याणकारी कर्म और हिरण्य, सुवर्ण, धन आदि की वृद्धि में संबंध स्थापित किया गया है। यह अभिमत तापस-परम्परा का है। इसमें भगवान् महावीर का अभिमत उल्लिखित नहीं है। सर्वसाधारण में यह धारणा प्रचलित है कि धन-धान्य आदि पुण्य कर्म से उपलब्ध होते हैं। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से इसकी मीमांसा नहीं की गई।

शब्द-विमर्श

मध्यरात्रि (पुव्वरत्तावरत्त)—भ. २/६६ का भाष्य द्रष्टव्य है।

कुटुम्ब जागरिका—कुटुम्ब के विषय में अनुचिन्तन।

आध्यात्मिक... संकल्प—देखें भ. २/३१ का भाष्य।

धन—मूल्यवान् वस्तु। उसके चार प्रकार हैं—१. गणिम—जिनका विक्रय गिनती से किया जाए। २. धणिम—जिनका विक्रय तोलकर किया जाए। ३. मापिज्ज—जिनका विक्रय माप कर किया जाए। ४. परिच्छिज्ज—जिनका विक्रय परीक्षा कर किया जाए।

रत्न—अपनी-अपनी जाति में जो उत्कृष्ट होता है, वह रत्न कहलाता है। श्रेष्ठ पाषाण मनुष्य के मन को मोह लेते हैं, इसलिए वे रत्न कहलाते हैं—जातौ जातौ यदुत्कृष्टं, तद्धि रत्नं प्रचक्षते।

रत्नं च वरपाषाणं, रमन्ते यत्र मानवाः ॥

मणि—चन्द्रकान्त आदि।

शिला-प्रवाल—वृत्तिकार ने शिला-प्रवाल का अर्थ मूंगा किया है। वैकल्पिक रूप में शिला का अर्थ—राजपट्ट (घटिया जाति का हीरा) आदि किया है और प्रवाल का अर्थ—मूंगा। शिला 'मैनसिल' (red arsenic) का भी एक नाम है। मैनसिल के पर्यायवाची नाम ये हैं—मनःशिला, मनोहवा, मनोगुप्ता, नागजिह्वा, नेपाली, कुण्ट, शिला दिव्यौषधि आदि।

लाल रत्न—पद्मराग आदि। पद्मराग मणिक्य का पर्यायवाची नाम

३४. से केणट्टेणं भंते ! एवं बुच्चइ—पाणामा पव्वज्जा?

गोयमा ! पाणामाए णं पव्वजाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पांसइ—इदं वा खंदं वा रुद्धं वा सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंबियं वा कोडुबियं

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—प्राणामा प्रव्रज्या?

गौतम ! प्राणामया प्रव्रज्या प्रव्रजितः सन् ! यः यत्र पश्यति—इन्द्रं वा स्कन्दं वा रुद्रं वा शिवं वा वैश्रवणं वा आर्यां वा कौट्टिकियां वा राजानं वा ईश्वरं वा तलवरं वा माडम्बिकं वा

३४. 'भन्ते ! इस प्रव्रज्या को प्राणामा प्रव्रज्या किस अपेक्षा से कहा जाता है?

गौतम ! प्राणामा प्रव्रज्या से प्रव्रजित होने वाला जहां जिस इन्द्र, कार्तिकेय, रुद्र, शिव, वैश्रवण, आर्या कौट्टिकिया, राजा, युवराज, कोटवाल, मडम्बाधिपति, कौट्टिक, इन्द्र, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्यवाह, कौवा, कुत्ता

हे।

सन्त—सत्—श्रेष्ठ।

सार—चन्दन आदि सुगन्धित वर्ग का द्रव्य। आयुर्वेद के ग्रन्थों में सार 'सुगन्धित वस्तुओं के वर्ग' का नाम है। वृत्तिकार ने सन्त का अर्थ 'विद्यमान' और सार का अर्थ 'प्रधान' किया है।^१

केवल क्षय—अर्जित सम्पत्ति का व्यय होता है और नई संपत्ति का अर्जन नहीं होता, तो यह क्षीण होती चली जाती है। मौर्यपुत्र तामलि ने इसी युक्ति के आधार पर चिन्तन किया—मैं पुराकृत शुभ कर्मों को भोग रहा हूं और नए सिरे से उनका उपार्जन नहीं कर रहा हूं।^२ क्या यह मेरे लिए हितकर होगा? यह चिन्तन सदाचार का एक पुष्ट आधार बनता है। तामलि को इसी आधार पर तपस्वी जीवन जीने की प्रेरणा मिली।

ज्ञाति—सजातीय।

निजक—गोत्रज संबंधी, मातृपक्षीय अथवा पितृपक्षीय।

परिजन—कर्मकर आदि।^३

चित्ताहादक (चेड्यं) के लिए भ. १/५ का भाष्य द्रष्टव्य है।

परिजानाति—प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ है 'स्वामी रूप में स्वीकारना'।

शुद्धोदन—सूप, शाक आदि से वर्जित चावल आदि अन्न।^४

बलिकर्म..... प्रायश्चित्त—देखें भ. ७/१७६ का भाष्य।

आस्वादमान, विस्वादमान—वृत्तिकार ने इनका संस्कृत रूप 'आस्वादयन् विस्वादयन्' किया है। जो कि दशम गण की स्वद् अथवा स्वाद् धातु से निष्पन्न होते हैं।

परिभाजयन्—इसका अर्थ 'देना या विभाग करना' है।

जिमियभुत्ताराग—वृत्तिकार ने यहां प्रथमा के एकवचन का लोप माना है। 'भुक्तोत्तर आगत' को स्वतंत्र पद माना है। यदि दोनों को समस्त पद माना जाए तो एकपद भी हो सकता है।^५

प्राणामा—द्रष्टव्य भ. ३/३४ का भाष्य।

१. अभि. वि. ४/१२५, १२६।

२. भ. वृ. ३/३३—धनं गणिमादि रत्नानि—कर्कतनादीनि, मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः शिला—प्रवालानि विद्रुमाणि, अन्येत्याहुः—शिला—राजपट्टादिरूपाः प्रवालं—विद्रुमं, रत्नतरत्नानि पद्मरागादीनि, एतद्रूपं यत् 'संत' ति विद्यमानं सारं—प्रधानं स्वापतेयं द्रव्यं तत्तथा।

३. वही, ३/३३—एकान्तेन अयं नवानां शुभकर्मणामनुपार्जनं।

४. भ. वृ. ३/३३—ज्ञातयः—सजातीयाः निजका—गोत्रजाः सम्बन्धिनो—मातृपक्षीयाः श्वसुर-कुलीना वा परिजनो—दासादिः।

५. वही, ३/३३—सूपशाकादिवर्जितं कूरम्।

६. वही, ३/३३—'जिमिय' ति प्रथमैकवचनलोपात् जैमितः—भुक्तवान् 'भुक्तोत्तर' ति भुक्तोत्तरं—भोजनोत्तरकालम् 'आगत' ति आगतः उपवेशनस्थाने भुक्तोत्तरगतः।

वा इब्मं वा सेट्टिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा काकं वा साणं वा पाणं वा—उच्चं पासइ उच्चं पणामं करेइ, नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासइ तस्स तथा पणामं करेइ। से तेणट्टेणं गोयमा! एवं बुच्चइ पाणामा पव्वज्जा ।।

कौटुम्बिकं वा इभ्यं वा श्रेष्ठिनं वा सेनापतिं वा सार्थवाहं वा काकं वा श्वानं वा 'पाणं' वा— उच्चं पश्यति उच्चं प्रणामं करोति, नीचं पश्यति नीचं प्रणामं करोति, यं यथा पश्यति तस्य तथा प्रणामं करोति। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते प्राणामा प्रवज्या।

अथवा चण्डाल को देखता है, वहीं उसको प्रणाम करता है। वह किसी उच्च (पूज्य) को देखता है तो अतिशायी विनम्रता के साथ प्रणाम करता है, नीच (अपूज्य) को देखता है तो साधारण विनम्रता से प्रणाम करता है। जिसे जिस रूप में देखता है, उसे उसी रूप में प्रणाम करता है। गौतम ! इस अपेक्षा से इस प्रवज्या को प्राणामा प्रवज्या कहा जाता है।

भाष्य

१. सूत्र ३४

प्रस्तुत सूत्र में 'पाणामा' प्रवज्या का स्वरूप निर्दिष्ट है वृत्तिकार ने इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ किया है—'जिस विधि में प्रणाम विधेय होता है, उसका नाम है प्राणामा।'^१

शब्द-विमर्श

इन्द्र—देवों का अधिपति।

स्कन्द—कार्तिकेय, महादेव का पुत्र।

रुद्र—महादेव।

शिव—यह महादेव का पर्यायवाची नाम है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'एक व्यन्तर देव' किया है। वैकल्पिक रूप में तौद्र मुद्राधर को 'रुद्र' और शान्त मुद्राधर को 'शिव' कहा जा सकता है।^२

वैश्रवण—उत्तर दिशा का लोकपाल।

आर्या—प्रशान्त रूपधर चण्डिका।

कौटुकिया—महिषासुर का मर्दन करती हुई चण्डरूपधर चण्डिका।^३
पाण—चाण्डाल।

ईश्वर से सार्थवाह तक के शब्दों के लिए ३० २/३० का भाष्य द्रष्टव्य है।

उच्च (पूज्य) को प्रणाम करता है, नीच (अपूज्य) को प्रणाम करता है—ये दोनों वाक्य प्रणाम की प्रक्रिया में भेद की सूचना दे रहे हैं। प्रणाम का स्वरूप एक नहीं था। उच्च या पूज्य व्यक्ति को प्रणाम विशेष विनम्रता के साथ किया जाता था। नीच या अपूज्य व्यक्ति को प्रणाम करने में साधारण विनम्रता बरती जाती। इस विधि में विनम्रता की प्रधानता परिलक्षित नहीं होती। किंतु 'मुंह देखकर टीका करने' की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है।

३५. तए णं से तामली मोरियपुत्ते तेणं ओरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिणं बालतवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्टि-चम्मावणखे किडिकिडियाभूए किसे धमणिसंतए जाए यावि होत्था।

ततः सः तामलिः मोर्यपुत्रः तेन 'ओरालेणं' विपुलेन प्रत्तेन प्रगृहीतेन बालतपःकर्मणा शुष्कः रूक्षः निर्मासः अस्थि-चर्मावनद्धः किटिकिटि-काभूतः कृशः धमनिसन्ततः जातश्चापि आसीत्।

३५. 'वह मोर्यपुत्र तामलि उस प्रधान, विपुल, अनुज्ञात और प्रगृहीत बालतपःकर्म से' सूखा, रूखा, मांस-रहित चर्म से वेष्टित अस्थि वाला, उठते-वैठते समय किट-किट शब्द से युक्त, कृश और धमनियों का जालमात्र हो गया।

३६. तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयांसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयाखुवे अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोए संकये समुप्पज्जत्था—एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिणं कल्लाणेणं सिदेणं धन्नेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं महानुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव धमणिसंतए जाए, तं अत्थि जाव मे उट्ठणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते तामलिचीए नगरीए

ततः तस्य तामलेः बालतपरिवनः अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापररात्रकालसमये अनित्य-जागरिकां जाग्रतः अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—एवं खलु अहं अनेन 'ओरालेणं' विपुलेन प्रत्तेन प्रगृहीतेन कल्याणेन शिवेन धन्येन मांगल्येन सश्रीकेण उदग्रेण उदात्तेन उत्तमेन महानुभागेन तपःकर्मणा शुष्कः रूक्षः यावद् धमनिसन्ततः जातः, तद् अस्थि यावन् मे उत्थानं कर्म बलं वीर्यं पुरुषाकार-पराक्रमः तावन् मे श्रेयः कल्यं प्रादुष्टभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूरे सहस्रशमौ दिनकरे तेजसा ज्वलति ताम्रलिप्याः नगर्याः दृष्टाभाषितान् च

३६. किसी एक दिन मध्यरात्रि में अनित्य जागरिका करते हुए उस बालतपरवीं तामलि के मन में यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—'मैं इस विशिष्ट रूप वाले प्रधान, 'विपुल, अनुज्ञात, प्रगृहीत, कल्याण, शिव, धन्य, मंगलमय, श्रीराम्यन्त, उत्तरोत्तर वर्धमान, उदात्त, उत्तम और महान् प्रभावी तपःकर्म से सूखा, रूखा, यावत् धमनियों का जालमात्र हो गया हूँ। अतः जब तक मुझमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है, तब तक मेरे लिए यह श्रेय है कि मैं कल उषाकाल में पौ फटने पर यावत् सहस्रशिम दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देवीयमान होने पर ताम्रलिपि नगरी में जिन्हें देखा है, जिनके साथ

१. श. वृ. ३/३३—'पाणामा' ति प्रणामोऽस्ति विधेयतया यस्यां सा प्राणामा।

२. वहीं, ३/३४—'रुद्रं वा' महादेव 'सिवं व' ति व्यन्तरविशेषम्, आकारविशेषो दृश्यः आकारविशेषधरं वा रुद्रमेव।

३. वहीं, ३/३४—आर्या प्रशान्तरूपां चण्डिका, 'कौटुकियां व' ति चण्डिकामेव रौरूपां, महिषकुट्टनक्रियावतीमित्यर्थः।

दिद्धाभट्टे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्व-संगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छिता तामलितीए नगरीए मज्झमज्झेणं निग्गच्छिता पादुग-कुंडिय-मादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्गहगं एगंते एडित्ता तामलितीए नगरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए णियत्तणिय-मंडलं आलिहिता संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्ते एत्ति कट्टु एवं सपेहेइ, सपेहेत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्टियम्भि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिण्यरे तेयसा जलंते तामलितीए नगरीए दिद्धाभट्टे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्व-संगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छइ, आपुच्छिता तामलितीए नगरीए मज्झमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छिता पादुग-कुंडिय-मादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्गहगं एगंते एडेइ, एडित्ता तामलितीए नगरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए णियत्तणिय-मंडलं आलिहइ, आलि-हिता संलेहणा-झूसणा-झूसिए भत्तपाण-पडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे ॥

पाषण्डस्थान् च गृहस्थान् च पूर्वसांगतिकान् च पर्यायसांगतिकान् च आपृच्छ्य ताम्रलिप्त्याः नगर्याः मध्य-मध्येन निर्गम्य पादुका-कुण्डिकादिकम् उपकरणं दारुमयं च प्रतिग्रहकम् एकान्ते एडयित्वा ताम्रलिप्त्याः नगर्याः उत्तर-पौरस्थे दिग्भागे निवर्तनिक-मण्डलम् आलिख्य संलेखना-जोषणा-जुषितस्य प्रत्याख्यातभक्तपानस्य प्रायोपगतस्य कालम् अनवकांक्षतः विहर्तुम् इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य कल्यं प्रादुश्रभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूरे सहस्रशमौ दिनकरे तेजसा ज्वलति ताम्रलिप्त्याः नगर्याः दृष्टाभाषितान् च पाषण्डस्थान् पूर्वसांगतिकान् च पर्यायसांगतिकान् च आपृच्छति, आपृच्छ्य ताम्रलिप्त्याः नगर्याः मध्यमध्येन निर्गच्छति, निर्गम्य पादुकाकुण्डिकादिकम् उपकरणं दारुमयं च प्रतिग्रहकम् एकान्ते एडयति, एडयित्वा ताम्रलिप्त्याः नगर्याः उत्तरपौरस्थे दिग्भागे निवर्तनिक-मण्डलम् आलिखति, आलिख्य संलेखना-जोषणा-जुषितः प्रत्याख्यात-भक्तपानः प्रायोपगमनं निपन्नः।^{११}

वातचीत की है, उन पाषण्डस्थों^{११} (श्रमणों) और गृहस्थों, तापस जीवन की स्वीकृति से पूर्व परिचितों तथा तापस जीवन में परिचितों को पूछ कर ताम्रलिप्ति नगरी के मध्य भाग से गुजर कर पादुका, कमण्डलु आदि उपकरण और काष्ठमय पात्र को एकान्त में छोड़ कर ताम्रलिप्ति नगरी के उत्तरपूर्व दिग्भाग (ईशानकोण) में निवर्तनिक मण्डल का आलेखन कर संलेखना की आराधना में लौन हो भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर प्रायोपगमन अनशन की अवस्था में मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ रहूँ—ऐसी संप्रेक्षा करता है, संप्रेक्षा कर दूसरे दिन उषाकाल में पौ फटने पर यावत् सहस्रशमि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर ताम्रलिप्ति नगरी में जिन्हें देखा है, जिनके साथ वातचीत की है, उन पाषण्डस्थों (श्रमणों) और गृहस्थों, तापस जीवन की स्वीकृति से पूर्व परिचितों और तापस जीवन में परिचितों को पूछता है, पूछकर ताम्रलिप्ति नगरी के मध्य भाग से निर्गमन करता है, निर्गमन कर वह पादुका, कमण्डलु आदि उपकरण और काष्ठमय पात्र को एकान्त स्थान में छोड़ता है। छोड़ कर ताम्रलिप्ति नगरी के उत्तरपूर्व दिग्भाग में निवर्तनिक मण्डल का आलेखन करता है। आलेखन कर वह संलेखना-आराधना से युक्त हो कर भोजन-पानी का प्रत्याख्यान कर प्रायोपगमन अनशन में उपस्थित हो गया।^{१२}

भाष्य

१. सूत्र ३५, ३६

द्रष्टव्य भ० २/६४ का भाष्य।

२. बालतपःकर्म से, बालतपस्वी

यहां 'बाल' शब्द का प्रयोग मिथ्यादर्शन और अविरति दोनों का सूचक है। जिस तपस्या के साथ सम्यग्दर्शन जुड़ा हुआ नहीं होता, उसे 'बालतप' और उसके कर्ता को 'बालतपस्वी' कहा जाता है। देवलोक में उत्पन्न होने के चार कारण बतलाए गए हैं। उनमें तीसरा कारण बालतपः-कर्म है।^१ यद्यपि तामलि का तप निदान या आकांक्षा से मुक्त था, फिर भी सम्यग् दर्शन के अभाव में वह बालतप की भूमिका में ही रहा।

३. अनित्य-जागरिका

पदार्थ का संयोग अनित्य है। इस अनित्यत्व का अनुचिन्तन।

४. प्रधान आदि

द्रष्टव्य भ. २/६४ का भाष्य।

५. पाषण्डस्थ

श्रमण दीक्षा में दीक्षित।

तामलि तपस्वी था। श्रमणों के पांच प्रकारों में एक प्रकार है तापस।^१ इसलिए उनका पाषण्डों—श्रमणों से सम्पर्क रहा। तामलि ने उन श्रमणों से पूछा जो दृष्टाभाषित थे। उन गृहस्थों से भी पूछा जो पूर्वसांगतिक यानी गृहस्थ-जीवन में परिचित थे तथा जो प्रव्रज्या-जीवन में परिचित थे यानी पर्यायसांगतिक थे। इससे एक निष्कर्ष निकलता है कि तामलि किसी गुरु के पास प्रव्रजित नहीं हुआ था। यदि कोई गुरु होता तो अनशन के लिए सबसे पहले उनकी स्वीकृति लेता। स्कन्दक ने अनशन किया, उससे पहले भगवान् महावीर से स्वीकृति प्राप्त की। प्रस्तुत प्रकरण में किसी गुरु या आचार्य से स्वीकृति लेने का उल्लेख नहीं है।

६. प्रायोपगमन अनशन में उपस्थित हो गया।

द्रष्टव्य भ० २/४६ का भाष्य।

१. भ. ८/४२८— देवाउयकम्मासरीरपयोगबंधे णं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं? गोयमा! सारागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अक्कामणिज्जराए देवाउयकम्मा-

सरीरपयोगनामाए कम्मस्स उदएणं देवाउयकम्मासरीरपयोगबंधे।
२. दसवे. हा. टी. प. ६८। द्रष्टव्य दसवे. १/३ का टिप्पण, पृ. ११।

स्कन्दक और तामलि के प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने की प्रक्रिया में जो अन्तर है, वह इस प्रकार है—

स्कन्दक	तामलि
पृथ्वी शिलापट्ट पर डाभ का विछोना पर्यकासन में निषण्ण	निवर्तनिक मंडल का आलेखन
दो नमोस्तु का प्रयोग	X
महाव्रतों का आरोपण	X

निवर्तन क्षेत्र का परिमाण है। वृत्तिकार ने उसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है। उन्होंने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार अपने शरीर-प्रमाण भूमि को निवर्तन कहा जाता है।^१ आप्टे कोश के अनुसार २० दण्ड अथवा ८० हाथ का एक निवर्तन होता है।^२ कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार चार अरत्ति (बद्धमुष्टि हाथ) का एक दण्ड, १० दण्ड की एक रज्जु और तीन रज्जु का एक निवर्तन।^३ लीलावती के अनुसार दस हाथ का एक बास और २० बास का एक निवर्तन होता है।^४ इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदेशों में निवर्तन का माप भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है। तामलि तापस ने अपने अनशन के लिए एक निवर्तनिक मंडल (१० हाथ से अधिक भूमि) की सीमा निर्धारित

की थी।

७. निवण्ण

वृत्तिकार ने निवण्ण का संस्कृत रूप 'निष्पन्न' किया है।^५ किन्तु 'निष्पन्न' का प्राकृत रूप 'निष्णण्ण' या 'निष्णण्ण' होना चाहिए। 'निवण्ण' का संस्कृत रूप 'निपन्न' हो सकता है। इसका अर्थ 'सोया हुआ' है। स्कन्दक ने पर्यकासन की मुद्रा में बैठकर अनशन स्वीकार किया था। हो सकता है तामलि ने लेटकर अनशन किया हो। कायोत्सर्ग तीन मुद्राओं में किया जाता है—खड़े होकर, बैठकर और लेटकर। खड़े होकर अनशन करना संभव नहीं, बैठकर और लेटकर—इन दोनों मुद्राओं में किया जा सकता है। तपस्वियों में कायोत्सर्ग की शयन-मुद्रा में अनशन करने की परम्परा रही है।

कुण्डिका आदि शब्दों के लिए भ० २/३१ का भाष्य द्रष्टव्य है।

शब्द-विमर्श

दिट्ठभट्ट—दिट्ट—जिनका साक्षात्कार हुआ है। आभट्ट—जिनके साथ वार्त्तालाप हुआ है। 'आभट्ट' देशी शब्द है।

३७. तेषं कालेषं तेषं समएणं बलिचञ्चा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया या वि होत्था ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये बलिचञ्चा राजधानी अनिन्द्रा अपुरोहिता चापि आसीत्।

३७. उस काल और उस समय बलिचञ्चा राजधानी इन्द्र और पुरोहित से रिक्त थी।^६

भाष्य

१. इन्द्र और पुरोहित से रिक्त थी

प्रस्तुत सूत्र में अनिन्द्र और अपुरोहित दो पदों का उल्लेख है। देवों के दस निकाय बतलाए गए हैं— इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्तरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और कित्त्विक।^७ इनमें पुरोहित का उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थ भाष्यकार ने तावत्त्रिंशक या त्रायस्त्रिंशक को पुरोहित स्थानीय बतलाया है।^८ वृत्तिकार ने पुरोहित का अर्थ 'शान्तिकर्मकारी' किया है। उनका अभिमत है कि पुरोहित इन्द्र के होता है। इन्द्र के अभाव में पुरोहित नहीं होता। इसलिए अनिन्द्र और अपुरोहित दोनों पदों का उल्लेख किया गया है।^९

प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार का तर्क विमर्शनीय है। यदि इन्द्र के अभाव में पुरोहित न हो तो सामानिक आदि कैसे होंगे? अग्रमहिषियां कैसे होंगी? यहां पुरोहित इन्द्र का ही एक विशेषण होना चाहिए। वे असुरकुमार देव

इन्द्र की अनुपस्थिति को प्रबल वेग के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। वे कह रहे हैं— "हमारे यहां कोई इन्द्र नहीं है—अधिपतित्व करने वाला कोई नहीं है, पुरोहित नहीं है—अग्रस्थान पर स्थापित कोई नहीं है।" इसलिए इन्द्र और पुरोहित ये दो नहीं हैं। इन्द्र के प्रसंग में पुरोहित की चर्चा करना प्रासंगिक भी नहीं है। ३८वें सूत्र के "इंदाहीणा, इंदाहिट्टिया, इंदाहीणकज्जा"—ये तीन शब्द इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं।

वृत्तिकार ने पुरोहित का अर्थ 'शान्तिकर्मकारी' किया है। किंतु 'पुरोहित' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—Placed in front (आगे स्थापित) (२) appointed (नियुक्त) (३) charged (दायित्व दिया गया) (४) one charged with a business, an agent (दलाल) (५) A family-priest, one who conducts all the ceremonial rites of the family. (परिवार का पुजारी, वह व्यक्ति जो परिवार के धार्मिक क्रियाकाण्डों का संचालन करता है।)^{१०}

१. भ. वृ. ३/३६ निवर्तन—क्षेत्रमानविशेषस्तत्परिमाणं निवर्तनिकं, निजतनुप्रमाणमित्यन्ये।

२. आप्टे. निवर्तन—A measure of land (20 rods)

दण्ड—A measure of length equal to 4 Hastas

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ. ११५, अष्टत्रिंश प्रकरण, बीसवां अध्याय—चतुररत्तिदण्डो... दश दण्डा रज्जुः। त्रिरज्जुकं निवर्तनम्।

४. लीलावती, परिभाषाप्रकरणम्, श्लोक ७—

तथा कराणां दशकेन वंशः, निवर्तनं विंशतिवंशसंख्यैः ॥

५. भ. वृ. ३/३६—'निवण्णे' ति पादप्रोपगमनं 'निष्पन्नः' उपसंपन्न आश्रित इत्यर्थः।

६. त. सू. ४/४—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपरिषदात्तरक्षालोकपालानीक प्रकीर्ण-काभियोग्यकित्त्विकाश्वैकशः।

७. त. भा. ४/४—त्रायस्त्रिंशा मन्त्रपुरोहितस्थानीयाः।

८. भ. वृ. ३/३७—'अणिंद' ति इन्द्राभावात् 'अपुरोहिय' ति शान्तिकर्मकारिरहिता अनिन्द्रत्वादेव पुरोहितो हीन्द्रस्य भवति तदभावे तु नासाविति।

९. आप्टे.—पुरोहित शब्दः।

३८. तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवरिसं ओहिणा आभोएति, आभोएत्ता अण्णमण्णं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासि— एवं खलु देवानुप्पिया! बलिचंचा रायहाणी अण्णिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवानुप्पिया! इंदाहीणा इंदाहिट्टिया इंदाहीणकज्जा, अयं च णं देवानुप्पिया! तामली बालतवस्सी तामलितीए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभागे नियत्ताणिय-मंडलं आलिहत्ता संलेहणाञ्जूसणाञ्जूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे, तं सोयं खलु देवानुप्पिया! अम्हं तामलिं बालतवरिसं बलिचंचाए रायहाणीए ठित्तिपकप्पं पकरावेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेत्ता बलिचंचाए रायहाणीए मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छिता जेणेव रुयगिंदे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छिता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णांति, समोहणित्ता जाव उत्तरवेउव्वियाइं रुवाइं विकुव्वंति, विकुव्वित्ता तए उक्किट्ठए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीवसमुद्धानं मज्झंमज्झेणं वीईवयमाणा-वीईवयमाणा जेणेव जंबुद्वीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलिती नगरी जेणेव तामली मोरियपुत्ते तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छिता तामलिस्स बालतवरिसस्स उप्पि सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविडिंदि दिव्वं देवज्जुत्तिं दिव्वं देवानुभागं दिव्वं बत्तीसत्तिविहं नट्टविहं उवदंसेति, उवदंसेत्ता तामलिं बालतवरिसं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेति, करेत्ता वंदंति नमंसेति, वंदित्ता नमंसेत्ता एवं वयासी— एवं खलु देवानुप्पिया! अम्हे बलिचंचारायहाणीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवानुप्पियं वंदामो नमंसामो सवकारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो। अम्हण्णं देवानुप्पिया! बलिचंचा रायहाणी अण्णिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवानुप्पिया! इंदाहीणा इंदाहिट्टिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवानुप्पिया! बलिचंचं रायहाणिं आढाह परिआणह सुमरह, अट्ठं बंधह, निदाणं पकरेह, ठित्तिपकप्पं पकरेह, तए णं तुब्भे कालमासे कालं किच्चा बलिचंचाए रायहाणीए उवव-

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च तामलिं बालतपरिवनं अवधिना आभोगयन्ति, आभोग्य अन्योन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा एवम् अवदन्— एवं खलु देवानुप्रियाः! बलिचञ्चाराजधानी अनिन्द्रा अपुरोहिता, वयं च देवानुप्रियाः। इन्द्राधीनाः इन्द्राधिष्ठिता इन्द्राधीनकार्याः, अयं च देवानुप्रियाः! तामलिः बालतपरिवी ताम्रलिप्त्याः नगर्याः बहिः उत्तरपौरस्थे दिग्भागे निवर्तनिक-मण्डलम् आलिख्य संलेखनाजोषणानुपितः प्रत्याख्यातभक्तपानः प्रायोपगमनं निपन्ः, तत् श्रेयः खलु देवानुप्रियाः! अस्माकं तामलिं बालतपरिवनं बलिचञ्चायै राजधान्यै स्थिति-प्रकल्पं प्रकारयितुम् इति कृत्वा अन्योन्यस्य अन्तिके एतदर्थं प्रतिश्रुण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य बलिचञ्चायाः राजधान्याः मध्यमध्येन निर्गच्छन्ति, निर्गम्य यत्र रुचकेन्द्रः उत्पातपर्वतः तत्र उपागच्छन्ति, उपागम्य वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यन्ते, समवहत्य यावद् उत्तरवैक्रियाणि रूपाणि विकुर्वन्ति, विकृत्य तथा उत्कृष्टया त्वरितया चपलया चण्डया ज्विन्या छेकया सैहया शीघ्रया उद्धुतया दिव्या देवगत्या तिर्यग् असंख्येयानां द्वीपसमुद्धानां मध्यमध्येन व्यतिव्रजन्तः-व्यतिव्रजन्तः यत्रैव जम्बूद्वीपः द्वीपः यत्रैव भारतः वर्षः यत्रैव ताम्रलिप्तिः नगरी यत्रैव तामलिः मौर्यपुत्रः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य तामलेः बालतपरिवनः उपरि सपक्षं सप्रतिदिशं स्थित्वा दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभागं दिव्यं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिम् उपदर्शयन्ति, उपदर्श्य तामलिं बालतपरिवनं त्रिकृत्यः आदक्षिण-प्रदक्षिणां कुर्वन्ति, कृत्वा वन्दन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नमरित्वा एवमवादिषुः— एवं खलु देवानुप्रियाः! वयं बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च देवानुप्रियं वन्दामहे नमस्यामो सत्कारयामः सम्मानयामः कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं पर्युपासामहे। अस्माकं देवानुप्रियाः! बलिचञ्चाराजधानी अनिन्द्रा अपुरोहिता, वयं च देवानुप्रियाः! इन्द्राधीनाः इन्द्राधिष्ठिताः इन्द्राधीनकार्याः, तत् यूयं देवानुप्रियाः! बलिचञ्चां राजधानी आद्रियध्वम् परिजानीथ स्मरथ, अर्थं बध्नीत, निदानं प्रकुरुत, स्थितिप्रकल्पं प्रकुरुत, ततः यूयं कालमासे कालं कृत्वा बलिचञ्चायां राजधान्यां उपपत्स्यध्वे, ततः यूयम्

३८. वे बलिचञ्चाराजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां अवधिज्ञान से बालतपरिवी तामलि को देखते हैं। उसे देख कर वे परस्पर एक दूसरे को बुलाते हैं। उन्हें बुला कर वे इस प्रकार बोले—देवानुप्रियो! बलिचञ्चाराजधानी इन्द्र और पुरोहित से रिक्त है। देवानुप्रियो! हम इन्द्र के अधीन हैं, इन्द्र में अधिष्ठित हैं और हमारे सारे काम इन्द्र के अधीन हैं। देवानुप्रियो! यह बालतपरिवी तामलि ताम्रलिप्ति नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिग्भाग में निवर्तनिक मण्डल का आलेखन कर, संलेखना की आराधना से युक्त हो भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर प्रायोपगमन अनशन कर लेता हुआ है। देवानुप्रियो! हमारे लिये यह श्रेयस्कर है कि बालतपरिवी तामलि को बलिचञ्चाराजधानी के लिए स्थिति-प्रकल्प (विशेष संकल्प) करवाएं। ऐसा सोच कर वे एक दूसरे के पास इस बात को स्वीकार करते हैं। स्वीकार कर बलिचञ्चाराजधानी के मध्य भाग से निर्गमन करते हैं। निर्गमन कर वह जहां रुचकेन्द्र उत्पात पर्वत हैं, वहां आते हैं। वहां आ कर वैक्रिय-समुद्घात से समवहत होते हैं। समवहत हो कर उत्तरवैक्रिय रूपों का निर्माण करते हैं। निर्माण कर वे उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, ज्विनी, छेकी, सैही, शीघ्र, उद्धुत और दिव्य देवगति से तिरछी दिशा में असंख्य द्वीप और समुद्रों के मध्य से गुजरते हुए जहां जम्बूद्वीप द्वीप, भारतवर्ष, ताम्रलिप्ति नगरी और मौर्यपुत्र तामलि है, वहां आते हैं। आ कर बालतपरिवी तामलि के ठीक ऊपर आकाश में स्थित हो कर दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाग और बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधियां दिखाते हैं। दिखा कर तामलि तापस को दाईं ओर से प्रारंभ कर तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर वे इस प्रकार बोले—देवानुप्रिय! हम बलिचञ्चाराजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां आपको वन्दन करते हैं, नमस्कार करते हैं, सत्कृत और सम्मानित करते हैं। आप कल्याणकारी, मंगलकारी, देवरूप और चित्ताह्लादक हैं; इसलिए हम आपकी पर्युपासना करते हैं। देवानुप्रिय! हमारी बलिचञ्चाराजधानी इन्द्र और पुरोहित से रिक्त है। देवानुप्रिय! हम इन्द्र के अधीन हैं, इन्द्र में अधिष्ठित हैं और हमारे सारे काम इन्द्र के अधीन हैं, इसलिए देवानुप्रिय! आप बलिचञ्चाराजधानी को आदर दें, उसमें ध्यान केन्द्रित करें, उसकी स्मृति करें। उस प्रयोजन का निश्चय करें, निदान करें और स्थिति-प्रकल्प (वहां उत्पन्न होने का संकल्प) करें।^१ इससे आप मृत्यु के समय मृत्यु प्राप्त

जिस्सह, तए णं तुब्मे अन्हं इंदा भविस्सह,
तए णं तुब्मे अन्हेंहिं सखिं दिव्वाइं भोगभोगाईं
भुंजमाण्णा विहरिस्सह ॥

अस्माकं इन्द्रा भविष्यथ। ततः यूयं अस्माभिः
सार्धं दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानाः विह-
रिष्यथ।

कर बलिचञ्चा राजधानी में उत्पन्न हो जायेंगे। आप
हमारे इन्द्र वन जायेंगे और हमारे साथ दिव्य भोगाईं
भोगों को भोगते हुए विहरण करेंगे।

भाष्य

१. स्थिति-प्रकल्प

बलिचञ्चा-विषयक स्थिति का संकल्प।^१

२. उत्कृष्ट, त्वरित दिव्य देव गति से

देवगति के नौ विशेषण उपलब्ध हैं। वृत्तिकार ने इनका शाब्दिक
अर्थ किया है।^२ इनके अर्थ की परम्परा प्राप्त नहीं है।

३. सपक्खि सपडिदिसिं (ठीक ऊपर आकाश में स्थित हो कर)

एक व्यक्ति या वस्तु के ऊपर या नीचे दूसरा व्यक्ति या वस्तु ठीक
सीध में होता है उस स्थान को सपक्ष और सप्रतिदिक् कहा जाता है। 'सपक्खि'
शब्द में इकार प्राकृत के अनुसार हुआ है।^३ टाणं में अनेक बार इन दोनों पदों
का प्रयोग हुआ है।^४

४. बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्य-विधियां

नाट्य-विधि के ३२ प्रकारों के लिए रायपसेणइयं (सूत्र ६५-११८)
द्रष्टव्य है।

३६. तए णं से तामली बालतवस्सी तेहिं
बलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुर-
कुमारेहिं देवेहिं देवीहिं य एवं वुत्ते समाणे
एयमट्ठं नो आढाइ, नो परियाणेइ, तुसिणीए
संचिइइ ॥

ततः स तामलिः बालतपर्षी तैः बलिचञ्चा-
राजधानीवास्तव्यैः बहुभिः असुकुमारैः देवैः
देवीभिश्च एवमुक्ते सति एतदर्थं नो आद्रियते,
नो परिजानाति, तूष्णीकः सन्तिष्ठते।

३६. वह बालतपर्षी तामलि उन बलिचञ्चा राजधानी में
रहने वाले अनेक असुरकुमार देवों और देवियों के
द्वारा ऐसा कहने पर उनकी बात को न आदर देता है
और न उस पर ध्यान केन्द्रित करता है, मौन रहता
है।

४०. तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे
असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मो-
रियपुत्तं दोच्चं पि तच्चं पि तिव्खुत्तो आया-
हिण-पयाहिणं करेति जाव अन्हं च णं देवा-
णुप्पिया! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरो-
हिया, अन्हे य णं देवाणुप्पिया! इंदाहीणा
इंदाहिंदिआ इंदाहीणकञ्जा, तं तुब्मे णं
देवाणुप्पिया! बलिचंचं रायहाणिं आढाइ
परियाणह सुमरह, अट्ठं बंधह, निदाणं प-
करेह, ठितिपकप्पं पकरेह जाव दोच्चं पि तच्चं
पि एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ, नो

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः
असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च तामलिं मौर्यपुत्रं
द्वितीयमपि तृतीयमपि त्रिकूलः आदक्षिण-
प्रदक्षिणां कुर्वन्ति यावद् अस्माकं च देवानुप्रिय!
बलिचञ्चा राजधानी अनिन्द्रा अपुरोहिता, वयं
च देवानुप्रिय! इन्द्राधीनाः इन्द्राधिष्ठिताः
इन्द्राधीनकार्याः, तत् यूयं देवानुप्रियाः! बलि-
चञ्चां राजधानीं आद्रियध्वम्, परिजानोत
स्मरत, अर्थं वध्नोत, निदानं प्रकुरुत, स्थिति-
प्रकल्पं प्रकुरुत यावद् द्वितीयमपि तृतीयमपि
एवमुक्ते सति एतदर्थं नो आद्रियते, नो परि-

४०. बलिचञ्चाराजधानी में रहने वाले व अनेक असुर-
कुमार देव और देवियां मौर्यपुत्र तामलि को दूसरी
बार भी, तीसरी बार भी दाईं ओर से प्रारंभ कर तीन
बार प्रदक्षिणा करते हैं यावत् (वे बोले)—देवानुप्रिय!
हमारी बलिचञ्चा राजधानी इन्द्र और पुरोहित से रिक्त
है। देवानुप्रिय! हम इन्द्र के अधीन हैं, इन्द्र में अधि-
ष्ठित हैं और हमारे सारे कार्य इन्द्र के अधीन हैं,
इसलिए देवानुप्रिय! आप बलिचञ्चा राजधानी को
आदर दें, उस में ध्यान केन्द्रित करें, उसकी स्मृति
करें, उस प्रयोजन का निश्चय करें, निदान करें और
स्थिति-प्रकल्प (वहां उत्पन्न होने का संकल्प) करें यावत्

१. भ. वृ. ३/२८ --स्थितौ — अवस्थाने बलिचञ्चाविषये प्रकल्पः — संकल्पः स्थिति-प्रकल्पः।

२. भ. वृ. ३/२८ — 'उत्कृष्टया' उत्कर्षवत्या देवगत्येति योगः 'त्वरितया' आकुल(त)या न
स्वभावजयेत्यर्थः, अन्तराकृततोऽप्येषा स्यादित्यत आह—'चपलया' कस्यवापलोपेतया 'चण्डया'
सौद्रया तथाविधोत्कर्षयोगेन 'जयिन्या' गत्यन्तरजेतृत्वात् 'छेक्या' निपुणया उपावप्रवृत्तितः
'सिंहया' सिंहगतिमानवा श्रमाभावेन, 'शौघया' वेगवत्या 'दिव्यया' प्रधानया 'उद्धृतया'

वरत्रादीनामुद्धृतत्वेन, उद्धृतया वा सदर्थपया।

३. वही, ३/३८ — 'सपक्खि' ति समाः सर्वे पक्षाः — पक्षवाः पूर्वोपरदक्षिणोत्तरा यत्र स्थाने
तत्सपक्षम्, इकारः प्राकृतप्रभवः, समाः — सर्वाः प्रतिदिशो यत्र तत्सप्रतिदिक्।

४. टाणं, ३/१३१, १३२, ४/४८२।

परियाणेइ, तुसिणीए सचिद्वइ ॥

जान्नाति, तूष्णीकः सन्तिष्ठते ॥

दूसरी बार और तीसरी बार भी ऐसा कहने पर वह न तो उनकी बात को आदर देता है और न उस पर ध्यान केन्द्रित करता है, मौन रहता है।

४१. तए णं ते बलिचंचारायणवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवरिसणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाणिज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देवयश्च तामलिना बालतपरिवना अनाद्रियमाणाः अपरिज्ञायमाणाः यस्या दिशः प्रादुरभूवन् तामेव दिशं प्रतिगताः।

४१. वे बलिचञ्चा राजधानी में रहने वाले अनेक असुर-कुमार देव और देवियां बालतपरवी तामलि के द्वारा अनादृत और अरवीकृत होकर जिस दिशा में आए थे, उसी दिशा में चले गए।

४२. तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अण्दिं अपुरोहिये यावि होत्था ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये ईशानः कल्पः अनिन्द्रः अपुरोहितश्चापि आसीत् ।

४२. उस काल और उस समय ईशान कल्प (दूसरा देवलोक) इन्द्र और पुरोहित से रिक्त था।

४३. तए णं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहरसाइं परियाणं पाउणित्ता, दोभासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदिता कालमासे कालं किञ्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडेंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाणदेविंदविरहियकालसमयसि ईसाणदेविं-दत्ताए उववण्णे ॥

ततः सः तामलि बालतपरवी बहुप्रतिपूर्णाणि षष्टिं वर्षसहस्राणि पर्यायं प्राप्य द्विमासिक्या संलेखनया आत्मानं जोषित्वा, सविंशति-भक्तशतं अनशनेन छित्वा कालमासे कालं कृत्वा ईशाने कल्पे ईशानावतंसके विमाने उपपातसभायाः देवशयनीये देवदूष्यान्तरितः अंगुलस्य असंख्येयभागमात्रया अवगाहनया ईशानदेवेन्द्रविरहितकालसमये ईशानदेवेन्द्रत्वेन उपपन्नः ।

४३. वह बालतपरवी तामलि पूरे साठ हजार वर्ष के तापस-पर्याय का पालन कर दो मास की संलेखना से अपने आपको कृश बना कर अनशन के द्वारा एक सौ बीस भक्तों का छेदन कर काल-मास में काल को प्राप्त कर ईशान कल्प के ईशानावतंसक विमान में उपपात सभा के देवदूष्य से आच्छन्न देवशयनीय में अंगुल के असंख्येय भाग जितनी अवगाहना से ईशान देवेन्द्र से विरहित समय में ईशान देवेन्द्र के रूप में उपपन्न हो गया।

४४. तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणो-ववण्णे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ, (तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भासा-मणपज्जत्तीए) ॥

ततः सः ईशानः देवेन्द्रः देवराजः अधुनोपपन्नः पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तिभावं गच्छति, (तद् यथा—आहारपर्याप्त्या यावद् भाषामनः-पर्याप्त्या)

४४. वह तत्काल उपपन्न देवेन्द्र देवराज ईशान पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त होता है, (जैसे—आहारपर्याप्ति से यावत् भाषा-मनःपर्याप्ति से)

४५. तए णं ते बलिचंचारायणवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बाल-तवस्सिं कालगतं जाणित्ता, ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववण्णं पासित्ता आसुरुत्ता रुद्धा कुविया चंडिकिकया मिसिमिसिमाणा बलिचंचाए रायहणीए मज्झमज्जेणं निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलिती नयरी जेणेव तामलिरस्स बाल-तवस्सिस्स सरीए तेणेव उवागच्छति, वामे पाए सुंबेणं बंधंति, तिवखुत्तो मुहे निट्ठुहंति, तामलितीए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आकड्ढ-विक्किड्ढ करेमाणा, महया-महया सद्दंणं उग्घोसेमाणा-उग्घोसेमाणा एवं वयासि—केस णं भो! से तामली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए? केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया?—त्ति

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देवयश्च तामलिं बाल-तपरिवनं कालगतं ज्ञात्वा ईशाने च कल्पे देवेन्द्रत्वेन उपपन्नं दृष्ट्वा आशुरुत्ताः रुष्टाः कुपिताः चाण्डिकियताः मिसिमिसिमानाः बलिचञ्चायाः राजधान्याः मध्यममध्येन निर्गच्छन्ति, निर्गम्य तथा उत्कृष्टया यावद् यत्रैव भारतः वर्षः यत्रैव ताम्रलिपिः नगरी यत्रैव तामलेः बालतपरिवनः शरीरं तत्रैव उपागच्छन्ति, वामं पादं शुबेन बध्नन्ति, त्रिकृत्वः मुखे निष्ठीव्यन्ति, ताम्रलिप्याः नगर्याः शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख-महापथ-पथेषु आकर्ष-विकृष्टिं कुर्वन्तः महता-महता शब्देन उद्घोषयन्तः-उद्घोषयन्तः एवमादिपुः—क एष भो! स तामलिः बालतपरवी स्वयं गृहीत-लिंगं प्राणामायां प्रव्रज्यायां प्रव्रजितः? क एष स ईशाने कल्पे ईशानः देवेन्द्रः देवराजः? इति

४५. बलिचञ्चा राजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां बालतपरवी तामलि को मृत जान कर तथा ईशान कल्प में देवेन्द्र रूप में उपपन्न देख कर तत्काल आवेश में आ गए, रुष्ट हो गए, कुपित हो गए। उनका रूप रौद्र बन गया। वे क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो उठे। वे बलिचञ्चा राजधानी के मध्यभाग से निर्गमन करते हैं, निर्गमन कर उस उत्कृष्ट दिव्य देवगति से यावत् जहां भारतवर्ष है, जहां ताम्रलिपि नगरी है और जहां बालतपरवी तामलि का मृत शरीर पड़ा हुआ है, वहां आते हैं। उसके बाएं पैर को रज्जु से बांधते हैं, तीन बार मुंह पर थूकते हैं और ताम्रलिपि नगरी के दुराहों, तिराहों, चौराहों, चौक, चार द्वार वाले स्थानों, राजपथों और सामान्य मार्गों पर उसको घसीटते हुए बाढ़ स्वर से उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार बोले—कौन है यह बालतपरवी तामलि जो स्वयं ही तापस का लिंग धारण कर प्राणामा प्रव्रज्या में प्रव्रजित हुआ था? कौन है वह ईशान कल्प में देवेन्द्र देवराज

कट्टु तामलिस्स बालतवरिस्सस्स सरीरयं हीलंति खिंसंति खिंसंति गरहंति अवमण्णंति तज्जेति तालेति परिवहंति पव्वहंति, आकड्ड-विकडिंढ करेति, हीलेत्ता निदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमण्णेत्ता तज्जेत्ता तालेत्ता परिवहेत्ता पव्वहेत्ता आकड्ड-विकडिंढ करेत्ता एगंते एडंति, एडित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥

कृत्वा तामलेः बालतपरिविनः शरीरकं हेलयन्ति निन्दन्ति 'खिंसन्ति' गहन्ते अवमन्यन्ते तर्जयन्ति ताडयन्ति परिव्यथन्ते प्रव्यथन्ते आकर्ष-विकृष्टिं कुर्वन्ति, हेलयित्वा निन्दित्वा खिंसित्वा गहित्वा अवमत्य तर्जयित्वा ताडयित्वा परिव्यथ्य प्रव्यथ्य आकर्ष-विकृष्टिं कृत्वा एका-न्ते एडयन्ति, एडयित्वा यस्याः दिशः प्रादुरभूवन् तास्यामेव दिशि प्रतिगताः ।

ईशान? ऐसा कहकर वे बालतपरवी तामलि के शरीर की हेलना, निन्दा, तिरस्कार, गर्हा, अवमानना, तर्जना, ताड़ना, कदर्थना करते हैं, व्यथा (अथवा संचालन) उत्पन्न करते हैं और घसीटते हैं। हेलना, निन्दा, तिरस्कार, गर्हा, अवमानना, तर्जना, ताड़ना, कदर्थना कर और व्यथित कर, घसीट कर उसे एकान्त में डाल देते हैं। डाल कर जिस दिशा से आए उसी दिशा में चले गए।

भाष्य

१. सूत्र ४५

शब्द-विमर्श

आसुरुत्त— तत्काल आवेश में आ गए। इसका संस्कृत रूप आशुरुत्त होता है। रूप धातु का क्त प्रत्यय का रूप 'रुत्त' बनता है। 'रुप्' का अर्थ आपटे कोश में to disturb (बाधित करना) किया गया है। वृत्तिकार ने आसुरुत्त का अर्थ 'कोप से विमूढ मति वाला' किया है।

चंडिकिय— रौद्ररूपधारी ।^१ इसका संबध चंडिकक शब्द से है। भगवई (१२/१०३) में क्रोध के दस पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं। उनमें एक 'चंडिकक' है। यह देशी शब्द है।

मिसिमिसेमाण— क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त। आपटे ने 'मिश्' धातु का अर्थ क्रुद्ध होना भी किया है।

शुम्ब— रज्जु। आपटे ने क्रोध में 'शुम्ब' का अर्थ रस्सी (rope) किया है।

४६. तए णं ते ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचंचारायहाणिवत्थ-व्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य तामलिस्स बालतवरिस्सस्स सरीरयं ही-लिज्जमाणं निदिज्जमाणं खिंसिज्जमाणं गर-हिज्जमाणं अवमण्णिज्जमाणं तज्जिज्जमाणं तालेज्जमाणं परिवहिज्जमाणं पव्वहिज्जमाणं आकड्ड विकडिंढ कीरणं पासंति, पासित्ता आसुरुत्ता जाव मिसिमिसेमाणो जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, उवाग-च्छित्ता करयल-परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वड्ढावेत्ति, वड्ढावेत्ता एवं वयासी— एवं खलु देवाणुप्पिया! बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुर-

ततः ते ईशानकल्पवासिनः बहवः वैमानिकाः देवाश्च देव्यश्च बलिचञ्चाराजधानीवारस्तव्यैः बहुभिः असुरकुमारैः देवैः देवीभिश्च तामलेः बालतपरिविनः शरीरकं हेल्यमानं निन्दमानं खिंस्यमानं गहयमानं अवमन्यमानं तर्जयमानं ताडयमानं परिव्यथयमानं प्रव्यथयमानं आकर्ष-विकृष्टिं क्रियमाणं पश्यन्ति, दृष्ट्वा आशुरुत्ताः यावन् मिसिमिसिमानाः यत्रैव ईशानः देवेन्द्रः देवराजः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य करतल-परिगृहीतां दसनखां शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्धापयन्ति, वर्धापयित्वा एवमवादिषुः— एवं खलु देवानुप्रियाः! बलिचञ्चाराजधानीवारस्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च देवानु-

४६. वे ईशान कल्पवासी अनेक वैमानिक देव और देवियां बलिचञ्चाराजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देवों और देवियों के द्वारा बालतपरवी तामलि के शरीर की हेलना, निन्दा, तिरस्कार, गर्हा, अवमानना, तर्जना, ताड़ना, कदर्थना, व्यथा (संचालन) की जा रही है, उसे घसीटा जा रहा है— यह देखते हैं। देख कर वे तत्काल आवेश में आ जाते हैं यावत् क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो जाते हैं। वे जहां देवेन्द्र देवराज ईशान हैं, वहां आते हैं। आ कर दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुटवाली दशनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर मस्तक पर टिका कर जय-विजय की ध्वनि से उन्हें वर्धापित कर वे इस प्रकार बोले— देवानुप्रिय! बलिचञ्चाराजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां आपकी मृत जान कर तथा ईशानकल्प

मिट्टुहंति— धूकते हैं। वृत्तिकार ने उट्टुहंति पाठ की व्याख्या की है।

हीलंति, आकड्ड-विकडिंढ करेति— असुरकुमार देवों ने तामलि के शरीर की अवज्ञा की। उसका चित्रण १० क्रियापदों में उपलब्ध है—हेलना, निन्दा, खिंसा, अवमानना, तर्जना, ताड़ना, परिव्यथा, प्रव्यथा और आकर्ष-विकृष्टि करना। इन सभी क्रियाओं द्वारा अवज्ञा का उत्कर्ष दिखलाया गया है। शब्द-मीमांसा के अनुसार प्रत्येक शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ है। वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या की है।

इनमें कुछ क्रियापद विमर्शनीय हैं—

खिंस— यह देशी धातु है।

व्यथ— धातु के दो अर्थ हैं— भय और संचालन। व्यथा का अर्थ पीड़ा भी होता है। मृत शरीर को पीड़ा की अनुभूति नहीं होती, इसलिए यहां इसका अर्थ 'संचालित करना' ही संगत लगता है।

आकर्ष विकृष्टि— घसीटना।

१. भ. वृ. ३/४५—'आसुरुत्ता'—श्रीप्रकोपविमूढनुद्वयः।

२. वही, ३/४५—'चंडिकिय' ति प्रकटितरौद्ररूपाः।

३. देशीशब्दकोशः।

४. (क) भ. वृ. ३/४५—'मिसिमिसेमाणे' ति देव्यमानाः क्रोधञ्जलेनेति।

(ख) आपटे—मिश्— to be angry.

५. भ. वृ. ३/४५—'उट्टुहंति' ति अवप्रीव्यन्ति— निष्प्रीवनं कुर्वन्ति।

६. वही, ३/४५—'हीलंति' ति जाल्याद्युद्घाटनतः कुल्यन्ति, 'निदिंति' ति चेतसा कुल्यन्ति, 'खिंसन्ति' ति स्वसागर्षं वचनैः कूल्यन्ति, 'गरहन्ति' ति लोकसमक्षं कृतसन्देह, 'अवमण्णन्ति' ति अवमन्यन्ते—अवज्ञाऽऽरपदं मन्यन्ते, 'तज्जंति' ति सर्वतो व्यथन्ते कदर्थयन्ति, 'पव्वहन्ति' ति प्रव्यथन्ते प्रकृष्टव्याधिबोधादयन्ति, 'आकड्डविकडिंढ' ति आकर्षविकर्षिकां।

कुमारा देवा य देवीओ य देवाणुपिए कालगए जाणित्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववण्णे पासित्ता आसुरुत्ता जाव एगंते एडेंति, एडेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया॥

प्रियं कालगतं ज्ञात्वा, ईशाने कल्पे इन्द्रत्वेन उपपन्नं दृष्ट्वा आशुरुत्तः यावन् मिसिमिसि-मानाः एकान्ते एडयन्ति, एडयित्वा यस्याः दिशः प्रादुरभूवन् तास्यामेव दिशि प्रतिगताः।

में इन्द्र के रूप में उपपन्न देखकर तत्काल आवेश में आ गए यावत् उस शरीर को घसीटते हुए एकान्त में डाल देते हैं। डाल कर जिस दिशा से आए उसी दिशा में चले गए।

४७. तए णं ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाण-कप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सय-णिज्जवरगए तिवलियं भिज्जिं निडाले साहट्टु बलिवंचारायहाणिं अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोएइ ॥

ततः ईशानः देवेन्द्रः देवराजः तेषाम् ईशान-कल्पावासिनां बहूनां वैमानिकानां देवानां देवीनां च अन्तिके एतदर्थं श्रुत्वा निश्चय आशुरुत्तः यावत् मिसिमिसिमानः तत्रैव शयनीयवरगतः त्रिवलिकां भृकुटिं ललाटे संहत्य बलिचञ्च-राजधानीम् अधः सपक्षं सप्रतिदिशं समभि-लोकते।

४७. देवेन्द्र देवराज ईशान उन ईशानकल्पवासी अनेक वैमानिक देवों और देवियों के पास यह बात सुन कर, अवधारण कर तत्काल आवेश में आ गया यावत् क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो गया। वह उसी शयनीय (शय्या) पर बैठा हुआ ललाटे पर तीन रेखाओं वाली भृकुटि को चढ़ा कर अपने ठीक नीचे बलिचञ्च राजधानी को देखता है।

भाष्य

१. भृकुटी

वृत्तिकर ने इसका अर्थ दृष्टि-विन्यास का एक प्रकार किया है।^१ भौंह को सिकोड़ना — यह दृष्टि-विन्यास का एक प्रकार है।^२

४८. तए णं सा बलिवंचा रायहाणी ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा अहे सपक्खिं सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेणं इंगालब्भूया मुम्मुरब्भूया छारियब्भूया तत्तक-वेल्लकब्भूया तत्ता समजोइब्भूया जाया यावि होत्था ॥

ततः सा बलिचञ्च राजधानी ईशानेन देवेन्द्रेण देवराजेन अधः सपक्षं सप्रतिदिशं समभि-लोकित्वा सती तेन दिव्यप्रभावेण अंगारभूता मुर्मुर्भूता क्षारभूता तप्तकवेल्लकभूता तप्ता समज्योतिर्भूता जाता चापि आसीत्।

४८. वह बलिचञ्च राजधानी देवेन्द्र देवराज ईशान के द्वारा अपने ठीक नीचे दृष्ट होने पर उस दिव्य प्रभाव से अंगारों, मुर्मुर् (भस्म-मिश्रित अग्निकणों), राख एवं तपे हुए तपे के समान हो गई। वह ताप से तप्त और अग्नि तुल्य बन गई।^३

भाष्य

१. तपे

कवेल्लक और कवेल्लुअ दोनों शब्द मिलते हैं। इनका अर्थ 'कड़ाही, तवा, खपरेल' है।^४

२. ताप से तप्त और अग्नि तुल्य बन गई

तत्ता समजोइब्भूया — प्रस्तुत पाठांश में 'तत्ता' पद स्वतंत्र और

समजोइब्भूया पद समस्त किया गया है। सातवें शतक (सू० ११८) में तत्तसमजोतिभूया यह एक समास है। वृत्तिकर ने यहां इसका अर्थ 'अग्नि के समान बनी' किया है।^५

सातवें शतक की वृत्ति में वृत्तिकर ने इसका अर्थ किया है— 'वह ताप से अग्नि के समान बनी हुई'।^६ ठाणं में तत्ताणि पाठ स्वतंत्र है समजोति-भूताणि पाठ पृथक् है।^७ स्थानाङ्ग की वृत्ति में भी यही अर्थ उपलब्ध है।^८

४९. तए णं ते बलिवंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं बलिवंचं रायहाणिं इंगालब्भूयं जाव समजोइभूयं पासति, पासित्ता भीआ तत्था तसिआ उच्चि-ग्गा संजायभया सव्वओ सभंता आधावेति

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च तां बलिचञ्चां राजधानीम् अंगारभूतां यावत् समज्योतिर्भूतां पश्यन्ति, दृष्ट्वा भीताः त्रस्ताः तुषिताः उद्विग्नाः संजातभयाः सर्वतः समन्ताद् आधावन्ति

४९. वे बलिचञ्च राजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां उस बलिचञ्च राजधानी को अंगारों के समान तप्त यावत् अग्नि-तुल्य देखते हैं। देख कर भीत और प्रकम्पित हो गए। उनके कंठ प्यास से सूख गए। वे उद्विग्न और भय से व्याकुल

१. भ. वृ. ३/४७ — 'भृकुटि' दृष्टि-विन्यासविशेष।

२. आटे-भृकुटि — contraction of the eye-brows.

३. देशीशब्दकोश।

४. भ. वृ. ३/४८ — 'समजोइभूय' ति समा ज्योतिषाऽग्निना भूता समज्योतिर्भूता।

५. वही, ७/११८ — 'तत्तसमजोइभूय' ति तत्तेन — तापेन समा — तुल्या ज्योतिषा — वहिना, भूतानि — जातानि या सा तथा।

६. ठाणं, ८/१०।

७. स्था. वृ. प. ३६८ — तप्तानि — उष्णानि, समानि — तुल्यानि-जाञ्जल्यमानत्वान् ज्योतिषा — वहिना भूतानि — जातानि यानि तानि समज्योतिर्भूतानि।

परिधावेति, आधावेत्ता परिधावेत्ता अण्ण-
मण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा- समतुरंगेमाणा
चिद्धंति ॥

प्रधावन्ति, आधाव्य प्रधाव्य अन्योन्यस्य कायं
समाश्लिष्यन्तः-समाश्लिष्यन्तः तिष्ठन्ति ।

डोकर चारों ओर इधर-उधर दौड़ रहे हैं, दौड़कर वे
परस्पर एक दूसरे के शरीर का आश्लेष कर रहे हैं।

भाष्य

१. सूत्र ४६

शब्द-विमर्श

तसिय—उनके कण्ठ प्यास से सूख गए। हस्तलिखित वृत्ति के
आदर्शों में तसिय और सुसिय दोनों पाठ व्याख्यात हैं।^१

५०. तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे
असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं
देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविं-
दस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविडिंढ दिव्वं देवज्जुइं
दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं तेयत्तेस्सं असहमाणा
सव्वे सपक्खि सपडिदिसं ठिच्चा करयल-
परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं
कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेति, वद्धावेत्ता
एवं वयासी—अहो! णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा
देविड्डी दिव्वा देवज्जुइं दिव्वे देवाणुभावे लद्धे
पत्ते अभिसमण्णागए, तं दिट्ठा णं देवाणु-
प्पियाणं दिव्वा देविड्डी दिव्वा देवज्जुइं दिव्वे
देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए तं
खामेमो णं देवाणुप्पिया! खमंतु णं देवाणु-
प्पिया! खंतुमरिहंति णं देवाणुप्पिया! णाइ
भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु एयमइं सम्मं
विणएणं भूज्जो-भुज्जो खामेति ॥

ततः ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः
असुरकुमाराः देवाश्च देव्यश्च ईशानं देवेन्द्रं
देवराजं परिकुपितं ज्ञात्वा ईशानस्य देवेन्द्रस्य
देवराजस्य तां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं
दिव्यं देवानुभागं दिव्यां तेजोलेश्याम् असह-
मानाः सर्वे सपक्षं सप्रतिदिशं स्थित्वा करतल-
परिगृहीतां दसनखां शिरसावर्तां मस्तके
अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्धापयन्ति,
वर्धापयित्वा एवमवादिषुः—अहो! देवानुप्रियैः
दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवा-
नुभावः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः, तत्
दृष्ट्वा देवानुप्रियाणां दिव्या देवर्द्धिः दिव्या
देवद्युतिः दिव्यः देवानुभावः लब्धः प्राप्तः
अभिसमन्वागतः, तत् क्षाम्यामः देवानुप्रियाः!
क्षाम्यन्तु देवानुप्रियाः! क्षन्तुमर्हन्ति देवानु-
प्रियाः! नापि भूयः एवं करणतया इति कृत्वा
एतदर्थं सम्यग् विनयेन भूयः-भूयः क्षमयन्ति ।

समतुरंगेमाण—यह देशी पद है। वृत्ति में इसका अर्थ 'समाश्लेष
करता हुआ' है। वृद्ध व्याख्या में इसका अर्थ 'परस्पर एक दूसरे में अनुप्रवेश
करता हुआ' किया गया है।^२

५०. बलिचञ्चा राजधानी में रहने वाले अनेक असुरकुमार
देव और देवियां देवेन्द्र देवराज ईशान को परिकुपित
जान कर, देवेन्द्र देवराज ईशान की उस दिव्य देवर्द्धि,
दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव और दिव्य तेजोलेश्या'
को सहन करने में असमर्थ हो कर वे सब ठीक
देवराज ईशान की दिशा में खड़े हो कर, दोनों हथेलियों
से निष्पन्न सम्पुटवाली दशनखात्मक अंजलि को सिर
के सम्मुख धुमा कर, मस्तक पर टिका कर जय-विजय
ध्वनि से उन्हें वर्धापित करते हैं, वर्धापित कर वे इस
प्रकार बोले—अहो! आपने दिव्य देवर्द्धि, दिव्य
देवद्युति और दिव्य देवानुभाव उपलब्ध किया है, प्राप्त
किया है, अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) किया है।
आपने जो दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य
देवानुभाव उपलब्ध किया है, प्राप्त किया है, अभि-
समन्वागत किया है, वह हमने देख लिया है। इसलिए
हम आपसे क्षमायाचना करते हैं, देवानुप्रिय! आप
हमें क्षमा करें, देवानुप्रिय! आप क्षमा करने में समर्थ
हैं, देवानुप्रिय! हम पुनः ऐसा न करने के लिए संकल्प
करते हैं। ऐसा कह कर वे इस बात के लिए सम्यक्
प्रकार से विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना करते हैं।

भाष्य

१. तेजोलेश्या

द्रष्टव्य ३० १/६ का भाष्य ।

५१. तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलि-
चंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमा-
रेहिं देवेहिं देवीहि य एयमइं सम्मं विणएणं
भुज्जो-भुज्जो खामिते समाणे तं दिव्वं देविडिंढ
जाव तेयत्तेस्सं पडिसाहरइ; तप्पभित्तिं च णं
गोयमा! ते बलिचंचा-रायहाणिवत्थव्वया बहवे
असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं

ततः सः ईशानः देवेन्द्रः देवराजः तैः बलि-
चञ्चाराजधानीवास्तव्यैः बहुभिः असुरकुमारैः
देवैः देवीभिश्च एतदर्थं सम्यग् विनयेन भूयः-
भूयः क्षामिते सति तां दिव्यां देवर्द्धिं यावत्
तेजोलेश्यां प्रतिसहरते । तत्रभृति च गौतम!
ते बलिचञ्चाराजधानीवास्तव्याः बहवः असुर-
कुमाराः देवाश्च देव्यश्च ईशानं देवेन्द्रं देवराजं

५१. वह देवेन्द्र देवराज ईशान उन बलिचञ्चा राजधानी
में रहने वाले अनेक असुरकुमार देवों और देवियों
के द्वारा इस बात के लिए सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक
बार-बार क्षमायाचना करने पर उस दिव्य देवर्द्धि यावत्
तेजोलेश्या को पुनः अपने भीतर समेट लेता है।
गौतम! उस दिन से वे बलिचञ्चा राजधानी में रहने
वाले अनेक असुरकुमार देव और देवियां देवेन्द्र

१. द्रष्टव्य अंगसुत्ताणि, भाग २, पृ० १३७ का पाठ-टिप्पण।

२. भ. वृ. ३/४६—'समतुरंगेमाण' सि समाश्लिष्यन्तः, अन्योऽन्यमनुप्रविशन्त इति वृद्धः ।

देवरायं आढंति परिस्थाणंति सक्कारेति सम्मानेति कल्याणं मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पज्जुवासंति, ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्वेसे चिट्ठंति।

एवं खलु गोयमा! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविइढी दिव्वा देवज्जुई दिव्वे देवानुभावे लब्धे पत्ते अभिसमण्णागए ॥

आद्रियन्ते परिजानन्ति सत्कारयन्ति सम्मानयन्ति कल्याणं मंगलं दैवतं विनयेन चैत्यं पर्युपासते, ईशानस्य च देवेन्द्रस्य देवराजस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति।

एवं खलु गौतम ! ईशानेन देवेन्द्रेण देवराजेन सा दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभावः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः ।

देवराज ईशान का आदर करते हैं, स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं, सत्कार-सम्मान देते हैं, कल्याणकारी, मंगलकारी, देव रूप और चित्ताहादक मानकर विनय-पूर्वक पर्युपासना करते हैं। वे देवेन्द्र देवराज ईशान की आज्ञा, 'उपपात (सेवा)', आदेश^१ और निर्देश^२ में रहते हैं।

गौतम ! इस प्रकार देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव उपलब्ध किया है प्राप्त किया है अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) किया है।

भाष्य

१. आज्ञा

कर्तव्य का उपदेश।

अर्थ किए जा सकते हैं।

२. उपपात

सेवा, प्रादुर्भाव। 'उववाय' का संस्कृत रूप 'उपपात' किया जाता है। यदि 'उपपाद' किया जाए तो निकट जाना, बैठना, उपासना करना—ये

३. आदेश (वचन)

बलपूर्वक दिया गया अनुशासन।

४. निर्देश

प्रश्नित कार्य के विषय में दिया जाने वाला निश्चित उत्तर ।^१

५२. ईसाणस्स भंते! देविंदस्स देवरण्णो केवतियं कालं ठिई पण्णत्ता?
गोयमा! सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥

ईशानस्य भदन्त ! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कियत् कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?
गौतम! सातिरेकौ द्वौ सागरोपमौ स्थितिः प्रज्ञप्ता।

५२. भन्ते ! देवेन्द्र देवराज ईशान की स्थिति कितनी प्रज्ञप्त है?
गौतम ! कुछ अधिक दो सागरोपम की स्थिति प्रज्ञप्त है।

५३. ईसाणे णं भंते! देविंदे देवराया ताओ देवलोग्गाओ आउक्खएण भवक्खएणं ठिइ-क्खएणं अणंतरो चयं चइत्ता काहें गच्छिहिति? काहें उववज्जिहिति?
गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्जिहिति बुज्जिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सव्वदुक्खाणं अंतं काहिति ॥

ईशानः भदन्त! देवेन्द्रः देवराजः तस्माद् देवल्लोकाद् आयुःक्षयेण भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं चयं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति? कुत्र उपपत्स्यते ?
गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति 'बुज्जिसइ' मोक्ष्यति परिनिर्वास्यति सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति।

५३. भन्ते ! देवेन्द्र देवराज ईशान आयुक्षय भवक्षय और स्थितिक्षय के अनन्तर उस देवलोक से च्यवन कहां जाएगा? कहां उपपन्न होगा?

गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत्त होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा।

सक्कीसाण-पदं

५४. सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं उच्चतरा चैव ईसि उन्नयतरा चैव? ईसाणस्स वा देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं पीयतरा चैव ईसिं निण्णतरा चैव?
हंता गोयमा! सक्कस्स तं चैव सव्वं नेयव्वं ॥

शक्रेशान-पदम्

शक्रस्य भदन्त ! देवेन्द्रस्य देवराजस्य विमानेभ्यः ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य विमानाः ईषद् उच्चतराः चैव ईषद् उन्नततराः चैव? ईशानस्य वा देवेन्द्रस्य देवराजस्य विमानेभ्यः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य विमानाः ईषत् नीचतराः चैव ईषत् निम्नतराः चैव ?

हन्त गौतम ! शक्रस्य तच्चैव सर्वं नेतव्यम्।

शक्रेशान-पद

५४. भन्ते ! क्या देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानों से कुछ ऊंचे हैं? कुछ उन्नत हैं? क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के उच्चतर, उन्नततर^१ विमान देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानों से कुछ नीचे हैं? कुछ निम्न हैं?

हां, गौतम ! यह सब इसी प्रकार ज्ञातव्य है।

१. भ. वृ. २/५१ आज्ञा-कर्तव्यमेवेशमित्याद्यादेशः, उपपातः--सेवा, वचनम्—अभियोगपूर्वक आदेशः, निर्देशः—प्रश्निते कार्ये नियतार्थमुत्तरं।

भाष्य

१ उच्चतर, उन्नततर

साधारणतया उच्च और उन्नत का प्रयोग ऊंचाई के अर्थ में होता है। यहां दोनों पदों का प्रयोग एक साथ है। वृत्तिकार ने उच्चतर का अर्थ

‘प्रमाण की अपेक्षा से ऊंचा’ और उन्नततर का अर्थ ‘गुण की अपेक्षा से उन्नत’ किया है। वैकल्पिक अर्थ है ‘उच्चतर’ प्रासाद की अपेक्षा से और ‘उन्नततर’ प्रासाद की पीठ की अपेक्षा से।’

५५. से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ ?

गोयमा! से जहानामे करयत्ते सिया—देसे उच्चे देसे उन्नते। देसे णीए, देसे निण्णे। से तेणट्टेणं गोयमा! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णे जाव ईसिं निण्णतरा चव ॥

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्चते?

गौतम! तद् यथानाम करतलः स्यात् देशे उच्चः देशे उन्नतः । देशे नीचः देशे निम्नः। तत् तेनार्थेन गौतम ! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यावद् ईशन् निम्नतराः चैव।

५५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है?

गौतम ! जैसे हथेली का एक भाग ऊंचा और उन्नत होता है, एक भाग नीचा और निम्न होता है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान यावत् कुछ निम्न हैं।

५६. पभू णं भंते! सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णे अंतियं पाउब्भवित्तए? हंता पभू ॥

प्रभुः भदन्त! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अन्तिके प्रादुर्भवितुम्? हन्त प्रभुः।

५६. 'भन्ते ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र देवेन्द्र देवराज ईशान के पास प्रकट होने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।

५७. से भंते! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू? गोयमा! आढामाणे पभू, नो अणाढामाणे पभू ॥

स भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभुः? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम ! आद्रियमाणः प्रभुः, नो अनाद्रियमाणः प्रभुः।

५७. भन्ते ! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम वह आदर करता हुआ समर्थ है, अनादर करता हुआ समर्थ नहीं है।

५८. पभू णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णे अंतियं पाउ ब्यवित्तए? हंता प्रभू ॥

प्रभुः भदन्त! ईशानः देवेन्द्रः देवराजः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अन्तिके प्रादुर्भवितुम्? हन्त प्रभुः।

५८. भन्ते ! क्या देवेन्द्र देवराज ईशान देवेन्द्र देवराज शक्र के पास प्रकट होने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।

५९. से भंते ! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू? गोयमा! आढामाणे वि पभू, अणाढामाणे वि पभू ॥

सः भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभुः ? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम! आद्रियमाणोऽपि प्रभुः, अनाद्रियमाणोऽपि प्रभुः।

५९. भन्ते ! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम! वह आदर करता हुआ भी समर्थ है, अनादर करता हुआ भी समर्थ है।

६०. पभू णं भंते! सक्के देविंदे देवराया ईसाणं देविंदं देवरायं सपक्खं सपडिदिसिं समभिलोइत्तए? हंता पभू ॥

प्रभुः भदन्त! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः ईशानं देवेन्द्रं देवराजं सपक्षं सप्रतिदिशं समभिलोकिंतुम्? हन्त प्रभुः।

६०. भन्ते! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र देवेन्द्र देवराज ईशान को ठीक सीध में स्थित हो देखने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।

६१. से भंते! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू? गोयमा! आढामाणे पभू, नो अणाढामाणे पभू ॥

सः भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभुः? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम! आद्रियमाणः प्रभुः, नो अनाद्रियमाणः प्रभुः।

६१. भन्ते! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम! वह आदर करता हुआ समर्थ है, अनादर करना हुआ समर्थ नहीं है।

६२. पभू णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया सक्कं देविंदं देवरायं सपक्खं सपडिदिसिं समभिलोइत्तए ?

प्रभुः भदन्त! ईशानः देवेन्द्रः देवराजः शक्रं देवेन्द्रं देवराजं सपक्षं सप्रतिदिशं समभिलोकिंतुम्?

६२. भन्ते! क्या देवेन्द्र देवराज ईशान देवेन्द्र देवराज शक्र के ठीक सीध में स्थित हो देखने में समर्थ है?

१. भ. वृ. ३/२५—‘उच्चतरा चैवति उच्चत्वं प्रमाणतः ‘उन्नततरा चैव’ ति उन्नतत्वं गुणतः अथवा उच्चत्वं प्रासादोपेक्षां, उन्नतत्वं तु प्रासादपीठोपेक्षांति।

- हंता पभू ॥ हन्त प्रभुः। हां, वह समर्थ है।
६३. से भंते! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू?
गोयमा! आढामाणे वि पभू, अणाढामाणे वि पभू ॥ सः भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभु? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम! आद्रियमाणो ऽपि प्रभुः, अनाद्रियमाणो ऽपि प्रभुः। ६३. भन्ते ! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम! वह आदर करता हुआ भी समर्थ है, अनादर करता हुआ भी समर्थ है।
६४. पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए? हंता पभू ॥ प्रभुः भदन्त! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः ईशानेन देवेन्द्रेण देवराजेन सार्धम् आलापं वा संलापं वा कर्तुम्? हन्त प्रभुः ! ६४. भन्ते! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र देवेन्द्र देवराज ईशान के साथ आलाप-संलाप करने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।
६५. से भंते! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू?
गोयमा! आढामाणे पभू, नो अणाढामाणे पभू ॥ सः भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभुः? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम! आद्रियमाणः प्रभुः, नो अनाद्रियमाणः प्रभुः। ६५. भन्ते! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम! वह आदर करता हुआ समर्थ है, अनादर करता हुआ समर्थ नहीं है।
६६. पभू णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए? हंता पभू ॥ प्रभुः भदन्त! ईशानः देवेन्द्रः देवराजः शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन सार्धम् आलापं वा संलापं वा कर्तुम्? हन्त प्रभुः । ६६. भन्ते ! क्या देवेन्द्र देवराज ईशान देवेन्द्र देवराज शक्र के साथ आलाप-संलाप करने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।
६७. से भंते! किं आढामाणे पभू? अणाढामाणे पभू?
गोयमा! आढामाणे वि पभू, अणाढामाणे वि पभू ॥ सः भदन्त! किम् आद्रियमाणः प्रभुः? अनाद्रियमाणः प्रभुः? गौतम! आद्रियमाणो ऽपि प्रभुः, अनाद्रियमाणो ऽपि प्रभुः। ६७. भन्ते ! क्या वह आदर करता हुआ समर्थ है? अनादर करता हुआ समर्थ है? गौतम! वह आदर करता हुआ भी समर्थ है, अनादर करता हुआ भी समर्थ है।
६८. अत्थि णं भंते! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं किच्चाईं करणिज्जाईं समुप्पज्जंति? हंता अत्थि ॥ अरित भदन्त! तयोः शक्रशानयोः देवेन्द्रयोः देवराजयोः कृत्यानि करणीयानि समुत्पद्यन्ते? हन्त अस्ति। ६८. भन्ते! उन देवेन्द्र देवराज शक्र और ईशान के मध्य यह कार्य करणीय है—ऐसा विचार उत्पन्न होता है? हां, होता है।
६९. से कहमिदाणिं पकरेति?
गोयमा! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवति, ईसाणे वा देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवति। इति भो! सक्का! देविंदा! देवराया! दाहिणङ्ढलोगाहिवई! इति भो! ईसाणा! देविंदा! देवराया! उत्तरङ्ढलोगाहिवई! इति भो! इति भो! ति ते अण्णमण्णस्स किच्चाईं करणिज्जाईं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ॥ तत् कथमिदानीं प्रकुरुत? गौतम! तदा चैव स शक्रः देवेन्द्रः देवराजः ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अन्तिके प्रादुर्भवति, ईशानो वा देवेन्द्रः देवराजः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अन्तिके प्रादुर्भवति। इति भोः! शक्र! देवेन्द्र! देवराज! दक्षिणार्धलोकाधिपते ! इति भोः! ईशान! देवेन्द्र! देवराज! उत्तरार्धलोकाधिपते! इति भोः! इति भोः। इति तौ अन्योन्यं कृत्यानि करणीयानि प्रत्यनुभवन्तौ विहरतः। ६९. ऐसा होने पर वे उसे क्रियान्वित कैसे कर करते हैं? गौतम! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र के सामने कोई प्रयोजन उपस्थित होता है तो वह देवेन्द्र देवराज ईशान के पास प्रकट होता है और यदि देवेन्द्र देवराज ईशान के सामने कोई प्रयोजन उपस्थित होता है तो वह देवेन्द्र देवराज शक्र के पास प्रकट होता है। ईशान कहता है—हे दक्षिणार्धलोकाधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र! इस समय यह कार्य करणीय है। शक्र कहता है—हे उत्तरार्धलोकाधिपति देवेन्द्र देवराज ईशान! इस समय यह कार्य करणीय है। ओ! यह करणीय है, ओ! यह करणीय है—इस प्रकार वे परस्पर एक दूसरे के करणीय कार्य का अनुभव करते हुए विहार करते हैं।

७०. अत्थि णं भंते! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति? हंता अत्थि ॥

अस्ति भवन्त! तयोः शक्रेशानयोः देवेन्द्रयोः देवराजयोः विवादाः समुत्पद्यन्ते? हन्त अस्ति।

७०. भन्ते! क्या उन देवेन्द्र देवराज शक्र और ईशान के मध्य कभी विवाद उत्पन्न होते हैं? हां, होते हैं।

७१. से कहमिदाणिं पकरेंति?

गोयमा! ताहे चैव णं ते सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणकुमारं देविदं देवरायं मणसी-करेंति। तए णं से सणकुमारे देविदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पाउब्भवति, जं से वदइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निदे से विट्ठंति।

तत् कथमिदानीं प्रकुरुत?

गौतम! तदा चैव तौ शक्रेशानौ देवेन्द्रौ देवराजौ सनत्कुमारं देवेन्द्रं देवराजं मनीकुरुतः। ततः सः सनत्कुमारः देवेन्द्रः देवराजः ताभ्यां शक्रेशानाम्यां देवेन्द्राभ्यां देवराजाभ्यां मनीकृते सति क्षिप्रमेव शक्रेशानयोः देवेन्द्रयोः देवराजयोः अन्तिके प्रादुर्भवति, यत् सः वदति तस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठतः।

७१. ऐसा होने पर वे उसे कैसे सुलझाते हैं?

गौतम! उस समय वे देवेन्द्र देवराज शक्र और ईशान देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार की मानसिक स्मृति करते हैं। उन देवेन्द्र देवराज शक्र और ईशान द्वारा मानसिक स्मृति करने पर शीघ्र ही वह देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार उन देवेन्द्र देवराज शक्र और ईशान के पास प्रकट होता है। वह जो कहता है (उसे शिरोधार्य करते हैं), उसकी आज्ञा, उपपात (सेवा), आदेश और निर्देश का पालन करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ५६-७१

इस प्रकरण में शक्र और ईशान के पारस्परिक संबंधों का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों प्रायः समान भूमिका वाले इन्द्र हैं। फिर भी ईशान का स्थान कुछ विशिष्ट है। इसलिए ईशान शक्र के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार कर सकता है। कभी-कभी इन दोनों में विवाद उत्पन्न हो जाता है। दोनों की सीमाएं सटी हुई हैं। वह विवाद सीमा संबंधी भी हो सकता है, अन्य विषय का भी हो सकता है। वे आपस में विवाद को नहीं सुलझा पाते, उस स्थिति में तीसरे

देवलोक के अधिपति सनत्कुमार की मानसिक स्मृति करते हैं। सनत्कुमार तत्काल उनके सामने उपस्थित हो जाता है। यह सारा कार्य मानसिक तरंगों के संप्रेषण द्वारा होता है। नायाधम्मकहाओ में इसकी पूरी प्रक्रिया प्राप्त है। उसके अनुसार मानसिक स्मृति द्वारा देव का आसन प्रकम्पित होता है। आसन प्रकम्पित होने पर वह देव अवधिज्ञान द्वारा स्मृति करने वाले को जान लेता है और वहां पहुंच जाता है।^१

सणकुमार-पदं

७२. सणकुमारे णं भंते! देविदे देवराया किं भवसिद्धिए? अभवसिद्धिए? सम्मद्धिद्वी? मिच्छद्विद्वी? परित्तसंसारिए? अणंतसंसारिए? सुलभबोहिए? दुल्लभबोहिए? आराहए? विराहए? चरिमे? अचरिमे? गोयमा! सणकुमारे णं देविदे देवराया भवसिद्धिए, नो अभवसिद्धिए। सम्मद्धिद्वी, नो मिच्छद्विद्वी। परित्तसंसारिए, नो अणंतसंसारिए। सुलभबोहिए, नो दुल्लभबोहिए। आराहए, नो विराहए। चरिमे, नो अचरिमे॥

सनत्कुमार-पदम्

सनत्कुमारः भवन्त! देवेन्द्रः देवराजः किं भवसिद्धिकः? अभवसिद्धिकः? सम्मद्धृष्टिः? मिथ्यादृष्टिः? परीतसंसारिकः? अनन्तसंसारिकः? सुलभबोधिकः? दुर्लभबोधिकः? आराधकः? विराधकः? चरमः? अचरमः? गौतम! सनत्कुमारः देवेन्द्रः देवराजः भवसिद्धिकः, नो अभवसिद्धिकः। सम्मद्धृष्टिः, नो मिथ्यादृष्टिः। परीतसंसारिकः, नो अनन्तसंसारिकः। सुलभबोधिकः, नो दुर्लभबोधिकः। आराधकः, नो विराधकः। चरमः, नो अचरमः।

सनत्कुमार-पद

७२. 'भन्ते! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार भवसिद्धिक (मुक्ति जाने के लिए योग्य) है? अभवसिद्धिक है? सम्मद्धृष्टि है? मिथ्यादृष्टि है? परीत संसारी है? अनन्त संसारी है? सुलभबोधिक है? दुर्लभबोधिक है? आराधक है? विराधक है? चरम है? अचरम है? गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार भवसिद्धिक है, अभवसिद्धिक नहीं है। सम्मद्धृष्टि है, मिथ्यादृष्टि नहीं है। परीतसंसारी है, अनन्तसंसारी नहीं है। सुलभबोधिक है, दुर्लभबोधिक नहीं है। आराधक है, विराधक नहीं है। चरम है, अचरम नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र ७२

रायपसेणइयं में सूर्याभ देव के लिए छह प्रश्न पूछे गए हैं। प्रस्तुत सूत्र उसकी अनुकृति जैसा लगता है। भगवई में इस प्रकरण का संकलनकाल में प्रक्षेपण हुआ है— इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शब्द-विमर्श

भवसिद्धिक—भव्य

परीतसंसारी—जन्म-मरण की परम्परा को परिमित करने वाला।

सुलभबोधिक—जिसे बोधि की प्राप्ति सुलभ हो।

१. नाया. १/१/५४-५६।

आराधक—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की विधिवत् पालना करने वाला।^१

चरम—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अप्राप्त मनुष्य भव अंतिम भव होगा, इसलिए चरम अथवा यह देव भव अंतिम है।^२ देवराज सनत्कुमार एक जन्म के पश्चात् मोक्षगामी हैं।

भव्य जीव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार का होता है, इसलिए दूसरा प्रश्न पूछा गया है। सम्यग्दृष्टि जीव परीतसंसारी और अनन्त-

संसारी दोनों प्रकार का हो सकता है, इसलिए तीसरा प्रश्न पूछा गया है। परीत-संसारी जीव सुलभबोधि और दुर्लभबोधि दोनों प्रकार का हो सकता है, इसलिए चौथा प्रश्न पूछा गया है। सुलभबोधि जीव आराधक और विराधक दोनों प्रकार का हो सकता है, इसलिए पांचवा प्रश्न पूछा गया है। आराधक जीव चरम और अचरम दोनों प्रकार का हो सकता है, इसलिए छठा प्रश्न पूछा गया है। आचार्य मलयगिरि की वृत्ति में इसकी विस्तार से चर्चा है।^३

७३. से केणट्टेणं भंते!

गोयमा! सणकुमारे णं देविदे देवराया बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हियकामए सुहकामए पथकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हिय-सुह-निस्सेसकामए। से तेणट्टेणं गोयमा! सणकुमारे णं देविदे देवराया भवसिद्धिए, नो अभवसिद्धिए। सम्मद्धिटी, नो मिच्छदिटी। परित्तसंसारिए, नो अणंतसंसारिए। सुलभबोहिए, नो दुल्लभबोहिए। आराहए, नो विराहए। चरिमे, नो अचरिमे ॥

तत् केनार्थेन भदन्त!

गौतम! सनत्कुमारः देवेन्द्रः देवराजः बहूनां श्रमणानां बहूनां श्रमणीनां बहूनां श्रावकाणां बहूनां श्राविकाणां हितकामकः सुखकामकः पथकामकः आनुकम्पिकः नैश्रेयसिकः हितसुख-निश्रेयसकामकः। तत् तेनार्थेन गौतम! सनत्कुमारः देवेन्द्रः देवराजः भवसिद्धिकः, नो अभवसिद्धिकः। सम्यग्दृष्टिः, नो मिथ्यादृष्टिः। परीतसंसारिकः, नो अनन्तसंसारिकः। सुलभबोधिकः, नो दुर्लभबोधिकः। आराधकः, नो विराधकः। चरमः, नो अचरमः।

७३. ' भन्ते! यह किस अपेक्षा से (कहा जा रहा है)?

गौतम! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार अनेक साधुओं, अनेक साध्वियों, अनेक श्रावकों और अनेक श्राविकाओं का हित चाहने वाला, सुख चाहने वाला, पथ्य चाहने वाला, अनुकम्पा करने वाला, निःश्रेयस् की दिशा में प्रेरित करने वाला है। हित, सुख और निःश्रेयस् चाहने वाला है। गौतम! इस अपेक्षा से देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार भवसिद्धिक है, अभवसिद्धिक नहीं है। सम्यग्दृष्टि है मिथ्यादृष्टि नहीं है। परीतसंसारी है, अनन्तसंसारी नहीं है। सुलभबोधिक है, दुर्लभबोधिक नहीं है। आराधक है, विराधक नहीं है। चरम है, अचरम नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र ७३

प्रस्तुत सूत्र में सनत्कुमार को छह विशेषणों से विशेषित किया गया है। इससे देवराज सनत्कुमार की भगवान् महावीर के शासन के प्रति आस्था अभिव्यक्त होती है। इसका संबंध क्या है—इस विषय में कोई जानकारी न आगम सूत्र में है, न चूर्णि और वृत्ति में है।

शब्द-विमर्श

हित चाहने वाला (हियकामए)—'हित' के अर्थ हैं—उपयोगी, कल्याणकारी, उपयुक्त, अनुकूल, लाभदायी आदि। वृत्ति में इसका अर्थ 'सुख की हेतुभूत वस्तु' किया गया है।

पथ्य—पथ्य का अर्थ है दुःख से परित्राण।

आनुकम्पिक—कृपालु।

निःश्रेयस की दिशा में प्रेरित करने वाला (नैश्रेयसिक)—

निःश्रेयस—मोक्ष की ओर प्रेरित करने वाला।^४

निःश्रेयस चाहने वाला (निस्सेसकामए)—वृत्तिकार ने 'निस्सेस' का संस्कृत रूप निःशेष—सर्व किया है। किन्तु इसका संस्कृत रूप 'निःश्रेयस' होना चाहिए। निःश्रेयस के यकार का लोप करने पर 'निस्सेस' रूप बनता है। टाण में भी इसका प्रयोग प्राप्त है—तओ टाणा ववसियस्स हिताए सुभाए खमाए णिस्सेसाए आणुगामियत्ताए भवति।^५ हित, सुख और निःश्रेयस ये तीनों संबन्धित हैं।^६

देवराज सनत्कुमार वर्तमान में हित, सुख और पथ्य चाहने वाले हैं—यह आगम की वक्तव्यता है। कुछ लोग मानते हैं कि सनत्कुमार ने अपने पिछले जन्म में चार तीर्थ का आहार आदि से पोषण किया था, उससे वह इन्द्र बना। जयाचार्य ने इस मान्यता का निरसन किया है। उन्होंने बतलाया कि हियकामए आदि विशेषण वर्तमान अवस्था से संबंध रखते हैं। इनका पूर्व जन्म से कोई संबंध नहीं है।^६

७४. सणकुमारस्स णं भंते! देविदस्स देवरण्णो केवइयं कालं ठिती पण्णत्त ?

सनत्कुमारस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कियत्कालं स्थितिः प्रज्ञप्ता?

७४. भन्ते! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार की स्थिति कितने काल की प्रज्ञप्त है?

१. भा. वृ. ३/७२—'चरम'ति एव भयो यस्याप्राप्तस्तिष्ठति, देवभवो वा चरमो यस्य सः, चरमभवो वा भविष्यति यस्य स चरमः ।

२. रा. वृ. पृ. ११८।

३. भा. वृ. ३/७३—'हियकामए' ति हितं—सुखनिबन्धनं वस्तु 'पथकामए'ति पथ्यं—दुःखत्राणं, करमादेवमित्यत आह—'आणुकंपिए'ति कृपालुः, अत एवाह—'निस्सेयसिव'ति

निःश्रेयस—मोक्षस्तत्र निवृक्त इव नैःश्रेयसिकः।

४. टाणं, ३/५२४।

५. भा. वृ. ३/७३—हितं यत्सुखम्—अदुःखानुबन्धमित्यर्थः तन्निःश्रेयसाणां—सर्वेषां कामयते—वाञ्छति यः स तथा।

६. म. जो. ५/३६-५४।

गोयमा! सत्त सागरोवमाणि ठिती पण्णत्ता ॥

७५. से णं भंते ! ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं
भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता
कहिं गच्छिहिइ? कहिं उववज्जिहिइ?
गोयमा! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झि-
हिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सब्बदुक्खाणं
अंतं करेहिति ॥

७६. सेवं भंते! सेवं भंते!

संगहणी गाहा

छट्ठममासो, अद्धमासो
वासाइं अट्ठ छम्मासा।
तीसग-कुरुदत्ताणं,
तव-भत्तपरिण-परियाओ ॥१॥

उच्चत्त विमाणाणं,
पाउब्भव पेच्छणा य संलावे।
किच्च-विवादुप्पत्ती,
सणकुमारे य भवियत्तं ॥२॥

गौतम! सप्त सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

स भदन्त। तस्माद् देवलोकाद् आयुःक्षयेण
भवक्षयेण स्थितिक्षयेण अनन्तरं च्यवं च्युत्वा
कुत्र गमिष्यति? कुत्र उपपत्स्यते?
गौतम! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति 'बुज्झिहिति',
मोक्ष्यति परिनिर्वास्यति सर्वदुःखानाम् अन्तं
करिष्यति।

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त!

संग्रहणी गाथा

षष्ठाष्टममासोऽर्द्धमासो
वर्षाणि अष्ट षण्मासाः।
तिष्यक-कुरुदत्तयोः,
तपः-भक्तपरिज्ञा-पर्यायः ॥१॥

उच्चत्वं विमानानां,
प्रादुर्भवः प्रेक्षणा च संलापः।
कृत्य-विवादोत्पत्तिः,
सनत्कुमारे च भव्यत्वम् ॥२॥

गौतम! सात सागरोपम की स्थिति प्रज्ञप्त है।

७५. भन्ते! वह आयुक्षय, भवक्षय ओर स्थितिक्षय होने
के अनन्तर उस देवलोक से च्यवन कर कहां जाएगा?
कहां उपपन्न होगा?
गौतम! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त
और परिनिर्वृत होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा।

७६. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है।

संग्रहणी गाथा

तिष्यक मुनि की तपस्या निरन्तर दो-दो दिन का
उपवास, अनशन एक महीने का और दीक्षापर्याय आठ
वर्ष का था। कुरुदत्त मुनि की तपस्या निरन्तर तीन-तीन
दिन का उपवास, अनशन पन्द्रह दिन का और दीक्षा
पर्याय छह महीने का था।
विमानों की ऊंचाई, इन्द्रों का परस्पर एक दूसरे के
पास प्रकट होना, दर्शन, वार्तालाप, करणीय, विवादो-
त्पत्ति तथा सनत्कुमार की भव्यता आदि विषयों का
वर्णन इस उद्देशक में हुआ है।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

चमरस्स भगवओ वंदण-पदं

७७. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था जाव परिसा पज्जुवासइ ॥

७८. तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए, सभाए सुहम्माए, चमरंसि सीहासणंसि, चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव नट्टाविहिं उवदं-सेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥

चमरस्य भगवतः वंदन-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरमासीत्, यावत् परिषत् पर्युपास्ते।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः चमरचञ्चायां राजधान्यां सभायां सुधर्मायां, चमरे सिंहासने, चतुःषष्ट्या सामानिकसाहस्र्या यावत् नाट्यविधिम् उपदर्शय यस्याः दिशः प्रादुरभूतः तस्यामेव दिशि प्रतिगतः।

चमर का भगवान को वन्दन-पद

७७. उस काल और उस समय राजगृह नामक नगर था, यावत् परिषद् पर्युपासना करती है।

७८. उस काल और उस समय असुरेन्द्र असुरराज चमर चमरचञ्चा राजधानी की सुधर्मा सभा में चमर सिंहासन पर चौंसठ हजार सामानिक देवों से (परिवृत था) यावत् भगवान् के सामने नाट्यविधि का उपदर्शन कर वह जिस दिशा से आया, उसी दिशा में चला गया।

भाष्य

१. नाट्यविधि

इसकी जानकारी के लिए रायपसेणइयं, सू. ६५-११५ द्रष्टव्य है।

असुरकुमार-वण्णग-पदं

७९. भंतेति! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—अत्थि णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

८०. एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव अत्थि णं भंते! इसि-प्पम्भाराए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति?

णो इणट्ठे समट्ठे।

८१. से कहिं खाइ णं भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति?

गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीतु-त्तरजोयणसयसहस्सबाहत्त्ताए एवं असुर-

असुरकुमार-वर्णक-पदम्

भदन्त! अयि! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—अस्ति भदन्त! अस्याः रत्न-प्रभायाः पृथिव्याः अधः असुरकुमाराः देवाः परिवसन्ति?

गौतम! नायमर्थः समर्थः।

एवं यावद् अधःसत्तम्याः पृथिव्याः, सौधर्मस्य कल्पस्य अधः यावद् अस्ति भदन्त! ईषत्-प्राग्भारायाः पृथिव्याः अधः असुरकुमाराः देवाः परिवसन्ति?

नायमर्थः समर्थः।

तत् कुत्र 'खाइ' भदन्त! असुरकुमाराः देवाः परिवसन्ति?

गौतम! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्याम् अशीत्यु-त्तरयोजनशतसहस्रबाहल्यायाम् एवम् असुर-

असुरकुमार-वर्णक-पद

७९. भन्ते! इस सम्बोधन के साथ भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोले—भन्ते! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे असुरकुमार देव रहते हैं?

गौतम! यह बात संगत नहीं है।

८०. भन्ते! इसी प्रकार यावत् सातवीं पृथ्वी के नीचे सौधर्म कल्प के नीचे यावत् भन्ते! क्या ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे असुरकुमार देव रहते हैं?

यह बात संगत नहीं है।

८१. 'भन्ते! तो फिर असुरकुमार देव कहां रहते हैं?

गौतम! इस एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई वाली रत्नप्रभा पृथ्वी में असुरकुमार देव रहते हैं। इस

कुमारदेववक्तव्यया जाव दिव्वाइं भोगभोगाईं
भुजमाणा विहरन्ति ॥

कुमारदेववक्तव्यता यावद्विवायान् भोग्यभोगान्
भुज्जानाः विहरन्ति।

प्रकार असुरकुमार देवों की वक्तव्यता है, यावत् वे
दिव्य भोगार्ह भोगों का भोग करते हुए रहते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ८१

रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है।^१

एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़कर शेष एक लाख
अठहत्तर हजार योजन में असुरकुमारों के आवास हैं।

८२. अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं अहे
गतिविसए ?
हंता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त! असुरकुमाराणां देवानां अधः
गतिविषयः?
हन्त अस्ति।

८२. भन्ते! क्या असुरकुमार देवों की गति का विषय नीचे
लोक में हैं?
हां, है।

८३. केवत्तियण्णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं
अहे गतिविसए पण्णत्ते?
गोयमा! जाव अहेसत्तमाए पुढवीए । तच्चं
पुण पुढविं गया य गमिस्संति य ॥

कियान् भदन्त! असुरकुमारा देवानाम् अधः
गतिविषयः प्रज्ञप्तः?
गौतम! यावद् अधःसप्तम्याः पृथिव्याः। तृतीयां
पुनः पृथिवीं गताः च गमिष्यन्ति च।

८३. भन्ते! असुरकुमार देवों की गति का विषय नीचे
लोक में कितना प्रज्ञप्त है?
गौतम! उनकी गति का विषय अधःसप्तमी पृथ्वी तक
है। तीसरी पृथ्वी तक वे गए हैं और जाएंगे।

८४. किंपत्तियण्णं भंते! असुरकुमारा देवा तच्चं
पुढविं गया य गमिस्संति य?
गोयमा! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए,
पुव्वसंगत्तियस्स वा वेदणउवसामणयाए—एवं
खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य
गमिस्संति य ॥

किंप्रत्ययितं भदन्त! असुरकुमाराः देवाः तृतीयां
पृथिवीं गताः च गमिष्यन्ति च?
गौतम! पूर्ववैरिकस्य वा वेदनोदीरणया, पूर्व-
सांगतिकस्य वा वेदनोपशमनया—एवं खलु
असुरकुमाराः देवाः तृतीयां पृथिवीं गताः च
गमिष्यन्ति च।

८४. 'भन्ते! असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक गए हैं
और जाएंगे, इसका प्रत्यय क्या है?
गौतम! पूर्व जन्म के वैरी की वेदना की उदीरणा करने
के लिए अथवा पूर्वजन्म के मित्र की वेदना का उपशमन
करने के लिए—इन दो प्रत्ययों से असुरकुमार देव
तीसरी पृथ्वी तक गए हैं और जाएंगे।

भाष्य

१. सूत्र ८४

नारकीय जीवों की वेदना की उदीरणा सभी असुरकुमार नहीं करते,
संक्लिष्ट परिणाम वाले असुरकुमार ही प्रथम तीन नरकभूमियों में जाकर वहां
के नारकीय जीवों को दुःख देते हैं।^२ ये परमाधार्मिक श्रेणी के असुरकुमार
होते हैं। प्रस्तुत सूत्र में सामान्यतः वेदना देने की बात नहीं है। यहां केवल पूर्व
वैरी को दुःख देने के लिए तीसरी नरक तक जाने की व्यवस्था बतलाई है।
असुरकुमार अपने पूर्व मित्रों की वेदना का उपशमन करने के लिए भी वहां
जाते हैं। वैर या मैत्री दोनों का अनुबन्ध चलता रहता है—प्रस्तुत प्रकरण से

यह सिद्धान्त फलित होता है। आचार्य भिक्षु ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया
था—

“मित्रीं सूं मित्रीपणो चलयो जावै,
वैरीं सूं वैरीपणो चलयो जावै।^१

अपना किया हुआ कर्म अपने को भोगना होता है, दूसरा व्यक्ति
उसको उत्तेजित या उपशान्त करने में निमित्त बन सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में निमित्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

८५. अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं
तिरियं गतिविसए पण्णत्ते?
हंता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त! असुरकुमाराणां देवानां तिरियं
गतिविषयः प्रज्ञप्तः?
हन्त अस्ति।

८५. भन्ते! क्या असुरकुमार देवों की गति का विषय
तिरछे लोक में प्रज्ञप्त है?
हां, है।

८६. केवत्तियण्णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं
तिरियं गतिविसए पण्णत्ते?
गोयमा! जाव असंखेज्जा दीव-समुद्दा, नन्दि-
सरवरं पुण दीवं गया य गमिस्संति य ॥

कियान् भदन्त! असुरकुमाराणां देवानां तिरियं
गतिविषयः प्रज्ञप्तः?
गौतम! यावद् असंखेयाः द्वीप-समुद्राः नन्दी-
श्वरवरं पुनः द्वीपं गताः च गमिष्यन्ति च।

८६. 'भन्ते! तिरछे लोक में असुरकुमार देवों की गति का
विषय कितना प्रज्ञप्त है?
गौतम! उनकी गति का विषय असंख्य द्वीप-समुद्रों
तक है। नन्दीश्वरवर द्वीप तक वे गए हैं और जाएंगे।

१ (क) सर्वार्थसिद्धि, ३/५/२०६/३।
(ख) ति. प. २/३४। ३४६।

२. अनुकम्पा. ११/४५।

८७. किंपत्तियण्णं भंते! असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य? गोयमा! जे इमे अरहंता भगवंतो, एएसि णं जम्मणमहेसु वा, निक्खमणमहेसु वा, नाणु-प्पायमहिमासु वा, परिनिब्बाणमहिमासु वा— एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य ॥

किं प्रत्ययितं भदन्त! असुरकुमाराः देवाः नन्दीश्वरवरं द्वीपं गताश्च गमिष्यन्ति च? गौतम! ये इमे अर्हन्तः भगवन्तः, एतेषां जन्म-महेषु वा, निष्क्रमणमहेषु वा ज्ञानोत्पादमहिमासु वा परिनिर्वाणमहिमासु वा— एवं खलु असुर-कुमाराः देवाः नन्दीश्वरवरं द्वीपं गताश्च गमिष्यन्ति च।

८७. भन्ते! असुरकुमार देव नन्दीश्वरवर द्वीप तक गए हैं और जाएंगे, इसका प्रत्यय क्या है? गौतम! जो ये अर्हत् भगवान् हैं, इनके जन्मोत्सव, अभिनिष्क्रमण-उत्सव, केवल ज्ञानोत्पत्ति-उत्सव अथवा परिनिर्वाण-उत्सव के अवसर पर इन चार प्रत्ययों से असुरकुमार देव नन्दीश्वरवर द्वीप तक गए हैं और जाएंगे।

भाष्य

१. सूत्र ८६, ८७

प्रस्तुत सूत्रों में नन्दीश्वर द्वीप तक जाने के चार हेतु बतलाए गए हैं—जन्म-महोत्सव, अभिनिष्क्रमण-महोत्सव, ज्ञानोत्पाद-महोत्सव और परिनिर्वाण-महोत्सव। यहां गर्भ-महोत्सव का उल्लेख नहीं है।

जंबुद्वीवपण्णती में भगवान् ऋषभ के दो महोत्सवों—जन्म-महोत्सव और निर्वाण-महोत्सव का उल्लेख मिलता है।^१ ठाणं में पद्मप्रभ तीर्थकर के पांच विशेष-प्रसंगों का उल्लेख है। चित्रा नक्षत्र में उनका गर्भ में आगमन, उसी नक्षत्र में जन्म, उसी नक्षत्र में दीक्षा, उसी नक्षत्र में केवलज्ञान

की उत्पत्ति और उसी नक्षत्र में परिनिर्वाण हुआ था। इसी प्रकार कुछ अन्य तीर्थकरों के भी पांच-पांच विशेष प्रसंग बतलाए गए हैं। पर यहां महोत्सव मनाने की बात उल्लिखित नहीं है।^२ भगवई १४/२४ में भी चार महोत्सवों का उल्लेख मिलता है। देवों द्वारा जन्म-महोत्सव आदि को मनाने की बात दिग्म्वर साहित्य में भी मिलती है।^३ बौद्ध साहित्य में भी बुद्ध के जन्म के अवसर पर देवों के आने और उनके जन्म को मनाने की बात मिलती है।^४ भगवती सूत्र में इस विषय का प्रवेश उत्तरकाल में हुआ प्रतीत होता है।

नन्दीश्वर द्वीप की जानकारी के लिए जीवाजीवाभिगमे (३/८८०-६२४) द्रष्टव्य है।

८८. अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं उड्डं गतिविसिए? हंता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त! असुरकुमाराणं देवानाम् उर्ध्वं गतिविषयः? हन्त! अस्ति।

८८. भन्ते! क्या असुरकुमार देवों की गति का विषय ऊर्ध्वलोक में है? हां, है।

८९. केवत्तियण्णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं उड्डं गतिविसिए? गोयमा! जाव अच्चुतो कप्पो, सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य ॥

कियान् भदन्त! असुरकुमाराणां देवानाम् उर्ध्वं गतिविषयः? गौतम! यावद् अच्युतः कल्पः, सौधर्मं पुनः कल्पं गताश्च गमिष्यन्ति च।

८९. भन्ते! ऊर्ध्वलोक में असुरकुमार देवों की गति का विषय कितना है? गौतम! ऊर्ध्वलोक में असुरकुमार देवों की गति का विषय अच्युत कल्प तक है! सौधर्म कल्प तक वे गए हैं और जाएंगे।

९०. किंपत्तियण्णं भंते! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य? गोयमा! तेसि णं देवाणं भवपच्चइए वेराणु-बंधे, ते णं देवा विकुब्बेमाणा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति अहालहुसगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति॥

किं प्रत्ययितं भदन्त! असुरकुमाराः देवाः सौधर्मं कल्पं गताश्च गमिष्यन्ति च। गौतम! तेषां देवानां भवप्रत्ययिकः वैरानुबन्धः, ते देवाः विकुर्वाणाः परिचारयन्तो वा आत्म-रक्षान् देवान् वित्रासयन्ति यथा लघुस्वकानि रत्नानि गृहीत्वा आदाय एकान्तमन्तम् अव-क्रामन्ति।

९०. भन्ते! असुरकुमार देव सौधर्म कल्प में गए हैं और जाएंगे—इसका प्रत्यय क्या है? गौतम! असुरकुमार देवों का सौधर्म कल्पवासी देवों के साथ भवप्रत्ययिक वैरानुबन्ध होता है। वे असुर-कुमार देव (सौधर्म कल्पवासी देवों को डराने के लिए) विशाल शरीर का निर्माण करते हैं, अन्य देवियों के साथ भोग करना चाहते हैं, आत्मरक्षक देवों को संत्रस्त करते हैं, छोटे रत्नों को चुराकर स्वयं एकान्त स्थान में चले जाते हैं।

१. जंबु, ५ वां वक्षस्कार २/८६, १२०।

२. ठाणं, ५/८४-६७।

३. जंबुद्वीवपण्णती संगहो, १३/६३—

गम्भावयारकाले जम्मणकाले तहेव निक्खमणे।

केवलणाणुपण्णे परिणिब्बाणमि समयमि ॥

४. जातक, अविदूरनिदान, हिन्दी अनुवाद (प्रथम खण्ड) पृ. ६६, ६७।

भाष्य

१. सूत्र ६०

विकुब्धेमाणा—असुरकुमार देव सौधर्म कल्प तक जाने के लिए वैक्रिय शक्ति का प्रयोग कर विशेष प्रकार के शरीर का निर्माण करते हैं। जयाचार्य के अनुसार वे सौधर्म कल्पवासी देवों को डराने के लिए भयानक रूप का निर्माण करते हैं।^१

परियारेमाणा—सौधर्म कल्प में जाने का एक हेतु यह है—दूसरे देवों की देवियों के साथ भोग करने की इच्छा से असुरकुमार देव सौधर्म कल्प में चले जाते हैं।

आयरक्खे देवे वित्तासेत्ति—वे असुरकुमार देव आत्मरक्षक देवों को सन्त्रस्त करते हैं। आत्मरक्षक देव हाथ में शस्त्र लिए शिरोरक्षक के रूप में सदा पीछे खड़े रहते हैं। उन्हें सन्त्रस्त करने के लिए असुरकुमार देव सौधर्म कल्प में जाते हैं।

अहालहुसगाई—वृत्तिकार ने यथालघुस्वक का अर्थ छोटा किया है। बड़े रत्नों को वे ले जा नहीं सकते; इसलिए प्रकरणवश इसका अर्थ 'छोटा'

किया है। वैकल्पिक रूप में वृद्धों के मत का उल्लेख किया है। उसके अनुसार 'अलघु' शब्द है। उसका अर्थ है महान् या वरिष्ठ।^२ लघुस्वक शब्द का प्रयोग आगम के अन्य स्थलों में भी छोटे के अर्थ में मिलता है। रत्नदीप की देवी छोटे से अपराध परकुपित हो जाती थी।^३

धन सार्थवाह के प्रकरण में भी 'लघुस्वका' का प्रयोग मिलता है।^४ इसलिए वृत्तिकार का मत संगत है।

असुरकुमार देवों का सौधर्म कल्पवासी देवों के साथ भवप्रत्ययिक (वर्तमान भव में जातिगत) वैरानुबन्ध है—यह वाक्य क्या सुर-असुर के संघर्ष की प्रतिध्वनि नहीं है? परिचारणा और रत्नों की चोरी—ये सब वृत्तियाँ इस बात की सूचना हैं कि मनुष्य और देव दोनों ही आचरण की दृष्टि से बहुत भिन्न नहीं हैं। मनुष्य हो चाहे देव—चरित्र का विकास साधना के द्वारा ही किया जा सकता है।

असुरकुमार देवों के सौधर्म कल्प में जाने के अन्य प्रत्यय की रचा ३० ३/१३१ में की गई है। उसका भाष्य द्रष्टव्य है।

६१. अत्थि णं भन्ते! तेसिं देवाणं अहालहुसगाईं
रयणाईं?
हन्ता अत्थि ॥

अस्ति भदन्त! तेषां देवानां यथालघुस्वकानि
रत्नानि?
हन्त अस्ति।

६१. भन्ते! क्या उन देवों के पास छोटे रत्न हैं?
हां, हैं।

६२. से कहमिदाणिं पकरेंति?
तओ से पच्छा कायं पव्वहन्ति॥

तत् कथमिदानीं प्रकुर्वन्ति?
ततः तेषां पश्चात् कायं प्रव्यथन्ते।

६२. असुरकुमार देव छोटे रत्नों को चुरा एकान्त में चले जाते हैं। तब वैमानिक देव क्या करते हैं? वैमानिक देव उन असुरकुमार देवों के शरीर को प्रव्यथित करते हैं—शस्त्र-प्रहार से आहत कर डालते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६२

देवों के सुख ही होता है और नरक जीवों के दुःख ही होता है—यह सामान्य कथन है, किन्तु वास्तविका इससे भिन्न है। वेदना तीन प्रकार की होती है—सात वेदना, असात वेदना, सातासात वेदना। प्रश्न पूछा गया—भन्ते! नैरयिक जीव क्या सात वेदना का वेदन करते हैं? असात वेदना का वेदन करते

हैं अथवा सातासात वेदना का वेदन करते हैं? उत्तर दिया गया—ये तीन ही प्रकार की वेदना का वेदन करते हैं।^५ इससे फलित होता है कि देवों में भी असात या दुःख की वेदना होती है। रत्नों को चुराकर ले जाने वाले असुरकुमारों पर सौधर्मकल्पवासी देव प्रहार करते हैं। उससे उन्हें प्रचुर दुःखद वेदना होती है। वह वेदना जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः छह मास तक रह जाती है।^६

६३. पभू णं भन्ते! असुरकुमारा देवा तत्थ गया
वेव समाणा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाईं
भोगभोगाईं भुंजमाणा विहरित्तए?
णो इण्ठे समट्ठे। ते णं ततो पडिनियत्तन्ति,

प्रभवः भदन्त! असुरकुमाराः देवाः तत्र गता-
श्वेव सन्तः ताभिः अप्सरोभिः सार्द्धं दिव्यान्
भोग्यभोगान् भुञ्जानाः विहर्तुम्?
नायमर्थः समर्थः। ते ततः प्रतिनिवर्तन्ते, ततः

६३. भन्ते! सौधर्म कल्प में गए हुए असुरकुमार देव उन
अप्सराओं के साथ दिव्य भोगार्ह भोग भोगने में समर्थ
हैं?
यह बात संगत नहीं है। वे वहां से लौट आते हैं। वहां

१. भ. जो. १/५६/२१—

जिन कहै असुरवैमानिक सुर रे, भव-प्रत्यय जे वैरो।

क्रोध करी महारूप विकुर्वे, तास डरावण केरो ॥

२. भ. वृ. ३/६०—'अहालहुसगाईं' ति 'यथे त्ति यथोचितानि लघुस्वकानि—अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि, अथा- लघूनि— महान्ति वरिष्ठानीति वृद्धाः।

३. नाया. १/६/२६।

४. नाया. १/२/३५।

५. पण्ण. ३५/८-११।

६. भ. वृ. ३/६२— एषां रत्नादातृणामसुराणां 'कायं' देहं 'प्रव्यथन्ते' प्रहारैर्मथान्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथितानां वेदना भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतः षण्मासान्! यावत्!

ततो पडिनियत्तिता इहमागच्छंति। जइ णं ताओ अच्छराओ आढायंति परियाणंति, पभू णं ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइ भोगभोगाई भुंजमाणा विहरित्तए। अह णं ताओ अच्छराओ नो आढंति, नो परियाणंति, नो णं पभू ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइ भोगभोगाई भुंजमाणा विहरित्तए। एवं खलु गोयमा! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य ॥

प्रतिनिवृत्त्य इह आगच्छन्ति। यदि ताः अप्सरसः आद्रियन्ते परिजानन्ति, प्रभवः ते असुरकुमाराः देवाः ताभिः अप्सरोभिः सार्द्धं दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानाः विहर्तुम्। अथ ताः अप्सरसः न आद्रियन्ते, न परिजानन्ति, न प्रभवः ते असुरकुमाराः देवाः ताभिः अप्सरोभिः सार्द्धं दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानाः विहर्तुम्। एवं खलु गौतम! असुरकुमाराः देवाः सौधर्मं कल्पं गताश्च गमिष्यन्ति च।

से लौट कर अपने असुरकुमार आवासों में आ जाते हैं। यदि वे अप्सराएं उनका आदर करती हैं और उन्हें स्वीकार करती हैं, तो वे असुरकुमार देव उन अप्सराओं के साथ दिव्य भोगार्ह भोग भोगने में समर्थ हैं। यदि वे अप्सराएं उनका आदर नहीं करती हैं और उन्हें स्वीकार नहीं करती हैं, तो वे असुरकुमार देव उन अप्सराओं के साथ दिव्य भोगार्ह भोग भोगने में समर्थ नहीं हैं। गौतम! इस प्रकार असुरकुमार देव सौधर्म कल्प में गए हैं और जाएंगे।

६४. केवइयकालस्स णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य? गोयमा! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं, अणंताहिं उस्सप्पिणीहिं समतिक्कंताहिं अत्थि णं एस भावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ, जं णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ॥

कियत्कालेन भदन्त! असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मं कल्पं गताश्च गमिष्यन्ति च? गौतम! अनन्ताभिः अवसर्पिणीभिः अनन्ताभिः उत्सर्पिणीभिः समतिक्रान्ताभिः अस्ति एष भावः लोके आश्चर्यकभूतः समुत्पद्यते यद् असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः।

६४. 'भन्ते! असुरकुमार देव कितने समय से ऊर्ध्वलोक में जाते हैं यावत् सौधर्म कल्प तक गए हैं और जाएंगे? गौतम! अनन्त अवसर्पिणी और अनन्त उत्सर्पिणी के व्यतीत होने पर लोक में आश्चर्यभूत यह भाव उत्पन्न होता है कि असुरकुमार देव ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६४

ठाणं में दस आश्चर्य बतलाए गए हैं।^१ उनमें असुरकुमारराज

असुरेन्द्र चमर के उत्पात का—सौधर्म कल्प में जाने का उल्लेख है। ये आश्चर्य इसलिए माने जाते हैं कि अनन्त काल से घटित होते हैं।

६५. किं निस्साए णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो? गोयमा! से जहानामए इहं सबरा इ वा बब्बरा इ वा टंकणा इ वा चुचुया इ वा पल्हा इ वा पुलिंदा इ वा एणं महं रण्णं वा गड्ढं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वयं वा नीसाए सुमहल्लमवि आसबलं वा हत्थिबलं वा जोहबलं वा धणुबलं वा आगल्लेति, एवामेव असुरकुमारा वि देवा नण्णात्थ अरहंते वा अरहंतचेत्तियाणि वाअणगारे वा भाविअप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो॥

किं निश्चित्य भदन्त! असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः? गौतम! तद् यथानाम इह शबरा इति वा, बर्बरा इति वा टंकणा इति वा चुचुका इति वा पल्हा इति वा पुलिन्दा इति वा एकं महत् अरण्यं वा गर्तं वा दुर्गं वा दरिं वा विषमं वा पर्वतं वा निश्चित्य सुमहदपि अश्वबलं वा हस्तिबलं वा योद्धबलं वा धनुर्बलं वा आकलयन्ति एवमेव असुरकुमारा अपि देवाः नान्यत्र अर्हन्तो वा अर्हन्त्वैत्यानि वा अनगारान् वा भावितात्मनः निश्चित्य ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः।

६५. 'भन्ते! असुरकुमार देव किसकी निश्चा (आश्रय) से ऊर्ध्वलोक में, यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं? गौतम! जैसे कोई शबर, बर्बर, टंकण, चुचुका, पल्हव या पुलिन्द एक महान् अरण्य, गर्त, दुर्ग, दरी, विषम अथवा पर्वत की निश्चा से एक विशाल अश्वसेना, हस्तिसेना, पदातिसेना अथवा धनुष्यबल को आन्दोलित कर देते हैं, इसी प्रकार असुरकुमार देव भी अर्हत्, अर्हत्-चैत्य अथवा भावितात्मा अणगार की निश्चा से ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं। उनकी निश्चा के बिना वे ऊर्ध्वलोक में नहीं जा सकते।

भाष्य

१. सूत्र ६५

प्रस्तुत सूत्र में निश्चा के तीन कारकों का उल्लेख है— १. अर्हत् २.

अर्हत्-चैत्य ३. भावितात्मा अनगार। अर्हत् का अर्थ है तीर्थकर अथवा अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, केवलज्ञानी। अर्हत्-चैत्य के दो अर्थ हो सकते

हैं—अर्हत् की प्रतिमा, अर्हत्-मुनि। भावितात्मा अनगर का अर्थ है—वह मुनि जिसने ज्ञान, दर्शन आदि भावनाओं से अपने आपको भावित किया है।

वृत्तिकार ने 'नन्नत्थ' पद की व्याख्या दो प्रकार से की है—ननु+अत्र अथवा न अन्यत्र। दूसरी व्याख्या के प्रसंग में वृत्ति में 'अरहंते वा निस्साए उद्धं उप्पयति' यह पाठ उल्लिखित है।^१ इससे यह प्रतीत होता है कि वृत्तिकार के सामने केवल एक ही पाठ रहा। पूरा प्रकरण महावीर से जुड़ा हुआ है। अर्हत् की प्रतिमा चमर की सुधर्मासभा में भी मानी जाती है, फिर वह महावीर की शरण लेने क्यों गया? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। चमर महावीर की शरण लेकर ही गया था, इसलिए वृत्ति में उद्धृत पाठ अधिक संगत

लगता है। आशातना के प्रसंग में 'अरहंतचेइयाणि वा' पाठ नहीं है।^२ इन आधारों पर अरहंत चेइयाणि यह पाठ आलोचनीय है।

उवासगदसाओ (१/४५) में "अण्णउत्थिय परिग्गहिइयाणि वा अरहंतचेइयाई"—यहां आलाप-संलाप और अशन-पान के दान की बात कही गई है। इसका संबंध प्रतिमा से नहीं, किसी व्यक्ति से हो सकता है। इस आधार पर प्रस्तुत प्रकरण में भी अर्हत्-चैत्य का अर्थ अर्हत्-मुनि किया जा सकता है। जयाचार्य ने इसका अर्थ छद्मस्थ तीर्थकर किया है।^३ उन्होंने इस विषय की विस्तृत समीक्षा की है।^४

६६. सव्वे वि णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो? गोयमा! णो इण्ठे समट्ठे। महिडिड्या णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो ॥

सर्वे ऽपि भदन्त! असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः? गौतम! नायमर्थः समर्थः। महर्षिकाः असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः।

६६. भन्ते! क्या सभी असुरकुमार देव ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं? गौतम! यह बात संगत नहीं है। महर्षिक असुरकुमार देव ही ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं।

चमरस्स उड्ढं उप्पाय-पदं

६७. एस वि य णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो?

हंता गोयमा! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो।

चमरस्य ऊर्ध्वोत्पाद-पदम्

एषो ऽपि च भदन्त! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः ऊर्ध्वम् उत्पतितपूर्वः यावत् सौधर्मः कल्पः?

हन्त गौतम! एषो ऽपि च चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः ऊर्ध्वम् उत्पतितपूर्वः यावत् सौधर्मः कल्पः।

चमर का ऊर्ध्व-उत्पाद-पद

६७. भन्ते! क्या यह असुरेन्द्र असुरराज चमर भी ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक गया हुआ है?

हां, गौतम! यह असुरेन्द्र असुरराज चमर भी ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक गया हुआ है।

६८. अहो णं भंते! चमरे असुरिंदे असुरराया महिडिड्ढीए महज्जुईए जाव महानुभागे। चमरस्स णं भंते! सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवानुभागे कहिं गते? कहिं अणुपविट्ठे? कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो ॥

अहो भदन्त! चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः महर्षिकः महाद्युतिकः यावन् महानुभागः। चमरस्य भदन्त! सा दिव्या देवर्षिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभागः कुत्र गतः? कुत्र अनुप्रविष्टः? कूटागारशालादृष्टान्तः भणितव्यः।

६८. अहो भंते! असुरेन्द्र असुरराज चमर महान् ऋषिवाला है, महान् द्युतिवाला है यावत् महासामर्थ्यवाला है। भन्ते! चमर की वह दिव्य देवर्षि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाग कहां गया? कहां प्रविष्ट हो गया? कूटागारशाला का दृष्टान्त वक्तव्य है।

चमरस्स पुव्वभवे पूरणगाहावइ-पदं

६९. चमरेणं भंते! असुरिंदेण असुररणा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवानुभागे किण्णा लब्धे? पत्ते? अभिसमण्णागए?

चमरस्य पूर्वभवे पूरणगृहपति-पदम्

चमरेण भदन्त! असुरेन्द्रेण असुरराजेन सा दिव्या देवर्षिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभागः कथं लब्धः? प्राप्तः? अभिसमन्वागतः?

चमर का पूर्वभव में पूरण गृहपति का पद

६९. भन्ते! असुरेन्द्र असुरराज चमर ने वह दिव्य देवर्षि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाग किस हेतु से उपलब्ध किया? किस हेतु से प्राप्त किया? और किस हेतु से अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) किया?

१००. एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे बिंझगिरिपायमूले बेभेले नामं सण्णिवेसे होत्था—वण्णओ ॥

एवं खलु गौतम! तस्मिन् काले तस्मिन् समये इहेव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारतवर्षे विन्ध्यगिरि-पादमूले वेभेलः नाम सन्निवेशः आसीद्—वर्णकः।

१००. गौतम! उस काल और उस समय इसी जम्बूद्वीप द्वीप के भारतवर्ष में विन्ध्यपर्वत की तलहटी में वेभेल नामक सन्निवेश था। सन्निवेश का वर्णन।

१. भ. वृ. ३/६५—'नण्णत्थत्ति' 'ननु' निश्चितम् 'अत्र' इहलोके, अथवा 'अरहंते वा निस्साए उद्धं उप्पयति' 'नान्यत्र' तन्निश्चयादन्यत्र न, न तां विनेत्यर्थः।

२. भ. ३/११५

३. भ. जो. १, ५६/३६—

केवलज्ञान-सहित, ते अरिहंत पहिलो शरण।

छद्मस्थ-जिन संगीत, चैत्य सामान्यज्ञानी तिको ॥

४. (क) भ. जो. १, ५६/३७-४२।

(ख) प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, १० वां चमर अधिकार।

भाष्य

१. विन्ध्यपर्वत

विन्ध्यपर्वत वर्तमान मध्यप्रदेश दक्षिणापथ की सीमा पर स्थित है।

२. बेभेल सन्निवेश

अन्वेषणीय है।

१०१. तत्थ णं बेभेले सण्णिवेसे पूरणे नामं गाहावई परिवसइ—अड्ढे दित्ते जाव बहु-जणस्स अपरिभूए या वि होत्था ॥

तत्र बेभेले सन्निवेशे पूरणो नाम गाहापतिः परिवसति—आढ्यः दीप्तः यावद् बहुजनस्य अपरिभूतश्चापि आसीत्।

१०१. उस बेभेल सन्निवेश में पूरण नामक गृहपति रहता था। वह समृद्ध, तेजस्वी यावत् अनेक लोगों द्वारा अपरिभूत था

पूरणस्स दाणामा पदज्जा-पदं

१०२. तए णं तस्स पूरणस्स गाहावइस्स अपणया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुटुंब-जागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंत्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—अत्थि ता मे पुरापोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफलवित्तिविसेसे, जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धण्णेणं वड्ढामि, धण्णेणं वड्ढामि, पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, विपुलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालरत्तरय-ण-संत-सारसावएज्जेणं अतीव-अतीव अभि-वड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं जाव कडाणं कम्माणं एगंतसो खयं उवेहमाणे विहरामि?

पूरणस्य दानमयी प्रव्रज्या-पदम्

ततः तस्य पूरणस्य गृहपतेः अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापरारात्रकालसमये कुटुम्बजागरिकां जाग्रतः अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—अस्ति तावन् मम पुरा पुराणानां सुवीर्णानां सुपराक्रान्तानां शुभानां कल्याणानां कृतानां कर्मणां कल्याणफलवृत्तिविशेषः, येनाहं हिरण्येन वद्धे, सुवर्णेन वद्धे, धनेन वद्धे धान्येन वद्धे, पुत्रैः वद्धे, पशुभिः वद्धे, विपुलधन-कनक-रत्न-मणि-मौक्तिक-शंख-शिला-प्रवाल-रत्तरत्न-सत्सारस्वापतेयेन अतीव-अतीव अभिवद्धे, तत् किम् अहं पुरा पुराणानां सुवीर्णानां यावत् कृतानां कर्मणां एकान्तशः क्षयम् उपेक्षमाणः विहरामि?

पूरण की दानामा प्रव्रज्या का पद

१०२. किसी समय मध्यरात्रि में कुटुम्बजागरिका करते हुए उस पूरण गृहपति के यह इस प्रकार का आध्यात्मिक स्मृत्यात्मक अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—इस समय मेरे पूर्वकृत पुरातन सुआचरित, सुपराक्रान्त, शुभ और कल्याणकारी कर्मों का कल्याण-दायी फल मिल रहा है, जिससे मैं चांदी, सोना, धन, धान्य, पुत्र, पशु तथा विपुल वैभव—रत्न, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल, लालरत्न (पद्मरागमणि) और श्रेष्ठ सार-वैभवशाली द्रव्यों से अतीव-अतीव वृद्धि कर रहा हूँ, तो क्या मैं पूर्वकृत पुरातन सुआचरित, सुपराक्रान्त, शुभ और कल्याणकारी कर्म एकान्ततः क्षीण हो रहे हैं और मैं उन्हें देखता जा रहा हूँ?

तं जावताव अहं हिरण्णेणं वड्ढामि जाव अतीव-अतीव अभिवड्ढामि जाव च मे मित्त-नाति-नियग-सयण-संबंधि-परियणो आढाति परियाणाइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं विणएणं चेइयं पजजुवासइ, तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहगं करेत्ता, विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेत्ता, मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं आमतेत्ता, तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-गंध-मल्लालंकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता, तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि परि-यणस्स पुरओ जेड्ढपुत्तं कुटुंबे ठावेत्ता, तं मित्त-नाइ-नियग-सयण-संबंधि-परियणं जेड्ढ-पुत्तं च आपुच्छित्ता, सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहगं गहाय मुंडे भवित्ता दाणामाए

तद् यावत् तावद् अहं हिरण्येन वर्धे यावद् अतीव-अतीव अभिवर्धे, यावच्च मे मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनः आद्रियते परिजान्नाति सत्कारोति सम्मानयति कल्याणं मंगलं दैवतं विनयेन चैत्थं पर्युपास्ते, तावत् मे श्रेयः कल्यं प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूरे सहस्ररश्मौ दिनकरे तेजसा ज्वलति स्वयमेव चतुष्पुटकं दारुमयं प्रतिग्रहकं कृत्वा विपुलं अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यम् उपस्कार्य, मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनम् आमन्त्र्य, तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनं विपुलेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-गन्ध-माल्यालंकारेण च सत्कृत्य सम्मान्य, तस्यैव मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनस्य पुरतः ज्येष्ठपुत्रं च कुटुम्बे स्थापयित्वा, तं मित्र-ज्ञाति-निजक-स्वजन-संबंधि-परिजनं ज्येष्ठपुत्रं च आपृच्छ्य, स्वयमेव चतुष्पुटकं दारुमयं प्रतिग्रहकं गृहीत्वा मुण्डो भूत्वा दानमय्या प्रव्रज्या प्रव्रजितुम्।

इसलिए जब तक मैं चांदी से वृद्धि कर रहा हूँ यावत् इन वैभवशाली द्रव्यों से अतीव-अतीव वृद्धि कर रहा हूँ और जब तक मेरे मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी और परिजन मेरा आदर करते हैं, मुझे स्वामी के रूप में स्वीकारते हैं, सत्कार-सम्मान देते हैं, कल्याणकारी, मंगलकारी, देवरूप और चित्ताह्लादक मानकर विनयपूर्वक पर्युपासना करते हैं तब तक मेरे लिए यह श्रेय है कि मैं कल उषाकाल में पौ फटने पर यावत् सहस्ररश्मि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर मैं स्वयं चतुष्पुट काष्ठमय पात्र का निर्माण कर, विपुल भोजन, पेय, स्वाद्य और खाद्य पदार्थ तैयार करवा कर मित्र, ज्ञाति, कुटुम्बी, स्वजन, संबंधी और परिजनों को आमन्त्रित कर उन्हें विपुल भोजन, पेय, खाद्य, और स्वाद्य पदार्थों से तथा वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला और अलंकारों से सत्कृत-सम्मानित कर उन्हीं मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों और परिजनों के सामने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित कर, उन मित्रों, ज्ञातियों, कुटुम्बीजनों, स्वजनों, संबंधियों, परिजनों और ज्येष्ठ

पव्वज्जाए पव्वइत्तए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयाख्वं अभिग्गहं अभिगिण्हिहस्सामि— कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अण्णिविखत्तेणं तवोकम्मिणं उड्ढं बाहाओ पण्णिज्झय-पण्णिज्झय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीओ पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहणं गहाय वेभेले सण्णिवेसे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ता जं मे पढमे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं पंथे पहियाणं दलइत्तए। जं मे दोच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं काग-सुणयाणं दलइत्तए। जं मे तच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं मच्छ-कच्छभाणं दलइत्तए। जं मे चउत्थे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं अण्णया आहारं आहारेत्तए— ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता कल्लं पाउण्णयाथाए रयणीए तं चेव निरवसेसं जाव जं से चउत्थे पुडए पडइ, तं अण्णया आहारं आहारेइ ॥

प्रव्रजितोऽपि सन् इममेतद्रूपम् अभिग्रहम् अभिग्रह्निष्यामि—कल्पते मे यावज्जीवं षष्ठ-षष्टेन अनिक्षिप्तेन तपःकर्मणा ऊर्ध्वं बाहून् प्रगृह्य-प्रगृह्य सूर्याभिमुखस्य आतापनभूम्याम् आतपतः विहर्तुम्। षष्ठस्यापि च पारणे आतापनभूम्याः प्रत्यवरुह्य स्वयमेव चतुष्पुटकं दारुमयं प्रतिग्रहकं गृहीत्वा वेभेले सन्निवेशे उच्च-नीच-मध्यमानि कुलानि गृहसमुदानस्य भिक्षाचर्याया अटित्वा यन् मे प्रथमे पुटके पतति, कल्पते मे तत् पथि पथिकेभ्यः दातुम्। यन् मे द्वितीय पुटके पतति, कल्पते मे तत् काक-शुनकेभ्यः दातुम्। यन् मे तृतीये पुटके पतति, कल्पते मे तन् मत्स्य-कच्छपेभ्यः दातुम्। यन् मे चतुर्थे पुटके पतति, कल्पते मे तद् आत्मना आहारम् आहर्तुम्—इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य कल्प्यं प्रादुष्प्रभातायां रज्यां तच्चैव निरवशेषं यावद् यत् तस्य चतुर्थे पुटके पतति, तद् आत्माना आहारम् आहरति।

पुत्र को पूछकर स्वयं चतुष्पुट काष्ठमय पात्र ग्रहण कर, मुण्ड हो कर दानामा' प्रव्रज्या से प्रव्रजित होना मेरे लिए श्रेयस्कर है। प्रव्रजित हो कर मैं इस आकार वाला यह अभिग्रह स्वीकार करूंगा—मैं जीवन भर निरन्तर वेले-वेले (दो-दो दिन के उपवास) की तपःसाधना करूंगा। मैं आतापना-भूमि में दोनों भुजाएं ऊपर उठा कर सूर्य के सामने आतापना लेता हुआ विहार करूंगा। वेले के पारणे में मैं आतापना-भूमि में उतर कर स्वयं चतुष्पुट काष्ठमय पात्र ग्रहण कर वेभेल सन्निवेश के ऊंच, नीच और मध्यम कुलों में सामुदानिक भिक्षाचारी के लिए पर्यटन करूंगा। मेरे पात्र के प्रथम पुट में जो भिक्षा डाली जाएगी वह मार्ग में समागत पथिकों को दूंगा। मेरे पात्र के दूसरे पुट में जो भिक्षा डाली जाएगी वह मैं कौवों और कुत्तों को दूंगा। जो मेरे पात्र के तीसरे पुट में डाली जाएगी वह मछलियों और कछुओं को दूंगा। मेरे पात्र के चौथे पुट में जो डाली जाएगी वह आहार मेरे लिए कल्पनीय होगा। इस प्रकार सोच कर वह संप्रेक्षा करता है, संप्रेक्षा कर उषाकाल में रात्रि के पौ फटने पर उस सम्पूर्ण पूर्वोक्त विधि का पालन करता हुआ यावत् उसके पात्र के चौथे पुट में जो भिक्षा डाली जाती है, उसका वह स्वयं आहार करता है।

भाष्य

१. दानामा

गृहपति पूरण द्वारा स्वीकृत प्रव्रज्या। इसमें दान और आहार की विशेष विधि निर्दिष्ट है। दानामा प्रव्रज्या स्वीकार करने वाला चार पुट वाला काष्ठ-पात्र अपने पास रखता है। पहले पुट में जो भिक्षा डालता है, उसे वह

पथिकों को दे देता है। दूसरे पुट में डाली जाने वाली भिक्षा को वह कौवों और कुत्तों को दे देता है। तीसरे पुट में डाली जाने वाली भिक्षा को वह मत्स्य आदि जन्तुओं को देता है। चौथे पुट में डाली जाने वाली भिक्षा को वह स्वयं खाता है।

१०३. तए णं से पूरणे बालतवस्सी तेणं ओरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिण्णं बालतवोकम्मिणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्टि-चम्मावणद्धे किट्टिकिडियाभूए किसे धम्मणिंसंतए जाए यावि होत्था ॥

ततः सः पूरणः बालतपस्वी तेन 'ओरालेणं' विपुलेन प्रदत्तेन प्रगृहीतेन बालतपःकर्मणा शुष्कः रूक्षः निर्मासः अस्थि-चर्मावनद्धः किट्टि-किट्टिकाभूतः कृशः धमनिंसन्ततः जातश्चापि आसीत्।

१०३. वह बालतपस्वी पूरण उस प्रधान, विपुल अनुज्ञात और प्रगृहीत बालतपः कर्म से सूखा, रूखा, मांस-रहित चर्म से वेष्टित अस्थि वाला, उठते-बैठते समय किट्टि-किट्टि शब्द से युक्त, कृश और धमनियों का जालमात्र हो गया।

पूरणस्स पाओवगमण-पदं

१०४. तए णं तस्स पूरणस्स बालतवस्सिस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अण्णिच्चजागरियं जग्गमाणस्स इमेयाख्वे अञ्जत्थिए चित्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुण्णज्जत्था— एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिण्ण कल्लाणेणं सिवेणं

पूरणस्य प्रायोपगमन-पदम्

ततस्तस्य पूरणस्य बालतपस्विनः अन्यदा कदाचित् पूर्वरात्रापरात्रकालसमये अनित्य-जागरिकं जाग्रतः अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुद-पादि— एवं खलु अहम् अनेन 'ओरालेणं' विपुलेन प्रदत्तेन प्रगृहीतेन कल्याणेन शिवेन

पूरण का प्रायोपगमन-पद

१०४. किसी एक दिन मध्यरात्रि में अनित्य-जागरिक करते हुए उस बाल तपस्वी पूरण के मन में यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—मैं इस विशिष्ट रूप वाले प्रधान, विपुल, अनुज्ञात, प्रगृहीत, कल्याण, शिव, धन्य, मंगलमय, शोभायित, उत्तरोत्तर वर्धमान, उदात्त,

धनेणं मंगल्लेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उतमेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव धमणिंसंतए जाए, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते वेभेलस्स सण्णिवेसस्स दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छित्ता बेभेलस्स सण्णिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छित्ता, पादुग-कुंडिय-मादीयं उवगरणं चउप्पुडयं दारुमयं च पडिग्गहगं एंगते एडित्ता, बेभेलस्स सण्णिवेसस्स दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे अद्धनियत्तणिय-मंडलं आलिहित्ता संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स भत्तपाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं सपेहेइ, सपेहेत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते बेभेले सण्णिवेसे दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छइ, आपुच्छित्ता बेभेलस्स सण्णिवेसस्स मज्झं-मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता पादुग-कुंडिय-मादीयं उवगरणं दारुमयं च पडिग्गहगं एंगते एडेइ, एडित्ता बेभेलस्स सण्णिवेसस्स दाहिण-पुरत्थिमे दिसीभागे अद्धनियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणा-झूसणा-झूसिए भत्तपाण-पडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे ॥

धनेण मंगल्लेण सश्रीकेण उदग्गेण उदातेण उतमेण महानुभागेण तपःकर्मणा शुष्कः रुक्षः यावद् धमनिंसन्ततः जातः तद् अस्ति यावन् मे उत्थानं कर्म बलं वीर्यं पुरुषकार-पराक्रमः तावन् मे श्रेयः कल्पं प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मौ दिनकरे तेजसा ज्वलति बेभेलस्य सन्निवेशस्य दृष्टाभाषितान् च पाषण्डस्थान् च गृहस्थान् च पूर्वसांगतिकान् च पर्यायसांगतिकान् च आपृच्छ्य वेभेलस्य सन्निवेशस्य मध्यममध्येन निर्गम्य पादुका-कुण्डिकादिकम् उपकरणं चतुष्पुटकं दारुमयं च प्रतिग्रहकम् एकान्ते एडयित्वा बेभेलस्य सन्निवेशस्य दक्षिण-पौरस्त्ये दिग्भागे अर्द्ध-निवर्तनिक-मण्डलम् आलिख्य संलेखना-जोषणा-जूषितस्य प्रत्याख्यात-भक्तपानस्य प्रायोपगतस्य कालम् अनवकांक्षतः विहर्तुम् इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य कल्पं प्रादुष्प्रभातायां रजन्यां यावद् उत्थिते सूर्ये सहस्ररश्मौ दिनकरे तेजसा ज्वलति बेभेले सन्निवेशे दृष्टाभाषितान् च पाषण्डस्थान् च गृहस्थान् च पूर्वसांगतिकान् च पर्यायसांगतिकांश्च आपृच्छति, आपृच्छ्य वेभेलस्य सन्निवेशस्य मध्यममध्येन निर्गच्छति, निर्गम्य पादुका-कुण्डिकादिकम् उपकरणं चतुष्पुटकं दारुमयं च प्रतिग्रहकम् एकान्ते एडयति, एडयित्वा बेभेलस्य सन्निवेशस्य दक्षिण-पौरस्त्ये दिग्भागे अर्द्धनिवर्तनिकमण्डलम् आलिख्य संलेखना-जोषणा-जूषितः प्रत्याख्यात-भक्त-पानः प्रायोपगमनं निपन्नः ॥

उत्तम और महान् प्रभावी तपःकर्म से सूखा, रूखा, यावत् धमनियों का जालमात्र हो गया हूँ। अतः जब तक मुझमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-कार-पराक्रम है, तब तक मेरे लिए यह श्रेयस्कर है कि मैं कल उषाकाल में पौ फटने पर यावत् सहस्ररश्मि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर बेभेल सन्निवेश में जिन्हें देखा है, जिनके साथ बातचीत की है, उन पाषण्डस्थों (श्रमणों), गृहस्थों, तापस जीवन की स्वीकृति से पूर्व परिचितों तथा तापस जीवन में परिचितों को पूछ कर बेभेल सन्निवेश के मध्यभाग से गुजर कर पादुका, कमण्डलु आदि उपकरण तथा चतुष्पुटक काष्ठमय पात्र को एकान्त में छोड़ कर बेभेल सन्निवेश के दक्षिण-पूर्व दिग्बिभाग (आग्नेयकोण) में अर्ध निवर्तनिक मण्डल का आलेखन कर संलेखना (अनशन से पूर्वकालिक तपस्या) की आराधना से युक्त हो कर, भोजन-पानी का त्याग कर प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ रहूँ, ऐसी संप्रेक्षा करता है, संप्रेक्षा कर दूसरे दिन उषाकाल में पौ फटने पर यावत् सहस्ररश्मि दिनकर सूर्य के उदित और तेज से देदीप्यमान होने पर बेभेल सन्निवेश में जिन्हें देखा है, जिनके साथ बातचीत की है, उन पाषण्डस्थों (श्रमणों) और गृहस्थों, तापस जीवन की स्वीकृति से पूर्व परिचितों और तापस जीवन में परिचितों को पूछता है, पूछ कर बेभेल सन्निवेश के मध्यभाग से निर्गमन करता है, निर्गमन कर वह पादुका, कमण्डलु आदि उपकरण और चतुष्पुटक काष्ठमय पात्र को एकान्त स्थान में छोड़ देता है, छोड़ कर वेभेल सन्निवेश के दक्षिण-पूर्व दिग्बिभाग में अर्धनिवर्तनिक मण्डल का आलेखन करता है, आलेखन कर वह संलेखना-आराधना से युक्त हो कर भोजन-पानी का प्रत्याख्यान कर प्रायोपगमन अनशन में उपस्थित हो गया।

भगवओ एगराइया महापडिमा-पदं

१०५. तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गीयमा! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं-छट्ठेणं अणिकिखत्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुत्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोयसंडे उज्जाणे जेणेव असो-यवरपायवे जेणेव पुढवीसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढवीसिलावट्टयंसि अट्टमभत्तं पणिण्हामि, दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गल-निविट्टदिट्ठी अणिमिसणयणे ईसिपम्भारगएणं

भगवतः एकरात्रिकी महाप्रतिमा-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये अहं गीतम! छद्मस्थकालिके एकादशवर्षपर्याये षष्ठ-षष्ठेन अर्धनिवर्तनेन तपःकर्मणा संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् पूर्वानुपूर्वीं चरन् ग्रामानुग्रामं द्रवन् यत्रैव सुंसुमारपुरं नगरं, यत्रैव अशोक-षण्डम् उद्यानं, यत्रैव अशोकवरपादपः यत्रैव पृथिवीशिलापट्टकः तत्रैव उपागच्छामि, उपागम्य अशोकवरपादपस्य अधः पृथिवीशिलापट्टके अष्टमभक्तं प्रगृह्णामि, द्वावपि पादौ संहृत्य 'वग्घारिय'पाणिः एकपुद्गलनिविष्टदृष्टिः अनिमिषनयनः इषट्प्राग्भारगतेन कायेन यथा-

भगवान की एकरात्रिकी महाप्रतिमा का पद

१०५. 'गीतम! उस काल और उस समय मैं छद्म-स्थ-अवस्था की ग्यारह वर्षीय दीक्षा-पर्याय में था। तब मैं बिना विराम षष्ठ-भक्त तपःकर्म, संयम और तप से आत्मा को भावित करता हुआ क्रमानुसार विचरण, ग्रामानुग्राम में परिव्रजन करता हुआ जहाँ सुंसुमारपुर, अशोकषण्ड उद्यान, प्रवर अशोक वृक्ष और पृथ्वी-शिलापट्ट हैं, वहाँ आता हूँ। वहाँ आ कर मैं प्रवर अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिलापट्ट पर तीन दिन का उपवास ग्रहण करता हूँ। दोनों पैरों को सटा, दोनों हाथों को प्रलम्बित कर, एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाने, नेत्रों को अनिमेश बना', मुंह आगे की ओर झुका,

काएणं, अहापणिहिएहिं गत्तेहिं, सव्विदिएहिं
गुत्तेहिं एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जेत्ता णं
विहरामि ॥

प्रणिहितैः गात्रैः सर्वेन्द्रियैः गुप्तैः एकरात्रिकीं
महाप्रतिमाम् उपसंपद्य विहरामि।

अवयवों को अपने-अपने स्थान पर सम्यक् नियोजित
कर, सब इन्द्रियों को संवृत बना एक रात की
महाप्रतिमा को स्वीकार कर विहरण करता हूँ।

भाष्य

१. सूत्र १०५

प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महावीर द्वारा स्वीकृत महाप्रतिमा का उल्लेख

है। अंतगडदसाओ में भी एक रात्रि की महाप्रतिमा का उल्लेख मिलता है। भिक्षु
की बारह प्रतिमाओं में अहोरात्रि की बारहवीं प्रतिमा है। इससे महाप्रतिमा की
तुलना होती है।

महाप्रतिमा	एक रात्रि की महाप्रतिमा	भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा
भगवती, ३/१०५—दोवि पाए साहट्टु वग्घारिय- पाणी एगपोगलनिविट्टदिट्ठी अणिमिसणयणे ईसि- पब्भारगएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं।	अंतगडदसाओ, ३/८/८८—ईसिं पब्भा- रगएणं काएणं वग्घारियपाणी..... दोवि पाए साहट्टु अणिमिसणयणे सुक्कपोगलनिरु- द्धदिट्ठी।	दसाओ, ७/३३—दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स एगपोगलनिरुद्ध-दिट्ठिस्स अणिमिसणयणस्स ईसिं पब्भारगएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं।

भगवान् महावीर ने तेले (तीन दिन के उपवास) में एकरात्रिकी
महाप्रतिमा स्वीकार की थी। मुनि गजसुकुमाल ने दीक्षा के प्रथम दिन महाकाल
शमशान में एकरात्रिकी महाप्रतिमा स्वीकार की थी। दसाओ में 'महाप्रतिमा'
नाम निर्दिष्ट नहीं है। वहां एकरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा का निर्देश है। वह भी तेले
में स्वीकार की जाती है। ऊपर की तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि
एकरात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा और एकरात्रिकी महाप्रतिमा दोनों में केवल नाम-भेद
है, स्वरूप-भेद नहीं है।

सकता है। नासाग्र या भृकुटि पर दृष्टि को अनिमेष करना ध्यान का महत्त्वपूर्ण
प्रयोग है। आचार्य हेमचन्द्र ने नासाग्र पर अनिमेष दृष्टि को जिनेन्द्र-मुद्रा का
एक लक्षण माना है।^१ भृकुटि पर अनिमेष दृष्टि टिकाने को शम्भवी मुद्रा कहा
जाता है।^२

शब्द-विमर्श

अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास।

वग्घारिय—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है प्रलम्बित। इस अर्थ
में 'वाघारि' और 'वाघारिय' शब्द भी मिलते हैं।^३

प्राग्भार—अगला भाग, शिखर।^४ वृत्तिकार ने इसका अर्थ
अग्रतोमुख यानी अवनतत्व किया है।^५

यथाप्रणिहित—यथास्थान में नियोजित।

२. एक पुद्गल पर दृष्टि टिका, नेत्रों को अनिमेष बना—

दृष्टि को निश्चल बनाना और उसे किसी एक पुद्गल पर निविष्ट
करना इसे जैन ध्यान-पद्धति में 'अनिमेष प्रेक्षा' कहा जाता है। भगवान् महावीर
इसका बहुत प्रयोग करते थे।^६ तन्त्रशास्त्र और हठयोग में इसे त्राटक कहा
जाता है। यहां पुद्गल का अर्थ अपने शरीर का अवयव या वाहरी वस्तु हो

पूरणस्स चमरत्त-पदं

१०६. तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरचंचा
रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया या वि होत्था॥

१०७. तए णं से पूरणे बालतवस्सी बहुपडि-
पुण्णाईं दुवालसवासाईं परियायं पाउणित्ता,
मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता, सट्ठिं

पूरणस्य चमरत्व-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये चमरचञ्चा
राजधानी अनिन्द्रा अपुरोहिता चापि आसीत्।

ततः स पूरणः बाल-तपस्वी बहुप्रतिपूर्णानि
द्वादशवर्षाणि पर्यायं प्राप्य मासिक्या संलेखनया
आत्मानं जोषयित्वा, षट्तिं भक्तानि अनशनैः

पूरण का चमरत्व-पद

१०६. उस काल और उस समय चमरचञ्चा राजधानी
इन्द्र और पुरोहित से रिक्त थी।

१०७. वह बालतपस्वी पूरण पूरे बारह वर्ष के तापस
पर्याय का फलन कर एक मासकी संलेखना से अपने
आपको कृश बना कर, अनशन के द्वारा साठ भक्तों

१. आयारो, ६/१/५।

२. अयोगव्यवच्छेदिका, २०—

वपुश्च पर्यङ्कशयं श्लथं च, दृशीं च नासानियते स्थिरे च।

न शिथितयं परतीर्थनाथैः, जिनेन्द्र! मुद्रापि तत्रान्यदास्ताम् ॥

३. धेरण्डसंहिता, ३/६४—

नेत्राश्रनं समालोक्य, आत्मारामं निरीक्षयेत्।

सा भवेच्छाम्भवीमुद्रा, सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

४. देशीशब्दकोष।

५. आटे प्राग्भार—the front part, fore part, top or summit of a mountain.

६. भ. वृ. ३/१०५—प्राग्भारः—अग्रतोमुखमवनतत्वम्।

भत्ताई अणसणाए छेदेत्ता, कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए जाव ईदत्ताए उववण्णे ॥

१०८. तए णं से चमरे असुरिदे असुरराया अहुणोववण्णे पंचविहाए पज्जतीए पज्जत्तिभावं गच्छइ, (तं जहा—आहारपज्जतीए जाव भास-मणपज्जतीए) ॥

चमरस्स कोव-पदं

१०६. तए णं से चमरे असुरिदे असुरराया पंच-विहाए पज्जतीए पज्जत्तिभावं गए समाणे उड्डं वीससाए ओहिणा आभोएइ जाव सोहम्मो कप्पो, पासइ य तत्थ—

सक्कं देविदं देवरायं,
मघवं पाकसासणं ।
सयक्कतुं सहस्सक्खं,
वज्जपाणिं पुरंदरं ॥

दाहिण्डल्लोगाहिवई बत्तीसविमाणसयस-हस्साहिवई एरावणवाहणं सुरिदं अरयंबर-वत्थधरं आलइयमालमउडं नव-हेम-चारु-चित्त-चंचल-कुंडल-विहिज्जमाणगंडं भासुर-बौदिं पलंबवणमालं दिव्वेणं वण्णेणं जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं सोहम्मो कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि जाव दिव्वाइ भोगभोगाई भुंजमाणं पासइ, पासित्ता इमयारुवे अज्ज-त्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्प-ज्जित्था—केस णं एस अपत्थिपत्थए दुरंत-पंतलक्खणे हिरिसिरिपरिवज्जिए हीणपुण्ण-चाउहसे जं णं ममं इमाए एयारुवाए दिव्वाए देविड्डीए दिव्वाए देवज्जुतीए दिव्वे देवानुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए उयिं अप्पुस्सुए दिव्वाइ भोगभोगाई भुंजमाणे विहरइ— एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता सामाणियपरिसोववण्णए देवे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—केस णं एस देवानुप्पिया! अपत्थियपत्थए जाव दिव्वाइ भोगभोगाई भुंजमाणे विहरइ?

छित्त्वा, कालमासे कालं कृत्वा चमरचञ्चायाः राजधान्याः उपपातसभायां यावद् इन्द्रत्वेन उपपन्नः।

ततः स चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः अधुनो-पपन्नः पञ्चविधया पर्याप्त्या पर्याप्तिभावं गच्छति, (तद् यथा—आहारपर्याप्त्या यावद् भाषा-मनःपर्याप्त्या)।

चमरस्य कोप-पदम्

ततः सः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः पञ्च-विधया पर्याप्त्या पर्याप्तिभावं गतः सन् ऊर्ध्वं विस्त्रया अवाधिना आभोगयति यावत् सौधर्मः कल्पः पश्यति च तत्र—

शक्रं देवेन्द्रं देवराजं,
मघवं पाकशासनम् ।
शतक्रतुं सहस्राक्षं,
वज्रपाणिं पुरंदरम् ॥

दक्षिणार्धलोकधिपतिं द्वात्रिंशत्शतसहस्र-विमानाधिपतिम् ऐरावणवाहनं सुरेन्द्रम् अर-जोऽम्बरवस्त्रधरम् आलगितमालमुकुटं नव-हेम-चारुचित्र-चंचल-कुण्डल-विलिख्यमानगण्डं भासुरबौदिं प्रलम्बवनमालं दिव्येन वर्णेन यावद् दशदिशः उद्योतयन्त प्रभासयन्तं सौधर्मं कल्पे सौधर्मावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां शक्रे सिंहासने यावद् दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानं पश्यति, दृष्ट्वा अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः, चिन्तितः, प्रार्थितः, मनोगतः संकल्पः, समुद-पादि—कः एष अप्राथितप्रार्थिकः दुरन्तप्रान्त-लक्षणः स्त्रीश्रीपरिवर्जितः हीनपुण्यचातुर्दशः, यन् मम अस्याम् एतद्रूपायां दिव्यायां देवर्द्धीं दिव्यायां देवद्युतीं दिव्ये देवानुभावे लब्धे प्राप्ते अभिसमन्वागते उपरि अल्पोत्सुकः दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहरति—एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य सामानिकपरिषदुपपन्नकान् देवान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—कः स एष देवानुप्रियाः। अप्रार्थितप्रार्थकः यावद् दिव्यान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहरति ?

को छेद कर कालमास में काल को प्राप्त कर चमरचञ्चा राजधानी की उपपात सभा में यावत् इन्द्र रूप में उपपन्न हो गया।

१०८. वह तत्काल उपपन्न असुरराज असुरेन्द्र चमर पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त होता है (जैसे—आहार पर्याप्ति से यावत् भाषा-मनः पर्याप्ति से)।

चमर का कोप-पद

१०६. वह असुरेन्द्र असुरराज चमर पांच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त हो, स्वाभाविक अवधिज्ञान द्वारा ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक ध्यान देता है। वहां वह देखता है—देवेन्द्र देवराज मघवा पाकशासन शतक्रतु सहस्राक्ष वज्रपाणि पुरन्दर शक्र को।

दक्षिणार्धलोक का अधिपति, बत्तीस लाख विमानों का अधिपति, ऐरावण हाथी की सवारी करने वाला, देवताओं का स्वामी, आकाश के समान निर्मल-वस्त्र धारण करने वाला,^१ मुकुट तक माला धारण करने वाला, नए स्वर्णिम सुन्दर चित्रों से युक्त चंचल कुण्डलों से रेखाङ्कित कपोल वाला, दीप्तिमान् शरीर वाला, प्रलम्ब वनमाला धारण करने वाला, दिव्य वर्ण से यावत् दसों दिशाओं का उद्योतित करने वाला, प्रभासित करने वाला है। उसे सौधर्म कल्प में सौधर्मावतंसक विमान में सुधर्मा सभा के शक्र नामक सिंहासन पर यावत् दिव्य भोगार्ह भोगों को भोगते हुए देखता है, देख कर असुरेन्द्र चमर के यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—कौन है यह अप्रार्थनीय को चाहने वाला, दुःखद अन्त और अमनोज्ञ लक्षणवाला, लज्जा और शोभा से रहित, हीनपुण्य-चातुर्दशी को जन्मा हुआ जो ऐसी विशिष्ट प्रकार की दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव उपलब्ध करने, प्राप्त करने, अभि-समन्वागत (विपाकाभिमुख) करने पर भी मेरे सिर पर बैठा हुआ, बड़े धैर्य के साथ दिव्य भोगार्ह भोग भोगता हुआ रहता है। ऐसा सोचता है, सोच कर सामानिक परिषद् में उपपन्न देवों को आमन्त्रित करता है, आमन्त्रित कर इस प्रकार बोला—हे देवानुप्रियो! यह कौन है अप्रार्थनीय को चाहने वाला यावत् दिव्य भोगार्ह भोग भोगता हुआ रहता है ?

भाष्य

१. स्वाभाविक

वीससा— (विस्सा)— स्वभाव! संस्कृत शब्द-कोश में यह वृद्धावस्था के अर्थ में मिलता है। आगम के व्याख्या-साहित्य में विस्सा का अर्थ 'स्वभाव' और वैज्ञानिक का अर्थ 'स्वाभाविक' प्राप्त है।

२. मघवा... पुरन्दर

एक श्लोक में इन्द्र के नौ पर्यायवाची नाम दिए गए हैं। वृत्ति में कुछ शब्दों के निरुक्त प्राप्त हैं। वे अन्यत्र प्राप्त निरुक्तों से भिन्न हैं।

वृत्तिकार ने दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि का आधार लिया है। द्रष्टव्य निरुक्त कोश, वे वे शब्द।

भगवती वृत्ति	अन्य निरुक्त
मघवा—मघा महामेघास्ते यस्य वशे सन्त्यसौ मघवा।	मघवा—धनवान्, हविष्मान् (सायणभाष्ये) —मघते पूज्यते इति मघवान् (शब्दकल्पद्रुमे)
पाकशासनः—पाको नाम बलवान् रिपुस्तं यः शारित—निराकरोत्यसौ पाकशासनः।	पाकशासनः—पाकं तन्नामकं दैत्यं शारित (वाचस्पतिकोश)
शतक्रतुः—शतं क्रतुनां—प्रतिमानामभिग्रहविशेषाणां श्रमणोपासकपञ्चमप्रति- मारूपाणां वा कार्तिकश्रेष्ठिभवापेक्षया यस्यासौ शतक्रतुः।	शतक्रतुः—शतकर्मा (सायणभाष्ये) —शतं क्रतवो (यज्ञाः) यस्य (वाचस्पतिकोश)
सहस्राक्षः—सहस्रमक्षणां यस्यासौ सहस्राक्षः। इन्द्रस्य किल मन्त्रिणां पञ्च- शतानि सन्ति। तदीयानां चाक्षणाभिन्नेप्रयोजनव्यापृततयेन्द्रसम्बन्धित्वेन विवक्षणात्तस्य सहस्राक्षत्वमिति।	सहस्राक्षः—अनन्तज्वालः—(सायणभाष्ये) —सहस्रम् अक्षीणि यस्य सः (वाचस्पतिकोश)
पुरन्दरः—असुरादिपुराणां दारणात् पुरन्दरः।	पुरन्दरः—शत्रूणां पुरां दारयिता (सायणभाष्ये) —शत्रूणां पुरः दारयति—नाशयति (वाचस्पतिकोश)

३. निर्मल वस्त्र धारण करने वाला

अरयंबरवत्थधर—'अरज' का अर्थ है—निर्मल। यहां 'अम्बर' का अर्थ है 'आकाश'। ये दोनों वस्त्र के विशेषण हैं। इसका अर्थ है 'निर्मल और स्वच्छता के कारण आकाश तुल्य वस्त्र धारण करने वाला'। यह वृत्ति की व्याख्या है। पहला विशेषण अरजस् है। फिर स्वच्छता की दृष्टि से आकाश तुल्य बतलाने की अपेक्षा क्या है? इसलिए अम्बर का अर्थ 'आकाश की भांति नील आभा वाला' अथवा 'आकाश की भांति सूक्ष्मता के कारण अदृश्य' किया जा सकता है।

को स्वीकृत करने पर प्रस्तुत वाक्यांश का अनुवाद इस प्रकार हो सकता है—“हीनपुण्य राक्षस”।

५. बड़े धैर्य के साथ (अल्पोत्सुक)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अल्पोत्सुक्य' किया है। अल्पोत्सुक्य का अर्थ 'त्वरा' या 'उत्तावलापन' है। जो अनुत्सुक हो, जिसमें उतावलापन या त्वरा न हो उसे अनुत्सुक या अनौत्सुक्य कहा जा सकता है।

४. हीन पुण्य चतुर्दशी को जन्मा हुआ

हीणपुण्यचाउद्दस—यह आक्रोश-सूचकवाणी का प्रयोग है। वृत्तिकार के अनुसार जन्म के लिए चतुर्दशी पुण्यतिथि मानी जाती है। "तू चतुर्दशी को जन्मा हुआ नहीं है" यह आक्रोशपूर्ण अपशब्द है। जयाचार्य ने इसका अर्थ अमावस का जन्मा हुआ किया है। चतुर्दश का एक अर्थ राक्षस है। उस अर्थ

शब्द-विमर्श

अपत्थियपत्थए—अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाला। श्रीमज्जयाचार्य ने इसका अर्थ 'मरण वांछक' किया है।

दुरंतपंतलक्खणे—जिसका अंत दुःखद हो, जिस देशी शब्द है। इसका अर्थ है—'अमानोश' या 'अमानोष्य'।

११०. तए णं ते सामाणियपरिसोववण्णया देवा
चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णा एवं वुत्ता
समाणा हट्टतुट्टचित्तमाणंदिया णंदिया पीड्मणा
परमसोमणरिसया हरिसवसदिसप्पमाणहियया

ततः ते सामानिकपरिषुपपन्नकाः देवाः
चमरेण असुरेन्द्रेण असुरराजेन एवमुक्ताः
सन्तः हट्टतुट्टचित्तानन्दिताः नन्दिताः प्रीति-
मनसः परमसौमनस्यिताः हर्षवशविसर्पं-

११०. अमुरेन्द्र उपासक के द्वारा ऐसा कहने पर-
वे सामानिक पापियों में अपना देव हट्ट-तुट्ट चित्त
वाले, आनन्दित, नन्दित, प्रीतिपूर्ण मन वाले और परम
सौमनस्य युक्त हो गए हैं। हर्ष से उनका हृदय फूल

१. म. वृ. ३/१०६।

२. म. जो. १/५८/२१—

हीणपुण्य चउद्दशी नो ऊपनो, काली वूली अमावस जायो।
जेह भणी भुज एहवा, एहवे रूप करी युस्त ताह्यो ॥

३. आटे. चातुर्दशम्—A demon (चतुर्दश्यां दृश्यते इति)।

४. म. जो. १/५८/२०—

कृण रे एह अपत्थिय पत्थए, मरणवांछक विपरीत।

करयत्परिगृह्यं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए
अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेति,
वद्धावेत्ता एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिया!
सक्के देविंदे देवराया जाव दिव्वाइं भोगभोगाईं
भुंजमाणे विहरइ ॥

हृदयाः करतलपरिगृहीतां दशनखां शिरसावर्ता
मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्धा-
पयन्ति, वर्धापयित्वा एवमवादिषुः—एष देवा-
नुप्रिय! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः यावद् दिव्यान्
भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहरति।

गया। वे दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुट वाली
दशनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर
मस्तक पर टिका कर असुरेन्द्र को जय-विजय ध्वनि
से वर्धापित करते हैं। वर्धापित कर इस प्रकार बोले—
देवानुप्रिय! यह देवेन्द्र देवराज शक्र है, यावत् दिव्य
भोगार्ह भोग भोगता हुआ रहता है।

१११. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं
सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं अंतिए
एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए
चंडिकिए मिसिमिसेमाणे ते सामाणिय-
परिसोववण्णे देवे एवं वयासी—अण्णे खलु
भो! से सक्के देविंदे देवराया, अण्णे खलु
भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया, महिड्ढीए
खलु भो! से सक्के देविंदे देवराया, अण्णि-
ड्ढीए खलु भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया,
तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सक्कं देविंदं
देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उ-
सिणे उसिणम्भूए जाए यावि होत्था ॥

ततः सः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः तेषां
सामानिकपरिषदुपपन्नकानां देवानाम् अन्तिके
एतदर्थं श्रुत्वा निशम्य आश्रुतः रुष्टः कुपितः
चाण्डिक्यितः मिसिमिसिमानः तान् सामानिक-
परिषदुपपन्नकान् देवान् एवमवादीद्—अन्यः
खलु भो! सः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः, अन्य
खलु भो! सः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, मह-
र्द्धिकः खलु भो! सः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः,
अल्पर्द्धिकः खलु भो! सः चमरः असुरेन्द्रः
असुरराजः, तद् इच्छामि देवानुप्रिया! शक्रं
देवेन्द्रं देवराजं स्वयमेव अत्याशातयितुम् इति
कृत्वा उष्णः उष्णभूतः जातश्चापि अभवत्।

१११. वह असुरेन्द्र असुरराज चमर सामानिक परिषद् में
उपपन्न उन देवों के पास यह बात सुन कर, अवधारण
कर तत्काल आवेश में आ गया, रुष्ट हो गया, कुपित
हो गया। उसका रूप रौद्र बन गया, वह क्रोध की
अग्नि से प्रदीप्त हो उठा। उसने उन सामानिक देवों
से इस प्रकार कहा—देवानुप्रियो! वह देवेन्द्र देवराज
शक्र अन्य है, हमारा विरोधी है। वह असुरेन्द्र
असुरराज चमर अन्य है, उसका विरोधी है। वह देवेन्द्र
देवराज शक्र महर्द्धिक है और वह असुरेन्द्र असुरराज
चमर अल्प र्द्धिक वाला है। इसलिए देवेन्द्र देवराज
शक्र की मैं स्वयं अति आशातना' (उसे श्रीहीन) करना
चाहता हूँ, ऐसा कह कर वह तप्त हो गया, तापमय
बन गया।

भाष्य

१. अति आशातना (अच्चासाइत्तए)

शोभा या प्रतिष्ठा से च्युत करने के लिए।'

चमरस्स भगवओ णीसापुव्वं सक्कस्स आसा-
यण-पदं

चमरस्य भगवतः निश्रापूर्वं शक्रस्य
आशातन-पदम्

चमर का भगवान की निश्रापूर्वक शक्र की आशा-
तना का पद

११२. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं
पउंजइ, पउंजित्ता ममं ओहिणा आभोएइ,
आभोएत्ता इमेयास्सवे अज्झत्थिए चित्तिए
पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—एवं
खलु समणे भगवं महावीरे जंबूदीवे दीवे भारहे
वासे सुंसुमारपुरे नयरे असोगसंडे उज्जाणे
असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि
अट्टमभत्तं पग्गिहत्ता एगराइयं महापडिमं
उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तं सेयं खलु मे
समणं भगवं महावीरं णीसाए सक्कं देविंदं
देवरायं सयमेव अच्चसाइत्तए त्ति कट्टु एवं
संपेहेइ, संपेहेत्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ,
अब्भुट्ठेत्ता देवदूसं परिहेइ परिहेत्ता जेणेव सभा
सुहम्मा जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छित्ता फलिहरयणं परा-
मुसइ, एगे अबीए फलिहरयणमायाए महया

ततः सः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः अवधि
प्रयुनक्ति, प्रयुज्य माम् अवधिना आभोगयति,
आभोग्य (तस्य) अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः
चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुद-
पादि—एवं खलु श्रमणः भगवान् महावीरः
जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे सुंसुमारपुरे नगरे
अशोकवृक्षे उद्याने अशोकवरपादपस्य अधः
पृथिवीशिलापट्टके अष्टमभक्तं प्रगृह्य एक-
रात्रिकीं महाप्रतिमाम् उपसंपद्य विहरति, तत्
श्रेयः खलु मम श्रमणं भगवन्तं महावीरं निश्चित्य
शक्रं देवेन्द्रं देवराजं स्वयमेव अत्याशातयितुम्
इति कृत्वा एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य शयनीयाद्
अभ्युत्तिष्ठति, अभ्युत्थाय देवदूष्यं परिदधाति,
परिधाय यत्रैव सभा सुधर्मा यत्रैव चतुष्पालः
प्रहरणकोशः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य
परिघरन्तं परामृशति, एकः अद्वितीयः स्फटिक-

११२. वह असुरेन्द्र असुरराज चमर अवधिज्ञान का प्रयोग
करता है। प्रयोग कर अवधिज्ञान से मुझे (भगवान्
महावीर को) देखता है। देखने के बाद उसके यह इस
प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक
मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—इस समय श्रमण
भगवान् महावीर जम्बूद्वीप द्वीप के भारतवर्ष में
सुंसुमारपुर नगर के अशोकवृक्ष उद्यान में प्रवर
अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्ट पर तीन दिन के
उपवास का संकल्प ग्रहण कर एक रात की महाप्रतिमा
स्वीकार कर ठहरे हुए हैं। मेरे लिए श्रमण भगवान्
महावीर का सहारा लेकर देवेन्द्र देवराज शक्र की अति-
आशातना करना श्रेयस्कर है, ऐसा सोच कर वह संप्रेक्षा
करता है, संप्रेक्षा कर शय्या से उठता है, उठ कर
देवदूष्य धारण करता है, धारण कर जहां सुधर्मा
सभा और चोप्पाल नामक शस्त्रागार है वहां आता है।
आ कर परिघरन्तं' को हाथ में लेता है, वह अकेला

१. अ. वृ. ३/१११—अत्याशातयितुं छायाया भ्रंशयितुमिति।

अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झमज्जेणं गिग्गच्छइ, गिग्गच्छिता जेणेव तिगिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, समोहणित्ता जाव उत्तरवेउव्वियं रूवं विकुव्वइ, विकुव्वित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीवसमुद्धानं मज्झमज्जेणं वीईवयमाणे-वीई-वयमाणे जेणेव जंबुद्वीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोय-संडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता ममं तिकखुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी— इच्छामि णं भंते! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमेइ, अवक्कमेत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णति, समोहणित्ता जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, एणं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासुरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालडडरत्त-मासरासिसंकासं जोयणसय-साहस्सीयं महाबोदिं विउव्वइ, विउव्वित्ता अप्फोडेइ वग्गइ गज्जइ, हयहेसियं करेइ, हत्थिगुलगुलाइयं करेइ, रहघणघणाइयं करेइ, पायदहरं करेइ, भूमिचवेडयं दलयइ, सीहणादं नदइ, उच्छोलेइ पच्छोलेइ, तिवत्तिं छिदइ, वामं भुयं ऊसवेइ, दाहिणहत्थपदेसिणीए अंगुट्टाहेणं य वित्तिरिच्छं मुहं विडवेइ, महया-महया सट्ठेण कलकलरवं करेइ, एणे अबीए फलिहरयणमायाए उडडं वेहासं उप्पइए— खोभंते चेव अहेलीयं कपेमाणे व मेइणीतलं साकडडंते व तिरियलीयं, फोडेमाणे व अंवर-तलं, कत्थइ गज्जंते, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासमाणे, कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे-वित्तासेमाणे, जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे-विभयमाणे, आयरक्खे देवे विपलायमाणे-विपलायमाणे, फलिहरयणं अंबरतलसि वियट्टमाणे-वियट्टमाणे, विउब्भाएमाणे-विउब्भाएमाणे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए उद्धुयाए दिव्वाए

रत्तमादाय महद् अमर्षं वहन् चमरचञ्चवायाः राजधान्याः मध्यममध्येन निर्गच्छति, निर्गम्य यत्रैव तिगिगिच्छकूटः उत्पातपर्वतः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते, समवहत्य यावद् उत्तरवैक्रियरूपं विकुरुते, विकृत्य तथा उत्कृष्टया त्वरया चपलया चण्डया जविन्या छेकया सैह्या शीघ्रया उद्धृतया दिव्या देवगत्या तिर्यग् असंख्येयानां द्वीप-समुद्राणां मध्यममध्येन व्यतिव्रजन् व्यतिव्रजन् यत्रैव जम्बूद्वीपः द्वीपः, यत्रैव भारतः वर्षः यत्रैव सुंसुमारपुरं नगरं, यत्रैव अशोक-षण्डम् उद्यानं, यत्रैव अशोकवरपादपः, यत्रैव पृथिवीशिलापट्टकः, यत्रैव मम अन्तिकं, तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य मम त्रिकृत्यः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद— इच्छामि भदन्त! तवां निश्चित्य शक्रं देवेन्द्रं देवराजं स्वयमेव अत्याशातयितुम् इति कृत्वा उत्तर-पौरस्त्यं दिग्भागम् अपक्रामति, अपक्रम्य वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते, समवहत्य यावद् द्वितीयमपि वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्यते, एकं महद् घोरं घोराकारं भीमं भीमाकारं भासुरं भयानीकं गंभीरं उत्तासनकं कालार्ध-रात्र-माषराशिसंकाशं योजनशतसाहस्रिकं महाबोदिं विकुरुते, विकृत्य आस्फोटयति यत्नति गर्जति, हयहेषितं करोति, हस्ति-गुलगुलायितं करोति, रथघनघनायितं करोति, पादददरकं करोति, भूमिचपेटकं ददाति, सिंहनादं नदति, उच्छलति प्रोच्छलति, त्रिपदी छिनत्ति, वामं भुजं उच्छ्रयति, दक्षिणहस्त-प्रदेशिन्या अंगुष्ठनखेन च वित्तिर्यग् मुखं विडम्बयति, महता-महता शब्देन कलकलरवं करोति, एकः अद्वितीयः परिघरत्नमादाय ऊर्ध्वं विहायसि उत्पतितः— क्षोभयन् चैव अधोलोकं कम्पयन् इव मेदिनीतलं समाकर्षयन् इव तिर्यग्लोकं, स्फोटयन् इव अम्बरतलं, कुत्रापि गर्जन्, कुत्रापि विद्युतयन्, कुत्रापि वर्षा वर्षयन्, कुत्रापि रजउद्घातं प्रकुर्वन्, कुत्रापि तमस्कलयं प्रकुर्वन्, वानमन्तरान् देवान् वित्रासयन्-वित्रासयन्, ज्योतिष्कान् देवान् द्विधा विभजन्-विभजन्, आत्परक्षान् देवान् विपरायमान-विपरायमानः, परिघरत्नं अम्बर-तले व्यावर्तयन्-व्यावर्तयन्, व्युद्भ्राजमानः-व्युद्भ्राजमानः तथा उत्कृष्टया त्वरितया चपलया चण्डया जविन्या छेकया सैह्या शीघ्र-

किसी दूसरे के सहारे की अपेक्षा नहीं रखता हुआ वहां से परिघरत्न ले कर बहुत अधिक क्रोध करता हुआ चमरचञ्चा राजधानी के ठीक मध्यभाग से निर्गमन करता है। निर्गमन कर जहां तिगिगिच्छकूट उत्पात पर्वत है, वहां आता है। आ कर वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर यावत् उत्तरवैक्रिय रूप का निर्माण करता है। निर्माण कर उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल चण्ड, जविनी, छेक, सैही, शीघ्र, उद्धृत और दिव्य देवगति से तिरछी दिशा में असंख्य द्वीप-समुद्रों के मध्य भाग से गुजरता-गुजरता जहां जम्बूद्वीप द्वीप, भारतवर्ष सुंसुमारपुर नगर, अशोकषण्ड उद्यान, प्रवर अशोकवृक्ष और पृथ्वीशिला पट्ट है, जहां मेरा परिपार्श्व है, वहां आता है। आ कर तीन बार दाईं ओर से प्रारम्भ कर मेरी प्रदक्षिणा करता है। प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार करता है। वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोला—भंते! मैं आपकी निश्चा से देवेन्द्र देवराज शक्र की अति आशातना करना चाहता हूँ, ऐसा कह कर वह उत्तर-पौरस्त्य दिग्भाग (ईशानकोण) में पहुंचता है। पहुंच कर वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर यावत् दूसरी बार फिर वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है। एक महान् घोर, घोर आकार वाले, भयंकर, भयंकर आकार वाले, भास्वर (चौंधियाने वाले) भयानक, गंभीर, त्रास देने वाले, अमा की अर्धरात्रि और उरद की राशि जैसे काले एक लाख योजन की अवगाहना वाले महाशरीर का निर्माण करता है। निर्माण कर हाथों को आकाश में उछलता है, कूदता है, गर्जन करता है, अश्व की भांति हिनहिनाता है, हाथी की भांति चिंघाड़ता है, रथ की भांति घनघनाहट (घड़घड़ाहट) करता है, पैरों से भूमि पर प्रहार करता है, भूमि पर चपेटा मारता है, सिंहनाद करता है, कभी आगे की ओर चपेटा मारता है, कभी पीछे की ओर, त्रिपदी का छेद करता है, बाईं भुजा को ऊंचा उठाता है, दाएं हाथ की तर्जनी अंगुली और अंगूठे के नख द्वारा मुंह को टेढ़ा कर विकृत करता है, ऊंचे-ऊंचे शब्द से, कलकलरव करता है। (इस भयानक मुद्रा में) उसने अकेले, किसी दूसरे के सहारे की अपेक्षा नहीं रखता हुआ परिघरत्न को ले कर ऊपर आकाश की उड़ान भरी। मानो अधोलोक को क्षुब्ध कर रहा है, भूमितल को कम्पित कर रहा है, तिरछे लोक को खींच रहा है, अम्बरतल का स्फोटन कर रहा है, कहीं गरज रहा है, कहीं बिजली बन कौंध रहा है, कहीं वर्षा बरसा रहा है, कहीं धूल-विकिरण कर रहा है, कहीं सघन अन्धकार कर रहा है, वानव्यन्तर देवों को संत्रस्त करता हुआ-संत्रस्त

देवगईए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्धानं मज्झमज्जेणं वीईवयमाणे-वीईवयमाणे जेणेव सोहम्मे कप्पे, जेणेव सोहम्मवडेंसए विमाणे, जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ, एणं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एणं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया-महया सद्देणं तिकखुतो इंदकीलं आउडेइ, आउडेत्ता एवं वयासी—कहि णं भो! सक्के देविदे देवराया? कहि णं ताओ चउरासीइसामा-णियसाहस्सीओ? कहि णं ते तायत्तीस-यतावत्तीसग्ग? कहि णं ते चत्तारि लोगपाला? कहि णं ताओ अट्ठ अग्गमहिस्सीओ सपरिवाराओ? कहि णं ताओ तिण्णि परिसाओ? कहि णं ते सत्त अणिया? कहि णं ते सत्त अणिया-हिवई? कहि णं ताओ चत्तारि चउरासीईओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ? कहि णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ? अज्ज हणामि, अज्ज महेमि, अज्ज वहेमि, अज्ज ममं अव-साओ अच्छराओ वसमुवणमंतु त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अणियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ ॥

या उद्धृतया दिव्यया देवगत्या तिर्यग् अ-संख्येयानां द्वीप-समुद्राणां मध्यमध्वेन व्यति-व्रजन्-व्यतिव्रजन् यत्रैव सौधर्मः कल्पः, यत्रैव सौधर्मावतंसकः विमानः, यत्रैव सभा सुधर्मा तत्रैव उपागच्छति, एकं पादं पद्मवरवेदिकायां करोति, एकं पादं सभायां सुधर्मायां करोति, परिघरत्नेन महता-महता शब्देन त्रिकूल्यः इ-न्द्रकीलं आकुटति, आकुट्य एवं वदति— “कुत्र भोः! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः? कुत्र सा चतुरशीतिसामानिकसाहस्री? कुत्र ते त्रयस्त्रिंश-शततावत्त्रिंशकाः? कुत्र ते चत्वारः लोकपालाः? कुत्र ताः अष्ट अग्रमहिष्यः सपरिवाराः? कुत्र ताः तिस्रः परिषदः? कुत्र तानि सप्त अनीकानि? कुत्र ते सप्त अनीकाधिपतयः? कुत्र ताः चतस्रः चतुरशीतिः आत्मरक्षदेवसाहस्री? कुत्र ताः अनेकाः अप्सरस्कोटयः? अद्य हन्मि, अद्य मथयामि, अद्य व्यथयामि, अद्य मम अवशाः अप्सरसः वशमुपनमन्तु,” इति कृत्वा ताम् अनिष्टाम् अकान्ताम्, अप्रियाम् अशुभाम् अमनोज्ञाम् ‘अमणामं’ परुषां गिरं निसृजति।

करता हुआ, ज्योतिष्क देवों को दो भागों में विभक्त करता हुआ-विभक्त करता हुआ, आत्मरक्षक देवों को भगाता हुआ-भगाता हुआ, परिघरत्न को आकाश में घुमाता हुआ-घुमाता हुआ, तिरस्कार करता हुआ-तिरस्कार करता हुआ उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, जयिनी, छेक, सैही, शीघ्र, उद्धृत और दिव्य देवगति से तिरछे लोक में असंख्य द्वीप-समुद्रों के मध्यभाग से गुजरता-गुजरता जहां सौधर्म कल्प है, जहां सौधर्मावतंसक विमान है, जहां सुधर्मा सभा है वहां आता है। वहां वह अपने एक पांव को पद्मवरवेदिका पर रखता है, एक पांव सुधर्मा सभा में रखता है और ऊंचा-ऊंचा शब्द करता हुआ परिघरत्न से तीन बार इन्द्रकील पर प्रहार करता है। प्रहार कर इस प्रकार बोला— “कहां है वह देवेन्द्र देवराज शक्र? कहां हैं वे चौरासी हजार सामानिक देव? कहां हैं वे तेतीस तावत्त्रिंशक देव? कहां हैं वे चार लोकपाल? कहां हैं वे सपरिवार आठ पटरानियां? कहां हैं वे तीन परिषदे? कहां हैं वे सात सेनाएं? कहां हैं वे सात सेनापति? कहां हैं वे तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव? कहां हैं वे करोड़ों अप्सराएं? आज मैं उनको मारता हूँ, मथता हूँ, व्यथित करता हूँ, अब तक जो अप्सराएं मेरे वश में नहीं थीं वे अब मेरे वश में हो जाएं,” ऐसा कर वह उस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को न भाने वाली, कठोर वाणी का प्रयोग करता है।

भाष्य

१. परिघरत्न

आप्टे की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में ‘परिघ’ का अर्थ “An iron club in general” किया गया है। Club के शस्त्र-संबंधी निम्न अर्थ कोश में प्राप्त हैं—गदा, मुद्गर, डण्डा, लाठी।

२. तिगिंछिकूट उत्पातपर्वत

चमर के उत्पात-पर्वत का वर्णन भ. २/११८ में आ चुका है। ठाणं में चमर आदि के अनेक उत्पात-पर्वतों का उल्लेख है।^१

३. उत्तरवैक्रिय रूप

वैमानिक आदि देव जब मनुष्य-लोक में आते हैं, तब मनुष्य-लोक के अनुरूप नए शरीर का निर्माण करते हैं। देवों के दो प्रकार का शरीर होता

है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। प्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव उत्तरवैक्रिय नहीं करते, इसलिए उनके केवल भवधारणीय शरीर होता है। शेष देवों के भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय दोनों प्रकार का शरीर होता है। देवों और नारकीय जीवों के भवधारणीय शरीर को पूर्ववैक्रिय शरीर कहा जा सकता है। उनके नए शरीर का निर्माण होता है, वह उस शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर कहलाता है। अभयदेवसूरि ने उत्तरवैक्रिय का अर्थ उत्तरकाल में होने वाला शरीर किया है।^२ देव अपने भवधारणीय शरीर से प्रायः अन्यत्र नहीं जाते।

वे उत्तरवैक्रिय शरीर का अपने स्थान में ही निर्माण कर लेते हैं, फिर कहीं अन्यत्र जाते हैं।^३

४. भयानक

भयाणीय भयानीत का प्राकृतीकरण है। वृत्तिकार ने इसके दो

१. ठाणं, १०/४७-६१।

२. भ. वृ. ३/११२—पूर्ववैक्रियापेक्षयोत्तराणि—उत्तरकालभाविनि वैक्रियाणि उत्तरवैक्रियाणि।

३. (क) भ. ६/१६५।

(ख) भ. वृ. ६/१६५—तत्र च स्वस्थान एव प्रायो विकुर्वन्ते यतः कृत्तोरवैक्रियरूप एव

प्रायोऽन्यत्र गच्छतीति नो इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय इत्याद्युक्तमिति।

४. भ. वृ. ३/११२—‘भयाणीयं’ ति भयमानीतं यया सा भयानीता उत्तरताम्, अथवा भयं भयहेतुत्वादीनां—तत्परिवारभूतमुक्त्वास्फुलिङ्गादि सैन्यं यस्याः सा भयानीकाऽस्ततः।

संस्कृत रूप दिए हैं— भयानीत, भयानीक।^१

५. पैरों से भूमि पर प्रहार करता है

इसका तात्पर्य है—कभी आगे की ओर हाथों को उछलता है और कभी पीछे की ओर उछलता है। दहरग देशी शब्द है। इसका अर्थ है— आस्फोटन, आघात, प्रहार।^२

६. कभी आगे की ओर चपेटा मारता है, कभी पीछे की ओर

उच्छोलेइ, पच्छोलेइ—ये दोनों देशी क्रियापद हैं। वृत्तिकार ने इनका अर्थ—‘आगे से चपेटा का प्रहार करना, पीछे से चपेटा का प्रहार करना’ किया है।^३ रायपसेणइयं में ‘उच्छलेंति पोच्छलेंति’ पाठ मिलता है।^४ इनका अर्थ है—‘उछलकूद करना।’ यह पाठ स्वाभाविक लगता है। प्रस्तुत पाठ ‘उच्छोलेइ पच्छोलेइ’ में वर्ण-परिवर्तन हुआ प्रतीत होता है।

७. त्रिपदी का छेद करता है

वृत्तिकार ने बतलाया है—जैसे मल्ल रंगभूमि में त्रिपदी का छेद करता है, वैसे ही चमर त्रिपदी का छेद कर रहा है।^५ वृत्ति की व्याख्या से

त्रिपदी-छेद का अर्थ ‘मल्लकुशती का एक दांव’ फलित होता है। कुशती के समय गर्दन पर कोई कपड़ा बांध लेते हैं; उसे फाड़ देना या सरका देना त्रिपदीछेद कहलाता है। पाइयसदमहण्णव के अनुसार त्रिपदी का अर्थ है ‘भूमि में तीन बार पांव का न्यास’।

शब्द-विमर्श

अप्फोडेइ—करास्फोट करना।^६ तात्पर्य है—हाथों को आकाश में उछलाना।

अमा की अर्धरात्रि (कालह्वरत्त)—श्रीमज्जयाचार्य ने इसका अर्थ ‘अमावस्या की अर्धरात्रि’ किया है।^६

विडंबइ—विकृत करता है।^७

विउब्भाएमाणे—इसका संस्कृत रूप ‘व्युद्भ्राजमानः’ है। वृत्तिकार ने इसके संस्कृत रूप व्युद्भ्राजमानः, विजृम्भमाणः, व्युद्भ्राजयन् किए हैं।^८

इन्द्रकील—वृत्तिकार ने इसका अर्थ गोपुर के दोनों कपाटों के सन्धि-स्थान पर लगाई जाने वाली कील किया है।^९ चमर ने तीन बार इन्द्रकील पर प्रहार किया। इन्द्रकील का एक अर्थ ‘इन्द्र का झण्डा’ भी है।^{१०} यह अर्थ भी संगत हो सकता है।

सक्केदस्स वज्जपक्खेव-पदं

११३. तए णं से सक्के देविदे देवराया तं अपिण्डं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमण्णामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसु-रुत्ते रुट्ठे कुविए वंडिकिए मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासि—हं भो! चमरा! असुरिंदा! असुरराया! अपत्थिय-पत्थया! दुरंतपंतलक्खणा! हिरिसिरिपरि-वज्जिया! हीणपुण्णचाउइसा! अज्ज न भवसि, नाहि ते सुहमत्थीति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगए वज्जं परामुसइ, परामुसित्ता तं जलंतं फुडंतं तडतडंतं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणं-विणिम्मुयमाणं, जालासह-स्साइं पमुंचमाणं-पमुंचमाणं, इंगालसहस्साइं पविकिखरमाणं-पविकिखरमाणं, फुलिंगजाला-मालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेवदिट्ठिपडिघातं पि पकरेमाणं हुयवहअइरेगतेयदिपंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयंकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुरण्णो वहाए वज्जं निसिरइ ॥

शक्रेन्द्रस्य वज्रप्रक्षेप-पदम्

ततः सः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः तां अनिष्टाम् अकान्ताम् अप्रियाम् अशुभाम् अमनोजाम् ‘अमणामम्’ अश्रुतपूर्वा परुषां गिरं श्रुत्या निशम्य आशुरुतः रुष्टः कुपितः चाण्डि-यिक्यतः मिसिमिसिमानः त्रिवलिकां भृकुटिं ललाटे संहत्य चमरं असुरेन्द्रं असुरराजं एवम-वादीत्—भोः चमर! असुरेन्द्र! असुरराज! अप्राथितप्रार्थिक! दुरन्तप्रान्तलक्षण! हींश्री-परिवर्जित! हीनपुण्यचातुर्दश! अद्य न भवसि, न हि ते सुखमरतीति कृत्वा तत्रैव सिंहासन-वरगतः वज्रं परामुशति, परामुशय तं ज्वलन्तं, स्फुटन्तं तडतडमन्तं उक्कासहस्त्राणि विनि-मुञ्चन्तं-विनिमुञ्चन्तम्, जालासहस्त्राणि प्रमु-ञ्चन्तं-प्रमुञ्चन्तम्, अंगारसहस्त्राणि प्रवि-किरन्तं-प्रविकिरन्तं, स्फुलिङ्गजालामालासहस्रैः चक्षुर्विक्षेपदृष्टिप्रतिघातमापि प्रकुर्वन्तं हुतवहा-तिरेकतेजोदीप्यमानं जविनवेगं फुल्लकिंशुक-समानं महाभयं भयंकरं चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य वधाय वज्रं निसृजति।

शक्रेन्द्र द्वारा वज्र-प्रक्षेप-पद

११३. ‘वह देवेन्द्र देवराज शक्र उस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, मन को न भाने वाली, अश्रुतपूर्व, कटोर वाणी को सुन कर, अवधारण कर तत्काल आवेश में आ गया, रुष्ट हो गया, कुपित हो गया, उसका रूप रौद्र बन गया, वह क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो उठा। ललाट पर तीन रेखाओं वाली भृकुटि को चढ़ा कर असुरेन्द्र असुरराज चमर से इस प्रकार बोला—हे अप्रार्थनीय को चाहने वाले! दुःखद अंत और अमनोज्ञ लक्षण वाले! लज्जा और शोभा से रहित! हीनपुण्य चातुर्दशी को जन्मे हुए! असुरेन्द्र! असुरराज! चमर! आज तू नहीं बचेगा, अब तुम्हें सुख नहीं होगा, ऐसा कह कर वहीं सिंहासन पर बैठे-बैठे वज्र को हाथ में लेता है। वह जाज्वल्यमान, विस्फोटक, गड़गड़ाहट करता हुआ हजारों उल्काओं को छोड़ता हुआ, हजारों ज्वालाओं का प्रमोचन करता हुआ, हजारों अंगारों को बिखेरता हुआ, हजारों स्फुलिंगों और ज्वालाओं की माला से चक्षु-विक्षेप और दृष्टि का प्रतिघात करता हुआ, अग्नि से भी अतिरिक्त तेज से दीप्यमान, अतिशय

१. वही, ३/११२—‘पायवदहरगं’ति भूमेः पादेनास्फोटनम्। द्रष्टव्य, देशीशब्दकोश ‘दहरग’ शब्द।

२. वही, ३/११२ ‘उच्छोलेइ’ति अग्रतोमुखां चपेटां दशति, ‘पच्छोलेइ’ ति पृष्ठतोमुखां चपेटां दशति।

३. राय सू. २८१।

४. म. वृ. ३/११२—मल्ल इव रङ्गभूमौ त्रिपदीच्छेदं करोति।

५. वही, ३/११२—‘अप्फोडेइ’ति करास्फोटं करोति।

६. म. जो. १/५८/५०।

७. म. वृ. ३/११२—‘विडंबइ’ति विकृतं करोति।

८. वही, ३/११२—‘विउब्भाएमाणे’ति व्युद्भ्राजमानः—शोभमानो विजृम्भमाणो वा व्युद्भ्राजयन् वा उच्यते परियरत्नमिति योगः।

९. वही, ३/११२—‘इन्द्रकील’ति गोपुरकपाटयुगसन्धिनिवेशस्थानम्।

१०. आटे—इन्द्रकील—The banner of Indra।

वेग वाला, विकसित किंशुक (रेसू) पुष्प के समान रक्त, महाभय उत्पन्न करने वाला, भयंकर वज्र हाथ में उठा शक्र ने असुरेन्द्र असुर-राज चमर का वध करने के लिए उसका प्रक्षेपण किया।

भाष्य

१. सूत्र ११३

शब्द-विमर्श

चक्षुर्विक्षेप—चक्षु का भ्रम।^१

दृष्टिप्रतिघात—दर्शन का अवरोध।^२

जड़णवेग—वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'दूसरे वेगों को जीतने वाला

वेग' किया है।^३ वृत्तिकार का यह अर्थ विमर्शनीय है। गति के वर्णन में एक विशेषण है 'जड़णाए'। इसका संबंध 'जव' शब्द से है। यहां भी 'जड़ण' का संबंध जव से है। जड़णवेग का अर्थ है अतिवेग वाला।

फुल्लकिंसुयसमापणं—किंशुक के पुष्प गहरे लाल रंग के होते हैं, किंशुक का वर्ण दूर से आग जलने की सी भ्रांति पैदा करता है।

चमरस्स भगवओ सरण-पदं

११४. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलंतं जाव भयंकरं वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ, पासित्ता झियाइ पिहाइ, पिहाइ झियाइ, झियायित्ता पिहाइत्ता तहेव संभग्गमउडविडवे सालंबहत्थाभरणे उडडंपाए अहोसिरे कक्खा- गयसेयं पिव विणिम्मयमाणे-विणिम्मयमाणे ताए उक्किट्टाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झमज्जेणं वीईवयमाणे-वीईवय-माणे जेणेव जंबूदीवे दीवे जाव जेणेव असोग-वरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भीए भयगग्गरसरे 'संगवं सरणं' इति वुयमाणे ममं दोण्ह वि पायाणं अंतरंसि इत्ति वेगेणं समोवडिए ॥

चमरस्य भगवतः शरण-पदम्

ततः सः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः तं ज्व-लन्तं यावत् भयंकरं वज्रम् अभिमुखम् आपतन्तं पश्यति, दृष्ट्वा ध्यायति पिदधाति, पिदधाति ध्यायति, ध्यात्वा पिधाय तथैव संभग्गमुकुट-वितपः सालम्बहस्ताभरणे ऊर्ध्वपादः अधः-शिराः कक्षागतस्वेदमिव विनिमुञ्चन्-विनि-मुञ्चन् तथा उल्कृष्टया यावत् तिर्यग् असंख्ये-यानां द्वीप-समुद्राणां मध्यमध्येन व्यतिव्रजन्-व्यतिव्रजन् यत्रैव जम्बूद्वीपः द्वीपः यावद् यत्रैव अशोकवरपादपः यत्रैव मम अन्तिकं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य भीतः भयगद्गदस्वरः 'भगवन् शरणम्' इति ब्रुवन् मम द्वयोरपि पादयोः अन्तः झगिति वेगेन समवपतितः।

चमर द्वारा भगवान् की शरण का पद

११४. वह असुरेन्द्र असुरराज चमर उस जाज्वल्यमान यावत् भयंकर वज्र को सामने आते हुए देखता है, देखकर चिन्तन में डूब जाता है, चिन्तन करते-करते आंखे मूंद लेता है।^४ कुछ क्षणों बाद आंखे खोल फिर मूंद लेता है। आंखें मूंदे-मूंदे चिन्तन में डूब जाता है। इस व्याकुलता के क्षण में उसके मुकुट का विस्तार हो गया, उसके हाथ के आभरण नीचे लटक गए। पांव ऊपर और सिर नीचे किए हुए वह मानो काँख में से स्वेद-बूंदों को टपकाता हुआ उस उल्कृष्ट यावत् देव-गति से तिरछे लोक में असंख्य द्वीप-समुद्रों के बीचो-बीच गुजरता हुआ जहां जम्बूद्वीप द्वीप है यावत् जहां प्रवर अशोकवृक्ष है, जहां मेरा पार्श्व है, वहां आता है। आ कर भयभीत बना हुआ भय से घहराते हुए स्वर में बोला— 'भगवन्! आप शरण हैं' ऐसा कहता हुआ मेरे दोनों पांव के अन्तराल में शीघ्र ही अतिवेग से गिर गया।

भाष्य

१. चिन्तन में..... मूंद लेता है

वृत्तिकार ने झियाइ का अर्थ 'चिन्तन करता है' तथा पिहाइ का अर्थ 'स्पृहा करता है' किया है। स्पृहा के दो विषय बतलाए हैं—ऐसा शस्त्र मेरे पास भी हो—उसकी अभिलाषा अथवा मैं सुखपूर्वक अपने स्थान पर चला जाऊं—उसकी अभिलाषा। पिहाइ का वैकल्पिक अर्थ 'निमीलन—आंख मूंदना' भी किया है। इन दो क्रियाओं के द्वारा चमर की मानसिक व्याकुलता परिलक्षित होती है।^५ झियाइ का एक अर्थ 'देखना' भी किया जा सकता है। 'नि' उपसर्ग पूर्वक ध्यै धातु का अर्थ देखना होता है—निध्यानमवलोकनम्।^६ चमर वज्र की ओर देखता है और आंख मूंद लेता है। फिर आंख मूंदता है और खोलता

है।

शब्द-विमर्श

तहेव—चिन्तन के क्षण में।^७

मउडविडवे—मुकुट-वितप—मुकुट का विस्तार।

सालंबहत्थाभरणे—चमर शीर्षासन की मुद्रा में दौड़ रहा है, इसलिए उसके हाथ के आभरण नीचे झुलने लग गए।

कक्खागयसेयं पिव—देवों का शरीर वैक्रिय शरीर है। उसमें पसीना नहीं होता। इसलिए 'इव' का प्रयोग किया गया है।^८

१. म. वृ. ३/११३—चक्षुर्विक्षेपश्च—चक्षुर्भ्रमः।

२. वही, ३/११३—दृष्टिप्रतिघातश्च—दर्शनाभावः।

३. वही, ३/११३—'जड़णवेगं'ति जयी शेषवेगवुड्ढेगजयी वेगो यस्य तत्तथा।

४. वही, ३/११४—'झियाइ' ति 'ध्यायति' किमेतत्? इति चिन्तयति, तथा 'पिहाइ' ति 'स्पृहयति' यद्येवंविधं प्रहरणं ममापि स्यादित्येवं तदभिलषति स्वस्थानगमनं वाऽभिलषति,

अथवा 'पिहाइ' ति अक्षिणी पिधते—निमीलयति 'पिहाइ झियाइ' ति पूर्वोक्तमेव क्रियाद्वयं व्यत्ययेन करोति, अनेन च तस्यातिव्याकुलतोक्तता।

५. अभि. चि. ३/२४१।

६. म. वृ. ३/११४—'तहेव'ति यथा ध्यातवास्तथैव तत्क्षण एवेत्यर्थः।

७. वही, ३/११४—'कक्खागयसेयं पिव' ति भयातिरेकात्कक्षागतं स्वेदमिव मुञ्चयन्, देवानां

सक्कस्स वज्ज-पडिसाहरण-पदं

११५. तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंत्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था— नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्डं उप्पइत्ता जाव सोहम्मो कप्पो, नण्णत्थ अरहंते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भाविअप्पाणो नीसाए उड्डं उप्पयइ जाव सोहम्मो कप्पो, तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराणं य अच्चासायणाए त्ति कट्टु ओहिं पउजइ, ममं ओहिणा आभोएइ, आभोएत्ता हा! हा! अहो! हतो अहमंसि त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवर्गईए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे-अणुगच्छमाणे तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्धानं मज्झमज्जेणं जाव जेणेव असोगवरपायवे, जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ममं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ, अविद्याइं मे गौयमा! मुट्ठिवाएणं केसग्गे वीइत्था ॥

११६. तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरित्ता ममं तिकखुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी— एवं खलु भंते! अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णा सयमेव अच्चसाइए। तए णं मए परिकुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसट्ठे। तए णं ममं इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंत्तिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था— नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्डं उप्पइत्ता जाव सोहम्मो कप्पो, नण्णत्थ अरहंते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भाविअप्पाणो नीसाए उड्डं उप्पयइ जाव सोहम्मो कप्पो, तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराणं य अच्चासायणाए त्ति कट्टु ओहिं पउजामि, देवाणु-

शक्रस्य वज्र-प्रतिसंहरण-पदम्

ततः तस्य शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि— नो खलु प्रभुः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, नो खलु समर्थः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, नो खलु विषयः चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य आत्मनः निश्चया ऊर्ध्वम् उत्पतितुं यावत् सौधर्मः कल्पः, नान्यत्र अर्हंतो वा, अर्हच्चैत्यानि वा, अनगरान् वा भावितात्मनः निश्चित्य ऊर्ध्वम् उत्पतति यावत् सौधर्मः कल्पः तन् महादुःखं खलु तथारूपाणाम् अर्हतां भगवताम् अनगराणां च अत्याशातनया इति कृत्वा अवधिं प्रयुनक्ति माम् अवधिना आभोग्यति, आभोग्य हा! हा! अहो! हतः अहमस्मि इति कृत्वा तथा उत्कृष्टया यावद् दिव्यया देवगत्या वज्रस्य वीथिम् अनुगच्छन्-अनुगच्छन् तिर्यग् असंख्येयानां द्वीप-समुद्राणां मध्यमध्येन यावद् यत्रैव अशोकवरापादपः यत्रैव मम अन्तिकं तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य मम चतुरङ्गलमसंप्राप्तं वज्रं प्रति-संहरति, अपि च मम गौतम! मुष्टिवातेन केशाग्रान् अवीविजत्।

ततः सः शक्रः देवेन्द्रः देवराजः वज्रं प्रतिसंहत्य मम त्रिकृत्यः आदक्षिण-प्रदक्षिणां करोति, कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवं अवादीद— एवं खलु भदन्त! अहं त्वां निश्चित्य चमरेण असुरेन्द्रेण असुरराजेन स्वयमेव अत्याशातितः। ततः मया परिकुपितेन सता चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य वधाय वज्रं निःसृष्टम्। ततः मम अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि— नो खलु प्रभुः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, नो खलु समर्थः चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, नो खलु विषयः चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य आत्मनः निश्चया ऊर्ध्वम् उत्पतितुं यावत् सौधर्मः कल्पः, नान्यत्र अर्हंतो वा, अर्हच्चैत्यानि वा, अनगरान् वा, भावितात्मनः निश्चित्य ऊर्ध्वम् उत्पतति यावत् सौधर्मः कल्पः, तन् महादुःखं खलु तथारूपाणाम् अर्हतां भगवताम् अनगराणां च अत्याशातनया इति कृत्वा अवधिं प्रयुञ्जि, देवानुप्रियम्

शक्र का वज्र-प्रतिसंहरण-पद

११५. उस देवेन्द्र देवराज शक्र के यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ— असुरेन्द्र असुरराज चमर प्रभु नहीं है, असुरेन्द्र असुरराज चमर समर्थ नहीं है तथा असुरेन्द्र असुरराज चमर का विषय नहीं है कि वह अपनी निश्चा (शक्ति) से ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक आए। वह अर्हत्, अर्हत्-चैत्य अथवा भावितात्मा अनगर की निश्चा के बिना ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक नहीं आ सकता। अतः मेरे लिए यह महान् कष्ट का विषय है कि मैंने तथारूप अर्हत्, भगवान और अनगरों की अति आशातना की है। ऐसा सोच कर वह अवधिज्ञान का प्रयोग करता है। अवधिज्ञान से मुझे देखता है। मुझे देख कर 'हा! हा! अहो! मैं मारा गया'— ऐसा कह कर वह उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से वज्र की वीथि का अनुगमन करता हुआ तिरछे लोक में असंख्य द्वीपसमुद्रों के ठीक मध्य भाग से गुजरता हुआ यावत् जहां प्रवर अशोक वृक्ष हैं, जहां मेरा पार्श्व है वहां आता है। आ कर मुझमें चार अंगुल दूर रहे वज्र को उसने पकड़ लिया और गौतम! उसकी मुट्ठी से उठी हुई हवा से मेरे केशाग्र प्रकम्पित हो गए।

११६. वह देवेन्द्र देवराज शक्र वज्र को पकड़कर तीन बार दाईं ओर से प्रारम्भ कर मेरी प्रदक्षिणा करता है, प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोला— भंते! असुरेन्द्र असुरराज चमर ने आपकी निश्चा से स्वयं ही मेरी अति आशातना की। तब मैंने कुपित हो कर असुरेन्द्र असुरराज चमर का वध करने के लिए वज्र का प्रक्षेपण किया। उस समय मेरे मन में यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक, मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ— असुरेन्द्र असुरराज चमर प्रभु नहीं है, असुरेन्द्र असुरराज चमर समर्थ नहीं है तथा असुरेन्द्र असुरराज चमर का विषय नहीं है कि वह अपनी निश्चा (शक्ति) से ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक आए। वह अर्हत्, अर्हत्-चैत्य अथवा भावितात्मा अनगर की निश्चा के बिना ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक नहीं आ सकता। अतः मेरे लिए यह महान् कष्ट का विषय है कि मैंने इन तथारूप अर्हत्, भगवान और अनगरों की अति आशातना की है। ऐसा सोच कर मैं अवधिज्ञान का प्रयोग करता

पिए ओहिणा आभोएमि, आभोएत्ता हा! हा! अहो! हतो अहमंसि त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव देवाणुपिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुपियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडि-साहरामि, वज्जपडिसाहरणइयाए णं इहमागए इह समोसडे इह संपत्ते इहेव अज्ज उव-संपज्जिता णं विहरामि। तं खामेमि णं देवाणु-पिया! खमंतु णं देवाणुपिया! खंतुमरिहंति णं देवाणुपिया! नाइ भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु ममं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अदक्कमइ, वामेणं पादेणं तिकखुत्तो भूमिं विदलेइ, विदलेत्ता चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासि—मुक्को सि णं भो चमरा! असुरिंदा! असुरराया! सम-णस्स भगवओ महावीरस्स पभावेण—नाहि ते दाणिं ममातो भयमत्थि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥

अवधिना आभोगयामि, आभोग्य हा! हा! अहो! हतः अहमस्मि इति कृत्वा तथा उत्कृष्टया यावद् यत्रैव देवानुप्रियाः तत्रैव उपागच्छामि, देवानुप्रियाणां चतुरंगुलमसंप्राप्तं वज्रं प्रतिसंहरामि, वज्रप्रतिसंहरणार्थम् इहागतः इह समवसृतः इह संप्राप्तः इहैव अद्य उपसंपद्य विहरामि। तत् क्षाम्यामि देवानुप्रियाः! क्षमन्ताम् देवानुप्रियाः! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रियाः! न च भूयः एवं करणतया इति कृत्वा मां वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमरियत्वा उत्तरपौरस्त्यं दिग्भागम् अपक्रामति, वामेन पादेन त्रिकृत्वः भूमिं विदलयति, विदलय चमरम् असुरेन्द्रम् असुरराजम् एवमवादीद्—मुक्तोऽसि भोः चमर! असुरेन्द्र! असुरराज! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य प्रभावेण—नहि तव इदानीं मत्तो भयमस्ति इति कृत्वा यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतः तस्यामेव दिशि प्रतिगतः।

हूं, अवधिज्ञान से आपको देखता हूं। देख कर 'हा! हा! अहो! मैं मारा गया—ऐसा सोच कर उस उत्कृष्ट यावत् दिव्यगति से जहां आप है वहां आता हूं और आपसे चार अंगुल दूर रहे वज्र को पकड़ लेता हूं। मैं वज्र को पकड़ने के लिए यहां आया हूं, यहां समवसृत हुआ हूं, यहां सम्प्राप्त हूं और आज यहां आपके समीप आ कर विहरण कर रहा हूं। इसलिए मैं आपसे क्षमायाचना करता हूं। देवानुप्रिय! आप मुझे क्षमा करें। देवानुप्रिय! आप क्षमा करने में समर्थ हैं। देवानुप्रिय! मैं पुनः ऐसा न करने के लिए संकल्प करता हूं। ऐसा कह कर वह मुझे वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशा (ईशानकोण) में चला जाता है। वहां वह दाएं पांव से तीन बार भूमि का विदलन करता है और विदलन करके असुरेन्द्र असुरराज चमर से इस प्रकार बोला—हे असुरेन्द्र! असुरराज! चमर! श्रमण भगवान महावीर के प्रभाव से अब तुम मुक्त हो गए हो, इस समय तुमको मुझसे भय नहीं है। ऐसा कह कर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया।

सक्क-चमर-वज्जाणं गइविसय-पदं

११७. भंतेति! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी— देवे णं भंते! महिइड्डीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेवं अणु-परियट्ठित्ता णं गेण्हत्तए?

हंता पभू ॥

११८. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—देवे णं महिइड्डीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्ठित्ता णं गेण्हत्तए ?

गोयमा! पोग्गले णं खित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगई भविता ततो पच्छा मंदगती भवति, देवे णं महिइड्डीए जाव महाणुभागे पुव्वि पि पच्छा वि सीहे सीहगती चेव तुरिए तुरियगती चेव। से तेणट्ठेणं जाव पभू गेण्हत्तए ॥

११९. जइ णं भंते! देवे महिइड्डीए जाव पभू तमेव अणुपरियट्ठित्ता णं गेण्हत्तए, कम्हा णं भंते! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थिं गेण्हत्तए?

शक्र-चमर-वज्जाणां गतिविषय-पदं

भदन्त! अयि! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा नमरियत्वा एवमवादीद्—देवः भदन्त! महर्द्धिकः यावन् महानुभागः पूर्वमेव पुद्गलं क्षिप्त्वा प्रभुः तमेव अनुपरियट्य ग्रहीतुम्?

हन्त प्रभुः!

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—देवः महर्द्धिकः यावन् महानुभागः पूर्वमेव पुद्गलं क्षिप्त्वा प्रभुः तमेव अनुपरियट्य ग्रहीतुम्?

गौतम! पुद्गलः क्षिप्तः सन् पूर्वमेव शीघ्रगतिः भूत्वा ततः पश्चात् मन्दगतिः भवति, देवः महर्द्धिकः यावन् महानुभागः पूर्वमपि पश्चादपि शीघ्रः शीघ्रगतिश्चैव त्वरितः त्वरितगतिश्चैव। तत् तेनार्थेन यावत् प्रभुः ग्रहीतुम्।

यदि भदन्त! देवः महर्द्धिकः यावत् प्रभुः तमेव अनुपर्यट्य ग्रहीतुम्, कस्माद् भदन्त! शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः नो संशक्तः स्वहस्तेन ग्रहीतुम्?

शक्र, चमर और वज्र का गति विषयक-पद

११७. भन्ते! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोले— भन्ते! महर्द्धिक यावत् महान् सामर्थ्य वाला देव पहले पुद्गल का प्रक्षेपण कर फिर उसका पीछा कर उसे पकड़ने में समर्थ है? हां, है।

११८. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— महर्द्धिक यावत् महान् सामर्थ्य वाला देव पहले पुद्गल का प्रक्षेपण कर फिर उसका पीछा कर उसे पकड़ने में समर्थ है?

गौतम! पुद्गल फेंके जाने पर वह पहले शीघ्र गति वाला होता है फिर मन्दगति वाला हो जाता है। महर्द्धिक यावत् महान् सामर्थ्य वाला देव पहले भी और पीछे भी शीघ्र और शीघ्र गति वाला, त्वरित और त्वरित गति वाला होता है। इस अपेक्षा से वह उसे पकड़ने में समर्थ है।

११९. 'भंते! यदि महर्द्धिक देव पीछा करके पहले फेंके गए पुद्गल को पकड़ने में समर्थ है तो देवेन्द्र देवराज शक्र असुरेन्द्र असुरराज चमर को अपने हाथ से क्यों नहीं पकड़ सका?

गोयमा! असुरकुमाराणां देवाणां अहे गइविसए सीहे-सीहे चेव तुरिए-तुरिए चेव, उड्डं गइ-विसए अप्पे-अप्पे चेव मंदे-मंदे चेव। वेमा-णियाणां देवाणां उड्डं गइविसए सीहे-सीहे चेव। तुरिए-तुरिए चेव, अहे गइविसए अप्पे-अप्पे चेव मंदे-मंदे चेव।
जावतियं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया उड्डं उप्पयइ एक्केणं समएणं, तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं, तं चमरे तिहिं। सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्डल्लोयकंडए, अहेलोयकंडए संखेज्जगुणे।

जावतियं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहेओवयइ एक्केणं समएणं, तं सक्के दोहिं, जं सक्के दोहिं तं वज्जे तीहिं ! सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहेलोय-कंडए, उड्डल्लोय-कंडए संखेज्जगुणे।

एवं खलु गोयमा! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थियं गेण्हत्ताए ॥

१२०. सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो उड्डं अहे तिरियं च गइविसयस्स कयर कयरेहेत्तो अप्पे वा? बहुए वा? तुल्ले वा? विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे ओवयइ एक्केणं समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्डं संखेज्जे भागे गच्छइ ॥

१२१. चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्डं अहे तिरियं च गइविसयस्स कयर कयरेहेत्तो अप्पे वा? बहुए वा? तुल्ले वा? विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्डं उप्पयइ एक्केणं समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखेज्जे भागे गच्छइ ॥

१२२. वज्जस्स णं भंते! उड्डं अहे तिरियं च

गौतम! असुरकुमाराणां देवानाम् अधोगति-विषयः शीघ्र-शीघ्रश्चैव त्वरित-त्वरितश्चैव, ऊर्ध्व गतिविषयः अल्पाल्पश्चैव मन्द-मन्द-श्चैव। वैमानिकानां देवानाम् ऊर्ध्व गतिविषयः शीघ्र-शीघ्रश्चैव त्वरित-त्वरितश्चैव, अधोगति-विषयः अल्पाल्पश्चैव मन्द-मन्दश्चैव।
यावत् क्षेत्रं शक्रः देवेन्द्रः देवराजः ऊर्ध्वम् उत्प-तति एकेन समयेन, तद् वज्रं द्वाभ्यां, यद् वज्रं द्वाभ्यां, तत् चमरः त्रिभिः। सर्वस्तोकः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य ऊर्ध्वलोककण्डकः, अधो-लोककण्डकः संख्येयगुणः।

यावत् क्षेत्रं चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः अधः अवपतति एकेन समयेन, तत् शक्रः द्वाभ्यां, यत् शक्रः द्वाभ्यां तद् वज्रं त्रिभिः। सर्वस्तोकः चमरस्य असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अधोलोक-कण्डकः, ऊर्ध्वलोककण्डकः संख्येयगुणः।

एवं खलु गौतम! शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः नो संशक्तितः स्वहस्तेन प्रहीतुम्।

शक्रस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य ऊर्ध्व-मधस्तिर्यक् च गतिविषयस्य कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा? बहुको वा? तुल्यो वा? विशेषाधिको वा?

गौतम! सर्वस्तोक क्षेत्रं शक्रः देवेन्द्रः देवराजः अधः अवपतति एकेन समयेन, तिर्यक् संख्ये-यान् भागान् गच्छति, ऊर्ध्वं संख्येयान् भागान् गच्छति।

चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च गतिविषयस्य कतरः कत-रेभ्यः अल्पो वा? बहुको वा? तुल्यो वा? विशेषाधिको वा?

गौतम! सर्वस्तोक क्षेत्रं चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः ऊर्ध्वम् उत्पतति एकेन समयेन, तिर्यक् संख्येयान् भागान् गच्छति, अधः संख्येयान् भागान् गच्छति।

वज्रस्य भदन्त! ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च गति-

गौतम! असुरकुमार देवों का नीचे लोक में गति का विषय शीघ्र-शीघ्र और त्वरित-त्वरित है, ऊंचे लोक में उनकी गति का विषय अल्प-अल्प और मंद-मंद है। वैमानिक देवों का ऊंचे लोक में गति का विषय शीघ्र-शीघ्र और त्वरित-त्वरित है, नीचे लोक में उनकी गति का विषय अल्प-अल्प और मंद-मंद है।

देवेन्द्र देवराज शक्र ऊंचे लोक में एक समय में जितने क्षेत्र में चला जाता है, उतने क्षेत्र के अवगाहन में वज्र को दो समय लगते हैं। वज्र का जितने क्षेत्र के अवगाहन में दो समय लगते हैं, उतने क्षेत्र के अवगाहन में चमर को तीन समय लगते हैं। देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्वलोक-कण्डक सबसे थोड़ा, अधोलोक-कण्डक उससे संख्येयगुना।

असुरेन्द्र असुरराज चमर नीचे लोक में एक समय में जितने क्षेत्र में चला जाता है, उतने क्षेत्र के अवगाहन में शक्र को दो समय लगते हैं। शक्र को जितने क्षेत्र के अवगाहन में दो समय लगते हैं उतने क्षेत्र के अवगाहन में वज्र को तीन समय लगते हैं। असुरेन्द्र असुरराज चमर का अधोलोक-कण्डक सबसे थोड़ा, ऊर्ध्वलोक-कण्डक उससे संख्येयगुना।

गौतम! इस प्रकार देवेन्द्र देवराज शक्र अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को नहीं पकड़ सकता।

१२०. गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र की ऊंची, नीची और तिरछी गति के विषय में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र एक समय में सबसे थोड़ा क्षेत्र अधोलोक को अवगाहित करता है। तिरछे लोक में वह उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है और ऊर्ध्वलोक में उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है।

१२१. भन्ते! असुरेन्द्र असुरराज चमर की ऊंची, नीची और तिरछी गति के विषय में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गौतम! असुरेन्द्र असुरराज चमर एक समय में सबसे थोड़ा क्षेत्र ऊर्ध्वलोक को अवगाहित करता है। तिरछे लोक में वह उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है और अधोलोक में उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है।

१२२. भन्ते! वज्र की ऊंची, नीची और तिरछी गति के

गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा? बहुए वा? तुल्ले वा? विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं वज्जे अहे ओवयइ एक्केणं समएणं, तिरियं विसेसाहिए भागे गच्छइ, उड्डं विसेसाहिए भागे गच्छइ ॥

विषयस्य कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा? बहुको वा? तुल्यो वा? विशेषाधिको वा?

गौतम! सर्वस्तोकं क्षेत्रं वज्रम् अधः अवपतति एकेन समयेन, तिर्यक् विशेषाधिकान् भागान् गच्छति, ऊर्ध्वं विशेषाधिकान् भागान् गच्छति।

विषय में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गौतम! वज्र एक समय में सबसे थोड़ा क्षेत्र अधोलोक का अवगाहित करता है। तिरछे लोक में वह उससे विशेषाधिक भाग में गति करता है और ऊर्ध्वलोक में उससे विशेषाधिक गति करता है।

१२३. सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो ओवयणकालस्स य, उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा? बहुए वा? तुल्ले वा? विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उप्पयणकाले, ओवयणकाले संखेज्जगुणे॥

शक्रस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य अवपतनकालस्य च, उत्पतनकालस्य च कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा? बहुको वा? तुल्यो वा? विशेषाधिको वा?

गौतम! सर्वस्तोकः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य उत्पतनकालः, अवपतनकालः संख्येयगुणः।

१२३. भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के नीचे जाने के समय और ऊपर जाने के समय में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र के ऊपर जाने का समय सबसे थोड़ा है। नीचे जाने का समय उससे संख्येयगुणा अधिक है।

१२४. चमरस्स वि जहा सक्कस्स, नवरं—सव्वत्थोवे ओवयणकाले, उप्पयणकाले संखेज्जगुणे ॥

चमरस्यापि यथा शक्रस्य, नवरं—सर्वस्तोकः अवपतनकालः, उत्पतनकालः संख्येयगुणः।

१२४. शक्र की भांति चमर की वक्तव्यता। केवल इतना अन्तर है—नीचे जाने का समय सबसे थोड़ा है। ऊपर जाने का समय उससे संख्येयगुणा अधिक है।

१२५. वज्जस्स पुच्छा।

गोयमा! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले, ओवयणकाले विसेसाहिए ॥

वज्रस्य पृच्छा।

गौतम! सर्वस्तोकः उत्पतनकालः, अवपतनकालः विशेषाधिकः।

१२५. वज्र के विषय में पृच्छा।

गौतम! वज्र के ऊपर जाने का समय सबसे थोड़ा है, नीचे जाने का समय उससे विशेषाधिक है।

१२६. एयस्स णं भंते! वज्जस्स, वज्जाहिवइस्स, चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो ओवयणकालस्स य, उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा? बहुए वा? तुल्ले वा? विसेसाहिए वा?

गोयमा! सक्कस्स य उप्पयणकाले, चमरस्स य ओवयणकाले—एए णं दोण्णि वि तुल्ला सव्वत्थोवा। सक्कस्स य ओवयणकाले, वज्जस्स य उप्पयणकाले—एए णं दोण्ह वि तुल्ले संखेज्जगुणे। चमरस्स य उप्पयणकाले, वज्जस्स य ओवयणकाले—एए णं दोण्ह वि तुल्ले विसेसाहिए ॥

एतस्य भदन्त! वज्रस्य, वज्राधिपतेः, चमरस्य च असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य अवपतनकालस्य च उत्पतनकालस्य च कतरः कतरेभ्यः अल्पो वा? बहुको वा? तुल्यो वा? विशेषाधिको वा?

गौतम! शक्रस्य च उत्पतनकालः, चमरस्य च अवपतनकालः—एतौ द्वावपि तुल्यौ सर्वस्तोकौ। शक्रस्य च अवपतनकालः, वज्रस्य च उत्पतनकालः—एष द्वयोरपि तुल्यः संख्येयगुणः। चमरस्य च उत्पतनकालः, वज्रस्य च अवपतनकालः—एष द्वयोरपि तुल्यः विशेषाधिकः।

१२६. भन्ते! वज्र, वज्राधिपति शक्र और असुरेन्द्र असुरराज चमर के नीचे जाने के समय और ऊपर जाने के समय में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गौतम! शक्र के ऊपर जाने और चमर के नीचे जाने के समय—ये दोनों तुल्य हैं और सबसे अल्प हैं। शक्र के नीचे जाने और वज्र के ऊपर जाने का समय—ये दोनों तुल्य हैं और उससे संख्येयगुणा अधिक हैं। चमर के ऊपर जाने और वज्र के नीचे जाने का समय—ये दोनों तुल्य हैं और उससे विशेषाधिक हैं।

भाष्य

१. सूत्र ११९-१२६

गति के तीन प्रकार हैं—ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिरछी गति। शक्र की गति तीन गतिक्षेत्रों में एक समान नहीं है। कहीं शीघ्र गति है, तो कहीं मंदगति। इसी प्रकार वज्र और चमर की गति भी तीन गतिक्षेत्रों में एक जैसी नहीं है। ऊर्ध्वगति, अधोगति और तिरछी गति इन गतिक्षेत्रों तथा शक्र, चमर और वज्र—इन तीन गति करने वालों के ६ विकल्प होते हैं—

(क) एक समय (कालखण्ड) में अधोलोक में शक्र की गति सबसे कम

है।

(ख) तिरछे लोक में वह उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है। और

(ग) ऊर्ध्वलोक में वह उससे संख्येय भाग अधिक गति करता है।

(घ) एक समय (कालखण्ड) में ऊर्ध्वलोक में चमर की गति सबसे कम

है।

(ङ) तिरछे लोक में वह उससे संख्येयगुनी (दो गुनी) गति करता है और

(च) अधोलोक में वह उससे भी संख्येयगुनी गति करता है।

(छ) एक समय (कालखण्ड) में अधोलोक में वज्र की गति सबसे कम है।

(ज) तिरछे लोक में वह उससे विशेषाधिक गति करता है और

(झ) ऊर्ध्वलोक में वह उससे विशेषाधिक गति करता है।

गव्यूत की दृष्टि से शक्र, चमर और वज्र की गति इस प्रकार है—

शक्र एक समय में ऊंचा ८ गव्यूत, तिरछा ६ गव्यूत और नीचा ४ गव्यूत जाता है।

चमर एक समय में ऊंचा २ $\frac{२}{३}$ गव्यूत, तिरछा ५ $\frac{१}{३}$ गव्यूत और नीचा ८ गव्यूत जाता है।

वज्र एक समय में ऊंचा ४ गव्यूत, तिरछा ३ $\frac{१}{३}$ गव्यूत और नीचा २ $\frac{२}{३}$ गव्यूत जाता है।

अधिक सुगमता से समझने के लिए देखें यंत्र—

	शक्र	वज्र	चमर
ऊर्ध्व	८ गव्यूत	४ गव्यूत	२ $\frac{२}{३}$ गव्यूत
तिरछा	६ गव्यूत	३ $\frac{१}{३}$ गव्यूत	५ $\frac{१}{३}$ गव्यूत
अधो	४ गव्यूत	२ $\frac{२}{३}$ गव्यूत	८ गव्यूत

गति का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ये निष्कर्ष निकलते हैं—

शक्र की ऊर्ध्वगति और चमर की अधोगति समान है— ८ गव्यूत।

वज्र की ऊर्ध्वगति और शक्र की अधोगति समान है— ४ गव्यूत।

चमर की ऊर्ध्वगति और वज्र की अधोगति समान है— २ $\frac{२}{३}$ गव्यूत।

वज्र की तिर्यग्गति से चमर की तिर्यग्गति विशेष है।

चमर की तिर्यग्गति से शक्र की तिर्यग्गति विशेष है।

सबसे अधिक गति एक समय में ८ गव्यूत की है। एक योजन के चार गव्यूत होते हैं।^१ इसी माप के आधार पर यहां गति का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वैसे एक मान्यता के अनुसार एक योजन के दो गव्यूत अथवा गव्यूति भी होती है।^२ किंतु यहां एक योजन के चार गव्यूत किए गए हैं। एक गव्यूत के तीन भाग करने पर ८ गव्यूत के ८x३=२४ भाग होते हैं। एक समय में सबसे अधिक गति गव्यूत के तीन भाग की अपेक्षा से होती है। पूर्णांक की दृष्टि से २४ भागों को लक्ष्य कर यंत्र इस प्रकार बनता है—

	शक्र	वज्र	चमर
ऊर्ध्व	२४	१२	८
तिरछा	१८	१०	१६
अधो	१२	८	२४

चमरस्य चिन्ता-पदं

१२७. ताए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्ज-भयविप्पमुक्के, सक्केणं देविदेणं देवरण्णा महया अवमाणेणं अवमाणिए समाणे चमर-चंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि ओहयमणसकप्पे चिन्तासोय-सागरसंपविद्धे करयलपल्लहत्थमुहे अट्टञ्जा-णोवणाए भूमिगयदिट्ठीए झियाति ॥

१२८. ताए णं चमरं असुरिंदं असुररायं सामा-णियपरिसोववण्णया देवा ओहयमणसंकप्यं जाव झियायमाणं पासंति, पासित्ता करयल-परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेत्ति, वद्धावेत्ता एवं वयासी—किं णं देवानुप्पिया! ओहय-मणसंकप्पा चिन्तासोयसागरसंपविद्धा करयल-पल्लहत्थमुहा अट्टञ्जाणोवणाया भूमिगय-दिट्ठीया झियायह? ॥

चमरस्य चिन्ता-पदम्

ततः स चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः वज्रभय-विप्रमुक्तः, शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन महता अवमानेन अवमानितः सन् चमरचञ्चायां राजधान्यां सभायां सुधर्मायां चमरे सिंहासने उपहतमनःसंकल्पः चिन्ताशोकसागरसंप्र-विष्टः करतलपर्यस्तमुखः आर्तध्यानोपगतः भूमिगतदृष्टिकः ध्यायति।

ततः चमरम् असुरेन्द्रम् असुरराजं सामानिक-परिषदुपपन्नकाः देवाः उपहतमनःसंकल्पं यावत् ध्यायन्तं पश्यन्ति, दृष्ट्वा करतल-परिगृहीतां दशनखां सिरसावर्तां मस्तके अञ्जलिं कृत्वा जयेन विजयेन वर्धापयन्ति, वर्धापयित्वा एवमवादिषुः—किं देवानुप्पियाः! उपहतमनःसंकल्पाः चिन्ताशोकसागरसंप्रविष्टाः करतलपर्यस्तमुखाः आर्तध्यानोपगताः भूमि-गतदृष्टिकाः ध्यायत?

चमर की चिन्ता का पद

१२७. असुरेन्द्र असुरराज चमर वज्र के भय से मुक्त हो गया। किन्तु देवेन्द्र देवराज शक्र के द्वारा महान् अपमान से अपमानित बना हुआ चमरचञ्चा राजधानी की सुधर्मा सभा में चमर सिंहासन पर बैठा हुआ, उपहत मनः-संकल्प वाला, चिन्ता और शोक के सागर में निमग्न मुख हथेली पर टिकाए हुए, आर्तध्यान में लीन और दृष्टि को भूमि पर गाड़े हुए कुछ चिन्तन कर रहा था।

१२८. सामानिक परिषद् में उपपन्न देव उपहत मनः संकल्प वाले यावत् चिन्तारत असुरेन्द्र असुरराज चमर की देखते हैं और देखकर दोनो हथेलियों से निष्पन्न सम्पुटवाली दश नखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमाकर मस्तक पर टिका कर जय-विजय की ध्वनि से उसको वर्धापित करते हैं। वर्धापित कर इस प्रकार बोले—देवानुप्पिया! आज उपहत मनः संकल्प वाले, चिन्ता और शोक के सागर में निमग्न, मुख हथेली पर टिकाए हुए, आर्तध्यान में लीन और दृष्टि को भूमि पर गाड़े हुए आप क्या चिन्तन कर रहे हैं?

१. अभि. चि. ३/५५१—गव्यूतं क्रोशः।

वही, ३/५५१, ५५२—ती द्वौ हु गोस्तम् ॥

गव्या गव्यूत गव्यूती चतुश्रोशन्तु योजनम्।

२. आटे. गव्यूत, गव्यूतिः—१. A measure of length nearly equal to two miles or one krosa.

२. A measure of distance equal to two krosas.

१२६. तए णं से चमरे असुरिंदे असरराया ते सामाणियपरिसोववणए देवे एवं वयासी— एवं खलु देवानुप्पिया! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्छासाइए। तए णं तेणं परिकुविएणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसट्ठे। तं भद्दणं भवतु देवानुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स जस्समिह पभावेणं अकिट्ठे अब्बहिए अपरिताविए इहमागए इह समोसडे इह संपत्ते इहेव अज्ज उवसंपिज्जत्ता णं विहरामि। तं गच्छामो णं देवानुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव सव्वि-ड्डीए जाव जेणेव असोगवरपायवे, जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता ममं तिकखुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेत्ता वंदेत्ता नमंसित्ता एवं वयासी— एवं खलु भंते! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्छासाइए। तए णं तेणं परिकुविएणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसट्ठे। तं भद्दणं भवतु देवानुप्पियाणं जस्समिह पभावेणं अकिट्ठे अब्बहिए अपरिताविए इहमागए इह समोसडे इह संपत्ते इह अज्ज उवसंपिज्जत्ता णं विहरामि। तं खामेमि णं देवानुप्पिया! खमंतु णं देवानुप्पिया! खंतुमरिहंति णं देवानुप्पिया! नाइ भुज्जो एवं करणयाए त्ति कट्टु ममं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता जाव बत्तीसइब्बं नट्टुविहिं उवदंसैइ, उवदंसैत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए ॥

ततः स चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः तान् सामानिकपरिषदुपपन्नकान् देवान् एवम-वादीद्— एवं खलु देवानुप्रियाः! मया श्रमणं भगवन्तं महावीरं निश्चित्य शक्रो देवेन्द्रः देवराजः स्वयमेव अत्याशातितः। ततः तेन परिक्रुपितेन सता मम वधाय वज्रं निःसृष्टम्। तद् भद्रं भवतु देवानुप्रियाः! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य यस्यास्मि प्रभावेण अक्लिष्टः अव्यथितः अपरितापितः इहागतः इह सम-वसृतः इह संप्राप्तः इहेव अद्य उपसंपद्य विहरामि। तद् गच्छामः देवानुप्रियाः! श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दामहे नमस्यामो यावत् पर्युपास्महे इति कृत्वा चतुःषष्ट्याः सामानिक-साहस्र्याः यावत् सर्वद्वयां यावद् यत्रैव अशोक-वरपादपाः यत्रैव ममान्तिकं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य मां त्रिकूलः आदक्षिणप्रदक्षिणां कृत्वा वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीद्— एवं खलु भदन्त! मया युष्मान् निश्चित्य शक्रः देवेन्द्रः देवराजः स्वयमेव अत्याशातितः। ततः तेन परिक्रुपितेन सता मम वधाय वज्रं निःसृष्टम्। तद् भद्रं भवतु देवानुप्रियाणां यस्यास्मि प्रभावेण अक्लिष्टः अव्यथितः अपरितापितः इहागतः इह समवसृतः इह संप्राप्तः इह अद्य उपसंपद्य विहरामि। तद् क्षमे देवानुप्रियाः! क्षमन्ताम् देवानुप्रियाः! क्षन्तुमर्हन्ति देवानुप्रियाः! न भूय एवं करणतेति कृत्वा मां वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा उत्तरपौरस्त्यं दिग्भागम् अपक्रामति, अपक्रम्य द्वात्रिंशद्वर्षं नाट्य-विधिम् उपदर्शयति, उपदर्श्य यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतः तामेव दिशि प्रतिगतः।

१२६. असुरेन्द्र असुरराज चमर ने उन सामानिक परिषद् में उपपन्न देवों से इस प्रकार कहा— देवानुप्रियो! मैंने श्रमण भगवान् महावीर की निश्चा से देवेन्द्र देवराज शक्र की स्वयं ही अति आशातना की। इससे परिक्रुपित हो कर उसने मुझे मारने के लिए वज्र का प्रक्षेपण किया। देवानुप्रियो! भला हो श्रमण भगवान् महावीर का, जिनके प्रभाव से मैं अक्लिष्ट, अव्यथित और अपरितापित रह कर यहां आया हूं। यहां समवसृत हूं। यहां संप्राप्त हूं और आज इसी स्थान में उपसम्पन्न (प्रशान्त) अवस्था में विहरण कर रहा हूं। इसलिए देवानुप्रियो! हम श्रमण भगवान् महावीर के पास चले, उन्हें वन्दन-नमस्कार करें यावत् पर्युपासना करें, ऐसा सोचकर वह चौंसठ हजार सामानिक देवों के साथ यावत् अपनी समग्र ऋद्धि के साथ यावत् जहां प्रवर अशोक वृक्ष है, जहां मेरा पार्श्व है, वहां आता है, आकर तीन बार दाईं ओर से प्रारम्भ कर मेरी प्रदक्षिणा कर, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार बोला— मैंने आपकी निश्चा से देवेन्द्र देवराज शक्र की स्वयं अति आशातना की। उसने परिक्रुपित हो कर मुझे मारने के लिए वज्र का प्रक्षेपण किया। भला हो देवानुप्रिय! आपका जिनके प्रभाव से मैं अक्लिष्ट, अव्यथित और अपरितापित रह कर यहां आया हूं, यहां समवसृत हूं, यहां संप्राप्त हूं और आज इसी स्थान में उपसम्पन्न अवस्था में विहरण कर रहा हूं। देवानुप्रिय! मैं आपसे क्षमायाचना करता हूं, देवानुप्रिय! आप मुझे क्षमा करें, देवानुप्रिय! आप क्षमा करने में समर्थ हैं। मैं पुनः ऐसा कभी नहीं करूंगा। ऐसा कह कर वह मुझे वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशाभाग में अवक्रमण करता हूं। अवक्रमण कर यावत् बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि दिखाता है। दिखा कर जिस दिशा से आया, उसी दिशा में चला गया।

भाष्य

१. अक्लिष्ट

अकिट्ठ—वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप किए हैं— अकृष्ट और अक्लिष्ट। अकृष्ट—जिसका विलेखन या कृशीकरण न हुआ हो। अक्लिष्ट—अवाधित।

१३०. एवं खलु गोयमा! चमरेण असुरिदेणं असुररणा सा दिव्वा देविड्डी दिव्वा देव-ज्जुती दिव्वे देवाणुभागे लब्धे पत्ते अभि-समण्णागए। ठिई सागरोपमं। महाविदेहे वासे सिञ्जिहिइ जाव अंतं काहिइ ॥

एवं खलु गौतम! चमरेण असुरेन्द्रेण असुर-राजेन सा दिव्या देवर्द्धिः दिव्या देवद्युतिः दिव्यः देवानुभागः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः। स्थितिः सागरोपमम्। महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति यावद् अन्तं करिष्यति।

२. अपरितापित

वज्र की सन्निधि से ताप की बहुत संभावना थी, फिर भी ताप नहीं हुआ।

१३०. गौतम! इस प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर ने वह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव उपलब्ध किया, प्राप्त किया, अभिसमन्वागत (विषाक-भिमुख) किया। उसकी स्थिति एक सागरोपम की है वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा।

असुरकुमाराणं उड्डं-उप्ययणस्स हेउ-पदं

१३१. किंपत्तियं णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्डं उप्ययंति जाव सोहम्मो कप्पो? गोयमा! तेसि णं देवाणं अहुणोववण्णाण वा चरिमभवत्थाण वा इमेयारूवे अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए संकपे समुप्यज्जइ—अहो! णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्डी जाव अभिसमण्णागए, जारिसिया णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्डी जाव अभिसमण्णागए, तारिसिया णं सक्केणं देविदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्डी जाव अभिसमण्णागए। जारिसिया णं सक्केणं देविदेणं देवरण्णा जाव अभिसमण्णागए, तारिसिया णं अम्हेहि वि जाव अभिसमण्णागए। तं गच्छामो णं सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवामो पासामो ताव सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्डी जाव अभिसमण्णागयं, पासउ ताव अम्ह वि सक्के देविदे देवराया दिव्वं देविड्डी जाव अभिसमण्णागयं। तं जाणामो ताव सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्डी जाव अभिसमण्णागयं, जाणउ ताव अम्ह वि सक्के देविदे देवराया दिव्वं देविड्डी जाव अभिसमण्णागयं।

एवं खलु गोयमा! असुरकुमारा देवा उड्डं उप्ययंति जाव सोहम्मो कप्पो ॥

असुरकुमाराणाम् उर्ध्वमुत्पतनस्य हेतु-पदम्

किंप्रत्ययितं भदन्त! देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः? गौतम! तेषां देवानाम् अधुनोपपन्नानां वा चरमभवरथानां वा अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुत्पद्यते—अहो! अस्माभिः दिव्या देवर्द्धिः यावद् अभिसमन्वागता, यादृशी अस्माभिः दिव्या देवर्द्धिः यावद् अभिसमन्वागता, तादृशी शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन दिव्या देवर्द्धिः यावद् अभिसमन्वागता। यादृशी शक्रेण देवेन्द्रेण देवराजेन यावद् अभिसमन्वागता, तादृशी अस्माभिरपि यावत् अभिसमन्वागता। तद् गच्छामः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य अन्तिकं प्रादुर्भवामः पश्यामः तावत् शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य दिव्यां देवर्द्धिं यावद् अभिसमन्वागतां, पश्यतु तावद् अस्माकमपि शक्रः देवेन्द्रः देवराजः दिव्यां देवर्द्धिं यावद् अभिसमन्वागताम्। तज्जानीमः तावत् शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य दिव्यां देवर्द्धिं यावद् अभिसमन्वागताम्, जानातु तावद् अस्माकमपि शक्रः देवेन्द्रः देवराजः दिव्यां देवर्द्धिं यावद् अभिसमन्वागताम्।

एवं खलु गौतम! असुरकुमाराः देवाः ऊर्ध्वम् उत्पतन्ति यावत् सौधर्मः कल्पः।

असुरकुमारों का ऊर्ध्वलोक में जाने का हेतु-पद

१३१. 'भन्ते असुरकुमार देव ऊर्ध्वलोकं में यावत् सौधर्मकल्प तक किस प्रत्यय से जाते हैं? गौतम! तत्काल उपपन्न और जीवन के चरम भाग में अवस्थित देवों के यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न होता है—अहो! हमने ऐसी दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है। हमने जैसी दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देवर्द्धिं यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने अभिसमन्वागत की है। जैसी दिव्य देवर्द्धिं यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने अभिसमन्वागत की है, हमने भी वैसी ही दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है; इसलिए हम देवेन्द्र देवराज शक्र के पास जाएं, वहाँ प्रकट हो कर देवेन्द्र देवराज शक्र ने दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है, उसे देखें। हमने दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है उसे देवेन्द्र देवराज शक्र भी देखें। देवेन्द्र देवराज शक्र ने दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है, उसे हम जानें। हमने दिव्य देवर्द्धिं यावत् अभिसमन्वागत की है, उसे देवेन्द्र देवराज शक्र भी जानें।

इस प्रकार गौतम! असुरकुमार देव ऊर्ध्वलोक में यावत् सौधर्म कल्प तक जाते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १३१

इसी शतक के ६० वें सूत्र में असुरकुमार देवों के सौधर्म कल्प में जाने का एक प्रत्यय बतलाया है—भवप्रत्ययिक वैरानुबन्ध। प्रस्तुत सूत्र में उसका दूसरा प्रत्यय निर्दिष्ट है, वह है कुतूहल या जिज्ञासा अथवा ऋद्धिविषयक तुलनात्मक दृष्टिकोण। शक्र की ऋद्धि को साक्षात् देखना और अपनी ऋद्धि का उसे साक्षात् कराना। कुतूहल और प्रदर्शन की वृत्ति से देव भी मुक्त नहीं हैं। यह इस प्रकरण से फलित होता है।

प्रस्तुत सूत्र में ऋद्धि के दर्शन अथवा प्रदर्शन की उत्सुकता के दो बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है। उत्सुकता का पहला बिन्दु है अधुनोपपन्न और दूसरा बिन्दु है चरमभवस्थ। अधुनोपपन्न देव तत्काल उस अवस्था में

आता है, इसलिए उसके मन में शक्र की ऋद्धि देखने की उत्सुकता होती है अथवा अपनी ऋद्धि शक्र को दिखाने की उत्सुकता होती है। इसी प्रकार जीवन की अंतिम अवस्था में भी वैसी उत्सुकता होती है। वह सोचता है कि दूसरे जीवन में जाने से पहले-पहले मैं शक्र की ऋद्धि देख लूँ अथवा अपनी ऋद्धि शक्र को दिखाऊँ।

शब्द-विमर्श

चरमभवस्थ—यहां 'चरमभवस्थ' शब्द से जीवन के अंतिम भाग की सूचना की गई है।'

१३२. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति ॥

तदेवं भदन्त! तदवं भदन्त! इति।

१३२. भन्ते! वह ऐसा ही है। भन्ते! वह ऐसा ही है।

१. भ. वृ. ३/१३१—'चरिमभवत्थाण व' ति भवचरमभागस्थानां च्यवनावसर इत्यर्थः।

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

किरिया-पदं

क्रिया-पदम्

क्रिया-पद

१३३. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था जाव परिसा पडिगया॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरभासीद् यावत् परिषत् प्रतिगता ।

१३३. उस काल और उस समय राजगृह नाम का नगर था । भगवान् महावीर वहाँ पधारे । परिषद् आई यावत् धर्म सुनकर वापिस चली गई ।

१३४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी मंडिअपुत्ते नामं अणगारे पगइभएए जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—कइ णं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ?

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी मण्डितपुत्रः नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः यावत् पर्युपासमानः एवमवादीत्—कति भदन्त! क्रियाः प्रज्ञप्ताः?

१३४. *उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर का अन्तेवासी शिष्य मण्डितपुत्र नामक अनगार भगवान् के पास आया । वह प्रकृति से भद्र था यावत् भगवान् की पर्युपासना करता हुआ इस प्रकार बोला—भंते! कितनी क्रियाएं प्रज्ञप्त हैं?

मंडिअपुत्ता! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काइया, अहिगरणिआ, पाओसिआ, पारियावणिआ, पाणाइवायकिरिया ॥

मण्डितपुत्र! पञ्चक्रियाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी, प्राणातिपातक्रिया ।

मण्डितपुत्र! पांच क्रियाएं प्रज्ञप्त हैं, जैसे—कायिकी, अधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात-क्रिया ।

१३५. काइया णं भंते! किरिया कइविहा पण्णत्ता?

कायिकी भदन्त! क्रिया कतिविधा प्रज्ञप्ता?

१३५. भन्ते! कायिकी क्रिया कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?

मंडिअपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अणुवरयकायकिरिया य, दुप्पउत्तकायकिरिया य ॥

मण्डितपुत्र! द्विधा प्रज्ञप्ता, तद् यथा—अनुपरतकायक्रिया च दुष्प्रयुक्तकायक्रिया च ।

मण्डितपुत्र! वह दो प्रकार की प्रज्ञप्त हैं? जैसे—अनुपरतकायक्रिया—विरतिरहित व्यक्ति की काया की प्रवृत्ति और दुष्प्रयुक्तकायक्रिया—इन्द्रिय और मन के विषयों में आसक्त व्यक्ति की काया की प्रवृत्ति ।

१३६. अहिगरणिआ णं भंते! किरिया कइविहा पण्णत्ता?

आधिकरणिकी भदन्त! क्रिया कतिविधा प्रज्ञप्ता?

१३६. भन्ते! आधिकरणिकी क्रिया कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?

मंडिअपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजोयणाहिगरणकिरिया य, निवत्तणाहिगरणकिरिया य ॥

मण्डितपुत्र! द्विधा प्रज्ञप्ता, तद् यथा—संयोजनाधिकरणक्रिया च निर्वर्तनाधिकरणक्रिया च ।

मण्डितपुत्र! वह दो प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—संयोजनाधिकरणक्रिया—पूर्व निर्मित भागों को जोड़कर शस्त्र-निर्माण करने की क्रिया और निर्वर्तनाधिकरणक्रिया—नए सिरे से शस्त्र-निर्माण करने की क्रिया ।

१३७. पाओसिआ णं भंते! किरिया कइविहा पण्णत्ता?

प्रादोषिकी भदन्त! क्रिया कतिविधा प्रज्ञप्ता?

१३७. भन्ते! प्रादोषिकी क्रिया कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?

मंडिअपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—जीवपाओसिआ य, अजीवपाओसिआ य ॥

मण्डितपुत्र! द्विधा प्रज्ञप्ता, तद् यथा—जीवप्रादोषिकी च अजीवप्रादोषिकी च ।

मण्डितपुत्र! वह दो प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—जीव-प्रादोषिकी और अजीव-प्रादोषिकी ।

१३८. पारियावणिआ णं भन्ते! किरिया कइ-
विहा पण्णत्ता?
मंडिअपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—
सहत्थपारियावणिआ य, परहत्थपारिया-
वणिआ य॥

पारितापनिकी भदन्त! क्रिया कतिविधा
प्रज्ञप्ता?
मण्डितपुत्र! द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद् यथा—
स्वहस्तपारितापनिकी च परहस्तपारितापनिकी
च।

१३८. भन्ते! पारितापनिकी क्रिया कितने प्रकार की
प्रज्ञप्त है?
मण्डितपुत्र! वह दो प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—
स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्तपारितापनिकी।

१३९. पाणाइवायकिरिया णं भन्ते! किरिया
कइविहा पण्णत्ता?
मंडिअपुत्ता! दुविहा पण्णत्ता, तं
जहा—सहत्थपाणाइवायकिरिया य,
परहत्थपाणाइवायकिरिया य ॥

प्राणातिपातक्रिया भदन्त! क्रिया कतिविधा
प्रज्ञप्ता?
मण्डितपुत्र! द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद् यथा—
स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया च परहस्तप्राणाति-
पातक्रिया च।

१३९. प्राणातिपातक्रिया कितने प्रकार की प्रज्ञप्त है?
मण्डितपुत्र! वह दो प्रकार की प्रज्ञप्त है, जैसे—
स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया और परहस्तप्राणातिपा-
तक्रिया।

भाष्य

१. सूत्र १३४-१३६

जैन धर्म निष्क्रिय धर्म नहीं है। उसमें सक्रियता और निष्क्रियता दोनों का संतुलन है। वह न केवल प्रवृत्तियादी है और न केवल निवृत्तियादी। उसमें दोनों का समन्वय है। इन दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो तत्व हैं—आश्रय और संवर। आश्रय बंध का हेतु है। संवर मोक्ष का हेतु है। आश्रय का सम्बन्ध प्रवृत्ति से है और संवर का सम्बन्ध निवृत्ति से है। अध्यात्म-साधना के प्रारम्भकाल में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों रहते हैं। उसका चरम बिन्दु प्राप्त होने पर प्रवृत्ति का बल टूट जाता है। केवल निवृत्ति शेष रहती है।

प्रवृत्ति के दो रूप बनते हैं—शुभ और अशुभ। प्रज्ञापना वृत्ति के अनुसार प्रस्तुत क्रिया-पञ्चक प्राणातिपात के निष्पादन में समर्थ क्रिया-विशेष से संबंधित है।^१ क्रिया के प्रस्तुत वर्गीकरण का सम्बन्ध अशुभ प्रवृत्ति से है।

क्रिया का अर्थ है—कर्मबन्ध की हेतुभूत चेष्टा।^२ इसके अनेक वर्गीकरण हैं।^३

क्रिया का मुख्य हेतु है—शरीर। इसलिए सबसे पहली क्रिया कायिकी—शरीर से होने वाली प्रवृत्ति है। क्रिया का चिंतन आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। केवल स्थूल प्रवृत्ति ही क्रिया नहीं है, कार्य करने का क्षण ही क्रिया नहीं है, किन्तु कार्य करने की जो रति, आन्तरिक इच्छा या आकांक्षा है, वह भी क्रिया है।

इस आधार पर कायिकी क्रिया को दो भागों में विभक्त किया गया—अनुपगत कायिकी और दुष्प्रयुक्त कायिकी। स्वामित्व की दृष्टि

से विचार करें, तो अनुपगत कायिकी क्रिया अविरत व्यक्ति के होती है। दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया अविरत और विरत दोनों के होती है, प्रमत्त संवति (उठे गुणस्थान के स्वामी) के भी होती हैं। दुष्प्रवृत्ति की दृष्टि से पुरुष निरन्तर सक्रिय रहता है। अविरति सूक्ष्म क्रिया अचेतनस्तर की क्रिया है। दुष्प्रवृत्ति स्थूलक्रिया चेतनस्तर की क्रिया है।

क्रिया का दूसरा माध्यम है अधिकरण—यंत्र, शस्त्र आदि उसके दो प्रकार हैं—१. संयोजनाधिकरण—यंत्र, शस्त्र आदि के पुजों को मिलाना। २. निर्वर्तनाधिकरण—यंत्र, शस्त्र आदि का नया निर्माण करना।^४ शस्त्र-निर्माण का हेतु अविरति और दुष्प्रवृत्ति दोनों हैं। यदि कायिकी क्रिया न हो, तो आधिकरणकी क्रिया संभव नहीं होती। शस्त्र-निर्माण की पृष्ठभूमि में है—अविरति और निर्माण की प्रक्रिया है—दुष्प्रवृत्ति।

क्रिया का तीसरा प्रकार है—प्रदोष—क्रोधावेश। मनुष्य क्रोधावेशजन्य क्रिया का प्रयोग कभी अपने पर, कभी दूसरे पर और कभी एक साथ दोनों पर करता है। यह है—जीवप्रादोषिकी क्रिया। वृत्तिकार ने केवल क्रोधावेश को ही जीवप्रादोषिकी क्रिया माना है। वह क्रोध का प्रयोग अचेतन पदार्थों पर भी करता है। यह अजीव-प्रादोषिकी क्रिया है। वृत्तिकार ने केवल क्रोधावेश को भी अजीव-प्रादोषिकी क्रिया माना है।^५

प्रदोष के अग्रिम चरण दो हैं—परिताप और प्राणातिपात। अविरति हिंसा का मौलिक आधार है। शस्त्र हिंसा का वाहरी कारण है, प्रदोष हिंसा का आन्तरिक कारण है। परिताप और प्राणातिपात

१. प्रज्ञा. वृ. प. ४४४—इह कायिकीक्रिया औदारिकादिक्रियाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्य परिगृह्यते, न या काचन कामणकायाश्रिता वा।

२. भ. वृ. ३/१३४—करणं क्रिया कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टा।

३. द्रष्टव्य, ठाणं २/२-३७ तथा उनका टिप्पण।

४. भ. वृ. ३/१३५—अनुपगतः—अविरतस्तस्य कर्माक्रियाऽनुपगतकायिकी, इयमविरतस्य भवति, 'दुष्प्रयुक्तकायिकीरिया य' ति दुष्टं प्रयुक्ता दुष्प्रयुक्तः स चासी कायश्च दुष्प्रयुक्तकायस्तस्य क्रिया दुष्प्रयुक्तकायिकी अथवा दुष्टं प्रयुक्तं प्रयोगो यस्य

दुष्प्रयुक्तस्तस्य कायिकीरिया दुष्प्रयुक्तकायिकी, इयं प्रमत्तसंयतस्यापि भवति, विरतिमत्तः प्रमादे सति कायदुष्टप्रयोगस्य सद्भावत्।

५. भ. वृ. ३/१३६—संयोजन—हल-गर-विष-कूटयंत्राद्यज्ञानां पूर्वनिर्वर्तितानां मौल्यं तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया 'निब्वत्तणाहिरणकिरिया य' ति, निर्वर्तनं—आसिश्चित्तोपरादीनां निष्पादनं तदेवाधिकरणक्रिया निर्वर्तनाधिकरणक्रिया।

६. भ. वृ. ३/१३७—जीवस्य—आत्मपरतदुष्प्रयुक्तपरि प्रदोषाद् वा क्रिया प्रदोषकरणमेव वा, 'अजीवपाडसिया य'ति अजीवस्योपरि प्रदोषाद् वा क्रिया प्रदोषकरणमेव वा।

ये दोनों हिंसा के प्रकार हैं। पीड़ा देना परिताप है और प्राण-वियोजन करना प्राणातिपात है। मनुष्य अपने हाथ से स्वयं को पीड़ित करता है, दूसरे को पीड़ित करता है अथवा दोनों को पीड़ित करता है, यह स्वहस्तपारितापनिकी क्रिया है। कुछ चिंतकों का मत है—जैन लोग शरीर को सताते हैं और शरीर को पीड़ा देने में धर्म मानते हैं। यह मत समाधीन नहीं है। अपने शरीर को पीड़ा देना उतना ही अधर्म है जितना कि दूसरे के शरीर को पीड़ा पहुंचाना है। यह स्वहस्तपारितापनिकी क्रिया है। इससे अशुभ कर्म का बन्ध होता है। अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करना अपने शरीर को परिताप देना नहीं है। जहां परिताप की अनुभूति हो वहां तपस्या का स्वरूप बदल जाता है।

दूसरे के हाथ से स्वयं को, किसी दूसरे को अथवा दोनों को

पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न परहस्तपारितापनिकी क्रिया है।

अपने हाथ से अपना, दूसरों का या दोनों का प्राणवियोजन करना स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया है। दूसरे के हाथ से अपना, दूसरे का अथवा दोनों का प्राणवियोजन करना परहस्तप्राणातिपातक्रिया है। प्राणातिपातक्रिया की पृष्ठभूमि में भी प्रादोषिकी क्रिया है। कुछ लोग समाधिमरण के लिए किए जाने वाले अनशन को भी आत्महत्या वतलाते हैं, यह सम्यक् नहीं है। अनशन अपने हाथ से अपने प्राणों का वियोजन नहीं है। वह समाधि की साधना है। साधना करते-करते प्राण का वियोजन हो जाता है, किन्तु लक्ष्य नहीं है। आत्महत्या वह हो सकती है जिसके पीछे प्रादोषिकी क्रिया जुड़ी हुई है।

किरिया-वेदणा-पदं

१४०. पुविं भंते! किरिया, पच्छा वेदणा?
पुविं वेदणा, पच्छा किरिया?

मंडिअपुत्ता! पुविं किरिया, पच्छा वेदणा।
णो पुविं वेदणा, पच्छा किरिया ॥

१४१. अत्थि णं भंते! समणाणं निग्गंधाणं
किरिया कज्जइ?
हंता अत्थि ॥

१४२. कहण्णं भंते! समणाणं निग्गंधाणं
किरिया कज्जइ?
मंडिअपुत्ता! पमायपच्चया, जोगनिमित्तं च।
एवं खलु समणाणं निग्गंधाणं किरिया
कज्जइ ॥

क्रिया-वेदना-पदम्

१४०. पूर्व भदन्त! क्रिया, पश्चाद् वेदना?
पूर्व वेदना, पश्चात् क्रिया?

मण्डितपुत्र! पूर्व क्रिया, पश्चाद् वेदना। नो
पूर्व वेदना, पश्चात् क्रिया।

अस्ति भदन्त! श्रमणैः निर्ग्रन्थैः क्रिया क्रियते?
हन्त अस्ति।

कथं भदन्त! श्रमणैः निर्ग्रन्थैः क्रिया क्रियते?
मण्डितपुत्र! प्रमादप्रत्ययाद्, योगनिमित्तं च।
एवं खलु श्रमणैः निर्ग्रन्थैः क्रिया क्रियते।

क्रिया-वेदना-पद

१४०. 'भंते! क्या पहले क्रिया और पीछे वेदना
होती है? अथवा पहले वेदना और पीछे क्रिया
होती है?

मण्डितपुत्र! पहले क्रिया और पीछे वेदना होती
है। पहले वेदना और पीछे क्रिया नहीं होती।

१४१. भन्ते! क्या श्रमण-निर्ग्रन्थों के क्रिया होती
है?
हां, हांती है।

१४२. भन्ते! श्रमण-निर्ग्रन्थों के क्रिया कैसे होती
है?
मण्डितपुत्र! उसका प्रत्यय है—प्रमाद और उसका
निमित्त है योग। इस प्रकार श्रमण-निर्ग्रन्थों के
प्रमाद और योग—इन दो हेतुओं से क्रिया होती
है।

भाष्य

१. सूत्र १४०-१४२

क्रिया और वेदना में कार्य-कारण-भाव का सम्बन्ध है। वृत्तिकार ने क्रिया के दो अर्थ किए हैं—क्रिया से होने वाला कर्मबंध अथवा क्रिया को ही कर्मबंध कहा जा सकता है। वेदना का अर्थ है—क्रिया का अनुभव। अनुभव कर्मपूर्वक ही होता है। यदि कर्म नहीं है तो अनुभव किसको हो?

प्रश्न यह है कि मंडितपुत्र ने यह जिज्ञासा क्यों की? क्रिया बीज है और वेदना उसका फल है। बीज के बिना फल कहां से

होगा? इस सचाई को एक सामान्य मनुष्य भी जानता है। इस जिज्ञासा के पीछे हेतु क्या है?

“वेदना” शब्द के दो अर्थ हैं—दुःख और अनुभव। अहेतुक दुःखवादी हेतु के बिना ही दुःख का होना मानते हैं। परिस्थितवादी दुःख को परिस्थितिजनित मानते हैं। इन विकल्पों को ध्यान में रखकर मंडितपुत्र ने प्रश्न किया—दुःख क्रियापूर्वक होता है या दुःख होने के पश्चात् कोई क्रिया होती है? भगवान् ने इसका उत्तर दिया—दुःख कार्य है, इसलिए वह पश्चात् होता है, क्रिया कारण है, इसलिए वह पूर्व होती है।

१. भ. वृ. ३/१४०—क्रिया—करणं तज्जन्वत्वात्कर्मापि क्रिया, अथवा क्रियते इति क्रिया कर्मब. वेदना तु कर्मणाऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति कर्मपूर्वकत्वात्तदनुभवस्येति ॥

इसकी व्याख्या का दूसरा नय यह हो सकता है—क्रिया का अर्थ है—आश्रव और वेदना का अर्थ है—कर्म-पुद्गलों का संबन्ध। आश्रव और कर्म का पौर्वापर्य जानने के लिए यह प्रश्न पूछा गया। उसके उत्तर में भगवान् ने कहा—पहले आश्रव होता है और फिर वेदना—कर्म-पुद्गलों के स्कन्ध का बंध होता है। धवला में वेदना

की व्युत्पत्ति वर्तमान और भविष्य दोनों काल-खण्डों में की है—जिसका वेदन किया जाता है अथवा जिसका वेदन किया जाएगा, वह है वेदना।^१ प्रमाद-प्रत्यय और योगनिमित्त की विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य भ. वि. खण्ड १, १/१४०-१४६ का भाष्य।

अंतकिरिया-पदं

१४३. जीवे णं भंते! सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ?

हंता मण्डिअपुत्ता! जीवे णं भंते! सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ ॥

१४४. जावं च णं भंते! से जीवे सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?

नो इणट्ठे समट्ठे ॥

१४५. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति?

मण्डिअपुत्ता! जावं च णं से जीवे सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं से जीवे—आरभइ सारभइ समारभइ, आरंभे वट्टइ सारंभे वट्टइ समारंभे वट्टइ, आरभमाणे सारभमाणे समारभमाणे, आरंभे वट्टमाणे सारंभे वट्टमाणे समारंभे वट्टमाणे बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खावणयाए सोयावणयाए जूरावणयाए तिप्पावणयाए पिट्ठावणयाए परियावणयाए वट्टइ।

अन्तक्रिया-पदम्

जीवः भदन्त! सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति?

हन्त मण्डितपुत्र! जीवः सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति।

यावच्च भदन्त! स जीवः सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया भवति?

नायमर्थः समर्थः।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—यावच्च स जीवः सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया न भवति?

मण्डितपुत्र! यावच्च स जीवः सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति, तावच्च स जीवः—आरभते संरभते समारभते, आरम्भे वर्तते संरम्भे वर्तते समारम्भे वर्तते, आरभमाणः संरभमाणः समारभमाणः, आरम्भे वर्तमानः संरम्भे वर्तमानः समारम्भे वर्तमानः बहूनां प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां दुक्खावणयाए शोकापनाय जूरापनाय तिप्पावणयाए पिट्ठावणयाए परितापनाय वर्तते।

अन्तक्रिया-पद

१४३. भन्ते! क्या जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है?

हां, मण्डितपुत्र! जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है।

१४४. भन्ते! जब वह जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है तब उस जीव के अन्तिम समय में अन्तक्रिया होती है?

यह अर्थ संगत नहीं है।

१४५. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जब वह जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है, तब उस जीव के अन्तिम समय में अन्तक्रिया नहीं होती?

मण्डितपुत्र! जब वह जीव सदा एक साथ एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है तब वह जीव आरम्भ करता है, संरम्भ करता है और समारम्भ करता है। वह आरम्भ में प्रवृत्त रहता है, संरम्भ में प्रवृत्त रहता है और समारम्भ में प्रवृत्त रहता है। वह आरम्भ करता हुआ, संरम्भ करता हुआ और समारम्भ करता हुआ, आरम्भ में प्रवृत्त रहता हुआ, संरम्भ में प्रवृत्त रहता हुआ और समारम्भ में प्रवृत्त रहता हुआ अनेक प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःखी बनाता है, शोकाकुल करता है, जुराता (शरीर को जीर्ण अथवा खेदखिन्न करता) है, रुलाता है, पीटता है और परिताप देता है।

१. ष. ख. धवला, पृ. ११/ख ४/भा. २/सू. १०/पृ ३०२—वेद्यते वेदियते इति वेदना शब्दः सिद्धः। अद्विविहकम्पोग्गल खंधी वेयणा।

से तेणद्वेषं मंडिअपुत्ता! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समितं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति ॥

१४६. जीवे णं भंते! सया समितं नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ?

हंता मंडिअपुत्ता! जीवे णं सया समितं नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ ॥

१४७. जावं च णं भंते! से जीवे नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?

हंता मंडिअपुत्ता! जावं च णं से जीवे नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ ॥

१४८. से केणद्वेषं भंते! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ?

मंडिअपुत्ता! जावं च णं से जीवे सया समितं नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं से जीवे—नो आरभइ नो सारभइ नो समारभइ, नो आरंभे वट्टइ नो सारंभे वट्टइ नो समारंभे वट्टइ, अणारभमाणे असारभमाणे असमारभमाणे, आरंभे अवट्टमाणे सारंभे अवट्टमाणे समारंभे अवट्टमाणे बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं अदुक्खावणयाए असोयावणयाए अजुरावणयाए अतिप्पावणयाए अपिट्टावणयाए अपरियावणयाए वट्टइ ।

तत् तेनार्थेन मण्डितपुत्र! एवमुच्यते—यावच्च स जीवः सदा समितम् एजति व्येजति चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया न भवति ।

जीवः भदन्त! सदा समितम् न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति?

हन्त मण्डितपुत्र! जीवः सदा समितं न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति ।

यावच्च भदन्त! स जीवः न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया भवति?

हन्त मण्डितपुत्र! यावच्च स जीवः न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया भवति ।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—यावच्च स जीवः न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया भवति?

मण्डितपुत्र! यावच्च स जीवः सदा समितं न एजति न व्येजति न चलति न स्पन्दते न घटते न क्षुभ्यति न उदीरयति न तं तं भावं परिणमति, तावच्च स जीवः—नो आरभते नो संरभते नो समारभते, नो आरंभे वर्तते नो संरंभे वर्तते नो समारंभे वर्तते, अनारभमाणः असंरभमाणः असमारभमाणः, आरंभेऽवर्तमानः संरंभेऽवर्तमानः समारंभेऽवर्तमानः बहूनां प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानाम् अदुक्खापनाय अशोकापनाय अजुरापनाय 'अतिप्पावणयाए अपिट्टावणयाए' अपरितापनाय वर्तते ।

मण्डितपुत्र! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जब तक जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त होता है तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत होता है, तब उस जीव के अन्तिम समय में अन्तक्रिया नहीं होती ।

१४६. भन्ते! क्या जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत नहीं होता है?

हां, मण्डितपुत्र! जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत नहीं होता है ।

१४७. भन्ते! क्या जब वह जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता तथा उस-उस भाव में परिणत नहीं होता, तब उस जीव की अन्तिम समय में अन्तक्रिया हो जाती है?

हां, मण्डितपुत्र! जब वह जीव एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता है तथा उस-उस भाव में परिणत नहीं होता, तब उस जीव के अन्तिम समय में अन्तक्रिया हो जाती है ।

१४८. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जब वह जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता तथा उस-उस भाव (परिणाम) में परिणत नहीं होता, तब उस जीव के अन्तिम समय में अन्तक्रिया हो जाती है?

मण्डितपुत्र! जब वह जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा को प्राप्त नहीं होता तथा उस-उस भाव में परिणत नहीं होता, तब वह जीव न आरंभ करता है, न संरंभ करता है, न समारंभ करता है । वह न आरंभ में प्रवृत्त होता है, न संरंभ में प्रवृत्त होता है, न समारंभ में प्रवृत्त होता है । वह आरंभ नहीं करता हुआ, संरंभ नहीं करता हुआ, समारंभ नहीं करता हुआ, आरंभ में अवर्तमान, संरंभ में अवर्तमान, समारंभ में अवर्तमान होकर अनेक प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःखी नहीं बनाता, शोकाकुल नहीं

से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडिअपुत्ता! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ?

हंता मसमसाविज्जइ।

से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदयबिंदुं पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडिअपुत्ता! से उदयबिंदू तत्तंसि अयकवल्लंसि पक्खिवेत्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ?

हंता विद्धंसमागच्छइ।

से जहानामए हरए सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलइमाणे वोसइमाणे समभरघडत्ताए चिद्धति। अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरयंसि एगं मई नावं सतासवं सतच्छिइं ओगाहेज्जा, से नूणं मंडिअपुत्ता! सा नावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी-आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलइमाणा वोसइमाणा समभरघडत्ताए चिद्धति?

हंता चिद्धति।

अहे णं केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वओ समंता आसवदाराइं पिहेइ, पिहेत्ता नावा-उत्तिसचणएणं उदयं उत्तिसवेज्जा से नूणं मंडिअपुत्ता! सा नावा तंसि उदयंसि उत्तिसत्तंसि समाणंसि खिप्पामेव उदाइ? हंता उदाइ।

एवामेव मंडिअपुत्ता! अत्तत्ता-संबुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तनिकखे-वणासमियस्स उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-पारिडुवणियासमियस्स मणसमियस्स वइसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वइगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभयारिस्स, आउत्तं गच्छमाणस्स चिद्धमाणस्स निसीयमाणस्स तुयइमाणस्स, आउत्तं वत्थ-पडिगह-कंबल-पायपुंछणं गेणहमाणस्स निक्खिवमाणस्स जाव चक्खु-पम्हनिवायमवि वेमाया सुहुमा इरियावहिया किरिया कज्जइ-सा पडमसमयबद्धपुट्टा, बित्तियसमयवेइया, तत्तियसमयनिज्जरिया। सा बद्धा पुट्टा उदीरिया वेइया निज्जिण्णा

तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः शुष्कं तृणहस्तकं जाततेजसि प्रक्षिपेत्, तन्नूनं मण्डितपुत्र! तत् शुष्कं तृणहस्तकं जाततेजसि प्रक्षिप्तं सत् क्षिप्रमेव मसमसायते?

हन्त मसमसायते।

तद् यथानाम कश्चित् पुरुषः तप्ते अयस्कपाले उदकविन्दुं प्रक्षिपेत्, तन्नूनं मण्डितपुत्र! स उदकविन्दुः तप्ते अयस्कपाले प्रक्षिप्तः सन् क्षिप्रमेव विध्वंसमागच्छति?

हन्त विध्वंसमागच्छति।

तद् यथानाम हृदः स्यात् पूर्णः पूर्णप्रमाणः व्युपलोत्तन् विकसन्! समभरघटतया तिष्ठति। अथ कश्चित् पुरुषः तस्मिन् हृदे एकां महतीं नावं शताश्रवां शतछिद्राम् अवगाहयेत्, तन्नूनं मण्डितपुत्र! सा नौः तैः आश्रवद्वारैः आपूर्यमाणा-आपूर्यमाणा पूर्णा पूर्णप्रमाणा व्युपलोत्तयन्ती विकसन्ती समभरघटतया तिष्ठति?

हन्त तिष्ठति।

तद् कश्चित् पुरुषः तस्याः नावः सर्वतः समन्ताद् आश्रवद्वाराणि पिदधाति, पिधाय नावुत्सेचनकेन उदकम् उत्तिंचेत् तन्नूनं मण्डितपुत्र! सा नौः तस्मिन् उदके उत्सिक्ते सति क्षिप्रमेव उद्वाति?

हन्त उद्वाति।

एवमेव मण्डितपुत्र! आत्मात्मसंवृतस्य अनगारस्य ईयांसमितस्य भाषासमितस्य एषणासमितस्य आदानभाण्डामात्रनिक्षेपणा समितस्य उच्चारप्रसवण-श्वेड-सिंघाण-जल्ल-परिष्ठापनिकासमितस्य मनःसमितस्य वाक्-समितस्य कायसमितस्य मनोगुप्तस्य वाग्-गुप्तस्य कायगुप्तस्य गुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य गुप्तब्रह्मचारिणः आयुक्तं गच्छतः तिष्ठतः (चेष्टतः) निषीदतः त्यन्वर्तयतः, आयुक्तं वस्त्र-प्रतिग्रह-कम्बल-पादप्रौञ्चनं गृह्यतः निक्षिपतः यावत् चक्षुःपक्ष्मनिपातमपि विमात्रा सूक्ष्मम् ऐयापधिकी क्रिया क्रियते-सा प्रथमसमयबद्धस्पृष्टा, द्वितीयसमयवेदिता, तृतीयसमयनिज्जरिता। सा बद्धा स्पृष्टा उदीरिता वेदिता निर्जीर्णा एष्यत्काले अकर्म

करता, न जुराता (शरीर को जीर्ण अथवा खेदखिन्न नहीं करता) न रुलाता, न पीटता और न परिताप देता है।

जैसे कोई व्यक्ति सूखे तृणपूले को अग्नि में प्रक्षिप्त करे, तो क्या मण्डितपुत्र! वह सूखा तृणपूला अग्नि में प्रक्षिप्त होने पर शीघ्र ही जल जाता है?

हां, वह शीघ्र ही जल जाता है।

जैसे कोई पुरुष तपे हुए तपे पर जल-विन्दु गिराए, तो क्या मण्डितपुत्र! वह जल-विन्दु तपे हुये तपे पर गिरने पर शीघ्र ही विध्वंस को प्राप्त होता है?

हां, वह विध्वंस को प्राप्त होता है।

मण्डितपुत्र! जैसे कोई द्रव (नद) जल से भरा हुआ, परिपूर्ण, छलकता हुआ, हिलोरे लेता हुआ, चारों ओर से जल-जलाकार हो रहा है। कोई व्यक्ति उस द्रव में एक बहुत बड़ी, सैंकड़ों आश्रवों और सैंकड़ों छिद्रों वाली नौका को उतारे तो क्या मण्डितपुत्र! वह नौका इन आश्रव-द्वारों के द्वारा जल से भरती हुई-भरती हुई परिपूर्ण हो जाती है, भर जाती है? छलकती हुई, हिलोरे लेती हुई चारों ओर से जल-जलाकार हो जाती है?

हां, हो जाती है।

यदि कोई पुरुष उस नौका के आश्रवद्वारों को चारों ओर से रोक देता है। उन्हें रोक कर नौका के उत्सेचनक द्वारा जल को उलीच दे, तो क्या मण्डितपुत्र! वह नौका उस पानी के बाहर निकल जाने पर शीघ्र ही ऊपर आ जाती है?

हां, आ जाती है।

मण्डितपुत्र! इसी प्रकार जो अनगार आत्मना संवृत है, विवेकपूर्वक चलता है, विवेकपूर्वक बोलता है, विवेकपूर्वक आहार की एषणा करता है, विवेकपूर्वक वस्त्र-पात्र आदि को लेता और रखता है, विवेकपूर्वक मलमूत्र, श्लेष्मा, नाक के मैल, शरीर के गाढ़े मैल का परिष्ठापन (विसर्जन) करता है, मन की संगत प्रवृत्ति करता है, वचन की संगत प्रवृत्ति करता है, शरीर की संगत प्रवृत्ति करता है, मन का निरोध करता है, वचन का निरोध करता है, शरीर का निरोध करता है, अपने आप को सुरक्षित रखता है, इन्द्रियों को सुरक्षित रखता है, ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखता है, उसके उपयोगपूर्वक चलते, खड़े रहते, बैठते और सोते तथा उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रौञ्चन लेते-रखते समय और यावत् उन्मेष-निमेष

सेयकाले अकम्मं वाचि भवति। से तेणट्टेणं मंडिअपुत्ता। एवं बुच्चइ—जावं च णं से जीवे सया समितं नो एयति नो वेयति नो चलति नो फंदइ नो घट्टइ नो खुब्भइ नो उदीरइ नो तं तं भावं परिणमइ, तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवइ ॥

चापि भवति। तत् तेनार्थेन मण्डितपुत्रः एवमुच्यते—यावच्च स जीवः सदा समितं नो एजति नो व्येजति नो चलति नो स्पन्दते नो घटते नो क्षुभ्यति नो उदीरयति नो तं तं भावं परिणमति, तावच्च तस्य जीवस्य अन्ते अन्तक्रिया भवति।

करते समय भी विविध मात्रा वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी^१ क्रिया होती है—वह प्रथम समय में बद्ध-स्पृष्ट होती है, दूसरे समय में उसका वेदन होता है, तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाती है। वह बद्ध, स्पृष्ट, उदीरित, वेदित, निर्जीर्ण तथा अगले समय में अकर्म भी हो जाती है। मण्डितपुत्रः इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जब जीव सदा प्रतिक्षण एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा नहीं करता तथा उस-उस भाव में परिणत नहीं होता, तब उस जीव के अंतिम समय में अन्तक्रिया होती है।

भाष्य

१. सूत्र १४३-१४८

प्रथम शतक (सूत्र ३६१) में अन्तक्रिया का प्रयोग 'मोक्षगति' के अर्थ में किया गया है। वृत्तिकार ने यहां अन्तक्रिया का अर्थ 'जिसमें सब कर्मों का क्षय हो जाए वह अवस्था' किया है।^१ इस पूरे आलापक में अंतक्रिया का स्वरूप निरूपित है। एक प्रश्न सर्वसाधारण है—क्रिया से कर्म का बंध होता है। जब तक बन्ध होता है, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता; इस अवस्था में मोक्ष कैसे होगा? प्रस्तुत आलापक में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है—क्रिया और अन्तक्रिया के मध्य एक अक्रिया की अवस्था है। क्रिया से अन्तक्रिया नहीं हो सकती, अक्रिया की स्थिति का निर्माण होने पर ही अन्तक्रिया (मोक्ष) हो सकती है।

एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभ और उदीरणा—ये सब क्रिया की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। इनके द्वारा जीव नाना रूपों में परिणत होता रहता है। यह क्रिया का चक्र चलता रहता है तब तक जीवन के अन्तकाल में भी अन्तक्रिया नहीं होती। इसका हेतु यह है कि क्रिया में वर्तमान जीव आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ का प्रयोग करता है, हिंसा में प्रवृत्त होता है, इसलिए उसकी अन्तक्रिया नहीं होती।

एजन, व्येजन आदि क्रिया की निवृत्ति होने पर आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ निवृत्त हो जाते हैं। इस स्थिति में पहले सूक्ष्म क्रिया की अवस्था आती है और अन्त में अन्तक्रिया हो जाती है।

एजन आदि प्रवृत्ति का निरोध करने पर जो कर्म का विलय होता है, उसे अग्नि में डाले हुए सूखे तृणपूलक, गरम तवे पर गिरे हुए जल-बिंदु और निश्छिद्र नौका—इन तीन दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है।

अन्तक्रिया की प्रक्रिया का पहला चरण है—वीतराग-अवस्था। वीतराग के कषाय नहीं होता, इसलिए उसके कषाय-जनित सांपरायिकी क्रिया समाप्त हो जाती है।^२ केवल ऐर्यापथिकी क्रिया चालू रहती है। उससे सात वेदनीय कर्म का बन्ध होता रहता है। यह बन्ध अल्पकालिक

होता है। उसकी स्थिति मात्र दो समय की होती है। प्रथम समय में सात वेदनीय कर्म का बंध होता है, दूसरे समय में उसका वेदन और तीसरे समय में उसका निर्जरण हो जाता है। आयुस्थिति तक यह क्रम चलता है; आयुस्थिति की सम्पन्नता के क्षणों में योग-निरोध की स्थिति बनती है, अयोग-अवस्था का निर्माण होता है, उस अवस्था में कर्मबंध सर्वथा निरुद्ध हो जाता है। यह अन्तक्रिया का दूसरा चरण है। तीसरे चरण में अन्तक्रिया सम्पन्न हो जाती है। सब कर्मों से मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

शब्द-विमर्श

सदा समित—सर्वदा, प्रतिक्षण। इसकी मीमांसा भ. १/३१४-३१६ के भाष्य में की जा चुकी है। 'समित' शब्द के चार अर्थ उपलब्ध होते हैं—

१. समित--सप्रमाण।^३
२. समित--सम्यक् प्रवृत्त।
३. समित--संगठित।^४
४. समित--प्रतिक्षण।^५

प्रस्तुत प्रसंग में यद्यपि वृत्तिकार ने 'समित' का 'सप्रमाण' अर्थ किया है। किन्तु यहां 'प्रतिक्षण' अर्थ अधिक संगत लगता है। छठे शतक की वृत्ति में वृत्तिकार ने बतलाया है—सदा का अर्थ है सर्वदा। किन्तु असातत्य में भी व्यवहार में 'सदा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः सातत्य को प्रकट करने के लिए नैरन्तर्व्याची 'समित' शब्द का प्रयोग किया गया है।

एजन—कम्पन।

व्येजन—विशिष्ट या विविध कम्पन।

चलन—स्थानान्तर-गमन।

स्पन्दन—किञ्चित् चलन। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ 'किसी अन्य अवकाश में जाना, फिर वहीं लौट आना' किया है।^६

घट्टन—सब दिशाओं में चलना अथवा दूसरे पदार्थ का स्पर्श

१. भ. वृ. ३/१४४—अंतकिरियंति सकलकम्मक्षयरूपा।

२. भ. १८/१५६, १६०।

३. भ. वृ. ३/१४३—'समितंति सप्रमाणम्।

४. द्रष्टव्य भ. १/३१४-३१६ का भाष्य।

५. भ. वृ. ६/२०—'सया समियंति 'सदा' सर्वदा, सदात्वं च व्यवहारतोऽसातत्येऽपि स्यादित्यतः समितं सन्ततम्।

६. वही, ३/१४३—अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैवागच्छतीत्यन्ये।

करना।

क्षोभ—किसी वस्तु में प्रवेश करना।

उदीरणा—प्रेरणा।

उदीरणा के पश्चात् विभिन्न रूपों में परिणमन की बात कही गई है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि एजन, व्यंजन—ये सब परिणमन की पूर्व अवस्थाएं हैं। एजन से परिणमन का प्रारम्भ होता है, यह उदीरणा तक चलता है और इस अवस्था-सप्तक के पश्चात् एक परिणामान्तर होता है। पूर्ववर्ती परिणमन विसर्जित और उत्तरवर्ती परिणमन प्राप्त हो जाता है। यह परिणमन व्यञ्जन पर्याय है, जीव की पुद्गल सहचरित सक्रियता है। उस स्थिति में अन्तक्रिया नहीं होती।

आरम्भ—वध अथवा प्रवृत्ति का प्रारम्भ।

संरम्भ—वध का संकल्प।

समारम्भ—परिताप।^१

आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ में प्रवृत्त जीव दूसरे जीवों को नाना प्रकार का कष्ट देता है।

दुःखापन—भारना अथवा इष्ट का वियोग कर दुःखित करना।

शोकापन—शोक या दैन्य की अवस्था में डाल देना।

जूरावण—खेदखिन्न कर देना अथवा शरीर को जीर्ण बना देना। संस्कृत में 'जूर' धातु है। उसका अर्थ है वयोहानि, बुढ़ापे की ओर जाना।^२ आचार्य हेमचन्द्र ने 'खिद्' धातु को भी 'जूर' आदेश किया है।^३ इसके आधार पर 'जूर' का अर्थ खेद उत्पन्न करना भी होता है।

तिप्पावण—अशुभोचन करवाना।

पिष्टावण—पीटना।

परितावण—परिताप देना।

तृण-हस्तक—तृण का पूला। यहां हस्तक शब्द समूह के अर्थ में है।

मसमसाविज्जइ—यह देशी क्रियापद है। इसका अर्थ है 'शीघ्र जलाना'।

अयकवल्ल—लोहे का तवा अथवा लोहे की कड़ाई।

बोलहमाणे वोसइमाणे—द्रष्टव्य भ. १/३१३ का भाष्य।

२. ऐर्यापथिकी क्रिया

१. (क) भ. वृ. ३/१४७ आह च—

'संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो।

आरंभो उद्दवओ सव्वनयारणं विसुद्धाणं ॥'

(ख) देखें—ठाणं ७/८४-८६ का टिप्पण।

२. आण्टे—जूर—Tu grow old.

३. हेमशब्दानुशासनम्—८/४/१३२।

४. भ. १/४४, १४५; ३/१४८; ७/४, ५, २०, २१, १२५, १२६; १०/११, १४; १८/१५६, १६०।

५. भ. वृ. ३/१४८—'इरियावहिया'ति ईर्यापथो—गमनमार्गस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी केवलयोगप्रत्ययेति भावः।

६. वही ३/१४८—उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोभिकेवलिलक्षणगुणस्थानकत्रयवर्ती वीतरागोऽपि हि सक्रियत्यात्सातवेयं कर्म बघ्नातीति भावः।

७. भ. ७/१२६.

८. भ. जौ. १२१/८—क्रोध मान माया लोभ ते, विच्छेद गया हे जास।

उपशमन अथवा क्षय थया, इरियावहिया तास ॥

प्रस्तुत आगम में 'ऐर्यापथिकी क्रिया' का प्रयोग पन्द्रह स्थानों पर हुआ है।^४ 'ईर्यापथबन्ध' का प्रयोग चार स्थानों पर हुआ है। वृत्तिकार ने ईर्यापथ का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ गमनमार्ग किया है। ऐर्यापथिकी अर्थात् गमन-मार्ग में होने वाली क्रिया। इसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ 'केवल. (कषाय शून्य) योग से होने वाली क्रिया' किया है।^५ इस क्रिया से केवल सात वेदनीय कर्म का बंध होता है। वृत्तिकार के अनुसार—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगीकेवली क्रमशः ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान के स्वामी (गुणस्थानत्रयवर्ती वीतराग) के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है।^६ वृत्तिकार के इस अर्थ का आधार सूत्र में प्राप्त यह कसौटी है—'जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवन्ति, तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिण्णा भवन्ति, तस्स णं संपसइया किरिया कज्जइ ॥'^७

व्यवच्छिन्न का अर्थ है—'क्षीण होना।' जयाचार्य ने इसका अर्थ 'उपशान्त होना' भी किया है।^८

ग्यारहवें गुणस्थान में मोह उपशांत होता है। इसलिए वोच्छिण्ण का अर्थ केवल क्षीण होना ही नहीं किया जा सकता।

ऐर्यापथिकी क्रिया का संबंध केवल गमन-मार्ग से नहीं है। चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना आदि स्थूल क्रिया और उन्मेष-निमेष अथवा पलक झपकने जैसी सूक्ष्म क्रिया के साथ भी इसका सम्बन्ध है, इसलिए ईर्यापथ का अर्थ व्यापक संदर्भ में करना चाहिए। ईर्यापथ अर्थात् जीवन-व्यवहार के लिए होने वाली क्रिया। उससे जो कर्म का बंध होता है, उसका नाम है ऐर्यापथिकी क्रिया।^९ यह क्रिया विमात्र—विविधमात्रा वाली होती है। बृद्धव्याख्या में विमात्रा का अर्थ अल्पमात्रा क्रिया गया है।^{१०}

ऐर्यापथिकी क्रिया में होने वाले कर्म-बन्ध की प्रक्रिया का निर्देश सूत्र में साक्षात् मिलता है—प्रथम समय में कर्म का बंध और स्पर्श होता है। कर्म-प्रायोग्य परमाणु-स्कन्धों का कर्म रूप में परिणमन होना 'बद्ध अवस्था' है। जीव-प्रदेशों के साथ उनका स्पर्श होना 'स्पृष्ट अवस्था' है। द्वितीय समय में बद्ध कर्म का वेदन होता है, तृतीय समय में उसकी निर्जरा हो जाती है। सूत्रकार ने वाक्यान्तर में द्वितीय समय की अवस्था को उदीरिया वेइया इन दो शब्दों के द्वारा निर्दिष्ट किया

१. (क) भ. वृ. ३/१४८—एतदेव वाक्यान्तराणाह—सा बद्धा स्पृष्टा प्रथमे समये, द्वितीये तु 'उदीरिता' उदयमुपनीता, किमुक्तं भवति? वेदिता, न होक्स्मिन् समये बन्ध उदयश्च संभवतीत्येवं व्याख्यातं।

(ख) उत्तर. २६/७२—पेज्जदोसमिच्छदंसणविज्जणं भते! जीवे किं जणयइ? पेज्जदोसमिच्छदंसणविज्जणं नाणदंसणचरिताराहणयाए अन्धुइइ। अइविहस्स कम्मस्स कम्मसिद्धिमोयणयाए तप्पटमयाए जहाणुपुत्तिं अइवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं पंचविहं अंतराय एए तिन्नि दि कम्मसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणत्तं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिभिरं विसुद्धं लोणालोणपभावयं केवलवरताणदंसणं सम्पुपाडेइ। जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बंधइ सुहफरितं दुत्तमयट्ठियं। तं पट्टमसमए बद्धं विइयसामए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ।

है। इसका तात्पर्य है कि कर्म का उदय और वेदन ये दोनों अवस्थाएं द्वितीय समय में होती हैं। जिस समय में बंध होता है, उस समय में उदय नहीं होता। इसलिए उदय दूसरे समय में होता है।^१

एष्यत् काल (अगले क्षण) में वह अकर्म हो जाता है, यह सापेक्ष सूत्र है। वृत्तिकार के अनुसार तीसरे समय में कर्म अकर्म हो जाता है, फिर भी सूत्रकार ने अतीत और भविष्य की सन्निधि में एकता का उपचार कर चौथे समय में अकर्म होने की बात कही है।^२ प्रस्तुत आगम में वेदना और निर्जरा का एक प्रसंग है।

गौतम ने पूछा—भंते! क्या वेदना और निर्जरा एक है? भगवान् ने उत्तर में कहा—वेदना और निर्जरा एक नहीं है। वेदना कर्म की होती है और निर्जरा नोकर्म की होती है।^३ वेदना के पश्चात् कर्म

अकर्म हो जाता है, तब वह निर्जीर्ण होता है। यह निश्चय नय का अभिमत है। यहां सूत्रकार ने व्यवहार नय की दृष्टि से चतुर्थ समय में अकर्म होने की बात कही है।

ऐर्यापथिकी क्रिया आत्मसंवृत^४, संवृत^५ अवीचिपथ में स्थित संवृत^६ तथा भावितात्मा अनगर^७ के होती है। इन सब का वर्णन और विशेषण-समूह तुलनात्मक दृष्टि से मननीय है।

ऐर्यापथिकी क्रिया की स्थिति की कालावधि दो समय की है।^८ वृत्तिकार ने स्थिति के विषय में कोई चर्चा नहीं की। जयाचार्य ने भी दो समय की स्थिति का उल्लेख किया है।^९ तत्त्वार्थ भाष्यकार ने इसकी स्थिति एक समय की मानी है। वृत्तिकार के अनुसार वेद्यमान कर्म-समय ही स्थिति-काल है।^{१०}

पमत्तापमत्तद्वा-पदं

१४६. पमत्तसंजयस्स णं भंते! पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सच्चा वि य णं पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ?
मंडिअपुत्ता! एणं जीवं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। नाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धं ॥

१५०. अप्पमत्तसंजयस्स णं भंते! अप्पमत्त-संजमे वट्टमाणस्स सच्चा वि य णं अप्पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ?
मंडिअपुत्ता! एणं जीवं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। नाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धं ॥

प्रमत्ताप्रमत्ताद्वा-पदम्

प्रमत्तसंयतस्य भदन्त! प्रमत्तसंयमे वर्तमानस्य सर्वापि च प्रमत्ताद्वा कालतः कियच्चिरं भवति?
मण्डितपुत्र! एकं जीवं प्रतीत्य जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी। नाना जीवान् प्रतीत्य सर्वाद्धम्।

अप्रमत्तसंयतस्य भदन्त! अप्रमत्तसंयमे वर्त-मानस्य सर्वापि च अप्रमत्ताद्वा कालतः कियच्चिरं भवति?
मण्डितपुत्र! एकं जीवं प्रतीत्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटी। नाना जीवान् प्रतीत्य सर्वाद्धम्।

प्रमत्त और अप्रमत्त के काल का पद

१४६. "भंते! प्रमत्त संयम में वर्तमान प्रमत्त संयत (मुनि) के प्रमत्त अवस्था का काल काल की अपेक्षा कितना लम्बा होता है?
मण्डितपुत्र! एक जीव की अपेक्षा जघन्यतः एक समय, उत्कृष्टतः कुछ कम करोड़ पूर्व। अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल।

१५०. भंते! अप्रमत्त संयम में वर्तमान अप्रमत्त संयत (मुनि) के अप्रमत्त अवस्था का काल काल की अपेक्षा कितना लम्बा होता है?
मण्डितपुत्र! एक जीव की अपेक्षा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्टतः कुछ कम करोड़ पूर्व। अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल।

भाष्य

१. सूत्र १४६-१५०

प्रस्तुत आलापक में मुनि की प्रमत्त संयम और अप्रमत्त संयम इन दो अवस्थाओं की कालावधि का विमर्श किया गया है। सातिरेक आठ वर्ष की अवस्था वाले बालक में मुनि बनने की अर्हता स्वीकार की गई है।^१ मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक करोड़ पूर्व की है, इस आधार पर सामायिकचारित्र की अधिकतम कालावधि देशेन (नव वर्ष कम) एक करोड़ पूर्व की बतलाई गई है।^२ उसकी न्यूनतम कालावधि

एक समय की होती है।

संयम स्वीकार करने के एक समय के अनन्तर मृत्यु होने की स्थिति में ही यह संभव बनती है।^३ यह वृत्तिकार का अभिमत है। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से यह सापेक्ष प्रतिपादन है। दीक्षा के प्रारम्भ में अप्रमत्त संयम प्राप्त होता है। उसके पश्चात् प्रमत्त संयम की प्राप्ति होती है। अप्रमत्त संयम से प्रमत्त संयम में आने के पहले समय में

१. भ. वृ. ३/१४८—अकर्मापि च भवति इह च यद्यपि तृतीयेऽपि समये कर्माकर्म भवति, तथाऽपि तल्लण एवातीतभावकर्मत्वेन द्रव्यकर्मत्वात् तृतीये निर्जीर्ण कर्मेति व्यपदिश्यते, चतुर्थादिसमयेषु त्वकर्मैति।

२. भ. ७/७४, ७५।

३. वही, ३/१४८।

४. वही, ७/१२५, १२६।

५. वही, १०/१३, १४।

६. वही, १८/१५६, १६०।

७. उत्तर. २६/७२—ताव य इरियावहियं कम्मं बंधइ, सुहपरिसं दुसमयडिइयं।

८. झीणी चर्चा, द्वा. १७/२६—

घणा समय स्थिति संपराय, वे समय इरियावहि...।

९. त. भा. ६/६—अकषायस्यैर्यापथस्यैवैकसमयस्थितेः।

१०. त. सू. भा. वृ. ६/६—वेद्यमानकर्मसमयो मध्यमः स एव स्थिति-कालः। आद्यो बंधसमयस्तृतीयः परिशाटनसमय इति।

११. ववहारो, १०/२२।

१२. भग. २५/५३३।

१३. भ. वृ. ३/१४६—'एक्कं समयं' ति कथम्? उच्यते—प्रमत्तसंयमप्रतिपत्तिसमय-समनन्तरमेव मरणात्।

मृत्यु हो सकती है। इस अपेक्षा से प्रमत्त संयम की न्यूनतम कालावधि एक समय की मानी गई है।^१

उत्कृष्ट कालावधि के विषय में वृत्तिकार ने एक समीक्षा की है। उसके अनुसार प्रमत्त संयम निरन्तर नहीं रहता। बीच-बीच में अप्रमत्त संयम के क्षण आते रहते हैं। इस प्रकार अप्रमत्त संयम की निरन्तरता विच्छिन्न होती रहती है। उन सब प्रमत्त संयम की अवधियों को मिलाने पर उत्कृष्ट स्थिति बनती है।^२ वृत्तिकार ने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार उत्कृष्ट कालावधि निरन्तर बने रहने वाले प्रमत्त संयम की अपेक्षा से विवक्षित है।^३

अप्रमत्त संयम की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रतिपादित है। वृत्तिकार के अनुसार अप्रमत्त संयम में वर्तमान मुनि की मृत्यु नहीं

होती—इस नियम के आधार पर न्यूनतम कालावधि अन्तर्मुहूर्त की बताई गई है। चूर्णिकार का अभिमत है—प्रमत्त संयम से उत्तरवर्ती सभी अवस्थाओं में विद्यमान मुनि अप्रमत्त कहलाता है। क्योंकि उसमें प्रमाद नहीं होता। उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाला मुहूर्त के भीतर मृत्यु को प्राप्त हो सकता है, इस अपेक्षा से अप्रमत्त संयम की न्यूनतम कालावधि अन्तर्मुहूर्त की बताई गई है।^४ यहां उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाले अप्रमत्त का ग्रहण करना इष्ट है। अन्य अप्रमत्त का ग्रहण इष्ट नहीं—यह जयाचार्य की व्याख्या है।^५ अप्रमत्त संयम की उत्कृष्ट स्थिति केंवली की अपेक्षा से प्रतिपादित है। सवा आठ वर्ष का बालक मुनि भी हो सकता है और साथ-साथ केवलज्ञानी भी हो सकता है। इस अपेक्षा से इस स्थिति का निर्देश है।

१५१. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं
मंडिअपुत्ते अणगारे समणं भगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं
तवसा अप्पणं भावेमाणे विहरति ॥

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति भगवान्
मण्डितपुत्रः अनगरः श्रमणं भगवन्तं महावीरं
वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा संयमेन
तपसा आत्मानं भावयन् विहरति।

१५१. भंते! वह ऐसा ही है। भंते! वह ऐसा ही
है एकसा कहकर भगवान् मण्डितपुत्र अनगर
श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते
हैं, वन्दन-नमस्कार कर संयम और तप से आत्मा
को भावित करते हुए विहार कर रहे हैं।

लवणसमुद्र-वृद्धि-हानि-पदं

१५२. भन्तेति! भगवं गोयमे समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता
एवं वयासी—कम्हा णं भंते! लवणसमुद्रे
चाउइसइमुद्धिइपुण्णमासिणीसु अतिरेगे
वड्ढइ वा? हायइ वा?

लवणसमुद्र-वृद्धि-हानि-पदम्

भदन्तेति! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एवमवादीत्—कस्मात् भदन्त! लवणसमुद्रः
चतुर्दशशतमी उद्धिदृठ'पीणमासीषु अतिरेकं
वद्धते वा? हीयते वा?

लवणसमुद्र-वृद्धि-हानि-पद

१५२. भन्ते! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर भगवान्
गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार
करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार
बोले—भन्ते! लवणसमुद्र चतुर्दशी, अष्टमी,
अमावस्या (उद्धिदृठ) और पूर्णिमा को अतिरिक्त
रूप से क्यों बढ़ता है? क्यों घटता है?
यहां लवणसमुद्र की वस्तुव्यता लोकस्थिति और
लोकानुभाव (जीवा. ३/७२३-७६५) तक ज्ञातव्य
है।

लवणसमुद्रवत्त्वयथा नेयव्वा जाव लोयद्धिई,
लोयाणुभावे ॥

लवणसमुद्रवत्त्वयता ज्ञातव्या यावत्
लोकस्थितिः लोकानुभावतः।

१५३. सेवं भंते! सेवं भंते? त्ति जाव
विहरति।

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति यावद्
विहरति।

१५३. भन्ते! वह ऐसा ही है। भन्ते! वह ऐसा ही
है—यह कह भगवान् गौतम संयम और तप से
अपने आपको भावित करते हुए विहार कर रहे
हैं।

१. भ. चूर्णिकार—पमत्तस्य जहण्णो कालो समओ एसी य अपमत्तद्धाणातो चवमाणो
पमत्तसंजतो कालं करेज्जा तस्य लभति।

२. भ. वृ. ३/१४६—किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके, ते च
पययिण जावमाने देशोनपूर्वकोटिं यावदुत्कर्षणं भवतः, संयमवतो हि पूर्वकोटिरेव
परमाणुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, मरुन्ति चाप्रमत्तान्तर्मुहूर्तापेक्षया
प्रमत्तान्तर्मुहूर्तानि कल्पन्ते, एवं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मीलनेन
देशोना पूर्वकोटी कालमानं भवति।

३. वही ३/१४६—अन्येत्याहुः—अष्टवर्षीनां पूर्वकोटिं यावदुत्कर्षतः प्रमत्तसंयतता स्यादिति।

४. (क) भ. वृ. ३/१४६—चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयमवर्जः सर्वेऽपि सर्वविरतेऽप्रमत्त

उच्यते, प्रमादाभावात्, स चापशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्ताभ्यन्तरे कालं
कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति।

(ख) भ. चू. प. ४—अप्यमतो जहण्णकालो उवसामगरोदी पडिवज्जमाणो
मुहुरतेभ्यंतरतो कालं करमाणो होति।

५. भ. जो. १/६४/६५ का वार्तिक—ए अप्रभादी उपशम-श्रेणि चट्टे तिको जीव
ग्रहिवो, जो आठमें गुणठाणै उपशम-श्रेणि चट्टतो प्रथम समय भै तो पिण
सात्तमें गुणठाणै अप्रमत्तपणै अंतर्मुहूर्त रहो ते माटै जघन्य अंतर्मुहूर्त, इहां
उपशम-श्रेणि चट्टे तिको अप्रमत्त ग्रहो। पिण अन्य अप्रमत्त ग्रहण न कियो।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

भाविअप्प-पदं

भावितात्म-पदम्

भावितात्म-पद

१५४. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा देवं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहर्यं जाणरूवेणं जामाणं जाणइ-पासइ?
गोयमा! १. अत्येगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ। २. अत्येगइए जाणं पासइ, नो देवं पासइ। ३. अत्येगइए देवं पि पासइ, जाणं पि पासइ। ४. अत्येगइए नो देवं पासइ, नो जाणं पासइ ॥

अनगारो भदन्त! भावितात्मा देवं वैक्रिय-समुद्घातेन समवहतं यानरूपेण यान्तं जानाति-पश्यति?
गौतम! १. अस्त्येककः देवं पश्यति, नो यानं पश्यति। २. अस्त्येककः यानं पश्यति, नो देवं पश्यति। ३. अस्त्येककः देवमपि पश्यति, यानमपि पश्यति। ४. अस्त्येककः नो देवं पश्यति, नो यानं पश्यति।

१५४. भन्ते! भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत वैक्रिय विमान में बैठकर जाते हुए देव को क्या जानता-देखता है?
गौतम! १. कोई अनगार देव को देखता है, विमान को नहीं देखता। २. कोई अनगार विमान को देखता है, देव को नहीं देखता। ३. कोई अनगार देव को भी देखता है, विमान को भी देखता है। ४. कोई अनगार न देव को देखता है और न विमान को देखता है।

१५५. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा देविं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहर्यं जाणरूवेणं जामाणिं जाणइ-पासइ?
गोयमा! १. अत्येगइए देविं पासइ, नो जाणं पासइ। २. अत्येगइए जाणं पासइ, नो देविं पासइ। ३. अत्येगइए देविं पि पासइ, जाणं पि पासइ। ४. अत्येगइए नो देविं पासइ, नो जाणं पासइ॥

अनगारो भदन्त! भावितात्मा देविं वैक्रिय-समुद्घातेन समवहतं यानरूपेण यान्तीं जानाति-पश्यति?
गौतम! १. अस्त्येककः देविं पश्यति, नो यानं पश्यति। २. अस्त्येककः यानं पश्यति, नो देविं पश्यति। ३. अस्त्येककः देविमपि पश्यति, यानमपि पश्यति। ४. अस्त्येककः नो देविं पश्यति, नो यानं पश्यति।

१५५. भन्ते! भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत वैक्रिय विमान में बैठकर जाती हुई देवी को क्या जानता-देखता है?
गौतम! १. कोई अनगार देवी को देखता है, विमान को नहीं देखता। २. कोई अनगार विमान को देखता है, देवी को नहीं देखता। ३. कोई अनगार देवी को भी देखता है, विमान को भी देखता है। ४. कोई अनगार न देवी को देखता है और न विमान को देखता है।

१५६. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा देवं सदेवीअं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहर्यं जाणरूवेणं जामाणं जाणइ-पासइ?
गोयमा! १. अत्येगइए देवं सदेवीअं पासइ, नो जाणं पासइ। २. अत्येगइए जाणं पासइ, नो देवं सदेवीअं पासइ। ३. अत्येगइए देवं सदेवीअं पि पासइ, जाणं पि पासइ। ४. अत्येगइए नो देवं सदेवीअं पासइ, नो जाणं पासइ ॥

अनगारो भदन्त! भावितात्मा देवं सदेवीकं वैक्रियसमुद्घातेन समवहतं यानरूपेण यान्तं जानाति-पश्यति?
गौतम! १. अस्त्येककः देवं सदेवीकं पश्यति, नो यानं पश्यति। २. अस्त्येककः यानं पश्यति, नो देवं सदेवीकं पश्यति। ३. अस्त्येककः देवं सदेवीकमपि पश्यति, यानमपि पश्यति। ४. अस्त्येककः नो देवं सदेवीकं पश्यति, नो यानं पश्यति।

१५६. भन्ते! भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत वैक्रिय विमान में बैठकर जाते हुए देवी-सहित देव को क्या जानता-देखता है?
गौतम! कोई अनगार देवी-सहित देव को देखता है, विमान को नहीं देखता। २. कोई अनगार विमान को देखता है, देवी-सहित देव को नहीं देखता। ३. कोई अनगार देवी-सहित देव को भी देखता है, विमान को भी देखता है। ४. कोई अनगार न देवी-सहित देव को देखता है और न विमान को देखता है।

१५७. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ? बाहिं पासइ?

अनगारो भदन्त! भावितात्मा रुक्खस्य किम् अन्तः पश्यति? बहिः पश्यति?

१५७. भन्ते! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को देखता है? बहिर्वर्ती भाग को देखता है?

गोयमा! १. अत्येगइए रुक्खस्स अंतो पासइ, नो बाहिं पासइ। २. अत्येगइए रुक्खस्स बाहिं पासइ, नो अंतो पासइ। ३. अत्येगइए रुक्खस्स अंतो पि पासइ, बाहिं पि पासइ। ४. अत्येगइए रुक्खस्स नो अंतो पासइ, नो बाहिं पासइ ॥

गौतम! १. अस्त्येककः रूक्षस्य अन्तः पश्यति, नो बहिः पश्यति। २. अस्त्येककः रूक्षस्य बहिः पश्यति, नो अन्तः पश्यति। ३. अस्त्येककः रूक्षस्य अन्तोऽपि पश्यति, बहिरपि पश्यति। ४. अस्त्येककः रूक्षस्य नो अन्तः पश्यति, नो बहिः पश्यति।

गौतम! कोई अनगार वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को देखता है, बहिर्वर्ती भाग को नहीं देखता है। २. कोई अनगार वृक्ष के बहिर्वर्ती भाग को देखता है, अन्तर्वर्ती भाग को नहीं देखता। ३. कोई अनगार वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को भी देखता है, बहिर्वर्ती भाग को भी देखता है। ४. कोई अनगार न वृक्ष के अन्तर्वर्ती भाग को देखता है और न ही बहिर्वर्ती भाग को देखता है।

१५८. अणगारे णं भन्ते! भाविअप्पा रुक्खस्स किं मूलं पासइ? कंदं पासइ? गोयमा! १. अत्येगइए रुक्खस्स मूलं पासइ, नो कंदं पासइ। २. अत्येगइए रुक्खस्स कंदं पासइ, नो मूलं पासइ। ३. अत्येगइए रुक्खस्स मूलं पि पासइ, कंदं पि पासइ। ४. अत्येगइए रुक्खस्स नो मूलं पासइ, नो कंदं पासइ ॥

अनगारो भदन्त! भावितात्मा रूक्षस्य किं मूलं पश्यति? कन्दं पश्यति? गौतम! १. अस्त्येककः रूक्षस्य मूलं पश्यति, नो कन्दं पश्यति। २. अस्त्येककः रूक्षस्य कन्दं पश्यति, नो मूलं पश्यति। ३. अस्त्येककः रूक्षस्य मूलमपि पश्यति, कन्दमपि पश्यति। ४. अस्त्येककः रूक्षस्य नो मूलं पश्यति, नो कन्दं पश्यति?

१५८. भन्ते! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के मूल को देखता है? कन्द को देखता है? गौतम! १. कोई अनगार वृक्ष के मूल को देखता है, कन्द को नहीं देखता है। २. कोई अनगार वृक्ष के कन्द को देखता है, मूल को नहीं देखता। ३. कोई अनगार वृक्ष के मूल को भी देखता है, कन्द को भी देखता है। ४. कोई अनगार न वृक्ष के मूल को देखता है और न कन्द को देखता है।

१५९. मूलं पासइ? खंधं पासइ? चउभंगो॥

मूलं पश्यति? स्कन्धं पश्यति? चतुर्भंगः।

१५९. क्या मूल को देखता है? स्कन्ध को देखता है? यहां भी चार भंग वक्तव्य हैं।

१६०. एवं मूलेणं (जाव?) बीजं संजोएयव्वं॥

एवं मूलेन (यावद्?) बीजं संयोजयितव्यम्।

१६०. इसी प्रकार मूल के साथ (यावत्) बीज का संयोग करने पर प्रत्येक के चार-चार भंग होते हैं।

१६१. एवं कंदेण वि समं संजोएयव्वं जाव बीयं ॥

एवं कन्देनापि समं संयोजयितव्यम् यावद् बीजम्।

१६१. इसी प्रकार कन्द के साथ भी यावत् बीज का संयोग करने पर प्रत्येक के चार-चार भंग होते हैं।

१६२. एवं जाव पुप्फेण समं बीयं संजोएयव्वं।

एवं यावत् पुष्पेण समं बीजं संयोजयितव्यम्।

१६२. इसी प्रकार यावत् पुष्प के साथ बीज का संयोग करने पर प्रत्येक के चार-चार भंग होते हैं।

१६३. अणगारे णं भन्ते! भाविअप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ? बीयं पासइ? चउभंगो॥

अनगारो भदन्त! भावितात्मा रूक्षस्य किं फलं पश्यति? बीजं पश्यति? चतुर्भंगः।

१६३. भन्ते! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के फल को देखता है? बीज को देखता है? यहां भी चार भंग वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र १५४-१६३

अध्यात्म और योग का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—भावना। इसका अर्थ है—कुछ होने का निश्चय करना, फिर अभ्यास के द्वारा वैसा ही जाना। वासना, संस्कार—ये इसके पर्यायवाची शब्द हैं। भावना के

द्वारा रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उसका पहला बिन्दु है—एजन और अंतिम बिंदु है—तं तं भावं परिणमइ।^१ वृत्तिकार ने भावितात्मा का अर्थ संयम और तप इन दो भावनाओं से भावित आत्मा वाला किया है। उनके अनुसार भावितात्मा प्रायः अवधिज्ञान आदि लब्धिये

से सम्पन्न होता है।^१ ध्यानशतक में चार भावनाओं का उल्लेख है—ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना।^२ ठाणं में भावितात्मा को 'ऋद्धिमान्' कहा गया है।^३ प्रस्तुत आगम में भावितात्मा की ऋद्धि का विस्तृत विवरण मिलता है।^४ सूयगडो में 'श्रुतभावितात्मा' का प्रयोग मिलता है।^५ प्रस्तुत आगम में वीतराग के लिए भी भावितात्मा का प्रयोग किया गया है।^६ इन सारे संदर्भों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आगम-युग में भावितात्मा शब्द बहुत महत्वपूर्ण रहा है। महाभारत^७ और योगवाशिष्ठ^८ में भी भावितात्मा का प्रयोग मिलता है।

अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है, इसलिए सूत्र में चार विकल्पों का निर्देश किया गया है—१. कोई भावितात्मा देव को देखता है, यान को नहीं देखता। २. कोई यान को देखता है, देव को नहीं देखता। ३. कोई देव और यान दोनों को देखता है। ४. कोई दोनों को नहीं देखता। सूत्र १५७ से १६३ तक भावितात्मा अन्गार द्वारा वृक्ष, मूल, कन्द आदि को देखने का वर्णन है। इनके दो-दो के संयोग से ४५ भंग निष्पन्न होते हैं :

१. मूल कंद २. मूल स्कन्ध ३. मूल त्वक्

४. मूल शाखा	१८. स्कंध त्वक्	३२. शाखा पत्र
५. मूल प्रवाल	१९. स्कंध शाखा	३३. शाखा पुष्प
६. मूल पत्र	२०. स्कंध प्रवाल	३४. शाखा फल
७. मूल पुष्प	२१. स्कंध पत्र	३५. शाखा बीज
८. मूल फल	२२. स्कंध पुष्प	३६. प्रवाल पत्र
९. मूल बीज	२३. स्कंध फल	३७. प्रवाल पुष्प
१०. कंद स्कंध	२४. स्कंध बीज	३८. प्रवाल फल
११. कंद त्वक्	२५. त्वक् शाखा	३९. प्रवाल बीज
१२. कंद शाखा	२६. त्वक् प्रवाल	४०. पत्र पुष्प
१३. कंद प्रवाल	२७. त्वक् पत्र	४१. पत्र फल
१४. कंद पत्र	२८. त्वक् पुष्प	४२. पत्र बीज
१५. कंद पुष्प	२९. त्वक् फल	४३. पुष्प फल
१६. कंद फल	३०. त्वक् बीज	४४. पुष्प बीज
१७. कंद बीज	३१. शाखा प्रवाल	४५. फल बीज

शब्द-विमर्श

समबहत—जो उत्तरवैक्रिय शरीर की रचना कर चुका है।

वाउकाय-पदं

१६४. पभू णं भंते! वाउकाए एणं महं इत्थिरूवं वा पुरिसरूवं वा (आसरूवं वा?) हत्थिरूवं वा जाणरूवं वा जुग्गरूवं वा गिल्लिरूवं वा थिल्लिरूवं वा सीयरूवं वा संदमाणियरूवं वा विउच्चित्तए? गोयमा! नो इण्ढे सम्ढे। वाउकाए णं विकुव्वमाणे एणं महं पडागासंठियं रूवं विकुव्वइ ॥

१६५. पभू णं भंते! वाउकाए एणं महं पडागासंठियं रूवं विउच्चित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए? हंता पभू ॥

१६६. से भंते! कि आइइटीए गच्छइ? परि-इटीए गच्छइ?

वायुकाय-पदम्

प्रभुः भदन्त वायुकायः एकं महत् स्त्रीरूपं वा पुरुषरूपं वा (अश्वरूपं वा?) हस्तिरूपं वा यानरूपं वा युग्यरूपं वा 'गिल्लि'रूपं वा 'थिल्लि'रूपं वा शिविकारूपं वा स्यन्दमानिकारूपं वा विकर्तुम्?

गौतम! नाथमर्थः समर्थः। वायुकायः विकुर्वाणः एकं महत् पताकासंस्थितं रूपं विकुरुते।

प्रभुः भदन्त! वायुकायः एकं महत् पताका-संस्थितं रूपं विकृत्य अनेकानि योजनानि गन्तुम्? हन्त प्रभुः।

स भदन्त! किम् आत्मद्वयां गच्छति? परद्वयां गच्छति?

वायुकाय-पद

१६४. 'भन्ते! क्या वायुकाय एक महान् स्त्रीरूप, पुरुषरूप, (अश्वरूप), हस्तिरूप, यानरूप, युग्यरूप, अम्बाबाड़ी (हाथी का हौदा)-रूप, बघीरूप, शिविकारूप अथवा स्यन्दमानिकारूप का निर्माण करने में समर्थ है? गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है। वायुकाय विक्रिया करता हुआ एक महापताका के आकार वाले रूप की विक्रिया करता है।

१६५. भन्ते! क्या वायुकाय एक महापताका के आकार वाले रूप की विक्रिया कर अनेक योजन तक जाने में समर्थ है? हां, समर्थ है।

१६६. भन्ते! क्या वायुकाय अपनी ऋद्धि से जाता है अथवा पर-ऋद्धि से जाता है?

१. भ. वृ. १५४—भावितात्मा संयमतपेभ्यामेवविधानामनगात्ताणां हि प्रायोऽवधिज्ञानादिलब्धयो भवन्तीति कृत्वा भावितात्मेत्युक्तं...।

२. ध्यानशतक, ३०—

पुव्वकयन्भासो भावणाहिं ज्ञाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदंसणवरित्तवेरणाणियताओ ॥

३. ठाणं, ५/१६८।

४. भ. १८/१६१-१६५।

५. सूय. १/१३/१३।

६. भ. १८/१५६, १६०।

७. महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व, ५/३७—

सर्वज्ञेन विधिज्ञेन, धर्मज्ञानयता सता।

अतीन्द्रियेण शुचिना, तपसा भावितात्मना ॥

८. योगवाशिष्ठ, ४/११/५६, ६०—

यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम्।

तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥

भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणत्।

अनन्तमखिलं प्रावृट्, मिहिका महती यथा ॥

गोयमा! आइड्डीए गच्छइ, नो परिड्डीए गच्छइ ॥	गौतम! आत्मद्वया गच्छति, नो परद्वया गच्छति।	गौतम! वह अपनी ऋद्धि से जाता है, पर-ऋद्धि से नहीं जाता।
१६७. से भंते! किं आयकम्मुणा गच्छइ? पर-कम्मुणा गच्छइ? गोयमा! आयकम्मुणा गच्छइ, नो परकम्मुणा गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् आत्मकर्मणा गच्छति? परकर्मणा गच्छति? गौतम! आत्मकर्मणा गच्छति, नो परकर्मणा गच्छति।	१६७. भन्ते! क्या वायुकाय अपनी क्रिया से जाता है? परक्रिया से जाता है? गौतम! वह अपनी क्रिया से जाता है, परक्रिया से नहीं जाता।
१६८. से भंते! किं आयप्पयोगेण गच्छइ? परप्पयोगेण गच्छइ? गोयमा! आयप्पयोगेण गच्छइ, नो पर-प्पयोगेण गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् आत्मप्रयोगेण गच्छति? परप्रयोगेण गच्छति? गौतम! आत्मप्रयोगेण गच्छति, नो परप्रयोगेण गच्छति।	१६८. भन्ते! क्या वायुकाय अपने प्रयोग से जाता है? परप्रयोग से जाता है? गौतम! वह अपने प्रयोग से जाता है, परप्रयोग से नहीं जाता।
१६९. से भंते! किं ऊसिओदयं गच्छइ? पतोदयं गच्छइ? गोयमा! ऊसिओदयं पि गच्छइ, पतोदयं पि गच्छइ ॥	स भदन्त! किं उच्छ्रितोदयं गच्छति? पतदुदयं-गच्छति? गौतम! उच्छ्रितोदयमपि गच्छति, पतदुदय-मपि गच्छति।	१६९. भन्ते! क्या वायुकाय ऊपर उठी हुई पताका के रूप में जाता है अथवा नीचे गिरी हुई पताका के रूप में जाता है? गौतम! वह ऊपर उठी हुई पताका के रूप में भी जाता है और नीचे गिरी हुई पताका के रूप में भी जाता है।
१७०. से भंते! किं एगओपडागं गच्छइ? दुह-ओपडागं गच्छइ? गोयमा! एगओपडागं गच्छइ, नो दुहओपडागं गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् एकतःपताकं गच्छति? द्विधापताकं गच्छति? गौतम! एकतःपताकं गच्छति, नो द्विधा-पताकं गच्छति।	१७०. भन्ते! क्या वायुकाय एक दिशा में पताका के आकार में जाता है अथवा दो दिशाओं में पताका के आकार में जाता है? गौतम! वह एक दिशा में पताका के आकार में जाता है, दो दिशाओं में पताका के आकार में नहीं जाता।
१७१. से भंते! किं वाउकाए? पडागा? गोयमा! वाउकाए णं से, नो खलु सा पडागा ॥	स भदन्त! किं वायुकायः? पताका? गौतम! वायुकायः सः, न खलु सा पताका।	१७१. भन्ते! क्या वह वायुकाय है अथवा पताका है? गौतम! वह वायुकाय है, पताका नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र १६४-१७१

देव और नरक—इन दो गतियों में वैक्रियशरीर जन्मजात होता है। समनस्क मनुष्य और समनस्क तिर्यच में वह लब्धिजन्म होता है। वायुकाय में अपर्याप्त अवस्था में वह नहीं होता, पर्याप्त अवस्था होते ही वैक्रिय शरीर की प्राप्ति हो जाती है।^१ ध्वला में पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के भी वैक्रिय शरीर होने का उल्लेख मिलता है।^२ श्वेताम्बर परम्परा में पर्याप्त वायुकाय जीवों के ही वैक्रिय शरीर माना

गया है।

वायुकाय में वैक्रिय शरीर संप्राप्त है। पर उसकी रूप-निर्माण करने की शक्ति बहुत कम है। वह पताका के रूप का निर्माण कर सकता है। उसका संस्थान पताका के आकार का है। वह विक्रिया के द्वारा अपने पताका वाले आकार को बड़ा बना सकता है।^३

वायुकाय अपनी शक्ति, अपनी क्रिया और अपने प्रयोग से गति करता है। उसकी गति किसी के द्वारा ढेला के फेंके जाने जैसी

१. त. सू. भा. वृ. २/४७, ४६।

२. षण्ण. २१/५०।

३. घ. खं. धवला, पु.४, खं.१, भा. ४, सू. ६६, पृ. २४९—तेउक्काइयपज्जता चेव वेउविय सरीर उठावेति अपज्जत्तेषु तदभावा (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३,

पृ. ६१० से उद्धृत)

४. (क) षण्ण. २१/२६, ५७।

(ख) भ. वृ. ३/१६५—महत् पूर्वप्रमाणपेक्षया पताकासंस्थितं स्वरूपेणैव वायोः पताकाकारशरीरत्वाद् वैक्रियावस्थायामपि तस्य तदाकारस्यैव भावार्थिति।

नहीं है। दर्शन-युग में इस विषय को तार्किक रूप में प्रस्तुत किया गया है—वायुकाय जीव है क्योंकि किसी दूसरे की प्रेरणा के बिना अपनी ही शक्ति से तिरछी गति करता है।^१

शब्द-विमर्श

युग्य—गोल्ल देश में प्रसिद्ध दो हाथ लम्बी, चौड़ी, चतुष्कोण वेदिका वाली शिविका। लाट देश में थिल्ल को युग्य कहा जाता है।^२ इसके चार दण्डे लगे रहते हैं, जिन्हें चार आदमी उठाते हैं।^३

डोली (गिल्ली)—दो व्यक्तियों द्वारा उठाई जाने वाली शिविका अथवा अम्बावाड़ी सहित हाथी का हौदा।^४ श्रीलांकाचार्य के अनुसार—दो व्यक्ति कपड़े की डोली में किसी को उठाकर ले जाते हैं, वह डोली गिल्ली कहलाती है।^५

वग्धी (थिल्लि)—दो खच्चरों की वग्धी।^६

बलाहक-पदं

१७२. पभू णं भंते! बलाहए एणं महं इत्थि-
रूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा परिणामेत्तए?
हंता पभू ॥

१७३. पभू णं भंते! बलाहए एणं महं इत्थि-
रूवं परिणामेत्ता अणेगाई जोयणाई गमित्तए?
हंता पभू ॥

१७४. से भंते! किं आइड्डीए गच्छइ? परि-
ड्डीए गच्छइ?
गौयमा! नो आइड्डीए गच्छइ, परिड्डीए
गच्छइ ॥

१७५. से भंते! किं आयकम्मुणा गच्छइ? पर-
कम्मुणा गच्छइ?
गौयमा! नो आयकम्मुणा गच्छइ, पर-

बलाहक-पदम्

प्रभुः भदन्त! बलाहकः एकं महत् स्त्रीरूपं
वा यावत् स्यन्दमानिकारूपं वा परिणमयितुम्?
हन्त प्रभुः।

प्रभुः भदन्त! बलाहकः एकं महत् स्त्रीरूपं
परिणमय्य अनेकानि योजनानि गन्तुम्?
हन्त प्रभुः।

स भदन्त! किम् आत्मद्वय्यां गच्छति? परद्वय्यां
गच्छति?
गौतम! नो आत्मद्वय्यां गच्छति, परद्वय्यां
गच्छति।

स भदन्त! किम् आत्मकर्मणा गच्छति?
परकर्मणा गच्छति?
गौतम! नो आत्मकर्मणा गच्छति, परकर्मणा

बलाहक-पद

१७२. "भन्ते! क्या मेघ एक महान् स्त्रीरूप यावत्
स्यन्दमानिका-रूप में परिणत होने में समर्थ है?
हां, समर्थ है।

१७३. भन्ते! क्या मेघ एक महान् स्त्रीरूप में परिणत
होकर अनेक योजन तक जाने में समर्थ है?
हां, समर्थ है।

१७४. भन्ते! क्या मेघ अपनी ऋद्धि से जाता है
अथवा पर-ऋद्धि से जाता है?
गौतम! वह अपनी ऋद्धि से नहीं जाता, पर-ऋद्धि
से जाता है।

१७५. भन्ते! क्या मेघ अपनी क्रिया से जाता है?
परक्रिया से जाता है?
गौतम! वह अपनी क्रिया से नहीं जाता परक्रिया

१. दशवे. जि. चू. पृ. १३६—सात्मको वायुः अपरप्रेरित तिर्यगनियमितनिर्गमनाद् गोवत्।

२. (क) अनु. चू. पृ. ५३—गोल्लविषये जपाणं द्विहत्थमात्रं चतुरस्रं सवेदिकमुपशोभितं
जुगयं, लाटाणं थिल्लि जुगयं।

(ख) अनु. हा. वृ. पृ. ७६।

(ग) अनु. मल. वृ. प. १४६।

३. सू. २/२/५८ का टिप्पण।

४. (क) अनु. वृ. पृ. ५३—हस्तिन उपरि कोल्लरं गिलतीव मानुषं गिली।

(ख) अनु. हा. वृ. पृ. ७६।

(ग) अनु. मल. वृ. प. १४६।

५. सू. वृ. प. ७३—पुरुषद्वयोस्सिप्ता झोल्लिका।

६. वही, प. ७३—वेणसरद्वयविनिर्मितो यानविशेषः।

७. (क) अनु. चू. पृ. ५४—उवरं कूडागारकादिया सिबिया।

(ख) अनु. हा. वृ. पृ. ७६।

(ग) अनु. मल. वृ. प. १४६।

८. (क) अनु. चू. पृ. ५४—दीहो जम्पाण विसेसो पुरिसस्स स्वप्रमाणवागासदाणत्तणओ

शिविका—पालकी।^७

स्यन्दमानिका—पुरुषप्रमाण लम्बाई वाली शिविका।^८ यह बड़े व्यक्तियों के आवागमन के लिए काम में ली जाती थी।^९

भ.वृ. में युग्य से स्यन्दमानिका के अर्थ प्रायः वे ही दिए हैं।^{१०}

उच्छ्रितोदय—गति का ऊपर की ओर होने वाला उदय-आयाम।

पतत्-उदय—गति का नीचे की ओर होने वाला उदय-आयाम।^{११}

एकतःपताक—जहां एक दिशा में पताका हो।

द्विधापताक—जहां दोनों दिशाओं में पताका हो।

जयाचार्य ने द्विधापताक के विषय में एक मतान्तर का उल्लेख किया है—उस मत के अनुसार एक ही दिशा में दोनों पताकाओं का होना द्विधापताक है।^{१२} (देखें चित्र, पृष्ठ-५०२)

स्यन्दमाणि।

(ख) अनु. हा. वृ. पृ. ७६।

(ग) अनु. मल. वृ. प. १४६।

६. सू. २/२/५८ का टिप्पण।

१०. भ. वृ. ३/१६४—'जुग्गं'ति गोल्लविषयप्रसिद्धं जम्पानं द्विहस्तप्रमाणं वेदिकोपशोभितं 'गिल्ली'ति हस्तिन उपरि कोल्लररूपा या मानुषं गिलतीव 'थिल्ली' ति लाटानां यदश्वपत्यानं तदन्यविषयेषु थिल्लीत्युच्यते 'सिय' ति शिविका कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः 'संदमणिय' ति पुरुषप्रमाणायामो जम्पानविशेषः।

११. वही ३/१६६—उच्छ्रित-ऊर्ध्वम् उदय-आयामो यत्र गमने तदुच्छ्रितोदयम्, ऊर्ध्वपताकमित्यर्थः क्रियाविशेषणं नेदं 'पततोदय'ति पतदुदयं पतितपताकं गच्छति।

१२. भ. जो. १/६५/७६—

उरुओ पडाम देख, ते दंड मै विहु दिशि विषे।

केइ करे इम लेख, केइ कहै इक दिशि बेहुं ॥

कम्मुणा गच्छइ ॥	गच्छति ।	से जाता है ।
१७६. से भंते! किं आयप्पयोगेणं गच्छइ? परप्पयोगेणं गच्छइ? गीयमा! नो आयप्पयोगेणं गच्छइ, परप्पयोगेणं गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् आत्मप्रयोगेण गच्छति? परप्रयोगेण गच्छति? गीतम! नो आत्मप्रयोगेण गच्छति, परप्रयोगेण गच्छति ।	१७६. भन्ते! क्या मेघ अपने प्रयोग से जाता है? पर-प्रयोग से जाता है? गीतम! वह अपने प्रयोग से नहीं जाता, पर-प्रयोग से जाता है ।
१७७. से भंते! किं ऊसिओदयं गच्छइ? पतोदयं गच्छइ? गीयमा! ऊसिओदयं पि गच्छइ, पतोदयं पि गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् उच्छित्तोदयं गच्छति? पतदुदयं गच्छति? गीतम! उच्छित्तोदयमपि गच्छति, पतदुदयमपि गच्छति ।	१७७. भन्ते! क्या मेघ ऊपर उठी हुई पताका के रूप में जाता है अथवा नीचे गिरी हुई पताका के रूप में जाता है? गीतम! वह ऊपर उठी हुई पताका के रूप में भी जाता है और नीचे गिरी हुई पताका के रूप में भी जाता है ।
१७८. से भन्ते! किं बलाहए? इत्थी? गीयमा! बलाहए णं से, नो खलु सा इत्थी॥	स भदन्त! किं बलाहकः? स्त्री? गीतम! बलाहकः सः, न खलु सा स्त्री ।	१७८. भन्ते! क्या वह मेघ है अथवा स्त्री है? गीतम! वह मेघ है, स्त्री नहीं है ।
१७९. एवं पुरिसे, आसे, हत्थी ॥	एवं पुरुषः, अश्वः, हस्ती ।	१७९. इसी प्रकार मेघ के साथ पुरुष, अश्व और हस्ती की वक्तव्यता ।
१८०. पभू णं भंते! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता अपेगाईं जौयणाईं गमित्तए? जहा इत्थिरूवं तहा भाणियव्वं ॥	प्रभुः भदन्त! बलाहकः एकं महद् यानरूपं परिणमय्य अनेकानि योजनानि गन्तुम्? यथा स्त्रीरूपं तथा भणितव्यम् ।	१८०. भन्ते! क्या मेघ एक महान् यानरूप में परिणत होकर अनेक योजन तक जाने में समर्थ है? जैसे स्त्री-रूप की वक्तव्यता है, वैसे ही यान के विषय में वक्तव्य है ।
१८१. से भंते! किं एगओचक्कवालं गच्छइ? दुहओचक्कवालं गच्छइ? गीयमा! एगओचक्कवालं पि गच्छइ, दुहओचक्कवालं पि गच्छइ ॥	स भदन्त! किम् एकतश्चक्रवालं गच्छति? द्विधाचक्रवालं गच्छति? गीतम! एकतश्चक्रवालमपि गच्छति, द्विधाचक्रवालमपि गच्छति ।	१८१. भन्ते! क्या मेघ एक ओर चक्राकार गति से जाता है अथवा दोनों ओर चक्राकार गति से जाता है? गीतम! वह एक ओर चक्राकार गति से भी जाता है तथा दोनों ओर चक्राकार गति से भी जाता है ।
१८२. जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणिया तहेवा॥	युग्ग- 'गिल्लि' - 'थिल्लि' - शिविका-स्यन्दमानिकाः तथैव ।	१८२. इसी प्रकार युग्ग, अम्बावाड़ी, बाघी, शिविका और स्यन्दमानिका के सम्बन्ध में वक्तव्य है ।

भाष्य

१. सूत्र १७२-१८२

वायुकाय के विषय में रूप-निर्माण अथवा वैक्रिय शक्ति के प्रयोग का प्रश्न पूछा गया है और बादलों के लिए रूपों के परिणमन का

प्रश्न पूछा गया है। इसका हेतु यह है कि बादल अचेतन होते हैं, इसलिए उनमें रूप-निर्माण करने की शक्ति नहीं होती। उनमें स्वाभाविक परिणमन होता है। वे अपनी ऋद्धि, क्रिया और प्रयोग से गति नहीं

करते वे वायु अथवा देव के द्वारा प्रेरित होकर चलते हैं।^१
ठाणं में वायु और देव के द्वारा बादलों की गति होने का
उल्लेख है।^२

शब्द-विमर्श

चक्रवाल—चक्रा।

किलेसोववाय-पदं

१८३. जीवे णं भन्ते! जे भविए नेरइएसु
उववज्जित्तए, से णं भन्ते! किलेस्सेसु
उववज्जइ?

गोयमा! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं
करेइ, तल्लेस्सेसु उववज्जइ, तं जहा—
कण्हलेस्सेसु वा, नीललेस्सेसु वा, काउलेस्सेसु
वा। एवं जस्स जा लेस्सा सा तस्स
भाणियव्वा। यावत्—

किलेश्योपपात-पदम्

जीवः भदन्त! यः भव्यः नैरयिकेषु उपपत्तुं
स भदन्त! किलेश्येषु उपपद्यते?

गौतम! यल्लेश्यानि द्रव्याणि पर्यादाय कालं
करोति, तल्लेश्येषु उपपद्यते, तद् यथा—
कृष्णलेश्येषु वा, नीललेश्येषु वा, कापोत-
लेश्येषु वा। एवं यस्य या लेश्या सा तस्य
भणितव्या। यावत्—

किलेश्योपपाद-पद

१८३. भन्ते! जो जीव नैरयिकों में उपपन्न होने
योग्य है, वह भन्ते! कौन-सी लेश्या वाले नैरयिकों
में उपपन्न होता है?

गौतम! जो जीव जिस लेश्या वाले द्रव्यों को ग्रहण
कर मरता है, वह उसी लेश्या वाले नैरयिकों में
उपपन्न होता है, जैसे—कृष्ण लेश्या वाले नैरयिकों
में अथवा नील लेश्या वाले नैरयिकों में अथवा
कापोत लेश्या वाले नैरयिकों में। इस प्रकार
जिसकी जो लेश्या हो, उसके लिए वह लेश्या
वक्तव्य है। यावत्—

१८४. जीवे णं भन्ते! जे भविए जोइसिएसु
उववज्जित्तए, से णं भन्ते! किलेस्सेसु उव-
वज्जइ?

गोयमा! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं
करेइ, तल्लेस्सेसु उववज्जइ, तं जहा—
तेउलेस्सेसु ॥

जीवः भदन्त! यः भव्यः ज्योतिष्केषु उपपत्तुं
स भदन्त! किलेश्येषु उपपद्यते?

गौतम! यल्लेश्यानि द्रव्याणि पर्यादाय कालं
करोति, तल्लेश्येषु उपपद्यते, तद् यथा—
तेजोलेश्येषु वा पद्मलेश्येषु वा शुक्ललेश्येषु
वा ॥

१८४. भन्ते! जो जीव ज्योतिष्कों में उपपन्न होने
योग्य है, वह भन्ते! कौन-सी लेश्या वाले ज्योतिष्क
देवों में उपपन्न होता है?

गौतम! जो जीव जिस लेश्या वाले द्रव्यों को ग्रहण
कर मरता है, वह उसी लेश्या वाले ज्योतिष्क
देवों में उपपन्न होता है, जैसे—तेजोलेश्या वालों
में।

१८५. जीवे णं भन्ते! जे भविए वेमाणिएसु
उववज्जित्तए, से णं भन्ते! किलेस्सेसु उवव-
ज्जइ?

गोयमा! जल्लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं
करेइ तल्लेस्सेसु उववज्जइ, तं जहा—
तेउलेस्सेसु वा, पण्हलेस्सेसु वा, सुक्कलेस्सेसु
वा ॥

जीवः भदन्त! यः भव्यः वैमानिकेषु उपपत्तुं
स भदन्त! किलेश्येषु उपपद्यते?

गौतम! यल्लेश्यानि द्रव्याणि पर्यादाय कालं
करोति, तल्लेश्येषु उपपद्यते, तद् यथा—
तेजोलेश्येषु वा पद्मलेश्येषु वा शुक्ललेश्येषु
वा ॥

१८५. भन्ते! जो जीव वैमानिकों में उपपन्न होने
योग्य है, वह कौन-सी लेश्या वाले वैमानिक देवों
में उपपन्न होता है?

गौतम! जो जीव जिस लेश्या वाले द्रव्यों का ग्रहण
कर मरता है, वह उसी लेश्या वालों में उपपन्न
होता है, जैसे—तेजोलेश्या के द्रव्यों को ग्रहण कर
मरने वाला तेजोलेश्या वालों में, पद्मलेश्या के
द्रव्यों को ग्रहण कर मरने वाला पद्मलेश्या वालों
में, शुक्ल लेश्या के द्रव्यों को ग्रहण कर मरने
वाला शुक्ल लेश्या वालों में।

भाष्य

१. सूत्र १८३-१८५

प्रस्तुत आलापक में लेश्या और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का निर्देश
है। लेश्या का एक नियम है कि जीवन के अंतिम समय में जो लेश्या
होती है, मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में जीव उसी लेश्या वाले स्थानों

में जन्म लेता है। उत्तरज्ज्ञयणाणि में इस नियम की विशेष जानकारी
उपलब्ध है। पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव
दूसरे भाव में उत्पन्न नहीं होता। अंतिम समय में परिणत सभी लेश्याओं
में कोई भी जीव दूसरे भाव में उत्पन्न नहीं होता। लेश्याओं की परिणति

१. भ. वृ. ३/१७२-१७४—बलाहकस्याजीवत्वेन विकुर्वणाया असंभवात् परिणामयितुंमत्सुक्तं,
परिणामश्चास्य विश्रसारूपः 'नो आयद्दीए' ति अनेतनत्वान्मेघस्य विवक्षितायाः

शक्तेरभावान्नात्मद्वयां गमनमस्ति, वायुना देवेन वा प्रेरितस्य तु स्यादपि गमनम्।
२. टाणं, ३/३५६।

होने पर अन्तर्मुहूर्त बीत जाता है, अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं।^१

इस नियम के साथ तीन तथ्य संबद्ध हैं—द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या और उत्पत्त्यमान स्थान में प्राप्त होने वाली लेश्या। वर्तमान जन्म में अगले जन्म के आयुष्य का बंध हो जाता है। मृत्यु के समय उसी लेश्या के द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है, जिस लेश्या के स्थान

में जन्म लेना है। उदाहरण स्वरूप—ज्योतिष्क देवों में तेजोलेश्या है। जिस जीव ने ज्योतिष्क देव के आयुष्य का बंध किया है, वह मृत्यु के आसन्नकाल में तेजोलेश्या के द्रव्यों को ग्रहण कर उसके भाव में परिणत हो मरेगा और मृत्यु के पश्चात् ज्योतिष्क देव के रूप में उत्पन्न होगा।

चीबीस दण्डकों में लेश्या की प्राप्ति की जानकारी के लिए देखें यंत्र—

दण्डक-अंक	जीव	लेश्या
पहला	सात नारकी पहली, दूसरी तीसरी चौथी पांचवीं छठी सातवीं	तीन प्रथम (कृष्ण, नील, कापोत) कापोत कापोत वाले अधिक, नील वाले कम नील नील वाले अधिक, कृष्ण वाले कम कृष्ण महाकृष्ण
दूसरे से तेरहवां, सोलहवां	दस भवनपति तथा पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय	चार प्रथम (पद्म, शुक्ल छोड़कर)
चीदहवां, पन्द्रहवां, सत्रहवें से उन्नीसवें तक	तेजस्काय, वायुकाय, तीन विकलेन्द्रिय	तीन प्रथम
बीसवां	असंज्ञी (अमनस्क) तिर्यच पंचेन्द्रिय, संज्ञी (समनस्क) तिर्यच पंचेन्द्रिय	तीन प्रथम छह
इक्कीसवां	असंज्ञी मनुष्य, संज्ञी कर्मभूमिज मनुष्य, यौगलिक मनुष्य	तीन प्रथम छह चार प्रथम
बाईसवां	व्यन्तर	चार प्रथम
तेईसवां	ज्योतिष्क	एक—तेजस्
चौबीसवां	प्रथम, द्वितीय स्वर्ग, प्रथम किल्विषिक, तृतीय, चतुर्थ, पंचम स्वर्ग तथा द्वितीय किल्विषिक, तृतीय किल्विषिक, छठे स्वर्ग से अनुत्तरविमान	एक—तेजस् एक—पद्म एक—शुक्ल

‘जल्लेसाईं दब्बाईं परियाइत्ता’ का अर्थ है जिस लेश्या संबंधी द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण कर, इस वाक्यांश में द्रव्य लेश्या अथवा पौद्गलिक लेश्या के ग्रहण की बात कही गई है। द्रव्य लेश्या के तीन अर्थ हो सकते हैं—

१. भाव लेश्या के लिए प्रयोजनीय पुद्गल, जिन्हें ग्रहण कर भाव लेश्या प्रवृत्त होती है।

२. शरीर का वर्ण

३. आभावलय अथवा आभामण्डल

प्रस्तुत प्रकरण में द्रव्य लेश्या का अर्थ भाव लेश्या के लिए प्रयोजनीय पुद्गल किया जा सकता है। इससे फलित होता है कि मृत्यु के आसन्न काल में भावी जन्म के अनुरूप द्रव्य और भाव लेश्या की परिणति हो जाती है। वृत्तिकार ने भी इस ओर इंगित किया है।^२

१. उत्तर. ३४/५८-६०-

लेसाहिं सव्वाहिं पद्मं समयमिं परिणयाहिं तु ।
न वि कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
लेसाहिं सव्वाहिं, चरमे समवामिं परिणयाहिं तु ।
न वि कस्सवि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥

अंतमुहूर्तमिं गण, अंतमुहूर्तमिं संसण चव ।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छति परलोयं ॥

२. भ. वृ. ३/१८३—‘जल्लेसाईं’ति वा लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि यस्या लेश्यायाः सम्बन्धीनीत्यर्थः, ‘परियाइत्त’ति पर्यादाय परिगृहा भावपरिणामेन कालं करोति प्रियते तल्लेश्येषु नारकेषूत्ययते ।

भाविअप्प-विकुव्वणा-पदं

१८६. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू वैभारं पव्वयं उल्लंघेत्तए वा? पल्लंघेत्तए वा?

गोयमा! नो इण्ढे सम्ढे ॥

भावितात्म-विक्रिया-पदम्

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः वैभारं पर्वतम् उल्लंघयितुं वा? प्रलंघयितुं वा?

गौतम! नायमर्थः समर्थः।

भावितात्म-विक्रिया-पद

१८६. भन्ते! भावितात्मा अनगार वाहरी पुद्गलों का' ग्रहण किए बिना वैभार पर्वत का उल्लंघन (एक बार लांघना) और प्रलंघन (बार-बार लांघना) करने में समर्थ है?

गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है।

भाष्य

१. बाहरी पुद्गलों का

प्रस्तुत प्रकरण में बाहरी पुद्गलों का अर्थ वैक्रिय शरीर योग्य पुद्गल हैं।^१ वैभार पर्वत के उल्लंघन आदि की क्रियाएँ वैक्रिय शरीर

के द्वारा ही की जा सकती हैं; इसलिए यहां बाह्य पुद्गल वैक्रिय वर्णना की पुद्गल-राशि के लिए विवक्षित है।

१८७. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू वैभारं पव्वयं उल्लंघेत्तए वा? पल्लंघेत्तए वा? हंता पभू ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः वैभारं पर्वतम् उल्लंघयितुं वा? प्रलंघयितुं वा? हन्त प्रभुः।

१८७. भन्ते! भावितात्मा अनगार वाहरी पुद्गलों का ग्रहण कर वैभार पर्वत का उल्लंघन और प्रलंघन करने में समर्थ है? हां, वह समर्थ है।

१८८. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं, एवइयाइं विकुव्वित्ता वैभारं पव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू समं वा विसमं करेत्तए? विसमं वा समं करेत्तए?

गोयमा! नो इण्ढे सम्ढे ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय यावन्ति राजगृहे नगरे रूपाणि एतावन्ति विकृत्य वैभारं पर्वतम् अन्तः अनुप्रविश्य प्रभुः समं वा विषमं कर्तुम्? विषमं वा समं कर्तुम्?

गौतम! नायमर्थः समर्थः।

१८८. भन्ते! भावितात्मा अनगार वाहरी पुद्गलों का ग्रहण किए बिना राजगृह नगर में जितने रूप हैं, उतने रूपों की विक्रिया कर वैभार पर्वत के भीतर प्रविष्ट हो क्या उसके समभाग को विषम करने में और विषम भाग को सम करने में समर्थ है?

गौतम! यह अर्थ संगत नहीं है।

१८९. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं, एवइयाइं विकुव्वित्ता वैभारं पव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू समं वा विसमं करेत्तए? विसमं वा समं करेत्तए?

हंता पभू ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय यावन्ति राजगृहे नगरे रूपाणि एतावन्ति विकृत्य वैभारं पर्वतम् अन्तः अनुप्रविश्य प्रभुः समं वा विषमं कर्तुम्? विषमं वा समं कर्तुम्?

हन्त प्रभुः।

१८९. भन्ते! भावितात्मा अनगार वाहरी पुद्गलों का ग्रहण कर राजगृह नगर में जितने रूप हैं, उतने रूपों की विक्रिया कर वैभार पर्वत के भीतर प्रविष्ट हो क्या उसके समभाग को विषम करने में और विषम भाग को सम करने में समर्थ है?

हां, वह समर्थ है।

१९०. से भंते! किं माई विकुव्वइ? अमाई विकुव्वइ?

गोयमा! माई विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वइ॥

स भदन्त! किं मायी विकरोति? अमायी विकरोति?

गौतम! मायी विकरोति, नो अमायी विकरोति।

१९०. भन्ते! मायी^१ विक्रिया (रूप-निर्माण) करता है? अमायी^२ विक्रिया करता है?

गौतम! मायी विक्रिया करता है? अमायी विक्रिया नहीं करता।

भाष्य

१. मायी, अमायी

माया के अनेक अर्थ हैं—माया—वक्रता, कषाय का तीसरा प्रकार। तीन शल्य हैं। उनमें पहला शल्य है—माया। माया का एक

अर्थ है—शाम्बरी विद्या, जादुगरी की विद्या।^१ माया को जानने वाला मायाकार अथवा मायी कहलाता है। वृत्तिकार ने मायी का अर्थ 'मायावान्' उपलक्षण से 'सकषाय' या 'प्रमत्त' किया है। उनका अभिमत

१. भ. वृ. ३/१८६—औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः।

२. (क) अभि. ३/५८६—माया तु शाम्बरी।

(ख) आपटे.—माया.—श्रनहहसमतलए पूजबी.वतजिए 'दे पससनेपवद वी उहपवण

हे कि अप्रमत्त वैक्रिय नहीं करता।' वृत्तिकार के इस अभिमत का संवादी पाठ साक्षात् उपलब्ध है—अमायी विक्रिया नहीं करता।' यहां वृत्तिकार द्वारा किया हुआ 'मायी' शब्द का अर्थ विमर्शनीय है। अमायी भी वैक्रियलब्धि का प्रयोग करता है। यदि मायी का अर्थ प्रमत्त और अमायी का अर्थ अप्रमत्त किया जाए तो अमायी वैक्रिय शक्ति का प्रयोग कैसे कर सकता है? सूत्र ३/२३१ से २३६ तक का पूरा आलापक अमायी द्वारा कृत विक्रिया से संबद्ध है। यहां मायी का अर्थ 'प्रमत्त' या 'कृपायवान्' प्रार्संगिक नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण में मायी का अर्थ आभियोगिकी भावना से भावित मंत्र, योग, भूतिकर्म आदि का प्रयोग करने वाला होना चाहिए। इसके समर्थन में भ. ३/२१६, २२० द्रष्टव्य हैं। मायी आभियोगिक

देवलोकों में देव के रूप में उत्पन्न होता है और अमायी अनाभियोगिक देवलोकों में उत्पन्न होता है। मंत्र, योग, भूतिकर्म आदि का प्रयोग करने वाला आभियोगिकी भावना करता है। यह उत्तरज्ज्ञयणाणि में स्पष्ट उल्लिखित है। यहां विक्रिया का अर्थ अभियोजन—विद्या, मंत्र आदि के सामर्थ्य से किया जाने वाला परिवर्तन है। वृत्तिकार ने मायी अभिजुंजई—इस वाचना का उल्लेख किया है। अभियोग को भी विक्रिया माना है। सूत्र २०६ और २१० में अभिजुंजित्तए तथा सूत्र २११ में अभिजुंजित्ता का प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत प्रकरण में अभिजुंजई यह पाठ 'विउव्वइ' की अपेक्षा अधिक प्रार्संगिक है। आभियोगिकी भावना की अभिव्यक्ति अभिजुंजई पाठ से होती है, वह विउव्वइ पाठ से नहीं होती।

१६१. से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—माई विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वइ?

गोयमा! माई णं पणीयं पाण-भोयणं भोच्चा-भोच्चा वामेति। तस्स णं तेणं पणीएणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिंजा बहलीभवन्ति, पयणुए मंस-सोणिए भवति। जे वि य से अहाबायरा पोग्गला ते वि य से परिणमन्ति, तं जहा—सोईदियत्ताए चक्खिंदियत्ताए घाणिंदियत्ताए रसिंदियत्ताए फासिंदियत्ताए, अट्ठि-अट्ठिमिंज-केश-मंसु-रोम-नहत्ताए, सुक्कत्ताए, सोणियत्ताए।

अमाई णं लूहं पाण-भोयणं भोच्चा-भोच्चा णो वामेइ। तस्स णं तेणं लूहेणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिंजा पयणूभवन्ति, बहले मंस-सोणिए। जे वि य से अहाबायरा पोग्गला ते वि य से परिणमन्ति, तं जहा—उच्चारत्ताए पासवणत्ताए खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए सोणि-यत्ताए।

से तेणट्टेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—माई विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वइ ॥

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—मायी विकरोति, नो अमायी विकरोति?

गौतम! मायी प्रणीतं पान-भोजनं भुक्त्वा-भुक्त्वा वमन्ति। तस्य तेन प्रणीतेन पान-भोजनेन अस्थि-अस्थिमज्जाः बहलीभवन्ति, प्रतनुकं मांस-शोणितं भवति। येऽपि च तस्य यथा वादराः पुद्गलाः तेऽपि च तस्य परिणमन्ति, तद् यथा—श्रोत्रेन्द्रियतया चक्षु-रिन्द्रियतया घ्राणेन्द्रियतया रसनेन्द्रियतया स्पर्शेन्द्रियतया, अस्थि-अस्थिमज्जा-केश-शमथु-रोम-नखतया, शुकृतया, शोणित-तया।

अमायी रूक्षं पान-भोजनं भुक्त्वा-भुक्त्वा नो वमन्ति। तस्य तेन रूक्षेण पान-भोजनेन अस्थि-अस्थिमज्जाः प्रतनूभवन्ति, बहलं मांस-शोणितम्। येऽपि च तस्य यथावादराः पुद्गलास्तेऽपि च तस्य परिणमन्ति, तद् यथा—उच्चारतया प्रसवणतया क्ष्वेलतया सिंहाणतया वान्ततया पित्ततया पूयतया शोणिततया।

तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—मायी विकरोति, नो अमायी विकरोति।

१६१. भन्ते! यह कित्त' अपेक्षा से कहा जा रहा है—मायी विक्रिया करता है, अमायी विक्रिया नहीं करता?

गौतम! मायी प्रणीत पान-भोजन खा-खा कर उसका वमन करता है। उस प्रणीत पान-भोजन से उसको अस्थियां और अस्थिमज्जा सघन हो जाती हैं। मांस और शोणित पतला हो जाता है। वह जिन यथोचित वादर पुद्गलों को लेता है वे भी श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, अस्थि, अस्थिमज्जा, केश, श्मथु, रोम, नख, शुक और शोणित-रूप में परिणत हो जाते हैं।

अमायी रूक्ष पान-भोजन खा-खा कर उसका वमन नहीं करता है। उस रूक्ष पान-भोजन से उसकी अस्थियां और अस्थिमज्जा पतली हो जाती हैं। मांस और शोणित सघन हो जाता है। वह जिन यथोचित वादर पुद्गलों को लेता है वे भी मल, मूत्र, श्लेष्म, नासिका-मल, यमन, पित्त, पीव और शोणित रूप में परिणत हो जाते हैं।

गौतम! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—मायी विक्रिया करता है, अमायी विक्रिया नहीं करता।

१. भ. वृ. ३/१६० 'मायी' ति भावयान्, उपलक्षणत्वात्स्य सकृपावः प्रमत्त इति यावत्, अप्रमत्तो हे न वैक्रियं कुरुत इति।

२. भग. ३/१६०।

३. उत्तर. ३६ २६४—

मंताजोगं कइइ, भूटं वग्गं च जे पउज्जति।

सव्वरसइइहेउं आभियोगं भावणं कणइ ॥

४. भ. वृ. ३/२१६—'माई विउव्वइ' ति दृश्यते, तत्र चाभिव्योगोऽपि विक्रियेति मन्तव्यं, विक्रियारूपत्वात्स्येति।

भाष्य

१. अस्थियां और अस्थिमज्जा सघन हो जाती हैं

प्रस्तुत प्रकरण में विक्रिया की प्रक्रिया भी बतलाई गई है। अस्थि और अस्थिमज्जा—ये दोनों विक्रिया के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। विक्रिया की शक्ति इन्हीं में अर्जित होती है। बार-बार स्निग्ध भोजन करना और भोजन के बाद वमन कर देना—यह अस्थि और अस्थिमज्जा के स्नेहन की विधि है। इस विधि से अस्थि और अस्थिमज्जा—ये सघन हो जाते हैं। मांस और रक्त की सघनता कम हो जाती है। शेष आहार इन्द्रियों

की शक्ति बढ़ाता है।^१

२. मल, मूत्र...परिणत हो जाते हैं

प्रसंगवश रूक्ष भोजन की परिणति का भी विवरण मिलता है। रूक्ष भोजन का उच्चार (मल) आदि के रूप में अधिक परिणमन होता है। इससे अस्थि, अस्थिमज्जा और इन्द्रियों का संवर्धन यथेष्ट मात्रा में नहीं होता।^२

१६२. माई णं तस्स ठाणस्स अणालोइय-
पडिक्कंते कालं करेइ, नरिथ तस्स
आराहणा। अमाई णं तस्स ठाणस्स
आलोइय-पडिक्कंते कालं करेइ, अस्थि
तस्स आराहणा ॥

मायी तस्य स्थानस्य अनालोचितप्रतिक्रान्तः
कालं करोति, नास्ति तस्य आराधना। अमायी
तस्य स्थानस्य आलोचित-प्रतिक्रान्तः कालं
करोति, अस्ति तस्य आराधना।

१६२. मायी उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण
किए बिना काल को प्राप्त होता है, उसके
आराधना नहीं होती। अमायी उस स्थान की
आलोचना और प्रतिक्रमण कर काल को प्राप्त
होता है, उसकी आराधना होती है।^३

भाष्य

१. आराधना होती है

प्रस्तुत सूत्र मायी से अमायी बने हुए मुनि के लिए विहित है। जो मुनि पहले मायी-अवस्था में प्रणीत भोजन और विक्रिया—दोनों का प्रयोग करता था, फिर उन दोनों का परित्याग कर अमायी हो

गया तथा पूर्वकृत दोष की आलोचना और प्रतिक्रमण कर विशुद्ध हो
गया, उस अवस्था में उसका भरण आराधक—ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य
की आराधना से युक्त होता है।^३

१६३. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति ॥

तदेयं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति।

१६३. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है।

१. भ. वृ. ३/१६१—यथोचितवादराः आहारपुद्गला इत्यर्थः परिणमन्ति श्रोत्रेन्द्रियादित्येन, अन्यथा शरीरस्य दाढ्यासम्भवात्।

२. वही, ३/१६१—रूक्षभोजन उच्चारदितयेवाहारपुद्गलाः परिणमन्ति अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तिरिति।

३. वही, ३/१६२—'माई णमित्यादि', 'तस्स ठाणस्स'ति तस्मात्स्थानादिकूर्वाणाकरण-लक्षणत्वणीतभोजनलक्षणाद्वा, 'अमाई ण' मित्यादि, पूर्व मायित्वा द्वैकियं प्रणीतभोजनं वा कृतवान् पश्चाज्जातानुतापोऽमायी सन् तस्मात्स्थानादालोचितप्रतिक्रान्तः सन् कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति।

पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

भाविअप्प-विकुव्वणा-पदं

१६४. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं इत्थीरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए?

नो इण्डे समट्टे ॥

१६५. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं इत्थीरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए? हंता पभू ॥

१६६. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा केवइयाइं पभू इत्थिरूवाइं विकुव्वित्तए? गोयमा! से जहानामए—जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ जाव पभू णं गोयमा! अणगारे णं भाविअप्पा केवलकप्पं जुंबुदीवं दीवं बहूहिं इत्थिरूवेहिं आइण्णं वित्तिक्किण्णं उवत्थइं संथइं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। एस णं गोयमा! अणगारस्स भाविअप्पणो अयमेयारूवे विसए, विसयमेत्ते बुइए, णो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा, विउव्वित्ति वा, विउव्विस्सत्ति वा। एवं परिवाडीए नेयव्वं जाव संद-माणिया ॥

१६७. से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा असिचम्मपायहत्थक्किच्चगएणं अप्पाणेणं उड्डं वेहासं उप्पएज्जा? हंता उप्पएज्जा ॥

भावितात्म-विकुर्वणा-पदम्

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः एकं महत् स्त्रीरूपं वा यावत् स्यन्दमानिकारूपं वा विकर्तुम्?

नायमर्थः समर्थः।

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः एकं महत् स्त्रीरूपं वा यावत् स्यन्दमानिकारूपं वा विकर्तुम्? हन्त प्रभुः।

अनगारः भदन्त! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः स्त्रीरूपाणि विकर्तुम्? गौतम! तद् यथानाम युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृहीयात् चक्रस्य वा नाभिः अरकायुक्ता स्याद, एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्ति यावत् प्रभुः गौतम! अनगारः भावितात्मा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं बहुभिः स्त्रीरूपैः आकीर्णं व्यतिकीर्णम् उपस्तृतं संस्तृतं स्पृष्टम् अवगाढावगाढं कर्तुम्। एष गौतम! अनगारस्य भावितात्मनः अयमेतद्रूपः विषयः विषयमात्रम् उक्तम्, नो चैव सम्प्राप्त्या व्यकार्षीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा। एवं परिपाट्या नेतव्यं यावत् स्यन्दमानिका।

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः असिचर्मपात्रं गृहीत्वा गच्छेत्, एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा असिचर्मपात्रहस्तकृत्यागतेन आत्मना उर्ध्वं विहायः उत्पतेत्? हन्त उत्पतेत्।

भावितात्मा-विकुर्वणा-पद

१६४. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना एक महान् स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका-रूप की विक्रिया करने में समर्थ है?

यह अर्थ संगत नहीं हैं।

१६५. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक महान् स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका-रूप का निर्माण करने में समर्थ है? हां, समर्थ है।

१६६. भन्ते! भावितात्मा अनगार कितने स्त्री-रूपों का निर्माण करने में समर्थ है? गौतम! जैसे कोई युवक युवती का हाथ प्रगाढ़ता से पकड़ता है तथा याड़ी के चक्के की नाभि आरों से युक्त होती है, उसी प्रकार भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है यावत् गौतम! वह भावितात्मा अनगार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप को अनेक स्त्रीरूपों से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तृत (विछीना-सा बिछाया हुआ), संस्तृत (भली-भांति विछीना-सा बिछाया हुआ), स्पृष्ट और अवगाढावगाढ (अत्यन्त सघन रूप से व्याप्त) करने में समर्थ है। गौतम! भावितात्मा अनगार (की विक्रिया शक्ति) का यह इतना विषय केवल विषय की दृष्टि से प्रतिपादित है। भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है, और न करेगा। इस परिपाटी से यावत् स्यन्दमानिका तक ज्ञातव्य है।

१६७. जैसे कोई भी पुरुष तलवार और ढाल ग्रहण कर जाए इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी क्या हाथ में तलवार और ढाल ले कृत्यागत होकर (माया या विद्या का प्रयोग कर) ऊपर आकाश में उड़ता है? हां, उड़ता है।

भाष्य

१. तलवार...प्रयोग कर

वृत्तिकार ने असिचर्मपात्र का अर्थ 'ढाल' किया है। वैकल्पिक रूप से असि का अर्थ 'तलवार' और चर्मपात्र के दो अर्थ किये हैं। 'ढाल अथवा म्यान'।^१

असिचर्मपात्रहस्तकिच्चगणं के वृत्तिकार ने तीन अर्थ किए हैं—

१. कृत्य—कृत्य अधात् संघ आदि के प्रयोजन के लिए हाथ

में तलवार और ढाल को धारण करना।

२. असिचर्मपात्रहस्तकृत्याकृतेन—असिचर्मपात्र को करके, हाथ में प्राप्त कर लिया है जिसने।

३. असिचर्मपात्र के हस्तकरण को प्राप्त करने वाला।^३

यह पूरा आलापक भाषा का है। कृत्या का अर्थ है—माया, इन्द्रजाल, जादू-टोना आदि।^४ इसलिए 'माया या विद्या का प्रयोग कर'—यह अर्थ प्रकरण-संगत है।

१६८. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा केवइयाई पभू असिचम्म (पाय?) हत्थकिच्चगयाई रुवाई विउव्वित्तए? गोयमा! से जहानामए—जुवइ जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेणहेज्जा, तं चेव जाव विउव्विसु वा, विउव्वति वा, विउव्विस्सति वा ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः असिचर्म (पात्र?) हस्तकृत्यागतानि रूपाणि विकर्तुम्?

गौतम! तद् यथानाम—युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृहीयात्, तच्चैव यावद् व्यकार्षीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा।

१६८. भन्ते! भावितात्मा अनगार हाथ में तलवार और ढाल ले कितने कृत्यागत रूपों की विक्रिया करने में समर्थ है?

गौतम! जैसे कोई युवक युवती का हाथ प्रगाढ़ता से पकड़ता है, वही (सू. १६६) वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

१६६. से जहानामए केइ पुरिसे एगओपडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा एगओपडागाहत्थकिच्चगणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा? हंता उप्पएज्जा ॥

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः एकतःपताकां कृत्वा गच्छेत्, एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा एकतःपताकाहस्तकृत्यागतेन आत्मना ऊर्ध्वं विहायः उत्पतेत्? हन्त उत्पतेत्।

१६६. जैसे कोई पुरुष एक हाथ में पताका लेकर जाए, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार क्या एक हाथ में पताका ले कृत्यागत होकर ऊपर आकाश में उड़ता है? हां, उड़ता है।

२००. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा केवइयाई पभू एगओपडागाहत्थकिच्चगयाई रुवाई विकुव्वित्तए? एवं चेव जाव विकुव्विसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः एकतःपताकाहस्तकृत्यागतानि रूपाणि विकर्तुम्? एवं चैव यावद् व्यकार्षीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा।

२००. भन्ते! भावितात्मा अनगार एक हाथ में पताका ले कितने कृत्यागत रूपों की विक्रिया करने में समर्थ है? वही (सू. १६६) वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा।

२०१. एवं दुहओपडागं पि ॥

एवं द्विधापताकम् अपि।

२०१. इसी प्रकार दोनों हाथों में पताका लिए हुए पुरुष की वक्तव्यता।

२०२. से जहानामए केइ पुरिसे एगओजण्णो-वइतं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा एगओजण्णोवइतकिच्चगणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा? हंता उप्पएज्जा ॥

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः एकतोयज्ञोपवीतं कृत्वा गच्छेत्, एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा एकतोयज्ञोपवीतकृत्यागतेन आत्मना ऊर्ध्वं विहायः उत्पतेत्? हन्त उत्पतेत्।

२०२. जैसे कोई पुरुष एक ओर यज्ञोपवीत धारण कर जाए, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी क्या एक ओर यज्ञोपवीत धारण किए हुए कृत्यागत होकर ऊपर आकाश में उड़ता है? हां, उड़ता है।

१. अ. वृ. ३/१६७—असिचर्मपात्रं—स्वरकः अथवाऽसिश्च—खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुल्लः खड्गकांशको वा ॥

२. वही ३/१६७—असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा कृत्यं—संघादि प्रयोजनं गतः—आर्थात्: कृत्यागतः ततः कथंवायाः, अनन्वोनात्मना, अथवा असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्ते कृतं येनासी

असिचर्मपात्रहस्तकृत्याकृतेन. प्राकृत्याच्चैवं समासः अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यां—हस्तकरणं गतः—प्राप्तो यः स तथा तेन।

३. आटे—कृत्या—Magic.

२०३. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा केवइयाईं पभू एगओजण्णोवइत्तकिच्चगयाईं रूदाईं विकुव्वित्तए?

तं चेव जाव विकुव्विंसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा ।

अनगारः भदन्त! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः एकतोयज्ञोपवीतकृत्यागतानि रूपाणिविकर्तुम्?

तच्चैव यावद् व्यकार्पीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा ।

२०३. भन्त! भावितात्मा अनगार एक ओर वज्ञोपवीत धारण किए हुए कितने कृत्यागत रूपों की विक्रिया करने में समर्थ है?

वही (सू. १६६ की) वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा ।

२०४. एवं दुहओजण्णोवइयं पि ॥

एवं द्विधायज्ञोपवीतमपि ।

२०४. इसी प्रकार दोनों ओर वज्ञोपवीत धारण किए हुए पुरुष की वक्तव्यता ।

२०५. से जहानामए केइ पुरिसे एगओपल्ह-स्थियं काउं चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा एगओपल्हस्थियकिच्चगएणं अप्पाणेणं उइढं वेहासं उप्पएज्जा?

तं चेव जाव विकुव्विंसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा ॥

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः एकतःपर्यस्तिकां कृत्वा तिष्ठेत्, एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा एकतःपर्यस्तिककृत्यागतेन आत्मना ऊर्ध्वं विहायः उत्पतेत्?

तच्चैव यावद् व्यकार्पीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा ।

२०५. भन्त! जैसे कोई पुरुष एक (अर्ध) पर्यस्तिका-आसन में बैठता है, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी क्या एक पर्यस्तिका-आसन में बैठ कृत्यागत होकर ऊपर आकाश में उड़ता है?

वही (सू. १६६ की) वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा ।

भाष्य

१. पर्यस्तिका (पल्हस्थिय)

‘हठयोगप्रदीपिका’ में इसे स्वस्तिकासन के रूप में इस प्रकार व्याख्यापित किया गया है—दोनों जांघों और घुटनों के मध्य में दोनों पादतलों (तलवों) को रखकर त्रिकोणाकार-आसन बांधना तथा सरल

‘भाय से बैठने को स्वस्तिकासन कहते हैं।’ ‘धेरण्डसंहिता’ में भी वही व्याख्या उपलब्ध है।

उत्तरज्झयणाणि (१/१६ का टिप्पण) में ‘पल्हस्थियं’ का दूसरा अर्थ दिया गया है।

२०६. एवं दुहओपल्हस्थियं पि ॥

एवं द्विधापर्यस्तिकाम् अपि ।

२०६. इसी प्रकार द्वि (पूर्ण) पर्यस्तिकासन की वक्तव्यता ।

२०७. से जहानामए केइ पुरिसे एगओप-लियंकां काउं चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे वि भाविअप्पा एगओपलियंकाकिच्चगएणं अप्पाणेणं उइढं वेहासं उप्पएज्जा?

तं चेव जाव विकुव्विंसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा ॥

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः एकतःपर्यङ्कं कृत्वा तिष्ठेत् एवमेव अनगारोऽपि भावितात्मा एकतःपर्यङ्ककृत्यागतेन आत्मना ऊर्ध्वं विहायः उत्पतेत्?

तच्चैव यावद् व्यकार्पीद् वा, विकरोति वा, विकरिष्यति वा ।

२०७. जैसे कोई पुरुष एक (अर्ध) पर्यकासन में बैठता है, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी क्या एक पर्यकासन में बैठ कृत्यागत होकर ऊपर आकाश में उड़ता है?

वही (सू. १६६ की) वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया की, न करता है और न करेगा ।

भाष्य

१. पर्यकासन—पर्यकासन का अर्थ पद्मासन और अर्ध पर्यकासन का अर्थ अर्ध पद्मासन किया जाता है। कुछ आचार्य पर्यकासन की

मुद्रा वज्ञासन के रूप में उल्लिखित करते हैं—

पर्यक—दोनों जंघाओं के अधोभाग को दोनों पैरों पर टिकाकर

१. हठयोगप्रदीपिका, १/१६—

जानूयान्ते सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।

कृञ्जकायः भगसीनः स्वस्तिकं तद् प्रयक्षने ॥

२. धेरण्डसंहिता, २/१२ ।

बैठना।

अर्धपर्यक—एक जंघा के अधोभाग को पैर पर टिकाकर बैठना।^१

आयंगर के अनुसार पर्यकासन की मुद्रा सुप्तवजासन से कुछ भिन्न है—“केवल सिर के मुकुट को जमीन पर स्थित कर पीठ की मेहराब ऊपर बनाते हुए गर्दन और छाती को उठाएं। धड़ का कोई हिस्सा जमीन पर नहीं होना चाहिए।”^२

पर्यक का अर्थ पलंग अथवा सोफा है। सुप्तवजासन का आकार पलंग जैसा हो जाता है। इसलिए दुहओपलियंक का अर्थ ‘सुप्तवजासन’ किया जा सकता है। एगओपलियंक का अर्थ ‘अर्धवजासन’—एक साधल (सविध) के अधोभाग को एक पैर पर टिका कर बैठना तथा दूसरे पैर को मोड़कर घुटने को ऊंचा रखकर बैठना। ‘पर्यकासन’ की विशेष जानकारी के लिए भ. २/६२ का भाष्य द्रष्टव्य है।

२०८. एवं दुहओपलियंकं पि ॥

एवं द्विधापर्यङ्कम् अपि।

२०८. इसी प्रकार द्वि (पूर्ण) पर्यकासन की वक्तव्यता।

भाविअप्प-अभिजुंजणा-पदं

२०६. अणगारे णं भन्ते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा विग्घरूवं वा विगरूवं वा दीवियरूवं वा अच्छरूवं वा तरच्छरूवं वा परासररूवं वा अभिजुंजित्तए?

नो इण्ढे सम्ढे ॥

भावितात्म-अभियोजना-पदम्

अणगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः एकं महद् अश्वरूपं वा हस्तिरूपं वा सिंहरूपं वा व्याघ्ररूपं वा वृकरूपं वा द्वीपिकरूपं वा ऋक्षरूपं वा तरक्षरूपं वा पराशररूपं वा अभियोक्तुम्?

नायमर्थः समर्थः

भावितात्म-अभियोजना-पद

२०६. भन्ते! भावितात्मा अणगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना क्या एक महान् अश्वरूप, हस्तिरूप, सिंहरूप, व्याघ्ररूप, भेड़िये का रूप, चीते का रूप, रीछ का रूप, तेंदुए का रूप अथवा अष्टापद-रूप की अभियोजना (उनके शरीर में अनुप्रविष्ट हो व्यापृत करने) में समर्थ है? नहीं, यह अर्थ संगत नहीं है।

भाष्य

१. बहिर्वर्ती पुद्गलों का

सूत्र १६४ में बाहिरए पोग्गले पाठ है। वहां वृत्तिकार ने इसका अर्थ वैक्रिय पुद्गल किया है।^१ प्रस्तुत सूत्र में आए हुए बाहिरए पोग्गले का अर्थ ‘विद्या आदि के सामर्थ्य से गृहीत बाह्य पुद्गल’ किया है।^२ इसका हेतु यह है कि १६४वें सूत्र में वैक्रिय लब्धि द्वारा रूप-निर्माण का विषय है। प्रस्तुत सूत्र में परकाय-प्रवेश का विषय है।

२१०. अणगारे णं भन्ते! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा विग्घरूवं वा विगरूवं वा दीवियरूवं वा अच्छरूवं वा तरच्छरूवं वा परासररूवं वा अभिजुंजित्तए? हंता पभू ॥

२११. अणगारे णं भन्ते! भाविअप्पा (पभू?) एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता अणेगाइं जीयणाइं गमित्तए? हंता पभू ॥

शब्द-विमर्श

वृक (विग्घ)—भेड़िया
द्वीपिक (दीविय)—चीता
ऋक्ष (अच्छ)—रीछ
तरक्ष (तरच्छ)—तेंदुआ
पराशर—अष्टापद

अणगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः एकं महद् अश्वरूपं वा हस्तिरूपं वा सिंहरूपं वा व्याघ्ररूपं वा वृकरूपं वा द्वीपिकरूपं वा ऋक्षरूपं वा तरक्षरूपं वा पराशररूपं वा अभियोक्तुम्? हन्त प्रभुः।

अणगारः भदन्त! भावितात्मा (प्रभुः?) एकं महद् अश्वरूपं वा अभियुज्य अनेकानि योजनानि गन्तुम्? हन्त प्रभुः।

२१०. भन्ते! भावितात्मा अणगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर क्या एक महान् अश्वरूप, हस्तिरूप, सिंहरूप, व्याघ्ररूप, भेड़िये का रूप, चीते का रूप, रीछ का रूप, तेंदुए का रूप अथवा अष्टापद-रूप की अभियोजना में समर्थ है? हां, समर्थ है।

२११. भन्ते! भावितात्मा अणगार क्या एक महान् अश्वरूप की अभियोजना कर? अनेक योजनों तक जाने में समर्थ है? हां, समर्थ है।

१. मूलराधना, ३/२२४-२५।

२. योगदीपिका, पृ. ८६।

३. द्रष्टव्य भ. ३/१६४ भाष्य।

४. भ. वृ. ३/२०९—‘अभियोक्तुं’ विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं, यच्च स्वस्यानुप्रवेशेनाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्यादितिकृत्वा।

भाष्य

१. अभियोजना कर

भावितात्मा अनगार वैक्रिय लब्धि के द्वारा नए रूपों का निर्माण करता है और अभियोजन-शक्ति के द्वारा वह परकाय में प्रवेश कर उसे व्यापृत या संचालित करता है। उसका सम्बन्ध आभियोगिकी भावना—विद्या, मंत्र आदि से है। वृत्तिकार ने अभिजुजित्तए पाठ का

अर्थ 'विद्या आदि के सामर्थ्य से अश्व आदि के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे व्यापृत अथवा संचालित करना' किया है।

उत्तरज्ज्ञयणाणि में आभियोगिकी भावना का उल्लेख है। उसका सम्बन्ध मंत्र, वशीकरण, योग आदि से है।'

२१२. से भंते! किं आइड्डीए गच्छइ? परि-
ड्डीए गच्छइ?
गोयमा! आइड्डीए गच्छइ, नो परिड्डीए
गच्छइ ॥

स भदन्त! किं आत्मद्वर्या गच्छति? परद्वर्या
गच्छति?
गौतम! आत्मद्वर्या गच्छति, नो परद्वर्या
गच्छति।

२१२. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार अपनी ऋद्धि
से जाता है? परऋद्धि से जाता है?
गौतम! वह अपनी ऋद्धि से जाता है, पर ऋद्धि
से नहीं जाता।

२१३. से भंते! किं आयकम्मुणा गच्छइ? पर-
कम्मुणा गच्छइ?
गोयमा! आयकम्मुणा गच्छइ, नो परकम्मुणा
गच्छइ ॥

स भदन्त! किम् आत्मकर्मणा गच्छति?
परकर्मणा गच्छति?
गौतम! आत्मकर्मणा गच्छति, नो परकर्मणा
गच्छति।

२१३. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार अपनी क्रिया
से जाता है? परक्रिया से जाता है?
गौतम! वह अपनी क्रिया से जाता है, परक्रिया
से नहीं जाता।

२१४. से भंते! किं आयप्पयोगेणं गच्छइ?
परप्पयोगेणं गच्छइ?
गोयमा! आयप्पयोगेणं गच्छइ, नो परप्प-
योगेणं गच्छइ ॥

स भदन्त! किम् आत्मप्रयोगेण गच्छति?
परप्रयोगेण गच्छति?
गौतम! आत्मप्रयोगेण गच्छति, नो परप्रयोगेण
गच्छति।

२१४. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार अपने प्रयोग
से जाता है? परप्रयोग से जाता है?
गौतम! वह अपने प्रयोग से जाता है, परप्रयोग
से नहीं जाता।

२१५. से भंते! किं ऊसिओदयं गच्छइ?
पतोदयं गच्छइ?
गोयमा! ऊसिओदयं पि गच्छइ, पतोदयं
पि गच्छइ ॥

स भदन्त! किं उच्छित्तोदयं गच्छति? पतदुदयं
गच्छति?
गौतम! उच्छित्तोदयमपि गच्छति, पतदुदयमपि
गच्छति।

२१५. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार ऊपर उठी
हुई पताका के रूप में जाता है? नीचे गिरी
हुई पताका के रूप में जाता है?
गौतम! वह ऊपर उठी हुई पताका के रूप में
भी जाता है और नीचे गिरी हुई पताका के
रूप में भी जाता है।

२१६. से णं भंते! किं अणगारे? आसे?
गोयमा! अणगारे णं से, नो खलु से आसे ॥

स भदन्त! किम् अनगारः? अश्वः?
गौतम! अनगारः सः, नो खलु स अश्वः।

२१६. भन्ते! क्या वह अनगार है? अश्व है?
गौतम! वह अनगार है, अश्व नहीं है।

२१७. एवं जाव परासररूवं वा ॥

एवं यावत् पराशररूपं वा ।

२१७. इसी प्रकार यावत् अष्टापद-रूप की अभियोजना
के विषय में ज्ञातव्य है।

२१८. से भंते! किं मायी विकुव्वइ? अमायी
विकुव्वइ?
गोयमा! मायी विकुव्वइ, नो अमायी
विकुव्वइ ॥

स भदन्त! किं मायी विकरोति? अमायी
विकरोति?
गौतम! मायी विकरोति, नो अमायी विकरोति?

२१८. भन्ते! क्या मायी विक्रिया (रूप निर्माण)
करता है? अमायी विक्रिया करता है?
गौतम! मायी विक्रिया करता है, अमायी विक्रिया
नहीं करता।

भाष्य

१. विक्रिया करता है

सूत्र २१८ का पाठ अधिकृत वाचना के अनुसार 'विकुव्वइ' स्वीकार किया गया है। वृत्तिकार ने अभियोग और विक्रिया को एकार्थक

बतलाया है। किन्तु वास्तव में ये दोनों एक नहीं होने चाहिए। सूत्र २११ के भाष्य में इनका भेद स्पष्ट किया जा चुका है।

२१६. मायी णं भन्ते! तस्स ठाणस्स अणा-
लोइयपडिक्कंते कालं करेइ, कहिं उव-
वज्जइ?

गोयमा! अण्णयरेसु आभियोगिएसु देव-
लोगेसु देवत्ताए उववज्जइ ॥

२२०. अमायी णं भन्ते! तस्स ठाणस्स आलो-
इय-पडिक्कंते कालं करेइ, कहिं उववज्जइ?

गोयमा! अण्णयरेसु अणाभियोगिएसु
देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ ॥

२२१. सेवं भन्ते! सेवं भन्ते! त्ति।

संग्रहणी गाथा

इत्थी असी पडागा
जण्णोवइए य होइ बोद्धव्वे।
पल्हत्थिय पलियंके,
अभियोग विकुव्वणा मायी ॥१॥

मायी भदन्त! तस्य स्थानस्य अनालोचित-
प्रतिक्रान्तः कालं करोति, कुत्र उपपद्यते?

गौतम! अन्यतरेषु आभियोगिकेषु देवलोकेषु
देवतया उपपद्यते।

अमायी भदन्त! तस्य स्थानस्य आलो-
चित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति, कुत्र उपपद्यते?

गौतम! अन्यतरेषु अणाभियोगिकेषु देवलोकेषु
देवतया उपपद्यते।

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति।

संग्रहणी गाथा

स्त्री असिः पताका,
यज्ञोपवीतं च भवति वोद्धव्यम्।
पर्यस्तिकापर्यङ्की,
अभियोगो विक्रिया मायी ॥१॥

२१६. भन्ते! मायी उस स्थान की आलोचना और
प्रतिक्रमण किए बिना मरकर कहाँ उपपन्न होता
है?

गौतम! आभियोगिक देवलोकों में से किसी एक
देवलोक में देवरूप में उपपन्न होता है।

२२०. भन्ते! अमायी उस स्थान की आलोचना और
प्रतिक्रमण के पश्चात् मरकर कहाँ उपपन्न होता
है?

गौतम! अनाभियोगिक देवलोकों में से किसी एक
देवलोक में देवरूप में उपपन्न होता है।

२२१. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही
है।

संग्रहणी गाथा

स्त्री, तलवार, पताका, यज्ञोपवीत, पर्यस्तिका,
पर्यङ्क, अभियोग, विक्रिया और मायी—इस उद्देशक
में ये विषय वर्णित हैं।

छटो उद्देशो : छठा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

भावियप्-विकुब्बणा-पदं

भावितात्म-विक्रिया-पदम्

भावितात्मा-विक्रिया-पद

२२२. अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाई जाणइ-पासइ?

अनगरः भदन्त! भावितात्मा मायी मिथ्या-दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः विभंग-ज्ञानलब्धिकः वाराणसीं नगरीं समवहत्, समवहत्य राजगृहे नगरं रूपाणि जानाति-पश्यति?

२२२. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगर जो मायी, मिथ्यादृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह वाराणसी नगरी में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर राजगृह नगर में विद्यमान रूपों को जानता-देखता है?

हंता जाणइ-पासइ ॥

हन्त जानाति-पश्यति ।

हां, जानता-देखता है ।

२२३. से भंते! किं तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

२२३. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है? अन्यथा भाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गोयमा! नो तथाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहा-भावं जाणइ-पासइ ॥

गौतम! नो तथाभावं जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-पश्यति ।

गौतम! वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है ।

२२४. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—नो तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

२२४. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता, अन्यथाभाव को जानता-देखता है?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाई जाणामि-पासामि । सेस दंसण-विवच्चासे भवइ । से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

गौतम! तस्य एवं भवति—एवं खलु अहं राजगृहे नगरे समवहत्, समवहत्य वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानामि-पश्यामि । स एष दर्शन-विपर्यासः भवति । तत्तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—नो तथाभावं जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-पश्यति ।

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—मैंने राजगृह नगर में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग किया है, प्रयोग कर मैं वाराणसी नगरी में विद्यमान रूपों को जानता-देखता हूँ । यह उसके दर्शन का विपर्यास है । गौतम! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता, अन्यथाभाव को जानता-देखता है ।

२२५. अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाई जाणइ-पासइ?

अनगरः भदन्त! भावितात्मा मायी मिथ्या-दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः विभंग-ज्ञानलब्धिकः राजगृहे नगरे समवहत्, समवहत्य वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानाति-पश्यति?

२२५. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगर जो मायी, मिथ्यादृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह राजगृह नगर में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर वाराणसी नगरी में विद्यमान रूपों को जानता-देखता है?

हंता जाणइ-पासइ ॥

हन्त जानाति-पश्यति ।

हां, जानता-देखता है ।

२२६. से भंते! किं तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! नो तथाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२२७. से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए समोहए, समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि-पासामि। सेस दंसण-विवच्चासे भवति। से तेणट्टेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२२८. अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छदिद्धी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं, राजगिहं च नगरं, अंतरा एणं महं जणवयग्गं समोहए, समोहणित्ता वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरा एणं महं जणवयग्गं जाणति-पासति?

हंता जाणति-पासति ॥

२२९. से भंते! किं तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! नो तथाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३०. से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तस्स खलु एवं भवति—एस खलु वाणारसी नगरी, एस खलु रायगिहे नगरे, एस खलु अंतरा एणे महं जणवयग्गे, नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इही जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए। सेस दंसण-विवच्चासे भवति। से तेणट्टेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—नो तथाभावं

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! नो तथाभावं जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—नो तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तस्य एवं भवति—एवं खलु अहं वाराणस्यां नगर्यां समवहतः, समवहत्य राजगृहे नगरे रूपाणि जानामि-पश्यामि। स एष दर्शन-विपर्यासः भवति। ततेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—नो तथाभावं जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

अनगरः भदन्त! भावितात्मा मायी मिथ्या-दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः विभंग-ज्ञानलब्धिकः वाराणसीं नगरिं, राजगृहं च नगरं, अन्तरा एकं महद् जनपदाग्रं समवहतः, समवहत्य वाराणसीं नगरीं राजगृहं च नगरं अन्तरा एकं महद् जनपदाग्रं जानाति-पश्यति?

हन्त जानाति-पश्यति।

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! नो तथाभावं जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—नो तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तस्य एवं भवति—एषा खलु वाराणसी नगरी, एतत् खलु राजगृहं नगरम्, एतत् खलु अन्तरा एकं महद् जनपदाग्रं, नो खलु एषा मम वीर्यलब्धिः वैक्रियलब्धिः विभंग-ज्ञानलब्धिः ऋद्धिः युतिः यशो बलं वीर्यं पुरुषकार-पराक्रमः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः। स एष दर्शन-विपर्यासः भवति। ततेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—नो तथाभावं

२२६. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है? अन्यथा भाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गौतम! वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है।

२२७. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है?

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—मैंने वाराणसी नगरी में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग किया है, प्रयोग कर मैं राजगृह नगर में विद्यमान रूपों को जानता-देखता हूँ। यह उसके दर्शन का विपर्यास है। गौतम! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है।

२२८. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगर जो मायी, मिथ्यादृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह वाराणसी नगरी और राजगृह नगर के अन्तराल में एक महान् जनपदाग्र का निर्माण करने के लिए वैक्रिय समुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर वाराणसी नगरी, राजगृह नगर और उनके अन्तराल में एक महान् जनपदाग्र को जानता-देखता है? हां, जानता-देखता है।

२२९. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है? अन्यथा भाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गौतम! वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है।

२३०. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता है, अन्यथाभाव को जानता-देखता है?

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—यह वाराणसी नगरी है, यह राजगृह नगर है। यह इन दोनों के अन्तराल में महान् जनपदाग्र है। यह मेरी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि नहीं है। यह ऋद्धि, युति, यश, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम मुझे लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (विषाकाभिमुख) नहीं है। यह उसके दर्शन का विपर्यास है। गौतम!

जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥ जानाति-पश्यति, अन्यथाभावं जानाति-
-पश्यति।

इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को नहीं जानता-देखता, अन्यथाभाव को जानता-देखता है।

भाष्य

१. सूत्र २२२-२३०

प्रस्तुत प्रकरण में तीन आलापक हैं। इन तीनों में दर्शन-विपर्यय के तीन उदाहरण दिए गए हैं। रूप का निर्माण वैक्रिय-लब्धि से होता है। वीर्य-लब्धि उसकी सहायक है। प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ वीर्य-लब्धि की अनिवार्यता है। पणवणा में कर्म-बंध के चार कारण निर्दिष्ट हैं—माया, लोभ, क्रोध और मान। ये चारों वीर्य का योग पाकर ही कर्म-बंध के हेतु बनते हैं।^१

विभंगज्ञान-लब्धि वैक्रिय-लब्धि में सहायक नहीं है। वैक्रिय-लब्धि के साथ इसका प्रयोग ज्ञान की दृष्टि से किया गया है। यहां वीर्य-लब्धि और वैक्रिय-लब्धि मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है। मुख्य प्रतिपाद्य है—दर्शन का विपर्यय। उसका संबंध विभंगज्ञान से है। विभंगज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि का रूपिद्रव्यग्राही अतीन्द्रियज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का रूपिद्रव्यग्राही ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है। विभंगज्ञान क्षायोपशमिक भाव है। विपर्यय मिथ्यात्वमोह के उदय से होता है।

वृत्तिकार ने दर्शन-विपर्यय का अर्थ अन्यदीय रूप में अन्यदीय विकल्प करना किया है, जैसे दिग्मूढ व्यक्ति दिशा-मोह के कारण पूर्व को पश्चिम मान लेता है।^२

जयाचार्य ने इस विषय का विस्तृत स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार दर्शन-विपर्यय का सिद्धान्त प्रत्येक विभंगज्ञानी के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। उसका संबंध दिशामूढ व्यक्तिगत विभंगज्ञानी के साथ है—

विभंग नाणी कोय, दिशामूढ जिम ते इत्थुं।
सगलां नै नहिं कोय, एहवुं इहां जणाय छैं ॥^३

१. पण्ण. २३/६।

२. भ. वृ. ३/२२४—दर्शने विपर्यासो विपर्ययो भवति, अन्यदीय रूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात्, दिग्मोहादिणपूर्वार्मपि पश्चिमां मन्यमानस्येति।

३. भ. जो. ६८/३०।

४. त. सू. भा. वृ. ५/३३—सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।
भाष्य—यथोन्मत्तः कर्मदयादुपहतेन्द्रियमतिविपरीतग्राही भवति। सोऽश्वं गोरित्यध्यवस्यति मां चाश्व इति लोष्टं सुवर्णमिति, सुवर्णं लोष्टं इति लोष्टं च लोष्टं इति सुवर्णं सुवर्णमिति तद्वैवमविशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतमज्ञानमेव भवति। तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहतेन्द्रियमतेर्मतिधृतावधयोऽप्यज्ञानं भवति॥

५. भ. जो. ६८/३६-४१—

बलि अनुयोगज द्वार ज्ञानावरणी-कर्म नां।
क्षय-उपशम थी सार चिउं ज्ञान अज्ञान रू पूर्व श्रुत ॥३६॥
किण कारण विपरीत, ते तो अन्य दीसै अछे।
क्षायोपशम भाव प्रतीत ते तो उज्जल जीव छै ॥३७॥
अवधिज्ञान नों सार बलि विभंग-अन्नाण नां।
दर्शन अवधि उदार ते विपरीत हुवैज किम? ॥३८॥
मोह-कर्म उदय थी होय, उदय-भाव सावज तिको।
पिण क्षयोपशम थी जोय, विपरीतज छे किण विधे? ॥३९॥

उमास्वति के 'उन्मत्तवत्' इस वाक्यांश से प्रस्तुत विषय की तुलना की जा सकती है। जैसे उन्मत्त व्यक्ति विपरीतग्राही होता है वह पत्थर के ढेले को सोना और सोने को पत्थर का ढेला मान लेता है, वैसे ही मिथ्यादर्शन से उपहत मतिवाला व्यक्ति विषय का ग्रहण विपर्यय के साथ करता है।^४

जयाचार्य ने विभंगज्ञान और दर्शन-विपर्यय इन दोनों की पृथक्ता का सटीक प्रतिपादन किया है। उनका तर्क है—अनुओगदाराइं में विभंगज्ञान को ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाला बतलाया है जो ज्ञानावरण का क्षायोपशमिक भाव है। वह विपरीतग्राही नहीं हो सकता, इसलिए जो दर्शन-विपर्यय है, वह मोहकर्म के उदय से निष्पन्न है।^५ उनका दूसरा तर्क है—दिशामूढ व्यक्ति पूर्व को पश्चिम जानता है। यह औदयिक भाव है, क्षायोपशमिक भाव नहीं। चक्षु में रोग है और वह दो चांद देखता है। इस द्विचन्द्र-दर्शन का हेतु चक्षु नहीं, किन्तु चक्षुगत रोग है। रोग औदयिक भाव है और चक्षुज्ञान क्षायोपशमिक भाव है। इसी प्रकार विभंगज्ञान क्षायोपशमिक भाव है और दर्शन-विपर्यय औदायिक भाव है, ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।^६

प्रथम आलापक का विषय है वैक्रिय-शक्ति द्वारा वाराणसी नगरी का निर्माण, राजगृह में विद्यमान पदार्थों का विभंग द्वारा ज्ञान और दर्शन। इसमें दर्शन का विपर्यय इस प्रकार है—वह सोचता है मैंने वैक्रिय शक्ति के द्वारा राजगृह नगर का निर्माण किया है और मैं वाराणसी में विद्यमान रूपों को जान-देख रहा हूँ।

दूसरे आलापक में केवल नगर के निर्माण और पदार्थ-दर्शन के नगर के नाम का परिवर्तन है।

तीसरे आलापक में वह वैक्रिय-शक्ति से वाराणसी नगरी, राजगृह

दर्शन विधे विचार विप्रयास आख्यो इहां।

पिण दर्शन अवधि उदार क्षय-उपशम नहिं विपर्यय ॥४०॥

दर्शन विधेज ओर उदय भाव छे तेहनै।

विप्रयास जे घोर, ते विपरीतपणो अछे ॥४१॥

६. वही, ६८/५२-५७

दिशामूढ अवलोय, पूरव ने जाणै पछिम।

उदय भाव ए जोय, पिण क्षयोपशम भाव नहीं ॥५२॥

हे चक्षु में रोग, वे चंदा देखै प्रमुख।

ते छै रोग प्रयोग, तिम विपरीतज जाणवो ॥५३॥

चक्षु रोग मिट जाय, तठा पछै देखै तिको।

ए बिहुं जुदा कहाय, रोग अने वल नत्र ते ॥५४॥

उदयभाव छे रोग चक्षु क्षयोपशम भाव छै।

ए बिहुं जुदा प्रयोग, तिण विध ए पिण जाणवो ॥५५॥

छे क्षयोपशम-भाव विभंग नो दर्शन अवधि।

विपरीतपणो कहाव, उदय-भाव कहिजे तसुं ॥५६॥

ते माटे इहां एम, दाख्यो दर्शन नै विधै।

विपरीतपणुं ज तेम, पिण ए दोनू जूजुआ ॥५७॥

नगर और उन दोनों के अन्तरालवर्ती जनपदाग्र का निर्माण करता है। किन्तु वह अपने द्वारा निर्मित नगरों को वास्तविक मान लेता है। उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि यह सब मैंने अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा निर्मित किया है।'

शब्द-विमर्श

अनगार—गृहवास को त्यागने वाला।

भावित्तात्मा—भावना अथवा सम्मोहन की साधना किया हुआ।

मायी—माया से अनुवासित। (द्रष्टव्य भ. ३/१६० का भाष्य)

मिथ्यादृष्टि—अन्यतीर्थिक एकान्तदृष्टि का आग्रह रखने वाला।
रूप—वस्तु और प्राणी।'

आयारो में भी इस अर्थ में 'रूप' शब्द का प्रयोग मिलता है।
तथाभाव—जैसी वस्तु वैसा भाव—यथार्थ।

अन्यथाभाव—अयथार्थ।

ऋद्धि—वैक्रिय-शक्ति का वैभव।

युति—वैक्रिय-शक्ति की दीप्ति।

यश—संयम, एकाग्रता या चित्त-वृत्ति का नियमन।

२३१. अणगारे णं भंते! भावियप्पा अमायी सम्मदिद्धी वीरियलद्धीए वेउच्चियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहं नगरं समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाई जाणइ-पासइ?

हंता जाणइ-पासइ ॥

२३२. से भंते! किं तहाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तहाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३३. से केणड्ढेणं भंते! एवं वुच्चइ—तहाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइपासइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाई जाणामि-पासामि। सेस दंसण-अविक्क्यासे भवति। से तेणड्ढेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—तहाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३४. अणगारे णं भंते! भावियप्पा अमायी सम्मदिद्धी वीरियलद्धीए वेउच्चियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाई जाणइ-पासइ?

हंता जाणइ-पासइ ॥

अनगारः भदन्त! भावित्तात्मा अमायी सम्यग्दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः अवधिज्ञानलब्धिकः राजगृहं नगरं समवहतः, समवहत्य वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानाति-पश्यति?

हन्त जानाति-पश्यति।

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तस्य एवं भवति—एवं खलु अहं राजगृहे नगरे समवहतः, समवहत्य वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानामि-पश्यामि। स एष दर्शन-अविपर्यासः भवति। तत्तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

अनगारः भदन्त! भावित्तात्मा अमायी सम्यग्-दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः अवधि-ज्ञानलब्धिकः वाराणसीं नगरीं समवहतः, समवहत्य राजगृहे नगरे रूपाणि जानाति-पश्यति?

हन्त जानाति-पश्यति ॥

२३१. भन्ते! क्या भावित्तात्मा अनगार जो अमायी, सम्यग्दृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह राजगृह नगर में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर वाराणसी नगरी में विद्यमान रूपों को जानता-देखता है?

हां, जानता-देखता है।

२३२. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है? अन्यथा भाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गौतम! वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता।

२३३. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता?

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—मैंने राजगृह नगर में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग किया है, प्रयोग कर मैं वाराणसी नगरी में विद्यमान रूपों को जानता-देखता हूँ। यह उसके दर्शन का अविपर्यास है। गौतम! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता।

२३४. भन्ते! क्या भावित्तात्मा अनगार जो अमायी, सम्यग्दृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह वाराणसी नगरी में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर राजगृह नगर में विद्यमान रूपों को जानता-देखता है?

हां, जानता-देखता है।

१. भ. वृ. ३/२२८-२३०—वाणारसीं राजगृहं तयोरिव चान्तरालवर्तिनं 'जनपदवर्ग' देशसमूहं समवहतां विकृर्वितान् तथैव च तानि विभङ्गतां जानाति-पश्यति केवलं नो तथाभावं यतोऽसौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वभाविकानि।

२. वही, ३/२२२—रूपाणि पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि।

३. आयारो, ३/५७—विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा, महया खुड्ढएहि वा।

२३५. से भंते! किं तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तथाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३६. से केणट्ठेणं भंते! एवं बुच्चइ—तथाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं वाणारसीं नगरीं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे नगरे रुवाई जाणामि-पासामि। सेस दंसण-अविदच्चासे भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं बुच्चइ—तथाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३७. अणगारे णं भंते! भावियप्पा अमायी सम्मदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहं नगरं, वाणारसिं च नगरिं, अंतरा एगं महं जणवयग्गं समोहए, समोहणित्ता रायगिहं नगरं, वाणारसिं च नगरिं, अंतरा एगं महं जणवयग्गं जाणइ-पासइ?

हंता जाणइ-पासइ ॥

२३८. से भंते! किं तथाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तथाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

२३९. से केणट्ठेणं भंते! एवं बुच्चइ—तथाभावं जाणइ-पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवति—नो खलु रायगिहे नगरे, नो खलु एस वाणारसी नगरी, नो खलु एस अंतरा एगे महं जणवयग्गे, एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिनाणलद्धी इड्डी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे लद्धे .ते अभिसमण्णाए। सेस दंसण-अविदच्चासे भवइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—तथाभावं जानाति-पश्यति? नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तस्य एवं भवति—एवं खलु अहं वाराणसीं नगरीं समवहतः, समवहत्य राजगृहे नगरे रूपाणि जानामि-पश्यामि। स एष दर्शन-अविपर्यासः भवति। तत्तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

अनगरः भदन्त! भावितात्मा अमायी सम्यग्दृष्टिः वीर्यलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः अर्वाधिज्ञानलब्धिकः राजगृहं नगरं, वाराणसीं च नगरीं, अन्तरा एकं महज् जनपदाग्रं समवहतः, समवहत्य राजगृहं नगरं, वाराणसीं च नगरीम् अन्तरा एकं महद् जनपदाग्रं जानाति-पश्यति?

हन्त जानाति-पश्यति।

स भदन्त! किं तथाभावं जानाति-पश्यति? अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तथाभावं जानाति-पश्यति, नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—तथाभावं जानाति-पश्यति? नो अन्यथाभावं जानाति-पश्यति?

गौतम! तस्य एवं भवति—नो खलु एतत् राजगृहं नगरं, नो खलु एषा वाराणसी नगरी, नो खलु एतद् अन्तरा एकं महद् जनपदाग्रं, एषा खलु मम वीर्यलब्धिः, वैक्रियलब्धिः, अर्वाधिज्ञानलब्धिः ऋद्धिः द्युतिः यशो बलं वीर्यं पुरुषकार-पराक्रमः लब्धः प्राप्तः अभिसमन्वागतः। स एष दर्शन-अविपर्यासः भवति। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—

२३५. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है अथवा अन्यथाभाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गौतम! वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता।

२३६. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता?

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—मैंने वाराणसी नगरी में वैक्रियसमुद्घात का प्रयोग किया है, प्रयोग कर राजगृह नगर में विद्यमान रूपों को जानता-देखता हूँ। यह उसके दर्शन का अविपर्यास है। गौतम! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता।

२३७. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगर जो अमायी, सम्यग्दृष्टि है, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अर्वाधिज्ञानलब्धि से सम्पन्न है, वह राजगृह नगर, वाराणसी नगरी और उसके अन्तराल में एक महान् जनपदाग्र का निर्माण करने के लिए वैक्रिय समुद्घात का प्रयोग करता है, प्रयोग कर राजगृह नगर वाराणसी नगरी और उनके अन्तराल में एक महान् जनपदाग्र को जानता-देखता है? हाँ, जानता-देखता है।

२३८. भन्ते! क्या वह यथार्थभाव को जानता-देखता है? अथवा अन्यथाभाव (विपरीत-भाव) को जानता-देखता है?

गौतम! वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता।

२३९. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव को जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं जानता-देखता?

गौतम! उसके इस प्रकार का दृष्टिकोण होता है—वह राजगृह नगर नहीं है, यह वाराणसी नगरी नहीं है, यह इन दोनों के अन्तराल में महान् जनपदाग्र नहीं है। यह मेरी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अर्वाधिज्ञानलब्धि है। यह ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम जैसे लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) है। यह उसके दर्शन का अविपर्यास है। गौतम! इस

बुच्चइ—तहाभावं जाणइ-पासइ, नो
अण्णहाभावं जाणइ-पासइ ॥

तथाभावं जानाति-पश्यति, नो
जानाति-पश्यति ।

अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह यथार्थभाव
की जानता-देखता है, अन्यथाभाव को नहीं
जानता-देखता ।

भाष्य

१. सूत्र २३१-२३६

प्रस्तुत प्रकरण का प्रतिपाद्य यथार्थ दर्शन है। इसलिए इसमें
अनगार और भावितात्मा का अर्थ सम्यग् दर्शन के सन्दर्भ में करणीय
है।

शब्द-विमर्श

अनगार—अर्हत् की आज्ञानुसार गृहवास को त्यागनेवाला मुनि।
भावितात्मा—ज्ञान, वैराग्य और तप आदि भावनाओं से अपने
आपको भावित करने वाला।

२४०. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए
पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं गामरूवं
वा नगररूवं वा जाव सण्णिवेसरूवं वा
विउच्चित्तए?
नो तिण्ठे समद्धे ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यान् पुद्गलान्
अपर्यादाय प्रभुः एकं महद् ग्रामरूपं वा नगररूपं
वा यावत् सन्निवेशरूपं वा विकर्तुम्?
नो तदर्थः समर्थः ।

२४०. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार बहिर्वर्ती
पुद्गलों का ग्रहण किए बिना एक महान्
ग्रामरूप अथवा नगररूप यावत् सन्निवेशरूप
की विक्रिया (निर्माण) करने में समर्थ है?
यह अर्थ संगत नहीं हैं।

२४१. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा बाहिरए
पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं गामरूवं
वा नगररूवं वा जाव सण्णिवेसरूवं वा
विउच्चित्तए?
हंता पभू ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा बाह्यान् पुद्गलान्
पर्यादाय प्रभुः एकं महद् ग्रामरूपं वा नगररूपं
वा यावत् सन्निवेशरूपं वा विकर्तुम्?
हन्त प्रभुः ।

२४१. भन्ते! क्या भावितात्मा अनगार बहिर्वर्ती
पुद्गलों का ग्रहण कर एक महान् ग्रामरूप
अथवा नगररूप यावत् सन्निवेशरूप की
विक्रिया (निर्माण) करने में समर्थ है?
हां, समर्थ है।

२४२. अणगारे णं भंते! भाविअप्पा केवइ-
याइं पभू गामरूवाइं विकुच्चित्तए?
गोयमा! से जहानामए—जुवतिं जुवाणे
हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विकुच्चिसु
वा, विकुच्चित्ति वा, विकुच्चिस्सति वा ॥

अनगारः भदन्त! भावितात्मा कियन्ति प्रभुः
ग्रामरूपाणि विकर्तुम्?
गौतम! अथ यथानाम युवतिं युवा हस्तेन हस्ते
गृहीयात् तच्चैव यावद् व्यकार्षीद् वा, विकरोति
वा, विकरिष्यति वा ।

२४२. भन्ते! भावितात्मा अनगार कितने ग्राम-
रूपों की विक्रिया करने में समर्थ है?
गौतम! जैसे कोई युवक युवती का हाथ
प्रगाढ़ता से पकड़ता है, वही (सू. १६६)
वक्तव्यता यावत् भावितात्मा अनगार ने
क्रियात्मक रूप में न तो कभी ऐसी विक्रिया
की, न करता है, और न करेगा।

२४३. एवं जाव सण्णिवेसरूवं वा ॥

एवं यावद् सन्निवेशरूपं वा ।

२४३. इसी प्रकार सन्निवेशरूप तक ग्रामरूप
की भाति वक्तव्य है।

आयरक्ख-पदं

२४४. चमरस्स णं भंते! असुरिदस्स असुर-
रण्णो कइ आयरक्खदेवसाहस्सीओ
पण्णत्ताओ?
गोयमा! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्ख-
देवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। ते णं आय-
रक्खा—वण्णओ ॥

आत्मरक्ष-पदम्

चमरस्य भदन्त! असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य कति
आत्मरक्षदेवसाहस्यः प्रज्ञप्ताः?
गौतम! चतस्रः चतुष्पष्टयः आत्मरक्षदेवसाहस्यः
प्रज्ञप्ताः । ते आत्मरक्षाः—वर्णकः ।

आत्मरक्षक-पद

२४४. भन्ते! असुरेन्द्र असुरराज चमर के आत्म-
रक्षक देव कितने हजार प्रज्ञप्त हैं?
गौतम! उसके दो लाख छप्पन हजार आत्म-
रक्षक देव प्रज्ञप्त हैं। उन आत्मरक्षकों का
वर्णन—(द्रष्टव्य रायपसेणइयं, सू. ६६४)

२४५. एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया
आयरक्खा ते भाणियव्वा ॥

एवं सर्वेषाम् इन्द्राणां यस्य यावन्तः आत्मरक्षाः
ते भणितव्याः ।

२४५. "इस प्रकार सब इन्द्रों के जिसके जितने
आत्मरक्षक देव हैं, वे सब वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र २४५

आत्मरक्षक देव सामानिक से चार गुना होते हैं। देखें—यंत्र :

देव	सामानिक	आत्मरक्षक
चमर	६४०००	२५६०००
बलि	६००००	२४००००
नौ निकाय प्रत्येक	६०००	२४०००
शक्र	८४०००	३३६०००
ईशान	८००००	३२००००
सनत्कुमार	७२०००	२८८०००
माहेन्द्र	७००००	२८००००
ब्रह्म	६००००	२४००००
तान्तक	५००००	२०००००
शुक्र	४००००	१६००००
सहस्रार	३००००	१२००००
आनत, प्राणत	२००००	८००००
आरण, अच्युत	१००००	४००००

२४६. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति ॥

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त। इति।

२४६. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है।

१. पण्य. पद २ (उर्वंगसुत्ताणि, खण्ड २, पृ. ६४) के आधार पर।

सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

लोगपाल-पदं

लोकपाल-पदम्

लोकपाल-पद

२४७. रायगिहे नगरे जाव पञ्जुवासमाणे एवं वयासी-सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता?

राजगृहे नगरे यावत् पर्युपासीनः एवमवादीत्— शक्रस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कति लोकपालाः प्रज्ञप्ताः?

२४७. राजगृह नगर में भगवान् की पर्युपासना करते हुए गणधर गौतम इस प्रकार बोले—भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के कितने लोकपाल प्रज्ञप्त हैं?

गोयमा! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे जमे वरुणे वेसमणे ॥

गौतम! चत्वारः लोकपालाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—सोमः यमः वरुणः वैश्रवणः।

गौतम! उसके चार लोकपाल प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण।

भाष्य

१. लोकपाल

देवनिर्काय के दस प्रकार हैं—इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिंशः, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्ण, आभियोग्य और कित्त्वधिक।^१

इनमें लोकपाल का उद्घाटन स्थान है। वे आरक्षक (गीमा की सुरक्षा करने वाले) और अर्धचर (चीरों से जनता की रक्षा करने वाले) के समान होते हैं।^२

२४८. एएसि णं भंते! चउण्हं लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता?

एतेषां भदन्त! चतुर्णां लोकपालानां कति विमानानि प्रज्ञप्तानि?

२४८. भन्ते! इन चार लोकपालों के कितने विमान प्रज्ञप्त हैं?

गोयमा! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—संझप्पभे वरसिद्धे सयंजले वग्गु ॥

गौतम! चत्वारि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—सन्ध्याप्रभं वरशिष्टं स्वयञ्ज्वलं वल्गु।

गौतम! इनके चार विमान प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सन्ध्याप्रभ, वरशिष्ट, स्वयञ्ज्वल और वल्गु।

२४९. कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे नामं महाविमाणे पण्णत्ते?

कुत्र भदन्त! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सन्ध्याप्रभं नाम महाविमानं प्रज्ञप्तम्?

२४९. भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान कहाँ प्रज्ञप्त है?

गोयमा! जंबूद्वीपे दीपे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढ्वीए बहुसपरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं बहूइं जोयणाइं जाव पंच वडेंसया पण्णत्ता, तं जहा—असोयवडेंसए, सत्तवण्णवडेंसए, चंपयवडेंसए, चूयवडेंसए, मज्झे सोहम्म-वडेंसए ॥

गौतम! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः बहुसम-रमणीयाद् भूमिभागाद् ऊर्ध्वं चन्द्रमः-सूर्य-ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूपाणां बहूनि योजनानि यावत् पंच अवतंसकाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अशोकावतंसकः, सप्तपर्णावतंसकः, चम्पकावतंसकः, चूतावतंसकः, मध्यं सौधर्मावतंसकः।

गौतम! जम्बूद्वीप द्वीप के मरु पर्वत के दक्षिण भाग में इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रायः समतल और रमणीय भूभाग से ऊपर चांद, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और ताराओं से बहुत योजन दूर चालू पांच अवतंसक प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अशोकावतंसक, सप्तपर्णावतंसक, चम्पकावतंसक, चूतावतंसक और मध्य में सौधर्मावतंसक।

१. त. सू. ४-४।

२. त. सू. भा. वृ. ४-४—लोकपाला आरक्षकाथं वरुणायाः स्वयंपवतांधरणां निर्मापना आरक्षकाः अर्धचराः अर्धचरद्वाराणां क्रमस्थानं वाचयन्तु गट्टेण लोकपालाः।

सोम-पदं

२५०. तस्स णं सोहम्मवडैसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमे णं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणाइं वीइवइत्ता, एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे नामं महाविमाणे पण्णत्ते—अद्धतेरसजोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, उयालीसं जोयणसयसहस्साइं वावन्मं च सहस्साइं अद्द य अडयाले जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते। जा सूरियाभविमाणस्स वतव्वया सा अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अभिसेओ, नवरं—सोमो देवो ॥

सोम-पदम्

तस्य सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्य पौरस्त्ये सौधर्म कल्पे असंख्येयानि योजनानि व्यति-
द्रज्य, अत्र शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सन्ध्याप्रभं नाम महा-
विमानं प्रज्ञप्तम्—अद्धत्रयोदशयोजनशत-
सहस्राणि आयाम-विष्कम्भेण, एको-
नचत्वारिंशद् योजनशतसहस्राणि द्विपञ्चाशच्
च सहस्राणि अष्ट च अष्टचत्वारिंशद्योजन-
शतानि किञ्चिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण
प्रज्ञप्तम्। या सूर्याभविमानस्य वक्तव्यता सा
अपरिशेषा भणितव्या यावद् अभिषेकः,
नवरं—सोमः देवः।

सोम-पद

२५०. 'उत्त सौधर्मावतंसक महाविमान के पूर्व में सौधर्मकल्प में असंख्य योजन जाने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम क. सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान प्रज्ञप्त है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई साढ़ा बारह लाख योजन है और परिधि उन्वालीस लाख, वाहन हजार आठ सो अड़तालीस योजन से कुछ अधिक है। जो सूर्याभ विमान की वक्तव्यता है, वह समग्रतया अभिषेक तक यहां वक्तव्य है। केवल सूर्याभ के स्थान पर सोमदेव वक्तव्य है।

भाष्य

१. सू. २५०-२७७

इस आलापक का भाष्य सू. २७७ के बाद दिया गया है।

२५१. संझप्पभस्स णं महाविमाणस्स अहे, सपक्खिं, सपडिदिस्सिं असंखेज्जाइं जोयण-सहस्साइं ओगाहिता, एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता—एयं जोयण-सयसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबु-द्वीवप्पमाणा। वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं जाव ओवारियलेणं सोलस जोयण-सहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसते किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्तं। पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ, सेसा नत्थि ॥

सन्ध्याप्रभस्य महाविमानस्य अधः सपक्षं, सप्रतिदिशं असंख्येयानि योजनसहस्राणि अवगाह्य, अत्र शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सोमा नाम राजधानी प्रज्ञप्ता—एकं योजनशतसहस्रम् आयाम-विष्कम्भेण जम्बूद्वीपप्रमाणा। वेमानिकानां प्रमाणस्य अर्धं नेतव्यम्—यावद् उपकारि-कालयनं षोडशयोजनसहस्राणि आयाम-विष्कम्भेण, पञ्चाशद् योजनसहस्राणि पञ्च च सप्तनवति योजनशतं किञ्चिद् विशेषां परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। प्रासादानां चतस्रः परिपाट्यः नेतव्याः, शेषा नास्ति।

२५१. सन्ध्याप्रभ महाविमान के नीचे ठीक सौधं तिष्ठ लोक में असंख्येय हजार योजन का अवगाहन करने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम की सोमा नाम की राजधानी प्रज्ञप्त है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई, जम्बूद्वीप-प्रमाण एक लाख योजन है। इसके प्रासाद आदि का प्रमाण सौधर्मवर्ती प्रासाद आदि से आधा है यावत् पीठिका लम्बाई-चौड़ाई में सोलह हजार (१६०००) योजन और परिधि में पचास हजार पांच सो रस्तानव (५०५६७) योजन से कुछ कम है। उसके प्रासादों की चार पीठियां हैं। शेष (सुधर्मा सभा) नहीं है।

२५२. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निदेसे चिद्धंति, तं जहा—सोमकाइया इ वा, सोमदेवकाइया इ वा, विज्जुकुमारा, विज्जुकुमारीओ, अग्गिकुमारा, अग्गि-कुमारीओ, वायकुमारा, वायकुमारीओ, चंदा, सूरा, गहा, णक्खत्ता, तारारूपा—जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया, तप्पक्खिया, तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो आणा-उववाय-वयण-निदेसे चिद्धंति ॥

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य इमे देवाः आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशं तिष्ठन्ति, तद् यथा—सोमकायिका इति वा, सोमदेवताकायिका इति वा, विद्युत्-कुमाराः, विद्युत्कुमार्यः, अग्निकुमाराः, अग्निकुमार्यः, वातकुमाराः, वातकुमार्यः, चन्द्राः, सूराः, ग्रहाः, नक्षत्राणि, तारारूपाः—ये चापि अन्ये तथाप्रकाराः सर्वे ते तद्भक्तिकाः, तत्पार्थ्याः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशं तिष्ठन्ति।

२५२. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम की आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में रहने वाले देव ये हैं—सोमकायिक, सोमदेवकायिक, विद्युत्कुमार, विद्युत्कुमारियां, अग्निकुमार, अग्नि-कुमारियां, वातकुमार, वातकुमारियां, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप। इस प्रकार के जितने अन्य देव हैं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम के प्रति भक्ति रखते हैं, उसके पक्ष में रहते हैं, उसके वशवर्ती रहते हैं तथा उसकी आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में अर्थास्थित हैं।

भाष्य

१. शब्द-विमर्श

तद्भक्तिक—सोम में भक्ति रखने वाले।

तत्पाक्षिक—सोम के पक्ष में रहने वाले सहायक।

तद्भार्य—तद्भारिय शब्द के वृत्तिकार ने दो संस्कृत रूप किये

हैं—तद्भार्य और तद्भारिक। वश्य और पोषणीय होने के कारण उन्हें 'भार्य' कहा जाता है। वे सोम का भार वहन करते हैं, इसलिए उन्हें तद्भारिक कहा जाता है।

२५३. जंबूद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं जाई इमाई समुप्पज्जति, तं जहा—गहदंडा इ वा, गहमुसला इ वा, गहगज्जिया इ वा, गहजुद्धा इ वा, गहसिंधाडगा इ वा, गहावसव्वा इ वा, अब्बा इ वा, अब्भरुक्खा इ वा, संझा इ वा, गंधव्वनगरा इ वा, उक्कापाया इ वा, दिसिदाहा इ वा, गज्जिया इ वा, विज्जुया इ वा, पंसुवुडी इ वा, जूवे इ वा, जक्खालित्तए त्ति वा, धूमिया इ वा, महिया इ वा, रयुग्घाए त्ति वा, चंदोवरागा इ वा, सूरुवरागा इ वा, चंदपरिवेसा इ वा, सूरपरिवेसा इ वा, पडिचंदा इ वा, पडिसूरा इ वा, इंदधणू इ वा, उदगमच्छा इ वा, कपिहसिया इ वा, अमोहा इ वा, पाईणवाया इ वा, पईणवाया इ वा, दाहिणवाया इ वा, उदीणवाया इ वा, उड्ढवाया इ वा, अहोवाया इ वा, तिरियवाया इ वा, विदिसीवाया इ वा, वाउब्भामा इ वा, वाउक्कलिया इ वा, वायमंडलिया इ वा, उक्कलियावाया इ वा, मंडलियावाया इ वा, गुंजावाया इ वा, झंझावाया इ वा, संवट्ठयवाया इ वा, गामदाहा इ वा, जाव सण्णिवेसदाहा इ वा, पाणक्खया, जणक्खया, धणक्खया, कुलक्खया, वसण्णभूया मणा-रिया—जे यावण्णे तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो अण्णाया अदिद्वा असुया अमुया अविण्णाया, तेषिं वा सोमकाइयाणं देवाणं॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षिणे यानि इमानि समुत्पद्यन्ते, तद् यथा—ग्रहदण्डाः इति वा, ग्रहमुसलानि इति वा, ग्रहगर्जितानि इति वा, ग्रहयुद्धानि इति वा, ग्रहशृङ्गाटकानि इति वा, ग्रहापसव्यानि इति वा, अभ्राणि इति वा, अभ्रवृक्षाः इति वा, सन्ध्या इति वा, गन्धर्वनगराणि इति वा, उक्कापाताः इति वा, दिग्दाहाः इति वा, गर्जितानि इति वा, विद्युद् इति वा, पांशुवृष्टिः इति वा, यूपाः इति वा, यक्षालिप्तानि इति वा, धूमिका इति वा, महिका इति वा, रजउद्धातः इति वा, चन्द्रोपरागाः इति वा, सूरुपरागाः इति वा, चन्द्रपरिवेशाः इति वा, सूरपरिवेशाः इति वा, प्रतिचन्द्राः इति वा, प्रतिसूराः इति वा, इन्द्रधनुः इति वा, उदकमत्स्याः इति वा, कपिहसिताः इति वा, अमोघाः इति वा, प्राचीनवाताः इति वा, प्रतिचीनवाताः इति वा, दक्षिणवाताः इति वा, उदीचीनवाताः इति वा, ऊर्ध्ववाताः इति वा, अधोवाताः इति वा, तिर्यग्वाताः इति वा, विदिग्वाताः इति वा, वातोदभ्रमाः इति वा, वातोत्कलिकाः इति वा, वातमण्डलिकाः इति वा, उत्कलिकावाताः इति वा, मण्डलिकावाताः इति वा, गुञ्जावाताः इति वा, झंझावाताः इति वा, संवर्तकवाताः इति वा, ग्रामदाहाः इति वा, यावत् सन्निवेशदाहाः इति वा, प्राणक्षयाः, जनक्षयाः, धनक्षयाः, कुलक्षयाः, व्यसनभूताः अनायाः—ये चाप्यन्ये तथाप्रकाराः न ते शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य अज्ञाताः अदृष्टाः अश्रुताः अस्मृताः अविज्ञाताः, तेषां वा सोमकायिकानां देवानाम्।

२५३. "जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण भाग में जो ये स्थितियां उत्पन्न होती हैं, जैसे—ग्रहदण्ड, ग्रहमुशल, ग्रहगर्जित, ग्रहयुद्ध, ग्रहशृंगाटक, ग्रहों का विरोधी दिशा में गमन, अभ्र, अभ्रवृक्ष, सन्ध्या, गन्धर्वनगर, उक्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत्, पांशुवृष्टि, यूपक, यक्षोदीप्त, धूमिका, महिका, रजोद्धात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघा, पूर्वदिशा की वायु, पश्चिम दिशा की वायु, दक्षिण दिशा की वायु, उत्तर दिशा की वायु, ऊर्ध्वदिशा की वायु, अधो दिशा की वायु, तिरछी दिशा की वायु, विदिशा की वायु, अनवस्थित वायु, वात-उत्कलिका, वात-मण्डलिका, उत्कलिका-वात, मण्डलिका-वात, गुञ्जावात, झंझा-वात, संवर्तक वात, ग्रामदाह यावत् सन्निवेश-दाह, प्राण-क्षय, जन-क्षय, धन-क्षय, कुल-क्षय तथा और भी इस प्रकार की अनिष्ट आपदाएं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम से तथा उन सोमकायिक देवों से अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत, अस्मृत और अविज्ञात नहीं होती।

१. भ. व. ३/२५२—'तद्भक्तियति तत्र सोमे भक्तिः—सेवा बहुमानां वा येषां ते तद्भक्तिकाः।

२. वही, ३/२५२—'तत्पाक्षिक'ति सोमपाक्षिकाः सोमस्य प्रयोजनेषु सहायाः।

३. वही, ३/२५२—'तद्भारिय'ति 'तद्भार्याः' तस्य सोमस्य भार्याः इव भार्या अत्यन्तं वश्यत्वतोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्याः तद्भारो वा येषां वोढव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिकाः।

भाष्य

१. सूत्र २५३

शब्द-विमर्श

ग्रहदण्ड—मंगल आदि तीन-चार ग्रहों की तिरछी लम्बी श्रेणी।^१

ग्रहमुशल—ग्रहों की ऊंची लम्बी श्रेणी।

ग्रहपरिचित—ग्रहों के संचार से होने वाला शब्द।

ग्रहयुद्ध—दो ग्रहों का आमने-सामने समश्रेणी में अवस्थान होना।^२ जीवाजीवाभिगमवृत्ति के अनुसार एक ग्रह का दूसरे ग्रह के मध्य होकर जाना।^३

ग्रहशृङ्गाटक—ग्रहों का सिंघाड़े के रूप में अवस्थित होना।

ग्रहापसव्य—ग्रहों का प्रतिकूल दिशा में गमन।

अभ्र—वादल।

अभ्रवृक्ष—वृक्ष के रूप में परिणत वादल।

गन्धर्वनगर—आकाश में होने वाले नगर के आकार में प्रतिबिम्ब।^४

उल्कापात—उल्का (टूटा हुआ तारा) की वृष्टि। यह आकाश में एक प्रकाश-रेखा के रूप में दिखाई देती है।^५

दिग्दाह—किसी दिशा में नीचे अन्धकार और ऊपर प्रकाश दिखाई दे, जो जलते हुए महानगर के प्रकाश जैसा प्रतीत हो।^६

यूपक—शुक्ल पक्ष के प्रथम तीन दिनों में जिनसे सन्ध्या का विभाग आवृत्त हो जाता है, वे 'यूपक' कहलाते हैं।^७ जयाचार्य ने इसे 'सन्ध्या का फूलना' कहा है।^८

निशीथ—चूर्ण के अनुसार सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रमा की प्रभा दोनों मिश्रित हो जाते हैं, उसका नाम यूपक है।^९

यक्षोद्दीप्त—आकाश में होने वाला प्रकाश। वृत्तिकार के अनुसार आकाश में व्यन्तर द्वारा कृत प्रकाश।^{१०}

धूमिका, महिका—ये दोनों पाला या कृहासा के नाम हैं। इसमें धूमिका धूसर रंगवाली और महिका सफेद वर्णवाली होती है।^{११}

रज-उद्घात—दिशाओं का रजोमय होना।

चंद्र-परिवेश—चन्द्रमण्डल, चन्द्र के चारों ओर दिखलाई पड़ने वाला वलयाकार प्रकाश-समूह।

सूर्य-परिवेश—सूर्यमण्डल, सूर्य के चारों ओर दिखलाई पड़ने वाला वलयाकार प्रकाश-समूह।

प्रतिचन्द्र—द्वितीय चन्द्र।

प्रतिसूर्य—द्वितीय सूर्य।

उदकमत्स्य—इन्द्रधनुष्य का एक खण्ड।

कपिहसित—विना वादलों के आकाश में विजली का अकस्मात् क्रोधना। मतान्तर के अनुसार वानरमुख के समान किसी विकृत मुख वाले का हंसना।^{१२}

अमोघा—सूर्य के उदय और अस्त के समय सूर्य की किरणों से होने वाले दण्ड। इनका आकार गाड़ी की 'ओधि' अथवा जूए के आकार के सदृश होता है, जिसका आगे का भाग संकड़ा और पीछे का भाग चौड़ा होता है। विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य दसवे, ५/१/३ का टिप्पण। उनका वर्ण धोड़ा रक्त और श्याम होता है।^{१३}

वातोद्भ्रम—अनर्वास्थित वायु।

वातोत्कलिका—समुद्र में लहर जैसी वायु।

वातमंडलिका—वातुल और वातावर्त।

उत्कलिकावात—जो वायु लहर बनाती हुई चलती है।

मंडलिकावात—जो वायु वर्तुलाकार चलती है।

गुञ्जावात—जो वायु शब्द करती हुई चलती है।

झंझावात—वर्षा के साथ चलने वाली वायु। वृत्तिकार ने इसका अर्थ अशुभ और निष्कुर वायु लिया है।^{१४}

संवर्तकवात—तृण आदि को उड़ा देने वाली वायु।

व्यसनभूत—आपदारूप।

अनार्य—अनिष्ट।

अमुय—अस्मृत।

१. भ. वृ. ३/२५३—दण्डा इव दण्डाः—तिर्यग्भवताः श्रेणवः ग्रहाणां—मंगलादीनां त्रिचतुरादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः।

२. वही, ३/२५३—ग्रहयुद्धानि ग्रहयोरैकत्र नक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितवाज्वस्थानानि।

३. जीवा. वृ. प. २८२—ग्रहयुद्धं—यदेको ग्रहोऽन्यस्य ग्रहस्य मध्यं याति।

४. भ. वृ. ३/२५३—'गन्धर्वनगराणि' आकाशे व्यन्तरकृतानि नगराकारप्रतिबिम्बानि।

५. वही ३/२५३—'उल्कापाताः' सरेखाः सोद्द्योता वा तारकस्त्वेव पाताः।

६. वही ३/२५३—'दिग्दाहाः' अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्यकास उपरि च प्रकाशात्मका दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पाः।

७. वही ३/२५३—'यूपवर्त' शुक्लपक्षे प्रतिपदादि दिनवसं यावद्वैः सन्ध्यादंदा आर्वयन्ते ते यूपकाः।

८. (क) भ. जी. १/६६/६१—

शुक्लपक्षे रे माय।

पडवाटिके जे दिन तिहुं, संध्या फूल रे ते यूप कहाय ॥

(ख) स्था. वृ. प. १५५—स्थानांग वृत्ति में सन्ध्याप्रभा और चन्द्रप्रभा की युगपत् अर्वास्थिति को 'यूपक' कहा है। विशेष विस्तार के लिए टाणं. १०-२५. २१ का टिप्पण द्रष्टव्य है।

९. नि. वृ. ७०३—संज्ञापमा चंद्रपमा य जेष जेष जुगवं भवति तेष जुगवा।

१०. भ. वृ. ३/२५३—'जश्र्खीलत्तवर्त' 'यक्षोद्दीप्तानि' आकाशे व्यन्तरकृतज्वलनानि।

११. वही, ३/२५३—धूमिकामाहकयोर्वर्णकृतौ विशेषः तत्र धूमिका—धूमवर्णा धूसरा इत्यर्थः, महिका त्वापागद्वृत्ति।

१२. वही, ३/२५३—'कपिहसितवर्त' अनभ्रया विद्युत् मग्ना नत कर्पवोगनम् अन्ये स्वाहः—कपिहसितं नाम यदाकाशे वानरमुखसदृशास्य विक्रान्तमुखस्य हसनम्।

१३. वही, ३/२५३—अमोघा आदिद्वयोदवास्तमययोगादित्यकिरणविकारजननः—'आनाप्रा' कृष्णाः श्यामा वा शकटोद्दिर्गसंस्थिता दण्डा इति।

१४. वही, ३/२५३—'झंझावाताः' अशुभनिष्कुराः।

२५४. सकस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—इंगालए वियालए लोहिय-क्खे सण्णिच्चरे चंदे सूरै सूक्के बुहे बहस्सई सहू।।

२५५. सकस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सतिभागं पल्लोवमं ठिई पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगपल्लोवमं ठिई पण्णत्ता। एमहिइदीए जाव महाणुभागे सोमे महाराया।।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य इमे देवाः यथाऽपत्या अभिजाताः अभवन्, तद् यथा—अङ्गारकः विकालकः लोहिताक्षः शनिश्चरः चन्द्रः सूरः शुक्रः बुधः बृहस्पतिः राहुः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोमस्य महाराजस्य सत्रिभागं पल्लोपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता। यथापत्याभिजातानां देवानाम् एकं पल्लोपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता। इयन्महर्द्धिकः यावन् महानुभागः सोमः महाराजः।

२५४. ये निम्नांकित देव देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज सोम के पुत्र के रूप में पहचाने जाते हैं, जैसे—अंगारक (मंगलग्रह), विकालक (ज्योतिष्क देव की एक जाति) लोहिताक्ष (एक महाग्रह), शनिश्चर, चन्द्रमा, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति और राहु।

२५५. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल की स्थिति त्रिभाग अधिक एक पल्लोपम की प्रज्ञप्त है। उसके पुत्र-रूप में पहचाने जाने वाले देवों की स्थिति एक पल्लोपम की प्रज्ञप्त है। लोकपाल सोम ऐसी महानु ऋद्धि वाला यावत् महानु सामर्थ्य वाला है।

भाष्य

१. सूत्र के रूप में पहचाने जाने वाले (यथापत्याभिजात) पुत्र के रूप में अभिमत।

यम-पद

२५६. कहि णं भन्ते! सकस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिद्धे नामं महाविमाणे पण्णत्ते? गौयमा! सोहम्मवडेसयस्स महाविमाणस दाहिणे णं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाई जोयणसहस्साई वीईवइत्ता, एत्थ णं सकस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिद्धे नामं महाविमाणे पण्णत्ते—अद्धतेरसजोयण-सयसहस्साई—जहा सोमस्स विमाणं तथा जाव अभिसेओ। रायहाणी तहेव जाव पासायपंतीओ।

२५७. सकस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निदेसे चिद्धंति, तं जहा—जमकाइया इ वा, जमदेवयकाइया इ वा, पेतकाइया इ वा, पेतदेवयकाइया इ वा, असुर-कुमारा, असुरकुमारीओ, कंदप्पा, निरय-पाला, आभियोगा—जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तम्मत्तिगा, तप्पविस्वया, तम्भारिया सकस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स

यम-पदम्

कुत्र भदन्त! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य वरशिष्टं नाम महाविमानं प्रज्ञप्तम्? गौतम! सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्य दक्षिणे सौधर्मे कल्पे असंख्येयानि योजन-सहस्राणि व्यतिव्रज्य, अत्र शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य वरशिष्टं नाम महाविमानं प्रज्ञप्तम्—अर्द्धत्रयोदशयोजन-शतसहस्राणि—यथा सोमस्य विमानं तथा यावद् अभिषेकः। राजधानी तथैव यावत् प्रासादपंक्तयः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य इमे देवाः आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति, तद् यथा—यमकायिकाः इति वा, यमदेवताकायिकाः इति वा, प्रेतकायिकाः इति वा, प्रेतदेवताकायिकाः इति वा, असुरकुमाराः, असुरकुमार्यः, कन्दर्पाः, नरक-पालाः, आभियोगाः—ये चापि अन्ये तथा-प्रकाराः सर्वे ते तद् भक्तिकाः, तत्पाक्षिकाः, तद्भार्याः, शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य

यम-पद

२५६. भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम का वरशिष्ट नाम का महाविमान कहां प्रज्ञप्त है? गौतम! सौधर्मावतंसक महाविमान के दक्षिण भाग में सौधर्मकल्प में असंख्य योजन जाने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम का वरशिष्ट नाम का महाविमान है। ब्रह्म साढा-बारह लाख योजन की लम्वाई-चौड़ाई वाला है—सोम के विमान तक जैसा वर्णन है, वैसा ही वर्णन अभिषेक तक ज्ञातव्य है (सू. २५०)। राजधानी का वर्णन भी प्रासाद-पंक्ति तक सोम की राजधानी की भांति ज्ञातव्य है।

२५७. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम की आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में रहने वाले देव ये हैं—यमकायिक, यमदेवकायिक, प्रेतकायिक, प्रेतदेवकायिक, असुरकुमार, असुर-कुमारियां, कन्दर्प, नरकपाल और आभियोगिक। इस प्रकार के जितने अन्य देव हैं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम के प्रति भक्ति रखते हैं, उसके पक्ष में रहते हैं, उसके वशवर्ती रहते हैं तथा उसकी आज्ञा, उपपात,

१. अ. वृ. ३/२५५—'अहावच्चा'ति यथाऽपत्यानि तथा ये ते यथाऽपत्यादेवाः पुत्रस्थानीया इत्यर्थः 'अभिण्णाया' ति अभिमता अभिमतवस्तुकारित्वादिति।

महारण्णो आणा-उबवाय-वयण-निद्वेसे
चिद्धंति ॥

महाराजस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निदेशे
तिष्ठन्ति ।

वचन और निदेश में अर्वास्थित हैं ।

भाष्य

१. कन्दर्प

कन्दर्पभावना से भावित होने के कारण कान्दर्पिक देवों में उत्पन्न, कन्दर्प या क्रीड़ा में निरत देव ।

२५८. जंबुद्वीपे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे
णं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—डिंबा
इ वा, डमरा इ वा, कलहा इ वा, बोला
इ वा, खारा इ वा, महाजुद्धा इ वा,
महासंगामा इ वा, महासत्थनिवडणा इ वा,
महापुरिसनिवडणा इ वा, महारुहिनिवडणा
इ वा, दुब्भूया इ वा, कुलरोगा इ वा,
गामरोगा इ वा, मंडलरोगा इ वा, नगररोगा
इ वा, सीसवेयणा इ वा, अच्छिवेयणा इ
वा, कण्णवेयणा इ वा, नहवेयणा इ वा,
दंतवेयणा इ वा, इंदग्गहा इ वा, खंदग्गहा
इ वा, कुमारग्गहा इ वा, जक्खग्गहा इ
वा, भूयग्गहा इ वा, एगाहिया इ वा,
बेहिया इ वा, तेहिया इ वा, चाउत्थया
इ वा, उव्वेयणा इ वा, कासा इ वा, सासा
इ वा, सोसा इ वा, जरा इ वा, दाहा
इ वा, कच्छकोहा इ वा, अजीरगा इ वा,
पंडुरोगा इ वा, अरिसा इ वा, भग्दला
इ वा, हिययसूला इ वा, मत्थयसूला इ
वा, जोणिसूला इ वा, पाससूला इ वा,
कुच्छिसूला इ वा, गाममारी इ वा, नगरमारी
इ वा, खेडमारी इ वा, कव्वडमारी इ वा,
दोणमुहमारी इ वा, मडंबमारी इ वा,
पट्टणमारी इ वा, आसममारी इ वा,
संवाहमारी इ वा, सण्णिवेसमारी इ वा,
पाणक्खया, जणक्खया, धणक्खया,
कुलक्खया, वसण्णभूया मणारिया—जे
यावण्णे तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स
देवरण्णे जमस्स महारण्णे अण्णाया अदिद्धा
असुया अमुया अविण्णाया, तेसिं वा
जमकाइयारणं देवारणं ॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षिणे
यानि इमानि समुत्पद्यन्ते, तद् यथा—डिम्बाः
इति वा, डमराः इति वा, कलहाः इति वा,
बोलाः इति वा, क्षाराः इति वा, महायुद्धानि
इति वा, महासंग्रामाः इति वा, महाशस्त्र-
निषतनानि इति वा, महापुरुषनिषतनानि
इति वा, महारुधिरनिषतनानि इति वा,
दुर्भूताः इति वा, कुलरोगाः इति वा, ग्रामरोगाः
इति वा, मण्डलरोगाः इति वा, नगररोगाः
इति वा, शीर्षवेदनाः इति वा, अक्षिवेदनाः
इति वा, कर्णवेदनाः इति वा, नखवेदनाः
इति वा, दन्तवेदनाः इति वा, इन्द्रग्रहाः इति
वा, स्कन्धग्रहाः इति वा, कुमारग्रहाः इति
वा, यक्षग्रहाः इति वा, भूतग्रहाः इति वा,
एकार्हाहकाः इति वा, द्व्यर्हाहकाः इति वा,
त्र्यर्हाहकाः इति वा, चतुर्यर्हाहकाः इति वा,
उद्वेजकाः इति वा, कासाः इति वा, श्वासाः
इति वा, शोषाः इति वा, ज्वराः इति वा,
दाहाः इति वा, कक्षाक्रोधाः इति वा,
अजीर्णकाः इति वा, पाण्डुरोगाः इति वा,
अर्शाः इति वा, भगन्दराः इति वा, हृदय-
शूलानि इति वा, मस्तकशूलानि इति वा,
योनिशूलानि इति वा, पार्श्वशूलानि इति वा,
कुक्षिशूलानि इति वा, ग्राममारिः इति वा,
नगरमारिः इति वा, खेटमारिः इति वा,
कर्वटमारिः इति वा, द्रोणमुखमारिः इति वा,
मडम्बमारिः इति वा, पट्टणमारिः इति वा,
आश्रममारिः इति वा, सम्बाधमारिः इति वा,
सन्निवेशमारिः इति वा, प्राणक्षयाः, जनक्षयाः,
धनक्षयाः, कुलक्षयाः, व्यसनभूताः अनायाः—ये
चाप्यन्ये तथाप्रकाराः न ते शक्रस्य देवेन्द्रस्य
देवराजस्य यमस्य महाराजस्य अज्ञाताः
अदृष्टाः अश्रुताः अस्मृताः अविज्ञाताः, तेषां
वा यमकायिकानां देवानाम् ।

२. आभियोगिक

आभियोगी भावना से भावित होने के कारण आभियोगिक
देवों में उत्पन्न सेवक स्थानीय देव ।

२५८. 'जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षिणे
भाग में जो ये स्थितियां उत्पन्न होती हैं, जैसे—डिम्ब
(दंगा), डमर, कलह, बोल, गान्धयं, महायुद्ध,
महासंग्राम, महाशस्त्रनिपात, महापुरुषनिपात,
महारुधिरनिपात, टिड्डी आदि का उपद्रव, कुलरोग,
ग्रामरोग, मण्डलरोग, नगररोग, शिरोवेदना,
अक्षिवेदना, कर्णवेदना, नखवेदना, दन्तवेदना,
इन्द्रग्रह, स्कन्धग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह,
एकान्तर ज्वर, दो दिन से आने वाला ज्वर, तीन
दिन से आने वाला ज्वर, चार दिन से आने वाला
ज्वर, चोर आदि का उपद्रव, खांसी, श्वास, शोष,
बुद्धापा, दाह, कक्षाक्रोध, अजीर्ण, पाण्डुरोग, मरसा,
भयंदर, हृदय-शूल, मस्तक-शूल, योनि-शूल,
पार्श्व-शूल, कुक्षि-शूल, ग्राममारि, नगरमारि, खेटमारि,
कर्वटमारि, द्रोणमुखमारि, मडम्बमारि, पत्तनमारि,
आश्रममारि, संवाहमारि, सन्निवेशमारि, प्राणक्षय,
जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय तथा और भी इस
प्रकार की अनिष्ट आपदाएँ, उन सब देवेन्द्र
देवराज शक्र के लोभपाल महाराज यम से तथा
उन यमकायिक देवों से अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत,
अस्मृत और अविज्ञात नहीं होती ।

भाष्य

१. सूत्र-२५८

शब्द-विमर्श

डिम्ब-दंगा।^१

डमर-अपने ही राज्य में राजकुमार आदि द्वारा किया गया उपद्रव।^२

आप्टे के अनुसार^३-डिम्ब का अर्थ है-कलह, छोटा युद्ध, शस्त्रास्त्रों के बिना होने वाला युद्ध। डमर का अर्थ है-कलह, गांवों के बीच होने वाला कलह, शत्रु को भयभीत करने के लिए किया जाने वाला शब्द।^४

बोल-अव्यक्त अक्षर वाले ध्वनि-समूह।^५खार-पारस्परिक मात्सर्य।^६

महायुद्ध, महासंग्राम-साधारणतया ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। वृत्तिकार ने इन दोनों के बीच भेदरेखा खींची है। उनके अनुसार व्यवस्था-शून्य महारण का नाम 'महायुद्ध' और चक्रव्यूह आदि की रचना के साथ लड़ा जाने वाला महारण 'महासंग्राम' है।^७

दुर्भूत-ईति। धान्य आदि के लिए उपद्रव-भूत चूहों तथा टिंडी आदि जीवों को दुर्भूत कहा गया है।^८

इन्द्रग्रह-किसी शरीर में होने वाला इन्द्र का आवेश।

स्कन्दग्रह-किसी शरीर में स्कन्द का आवेश।

कुमारग्रह-स्कन्ध और कुमार-ये दोनों कार्तिकेय के नाम हैं। सूत्रकार के द्वारा 'कुमार' शब्द पृथक् रूप में विवक्षित है।

यक्षग्रह-किसी शरीर में होने वाला यक्ष का आवेश।

भूतग्रह-किसी शरीर में होने वाला भूत का आवेश।

ये सब उन्माद के हेतु बनते हैं। भगवई के १४वें शतक में भी यक्षावेश-जनित उन्माद का उल्लेख मिलता है।^९ ठाणं में यक्षावेश को उन्माद का एक हेतु बतलाया गया है।^{१०}

उद्वेजक (उव्वेयग)-वृत्तिकार ने उव्वेयग के दो संस्कृत रूप किए हैं-१. उद्वेगक-इष्ट-वियोग आदि से होने वाला उद्वेग। २. उद्वेजक-लोगों में उद्वेग उत्पन्न करने वाला चौर आदि।^{११}

शोष-शरीर का सूखना, शारीरिक धातुओं की क्षीणता। राजयक्ष्मा।^{१२}कक्षाकोथ-कांख का फाँड़ा, कांख की सड़ान।^{१३}

२५९. सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा अभिण्णया होत्था, तं जहा-

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य इमे देवाः यथापत्त्याः अभिज्ञाताः अभवन्, तद् यथा-

२५९. 'ये निम्नांकित देव देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम के पुत्र के रूप में पहचाने जाते हैं-

संग्रहणी-गाथा

अंबे अंबरिसे चेव,
सामे सबले ति यावरे।
रुहोवरुद्वे काले य,
महाकाले ति यावरे ॥१॥
असिपत्ते धणू कुंभे,
वालुए वैतरणी ति य।
खरस्सरे महाघोसे,
एते षण्णरसाहिया ॥२॥

संग्रहणी-गाथा

अम्बः अम्बरीषश्चैव,
श्यामः सबल इति चापरः।
रुद्रोपरुद्रः कालश्च,
महाकाल इति चापरः ॥१॥
असिपत्रो धनुः कुम्भो,
वालुको वैतरणीति च।
खरस्वरो महाघोषः,
एते षण्चदशाऽऽख्याताः ॥२॥

संग्रहणी-गाथा

अंब, अम्बरीष, श्याम, शवल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनु, कुम्भ, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष-ये षण्द्र देव यम के पुत्रस्थानीय हैं।

१. भ. वृ. ३/२५८-डिम्बा-विष्णाः।

२. वही, ३/२५८-डमर'ति एकराज्ये एव राजकुमारादिकृतोपद्रवाः।

३. आप्टे-डिंबः-१. Affray, riot. डिम्बयुद्धं-Petty warfare, an affray without weapons, skirmish, sham-fight;

डमरः-१. Riot, tumult. affray. 2. Petty warfare between villages. 3. Terrifying an enemy by shouts and gestures.

४. द्रष्टव्य. सूय. २/१/१३ का टिप्पण।

५. भ. वृ. ३/२५८-'बोल'ति अव्यक्ताक्षरध्वनिसमूहः।

६. वही, ३/२५८-'खार'ति परस्परमात्सरः।

७. वही, ३/२५८-'महायुद्ध'ति 'महायुद्धानि व्यवस्थाविहीनमहारणाः, 'महासंग्राम'ति

सव्यवस्थचक्रादिव्यूहैरचनीपतमहारणाः।

८. वही, ३/२५८-'दुर्भूत'ति दुष्टा-जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुत्वाद् भूताः-सन्त्याः भूकामत्सुणोन्दुरतिदुष्टभूतयो दुर्भूता इत्यर्थः।

९. भ. १४/१६-२०।

१०. ठाणं-२/७५।

११. भ. वृ. ३/२५८-'उव्वेयग'ति उद्वेगका इष्टविद्यार्थादजन्ता उद्वेगः उद्वेजका वा लोकोद्वेगकारिणश्चौरादयः।

१२. आप्टे. शोषः-रुतनपट्ट नरण कनकपट्टे २१ म्बपत्रपट्टण,पत्रीपतपट्ट नरण ३१ जमउव्वेयन च्चदेनउव्वेयनपट्ट वत च्चदेनउव्वेयनपट्ट पट्ट म्बपत्रपट्टण

१३. आप्टे. कक्षा-arma-pit: कोथं-चनत्रमार्जपट्टण उद्वेयनपट्टण

भाष्य

१. सूत्र २५६

अंब आदि पन्द्रह प्रकार के देव असुरनिकाय के अन्तर्वर्ती हैं। ये परमाधार्मिक कहलाते हैं। वृत्तिकार ने इनके अन्वर्थ नाम की व्याख्या की है—

१. अम्ब—जो नैरयिकों को आकाश में ले जाकर ऊपर से गिराता है।
२. अम्बरीष—जो नैरयिकों को कैची आदि से खण्ड-खण्ड कर अम्बरीष भाण्ड में पकाने योग्य बनाता है, इसलिए अम्बरीष कहलाता है।
३. श्याम—जो नैरयिकों को शातना—उत्पीड़ा देता है, वर्ण से श्याम होता है, इसलिए श्याम कहलाता है।
४. शबल—जो नैरयिकों के आंत, हृदय आदि को उखाड़ देता है और वर्ण से शबल (चितकबरा) होता है, इसलिए शबल कहलाता है।
५. रौद्र—जो नैरयिकों को शक्ति, भाले आदि में पिरो देता है, वह अपनी रौद्रता के कारण रौद्र कहलाता है।
६. उपरौद्र—जो नैरयिकों के अंगोपांगों का भंग करता है, वह उपरौद्र कहलाता है।
७. काल—जो नैरयिकों को हाण्डी आदि में पकाता है, वह काल होता है, इसलिए वह काल कहलाता है।

८. महाकाल—जो नैरयिकों को चिकने मांस के टुकड़े खिलाता है और वर्ण से जो बहुत काले होते हैं, वह महाकाल कहलाता है।
९. धनु—जो धनुष्य से मुक्त अर्धचन्द्र आदि बाणों के द्वारा कान आदि का छेदन-भेदन आदि करता है, वह धनु कहलाता है।
१०. असिपत्र—जो तलवार के आकार वाले पत्र की तरह विकुर्वणा करता है, वह असिपत्र कहलाता है।
११. कुम्भ—जो कुम्भ आदि में उन्हें पकाता है, वह कुम्भ कहलाता है।
१२. बालुक—जो कदम्ब पुष्प आदि के आकार वाली बालु-धूलि में नैरयिकों को पकाता है, इसलिए वह बालुक कहलाता है।
१३. वेतरणी—जो पीप, लोही आदि से भरी हुई वेतरणी नामक नदी का निर्माण करता है, वह वेतरणी कहलाता है।
१४. खरस्वर—जो वज्र जैसे कांटों से आकुल शाल्मली वृक्ष का निर्माण कर उस पर नारकों को आरोपित कर, उन्हें चिल्लाते हुए खींचता है, वह 'खरस्वर' कहलाता है।
१५. महाघोष—जो भयभीत होकर दौड़ते हुए नैरयिकों को महाघोष करता हुआ पशुओं की तरह बाड़ों में बांध देता है, वह 'महाघोष' कहलाता है।

देखें समवाओ, १५/१ का टिप्पण।

२६०. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो सतिभागं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता, अहावच्चाभिण्णायार्णं देवाणं एणं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। एमहिइए जाव महाणुभागे जमे महाराया॥

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य यमस्य महाराजस्य सत्रिभागं पत्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ताः, यथापत्याऽभिज्ञातानां देवानाम् एकं पत्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता। इयन्महद्धिकः यावन् महानुभागः यमः महाराजः।

२६०. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज यम की स्थिति त्रिभाग अधिक एक पत्योपम की प्रज्ञप्त है। उसके पुत्र-रूप में पहचाने जाने वाले देवों की स्थिति एक पत्योपम की प्रज्ञप्त है। लोकपाल यम ऐसी महान् ऋद्धि वाला यावत् महान सामर्थ्य वाला है।

वरुण-पदं

२६१. कहि णं भन्ते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो सयंजले नामं महाविमाणे पण्णत्ते? गौयमा! तस्स णं सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणसस्स पच्चस्थिमे णं जहा सोमस्स तहा विमाण-रायधाणीओ भाणियच्चा जाव पासादवडेंसया, नवरं—नामनाणत्तं ॥

वरुण-पदम्

कुत्र भदन्त! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य स्वयंजलं नाम महाविमानं प्रज्ञप्तम्? गौतम! तस्य सौधमार्वतंसकस्य महाविमानस्य पश्चिमे यथा सोमस्य तथा विमान-राजधान्यः भणित्तव्याः यावत् प्रासादावर्तंसकाः, नवरं—नामनानात्वम्।

वरुण-पद

२६१. भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण का स्वयंजल नाम का महाविमान कहां प्रज्ञप्त है? गौतम! उस सौधमार्वतंसक महाविमान के पश्चिम भाग में स्वयंजल नाम का महाविमान है। इसके विमान, राजधानी और प्रासादावर्तंसक तक का वर्णन सोम की भांति ज्ञातव्य है। केवल नामों की भिन्नता है।

१. म. वृ. ३/२५६—'अम्ब' इत्यादयः पंचदश असुरनिकायान्तर्वर्तिनः परमाधार्मिकनिकायाः।

२. म. वृ. ३/२५६।

२६२. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्वेसे चिद्धंति, तं जहा—वरुणकाइया इ वा, वरुणदेवयकाइया इ वा, नागकुमारा, नागकुमारीओ, उदहिकुमारा, उदहिकुमारीओ, थणियकुमारा, थणियकुमारीओ—जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया, तप्पक्खिया, तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्वेसे चिद्धंति ॥

२६३. जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं जाई इमाईं समुप्पज्जंति, तं जहा—अइवासा इ वा, मंदवासा इ वा, सुवुद्धी इ वा, दुवुद्धी इ वा, उदब्भेदा इ वा, उदप्पीला इ वा, ओवाहा इ वा, पवाहा इ वा, गामवाहा इ वा, जाव सण्णिवेसवाहा इ वा, पाणक्खया, जणक्खया, धणक्खया, कुलक्खया, वसणब्भूया मणारिया जे यावण्णे तहप्पगारा णं ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो अण्णाया अदिद्धा असुया अमुया अविण्णाया, तेसिं वा वरुणकाइयाणं देवार्णं॥

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य इमे देवाः आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति, तद् यथा—वरुणकायिकाः इति वा, वरुणदेवताकायिकाः इति वा, नागकुमाराः, नागकुमार्यः, उर्ध्विकुमाराः, उर्ध्विकुमार्यः, स्तनितकुमाराः, स्तनितकुमार्यः—ये चापि अन्ये तथाप्रकाराः सर्वे ते तद्भक्तिकाः, तत्पाक्षिकाः, तद्भाष्याः शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणे यानि इमानि समुत्पद्यन्ते, तद् यथा—अतिवर्षाः इति वा, मन्दवर्षाः इति वा, सुवृष्टिः इति वा, दुर्वृष्टिः इति वा, उदोद्भेदाः इति वा, उदोत्पीडाः इति वा, अपवाहाः इति वा, प्रवाहाः इति वा, ग्रामवाहाः इति वा, यावत् सन्निवेशवाहाः इति वा, प्राणक्षयाः, जनक्षयाः, धनक्षयाः, कुलक्षयाः, व्यसनभूताः, अनार्याः ये चापि अन्ये तथाप्रकाराः न ते शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य आज्ञाताः अदृष्टाः अश्रुताः अस्मृताः अविज्ञाताः, तेषां वा वरुणकायिकानां देवानाम् ।

२६२. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण की आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में रहने वाले देव ये हैं—वरुणकायिक, वरुणदेवकायिक, नागकुमार, नागकुमारियां, उर्ध्विकुमार, उर्ध्विकुमारियां, स्तनितकुमार और स्तनितकुमारियां । इस प्रकार के जितने अन्य देव हैं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण के प्रति भक्ति रखते हैं, उसके पक्ष में रहते हैं, उसके वशवर्ती रहते हैं तथा उसकी आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में अवस्थित हैं ।

२६३. 'जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिण भाग में जो ये स्थितियां उत्पन्न होती हैं, जैसे—अतिवर्षा, मन्दवर्षा, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, उदोद्भेद (निर्धर) उदोत्पीड (पानी का अतिप्रवाह), अपवाह, प्रवाह, ग्रामवाह, यावत् सन्निवेशवाह, प्राणक्षय, जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय, तथा और भी इस प्रकार की अनिष्ट आपदाएं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण तथा उन वरुणकायिक देवों से आज्ञात अदृष्ट, अश्रुत, अस्मृत और अविज्ञात नहीं होती ।

भाष्य

१. सूत्र २६३

शब्द-विमर्श

सुवृष्टि—धान्य आदि की निष्पत्ति में हेतुभूत वर्षा ।

दुर्वृष्टि—जिस वर्षा से धान्य आदि की निष्पत्ति न हो ।

उदोद्भेद (उदब्भेया)—झरणा ।

उदोत्पीड (उदप्पील)—पानी का अतिप्रवाह ।

अपवाह (ओवाह)—पानी का मन्दप्रवाह ।

२६४. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा- भिण्णाया होत्था, तं जहा—

कक्कोडए कद्दमाए,

अंजणे संखवालए पुंडे ।

पलासे मोए जए,

दहिमुहे अयंपुले कायरिए ॥

शक्रस्य देवेन्द्र देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य इमे देवाः यथापत्याभिज्ञाताः अभवन्, तद् यथा—

ककोटकः कर्दमकः

अञ्जनः शङ्खपालकः पुंडः ।

पलाशः मोदः जयः

दधिमुखः अचंपुलः कातरिकः ॥

२६४. ये निर्म्नांकित देव देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण के पुत्र के रूप में पहचाने जाते हैं, जैसे—ककोटक, कर्दमक, अंजन, शंखपालक, पुण्ड, पलाश, मोद, जय, दधिमुख, अचंपुल और कातरिकः ।

१. आटे.—ऌसीडे—(Overflow)

२६५. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो देसूणाइं दो पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णयाणं देवाणं एणं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। एमहिइंढीए जाव माहणुभागे वरुणे महाराया॥

वेसमण-पदं

२६६. कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो वग्गू नामं महाविभाणे पण्णत्ते?

गोयमा! तस्स णं सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरे णं जहा सोमस्स विमाण-रायहाणि-वत्तव्वया तथा नेयव्वा जाव पासादवडेंसया॥

२६७. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निहेसे चिद्धंति, तं जहा-वेसमणकाइया इ वा, वेसमणदेवकाइया इ वा, सुवण्णकुमारा, सुवण्णकुमारीओ, दीवकुमारा, दीवकुमारीओ, दिसाकुमारा, दिसाकुमारीओ, वाणमंतरा, वाणमंतरीओ—जे यावण्णे तहप्पगारा सब्बे ते तब्भत्तिया, तप्पक्खिय, तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो आणा-उववाय-वयण-निहेसे चिद्धंति ॥

२६८. जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणे णं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—अयागरा इ वा, तउथागरा इ वा, तंबागरा इ वा, सीसागरा इ वा, हिरण्णागरा इ वा, सुवण्णागरा इ वा, रयणागरा इ वा, वइरगरा इ वा, वसुहारा इ वा, हिरण्णवासा इ वा, सुवण्णवासा इ वा, रयणवासा इ वा, वइरवासा इ वा, आभरणवासा इ वा, पत्तवासा इ वा, पुप्फवासा इ वा, फलवासा इ वा, बीयवासा इ वा, मल्लवासा इ वा, वण्णवासा इ वा, चुण्णवासा इ वा, गंधवासा इ वा, वत्थवासा इ वा, हिरण्णवुड्डी इ वा, सुवण्णवुड्डी इ वा, रयणवुड्डी इ वा, वइरवुड्डी इ वा, आभरणवुड्डी इ वा, पत्तवुड्डी इ वा, पुप्फवुड्डी इ वा, फलवुड्डी इ वा, वीयवुड्डी इ वा, मल्लवुड्डी इ वा,

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वरुणस्य महाराजस्य देशोने द्वे पल्लोपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता। यथापत्याभिज्ञातानां देवानाम् एकं पल्लोपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता। इयन्महद्विकः यावन् महानुभागः वरुणः महाराजः।

वैश्रवण-पदम्

कृत्र भदन्त! शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य वल्गु नाम महाविमानं प्रज्ञप्तम्?

गौतम! तस्य सौधर्मावतंसकस्य महाविमानस्य उत्तरे यथा सोमस्य विमान-राजधानी-वक्तव्यता तथा नेतव्या यावत् प्रसादावतंसकाः।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य इमे देवाः आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति, तद् यथा—वैश्रवणकायिकाः इति वा, वैश्रवणदेवताकायिकाः इति वा, सुपर्णकुमाराः, सुपर्णकुमार्यः, द्वीपकुमाराः, द्वीपकुमार्यः, दिक्कुमाराः, दिक्कुमार्यः, वानमन्तराः, वानमन्तर्यः—ये चापि अन्ये तथाप्रकाराः सर्वे ते तद्भक्तिकाः, तत्पाक्षिकाः, तद्भावाः, शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य आज्ञा-उपपात-वचन-निर्देशे तिष्ठन्ति।

जम्बूद्वीप द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षिणे वानि इमानि समुत्पद्यन्ते, तद् यथा अयआकराः इति वा, त्रुपुआकराः इति वा, ताम्राऽऽकराः इति वा, सीसाऽऽकराः इति वा, हिरण्याऽऽकराः इति वा, सुवर्णाऽऽकराः इति वा, रत्नाऽऽकराः इति वा, वज्राऽऽकराः इति वा, वसुधाराः इति वा, हिरण्यवर्षाः इति वा, सुवर्णवर्षाः इति वा, रत्नवर्षाः इति वा, वज्रवर्षाः इति वा, आभरणवर्षाः इति वा, पत्रवर्षाः इति वा, पुष्पवर्षाः इति वा, फलवर्षाः इति वा, वीजवर्षाः इति वा, माल्यवर्षाः इति वा, वर्णवर्षाः इति वा, चूर्णवर्षाः इति वा, गन्धवर्षाः इति वा, वस्त्रवर्षाः इति वा, हिरण्यवृष्टिः इति वा, सुवर्णवृष्टिः इति वा, रत्नवृष्टिः इति वा, वज्रवृष्टिः इति वा, आभरणवृष्टिः इति वा, पत्रवृष्टिः इति वा, पुष्पवृष्टिः इति वा, फलवृष्टिः इति वा, वीजवृष्टिः इति वा, माल्यवृष्टिः इति वा, वर्णवृष्टिः इति वा, चूर्णवृष्टिः इति वा, गन्धवृष्टिः इति वा, वस्त्रवृष्टिः इति वा,

२६५. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वरुण की स्थिति कुछ कम दो पल्लोपम की प्रज्ञप्त है। उसके पुत्र-रूप में पहचाने जाने वाले देवों की स्थिति एक पल्लोपम की प्रज्ञप्त हैं। लोकपाल वरुण ऐसी महान् ऋद्धि वाला यावत् महान् सामर्थ्य वाला है।

वैश्रवण-पद

२६६. भन्ते! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण का वल्गु नामक महाविमान कहाँ प्रज्ञप्त है?

गौतम! उस सौधर्मावतंसक महाविमान के उत्तर भाग में वैश्रवण का वल्गु नाम का महाविमान है। इसके विमान, राजधानी और प्रसादावतंसक तक की वक्तव्यता सोम की भाँति ज्ञातव्य है।

२६७. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण की आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में रहने वाले देव ये हैं—वैश्रवणकायिक, वैश्रवणदेवकायिक, सुपर्णकुमार, सुपर्णकुमारियाँ, द्वीपकुमार, द्वीपकुमारियाँ, दिक्कुमार, दिक्कुमारियाँ, वानमन्तर, वानमन्तरियाँ। इस प्रकार के जितने अन्य देव हैं, वे सब देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण के प्रति भक्ति रखते हैं, उसके पक्ष में रहते हैं, उसके वशवर्ती रहते हैं। तथा उसकी आज्ञा, उपपात, वचन और निर्देश में अवस्थित हैं।

२६८. "जम्बूद्वीप द्वीप में मेरुपर्वत के दक्षिण भाग में जो ये स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं—लोहे की खान, राँगे की खान, ताम्बे की खान, सीसे की खान, चाँदी की खान, सोने की खान, रत्नों की खान, वज्र की खान, वसुधारा, हिरण्यवर्षा, सुवर्णवर्षा, रत्नवर्षा, वज्रवर्षा, आभरणवर्षा, पत्रवर्षा, पुष्पवर्षा, फलवर्षा, वीजवर्षा, माल्यवर्षा, वर्णवर्षा, चूर्णवर्षा, गन्धवर्षा, वस्त्रवर्षा, हिरण्यवृष्टि, सुवर्णवृष्टि, रत्नवृष्टि, वज्रवृष्टि, आभरणवृष्टि, पत्रवृष्टि, पुष्पवृष्टि, फलवृष्टि, वीजवृष्टि, माल्यवृष्टि, वर्णवृष्टि, चूर्णवृष्टि, गन्धवृष्टि, वस्त्रवृष्टि, भाजनवृष्टि, क्षीरवृष्टि, सुकाल, दुष्काल, अल्पार्घ्य, महार्घ्य, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्रय-विक्रय, सन्निधि, सन्निचय, निधि, निधान हैं—वे चिरपुराण, अल्पस्वामित्व वाले हैं, उनमें धन का न्यास करने वाले कम रहे हों, उन तक पहुँचने के मार्ग कम

वण्णवुड्डी इ वा, चुण्णवुड्डी इ वा, गंधवुड्डी इ वा, वत्थवुड्डी इ वा, भायणवुड्डी इ वा, खीरवुड्डी इ वा, सुकाला इ वा, दुक्काला इ वा, अप्पग्घा इ वा, महग्घा इ वा, सुभिक्षा इ वा, दुब्भिक्षा इ वा, कयविककया इ वा, सण्णिही इ वा, सण्णिचया इ वा, निही इ वा, निहाणाइ वा—चिरपोराणाइ वा, पहीणसाभियाइ वा, पहीणसेतुयाइ वा, पहीणमग्गाइ वा, पहीणगोत्तागाराइ वा, उच्छण्णसाभियाइ वा, उच्छण्णसेतुयाइ वा, (उच्छण्णमग्गा इ वा?) उच्छण्णगोत्तागारा इ वा, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु वा, नगरनिद्धमणेषु वा, सुसाण-गिरि-कंदर-संति-सेलोवट्ठाण-भवणगिहेसु संनिक्खिताइ चिट्ठति, न ताइ सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो अण्णायाइ अदिट्ठाइ असुयाइ अमुयाइ अविण्णायाइ, तेसिं वा वेसमणकाइयाणं देवाणं ॥

फलवृष्टि इति वा, बीजवृष्टिः इति वा, माल्यवृष्टिः इति वा, वर्णवृष्टिः इति वा, चूर्णवृष्टिः इति वा, गन्धवृष्टिः इति वा, वस्त्रवृष्टिः इति वा, भाजनवृष्टिः इति वा, क्षीरवृष्टिः इति वा, सुकालाः इति वा, दुष्कालाः इति वा, अल्पार्थाः इति वा, महार्थाः इति वा, सुभिक्षानि इति वा, दुर्भिक्षानि इति वा, क्रयविक्रयाणि इति वा, संनिधयः इति वा, संनिचयाः इति वा, निधयः इति वा, निधानानि वा—चिरपुराणानि वा, प्रहीणस्वामिकानि वा, प्रहीणसेतुकानि वा, प्रहीणमार्गाणि वा, प्रहीणगोत्रागाराणि वा, उत्सन्नस्वामिकानि वा, उत्सन्नसेतुकानि वा, (उत्सन्नमार्गाणि इति वा?) उत्सन्नगोत्रागाराणि इति वा, शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख-महापथ-पथेषु वा, नगरनिर्धमनेषु वा, श्मशान-गिरि-कन्दर-शान्ति-शैलोपस्थानभवनगृहेषु संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति, न तानि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य अज्ञातानि, अदृष्टानि, अश्रुतानि, अस्मृतानि, अविज्ञातानि, तेषां वा वैश्रवणकायिकानां देवानाम् ।

हों, वहां धन का न्यास करने वालों का गोत्रगृह कम रहा हो, उनका स्वामित्व उच्छिन्न हो गया हो, उनमें धन का न्यास करने वाले उच्छिन्न हो गए हों, (उन तक जाने वाले मार्ग उच्छिन्न हो गए हों) वहां धन का न्यास करने वालों के गोत्र-गृह उच्छिन्न हो गए हों। वहां जो दुराहे, तिराहे, चौराहे, चोक चारों ओर प्रवेशद्वार वाले स्थान, राजपथ और वीथियों में, नगर के जलनिर्गमन मार्गों में, श्मशानगृहों, गिरिगृहों, कन्दरगृहों, शांतिगृहों, शैलगृहों, उपस्थानगृहों और भवनगृहों में जो निधान निक्षिप्त हैं—वे देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण और वैश्रवणकायिक देवों से अज्ञात, अदृष्ट, अश्रुत, अस्मृत और अविज्ञात नहीं होतीं।

भाष्य

१. सूत्र २६८

शब्द-विमर्श

वसुधारा—आकाश से गिरने वाली रत्नों की धारा ।
वर्णवर्षा—चन्दन आदि की वर्षा ।
चूर्णवर्षा—गन्धद्रव्य-निष्पन्न चूर्ण की वर्षा ।
थोड़ी वर्षा को वर्षा और अधिक वर्षा को वृष्टि कहा जाता है ।
अल्पार्थ—अल्पमूल्य ।
महार्थ—बहुमूल्य ।
सन्निधि—घृत-गुड़ आदि का संग्रह ।
संनिचय—धान्य का संग्रह ।
निधि— धन का संग्रह ।
निधान—भूमि में गाड़ा हुआ धन ।
प्रहीणसेतुक—जिसका सेतु या कारण नष्ट हो गया हो ।

वृत्तिकार ने प्रहीणसेतुय का संस्कृत रूप 'प्रहीणसेचक' धन का प्रक्षेप करने वाला किया है।"

प्रहीणगोत्रागार—जिस स्वामी के गोत्र और गृह नष्ट हो गए हों।' उच्छिन्न (उच्छण्ण)—ठारण में इसी प्रसंग में उच्छिण्ण शब्द का प्रयोग मिलता है।' दोनों का अर्थ एक है।

नगरनिद्धमण—निद्धमण देशी शब्द है। इसका अर्थ है 'जल-निर्गमन का नाला' ।

श्मशानगृह—श्मशान में होने वाला गृह ।

गिरिगृह—पर्वत के ऊपर स्थित गृह ।

कन्दरगृह—गुफा ।

शान्तिगृह—शान्ति कर्म करने का स्थान ।

शैलगृह—पर्वत को उत्कीर्ण कर बनाया गया गृह 'लंगी' ।

उपस्थानगृह—सभामण्डप ।

भवनगृह—कुटुंबियों के रहने का मकान ।"

१. भ. वृ. ३/२६८—'पहीणसेतुयाइ'ति प्रहीणाः—अल्पीभूताः रत्नकारः—सेचकाः—धनप्रक्षेपकारा येषां तानि तथा ।

२. वही, ३/२६८—'पहीणगोत्तागाराइ'ति प्रहीणं विस्तीर्णमनुष्यं गोत्रागारं—तत्स्वामिगोत्रगृहं येषां तानि तथा ।

३. ठारणं, ५/२१,२२ ।

४. भ. वृ. ३/२६८—'नगरनिद्धमणेषु' ति 'नगरनिद्धमणेषु' नगरनिर्गमनेषु 'सुसाण-गिरिकन्दरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु' ति गृहशब्दस्य प्रत्येकं संवन्धत् श्मशानगृह—पितृवनगृहं, गिरिगृहं—पर्वतपरिगृहं, कन्दरगृहं—गुहा, शांतिगृहं—शांतिकर्मस्थानं, शैलगृहं—पर्वतमुत्कीर्णं यत्कृतं, उपस्थानगृहं—आस्थानमण्डपो, भवनगृहं—कुटुम्बी-वसनगृहमिति ।

२६६. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चाभिण्णायया होत्था, तं जहा—पुण्णभद्दे माणिभद्दे सालिभद्दे सुमणभद्दे चक्करक्खे पुण्णरक्खे सव्वाणे सव्वजसे सव्वकामे समिद्धे अमोहे असंगे ॥

२७०. सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो दो पलिओवमाईं ठिईं पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायारणं देवारणं एगं पलिओवमं ठिईं पण्णत्ता। एमहिड्डीए जाव महाणुभागे वेसमणे महाराया ॥

२७१. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति ॥

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य इमं देवाः यथापत्याभिजाताः अभवन्, तद् यथा—पूर्णभद्रः मार्गभद्रः शालिभद्रः सुमनोभद्रः चक्ररक्षः पूर्णरक्षः सव्यानः सर्वयज्ञाः सर्वकामः समृद्धः अमोहः असंगः ।

शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य वैश्रवणस्य महाराजस्य द्वे पत्न्योपमे स्थितिः प्रज्ञप्ता । यथापत्याभिजातानां देवानाम् एकं पत्न्योपमं स्थितिः प्रज्ञप्ता । इयन्महर्द्धिकः यावन् महानुभागः वैश्रवणः महाराजः ।

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति ।

२६६. ये निर्माकित्त देव देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण के पुत्ररूप में पहचाने जाते हैं, जैसे—पूर्णभद्र, मार्गभद्र, शालिभद्र, सुमनभद्र, चक्ररक्ष, पूर्णरक्ष, सव्यान, सर्वयज्ञ, सर्वकाम, समृद्ध, अमोह और असंग ।

२७०. देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल महाराज वैश्रवण की स्थिति दो पत्न्योपम की प्रज्ञप्त है । उनके पुत्ररूप में पहचाने जाने वाले देवों की स्थिति एक पत्न्योपम की प्रज्ञप्त है । लोकपाल वैश्रवण ऐसी महान् ऋद्धिवाला यावत् महान् सामर्थ्यवाला है ।

२७१. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है ।

अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

२७२. रायगिहे नगरे जाव पञ्जुवासमाणे एवं वयासी—असुरकुमाराणं भंते! देवाणं कइ देवा आहेवच्चं जाव विहरंति?

गोयमा! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—चमरे असुरिंदे असुरराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे, बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया, सोमे, जमे, वेसमणे, वरुणे॥

२७३. नागकुमाराणं भंते! देवाणं कइ देवा आहेवच्चं जाव विहरंति?

गोयमा! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—धरणे णं नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले, सेलवाले, संखवाले, भूयाणंदे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले, संखवाले, सेलवाले॥

२७४. जहा नागकुमारिंदाणं एताए वत्तव्ययाए नीर्यं एवं इमाणं नेयव्वं—
सुवण्णकुमाराणं—वेणुदेवे, वेणुदाली, चित्ते, विचित्ते, चित्तपक्खे, विचित्तपक्खे।

विज्जुकुमाराणं—हरिकंत-हरिस्तह-प्रभ-सुप्रभ-प्रभकंत-सुप्रभकंता।

अग्गिकुमाराणं—अग्गिसिह-अग्गिमाणव-तेज-तेउ-तेउसिह-तेउकंत-तेउप्पभा।

राजगृहे नगरे यावत् पर्युपासीनः एवमवादीद्—असुरकुमाराणां भदन्त! देवानां कति देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति?

गोतम! दश देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति, तद् यथा—चमरः असुरेन्द्रः असुरराजः, सोमः, यमः, वरुणः, वैश्रवणः, बली वैरोचनेन्द्रः वैरोचनराजः, सोमः, यमः, वैश्रवणः, वरुणः।

नागकुमाराणां भदन्त! देवानां कति देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति?

गोतम! दश देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति, तद् यथा—धरणः नागकुमारेन्द्रः नागकुमारराजः, कालपालः, कोलपालः, शैलपालः, शङ्खपालः, भूतानन्दः नागकुमारेन्द्रः नागकुमारराजः, कालपालः, कोलपालः, शङ्खपालः, शैलपालः।

यथा नागकुमारेन्द्राणाम् अनया वक्तव्यतया नीतम् एवम् एषां नेतव्यम्—
सुपर्णकुमाराणं—वेणुदेवः, वेणुदाली, चित्रः, विचित्रः, चित्रपक्षः, विचित्रपक्षः।

विद्युत्कुमाराणां—हरिकान्त-हरिस्तह-प्रभ-सुप्रभ-प्रभकान्त-सुप्रभकान्ताः।

अग्निकुमाराणाम्—अग्निशिख-अग्निमाणव-तेजः-तेजःशिख-तेजःकान्त-तेजःप्रभाः।

२७२. राजगृह नगर में भगवान् गोतम भगवान् महावीर की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भन्ते! कितने देव असुरकुमार देवों का आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते हैं?

गोतम! दस देव उनका आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते हैं, जैसे—असुरेन्द्र-असुरराज-चमर, सोम, यम, वरुण, वैश्रवण। वैरोचनेन्द्र-वैरोचनराज-बली, सोम, यम, वैश्रवण और वरुण।

२७३. भंते! कितने देव नागकुमार देवों का आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते हैं?

गोतम! दस देव उनका आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते हैं, जैसे—नागकुमारेन्द्र-नागकुमारराज-धरण, कालपाल, कोलपाल, शैलपाल, शंखपाल। नागकुमारेन्द्र—नागकुमारराज-भूतानन्द, कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल।

२७४. नागकुमारेन्द्र की जो वक्तव्यता है, वही वक्तव्यता निम्न-निर्दिष्ट देवों की ज्ञातव्य है—
सुपर्णकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले देव—वेणुदेव, चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष। वेणुदाली, चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष।

विद्युत्कुमार देवों का आधिपत्य करने वाले देव—हरिकान्त, प्रभ, सुप्रभ, प्रभकान्त और सुप्रभकान्त। हरिस्तह, प्रभ, सुप्रभ, सुप्रभकान्त और प्रभकान्त।

अग्निकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले देव—अग्निशिख, तेजः, तेजःशिख, तेजःकान्त और तेजःप्रभ। अग्निमाणव, तेजः, तेजःशिख,

दीवकुमाराणां—पुष्प-विसिद्ध-रुय-रुयंस-
-रुयकंत-रुयप्पभा ।

उदहीकुमाराणां—जलकंत-जलप्पभ-जल-
-जलरुय-जलकंत-जलप्पभा ।

दिसाकुमाराणां—अमितगति-अमितवाहन-
-तुरियगति-खिप्पगति-सीहगति-सीहवि-
-क्कमगती ।

वाउकुमाराणां—वेलंब-प्रभजण-काल-महाकाल-
-अंजण-रिद्धा ।

धणियकुमाराणां—घोस-महाघोस-आवत्त-
-वियावत्त-नंदियावत्त-महानंदियात्ता ।

एवं भणियव्वं जहा असुरकुमारा ॥

२७५. पिसायकुमाराणां भन्ते! देवाणां कइ
देवा आहेवच्चं जाव विहरंति?

गोयमा! दो देवा आहेवच्चं जाव विहरंति,
तं जहा—

संगहणी गाहा

काले य महाकाले,
सुरूव-पडिरूव-पुष्पभदे य ।
अमरवई माणिभदे,
भीमे य तथा महाभीमे ॥१॥
किन्नर-किंपुरिसे खलु,
सप्पुरिसे खलु तथा महापुरिसे ।
अइकाय-महाकाए,
गीयरई चैव गीयजसे ॥२॥
एते वाणमंतराणां देवाणां ॥

२७६. जोइसियाणां देवाणां दो देवा आहेवच्चं
जाव विहरंति, तं जहा—चंदे य, सूरै य ॥

२७७. सोहम्मीसाणेसु णं भन्ते! कप्पेसु कइ

द्वीपकुमाराणां—पूर्ण-विशिष्ट-रूप-रूपांश-
-रूपकान्त-रूपप्रभाः ।

उदधिकुमाराणां—जलकान्त-जलप्रभ-जल-जल-
-रूक्-जलकान्त-जलप्रभाः ।

दिवकुमाराणाम्—अमितगति-अमितवाहन-
-त्वरित-गति-शिप्रगति-सिंहगति-सिंहविक्रम-
-गतयः ।

वायुकुमाराणां—वेलम्ब-प्रभञ्जन-काल-महा-
-काल-अञ्जन-रिष्टाः ।

स्तनितकुमाराणां—घोष-महाघोष-आवर्त्त-
-व्यावर्त्त-नन्द्यावर्त्त-महानन्द्यावर्त्ताः ।

एवं भणितव्वं यथा असुरकुमाराः ॥

पिशाचकुमाराणां भदन्त! देवानां कति देवाः
आधिपत्यं यावद् विहरन्ति?

गीतम! द्वौ देवौ आधिपत्यं यावद् विहरन्ति,
तद् यथा—

संग्रहणी गाथा

कालश्च महाकालः,
सुरूप-प्रतिरूप-पूर्णभद्राश्च ।
अमरपतिः माणिभद्रो,
भीमश्च तथा महाभीमः ॥१॥
किन्नर-किंपुरुषौ खलु,
सत्पुरुषः खलु तथा महापुरुषः ।
अतिकाय-महाकायौ,
गीतरतिश्चैव गीतयशाः ॥२॥
एते वानमन्तराणां देवानाम् ॥

ज्योतिष्काणां देवानां द्वौ देवौ आधिपत्यं
यावद् विहरन्ति, तद् यथा—चन्द्रः च, सूरः च ।

२७७. सौधर्मेशानयोः भदन्त! कल्पयोः कति

तेजःप्रभ और तेजस्कान्त ।

द्वीपकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले देव—पूर्ण,
रूप, रूपांश, रूपकान्त और रूपप्रभ । विशिष्ट,
रूप, रूपांश, रूपप्रभ और रूपकान्त ।

उदधिकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले देव
जलकान्त, जल, जलरूप, जलकान्त और जलप्रभ ।
जलप्रभ, जल, जलरूप, जलप्रभ और जलकान्त ।

दिवकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले
देव—अमितगति, त्वरितगति, शिप्रगति, सिंहगति
और सिंहविक्रमगति । अमितवाहन, त्वरितगति,
शिप्रगति सिंहविक्रमगति और सिंहगति ।

वायुकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले
देव—वेलम्ब, काल, महाकाल, अंजन और रिष्ट ।
प्रभञ्जन, काल, महाकाल, रिष्ट और अंजन ।

स्तनितकुमार देवों का आधिपत्य करने वाले
देव—घोष, आवर्त्त, व्यावर्त्त, नन्द्यावर्त्त और
महानन्द्यावर्त्त । महाघोष, आवर्त्त, व्यावर्त्त,
महानन्द्यावर्त्त और नन्द्यावर्त्त ।

इस प्रकार असुरकुमारों की भांति (३/२७२)
वक्ष्यता ।

२७५. भन्ते! कितने देव पिशाचकुमार देवों का
आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग भोगते
हुए विहरण करते हैं?

गीतम! दो देव उनका आधिपत्य करते हुए यावत्
दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते हैं, जैसे—

संग्रहणी गाथा

पिशाचों के—काल, महाकाल । भूतों के—सुरूप,
प्रतिरूप । यशों के—पूर्णभद्र, माणिभद्र । राक्षसों
के—भीम, महाभीम । किन्नरों के—किन्नर, किंपुरुष ।
किंपुरुषों के—सत्पुरुष, महापुरुष । महोरगों के—
अतिकाय, महाकाय । गन्धर्वों के—गीतरति और
गीतयशा ।

ये वानमन्तर देवों का आधिपत्य करने वाले
देव हैं ।

२७६. दो देव ज्योतिष्क देवों का आधिपत्य करते
हुए यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते
हैं, जैसे—चन्द्रमा और सूर्य ।

२७७. भन्ते! कितने देव सौधर्म और ईशानकल्प

देवा आहैवच्चं जाव विहरन्ति?

गोयमा! दस देवा आहैवच्चं जाव विहरन्ति,
तं जहा—सक्के देविदे देवराया, सोमे,
जमे, वरुणे, वेसमणे। ईसाणे देविदे देवराया,
सोमे, जमे, वेसमणे, वरुणे।

एसा वक्तव्यया सव्वेसु वि कप्पेसु एए चेव
भाणियव्वा। जे य इंदा ते य भाणियव्वा ॥

देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति?

गोतम! दश देवाः आधिपत्यं यावद् विहरन्ति,
तद् यथा—शक्रः देवेन्द्रः देवराजः, सोमः, यमः,
वरुणः, वैश्रवणः। ईशानः देवेन्द्रः देवराजः,
सोमः, यमः, वैश्रवणः, वरुणः।

एषा वक्तव्यता सर्वेषु अपि कल्पेषु एते चैव
भणितव्याः। ये च इन्द्राः ते च भणितव्याः।

में आधिपत्य करते हुए यावत् दिव्य भोग
भोगते हुए विहरण करते हैं।

गोतम! दस देव उनमें आधिपत्य करते हुए
यावत् दिव्य भोग भोगते हुए विहरण करते
हैं, जैसे—देवेन्द्र देवराज शक्र, सोम, यम,
वरुण, और वैश्रवण। देवेन्द्र देवराज ईशान,
सोम, यम, वैश्रवण और वरुण।

इस वक्तव्यता के अनुसार सभी कल्पों में
ये लोकपाल वक्तव्य हैं जहां जो इन्द्र है
वहां वह वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र २५०-२७७

यह आलापक सू. २५०-२७७ देववाद के सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उजागर करता है। हमारी पृथ्वी के साथ उन देवों का क्या संबंध है, इस पर नया प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत आगम के १४वें शतक में भी इस विषय का उल्लेख मिलता है।^१ जैन दर्शन ईश्वरकर्तृत्ववादी और देवकर्तृत्ववादी नहीं है। प्रस्तुत आलापक में कर्तृत्व का उल्लेख नहीं है, किंतु देवों की अवबोधोद्धारक सहभागिता का पक्ष प्रस्तुत हुआ

है। प्राकृतिक वातावरण और मानवीय-क्रियाकलापों में देव सहयोगी और सहभागी हो सकते हैं। इससे आत्म-कर्तृत्व का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। प्राकृतिक वातावरण में देवों का कर्तव्य भी हो सकता है। इसी प्रकार देव भी वर्षा और अन्य पौद्गलिक परिवर्तन करने में सक्षम हैं। इन्द्र और असुरकुमार देवों के द्वारा वृष्टि करने का उल्लेख प्रस्तुत आगम में अन्यत्र भी मिलता है।^२

२७८. सेवं भन्ते! सेवं भन्ते! त्ति ॥

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति।

२७८. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है।

१. भ. १४/११७-१२।

२. वही, १४/२१-२४।

नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

२७६. रायगिहे जाव एवं वयासी—कइविहे णं भन्ते! इंदियविसए पण्णत्ते?

गोयमा! पंचविहे इंदियविसए पण्णत्ते, तं जहा—सोतिंदियविसए चकिंखदियविसए घाणिंदियविसए रसिंदियविसए फासिंदियविसए। जीवाभिगमे जोइसियउद्देशओ नेयव्वो अपरिसेसो॥

राजगृहे यावद् एवमवादीत्—कर्त्तविधः भदन्त! इन्द्रियाविषयः प्रज्ञप्तः?

गौतम! पंचविधः इन्द्रियविषयः प्रज्ञप्तः, तद् यथा—श्रोत्रेन्द्रियविषयः चक्षुरिन्द्रियविषयः घ्राणेन्द्रियविषयः रसनेन्द्रियविषयः स्पर्शनेन्द्रियविषयः। जीवाभिगमे ज्योतिष्कोद्देशकः नेतव्यः अपरिशेषः।

२७६. राजगृह नगर में भगवान् गौतम भगवान् महार्थीय की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भन्ते! इन्द्रियों के विषय कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं?

गौतम! इन्द्रियों के विषय पाच प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय, चक्षुरिन्द्रिय-विषय, घ्राणेन्द्रिय-विषय, रसनेन्द्रिय-विषय और स्पर्शनेन्द्रिय-विषय। जीवाभिगम में ज्योतिष्क-सम्बन्धी उद्देशक यदा अविकल रूप से ज्ञातव्य है।

दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

२८०. रायगिहे जाव एवं बयासी—चमरस्स
णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो कइ
परिसाओ पणत्ताओ?
गोयमा! तओ परिसाओ पणत्ताओ, तं
जहा—समिया, चंडा, जाया। एवं जहाणु-
पुव्वीए जाव अच्चुओ कप्पो ॥

२८१. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति ॥

राजगृहे यावद् एवमवादीव—चमरस्य भदन्त!
असुरेन्द्रस्य असुरराजस्य क्रांत परिषदः
प्रज्ञप्ताः?
गौतम! तिस्रः परिषदः प्रज्ञप्ताः, तद्
यथा—शर्मिता, चण्डा, जाता। एवं यथानुपूर्व्या
यावद् अच्युतः कल्पः।

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त! इति।

२८०. राजगृह नगर में भगवान गौतम भगवान
महावीर से इस प्रकार बोले—भन्ते! असुरेन्द्र
असुरराज चमर के कितनी परिषदें प्रज्ञप्त हैं:
गौतम! तीन परिषदें प्रज्ञप्त हैं, जैसे—शर्मिता,
चण्डा और जाता। इस प्रकार क्रमशः अच्युतकल्प
तक ज्ञानव्य है।

२८१. भन्ते! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही
है।

चउत्थं सतं

चौथा शतक

आमुख

तीसरे शतक में शक्र के लोकपालों का वर्णन किया गया। प्रस्तुत शतक में ईशानेन्द्र के लोकपालों का संक्षिप्त निरूपण है। लोकपाल केवल भवनपति और वैमानिक देवनिकायों में होता है।^१ व्यन्तर और ज्योतिष्क देव-निकायों में वे नहीं होते। शक्र के लोकपालों की भांति ईशानेन्द्र के लोकपालों का भी मनुष्य-लोक से संबंध रहता है।

प्रस्तुत शतक का आकार बहुत छोटा है। इसके उद्देशक दस हैं। उनका विषय बहुत ही संक्षिप्त है। प्रथम आठ उद्देशक लोकपालों से संबंधित हैं। शेष दो उद्देशक पण्णवणा के लिए समर्पित हैं।

अर्पणा की पद्धति ने कुछ प्रश्न उत्पन्न किए हैं। क्या अर्पित विषय पहले भगवई में थे अथवा पण्णवणा में अथवा दोनों में? यदि भगवई में होते तो उन्हें पण्णवणा के लिए अर्पित नहीं किया जाता। यदि पण्णवणा में थे तो उनका भगवई में प्रक्षेप किया गया है। यदि दोनों में थे तो भगवई का पाठ पण्णवणा के लिए अर्पित क्यों? इन प्रश्नों का निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है। एक अनुमान किया जा सकता है कि भगवई अंगप्रविष्ट सूत्र है, पण्णवणा अंगबाह्य सूत्र है। स्वतः प्रामाण्य अंगप्रविष्ट सूत्रों का होता है। अंगबाह्य सूत्रों का प्रामाण्य परतः होता है। पण्णवणा की रचना श्यामाचार्य ने की। उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि के लिए भगवई में उसके विषय संदृब्ध किए गए। जीवाजीवाभिगमे, जुंबुद्धीवपण्णती आदि के पाठ भी भगवई में प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं।

भगवई पूर्ववर्ती रचना है तथा पण्णवणा, जीवाजीवाभिगमे, जुंबुद्धीवपण्णती आदि उत्तरवर्ती रचनाएं हैं। पूर्ववर्ती रचना में उत्तरवर्ती रचना के समर्पण-सूत्र का होना संभव नहीं। देवर्द्धिगणी ने वाचना के समय आगम के संस्करण निर्धारित किए, उस समय भगवई में उत्तरवर्ती आगमों के पाठों का प्रक्षेप किया है। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

‘संसारमंडलं नेयव्वं’^२ — इस संक्षिप्त पाठ का मूल आधार समवाओ है।^३

समवाओ में भी यह पाठ प्रथमानुयोग से संग्रहित किया गया प्रतीत होता है। कालकाचार्य ने लोकानुयोग और गण्डिकानुयोग की रचना की थी।^४ नंदी में अनुयोग के दो प्रकार बताए गए हैं—मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग।^५ मूलप्रथमानुयोग में तीर्थकरों का जीवन-चरित वर्णित है। गण्डिकानुयोग में कुलकर आदि का वर्णन है।^६ कसायपाहुड के अनुसार दृष्टिवाद के पांच अर्थाधिकारों में तीसरा अर्थाधिकार प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोग के चौबीस अर्थाधिकार हैं। तीर्थकर के पुराणों में सब पुराणों का अन्तर्भाव होता है, इसलिए उसमें गण्डिकानुयोग का पृथक् उल्लेख नहीं है।^७ मुनि कल्याणविजयी ने नंदी में आए हुए ‘मूल’ शब्द के आधार पर दो प्रथमानुयोग की संभावना की—नंदी सूत्र में मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग का उल्लेख मिल रहा है। वहां प्रथमानुयोग के साथ लगा हुआ ‘मूल’ शब्द नंदी के रचनाकाल में दो प्रथमानुयोगों के अस्तित्व की गूढ सूचना देता है।^८ कालकाचार्य ने अनुयोग की रचना की। उज्जैनी के शिष्यों ने उनके अनुयोग को मान्य नहीं किया। तब वे अपने प्रशिष्य सागर नामक श्रमण के पास सुवर्णभूमि में गए। वहां उनके अनुयोग मान्य हुए।^९

उक्त संदर्भों के आधार पर इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि ‘संसारमंडलं’ जैसे उत्तरवर्ती अनुयोग-सूत्रों की प्रामाणिकता के लिए अंगप्रविष्ट आगमों में उनका प्रक्षेप किया गया। यह प्रक्षेप क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणी ने संकलनकाल में किया अथवा उनके परवर्ती किसी समर्थ आचार्य ने किया, इस विषय में अन्वेषण होना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार भगवई का वर्तमान आकार अनेक आगमों के संग्रहण और संकल्प से समृद्ध बना है। प्रस्तुत शतक को इतना छोटा आकार देने के पीछे आगमकार अथवा संकलनकार का क्या दृष्टिकोण रहा है, यह और अधिक गहराई से अन्वेषणीय है।

१. त. सू. ४/५- त्रायसिंश्लोकपालवर्जा व्यन्तरज्योतिष्काः।

२. म. ५/१२२।

३. सम. प. २२६-२४७।

४. पञ्चकल्पभाष्य, सुवर्णभूमि में कालकाचार्य, पृ. ६, ७।

५. नंदी, सू. ११९।

६. नंदी, सू. १२०, १२१।

७. क. पा. पृ. १४१, १५०, सू. ११५—दिष्टिवादे षं च अन्थाहियाग—परियम्पं सुत्तं

पदमाणिअंगो पुब्बगयं चूलया चेदि।

पदमाणिओए चउवीस अन्थाहियाग तिथयएगुराणंसु सन्नपुराणाणमंतभावोदी।

८. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य, पृ. २५।

९. वृ. क. भा. भाग १ (पीठिका), पृ. ७३, भाष्य गथा १३५—

सागारियमप्राहण, सुतत्सुयमिस्सखंतलवखेण।

कहणा सिस्सापमणं, धूत्ती पुज्जोवमाणं च ॥

तथा मलयगिरिवृत्ति, वृ. क. भा. भाग २ (पीठिका), पृ. ७३, ७४।

चउत्थं सतं : चौथा शतक

पढमो, बिइओ, तइयो, चउत्थो उद्देशो : पहला, दूसरा, तीसरा और चौथा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाथा

चत्तारि विमाणेहिं
चत्तारि यं होंति रायहाणीहिं।
नेरइए लेस्साहि य,
दस उद्देशा चउत्थसए ॥१॥

संग्रहणी गाथा

चत्वारो विमानैः
चत्वारश्च भवन्ति राजधानीभिः।
नैरयिको लेश्याभिश्च,
दश उद्देशाश्चतुर्थशते ॥१॥

संग्रहणी गाथा

चार विमान, चार राजधानियां, नैरयिक और लेश्या
— चौथे शतक में ये दस उद्देशक हैं।

१. रायगिहे नगरे जाव एवं वयासी—ईसाणस्स
णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो कइ लोगपाला
पण्णत्ता?
गोयमा! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा
—सोमे, जमे, वेसमणे, वरुणे ॥

राजगृहे नगरे यावद् एवमवादीद् — ईशा-
नस्य भदन्त! देवेन्द्रस्य देवराजस्य कति
लोकपालाः प्रज्ञप्ताः?
गौतम! चत्वारः लोकपालाः प्रज्ञप्ताः, तद्
यथा—सोमः, यमः, वैश्रवणः, वरुणः।

१. राजगृह नगर में भगवान गौतम भगवान महावीर की
पर्युसराणा करते हुए इस प्रकार बोले— भंते! देवेन्द्र
देवराज ईशान के कितने लोकपाल प्रज्ञप्त हैं?
गौतम! चार लोकपाल प्रज्ञप्त हैं, जैसे सोम, यम,
वैश्रवण और वरुण।

२. एएसि णं भंते! लोगपालाणं कइ विमाणा
पण्णत्ता?
गोयमा! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—
सुमणे, सव्वओभदे, वण्णू, सुवण्णू ॥

एतेषां भदन्त! लोकपालानां कति विमा-
नानि प्रज्ञप्तानि?
गौतम! चत्वारि विमानानि प्रज्ञप्तानि, तद्
यथा—सुमनः, सर्वतोभद्रः, वल्गु, सुव-
ल्गु।

भंते! इन लोकपालों के कितने विमान प्रज्ञप्त हैं?
गौतम! इनके चार विमान प्रज्ञप्त हैं, जैसे— सुमन,
सर्वतोभद्र, वल्गु और सवल्गु।

३. कहिं णं भंते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो
सोमस्स महारण्णो सुमणे नामं महाविमाणे
पण्णत्ते?
गोयमा! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वथस्स
उत्तरे णं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव
ईसाणे नामं कप्पे पण्णत्ते। तत्थ णं जाव पंच
वडेंसया पण्णत्ता, तं जहा—अंकवडेंसए,
फलिहवडेंसए, रयणवडेंसए, रूववडेंसए,
मज्जे ईसाणवडेंसए ॥

कुत्र भदन्त! ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य
सोमस्य महाराजस्य सुमनः नाम महाविमानं
प्रज्ञप्तम् ?
गौतम! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरे
अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः यावद्
ईशानः नाम कल्पः प्रज्ञप्तः। तत्र यावत् पञ्च
अवतंसः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अंकावतं-
सकः, स्फटिकावतंसकः, रत्नावतंसकः,
जातरूपावतंसकः। मध्ये ईशानावतंसकः।

भंते! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल महाराज सोम
का सुमन नाम का महाविमान कहां प्रज्ञप्त है?
गौतम! जम्बूद्वीप दीप में मेरु पर्वत के उत्तर में इस
रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रायः समतल और रमणीय भू-
भाग से ऊपर यावत् ईशान नाम का कल्प प्रज्ञप्त है।
वहां पांच अवतंसक प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अंकाव-
तंसक, स्फटिकावतंसक, रत्नावतंसक, जातरूपाव-
तंसक और मध्य में ईशानावतंसक।

४. तस्स णं ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स
पुरत्थिमे णं तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसह-
स्साइं वीईवइत्ता, एत्थ णं ईसाणस्स देविं-

तस्य ईशानावतंसकस्य महाविमानस्य
पौरस्त्ये तिर्यग् असंख्येयानि योजसहस्राणि
व्यतिव्रज्य अत्र ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-

४. उस ईशानावतंसक महाविमान के पूर्व में तिरछी दिशा
में असंख्य हजार योजन जाने पर देवेन्द्र देवराज ईशान
के लोकपाल महाराज सोम का सुमन नाम का

दस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाभं
महाविमाणे पण्णत्ते अद्धतेरसज्जोथणस-
यसहस्साइं, जहा सक्कस्स वत्तवव्या तइय-
सए तहा ईसाणस्स वि जाव अच्चणिया
समत्ता।।

५. चउण्हं वि लोमपालाण विमाणे-विमाणे
उद्देसओ चऊसु वि विमाणेसु चत्तारि उद्देसा
अपरिसेसा, नवरं—ठिईए माणत्तं—

संग्रहणी गाथा

आदि दुय तिभागूणा,
पलिय धणयस्स होंति दो चेवा ।
दो सतिभागा वरुणे,
पलियमहावच्चदेवाणं।।१।।

जस्य सोमस्य महाराजस्य सुमनो नाम महा-
विमानं प्रज्ञप्तम् अर्द्धत्रयोदशयोजनशत-
सहस्राणि, यथा शक्रस्य वक्तव्यता तृतीयशते
ईशानस्यापि यावद् अर्चनिका समाप्ता ।

चतुर्णाभिप लोकपालानां विमाने-विमाने
उद्देशकः, चतुर्षु अपि विमानेषु चत्वारः
उद्देशाः अपरिशेषाः नवरं—स्थितौ नाना-
त्वम्—

संग्रहणी गाथा

आद्यौ द्वौ त्रिभागोनौ
पत्योपमौ धनदस्य भवतः दो चैव ।
द्वौ सत्रिभागो वरुणे,
पत्योपमं यथापत्यदेवानाम्।।

महाविमान प्रज्ञप्त है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई साढे
बारह लाख योजन है। तीसरे शतक में शुक्र की जैसी
वक्तव्यता है वैसी ही वक्तव्यता यावत् अर्चनिका
तक ईशान की भी है।

५. चारों ही लोकपालों के प्रत्येक विमान का एक-
एक उद्देशक अविकल रूप से ज्ञातव्य है, केवल
उनकी स्थिति में नानात्व है—

संग्रहणी गाथा

प्रथम दो लोकपालों की स्थिति एक तिहाई भाग
क्रम दो पत्योपम की है। धनद (वेश्रवण) लोकपाल
की स्थिति दो पत्योपम की है और वरुण की स्थिति
एक तिहाई भाग अधिक दो पत्योपम ($2\frac{1}{3}$) की
है। लोकपालों के पुत्र-रूप में पहचाने जाने वाले
देवों की स्थिति एक पत्योपम की है।

पंचमो, छट्टो, सत्तमो, अट्टमो उद्देशो : पांचवा, छट्टा, सातवां और आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

६. रायहाणीसु वि चत्तारि उद्देशा भाणियव्वा
जाव एमहिद्धीए जाव वरुणे महाराया ॥

राजधानीष्वपि चत्वारः उद्देशाः भणितव्याः
यावद् इयन्महर्षिकः यावद् वरुणः महाराजः।

६. राजधानी के भी चार उद्देशक ज्ञातव्य हैं यावत्
महाराज वरुण ऐसी महान् ब्रह्मि वाला है।

नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

७. नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जइ? अनेरइए
नेरइएसु उववज्जइ?
पण्णवणाए लेस्सापए तइओ उद्देशओ
भाणियव्वो जाव नाणाइं ॥

नैरयिकः भदन्त! नैरयिकेषु उपपद्यते? अनै-
रयिकः नैरयिकेषु उपपद्यते?
प्रज्ञापनायाः लेश्यापदे तृतीयः उद्देशकः
भणितव्यः यावज् ज्ञानानि ।

७. भंते! क्या नैरयिक नैरयिकों में उपपन्न होता है
अथवा अनैरयिक नैरयिकों में उपपन्न होता है?
यहां पण्णवणा के लेश्या-पद का तीसरा उद्देशक
ज्ञान के प्रकरण तक वक्तव्य है।

दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

८. से नूनं भंते! कण्हेस्सा नीललेस्सं पप्प
तारूवत्ताए, तावण्णत्ताए, तागंधत्ताए,
तारसत्ताए, ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो
परिणमति?

हंता गीयमा! कण्हेस्सा नीललेसं पप्प
तारूवत्ताए, तागंधत्ताए, तारसत्ताए,
ताफासत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति! एवं
चउत्थो उद्देशओ पण्णवणाए चेव लेस्सापदे
नेयव्वो जाव —

तनूनं भदन्त! कृष्णलेश्या नीललेश्यां प्राप्य
तद्रूपतया तद्वर्णतया तद्गन्धतया तद्रसतया
तत्स्पर्शतया भूयोभूयः परिणमति?

हन्त गौतम! कृष्णलेश्या नीललेश्यां प्राप्य
तद्रूपतया, तद्वर्णतया, तद्गन्धतया, तद्रस-
तया, तत्स्पर्शतया भूयोभूयः परिणमति।
एवं चतुर्थः उद्देशकः प्रज्ञापनायाश्चैव
लेश्यापदे नेतव्यः, यावत्—

८. 'भंते! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या के योग्य पुद्गलों
को प्राप्त कर उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में
बार-बार परिणत होती है?

हां गौतम! कृष्णलेश्या के योग्य पुद्गलों को प्राप्त कर
उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में बार-बार
परिणत होती है। इस प्रकार पणवणा के लेश्या-पद का
चौथा उद्देशक ज्ञातव्य है यावत् —

संग्रहणी गाथा

परिणाम-वर्ण-रस-गंध-शुद्ध-अप्रशस्तसंकि-
लिङ्गुण्हा।
गइ-परिणाम-पएसोगाह-वग्गणाठाणमप्पब-
हुं॥१॥

संग्रहणी गाथा

परिणाम-वर्ण-रस-गंध-शुद्धाप्रशस्तसं-
क्लिष्टोष्णाः।
गति-परिणाम-प्रदेशावगाहवर्गणास्थाना-
ल्पबहुत्वम् ॥

संग्रहणी गाथा

परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट,
उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान
और अल्पबहुत्व।

भाव्य

१. सूत्र ८

भावधारा में परिवर्तन होता रहता है। उसके अनुसार लेश्या और
आभामण्डल में भी परिवर्तन होता है। जैसे सफेद वस्त्र रंग का योग पाकर

नील, रक्त या पीत बन जाता है, वैसे ही कृष्ण लेश्या नील आदि लेश्या के
पुद्गलवर्गणा का योग पाकर नील, कापोत आदि लेश्याओं में परिणत हो
जाती है।

९. सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

९. भंते ! वह ऐसा ही है, भंते ! वह ऐसा ही है।

पंचमं सतं

पांचवां शतक

आमुख

प्रस्तुत शतक का प्रारम्भ दिन-रात के कालमान से होता है। यह ज्योतिश्चक्र का विषय है। दिन और रात की अवधि न्यूनतम १२ मुहूर्त (=९ घंटा, ३६ मिनट) और अधिकतम १८ मुहूर्त (= १४ घंटा, २४ मिनट) बतलाई गई है, वह क्षेत्र-सापेक्ष है। यह नियम भारत में लागू होता है, किन्तु यूरोप, अमेरिका, दक्षिणी ध्रुव आदि प्रदेशों में लागू नहीं होता।

जैन खगोल के अनुसार मनुष्यलोक में सौरमण्डल गतिशील है। उससे आगे वह अवस्थित है। वहां दिन और रात का परिवर्तन नहीं है—जहां दिन है, वहां दिन है, जहां रात है, वहां रात है।

वैशेषिक दर्शन में सृष्टि और प्रलय का सिद्धान्त मान्य है। सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है। सृष्टि के पश्चात् प्रलय और प्रलय के पश्चात् सृष्टि होती रहती है। सृष्टि-रचना के काल में चार भूतों के परमाणु फिर संहत हो जाते हैं। प्रलयकाल में परमाणु बिखर जाते हैं। आत्मा, परमाणु, काल, दिक् और आकाश—ये प्रलयकाल में भी बने रहते हैं।

जैन दर्शन में सृष्टि और प्रलय दोनों मान्य नहीं है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी की सृष्टि और प्रलय से आंशिक रूप में तुलना की जा सकती है। अवसर्पिणी का छठा अर प्रलयकाल जैसा है। उत्सर्पिणी के दूसरे अर से विकास की प्रक्रिया शुरू होती है। यह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का क्रम कालचक्र कहलाता है। अवसर्पिणी के पश्चात् उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के पश्चात् अवसर्पिणी होती रहती है। यह कालचक्रगत परिवर्तन केवल पांच भरत और पांच ऐरावत में होता है।^१

जैन दर्शन परिणामि-नित्यवादी है। द्रव्य का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, इस अर्थ में वह नित्यवादी है। द्रव्य में परिणामन होता रहता है, इस अर्थ में वह परिणामवादी है। द्रव्य और परिणामन को पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः उसे परिणामि-नित्यवाद का सिद्धान्त मान्य है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए 'किंशरीरत्व' का पाठ^२ एक निदर्शन है। चावल वनस्पति-जीव का शरीर है। अग्नि पर पका लेने के पश्चात् वह अग्नि-जीव का शरीर हो जाता है। पूर्व परिणाम में वह वनस्पति-जीव-शरीर था, उत्तर परिणाम में वह अग्नि-जीव-शरीर हो गया। उत्तर परिणाम में पूर्व परिणाम नहीं रहता। परिणाम का फल है—भावान्तर हो जाना।^३ लोहा पृथ्वी-जीव का शरीर है।^४ हड्डी त्रस जीव का शरीर है।^५ अग्निस्नात होने पर वे अग्नि-शरीर हो जाते हैं।

प्रस्तुत शतक में छद्मस्थ और केवली का ज्ञान, आचरण- और जीवनचर्या-विषयक अन्तर बहुत सरल पद्धति से समझाया गया है।^६ छद्मस्थ और केवली जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। केवलज्ञान ज्ञान का प्रकर्ष-बिन्दु है। उसकी उपलब्धि होने पर मनुष्य केवली बनता है। छद्मस्थ वीतराग हो सकता है। किन्तु उसका छद्म-आवरण विलीन नहीं होता, इसलिए वह ज्ञान के चरमबिन्दु तक नहीं पहुंच सकता। सांख्य दर्शन में कैवल्य शब्द का प्रयोग मिलता है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार केवल चितिशक्ति रहती है, उसका बुद्धि के साथ संबंध शून्य हो जाता है, उस अवस्था का नाम कैवल्य है।^७

'क्रिया' जैन आचार का प्रमुख विषय है। प्रस्तुत शतक में क्रय-विक्रय आदि अनेक संदर्भों में उसकी चर्चा की गई है।^८ क्रियावाद के सिद्धान्त पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जिन जीवों के शरीर से धनुष्य का निर्माण हुआ, धनुष्य के प्रयोगकाल में वे जीव भी चार क्रिया से स्पृष्ट होते हैं। यह हिंसाविषयक चिन्तन का अतिसूक्ष्म बिन्दु है।

१. भ. ५/२७—जया ण भंते ! दाहिणइहे पट्ठा ओसपिणी, तथा णं उत्तरइहे वि, जया णं उत्तरइहे, तथा णं धायइसंढे दीवे मंदराणं पन्वयाणं पुरत्थिम-पन्नत्थिमे णं नत्थि ओसपिणी जाव समणाउसो?

हंता गोयभा ! जाव समणाउसो।

द्रष्टव्य—५/१९, २९।

२. भ. ५/५१।

३. त. सू. भा. वृ. ५/२६—पूर्वपरिणामोपमर्देन उत्तरपरिणामभवनम्, तस्मिञ्चोत्तरपरिणामे

पूर्वपरिणामस्यासम्भव एव भावान्तगायतिफलत्वात् परिणामस्य ।

४. भ. ५/५२।

५. भ. ५/५३।

६. भ. ५/६४-७५, ९४-१०२, १०८-१११।

७. पा. यो. द. ४/३४—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

८. भ. ५/१२८-१३५।

परमाणुवाद के प्रवर्तक के रूप में भारतीय दार्शनिकों में कणाद और पाश्चात्य दार्शनिकों में डेमोक्रीटस का नाम उल्लिखित होता है। डेमोक्रीटस का अस्तित्वकाल ईसा पूर्व ४६०-३७० माना जाता है। कणाद के वैशेषिक सूत्रों की रचना का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना जाता है। भगवान् महावीर का अस्तित्वकाल ईसा पूर्व ५९९-५२७ है। महावीर का परमाणुवाद अथवा पुद्गलवाद कणाद और डेमोक्रीटस से पूर्ववर्ती है, किन्तु दर्शन-साहित्य के लेखकों ने इस सच्चाई की उपेक्षा की। इसका हेतु पक्षपातपूर्ण दृष्टि है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका मूल हेतु जैन साहित्य की अनुपलब्धि अथवा उसका अध्ययन न होना ही है। परमाणु अविभाज्य है— इस सिद्धान्त में जैनदर्शन और वैशेषिक दर्शन एकमत हैं। परमाणु निरवयव है— इस विषय में उन दोनों में मतभेद है। जैन दर्शन में द्रव्य परमाणु को निरवयव और भाव परमाणु को सावयव माना गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु निरवयव होता है।

वैशेषिक दर्शन में परमाणु के चार वर्गीकरण मिलते हैं— पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय। जैन दर्शन में पुद्गल-स्कन्ध के आठ वर्गीकरण उपलब्ध हैं— १. औदारिक वर्गणा २. वैक्रिय वर्गणा ३. आहारक वर्गणा ४. तैजस वर्गणा ५. कर्मण वर्गणा ६. मनो वर्गणा ७. वचन वर्गणा ८. श्वासोच्छ्वास वर्गणा।

परमाणुवाद पुद्गलवाद का एक भाग है। जैन दर्शन में जीव और पुद्गल के संबंध का व्यापक विवेचन है।^१

जीव बढ़ते हैं, घटते हैं अथवा जितने हैं, उतने ही रहते हैं— यह मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा रही है। भगवान् महावीर ने इस जिज्ञासा का समाधान विभज्यवादी दृष्टिकोण से किया है।^२

जैनदर्शन में अंधकार को पौद्गलिक माना है।^३ उत्तरवर्ती दार्शनिक साहित्य में यह विषय चर्चित रहा है। अंधकार प्रकाश का अभाव है।^४ जैन दार्शनिक इससे सहमत नहीं रहे। उन्होंने अंधकार के पौद्गलिकत्व का युक्तिपूर्ण समर्थन किया।

भगवान् महावीर के समय में भी भगवान् पार्श्व का शासन चल रहा था। भगवान् महावीर के तीर्थ-प्रवर्तन के पश्चात् समय-समय पर पार्श्वपत्नीय (पार्श्व-शासन के मुनि) महावीर अथवा उनके शिष्यों के पास आते रहते थे। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के प्रति बहुत सम्मान प्रदर्शित करते थे। भगवान् ने पार्श्वपत्नीय स्थविरों के सम्मुख अर्हत् पार्श्व द्वारा सम्मत लोकविषयक अवधारणा प्रस्तुत की और उसे अपना समर्थन दिया।^५

प्रस्तुत शतक दस उद्देशकों में विभक्त है। प्रत्येक उद्देशक मननीय सामग्री से परिपूर्ण है।

१. स्याद्वादमंजरी, पृ. ३३०— युई (11) वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति बुद्ध के समय और कम से कम ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त में वैशेषिक सूत्रों की रचना का समय मानते हैं।

२. भ. ५/२०८-२३३।

३. इसका कुछ विवेचन भ. १/३१२, ३१३ में हो चुका है।

४. भ. ५/२३७, २३८।

५. वै. सू. १५/२/१९— द्रव्यगुणकर्मनिर्णयवैधर्म्यादभावस्तमः।

६. भ. ५/२५४, २५५।

पंचमं सतं : पांचवा शतक

पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाहा

१. चंप-रवि २. अनिल ३. मंठिय
४. सदे ५-६. छउमाउ ७. एयण ८. नियंठे ।
९. रायगिहं १०. चंपा-
चंदिमा य दस पंचममि सए ॥१॥

संग्रहणी गाथा

१. चम्पा-रवि: २. अनिलो ३. ग्रंथिका
४. शब्द: ५-६. छद्वायु: ७. एजनं ८. निर्ग्रन्थ:।
९. राजगृहम् १०. चम्पा-
चन्द्रमा: च दश पञ्चमे शते ॥१॥

संग्रहणी गाथा

पांचवे शतक के दस उद्देशक हैं— चम्पानगरी में सूर्य, वायु, ग्रन्थिक, शब्द, छद्मस्थ, आयु, एजन, निर्ग्रन्थ, राजगृह और चम्पानगरी में चन्द्रमा।

जंबुद्वीवे सूरिय-वक्तव्यया-पदं

१. तेषां कालेणं तेषां समएणं चंपा नामं नगरी
होत्था—वण्णओ ॥

२. तीसे णं चंपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामं चेइए
होत्था— वण्णओ। सामी समोसढे जाव
परिसा षडिगया ॥

३. तेषां कालेणं समएणं समणस्स भगवओ
महावीरस्स जेहे अन्तेवासी इंदभूई नामं अण-
गारे गोयमे गोत्तेणं जाव एवं वयासी—
जंबुद्वीवे णं भंते! दीवे सूरिया उदीणपाई-
णमुग्गच्छ पाईण-दाहिणमागच्छंति, पाईण-
दाहिणमुग्गच्छ दाहिण-पडीणमागच्छंति,
दाहिण-पडीणमुग्गच्छ पडीण-उदीणमाग-
च्छंति, पडीण-उदीणमुग्गच्छ उदीचि-
पाईणामागच्छंति?

हंता गोयमा! जंबुद्वीवे णं दीवे सूरिया
उदीणपाईणमुग्गच्छ जाव उदीचिपाईण-
मागच्छंति ॥

जम्बूद्वीपे सूर्य-वक्तव्यता-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी
आसीत्—वर्णकः ।

तस्यां चम्पायां नगर्यां पूर्णभद्रं नाम चैत्यम्
आसीद्—वर्णकः । स्वामी समवसृतः
यावत् परिषत् प्रतिगता ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्स
भगवतो महावीरस्स ज्येष्ठः अन्तेवासी
इन्द्रभूतिः नाम अनगारः गौतमः गोत्रेण
यावद् एवमवादीद्—जम्बूद्वीपे भदन्त!
द्वीपे सूर्यो उदीचीन-प्राचीनम् उद्गत्य
प्राचीन-दक्षिणम् आगच्छतः, प्राचीन-
दक्षिणम् उद्गत्य दक्षिण-प्रतीचीनम्
आगच्छतः, दक्षिण-प्रतीचीनम् उद्गत्य
प्रतीचीन-उदीचीनम् आगच्छतः, प्रती-
चीन-उदीचीनम् उद्गत्य उदीचीन-प्राची-
नम् आगच्छतः।

हन्त गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे सूर्यो उदी-
चीन-प्राचीनम् उद्गत्य यावद् उदीचीन-
प्राचीनम् आगच्छतः।

जम्बूद्वीप में सूर्य की व्यक्तव्यता का पद

१. उस काल और उस समय चम्पा नाम की नगरी थी—
वर्णनवाची आलापका।

२. उस चम्पा नगरी में पूर्णभद्र नाम का चैत्य था—
वर्णनवाची आलापका भगवान महावीर पधारे यावत्
परिषद् लौट गई।

३. 'उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर
के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामक
अनगार यावत् इस प्रकार बोले—भंते! इस जम्बूद्वीप
द्वीप में दो सूर्य उत्तर और पूर्व के मध्य उदित हो कर
पूर्व और दक्षिण के मध्य आते हैं। पूर्व और दक्षिण
के मध्य उदित हो कर दक्षिण और पश्चिम के
मध्य आते हैं। दक्षिण और पश्चिम के मध्य उदित
हो कर पश्चिम और उत्तर के मध्य आते हैं।
पश्चिम और उत्तर के मध्य उदित हो कर उत्तर
और पूर्व के मध्य आते हैं?

हां, गौतम ! जम्बूद्वीप द्वीप में दो सूर्य उत्तर और पूर्व
के मध्य उदित हो कर यावत् उत्तर और पूर्व के
मध्य आते हैं।

हंता गोयमा ! जाव भवइ।

हन्त गौतम ! यावद् भवति।

हां, गौतम ! यह सब ऐसा ही है।

८. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे दाहिणद्धे अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ, तथा णं उत्तरद्धे वि अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ; जया णं उत्तरद्धे अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ, तथा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राई भवइ?

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्धे अष्टा-दशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति, तदा उत्तरार्धे अपि अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति? यदा च उत्तरार्धे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्य-पश्चिमे सातिरेका द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः भवति?

८. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरुपर्वत के दक्षिणार्द्ध भाग में अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है, उस समय उत्तरार्द्ध भाग में भी अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है? जिस समय उत्तरार्द्ध भाग में अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है, उस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व-पश्चिम भाग में बारह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि होती है?

हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्वीवे जाव राई भवइ ॥

हन्त गौतम ! यदा जम्बूद्वीपे यावद् रात्रिः भवति।

हां, गौतम ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में यावत् बारह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि होती है।

९. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ, तथा णं पच्चत्थिमे वि अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ; जया णं पच्चत्थिमे अट्टारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवइ, तदा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणे णं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राई भवइ?

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति, तदा पश्चिमेऽपि अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति? यदा पश्चिमे अष्टादशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः भवति, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तर-दक्षिणे सातिरेका द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः भवति?

९. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरुपर्वत के पूर्व भाग में अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है, उस समय पश्चिम भाग में भी अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है? जिस समय पश्चिम भाग में अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है, उस समय पश्चिम भाग में अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन होता है, उस समय जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के उत्तर और दक्षिण भाग में बारह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि होती है?

हंता गोयमा ! जाव भवइ ॥

हन्त गौतम ! यावद् भवति।

हां, गौतम ! यह सब ऐसा ही है।

१०. एवं एणं कमेणं ओसारेयव्वं—सत्तर-समुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राई। सत्तर-समुहुत्ताणंतरे दिवसे, साइरेगा तेरसमुहुत्ता राई। सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोदसमुहुत्ता राई। सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, साइरेगा चउदसमुहुत्ता राई। पण्णरसमुहुत्ते दिवसे, पण्णरसमुहुत्ता राई। पण्णरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, साइरेगा पण्णरसमुहुत्ता राई। चोदसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राई। चोदसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, साइरेगा सोलसमुहुत्ता राई। तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राई। तेरस-समुहुत्ताणंतरे दिवसे, साइरेगा सत्तरसमुहुत्ता राई ॥

एवमनेन क्रमेण अवसारयितव्यम्—सप्त-दशमुहूर्त्तः दिवसः, त्रयोदशमुहूर्त्ता रात्रिः। सप्तदशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः, सातिरेका त्रयोदशमुहूर्त्ता रात्रिः। षोडशमुहूर्त्तः दिवसः, चतुर्दशमुहूर्त्ता रात्रिः। षोडशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः, सातिरेका चतुर्दशमुहूर्त्ता रात्रिः। पञ्चदशमुहूर्त्तः दिवसः, पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिः। पञ्चदशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः, सातिरेका पञ्चदशमुहूर्त्ता रात्रिः। चतुर्दशमुहूर्त्तः दिवसः, षोडशमुहूर्त्ता रात्रिः। चतुर्दशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः, सातिरेका षोडशमुहूर्त्ता रात्रिः। त्रयोदशमुहूर्त्तः दिवसः, सप्तदशमुहूर्त्ता रात्रिः। त्रयोदशमुहूर्त्तानन्तरः दिवसः, सातिरेका सप्तदशमुहूर्त्ता रात्रिः।

१०. इस प्रकार इसी क्रम से अवतरित करना चाहिए सत्तरह मुहूर्त्त का दिन और तेरह मुहूर्त्त की रात्रि। सत्तरह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन और तेरह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि। सोलह मुहूर्त्त का दिन और चौदह मुहूर्त्त की रात्रि। सोलह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन और चौदह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि। पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि। पन्द्रह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन और पन्द्रह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि। चौदह मुहूर्त्त का दिन और सोलह मुहूर्त्त की रात्रि। चौदह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन और सोलह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि। तेरह मुहूर्त्त का दिन और सत्तरह मुहूर्त्त की रात्रि। तेरह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला दिन और सत्तरह मुहूर्त्त से कुछ अधिक परिमाण वाली रात्रि।

११. जया णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणइडे जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ, तथा णं उत्तरइडे वि; जया णं उत्तरइडे, तथा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं उक्कोसिया अट्टारस-समुहुत्ता राई भवइ?

हंता गोयमा ! एवं चेव उच्चारयेव्वं जाव राई भवइ ॥

१२. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवइ, तथा णं पच्चत्थिमे णवि; जया णं पच्चत्थिमे, तथा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेण उक्कोसिया अट्टार-समुहुत्ता राई भवई?

हंता गोयमा ! जाव राई भवइ ॥

यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षि-णाद्धे जघन्यकः द्वादशमुहूर्तः दिवसः भवति, तदा उत्तराद्धेऽपि, यदा उत्तराद्धे, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य पौरस्त्य-पश्चिमे उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्ता रात्रिः भवति।

हंत गौतम ! एवं चैव उच्चारयितव्यं यावद् रात्रिर्भवति।

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये जघन्यकः द्वादशमुहूर्तः दिवसः भवति, तदा पश्चिमेऽपि? यदा पश्चिमे तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य उत्तर-दक्षिणे उत्कर्षिका अष्टादशमुहूर्ता रात्रिः भवति?

हंत गौतम ! यावद् रात्रिः भवति

११. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिणाद्धे भाग में बारह मुहूर्त का जघन्य दिन होता है, उस समय उत्तराद्धे भाग में भी बारह मुहूर्त का दिन होता है? जिस समय उत्तराद्धे भाग में बारह मुहूर्त का दिन होता है, उस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम भाग में अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि होती है?

हां, गौतम ! इस प्रकार पूर्ण पाठ वक्तव्य है यावत् अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि होती है।

१२. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व भाग में बारह मुहूर्त का जघन्य दिन होता है, उस समय पश्चिम भाग में भी बारह मुहूर्त का जघन्य दिन होता है? जिस समय पश्चिम भाग में बारह मुहूर्त का जघन्य दिन होता है, उस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण भाग में अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि होती है?

हां, गौतम ! यावत् अठारह मुहूर्त की उत्कृष्ट रात्रि होती है।

भाष्य

१. सूत्र ३-१२

जंबूद्वीप द्वीप में सूर्य क्रमशः उत्तर पूर्व को जाकर (उदित होकर) पूर्व-दक्षिण को आता है, याने अस्त होता है। पूर्व-दक्षिण से दक्षिण पश्चिम को अस्त होता है। दक्षिण-पश्चिम से पश्चिम-उत्तर को अस्त होता है। पश्चिम-उत्तर से उत्तरपूर्व को अस्त होता है।

दृश्यमान सूर्य जब अदृश्य होता है तब उसे व्यवहार में अस्त कहते हैं। अदृश्य सूर्य जब दृश्य होता है तब उसे उदय कहते हैं।

जंबूद्वीप में दो सूर्य होते हैं। जब एक सूर्य मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में होता है तब दूसरा सूर्य मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा में होता है। उस समय मेरु पर्वत की उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा में दिन होता है। मेरु पर्वत की पूर्व और पश्चिम दिशा में रात्रि होती है। जब मेरु की पूर्व और पश्चिम दिशा में दिन होता है तब उत्तर और दक्षिण दिशा में रात्रि होती है।

उत्कृष्ट दिन १८ मुहूर्त का होता है उस समय रात्रि १२ मुहूर्त की होती है। क्योंकि एक अहोरात्र में ३० मुहूर्त होते हैं। जघन्य दिन १२ मुहूर्त का होता है, तब रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त की होती है। सूर्य ६० मुहूर्त में मंडल को पूरा करता है। उत्कृष्ट दिन १८ मुहूर्त का होता है इसलिए १८ मुहूर्त ६० का $\frac{१८}{६०} = \frac{१}{४}$ भाग होता है। १८ मुहूर्त के दिन के समय जम्बूद्वीप के $\frac{३}{४}$ भाग

को प्रत्येक सूर्य प्रकाशित करता है। जंबूद्वीप की परिधि ३१६२२८ योजन की है। उसका $\frac{३}{४}$ भाग ३१६२२८ $\times \frac{३}{४} = २३७१७१$ योजन होता है। यह ताप क्षेत्र है।

मेरु पर्वत का परिक्षेप ३१६२३ योजन का है। ताप क्षेत्र $\frac{३}{४}$ भाग होता है इसलिए ३१६२३ $\times \frac{३}{४} = २३७१७$ योजन तापक्षेत्र होता है। जघन्य दिन १२ मुहूर्त का होता है, वह ६० मुहूर्त का $\frac{१२}{६०} = \frac{१}{५}$ भाग होता है $\frac{१२}{६०} = \frac{१}{५}$ । जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२८ योजन की है। जघन्य दिन में उसका $\frac{१}{५}$ भाग ३१६२२८ $\times \frac{१}{५} = ६३२४५$ योजन तापक्षेत्र होता है।

मेरु पर्वत का परिक्षेप ३१६२३ योजन का है। जघन्य दिन का तापक्षेत्र ३१६२३ $\times \frac{१}{५} = ६३२४$ योजन होता है। लंबाई से जंबूद्वीप में तापक्षेत्र ४५ हजार योजन का है और लवण समुद्र में ३३३३ $\times \frac{१}{५}$ योजन का है। दोनों का योग करने से ४५००० + ३३३३ $\times \frac{१}{५} = ७८३३३$ योजन का होता है।

जब दिन १८ मुहूर्त का उत्कृष्ट होता है, तब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मंडल में रहता है। जब जघन्य दिन १२ मुहूर्त का होता है, तब वह सर्व बाह्य मंडल में होता है। सर्वाभ्यन्तर मंडल से सूर्य दक्षिण दिशा की ओर गति

प्रारम्भ करता है, तब उसे दक्षिणायन कहते हैं सर्वबाह्य मंडल से सूर्य जब उत्तर दिशा की ओर गति करता है, तब उसे उत्तरायण कहते हैं।

एक अयन में सूर्य को १८३ मंडल पार करना होता है उत्कृष्ट दिन और जघन्य दिन की दूरी १८-१२=६ मुहूर्त्त की होती है। सूर्य १८३ मंडलों में ६ मुहूर्त्त की दूरी पार करता है इसलिए एक मंडल में $\frac{६}{१८३}$ मुहूर्त्त याने $\frac{६}{१८३}$ मुहूर्त्त चलता है।

सर्वाभ्यन्तर मंडल से दूसरे मंडल में सूर्य आता है, तब दिन १८ $\frac{१}{६१} = \frac{१०५९}{६१}$ मुहूर्त्त का हो जाता है। उधर रात्रि १२ + $\frac{१}{६१} = १२ \frac{१}{६१}$ मुहूर्त्त की हो जाती है। जितना दिन घटता है, उतनी ही रात्रि बढ़ती है। क्योंकि दिन का मान और रात्रि का मान का योग ३० मुहूर्त्त होता है। प्रतिदिन $\frac{१}{६१}$ मुहूर्त्त दिन घटता जाता है और रात्रि बढ़ती जाती है। जब दिन १७ मुहूर्त्त का होता है तब रात्रि १३ मुहूर्त्त की होती है। ३० $\frac{१}{६१}$ मंडलों में गति करने से एक मुहूर्त्त घटता या बढ़ता रहता है। ३० $\frac{१}{६१}$ मंडल = $\frac{६१}{६१}$ मंडल। एक मंडल में $\frac{१}{६१}$ मुहूर्त्त घटता है।

$\frac{६१}{६१}$ मंडल में — $\frac{६१}{६१} \times \frac{१}{६१} = १$ मुहूर्त्त घटता है। इस क्रम से जब १७ मुहूर्त्त का दिन होता है तब रात्रि १३ मुहूर्त्त की होती है। जब १६ मुहूर्त्त का दिन होता है, तब रात्रि १४ मुहूर्त्त की होती है। जब १५ मुहूर्त्त का दिन होता है तब रात्रि १५ मुहूर्त्त की होती है। जब १४ मुहूर्त्त का दिन होता है तब रात्रि १६ मुहूर्त्त की होती है। जब १३ मुहूर्त्त का दिन होता है, तब रात्रि १७

मुहूर्त्त की होती है। जब १२ मुहूर्त्त का दिन होता है तब रात्रि १८ मुहूर्त्त की होती है। उत्कृष्ट दिन १८ मुहूर्त्त का और जघन्य दिन १२ मुहूर्त्त का होता है। उसी क्रम में जघन्य रात्रि १२ मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट रात्रि १८ मुहूर्त्त की होती है।

आधुनिक मान्यता के अनुसार पृथ्वी के उत्तर गोलार्द्ध और दक्षिण गोलार्द्ध में दिन रात का परिमाण व्युत्क्रम से चलता है। जिस समय उत्तर गोलार्द्ध में उत्कृष्ट दिन का परिमाण होता है उस समय दक्षिण गोलार्द्ध में उत्कृष्ट रात्रि का परिमाण होता है। उदाहरणार्थ—उत्तर गोलार्द्ध के भारत में जब दिन अठारह मुहूर्त्त का होता है तब दक्षिण गोलार्द्ध के अर्जेन्टिना में रात्रि अठारह मुहूर्त्त परिमाण वाली होती है।

शब्द विमर्श

णवि— यह 'ण' और 'अवि' का संधिनिष्पन्न रूप है।

अनन्तर— सर्वाभ्यन्तर मण्डल के अनन्तर मण्डल में जब सूर्य आता है तब दिन का परिमाण अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम होता है। यह कमी $\frac{१}{६१}$ मुहूर्त्त की होती है। इसलिए 'अठारसमुहुत्ताणंतरे' का तात्पर्य है— अठारह मुहूर्त्त से कुछ कम परिमाण वाला। यहाँ 'अनन्तर' शब्द अनन्तर मण्डल में सूर्य की अवस्थिति को सूचित करने वाला है।^१

१३. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे दाहिणद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, तथा णं उत्तरद्धे वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ; जया णं उत्तरद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, तथा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं पच्चत्थिमे णं अणंतर-पुरक्खडे समयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ?

हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्वीवे दीवे दाहिणद्धे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, तह चेव जाव पडिवज्जइ ॥

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, तदा उत्तरार्द्धेऽपि वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, यदा च उत्तरार्द्धे वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्य-पश्चिमे अनन्तरपुरस्कृते समये वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते?

हन्त गौतम ! यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे दक्षिणार्द्धे वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, तथा चैव यावत् प्रतिपद्यते।

१३. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिणार्द्ध में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है, उस समय उत्तरार्द्ध में भी वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है, जिस समय उत्तरार्द्ध में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है, उस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम भाग में वर्षा के प्रथम समय के अनन्तर आने वाले समय में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है?

हां, गौतम ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिणार्द्ध में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है उस समय यावत् वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है।

१४. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, तथा णं पच्चत्थिमे णवि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ; जया णं पच्चत्थिमे णं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ, तथा णं

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्ये वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, तदा पश्चिमेऽपि वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते; यदा पश्चिमे वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपद्यते, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य

१४. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व भाग में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है, उस समय पश्चिम भाग में भी वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है, जिस समय पश्चिम भाग में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है उस समय जम्बूद्वीप

१. भ. व. ५/८ — 'अठारसमुहुत्ताणंतरे' ति यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलान्तरे मण्डले वर्तते सूर्यस्तदा मुहूर्त्तकषष्टिभागद्वयहीनाष्टादशमुहूर्त्तं दिवसो भवति, स चाष्टादशमुहूर्त्तादिवसादनन्तरोऽष्टादश-मुहूर्त्तानन्तरमिति व्यपदिष्टः।

जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर-
दाहिणे णं अणंतरपच्छाकडसमयंसि
वासाणं पढमे समए पडिवन्ने भवइ?

हंता गोयमा ! जया णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स
पव्वयस्स पुरत्थिमे णं एवं चैव उच्चारयित्वं
जाव पडिवन्ने भवइ।।

पर्वतस्य उत्तर-दक्षिणे अनन्तरपश्चात्-
कृतसमये वर्षाणां प्रथमः समयः प्रतिपन्नः
भवति?

हन्त गौतम ! यदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य
पर्वतस्य पौरस्त्ये एवं चैव उच्चारयितव्यं
यावत् प्रतिपन्नः भवति।।

द्वीप में मेरु पर्वत के उत्तर-दक्षिण भाग में वर्षा के पूर्व
और अपर विदेह की वर्षा के प्रथम समय की अपेक्षा
प्रथम समय के अनन्तर पश्चाद्वर्ती समय में वर्षा का
प्रथम समय प्रतिपन्न होता है?

हां, गौतम ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत
के पूर्व भाग में वर्षा का प्रथम समय प्रतिपन्न
होता है..... इस प्रकार पूर्ण पाठ वक्तव्य है यावत्
प्रथम समय प्रतिपन्न होता है।

१५. एवं जहा समएणं अभिलावो भणिओ
वासाणं तहा आवलियाएवि भाणियव्वो।
आणापाणूणवि, थोवेणवि, लवेणवि,
मुहुत्तेणवि, अहोस्सेणवि, पक्खेणवि,
मासेणवि, उऊणवि। एएसिं सव्वेसिं जहा
समयस्स अभिलावो तहा भाणियव्वो ॥

एवं यथा समयेन अभिलापः भणितः
वर्षाणां तथा आवलिकयापि भणितव्यः।
आनापानाभ्यामपि, स्तोकेनापि, लवे-
नापि, मुहूर्त्तेनापि, अहोरात्रेणापि, पक्षे-
णापि, मासेणापि, ऋतुनापि। एतेषां सर्वेषां
यथा समयस्य अभिलापः तथा भणितव्यः।

१५. इस प्रकार जैसे समय के साथ वर्षा का अभिलाप
कहा गया है, उसी प्रकार आवलिका के साथ भी
वर्षा का अभिलाप वक्तव्य है। आनापान, स्तोक,
लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास और ऋतु— इन
सबके साथ भी समय की भांति ही वर्षा का
अभिलाप वक्तव्य है।

१६. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स
पव्वयस्स दाहिणद्धे हेमंताणं पढमे समए
पडिवज्जइ, जहेव वासाणं अभिलावो तहेव
हेमंताण वि, गिम्हाण वि भाणियव्वो जाव
उऊए। एवं तिण्णि वि। एएसिं तीसं
आलावगा भाणियव्वो।।

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य
पर्वतस्य दक्षिणाद्धे हेमन्तानां प्रथमः
समयः प्रतिपद्यते, यथैव वर्षाणां अभि-
लापः, तथैव हेमन्तानामपि, ग्रीष्माणामपि
भणितव्यो यावद् ऋतोः। एवं त्रयः अपि।
एतेषां त्रिंशद् आलापकाः भणितव्याः।

१६. भंते जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के
दक्षिणाद्धे में हेमन्त का प्रथम समय प्रतिपन्न होता है।
जैसे समय के साथ वर्षा का अभिलाप है वैसे ही
हेमन्त, ग्रीष्म यावत् ऋतु के साथ भी वक्तव्य है। तीन
ऋतुओं में इसी प्रकार वक्तव्य है। इसके तीस
आलापक होते हैं।

जंबुद्वीवे अयणादि-वक्तव्या-पदं

जम्बूद्वीपे अयनादि-वक्तव्यता-पदम्

जम्बूद्वीप में अयनादि की वक्तव्यता का पद

१७. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स
पव्वयस्स दाहिणद्धे पढमे अयणे पडि-
वज्जइ, तथा णं उत्तरद्धे वि पढमे अयणे
पडिवज्जइ, जहा समएणं अभिलावो तहेव
अयणेण वि भाणियव्वो जाव अणंतर-
पच्छाकडसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने
भवइ ॥

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य
दक्षिणाद्धे प्रथमम् अयनं प्रतिपद्यते, तदा
उत्तराद्धेऽपि प्रथमम् अयनं प्रतिपद्यते, यथा
समयेन अभिलापः तथैव अयनेनापि
भणितव्यो यावद् अनन्तरपश्चात्कृतसमये
प्रथमम् अयनं प्रतिपन्नं भवति।

१७. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के
दक्षिणाद्धे में प्रथम अयन (दक्षिणायन) प्रतिपन्न होता
है उस समय उत्तराद्धे में भी प्रथम अयन प्रतिपन्न होता
है, जिस प्रकार समय के साथ अभिलाप है, उसी
प्रकार अयन के साथ भी वक्तव्य है। यावत् अनन्तर
पश्चाद्वर्ती समय में प्रथम अयन प्रतिपन्न होता है।

१८. जहा अयणेणं अभिलावो तहा संवच्छरेण
वि भाणियव्वो। जुएण वि, वाससएण वि,
वाससहस्सेण वि, वाससयसहस्सेण वि,
पुव्वंगेण वि, पुव्वेण वि, तुडियंगेण वि,
तुडिएण वि—एवं पुव्वंगे, पुव्वे,
तुडियंगे, तुडिए, अडडंगे, अडडे,
अववंगे, अववे, हूहूयंगे, हूहूए,
उप्पलंगे, उप्पले, पउमंगे, पउमे,
नल्लिणंगे, नल्लिणे, अत्थणित्थरंगे,

यथा अयनेन अभिलापस्तथा संवत्सरेणापि
भणितव्यः। युगेनापि, वर्षशतेनापि, वर्ष-
सहस्रेणापि, वर्षशतसहस्रेणापि पूर्वांगे-
नापि, पूर्वैणापि, त्रुटितांगेनापि, त्रुटितेनापि
—एवं पूर्वाङ्गम्, पूर्वम्, त्रुटिताङ्गम्,
त्रुटितम् अटटाङ्गम्, अटटम्, अववाङ्गम्,
अववम्, हूहूकाङ्गम्, हूहूकम्, उत्पलाङ्गम्,
उत्पलम्, पद्माङ्गम्, पद्मम्, नलिनाङ्गम्,
नल्लिनम्, अर्थनिकुराङ्गम्, अर्थनिकुरम्,

१८. जिस प्रकार अयन के साथ अभिलाप हैं उसी प्रकार
संवत्सर के साथ भी अभिलाप वक्तव्य है। युग, सौ
वर्ष, हजार वर्ष, लाख वर्ष, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग,
त्रुटित के साथ भी अभिलाप वक्तव्य है। इसी प्रकार
पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट,
अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल,
पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नल्लिन, अर्थनिकुरांग,
अर्थनिकुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत,
प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहे-

अत्थणिउरे, अउयंगे, अउए, णउयंगे, णउए, पउयंगे, पउए, चूलियंगे, चूलिया, सीसपहेलियंगे, सीसपहेलिया— पलि-ओवमेण, सागरोवमेण वि भाणियव्वो।।

अयुताङ्गम्, अयुतम्, नयुताङ्गम्, नयुतम्, प्रयुताङ्गम्, प्रयुतम्, चूलिकाङ्गम्, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्गम्, शीर्षप्रहेलिका—पत्यो-पमेन, सागरोपमेनापि भणितव्यः।

लिकांग, शीर्षप्रहेलिका तथा पत्योपम, सागरोपम के साथ भी अभिलाप वक्तव्य है।

१९. जया णं भंते ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तथा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ; जया णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तथा णं जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं नेवत्थि ओसप्पिणी, नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवाट्ठिए णं तत्थ काले पण्णत्ते समणाउसो?

यदा भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मंदरस्य पर्वतस्य दक्षिणार्द्धे प्रथमाऽवसर्पिणी प्रतिपद्यते, तदा उत्तरार्द्धेऽपि प्रथमाऽवसर्पिणी प्रतिपद्यते; यदा उत्तरार्द्धे प्रथमाऽवसर्पिणी प्रतिपद्यते, तदा जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्य-पश्चिमे नैवास्ति अवसर्पिणी, नैवास्ति उत्सर्पिणी, अवस्थितः तत्र कालः प्रज्ञप्तः श्रमणाऽऽयुष्मन्?

१९. भंते ! जिस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है, उस समय उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है; जिस समय उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है, उस समय जम्बूद्वीप द्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व-पश्चिम भाग में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नहीं होती है, आयुष्मन् श्रमण ! वहां काल अवस्थित है?

हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं जाव समणाउसो।।

हन्त गौतम ! तच्चैव उच्चारयितव्यं यावत् श्रमणाऽऽयुष्मन् !

हां, गौतम ! पूर्ण पाठ प्रश्नवत् वक्तव्य है यावत् आयुष्मन् श्रमण!

२०. जहा ओसप्पिणीए आलापओ भणिओ एवं उस्सप्पिणीए वि भाणियव्वो।।

यथा अवसर्पिण्या आलापकः भणितः एवम् उत्सर्पिण्यापि भणितव्यः।

२०. जिस प्रकार अवसर्पिणी का आलापक कहा गया, उसी प्रकार उत्सर्पिणी का आलापक भी वक्तव्य है।

लवणसमुद्दादिसु सूरियादि-वक्तव्य-पदं

लवणसमुद्रादिषु सूर्यादि-वक्तव्यता-पदम्

लवणसमुद्रादि में सूर्यादि की वक्तव्यता का पद

२१. लवणे णं भंते ! समुद्दे सूरिया उदीण-पाईणमुग्गच्छ पाईण-दाहिणमागच्छन्ति, जच्चेव जंबुद्वीवस्स वक्तव्या सच्चेव सव्वा अपरिसेसिया लवणसमुद्दस्स वि भाणियव्वा, नवरं—अभिलावो इमो जाणियव्वो।।

लवणे भदन्त ! समुद्रे सूर्याः उदीचीन-प्राचीनमुद्गत्य प्राचीन-दक्षिणमागच्छन्ति, या चैव जम्बूद्वीपस्य वक्तव्यता सा चैव सर्वा अपरिशेषिका लवणसमुद्रस्यापि भणितव्या, नवरं—अभिलापोऽयम् ज्ञातव्यः।

२१. भंते ! लवण समुद्र में सूर्य उत्तर और पूर्व के मध्य उदित होकर पश्चिम और दक्षिण के मध्य आते हैं। जम्बूद्वीप में सूर्य की जो वक्तव्यता कही गई है, वह सारी अविकल रूप से लवण समुद्र के सन्दर्भ में भी वक्तव्य है। विशेषतः यह अभिलाप ज्ञातव्य है।

२२. जया णं भंते ! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवइ, तं चेव जाव तदा णं लवण-समुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं राई भवति।।

यदा भदन्त ! लवणसमुद्रे दक्षिणार्द्धे दिवसः भवति, तच्चैव यावत् तदा लवणसमुद्रे पौरस्त्य-पश्चिमे रात्रिः भवति।

२२. भंते ! जिस समय लवण समुद्र के दक्षिणार्द्ध में दिन होता है। वही वक्तव्यता यावत् उस समय लवण समुद्र के पूर्व-पश्चिम भाग में रात्रि होती है।

२३. एएणं अभिलावेणं नेयव्वं जाव जया णं भंते ! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तथा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ; जया णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ, तथा णं लवणसमुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमे

एतेन अभिलापेन नेतव्यं यावद् यदा भदन्त ! लवणसमुद्रे दक्षिणार्द्धे प्रथमा अवसर्पिणी प्रतिपद्यते, तदा उत्तरार्द्धेऽपि प्रथमा अवसर्पिणी प्रतिपद्यते; यदा उत्तरार्द्धे प्रथमा अवसर्पिणी प्रतिपद्यते, तदा लवणसमुद्रे पौरस्त्य-पश्चिमे नैवास्ति अवसर्पिणी,

२३. इस अभिलाप के अनुसार ज्ञातव्य है यावत् भंते ! जिस समय लवण समुद्र के दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है, उस समय उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है; जिस समय उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है उस समय लवण समुद्र के पूर्व-पश्चिम भाग में अव-

णं नेवत्थि ओसप्पिणी, नेवत्थि उस्स-
प्पिणी अवाट्ठिणं णं तत्थ काले पण्णत्ते
समणाउसो?

हंता गोयमा ! जाव समणाउसो ॥

२४. धायइसंडे णं भंते ! दीवे सूरिया उदीण-
पाईमुग्गच्छ पाईण-दाहिणमागच्छंति,
जहेव जंबुद्वीवस्स वत्तव्वया भणिया सच्चेव
धाइयसंडस्स वि भाणियव्वा, नवरं—इमेणं
अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणियव्वा॥

२५. जया णं भंते ! धायइसंडे दीवे दाहिणइडे
दिवसे भवइ, तदा णं उत्तरइडे वि; जया णं
उत्तरइडे, तथा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं
पव्वयाणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं राई भवइ?

हंता गोयमा ! एवं चेव जाव राई भवइ॥

२६. जया णं भंते ! धायइसंडे दीवे मंदराणं
पव्वयाणं पुरत्थिमे णं दिवसे भवइ, तथा णं
पच्चत्थिमे णवि; जया णं पच्चत्थिमे णं
दिवसे भवइ, तथा णं धायइसंडे दीवे
मंदराणं पव्वयाणं उत्तर-दाहिणे णं राई
भवइ?

हंता गोयमा ! जाव भवइ॥

२७. एवं एणं अभिलावेणं नेयव्वं जाव जया
णं भंते ! दाहिणइडे पढमा ओसप्पिणी,
तथा णं उत्तरइडे वि; जया णं उत्तरइडे,
तथा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं
पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं नत्थि ओसप्पिणी
जाव समणाउसो?

हंता गोयमा ! जाव समणाउसो ॥

२८. जहा लवणसमुद्रस्स वत्तव्वया तथा
कालोदस्स वि भाणियव्वा, नवरं—
कालोदस्स नामं भाणियव्वं ।

नैवास्ति उत्सर्पिणी, अवस्थितस्तत्र कालः
प्रज्ञप्तः श्रमणाऽऽयुष्मन्?

हन्त गौतम ! यावत् श्रमणाऽऽयुष्मन् !

धातकीषण्डे भदन्त ! द्वीपे सूर्यः उदीचीन-
प्राचीनमुद्गत्य प्राचीन-दक्षिणमागच्छन्ति,
यथैव जम्बूद्वीपस्य वक्तव्यता भणिता सा
चेव धातकीषण्डस्यापि भणितव्या, नवरं
—अनेन अभिलापेन सर्वे आलापकाः
भणितव्याः।

यदा भदन्त ! धातकीषण्डे द्वीपे दक्षिणाद्धे
दिवसः भवति, तदा उत्तराद्धेऽपि? यदा
उत्तराद्धे, तदा धातकीषण्डे द्वीपे मन्दरयोः
पर्वतयोः पौरस्त्य-पश्चिमे रात्रिः भवति?

हन्त गौतम ! एवं चेव यावद् रात्रिः भवति।

यदा भदन्त ! धातकीषण्डे द्वीपे मन्दरयोः
पर्वतयोः पौरस्त्ये दिवसः भवति, तदा
पश्चिमेऽपि? यदा पश्चिमे दिवसः भवति,
तदा धातकीषण्डे द्वीपे मन्दरयोः पर्वतयोः
उत्तर-दक्षिणे रात्रिः भवति?

हन्त गौतम ! यावद् भवति।

एवमेतेन अभिलापेन नेतव्यम् यावद् यदा
भदन्त! दक्षिणाद्धे प्रथमा अवसर्पिणी, तदा
उत्तराद्धेऽपि? यदा उत्तराद्धे, तदा धातकीषण्डे
द्वीपे मन्दरयोः पर्वतयोः पौरस्त्य-पश्चिमे
नास्ति अवसर्पिणी यावत् श्रमणाऽऽयुष्मन्?

हन्त गौतम ! यावत् श्रमणाऽऽयुष्मन् !

यथा लवणसमुद्रस्य वक्तव्यता तथा कालोद-
स्यापि भणितव्या, नवरं—कालोदस्य नाम
भणितव्यम्।

सर्पिणी और उत्सर्पिणी नहीं होती, आयुष्मन्
श्रमण ! क्या वहां काल अवस्थित है?

हां, गौतम ! यावत् आयुष्मन् श्रमण !

२४. भंते ! धातकीषण्ड द्वीप में सूर्य उत्तर और पूर्व के
मध्य उदित होकर पश्चिम और दक्षिण के मध्य आते
हैं। जैसे जम्बूद्वीप की वक्तव्यता कही गई है, उसी
प्रकार धातकीषण्ड की वक्तव्यता है। इतना विशेष है
कि सारे आलापक इस अभिलाप के अनुसार वक्तव्य
है।

२५. भंते ! जिस समय धातकीषण्ड द्वीप के दक्षिणाद्धे
में दिन होता है, उस समय उत्तराद्धे में भी दिन होता
है? जिस समय उत्तराद्धे में दिन होता है, उस समय
धातकीषण्ड द्वीप में मेरु पर्वतों के पूर्व-पश्चिम भाग
में रात्रि होती है?

हां, गौतम ! ऐसा ही है यावत् रात्रि होती है।

२६. भंते ! जिस समय धातकीषण्ड द्वीप में मेरु पर्वतों
के पूर्व भाग में दिन होता है, उस समय पश्चिम भाग
में भी दिन होता है? जिस समय पश्चिम भाग में दिन
होता है उस समय धातकीषण्ड द्वीप में मेरु पर्वतों के
उत्तर-दक्षिण भाग में रात्रि होती है?

हां, गौतम ! यावत् रात्रि होती है।

२७. इस प्रकार इस अभिलाप के अनुसार ज्ञातव्य है
यावत् भंते ! जिस समय दक्षिणाद्धे में प्रथम अव-
सर्पिणी प्रतिपन्न होती है, उस समय उत्तराद्धे में भी
प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है? जिस समय
उत्तराद्धे में प्रथम अवसर्पिणी प्रतिपन्न होती है, उस
समय धातकीषण्ड द्वीप में मेरु पर्वतों के पूर्व-
पश्चिम भाग में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नहीं
होती यावत् आयुष्मन् श्रमण?

हां, गौतम ! यावत् आयुष्मन् श्रमण !

२८. जिस प्रकार लवण समुद्र की वक्तव्यता है, उसी
प्रकार कालोद समुद्र की भी वक्तव्यता है, इतनी
विशेष है—लवण समुद्र के स्थान पर 'कालोद' नाम
वक्तव्य है।

२९. अब्भितरपुक्खरद्धे णं भंते ! सूरिया उदीण-पाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिण-मागच्छंति, जहेव धायइसंडस्स वत्तव्वया तहेव अब्भितरपुक्खरद्धस्स वि भाणियव्वा, नवसं—अभिलावो जाणियव्वो जाव तथा णं अब्भितरपुक्खरद्धे मंदराणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमे णं नेवत्थि ओसप्पिणी, नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिएणं तत्थ काले पण्णत्ते समणाउसो ॥

आभ्यन्तरपुष्करार्द्धे भदन्त ! सूर्या उदीचीन-प्राचीनमुद्गत्य-प्राचीनदक्षिणम् आगच्छन्ति, यथैव धातकीषण्डस्य वक्तव्यता तथैव आभ्यन्तरपुष्करार्द्धस्यापि भणितव्या, नवरम्—अभिलापः ज्ञातव्यः यावत् तदा आभ्यन्तरपुष्करार्द्धे मन्दरयोः पौरस्त्य-पश्चिमे नैवास्ति अवसर्पिणी, नैवास्ति उत्सर्पिणी, अवस्थितस्तत्र कालः प्रज्ञप्तः श्रमणाऽऽयुष्मन्!

२९. भंते ! आभ्यन्तरपुष्करार्द्धे में सूर्य उत्तर और पूर्व के मध्य उदित होकर पश्चिम और दक्षिण के मध्य आते हैं। जिस प्रकार धातकीषण्ड की वक्तव्यता है उसी प्रकार आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध की भी वक्तव्यता है। विशेषतः यह अभिलाप ज्ञातव्य है। यावत् उस समय आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध में मेरु पर्वतों के पूर्व-पश्चिम भाग में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नहीं होती। वहां अवस्थित काल होता है आयुष्मन् श्रमण !

३०. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति॥

३०. भंते ! वह ऐसा ही है, भंते वह ऐसा ही है।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

वाउ-पदं

वायु-पदम्

वायु-पद

३१. रायगिहे नगरे जाव एवं क्यासी—अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति?

राजगृहे नगरे यावद् एवमवादीद्—अस्ति भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति?

३१. 'राजगृह नगर में भगवान् गौतम भगवान् महावीर की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भन्ते! ईषत् पुरोवात (पूर्वी वायु), पश्चाद्वात (पश्चिमी-वायु), मन्दवात और महावात चलते हैं?

हंता अत्थि ॥

हन्त अस्ति ।

हां, गौतम ! चलते हैं ।

३२. अत्थि णं भंते ! पुरत्थिमे णं ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति?

अस्ति भदन्त ! पौरस्त्ये ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति?

३२. भंते ! पूर्व में ईषत् पुरोवात, पश्चात्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं?

हंता अत्थि ॥

हन्त अस्ति।

हां, चलते हैं।

३३. एवं पच्चत्थिमे णं, दाहिणे णं, उत्तरे णं, उत्तर-पुरत्थिमे णं, दाहिण-पच्चत्थिमे णं, दाहिण-पुरत्थिमे णं, उत्तर-पच्चत्थिमे णं॥

एवं पश्चिमे, दक्षिणे, उत्तरे, उत्तर-पौरस्त्ये दक्षिण-पश्चिमे, दक्षिण-पौरस्त्ये उत्तर-पश्चिमे।

३३. इसी प्रकार पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, उत्तर-पूर्व (ईशान कोण), दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य कोण), दक्षिण-पूर्व (आग्नेय कोण) और उत्तर-पश्चिम (वायव्य कोण) में वात चलते हैं।

३४. जया णं भंते ! पुरत्थिमे णं ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति, तथा णं पच्चत्थिमे णवि ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति; जया णं पच्चत्थिमे णं ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति, तथा णं पुरत्थिमे णवि?

यदा भदन्त ! पौरस्त्ये ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति, तदा पश्चिमेऽपि ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति? यदा पश्चिमे ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति, तदा पौरस्त्येऽपि?

३४. भंते ! जिस समय पूर्व में ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं, उस समय पश्चिम में भी ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं? जिस समय पश्चिम में ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं, उस समय पूर्व में भी चलते हैं ?

हंता गौयमा ! जया णं पुरत्थिमे णं ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति, तथा णं पच्चत्थिमे णवि ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वायंति; जया णं पच्चत्थिमे णं ईसिं पुरेवाया

हन्त गौतम ! यदा पौरस्त्ये ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति, तदा पश्चिमेऽपि ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति; यदा पश्चिमे ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः

हां, गौतम ! जिस समय पूर्व में ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं, उस समय पश्चिम में भी ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं; जिस समय पश्चिम में ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात

- पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वार्यति, तथा णं पुरत्थिमे णवि ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वार्यति ॥
- मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति, तदा पौर-स्त्येऽपि ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति।
- चलते हैं, उस समय पूर्व में भी ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं।
३५. एवं दिसासु, विदिसासु ॥ एवं दिशासु, विदिशासु। ३५. इस प्रकार सब दिशाओं और सब विदिशाओं में वात चलते हैं।
३६. अत्थि णं भंते ! दीविच्चया ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/३१) हंता अत्थि ॥ अस्ति भदन्त ! द्वैपिकाः ईषत् पुरोवाताः? हन्त अस्ति। ३६. भंते ! द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं? (५/३१ की तरह) हां, चलते हैं।
३७. अत्थि णं भंते ! सामुद्दया ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/३१) हंता अत्थि ॥ अस्ति भदन्त ! सामुद्रिकाः ईषत् पुरोवाताः? हन्त अस्ति। ३७. भन्ते ! समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं? (५/३१ की तरह) हां, चलते हैं।
३८. जया णं भंते ! दीविच्चया ईसिं पुरेवाया, तथा णं सामुद्दया वि ईसिं पुरेवाया, जया णं सामुद्दया ईसिं पुरेवाया, तथा णं दीविच्चया वि ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/३१) णो इण्ठे समड्ढे । नायमर्थः समर्थः। ३८. भंते ! जिस समय द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं, उस समय समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात भी चलते हैं? जिस समय समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं, उस समय द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात भी चलते हैं? (५/३१ की तरह) यह अर्थ संगत नहीं है।
३९. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जया णं दीविच्चया ईसिं पुरेवाया, णो णं तथा सामुद्दया ईसिं पुरेवाया, जया णं सामुद्दया ईसिं पुरेवाया, णो णं तथा दीविच्चया ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/३१) तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—यदा द्वैपिकाः ईषत् पुरोवाताः, नो तदा सामुद्रिकाः ईषत् पुरोवाताः, यदा सामुद्रिकाः ईषत् पुरोवाताः, नो तदा द्वैपिकाः ईषत् पुरोवाताः ? ३९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— जिस समय द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं, उस समय समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात नहीं चलते? जिस समय समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं, उस समय द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात नहीं चलते? (५/३१ की तरह)
- गोयमा ! तेसिं णं वायाणं अण्णमण्ण-विवच्चासेणं लवणसमुद्दे वेलां नाइक्कमइ । गौतम ! तेषां वातानाम् अन्योन्यविव्यत्यासेन लवणसमुद्रः वेलां नातिक्रामति। ३९. भन्ते ! द्वीपोत्पन्न और समुद्रोत्पन्न वात परस्पर विपरीत रूप से चलते हैं, इसीलिए लवण समुद्र वेला का अतिक्रमण नहीं करता।
- से तेणट्ठेणं जाव णो णं तथा दीविच्चया ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वार्यति ॥ तत् तेनार्थेन यावन्नो तदा द्वैपिकाः ईषत् पुरो-वाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति। ३९. भन्ते ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है जिस समय समुद्रों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात चलते हैं यावत् उस समय द्वीपों में उत्पन्न ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात नहीं चलते।
४०. अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया मंदा वाया महावाया वार्यति? हंता अत्थि ॥ अस्ति भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः पश्चाद् वाताः मन्दाः वाताः महावाताः वान्ति? हन्त अस्ति। ४०. भन्ते ! क्या ईषत् पुरोवात, पश्चाद्वात, मन्दवात और महावात चलते हैं? हां, वे चलते हैं।
४१. कया णं भंते ! ईसिं पुरेवाया जाव वार्यति? कदा भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः यावद् वान्ति? ४१. भन्ते ! ईषत् पुरोवात यावत् कब चलते हैं?

(पू. भ. ५/४०) गोयमा ! जया णं वाउयाए अहारियं रियति, तया णं ईसिं पुरेवाया जाव वायंति ॥	गौतम ! यदा वायुकायः यथेयं रीयते, तदा ईषत् पुरोवाताः यावद् वान्ति ।	(५/४० की तरह) गौतम ! जिस समय वायुकाय यथेयं (अपनी स्वा- भाविक गति से) चलता है, उस समय ईषत् पुरोवात यावत् महावात चलते हैं ।
४२. अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/४०) हंता अत्थि ॥	अस्ति भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः ? हन्त अस्ति ।	४२. भन्ते ! क्या ईषत् पुरोवात आदि चलते हैं? (५/४० की तरह) हां, चलते हैं ।
४३. कया णं भंते ! ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/४०) गोयमा ! जया णं वाउयाए उत्तरफिरियं रियइ, तया णं ईसिं पुरेवाया जाव वायंति ॥ (पू. भ. ५/४०)	कदा भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः ? गौतम ! यदा वायुकायः उत्तरक्रियं रीयते, तदा ईषत् पुरोवाताः यावद् वान्ति ।	४३. भन्ते ! ईषत् पुरोवात आदि कब चलते हैं। (५/४० की तरह) गौतम ! जिस समय वायुकाय उत्तरक्रिया (वैक्रिय शरीर की गति) से चलता है, उस समय ईषत् पुरोवात यावत् महावात चलते हैं। (५/४० की तरह)
४४. अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाया? (पू. भ. ५/४०) हंता अत्थि ॥	अस्ति भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः ? हन्त अस्ति ।	४४. भन्ते ! ईषत् पुरोवात यावत् महावात चलते हैं? (५/४० की तरह) हां, चलते हैं।
४५. कया णं भंते ! ईसिं पुरेवाया पच्छा वाया? (पू. भ. ५/४०) गोयमा ! जया णं वाउकुमारा, वाउकुमा- रीओ वा अप्पणो परस्स वा तदुभयस्स वा अड्ढाए वाउकायं उदीरंति तया णं ईसिं पुरेवाया जाव वायंति ॥ (पू. भ. ५/४०)	कदा भदन्त ! ईषत् पुरोवाताः पश्चाद्वाताः ? गौतम ! यदा वायुकुमाराः, वायुकुमार्यो वा आत्मनः परस्य वा तदुभयस्य वा अर्थाय वायुकायम् उदीरयन्ति तदा ईषत् पुरोवाताः यावद् वान्ति ।	४५. भन्ते ! ईषत् पुरोवात पश्चाद्वात आदि कब चलते हैं? (५/४० की तरह) गौतम ! जिस समय वायुकुमार और वायुकुमारियां अपने लिए, औरों के लिए या दोनों के लिए वायुकाय की उदीरणा करती हैं, उस समय ईषत् पुरोवात यावत् महावात चलते हैं। (५/४० की तरह)

भाष्य

१. सूत्र ३१-४५

प्रस्तुत आलापक में वायु के प्रकार, उनका गति-क्षेत्र और गति के नियमों का प्रतिपादन किया गया है। वायु के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं:

पुरोवात — पूर्वी वायु।

पश्चाद्वात — पश्चिमी वायु।

मन्दवात — मन्दगति से चलने वाली वायु।

महावात — तेज गति से चलने वाली वायु।

अभयदेवसूरि ने पुरोवात का अर्थ 'स्नेह युक्त वायु' किया है। पच्छावायु—पच्छा शब्द के दो संस्कृत रूप हो सकते हैं—पश्चात् और पथ्या। प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में अभयदेवसूरि इसका अर्थ पथ्य— 'वनस्पति आदि के लिए हितकर' करते हैं।

ज्ञाता. की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने इन दोनों के दो-दो अर्थ किए हैं:

पुरोवात — १. स्नेहयुक्तवायु, २. पूर्वीवायु।

पथ्यवात — १. वनस्पति के लिए हितकर वायु, २. पश्चिमी वायु।

प्रस्तुत आगम के कुछ आदर्शों में 'पथ्या' पाठ मिलता है। अभयदेवसूरि ने भी इस पाठ के आधार पर पथ्य शब्द की व्याख्या की है। नायाधम्मकहाओ (१/११/२,४,६,८) में 'पच्छा' पाठ उपलब्ध है इसलिए उसका वैकल्पिक अर्थ 'पश्चात्' किया है। वास्तव में मूलपाठ 'पच्छा' ही होना चाहिए। इस वायु-चतुष्क में दो विपरीत युगल हैं। एक युगल है—पूर्वीवायु और पश्चिमी वायु। दूसरा युगल है—मन्दवायु और महावायु।

पथ्य का अर्थ 'वनस्पति के लिए हितकर' किया गया है, वह विमर्शनीय है। नायाधम्मकहाओ के अनुसार द्वीप और समुद्र में चारों

१. भ.वृ. ५/३१— 'ईसिं पुरेवायति' मनाक् सस्नेहवाताः 'पथ्यावाय' ति पथ्या वनस्पत्यादिहिता वायवः।

२. ज्ञाता. वृ.प.१७९— ईषत् पुरोवाताः—मनाक् सस्नेहवाता इत्यर्थः पूर्वदिक् संबन्धिने वा, पथ्यावाता—वनस्पतीनां सामान्येन हिता वायवः पश्चाद्वाता वा।

प्रकार की वायु चलती है, तब समुद्र तटवर्ती 'दावद्ब' (दावद्रव) वृक्ष पत्रित, पुष्पित और फलित होते हैं।^१ इसका निष्कर्ष यह है कि वनस्पति के लिए चारों प्रकार की वायु हितकर होती है, इसलिए 'पथ्य' के अर्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। 'पच्छा' के स्थान पर 'पत्था' पाठ के कारण ही यह अर्थविपर्यय हुआ है। प्राचीन लिपि में संयुक्त 'त् थ्' और संयुक्त 'च् छ्' में प्रायः सादृश्य है। इसलिए 'पच्छा' के स्थान पर 'पत्था' पाठ होना आश्चर्य की बात नहीं।

सूत्र ३२ से ३५ तक चार दिशाओं और चार विदिशाओं में वायु की गति का नियम प्रतिपादित है।

सूत्र ३६ से ३९ तक यह प्रतिपादित है—द्वीपों और समुद्रों में चारों प्रकार की वायु होती है। किन्तु उन दोनों में एक साथ एक प्रकार की वायु नहीं चलती। द्वीप में यदि मंदवात चलता है तो समुद्र में महावात चलेगा। इसी प्रकार द्वीप में यदि महावात चलता है तो समुद्र में मन्दवात चलेगा। इस विपरीत गति के कारण ही लवण समुद्र वेला का अतिक्रमण नहीं करता।^२

सूत्र ४० से ४५ तक वायु की गति के नियम का प्रतिपादन है।

उसकी गति के तीन नियम हैं—

१. यथारीति गति—जब वह अपनी स्वाभाविक गति से चलती है।^३

२. उत्तरक्रिया गति—वायुकाय का मूल शरीर औदारिक है। उसका उत्तर शरीर वैक्रिय है। जब वैक्रिय शरीर द्वारा गति होती है, वह उत्तर क्रिया है।^४

३. उदीरणाजनित गति—यह गति वायुकाय देवों द्वारा प्रेरित होती है।

वृत्तिकार ने वाचनान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार महावात की यथारीति गति नहीं होती, वह शेषत्रिक की होती है। मन्दवात की उत्तरक्रिया गति नहीं होती, शेषत्रिक की होती है। उदीरणाजनित गति सबकी होती है।^५

वायुकाय में वैक्रिय शरीर का अस्मित्व स्वीकृत है।^६ वैक्रिय शरीर का अर्थ है विविध क्रियाएं करने वाला शरीर। किन्तु वायुकाय उसके द्वारा विविध रूपों का निर्माण करने में समर्थ नहीं है। वह विविध प्रकार की गति करने में समर्थ है।

४६. वाउयाए णं भंते ! वाउयायं चेव आणमंति वा? पाणमंति वा? ऊससंति वा? नीससंति वा?

हंता गोयमा ! वाउयाए णं वाउयाए चेव आणमंति वा, पाणमंति वा, ऊससंति वा, नीससंति वा॥

वायुकायः भदन्त ! वायुकायं चैव आनन्ति वा? प्राणन्ति वा? उच्छ्वसन्ति वा? निःश्वसन्ति वा?

हन्त गौतम ! वायुकायाः वायुकायान् चैव आनन्ति वा प्राणन्ति वा उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा?

४६. 'भन्ते ! क्या वायुकायिक जीव वायुकाय का ही आन, अपान तथा उच्छ्वास, निःश्वास करते हैं?

हां, गौतम ! वायुकायिक जीव वायुकाय का ही आन, अपान तथा उच्छ्वास, निःश्वास करते हैं।

४७. वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेग-सयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो-भुज्जो पच्चायाति?

हंता गोयमा ! वाउयाए णं वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता-उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो-भुज्जो पच्चायाति॥

वायुकायः भदन्त ! वायुकाये चैव अनेक-शतसहस्रकृत्वः अवद्राय-अवद्राय तत्रैव भूयो-भूयः प्रत्यायाति?

हन्त गौतम ! वायुकायः वायुकाये चैव अनेक-शतसहस्रकृत्वः अवद्राय-अवद्राय तत्रैव भूयो-भूयः प्रत्यायाति।

४७. भन्ते ! क्या वायुकायिक जीव वायुकाय में ही अनेक लाख बार मर-मर कर वहीं पुनः-पुनः उत्पन्न होता है?

हां गौतम ! वायुकायिक जीव वायुकाय में ही अनेक लाख बार मर-मर कर वहीं पुनः-पुनः उत्पन्न होता है।

४८. से भंते ! किं पुट्ठे उद्दाति? अपुट्ठे उद्दाति?

गोयमा ! पुट्ठे उद्दाति, नो अपुट्ठे उद्दाति॥

सः भदन्त ! किं स्पृष्टः अवद्राति? अस्पृष्टः अवद्राति?

गौतम ! स्पृष्टः अवद्राति, नो अस्पृष्टः अवद्राति।

४८. भन्ते ! क्या वायुकायिक जीव स्पृष्ट होकर मरता है अथवा अस्पृष्ट होकर मरता है?

गौतम ! वह स्पृष्ट होकर मरता है, अस्पृष्ट रहकर नहीं मरता।

४९. से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ? असरीरी निक्खमइ?

सः भदन्त ? किं सशरीरी निष्क्रामति? अशरीरी निष्क्रामति?

४९. भन्ते ! वायुकायिक जीव सशरीर निष्क्रमण करता है अथवा अशरीर निष्क्रमण करता है?

१. नाया. १/११/२।

२. भ.वृ. ५/३९—अन्योन्यव्यत्यासेन यदेकं ईषत्पुरोवातादि विशेषेण वान्ति तदेतरे न तथाविधा वा-तीत्यर्थः, 'वेत्तं साइकमइ' इति तथाविधवातद्रव्यसामर्थ्याद् वेलायास्तथास्वभावत्वाच्चेति।

३. भ.वृ. ५/४१—रीतं रीतिः स्वभाव इत्यर्थः तस्यानतिक्रमेण यथा रीतं 'रीयते' गच्छति यदा स्वाभाविक्या गत्या गच्छतीत्यर्थः।

४. भ.वृ. ५/४३—वायुकायस्य हि मूलशरीरमौदारिकमुत्तरं तु वैक्रियमत उत्तरा—उत्तर-शरीराश्रया क्रिया गतिलक्षणा यत्र गमने तदुत्तरक्रियम्।

५. भ.वृ. ५/४३—वाचनान्तरे त्वाद्यं कारणं महावातवर्जितामां, द्वितीयं तु मन्दवातवर्जितामां, तृतीयं तु चतुर्णामप्युक्तमिति।

६. भ. २/१२।

गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ॥

५०. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी निक्खमइ? सिय असरीरी निक्खमइ?

गोयमा ! वाउयायस्स णं चत्तारि सरीस्या पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए, वेउव्विए, तेयए, कम्मए। ओरालिय-वेउव्वियाइं विप्पज्जाहाय तेयय-कम्मएहिं निक्खमइ। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ॥

गौतम ! स्यात् सशरीरी निष्क्रामति, स्याद् अशरीरी निष्क्रामति।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी निष्क्रामति? स्याद् अशरीरी निष्क्रामति?

गौतम ! वायुकायस्य चत्वारि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—औदारिकं, वैक्रियं, तैजसं, कर्मकम्। औदारिक-वैक्रिये विप्रहाय तैजस-कर्मकाभ्यां निष्क्रामति। अथ तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—स्यात् सशरीरी निष्क्रामति, स्यात् अशरीरी निष्क्रामति।

गौतम ! वह स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है।

५०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वायुकायिक जीव स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है।

गौतम ! वायुकायिक जीव के चार शरीर प्रज्ञप्त हैं, जैसे—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कर्मण। वह औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोड़कर तैजस और कर्मण शरीर के साथ निष्क्रमण करता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—वह स्यात् सशरीर निष्क्रमण करता है, स्यात् अशरीर निष्क्रमण करता है।

भाष्य

१. सूत्र ४६-५०

दृष्टव्य भ. २/८-१२ का भाष्य।

ओदणादीनां किंसरीरत्त-पदं

५१. अह णं भंते ! ओदणे, कुम्मासे, सुरा—एए णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! ओदणे, कुम्मासे, सुराए य जे घणे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च वणस्सइजीवसरीरा। तओ पच्छा सत्था-तीया, सत्थपरिणामिया, अगणिज्झामिया, अगणिज्झसिया, अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया। सुराए य जे दवे दव्वे—एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च आउजीवसरीरा। तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया ॥

५२. अह णं भंते ! अये, तंबे, तउए, सीसए, उवले, कसट्टिया—एए णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अये, तंबे, तउए, सीसए, उवले, कसट्टिया—एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च पुढवीजीवसरीरा। तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया ॥

ओदनादीनां किंशरीरत्व-पदम्

अथ भदन्त ! ओदनः, कुल्माषः, सुरा—एते किंशरीराः इति वक्तव्यं स्यात्? गौतम ! ओदने, कुल्माषेः, सुरायां च यानि घनानि द्रव्याणि—एतानि पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य वनस्पतिजीवशरीराणि तत् पश्चात् शस्त्रातीतानि शस्त्रपरिणामितानि, अग्नि-‘ज्झामिया’, अग्निज्घितानि अग्निपरिणामितानि अग्निजीवशरीराणि इति वक्तव्यं स्यात्। सुरायां च यानि द्रव्याणि—एतानि पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य अपूजीवशरीराणि। ततः पश्चात् शस्त्रातीतानि यावद् अग्निजीवशरीराणि इति वक्तव्यं स्यात्।

अथ भदन्त ! अयः, ताम्रम्, त्रपुः, सीसकम्, उपलः, कषपट्टिकाः—एते किंशरीराः इति वक्तव्यं स्यात्? गौतम ! अयः, ताम्रम्, त्रपुः, सीसकम्, उपलः, कषपट्टिकाः—एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य पृथिवीजीवशरीराः। ततः पश्चात् शस्त्रातीताः यावद् अग्निजीवशरीराः इति वक्तव्यं स्यात्।

ओदन आदि ‘किसके शरीर’ का पद

५१. ‘भन्ते ! ओदन, कुल्माष और सुरा—इन्हें किन जीवों का शरीर कहा जा सकता है? गौतम ! ओदन, कुल्माष और सुरा में जो सघन द्रव्य हैं, वे पूर्व पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा से वनस्पति-जीवों के शरीर हैं। उसके पश्चात् वे शस्त्रातीत और शस्त्र-परिणत तथा अग्नि से श्यामल, अग्नि से शोषित और अग्नि-रूप में परिणत होने पर उन्हें अग्नि-जीवों का शरीर कहा जा सकता है। सुरा में जो द्रव द्रव्य हैं, वे पूर्व पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा से जल-जीवों के शरीर हैं। उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्नि रूप में परिणत होने पर उन्हें अग्नि-जीवों का शरीर कहा जा सकता है।

५२. भंते ! लोहा, ताम्बा, रांगा, सीसा, पाषाण और कसौटी—इन्हें किन जीवों का शरीर कहा जा सकता है? गौतम ! लोहा, तांबा, रांगा, सीसा, पाषाण और कसौटी—ये पूर्व पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा से पृथ्वी-जीवों के शरीर हैं। उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निरूप में परिणत होने पर उन्हें अग्नि-जीवों का शरीर कहा जा सकता है।

५३. अहं णं भंते ! अट्टी, अट्टिज्झामे, चम्मे, चम्मज्झामे, रोमे, रोमज्झामे, सिंगे, सिंगज्झामे, खुरे, खुरज्झामे, नखे, नखज्झामे—एणं णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया?

गोयमा ! अट्टी, चम्मे, रोमे, सिंगे, खुरे, नखे—एणं णं तसपाणजीवसरीरा! अट्टि-ज्झामे, चम्मज्झामे, रोमज्झामे, सिंग-ज्झामे, खुरज्झामे, नखज्झामे—एणं णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च तसपाणजीव-सरीरा। तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया।।

५४. अहं णं भंते ! इंगाले, छारिए, भुसे, गो-मए—एणं णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया? गोयमा ! इंगाले, छारिए, भुसे, गोमए—एणं णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एगिदि-यजीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि जाव पंचिदियजीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि। तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणि-जीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया।।

अथ भदन्त ! अस्थि, अस्थि'ज्झामे', चर्म, चर्म'ज्झामे', रोम, रोम'ज्झामे', शृंगः, शृंग'ज्झामे', खुरं, खुर'ज्झामे', नखः, नख'ज्झामे' एते किंशरीराः इति वक्तव्यं स्यात्?

गौतम ! अस्थि, चर्म, रोम, शृंगः, क्षुरं, नखः—एते त्रसप्राणजीवशरीराः। अस्थि-ज्झामे', चर्म'ज्झामे', रोम'ज्झामे', शृंग'ज्झामे', खुर'ज्झामे', नख'ज्झामे'—एतानि पूर्वभाव-प्रज्ञापनां प्रतीत्य त्रस-प्राणजीवशरीराणि ततः पश्चात् शस्त्राती-तानि यावद् अग्निजीव-शरीराणि इति वक्तव्यं स्यात्।

अथ भदन्त ! अङ्गारः, क्षारकं, बुसं, गोमयम्—एते किंशरीराः इति वक्तव्यं स्यात्?

गौतम ! अङ्गारः, क्षारकं, बुसं, गोमयम्—एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीव-शरीरप्रयोगपरिणामिताः अपि यावत् पञ्चे-न्द्रियजीवशरीर-प्रयोगपरिणामिताः अपि ततः पश्चात् शस्त्रातीताः यावद् अग्निजीव-शरीराः इति वक्तव्यं स्यात्।

५३. भन्ते ! अस्थि, दग्ध अस्थि, चर्म, दग्ध चर्म, रोम, दग्ध रोम, सींग, दग्ध सींग, खुर, दग्ध खुर, नख और दग्ध नख—इन्हें किन जीवों का शरीर कहा जा सकता है?

गौतम ! अस्थि, चर्म, रोम, सींग, खुर और नख—ये त्रस प्राण-जीवों के शरीर हैं। दग्ध अस्थि, दग्ध चर्म, दग्ध रोम, दग्ध सींग, दग्ध खुर और दग्ध नख—ये पूर्व पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा त्रस-प्राण जीवों के शरीर हैं। उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्नि-रूप में परिणत होने पर इन्हें अग्नि-जीवों का शरीर कहा जा सकता है।

५४. भंते ! अंगार, राख, बुसा और गोबर—इन्हें किन जीवों का शरीर कहा जा सकता है?

गौतम ! अंगार, राख, बुसा और गोबर—ये पूर्व-पर्याय-प्रज्ञापन की अपेक्षा से एकेन्द्रिय जीवों द्वारा भी शरीर-प्रयोग में परिणमित भी है, यावत् पंचेन्द्रिय जीवों द्वारा भी शरीर-प्रयोग में परिणमित है। उसके पश्चात् वे शस्त्रातीत यावत् अग्नि-रूप में परिणत होने पर उन्हें अग्नि-जीवों का शरीर कहा जा सकता है।

भाष्य

१. सूत्र ५१-५४

प्रस्तुत आलापक में परिणामवाद अर्थात् तद्रूप अथवा तन्मय पर्यायवाद का निरूपण है। इस सिद्धान्त का प्रयोगदर्शन और ध्यान दोनों क्षेत्रों में होता है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार द्रव्य जिस भाव में परिणत होता है, तत्काल वह तन्मय बन जाता है। 'आत्मा जिस भाव में परिणत होता है, वह उस भाव के साथ तन्मय हो जाता है। यह ध्यान का सिद्धान्त है।'^१

पूर्व पर्याय में जो वनस्पति-जीव का शरीर था, वह अग्निरूप में परिणत होकर अग्नि-जीव का शरीर बन जाता है। यह उत्तरवर्ती पर्याय है। यह पर्याय-प्रवाह का एक निदर्शन है। कोई भी द्रव्य एक रूप में नहीं रहता। उसमें पर्याय का प्रवाह सतत गतिशील है। इसी सिद्धान्त के अनुसार वनस्पति-जीव, अप्काय-जीव, पृथ्वी-जीव और त्रसकाय-जीव के शरीर अग्नि-जीव के शरीर-रूप में बदल जाते हैं।

पर्याय-परिवर्तन से होने वाले भावान्तर की चर्चा न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी मिलती है। अग्नि के संयोग से पृथ्वी में कुछ गुण-विशेष का प्रादुर्भाव होता है। इसे 'पाकजगुण' कहा जाता है। उनके अनुसार जल, वायु और अग्नि में पाकजगुण नहीं होता।

पाकजगुण परमाणुओं के भीतर पैदा होता है या अवयवी द्रव्य में? इस प्रश्न को लेकर नैयायिकों और वैशेषिकों में मतभेद है। वैशेषिकों का मत है कि अग्नि का संयोग होने पर घट के समस्त परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं और फिर नवगुणोपेत होकर (पककर) वे संलग्न होते हैं। इस मत का नाम 'पीलुपाक' है।

नैयायिक इस मत का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यदि घट के सभी परमाणु अलग-अलग हो गये, तब तो घट का विनाश ही हो गया। दुबारा परमाणुओं के जुटने से एक दूसरे ही घट का अस्तित्व मानना

१. प्र. सा. ८—

परिणमदि जेण दब्बं, तत्कालं तन्मयत्ति पण्णत्तं।

२. तन्वानुशासन, १९०—

परिणमते येनात्मा भावेन सतेन तन्मयो भवति।

अर्हद् ध्यानविष्टो भावाहंन् स्यात् स्वयं तस्मात् ॥

पड़ेगा। किन्तु पक जाने पर घट के स्वरूप में रंग के सिवा और कोई अन्तर नहीं पाया जाता। उसे देखते ही हम तुरन्त पहचान जाते हैं। इसलिए घट का नाश और घटान्तर का निर्माण नहीं माना जा सकता। घट-परमाणु उसी तरह संलग्न रहते हैं, किन्तु उनके बीच-बीच में जो छिद्र-स्थल रहते हैं, उनमें विजातीय अग्नि का प्रवेश हो जाने के कारण घट का रूप परिवर्तन हो जाता है। इस मत का नाम 'पिटरपाक' है।^१

जैनदर्शन में पर्यायान्तर अथवा परिणामान्तर का सिद्धान्त मान्य है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पुद्गल के गुण हैं। इनमें प्रयोगजनित और स्वाभाविक दोनों प्रकार का परिवर्तन होता है। ओदन आदि में अग्नि के संयोग से होने वाला परिवर्तन प्रायोगिक परिवर्तन है। परमाणु तथा परमाणु-

स्कन्धों में सभी वर्णों की सत्ता है, इसलिए काली मिट्टी के परमाणुओं से बना पात्र आग में पकाने पर लाल रंग का हो जाता है। इसकी व्याख्या के लिए किसी नए सिद्धान्त की स्थापना करना आवश्यक नहीं है।

शब्द-विमर्श

पूर्वभाव प्रज्ञापना—अतीत पर्याय की प्ररूपणा

पहुचच—अपेक्षा से

शस्त्रातीते—अग्नि-शस्त्र से अतिक्रान्त

शस्त्रपरिणामिते—अग्नि-शस्त्र के द्वारा नए पर्याय में परिणामिता

अगणिज्ज्ञामिये—अग्नि से श्यामल

लवणसमुद्र-पदं

५५. लवणे णं भन्ते ! समुद्रे केवइयं चक्क-
वाल्किखंभेणं पण्णत्ते?
एवं नेयव्वं जाव लोगट्टिई, लोगाणुभावे ॥

५६. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति भगवं गोयमे
जाव विहरइ ॥

लवणसमुद्र-पदम्

लवणः भदन्त समुद्रः कियान् चक्रवाल-
विष्कम्भेण प्रज्ञप्तः ?
एवं नेतव्यं यावत् लोकस्थितिः लोकानु-
भावः।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति भगवान्
गौतमः यावद् विहरति।

लवण समुद्र-पद

५५. भन्ते ! लवण समुद्र की चक्राकार चौड़ाई कितनी
प्रज्ञप्त है ?
उसकी चक्राकार चौड़ाई दो लाख योजन की है
यावत् जीवाभिगम (३/७०६-७९५) के लोक-
स्थिति लोकानुभाव तक वक्तव्य है।

५६. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है, इस
प्रकार कह कर भगवान् गौतम यावत् विहरण कर रहे
हैं।

१. भारतीय दर्शन परिचय, द्वितीय खण्ड, वैशेषिक दर्शन, पृ. १२१

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

आउ-पकरण-पडिसंवेदण-पदं

५७. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासंति पण्णवेत्ति परूवेत्ति—से जहानामए जालगठिया सिया—आणुपुण्विगठिया अणंतरगठिया परंपरगठिया अण्णमण्ण-गठिया, अण्णमण्णगरुयत्ताए अण्णमण्ण-भारियत्ताए अण्णमण्णगरुय-संभारियत्ताए अण्णमण्णगडत्ताए चिद्धइ, एवामेव बहूणं जीवाणं बहूसु आजातिसहस्सेसु बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुण्विगठियाइं जाव चिद्धंति।

एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउयं च, परभवियाउयं च।

जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ, तं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ।

जं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, तं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ।

इहभवियाउयस्स पडिसंवेदणयाए परभवि-याउयं पडिसंवेदेइ।

परभवियाउयस्स पडिसंवेदणयाए इहभवि-याउयं पडिसंवेदेइ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउ-याइं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउयं च, परभवियाउयं च ॥

आयुः-प्रकरण-प्रतिसंवेदन-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति भाष-न्ते प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्ति—तद् यथानाम जालग्रन्थिका स्याद्—आनुपूर्वीग्रथिता अनन्तरग्रथिता परम्परग्रथिता अन्योन्य-ग्रथिता अन्यान्यगुरुकतया अन्योन्यभारि-कतया अन्योन्यगुरुक-संभारिकतया अन्यो-अन्योन्यघटतया तिष्ठति, एवमेव बहूनां जीवानां बहुषु आजातिसहस्रेषु बहूनि आयुष्कसहस्राणि आनुपूर्वीग्रथितानि या-वत् तिष्ठन्ति।

एकोऽपि च जीवः एकेन समयेन द्वे आयुषी प्रति संवेदयति, तद् यथा—इहभविकायुष्कं च परभविकायुष्कं च।

यं समयम् इहभविकायुष्कं प्रति संवेदयति, तं समयं परभविकायुष्कं प्रति संवेदयति।

यं समयं परभविकायुष्कं प्रति संवेदयति, तं समयम् इहभविकायुष्कं प्रति संवेदयति।

इहभविकायुष्कस्य प्रति संवेदनायां परभवि-कायुष्कं प्रति संवेदयति।

परभविकायुष्कस्य प्रति संवेदनायाम् इह-भविकायुष्कं प्रति संवेदयति।

एवं खलु एकः जीवः एकेन समयेन द्वे आयुषी प्रति संवेदयति, तद् यथा—इह-भविकायुष्कं च परभविकायुष्कं च।

आयुष्य-प्रकरण-प्रतिसंवेदन-पद

५७. 'भन्ते ! अन्ययूथिक ऐसा आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं—जैसे कोई जाल-ग्रन्थिका हैं। उस जाल में क्रमपूर्वक गांठे दी हुई हैं। एक के बाद एक किसी अंतर के बिना गांठे दी हुई हैं, परम्पर ग्रन्थियों के साथ गूंथी हुई हैं। सब ग्रन्थियां परस्पर एक-दूसरी से गूंथी हुई हैं। वैसा जाल परस्पर विस्तीर्ण, परस्पर भारी, परस्पर विस्तीर्ण और परस्पर भारी होने के कारण परस्पर समुदाय-रचना के रूप में अवस्थित है। इसी प्रकार अनेक जीवों के अनेक हजार जन्मों के अनेक हजार आयुष्य क्रम से गूंथे हुए यावत् समुदाय-रचना के रूप में अवस्थित हैं।

एक जीव एक समय में दो आयुष्यों का प्रति संवेदन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का और परभव के आयुष्य का।

जिस समय जीव इस भव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है, उसी समय वह परभव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है।

जिस समय वह परभव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है, उसी समय वह इस भव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है।

इस भव के आयुष्य का प्रति संवेदन करने से वह परभव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है।

पर भव के आयुष्य का प्रति संवेदन करने से वह इस भव के आयुष्य का प्रति संवेदन करता है।

इस प्रकार एक जीव एक समय में दो आयुष्यों का प्रति संवेदन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का और परभव के आयुष्य का।

५८. से कहमेयं भन्ते ! एवं?

गोयमा ! जण्णं तं अण्णउत्थिया तं चेव जाव परभवियाउयं चा जे ते एवमाहंसु तं मिच्छा, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि भासामि पण्णवेमि परूवेमि—से जहानामए जालगंठिया सिया आणुपुव्विगढिया अण्णतरगढिया परंपरगढिया अण्णमण्णगढिया, अण्णमण्णगरुयत्ताए अण्णमण्णभारियत्ताए अण्णमण्णगरुय-संभारियत्ताए अण्णमण्णघडत्ताए चिद्धति, एवामेव एगमेगस्स जीवस्स बहूहिं आजातिसहस्सेहिं बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्विगढियाइं जाव चिद्धति।

एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा !

जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ, नो तं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ ।

जं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, नो तं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ ।

इहभवियाउयस्स पडिसंवेदणाए, नो परभवियाउयं पडिसंवेदेइ।

परभवियाउयस्स पडिसंवेदणाए, नो इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ।

एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा।

तत्कथमेतद् भदन्त ! एवम्?

गौतम ! यत्तद् अन्ययूथिकाः तच्चैव यावत् परभविकायुष्कं चा येते एवमाहुः तन्मिथ्या, अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि भाषे प्रज्ञापयामि प्ररूपयामि—तद् यथानाम जालग्रन्थिका स्याद्—आनुपूर्वीग्रथिता अनन्तरग्रथिता परम्परग्रथिता अन्योन्यग्रथिता अन्योन्यगुरुकतया अन्योन्यभारिकतया अन्योन्यगुरुकसंभारिकतया अन्योन्यघटतया तिष्ठति, एवमेव एकैकस्य जीवस्य बहुभिः आजातिसहस्रैः बहूनि आयुष्कसहस्राणि आनुपूर्वीग्रथितानि यावत् तिष्ठन्ति।

एकोऽपि च जीवः एकेन समयेन एकम् आयुष्कं प्रतिसंवेदयति, तद् यथा—इहभविकायुष्कं वा, परभविकायुष्कं वा।

यं समयम् इहभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति, नो तं समयं परभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति।

यं समयम् परभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति, नो तं समयम् इहभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति।

इहभविकायुष्कस्य प्रतिसंवेदनायां, नो परभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति।

परभविकायुष्कस्य प्रतिसंवेदनायां, नो इहभविकायुष्कं प्रतिसंवेदयति।

एवं खलु एको जीवः एकेन समयेन एकम् आयुष्कं प्रतिसंवेदयति, तद् यथा—इहभविकायुष्कं वा, परभविकायुष्कं वा।

५८. भन्ते ! यह इस प्रकार कैसे है?

गौतम ! अन्ययूथिक जो कहते हैं यावत् एक जीव एक समय में दो आयुष्यों का प्रतिसंवेदन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का और परभव के आयुष्य का। जो ऐसा कहते हैं, वह मिथ्या है। गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करता हूँ—जैसे कोई जालग्रन्थिका है। उस जाल में क्रमपूर्वक गांठे दी हुई हैं, एक के बाद एक किसी अन्तर के बिना परम्पर ग्रन्थियों के साथ गूंथी हुई हैं। सब ग्रन्थियां परस्पर एक-दूसरी से गूंथी हुई हैं। वैसा जाल परस्पर विस्तीर्ण, परस्पर भारी, परस्पर विस्तीर्ण और भारी होने के कारण परस्पर समुदाय रचना के रूप में अवस्थित है। इसी प्रकार एक-एक जीव के अनेक हजार जन्मों के अनेक हजार आयुष्य क्रम से गूंथे हुए यावत् समुदाय-रचना के रूप में अवस्थित हैं।

एक जीव एक समय में एक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, जैसे—इस भव के आयुष्य का अथवा परभव के आयुष्य का।

जिस समय वह इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता।

जिस समय वह परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता।

इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करने से वह परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता।

परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करने से वह इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता।

इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है—इस लभव के आयुष्य का अथवा परभव के आयुष्य का।

भाष्य

१. सूत्र ५७, ५८

प्रस्तुत आगम के प्रथम शतक (१/४२०-४२१) में एक साथ दो आयुष्य के बंध का और प्रस्तुत सूत्र में एक साथ दो आयुष्य के वेदन का सिद्धान्त प्रतिपादित है। आगम-युग में कर्म-सिद्धान्त बहुचर्चित विषय था। आयु का सम्बन्ध कर्म के साथ है।

जैन दर्शन के अनुसार आठ कर्मों में एक कर्म का नाम आयुष्य कर्म है। महर्षि पतञ्जलि ने कर्माशय के तीन विपाक बतलाए हैं—जाति, आयु और भोगा^१

एक आयुष्य-काल में अनेक आयुष्यों का विपाक या वेदन होता है। यह आयुष्य-सम्बन्धी एक सिद्धान्त है। इसका हेतु है—जीवों के हजारों

१. पा.यो.द. २/१३—सति मूले तद्विपाको जज्ञ्यायुर्भोगः।

आयुष्य मत्स्य-जाल की गांठों की भांति परस्पर गूंथे हुए रहते हैं। इसलिए एक जन्म में अनेक आयुष्यों का वेदन होता रहता है। व्यास-भाष्य में भी इस विषय की चर्चा है। भाष्य के अनुसार कर्माशय एकभविक—एक जन्म से सम्बन्धित होता है।^१ प्रस्तुत भाष्य में मत्स्य-जाल-ग्रन्थि का दृष्टान्त भी मिलता है।^२ इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि भगवती के पूर्व पक्ष के रूप में योगदर्शन-सम्मत सिद्धान्त रहा है।

भगवान् महावीर ने एक जन्म में दो आयुष्यों के प्रतिसंवेदन के सिद्धान्त को अमान्य किया। उनका सिद्धान्त है कि एक जन्म में एक आयुष्य का ही प्रतिसंवेदन होता है। यदि सब जीवों के सब आयुष्यों का संवेदन एक साथ हो तो एक जन्म में अनेक जन्मों के संवेदन का प्रसंग आ जाएगा।^३ उन्होंने जालग्रन्थिका के दृष्टान्त की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। पूर्वपक्ष के अनुसार जैसे जाल की एक ग्रन्थि दूसरी ग्रन्थि से और दूसरी ग्रन्थि तीसरी ग्रन्थि से—इस प्रकार सब ग्रन्थियां परस्पर गूंथी हुई होती हैं, वैसे ही अनेक जीवों के अनेक जन्मों के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक आयुष्य परस्पर गूंथे हुए हैं। फलस्वरूप एक जन्म में दो आयुष्यों का संवेदन

हो सकता है।

महावीर के अनुसार जाल-ग्रन्थिका एक शृंखला (सांकल) है। उसकी सारी कड़ियां परस्पर प्रतिबद्ध हैं, वैसे ही आयुष्यों की एक शृंखला है। प्रत्येक जीव के वर्तमान आयुष्य से पूर्ववर्ती हजारों आयुष्य अतीत हो चुके हैं। वर्तमान जन्म केवल वर्तमान आयुष्य से ही सम्पादित होता है। फलस्वरूप एक जन्म में एक ही आयुष्य का प्रतिसंवेदन होता है।^४

शब्द-विमर्श

जालग्रन्थिका—जालिका, जाल।

घटतया, घडत्ताए—घटा—समुदाय-रचना, घटतया—समुदाय-रचना के रूप में।

आजाति—जन्म।

इहभविकायुष्क—वर्तमान जन्म की आयु।

परभविकायुष्क—वर्तमान भव में निबद्ध परभव प्रायोग्य आयु, जिसका वेदन परभव में किया जायेगा।

साउयसंक्रमण-पदं

५९. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उव-
वज्जित्तए, से णं भंते ! किं साउए संकमइ?
निराउए संकमइ?
गोयमा ! साउए संकमइ, नो निराउए सं-
कमइ ॥

६०. से णं भंते ! आउए कर्हिं कडे ? कर्हिं समा-
इण्णे ?
गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समा-
इण्णे ॥

६१. एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ।

सायुष्कसंक्रमण-पदम्

जीवः भदन्त ! यो भव्यो नैरयिकेषु उपपत्तुं,
स भदन्त ! किं सायुष्कः संक्रामति ? निरा-
युष्कः संक्रामति ?
गौतम ! सायुष्कः संक्रामति, नो निरायुष्कः
संक्रामति।

तद् भदन्त ! आयुष्कं कुत्र कृतम् ? कुत्र समा-
चीर्णम् ?
गौतम ! पूर्वस्मिन् भवे कृतम्, पूर्वस्मिन् भवे
समाचीर्णम्।

एवं यावद् वैमानिकानां दण्डकः।

सायुष्यसंक्रमण-पद

५९. 'भंते ! जो जीव नैरयिकों में उपपत्त होने वाला है,
भन्ते ! वह वहाँ आयुष्य-सहित संक्रमण करता है ?
आयुष्य-रहित संक्रमण करता है ?
गौतम ! वह आयुष्य-सहित संक्रमण करता है,
आयुष्य-रहित संक्रमण नहीं करता।

६०. भंते ! उसने आयुष्य किस जन्म में अर्जित किया
और किस जन्म में समाचीर्ण किया ?
गौतम ! पूर्व जन्म में अर्जित किया और पूर्व जन्म में
समाचीर्ण किया।

६१. इस प्रकार यावत् वैमानिक देवों के दण्डक तक
ज्ञातव्य है।

१. पा.शो.द. २/१३ (व्यास-भाष्य), पृ. १५१—तस्माज्जन्म-प्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्य-
कर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एक प्रघट्टकेन मिलित्वा
मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति,
तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यत इति। असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्
त्रिविपाकोऽभिधीयत इति। अतः एकभविकः कर्माशय उक्त इति।

२. पा.शो.द. २/१३ (व्यास-भाष्य), पृ. १५१— क्लेश कर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु

वासनाभिरनादिकालसम्मूर्च्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता
अनेकभवपूर्विका वासनाः। यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति।

३. भ.वृ. ५/५८—सर्वजीवानां सर्वायुः संवेदनेन सर्वभवभवनप्रसन्न इति।

४. वही, ५/५७—एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां बहुधा आजातिसहस्रेषु क्रमवृत्तिष्वतीतकालिकेषु
तत्कालापेक्षया सत्सु बहूनायुःसहस्राण्यतीतानि वर्तमानभवान्तानि। अन्यभविकमन्यभविकेन
प्रतिबद्धमित्येवं सर्वाणि परस्परं प्रतिबद्धानि भवन्ति न पुनरेकभव एव बहूति।

भाष्य

१. सूत्र ५९-६१

प्रस्तुत आलापक में आयुष्य की क्रम-शृंखला का प्रतिपादन है कोई भी संसारी जीव आयुष्य के बिना एक क्षण भी नहीं रहता। मृत्यु के पश्चात् दूसरे जन्म से पूर्व का मध्यवर्ती क्षण अन्तराल गति का क्षण होता है उसमें औदारिक और वैक्रिय शरीर नहीं होते। इस अपेक्षा से अन्तराल गति में

जीव को अशरीरी भी कहा गया है।^१ शरीर के बिना पौद्गलिक इन्द्रियां भी नहीं होती, इस अपेक्षा से वह अनिन्द्रिय भी होता है।^२ वह निरायु नहीं होता, अन्तराल गति में भी आयुष्य उसके साथ रहता है।

अगले जन्म का आयुष्य वर्तमान जन्म में ही निश्चित हो जाता है। आयुष्य-बन्ध का नियम यह है^३ :

वर्तमान जन्म	अग्रिम जन्म के आयुष्य का बंध-काल
१. निरुपक्रम आयुष्य वाला मनुष्य	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है।
२. सोपक्रम आयुष्य वाला मनुष्य	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है, अथवा नौवां भाग शेष रहता अथवा सत्ताईसवां भाग शेष रहता है।
३. असंख्येय वर्ष आयुष्य वाला मनुष्य	वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते हैं।
४. असंख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च	वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते हैं।
५. संख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, यदि निरुपक्रम आयुष्य है।	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है।
६. संख्येय वर्ष आयुष्य वाला पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, यदि सोपक्रम-आयुष्य है।	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है अथवा नौवां भाग शेष रहता है अथवा सत्ताईसवां भाग शेष रहता है।
७. पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय यदि निरुपक्रम-आयुष्य है।	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है।
८. पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, यदि सोपक्रम-आयुष्य है।	वर्तमान आयुष्य का तीसरा भाग शेष रहता है अथवा नौवां भाग शेष रहता है अथवा सत्ताईसवां भाग शेष रहता है।
९. नैरयिक, भवनपति, वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक	वर्तमान आयुष्य के छह मास शेष रहते हैं।

आयुष्य बन्ध के विषय में दो मतान्तर मिलते हैं—

१. वर्तमान आयुष्य आवलिका के असंख्यातवें भाग जितना शेष रहता है, उस समय परभव-योग्य आयुष्य का बन्ध होता है।

२. वर्तमान आयुष्य 'एक समयन्यून मुहूर्त' जितना शेष रहता है, उस समय परभव-योग्य आयुष्य का बन्ध होता है।

ये दोनों मतान्तर गोम्मटसार की व्याख्या में उपलब्ध हैं।^४ वर्तमान जीवन में वर्तमान आयुष्य का वेदन होता है। उस की समाप्ति के अनन्तर प्रथम समय में ही अगले जन्म के आयुष्य का वेदन प्रारम्भ हो जाता है। आयुष्य-वेदन के इस नियम के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की गई—अन्तरालगति में जीव आयुष्य-सहित संक्रमण करता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने निश्चय

और व्यवहार दोनों नयों से अन्तराल गति के आयुष्य की विस्तृत चर्चा की है।^५ सिद्धसेनगणी ने उसका निष्कर्ष संक्षेप में प्रस्तुत किया है—ऋजुगति में जन्मस्थान में जाने तक पूर्व जन्म का आयुष्य होता है। वक्रगति के पहले समय में पूर्व जन्म का आयुष्य होता है, दूसरे समय में अगले जन्म का आयुष्य प्रारम्भ हो जाता है।^६ जयाचार्य ने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह लिखा—

प्रथम समय नां सिद्ध च्यार कर्मा नां अंश खपावै रे ।

चौथे ठापै प्रथम उद्देशे, बुद्धिवंत न्याय मिलावै रे ॥^७

'इहं बोदिं चइत्ताणं तत्थ गंतूणं सिज्झई'^८ उत्तरज्झयणाणि की इस गाथा में भी उक्त सिद्धान्त का समर्थन है।

१. भ. १/३४२, ३४३।

२. वही, १/३४०, ३४१।

३. (क) पण्ण. ६/११४-११६।

(ख) ढ.सू.भा.वृ. २/५१, पृ. २१९।

४. जै.सि.को. भाग १, पृ. २७१।

५. वि.भा.गा. ३१६०-३१६५।

जमिहं बोदिच्चाओ तदेव सिद्धत्तणं च जं चेहं
तस्साहणं ति तो पुव्वभावनयओ इदं सिद्धी॥३१६०॥
जेण उ न बोदिकाले सिद्धो चायसमए य जं गमणं।
धच्चुप्पण्णनयमयं सिज्झई गंतूणं तेणेहा॥३१६१॥
अन्थीसीयज्झारोवलक्खियं मणुयलोगपरिमणं।

लोगगनभोभागे सिद्धिक्खेतं जिणक्खायं॥३१६२॥

देहत्तिभागो सुसिरं तप्पूरणओ तिभागहीणो ति।

सो जोगनिरिहे च्चिय जाओ सिद्धो वि तदवत्थो॥३१६३॥

संहारसंभवाओ पएसमेत्तम्मि किं न संठाइ ?

समत्थाभावाओ सकम्मयाओ सहावाओ॥३१६४॥

सिद्धो वि देहरहिओ सपयत्ताभावओ न संहरइ।

अपयत्तस्स किह गई, नणु भणियाऽसंगयाईहिं॥३१६५॥

६. त.सू. २/२९—ऋजुगतौ पूर्वकमेवाऽऽयुर्भवति यावदुपपातदेशं प्राप्नोति, कुटिलगतौ यावद्वक्रं तावत् पूर्वकम्, तत्परतो भविष्यज्जन्मविषयमायुर्देति।

७. डीणी चरचा, ढाल १७, गाथा १३।

८. उत्तर. ३६/५६।

६२. से नूनं भंते ! जे जं भविए जोणिं उव-
वज्जित्तए, से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—
नेरइयाउयं वा? तिरिक्खजोणियाउयं वा?
मणुस्साउयं वा? देवाउयं वा?
हंता गोयमा ! जे जं भविए जोणिं उवव-
ज्जित्तए, से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—
नेरइयाउयं वा, तिरिक्खजोणियाउयं वा,
मणुस्साउयं वा, देवाउयं वा।
नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं
जहा—रणप्पभापुढविनेरइयाउयं वा,
सक्करप्पभापुढविनेरइयाउयं वा, बालुय-
प्पभापुढविनेरइयाउयं वा, पंकप्पभा-
पुढविनेरइयाउयं वा, धूमप्पभापुढवि-
नेरइयाउयं वा, तमप्पभापुढविनेरइयाउयं
वा, अहेसत्तमापुढविनेरइयाउयं वा।

तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं
पकरेइ, तं जहा—एगिदियतिरिक्खजोणि-
याउयं वा, बेइंदियतिरिक्खजोणियाउयं
वा, तेइंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा, चउ-
रिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा, पंचिं-
दियतिरिक्खाजोणियाउयं वा।

मणुस्साउयं दुविहं पकरेइ, तं जहा—
सम्मूच्छिममणुस्साउयं वा, गम्भवक्कं-
तियमणुस्साउयं वा।

देवाउयं चउव्विहं पकरेइ, तं जहा—
भवणवासिदेवाउयं वा, वाणमंतरदेवाउयं
वा, जोइसियदेवाउयं वा, वेमाणियदेवाउयं
वा॥

तन्नूनं भदन्त ! यो यस्यां भव्यो योनौ उप-
पत्तुम्, स तदायुष्कं प्रकरोति, तद् यथा—
नैरयिकायुष्कं वा? तिर्यग्योनिकायुष्कं वा?
मनुष्यायुष्कं वा? देवायुष्कं वा?
हन्त गौतम ! यो यस्यां भव्यो योनौ उपपत्तुं,
स तदायुष्कं प्रकरोति, तद् यथा—नैरयि-
कायुष्कं वा तिर्यग्योनिकायुष्कं वा, मनुष्या-
युष्कं वा, देवायुष्कं वा।
नैरयिकायुष्कं प्रकुर्वन् सप्तविधं प्रकरोति,
तद् यथा—रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकायुष्कं वा
शर्कराप्रभापृथिवीनैरयिकायुष्कं वा, बा-
लुकाप्रभापृथिवीनैरयिकायुष्कं वा, पङ्क-
प्रभापृथिवीनैरयिकायुष्कं वा, धूमप्रभा-
पृथिवीनैरयिकायुष्कं वा, तमःप्रभापृथिवी-
नैरयिकायुष्कं वा, अधःसप्तमीपृथिवी-
नैरयिकायुष्कं वा।

तिर्यग्योनिकायुष्कं प्रकुर्वन् पञ्चविधं प्रक-
रोति, तद् यथा—एकेन्द्रियतिर्यग्योनि-
कायुष्कं वा, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकायुष्कं वा,
त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकायुष्कं वा, चतुरिन्द्रिय-
तिर्यग्योनिकायुष्कं वा, पंचेन्द्रियतिर्यग्यो-
निकायुष्कं वा।

मनुष्यायुष्कं द्विविधं प्रकरोति, तद् यथा—
सम्मूर्च्छिममनुष्यायुष्कं वा, गर्भव्युत्क्रान्ति-
कमनुष्यायुष्कं वा।

देवायुष्कं चतुर्विधं प्रकरोति, तद् यथा—
भवनवासिदेवायुष्कं वा, वानमन्तरदेवायुष्कं
वा, ज्यौतिषिकदेवायुष्कं वा, वैमानिक-
देवायुष्कं वा।

६२. 'भंते ! जो जीव जिस योनि में उत्पन्न होने वाला
है, वह उसी का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—
नैरयिक का आयुष्य? तिर्यग्योनिक का आयुष्य?
मनुष्य का आयुष्य अथवा देव का आयुष्य?
हां गौतम ! जो जीव जिस योनि में उत्पन्न होने वाला
है, वह उसी का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—
नैरयिक का आयुष्य, तिर्यग्योनिक का आयुष्य, मनुष्य
का आयुष्य अथवा देव का आयुष्य।
नैरयिक का आयुष्य अर्जित करने वाला जीव सात
प्रकार का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—रत्न-
प्रभापृथ्वी नैरयिक का आयुष्य, शर्कराप्रभापृथ्वी
नैरयिक का आयुष्य, बालुकाप्रभापृथ्वी नैरयिक का
आयुष्य, पंकप्रभापृथ्वी नैरयिक का आयुष्य, धूम-
प्रभापृथ्वी नैरयिक का आयुष्य, तमःप्रभापृथ्वी
नैरयिक का आयुष्य अथवा अधःसप्तमीपृथ्वी
नैरयिक का आयुष्य।

तिर्यग्योनिक आयुष्य अर्जित करने वाला जीव पांच
प्रकार का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—एके-
न्द्रियतिर्यग्योनिक आयुष्य, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिक
आयुष्य, त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिक आयुष्य, चतुरिन्द्रिय-
तिर्यग्योनिक आयुष्य अथवा पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक
आयुष्य।

मनुष्य का आयुष्य अर्जित करने वाला जीव दो प्रकार
का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—सम्मूर्च्छिम
मनुष्य का आयुष्य अथवा गर्भावक्रान्तिक मनुष्य का
आयुष्य।

देव का आयुष्य अर्जित करने वाला जीव चार प्रकार
का आयुष्य अर्जित करता है, जैसे—भवनवासी
देव का आयुष्य, वानमन्तर देव का आयुष्य, ज्यो-
तिषिकदेव का आयुष्य अथवा वैमानिक देव का
आयुष्य।

भाष्य

१. सूत्र ६२

आयुष्य का अर्थ है—आयुष्य कर्म के पुद्गल स्कन्धों की राशि।
गति के बिना उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। जिस गति में जाने की
योग्यता अर्जित होती है, उसी गति के आयुष्य का बन्ध होता है। गतियां चार
हैं—१. नरकगति २. तिर्यञ्चगति ३. मनुष्यगति ४. देवगति। इनमें जाने की

योग्यता के कारणों का उल्लेख अनेक आगमों में मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में
चारों गतियों के साथ ही आयुष्य का सम्बन्ध प्रदर्शित है।

वर्तमान जन्म में आयुष्य का बन्ध छह सन्दर्भों के साथ होता है:^१

१. जातिनाम निधत्त आयुष्य—पांच जातियों में से एक जाति के
आयुष्य का निर्धारण।

१. (क) म. ८/४२५-४२८।

(ख) ठाणं, ४/६२८-६३१।

२. षण्ण. ६/११८-१२३।

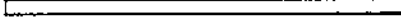
२. गतिनाम निधत्त आयुष्य—चार गतियों में से एक गति के आयुष्य का निर्धारण। शरीर में से किसी एक शरीर के साथ आयुष्य का निर्धारण।
३. स्थितिनाम निधत्त आयुष्य—आयुष्य के कालमान का निर्धारण। अथवा द्रव्यमान का निर्धारण।
४. अवगाहनानाम निधत्त आयुष्य—औदारिक अथवा वैक्रिय (अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय) का निर्धारण।^१
५. प्रदेशनाम निधत्त आयुष्य—आयुष्य के प्रदेशों, परमाणु-स्कन्धों
६. अनुभागनाम निधत्त आयुष्य—आयुष्य की विपाक-शक्ति

६३. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

६३. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है !

१. त.सू.भा.वृ. २/५१।



चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

छउमत्थ-केवलीणं सद्दसवण-पदं

६४. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से आउडिज्ज-
माणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—संखसद्दाणि
वा, सिंगसद्दाणि वा, संखियसद्दाणि वा,
खरमुखीसद्दाणि वा, पोयासाणि वा, पिरिपिरि-
यासद्दाणि वा, पणवसद्दाणि वा, पडहसद्दाणि
वा, भंभासद्दाणि वा, होरंभसद्दाणि वा,
भेरिसद्दाणि वा, झल्लरीसद्दाणि वा, दुंदुभि-
सद्दाणि वा, तताणि वा, वितताणि वा,
घणाणि वा, झुसिराणि वा?

हंता गोयमा ! छउमत्थे णं मणुस्से आउडि-
ज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेइ, तं जहा—संख-
सद्दाणि वा जाव झुसिराणि वा ।

ताइं भंते ! किं पुड्डाइं सुणेइ? अपुड्डाइं सुणेइ?

गोयमा ! पुड्डाइं सुणेइ, नो अपुड्डाइं सुणेइ।

जाइं भंते ! पुड्डाइं सुणेइ ताइं किं ओगाढाइं
सुणेइ? अणोगाढाइं सुणेइ?

गोयमा ! ओगाढाइं सुणेइ, नो अणोगाढाइं
सुणेइ।

जाइं भंते ! ओगाढाइं सुणेइ ताइं किं अणंत-
रोगाढाइं सुणेइ? परंपरोगाढाइं सुणेइ?

गोयमा ! अणंतरोगाढाइं सुणेइ, नो परंपरो-
गाढाइं सुणेइ।

जाइं भंते ! अणंतरोगाढाइं सुणेइ ताइं किं
अणूइं सुणेइ? बादराइं सुणेइ ?

गोयमा ! अणूइं पि सुणेइ, बादराइं पि सुणेइ।

छद्मस्थ-केवलिनोः शब्दश्रवण-पदम्

छद्मस्थः भदन्त ! मनुष्यः आकुट्यमानान्
शब्दान् शृणोति, तद् यथा—शङ्खशब्दान्
वा, शृङ्गशब्दान् वा, शङ्खिकाशब्दान् वा,
खरमुखीशब्दान् वा, 'पोया'शब्दान् वा,
'पिरिपिरिया'शब्दान् वा, पणवशब्दान् वा,
पटहशब्दान् वा, भंभाशब्दान् वा, हो-
रंभशब्दान् वा, भेरीशब्दान् वा, झल्लरी-
शब्दान् वा, दुन्दुभिःशब्दान् वा, ततानि वा,
विततानि वा घनानि वा शुषिराणि वा?

हन्त गौतम ! छद्मस्थो मनुष्यः आकु-
ट्यमानान् शब्दान् शृणोति, तद् यथा—
शङ्खशब्दान् वा यावत् शुषिराणि वा।

तान् भदन्त ! किं स्पृष्टान् शृणोति? अस्पृष्टान्
शृणोति?

गौतम ! स्पृष्टान् शृणोति, नो अस्पृष्टान्
शृणोति।

यान् भदन्त ! स्पृष्टान् शृणोति तान् किम्
अवगाढान् शृणोति? अनवगाढान् शृणोति?

गौतम ! अवगाढान् शृणोति, नो अनवगाढान्
शृणोति?

यान् भदन्त ! अवगाढान् शृणोति तान् किम्
अनन्तरावगाढान् शृणोति? परम्परावगाढान्
शृणोति?

गौतम ! अनन्तरावगाढान् शृणोति, नो पर-
म्परावगाढान् शृणोति।

यान् भदन्त ! अनन्तरावगाढान् शृणोति तान्
किम् अणून् शृणोति? बादरान् शृणोति?

गौतम ! अणून्पि शृणोति, बादरान्पि
शृणोति।

छद्मस्थ और केवली द्वारा शब्दश्रवण का पद

६४. 'भन्ते ! क्या छद्मस्थ मनुष्य (वाद्ययंत्रों को) पीटे
जाने पर उत्पन्न शब्दों को सुनता है, जैसे—शंख-
शब्द, सींग-शब्द, छोटे शंख का शब्द, काहला का
शब्द, बड़ी काहला का शब्द, वीणा-शब्द, पणव-
शब्द, पटह-शब्द, भंभा-शब्द, होरंभ (बड़े ढोल)
का शब्द, भेरी-शब्द, झल्लरी-शब्द, दुन्दुभि-शब्द,
तत (वीणा आदि बाद्यों के शब्द), वितत (पटह आदि
के शब्द), घन (कांस्य ताल आदि के शब्द) और
शुषिर^१ (बांसुरी आदि के शब्द) ?

हां गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य आकुट्यमान शब्दों को
सुनता है, जैसे—शंख-शब्द यावत् शुषिर-शब्द ।

भंते ! क्या वह उन स्पृष्ट शब्दों को सुनता है अथवा
अस्पृष्ट शब्दों को सुनता है?

गौतम ! वह स्पृष्ट शब्दों को सुनता है, अस्पृष्ट शब्दों
को नहीं सुनता।

भन्ते ! वह जिन स्पृष्ट शब्दों को सुनता है, क्या उन
अवगाढ शब्दों को सुनता है अथवा अनवगाढ शब्दों
को सुनता है?

गौतम ! वह अवगाढ शब्दों को सुनता है, अनवगाढ
शब्दों को नहीं सुनता।

भन्ते ! वह जिन अवगाढ शब्दों को सुनता है, क्या
उन अनन्तरावगाढ शब्दों को सुनता है अथवा
परम्परावगाढ शब्दों को सुनता है?

गौतम ! वह अनन्तरावगाढ शब्दों को सुनता है,
परम्परावगाढ शब्दों को नहीं सुनता।

भन्ते ! वह जिन अनन्तरावगाढ शब्दों को सुनता है,
क्या उन अणु (सूक्ष्म) शब्दों को सुनता है अथवा
बादर (स्थूल) शब्दों को सुनता है?

गौतम ! वह अणु शब्दों को भी सुनता है, बादर शब्दों
को भी सुनता है।

जाइं भंते ! अणूइं पि सुणेइ बादराइं पि सुणेइ, ताइं किं उइं सुणेइ? अहे सुणेइ? तिरियं सुणेइ?

यान् भदन्त ! अणूनपि शृणोति बादरानपि शृणोति, तान् किम् ऊर्ध्वं शृणोति?अधः शृणोति? तिर्यक् शृणोति?

भन्ते ! वह जिन अणु शब्दों को सुनता है और बादर शब्दों को भी सुनता है, क्या उन ऊर्ध्व क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को सुनता है, अधः क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को सुनता है अथवा तिरछे क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को सुनता है?

गोयमा ! उइं पि सुणेइ, अहे वि सुणेइ, तिरियं पि सुणेइ।

गौतम ! ऊर्ध्वमपि शृणोति, अधोऽपि शृणोति, तिर्यगपि शृणोति।

गौतम ! वह ऊर्ध्व क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को भी सुनता है, अधः क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को भी सुनता है और तिरछे क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को भी सुनता है।

जाइं भंते ! उइं पि सुणेइ, अहे वि सुणेइ तिरियं पि सुणेइ, ताइं किं आइं सुणेइ? मज्झे सुणेइ? पज्जवसाणे सुणेइ?

यान् भदन्त ! ऊर्ध्वमपि शृणोति, अधोऽपि शृणोति, तिर्यगपि शृणोति, तान् किम् आदौ शृणोति? मध्ये शृणोति? पर्यवसाने शृणोति?

भन्ते ! वह जिन ऊर्ध्व क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को सुनता है, अधः और तिरछे क्षेत्र में विद्यमान शब्दों को सुनता है, क्या उनके आदि भाग को सुनता है, मध्यभाग को सुनता है अथवा पर्यवसान भाग को सुनता है ?

गोयमा ! आइं पि सुणेइ, मज्झे पि सुणेइ, पज्जवसाणे वि सुणेइ।

गौतम ! आदावपि शृणोति, मध्येऽपि शृणोति, पर्यवसानेऽपि शृणोति।

गौतम ! वह उनके आदि भाग को भी सुनता है, मध्य भाग को भी सुनता है और पर्यवसान भाग को भी सुनता है।

जाइं भंते ! आइं पि सुणेइ, मज्झे वि सुणेइ, पज्जवसाणे वि सुणेइ, ताइं किं सविसए सुणेइ? अविसए सुणेइ?

यान् भदन्त ! आदावपि शृणोति, मध्येऽपि शृणोति, पर्यवसानेऽपि शृणोति, तान् किम् सविषयान् शृणोति? अविषयान् शृणोति?

भन्ते ! वह जिन शब्दों के आदि भाग को भी सुनता है, मध्य भाग को भी सुनता है और पर्यवसान भाग को भी सुनता है, क्या उन अपनी इन्द्रिय के विषयभूत शब्दों को सुनता है अथवा अपनी इन्द्रिय के अविषयभूत शब्दों को सुनता है?

गोयमा ! सविसए सुणेइ, नो अविसए सुणेइ।

गौतम ! सविषयान् शृणोति, नो अविषयान् शृणोति।

गौतम ! वह अपनी इन्द्रिय के विषयभूत शब्दों को सुनता है, अपनी इन्द्रिय के अविषयभूत शब्दों को नहीं सुनता।

जाइं भंते ! सविसए सुणेइ, ताइं किं आणु-पुव्विं सुणेइ? अणानुपुव्विं सुणेइ?

यान् भदन्त ! सविषयान् शृणोति, तान् किम् आनुपूर्व्यां शृणोति? अनानुपूर्व्यां शृणोति?

भन्ते ! वह अपनी इन्द्रिय के विषयभूत जिन शब्दों को सुनता है, क्या उन्हें क्रम से सुनता है अथवा अक्रम से सुनता है?

गोयमा ! आणुपुव्विं सुणेइ, नो अणानु-पुव्विं सुणेइ।

गौतम ! आनुपूर्व्यां शृणोति, नो अनानुपूर्व्यां शृणोति?

गौतम ! वह क्रम से सुनता है, अक्रम से नहीं सुनता।

जाइं भंते ! आणुपुव्विं सुणेइ, ताइं किं ति-दिसिं सुणेइ जाव छदिसिं सुणेइ?

यान् भदन्त ! आनुपूर्व्यां शृणोति, तान् किं त्रिदिशं शृणोति यावत् षड्दिशं शृणोति?

भन्ते ! वह जिन शब्दों को क्रम से सुनता है, क्या उन्हें तीन दिशाओं से सुनता है यावत् छह दिशाओं से सुनता है?

गोयमा ! नियमा छदिसिं सुणेइ।

गौतम ! नियमात् षड्दिशं शृणोति।

गौतम ! वह नियमतः छह दिशाओं से सुनता है।

भाष्य

१. सूत्र ६४

प्रस्तुत आलापक में शब्द सुनने की प्रक्रिया बतलाई गई है। इन्द्रियों के पांच विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्दा स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियां बद्ध-स्पृष्ट विषयों को ग्रहण करती हैं। चक्षु इन्द्रिय अस्पृष्ट विषय का ग्रहण करती है, श्रोत्र इन्द्रिय स्पृष्ट विषय का ग्रहण करती

है।^१ जैन न्याय में इस आधार पर प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी की व्यवस्था की गई है। चक्षु के साथ विषय का स्पर्श नहीं होता, इसलिए वह अप्राप्यकारी है—विषय का स्पर्श किए बिना ज्ञान करने वाला है। शेष चार इन्द्रियां विषय का स्पर्श कर ज्ञान करती है, इसलिए वे प्राप्यकारी हैं। श्रोत्र-इन्द्रिय में शब्द के परमाणु-स्कन्धों का स्पर्श होता है, किन्तु उनका संवेदन नहीं होता, शेष

१. नंदी, सू. ५४ गा. ४—

पुंइं सुणेइ सइं रूवं पुण पासइ अपुंइं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्धपुंइं वियागरे॥

तीनों इन्द्रियों के विषयों का स्पर्श और संवेदन दोनों होते हैं। इस आधार पर इन्द्रियां दो श्रेणियों में विभक्त हैं—प्रथम तीन (स्पर्शन, रसन, घ्राण) इन्द्रियां भोगी और शेष दो (चक्षु और श्रोत्र) इन्द्रियां कामी हैं।^१

सुनने की प्रक्रिया के मौलिक सूत्र ये हैं—

१. स्पृष्ट—श्रवण-क्षेत्र में आत्म-प्रदेशों के साथ स्पृष्ट शब्द को सुना जा सकता है।^२

२. अवगाढ—आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्र में अवस्थित शब्द को सुना जा सकता है।^३

३. अनन्तरावगाढ—आत्म-प्रदेशों के साथ अव्यवहित रूप में अवस्थित शब्द को सुना जा सकता है।^४

४. अणु और बादर दोनों प्रकार के शब्दों को सुना जा सकता है।

यहाँ अणु और बादर सापेक्ष शब्द हैं। भाषा वर्गणा के पुद्गल चतुःस्पर्शी होते हैं, उन्हें नहीं सुना जा सकता। वक्ता के मुँह से निकलने वाले शब्द का विस्फोट होता है। उसमें अन्य अनन्तप्रदेशी स्कन्ध मिलकर शब्द को अष्टस्पर्शी बना देते हैं। वे अष्टस्पर्शी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के विषय बनते हैं। यहाँ अणु का अर्थ सूक्ष्म—चतुःस्पर्शी नहीं है।^५ मलयगिरि ने सापेक्ष दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अणु का अर्थ अल्पप्रदेशोपचय वाला और बादर का अर्थ प्रचुरप्रदेशोपचय वाला किया है।^६

५. ऊर्ध्ववर्ती, अधोवर्ती और तिर्यग्वर्ती तीनों प्रकार के शब्द को सुना जा सकता है।

६. आदि, मध्य और पर्यवसान तीनों समयों में शब्द को सुना जा सकता है। भाषा-द्रव्य का ग्रहणोचित-काल उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्त है। उसके प्रथम समय, मध्य समय और पर्यवसान समय में शब्द श्रवण का विषय बन सकता है।^७ शब्द की तरंगें होती हैं। उनका प्रवाह होता है। एक तरंग आरम्भ होती है और कुछ दूर जा पूरी हो जाती है। फिर उसी प्रकार दूसरी तरंग का आरम्भ और अन्त होता है। शब्द की तरंगों के आदि, मध्य और पर्यवसान तीनों को पकड़ा जा सकता है।

७. स्वविषय शब्द को सुना जा सकता है। पणवणा में श्रोत्रेन्द्रिय का विषय जघन्यतः अंगुल का असंख्यातवां भाग एवं उत्कर्षतः बारह योजन बतलाया गया है।^८

मलयगिरि ने स्वविषय का अर्थ स्पृष्ट, अवगाढ और अनन्तरावगाढ किया है।^९ किन्तु प्रथम अर्थ अधिक संगत है।

८. आनुपूर्वी—श्रवण-क्षेत्र में क्रम से आने वाले शब्द को सुना जा सकता है, अक्रम अथवा व्युत्क्रम से आने वाले शब्द को नहीं सुना जा सकता।

छहों (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः) दिशाओं से आने वाले शब्द को सुना जा सकता है। इसका हेतु यह है कि लोक में त्रस जीवों का एक नियत क्षेत्र है, उसे त्रसनाडी कहा जाता है। भाषक त्रस प्राणी होता है, उसका अस्तित्व नियमतः त्रसनाडी में मिलता है। त्रसनाडी में छहों दिशाओं से पुद्गल का ग्रहण किया जा सकता है।^{१०}

शब्द-विमर्श

काहला (खरमुही) — फौजी ढोला^{११}

वीणा (पिरिपिरिया) — सितार जैसा एक बाजा, जिसके दोनों सिरों पर तुम्बे लगे रहते हैं।^{१२}

दक्षिण भारतीय संगीत के वाद्यों में तंजोरी वीणा और तम्बूरा का उल्लेख मिलता है। तंजोरी वीणा दक्षिणी कर्नाटक संगीत का एक प्रमुख तत वाद्य है। इस वाद्य में दो तुम्बे होते हैं। तम्बूरा दक्षिण में आधारस्वर देने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। उत्तर भारत के तानपूरे से यह आकार में कुछ भिन्न होता है। तम्बूरा में लौकिक तुम्बे के स्थान पर लकड़ी का तुम्बा होता है। तानपूरा को कहीं-कहीं तम्बूरा भी कहा जाता है। दो तुम्बों वाला तानपूरा मद्रास के संग्रहालय में है।^{१३} तानपूरे का तुम्बा नीचे गोल और ऊपर कुछ चपटा होता है। इसके अन्दर पोल होती है, जिसके कारण स्वर गुंजते हैं।^{१४}

पणव (पणव) — भाण्डों का ढोल, छोटा ढोला।^{१५}

मृदंग के समान पणव भी भरत का अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है। महर्षि भरत ने (नाट्य-शास्त्र में) मृदंग के बाद अवनद्ध वाद्यों में पणव को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। पणव के आकार के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—सोलह अंगुल लम्बा, मध्य भाग भीतर की ओर दबा जिसका विस्तार आठ अंगुल तथा जिसके दोनों मुख पांच अंगुल के हों, वह पणव है। आधे अंगूठे के समान मोटाई वाला काठ होता है और भीतर का खोखला भाग चार अंगुल के व्यास का होता है। पणव के दोनों मुख कोमल चमड़े से मढ़े जाते हैं जिन्हें सूतली से कसा जाता है। सूतलियों का यह कसाव कुछ ढीला रखा जाता था।^{१६}

१. भ. ७/१३८, १३९।

२. प्रज्ञा, वृ.प. ३६३—स्पृष्टानि—आत्मप्रदेशसंस्पृष्टानि।

३. वही, प. २६३—अवगाढानि—आत्मप्रदेशैः सह एक क्षेत्रावस्थितानि।

४. वही, प. २६३—अनन्तरावगाढानि—अव्यवधानेनावस्थितानि गृह्णाति न परम्परावगाढानि, किमुक्तं भवति? येष्व्वात्मप्रदेशेषु यानि भाषाद्रव्याण्यवगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येव गृह्णाति न त्वेकद्विस्वात्मप्रदेशव्यवहितानि।

५. द्रष्टव्य भ. १/१९, २० का भाष्य।

६. प्रज्ञा, वृ.प. २६३—अणू-यपि — स्तोत्रक प्रदेशान्यपि गृह्णाति बादराण्यपि — प्रभूतप्रदेशोपचिन्तान्यपि, इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेव भाषायोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोक-बाहुल्यापेक्षया व्याख्याते।

७. वही, प. २६३—यानि भाषाद्रव्याण्यन्तर्मुहूर्तं यावद् ग्रहणोचितानि तानि ग्रहणोचित-कालस्य उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यादावपि प्रथमसमये, मध्येपि — द्वितीयादिष्वपि समयेषु,

पर्यवसानेषु—पर्यवसानसमयेपि गृह्णाति।

८. पणव. १५/४०।

९. प्रज्ञा, वृ.प. २६४—स्वविषयान्—स्वगोचरान् स्पृष्टावगाढानन्तरावगाढाख्यान् गृह्णाति।

१०. वही, प. २६४—भाषको हि नियमात् त्रसनाड्यां अन्यत्र त्रसकायासम्भवात् त्रसनाड्यां च व्यवस्थितस्य नियमात् षड्दिगागतपुद्गलसम्भवात्।

११. भ.वृ. ५/६४—'खरमुहि' ति काहला।

१२. (क) भ.वृ. ५/६४—'पिरिपिरिया' ति कोलिक पुटकावनध्मुखो वाद्यविशेषः।

(ख) आ.वृ.प. ३८०—कोलियकपुटावनद्धा वंशादिनलिका।

१३. भारतीय संगीत में वाद्यवृन्द, पृ. ८३, ८४, १६३।

१४. संगीत विशारद, पृ. २८४।

१५. भ.वृ. ५/६४—'पणव' ति भाण्डपटहो लघुपटहो वा।

१६. भारतीय संगीत में वाद्यवृन्द, पृ. ७।

पटह (पडह)—ढोला^१

भंभा (भंभा)—ढक्का^२ अथवा जयढक्का^३ ढक्का का अर्थ है।

होरंभ (होरंभ)—महाढक्का^४

भेरी (भेरी)—नगाड़ा, डंका^५

प्यालीनुमा मिट्टी या लकड़ी की कुण्डी को चमड़े से मढ़कर नगाड़ा बनता है। दो नुकीली लकड़ियों से नगाड़ा-वादन किया जाता है। इसे नक्कारा भी कहते हैं।^६ एक मत के अनुसार नगाड़ा मध्यकालीन वाद्य था। जिसका आकार गोल था और वह समान आकार वाले दो चौड़े बड़े लोहे के कटोरों, जो बकरे या भैंस की खाल से मढ़े होते हैं, से बनता है।^७

झल्लरी (झल्लरी)—झाँझ^८ यह लोकवाद्य है दो बड़े चक्राकार चपटे टुकड़े जिनके मध्य भाग में छोटा-सा गड्ढा रहता है, आपस में टकराकर बजाए जाते हैं। दक्षिण भारत में इसे 'झालरा' कहते हैं। झालरा मंजीरे के समान पीतल या धातु का बना होता है। इसका आकार गोल होता है। बीच में एक छिद्र होता है जिसमें धागा या तांत पिरोकर दोनों हाथों के सहारे बजाते हैं।^९ एक मत के अनुसार आठ से सोलह अंगुल व्यास तक के धातु के गोल टुकड़े झाँझ कहलाते हैं। इनके मध्य में डोरी निकालकर तथा उस पर कपड़ा

बांधकर हाथ से पकड़ने योग्य कर लेते हैं और फिर एक-एक हाथ में एक-एक टुकड़ा पकड़कर दोनों को एक दूसरे से आघात से बजाते हैं, जिससे मनचाही झंकार निकाली जाती है। प्रायः देवी-देवताओं की स्तुति के समय झाँझ-मंजीरों का वादन किया जाता है।^{१०}

दुन्दुभि (दुंदुभि)—एक प्रकार का बड़ा नगाड़ा^{११}

तत शुषिर

वाद्य चार प्रकार के होते हैं—

तत—वीणा आदि वाद्यों के शब्द।

वितत—पटह आदि के शब्द।

घन—कांस्य, ताल आदि के शब्द।

शुषिर—बांसुरी आदि के शब्द।^{१२}

तत्त्वार्थराजवार्तिक एवं तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की भाष्यानुसारिणी वृत्ति में उपर्युक्त तत और वितत की व्याख्या में परस्पर विपर्यास उपलब्ध होता है।^{१३} इन चारों शब्दों पर विस्तृत विवेचन के लिए टाणं २/२१२-२१९ तथा ४/६३२ के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

६५. छउमत्थे णं भंते! मणूसे किं आरगयाइं सदाइं सुणेइ? पारगयाइं सदाइं सुणेइ?

छद्मस्थः भदन्त ! मनुष्यः किम् आरगतान् शब्दान् शृणोति? पारगतान् शब्दान् शृणोति?

६५. 'भन्ते ! छद्मस्थ मनुष्य आरगत (इन्द्रिय-विषय की सीमा में आने वाले) शब्दों को सुनता है या पारगत (इन्द्रिय-विषय की सीमा से परवर्ती) शब्दों को सुनता है? गौतम ! वह आरगत शब्दों को सुनता है, पारगत शब्दों को नहीं सुनता।

गोयमा ! आरगयाइं सदाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सदाइं सुणेइ।

गौतम ! आरगतान् शब्दान् शृणोति, नो पारगतान् शब्दान् शृणोति।

६६. जहा णं भंते ! छउमत्थे मणूसे आरगयाइं सदाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सदाइं सुणेइ, तथा णं केवली किं आरगयाइं सदाइं सुणेइ? पारगयाइं सदाइं सुणेइ?

यथा भदन्त ! छद्मस्थः मनुष्यः आरगतान् शब्दान् शृणोति, नो पारगतान् शब्दान् शृणोति, तथा केवली किम् आरगतान् शब्दान् शृणोति पारगतान् शब्दान् शृणोति?

६६. भन्ते ! जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य आरगत शब्दों को सुनता है, पारगत शब्दों को नहीं सुनता, क्या उसी प्रकार केवली आरगत शब्दों को सुनता है अथवा पारगत शब्दों को सुनता है।

गोयमा ! केवली णं आरगयं वा, पारगयं वा सव्वदूर-मूलमणतियं सद्दं जाणइ-पासइ ॥

गौतम ! केवली आरगतं वा पारगतं वा, सर्वदूर-मूलमनन्तिकं शब्दं जानाति-पश्यति।

गौतम ! केवली आरगत अथवा पारगत, अतिदूर, अतिनिकट तथा मध्यवर्ती (न आसन्न न दूर) स्थित शब्द को जानता-देखता है।

६७. से केणट्टेणं भंते! एवं चुच्चइ—केवली णं आरगयं वा, पारगयं वा सव्वदूरमूल-मणतियं सद्दं जाणइ-पासइ?

तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—केवली आरगतं वा, पारगतं वा, सर्वदूर-मूलमनन्तिकं शब्दं जानाति-पश्यति?

६७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—केवली आरगत अथवा पारगत, अतिदूर, अतिनिकट तथा मध्यवर्ती (न आसन्न न दूर) स्थित शब्द को जानता-देखता है?

१. (क) भ.जो. २/७९/५ — पडह अर्थ ढोल विशेषाणी।

(ख) आप्टे. पटह A kettle-drum, a wat-drum, drum, tabor.

२. (क) भ. वृ. ५/६४ — 'भंभति' ढक्का;

(ख) आप्टे. ढक्का — double drum.

३. अभि. (स्वोपज्ञ टीका) ३/३७६—भम्भा जयढक्कैव सारमस्य भम्भासारः।

४. राज. वृ. पु. १२६., जीवा. वृ. प. २६६—होरंभा महाढक्का।

५. बृहत् हिन्दी कोश—'भेरी' शब्द।

६. संगीत विशारद, पृ. ४३१।

७. भारतीय संगीत में वाद्यवृन्द, पृ. १६७।

८. भ. वृ. ५/६४ — 'झल्लरि' ति बलयाकारो वाद्यविशेषः।

९. भारतीय संगीत में वाद्यवृन्द, पृ. ८६, १६६।

१०. संगीत विशारद, पृ. ४३१।

११. आप्टे. दुन्दुभि—A sort of large kettle-drum.

१२. (क) भ. वृ. ५/६४—ततानि वीणादिवाद्यानि तज्जनित शब्दा अपि तताः,

एवमन्यदपि पदत्रयम्, नवरसयं विशेषस्ततादीनाम्—

ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम्।

घनं तु कांस्यातालादि, वंशादि शुषिरं मतम्॥

(ख) अभि. २/२००, २०१—

ततं वीणा प्रभृतिकं, तालप्रभृतिकं घनम्।

वंशादिकन्तु शुषिरं, आनन्दं मुरादिकम्॥

१३. (क) त. रा. वा. ५/२४।

(ख) त. सू. भा. वृ. ५/२४।

गोयमा ! केवलीणं पुरत्थिमे णं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ । एवं दाहिणे णं, पच्चत्थिमे णं, उत्तरे णं, उड्डं, अहे मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ ।

सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली ।
सव्वओ जाणइ केवली, सव्वओ पासइ केवली ।

सव्वकालं जाणइ केवली, सव्वकालं पासइ केवली ।

सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली ।

अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स ।

निव्वुडे नाणे केवलिस्स, निव्वुडे दंसणे केवलिस्स । से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चइ—केवली णं आरगयं वा, पारगयं वा सव्व-दूर-मूलमणंतिंयं सइं जाणइ-पासइ ॥

गौतम ! केवली पौरस्त्ये मितमपि जानाति, अमितमपि जानाति । एवं दक्षिणे, पश्चिमे, उत्तरे, ऊर्ध्व, अधो मितमपि जानाति, अमितमपि जानाति ।

सर्वं जानाति केवली, सर्वं पश्यति केवली ।
सर्वतो जानाति केवली, सर्वतः पश्यति केवली ।

सर्वकालं जानाति केवली, सर्वकालं पश्यति केवली ।

सर्वभावान् जानाति केवली, सर्वभावान् पश्यति केवली ।

अनन्तं ज्ञानं केवलिनः, अनन्तं दर्शनं केवलिनः ।

निवृतं ज्ञानं केवलिनः, निवृतं दर्शनं केवलिनः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—केवली आरगतं वा पारगतं वा सर्वदूर-मूलमनन्तिकं शब्दं जानाति-पश्यति ।

गौतम ! केवली पूर्व में परिमित को भी जानता है, अपरिमित को भी जानता है । इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधः दिशाओं में परिमित को भी जानता है और अपरिमित को भी जानता है । केवली सबको जानता है, केवली सबको देखता है । केवली सब ओर से जानता है, केवली सब ओर से देखता है ।

केवली सब काल में जानता है, केवली सब काल में देखता है ।

केवली सब भावों को जानता है, केवली सब भावों को देखता है ।

केवली का ज्ञान अनन्त है, केवली का दर्शन अनन्त है ।

केवली का ज्ञान निरावरण है, केवली का दर्शन निरावरण है । गौतम ! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—केवली आरगत अथवा पारगत, अतिदूर, अति-निकट तथा मध्यवर्ती (न आसन्न न दूर) स्थित शब्द को जानता-देखता है ।

भाष्य

१. सूत्र ६५-६७

प्रस्तुत प्रकरण में छद्मस्थ और केवली के बीच एक भेद-रेखा खींची गई है। छद्मस्थ शब्द को सुनता है और केवली शब्द को जानता है। केवली इन्द्रियों से नहीं जानता, वह आत्मा से जानता है। वह शब्द की ध्वनि-तरंगों को साक्षात् जान लेता है, कान से सुनने की कोई अपेक्षा नहीं होती। इसी आधार पर यह स्थापना की गयी—केवली आरगत और पारगत दोनों प्रकार के शब्दों को जानता है। छद्मस्थ शब्द को कान से सुनता है, इसलिए वह आरगत शब्द को ही सुन सकता है, पारगत शब्द को नहीं ।

शब्द-विमर्श

आरगत—इन्द्रिय-विषय की सीमा में आया हुआ ।

पारगत—इन्द्रिय-विषय की सीमा से परे अवस्थिता

अति दूर, अति निकट तथा मध्यगत (न आसन्न न दूर) (सव्वदूर-मूलमणंतिंयं)—केवली निकटवर्ती, दूरवर्ती और मध्यवर्ती सब शब्दों को जानता है। इस एक ही विषय को 'सर्वदूरमूल' और 'अनन्तिक'—इन दो पदों द्वारा कहा गया है। वृत्तिकार ने सर्वदूरमूल और अनन्तिक की व्याख्या दो प्रकार से की है—१. क्षेत्र की अपेक्षा से यहाँ सर्वदूर का अर्थ है—अतिदूर, सर्वमूल का अर्थ है—अतिनिकट । अनन्तिक का अर्थ है—न अतिदूर, न अति निकट अर्थात् मध्यवर्ती । २. काल की अपेक्षा से—यहाँ सर्वदूरमूल का अर्थ है—अनादि और अनन्तिक का अर्थ है—अनन्ता ।

निवृत (निव्वुडे) — निरावरण ।

छउमत्थ-केवलीणं हास-पदं

६८. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से हसेज्ज वा ?
उस्सुयाएज्ज वा ?
हंता हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ।

६९. जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा, तथा णं केवली वि हसेज्ज वा ? उस्सुयाएज्ज वा ?

छद्मस्थ-केवलिनोः हास-पदम्

छद्मस्थः भदन्त ! मनुष्यः हसेद् वा ? उत्सुकायेत वा ?
हन्त ! हसेद् वा, उत्सुकायेत वा ।

यथा भदन्त ! छद्मस्थः मनुष्यः हसेद् वा, उत्सुकायेत वा, तथा केवली अपि हसेद् वा ? उत्सुकायेत वा ?

छद्मस्थ और केवली का हास्य-पद

६८. 'भन्ते ! छद्मस्थ मनुष्य हंसता है ? उत्सुक होता है ?
हां, वह हंसता है, उत्सुक होता है ।

६९. भन्ते ! जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य हंसता है और उत्सुक होता है, उस प्रकार केवली भी हंसता है ? उत्सुक होता है ?

१. भ. ५/१०८।

२. भ.वृ. ५/६५—'सव्वदूरमूलमणंतिंयं' ति सर्वथा दूरं विप्रकृष्टं मूलं च निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छब्दोऽपि सर्वदूरमूलोऽस्तस्य अत्यर्थं दूरवर्तिनमत्यन्तासन्नं चेत्यर्थः अन्तिकम्—

आसन्नं तन्निषेधादनन्तिकम् 'नत्रोऽल्पार्थत्वात्' नान्त्यन्तिकम् अदूरासन्नमित्यर्थः तद्योगाच्छब्दोऽपि च नन्तिकोऽनन्तम् अथवा सव्वति अनेन 'सव्वओ समंता' इत्युपलक्षितम् । 'दूरमूलं' ति अनादिकमिति हृदयम् । 'अणंतिंयं' ति अनन्तिकमित्यर्थः ।

गोयमा ! णो इण्डे समडे ॥

७०. से केण्डेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जहा णं छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा, नो णं तथा केवली हसेज्ज वा? उस्सुया-एज्ज वा?

गोयमा ! जं णं जीवा चरित्तमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं हसंति वा, उस्सुयारंति वा। स्रे णं केवलिस्स नत्थि। से तेण्डेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जहा णं छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा, नो णं तथा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ॥

७१. जीवे णं भंते ! हसमाणे वा, उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्टविहबंधए वा। एवं जाव वेमाणिए। पोहत्तएहिं जीवे-गिंदियवज्जो तियभंगो ॥

गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—यथा छद्मस्थः मनुष्यः हसेद् वा, उत्सुकायेत वा, नो तथा केवली हसेद् वा उत्सुकायेत वा?

गौतम ! यज्जीवाश्चरित्तमोहनीयस्य कर्मणः उदयेन हसन्ति वा उत्सुकायन्ते वा। तत्केवलिनो नास्ति। तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—यथा छद्मस्थो मनुष्यो हसेद् वा, उत्सुकायेत वा, नो तथा केवली हसेद् वा, उत्सुकायेत वा।

जीवः भदन्त ! हसन् वा, उत्सुकायमानो वा कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति?

गौतम ! सप्तविधबन्धको वा, अष्टविधबन्धको वा। एवं यावद् वैमानिकः। पृथक्त्वैर्जीवैकेन्द्रियवर्जस्त्रिभंगः।

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

७०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य हंसता है और उत्सुक होता है, उस प्रकार केवली न हंसता है और न उत्सुक होता है?

गौतम ! जीव चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से हंसते हैं और उत्सुक होते हैं। वह केवली के नहीं होता। गौतम ! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य हंसता और उत्सुक होता है, उस प्रकार केवली न हंसता है और न उत्सुक होता है।

७१. भन्ते ! जीव हंसता हुआ और उत्सुक होता हुआ कितनी कर्म-प्रकृतियों का बंध करता है।

गौतम ! वह सात प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करता है अथवा आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करता है।^१ इस प्रकार यावत् वैमानिक देवों तक यही वक्तव्यता है। पृथक्त्व सूत्रों^२ (बहु-वचनान्तसूत्रों) में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर सर्वत्र तीन विकल्प होते हैं—सब जीव सात प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करते हैं। शेष सब जीव सात प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करते हैं तथा एक जीव आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करता है।

कुछ जीव सात प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करते हैं और कुछ जीव आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करते हैं। बहुवचनान्त जीव और एकेन्द्रिय जीवों का केवल एक ही भंग होता है। वे सब सात प्रकार की और आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६८-७१

चारित्र-मोहनीय की प्रकृतियों के दो वर्ग हैं—कषाय और नोकषाय। नोकषाय का अर्थ है, ईषत् कषाय अथवा सहायक कषाय। नोकषाय का पहला प्रकार है—हास्या। सिद्धसेनगणी ने हास्य के उत्प्रासन आदि अनेक प्रकार बतलाए हैं।^१ तत्त्वार्थराजवार्तिक में भी उनका निर्देश है।^२ औत्सुक्य रतिवेदनीय का एक प्रकार है।^३ उत्तरज्झयणाणि का एक वक्तव्य है कि सुख का त्याग करने से अनुत्सुकता उत्पन्न होती है। उससे चारित्र-मोह का क्षय होता है।^४

२. वह सात प्रकार की बंध करता है।

सत्तविहबंधए वा अट्टविहबंधए वा—कर्मबन्ध के ये दो विकल्प हैं। आयुष्य-कर्म का बन्ध जीवन में एक बार ही होता है, इसलिए सामान्यतः सप्तविध बन्धन यह विकल्प बनता है। आयुष्य-बन्ध के समय अष्टविध बन्धन का विकल्प बनता है।

३. पृथक्त्व सूत्रों

पृथक्त्व सूत्र का अर्थ है बहुवचन वाला सूत्र। बहुवचनान्त सूत्रों में जीव-पद और एकेन्द्रिय-पद (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के पांच दंडकों) को छोड़कर शेष उन्नीस दण्डकों में तीन भंग होते हैं। जीव-पद और

१. त.सू.भा.वृ. ६/१५—उत्प्रासनदीनाभिलाषिता-कन्दर्पोपहासनबहुप्रलापहासशीलता हास्यवेदनीयस्याश्रवः।

२. त.रा.वा. ६/१४।

३. त.सू.भा.वृ. ६/१५—विचित्रपरिक्रीडनपरचित्तवर्जनबहुविधारमणपीडाभावदेशाद्यौत्सुक्य-प्रीतिसञ्जननादीनि रतिवेदनीयस्या।

४. उत्तर. २९/३०।

पृथ्वी आदि पदों में जीव बहुत होते हैं, इसलिए उनमें एक ही भंग उपलब्ध होता है—अनेक सप्त-विधबन्धक और अनेक अष्टविधबन्धक तीन भंग की योजना इस प्रकार है—

१. सब सप्तविधबन्धक
२. अनेक सप्तविधबन्धक और एक अष्टविधबन्धक

३. अनेक सप्तविधबन्धक और अनेक अष्टविधबन्धक।
पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों में हास्य और औत्सुक्य का अस्तित्व होता है। वृत्तिकार के अनुसार ये पूर्वजन्म के परिणाम हैं।^१ एकेन्द्रिय जीवों के वर्तमान जीवन में भी हास्य और औत्सुक्य अव्यक्त रूप में उपलब्ध हो सकते हैं।

छउमत्थ-केवलीणं निद्रा-पदं

छद्मस्थ-केवलिनोः निद्रा-पदम्

छद्मस्थ और केवली की निद्रा का पद

७२. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से निद्राएज्ज वा ?
पयलाएज्ज वा ?
हंता निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ॥

छद्मस्थः भदन्त ! मनुष्यः निद्रायेत वा ?
प्रचलायेत वा ?
हन्त ! निद्रायेत वा, प्रचलायेत वा ॥

७२. 'भन्ते ! क्या छद्मस्थ मनुष्य नींद लेता है? प्रचला लेता है?
हां, वह नींद लेता है, प्रचला लेता है।

७३. जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से निद्राएज्ज वा,
पयलाएज्ज वा, तथा णं केवली वि निद्राएज्ज वा,
पयलाएज्जा वा?
गोयमा ! णो इण्ठे सम्भे ॥

यथा भदन्त ! छद्मस्थः मनुष्यः निद्रायेत वा,
प्रचलायेत वा, तथा केवली अपि निद्रायेत वा?
प्रचलायेत वा?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

७३. भंते ! जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य नींद लेता है, प्रचला लेता है, उस प्रकार क्या केवली भी नींद और प्रचला लेता है?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

७४. से केण्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जहा णं छउमत्थे
मणुस्से निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा, नो णं तथा केवली
निद्राएज्ज वा? पयलाएज्ज वा?
गोयमा ! जं णं जीवा दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स
उदएणं निद्रायंति वा, पयलायंति वा। से णं केवलिसस
नत्थि। से तेण्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जहा णं
छउमत्थे मणुस्से निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा, नो णं
तथा केवली निद्राएज्ज वा, पयलाएज्ज वा ।

तत्केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—यथा छद्मस्थः
मनुष्यः निद्रायेत वा, प्रचलायेत वा, नो तथा केवली
निद्रायेत वा प्रचलायेत वा?
गौतम ! यज्जीवा दर्शनावरणीयस्य कर्मणः उदयेन
निद्रायन्ते वा, प्रचलायन्ते वा। तत् केवलिनो नास्ति।
तत्तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—यथा छद्मस्थः
मनुष्यः निद्रायेत वा, प्रचलायेत वा, नो तथा केवली
निद्रायेत वा, प्रचलायेत वा ।

७४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य नींद लेता है, प्रचला लेता है, उस प्रकार केवली नींद नहीं लेता और प्रचला नहीं लेता?
गौतम ! जीव दर्शनावरणीय कर्म के उदय से नींद लेते हैं, प्रचला लेते हैं। वह (दर्शनावरणीय कर्म) केवली के नहीं होता। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जिस प्रकार छद्मस्थ मनुष्य नींद लेता है, प्रचला लेता है, उस प्रकार केवली नींद नहीं लेता, प्रचला नहीं लेता।

७५. जीवे णं भंते ! निद्रायमाणे वा, पयलाय-माणे
वा कइ कम्मप्पगडीओ बंधइ?
गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्टविहबंधए वा। एवं
जाव वेमाणिएण पोहत्तिएसु जीवेगिं-दियवज्जो तियभंगो॥

जीवो भदन्त ! निद्रायमाणो वा प्रचलायमाणो वा कति
कर्मप्रकृतीर्बन्धाति?
गौतम ! सप्तविधबन्धको वा अष्टविधबन्धको वा । एवं
यावद् वैमानिकः। पृथक्त्वेषु जीवैकेन्द्रियवर्जस्त्रिभंगः।

७५. भन्ते ! जीव नींद लेता हुआ, प्रचला लेता हुआ कितनी
कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करता है?
गौतम ! वह सात प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन करता है
अथवा आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों का बन्धन करता है। इस प्रकार
यावत् वैमानिक देवों तक ज्ञातव्य है। पृथक्त्व सूत्रों (बहुवचनान्त सूत्रों) में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर सर्वत्र तीन विकल्प (सू. ७१ की तरह) होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र. ७२-७५

प्रस्तुत आलापक में नींद के आधार पर छद्मस्थ और केवली के बीच भेदरेखा खींची गई है। कर्मशास्त्रीय विवेचना के अनुसार नींद का कारण दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। चरक के अनुसार जब मन क्लान्त

(निष्क्रिय) और इन्द्रियां क्रिया-रहित होकर अपने-अपने विषयों से निवृत्त हो जाती है उस समय मनुष्य सोता है।^१ दर्शनावरणीय कर्म का काम है चक्षु आदि इन्द्रिय-दर्शनों को आवृत्त करना। उनके आवृत्त होने पर नींद की स्थिति बनती है। निद्रा-विषयक कर्मशास्त्रीय सिद्धान्त और चरक के सिद्धान्त में

१. भ.वृ. ५/७१—पृथिव्यादीनां हासः प्राम्भिक तत्परिणामादवसेय इति।
२. चरक, सूत्रस्थान, २१/३५—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमाचिन्ताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥

सामञ्जस्य देखा जा सकता है।

पूरे निद्रा-समय को निद्रा-चक्रों में विभक्त किया जा सकता है। एक व्यक्ति का निद्रा-चक्र लगभग ९० मिनट में पूरा होता है। (८ घंटे सोने पर ऐसे ५ चक्र होंगे) एक निद्रा-चक्र दो भागों में पूरा होता है। इसका ७०-८० प्रतिशत प्रथम भाग यानी लगभग ७० मिनट 'नोन रैपिड आई मूवमेंट' में तथा लगभग २०-२५ प्रतिशत रहा शेष समय यानी लगभग २० मिनट 'रैपिड आई मूवमेंट' नींद में व्यतीत होता है। 'नोन रैपिड आई मूवमेंट' (एनआरईएम) नींद विश्राम की अवस्था होती है जिसे चार अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। (१) झपकी आने वाली अवस्था (२) असंदिग्ध स्पष्ट नींद (३) व (४) गहरी नींद की अवस्था होती है। 'रैपिड आई मूवमेंट' (आरईएम) नींद को असत्यभासी या विरोधाभासी नींद भी कहते हैं क्योंकि इसमें मस्तिष्क की अति सक्रियता व अति चपलता के बावजूद भी व्यक्ति नींद की अवस्था में रहता है। इसमें आंखें तेजी से गति करती हैं। सामान्यतः इसी अवस्था में सपने देखे जाते हैं। आंखों की गति का

कारण भी व्यक्ति द्वारा सपने में देखी चीज का अनुसरण करना होता है लेकिन मांसपेशियों की अति शिथिलता के कारण व्यक्ति स्वयं गति नहीं कर पाता है। यह गहरी नींद वाली अवस्था है। इस नींद का स्मरण-शक्ति की चकबंदी (कोन्सोलिडेशन) करने में महत्त्व माना जाता है। एनआरईएम अवस्था में देखे गए सपने सामान्यतः याद नहीं रहते हैं, बल्कि आरईएम नींद में देखे गए सपने सामान्यतः याद रहते हैं।

निद्रा उत्पत्ति की क्रियाविधि के बारे में कई मान्यताएं हैं। मस्तिष्क के जालीनुमा उन्नति तंत्र (रेटिकुलर एक्टिविटी सिस्टम) की चपलता की कार्य-क्रिया के कारण व्यक्ति जागरण अवस्था में रहता है। जब इस तंत्र की चपलता में कोई बाधा होती है तो नींद की अवस्था आ जाती है। साथ ही मस्तिष्क के कुछ हिस्सों के तंत्रिकातंतु जो कि 'सिरोटोनीन' नामक पदार्थ मुक्त करते हैं, के उत्तेजित होने पर नींद आती है। आरईएम नींद का कारण मस्तिष्क के पोंस भाग में स्थित 'लोकस सेरुलियस' तथा इनके 'नारएडिनर्जिक' तंत्रिकातंतुओं के उत्तेजित होने को माना जाता है।^१

गर्भसाहरण-पदं

७६. से नूणं भंते ! हरि-नैगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं संहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरइ? गब्भाओ जोणिं साहरइ? जोणीओ गब्भं साहरइ? जोणीओ जोणिं साहरइ?

गोयमा ! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ, नो जोणीओ जोणिं साहरइ, परामुसिय-परामुसिय अब्बाबाहेणं अब्बाबाहं जोणीओ गब्भं साहरइ॥

७७. पभू णं भंते ! हरि-नैगमेसी सक्कदूए इत्थी-गब्भं नहसिरंसि वा, रोमकूवंसि वा साहरितए वा? नीहरितए वा? हंता पभू, नो चैव णं तस्स गब्भस्स किंचि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेदं पुण करेज्जा। एसुहुमं च णं साहरेज्ज वा, नीहरेज्ज वा ॥

गर्भसंहरण-पदम्

तन्नूनं भदन्त ! हरि-नैगमेषी शक्रदूतः स्त्रीगर्भं संहरन् किं गर्भाद् गर्भं संहरति? गर्भाद् योनिं संहरति? योनितो गर्भं संहरति? योनितः योनिं संहरति?

गौतम ! नो गर्भाद् गर्भं संहरति, नो गर्भाद् योनिं संहरति, नो योनितः योनिं संहरति, परामृश्य-परामृश्य अब्बाबाधेन अब्बाबाधं योनितः गर्भं संहरति।

प्रभुः भदन्त ! हरि-नैगमेषी शक्रदूतः स्त्रीगर्भं नखशिरसो वा, रोमकूपाद् वा संहर्तुं वा निर्हर्तुं वा? हन्त प्रभुः, नो चैव तस्य गर्भस्य किञ्चिद् आबाधां वा विबाधां वा उत्पादयेत्, छ-विच्छेदं पुनः कुर्यात्। इयत्सूक्ष्मं च संहरेद् वा, नीहरेद् वा।

गर्भ-संहरण-पद

७६. 'भन्ते ! शक्र का दूत हरि-नैगमैषी देव स्त्री के शरीर में से गर्भ का संहरण करता हुआ क्या गर्भ से गर्भ में संहरण करता है? गर्भ से योनि में संहरण करता है? योनि से गर्भ में संहरण करता है? योनि से योनि में संहरण करता है?

गौतम ! गर्भ से गर्भ में संहरण नहीं करता, गर्भ से योनि में संहरण नहीं करता, योनि से योनि में संहरण नहीं करता, किन्तु वह हाथ से स्पर्श कर-कर सुखपूर्वक योनि से गर्भ में संहरण करता है।

७७. भन्ते ! शक्र का दूत हरि-नैगमैषी देव स्त्री के गर्भ का नख के अग्रभाग अथवा रोमकूप से संहरण अथवा निर्हरण करने में समर्थ है?

हां, समर्थ है। ऐसा करते समय वह गर्भ को किञ्चिद् भी आबाधा अथवा विबाधा उत्पन्न नहीं करता और न उसका छविच्छेद करता। वह इतनी सूक्ष्मता (निपूणता) के साथ उसका संहरण अथवा निर्हरण करता है।

भाष्य

१. सूत्र ७६, ७७

प्रस्तुत आलापक में गर्भ-संहरण का उल्लेख है। अंतगडदसाओ के अनुसार सुलसा ने हरि-नैगमैषी की प्रतिमा बनाकर उसकी आराधना की

थी। हरि-नैगमैषी ने सुलसा के मृत-पुत्रों को करतल-सम्पुट में उठाकर देवकी के पास रखा था और देवकी के पुत्रों को सुलसा के पास रखा था? इस घटना से हरि-नैगमैषी का गर्भ और शिशु के साथ सम्बन्ध की जानकारी मिलती है।

१. दैनिक भास्कर, जयपुर, ४ सितम्बर, १९९७, शुभकाम आर्य द्वारा लिखित लेख, नींद क्यों रात भर नहीं आती?

२. अंत. ३।३-४१।

अयारचूला में महावीर के गर्भ-संहरण का उल्लेख है, किन्तु वहां हरि-नैगमेषी का नामोल्लेख नहीं है।^१ पञ्जोसणाकप्पो में महावीर ने गर्भ-संहरण का प्रसंग है। वहां हरि-नैगमेषी देव का उल्लेख है।^२

आयुर्वेद-साहित्य में नैगमेष का देव और ग्रह दोनों रूपों में उल्लेख मिलता है—

अजाननश्चलाक्षिभूः कामरूपी महायशाः।

बालं बालपिता देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥^३

सुश्रुतसंहिता के अनुसार नैगमेष ग्रह पार्वती के द्वारा सृष्ट है। उसका मुख मेष के समान है। वह कुमार की रक्षा करने वाला है और कार्तिकेय देव का अभिन्न मित्र है।^४ नैगमेष को पितृग्रह भी कहा गया है।^५

आयुर्वेद-साहित्य के आधार पर नैगमेष और बालक के सम्बन्ध को जाना जा सकता है। किन्तु नैगमेष के द्वारा गर्भ के संहरण अथवा प्रत्यारोपण की बात उसमें उपलब्ध नहीं है। आयुर्विज्ञान (Medical Science) के क्षेत्र में गर्भ-प्रत्यारोपण के प्रयोग चल रहे हैं।

अइमुत्तग-पदं

७८. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अइमुत्ते नामं कुमार-समणे पगइभइए पगइउवसंते पगइ-पयणुकोहमाणमायालोभे मिउमइवसंपन्ने अल्लीणे विणीए ॥

७९. तए णं से अइमुत्ते कुमार-समणे अण्णया कयाइ महावुड्ढिकार्यंसि निवयमाणंसि क-क्खपडिग्गह-रयहरणमायाए बहिया संपड्डिए विहाराए ॥

८०. तए णं से अइमुत्ते कुमार-समणे वाहयं वहमाणं पासइ, पासित्ता मट्टियाए पालिं बंधइ, बंधित्ता 'णाविया मे, णाविया मे' नाविओ विव णावमयं पडिग्गहगं उदगंसि पव्वाहमाणे-पव्वाहमाणे अभिरमइ। तं च थेरा अइक्खु। जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता एवं

अतिमुत्तक-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी अतिमुक्तो नाम कुमार-श्रमणः प्रकृतिभद्रकः प्रकृत्यु-पशान्तः प्रकृतिप्रतनुक्रोधमानमायालोभः मृदुमार्दवसम्पन्नः आलीनः विनीतः।

ततः स अतिमुक्तः कुमार-श्रमणः अन्यदा कदाचिद् महावृष्टिकाये निपतति कक्षा-प्रतिग्रह-रजोहरणमादाय बहिः संप्रस्थितो विहाराय ।

ततः स अतिमुक्तः कुमार-श्रमणः वाहकं वहमानं पश्यति, दृष्ट्वा मृत्तिकया पालिं बध्नाति, बद्ध्या 'नौका मम, नौका मम', नाविक इव नौमयं प्रतिग्रहं उदके प्रवाहयन्-प्रवाहयन् अभिरमते। तं च स्थविराः अद्राक्षुः। यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपा-गच्छन्ति, उपागम्य एवमवादिषुः—

शब्द-विमर्श

परामुसिय—संस्पर्श कर ।

अव्वावाहेणं अव्वाबाहं—सुखपूर्वक ।

नहसिरंसि—नख के अग्रभाग से ।

देवताओं के 'अञ्जलि के दश नखों का उल्लेख'^६ रायपसेणइयं में मिलता है। देवताओं के शरीर में केश का उल्लेख भी ओवाइयं तथा पण्णवणा में मिलता है।^७

संहरण करने (साहरित्तए)—प्रवेश कराने के लिए ।^८

निर्हरण करने (नीहरित्तए)—निकालने के लिए ।^९

विबाधा (विबाह)—विशिष्ट बाधा ।

छविच्छेद (छविच्छेदं)—अंग-भंग ।

इतनी सूक्ष्मता के साथ (एसुहुमं)—यह 'साहरेज्ज वा नीहरेज्ज वा' का क्रियाविशेषण है। इसका अर्थ है—'इतने हस्त लाघव से' अथवा 'हाथ की इतनी निपुणता से'।

अतिमुत्तक-पद

७८. 'उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर का अन्तेवासी अतिमुक्त नाम का कुमार श्रमण प्रकृति से भद्र, प्रकृति से उपशान्त था। उसकी प्रकृति में क्रोध, मान, माया और लोभ प्रतनु (पतले) थे। वह मृदुभाव से सम्पन्न, आत्मलीन और विनीत था।

७९. किसी समय बहुत तेज वर्षा हो रही थी। उस समय कुमार श्रमण अतिमुक्त कांख में पात्र और रजोहरण लेकर बहिर्भूमि जाने के लिए प्रस्थान करता है।

८०. वह कुमार श्रमण अतिमुक्त बहते हुए जल-प्रवाह को देखता है, देख कर मिट्टी से पाल बांधता है। बांध कर फिर "यह मेरी नौका, यह मेरी नौका" इस विकल्प के साथ नाविक की भांति अपने नौकामय पात्र को जल में प्रवाहित करता हुआ क्रीड़ा कर रहा है। उसे क्रीड़ा करते हुए स्थविरों ने देखा। वे जहाँ श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहाँ

१. आ. चूला, १५/५६।

२. पञ्जो. सू. १५-१७।

३. सुश्रुत-संहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय ३६, श्लोक ११, पृ. ६६८।

उक्त श्लोक किञ्चिद् पाठ-भेद के साथ अष्टांग संग्रह में भी मिलता है—

अजाननश्चलाक्षिभूः कामरूपी महायशा।

बालं बालहितो देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥

(अष्टांग संग्रह, उत्तरस्थान, अध्याय ६, सूत्र २६, पृ. ६५७)।

४. सुश्रुत-संहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय ३७, श्लोक ६, पृ. ६६९—

नैगमेगस्तु पार्वत्या सृष्टो मेषाननो ग्रहः।

कुमारधारी देवस्य गुहस्यात्मसमः सखा ॥

५. सुश्रुत-संहिता, उत्तरतन्त्र, अध्याय २७, श्लोक ५, पृ. ६६०—

नवमो नैगमेषश्च यः पितृगृहसंज्ञितः।

६. राव सू. १०—दसणह सिरसावत्तं ।

७. (क) ओवा. ४७।

(ख) पण्ण. २/३१।

८. भ. वृ. ५/७७—संहरुं—प्रवेशयितुम् ।

९. वही, ५/७७—निर्हर्तुं—निष्काशयितुम् ।

वदासी—

एवं खलु देवाणुपियाणं अंतेवासी अइमुत्ते नामं कुमार-समणे, से णं भंते! अइमुत्ते कुमार-समणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिञ्जि-हिति बुञ्जिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सब्बदुक्खाणं अंतं करेहिति?

एवं खलु देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासी अतिमुक्तः नाम कुमार-श्रमणः, स भदन्त ! अतिमुक्तः कुमार-श्रमणः कतिभिर्भवग्रहणैः सेत्स्यति 'बुञ्जिहिति' मोक्षयति परि-निर्वास्यति सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति?

आते हैं, आ कर इस प्रकार बोले—

भन्ते ! आपका अन्तेवासी अतिमुक्त नाम का कुमार श्रमण जो है भन्ते ! वह कुमार श्रमण अतिमुक्त कितने जन्म लेकर सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिवृत्त होगा और सब दुःखों का अन्त करेगा ?

८१. अज्जोति ! समणे भगवं महावीरे ते थेरे एवं वयासी — एवं खलु अज्जो ! ममं अंते-वासी अइमुत्ते नामं कुमार-समणे पगइभइए जाव विणीए, से णं अइमुत्ते कुमार-समणे इमेणं चेव भवग्गहणेणं सिञ्जिहिति जाव अंतं करेहिति। तं मा णं अज्जो ! तुब्भे अइमुत्तं कुमार-समणं हीलेह निंदह खिंसह गरहह अवमण्णह। तुब्भे णं देवाणुपिया ! अइमुत्तं कुमार-समणं अगिलाए संगिण्णहह, अगिलाए उवगिण्णहह, अगिलाए भत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करेह। अइमुत्ते णं कुमार-समणे अंतकरे चेव, अंतिमसरीरिए चेव ॥

आर्याः ! इति श्रमणः भगवान् महावीरः तान् स्थविरान् एवमवादीद् — एवं खलु आर्याः ! मम अन्तेवासी अतिमुक्तः नाम कुमार-श्रमणः प्रकृतिभद्रकः यावद् विनीतः, स अतिमुक्तः कुमार-श्रमणः अनेन चैव भव-ग्रहणेन सेत्स्यति यावद् अन्तं करिष्यति। तन्मा आर्याः ! यूयम् अतिमुक्तं कुमार-श्रमणं हीलयत निन्दत खिंसत गर्हध्वम् अव-मन्यध्वम्। यूयम् देवानुप्रियाः ! अतिमुक्तं कुमार-श्रमणम् अग्लान्या संगृहीत, अग्लान्या उपगृहीत, अग्लान्या भक्तेन पानेन विनयेन वैयापृत्यं कुरुता अतिमुक्तः कुमार-श्रमणः अन्तकरश्चैव, अन्तिमशरी-रिक्श्चैव।

८१. आर्यों ! श्रमण भगवान् महावीर ने उन स्थिविरों से इस प्रकार कहा — आर्यों ! मेरा अन्तेवासी अतिमुक्त नामक कुमार श्रमण जो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत है वह कुमार श्रमण अतिमुक्त इसी भव में सिद्ध होगा यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा। आर्यों ! इसलिए तुम कुमार श्रमण अतिमुक्त की अवहेलना, निन्दा, तिरस्कार, गर्हा और अवमानना मत करो। देवा-नुप्रियो ! तुम कुमार श्रमण अतिमुक्त को अग्लान भाव से स्वीकृत करो, अग्लान भाव से आलम्बन दो और अग्लान भाव से विनयपूर्वक भोजन पानी से उसकी वैयापृत्य करो। कुमार श्रमण अतिमुक्त संसार का अन्त करने वाला है और अन्तिमशरीरी है।

८२. तए णं ते थेरा भगवंतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, अइमुत्तं कुमार-समणं अगिलाए संगिण्हंति, अगिलाए उवगिण्हंति, अगिलाए भत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करंति ॥

ततः ते स्थविराः भगवन्तः श्रमणेन भगवता महावीरेण एवम् उक्ताः सन्तः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वदन्ते नमस्यन्ति, अतिमुक्तं कुमार-श्रमणम् अग्लान्या संगृह्णन्ति, अग्लान्या उप-गृह्णन्ति, अग्लान्या भक्तेन पानेन विनयेन वैयापृत्यं कुर्वन्ति।

८२. श्रमण भगवान् महावीर द्वारा ऐसा कहे जाने पर वे स्थविर भगवान् श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, कुमार श्रमण अतिमुक्त को अग्लान भाव से स्वीकार करते हैं, अग्लान भाव से आलम्बन देते हैं और अग्लान भाव से विनयपूर्वक भोजन-पानी से उसकी वैयापृत्य करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ७८-८२

अतिमुक्तक का जीवन-वृत्त अंतगडदसाओ में मिलता है।^१ वहाँ पात्र को नौका बनाकर जल में तिराने की घटना का उल्लेख नहीं है। वृत्तिकार ने कुमार श्रमण की व्याख्या में लिखा है कि कुमार अतिमुक्तक छह वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुआ था। इस घटना को उन्होंने आश्चर्यजनक माना है।^२ अंतगडदसाओ में दीक्षाकालीन अवस्था का उल्लेख नहीं है। कुमार ने माता-पिता के सामने दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की तब माता-पिता ने कहा — पुत्र ! अभी तुम बालक हो, असंबुद्ध हो, तुम धर्म को क्या जानते हो—

“तए णं तं अइमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी —

बाले सि ताव तुमं पुत्ता ! असंबुद्धे, किं णं तुमं जाणसि घम्मं ?”^३
अतिमुक्तक बालवय में दीक्षित हुए थे, यह असंदिग्ध है।

शब्द-विमर्श

अगिला—अग्लानि।

संगिण्हह—स्वीकार करो।

उवगिण्हह—आलम्बन दो।

अंतकर—जन्म-मरण का अंत करने वाला।

अंतिमसरीरी—चरम शरीरी—इसी जन्म में मोक्ष जाने वाला।

१. अंत. ६/१५।

२. भ.वृ. ५/७८ 'कुमारसमणे' ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् आह च — “छव्वारिसो पव्वइओ निगंथं रोइऊण पावयणं” ति, एतदेव चाश्चर्यमिह, अन्यथा वर्षाष्टकादारान् प्रवज्या

स्यादिति।

३. अंत. ६/१५/११।

महासुककायदेव-पणह-पदं

८३. तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुककाओ कप्पाओ, महासामाणाओ विमाणाओ दो देवा महिद्धिया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया। तए णं ते देवा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, मणसा चैव इमं एयारूवं वागरणं पुच्छंति —

८४. कति णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंते-वासीसयाइं सिञ्जिहंति जाव अंतं करेहिं-ति? तए णं समणे भगवं महावीरं तेहिं देवेहिं मणसा पुट्टे तेसिं देवाणं मणसा चैव इमं एयारूवं वागरणं वागरेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया ! ममं सत्त अंतेवासीसयाइं सिञ्जिहंति जाव अंतं करेहिंति।

तए णं ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्टेणं मणसा चैव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा हट्टतुट्टचित्त-माणंदिया णंदिया पीइमणा परमसोमण-स्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता मणसा चैव सुस्सुसमाणा नमं-समाणा अभिमुहा विणएणं पंजलियडा पज्जुवासंति।।

८५. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगव-ओ महावीरस्स जेट्टे अंतेवासी इंदंभूई नामं अणगारे जाव अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं तस्स भगवओ गोयमस्स ज्ञाणं-तरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्प-ज्जित्था—एवं खलु दो देवा महिद्धिया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महा-वीरस्स अंतियं पाउब्भूया, तं नो खलु अहं ते देवे जाणामि कयराओ कप्पाओ वा सग्गाओ वा विमाणाओ वा कस्स वा अत्थस्स अट्टाए इहं हव्वमागया? तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि

महाशुक्रागतदेव-प्रश्न-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये महाशुक्रात् कल्पात्, महासामानाद् विमानाद् द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महानुभागौ श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अन्तिकं प्रादुर्भूतौ। ततः तौ देवौ श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्देते नमस्यतः, मनसा चैव इदम् एतद्रूपं व्याकरणं पृच्छतः —

कति भदन्त ! देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासि-शतानि सेत्स्यन्ति यावदन्तं करिष्यन्ति? ततः श्रमणः भगवान् महावीरः ताम्भ्यां देवाभ्यां मनसा पृष्टः तौ देवौ मनसा चैव इदम् एतद्रूपं व्याकरणं व्याकरोति—एवं खलु देवानुप्रियो ! मम सप्त अन्तेवासि-शतानि सेत्स्यन्ति यावदन्तं करिष्यन्ति।

ततः तौ देवौ श्रमणेन भगवता महावीरेण मनसा पृष्टेन मनसा चैव इदम् एतद्रूपं व्याकरणं व्याकृतौ सन्तौ, हृष्टतुष्टचित्तौ, आनन्दितौ नन्दितौ प्रीतिमनसौ परमसौमनस्यितौ हर्ष-वशविसर्पद् हृदयौ श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्देते नमस्यतः, वन्दित्वा नमस्यित्वा मनसा चैव शुश्रूषमाणौ नमस्यन्तौ अभिमुखौ विन-येन कृतप्राञ्जली पर्युपासाते।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य ज्येष्ठः अन्तेवासी इन्द्रभूतिः नाम अनगारः यावद् अदूर-सामन्तः उर्ध्वजानुः अधःशिराः ध्यान-कोष्ठोपगतः संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति। ततः तस्य भगवतः गौतमस्य ध्यानान्तरिकायां वर्तमानस्य अयमेतद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः समुदपादि—एव खलु द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावद् महानुभागौ श्रमणस्य भगवतः महावीरस्य अन्तिकं प्रादुर्भूतौ, तन्नो खलु अहं तौ देवौ जानामि कतरस्मात् कल्पात् वा स्वर्गाद् वा विमानाद् वा कस्य वा अर्थस्य अर्थाय इह 'हव्व'मागतौ? तद् गच्छामि श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दे

महाशुक्र से समागत देवों द्वारा प्रश्न का पद

८३. 'उस काल और उस समय महाशुक्र कल्प के महासामान विमान से महर्द्धिक यावत् महान् सामर्थ्य वाले दो देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रगत हुए। वे देव श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं और मानसिक स्तर पर ही यह इस प्रकार का प्रश्न पूछते हैं —

८४. भन्ते ! आपके कितने सौ अन्तेवासी सिद्ध होंगे यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे? उन देवों द्वारा मानसिक स्तर पर प्रश्न उपस्थित करने पर श्रमण भगवान् महावीर उन देवों को मानसिक स्तर पर ही यह इस प्रकार का उत्तर देते हैं—देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ अन्तेवासी सिद्ध होंगे यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे।

वे देव श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा मानसिक स्तर पर पूछे गए प्रश्नों का मानसिक स्तर पर ही इस प्रकार का उत्तर दिए जाने पर वे देव हृष्ट-तुष्ट चित्त वाले, आनन्दित, नन्दित, प्रीतिपूर्ण मन वाले और परम सौमनस्य युक्त हो गए। हर्ष से उनका हृदय फूल गया। वे श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर मानसिक स्तर पर ही शुश्रूषा और नमस्कार की मुद्रा में उनके सम्मुख सविनय बद्धाञ्जलि हो कर पर्युपासना कर रहे हैं।

८५. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार भगवान् महावीर के न अति दूर और न अति निकट, उर्ध्वजानु अधःशिर (उकडू आसन की मुद्रा में) और ध्यान-कोष्ठ में लीन होकर संयम और तप से अपने आपको भावित करते हुए रह रहे हैं। ध्यानान्तरिका में वर्तमान उन भगवान् गौतम के यह इस प्रकार का आध्यात्मिक, स्मृत्यात्मक, अभिलाषात्मक मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ—महर्द्धिक यावत् महान् सामर्थ्यवान दो देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रगत हुए हैं, मैं नहीं जानता कि वे देव किस कल्प, स्वर्ग अथवा विमान से किस प्रयोजन के लिए यहाँ आए हैं? इसलिए मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास जाऊँ, उन्हें वन्दन-नमस्कार करूँ यावत् पर्युपासना करूँ और इन इस प्रकार के प्रश्नों को पूछूँगा, ऐसा सोच कर वे संप्रेक्षा

नमंसांमि जाव पञ्जुवासांमि, इमाइं च णं
एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु
एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता उट्टाए उट्टेइ, उट्टेत्ता
जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवा-
गच्छइ जाव पञ्जुवासइ ॥

८६. गोयमादि ! समणे भगवं महावीरे भगवं
गोयमं एवं वयासी—से नूनं तव गोयमा !
झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे
अज्झत्थिए जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव
हव्वमागए, से नूनं गोयमा ! अट्टे समट्टे?

हंता अत्थिए।

तं गच्छाहि णं गोयमा ! एए चेव देवा इमाइं
एयारूवाइं वागरणाइं वागरेहिंति ॥

८७. तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया
महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, जेणेव ते देवा तेणेव
पहारेत्थ गमणाए ॥

८८. तए णं ते देवा भगवं गोयमं एज्जमाणं
पासंति, पासित्ता हट्ठचित्तमाणंदिया णंदिया
पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविस-
प्पमाणहियया खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, अब्भु-
ट्टेत्ता खिप्पामेव अब्भुवगच्छंति जेणेव भगवं
गोयमे तेणेव उवागच्छंति जाव नमंसित्ता एवं
वयासी—एवं खलु भंते ! अम्हे महा-
सुक्काओ कप्पाओ महासामाणाओ विमा-
णाओ दो देवा महिड्ढिया जाव महाणुभागा
समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं
पाउब्भूया। तए णं अम्हे समणं भगवं महावीरं
वंदामो नमंसामो, वंदित्ता नमंसित्ता मणसा
चेव इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छामो—
कइ णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंतेवासीसयाइं
सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति? तए णं
समणे भगवं महावीरे अम्हेहिं मणसा पुट्टे
अम्हं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरेइ
—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंते-
वासीसयाइं जाव अंतं करेहिंति। तए णं अम्हे
समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा चेव पुट्टेणं

नमस्यामि यावत् पर्युपासे, इमानि च एत-
द्रूपाणि व्याकरणानि प्रक्षयामि इति कृत्वा
एवं संप्रेक्षते, संप्रेक्ष्य उत्थया उत्तिष्ठति,
उत्थाय यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः
तत्रैव उपागच्छति यावत् पर्युपास्ते।

गौतम ! अयि श्रमणो भगवान् महावीरः
भगवन्तं गौतमम् एवमवादीत्—तन्नूनं तव
गौतम ! ध्यानान्तरिकायां वर्तमानस्य अय-
मेतद्रूपः आध्यात्मिकः यावद् यत्रैव
ममान्तिकं तत्रैव 'हव्व'मागतः तन् नूनं
गौतम ! अर्थः समर्थः ?

हन्त अस्ति।

तद् गच्छ गौतम ! एतौ चैव देवौ इमानि
एतद्रूपाणि व्याकरणानि व्याक-रिष्यतः।

ततो भगवान् गौतमः श्रमणेन भगवता महा-
वीरेण अभ्यनुज्ञातः सन् श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, यत्रैव तौ देवौ तत्रैव
प्राधारयत् गमनाय।

ततस्तौ देवौ भगवन्तं गौतमम् आयन्तं
पश्यतः दृष्ट्वा हृष्टतुष्टचित्तौ आनन्दितौ
नन्दितौ प्रीतिमनसौ परमसौमनस्यितौ हर्ष-
वशविसर्पद्दहदयौ क्षिप्रमेव अभ्युपगच्छतः
यत्रैव भगवान् गौतमस्तत्रैव उपागच्छतः
यावन् नमस्यित्वा एवमवादिष्टाम्—एवं
खलु भदन्त ! आवां महाशुक्रात् कल्पात्
महासामानाद् विमानाद् द्वौ देवौ महर्द्धिकौ
यावद् महानुभागौ श्रमणस्य भगवतः महा-
वीरस्य अन्तिकं प्रादुर्भूतौ। ततः आवां श्रमणं
भगवन्तं महावीरं वन्दावहे नमस्यावः,
वन्दित्वा नमस्यित्वा मनसा चैव इमानि
एतद्रूपाणि व्याकरणानि पृच्छावः—कति
भदन्त ! देवानुप्रियाणाम् अन्तेवासिशतानि
सेत्स्यन्ति यावद् अन्तं करिष्यन्ति? ततः
श्रमणः भगवान् महावीरः आवाभ्यां मनसा
पृष्टः आवां मनसा चैव इदम् एतद्रूपं व्याकरणं
व्याकरोति—एवं खलु देवानुप्रियौ ! मम
सप्त अन्तेवासिशतानि यावदन्तं करिष्यन्ति।
ततः आवां श्रमणेन भगवता महावीरेण

करते हैं, संप्रेक्षा कर उठने की मुद्रा में उठते हैं। उठ
कर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहाँ आते हैं
यावत् पर्युपासना करते हैं।

८६. गौतम ! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर श्रमण
भगवान् महावीर भगवान् गौतम से इस प्रकार बोले
—गौतम ! तुम ध्यानान्तरिका में वर्तमान थे तब
तुम्हारे यह इस प्रकार का आध्यात्मिक यावत् मनोगत
संकल्प उत्पन्न हुआ और तुम शीघ्र ही मेरे निकट आ
गए, गौतम ! क्या यह अर्थ संगत है?

हां, यह संगत है।

गौतम ! जाओ, ये देव ही तुम्हें इन इस प्रकार के
प्रश्नों का उत्तर देंगे।

८७. भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर से अनुज्ञा
प्राप्त होने पर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-
नमस्कार करते हैं, जहां वे देव हैं वहां जाने का संकल्प
करते हैं।

८८. वे देव भगवान् गौतम को आते हुए देखते हैं। देख
कर वे हर्षित सन्तुष्ट चित्तवाले, आनन्दित, नन्दित
प्रीति-पूर्ण मन वाले, परम सौमनस्य और हर्ष से
उल्लसित हृदय होकर शीघ्रता से उठते हैं, उठ कर
शीघ्रता से उनके सम्मुख आते हैं, जहाँ भगवान् गौतम
है, वहां उनके सम्मुख आते हैं, यावत् नमस्कार कर
इस प्रकार बोले—भंते ! महाशुक्र कल्प के महासामान
विमान से हम दो देव जो महर्द्धिक यावत् महाप्रभावी
हैं, श्रमण भगवान् महावीर के निकट आए हैं। हम
श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार कर
मानसिक स्तर पर ये इस प्रकार के प्रश्न पूछते
हैं—भन्ते ! आपके कितने सौ अन्तेवासी सिद्ध होंगे
यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे। हमारे द्वारा मानसिक
स्तर पर पूछे गए प्रश्न का श्रमण भगवान् महावीर हमें
मानसिक स्तर पर यह इस प्रकार का उत्तर देते हैं
—देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ अन्तेवासी सिद्ध होंगे
यावत् सब दुःखों का अन्त करेंगे। हमारे द्वारा मानसिक
स्तर पर पूछे गए प्रश्न का श्रमण भगवान् महावीर
द्वारा मानसिक स्तर पर ही यह इस प्रकार का उत्तर
दिए जाने पर हम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-

मणसा चैव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया
समाणा समणं भगवं महावीरं वंदाभो
नमंसामो जाव पञ्जुवासामो त्ति कट्टु भगवं
गोयमं वंदंति नमंसंति, वंदिता नमसित्ता
जामेव दिसं पाउभूया तामेव दिसिं पडि-
गया ॥

मनसा चैव पृष्टेन मनसा चैव इदम् एतद्रूपं
व्याकरणं व्याकृतौ सन्तौ श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दावहे नमस्यावः यावत् पर्युपास्वहे
इति कृत्वा भगवन्तं गौतमं वन्देते नमस्यतः,
वन्दित्वा नमस्यित्वा यस्याः एव दिशः
प्रादुर्भूतौ तामेव दिशं प्रतिगतौ।

नमस्कार करते हैं यावत् पर्युपासना करते हैं, ऐसा
कह कर वे भगवान गौतम को वन्दन नमस्कार
करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर वे जिस दिशा से
आए उसी दिशा में चले गए।

भाष्य

१. सूत्र. ८३-८८

मानसिक प्रश्न और मानसिक उत्तर—यह अतीन्द्रिय ज्ञान की विशेष प्रक्रिया है। कोई भी व्यक्ति मानसिक स्तर पर प्रश्न पूछ सकता है और कोई भी व्यक्ति मानसिक स्तर पर उत्तर दे सकता है। इसमें कोई विशिष्ट बात नहीं। मन के स्तर पर पूछे गये प्रश्न को जान लेना और मन के स्तर पर दिये गये उत्तर को समझ लेना, यह विशिष्ट बात है। भगवान् केवलज्ञानी थे, इसलिए मन के स्तर पर पूछे गए प्रश्न को जानना उनके लिए कठिन नहीं था। देवों के पास अवधिज्ञान था, इसलिए मन के स्तर पर दिए गए उत्तरों को समझ लेना उनके लिए संभव बना।

भगवान केवली थे। केवली के ज्ञानात्मक मन (भावमन) नहीं होता। उनके पौद्गलिक मन (द्रव्यमन) होता है। वे पौद्गलिक मन का उपयोग करते हैं। जैन दर्शन में योग और उपयोग को अलग-अलग माना गया है। योग मन, वचन, काया की क्रियात्मक प्रवृत्ति है, जबकि उपयोग चेतना की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है। आधुनिक वैज्ञानिक अवधारणाओं के संदर्भ में इस भेद को और अधिक स्पष्ट समझा जा सकता है।

शरीर विज्ञान में तन्त्रिका-तन्त्र (nervous system) के दो प्रकार बताए गए हैं:

१. ज्ञानवाही तन्त्रिका (sensory nerve)
२. क्रियावाही तन्त्रिका (motor nerve)

ज्ञानवाही तन्त्रिकाओं का अर्थ इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञानात्मक

क्रिया के रूप में होता है। मस्तिष्क के ज्ञानतंतु भी इसी ज्ञानात्मक क्रिया को सम्पादित करते हैं। क्रियावाही तन्त्रिकाएं मांसपेशियों के संचलन के माध्यम से शरीर की विभिन्न क्रियात्मक प्रवृत्तियों का संचालन करती है। वाणी का तंत्र भी स्वर-यन्त्र के स्पन्दनों से संचालित होता है, जिसमें क्रियावाही तन्त्रिकाएं यह कार्य करवाती हैं।

केवली जैसे इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानात्मक क्रिया नहीं करते, उसी प्रकार मन के द्वारा भी ज्ञानात्मक क्रिया नहीं करते। अतः उसमें ज्ञानात्मक मन के रूप में भाव मन का अभाव है। पर क्रियावाही तंत्र का प्रयोग केवली द्वारा किया जाता है—शरीर एवं वाणी का योग इसी की निष्पत्ति है। उसी प्रकार क्रियात्मक मन की प्रवृत्तियां भी केवली कर सकते हैं, क्योंकि उनमें मनोयोग की प्राप्ति है। इस मनोयोग के निष्पादन में पौद्गलिक मन का प्रयोग भी होता है। किन्तु यह ज्ञानात्मक भाव मन से भिन्न है। भ. ५/१००-१०२ का भाष्य द्रष्टव्य है।

शब्द-विमर्श

ध्यानान्तरिका (ज्ञानंतरिया)—दो ध्यानों के बीच का समय। एक ध्यान सम्पन्न कर दिया जाता है और दूसरे ध्यान का प्रारम्भ नहीं किया जाता है, उस मध्यवर्ती समय को ध्यानान्तरिका कहा जाता है।^१

व्याकरण—प्रश्न और उत्तर।

देवाणं नोसंजयवत्तव्वया-पदं

८९. भंतेति ! भगवं गोयमे समणं महावीरं
वंदंति नमंसंति जाव एवं क्यासी—देवा णं
भंते ! संजया ति वत्तव्वं सिया?

गोयमा ! णो तिण्णे, समट्ठे । अब्भक्खाणमेयं
देवाणं ।

९०. देवा णं भंते ! असंजता ति वत्तव्वं सिया?

देवानां नोसंयतवत्तव्वया-पदम्

भदन्त ! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति यावद् एवमवादीद्
—देवाः भदन्त ! संयताः इति वत्तव्वं स्यात्?

गौतम ! नायमर्थः : समर्थः । अभ्याख्यानमेत-
देवानाम् ।

देवाः भदन्त ! असंयता इति वत्तव्वं स्यात्?

देवों की नोसंयतवत्तव्वया का पद

८९. 'भन्ते ! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर भगवान
गौतम श्रमण भगवान महावीर को वन्दन नमस्कार
करते हैं यावत् इस प्रकार बोले—भंते ! देव संयत
है, क्या ऐसा कहा जा सकता है?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। यह देवों के लिए
अभ्याख्यान है—यथार्थ से परे है।

९०. भन्ते ! देव असंयत है, क्या ऐसा कहा जा सकता
है?

१. भ.व. ५/८५, ८६—'ज्ञानंतरियाए' ति अन्तरस्य—विच्छेदस्य करणमन्तरिका ध्यान-
स्यान्तरिका ध्यानान्तरिका—आरब्धध्यानस्य समाप्ति, पूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः।

गोयमा ! णो तिण्ठे समट्ठे । निट्ठुरवयणमेयं देवाणं॥	गौतम ! नायमर्थः समर्थः। निष्ठुरवचनमेतदेवानाम्।	गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। यह देवों के लिए निष्ठुर वचन है।
११. देवा णं भंते ! संजयासंजया ति वत्तव्वं सिया? गोयमा ! णो तिण्ठे समट्ठे। असब्भूयमेयं देवाणं॥	देवाः भदन्त ! संयतासंयताः इति वक्तव्यं स्यात्? गौतम! नायमर्थः समर्थः। असद्भूतमेतद् देवानाम्।	११. भन्ते ! देव संयतासंयत है, क्या ऐसा कहा जा सकता है? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। यह देवों के लिए असद्भूत वचन है—यथार्थ नहीं है।
१२. से किं खाइ णं भंते ! देवा ति वत्तव्वं सिया? गोयमा ! देवा णं नोसंजया ति वत्तव्वं सिया॥	तत् किं 'खाइ' भदन्त ! देवाः इति वक्तव्यं स्यात्? गौतम ! देवाः नोसंयताः इति वक्तव्यं स्यात्।	१२. भन्ते ! फिर उन देवों को क्या कहा जा सकता है? गौतम ! देव नोसंयत हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

भाष्य

१. सूत्र ८९-९२

प्रस्तुत आलापक में वाणी के विवेक का निदर्शन है। संयम और असंयम के आधार पर मनुष्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

१. असंयत—संयम से रहित
२. संयतासंयत—जिसमें असंयम के साथ आंशिक संयम हो।
३. संयत—पूर्ण संयमयुक्त।

देव संयम और आंशिक संयम की भी आराधना नहीं करते, इसलिए इन्हें संयत अथवा संयतासंयत कहना यथार्थ वचन नहीं है। असंयत कहना निष्ठुर वचन है। एक नए शब्द की रचना की गई—देव नोसंयत हैं। यह प्रयोग यथार्थ से परे भी नहीं है और निष्ठुर भी नहीं है।

देवभासा-पदं

१३. देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति?
कयरा व भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति?

गोयमा ! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति। सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।

देवभाषा-पदं

देवाः भदन्त ! कतरस्यां भाषायां भाषन्ते?
कतरा च भाषा भाष्यमाणा विशिष्यते?

गौतम ! देवाः अर्धमागध्यां भाषायां भाषन्ते। सापि च अर्धमागधी भाषा भाष्यमाणा विशिष्यते।

देवभाषा-पद

१३. 'भन्ते ! देव किस भाषा में बोलते हैं? बोली जाती हुई कौन-सी भाषा विशिष्ट होती है?

गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं और वह अर्धमागधी भाषा बोली जाती हुई विशिष्ट होती है।

भाष्य

१. सूत्र ९३

भगवान् महावीर अर्धमागधी भाषा में प्रवचन करते थे^१ तीर्थंकर के चौतीस अतिशयों में कहा गया है—भगवान् अर्धमागधी भाषा में धर्म का आख्यान करते हैं^२ प्रस्तुत सूत्र में देवों की भाषा को अर्धमागधी भाषा कहा है। वैदिक साहित्य में 'संस्कृत' को देवभाषा कहा गया है। इसका तात्पर्य यह होता है कि जिस परम्परा में जिस भाषा को महत्त्व दिया गया है, उसी भाषा को देवभाषा कहा गया है। वृत्तिकार ने भाषा के छः प्रकार बतलाए

हैं—प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश।^३ वृत्तिकार के अनुसार जिस भाषा में प्राकृत और मागधी दोनों के लक्षण मिलते हैं वह अर्धमागधी है।^४

अर्धमागधी भाषा भाष्यमाण अवस्था में विशिष्ट होती है। वृत्ति में इसका स्पष्ट अर्थ उपलब्ध नहीं है। विशेषता का एक हेतु यह हो सकता है कि यह तीर्थंकर की भाषा है। तीर्थंकर की भाषा में अनेक भाषाओं में परिणामन होने की क्षमता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर की भाषा श्रोताओं

१. ओवा. सू. ७१—अद्धमागहाए भासाए भासइ—अरिहा धम्मं परिकहेइ।

२. सम. ३४/१।

३. भ.वृ. ५/९३—'अद्धमागह' ति भाषा कित्त पडविधा भवति, यदाह—

“प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषा च सौरसेनी च।

षडोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥”

४. वही, ५/९३—तत्र मागधभाषालक्षणं किञ्चित्किञ्चित् प्राकृतभाषालक्षणं यस्यामस्ति सार्द्धं मागध्या इति व्युत्पत्त्याऽर्द्धमागधीति।

की अपनी-अपनी भाषा में बदल जाती है, श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा में यह जनता की भाषा है।
सुन लेते हैं।^१ दूसरी विशेषता—यह देवों की भाषा है। तीसरी विशेषता—

छउमत्थ-केवलीणं नाणभेद-पदं

१४. केवली णं भंते ! अंतकरं वा, अंतिम-
सरीरियं वा जाणइ-पासइ?
हंता जाणइ-पासइ ॥

१५. जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा,
अंतिमसरीरियं वा जाणइ-पासइ, तथा णं
छउमत्थे वि अंतकरं वा, अंतिमसरीरियं वा
जाणइ-पासइ?
गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणइ-
पासइ, पमाणतो वा ॥

१६. से किं तं सोच्चा?

सोच्चा णं केवलिस्स वा, केवलिसावगस्स
वा, केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स
वा, केवलिउवासियाए वा, तप्पक्खियस्स वा
तप्पक्खियसावगस्स वा, तप्पक्खियसावि-
याए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खि-
यउवासियाए वा। से तं सोच्चा ॥

१७. से किं तं पमाणे?

पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्च-
क्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे, जहा अणु-
ओगदारे तथा नेयव्वं पमाणं जाव तेण परं
सुत्तस्स वि अत्थस्स वि नो अत्तागमे, नो
अणंतरागमे, परंपरागमे ॥

१८. केवली णं भंते ! चरिमकम्मं वा, चरिम-
णिज्जरं वा जाणइ-पासइ?
हंता जाणइ पासइ ॥

१९. जहा णं भंते ! केवली चरिमकम्मं वा,
चरिमणिज्जरं वा जाणइ-पासइ, तथा णं
छउमत्थे वि चरिमकम्मं वा, चरिमणिज्जरं
वा जाणइ-पासइ?

छउमत्थ-केवलिनोर्ज्ञानभेद-पदम्

केवली भन्ते ! अन्तकरं वा, अन्तिमशरीरिकं
वा जानाति-पश्यति?
हन्त जानाति-पश्यति।

यथा भदन्त ! केवली अन्तकरं वा अन्तिम-
शरीरिकं वा जानाति-पश्यति, तथा छद्म-
स्थोऽपि अन्तकरं वा, अन्तिमशरीरिकं वा
जानाति-पश्यति?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः। श्रुत्वा जानाति-
पश्यति, प्रमाणतो वा ॥

अथ किं तत् श्रुत्वा?

श्रुत्वा केवलिनो वा, केवलिश्रावकस्य वा,
केवलिश्राविकायाः वा, केवल्युपासकस्य
वा, केवल्युपासिकायाः वा, तत्पाक्षिकस्य
वा, तत्पाक्षिकश्रावकस्य वा, तत्पाक्षिक-
श्राविकायाः वा, तत्पाक्षिकोपासकस्य वा,
तत्पाक्षिकोपासिकायाः वा। तस्य तत् श्रुत्वा।

अथ किं तत् प्रमाणम्?

प्रमाणं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—प्रत्य-
क्षम् अनुमानम् औपम्यम् आगमः, यथा
अनुयोगद्वारे तथा नेतव्यं प्रमाणं यावत् तेन परं
सूत्रस्यापि अर्थस्यापि नो आत्मागमः, नो
अनन्तरागमः, परंपरागमः।

केवली भदन्त ! चरमकर्म वा चरमनिर्जरां वा
जानाति-पश्यति?
हन्त ! जानाति-पश्यति ॥

यथा भदन्त ! केवली चरमकर्म वा,
चरमनिर्जरा वा जानाति-पश्यति, तथा
छद्मस्थोऽपि चरमकर्म वा चरमनिर्जरां वा
जानाति-पश्यति?

छदमस्थ और केवली का ज्ञान-भेद-पद

१४. 'भन्ते ! केवली अन्तकर और अन्तिमशरीरी को
जानता-देखता है?
हां, जानता-देखता है।

१५. भन्ते ! जिस प्रकार केवली अंतकर अन्तिम-
शरीरी को जानता-देखता है, क्या उसी प्रकार
छद्मस्थ भी अंतकर और अन्तिमशरीरी को
जानता-देखता है?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह सुनकर अथवा
किसी प्रमाण से जानता-देखता है।

१६. वह 'श्रुत्वा' (सुनकर) क्या है?

छद्मस्थ पुरुष, केवली के श्रावक, केवली की
श्राविका, केवली के उपासक, केवली की
उपासिका, स्वयंबुद्ध, स्वयंबुद्ध के श्रावक,
स्वयंबुद्ध की श्राविका, स्वयंबुद्ध के उपासक
अथवा स्वयंबुद्ध की उपासिका के पास जानता-
देखता है। यह 'श्रुत्वा' है।

१७. वह प्रमाण क्या है?

प्रमाण चार प्रकार का प्रज्ञप्त है—प्रत्यक्ष, अनु-
मान, औपम्य और आगम। प्रमाण का विवरण
अनुयोगद्वार की भांति ज्ञातव्य है यावत् गणधर के
प्रशिष्यों के लिए सूत्रागम और अर्थागम दोनों न
आत्मागम हैं, न अनन्तरागम हैं, किन्तु परम्परागम
हैं।

१८. भन्ते ! केवली चरम कर्म और चरम निर्जरा को
जानता-देखता है?
हां, जानता-देखता है।

१९. भन्ते ! जिस प्रकार केवली चरमकर्म और चरम
निर्जरा को जानता देखता है, क्या उसी प्रकार
छद्मस्थ भी चरम कर्म और चरम निर्जरा को
जानता-देखता है?

१. ओवा. सू. ७१—सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो
समासाए परिणामेणं परिणपइ।

गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठो सोच्चा जाणइ-
-पासइ, पमाणतो वा। जह्म णं अंतकरेणं
आलावगो तथा चरिमकम्मेण वि अपरि-
सेसिओ नेयव्वो ॥

गौतम ! नायमर्थः समर्थः। श्रुत्वा जानाति-
पश्यति, प्रमाणतो वा। यथा अन्तकरेण
आलापकः तथा चरमकर्मणाऽपि अपरि-
शिष्टः नेतव्यः।

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह सुन कर अथवा
किसी प्रमाण से जानता-देखता है। जिस प्रकार
अन्तकर का आलापक है, उसी प्रकार चरम कर्म का
भी आलापक अविकल रूप से ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सू. १४-१९

प्रस्तुत आलापक में भी केवली और छद्मस्थ के बीच भेदरेखा
खींची गई है।^१ छद्मस्थ अन्तकर, अन्तिम शरीरी, चरम कर्म और चरम
निर्जरा वाले को नहीं जानता-देखता केवली उसे जानता-देखता है।

छद्मस्थ केवली की भांति साक्षात् नहीं जानता-देखता किन्तु
श्रवण और प्रमाण इन दो हेतुओं से जान सकता है:

१. श्रवण—केवली के पास सुन कर अथवा जिसने केवली के
पास सुना है, उससे सुन कर।

२. प्रमाण—आगम साहित्य में प्रमाण के दो वर्गीकरण मिलते
हैं।

अणुओगद्दाराइं में प्रमाण-चतुष्क (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान,
आगम) का वर्गीकरण है। नदी में प्रमाण-द्वय (प्रत्यक्ष और परोक्ष) का
वर्गीकरण है। प्रथम वर्गीकरण नैयायिक-सम्मत है। अणुओगद्दाराइं के कर्ता
आर्यरक्षित पहले न्याय-दर्शन के पण्डित थे। फिर जैन मुनि बने। उन्होंने
न्याय-दर्शन सम्मत प्रमाण-चतुष्टयी को जैन परम्परा में स्वीकृत कर लिया।
(द्रष्टव्य 'असोच्चा' प्रकरण, भ. १/९-३२)

आगम के प्राचीन युग में पांच ज्ञान की व्यवस्था थी। प्रमाण की
व्यवस्था आगम के अर्वाचीन काल में विकसित हुई। प्रत्यक्ष और परोक्ष इस
वर्गीकरण को उत्तरवर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने अपनाया। तत्त्वार्थसूत्र में भी
यही प्रमाण-व्यवस्था सम्मत है। प्रमाण-चतुष्टय की व्यवस्था उत्तरवर्ती
दार्शनिक साहित्य में समादृत नहीं हुई। प्रस्तुत आगम में प्रमाण-चतुष्टय की

योजना आगम-संकलन-काल में हुई अथवा उससे पूर्व अथवा पश्चात् हुई,
यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यदि देवर्धिगणी के द्वारा यह पाठ
प्रक्षिप्त होता, तो प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों का उल्लेख करते, जो
जैन प्रमाण-मीमांसा का मौलिक वर्गीकरण है।

शब्द-विमर्श

अन्तकर, अन्तिम शरीरी — द्रष्टव्य भ. ५/७८-८२ का भाष्या
चरम कर्म—चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी (शैलेशी) अवस्था
के चरम समय में भोगा जाने वाला कर्म।

चरम निर्जरा—चरम कर्म के अनन्तर समय में जीव-प्रदेशों से
होने वाला कर्म का परिशाटन अथवा निर्जरण।^२

केवलि-श्रावक—केवली के पास सुनने वाला।

केवलि-उपासक—सुनने के लक्ष्य के बिना केवली की उपासना
करने वाला।^३

तत्पाक्षिक—केवलिपाक्षिक, स्वयंबुद्ध।

आत्मागम, अनन्तरागम, परम्परागम—तीर्थकर अर्थ का
प्रतिपादन करते हैं, इसलिए अर्थ उनके आत्मागम, स्वोपज्ञ आगम होता है।
गणधर सूत्र का गुम्फन करते हैं; इसलिए सूत्र उनके आत्मागम होता है, अर्थ
उनके अनन्तरागम—साक्षात् तीर्थकर से प्राप्त आगम होता है। गणधर-शिष्यों
के लिए सूत्र और अर्थ दोनों ही न आत्मागम होते हैं, न अनन्तरागम, किन्तु
परमपरागम होते हैं।^४

केवलीणं पणीय-मण-वइ-पदं

१००. केवली णं भंते ! पणीयं मणं वा, वइ वा
धारेज्जा?
हंता धारेज्जा।।

केवलिनां प्रणीत-मनोवाक्-पदम्

केवली भदन्त ! प्रणीतं मनो वा, वाचं वा
धारयेत् ?
हंत ! धारयेत्।

केवली के प्रणीत-मन-वचन-पद

१००. 'भन्ते ! क्या केवली प्रणीत मन और वचन को
धारण करता है—उनका प्रयोग करता है?
हां, धारण करता है।

१०१. जण्णं भंते ! केवली पणीयं मणं वा, वइं
वा धारेज्जा, तण्णं वेमाणिया देवा जाणंति-
-पासंति?

यद् भदन्त ! केवली प्रणीतं मनो वा वाचं वा
धारयेत्, तद् वैमानिकाः देवाः जानन्ति-
-पश्यन्ति?

१०१. भन्ते ! केवली प्रणीत मन और वचन को धारण
करता है, इसे वैमानिक देव जानते-देखते हैं?

१. द्रष्टव्य भ. ५/६८-७४।

२. भ. वृ. ५/९८—चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते, चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये
जीवप्रदेशेभ्यः परिशटति।

३. वहीं. ५/९६—केवलिनमुपासते यः श्रवणानाकांक्षी तदुपासनात्प्रपरः सत्रसौ केवल्युपासकः।

४. अणु. ५/५१—अहवा अगमे निविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे।
तित्थगणं अत्थस्स अत्तागमे। गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणंतरागमे। गणहरसीमाणं
सुत्तस्स अणंतरागमे, अत्थस्स परंपरागमे। तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि नो अत्तागमे, नो
अणंतरागमे परंपरागमे।

गोयमा ! अत्थेगतिया जाणंति-पासंति,
अत्थेगतिया ण जाणंति, ण पासंति।

१०२. से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थे-
गतिया जाणंति-पासंति, अत्थेगतिया ण
जाणंति, ण पासंति?

गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता, तं
जहा—माइमिच्छादिट्ठीउववण्णगा य,
अमाइसम्मदिट्ठीउववण्णगा य। तत्थ णं जे ते
माइमिच्छादिट्ठीउववण्णगा ते ण जाणंति, ण
पासंति। तत्थ णं जे ते अमाइसम्मदि-
ट्ठीउववण्णगा ते णं जाणंति-पासंति।

से केणट्ठेणं?

गोयमा ! अमाइसम्मदिट्ठी दुविहा पण्णत्ता,
तं जहा—अणंतरोववण्णगा य, परंपरो-
वण्णगा य। तत्थ णं जे ते अणंतरोववण्णगा
ते ण जाणंति, ण पासंति। तत्थ णं जे ते
परंपरोववण्णगा ते णं जाणंति-पासंति।

से केणट्ठेणं?

गोयमा ! परंपरोववण्णगा दुविहा पण्णत्ता,
तं जहा—अपज्जत्तगा य, पज्जत्तगा य। तत्थ
णं जे ते अपज्जत्तगा ते ण जाणंति, ण पासंति।
तत्थ णं जे ते पज्जत्तगा ते णं जाणंति-
पासंति।

से केणट्ठेणं?

गोयमा ! पज्जत्तगा दुविहा पण्णत्ता, तं
जहा—अणुवउत्ता य उवउत्ता या तत्थ णं जे
ते अणुवउत्ता ते ण जाणंति, ण पासंति। तत्थ
णं जे ते उवउत्ता ते णं जाणंति-पासंति। से
तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थे-
गतिया जाणंति-पासंति, अत्थेगतिया ण
जाणंति, ण पासंति ॥

गौतम ! अस्त्येकके जानन्ति-पश्यन्ति,
अस्त्येकके न जानन्ति, न पश्यन्ति।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्च्यते—अस्त्ये-
कके जानन्ति-पश्यन्ति, अस्त्येकके न
जानन्ति, न पश्यन्ति?

गौतम ! वैमानिकाः देवाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः,
तद् यथा—मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाश्च
अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च तत्र ये एते
मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नका ते न जानन्ति, न
पश्यन्ति। यत्र ये एते अमायिसम्यग्दृष्ट्युप-
पन्नकाः ते जानन्ति-पश्यन्ति।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! अमायिसम्यग्दृष्ट्यः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः
तद् यथा—अनन्तरोपपन्नकाश्च, परम्परोप-
पन्नकाश्च। तत्र ये एते अनन्तरोपपन्नकाः ते न
जानन्ति, न पश्यन्ति। तत्र ये एते परम्परोप-
पन्नकाः ते जानन्ति-पश्यन्ति।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! परम्परोपपन्नकाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः,
तद् यथा—अपर्याप्तकाश्च पर्याप्तकाश्च।
तत्र ये एते अपर्याप्तकाः ते न जानन्ति, न
पश्यन्ति। तत्र ये एते पर्याप्तकाः ते जानन्ति-
पश्यन्ति।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! पर्याप्तकाः द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्
यथा—अनुपयुक्ताश्च उपयुक्ताश्च। तत्र ये
एते अनुपयुक्ताः ते न जानन्ति, न पश्यन्ति।
तत्र ये एते उपयुक्ताः ते जानन्ति-पश्यन्ति।
तस्सेनार्थेन गौतम ! एवमुच्च्यते—अस्त्येकके
जानन्ति-पश्यन्ति। अस्त्येकके न जानन्ति,
न पश्यन्ति।

गौतम ! कुछ देव जानते-देखते हैं, कुछ देव नहीं
जानते-देखते।

१०२. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—
कुछ देव जानते-देखते हैं, कुछ देव नहीं जानते,
नहीं देखते?

गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे
—मायि-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायि-
-सम्यक्दृष्टि-उपपन्नक। इनमें जो मायि-मिथ्यादृष्टि
-उपपन्नक हैं, वे न जानते हैं, न देखते हैं। इनमें जो
अमायि-सम्यक्दृष्टि-उपपन्नक हैं, वे जानते-देखते
हैं।

यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! अमायि-सम्यक्दृष्टि दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं,
जैसे—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक। इनमें जो
अनन्तरोपपन्नक हैं, वे न जानते हैं, न देखते हैं। इन-
में जो परम्परोपपन्नक हैं, वे जानते देखते हैं।

यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! परम्परोपपन्नक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं,
जैसे—अपर्याप्तक और पर्याप्तक। इनमें जो
अपर्याप्तक हैं, वे न जानते हैं, न देखते हैं। इनमें जो
पर्याप्तक हैं, वे जानते-देखते हैं।

यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! पर्याप्तक दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
अनुपयुक्त और उपयुक्त। इनमें जो अनुपयुक्त हैं, वे न
जानते हैं, न देखते हैं। इनमें जो उपयुक्त हैं, वे जानते-
देखते हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है कुछ
देव जानते-देखते हैं, कुछ देव नहीं जानते, नहीं
देखते।

भाष्य

१. सूत्र १००-१०२

मन क्षयोपशम—(ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आंशिक
विलय) से होने वाला ज्ञान है। केवली का ज्ञान क्षायिक होता है—ज्ञानावरण
का सर्वथा विलय होने से होता है, इसलिए केवली को नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी
कहा है! इसका तात्पर्य है कि केवली के संज्ञामन नहीं होता। प्रस्तुत आलापक

में केवली में मन का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन
पौद्गलिक होता है और भावमन ज्ञानात्मक होता है। केवली के भावमन नहीं
होता, किन्तु द्रव्यमन होता है। यहाँ द्रव्यमन की अपेक्षा से ही केवली में मन

१. (क) पण्ण. ३१/४—मणूमा सण्णी वि असण्णी वि नो सण्णी नोअसण्णी वि।

(ख) प्रज्ञा. वृ.प. ५३४—केवली हि यद्यपि मनोद्रव्यसम्बन्धभाक् तथापि न तैरसौ
भूतभक्त्वाविभावस्वभावपर्यालोचनं करोति, किन्तु क्षीणसकलज्ञान-दर्शनावरणत्वात्

पर्यालोचनमन्तरेणैव केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च साक्षात्समस्तं जानातिपश्यति च, ततो
न संज्ञी, नाप्यसंज्ञी।

का अस्तित्व बतलाया गया है।

मन और वचन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली के मन नहीं है तो फिर वचन का प्रयोग कैसे होगा ?

विशेषावश्यक भाष्य में बताया गया है कि विशिष्ट वचन का प्रयोग मानसिक चिन्तनपूर्वक होता है^१ गोम्मटसार के अनुसार इन्द्रिय-ज्ञानी का वचन मनपूर्वक होता है। केवली व अतीन्द्रिय-ज्ञानी में मन उपचार से स्वीकृत है^२ धवला में भी यह प्रश्न चर्चित है—यदि केवली में मन नहीं है तो मन के अभाव में उसके कार्यभूत वचन का अस्तित्व कैसे होगा? इसके

उत्तर में आचार्य ने कहा—वचन ज्ञान का कार्य है—मन का कार्य नहीं^३ इसलिए केवली में वचन का अस्तित्व हो सकता है। भ. ५/८३-८८ का भाष्य द्रष्टव्य है।

शब्द-विमर्श

प्रणीत—प्रकृष्ट शुभा

मायी मिथ्यादृष्टि, अमायी सम्यग्दृष्टि—द्रष्टव्य भ. १/१०१ का भाष्य।

अणुत्तरोववाइयाणं केवलिणा आलाव-पदं

१०३. पभू णं भंते! अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चैव समाणा इहगएणं केवलिणा सद्धिं आलावं वा, संलावं वा करेत्तए? हंता पभू ॥

१०४. से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—पभू णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चैव समाणा इहगएणं केवलिणा सद्धिं आलावं वा, संलावं वा करेत्तए?

गोयमा ! जण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चैव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति, तण्णं इहगए केवली अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा वागरेइ। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—पभू णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चैव समाणा इहगएणं केवलिणा सद्धिं आलावं वा, संलावं वा करेत्तए ।

१०५. जण्णं भंते ! इहगए केवली अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा वागरेइ, तण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चैव समाणा जाणंति-पासति? हंता जाणंति-पासति ॥

१०६. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—जण्णं

अनुत्तरोपपातिकानां केवलिना आलाप-पदम्

प्रभवः भदन्त ! अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्रगताश्चैव सन्तः इहगतेन केवलिना सार्द्धम् आलापं वा, संलापं वा कर्तुम्? हन्त प्रभवः।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—प्रभवः, अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्र गताश्चैव सन्तः इहगतेन केवलिना सार्द्धम् आलापं वा, संलापं वा कर्तुम्?

गौतम ! यद् अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्र गताश्चैव सन्तः अर्थं वा हेतुं वा प्रश्नं वा कारणं वा व्याकरणं वा पृच्छन्ति, तद् इहगतः केवली अर्थं वा हेतुं वा प्रश्नं वा कारणं वा व्याकरणं वा व्याकरोति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—प्रभवः अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्रगताश्चैव सन्तः इहगतेन केवलिना सार्द्धम् आलापं वा संलापं वा कर्तुम्।

यद् भदन्त ! इहगतः केवली अर्थं वा, हेतुं वा प्रश्नं वा कारणं वा व्याकरणं वा व्याकरोति, तद् अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्रगताश्चैव सन्तः जानन्ति-पश्यन्ति? हन्त जानन्ति-पश्यन्ति।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—यद्

अनुत्तरोपपातिक देवों द्वारा केवली के साथ आलाप का पद

१०३. 'भंते ! अनुत्तरोपपातिक देव अपने विमानों में रहते हुए ही मनुष्य-लोक में स्थित केवली के साथ आलाप अथवा संलाप करने में समर्थ हैं? हां, समर्थ हैं।

१०४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— अनुत्तरोपपातिक देव अपने विमानों में रहते हुए ही मनुष्य-लोक में स्थित केवली के साथ आलाप अथवा संलाप करने में समर्थ हैं?

गौतम ! अनुत्तरोपपातिक देव अपने विमानों में रहते हुए ही जो अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण पूछते हैं, मनुष्य-लोक में स्थित केवली अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण का उत्तर देते हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—अनुत्तरोपपातिक देव अपने विमानों में रहते हुए ही मनुष्य-लोक में स्थित केवली के साथ आलाप-संलाप करने में समर्थ हैं।

१०५. भन्ते ! मनुष्य-लोक में स्थित केवली जिस अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण का उत्तर देते हैं, उसे अपने विमानों में रहते हुए अनुत्तरोपपातिक देव जानते-देखते हैं? हां, जानते-देखते हैं।

१०६. भन्ते यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—

१. वि. भा. गा. ३०७२ वृ.—मन-पूर्वकत्वात् विशिष्टवचसः।

२. गो. सा. जी. गा. २२८ (जै. सि. को. भा. १, पृ. १६३) —

मणसहिषाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगग्गिहि

उतो मणोवयरेण्णिदियणाणेण हीणग्गि ॥

३. प. खं. धवला, पु. १, खं १, भा. १, सू. १२३, पृ. ३६८—तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचसोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात्।

इहगए केवली अहं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा वागरेइ, तण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चेव समाणा जाणंति-पासंति?

गोयमा ! तेसिं णं देवाणं अणंताओ मणो-द्व्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जण्णं इहगए केवली अहं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा वागरेइ, तण्णं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थगया चेव समाणा जाणंति-पासंति॥

इहगतः केवली अर्थं वा हेतुं वा प्रश्नं वा कारणं वा व्याकरणं वा व्याकरोति, तद् अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्र गताश्चैव सन्तः जानन्ति-पश्यन्ति?

गौतम ! तेषां देवानाम् अनन्ताः मनोद्रव्य-वर्गणाः लब्धाः प्राप्ताः अभिसमन्वागताः भवन्ति तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—यद् इहगतः केवली अर्थं वा हेतुं वा प्रश्नं वा कारणं वा व्याकरणं वा व्याकरोति, तद् अनुत्तरोपपातिकाः देवाः तत्रगताश्चैव सन्तः जानन्ति-पश्यन्ति ।

मनुष्य-लोक में स्थित केवली जिस अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण का उत्तर देते हैं, उसे अपने विमानों में रहते हुए अनुत्तरोपपातिक देव जानते-देखते हैं?

गौतम ! उन देवों को अनन्त मनोद्रव्य की वर्गणाएं लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत हो जाती हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—मनुष्य-लोक में स्थित केवली जिस अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण का उत्तर देते हैं, उसे अपने विमानों में रहते हुए अनुत्तरोपपातिक देव जानते-देखते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १०३-१०६

प्रस्तुत आलापक में मानसिक संप्रेषण का सिद्धान्त प्रतिपादित है। अनुत्तर विमान के देवों के मन में कोई प्रश्न उपस्थित होता है तो वे वहां बैठे-बैठे मनुष्य-लोक में विद्यमान केवली के साथ मानसिक आलाप-संलाप करते हैं। केवली उनके प्रश्न को जानकर मानसिक स्तर पर उसका उत्तर देते हैं। वे प्रश्नकर्ता देव केवली की मनोद्रव्य-वर्गणा के आधार पर उसे जान लेते हैं। केवली के ज्ञानात्मक भावमन नहीं होता किन्तु योगरूप मानसिक प्रवृत्ति होती है। (भ. ५/१००-१०२ का भाष्य द्रष्टव्य है)। केवली कुछ कहना चाहते हैं तब उनके आत्म-प्रदेशों का स्पन्दन होता है। उससे मनोद्रव्य-

वर्गणा (मानसिक पुद्गल-स्कन्धों) का ग्रहण होता है।^१ उन पुद्गलों को अनुत्तर विमान के देव ग्रहण कर जान लेते हैं। वृत्तिकार के अनुसार उनके अवधिज्ञान का विषय-क्षेत्र लोक-नाडी है। जिसका विषयक्षेत्र लोक का संख्येय भाग होता है, वह भी मनोद्रव्य-वर्गणा को जान लेता है तो जिसका विषय क्षेत्र लोक-नाडी है, वह मनोद्रव्य-वर्गणा को कैसे नहीं जानेगा?^२

जयाचार्य ने २१वें तीर्थंकर नमि की स्तुति में उक्त विषय को काव्य की भाषा में लिखा है—

सुर अनुत्तर विमाण ना सेवै रे, प्रश्न पूछ्या उत्तर जिन देवै रे ।
अवधिज्ञान करी जाण लेवै, प्रभु नमिनाथ जी मुझ प्यारा रे ॥^३

१०७. अणुत्तरोववाइया णं भंते ! देवा किं उदिण्णमोहा? उवसंतमोहा? खीणमोहा?

गोयमा ! नो उदिण्णमोहा, उवसंतमोहा, नो खीणमोहा ॥

अनुत्तरोपपातिकाः भदन्त ! देवाः किम् उदीर्णमोहाः? उपशान्तमोहाः? क्षीणमोहाः?

गौतम ! नो उदीर्णमोहाः, उपशान्तमोहाः, नो क्षीणमोहाः।

१०७. 'भन्ते! अनुत्तरोपपातिक देव क्या उदीर्ण (उत्कट) मोह वाले हैं? उपशान्त मोह वाले हैं? क्षीणमोह वाले हैं?

गौतम ! वे उदीर्ण मोह वाले नहीं हैं, उपशान्त मोह वाले हैं, क्षीणमोह वाले नहीं हैं?

भाष्य

१. सूत्र १०७

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में 'मोह' शब्द वेदमोह के अर्थ में विवक्षित है। मोह की तीन अवस्थाएं होती हैं—उदय अवस्था, उपशान्त अवस्था और क्षीण अवस्था। अनुत्तर विमान के देवों में वेदमोह का उत्कट

उदय नहीं होता और वह क्षीण भी नहीं होता, किन्तु उपशान्त रहता है। उमास्वाति ने ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देवों को अप्रवीचर बतलाया है। उनमें मोह अल्प होता है, इसलिए वे निरन्तर समाधि के सुख में लीन रहते

१. ब. खं. धवला पु. १/खं. १ भा. १ सू. १२३ पृ. ३६८—जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनो कर्म-जनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वात् विरोधः।

२. भ. वृ. ५/१०६—यत्तस्तेषामवधिज्ञानं संभित्रलोकनाडीविषयं, यच्च लोकनाडीग्राहकं तन्मनो-वर्गणाग्राहकं भवत्येव, यतो योऽपि लोकसङ्ख्येयभाग विषयोऽवधिः सोऽपि मनोद्रव्यग्राही यः पुनः

संभित्रलोकनाडीविषयोऽसौ कथं न मनोद्रव्यग्राही भविष्यति? इत्यते च लोकसङ्ख्येय-भागावधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वं, यदाह—

संखेज्ज मणोदब्बे भागो लोगपलियस्स बोद्धव्वो।

३. छोटी चौबीसी, २१/५।

हैं। सहज ही परम सुख से तृप्त होते हैं। इसलिए रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के भोग की आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती।^१ पणवणा में भी इसी मत का उल्लेख है।

यहाँ 'उपशान्त मोह' पद सापेक्ष है। अनुत्तर विमान के देवों में मोह सर्वथा उपशान्त नहीं होता किन्तु वह उपशान्त रहता है। उसका सर्वथा उपशमन केवल उपशम श्रेणी की अवस्था में होता है।^२

केवलीणं इन्द्रियानाण-निषेध-पदं

केवलिनाम् इन्द्रियज्ञान-निषेध-पदम्

केवलियों के इन्द्रिय-ज्ञान का निषेध-पद

१०८. केवली णं भन्ते ! आयाणेहिं जाणइ-
पासइ?

केवली भदन्त ! आदानैः जानाति-पश्यति?

१०८. 'भन्ते ! क्या केवली आदान (इन्द्रियों) के द्वारा जानता-देखता है?

गोयमा ! नो तिण्ठे सम्भे ॥

गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

१०९. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ—केवली
णं आयाणेहिं ण जाणइ, ण पासइ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—केवली
आदानैः न जानाति, न पश्यति?

१०९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—
केवली आदान (इन्द्रियों) से न जानता है, न
देखता है?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमे णं मियं पि
जाणइ, अमियं पि जाणइ। एवं दाहिणे णं,
पच्चत्थिमे णं, उत्तरे णं, उड्ढं, अहे मियं पि
जाणइ, अमियं पि जाणइ।

गौतम ! केवली पौरस्त्यै मितमपि जानाति,
अमितमपि जानाति। एवं दक्षिणे, पश्चिमे,
उत्तरे, ऊर्ध्वम् अधः मितमपि जानाति, अ-
मितमपि जानाति।

गौतम ! केवली पूर्व दिशा में मित को भी जानता है,
अमित को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम,
उत्तर, ऊर्ध्व और अधो दिशा में वह मित को भी जानता
है, अमित को भी जानता है।

सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली।

सर्वम् जानाति केवली, सर्वम् पश्यति
केवली।

केवली सब को जानता है, सब देखता है।

सव्वओ जाणइ केवली, सव्वओ पासइ
केवली।

सर्वतः जानाति केवली, सर्वतः पश्यति
केवली।

केवली सब ओर से जानता है, सब ओर से देखता
है।

सव्वकालं जाणइ केवली, सव्वकालं पासइ
केवली।

सर्वकालं जानाति केवली, सर्वकालं
पश्यति केवली।

केवली सब काल को जानता है, सब काल को देखता
है।

सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ
केवली।

सर्वभावान् जानाति केवली, सर्वभावान्
पश्यति केवली।

केवली सब भावों को जानता है, सब भावों को देखता
है।

अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे
केवलिस्स।

अनन्तं ज्ञानं केवलिनः, अनन्तं दर्शनं
केवलिनः।

केवली का ज्ञान अनन्त है, केवली का दर्शन अनन्त
है।

निव्वुडे नाणे केवलिस्स, निव्वुडे दंसणे
केवलिस्सा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ
—केवली णं आयाणेहिं ण जाणइ, ण
पासइ ॥

निर्वृतं ज्ञानं केवलिनः, निर्वृतं दर्शनं केव-
लिनः। तत् तेनार्थेन, गौतम ! एवमुच्यते
—केवली आदानैः न जानाति, न पश्यति।

केवली का ज्ञान निरावरण है, केवली का दर्शन
निरावरण है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा
है—केवली आदान (इन्द्रियों) से नहीं जानता, नहीं
देखता।

भाष्य

१. सू. १०८, १०९

हमारे ज्ञान का मुख्य स्रोत इन्द्रियां हैं। बाह्य जगत् स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक है। उसका ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इसलिए हम इन्द्रिय-ज्ञान और इन्द्रिय-ज्ञानगम्य जगत् से परिचित हैं,

अतीन्द्रिय-ज्ञान और अतीन्द्रिय-ज्ञानगम्य जगत् से परिचित नहीं है।

अतीन्द्रिय-ज्ञान के तीन प्रकार हैं—अवधि, मनःपर्यव और केवली। अतीन्द्रिय ज्ञानी सीधा आत्मा से जानता है, उसे इन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्रिय-ज्ञान आवरणयुक्त होता है। केवलज्ञान

१. त.सू.भा.वृ. ४/१०—परे अप्रवीचाराः—अविद्यमानप्रवीचाराः अप्रवीचाराः, कल्पो-
पन्नेभ्यः परे ये देवा ग्रैवेयकवांसिनोऽनुत्तरविमानवासिनश्चाप्रवीचारा भवन्ति, अल्प-
सङ्कलेशत्वाद्धेतोरन्तःशुद्धत्वात् च, ते स्वसर्माधिजमेव सुखमुपभुञ्जते, अधिकतरं चैषां तद्
भवत्यल्पमोहत्वात् कायक्लेशरहितम्, स्वस्थाः प्रतनुकमोहनीयकर्मपटलानुरञ्जित स्वरूपत्वात्
मन्ददेवान्तिवाच्छीतीभूताः पञ्चविधाः प्रवीचाराः रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः प्रवीचाराहेतवो
मनोहराः कारणे कार्योपचाराध्यारोपादुक्ताः तत्समुदायजादपि सुखविशेषाद् परिमित-
गुणप्रीतिप्रकर्षा बहुगुणप्रीतिप्रकर्षयुजः परमसुखतृप्ता एव भवन्ति। दुर्लभं हि तादृक् संसारे

सुखमन्यनिवासेषु शब्दादि विषयनिरपेक्षत्वात् सहजम् अतस्तेनजन्मप्रभृत्या स्थितिक्षयात्
सततमेव तृप्तास्त इति।

२. पण्ण. ३४/१८—गोवेज्जअणुत्तरोववाइया देवा अपरिचाराणां।

३. भ.वृ. ५/१०७—'उदिणमोह' ति उक्तवेदमोहनीयाः 'उवसंतमोह' ति अनुत्कटवेद-
मोहनीयाः परिचाराणायाः कथञ्चिदप्यभावात्, न तु सर्वथोपशान्तमोहाः उपशमश्रेणैस्तेषामभावात्
'नो खीणमोह' ति क्षपकश्रेण्या अभावादिति।

निरावरण होता है। इसलिए वह मित-अमित दोनों को जानता है।
केवलज्ञान का चार नयों से प्रतिपादन किया गया है।
सर्वं जाणइ—यह द्रव्य की अपेक्षा से है।
सर्वओ जाणइ—यह क्षेत्र की अपेक्षा से है।
सर्वकालं जाणइ—यह काल की अपेक्षा से है।
सर्वभावे जाणइ—यह भाव की अपेक्षा से है।
तत्त्वार्थराजवार्तिक और धवला में एक प्रश्न उपस्थित किया गया—केवली में यदि ज्ञानेन्द्रियां (भावेन्द्रियां) नहीं हैं, तो उन्हें पंचेन्द्रिय

कैसे कहा गया? इसका उत्तर है—केवली के ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं है। उन्हें पौद्गलिक इन्द्रियों (द्रव्येन्द्रियों) की अपेक्षा से पञ्चेन्द्रिय कहा जा सकता है। ज्ञानेन्द्रियां और केवलज्ञान—दोनों एक साथ नहीं हो सकते।^१

शब्द-विमर्श

आदान—आदान शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—आश्रय, परिग्रह आदि। इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण किया जाता है, इसलिए उन्हें आदान कहा गया है।^२

केवलीणं जोगचंचलया-पदं

११०. केवली णं भन्ते ! अस्मिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धति, पभू णं केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धितए?
गोयमा ! णो तिण्ठे समट्ठे ॥

१११. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—केवली णं अस्मिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धति, णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धितए?

गोयमा ! केवलिस्स णं वीरिय-सजोग-सद्ववयाए चलाइं उवरकरणाइं भवन्ति। चलोवकरणड्डयाए य णं केवली अस्मिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धति, णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धितए। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—केवली णं अस्मिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहिताणं चिद्धति, णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव

केवलिनानां योग-चंचलता-पदम्

केवली भदन्त ! अस्मिन् समये येषु आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य तिष्ठति, प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेषु चैव आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य स्थातुम्?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—केवली अस्मिन् समये येषु आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य तिष्ठति, नो प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेषु चैव आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य स्थातुम्?

गौतम ! केवलिनः वीर्य-सजोग-सद्रव्यतया चलानि उपकरणानि भवन्ति। चलोपकरणार्थतया च केवली अस्मिन् समये येषु आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य तिष्ठति, नो प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेषु चैव आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य स्थातुम्। तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—केवली अस्मिन् समये येषु आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं वा ऊरुं वा अवगाह्य तिष्ठति, नो प्रभुः केवली एष्यत्कालेऽपि तेषु चैव आकाशप्रदेशेषु हस्तं वा पादं वा बाहुं

केवलियों की योग-चंचलता का पद

११०. 'भन्ते ! केवली इस समय (निर्दिष्ट वर्तमान समय) में जिन आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि (साथल) को अवगाहित कर ठहरता है, वह भविष्य में भी उन्हीं आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू या सक्थि को अवगाहित कर ठहरने में समर्थ हैं?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

१११. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—केवली इस समय में जिन आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरता है, वह भविष्य में भी उन्हीं आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरने में समर्थ नहीं है?

गौतम ! केवली का वीर्य योग (कायिक प्रवृत्ति) तथा द्रव्य (कायवर्षणा-प्रयोग)-सहित होता है। इसलिए उसके उपकरण (हाथ पैर आदि अवयव) चलते हैं। चल उपकरण के कारण केवली उस समय में जिन आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरता है, वह भविष्य में भी उन्हीं आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरने में समर्थ नहीं है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—केवली इस समय में जिन आकाश-प्रदेशों में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरता है, वह भविष्य में उन्हीं आकाश-प्रदेशों

१. द्रष्टव्य, नंदी सू. ३३।

२. (क) त. ग. वा. १/३०—आर्षेहि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पञ्चेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रति उक्तं न भावेन्द्रियं प्रति।

(ख) ध. खं. धवला. पु. १. खं १. भा. १. सू. ३६, पु. २६३—केवलिनानां निर्मूलतो

विनष्टान्तरङ्गोन्द्रियाणां प्रहृतवाह्येन्द्रियव्यापाराणां भावेन्द्रिय-जनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वापेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्।

३. भ. नू. ५/१०८—आदीयते गृह्यतेऽर्थं एभिर्गत्यादानानि—इन्द्रियाणि।

आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा वा ऊरुं वा अवगाह्य स्थातुम्।
ऊरुं वा ओगाहित्ताणं चिञ्चित्तए ॥

में हाथ, पांव, बाहू अथवा सक्थि को अवगाहित कर ठहरने में समर्थ नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र. ११०, १११

प्रस्तुत आलापक में ज्ञान और शक्ति का भेद समझाया गया है। केवली में अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति होती है। शक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर है। शरीर से वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्य से योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति अथवा चञ्चलता) होता है। योग की प्रवृत्ति काय, वचन और मनोवर्गणा के द्वारा होती है। केवली जिस आकाश-प्रदेश पर हाथ, पैर आदि रखता है, उस स्थान को जानता है फिर भी वीर्य, योग और पौद्गलिक चञ्चलता के कारण दूसरी बार उसी स्थान पर हाथ, पैर आदि नहीं रख सकता। हेराक्लाइटस ने प्रवाह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने कहा—‘उसी नदी में हम डुबकी लगाते हैं और हम डुबकी नहीं लगाते, क्योंकि कोई भी आदमी दो बार उसी नदी में प्रवेश नहीं कर सकता, वह लगातार अन्दर और बाहर बहती रहती है।’

यह प्रवाह का सिद्धान्त है किन्तु प्रस्तुत आलापक में शारीरिक

चञ्चलता का सिद्धान्त प्रतिपादित है।

शब्द-विमर्श

वीर्य योग तथा द्रव्य-सहित (वीरिय-सजोग-सद्द्रव्याए) — अभयदेवसूरि ने सद्द्रव्याए पद के तीन अर्थ किए हैं—

१. विद्यमान जीव द्रव्य २. स्वद्रव्य ३. मन आदि की वर्गणा से युक्त।

औदारिक शरीर-प्रयोग बंध की चर्चा में ‘वीरियसजोग-सद्द्रव्याए’ पाठ मिलता है।^४ वहां अभयदेवसूरि ने द्रव्य का अर्थ ‘तथाविध पुद्गल’ किया है।^५ प्रस्तुत प्रकरण में द्रव्य का अर्थ पुद्गल ही संगत है। तत्त्वार्थ भाष्य में ‘अपायसद्द्रव्यतया’ का प्रयोग मिलता है।^६ सिद्धसेनगणी ने सद्द्रव्य का अर्थ ‘शोभन द्रव्य’—‘सम्यक्त्व दलिक’ किया है। इसमें भी द्रव्य का अर्थ पुद्गल है।^७ सद्द्रव्य का अर्थ स-द्रव्य भी किया जा सकता है। योग और द्रव्य दोनों के साथ ‘स’ का प्रयोग प्रासंगिक है।

चोद्दसपुव्वीणं सामर्थ्य-पदं

११२. पभू णं भन्ते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं, कडाओ कडसहस्सं, रहाओ रहसहस्सं, छत्ताओ छत्तसहस्सं, दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्व-ट्टेत्ता उवदंसेत्तए?
हंता पभू ॥

चतुर्दशपूर्विणां सामर्थ्य-पदम्

प्रभु भदन्त ! चतुर्दशपूर्वी घटात् घटसहस्रं, पटात् पटसहस्रं, कटात् कटसहस्रं, रथात् रथसहस्रं, छत्रात् छत्रसहस्रं, दण्डात् दण्डसहस्रम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयितुम्?
हन्त प्रभुः!

चतुर्दशपूर्वियों का सामर्थ्य-पद

११२. ‘भन्ते ! चतुर्दशपूर्वी एक घड़े से हजार घड़े, एक वस्त्र से हजार वस्त्र, एक चटाई से हजार चटाइयां, एक रथ से हजार रथ, एक छत्र से हजार छत्र और एक दण्ड से हजार दण्ड उत्पन्न कर दिखाने में समर्थ हैं?
हां, समर्थ है।

११३. से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी जाव उवदंसेत्तए?

तत् केनार्थेन प्रभुः चतुर्दशपूर्वी यावद् उपदर्शयितुम्?

११३. यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—चतुर्दशपूर्वी यावत् एक दण्ड से हजार दण्ड उत्पन्न कर दिखाने में समर्थ है?

गोथमा ! चोद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्कारियाभेएणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं

गौतम ! चतुर्दशपूर्विणः अनन्ताणि द्रव्याणि उत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि लब्धानि

गौतम ! चतुर्दशपूर्वी को उत्कारिका भेद से भिद्यमान अनन्त द्रव्य लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत होते

१. भ. १/१४३, १४४

२. पारश्चात्य दर्शनका ऐतिहासिक विवेचन, पृष्ठ १९—

‘Into the same river we go down and we do not go down, for into the same river no man can enter twice, ever it flows in and flows out.’—Heraclitus

३. भ.वृ. ५/१११—वीर्य—वीर्यान्तरायक्षयप्रभवाशक्तिः तत्प्रधानं सयोगं—मानसादिव्यापारयुक्तं यत्सद्—विद्यमानं द्रव्यं—जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावोऽपि जीवद्रव्यस्य योगान्दिना चलनं न स्यादिति, सयोगशब्देन सद्द्रव्यं विशेषितं, सदिति विशेषणं च तस्य सदा सत्तावधारणार्थं, अथवा स्वम्—आत्मा, तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यं ततः कर्मधारयः, अथवा वीर्यप्रधानः

सयोगो—योगवान् वीर्यसयोगः स चासौ सद्द्रव्यश्च—मनः प्रभृति वर्गणायुक्तो वीर्यसयोग-सद्द्रव्यस्तस्य भावस्तत्ता तथा हेतुभूतया।

४. भ. ८/३६९।

५. भ.वृ. ८/३६९—सन्ति—विद्यमानानि द्रव्याणि—तथाविधपुद्गला यस्य जीवस्यासौ सद्द्रव्यः वीर्यप्रधानः सयोगो वीर्यसयोगः। स चासौ सद्द्रव्यश्चेति विग्रहस्तद्भावस्तत्ता, तथा वीर्यसयोगसद्द्रव्य तथा, सवीर्यतया सयोगतया सद्द्रव्यतया जीवस्या।

६. त.भा. १/११—निमित्तापेक्षत्वात् अपायसद्द्रव्यतया मतिज्ञानम्।

७. त.सू. १/११—सद्द्रव्यमिति शोभनानि द्रव्याणि सम्यक्त्वदलिकानि।

अभिसमण्णागयाइं भवंति।

से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं तुच्चइ—पभू णं
चोदसपुव्वी घडाओ घडससहस्सं, पडाओ
पडसहस्सं, कडाओ कडसहस्सं, रहाओ
रहसहस्सं, छत्ताओ छत्तसहस्सं, दंडाओ
दंडसहस्सं अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसेत्ताए ॥

प्राप्तानि अभिसमन्वागतानि भवन्ति।

ततेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—प्रभुः
चतुर्दशपूर्वी घटात् घटसहस्रं, पटात्
पटसहस्रं, कटात् कटसहस्रं, रथात्
रथसहस्रं, छत्रात् छत्रसहस्रं, दण्डात्
दण्डसहस्रम् अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयितुम्।

हैं।

गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—
चतुर्दशपूर्वी एक घडे से हजार घडे, एक वस्त्र से
हजार वस्त्र, एक चटाई से हजार चटाइयां, एक रथ
से हजार रथ, एक छत्र से हजार छत्र और एक दण्ड
से हजार दण्ड उत्पन्न कर दिखाने में समर्थ है।

भाष्य

१. सूत्र ११२, ११३

प्रस्तुत आलापक में एक पदार्थ से उसके समान हजारों पदार्थ
निर्माण करने की क्षमता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। बहुरूप-
निर्माण का सिद्धान्त है उत्कारिक—उत्कारिकाभेदा^१

पणवणा में पांच प्रकार के भेद बतलाए गए हैं—

१. खण्ड भेद २. प्रतर भेद ३. चूर्णिका भेद ४. अनुतटिका भेद
५. उत्कारिका भेद।

जैसे एरण्ड का बीज उछलता है वैसे एक परमाणु स्कन्ध से दूसरे
परमाणु-स्कन्ध का चटक कर उछलना उत्कारिका भेद है।^२

चतुर्दशपूर्वी को श्रुतज्ञान के द्वारा उत्कारिका भेद की प्रक्रिया
ज्ञात होती है। उसके माध्यम से लब्धि-सम्पन्न चतुर्दशपूर्वी एक पदार्थ के
समान अनेक पदार्थों का निर्माण कर सकता है।^३

पतञ्जलि ने अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों का निरूपण किया है।^४

१. अणिमा २. लघिमा ३. महिमा ४. प्राप्ति ५. प्राकाम्य ६. वशित्व ७.
ईशितृत्व ८. यत्रकामावसायित्वा ईशितृत्व भौतिक पदार्थों के प्रभव, नाश
और व्यूह में सक्षम होता है।^५ अणिमा आदि ऐश्वर्यों की प्राप्ति भूत-जय की
प्रक्रिया है—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व। इन पांच प्रकार
के भूतरूपों में संयम करना।^६

शब्द-विमर्श

लब्ध—उत्कारिका भेद से भिद्यमान परमाणु-स्कन्ध ज्ञात हो जाते
हैं।

प्राप्त—वे गृहीत हो जाते हैं।

अभिसमन्वागत—उनका घट आदि के रूप में परिणमन प्रारम्भ
हो जाता है।

११४. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

११४. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है

१. भ. वृ. ५।११३—इह चोत्कारिकाभेदग्रहणं तद्विज्ञानामेव द्रव्याणां विवक्षितघटादिनिष्पादन
सामर्थ्यमस्ति नान्येषाम्।

२. पण. ११।७३-७९।

३. भ. वृ. ११३—तत्रोत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि 'लब्धाइं' त्ति लब्धिविशेषाद्ग्रहणविशयतां
गतानि 'पत्ताइं' त्ति तत एव गृहीतानि 'अभिसमन्नागयाइं' त्ति घटादिरूपेण परिणामयितुमन्धानि

ततस्तैर्घट सहस्रादि निर्वर्तयति, आहारिक शरीरवत् निर्वर्त्य च दर्शयति जनानाम्।

४. पा. यो. द. ३/४५—ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद् धर्मानभिघातश्च।

५. वही, ३/४५ भाष्य—ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्यय न्यूहानामीष्टे।

६. वही, ३/४४—स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थजत्वसंयमाद् भूतजयः।

पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

मोक्ष-पदं

११५. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतं सा-
सयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संव-
रेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पव-
यणमायाहिं सिज्झिंसु? बुज्झिंसु? मुच्चिंसु?
परिणिव्वाइंसु? सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठो जहा पढमसए चउ-
त्थुद्देशे आलावगा तथा नेयव्वा जाव अलम-
त्थु त्ति वत्तव्वं सिया ॥

मोक्ष-पदम्

छुदमस्थः भदन्त ! मनुष्यः अतीतम् अनन्तं
शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन
संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवला-
भिः प्रवचनमातृभिः असैत्सुः? 'बुज्झिंसु'?
अमुचन्? परिनिरवासिषुः? सर्वदुःखाना-
मन्तम् अकार्षुः?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः। यथा प्रथमशते
चतुर्थेद्देशे आलापकाः तथा नेतव्याः यावद्
अलमस्तु इति वक्तव्यं स्यात्।

मोक्ष-पद

११५. 'भन्ते ! क्या छुदमस्थ मनुष्य इस अनन्त, शाश्वत
अतीत काल में केवल संयम, केवल संवर, केवल
ब्रह्मचर्यवास और केवल प्रवचनमाता की आराधना
से सिद्ध हुआ? बुद्ध हुआ? मुक्त हुआ? परिनिवृत्त
हुआ? और उसने सब दुःखों का अन्त किया?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। प्रथम शतक के चतुर्थ
उद्देशक में जिस प्रकार आलापक हैं उसी प्रकार यहाँ
ज्ञातव्य हैं यावत् केवली समर्थ है, ऐसा कहा जा सकता
है।

भाष्य

१. सूत्र ११५

द्रष्टव्य, भ. १/२००-२१० का भाष्या।

एवंभूय-अणेवंभूय-वेदणा-पदं

११६. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति
जाव परूवेति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे
जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेति।

११७. से कहमेयं भंते! एवं?

गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइ-
क्खंति जाव सव्वे सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेति।
जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं
पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि
—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवं-

एवंभूत-अनेवंभूत-वेदना-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति यावत्
प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे
जीवाः सर्वे सत्त्वाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति।

तत् कथमेतद् भदन्त ! एवम्?

गौतम ! यत्ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति
यावत् सर्वे सत्त्वाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति।
ये एते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनः
गौतम ! एवमाख्यामि यावत् प्ररूपयामि—
अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः

एवंभूत-अनेवंभूत-वेदना-पद

११६. 'भन्ते ! अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते
हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं—सब प्राण, सब भूत,
सब जीव और सब सत्त्व एवंभूत (जिसमें जिस प्रकार
कर्मों का बन्धन होता है उसी प्रकार कर्मों का वेदन
करते हैं) वेदना का अनुभव करते हैं।

११७. भन्ते ! यह वक्तव्य कैसा है?

गौतम ! वे अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं
यावत् सब सत्त्व भूत वेदना का अनुभव करते हैं। जो
वे इस प्रकार कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं
इस प्रकार आख्यान करता हूँ यावत् प्ररूपणा करता
हूँ—कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत

भूयं वेदेणं वेदेति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेति।

एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति, अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति।

वेदना का अनुभव करते हैं, कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवंभूत (कर्मों के बन्धन में परिवर्तन लाकर) वेदना का अनुभव करते हैं।

११८. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थे-गइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेति?

गोयमा ! जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेदणं वेदेति, ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदेणं वेदेति ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—अस्त्ये-कके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति, अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति? गौतम ! ये प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः यथा कृतानि कर्माणि तथा वेदनां वेदयन्ति, ते प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति ।

११८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं, कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं? गौतम ! जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व जैसे कर्म किया वैसे ही वेदना का अनुभव करते हैं, वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं।

जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेदणं वेदेति, ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेति। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेति ।

ये प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः यथा कृतानि कर्माणि नो तथा वेदनां वेदयन्ति, ते प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एव-मुच्यते—अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति, अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति।

जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व जैसे कर्म किया वैसे ही वेदना का वेदन नहीं करते वे अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं, कुछ एक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं।

११९. नेरइया णं भंते ! किं एवंभूयं वेदणं वेदेति? अणेवंभूयं वेदणं वेदेति?

गोयमा ! नेरइया णं एवभूयं पि वेदणं वेदेति, अणेवंभूयं पि वेदणं वेदेति।

नैरयिकाः भदन्त ! किम् एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति? अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति? गौतम ! नैरयिकाः एवंभूतामपि वेदनां वेदयन्ति, अनेवंभूतामपि वेदनां वेदयन्ति।

११९. भन्ते ! नैरयिक एवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं अथवा अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं? गौतम ! नैरयिक एवंभूत वेदना का भी अनुभव करते हैं और अनेवंभूत वेदना का भी अनुभव करते हैं।

१२०. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नेरइया णं एवंभूयं पि वेदणं वेदेति, अणेवंभूयं पि वेदणं वेदेति?

गोयमा ! जे णं नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेदणं वेदेति, ते णं नेरइया एवंभूयं वेदणं वेदेति ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयि-काः एवंभूताम् अपि वेदनां वेदयन्ति, अने-वंभूताम् अपि वेदनां वेदयन्ति?

गौतम ! ये नैरयिकाः यथा कृतानि कर्माणि तथा वेदनां वेदयन्ति, ते नैरयिकाः एवंभूतां वेदनां वेदयन्ति ।

१२०. भंते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक एवंभूत वेदना का भी अनुभव करते हैं और अनेवंभूत वेदना का भी अनुभव करते हैं?

गौतम ! जो नैरयिक जैसे कर्म किया, वैसे ही वेदना का वेदन करते हैं, वे एवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं।

जे णं नेरइया जहा कडा कम्मा नो तहा वेदणं वेदेति, ते णं नेरइया अणेवंभूयं वेदणं वेदेति। से तेणट्टेणं ।

ये नैरयिकाः यथा कृतानि कर्माणि नो तथा वेदनां वेदयन्ति, ते नैरयिकाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ति। तत् तेनार्थेन ।

जो नैरयिक जैसे कर्म किया वैसे ही वेदना का वेदन नहीं करते, वे अनेवंभूत वेदना का अनुभव करते हैं। इस अपेक्षा से कहा जा रहा है।

१२१. एवं जाव वेमाणिया ।।

एवं यावद् वैमानिकाः।

१२१. इसी प्रकार वैमानिक तक सभी दंडकों में दोनों प्रकार की वेदना वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र ११६-१२१

जैन कर्म-शास्त्र के अनुसार कर्म का वेदन एवंभूत और अनेवंभूत दोनों प्रकार से होता है। अभयदेवसूरि ने एवंभूत वेदना के सिद्धान्त की समीक्षा की है। उनके अनुसार दीर्घकाल में अनुभवनीय आयुष्य कर्म अल्पकाल में भोग लिया जाता है। अकाल मृत्यु सर्वजन-प्रसिद्ध है। यदि अकाल मृत्यु को मान्य न किया जाए तो महा संग्राम आदि में होने वाली लाखों मनुष्यों की मृत्यु की व्याख्या कैसे की जा सकती है? अनेवंभूत

वेदना के समर्थन में उन्होंने आगमिक आधार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार आगम में कर्म के स्थिति-घात और रस-घात का प्रतिपादन है। स्थिति-घात का अर्थ है कर्म की स्थिति में परिवर्तन। रस-घात का अर्थ है कर्म के विपाक में परिवर्तन।

यहाँ 'अन्ययूथिक' पद के द्वारा बौद्ध दर्शन विवक्षित है। उनके अनुसार कर्म का वेदन एवंभूत होता है। द्रष्टव्य भ. १/२३, २४ का भाष्य।

कुलगरादि-पदं

१२२. संसारमंडलं नेयव्वं ॥

कुलकरादि-पदम्

संसार-मण्डलं नेतव्यम्।

कुलकर आदि-पद

१२२. संसार-मण्डलं ज्ञातव्य है।

१. संसार-मंडल

यह सांकेतिक पाठ है। समवाओ में इसका पूरा विवरण मिलता है। द्रष्टव्य—समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र २१८-२४७।

१२३. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति यावद्
विहरति।

१२३. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है, इस प्रकार कह भगवान् गौतम यावत् विहार करते हैं।

१. भ. व. ५/११६—न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मानुभूयते, आयुः कर्मणो व्यञ्चिरात्, तथाहि—दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुः कर्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात्? कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षणामत्येक-

दैव मृत्युरूपपद्येतेति?

२. वही, ५/११७—यथा बद्धं कर्म नैवंभूता अनेवंभूता अतस्तां श्रूयन्ते ह्यागमे कर्मणः स्थितिघातरसघातादय इति।

छट्टो उद्देशो : छठा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

अप्पायु-दीहायु-पदं

१२४. कहण्णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?
गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइ-मेणं पडिलाभेत्ता—एवं खलु जीवा अप्पा-उयत्ताए कम्मं पकरेंति ॥

१२५. कहण्णं भंते ! जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?
गोयमा ! नो पाणे अइवाएत्ता, नो मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता—एवं खलु जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ॥

असुभसुभ-दीहायु-पदं

१२६. कहण्णं भंते ! जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?
गोयमा ! पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता निदिता खिसित्ता गरहित्ता अवमणित्ता अण्णयरेणं अमणुण्णेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता—एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ॥

१२७. कहण्णं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

अल्पायु-दीर्घायुः-पदम्

कथं भदन्त ! जीवाः अल्पायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति?
गौतम ! प्राणान् अतिपात्य, मृषां वदित्वा, तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा अप्रासुकेन अनेषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभ्य—एवं खलु जीवाः अल्पा-युष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

कथं भदन्त ! जीवाः दीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति?
गौतम ! नो प्राणान् अतिपात्य, नो मृषां वदित्वा, तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा प्रासुकेन एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभ्य—एवं खलु जीवाः दीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

अशुभशुभ-दीर्घायुः-पदम्

कथं भदन्त ! जीवाः अशुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति?
गौतम ! प्राणान् अतिपात्य, मृषां वदित्वा, तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा हीलित्वा निन्दित्वा खिसयित्वा गर्हित्वा अवमन्य अन्यतरेण अमनोज्ञेन अप्रीतिकारकेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभ्य—एवं खलु जीवाः अशुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

कथं भदन्त ! जीवाः शुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति?

अल्पायु-दीर्घायु-पद

१२४. 'भन्ते ! जीव अल्प आयुष्य वाले कर्म का बन्ध कैसे करते हैं?
गौतम ! प्राणों का अतिपात कर, झूठ बोल कर, तथारूप श्रमण अथवा माहन को अप्रासुक और अनेषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य से प्रतिलाभित कर—इस प्रकार जीव अल्प आयुष्य वाले कर्म का बन्ध करते हैं।

१२५. भन्ते ! जीव दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्ध कैसे करते हैं?
गौतम ! प्राणों का अतिपात न कर, झूठ न बोल कर, तथारूप श्रमण अथवा माहन को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य से प्रतिलाभित कर—इस प्रकार जीव दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्ध करते हैं।

अशुभ-शुभ-दीर्घायु-पद

१२६. भन्ते ! जीव अशुभ दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्ध कैसे करते हैं?
गौतम ! प्राणों का अतिपात कर, झूठ बोल कर, तथारूप श्रमण अथवा माहन की अवहेलना, निन्दा, तिरस्कार, गर्हा और अवमानना कर तथा किसी प्रकार के अमनोज्ञ एवं अप्रीतिकर, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य से प्रतिलाभित कर जीव—इस प्रकार अशुभ दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्ध करते हैं।

१२७. भन्ते ! जीव शुभ दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्धन कैसे करते हैं?

गोयमा ! नो पाणे अइवाएत्ता, नो मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता अण्णयरेणं मणुण्णेणं पीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता — एवं खलु जीवा सुभदीहा-उयत्ताए कम्मं पकरेंति।

गौतम ! नो प्राणान् अतिपात्य, नो मृषां वदित्वा, तथा रूपं श्रमणं वा, माहनं वा, वन्दित्वा नमस्यित्वा यावत् पर्युपास्य अन्यतरेण मनोज्ञेन प्रीतिकारकेण अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभ्य—एवं खलु जीवाः शुभदीर्घायुष्कतया कर्म प्रकुर्वन्ति।

गौतम ! प्राणों का अतिपात न कर, झूठ न बोल कर, तथारूप श्रमण अथवा माहन को वन्दन-नमस्कार कर यावत् उसकी पर्युपासना कर उसे किसी प्रकार के मनोज्ञ एवं प्रीतिकर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य से प्रतिलाभित कर—इस प्रकार जीव शुभ दीर्घ आयुष्य वाले कर्म का बन्ध करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १२४-१२७

आयुष्य-बन्ध के विषय में कर्मशास्त्रीय मत भ. आठवें शतक (सू. ४२५-४२८) में निदर्शित है। उसके अनुसार नरक आयुष्य के बन्ध में हिंसा का निर्देश है और तिर्यग्योनिक आयुष्य के बन्ध में मृषा-वचन का उल्लेख है। आहार-दान विषयक उल्लेख उनमें नहीं है।

प्रस्तुत आलापक में अल्प आयुष्य और दीर्घ आयुष्य का स्पष्ट अर्थ उपलब्ध नहीं है। दुर्गति का दीर्घ आयुष्य अच्छा नहीं होता, अल्प आयुष्य अच्छा होता है। सुगति का अल्प आयुष्य अच्छा नहीं होता, दीर्घ आयुष्य अच्छा होता है।

हिंसा, असत्य और अकल्पनीय वस्तु के दान से मनुष्य-गति और देवगति के आयुष्य का बन्ध नहीं होता।^१ नरक गति में अल्प आयुष्य नहीं होता। तिर्यञ्च गति में अल्प आयुष्य होता है, इसलिए प्रस्तुत आलापक में अल्प आयुष्य का सम्बन्ध तिर्यञ्च गति के आयुष्य से होना चाहिए।

अशुभ दीर्घ आयुष्य चारों गतियों में हो सकता है। शुभ दीर्घ आयुष्य (नरक गति को छोड़कर) तीनों गतियों में हो सकता है।

यह पूरा आलापक ठाणं में भी उपलब्ध है।^२

प्रस्तुत आलापक में अप्रासुक और अनेषणीय दान के द्वारा अल्प आयु के बन्ध का निर्देश है और भ. ८/२४६ में अप्रासुक और अनेषणीय दान के द्वारा निर्जरा का निर्देश है। यह विरोधाभास विमर्शनीय है। द्रष्टव्य—भ. ८/२४५-२४७ का भाष्या

शब्द-विमर्श

अप्रासुक—सचित्त, अनभिलषणीय (विशेष मीमांसा के लिए द्रष्टव्य भ. १।४३८, ४३९ का भाष्य)।

अनेषणीय—मुनि के लिए अकल्पनीय, अग्राह्य।

कयविककए किरिया-पदं

१२८. गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्कि-णमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ? पारिग्गहिया किरिया कज्जइ? मायावत्तिया किरिया कज्जइ? अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ? मिच्छा-दंसणवत्तियाकिरिया कज्जइ?

गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, पारिग्गहिया किरिया कज्जइ, मायावत्तिया किरिया कज्जइ, अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ, मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ।

अह से भंडे अभिसमण्णागए भवइ, तओ से पच्छा सव्वाओ ताओ पयणुईभवन्ति।

कयविक्रय-क्रिया-पदम्

गृहपतेः भदन्त ! भाण्डं विक्रीणानस्य कश्चिद् भाण्डम् आहरेत्, तस्य भदन्त ! भाण्डम् अनुगवेषयतः किम् आरम्भिकी क्रिया क्रियते? पारिग्रहिकी क्रिया क्रियते? माया-प्रत्यया क्रिया क्रियते? अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते? मिथ्यादर्शनप्रत्ययाक्रिया क्रियते?

गौतम ! आरम्भिकी क्रिया क्रियते, पारिग्रहिकी क्रिया क्रियते, मायाप्रत्यया क्रिया क्रियते, अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते, मिथ्यादर्शन-क्रिया स्यात् क्रियते, स्यान् नो क्रियते।

अथ तद् भाण्डम् अभिसमन्वागतं भवति, ततः तस्य पश्चात् सर्वाः ताः प्रतनुकीभवन्ति।

क्रय-विक्रय-क्रिया-पद

१२८. 'भन्ते ! एक गृहपति भाण्ड बेच रहा है। उस समय कोई व्यक्ति भाण्ड का अपहरण कर ले, उस अपहृत भाण्ड की गवेषणा करते हुए गृहपति के क्या आरंभिकी क्रिया होती है? पारिग्रहिकी क्रिया होती है? मायाप्रत्यया क्रिया होती है? अप्रत्याख्यानक्रिया होती है? अथवा मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया होती है?

गौतम ! उसके आरंभिकी क्रिया होती है, पारिग्रहिकी क्रिया होती है, मायाप्रत्यया क्रिया होती है, अप्रत्याख्यानक्रिया होती है और मिथ्यादर्शन क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती।

जब वह अपहृत भाण्ड मिल जाता है, तब वे सब क्रियाएं पतली हो जाती हैं।

१. द्रष्टव्य, भ. ८।४२७, ४२८।

२. ठाणं, ३।१७-२०।

१२९. गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किण-
माणस्स कइए भंडं साइज्जेजा, भंडे य से
अणुवणीए सिया ।

गाहावइस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं
आरंभिया किरिया कज्जइ? जाव मिच्छा-
दंसणकिरिया कज्जइ?

कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया
किरिया कज्जइ? जाव मिच्छादंसणकिरिया
कज्जइ?

गोयमा ! गाहावइस्स ताओ भंडाओ आरं-
भिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खा-
णकिरिया कज्जइ। मिच्छादंसणकिरिया
सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ।

कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवन्ति ॥

१३०. गाहावइस्स णं भन्ते ! भंडं विक्किण-
माणस्स कइए भंडं साइज्जेजा, भंडे से
उवणीए सिया ।

कइयस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरं-
भिया किरिया कज्जइ? जाव मिच्छादंसण-
किरिया कज्जइ?

गाहावइस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया
किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणकिरिया-
कज्जइ?

गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेड्डिल्ला-
ओ चत्तारि किरियाओ कज्जन्ति मिच्छा-
दंसणकिरिया भयणाए ।

गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवन्ति ।

१३१. गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विक्किण-
माणस्स कइए भंडं साइज्जेजा, धणे य से
अणुवणीए सिया ।

कइयस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरं-
भिया किरिया कज्जइ? जाव मिच्छा-
दंसणकिरिया कज्जइ?

गाहावइस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया
किरिया कज्जइ? जाव मिच्छादंसणकिरिया
कज्जइ?

गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेड्डि-
ल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जन्ति
मिच्छादंसणकिरिया भयणाए ।

गृहपते: भदन्त ! भाण्डं विक्रीणानस्य
क्रयिक: भाण्डं स्वादयेत्, भाण्डं च तस्य
अनुपनीतं स्यात्।

गृहपते: भदन्त ! तस्माद् भाण्डात् किम्
आरम्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्या-
दर्शनक्रिया क्रियते?

क्रयिकस्य वा तस्माद् भाण्डत् किम् आर-
म्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्या-
दर्शनक्रिया क्रियते?

गौतम ! गृहपते: तस्माद् भाण्डात् आरम्भिकी
क्रिया क्रियते यावत् अप्रत्याख्यानक्रिया
क्रियते। मिथ्यादर्शनक्रिया स्यात् क्रियते,
स्यान् नो क्रियते।

कयिकस्य ता: सर्वा: प्रतनुकीभवन्ति ।

गृहपते: भदन्त ! भाण्डं विक्रीणानस्य
क्रयिक: भाण्डं स्वादयेत्, भाण्डं तस्य
उपनीतं स्यात्।

क्रयिकस्य भदन्त ! तस्माद् भाण्डात् किम्
आरम्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्या-
दर्शनक्रिया क्रियते?

गृहपतेर्वा तस्माद् भाण्डाद् किम् आरम्भि-
की क्रिया क्रियते यावन् मिथ्यादर्शनक्रिया
क्रियते?

गौतम ! क्रयिकस्य तस्माद् भाण्डाद् अध-
स्तना: चतस्र: क्रिया: क्रियन्ते। मिथ्या-
दर्शनक्रिया भजनया ।

गृहपते: ता: सर्वा: प्रतनुकीभवन्ति ।

गृहपते: भदन्त ! भाण्डं विक्रीणानस्य क्र-
यिक: भाण्डं स्वादयेत्, धनं च तस्य अनु-
पनीतं स्यात्।

क्रयिकस्य भदन्त ! तस्माद् धनात् किम्
आरम्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्या-
दर्शनक्रिया क्रियते?

गृहपतेर्वा तस्माद् धनाद् किम् आरम्भिकी
क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्यादर्शनक्रिया
क्रियते?

गौतम ! क्रयिकस्य तस्माद् धनाद् अधस्तना:
चतस्र: क्रिया: क्रियन्ते। मिथ्यादर्शनक्रिया
भजनया ।

१२९. भन्ते ! एक गृहपति भाण्ड बेच रहा है, ग्राहक
भाण्ड को वचनबद्ध होकर स्वीकार कर लेता है, किन्तु
अभी तक उसने भाण्ड को ग्रहण नहीं किया है।

भन्ते ! उस भाण्ड से गृहपति के क्या आरम्भिकी
क्रिया होती है? यावत् मिथ्यादर्शन क्रिया होती है?

उस भाण्ड से ग्राहक के क्या आरम्भिकी क्रिया होती
है? यावत् मिथ्यादर्शन क्रिया होती है?

गौतम ! उस भाण्ड से गृहपति के आरम्भिकी क्रिया
होती है यावत् अप्रत्याख्यान क्रिया होती है। मिथ्या-
दर्शन क्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती
है।

ग्राहक के ये सब क्रियाएं पतली हो जाती हैं।

१३०. भन्ते ! एक गृहपति भाण्ड बेच रहा है, ग्राहक
भाण्ड को वचनबद्ध होकर स्वीकार कर लेता है और
उसे ग्रहण कर लेता है।

भन्ते ! उस भाण्ड से ग्राहक के क्या आरम्भिकी क्रिया
होती है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?

उस भाण्ड से गृहपति के क्या आरम्भिकी क्रिया
होती है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?

गौतम ! उस भाण्ड से ग्राहक के प्रथम चार क्रियाएं
होती हैं। मिथ्यादर्शनक्रिया की भजना है—कदाचित्
होती है, कदाचित् नहीं होती।

गृहपति के ये सब क्रियाएं पतली हो जाती हैं।

१३१. भन्ते ! एक गृहपति भाण्ड बेच रहा है ग्राहक
भाण्ड को वचनबद्ध होकर स्वीकार कर लेता है, पर
गृहपति ने धन ग्रहण नहीं किया है।

भन्ते ! उस धन से ग्राहक के क्या आरम्भिकी क्रिया
होती है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?

उस धन से गृहपति के क्या आरम्भिकी क्रिया होती
है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?

गौतम ! उस धन से ग्राहक के प्रथम चार क्रियाएं
होती हैं। मिथ्यादर्शनक्रिया की भजना है—कदाचित्
होती है, कदाचित् नहीं होती।

गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणु-
ईभवन्ति ॥

गृहपते: ता: सर्वा: प्रतनुकीभवन्ति।

गृहपति के वे सब क्रियाएं पतली हो जाती हैं।

१३२. गाहावइस्स णं भंते! भंडं विक्रिणमाणस्स
कइए भंडं साइज्जेजा, धणे से उवणीए सिया।
गाहावइस्स णं भंते! ताओ धणाओ किं
आरंभिया किरिया कज्जइ? जाव मिच्छा-
दंसणकिरिया कज्जइ?
कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया
किरिया कज्जइ? जाव मिच्छादंसणकिरिया
कज्जइ?
गोयमा! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरं-
भिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चकखाण-
किरिया कज्जइ। मिच्छादंसणकिरिया सिय
कज्जइ, सिय नो कज्जइ।
कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवन्ति ॥

गृहपते: भदन्त! भाण्डं विक्रीणानस्य क्रयिक:
भाण्डं स्वादयेत्, धनं तस्य उपनीतं स्यात्।
गृहपते: भदन्त! तस्माद् धनाद् किम् आर-
म्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्यादर्शन-
क्रिया क्रियते?
क्रयिकस्य वा तस्माद् धनाद् किम् आर-
म्भिकी क्रिया क्रियते? यावन् मिथ्यादर्शन-
क्रिया क्रियते?
गौतम! गृहपते: तस्माद् धनाद् आरम्भिकी
क्रिया क्रियते यावद् अप्रत्याख्यानक्रिया
क्रियते। मिथ्यादर्शनक्रिया स्यात् क्रियते,
स्यान् नो क्रियते।
क्रयिकस्य ता: सर्वा: प्रतनुकीभवन्ति।

१३२. भंते! एक गृहपति भाण्ड बेच रहा है, ग्राहक
भाण्ड को वचनबद्ध हो कर स्वीकार कर लेता है
और गृहपति धन ग्रहण कर लेता है।
भन्ते! उस धन से गृहपति के क्या आरम्भिकी क्रिया
होती है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?
उस धन से ग्राहक के क्या आरम्भिकी क्रिया होती
है? यावत् मिथ्यादर्शनक्रिया होती है?
गौतम! उस धन से गृहपति के आरम्भिकी क्रिया
होती है यावत् अप्रत्याख्यानक्रिया होती है। मिथ्या-
दर्शनक्रिया कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती।
ग्राहक के वे सब क्रियाएं पतली हो जाती हैं।

भाष्य

१. सूत्र १२८-१३२

प्रस्तुत आलापक में क्रिया के पांच सूत्र हैं। उनमें क्रिया की सघनता
और विरलता का तुलनात्मक दृष्टि से निरूपण किया गया है। गृहपति में
आरम्भिकी आदि चारों क्रियाएं नियमतः होती हैं। मिथ्यादर्शन-प्रत्याख्याक्रिया
मिथ्यादर्शन में होती है, सम्यग्दृष्टि में नहीं होती, इसीलिए वह विकल्प रूप
में निर्दिष्ट है:

१. आरम्भिकी क्रिया—जीवों के उपघात की प्रवृत्ति।

२. पारिग्रहिकी क्रिया—धन के अर्जन और रक्षण में मूर्छा की
प्रवृत्ति।

३. मायाप्रत्याख्याक्रिया—मायात्मक प्रवृत्ति।

४. अप्रत्याख्यान क्रिया—प्रत्याख्येय कषाय का प्रत्याख्यान न
करने की प्रवृत्ति।

५. मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादर्शनात्मक प्रवृत्ति।

ये सब क्रियाएं कर्म के आश्रवण (बन्ध) की निमित्त बनती हैं।
परिणाम की तीव्रता-मंदता आदि के कारण क्रिया की सघनता और विरलता
हो जाती है। उमास्वाति ने इसे विस्तार के साथ समझाया है—

“तीव्र मन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याधिकरणविशेषे भ्यस्तद्
विशेषः।”^१

प्रस्तुत आलाप को इस सूत्र की व्याख्या के रूप में उद्धृत किया
जा सकता है।

पहला सूत्र—एक गृहपति अपनी चोरी गई वस्तु की खोज करता

है, उस समय उसके आरम्भिकी आदि चार क्रियाएं पुष्ट होती हैं। खोज करने
पर वह वस्तु मिल जाती है, तब वे क्रियाएं पतली हो जाती हैं। खोज के समय
प्रयत्न अधिक होता है। वस्तु के मिल जाने पर प्रयत्न का विराम हो जाता है,
इसलिए वे क्रियाएं पतली (प्रतनु) हो जाती हैं।

दूसरा सूत्र—खरीददार को खरीदी हुई वस्तु प्राप्त नहीं हुई इसलिए
उसके तद्वस्तु विषयक क्रिया-चतुष्क प्रतनु होता है। बेची जाने वाली वस्तु
अभी विक्रेता के अधिकार में है, इसलिए उसके क्रिया-चतुष्क पुष्ट होता है।

तीसरा सूत्र—खरीददार को खरीदी हुई वस्तु प्राप्त हो गई,
इसलिए उसके क्रिया-चतुष्क पुष्ट होता है, विक्रेता के क्रिया-चतुष्क प्रतनु
हो जाता है।

चौथा सूत्र—खरीददार ने वस्तु खरीदने का वचन दे दिया, किन्तु
विक्रेता को उसके लिए धन नहीं दिया, इस अवस्था में विक्रेता के क्रिया-
चतुष्क प्रतनु होता है। अभी 'धन' खरीददार के अधिकार में है, इसलिए उसके
क्रिया-चतुष्क पुष्ट होता है।

पांचवा सूत्र—विक्रेता को खरीददार से बेची हुई वस्तु का धन
मिल गया, इस अवस्था में विक्रेता के क्रिया-चतुष्क पुष्ट होता है। खरीददार
का उस धन पर अधिकार नहीं रहा, इसलिए उसके क्रिया-चतुष्क प्रतनु होता
है।

प्रस्तुत आलापक का निष्कर्ष यह है कि वस्तु और धन जिसके
अधिकार में होते हैं, उसके क्रिया सघन होती है, जिसके अधिकार में नहीं
होते, उसके क्रिया प्रतनु होती हैं।

१. त.सू. भा. वृ. ६/६—भूम्यादिकाद्योपघातलक्षणं शुष्कतृणादिच्छेदलेखनादिका वा-
ऽव्याम्भिक्रिया।

२. वही, ६/६—बहूपायार्जनरक्षणमूर्च्छलक्षणं पारिग्रहिक्रिया।

३. त.सू. ६/७।

अगणिकाए महाकम्मादि पदं

१३३. अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जल्लिए समाणे महाकम्मतराए चेव, महाकिरिय-तराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदण-तराए चेव भवइ। अहे णं समए-समए वोक्कसिज्जमाणे-वोक्कसिज्जमाणे चरि-मकालसमयंसि इंगालभूए मुमुर्भूए छा-रियभूए, तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव, अप्पकिरियतराए चेव, अप्पासवतराए चेव, अप्पवेयणतराए चेव भवइ?

हंता गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणोज्जल्लिए समाणे तं चेव ॥

अग्निकाये महाकर्मादि-पदम्

अग्निकायः भदन्त ! अधुनोज्ज्वलितः सन् महाकर्मतरकः चैव, महाक्रियातरकः चैव, महास्रवतरकः चैव, महावेदनतरकः चैव भवति। अथ समये-समये व्यपकृष्यमाणः-व्यपकृष्यमाणः चरमकालसमये अङ्गारभूतः मुर्मुरभूतः क्षारिकाभूतः ततः पश्चात् अल्पकर्मतरकः चैव, अल्पक्रियातरकः चैव, अल्पास्रवतरकः चैव अल्पवेदन-तरकः चैव भवति?

हन्त गौतम ! अग्निकायः अधुनोज्ज्वलितः सन् तच्चैव।

अग्निकाय में महाकर्म आदि-पद

१३३. 'भन्ते ! तत्काल प्रज्वलित होता हुआ अग्निकाय महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, महाआश्रव वाला और महावेदना वाला होता है और वह क्षण-क्षण क्षीण होता हुआ अन्तिम समय में कोयला बन जाता है, मुर्मुर बन जाता है, क्षार बन जाता है, क्या उसके पश्चात् वह अल्प कर्म वाला, अल्प क्रिया वाला, अल्प आश्रव वाला और अल्प वेदना वाला होता है ?

हां, गौतम ! तत्काल प्रज्वलित होता हुआ अग्निकाय महाकर्म वाला यावत् क्षीण होता हुआ अल्प वेदना वाला होता है।

भाष्य

१. सूत्र १३३

प्रस्तुत सूत्र में अग्नि की दो अवस्थाओं का सापेक्ष प्रतिपादन है। तत्काल प्रज्वलित अग्नि में क्रिया—दाहात्मक क्रिया—अधिक होती है। बुझती हुई अग्नि में क्रिया—दाहात्मक क्रिया—अल्प होती है। तत्काल प्रज्वलित अग्नि में दाहक्रिया अधिक होती है, इसलिए उसके कर्मबन्ध और आश्रव अधिक होते हैं। प्रज्वलन-अवस्था में अग्निकायिक जीवों में परस्पर शरीर-संघर्षण से उत्पन्न वेदना अधिक होती है। बुझती हुई

अग्नि में ये सब अल्प होते हैं। कर्म और आश्रव की अधिकता दाह की अधिकता के कारण ही मानी गई है। दाह-क्रिया अल्प होने पर शेष सब अपने आप अल्प हो जाते हैं।

वृत्तिकार ने अंगार और मुर्मुर के प्रसंग में अल्प शब्द का अर्थ 'स्तोक' किया है। राख अचित्त हो जाती है, इस अपेक्षा से क्षार के प्रसंग में 'अल्प' शब्द का अर्थ अभाव क्रिया है।^१

धणुपक्खेवे किरिया-पदं

१३४. पुरिसे णं भंते ! धणुं परामुसइ, परामुसित्ता उसुं परामुसइ, परामुसित्ता ठाणं ठाइ, ठिच्चवा आयतकण्णायतं उसुं करेति, उद्धं वेहासं उसुं उन्विहइ ।

तए णं से उसू उद्धं वेहासं उन्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणइ वतेति लेसेति संघाएइ संघट्टेति परितावेइ किलामेइ, ठाणाओ ठाणं संकामेइ, जीवियाओ ववरोवेइ। तए णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए?

धनुःप्रक्षेपे क्रिया-पदम्

पुरुषः भदन्त ! धनुः परामृशति, परामृश्य इपुं परामृशति, परामृश्य स्थाने तिष्ठति, स्थित्वा आयतकर्णाऽऽयत्तम् इपुं करोति, ऊर्ध्वं विहायसि इपुम् उत्क्षिपति।

ततः स इपुः ऊर्ध्वं विहायसि उत्क्षिप्तः सन् यान् तत्र प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् अभिहन्ति वर्तयति श्लेषति संघातयति संघट्टयति परितापयति क्लमयति, स्थानात् स्थानं संक्रमयति जीविताद् व्यपरोपयति। ततः भदन्त ! स पुरुषः कतिक्रियः ?

धनुःप्रक्षेप में क्रिया-पद

१३४. 'भन्ते ! एक पुरुष धनुष हाथ में लेता है, लेकर बाण को धनुष पर नढ़ाना है, चढ़ा कर स्थान (वैशाख नाम युद्ध की मुद्रा) में खड़ा होता है, खड़ा हो कर बाण को कान की लम्बाई तक खींचता है और ऊपर आकाश की ओर उसे फेंकता है।

ऊपर आकाश की ओर फेंका हुआ वह बाण, वहाँ जो प्राण, भूत, जीव और सन्व हैं, उनका अभिघात करता है, उनका वर्तुल बनाता है, उन्हें चोट पहुँचाता है, उनके अवयवों को संहत करता है, उन्हें संचालित करता है, परितप्त करता है, क्लान्त करता है, स्थानान्तरित करता है और उनका प्राण-वियोजन करता है। भन्ते ! उस बाण को फेंकने वाला पुरुष कितनी क्रिया से स्पष्ट होता है ?

१. भ. वृ. ५/१३३—अंगारवस्थामाश्रित्य अल्पशब्दः स्तोकार्थः, क्षारावस्थायां त्वभावात्।

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ, उसुं परामुसइ, ठाणं ठाइ, आयतकण्णायतं उसुं करेति, उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए, पाओसियाए, पारियावणियाए, पाणाइवाय-किरियाए—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा जेसिं पिय णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । एवं धणुपट्ठे पंचहिं किरियाहिं, जीवा पंचहिं, ण्हारू पंचहिं, उसू पंचहिं—सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं ॥

गौतम ! यावच् च स पुरुषः धनुः परामृशति इषुं परामृशति, स्थाने तिष्ठति, आयत-कर्णाऽऽयत्तम् इषुं करोति, ऊर्ध्वं विहायति इषुम् उत्क्षिपति, तावच् च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्रादोषिक्या, पारितापनिक्या, प्राणातिपातक्रिययापञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। येषामपि च जीवानां शरीरैः धनुः निर्वर्तितं तेऽपि च जीवाः कायिक्या यावत् पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टाः। एवं धनुःपृष्ठं पञ्चभिः क्रियाभिः, जीवाः पञ्चभिः, स्नायुः पञ्चभिः, इषुः पञ्चभिः—शरः, पत्रणं, फलं, स्नायुः पञ्चभिः।

गौतम ! जिस समय वह पुरुष धनुष हाथ में लेता है, लेकर बाण को धनुष पर चढ़ाता है, चढ़ाकर स्थान (वैशाख नामक युद्ध की मुद्रा) में खड़ा होता है, खड़ा होकर बाण को कान की लम्बाई तक खींचता है और ऊपर आकाश की ओर उसे फेंकता है, उस समय वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्रादोषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातक्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जिन जीवों के शरीर से धनुष बना, वे जीव भी कायिकी यावत् पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं। इसी प्रकार जिन जीवों के शरीर से धनुःपृष्ठ, प्रत्यञ्चा, स्नायु और बाण बने, वे जीव पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं। शर, बाण का पक्ष, बाण काफलक और स्नायु—ये सब जिन जीवों के शरीर से बने हैं, वे जीव भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

१३५. अहे णं से उसू अप्पणो गुरुत्ताए, भारियत्ताए, गुरुसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे कतिकिरिए?

गोयमा ! जावं च णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा। जेसिं पिय णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहिं किरियाहिं, धणुपट्ठे चउहिं, जीवा चउहिं, ण्हारू चउहिं, उसू पंचहिं—सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं। जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्ठंति ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ॥

अथ स इषुः आत्मनः गुरुकतया, भारिकतया, गुरुसंभारिकतया अधो विस्रसातः प्रत्यवपतन् यान् तत्र प्राणान् यावज् जीविताद् व्यपरोपयति तावच् च स पुरुषः कतिक्रियः?

गौतम ! यावच् च स इषुः आत्मनः गुरुकतया यावज् जीविताद् व्यपरोपयति तावच् च स पुरुषः कायिक्या यावच् चतसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। येषामपि च जीवानां शरीरैः धनुः निर्वर्तितं तेऽपि जीवाः चतसृभिः क्रियाभिः धनुःपृष्ठं चतसृभिः, जीवाः चतसृभिः, स्नायुः चतसृभिः, इषुः पञ्चभिः—शरः पत्रणं, फलं स्नायुः पञ्चभिः। येऽपि च तस्य जीवाः अधः प्रत्यवपततः उपग्रहे वर्तन्ते तेऽपि च जीवाः कायिक्या यावत् पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टाः।

१३५. वह बाण अपनी गुरुता से, भारीपन से, गुरुतम भारीपन से स्वाभाविक रूप से नीचे आता हुआ वहाँ रहे हुए प्राण यावत् सर्त्तों का प्राण-वियोजन करता है, तब वह पुरुष कितनी क्रियाओं से स्पृष्ट होता है?

गौतम ! जिस समय बाण अपनी गुरुता से यावत् प्राण का वियोजन करता है, तब वह पुरुष कायिकी यावत् चार क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। जिन जीवों के शरीर से धनुष, धनुःपृष्ठ, प्रत्यञ्चा और स्नायु बने हैं, वे जीव भी चार क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं। बाण, शर, बाण का पक्ष, बाण काफलक और स्नायु—ये सब जिन जीवों के शरीर से बने हैं, वे जीव पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं। जो जीव नीचे गिरते हुए बाण के आलम्बन बनते हैं, वे जीव भी कायिकी यावत् पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १३४, १३५

बाण फेंक कर प्राणियों को परिताप देने वाला और उनका वध करने वाला पुरुष पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होता है। यह विषय बुद्धिगम्य है। किन्तु जिन जीवों के शरीर से धनुष्य, जीवा (प्रत्यञ्चा) आदि का निर्माण हुआ है, वे जीव भी पांच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं, यह विषय बुद्धिगम्य नहीं है।

वृत्तिकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि अचेतन शरीर से भी

कर्म का बन्ध हो तो मुक्त जीवों के शरीर से भी कर्म का बन्ध माना जाना चाहिए। उनका शरीर भी प्राणातिपात का हेतु बन सकता है। जैसे धनुष्य आदि का शरीर क्रियाओं का हेतु बनता है, वैसे ही कुछ वनस्पति-जीवों के शरीर से पात्र आदि उपकरणों का निर्माण होता है। वे जीव रक्षा के हेतु बनते हैं, इसलिए उनसे पुण्य कर्म का बन्ध होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर है—बन्ध अविरति के परिणाम से होता है। अविरति का परिणाम जैसे पुरुष में है वैसे ही उन जीवों में है, जिनके शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण हुआ है। मुक्त जीवों

में अविरति नहीं है, इसलिए उनका शरीर यदि प्राणातिपात का निमित्त बने, तो भी उनके कर्म-बन्ध नहीं होता। जिन जीवों के शरीर से पात्र आदि का निर्माण हुआ है, उनमें पुण्य का हेतुभूत विवेक नहीं है, इसलिए उनके पुण्य का बन्ध नहीं होता। वृत्तिकार ने अन्त में इस विषय को श्रद्धागम्य बतलाया है।

वृत्तिकार की समीक्षा में कुछ विषय आलोचनीय है। अविरति का परिणाम बाण फेंकने वाले पुरुष और जिनके शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण हुआ है, उन जीवों में समान हो सकता है। किन्तु बन्ध का हेतु केवल अविरति का परिणाम ही नहीं है, शरीर और मन का दुष्प्रयोग भी है। कायिकी क्रिया के दो प्रकार निर्दिष्ट हैं—अनुपरतकाय-क्रिया और दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया। अनुपरतकाय-क्रिया का सम्बन्ध अविरति से है। बाण फेंकने वाले पुरुष के काया का योग अशुभ होता है। इसलिए उसके अनुपरतकायिकी और दुष्प्रयुक्त कायिकी दोनों क्रियाएं होती हैं। किन्तु बाण निर्वर्तक शरीर वाले जीवों के केवल अनुपरतकाय-क्रिया होती है, दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया नहीं होती। शेष क्रियाएं भी उन जीवों के इसलिए होती हैं कि उनके परिताप आदि करने का प्रत्याख्यान नहीं है। बाण फेंकने वाले पुरुष का मनोयोग और काययोग दोनों परिताप आदि करने में प्रवृत्त हैं, इसलिए उसके अविरति और अशुभ योग ये दोनों क्रिया के हेतु बनते हैं।

अविरति का परिणाम केवल उन जीवों में ही नहीं होता जिनके शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण हुआ है। वह उन जीवों में भी है जिनके शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण नहीं हुआ है। फिर उनके लिए ही क्रिया का उल्लेख क्यों?

इस प्रश्न के उत्तर में दो संभावनाएं की जा सकती हैं। प्रथम संभावना यह है—एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—जिनके प्रत्याख्यान नहीं होता, अविरति का परिणाम होता है और अविरति-परिणाम के कारण वे क्रिया से स्पृष्ट होते हैं। दूसरी संभावना—जिन जीवों के शरीर से धनुष्य आदि का निर्माण हुआ है, उन जीवों का अपने-अपने शरीर के प्रति

ममत्व का अनुबन्ध होता है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर उनके लिए क्रिया से स्पृष्ट होने का निर्देश किया गया है। इन दोनों संभावनाओं में क्रिया के स्पर्श का मुख्य कारण अविरति-परिणाम ही माना जा सकता है।

बाण अपने भारीपन के कारण नीचे जाता है। उससे प्राणियों का परिताप और वध होता है। इस घटना में बाण फेंकने वाले को गौण मानकर उसके चार क्रियाओं का स्पर्श बतलाया गया है। धनुष्य के निर्वर्तक शरीर वाले जीवों के पांच क्रियाओं के स्पर्श का प्रतिपादन किया गया है।

शब्द-विमर्श

परामुसइ—स्पर्श करता है, हाथ में लेता है।

ठाणं ठाइ—वैशाख नामक युद्ध की मुद्रा में खड़ा होता है।

आयत—प्रक्षेप के लिए फैलाया हुआ।

कण्णायत—कान तक खींचा हुआ।

वेहास—विहायस, आकाश।

उन्विहइ—ऊपर फेंकना, बीधना।

वत्तेति—गोलाकार करता है, दिशा-परिवर्तन करता है।

लेसेति—चोट पहुँचाता है।

संघाएइ—एक दूसरे के अवयवों को संहत करता है।

संघट्टेति—संचालित करता है।

धणुपट्ट (धनुःपृष्ठ)—धनुष का पृष्ठ भाग।

जीवा-प्रत्यञ्चा—धनुष की डोरी।

णहारू (स्नायु)—पशु के स्नायु से बनने वाली धनुष की डोरी।

सर—बाण।

पत्तण (पत्रण)—बाण का पंख या पक्ष।

फल—बाण का फलक।

पच्चोचयमाण—नीचे गिरते हुए।

उवग्गह (उपग्रह)—आलम्बन।

अण्णउत्थिय-पदं

१३६. अण्णउत्थिया णं भन्ते ! एवमातिक्खंति जाव परूवेति—से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेणहेज्जा, चक्कस्स वा नाभी

अन्ययूथिक-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति यावत् प्ररूपयन्ति—तद् यथानाम युवतिं युवा हस्तेन हस्तं गृह्णीयात्, चक्रस्य वा नाभिः

अन्ययूथिक-पद

१३६. 'भन्ते ! अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं—जैसे कोई युवा युवती का हाथ अपने हाथ में पकड़ता है, जैसे चक्र की

१. भ. वृ. ५/१३४ — ननु पुरुषस्य पञ्च क्रिया भवन्तु, कायानिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात्, धनुषदिनिर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्च क्रियाः? कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात् अचेतनकायमात्रादपि बन्धप्रभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः तदीयशरीराणां अपि प्राणातिपात-हेतुत्वेन लोकं विपरिवर्तमानत्वात्, किञ्च—यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्म-बन्धकाराणां भवन्ति तज्जीवानामेवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धानि स्युः न्यायस्य समानत्वाद् इति, अत्रोच्यते, अविरतिपरिणामाद् बन्धः अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुष-स्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपि सिद्धानां तु नास्त्यसाविति न बन्धः, पात्रादि

जीवानां च न पुण्यबन्धहेतुत्वं, तदेतौ विवेकादस्तेष्वभावादिति, किञ्च—सर्वज्ञवचनप्रमाण्यद्यथांक्तं तत्तथा श्रद्धयमेवेति।

२. भ. ३/१३५

३. भ. वृ. ५/१३५—इह धनुष्यदादीनां यद्यपि सर्वक्रियासु कथञ्चिन्निमित्तभावोऽस्ति तथाऽपि विवक्षितबन्धं प्रत्यमुद्ध्यप्रवृत्तिकृतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः कृतत्वेनाविवक्षणाच्छेषक्रियाणां च नियमितभावमात्रेणापि तत्कृतत्वेन विवक्षणाच्चतस्रस्ता उक्ताः। बाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद् वधक्रियायां प्रवृत्तत्वात्पञ्चेति।

अरगाउत्ता सिया, एवामेव जाव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणु-स्सेहिं।

अरकायुक्ता स्याद्, एवमेव यावच् चत्वारि पञ्च योजनशतानि बहुसमाकीर्णः मनुज-लोकः मनुष्यैः।

नाभि आरों से युक्त होती है, इसी प्रकार यावत् चार सौ पांच सौ योजन वाला मनुष्य-लोक मनुष्यों से अत्यन्त आकीर्ण है।

१३७. से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाति-क्खंति जाव बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणु-स्सेहिं। जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवामेव जाव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइण्णे निरयलोए नेरइ-एहिं ॥

तत् कथमेतद् ! एवम्?

गौतम ! यत्ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति यावत् बहुसमाकीर्णः मनुजलोकः मनुष्यैः। ये एते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः। अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि यावत् प्ररूपयामि— तद् यथानाम युवतिं युवा हस्तेन हस्तं गृहीयात्, चक्रस्य वा नाभिः अरकायुक्ता स्यात्, एवमेव यावच् चत्वारि पञ्च योजन-शतानि बहुसमा-कीर्णः निरयलोकः नैर-यिकैः।

१३७. भन्ते ! यह ऐसे कैसे है?

गौतम ! वे अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं यावत् मनुष्य लोक मनुष्यों से अत्यन्त आकीर्ण है जो ऐसा कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं ऐसा आख्यान करता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ— जैसे कोई युवा युवती का हाथ अपने हाथ में पकड़ता है, जैसे चक्र की नाभि आरों से युक्त होती है, इसी प्रकार यावत् चार सौ पांच सौ योजन वाला नरक-लोक नैरयिकों से अत्यन्त आकीर्ण है।

भाष्य

१. सूत्र १३६-१३७

प्रस्तुत आलापक में विभंग ज्ञान के विपर्यय का निदर्शन है। विभंगज्ञानी नरक के स्थान पर मनुष्य लोक और नैरयिक के स्थान पर

मनुष्य को जान लेता है, यह उसका विपरीत ज्ञान है।

दृष्टव्य, भ. ३/२२२-२३९।

नेरइयविउव्वणा-पदं

१३८. नेरइयाणं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए? पुहत्तं पभू विउव्वित्तए?

गोयमा ! एगत्तं पि पहू विउव्वित्तए, पुहत्तंपि पहू विउव्वित्तए। जहा जीवाभिगमे आला-वगो तथा नेयव्वो जाव विउव्वित्ता अण्ण-मण्णस्स कायं अभिहणमाणा-अभिहण-माणा वेयणं उदीरेति—उज्ज्वलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निदुरं चंडं तिब्बं दुक्खं दुग्गं दुरहियासां।

नैरयिकविकरण-पदम्

नैरयिकाः भदन्त ! किम् एकत्वं प्रभवः विकर्तुम्? पृथक्त्वं प्रभवः विकर्तुम्?

गौतम ! एकत्वमपि प्रभवः विकर्तुम्, पृथ-क्त्वमपि प्रभवः विकर्तुम्। यथा जीवाभिगमे आलापकः तथा नेतव्यः यावद् विकृत्य अन्योन्यस्य कायं अभिघ्नन्तः-अभिघ्नन्तः वेदनाम् उदीरयन्ति—उज्ज्वलां विपुलां प्रगाढां कर्कशाम् कटुकां परुषां निष्ठुरां चण्डां तीव्रां दुःखां दुर्गां दुरध्यासाम्।

नैरयिकविक्रिया-पद

१३८. 'भन्ते ! नैरयिक एक (शस्त्र) की विक्रिया करने में समर्थ है अथवा अनेक (शस्त्रों) की विक्रिया करने में समर्थ हैं?

गौतम ! एक (शस्त्र) की भी विक्रिया करने में समर्थ हैं, अनेक (शस्त्रों) की भी विक्रिया करने में समर्थ है। जीवाजीवाभिगम में जैसा आलापक है, वैसा ही ज्ञातव्य है यावत् वे शस्त्रों की विक्रिया कर परस्पर एक-दूसरे के शरीर का अभिघात करते हुए उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, प्रचण्ड, तीव्र दुक्ख, दुर्गम और दुःसह वेदना की उदीरणा करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १३८

प्रस्तुत सूत्र में नैरयिक जीवों की विक्रिया का वर्णन है। नैरयिक जीवों का शरीर वैक्रिय होता है। वे अपनी वैक्रिय शक्तिके द्वारा एक या

अनेक शस्त्रों का निर्माण कर सकते हैं। उनमें अपने शरीर से भिन्न रूपों का निर्माण करने की शक्ति नहीं होती।^१

१. (क) जीवा. वृ. प. १२०—संघज्ञानि स्वात्मनः शरीरसंलभानि 'नामवद्वानि' न स्वशरीरात् पृथग्भूतानि, स्वशरीरान् पृथग्भूतकरणे शक्त्यभावात्।

(ख) दृष्टव्य भ. २/७८ का भाष्य।

शब्द-विभर्ष

उज्ज्वल—अधिक प्रज्वलित, जिसमें मुख का लेश भी न हो।

विपुल—शरीर-व्यापी

कर्कश—अनिष्ट

दुर्गम—जिसका पार पाना कठिन हो।

दुःसह—जिसे सहन करना कठिन हो।

आहाकम्मादिआहारे आराहणादि-पदं

आधाकर्माद्याहारे-आराधनादि-पदम्

आधाकर्म आदि आहार के सम्बन्ध में आराधनादि-पद

१३९. आहाकम्मं 'अणवज्जे' ति मणं प्हारेत्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ—नत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ—अत्थि तस्स आराहणा।

आधाकर्म 'अनवद्यम्' इति मनः प्रधारयिता भवति, स तस्मात् स्थानाद् अनालोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—नास्ति तस्य आराधना। स तस्मात् स्थानाद् आलोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—अस्ति तस्य आराधना।

१३९. आधाकर्म अनवद्य है, इस प्रकार जो मानसिक प्रधारणा करता है, वह उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना काल-धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना नहीं होती। वह उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण कर कालधर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना होती है।

१४०. एएणं गमेणं नेयव्वं—कीयगडं, ठवियं, रइयं, कंतारभत्तं दुब्भिक्षभत्तं वदलिया-भत्तं, गिलाणभत्तं, सेज्जायरपिंडं, रायपिंडं।

एतेन गमेन नेतव्यं—क्रीतकृतं, स्थापितं, रचितं, कान्तारभक्तं, दुर्भिक्ष-भक्तं, वार्दलिका-भक्तं, ग्लानभक्तं, शय्यातरपिण्डं, राज-पिण्डम्।

१४०. इसी गमक के अनुसार क्रीतकृत, स्थापित, रचित, कान्तार-भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, वार्दलिका-भक्त, ग्लान-भक्त, शय्यातरपिण्ड और राजपिण्ड ज्ञातव्य है।

१४१. आहाकम्मं 'अणवज्जे' ति सयमेव परिभुजित्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ—नत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइय-पडिक्कंते कालं करेइ—अत्थि तस्स आराहणा ॥

आधाकर्म अनवद्यमिति स्वयमेव परिभोक्ता भवति, स तस्मात् स्थानाद् अनालोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—नास्ति तस्य आराधना। स तस्मात् स्थानाद् आलोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—अस्ति तस्य आराधना।

१४१. आधाकर्म अनवद्य है, ऐसा सोचकर जो स्वयं उसका परिभोग करता है, वह उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना काल-धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना नहीं होती। वह उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण कर काल-धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना होती है।

१४२. एयं पि तह चैव जाव रायपिंडं।

एतदपि तथा चैव यावत् राजपिण्डम्।

१४२. क्रीतकृत का परिभोग यावत् राजपिण्ड का परिभोग पूर्व सूत्र (१४०) की भांति वक्तव्य है।

१४३. आहाकम्मं 'अणवज्जे' ति अण्णमण्ण-स्स अणुप्यदावइत्ता भवइ, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ—नत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स ठाणस्स आलोइय-पडिक्कंते कालं करेइ—अत्थि तस्स आराहणा ॥

आधाकर्म 'अनवद्यम्' इति अन्योन्यस्मै अनुप्रदाययिता भवति, स तस्मात् स्थानाद् अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालं करोति—नास्ति तस्य आराधना। स तस्मात् स्थानाद् आलोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—अस्ति तस्य आराधना।

१४३. आधाकर्म अनवद्य है, ऐसा सोचकर जो परस्पर अनुप्रदान करता है, वह उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना काल-धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना नहीं होती। जो उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण कर काल-धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना होती है।

१४४. एयं पि तह चैव जाव रायपिंडं ॥

एतद् अपि तथा चैव यावत् राजपिण्डम्।

१४४. क्रीतकृत का परस्पर अनुप्रदान यावत् राज-पिण्ड का परस्पर अनुप्रदान पूर्वसूत्र (१४३) की भांति वक्तव्य है।

१४५. आहाकम्मं णं 'अणवज्जे' ति बहु-
जणमज्झे पण्णवइत्ता भवति, से णं तस्स
ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ
—नत्थि तस्स आराहणा। से णं तस्स
ठाणस्स आलोइय-पडिक्कंते कालं करेइ—
अत्थि तस्स आराहणा।।

आधाकर्मम् 'अनवद्यम्', इति बहुजनमध्ये
प्रज्ञापयिता भवति। स तस्मात् स्थानात्
अनालोचितप्रतिक्रान्तः कालं करोति—
नास्ति तस्य आराधना। स तस्मात् स्थानाद्
आलोचित-प्रतिक्रान्तः कालं करोति—
अस्ति तस्य आराधना।

१४५. आधाकर्म अनवद्य है, इस प्रकार जो बहुजनों
के बीच प्रज्ञापन करता है, वह उस स्थान की
आलोचना और प्रतिक्रमण किए बिना काल-धर्म
को प्राप्त होता है—उसके आराधना नहीं होती। जो
उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण कर काल-
धर्म को प्राप्त होता है—उसके आराधना होती है।

१४६. एयं पि तह चैव जाव रायपिंडं।।

एतद् अपि तथा चैव यावद् राजपिण्डम्।।

१४६. क्रीतकृत का बहुजनों के बीच प्रज्ञापन यावत्
राजपिण्ड का बहुजनों के बीच प्रज्ञापन पूर्व सूत्र
(१४५) की भांति वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १३९-१४६

प्रस्तुत आलापक में आधाकर्म के विषय में चार सूत्र हैं—

१. आधाकर्म अनवद्य है—इस प्रकार की मानसिक अवधारणा करना।
२. आधाकर्म को अनवद्य मानकर स्वयं उसका परिभोग करना। ३. आधाकर्म को अनवद्य मानकर उसे परस्पर लेना-देना। ४. आधाकर्म अनवद्य है—जनता के बीच इस प्रकार का प्रज्ञापन करना। इन चार दोषों का आचरण कर उसकी आलोचना न करना विराधना है।

ये आचार-विषयक सूत्र हैं। आहार मुनि के आचार का एक अंग

है। भगवान् महावीर ने मुनि के लिए निर्दोष आहार लेने का विधान किया। सदोष आहार को निर्दोष मानना यह आचार-विषयक मिथ्या दृष्टिकोण है। सदोष आहार का परिभोग करना तथा उसका परस्पर लेना-देना करना आचार की मर्यादा का अतिक्रमण है। सदोष का निर्दोष के रूप में प्रज्ञापन करना आचार-विषयक मिथ्या धारणा का प्रसारण है।

आगम-साहित्य में आहार-विषयक दोषों के अनेक वर्गीकरण मिलते हैं। देखें तालिका—

भगवई ५/१३९, १४०	ठाणं ९/६२	आयारचूला १/२९	दसवेआलियं ३/२, ३, ५; ५/१/५५
आहाकम्म	आहाकम्मिय	आहाकम्मिय	उद्देसिय
कीयगड	उद्देसिय	उद्देसिय	कीयगड
ठविय	मीसजाय	मीसजाय	नियाग
रइय	अज्झोयरय	कीयगड	अभिहड
कंतारभत्त	पूतिय	पामिच्च	रायपिंड
दुब्भिकखभत्त	कीत	अच्छेज्ज	किमिच्छअ
बहलियाभत्त	पामिच्च	अणिसिद्ध	सेज्जायरपिंड
गिलाणभत्त	अच्छेज्ज	अभिहड	पूइकम्म
सेज्जायरपिंड	अणिसिद्ध		अज्झोयर
रायपिंड	अभिहड		पामिच्च
	कंतारभत्त		मीसजाय
	दुब्भिकखभत्त		
	गिलाणभत्त		
	बहलियाभत्त		
	पाहुणभत्त		

भगवती के नौवें शतक तथा नायाघम्मकहाओ में भी आधाकर्मिक आदि दोषों का उल्लेख मिलता है।

शब्द-विमर्श

आधाकर्म—केवल साधु के लिए किया हुआ।^१

द्रष्टव्य भ. १/४३६, ४३७ का भाष्य।

क्रीतकृत—मुनि के लिए खरीदा हुआ।

स्थापित—मुनि के लिए स्थापित किया हुआ।^२

रचित—मुनि के लिए चूर्मे से चूर्मे का लड्डु बना देना।

कान्तारभक्त—अटवी में मुनि के निर्वाह के लिए बनाया हुआ भोजन।

प्राचीनकाल में मुनियों का गमनागमन सार्थवाहों के साथ-साथ होता था। कभी वे अटवी में साधु पर दया ला कर उनके लिए भोजन बना कर दे देते थे। इसे कान्तारभक्त कहा जाता है।

दुर्भिक्षभक्त—भयंकर दुष्काल होने पर राजा तथा अन्य धनाढ्य व्यक्ति

श्रमणों के लिए भक्तपान तैयार कर देते थे, वह दुर्भिक्षभक्त कहलाता था।

बार्दलिकाभक्त—आकाश में बादल छाए हुए हैं। वर्षा गिर रही है। ऐसे समय में भिक्षु भिक्षा के लिए नहीं जा सकते। यह सोच कर गृहस्थ उनके लिए विशेषतः दान का निरूपण करता है—निर्माण करता है। यह बार्दलिकाभक्त कहलाता है।

ग्लानभक्त—इसके तीन अर्थ हैं—

१. ग्लान की नीरोगता के लिए दिया जाने वाला भोजन।

२. भिक्षुक को देने के लिए बनाया हुआ भोजन।^३

३. आरोग्यशाला (अस्पताल) में दिया जाने वाला भोजन।^४

शय्यातरपिण्ड—स्थानदाता के घर से भिक्षा लेना।

राजपिंड—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना।

आयरिय-उवज्झायस्स सिद्धि-पदं

१४७. आयरिय-उवज्झाए णं भन्ते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे, अगिलाए उव-गिण्हमाणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेति?

गोयमा ! अत्थेगतिए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झति, अत्थेगतिए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमति।

आचार्योपाध्याययोः सिद्धि-पदम्

आचार्योपाध्यायः भदन्त ! स्वविषये गणं अग्लान्या संगृह्णन्, अग्लान्या उपगृह्णन् कतिभिः भवग्रहणैः सिद्ध्यति यावत् सर्व-दुःखानाम् अन्तं करोति?

गौतम ! अस्त्येककः तेनैव भवग्रहणेन सिद्ध्यति, अस्त्येककः द्वितीयेन भवग्रहणेन सिद्ध्यति, तृतीयं पुनः भवग्रहणं नाति-क्रामति।

आचार्य-उपाध्याय की सिद्धि का पद

१४७. भन्ते ! आचार्य और उपाध्याय अपने विषय (अर्थदान और सूत्रदान) में अग्लान भाव से गण का संग्रह करते हुए और अग्लान भाव से गण का उपग्रह करते हुए कितने भवग्रहणों से सिद्ध होते हैं यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

गौतम ! कुछ (आचार्य-उपाध्याय) उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं, कुछ दूसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं, वे तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते—तीसरे भव में वे अवश्य सिद्ध होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १४७

गण का संग्रह और उपग्रह करने वाला आचार्य-उपाध्याय बहुत निर्जरा करता है, इसलिए वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मोक्ष-प्राप्ति की तीन काल-मर्यादाएं बतलाई गई हैं—

१. उसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति

२. दूसरे जन्म में मोक्ष-प्राप्ति। इसका तात्पर्य है तीसरे जन्म में मोक्ष-प्राप्ति। यहां अन्तरालवर्ती देव जन्म गिना नहीं गया।

३. तीसरे जन्म में मोक्ष-प्राप्ति। इसका तात्पर्य है पांचवे जन्म में मोक्ष-प्राप्ति।

शब्द-विमर्श

आचार्य-उपाध्याय—आचार्य-सहित उपाध्याया^५ यह एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है। वह आचार्य और उपाध्याय दोनों का कार्य करता है। व्यवहारसूत्र में तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय को उपाध्याय-पद की अर्हता माना गया है।^६ पांच वर्ष के दीक्षा पर्याय को आचार्य-पद की अर्हता माना गया है।

स्वविषय—आचार्य का विषय है अर्थ पढ़ाना। उपाध्याय का विषय है सूत्र पढ़ाना।

अग्लानभाव—खेद-रहित अवस्था।

१. व्य. भा. वृ. उ. ३, प. ३५—आधाकर्मिक यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम्।

२. वही, वृ. प. ३५—स्थापितं यत्संयतार्थं स्वस्थाने परस्थाने।

३. भ. वृ. ५/१३९—ग्लानस्य निरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत्कृतं भक्तम् तद् ग्लानकम्।

४. ठाणं ९/६२ का टिप्पण।

५. भ. वृ. ५/१४७—द्वितीयः तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवान्तरितो दृश्यः, चारित्र-वतोऽनन्तरो देवभव एव भवति न च तत्र सिद्धिरस्तीति।

६. (क) भ. वृ. ५/१४७—आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्यायः।

(ख) भ. जो. ८८/४१—

जिन कहै केइ तिणहिज भव सीझै,

जाव सर्व दुःख अंत करीजै।

७. व. ३/३

८. वही, ३/५

अब्भक्खाणिस्स कम्मबंध-पदं

१४८. जे णं भंते ! परं अलिण्णं असब्भूएणं
अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति, तस्स णं
कहप्पगारा कम्मा कज्जंति?
गोयमा ! जे णं परं अलिण्णं असंतएणं
अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति, तस्स णं
तहप्पगारा चैव कम्मा कज्जंति। जत्थेव णं
अभिसमागच्छति तत्थेव णं पडिसंवेदेति,
तओ से पच्छा वेदेति।

आभ्याख्यानिनः कर्मबन्ध-पदम्

यो भदन्त ! परम् अलीकेन असद्भूतेन अ-
भ्याख्यानेन अभ्याख्याति, तस्य कथं प्रका-
राणि कर्माणि क्रियन्ते?
गौतम ! यः परम् अलीकेन असता अभ्या-
ख्यानेन अभ्याख्याति, तस्य तथाप्रकाराणि
चैव कर्माणि क्रियन्ते । यत्रैव अभिसमा-
गच्छति तत्रैव प्रतिसंवेदयति, ततः स
पश्चाद् वेदयति।

अभ्याख्यानी के कर्मबन्ध-पद

१४८. 'भन्ते ! जो पुरुष मिथ्या असद्भूत अभ्याख्यान
(दोषारोपण) के द्वारा दूसरे को आरोपित करता है,
उसके किस प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है?
गौतम ! जो पुरुष मिथ्या, असद्भूत अभ्याख्यान के
द्वारा दूसरे को आरोपित करता है, उसके उसी प्रकार
के कर्मों का बन्ध होता है। वह जहां उत्पन्न होता है,
वहीं उन कर्मों का प्रतिसंवेदन करता है, पश्चाद् उनका
वेदन—निर्जरण करता है।

भाष्य

१. सूत्र १४८

प्रस्तुत सूत्र में कर्मशास्त्र का एक नियम प्रतिपादित है। वह नियम
है—आचरण के अनुरूप कर्म का बन्ध और उसके फल का नियमन। मिथ्या
आरोप लगाने वाला भविष्य में मिथ्या आरोप से आरोपित होता है। इसमें
इस अनुश्रुति की प्रतिध्वनि है—“जैसा करोगे, वैसा भरोगे।” कर्म की
शुद्धि के दो निमित्त हैं। एक प्रायश्चित्त और दूसरा उसके विपाक को भोग
लेना। यहाँ केवल दूसरे प्रकार का निर्देश है।

शब्द-विमर्श

अलीक—असत्य।

असद्भूत—जो नहीं है, उसका उद्भावन करना, जो चोर नहीं
है उसको चोर कहना।

अभ्याख्यान—आरोप लगाना, दोष प्रगट करना।

अभ्याख्याति—दोषारोपण करना।

अभिसमागच्छति—उत्पन्न होता है।

प्रतिसंवेदयति—प्रतिसंवेदन करता है, भोगता है।

१४९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

१४९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

परमाणु-खंधाणं एयणादि-पदं

परमाणु-स्कन्धानाम् एजनादि-पदम्

परमाणु-स्कन्धो का एजनादि-पद

१५०. परमाणुपोगले णं भंते ! एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुभइ उदीरइ, तं तं भावं परिणमति ?

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! एजते व्येजते चलति स्पन्दते घटते क्षुभ्यति उदीरयति, तं तं भावं परिणमति ?

१५०. भन्ते ! क्या परमाणु-पुद्गल एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, प्रकम्पन, क्षोभ और उदीरणा करता है, नए-नए भाव में परिणत होता है ?

गोयमा ! सिय एयति जाव तं तं भावं परिणमति; सिय नो एयति जाव नो तं तं भावं परिणमति ॥

गौतम ! स्याद् एजते व्येजते यावत् तं तं भावं परिणमति; स्यान्नो एजते यावन्नो तं तं भावं परिणमति ॥

गौतम ! कदाचित् वह एजन, व्येजन करता है यावत् नए-नए भाव में परिणत होता है, कदाचित् वह एजन नहीं करता यावत् नए-नए भाव में परिणत नहीं होता ।

१५१. दुप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयति जाव तं तं भावं परिणमति ?

द्विप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः एजते यावत् तं तं भावं परिणमति ?

१५१. भन्ते ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध एजन करता है यावत् नए-नए भाव में परिणत होता है ?

गोयमा ! सिय एयति जाव तं तं भावं परिणमति । सिय नो एयति जाव नो तं तं भावं परिणमति । सिय देसे एयति, देसे नो एयति ॥

गौतम ! स्याद् एजते यावत् तं तं भावं परिणमति । स्यान्नो एजते यावन्नो तं तं भावं परिणमति । स्याद् देशः एजते, देशः नो एजते ।

गौतम ! कदाचित् वह एजन करता है यावत् नए-नए भाव में परिणत होता है। कदाचित् वह एजन नहीं करता यावत् नए-नए भाव में परिणत नहीं होता । कदाचित् उसका एक देश एजन करता है, एक देश एजन नहीं करता ।

१५२. तिप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयति ?

त्रिप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः एजते ?

१५२. भन्ते ! क्या त्रिप्रदेशिक स्कन्ध एजन करता है ?

गोयमा ! सिय एयति, सिय नो एयति । सिय देसे एयति, नो देसे एयति । सिय देसे एयति, नो देसा एयति । सिय देसा एयति, नो देसे एयति ॥

गौतम ! स्याद् एजते, स्यान्नो एजते । स्याद् देशः एजते, नो देशः एजते । स्याद् देशः एजते, नो देशाः एजन्ते । स्याद् देशाः एजन्ते, नो देशः एजते ।

गौतम ! कदाचित् वह एजन करता है, कदाचित् एजन नहीं करता । कदाचित् उसका एक देश एजन करता है, एक देश एजन नहीं करता । कदाचित् उसका एक देश एजन करता है, अनेक देश एजन नहीं करते । कदाचित् उसके अनेक देश एजन करते हैं, एक देश एजन नहीं करता ।

१५३. चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयति ?

चतुःप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः एजते ?

१५३. भन्ते ! क्या चतुःप्रदेशिक स्कन्ध एजन करता है ?

गोयमा ! सिय एयति, सिय नो एयति । सिय देसे एयति, नो देसे एयति । सिय देसे एयति, नो देसा एयति । सिय देसा एयति, नो देसे एयति । सिय देसा एयति, नो देसा एयति ॥

गौतम ! स्याद् एजते, स्यान्नो एजते । स्याद् देशः एजते, नो देशः एजते । स्याद् देशः एजते, नो देशाः एजन्ते । स्याद् देशाः एजन्ते, नो देशः एजते । स्याद् देशाः एजन्ते, नो देशाः एजन्ते ।

गौतम ! कदाचित् वह एजन करता है, कदाचित् एजन नहीं करता । कदाचित् उसका एक देश एजन करता है, एक देश एजन नहीं करता । कदाचित् उसका एक देश एजन करता है, अनेक देश एजन नहीं करते । कदाचित् उसके अनेक देश एजन करते हैं, एक देश एजन नहीं करता । कदाचित् उसके अनेक देश एजन करते हैं, अनेक देश एजन नहीं करते ।

जहा चउप्पएसिओ तथा पंचपएसिओ, तथा
जाव अणं तपएसिओ।।

यथा चतुःप्रदेशिकः तथा पञ्चप्रदेशिकः, तथा
यावद् अनन्तप्रदेशिकः।

जैसे—चतुःप्रदेशी स्कन्ध की प्ररूपणा है, वैसी ही
प्ररूपणा पंचप्रदेशी स्कन्ध की करणीय है। यावत्
अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की प्ररूपणा भी वैसी ही है।

भाष्य

१. सूत्र १५०-१५३

जैन दर्शन के अनुसार गतिशील द्रव्य दो हैं—जीव और पुद्गल^१; इसलिए एजन अथवा प्रकम्पन इन दो ही द्रव्यों में होता है। जीव में एजन होता है। इसका निरूपण भगवती ३/१४३-१४८ में किया गया है।

परमाणु पुद्गल की सबसे छोटी इकाई है। उसका स्वरूप भगवती २०/२६ में निरूपित है। उसके अनुसार परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श—

१. शीत और स्निग्ध
२. अथवा शीत और रुक्ष
३. अथवा उष्ण और स्निग्ध
४. अथवा उष्ण और रुक्ष होते हैं।

परमाणु के योग से स्कन्ध का निर्माण होता है। दो परमाणुओं का योग द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओं का योग त्रिप्रदेशी स्कन्ध यावत् अनन्त परमाणुओं का योग अनन्तप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध का कारण है परमाणु। नयचक्र में परमाणु का 'कारण' और 'कार्य' दोनों रूपों में निर्देश किया गया है। परमाणु के योग से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है, अतः परमाणु स्कन्ध का 'कारण' है। स्कन्ध के टूटने से परमाणु अपने मूल रूप में चला जाता है, अतः परमाणु स्कन्ध का 'कार्य' है।

तत्त्वार्थसूत्र में भेद का उल्लेख परमाणु के कारण-रूप में मिलता है। स्कन्ध की उत्पत्ति भेद और संघात दोनों कारणों से होती है।

चतुःप्रदेशी स्कन्ध का भेद होने पर दो द्विप्रदेशी स्कन्ध बन जाते हैं। यह भेद से उत्पन्न है। चार परमाणुओं का योग होने पर चतुःप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है। यह संघात से होने वाला स्कन्ध है। स्कन्ध की अवस्था में परमाणु की संज्ञा 'प्रदेश' हो जाती है।

'परमाणु में एजन आदि क्रियाएं कदाचित् होती है, कदाचित् नहीं होती'—यह सापेक्ष ब्रचन है। उत्पाद और व्यय—यह क्रिया इसमें निरन्तर चलती है। इस क्रिया का सम्बन्ध स्वभाव पर्याय से है। एजन आदि क्रियाओं का सम्बन्ध विशिष्ट परिणमन से है। परमाणु का स्कन्ध के रूप में परिणमन एजन आदि क्रियाओं से ही होता है। इसका आधारभूत सूत्र है—तीसरे शतक का आलापक।^२ उसका प्रतिपाद्य है कि एजन आदि क्रिया करने वाला पुरुष विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होता है, आरम्भ, सभारम्भ करता है। एजन आदि क्रिया नहीं करने वाला पुरुष विभिन्न अवस्थाओं में परिणत नहीं होता, आरम्भ सभारम्भ नहीं करता।

परमाणु और स्कन्ध का भी यही नियम है—उसमें एजन आदि क्रियाएं होती हैं, तो वह विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होता है—'तं तं भावं परिणमति।' एजन आदि क्रियाओं के अभाव में वह विभिन्न अवस्थाओं में परिणत नहीं होता—'नो तं तं भावं परिणमति।'

परमाणु और स्कन्ध के अवस्था-परिवर्तन का नियम इसी शतक के १७९ वें सूत्र में प्रतिपादित है।

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद जैन दर्शन का ध्रुव सिद्धान्त है। 'सिय' का संस्कृत रूप 'स्यात्' होता है। इसके अनेक अर्थ हैं, जैसे—संशय, कथंचित्, कदाचित्, अनेकान्त आदि।^३ नयचक्र के अनुसार 'स्यात्' शब्द एकान्त नियम को अस्वीकार करता है और सापेक्ष को सिद्ध करता है।^४ अभयदेवसूरि ने यहां 'स्यात्' का अर्थ 'कदाचित्' किया है। उनके अनुसार परमाणु और स्कन्ध में एजन आदि क्रियाएं कदाचित्क होती हैं।^५

१. परमाणु के दो विकल्प—

१. स्यात् एजन
२. स्यात् अनेजन

१. ठाण, १०/१।

२. नयचक्र (माइल्ल धवल), श्लोक २९ —

जो खलु अणाइण्डणो, कारणरुवो हु क खरुवो वा।

परमाणुयोगत्तणं सो दब्ब सहावपज्जाओ।।

३. त.सू. ५/२७ — भेदावणुः।

४. त.सू. ५/२६ — भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते।

५. भ. ३/१४३-१४८।

६. (क) त.ग.वा. ४/४२ — स्यात् शब्दोऽनेकान्तार्थस्य द्योतकः।

(ख) आप्तमीमांसा, १०३, १०४ —

वास्येष्वनकान्तस्योती गम्य प्रतिविशेषण।

स्यात्त्रिपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिसाम्प्रति॥

स्याद्वादः सर्वैकान्तत्यागात् किं वृत्तचिद्विधः।

मन्त्रभंगनवापेक्षो हेवादेवविशेषकः॥

७. नयचक्र (माइल्ल धवल), २५३ —

नियमणिसेहनदीभो णिपादगादो.य, जो हु खलु सिद्धो।

सो सियसदो भणिजे. जो सगवेसुं पसाहेदि॥

८. भ.वृ. ५/१५० — कदाचिदेजते, कदाचित्कत्वात्सर्वपुद्गलेभ्येजनादिधर्मर्णात्।

२. द्विप्रदेशी स्कन्ध के तीन विकल्प—
 १. स्यात् एजन
 २. स्यात् अनेजन
 ३. स्यात् देश में एजन, देश में अनेजन।
 ३. त्रिप्रदेशी स्कन्ध के पांच विकल्प—
 १. स्याद् एजन
 २. स्याद् अनेजन

३. स्यात् एक देश में एजन, एक देश में अनेजन
 ४. स्यात् एक देश में एजन, दो देशों में अनेजन
 ५. स्यात् दो देशों में एजन, एक देश में अनेजन।
 ४. चतुःप्रदेशी स्कन्ध के छह विकल्प—
 १-५ पूर्ववत्
 ६. स्यात् दो देशों में एजन, दो देशों में अनेजन।

परमाणु-खंडाण छेदादि-पदं

१५४. परमाणुपोगले णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा?
 हंता ओगाहेज्जा।
 से णं भंते ! तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा?
 गोयमा ! नो तिण्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ ॥

१५५. एवं जाव असंखेज्जपएसिओ ।

१५६. अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा?
 हंता ओगाहेज्जा।
 से णं भन्ते ! तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा?
 गोयमा ! अत्थेगइए छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा, अत्थेगइए नो छिज्जेज्ज वा नो भिज्जेज्ज वा ॥

१५७. परमाणुपोगले णं भंते ! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा?
 हंता वीइवएज्जा।
 से णं भंते ! तत्थ झियाएज्जा?
 गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ।
 से णं भंते ! पुक्खलसंवट्ठगस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा?
 हंता वीइवएज्जा।
 से णं भंते ! तत्थ उल्ले सिया?

परमाणु-स्कन्धानां छेदादि-पदम्

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! असिधारां वा क्षुर-
 धारां वा अवगाहेत?
 हन्त अवगाहेत।
 स भदन्त ! तत्र छिद्येत वा भिद्येत वा?
 गौतम ! नायमर्थः समर्थः। नो खलु तत्र शस्त्रं
 क्रामति।

एवं यावद् असंख्येयप्रदेशिकः।

अनन्तप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः असिधारां
 वा क्षुरधारां वा अवगाहेत?
 हन्त अवगाहेत।
 स भदन्त ! तत्र छिद्येत वा भिद्येत वा?
 गौतम ! अस्त्येककः छिद्येत वा भिद्येत वा,
 अस्त्येककः नो छिद्येत वा नो भिद्येत वा।

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! अग्निकायस्य
 मध्यममध्येन व्यतिव्रजेत्?
 हन्त व्यतिव्रजेत्।
 स भदन्त ! तत्र ध्मायेत?
 गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नो खलु तत्र शस्त्रं
 क्रामति।
 स भदन्त ! पुष्करसंवर्तकस्य महामेघस्य
 मध्यममध्येन व्यतिव्रजेत्?
 हन्त व्यतिव्रजेत्।
 स भदन्त ! तत्र आर्द्रः स्यात्?

परमाणु-स्कन्धों का छेदन आदि-पद

१५४. 'भन्ते ! क्या परमाणु-पुद्गल तलवार की धारा
 अथवा छुरे की धारा पर अवगाहन कर सकता है?
 हां, अवगाहन कर सकता है।
 भन्ते ! क्या वह (परमाणु-पुद्गल) वहां छिन्न अथवा
 भिन्न होता है ?
 गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। परमाणु-पुद्गल पर
 शस्त्र नहीं चलता।

१५५. इसी प्रकार यावत् असंख्येयप्रदेशिक स्कन्ध
 वक्तव्य है।

१५६. भन्ते ! क्या अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध तलवार की
 धारा अथवा छुरे की धारा पर अवगाहन कर सकता
 है?
 हां, अवगाहन कर सकता है।
 भन्ते ! क्या वह वहां छिन्न अथवा भिन्न होता है?
 गौतम ! कुछ स्कन्ध छिन्न-भिन्न होते हैं, कुछ स्कन्ध
 छिन्न अथवा भिन्न नहीं होते।

१५७. भन्ते ! क्या परमाणु-पुद्गल अग्निकाय के
 बीचोबीच से जा सकता है?
 हां, वह जा सकता है।
 भन्ते ! क्या वह वहाँ पर जलता है?
 गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है, परमाणु-पुद्गल पर
 शस्त्र नहीं चलता।
 भन्ते ! क्या वह पुष्कर संवर्तक महामेघ के बीचोबीच
 से जा सकता है?
 हां, वह जा सकता है।
 भन्ते ! क्या वह वहाँ पर आर्द्र होता है?

गोयमा ! नो इण्डे समट्टे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ।

से णं भंते ! गंगाए महानदीए पडिसोयं हव्व-
मागच्छेज्जा?

हंता हव्वमागच्छेज्जा।

से णं भंते ! तत्थ विणिहायभावज्जेज्जा

गोयमा ! नो इण्डे समट्टे, नो खलु तत्थं
कमइ।

से णं भंते ! उदगावत्तं वा उदकबिंदुं वा ओ-
गाहेज्जा?

हंता ओगाहेज्जा।

से णं भंते ! तत्थ परियावज्जेज्जा?

गोयमा ! नो इण्डे समट्टे, नो खलु तत्थ
सत्थं कमइ।

गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नो खलु तत्र शस्त्रं
क्रामति।

स भदन्त ! गंगायाः महानद्याः प्रतिप्रोतं 'हव्वं'
आगच्छेत्।

हन्त 'हव्वं' आगच्छेत्।

स भदन्त ! तत्र विनिघातं आपद्येत?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नो खलु तत्र शस्त्रं
क्रामति।

स भदन्त ! उदकावर्तं वा उदकबिंदुं वा अव-
गाहेत?

हन्त अवगाहेत।

स भदन्त ! तत्र पर्यापद्येत?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नो खलु तत्र शस्त्रं
क्रामति।

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है, परमाणु-पुद्गल पर
शस्त्र नहीं चलता।

भन्ते ! क्या वह गंगा महानदी के प्रतिप्रोत में शीघ्र
ही आ सकता है?

हां, वह शीघ्र ही आ सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहां विनिघात को प्राप्त होता है?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है, परमाणु-पुद्गल पर
शस्त्र नहीं चलता।

भन्ते ! क्या वह जल के आवर्त या जल की बूंद पर
अवगाहन कर सकता है?

हां, वह अवगाहन कर सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहाँ पर पर पीडित होता है?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है, परमाणु-पुद्गल पर
शस्त्र नहीं चलता।

१५८. एवं जाव असंखेज्जपएसिओ।।

एवं यावद् असंख्येयप्रदेशिकः।

१५८. इसी प्रकार यावत् असंख्येयप्रदेशिक स्कन्ध
पर शस्त्र नहीं चलता।

१५९. अणंतपएसिए णं भंते ! खंधे अग-
णिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा?

हंता वीइवएज्जा।

से णं भंते ! तत्थ झियाएज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए झियाएज्जा, अत्थेगइए
नो झियाएज्जा।

से णं भंते ! पुक्खलसंवट्ठास्स महामेहस्स
मज्झंमज्झेणं वीइवएज्जा?

हंता वीइवएज्जा।

से णं भंते ! तत्थ उल्ले सिया?

गोयमा ! अत्थेगइए उल्ले सिया, अत्थेगइए
नो उल्ले सिया।

से णं भंते ! गंगाए महानदीए पडिसोयं हव्व-
मागच्छेज्जा?

हंता हव्वमागच्छेज्जा।

से णं भंते ! तत्थ विणिहायमावज्जेज्जा?

गोयमा ! अत्थेगइए विणिहायमावज्जेज्जा,
अत्थेगइए नो विणिहायमावज्जेज्जा।

से णं भंते ! उदगावत्तं वा उदकबिंदुं वा
ओगाहेज्जा?

हंता ओगाहेज्जा।

से णं भंते ! तत्थ परियावज्जेज्जा?

गोयमा ! अत्थेगइए परियावज्जेज्जा, अत्थे-
गइए नो परियावज्जेज्जा।।

अनन्तप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः अग्नि-
कायस्य मध्यमधयेन व्यतिव्रजेत्?

हन्त व्यतिव्रजेत्।

स भदन्त ! तत्र ध्मायेत?

गौतम ! अस्त्येककः ध्मायेत, अस्त्येककः
नो ध्मायेत।

स भदन्त ! पुष्करसंवर्तकस्य महामेघस्य
मध्यमधयेन व्यतिव्रजेत्?

हन्त व्यतिव्रजेत्।

स भदन्त ! तत्र आर्द्रः स्यात्?

गौतम ! अस्त्येककः आर्द्रः स्यात्, अस्त्ये-
ककः नो आर्द्रः स्यात्।

स भदन्त ! गंगायाः महानद्याः प्रतिप्रोतं
'हव्वं' आगच्छेत्?

हन्त 'हव्वं' आगच्छेत्।

स भदन्त ! तत्र विनिघातम् आपद्येत?

गौतम ! अस्त्येककः विनिघातम् आपद्येत,
अस्त्येककः नो विनिघातम् आपद्येत।

स भदन्त ! उदकावर्तं वा उदकबिंदुं वा
अवगाहेत?

हन्त अवगाहेत।

स भदन्त ! तत्र पर्यापद्येत?

गौतम ! अस्त्येककः पर्यापद्येत, अस्त्येककः
नो पर्यापद्येत।

१५९. भन्ते ! क्या अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध अग्निकाय
के बीचोबीच जा सकता है?

हां, वह जा सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहाँ पर जलता है?

गौतम ! कुछ एक स्कन्ध जलते हैं, कुछ एक स्कन्ध
नहीं जलते हैं।

भन्ते ! क्या वह अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध पुष्कर संवर्तक
महामेघ के बीचोबीच से जा सकता है?

हां, वह जा सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहाँ पर आर्द्र होता है?

गौतम ! कुछ एक स्कन्ध आर्द्र होते हैं, कुछ एक
स्कन्ध आर्द्र नहीं होते।

भन्ते ! क्या वह गंगा महानदी के प्रतिप्रोत में शीघ्र
ही आ सकता है?

हां, वह शीघ्र ही आ सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहाँ विनिघात को प्राप्त होता है?

गौतम ! कुछ एक स्कन्ध विनिघात को प्राप्त होते
हैं, कुछ एक स्कन्ध विनिघात को प्राप्त नहीं होते।

भन्ते ! वह जल के आवर्त या जल की बूंद पर
अवगाहन कर सकता है?

हां, वह अवगाहन कर सकता है।

भन्ते ! क्या वह वहाँ विनष्ट होता है?

गौतम ! कुछ एक स्कन्ध विनष्ट होते हैं, कुछ एक
स्कन्ध विनष्ट नहीं होते।

भाष्य

१. सूत्र १५४-१५९

‘अणुओगदाराइं’ में परमाणु के दो प्रकार बतलाए गए हैं— सूक्ष्म और व्यावहारिक।^१ व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होता है।^२ निश्चयनव की अपेक्षा से वह अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। व्यवहारनय की अपेक्षा से उसे व्यावहारिक परमाणु कहा गया है।^३

परमाणु के लिए जो नियम निर्दिष्ट है, असंख्यप्रदेशी स्कन्ध के लिए भी वही नियम निर्दिष्ट है। अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के लिए दो विकल्प हैं—कोई एक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध असिधारा से छिन्न-भिन्न होता है, कोई एक नहीं होता। इसका हेतु यह है—स्थूल परिणति वाला असिधारा से छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूक्ष्म परिणति वाला असिधारा से छिन्न-भिन्न नहीं

होता।^४ व्यावहारिक परमाणु सूक्ष्म परिणति वाला अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। अणुओगदाराइं के अनुसार वह असिधारा से छिन्न-भिन्न नहीं होता।^५

आधुनिक विज्ञान का पहले यह मत था कि परमाणु का विभाजन नहीं होता किन्तु अब उसका विभाजन किया गया है। जैनदर्शन के अनुसार विज्ञान-सम्मत अणु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध है। व्यावहारिक परमाणु भी शास्त्र से नहीं टूटता। इस विषय में एक प्रश्न उपस्थित होता है—आगम-साहित्य में असिधारा से परमाणु छिन्न-भिन्न नहीं होता, यह कहा गया है। असि की धारा बहुत स्थूल होती है, इसलिए उससे परमाणु का विभाजन नहीं होता, यह सही है। आधुनिक विज्ञान ने बहुत सूक्ष्म उपकरण विकसित किए हैं। उनसे व्यावहारिक परमाणु के विभाजन की संभावना की जा सकती है।

परमाणु-खंधाणं सअड्डसमज्झादि-पदं

परमाणु-स्कन्धानां सार्द्ध-समध्यादि-पदम्

परमाणु-स्कन्धों का सार्द्ध समध्यादि-पद

१६०. परमाणुपोगले णं भन्ते ! किं सअड्डे समज्झे सपएसे? उदाहु अणड्डे अमज्झे अपएसे?
गोथमा ! अणड्डे अमज्झे अपएसे, नो सअड्डे नो समज्झे नो सपएसे ॥

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! किं सार्धः समध्यः सप्रदेशः? उताहो अनर्धः अमध्यः अप्रदेशः?
गौतम ! अनर्धः अमध्यः अप्रदेशः, नो सार्धः नो समध्यः नो सप्रदेशः।

१६०. 'भन्ते ! परमाणु-पुद्गल क्या स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है? अथवा अनर्ध, अ-मध्य और अप्रदेश है?
गौतम ! परमाणु-पुद्गल अनर्ध, अ-मध्य और अप्रदेश है, स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश नहीं है।

१६१. दुप्पएसिए णं भन्ते ! खंधे किं सअड्डे समज्झे सपएसे? उदाहु अणड्डे अमज्झे अपएसे?

द्विप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः किं सार्धः समध्यः सप्रदेशः ? उताहो अनर्धः अमध्यः अप्रदेशः?

१६१. भन्ते ! द्विप्रदेशी स्कन्ध क्या स-अर्ध, स-मध्य और सप्रदेश है? अथवा अनर्ध, अ-मध्य और अप्रदेश है?

गोथमा ! सअड्डे अमज्झे सपएसे, नो अणड्डे नो समज्झे नो अपएसे ॥

गौतम ! सार्धः अमध्यः सप्रदेशः, नो अनर्धः नो समध्यः नो अप्रदेशः।

गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध स-अर्ध, अ-मध्य और स-प्रदेश है, अनर्ध, स-मध्य और अ-प्रदेश नहीं है।

१६२. तिप्पएसिए णं भन्ते ! खंधे पुच्छा।

त्रिप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः पुच्छा।

१६२. भन्ते ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध क्या स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है? अथवा अनर्ध, अ-मध्य और अप्रदेश है?

गोथमा ! अणड्डे समज्झे सपएसे, नो सअड्डे नो अमज्झे नो अपएसे ॥

गौतम ! अनर्धः समध्यः सप्रदेशः, नो सार्धः नो अमध्यः नो अप्रदेशः।

गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है, स-अर्ध, अ-मध्य और अप्रदेश नहीं है।

१६३. जहा दुप्पएसिओ तथा जे समा ते भाणि-

यथा द्विप्रदेशिकः तथा जे समाः ते भाणि-

१६३. समसंख्या वाले (चतुःप्रदेशी, षट्प्रदेशी आदि)

१. अणु. सू. ३९६।

२. वही. सू. ३९८।

३. अणु. म.वृ.प. १४८. नतोऽसीनिश्चयनः स्कन्धोऽपि व्यवहारनयमतेन व्यावहारिकः परमाणुरुक्तः।

४. म.वृ.प. १५६. —अन्धेगड्ढे नो छिज्जेज्जति सूक्ष्मपरिणामत्वात्।

५. (क) अणु. सू. ३९८।

(ख) अनु. म.वृ.प. १४८. — इदम्कं भवति—यद्यन्यन्तेः परमाणुभिर्निष्पन्नाः काष्ठदवः शस्त्रछेदादिविषया दृष्टान्नाप्यनन्तःस्याप्यनन्तभेदत्वात् तावत् प्रमाणैर्नैव परमाण्वनन्तकेन नियन्त्रोऽसौ व्यावहारिकः परमाणुप्राप्तिो यावत् प्रमाणेन नियन्त्रोऽपि मूढत्वान्नशस्त्रच्छेदादिविषयतामासाद्यतीति भावः।

यन्वा, जे विसमा ते जहा तिप्पएसिओ तथा भाणियन्वा॥	तव्याः, ये विषमाः ते यथा त्रिप्रदेशिकः तथा भणितव्याः।	स्कन्ध द्विप्रदेशी स्कन्ध की भांति वक्तव्य हैं। विषम संख्या वाले स्कन्ध (पञ्चप्रदेशी सप्ताप्रदेशी आदि) त्रिप्रदेशी स्कन्ध की भांति वक्तव्य हैं।
१६४. संखेज्जपएसिए णं भन्ते ! खंधे किं सअड्ढे? पुच्छा।	संख्येयप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः किं सार्धः? पृच्छा।	१६४. भन्ते ! संख्येयप्रदेशी स्कन्ध क्या स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है अथवा अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश है?
गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपएसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपएसे।	गौतम ! स्यात् सार्धः अमध्यः सप्रदेशः, स्यात् अनर्धः समध्यः सप्रदेशः।	गौतम ! संख्येय प्रदेशी स्कन्ध कथंचित् स-अर्ध, अ-मध्य और स-प्रदेश है। कथंचित् अनर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है।
जहा संखेज्जपएसिओ तथा असंखेज्ज-पएसिओ वि, अणंतपएसिओ वि ॥	यथा संख्येयप्रदेशिकः तथा असंख्येयप्रदेशिकोऽपि, अनन्तप्रदेशिकोऽपि।	असंख्येयप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध संख्येयप्रदेशी स्कन्ध की भांति वक्तव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १६०-१६४

परमाणु विशुद्ध रूप में अकेला होता है। वह अपनी स्वतन्त्र अवस्था में अप्रदेश—प्रदेश शून्य होता है। किसी दूसरे के साथ योग होने पर वह स्कन्ध रूप में बदल जाता है।

परमाणु अप्रदेश है—यह वचन द्रव्य की अपेक्षा से है। काल और भाव की अपेक्षा परमाणु सप्रदेश भी हो सकता है। प्रस्तुत आगम में परमाणु चार प्रकार के बतलाए गए हैं—द्रव्य परमाणु, क्षेत्र परमाणु, काल परमाणु और भाव परमाणु।^१ सिद्धसेनगणी के अनुसार भाव परमाणु सावयव और द्रव्य परमाणु निरवयव होता है।^२

एक परमाणु में एक वर्ण होता है। उस वर्ण की मात्राएं अनेक होती हैं। कभी वह परमाणु एक गुण काला होता है, कभी दो गुण काला, कभी संख्यात गुण काला, कभी असंख्यात गुण काला और कभी अनन्त गुण काला। इस प्रकार गन्ध, रस और स्पर्श में भी गुण-भेद अथवा मात्रा-भेद होता है। इस गुण-भेद की अपेक्षा परमाणु को अनेक अवयव वाला

कहा जा सकता है। जो अप्रदेश होता है, उसका अर्ध नहीं होता और उसमें मध्य भी नहीं होता।

जिस स्कन्ध के प्रदेश समान होते हैं उसका अर्ध होता है और जिसके प्रदेश विषम होते हैं उसमें मध्य होता है। संख्येय, असंख्येय और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध दोनों प्रकार के होते हैं—समप्रदेशिक और विषम-प्रदेशिक। समप्रदेशिक स्कन्ध का अर्ध होता है। उसमें मध्य नहीं होता। द्विप्रदेशिक स्कन्ध समप्रदेशिक है, इसलिए उसमें अर्ध होता है, मध्य नहीं होता। त्रिप्रदेशिक स्कन्ध विषमप्रदेशिक है, इसलिए उसका अर्ध नहीं है, मध्य है। अर्ध और मध्य दोनों एक साथ नहीं हो सकते। समप्रदेशिक स्कन्धों की वक्तव्यता द्विप्रदेशी-स्कन्ध के समान है, विषम प्रदेशी स्कन्धों की वक्तव्यता त्रिप्रदेशिक स्कन्ध के समान है।

ठाणं के अनुसार परमाणु अभेद्य, अदाह्य, अग्राह्य, अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाज्य होता है।^३

परमाणु-खंधाणं परोप्परं फुसणा-पदं

परमाणु-स्कन्धानां परस्परं स्पर्शाना-पदम्

परमाणु-स्कन्धों का परस्पर स्पर्शाना-पद

१६५. परमाणुपोग्गले णं भन्ते ! परमाणुपोग्गलं फुसमाणे किं —

१. देसेणं देसं फुसइ २. देसेणं देसे फुसइ
३. देसेणं सव्वं फुसइ ४. देसेहिं देसं फुसइ

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! परमाणुपुद्गलं स्पृशन् किं—१. देशेन देशम् स्पृशति २. देशेन देशान् स्पृशति ३. देशेन सर्वं स्पृशति ४. देशैः देशं स्पृशति ५. देशैः देशान् स्पृशति

१६५. 'भन्ते ! परमाणु-पुद्गल परमाणु-पुद्गल का स्पर्श करता हुआ क्या—१. एक देश से एक देश का स्पर्श करता है? २. एक देश से अनेक देशों का स्पर्श करता है? ३. एक देश से सर्व का स्पर्श करता

१. प्रजा. वृ.प. २०२, ३ — परमाणुहिं अप्रदेशो गीयते, द्रव्यरूपतया साशो न भवतीति, ननु कालभावाभ्यामपि "अपएसो दव्वड्ढयाए" इति वचनात् । ततः कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेपि न कश्चिद्दोषः।

२. भ. २०/३७-४१

३. त.सू.भा.वृ. ५/१ — ननु चैकोऽपि परमाणुः पुद्गलद्रव्यमेव स कथं बहुवयवो भवेत्? किमत्र प्रतिपाद्यम्? ननु प्रसिद्धमेवेदमेकरसगन्धवर्णो द्वि स्पर्शरचाणुर्भवति, भावावयवैः सावयवो द्रव्यावयवैर्निरवयव इति ।

४. ठाणं, ३/३२९-३३५

५. देसेहिं देसे फुसइ ६. देसेहिं सव्वं फुसइ
७. सव्वेणं-देसं-फुसइ ८. सव्वेणं देसे फु-
सइ ९. सव्वेणं सव्वं फुसइ?

गोयमा ! १. नो देसेणं देसं फुसइ २. नो देसेणं
देसे फुसइ ३. नो देसेणं सव्वं फुसइ ४. नो
देसेहिं देसं फुसइ ५. नो देसेहिं देसे फुसइ
६. नो देसेहिं सव्वं फुसइ ७. नो सव्वेणं देसं
फुसइ ८. नो सव्वेणं देसे फुसइ ९. सव्वेणं
सव्वं फुसइ ।।

१६६. परमाणुपोग्गले दुप्पएसियं फुसमाणे
सत्तम-णवमेहिं फुसइ ।

परमाणुपोग्गले तिप्पएसियं फुसमाणे निप-
च्छिमएहिं तिहिं फुसइ ।

जहा परमाणुपोग्गले तिप्पएसियं फुसाविओ
एवं फुसावेयव्वो जाव अणंतपएसिओ ।।

१६७. दुप्पएसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं
फुसमाणे किं देसेणं देसं फुसइ? पृच्छा।

ततिय-नवमेहिं फुसइ ।

दुप्पएसिओ दुप्पएसियं फुसमाणे पढम-
-ततिय-सत्तम-नवमेहिं फुसइ ।

दुप्पएसिओ तिप्पएसियं फुसमाणे आदि-
ल्लएहिं य, पच्छिल्लएहिं य तिहिं फुसइ,
मज्झिमएहिं तिहिं विपडिसेहेयव्वं।

दुप्पएसिओ जहा तिप्पएसियं फुसाविओ एवं
फुसावेयव्वो जाव अणंतपएसियं।।

६. देशैः सर्वं स्पृशति ७. सर्वेण देशं स्पृशति
८. सर्वेण देशान् स्पृशति ९. सर्वेण सर्वं
स्पृशति?

गौतम ! १. नो देशेण देशं स्पृशति २. नो
देशेण देशान् स्पृशति ३. नो देशेण सर्वं
स्पृशति ४. नो देशैः देशं स्पृशति ५. नो
देशैः देशान् स्पृशति ६. नो देशैः सर्वं
स्पृशति ७. नो सर्वेण देशं स्पृशति ८. नो
सर्वेण देशान् स्पृशति ९. सर्वेण सर्वं स्पृशति।

परमाणुपुद्गलः द्विप्रदेशिकं स्पृशन् सप्तम-
-नवमाभ्यां स्पृशति।

परमाणुपुद्गलः त्रिप्रदेशिकं स्पृशन् नि-
पश्चिमकैस्त्रिभिः स्पृशति ।

यथा परमाणुपुद्गलः त्रिप्रदेशिकं स्पर्शितः
एवं स्पर्शयितव्यः यावद् अनन्तप्रदेशिकः।

द्विप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः परमाणुपुद्गलं
स्पृशन् किं देशेण देशं स्पृशति? पृच्छा ।

तृतीय-नवमाभ्यां स्पृशति ।

द्विप्रदेशिकः द्विप्रदेशिकं स्पृशन् प्रथम-
-तृतीय-सप्तम-नवमैः स्पृशति ।

द्विप्रदेशिकः त्रिप्रदेशिकं स्पृशन् आदि-
मकैश्च, पश्चिमकैश्च त्रिभिः स्पृशति,
मध्यमकैः त्रिभिः विप्रतिषेद्धव्यम् ।

द्विप्रदेशिकः यथा त्रिप्रदेशिकं स्पर्शितः एवं
स्पर्शयितव्यः यावद् अनन्तप्रदेशिकम् ।

है? ४. अनेक देशों से एक देश का स्पर्श करता है?
५. अनेक देशों से अनेक देशों का स्पर्श करता है?
६. अनेक देशों से सर्व का स्पर्श करता है? ७. सर्व
से एक देश का स्पर्श करता है? ८. सर्व से अनेक
देशों का स्पर्श करता है? ९. सर्व से सर्व का स्पर्श
करता है?

गौतम ! १. परमाणु-पुद्गल एक देश से एक देश का
स्पर्श नहीं करता । २. एक देश से अनेक देशों का
स्पर्श नहीं करता । ३. एक देश से सर्व का स्पर्श नहीं
करता । ४. अनेक देशों से एक देश का स्पर्श नहीं
करता । ५. अनेक देशों से अनेक देशों का स्पर्श नहीं
करता । ६. अनेक देशों से सर्व का स्पर्श नहीं करता ।
७. सर्व से एक देश का स्पर्श नहीं करता । ८. सर्व से
अनेक देशों का स्पर्श नहीं करता । ९. सर्व से सर्व का
स्पर्श करता है ।

१६६. परमाणु-पुद्गल द्विप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श
करता हुआ सातवें और नौवें विकल्प (सर्व से एक
देश और सर्व से सर्व का) का स्पर्श करता है ।

परमाणु-पुद्गल त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श करता
हुआ अन्तिम तीन विकल्पों (सर्व से एक देश, सर्व
से अनेक देशों और सर्व से सर्व) का स्पर्श करता है।
जिस प्रकार परमाणु-पुद्गल का त्रिप्रदेशिक स्कन्ध
से स्पर्श कराया गया है, उस प्रकार चतुःप्रदेशिक
स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध तक
स्पर्श कराया जाए ।

१६७. भन्ते ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध परमाणु-पुद्गल का
स्पर्श करता हुआ क्या एक देश से एक देश का स्पर्श
करता है? पृच्छा ।

तीसरे और नौवें विकल्प (एक देश से सर्व और सर्व
से सर्व का) का स्पर्श करता है ।

द्विप्रदेशिक स्कन्ध द्विप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श
करता हुआ पहले, तीसरे, सातवें और नौवें (एक
देश से एक देश, एक देश से सर्व, सर्व से एक देश
और सर्व से सर्व का) विकल्प का स्पर्श करता है ।

द्विप्रदेशिक स्कन्ध त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श
करता हुआ तीन प्रथम और तीन अन्तिम विकल्पों
का स्पर्श करता है। मध्यवर्ती तीन विकल्प प्रतिषिद्ध
है । जिस प्रकार द्विप्रदेशिक स्कन्ध का त्रिप्रदेशिक
स्कन्ध से स्पर्श कराया गया है, इस प्रकार चतुः-

प्रदेशिक स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध तक से स्पर्श कराया जाए।

१६८. तिपएसिएणं भन्ते ! खंधे परमाणुपोगलं फुसमाणे पुच्छा।

त्रिप्रदेशिकः भदन्त ! स्कन्धः परमाणुपुद्गलं स्पृशन् पृच्छा।

१६८. भन्ते ! त्रिप्रदेशिक स्कन्ध परमाणु-पुद्गल का स्पर्श करता हुआ क्या एक देश से एक देश का स्पर्श करता है? पृच्छा।

ततिय-छट्ट-नचमेहिं फुसइ।

तृतीय-षष्ठ-नचमैः स्पृशति।

वह तीसरे, छठे और नौवें विकल्प का स्पर्श करता है।

तिपएसिओ दुपएसियं फुसमाणे पढमएणं, ततिएणं, चउत्थ-छट्ट-सत्तम-नचमेहिं फुसइ।

त्रिप्रदेशिकः द्विप्रदेशिकं स्पृशन् प्रथमेन, तृतीयेन, चतुर्थ-षष्ठ-सप्तम-नचमैः स्पृशति।

त्रिप्रदेशिक स्कन्ध द्विप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, चौथे, छठे, सातवें और नौवें विकल्प का स्पर्श करता है।

तिपएसिओ तिपएसियं फुसमाणे सव्वेसु वि ठाणेसु फुसइ।

त्रिप्रदेशिकः त्रिप्रदेशिकं स्पृशन् सर्वेष्वपि स्थानेषु स्पृशति।

त्रिप्रदेशिक स्कन्ध त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का स्पर्श करता हुआ सब स्थानों का स्पर्श करता है।

जहा तिपएसिओ तिपएसियं फुसाविओ एवं तिप्पएसिओ जाव अणंतपएसिएणं संजो-एयव्वो।

यथा त्रिप्रदेशिकः त्रिप्रदेशिकं स्पर्शितः एवं त्रिप्रदेशिकः यावत् अनन्तप्रदेशिकेन संयोज-यितव्यम्।

जिस प्रकार त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का त्रिप्रदेशिक स्कन्ध से स्पर्श कराया गया है, उस प्रकार त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का चतुःप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध के साथ संयोग कराया जाए।

जहा तिपएसिओ एवं जाव अणंतपएसिओ भाणियव्वो।।

यथा त्रिप्रदेशिकः एवं यावद् अनन्तप्रदेशिकः भाणितव्यः।।

जिस प्रकार त्रिप्रदेशिक स्कन्ध की वक्तव्यता है। वही वक्तव्यता चतुःप्रदेशिक से यावत् अनन्त-प्रदेशिक स्कन्ध की है।

भाष्य

१. सूत्र १६५-१६८

एक परमाणु जब दूसरे परमाणु का स्पर्श करता है तब वह आधे अंश से करता है या सर्वात्मना करता है? इस जिज्ञासा के आधार पर नौ विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं। भगवान् महावीर ने आठ विकल्पों को अस्वीकार कर दिया। केवल नौवें विकल्प को स्वीकृति दी। इसका हेतु यह है कि परमाणु निरंश होता है। इसलिए एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना सम्पर्क स्थापित करता है।^१ उसमें देश—अंश या देशों—अंशों की कल्पना नहीं की जा सकती। नौ विकल्पों की स्थापना इस प्रकार है:

	देशेन	देशैः	सर्वेण
१.	देशं	देशं	देशं
२.	देशान्	देशान्	देशान्
३.	सर्वम्	सर्वम्	सर्वम्

वृत्तिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है—

एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ यदि 'सर्वेण सर्वम्' स्पर्श होता है, तो दो परमाणुओं में एकत्व हो जाएगा। इस प्रकार अन्यान्य परमाणुओं के योग से घट आदि स्कन्धों का निर्माण नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर यह है—दो परमाणु परस्पर संलग्न होते हैं, तो अर्ध अंशों से नहीं होते। दो का योग होता है, एकत्व नहीं होता। घट आदि स्कन्धों के निर्माण का अभाव परमाणुओं के एक हो जाने पर हो सकता है, किन्तु उनके योग में निर्माण के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती।^२

परमाणु द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता है, उसके दो विकल्प बनते हैं—'सर्वेण देशं' और 'सर्वेण सर्वम्'। जब द्विप्रदेशी स्कन्ध आकाश के दो प्रदेशों में अवस्थित होता है, तब परमाणु सर्वात्मना द्विप्रदेशी स्कन्ध के देश का स्पर्श करता है। वह द्विप्रदेशी स्कन्ध जब परिणति की सूक्ष्मता के कारण आकाश के एक प्रदेश में स्थित होता है, तब 'सर्वेण सर्वम्' यह विकल्प बनता है।

परमाणु के त्रिप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श में तीन विकल्प बनते हैं—

१. सर्वेण देशम् २. सर्वेण देशौ ३. सर्वेण सर्वम्।

१. भ. वृ. ५/१६५—अत्र च सर्वेण सर्वमित्येक एव घटते, परमाणोर्निरंशत्वेन शेषाणामसम्भवात्।
२. भ. वृ. ५/१६५—ननु यदि सर्वेण सर्वम् स्पृशतीत्युच्यते तदा परमाणवोरेकत्वापत्तेः कथमपरापरमाणुयोगेन घटादि स्कन्ध निष्पत्तिः? इति, अत्रोच्यते, सर्वेण सर्वम् स्पृशतीतिकोऽर्थः

स्वात्मना तावन्न्योऽन्यस्य लगती, न पुनः द्वाद्यंशेन अर्द्धादिदेशस्य तयोगभानात्, घटाद्यभावापत्तिस्तु तदैव प्रसज्येत यदा तवोरेकत्वापत्तिः, न च तयोः सः, स्वरूपभेदात्।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध आकाश के तीन प्रदेशों में स्थित होता है, तब परमाणु सर्वात्मना उसके एक देश का स्पर्श करता है। जब उसके दो प्रदेश आकाश के एक देश में तथा एक प्रदेश आकाश के दूसरे प्रदेश में स्थित होता है, उस अवस्था में 'सर्वेण देशौ' का विकल्प बनता है—परमाणु सर्वात्मना आकाश के एक प्रदेश में स्थित स्कन्ध के दो परमाणु रूप दो देशों का स्पर्श करता है। जब वह सूक्ष्मपरिणति के कारण आकाश के एक प्रदेश में स्थित होता है तब सर्वेण-सर्वम् का विकल्प बनता है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध एक अवयवी है। इसलिए एक आकाश-प्रदेश में स्थित उसके दो परमाणुओं को दो देश माना जा सकता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध द्विप्रदेश मात्र अवयवी है। इसलिए यह 'सर्वेण देशौ' का विकल्प उसमें घटित नहीं होता। त्रिप्रदेशी स्कन्ध त्रिप्रदेशात्मक अवयवी है। इसलिए एक अवयवी के दो देशों का स्पर्श घटित होता है, किन्तु द्विप्रदेशी स्कन्ध में दो ही प्रदेश होते हैं, इसलिए परमाणु किस अवयवी के दो प्रदेशों का स्पर्श करेगा? त्रिप्रदेशिक स्कन्ध के दो प्रदेशों का स्पर्श करने पर एक अवशिष्ट रह जाता है, इसलिए 'सर्वेण देशौ' का विकल्प घटित होता है।

द्विप्रदेशी स्कन्ध परमाणु का स्पर्श करता है, तब दो विकल्प बनते हैं—“देशेन सर्वम्” और “सर्वेण सर्वम्”। द्विप्रदेशी स्कन्ध आकाश के

दो प्रदेशों में स्थित होता है, तब वह अपने देश से सर्व परमाणु का स्पर्श करता है। वह आकाश के एक प्रदेश में अवस्थित होता है, तब 'सर्वेण सर्वम्' यह विकल्प घटित होता है।

द्विप्रदेशी स्कन्ध का द्विप्रदेशी स्कन्ध से स्पर्श होता है तब चार विकल्प बनते हैं—

१. दोनों द्विप्रदेशी स्कन्ध आकाश के दो प्रदेशों में अवस्थित हैं, तब 'देशेन देशम्' यह विकल्प बनता है।

२. दो आकाश-प्रदेशों में स्थित द्विप्रदेशी स्कन्ध एक आकाश-प्रदेश में स्थित द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता है, तब 'देशेन सर्वम्' विकल्प घटित होता है।

३. एक आकाश-प्रदेश में स्थित द्विप्रदेशी स्कन्ध दो आकाश-प्रदेशों में स्थित द्विप्रदेशी स्कन्ध का स्पर्श करता है, तब 'सर्वेण देशम्' विकल्प बनता है।

४. आकाश के एक-एक प्रदेश में स्थित दोनों द्विप्रदेशी स्कन्धों का स्पर्श होता है तब 'सर्वेण सर्वम्' विकल्प बनता है।

इसी पद्धति से त्रिप्रदेशी स्कन्ध की वक्तव्यता जाननी चाहिए।

परमाणु-खंडाणं संठिइ-पदं

१६९. परमाणुपोग्गले णं भंते ! कालओ केव-
च्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं
असंखेज्जं कालं। एवं जाव अणंतपएसिओ।

१७०. एणपएसोगाढे णं भंते ! पोग्गले सेए तम्मि
वा ठाणे, अण्णम्मि वा ठाणे कालओ
केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं
आवल्लियाए असंखेज्जइभागं। एवं जाव
असंखेज्जपएसोगाढे ॥

१७१. एणपएसोगाढे णं भंते ! पोग्गले निरेए
कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं
असंखेज्जं कालं। एवं जाव असंखेज्जपए-
सोगाढे ॥

परमाणु स्कन्धानां संस्थिति-पदम्

परमाणुपुद्गलः भदन्त ! कालतः कियच्चिरं
भवति?

गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण
असंख्येयं कालम्। एवं यावद् अनन्त-
प्रदेशिकः।

एक प्रदेशावगाढः भदन्त ! पुद्गलः सैजः
तस्मिन् वा स्थाने, अन्यस्मिन् वा स्थाने
कालतः कियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण
आवल्लिकयाः असंख्येयभागम्। एवं यावद्
असंख्येयप्रदेशावगाढः।

एक प्रदेशावगाढः भदन्त ! पुद्गलः निरेजः
कालतः कियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण
असंख्येयं कालम्। एवं यावद् असंख्येय-
प्रदेशावगाढः।

परमाणु-स्कन्धों की संस्थिति का पद

१६९. ' भन्ते ! परमाणु-पुद्गल काल की दृष्टि से
(परमाणु-पुद्गल के रूप में) कितने समय तक रहता
है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय
काल। इसी प्रकार यावत् अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध तक
वही कालावधि है।

१७०. भन्ते ! आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ
सप्रकम्प पुद्गल उस अधिकृत स्थान में अथवा
किसी दूसरे स्थान में काल की दृष्टि से कितने
समय तक रहता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवल्लिका
का असंख्यातवां भाग। इसी प्रकार यावत् असंख्य
प्रदेशावगाढ सप्रकम्प पुद्गल की यही कालावधि
है।

१७१. भन्ते ! आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ
अप्रकम्प पुद्गल काल की दृष्टि से कितने समय तक
रहता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय
काल। इसी प्रकार यावत् असंख्यप्रदेशावगाढ
अप्रकम्प पुद्गल की यही कालावधि है।

१७२. एगुणकालए णं भंते ! पोगले कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। एवं जाव अणंतगुणकालए

एवं वण्ण-गंध-रस-फास जाव अणंतगुण-लुक्खे। एवं सुहुमपरिणए पोगले, एवं बादर-परिणए पोगले।।

एकगुणकालकः भदन्त ! पुद्गलः कालतः क्रियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण असंख्येयं कालम्। एवं यावद् अनन्तगुण-कालकः।

एवं वर्ण-गंध-रस-स्पर्शम् यावद् अनन्तगुण-रूक्षः। एवं सूक्ष्मपरिणतः पुद्गलः, एवं बादर-परिणतः पुद्गलः।

१७२. भन्ते ! एक गुण कृष्ण वर्ण वाला पुद्गल काल की दृष्टि से (एक गुण कृष्ण-वर्ण के रूप में) कितने समय तक रहता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्य काल। इसी प्रकार यावत् अनन्त-गुण कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल की यही कालावधि है।

इसी प्रकार वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श यावत् अनन्त गुण रूक्ष पुद्गल की कालावधि वक्तव्य है। इसी प्रकार सूक्ष्म परिणति में परिणत पुद्गल तथा बादर परिणति में परिणत पुद्गल की कालावधि वक्तव्य है।

१७३. सदपरिणए णं भंते ! पोगले कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

शब्दपरिणतः भदन्त ! पुद्गलः कालतः क्रियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंख्येयभागम्।

१७३. भंते ! शब्द-परिणति में परिणत पुद्गल काल की दृष्टि से शब्द-परिणति के रूप में कितने समय तक रहता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक रहता है।

१७४. असदपरिणए णं भंते ! पोगले कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एणं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।।

अशब्दपरिणतः भदन्त ! पुद्गलः कालतः क्रियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण असंख्येयं कालम्।

१७४. भन्ते ! अशब्द-परिणति में परिणत पुद्गल काल की दृष्टि से अशब्द-परिणति के रूप में कितने समय तक रहता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्य काल।

भाष्य

१. सूत्र १६९-१७४

प्रस्तुत आलापक में पुद्गल से सम्बन्धित कुछ सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन है।

१. एक रूप में अवस्थान का नियम—पुद्गल-द्रव्य के दो रूप हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं। स्कन्ध का विघटन होने पर वे फिर परमाणु बन जाते हैं। यह परिवर्तन-चक्र चलता रहता है। परमाणु का परमाणु के रूप में अधिकतम अवस्थान असंख्येयकाल तक होता है। उसके पश्चात् वह स्कन्ध रूप में बदल जाता है। कोई भी पुद्गल एक ही रूप में स्थित नहीं रहता। इनके परिवर्तन की न्यूनतम सीमा बहुत छोटी है—एक समय है। एक समय और असंख्यकाल की सीमा के मध्य जितना काल है उतने ही विकल्प बन जाते हैं।

यह नियम परमाणु की भांति स्कन्ध पर भी लागू होता है।

२. सप्रकम्प और अप्रकम्प पुद्गल का एक स्थान में अवस्थान का नियम—जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका का असंख्येय भाग।

३. तीसरे नियम का सम्बन्ध गुणांश के परिवर्तन से है—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पुद्गल के गुण हैं। काला वर्ण एक गुण (quality) है। उसमें अनन्त गुणांश (units) सम्भव हो सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में 'गुण' शब्द का प्रयोग 'गुणांश' के अर्थ में किया गया है।

किसी काले वर्ण वाले परमाणु के काले वर्ण के गुणांशों में परिवर्तन होता रहता है। कभी वह एक गुणांश काला होता है, कभी दो गुणांश, कभी तीन गुणांश यावत् कभी अनन्त गुणांश काला होता है। प्रत्येक गुणांश अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों से निष्पन्न होता है। 'एक गुण काला' जघन्य गुण काला कहलाता है। अविभागी प्रतिच्छेद की वृद्धि होने पर क्रमशः दो गुण, तीन गुण, चार गुण—

१. भ.वृ. ५/१६९ 'असंखेज्जं कालं' ति असंख्येयकालात्परः पुद्गलानामेकरूपेण स्थित्यभावात्।

२. आवलिका के लिए द्रव्य भ. ६/१३२।

३. अविभागी प्रतिच्छेद का अर्थ है—शक्ति-अंश।

इस प्रकार अवस्था भेद होता रहता है। गुण में गुणांश सदा एक रूप नहीं रहता। वह बदलता रहता है। प्रस्तुत आलापक में उसके एक रूप में रहने की काल-मर्यादा का नियम निर्दिष्ट है—जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय काल। यह नियम वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन गुणों के सभी गुणांशों पर लागू होता है। सूक्ष्म परिणति और दादर परिणति वाले पुद्गलों के लिए भी यही नियम निर्दिष्ट है।

४. चौथे नियम का सम्बन्ध शब्द-परिणत और अशब्द-परिणत

पुद्गलों के साथ है।

एकप्रदेशावगाढ परमाणु के सप्रकम्प और अप्रकम्प रहने का नियम पुद्गल सप्रकम्प अधिक समय तक रह नहीं सकता। उसके सप्रकम्प रहने का कालमान जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवां भाग है। पुद्गल अप्रकम्प अधिक समय तक रह सकता है—जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय काल। पच्चीसवें शतक में परमाणु के सप्रकम्प और अप्रकम्प होने का कालमान निर्दिष्ट है।

परमाणु-खंधाणं अंतरकाल-पदं

१७५. परमाणुपोगलस्स णं भन्ते ! अंतरं काल-ओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।।

१७६. दुप्पएसियस्स णं भन्ते ! खंधस्स अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं। एवं जाव अणंतपएसिओ।।

१७७. एगपएसोगाढस्स णं भन्ते ! पोगलस्स सेयस्स अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं। एवं जाव असंखेज्ज-पएसोगाढे।।

१७८. एगपएसोगाढस्स णं भन्ते ! पोगलस्स निरेयस्स अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं। एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे।

वण्ण-गंध-रस-फास-सुहुमपरिणयबायरप-रिणयाणं—एतेसिं जं चेव संचिड्डणा तं चेव अंतरं पि भाणियव्वं।।

१७९. सहपरिणयस्स णं भन्ते ! पोगलस्स अंतरं

परमाणु-स्कन्धानाम् अन्तरकाल-पदम्

परमाणुपुद्गलस्य भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण असंख्येयं कालम्।

द्विप्रदेशिकस्य भदन्त ! स्कन्धस्य अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण अनन्तं कालम्। एवं यावद् अनन्तप्रदेशिकः।

एकप्रदेशावगाढस्य भदन्त ! पुद्गलस्य सैजस्य अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण असंख्येयं कालम्। एवं यावद् असंख्येय-प्रदेशावगाढः।

एकप्रदेशावगाढस्य भदन्त ! पुद्गलस्य निरेजस्य अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंख्येयभागम्। एवं यावद् असंख्येयप्रदेशावगाढः।

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-सूक्ष्मपरिणतबादर-परिणतानाम्—एतेषां यच्चैव संस्थानं तच्चैव अन्तरमपि भणितव्यम्।

शब्दपरिणतस्य भदन्त ! पुद्गलस्य अन्तरं

परमाणु-स्कन्धों का अन्तरकाल-पद

१७५. भन्ते ! परमाणु-पुद्गल में (पुनः परमाणु-रूप में परिणत होने में) कालकृत अन्तर कितना होता है?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय काल।

१७६. भन्ते ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध में कालकृत अन्तर कितना होता है?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः अनन्त काल। इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध में कालकृत अन्तर वक्तव्य है।

१७७. भन्ते ! आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ सप्रकम्प पुद्गल में कालकृत अन्तर कितना होता है?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्येय काल। इसी प्रकार यावत् असंख्येयप्रदेशावगाढ सप्रकम्प पुद्गल में कालकृत अन्तर वक्तव्य है।

१७८. भन्ते ! आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ अप्रकम्प पुद्गल में कालकृत अन्तर कितना होता है?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवां भाग। इसी प्रकार यावत् असंख्येय-प्रदेशावगाढ अप्रकम्प पुद्गल में कालकृत अन्तर वक्तव्य है।

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श सूक्ष्म परिणति में परिणत तथा बादर परिणति में परिणत—इन पुद्गलों का जो अवस्थान-काल है, वही कालकृत अन्तर है।

१७९. भन्ते ! शब्द-परिणति में परिणत पुद्गल में

१. व. खं. धवला, पु. १४, खं. ५, भा. ६, सू. ५३९, पृ. ४५० तथा सू. ५४० पृ. ४५१।

२. भ. २५/१८९, २००।

कालओ केवच्चिरं होइ?

गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालां॥

कालतः कियच्चिरं भवति?

गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण असंख्येयं कालम्।

कालकृत अन्तर कितना होता है?

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः असंख्य काला

१८०. असदपरिणयस्स ण भन्ते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केवच्चिरं होइ?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

अशब्दपरिणतस्य भदन्त ! पुद्गलस्य अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकाया असंख्येयभागम्।

१८०. भन्ते ! अशब्द-परिणति में परिणत पुद्गल में कालकृत अन्तर कितना होता है?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवां भाग।

भाष्य

१. सूत्र १७५-१८०

पूर्व आलापक में परमाणु और स्कन्ध के अवस्थान-काल-विषयक नियमों का प्रतिपादन किया गया है। प्रस्तुत आलापक में उनके अन्तरकाल-विषयक नियमों का प्रतिपादन है। अन्तरकाल का अर्थ है वर्तमान परिणति और भविष्य में उसी रूप में होने वाली परिणति का मध्यवर्ती काल। मध्यवर्ती परिणति पूर्व परिणति से भिन्न प्रकार की होती है, जैसे—एक परमाणु, परमाणु-अवस्था को छोड़कर स्कन्ध-रूप में परिणत होता है, पुनः वह परमाणु-रूप में परिणत होगा, उसका मध्यवर्ती काल स्कन्ध-रूप में परिणत होने का काल है। एक द्विप्रदेशी स्कन्ध त्रिप्रदेशी आदि स्कन्ध तथा परमाणु के रूप में परिणत होकर पुनः द्विप्रदेशी स्कन्ध के रूप में परिणत होता है। उसका मध्यवर्ती

काल द्विप्रदेशी स्कन्ध का अन्तरकाल है। स्कन्ध द्विप्रदेशी से लेकर अनन्तप्रदेशी तक होते हैं—(अर्थात् स्कन्धों की संख्या अनन्त है।) प्रत्येक स्कन्ध की उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है। इसलिए द्विप्रदेशी स्कन्ध का अन्तर-काल अनन्त काल है।

अप्रकम्प पुद्गल का जो अवस्थान-काल है, वह सप्रकम्प पुद्गल का अन्तर-काल है। तथा सप्रकम्प पुद्गल का जो अवस्थान-काल है, वह अप्रकम्प पुद्गल का अन्तर-काल है। एक गुण काला वर्ण, गन्ध आदि का जो अवस्थान-काल है, वही उनका अन्तर-काल है। देखें यन्त्र—

	नाम	अवस्थान-काल		अन्तर-काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
१.	परमाणु-पुद्गल	एक समय	असंख्य काल	एक समय	असंख्य काल
२.	द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध	एक समय	असंख्य काल	एक समय	असंख्य काल
३.	एकप्रदेशावगाढ पुद्गल सैज यावत् असंख्यप्रदेशावगाढ	एक समय	आवलिका का असंख्यातवां भाग	एक समय	अनन्त काल
४.	एकप्रदेशावगाढ यावत् असंख्य-प्रदेशावगाढ पुद्गल निरेज	एक समय	असंख्य काल	एक समय	आवलिका का असंख्यातवां भाग
५.	एक गुणकाला पुद्गल यावत् अनन्त गुण काला पुद्गल	एक समय	असंख्य काल	एक समय	असंख्य काल
६.	इसी प्रकार सभी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, सूक्ष्म परिणत बादर परिणत	एक समय	असंख्य काल	एक समय	असंख्य काल
७.	शब्द-परिणत पुद्गल	एक समय	आवलिका का असंख्यातवां भाग	एक समय	असंख्य काल
८.	अशब्द-परिणत पुद्गल	एक समय	असंख्य काल	एक समय	आवलिका का असंख्यातवां भाग

१. भ. वृ. ५/१७६—स च तेषामनन्तत्वात् प्रत्येकं चोत्कर्षतोऽसंख्येयस्थितिकत्वादनन्तः।

परमाणु-खंधाणं परोप्परं अप्पाबहुयत्त-पदं

परमाणु-स्कन्धानां परस्परम् अल्प-
बहुत्व-पदम्

परमाणु-स्कन्धों का परस्पर अल्पबहुत्व-पद

१८१. एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स,
खेत्तट्ठाणाउयस्स, ओगाहणट्ठाणाउयस्स,
भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा? बहुया वा? तुल्ला वा? विसेसाहिया
वा?

एतस्य भदन्त ! द्रव्यस्थानायुष्कस्य क्षेत्र-
स्थानायुष्कस्य, अवगाहनस्थानायुष्कस्य,
भावस्थानायुष्कस्य कतरे कतरेभ्यः अल्पाः
वा? बहुकाः वा? तुल्याः वा? विशेषाधिका
वा?

१८१. 'भन्ते ! इस द्रव्यस्थान आयु, क्षेत्रस्थान आयु,
अवगाहनस्थान आयु और भावस्थान आयु में कौन
किनसे अल्प, बहु, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए, ओगा-
हणट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए
असंखेज्जगुणे, भावट्ठाणाउए असंखेज्ज-
गुणे ।

गौतम ! सर्वस्तोकः क्षेत्रस्थानायुष्कः, अव-
गाहनस्थानायुष्कः असंख्येयगुणः, द्रव्य-
स्थानायुष्कः असंख्येयगुणः, भावस्थाना-
युष्कः असंख्येयगुणः।

गौतम ! क्षेत्रस्थान आयु सबसे थोड़ा है, अवगाहना-
स्थान आयु उससे असंख्येयगुना, द्रव्यस्थान आयु
उससे असंख्येयगुना और भावस्थान आयु उससे
असंख्येयगुना अधिक होता है ।

संग्रहणी गाथा

खेत्तोगाहणदव्वे,
भावट्ठाणाउयं च अप्प-बहुं।
खेत्ते सव्वत्थोवे,
सेसा ठाणा असंखेज्जगुणा ॥१॥

संग्रहणी गाथा

क्षेत्रावगाहनद्रव्ये,
भावस्थानायुष्कं च अल्प-बहु।
क्षेत्रसर्वस्तोकं,
शेषाणि स्थानानि असंख्येयगुणानि ।

संग्रहणी गाथा

क्षेत्र, अवगाहना, द्रव्य और भावस्थान आयु का
अल्पबहुत्व विमर्शनीय है। क्षेत्र का आयु सबसे थोड़ा
है, शेष तीनों का आयु क्रमशः असंख्येयगुना है ।

भाष्य

१. सूत्र १८१

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, अवगाहन और भाव—इन चार नयों
से पुद्गल के आयुमान अथवा अवस्थिति-मान की अल्पता और बहुता का
तुलनात्मक प्रतिपादन किया गया है।

१. क्षेत्र-स्थानायु-क्षेत्र (आकाश) अमूर्त होता है, इसलिए उसके
साथ मूर्त (पुद्गल) द्रव्य का विशिष्ट बन्ध नहीं होता, फलस्वरूप एक क्षेत्र
में पुद्गल चिरकाल तक नहीं रहता, अतः क्षेत्र-स्थानायु सबसे अल्प होता
है।

२. अवगाहना विवक्षित क्षेत्र से अन्यत्र भी होती है। इसलिए
अवगाहना-स्थानायु क्षेत्र-स्थानायु से असंख्येय गुना अधिक होता है।

३. पुद्गल-द्रव्य में संकोच और विकोच दोनों होते हैं—कभी

वह संकुचित हो जाता है और कभी फैल जाता है। संकोच और विकोच के
साथ अवगाहना बदल जाती है। किन्तु द्रव्यमान चिरकाल तक नहीं बदलता।
विवक्षित स्कन्ध में जितनी द्रव्यराशि थी, उतनी चिरकाल तक रह जाती है।
इस अपेक्षा से द्रव्यस्थानायु अवगाहनास्थानायु से असंख्येय गुना अधिक
होता है।

४. संघात और भेद के कारण स्कन्ध की द्रव्यराशि में अन्तर आ
जाता है। उसके उपरान्त भी भाव, वर्ण आदि पर्यायों में अन्तर आना निश्चित
नहीं है। इसलिए भावस्थानायु द्रव्यस्थानायु से असंख्येयगुना अधिक है।

अभयदेवसूरि ने अल्पबहुत्व की व्याख्या के लिए १५ गाथाएं उद्धृत
की हैं। उनमें अल्पबहुत्व की न्यायशास्त्रीय मीमांसा उपलब्ध है।

जीवाणं सारंभ-सपरिग्रह-पदं

जीवानां सारंभ-सपरिग्रह-पदम्

जीवों का सारम्भ-सपरिग्रह-पद

१८२. नेरइया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्रहा?
उदाहु अणारंभा अपरिग्रहा?

नैरयिकाः भदन्त ! किं सारंभाः सपरिग्रहाः?
उताहो अनारंभाः अपरिग्रहाः?

१८२. 'भन्ते ! नैरयिक जीव क्या आरम्भ और परिग्रह
से युक्त होते हैं? अथवा आरम्भ और परिग्रह से मुक्त
होते हैं?

१. भ.वृ. ५/१८१—ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः? उच्यते, क्षेत्रमवगाहमेव, अवगाहना
तु विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुद्गलानां तत्परिमाणवगाहित्वमिति ।

गोयमा ! नेरइया सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा।

गौतम ! नैरयिका: सारम्भा: सपरिग्रहा:, नो अनारम्भा: अपरिग्रहा:।

गौतम ! नैरयिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते।

१८३. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ—नेरइया सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा?

गोयमा ! नेरइया णं पुढविकायं समारंभंति, आउकायं समारंभंति, तेउकायं समारंभंति, वाउकायं समारंभंति, वणस्सइकायं समारंभंति, तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, सच्चित्त-चित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—नेरइया सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिका: सारम्भा: सपरिग्रहा:, नो अनारम्भा: अपरिग्रहा:।

गौतम ! नैरयिका: पृथिवीकायं समारभन्ते, अप्कायं समारभन्ते, तेजस्कायं समारभन्ते, वायुकायं समारभन्ते, वनस्पतिकायं समारभन्ते, त्रसकायं समारभन्ते, शरीराणि परिगृहीतानि भवन्ति, कर्माणि परिगृहीतानि भवन्ति, सच्चित्तचित्त-मिश्रकाणि द्रव्याणि परिगृहीतानि भवन्ति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—नैरयिका: सारम्भा: सपरिग्रहा:, नो अनारम्भा: अपरिग्रहा:।

१८३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते?

गौतम ! नैरयिक जीव पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं, अप्काय का समारम्भ करते हैं, तेजस्काय का समारम्भ करते हैं, वायुकाय का समारम्भ करते हैं, वनस्पतिकाय का समारम्भ करते हैं और त्रसकाय का समारम्भ करते हैं। नैरयिक जीवों के शरीर का परिग्रह होता है, कर्म का परिग्रह होता है तथा सच्चित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—नैरयिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते।

१८४. असुरकुमारा णं भंते ! किं सारंभा? पुच्छा।

गोयमा ! असुरकुमारा सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा ॥

असुरकुमारा: भदन्त ! किं सारम्भा: ? पृच्छा:।

गौतम ! असुरकुमारा: सारम्भा: सपरिग्रहा:, नो अनारम्भा: अपरिग्रहा:।

१८४. भन्ते ! असुरकुमार देव क्या आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं? पृच्छा।

गौतम ! असुरकुमार देव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते।

१८५. से केणट्टेणं? गोयमा ! असुरकुमारा णं पुढविकायं समारंभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, भवणा परिग्गहिया भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणियाओ परिग्गहिया भवंति, आसण-सयण-भंड-मत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सच्चित्त-चित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—असुरकुमारा सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा ॥

तत् केनार्थेन? गौतम ! असुरकुमारा: पृथिवीकायं समारभन्ते यावत् त्रसकायं समारभन्ते, शरीराणि परिगृहीतानि भवन्ति, कर्माणि परिगृहीतानि भवन्ति, भवनानि परिगृहीतानि भवन्ति, देवा: देव्य: मनुष्या: मानुष्य: तिर्यग्योनिका: तिर्यग्योनिन्य: परिगृहीता: भवन्ति, आसन-शयन-भाण्डामत्रोपकरणानि परिगृहीतानि भवन्ति, सच्चित्तचित्तमिश्रकाणि द्रव्याणि परिगृहीतानि भवन्ति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—असुरकुमारा: सारम्भा: सपरिग्रहा:, नो अनारम्भा: अपरिग्रहा:।

१८५. यह किस अपेक्षा से? गौतम ! असुरकुमार देव पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं यावत् त्रसकाय का समारम्भ करते हैं। असुरकुमार देवों के शरीर का परिग्रह होता है, कर्म का परिग्रह होता है, भवनों का परिग्रह होता है, देवों, देवियों, मनुष्यों, मानुषियों, नरतिर्यञ्चों और स्त्री-तिर्यञ्चों का परिग्रह होता है, आसन, शयन, भाण्ड, पात्र तथा अन्य उपकरणों का परिग्रह होता है, सच्चित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—असुरकुमार देव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते।

१८६. एवं जाव थणियकुमारा। एग्गिदिया जहा नेरइया।

एवं यावत् स्तनितकुमारा:। एकेन्द्रिया: यथा नैरयिका:।

१८६. इसी प्रकार स्तनिक कुमार देवों तक आरम्भ और परिग्रह की वक्तव्यता। एकेन्द्रिय जीव नैरयिक जीवों की भांति ज्ञातव्य हैं।

१८७. बेइंदिया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा?

द्वीन्द्रिया: भदन्त ! किं सारम्भा: सपरिग्रहा: ? उताहो अनारम्भा: अपरिग्रहा: ?

१८७. भन्ते ! द्वीन्द्रिय जीव क्या आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं? अथवा आरम्भ और परिग्रह से मुक्त

तं चेव बेइंदिया णं पुढविकायं समारंभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, बाहिरा भंड-मत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सच्चित्त-मीसयाइं दब्बाइं परिग्गहियाइं भवंति ॥

१८८. एवं जाव चउरिंदिया ॥

१८९. पंचिदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा?
तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति, टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति, जल-थल-बिल-गुह-लेणा परिग्गहिया भवंति, उज्झर-निज्झर-चिल्लल-पल्लल-वप्पिणा परिग्गहिया भवंति, अगड-तडाग-दह-नईओ वावी-पुक्खरिणी-दीहिया गुजालिया सरा सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति, आरामुज्जाण-काणणा वणा वणसंडा वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति, देवउल-सभ-पव-थूभ-खाइय-परिखाओ परिग्गहियाओ भवंति, पागार-अट्टालग-चरिय-दार-गोपुरा परिग्गहिया भवंति, पासाद-धर-सरण-लेण-आवणा परिग्गहिया भवंति, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चचचर-चउम्मुह-महापह-पहा परिग्गहिया भवंति, सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ परिग्गहियाओ भवंति, लोही-लोहकडाह-कडुच्छया परिग्गहिया भवंति, भवणा परिग्गहिया भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणियाओ परिग्गहिया भवंति, आसण-सयण-खंभ-भंड-सच्चित्त-मीसयाइं दब्बाइं परिग्गहियाइं भवंति। से तेणट्ठेणं ॥

१९०. जहा तिरिक्खजोणिया तथा मणुस्सा वि भाणियव्वा। वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया

तच्चैव द्वीन्द्रियाः पृथिवीकायं समारभन्ते यावत् त्रसकायं समारभन्ते, शरीराणि परिगृहीतानि भवन्ति, कर्माणि परिगृहीतानि भवन्ति, बाह्यानि भाण्डामत्रोपकरणानि परिगृहीतानि भवन्ति, सच्चित्ताचित्त-मिश्रकाणि द्रव्याणि परिगृहीतानि भवन्ति।

एवं यावत् चतुरिन्द्रियाः।

पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः भदन्त ! किं सारम्भाः सपरिग्रहाः? उताहो अनारम्भाः अपरिग्रहाः?
तच्चैव यावत् कर्माणि परिगृहीतानि भवन्ति, टंकाः कूटाः शैला शिखरिणः प्राग्भाराः परिग्रहीताः भवन्ति, जल-स्थल-बिल-गुहा-लयनानि परिगृहीतानि भवन्ति, उज्झर-निर्झर-‘चिल्लल’-पल्लल-‘वप्पिणा’ परिगृहीतानि भवन्ति, अगड-तडाग-द्रह-नद्यः वापी-पुष्करिणी-दीर्घिकाः गुज्जालिकाः सरासि सरःपंतिकाः सरस्सरः-पंतिकाः बिलपंतिकाः परिगृहीताः भवन्ति, आरामोद्यान-काननानि वनानि वनषण्डानि वनराजयः परिगृहीताः भवन्ति, देवकुल-सभा-प्रपा-स्तूभ-खातिका-परिखाः परिगृहीताः भवन्ति, प्राकाराट्टालक-चरिका-द्वार-गोपुराणि परिगृहीतानि भवन्ति, प्रासाद-गृह-शरण-लयनापणाः परिगृहीताः भवन्ति, शृंगाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख-महापथ-पथाः परिगृहीताः भवन्ति, शकट-रथ-यान-युग्य-‘गिल्लि’-थिल्लि-शिबिका-स्यन्दमानिकाः परिगृहीताः भवन्ति, लौही-लोहकटाह-‘कडुच्छया’ परिगृहीताः भवन्ति, भवनानि परिगृहीतानि भवन्ति, देवाः देव्यः मनुष्याः मानुष्यः तिर्यग्योनिकाः तिर्यग्योनियः परिगृहीताः भवन्ति, आसन-शयन-स्तम्भ-भाण्ड-सच्चित्ताचित्त-मिश्रकाणि द्रव्याणि परिगृहीतानि भवन्ति। तत् तेनार्थेन।

यथा तिर्यग्योनिकाः तथा मनुष्याः अपि भणितव्याः। वानमन्तर-ज्योतिष्क-वैमानि-

होते हैं? नैरयिक जीवों की भांति द्वीन्द्रिय पृथ्वी काय का समारम्भ करते हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के शरीर का परिग्रह होता है, कर्म का परिग्रह होता है, बाह्य भाण्ड, पात्र तथा अन्य उपकरणों का परिग्रह होता है, सच्चित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है।

१८८. इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों तक आरम्भ और परिग्रह की वक्तव्यता।

१८९. भन्ते ! पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्योनिक जीव क्या आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं अथवा आरम्भ और परिग्रह से मुक्त होते हैं?

नैरयिक जीवों की भांति तिर्यक्योनिक जीवों के यावत् कर्म का परिग्रह होता है (यह वक्तव्य है, इतना विशेष है) — टंक, कूट, शैल, शिखरी और प्राग्भार (झूके हुए पर्वत प्रदेश) का परिग्रह होता है। जल, स्थल, बिल, गुफा और लयन (पर्वत में उकेरा हुआ गृह) का परिग्रह होता है। उज्झर, निर्झर, तलैया, जल का छोटा षढा, जल-प्रणाली का परिग्रह होता है। कुआ, तालाब, द्रह, नदी, बावड़ी, पुष्करिणी, नहर, वक्राकार नहर, सर, सरपंक्ति, सरसरपंक्ति और बिलपंक्ति का परिग्रह होता है। आराम, उद्यान, कानन, वन, वनषण्ड और वनराजि का परिग्रह होता है। देवल, सभा, प्रपा, स्तूप, खाई और परिखा का परिग्रह होता है। प्राकार, अट्टालक, चरिका, द्वार और गोपुर का परिग्रह होता है। प्रासाद, घर, शरण, लयन और आपण का परिग्रह होता है। दुराहे, तिराहे, चौराहे, चौक, चौहट्टे, महापथ और पथ का परिग्रह होता है। शकट, रथ, यान, युग्य, डोली, बग्घी, शिबिका और स्यन्दमानिका का परिग्रह होता है। तवा, लोहकटाह, करछी का परिग्रह होता है। भवन का परिग्रह होता है। देवों, देवियों, मनुष्यों, मानुषियों, नर-तिर्यञ्चों और स्त्री-तिर्यञ्चों का परिग्रह होता है। आसन, शयन, स्तम्भ, भांड, सच्चित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों का परिग्रह होता है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है — पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, आरम्भ और परिग्रह से मुक्त नहीं होते।

१९०. जिस प्रकार तिर्यग्योनिक जीवों की वक्तव्यता है, उसी प्रकार मनुष्यों के आरम्भ और परिग्रह

जहा भवणवासी तहा नेयव्वा ।

का: यथा भवनवासिनः तथा नेतव्याः।

वक्तव्य हैं। वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों की वक्तव्यता भवनवासी देवों की भांति ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १८२-१९०

आरम्भ और परिग्रह—ये दोनों जीव की मौलिक प्रवृत्तियां हैं। ये नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—सभी जीवों में उपलब्ध होती हैं। जीवों के छह निकाय हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। नैरयिक षड्जीवनिकाय के जीवों की हिंसा करता है, इसलिए वह सारम्भ (स + आरम्भ, हिंसा सहित) होता है। ठाणं में परिग्रह के तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—शरीर, कर्म और उपधि (पौद्गलिक द्रव्य पदार्थ)।

प्रस्तुत आलापक में परिग्रह के तीनों प्रकार निर्दिष्ट हैं—“सरीरा परिगहिया भवन्ति, कम्मा परिगहिया भवन्ति, सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिगहियाइं भवन्ति ।” नैरयिक के पास तीनों प्रकार का परिग्रह होता है, इसलिए वह सपरिग्रह है। ठाणं में नैरयिक और एकेन्द्रिय के पास तीसरे प्रकार के परिग्रह पदार्थ का निषेध किया गया है।

प्रस्तुत आलापक में परिग्रह का तीसरा प्रकार दो भागों में विभक्त है—१. भवन, आसन, शयन, पात्र आदि। २. आहार के लिए उपयुक्त सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य। नैरयिक सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य रूप परिग्रह का उपयोग करता है, किन्तु उसके पास भवन, स्त्री, आसन, शयन आदि का परिग्रह नहीं होता।

देव के प्रसंग में भवन, आसन, शयन आदि तथा सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्य इन दोनों विधाओं का उल्लेख है।

द्रष्टव्य सूत्र, १८४, १८५। एकेन्द्रिय की वक्तव्यता नैरयिक के समान है—द्रष्टव्य सूत्र १८६। सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य-रूप परिग्रह नैरयिक और एकेन्द्रिय में होता है—यह ठाणं में भी स्वीकृत है। इसलिए प्रस्तुत आलापक और ठाणं की वक्तव्यता में कोई विरोध नहीं है। द्वीन्द्रिय जीव बाह्य पदार्थों का संग्रह करते हैं। वे अपने लिए घर—मिट्टी के घरोन्दे भी बना लेते हैं। इसलिए उनकी वक्तव्यता एकेन्द्रिय से भिन्न है।

शब्द-विमर्श

भाण्ड—मिट्टी का पात्र।

उपकरण—तवा, कड़ली आदि।

टंक—पहाड़ी की ढाल, दरार।

कूट—पर्वत की चोटी।

शैल—शिखर-रहित पर्वत।

शिखरी—चोटी वाला पर्वत।

प्राग्भार—कुछ झुका हुआ पर्वत प्रदेश।

लयन—पर्वत में उत्कीर्ण गृह।

उज्झर—पर्वतीय तट से जल का नीचे गिरना।

निर्झर—झरना।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में निर्झर के निज्झर और ओज्झर दोनों रूप सिद्ध किए हैं।

चिल्लल—कर्मयुक्त तालाव।

पल्वल—छोटा तालाव।

वप्पिण—क्यारी-युक्त खेत।

अगड—कुआ।

पुष्करिणी—वर्तुलाकार बावड़ी, कमल-युक्त जलाशय।

सारिणी—सोता, जल-प्रणाली।

गुंजालिका—वक्र जल-प्रणाली।

सर—वह तालाव जिसके जल का सोता भीतर होता है।

सरपंक्ति—पंक्तिबद्ध नैसर्गिक जलाशय।

सरसरपंक्ति—तालावों की वह श्रेणी जिसमें एक तालाव का पानी संचरण द्वार से दूसरे तालाव में जाता है।

बिल पंक्ति—गहरे और लंबे गड्ढे की श्रेणी।

आराम—उपवन, बगीचा।

उद्यान—पहाड़ी भूमि पर होने वाला बगीचा।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ ‘फूलों से लदे हुए वृक्षों से संकुल बगीचे’ किया है, जो उत्सव के अवसर पर बहुत जनों के उपयोग में आते हैं।

कानन—नगर के निकट होने वाला उपवन।

वन—नगर के दूरवर्ती वृक्ष-संकुल प्रदेश।

वनषण्ड—एक जाति के वृक्ष वाला वन।

वनराजि—वृक्ष-पंक्ति।

देवकुल—देवल, देव-मंदिर।

सभा—ग्राम-पंचायत का स्थल, न्यायालय।

प्रपा—प्याऊ।

स्तूप—ईंट आदि से बना हुआ विशेष प्रकार का स्तम्भ।

१. ठाणं, ३/९५—विविधे परिगहे पण्णत्ते, तंजहा—कम्मपरिगहे, सरीरपरिगहे, बाहिर-भंडमत्तपरिगहे। एवं—असुरकुमारणं। एवं एगिंदियणेरइयवज्जं जाव वेमाणियाणं।

२. वही, ३/९५—अहवा—तिविधे परिगहे पण्णत्ते, तं जहा—सचित्ते, अचित्ते, मीसए एवं णेरइयाण निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

३. भ.वृ. ५/१८७—तत्कृतगृहकादीन्यबसेयानि।

४. प्राकृत व्याकरण १/९८—वा निर्झरे ना।

५. भ.वृ. ५/२३८—‘सर’ ति सरांसि—स्वयंसंभूत जलाशय-विशेषाः।

६. भ.वृ. ५/१८९—‘सरपंतियाओ’ ति सरःपंक्तयः ‘सरसरपंतियाओ’ ति यासु सरःपंक्तिसु एकस्मात्सरसोऽन्यस्मिन्नन्यस्मादन्यत्र एवं सञ्चारकपाटकेनोदकं संचरतिताः सरःसरःपंक्तयः।

७. वही, ५/१८९—‘उद्यानानि’ पुष्पादिमद वृक्षसंकुलानि उत्सवादौ बहुजनभोग्यानि।

८. वही, ५/१८९—काननानि सामान्यवृक्षसंयुक्तानि नगरासत्रानि।

९. वही, ५/१८९—वनानि नगरविप्रकृष्टानि।

१०. वही, ५/१८९—वनषण्डाः एक जातीयवृक्षसमूहात्मकाः।

११. वही, ५/१८९—वनराजयो वृक्षपंक्तयः।

खातिका—वह खाई जो ऊपर से चौड़ी और नीचे से संकड़ी होती है।
 परिखा—वह खाई जो ऊपर और नीचे समान रूप से खोदी गई है।
 नगर या दुर्ग को दुर्गम बनाने के लिए उसके चारों ओर खोदी जाने वाली खाई।
 प्राकार—परकोटा, नगर या कीले के चारों ओर रक्षा के लिए बनाई जाने वाली दीवार।
 अड्डालक—कीले का बुर्ज, प्राकार पर बनाया जाने वाला आश्रय-स्थान।
 चरिका—गृह और प्राकार का मध्यवर्ती भाग।
 गोपुर—नगर का मुख्य द्वार।

प्रासाद—देव अथवा राजा का भवन अथवा बहुमंजिला भवन।
 सरण—घास की झोंपड़ी।
 आपण—दुकान।
 शृंगाटक आदि शब्दों के लिए द्रष्टव्य भ. २/३० का भाष्या
 युग्य आदि शब्दों के लिए द्रष्टव्य भ. ३/१६४ का भाष्या
 लौही—तवा
 लोहकडाह—लौह की कड़ाई।
 कडुच्छुय—करछी।

हेउ-पदं

हेतु-पदम्

हेतु-पद

१९१. पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं जाणइ, हेउं पासइ, हेउं बुज्झइ, हेउं अभिसमा-गच्छइ, हेउं छउमत्थमरणं मरइ।।

पंच हेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—हेतुं जानाति, हेतुं पश्यति, हेतुं बुध्यते, हेतुम् अभिसमागच्छति, हेतुं छद्मस्थमरणं प्रियते।

१९१. हेतु के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—हेतु को जानता है, हेतु को देखता है, हेतु पर सम्यक् श्रद्धा करता है, हेतु को प्राप्त करता है और सहेतुक छद्मस्थमरण से मरता है।

१९२. पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा जाणइ जाव हेउणा छउमत्थमरणं मरइ।।

पंच हेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—हेतुना जानाति, यावत् हेतुना छद्मस्थमरणं प्रियते।

१९२. हेतु के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—हेतु से जानता है यावत् सहेतुक छद्मस्थमरण से मरता है।

१९३. पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउं ण जाणइ जाव हेउं अण्णाणमरणं मरइ ।।

पंच हेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—हेतुं न जानाति यावत् हेतुम् अज्ञानमरणम् प्रियते।

१९३. हेतु के पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—हेतु को नहीं जानता यावत् सहेतुक अज्ञानमरण से मरता है।

१९४. पंच हेऊ पण्णत्ता, तं जहा—हेउणा ण जाणइ जाव हेउणा अण्णाणमरणं मरइ ।।

पंच हेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—हेतुना न जानाति यावत् हेतुना अज्ञानमरणं प्रियते।

१९४. पांच प्रकार के हेतु (हेतु-पुरुष) प्रज्ञप्त हैं, जैसे—हेतु से नहीं जानता है, यावत् हेतु से अज्ञानमरण से मरता है।

१९५. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं जाणइ जाव अहेउं केवलिमरणं मरइ ।।

पंच अहेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अहेतुं जानाति यावद् अहेतुं केवलिमरणं प्रियते।

१९५. पांच प्रकार के अहेतुक प्रज्ञप्त हैं, जैसे—निर्हेतुक पदार्थ को जानता है और निर्हेतुक केवलिमरण से मरता है।

१९६. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा जाणइ जाव अहेउणा केवलिमरणं मरइ ।।

पंच अहेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अहेतुना जानाति यावद् अहेतुना केवलिमरणं प्रियते।

१९६. पांच प्रकार के अहेतु प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अहेतु से जानता है यावत् निर्हेतुक केवलिमरण से मरता है।

१९७. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउं न जाणइ जाव अहेउं छउमत्थमरणं मरइ ।।

पंच अहेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अहेतुं न जानाति यावद् अहेतुं छद्मस्थमरणं प्रियते।

१९७. पांच प्रकार के अहेतु प्रज्ञप्त हैं, जैसे—अहेतु को नहीं जानता यावत् निर्हेतुक छद्मस्थमरण से मरता है।

१. भ.वृ. ५/१८९—'खातिका' उपरिविस्तीर्णाधिः संकटखातरूपाः।

२. वही, ५/१८९—परिखा अध उपरिच समखातरूपाः।

३. वही, ५/१८९—'अड्डालका' ति प्राकारोपर्याश्रयविशेषाः।

४. वही, ५/१८९—चरिका गृहप्राकारान्तरो हस्त्यादिप्रचारमार्गः।

५. वही, ५/१८९—प्रासादा देवानां राज्ञां च भवनानि, अथवा उत्सेधबहुलाः—प्रासादाः।

६. वही, ५/१८९—शरणानि तृणमयावसरिकादीनि।

७. वही, ५/१८९—लौहि—मण्डकादिपचनिका।

८. वही, ५/१८९—लोहकडाहिति कवेल्ली।

९. वही, ५/१८९—कडुच्छुयति परिवेषणाद्यर्थो भाजनविशेषः।

१९८. पंच अहेतु पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा
न जाणइ जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ।

पंच अहेतवः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—अहेतुना
न जानाति यावद् अहेतुना छद्मस्थमरणं
प्रियते।

१९८. पांच प्रकार के अहेतु प्रज्ञप्त हैं, जैसे — अहेतु
से नहीं जानता है यावत् निर्हेतुक छद्मस्थमरण से
मरता है।

भाष्य

१. सूत्र १९१-१९८

प्रस्तुत आलापक में चार सूत्र हेतु और चार सूत्र अहेतु से सम्बन्ध
है। हेतु का अर्थ है साध्य की सिद्धि का निश्चित साधन, कारण अथवा गमका
यह अनुमान का एक अंग है। वैशेषिक दर्शन में हेतु के पर्यायवाची नाम ये हैं
—हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण और करण। प्रस्तुत प्रकरण में हेतु शब्द का
प्रयोग हेतु का प्रयोग करने वाले, हेतुगम्य पदार्थ और हेतु—इन तीनों अर्थ
में किया गया है। हेतु को जानने वाला पुरुष उसका ज्ञान करते समय उससे
अभिन्न हो जाता है। इसलिए वह हेतु कहलाता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने ज्ञान के आधार पर ज्ञेय की दो कोटियां बत-
लाई हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। परोक्ष पदार्थ को जानने के लिए हेतु का
प्रयोग किया जाता है, इसलिए वह हेतुगम्य कहलाता है। प्रत्यक्ष पदार्थ अथवा
आप्त पुरुष के वचन के आधार पर ज्ञात पदार्थ अहेतुगम्य कहलाता है।

‘हेतुं जाणइ, हेउणा जाणइ’—ये दो सूत्र सम्यक् दृष्टि की अपेक्षा
से हैं—

१. सम्यग्दृष्टि पुरुष कार्य के साथ-साथ उसके हेतु को भी जानता-
देखता है।

२. वह हेतुगम्य पदार्थ को हेतु के द्वारा जानता-देखता है।

३. मिथ्यादृष्टि पुरुष कार्य को जानता है, देखता है उसके हेतु को
नहीं जानता-देखता।

४. वह हेतुगम्य पदार्थ को हेतु के द्वारा नहीं जानता-देखता।

५. केवली अहेतु—अहेतुगम्य पदार्थ को जानता-देखता है
अथवा अहेतुक—स्वाभाविक परिणमनों को जानता-देखता है।

६. वह अहेतु—केवलज्ञान के द्वारा जानता-देखता है।

७. छद्मस्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान का स्वामी अहेतुगम्य पदार्थ
को नहीं जानता-देखता।

८. वह अहेतु—केवलज्ञान के द्वारा नहीं जानता-देखता।

मरण दो प्रकार का होता है—सहेतुक और अहेतुक। ठाणं में

मरण के अध्यवसान आदि सात हेतु निर्दिष्ट हैं।^१ यहां कार्य-कारण में
अभेदोपचार कर हेतु के कार्य को भी हेतु कहा गया है।

समवाओ में निर्दिष्ट मरण के १७ प्रकारों में छद्मस्थ मरण और
केवली मरण का उल्लेख है।^२ उनमें अज्ञानमरण का उल्लेख नहीं है। भगवती,^३
मूलाराधना^४ और उत्तराध्ययननिर्युक्ति^५ में प्राप्त मरण के वर्गीकरणों में भी
इसका उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण में अज्ञान मरण का अर्थ अध्यवसान—राग-द्वेष
की तीव्रता से होने वाला मरण होना चाहिए। इसीलिए अज्ञानमरण को
सहेतुक ही बतलाया गया है। छद्मस्थमरण सहेतुक और अहेतुक दोनों
प्रकार का हो सकता है। केवली में रागद्वेषात्मक अध्यवसान नहीं होता,
इसलिए उनका मरण अहेतुक ही होता है।

हेतु और अहेतु के पांच-पांच प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें चार
का सम्बन्ध ज्ञान से है और पांचवे हेतु का सम्बन्ध मरण से है। जानता है,
देखता है—इन दो क्रिया-पदों का अर्थ स्पष्ट है। बुध्यते, अभिसमागच्छति
— इन दो क्रियापदों के प्रतिपाद्य पर विमर्श आवश्यक है। बुध्यते इस
क्रियापद का अर्थ बोधि होता है। बोधि का सम्बन्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य
तीनों से है।^६

‘अभिसमागच्छति’ क्रियापद का सम्बन्ध प्राप्ति या संतुष्टि से
है। बोधि के पश्चात् छद्मस्थ मनुष्य हेतु को प्राप्त कर दान, उपादान और
माध्यस्थ फल को प्राप्त होता है। केवली अहेतु को अभिसमागत कर केवल
माध्यस्थ-फल को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत आलापक का तात्पर्यार्थ यह है—द्रव्य दो प्रकार के होते हैं
—मूर्त्त और अमूर्त्त। मूर्त्त द्रव्य हेतु के द्वारा जाना जा सकता है। अमूर्त्त द्रव्य
हेतु के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह अहेतु—केवलज्ञान के द्वारा जाना
जा सकता है। द्वितीयान्त ‘हेतु’ शब्द के द्वारा द्रव्य की द्विविधता की सूचना
मिलती है। तृतीयान्त ‘हेतु’ पद के द्वारा ज्ञान की द्विविधता की सूचना मिलती
है। द्रष्टव्य—ठाणं, ७/७५ से ८२, व उनका टिप्पण, पृ. ६२३, ६२४।

१९९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

१९९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. भ. वृ. ५/ १९१—हेतुं साध्याबिनाभूतं साध्यनिश्चयार्थम् ।

२. वैशेषिक सूत्र १/२/४—हेतुरपदेशो लिंगं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ।

३. भ. वृ. ५/१९१—इह हेतुषु वर्तमानः पुरुषो हेतुरेव—तदुपयोगान्यत्त्वात् ।

४. सम्मति. ३/४३—दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ भविआऽभविआदओ भावा ॥

५. ठाणं, ७/७२—सत्तविधे आउभेदे पण्णत्ते, तं जहा—

अज्झवसाण-णिमित्ते, अहारे वेयणापराघात्ते ।

फासे आणापाणू सत्तविधं भिज्जे आउं ॥

६. सम. १७/९ ।

७. भ. २/४९ ।

८. मूलाराधना, १/२५ विज्जोदया वृत्ति प. ८६ ।

९. उत्तर. नि. मा. २१२-२१४ ।

१०. ठाणं, ३/१७६ ।

अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

नियंतिपुत्त-नारयपुत्त-पदं

२००. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव परिसा पडिगया ॥

२०१. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नारयपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विहरति।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नियंतिपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विहरति। तए णं नियंतिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सव्वपोगला ते अज्जो ! किं सअड्ढा समज्झा सपएसा? उदाहु अणइहा अमज्झा अपएसा?

अज्जो ! त्ति नारयपुत्ते अणगारे नियंतिपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सव्वपोगला मे अज्जो ! सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणइहा अमज्झा अपएसा ।

२०२. तए णं से नियंतिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जइ णं ते अज्जो ! सव्वपोगला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणइहा अमज्झा अपएसा, किं—

निर्ग्रन्थीपुत्र-नारदपुत्र-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यावत् पर्षत् प्रतिगता ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी नारदपुत्रो नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः यावद् विहरति।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तेवासी निर्ग्रन्थीपुत्रो नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः यावद् विहरति। ततः स निर्ग्रन्थीपुत्रः अनगारः यत्रैव नारदपुत्रः अनगार तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य नारदपुत्रम् अनगारम् एवमादीत्—सर्वपुद्गलाः ते आर्य ! किं सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः? उताहो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः?

आर्य ! अयि नारदपुत्रः अनगारः निर्ग्रन्थीपुत्रम् अनगारम् एवमादीत्—सर्वपुद्गलाः मे आर्य ! सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः।

ततः निर्ग्रन्थीपुत्रः अनगारः नारदपुत्रम् अनगारम् एवमादीत्—यदि ते आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः, किं—

निर्ग्रन्थीपुत्र-नारदपुत्र-पद

२००. उस काल और समय राजगृह नाम का नगर था—नगर का वर्णन यावत् (पू. भ. १/४) परिषद् वापस नगर में चली गई ।

२०१.^१ उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर का अन्तेवासी नारदपुत्र नाम का अनगार था। वह प्रकृति से भद्र और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया व लोभ प्रतनु (पतले) थे, वह मृदु-मार्दव-सम्पन्न था, आलीन—संयतेन्द्रिय और विनीत था। वह श्रमण भगवान् महावीर के न अति दूर न अति निकट, 'ऊर्ध्वजानु अधःसिर' इस मुद्रा में और ध्यान कोष्ठ में लीन होकर संयम तथा तपस्या से अपने आपको भावित करता हुआ विहार कर रहा है।

उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर का अन्तेवासी निर्ग्रन्थीपुत्र नाम का अनगार था। वह प्रकृति भद्र यावत् विहार कर रहा है।

निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार जहां पर नारदपुत्र अनगार था, वहां पहुंचता है। वहां पहुंचकर उसने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—आर्य ! तुम्हारे मत में सब पुद्गल क्या स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश है, अथवा अनर्ध, अ-मध्य और अ-प्रदेश हैं?

अनगार नारदपुत्र ने अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र से इस प्रकार कहा—आर्य ! मेरे मत में सब पुद्गल स-अर्ध, स-मध्य और स-प्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है।

२०२. अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र ने अनगार नारदपुत्र से इस प्रकार कहा—आर्य ! यदि तुम्हारे मत में सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं, तो क्या—

दब्बादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा?

खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा?

कालादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा?

भावादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा?

तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी—दब्बादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा, खेत्तादेसेण वि, कालादेसेण वि, भावादेसेण वि ॥

द्रव्यादेशेन आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः?

क्षेत्रादेशेन आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः?

कालादेशेन आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः?

भावादेशेन आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः?

ततः स नारदपुत्रः अनगारः निर्ग्रन्थीपुत्रम् अनगारम् एवमवादीद्—द्रव्यादेशेनापि मे आर्य ! सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः स-प्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः। क्षेत्रादेशेनापि, कालादेशेनापि, भावादेशे-नापि।

आर्य ! द्रव्य की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं?

आर्य ! क्षेत्र की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं?

आर्य ! काल की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं?

आर्य ! भाव की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं?

अनगार नारदपुत्र ने अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र से इस प्रकार कहा—आर्य ! मेरे मत में द्रव्य की अपेक्षा भी सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं।

इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा भी सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश है, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं।

२०३. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जइ णं अज्जो ! दब्बादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा, एवं ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे समज्झे सप-एसे, नो अणड्ढे अमज्झे अपएसे।

जइ णं अज्जो ! खेत्तादेसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, एवं ते एग-पएसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपएसे।

जइ णं अज्जो ! कालादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, एवं ते एग-समयड्ढितीए वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपएसे।

जइ णं अज्जो ! भावादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, एवं ते एग-गुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपएसे।

ततः स निर्ग्रन्थीपुत्रः अनगारः नारदपुत्रम् अनगारम् एवमवादीद्—यदि आर्य ! द्रव्यादेशेन सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्रदेशाः, एवं ते परमाणुपुद्गलोऽपि सार्द्धाः समध्यः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्यः अप्रदेशाः।

यदि आर्य ! क्षेत्रादेशेनापि सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, एवं ते एक-प्रदेशावगाढोऽपि पुद्गलः सार्द्धाः समध्यः सप्रदेशाः।

यदि आर्य ! कालादेशेन सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, एवं ते एकसमयस्थिति-कोऽपि पुद्गलः सार्द्धाः समध्यः सप्रदेशाः।

यदि आर्य ! भावादेशेन सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः समध्याः सप्रदेशाः, एवं ते एकगुणकाल-कोऽपि पुद्गलः सार्द्धाः समध्यः सप्रदेशाः।

२०३. अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र ने अनगार नारदपुत्र से इस प्रकार कहा—आर्य ! यदि द्रव्य की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं—अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं, तो इस प्रकार तुम्हारे मत में परमाणु-पुद्गल भी स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश है, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है।

आर्य ! यदि क्षेत्र की अपेक्षा से भी सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं) तो इस प्रकार तुम्हारे मत में एक प्रदेशावगाढ पुद्गल भी स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश है, (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है)।

आर्य ! यदि काल की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं), तो इस प्रकार तुम्हारे मत में एक समय की स्थिति वाला पुद्गल भी स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश है, (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है)।

आर्य ! यदि भाव की अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं हैं) तो इस प्रकार तुम्हारे मत में एक कृष्ण गुण वाला पुद्गल भी स-अर्ध, समध्य और

अह ते एवं न भवति तो जं वयासी
'दव्वादेसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा
समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा
अपएसा, एवं खेत्ता-देसेण वि, कालादेसेण
वि, भावादेसेण वि' तं णं मिच्छा ॥

अथ ते एवं न भवति ततो यद् वदसि —
'द्रव्यादेशेनापि सर्वपुद्गलाः सार्द्धाः सम-
ध्याः सप्रदेशाः, नो अनर्द्धाः अमध्याः अप्र-
देशाः, एवं क्षेत्रदेशेनापि, कालादेशेनापि,
भावादेशेनापि' तन्मिथ्या ।

सप्रदेश है, (अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं है।)
यदि तुम्हारे मत में ऐसा नहीं होता है, तो तुम जो
कहते हो कि द्रव्य की अपेक्षा से भी सब पुद्गल स-
-अर्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अनर्ध, अमध्य और
अप्रदेश नहीं है, इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव की
अपेक्षा से सब पुद्गल स-अर्ध, समध्य और सप्रदेश
हैं, अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश नहीं, तो तुम्हारा
मत मिथ्या है।

२०४. तए णं से नारयपुत्ते अणगारे निर्यंठि पुत्तं
अणगारं एवं वयासी—नो खलु एवं देवा-
णुप्पिया ! एयमड्ढं जाणामो-पासामो। जइ णं
देवानुप्पिया नो गिलायंति परिकहित्तए, तं
इच्छामि णं देवानुप्पियाणं अंतिए एयमड्ढं
सोच्चा निसम्म जाणित्तए ॥

ततः स नारदपुत्रः अनगारः निर्ग्रन्थीपुत्रम्
अनगारम् एवमवादीद्—नो खलु एवं
देवानुप्रियाः! एवमर्थम् जानीमः-पश्यामः।
यदि देवानुप्रियाः न ग्लायन्ति परिकथयितुम्,
तद् इच्छामि देवानुप्रियाणाम् अन्तिके
एतमर्थम् श्रुत्वा निश्चयं ज्ञातुम् ।

२०४. अनगार नारदपुत्र ने अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र से इस
प्रकार कहा—देवानुप्रिय ! यदि आपको यह अर्थ
बताने में किसी प्रकार की ग्लानि न हो, तो मैं देवानुप्रिय
के पास इस अर्थ को सुनकर निश्चयपूर्वक जानना
चाहता हूँ।

२०५. तए णं से निर्यंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं
अणगारं एवं वयासी—दव्वादेसेण वि मे
अज्जो ! सव्वे पोग्गला सपएसा वि, अप्पएसा
वि—अणंता ।

ततः स निर्ग्रन्थीपुत्रः अनगारः नारदपुत्रम्
अनगारम् एवमवादीद्—द्रव्यादेशेनापि मे
आर्य ! सर्वे पुद्गलाः सप्रदेशाः अपि, अ-
प्रदेशाः अपि—अनन्ताः।

२०५. अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र ने अनगार नारदपुत्र से इस
प्रकार कहा—आर्य ! मेरे मत में द्रव्य की अपेक्षा से
भी सब पुद्गल सप्रदेश भी हैं और अप्रदेश भी हैं—
ऐसे पुद्गल अनन्त हैं।

खेत्तादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वे पोग्गला
सपएसा वि, अप्पएसा वि—अणंता ।

क्षेत्रदेशेनापि मे आर्य ! सर्वे पुद्गलाः
सप्रदेशाः अपि, अप्रदेशाः अपि—अन-
न्ताः।

आर्य ! मेरे मत में क्षेत्र की अपेक्षा से भी सब पुद्गल
सप्रदेश भी हैं और अप्रदेश भी हैं—ऐसे पुद्गल
अनन्त हैं।

कालादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वे पोग्गला
सपएसा वि, अप्पएसा वि—अणंता ।

कालादेशेनापि मे आर्य ! सर्वे पुद्गलाः
सप्रदेशाः अपि, अप्रदेशाः अपि—
अनन्ताः।

आर्य ! मेरे मत में काल की अपेक्षा से भी सब पुद्गल
सप्रदेश भी हैं और अप्रदेश भी हैं—ऐसे पुद्गल
अनन्त हैं।

भावादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वे पोग्गला
सपएसा वि, अप्पएसा वि—अणंता ।

भावादेशेनापि मे आर्य ! सर्वे पुद्गलाः
सप्रदेशाः अपि, अप्रदेशाः अपि—अन-
न्ताः।

आर्य ! मेरे मत में भाव की अपेक्षा से भी सब पुद्गल
सप्रदेश भी हैं और अप्रदेश भी हैं—ऐसे पुद्गल
अनन्त हैं।

जे दव्वओ अपएसे से खेत्तओ नियमा
अपएसे, कालओ सिय सपएसे, सिय अप-
एसे, भावओ सिय सपएसे, सिय अपएसे ।

यो द्रव्यतः अप्रदेशः स क्षेत्रतः नियमात्
अप्रदेशः, कालतः स्यात् सप्रदेशः, स्याद्
अप्रदेशः, भावतः स्यात् सप्रदेशः, स्याद्
अप्रदेशः।

जो पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से अप्रदेश है, वह क्षेत्र
की अपेक्षा से नियमतः अप्रदेश है। काल की अपेक्षा
से वह स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है। भाव की
अपेक्षा से वह स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।

जे खेत्तओ अपएसे से दव्वओ सिय सप-
एसे, सिय अपएसे, कालओ भयणाए,
भावओ भयणाए ।

यः क्षेत्रतः अप्रदेशः स द्रव्यतः स्यात्
सप्रदेशः, स्याद् अप्रदेशः, कालतः भजनया,
भावतः भजनया।

जो पुद्गल क्षेत्र की अपेक्षा से अप्रदेश है, वह द्रव्य
की अपेक्षा से स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।
काल की अपेक्षा से भजना है—वह स्यात् सप्रदेश
है, स्यात् अप्रदेश है। भाव की अपेक्षा से भजना है
—वह स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।

जहा खेत्तओ एवं कालओ, भावओ ।

यथा क्षेत्रतः एवं कालतः, भावतः।

जैसे क्षेत्र की दृष्टि से अप्रदेश की वक्तव्यता है, वैसे
ही काल और भाव की दृष्टि से भी अप्रदेश की
वक्तव्यता है।

जे दब्बओ सपएसे से खेत्तओ सिय सपएसे,
सिय अपएसे। एवं कालओ, भावओ वि ।

यः द्रव्यतः सप्रदेशः सक्षेत्रतः स्यात् स-प्रदेशः,
याद् अप्रदेशः। एवं कालतः, भावतः अपि ।

जे खेत्तओ सपएसे से दब्बओ नियमा स-
पएसे, कालओ भयणाए, भावओ भय-
णाए।

यः क्षेत्रतः सप्रदेशः स द्रव्यतः नियमात्
सप्रदेशः, कालतः भजनया, भावतः भजनया।

जहा दब्बओ तहा कालओ, भावओ वि ॥

यथा द्रव्यतः तथा कालतः, भावतः अपि।

जो पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से सप्रदेश है, वह क्षेत्र
की अपेक्षा से स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।
इसी प्रकार काल और भाव की अपेक्षा से भी वह
स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।

जो पुद्गल क्षेत्र की अपेक्षा से सप्रदेश है, वह द्रव्य
की अपेक्षा से नियमतः सप्रदेश है। काल की अपेक्षा
से भजना है—वह स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश
है। भाव की अपेक्षा से भजना है—स्यात् सप्रदेश
है, स्यात् अप्रदेश है।

जैसे द्रव्य की दृष्टि से सप्रदेश की वक्तव्यता है, वैसे
ही काल और भाव की दृष्टि से सप्रदेश की वक्तव्यता
है।

२०६. एएसि णं भंते ! पोग्गलाणं दब्बादेसेणं,
खेत्तादेसेणं, कालादेसेणं, भावादेसेणं
सपएसाणं अपएसाण य कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा? बहुया वा? तुत्ता वा? विसे-
साहिया वा?

एतेषां भदन्त ! पुद्गलानां द्रव्यादेशेन,
क्षेत्रादेशेन, कालादेशेन, भावादेशेन सप्रदे-
शानाम् अप्रदेशानां च कतरे कतरेभ्यः अत्याः
वा? बहुकाः वा? तुत्याः वा? विशेषाधिकाः
वा?

२०६. भन्ते ! इन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा
से सप्रदेश और अप्रदेश पुद्गलों में कौन किससे
कम हैं, अधिक हैं, तुल्य हैं अथवा विशेषाधिक हैं?

नारयपुत्ता ! सव्वत्थोवा पोग्गला भावा-
देसेणं अपएसा, कालादेसेणं अपएसा
असंखेज्जगुणा, दब्बादेसेणं अपएसा
असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं अपएसा
असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं चैव सपएसा
असंखेज्जगुणा, दब्बादेसेणं सपएसा
विसेसाहिया, कालादेसेणं सपएसा
विसेसाहिया, भावादेसेणं सपएसा
विसेसाहिया ॥

नारदपुत्र ! सर्वस्तोकाः पुद्गलाः भावादेशेन
अप्रदेशाः, कालादेशेन अप्रदेशाः
असंख्येयगुणाः, द्रव्यादेशेन अप्रदेशाः
असंख्येयगुणाः, क्षेत्रादेशेन अप्रदेशाः
असंख्येयगुणाः, क्षेत्रादेशेन चैव सप्रदेशाः
असंख्येयगुणाः, द्रव्यादेशेन सप्रदेशाः
विशेषाधिकाः, कालादेशेन सप्रदेशाः
विशेषाधिकाः, भावादेशेन सप्रदेशाः
विशेषाधिकाः।

नारदपुत्र ! भाव की अपेक्षा से अप्रदेश पुद्गल सबसे
अल्प है, काल की अपेक्षा से अप्रदेश पुद्गल उनसे
असंख्येयगुना अधिक हैं, द्रव्य की अपेक्षा से अप्रदेश
पुद्गल उनसे असंख्येयगुना अधिक हैं, क्षेत्र की
अपेक्षा से अप्रदेश पुद्गल उनसे असंख्येयगुना
अधिक हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से सप्रदेश पुद्गल उनसे
असंख्येयगुना अधिक हैं, द्रव्य की अपेक्षा से सप्रदेश
पुद्गल उनसे विशेषाधिक हैं, काल की अपेक्षा से
सप्रदेश पुद्गल उनसे विशेषाधिक हैं, भाव की
अपेक्षा से सप्रदेश पुद्गल उनसे विशेषाधिक हैं।

२०७. तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं
अणगारं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता
एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो-भुज्जो
खामेति, खामेत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं
भावेमाणे विहरइ ॥

ततः स नारदपुत्रः अनगारः निर्ग्रन्थीपुत्रम्
अनगारं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एतमर्थम् सम्यग् विनयेन भूयो-भूयः क्षमयति,
क्षमयित्वा संयमेन तपसा आत्मानं भावयन्
विहरति।

२०७. अनगार नारदपुत्र अनगार निर्ग्रन्थीपुत्र को
वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर इस
अर्थ-बोध को देने में हुई परिश्रान्ति के लिए सम्यक्
विनयपूर्वक बार-बार क्षमा-याचना करता है। क्षमा-
याचना कर संयम और तप से अपने आपको भावित
करता हुआ विहरण कर रहा है।

भाष्य

१. सूत्र २०१-२०७

भ. ५/१६०-१६४ में परमाणु और स्कन्ध के स-अर्थ, स-
मध्य और सप्रदेश होने के विषय में विमर्श हुआ है। प्रस्तुत आलापक में उसी
विषय पर द्रव्यादेश, क्षेत्रादेश, कालादेश और भावादेश—इन चार दृष्टियों

—नयों से विमर्श किया गया है—

द्रव्यादेश—द्रव्य की अपेक्षा से एक परमाणु अप्रदेश और
द्विप्रदेशी आदि स्कन्ध सप्रदेश होते हैं।

क्षेत्रादेश—क्षेत्र की अपेक्षा से एकप्रदेशावगाढ पुद्गल

अप्रदेश और अनेक-प्रदेशावगाढ पुद्गल सप्रदेश होता है।

कालादेश—काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला पुद्गल अप्रदेश और अनेक समय की स्थिति वाला पुद्गल सप्रदेश होता है।

भावादेश—एक गुण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला पुद्गल अप्रदेश और अनेक गुण, वर्ण गन्ध, रस, स्पर्श वाला पुद्गल सप्रदेश होता है।

परिमाण की दृष्टि से ये सभी अनन्त हैं।

१. द्रव्य की अपेक्षा से अप्रदेश और सप्रदेश का नियम

(क) द्रव्य की अपेक्षा से जो अप्रदेश है, वह क्षेत्र की अपेक्षा से नियमतः अप्रदेश होगा। इसका हेतु यह है कि परमाणु आकाश के एक प्रदेश का ही अवगाहन करता है।

(ख) काल की अपेक्षा से वह एक समय की स्थिति वाला और अनेक समय की स्थिति वाला दोनों प्रकार का हो सकता है, इसलिए वह स्यात् अप्रदेश और स्यात् सप्रदेश है।

(ग) भाव की अपेक्षा से वह एक गुण वर्ण आदि वाला तथा अनेक गुण वर्ण आदि वाला दोनों हो सकता है, इसलिए वह स्यात् अप्रदेश और स्यात् सप्रदेश है।

२. क्षेत्र की अपेक्षा से अप्रदेश और सप्रदेश का नियम

(क) एक आकाश प्रदेश में एक परमाणु का भी अवगाहन हो सकता है तथा द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का भी अवगाहन हो सकता है, इसलिए वह स्यात् अप्रदेश और स्यात् सप्रदेश है।

(ख, ग) काल और भाव की वक्तव्यता द्रव्य के समान है। आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ पुद्गल काल की अपेक्षा से एक समय की स्थिति वाला भी हो सकता है और अनेक समय की स्थिति वाला भी हो सकता है।

भाव की अपेक्षा से वह एक गुण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला भी हो सकता है अनेक गुण वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला भी हो सकता है।

३,४. काल और भाव की अपेक्षा से अप्रदेश और सप्रदेश का नियम

काल और भाव की वक्तव्यता क्षेत्र के समान है। जो काल की अपेक्षा से अप्रदेश है, वह द्रव्य की अपेक्षा स्यात् अप्रदेश और स्यात् सप्रदेश है।

क्षेत्र और भाव की अपेक्षा से भी स्यात् अप्रदेश और स्यात् सप्रदेश

है। जो भाव की अपेक्षा से अप्रदेश है, वह द्रव्य, क्षेत्र, काल की अपेक्षा से स्यात् अप्रदेश है और स्यात् सप्रदेश।

१. द्रव्य की अपेक्षा से सप्रदेश और अप्रदेश का नियम

द्रव्य की अपेक्षा जो सप्रदेश है उसका आकाश के एक प्रदेश में भी अवगाहन हो सकता है, अनेक प्रदेशों में भी अवगाहन हो सकता है, अतः क्षेत्र की अपेक्षा से वह स्यात् अप्रदेश है, स्यात् सप्रदेश है।

काल और भाव की अपेक्षा से वह सप्रदेश और अप्रदेश दोनों प्रकार का हो सकता है।

२. क्षेत्र की अपेक्षा से सप्रदेश और अप्रदेश का नियम

द्रव्य की अपेक्षा से अप्रदेश-परमाणु का आकाश के दो तथा दो से अधिक प्रदेशों में अवगाहन नहीं हो सकता, इसलिए जो क्षेत्र की अपेक्षा से सप्रदेश है, वह द्रव्य की अपेक्षा से नियमतः सप्रदेश होगा।

३,४. काल और भाव की अपेक्षा से सप्रदेश और अप्रदेश का नियम

काल और भाव की वक्तव्यता द्रव्य के समान है।

सप्रदेश और अप्रदेश का अल्प-बहुत्व

१. एक गुण वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले पुद्गल बहुत अल्प होते हैं। अतः भाव की अपेक्षा से अप्रदेश पुद्गल सबसे अल्प होते हैं।

२. काल की अपेक्षा से एक समय-स्थिति वाले पुद्गल अनेक परिणामन—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संघात, भेद, सूक्ष्मत्व, बादरत्व आदि परिणामन वाले होते हैं। प्रत्येक परिणामन में एक समय की स्थिति की अपेक्षा से अप्रदेश होते हैं अतः भावादेश की अपेक्षा कालादेश के अप्रदेश असंख्येयगुना होते हैं।

३. द्रव्य की अपेक्षा से परमाणु अप्रदेश है। एक गुण वर्ण आदि वाले परमाणुओं की अपेक्षा अनेक गुण वर्ण आदि वाले परमाणु अधिक होते हैं। इस अपेक्षा से द्रव्यादेश वाले अप्रदेश असंख्येयगुना अधिक हैं।

‘प्रदेश’ शब्द का प्रयोग सबसे छोटी इकाई परमाणु तुल्य भाग के अर्थ में और स्कन्ध के अर्थ में भी होता है। स्कन्ध में संलग्न एक परमाणु प्रदेश कहलाता है। आकाश का परमाणु-तुल्य भाग प्रदेश कहलाता है। काल और भाव के सन्दर्भ में भी ‘प्रदेश’ का प्रयोग किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में स्कन्ध के अर्थ में भी ‘प्रदेश’ शब्द का प्रयोग किया गया है।

जीवाणं वृद्धि-हाणि-अवच्छिन्न-पदं

जीवानां वृद्धि-हानि-अवस्थिति-पदम्

जीवों की वृद्धि-हानि-अवस्थिति-पद

२०८. भन्तेति ! भगवं गोथमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदिता नमंसिता एवं वयासी—जीवा णं भन्ते ! किं वड्डंति?

भदन्त ! अयि! भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीज्—जीवाः भदन्त !

२०८. 'भन्ते ! इस सम्बोधन से सम्बोधित कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर उन्होंने इस प्रकार कहा

१. भ.वृ. ५/२०५—‘अणतं’ त्ति तत्परिमाणज्ञापनपरं तत् स्वरूपाभिधानम्।

२. भ.वृ. ५/२०६—द्रव्ये प्रायेणद्रयादिगुणा अनन्तगुणान्ताः कालकत्वादया भवन्ति एक-गुणकालकाद्यस्त्वल्पा इति भावः। अयमर्थः—बोहि यस्मिन् समये यद्गुणगन्धरसस्पर्श-संज्ञातभेदसूक्ष्मत्वादारत्वादिपरिणामान्तरमापन्नः स तस्मिन् समये तदपेक्षया कालतोऽप्रदेश

उच्यते, तत्र चैकसमयस्थितिरित्यन्ये, परिणामश्च बहव इति प्रतिपरिणामं कालाप्रदेश-संभवात्तद्गुणत्वमिति। एतदेव भाव्यते—भावतो येऽप्रदेश एक गुणकालत्वादयो भवन्ति ते कालतो द्विगुणा अपि भवन्ति—सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्यर्थः।

३. त.सू. २/३९—प्रवृद्धो देशः प्रदेशः, अनन्ताणुस्कन्धः प्रदेशोऽत्राभिधीयते।

- हायंति? अवद्विया?
गोयमा ! जीवा नो वद्धंति, नो हायंति, अवद्विया ॥
२०९. नेरइया णं भंते ! किं वद्धंति? हायंति? अवद्विया?
गोयमा ! नेरइया वद्धंति वि, हायंति वि, अवद्विया वि ॥
२१०. जहा नेरइया एवं जाव वेमाणिया ।
२११. सिद्धा णं भंते ! पुच्छा ।
गोयमा ! सिद्धा वद्धंति, नो हायंति, अवद्विया वि ॥
२१२. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं अवद्विया?
गोयमा ! सब्बद्धं ॥
२१३. नेरइया णं भन्ते ! केवतियं कालं वद्धंति?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ॥
२१४. एवं हायंति वि ॥
२१५. नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं अवद्विया?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउवीस मुहुत्ता ॥
२१६. एवं सत्तसु वि पुढवीसु 'वद्धंति, हायंति' भाणियव्वं, नवरं—अवद्विएसु इमं नाणत्तं, तं जहा—रणप्पभाए पुढवीए अडयालीसं मुहुत्ता, सक्करप्पभाए चोद्दस राइंदिथा, वालुकाप्रभाए मासं, पंकप्पभाए दो मासा, धूमप्पभाए चत्तारि मासा, तथाए
- किं वर्धन्ते? हीयन्ते? अवस्थिताः?
गौतम ! जीवाः नो वर्धन्ते, नो हीयन्ते, अवस्थिताः।
- नैरयिकाः भदन्त ! किं वर्धन्ते? हीयन्ते? अवस्थिताः ?
गौतम ! नैरयिकाः वर्धन्तेऽपि, हीयन्तेऽपि, अवस्थिताः अपि ।
- यथा नैरयिकाः एवं यावद् वैमानिकाः।
- सिद्धाः भदन्त ! पृच्छा ।
गौतम ! सिद्धाः वर्धन्ते, नो हीयन्ते, अवस्थिताः अपि ।
- जीवाः भदन्त ! कियन्तं कालम् अवस्थिताः ?
गौतम ! सर्वाद्धा ।
- नैरयिकाः भदन्त ! कियन्तं कालं वर्धन्ते?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंखेयभागम् ।
- एवं हीयन्तेऽपि ।
- नैरयिकाः भदन्त ! कियन्तं कालम् अवस्थिताः ?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण चतुर्विंशति मुहूर्तान् ।
- एवं सप्तसु अपि पृथिवीषु 'वर्धन्ते, हीयन्ते', भणितव्यम्, नवरं—अवस्थितेषु इदं नानात्वं, तद् यथा—रत्नप्रभायां पृथिव्याम् अष्टचत्वारिंशत् मुहूर्तान्, शर्कराप्रभायां चतुर्दश रात्रिदिनानि, बालुकाप्रभायां मासम्, पङ्कप्रभायां द्वौ मासौ, धूमप्रभायां चतुरः मासान्,
- भन्ते ! क्या जीव बढ़ते हैं? घटते हैं? अथवा अवस्थित हैं?
गौतम ! जीव न बढ़ते हैं, न घटते हैं? अवस्थित हैं।
२०९. भन्ते ! क्या नैरयिक जीव बढ़ते हैं? घटते हैं? अथवा अवस्थित हैं?
गौतम ! नैरयिक जीव बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी हैं।
२१०. जैसी वक्तव्यता नैरयिक जीवों की है वैसी ही वक्तव्यता यावत् वैमानिक देवों तक की है।
२११. भन्ते ! सिद्धों की पृच्छा
गौतम ! सिद्ध जीव बढ़ते हैं, घटते नहीं हैं, अवस्थित भी हैं।
२१२. भन्ते ! जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं?
गौतम ! सर्वकाल में जीव अवस्थित रहते हैं।
२१३. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल तक बढ़ते हैं?
गौतम ! जघन्यतः वे एक समय तक बढ़ते हैं, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक।
२१४. इसी प्रकार जीव घटते भी हैं। (जघन्यतः एक समय तक, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक)।
२१५. भंते ! नैरयिक जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं?
गौतम ! जघन्यतः एक समय तक उत्कर्षतः चौबीस मुहूर्त तक।
२१६. इसी प्रकार सातों पृथिवियों में नैरयिक जीवों की वृद्धि और हानि वक्तव्य है। विशेष अवस्थिति में यह नानात्व है, जैसे—रत्नप्रभा पृथ्वी में अड़तालीस मुहूर्त, शर्कराप्रभा पृथ्वी में चौदह दिन-रात, बालुकाप्रभा पृथ्वी में एक मास, पंकप्रभा पृथ्वी में दो मास, धूमप्रभा पृथ्वी में चार मास, तमा पृथ्वी में

- अष्टमासा, तमतमाए बारस मासा ॥ तमायाम् अष्टमासान्, तमतमायां द्वादश, मासान् आठ मास और तमतमा पृथ्वी में बारह मास तक अवस्थित रहते हैं।
२१७. असुरकुमारा वि वड्ढंति, हायंति जहा नेरइया। अवाड्डिया जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं अड्ढत्तालीसं मुहुत्ता ॥ असुरकुमाराः अपि वर्धन्ते, हीयन्ते यथा नैरयिकाः। अवस्थिताः जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण अष्टचत्वारिंशत् मुहुत्तान् २१७. असुरकुमार देव भी नैरयिक जीवों की भांति बढ़ते-घटते हैं। वे जघन्यतः एक समय और उत्कर्षतः अड़तालीस मुहूर्त तक अवस्थित रहते हैं।
२१८. एवं दसविहा वि ॥ एवं दशविधा अपि । २१८. इसी प्रकार दस प्रकार के भवनपति देवों का वृद्धि-हानि- और अवस्थिति-काल वक्तव्य है।
२१९. एगिंदिया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवाड्डिया वि एएहिं तिहि वि जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखे-ज्जइभागं ॥ एकेन्द्रियाः वर्धन्तेऽपि, हीयन्तेऽपि, अवस्थिताः अपि। एतैस्त्रिभिरपि जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंख्ये-यतमं भागम्। २१९. एकेन्द्रिय जीव बढ़ते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी हैं। इन तीनों की वृद्धि, हानि और अवस्थिति का काल जघन्यतः एक समय और उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवां भाग है।
२२०. बेइंदिया वड्ढंति, हायंति तहेव, अवाड्डिया जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं दो अंतोमुहुत्ता ॥ द्वीन्द्रियाः वर्धन्ते हीयन्ते तथैव, अवस्थिताः जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण द्वौ अन्त-मुहूर्तौ । २२०. द्वीन्द्रिय जीव एकेन्द्रिय जीवों की भांति बढ़ते-घटते हैं। वे जघन्यतः एक समय और उत्कर्षतः दो अन्तमुहूर्त तक अवस्थित रहते हैं।
२२१. एवं जाव चउरिंदिया ॥ एवं यावच् चतुरिन्द्रियाः। २२१. चतुरिन्द्रिय जीवों तक वृद्धि, हानि और अवस्थिति का यही क्रम ज्ञातव्य है।
२२२. अवसेसा सब्बे 'वड्ढंति, हायंति' तहेव, अवाड्डियाणं नाणत्तं इमं, तं जहा—संमु-च्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो अंतो-मुहुत्ता, गब्भवक्कंतियाणं चउव्वीसं मुहुत्ता, संमुच्छिमणुस्साणं अड्ढत्तालीसं मुहुत्ता, गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चउवीसं मुहुत्ता, वाणमंतर-जोतिसिय-सोहम्मीसाणेषु अड्ढ-त्तालीसं मुहुत्ता, सणकुमारे अड्ढारस राइ-दियाइं चत्तालीस य मुहुत्ता, माहिंदे चउवीसं राइंदियाइं वीस य मुहुत्ता, बंभलोए पंच-त्तालीसं राइंदियाइं, लंतए नउइं राइ-दियाइं, महासुक्के सड्ढिं राइंदियसयं, सह-स्सारे दो राइंदियसयाइं, आणयपाणयाणं संखेज्जा मासा, आरणच्चुयाणं संखेज्जाइं वासाइं, एवं गेवेज्जदेवाणं, विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियाणं असंखेज्जाइं वासस-हस्साइं, सव्वड्ढसिद्धे पलिओवमस्स संखे-ज्जइभागो । अवशेषाः सर्वे 'वर्धन्ते हीयन्ते' तथैव, अवस्थितानां नानात्वम् इदम्, तद् यथा—सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां द्वौ अन्तमुहूर्तौ, गर्भव्युत्क्रान्तिकानां चतुर्विंशतिः मुहूर्ताः, सम्मूर्च्छिममनुष्याणां अष्ट-चत्वारिंशद्मुहूर्ताः, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्याणां चतुर्विंशतिः मुहूर्ताः, वानमन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानेषु अष्टचत्वारिंश-न्मुहूर्ताः, सनत्कुमारे अष्टादश रात्रिदिवानि चत्वारिंशच्च मुहूर्ताः, माहेन्द्रे चतुर्विंशतिः रात्रिदिवानि विंशतिश्च मुहूर्ताः, ब्रह्मलोके पंचचत्वारिंशद् रात्रिदिवानि, लान्तके नवतिः रात्रिदिवानि, महाशुक्ले षष्टिः रात्रि-दिवशतः, सहस्रारे द्वे रात्रिदिवशते, आनत-प्राणतयोः संख्येयाः मासाः, आरणच्च्युतयोः संख्येयानि वर्षाणि, एवं त्रैवेयकदेवानां, विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजितानाम् असं-ख्येयानि वर्षसहस्राणि, सर्वार्थसिद्धे पल्यो-पमस्य संख्येयभागः। २२२. अवशेष सब जीव एकेन्द्रिय जीवों की भांति बढ़ते-घटते हैं। अवस्थिति का नानात्व इस प्रकार है, जैसे—सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक—दो अन्तमुहूर्त, गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक—चौबीस मुहूर्त, सम्मूर्च्छिम मनुष्य—अड़तालीस मुहूर्त, गर्भज मनुष्य—चौबीस मुहूर्त, वानमन्तर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान देवलोक में अड़तालीस मुहूर्त, सनत्कुमार देवलोक में अठारह दिन-रात और चालीस मुहूर्त, माहेन्द्र देवलोक में चौबीस दिन-रात और बीस मुहूर्त, ब्रह्मलोक देवलोक में पैंतालीस दिन-रात, लान्तक देवलोक में नव्वे दिन-रात। महाशुक्ल देवलोक में एक सौ साठ दिन-रात, सहस्रार देवलोक में दो सौ दिन-रात, आनत और प्राणत देवलोकों में संख्येय मास, आरण और अच्युत देवलोकों में संख्येय वर्ष, इसी प्रकार त्रैवेयक देवों या देवलोकों में, विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवलोकों में असंख्येय हजार वर्ष तथा सर्वार्थसिद्ध में पल्योपम का संख्यातवां भाग अवस्थिति-काल है।

एवं भाणियव्वं—वड्ढंति, हायंति जहण्णेणं
एकं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असं-
खेज्जइभागं, अवीट्टियाणं जं भणियं ॥

एवं भणितव्वयम्—वर्धन्ते, हीयन्ते जघन्येन
एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः अ-
संख्येयभागम्, अवस्थितानां यद् भणितम्।

यह पूरा प्रकरण इस प्रकार वक्तव्य है—जीवों की
वृद्धि और हानि का क्रम जघन्यतः एक समय और
उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवां भाग है।
अवस्थिति-काल (सभी का जघन्यतः एक समय
उत्कर्षतः) जो ऊपर बताया गया, वैसा ही है।

२२३. सिद्धा णं भन्ते ! केवइयं कालं वड्ढंति?
गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं
अट्ट समयया ॥

सिद्धाः भवन्त ! कियन्तं कालं वर्धन्ते?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण अट्ट
समयान् ।

२२३. भन्ते ! सिद्ध कितने काल तक बढ़ते हैं?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आठ समय

२२४. केवइयं कालं अवीट्टिया?

कियन्तं कालम् अवस्थिताः?

२२४. भन्ते ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते
हैं?

गोयमा ! जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं
छम्मासा ॥

गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण
षण्मासान् ।

गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः छह मास
तक।

भाष्य

१. सूत्र २०८-२२४

जीव मौलिक द्रव्य है। जीव-अजीव नहीं बनता और अजीव जीव
नहीं बनता—यह लोकस्थिति का शाश्वत नियम है। इस आधार पर कहा
जा सकता है कि न कोई नया जीव उत्पन्न होता है और न किसी जीव का
अस्तित्व समाप्त होता है। जीव अवस्थित है—जितने जीव थे, उतने ही हैं
और उतने ही रहेंगे।

नैरयिक आदि चौबीस दण्डक जीव द्रव्य के पर्याय अथवा
अवस्था-विशेष हैं। इसलिए उनमें हानि-वृद्धि होती रहती है। अवस्थिति भी

सापेक्ष है—विरह-काल तथा उत्पत्ति और उद्वर्तन के समीकरण की अपेक्षा
से है। पण्णवणा के अनुसार सातों नरक-पृथिवियों में बारह मुहूर्त का विरह
काल होता है। उस अवधि में न कोई नैरयिक उत्पन्न होता है और न कोई
उद्वर्तन करता—बाहर निकलता है।

उससे अगला बारह मुहूर्त का काल समीकरण का है। उस अवधि
में जितने नैरयिक उत्पन्न होते हैं उतने ही निकल जाते हैं। इस प्रकार सातों
नरक-पृथिवियों का अवस्थिति काल चौबीस मुहूर्त का है। इस अवधि में
नैरयिक जीवों की वृद्धि-हानि नहीं होती।

प्रत्येक नरक का अवस्थिति-काल भिन्न-भिन्न प्रकार का है —

नाम	विरह-काल	समीकरण-काल	अवस्थिति-काल
रत्नप्रभा	२४ मुहूर्त	२४ मुहूर्त	४८ मुहूर्त
शर्कराप्रभा	७ दिन-रात	७ दिन-रात	१४ दिन-रात
बालुकाप्रभा	अर्धमास	अर्धमास	१ मास
पंकप्रभा	१ मास	१ मास	२ मास
धूमप्रभा	२ मास	२ मास	४ मास
तमःप्रभा	४ मास	४ मास	८ मास
तमस्तमाःप्रभा	६ मास	६ मास	१२ मास
समुच्चयप्रभा	१२ मुहूर्त	१२ मुहूर्त	२४ मुहूर्त

१. टाण, १०/१

२. पण्ण, ६/१, ६

३. भ. वृ. ५/२१५—सप्तस्वपि पृथिवीषु द्वादश मुहूर्तान् यावन्न कोऽप्युत्पद्यते वा, उत्कृष्टं तो
विरहकालस्यैव रूपत्वात्, अन्येषु पुनर्द्वादशमुहूर्तेषु यावन्त उत्पद्यन्ते तावन्त एवोद्वर्तन्त इत्येवं
चतुर्विंशतिमुहूर्तान् यावन्नरकागामेकपरिमाणत्वादवस्थितत्वं वृद्धिहान्योरभाव इत्यर्थः।

४. भ. वृ. ५/२४५—एवं रत्नप्रभादिषु यो यत्रोत्पादोद्वर्तनाविग्रहकालश्चतुर्विंशतिमुहूर्तदिको
व्युत्क्रान्तिपदेऽभिहितः स तत्र तेषु तत्तुल्यस्य समसङ्ख्यानामुत्पादोद्वर्तनाकालस्य मीलनाद् द्विगुणितः
सत्रवस्थितकालोऽप्यट् चत्वारिंशन्मुहूर्तदिकः भूतेभ्यो भवति, विरहकालश्च प्रतिपदमवस्थान-
कालाद्भिभूतः स्वयमभ्युद्यति इति।

एकेन्द्रिय जीव प्रति समय उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए उनका विरह-काल नहीं होता। एकेन्द्रिय जीव जब बहुतर उत्पन्न होते हैं और अल्पतर उद्वर्तन करते हैं तब उनकी वृद्धि होती है। जब बहुतर उद्वर्तन करते हैं और अल्पतर उत्पन्न होते हैं तब उनकी हानि होती है। उत्पाद और उद्वर्तन

सम होते हैं, तब उनकी अवस्थिति होती है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय का विरह-काल एक अन्तर्मुहूर्त और समीकरण-काल एक अन्तर्मुहूर्त इस प्रकार अवस्थिति-काल दो अन्तर्मुहूर्त का होता है।

शेष जीवों का विरह-काल इस प्रकार है —	
जीव	विरह-काल
गर्भज तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय	१२ मुहूर्त
सम्मूर्च्छिम-मनुष्य	२४ मुहूर्त
गर्भज-मनुष्य	१२ मुहूर्त
भवनपति, वानमन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म, ईशान	२४ मुहूर्त
सनत्कुमार	९ दिन-रात और २० मुहूर्त
माहेन्द्र	१२ दिन-रात और १० मुहूर्त
ब्रह्म	२२½ दिन-रात
लान्तक	४५ दिन-रात
महाशुक्र	८० दिन-रात
सहस्रार	१०० दिन-रात
आनत-प्राणत	संख्येय मास
आरण-अच्युत	संख्येय वर्ष
अधस्तन ग्रैवेयक	संख्येय सौ वर्ष
मध्यम ग्रैवेयक	संख्येय हजार वर्ष
उपरितन ग्रैवेयक	संख्येय लाख वर्ष
चार अनुत्तर विमान	असंख्येय हजार वर्ष
सर्वार्थ सिद्धि विमान	पल्लोपम का संख्यातवां भाग
सिद्ध	छह मास

जितना विरह-काल है, उतना ही समीकरण-काल है। दोनों का योग होने पर अवस्थिति-काल बन जाता है।

जीवाणं सोवचय-सावचयादि-पदं

२२५. जीवा णं भन्ते ! किं सोवचया? सावच-या? सोवचय-सावचया? निरुवचय-निरव-चया?

गोयमा ! जीवा नो सोवचया, नो सावचया, नो सोवचय-सावचया, निरुवचय-निरव-चया।

एगिंदिया ततियपदे, सेसा जीवा चउहिं वि पदेहिं भाणियव्वा।

२२६. सिद्धा णं भन्ते ! पुच्छा।

जीवानां सोपचय-सापचयादि-पदम्

जीवाः भदन्त ! किं सोपचयाः? सापचयाः? सोपचय-सापचयाः? निरुपचय-निरप-चयाः?

गौतम ! जीवाः नो सोपचयाः, नो सापचयाः, नो सोपचय-सापचयाः, निरुपचय-निरप-चयाः।

एकेन्द्रियाः तृतीयपदे, शेषाः जीवाः चतुर्भि-रपि पदैः भणितव्याः।

सिद्धाः भदन्त ! पृच्छा।

जीवों का सोपचय-सापचय-आदि पद

२२५. 'भन्ते ! क्या जीव उपचय-सहित है? अपचय-सहित हैं? उपचय-अपचय-सहित हैं? अथवा उपचय और अपचय से रहित हैं?

गौतम ! जीव न उपचय-सहित हैं, न अपचय-सहित हैं, न उपचय-अपचय-सहित हैं वे उपचय और अपचय से रहित हैं।

एकेन्द्रिय जीव तीसरे पद में सोपचय-सापचय हैं। शेष जीव चारों पदों में वक्तव्य हैं।

२२६. भन्ते ! सिद्धों की पृच्छा।

- गोयमा ! सिद्धा सोवचया, नो सावचया, नो सोवचय-सावचया, निरुवचय-निरवचया॥
- गौतम ! सिद्धा सोपचयाः, नो सापचयाः, नो सोपचय-सापचयाः, निरुपचय-निरपचयाः।
- गौतम ! सिद्ध उपचय-सहित हैं, अपचय-सहित नहीं है, उपचय-अपचय-सहित नहीं है, उपचय और अपचय से रहित हैं।
२२७. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं निरुवचय-निरवचया?
गोयमा ! सव्वद्धं॥
- जीवाः भदन्त ! कियन्तं कालं निरुपचय-निरपचयाः?
गौतम ! सर्वाद्धा।
२२७. भन्ते ! जीव कितने काल तक उपचय और अपचय से रहित होते हैं?
गौतम ! सर्वकाल।
२२८. नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं सोवचया ?
गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ॥
- नेरयिकाः भदन्त ! कियन्तं कालं सोपचयाः?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंख्येयभागम्।
२२८. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल तक उपचय-सहित होते हैं?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक।
२२९. केवतियं कालं सावचया?
एवं चेव ॥
- कियन्तं कालं सापचयाः?
एवं चैव।
२२९. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल तक अपचय-सहित होते हैं?
जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक।
२३०. केवतियं कालं सोवचय-सावचया?
एवं चेव ॥
- कियन्तं कालं सोपचय-सापचयाः?
एवं चेव।
२३०. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल तक उपचय और अपचय से सहित होते हैं?
जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका के असंख्यातवें भाग तक।
२३१. केवतियं कालं निरुवचय-निरवचया?
गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।
एगिदिया सव्वे सोवचय-सावचया सव्वद्धं।
सेसा सव्वे सोवचया वि, सावचया वि, सोवचय-सावचया वि, जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं। अवाड्ढिएहिं वक्कं तिकालो भाणियव्वो ॥
- गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण द्वादश मुहुत्तान्।
एकेन्द्रियाः सर्वे सोपचय-सापचयाः सर्वाद्धा।
शेषाः सर्वे सोपचयाः अपि, सापचयाः अपि, सोपचय-सापचयाः अपि, जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण आवलिकायाः असंख्येय-भागम्। अवस्थितैः व्युत्क्रान्तिकालः भणितव्यः।
२३१. भन्ते ! नैरयिक जीव कितने काल तक उपचय और अपचय से रहित होते हैं?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः बारह मुहूर्त तक।
सभी एकेन्द्रिय जीव सब काल में उपचय- और अपचय-सहित होते हैं। शेष सभी जीव उपचय-सहित भी हैं, अपचय-सहित भी हैं, उपचय-अपचय-सहित भी हैं। इसकी कालावधि—जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आवलिका का असंख्यातवें भाग। अवस्थित रहने का काल विरह-काल (सू.५/२२२) की भांति वक्तव्य है।
२३२. सिद्धा णं भंते ! केवतियं कालं सोवचया?
गोयमा ! जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अट्ट समया॥
- सिद्धाः भदन्त ! कियन्तं कालं सोपचयाः?
गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण अट्ट समयान्।
२३२. भन्ते ! सिद्ध कितने काल तक उपचय-सहित होते हैं?
गौतम ! जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः आठ समय तक।
२३३. केवतियं कालं निरुवचय-निरवचया?
- कियन्तं कालं निरुपचय-निरपचयाः?
२३३. भन्ते ! सिद्ध कितने समय तक उपचय-अपचय

से रहित होते हैं?

जहण्णेणं एकं समयं, उक्कोसेणं छ मासा ॥ जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण षण्मासान् ।

जघन्यतः एक समय, उत्कर्षतः छह मास ।

भाष्य

१. सूत्र २२५-२३३

प्रस्तुत आलापक में जीवों के उपचय और अपचय से सम्बन्धित चार विकल्पों का निर्देश है। उपचय का अर्थ है वृद्धि, अपचय का अर्थ है हानि। उपचय, अपचय दोनों का न होना अवस्थिति है। फिर पूर्व आलापक और इसमें क्या अन्तर है? वृत्तिकार ने यह प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान भी दिया है। उनके अनुसार वृद्धि, हानि का सम्बन्ध परिमाण से है और उपचय, अपचय का सम्बन्ध उत्पाद और उद्वर्तन से है। इसीलिए तृतीय भंग (सोपचय-सापचय) में वृद्धि, हानि और अवस्थिति—ये तीनों समाहित हैं। बहुतर का उत्पाद होने पर वृद्धि, बहुतर का उद्वर्तन होने पर हानि तथा सम उत्पाद और उद्वर्तन होने पर अवस्थिति होती है।

एकेन्द्रिय जीव तृतीय पद में वक्तव्य हैं। उनमें एक साथ उत्पाद और उद्वर्तन होता रहता है। केवल उत्पाद, केवल उद्वर्तन और विरह-काल नहीं होता, इसलिए शेष तीन पद उनमें संभव नहीं हैं।

द्वीन्द्रिय से लेकर सभी जीवों में पण्णवणा में प्रतिपादित विरह-काल (वक्कंति-काल) वक्तव्य है। यह अवस्थिति-काल अथवा निरुपचय-निरपचय-काल है। इस अवस्था में उपचय, अपचय दोनों नहीं होते।

सिद्ध एक समय से लेकर आठ समय तक निरन्तर उत्पन्न हो सकते हैं। उसके पश्चात् उनका विरह-काल होता है। उसकी अवधि जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह मास होती है।

२३४. सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति॥

२३४. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. भ.वृ. ५/२२५.—ननुपचयो वृद्धिरपचयस्तु हानिः, युगपद्वयमद्वयं वाऽवस्थित्वं, एवं च शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽनयोः सूत्रयोर्भेदः? उच्यते, पूर्वत्र परिमाणमभिप्रेतम्, इह तु तदनपेक्षमुत्पादोद्वर्तना मात्रं तदश्चेह तृतीयभङ्गके पूर्वोक्तवृद्ध्यादि विकल्पानां त्रयमपि स्यात् तथाहि—यहुतरोत्पादे वृद्धिर्बहुतरोद्वर्तने च हानिः, समोत्पादोद्वर्तनयोश्चावस्थितत्त्वमित्येवं भेद इति॥

२. वही, ५/२२५.—'एगिदियातइयपए' ति सोपचयसापचया इत्यर्थः युगपदुत्पादोद्वर्तनाभ्यां वृद्धिहानिभावात्, शेषभङ्गकेषु तु ते न संभवन्ति, प्रत्येकमुत्पादोद्वर्तनयोस्तद्विरहस्य चाभावादिति।
३. वही, ५/२३१.—निरुपचयनिरपचयेषु 'वक्कंतिकालो भाणियव्वो' ति विरहकालो वाच्यः।

नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

किमिदं रायगिह-पदं

२३५. तेषां कालेण तेषां समएणं जाव एव वयासी— किमिदं भन्ते ! नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं पुढवी नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं आऊ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं तेऊ वाऊ वणस्सई नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं टंका कूडा सेला सिहरी पढभारा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं जल-थल-बिल-गुह-लेणा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं उज्झर-निज्झर-चिल्लल-पल्लल-वप्पिणा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं अगड-तडाम-दह-नईओ वावी-पुक्खरिणी-दीहिया गुंजालिया सरा सरपंतिथाओ सरसरपंतिथओ बिलपंति-याओ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं आरामुज्जाण-काणणा वणा वणसंडा वणराईओ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं देवउल-सभ-पव-थूभ-खाइय-परिखाओ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं पागगर-अट्टालम-चरिय-दार-गोपुरा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं पासाद-घर-सरण-लेण-आवणा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं सगड-रह-जाण-जुग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं लोही-लोहकडाह-कडुच्छया नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं भवणा नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्ख-

किमिदं राजगृह-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यावद् एवमवादीत्—किमिदं भदन्त ! नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं पृथिवी नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं आपः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं तेजांसि वायवः वनस्पतयः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं टङ्गः कूटाः शैलाः शिखरिणः प्राभाराः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं जल-स्थल-बिल-गुहा-लयानानि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किम् उज्झर-निर्झर-‘चिल्लल’-पल्लल-‘वप्पिणा’ नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किम् अगड - -तडाम-द्रह-नद्यः वापी-पुष्करिणी-दीर्घिकाः गुज्जालिकाः सरांसि सरः-पंक्तिकाः सरस्सरःपंक्तिकाः बिलपंक्तिकाः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किम् आरामोद्यान-काननानि वनानि वनषण्डानि वनराजयः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं देवकुल-सभा-प्रपा-स्तूप-खातिका-परिखाः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं प्राकाराट्टालक-चरिका-द्वार-गोपुराणि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं प्रासाद-गृह-शरण-लयनापणाः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं शृङ्गाटक-त्रिक-चतुष्क-चत्वर-चतुर्मुख-महापथ-पथाः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं शकट-रथ-यान-युग्य-‘गिल्ली’-‘थिल्लि’-शिविका-स्यन्दमानिकाः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं लौही-लोहकटाह-‘कडुच्-

“यह कौन राजगृह” का पद

२३५. ^१ उस काल और उस समय राजगृह नाम का नगर था यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा — भन्ते ! यह कौन राजगृह नगर कहलाता है? क्या पृथ्वी राजगृह नगर कहलाती है? क्या जलात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या अग्नि, वायु और वन-स्पत्यात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या टंक, कूट, शैल, शिखरी और प्राग्भारात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या जल, स्थल, बिल, गुफा और लयनात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या उज्झर, निर्झर, तलैया, जल का छोटा गड्ढा और जल-प्रणाली-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या कुंआ, तालाव, हृद, नदी, बावडी, पुष्करिणी, नहर, वक्राकार नहर, सर, सरपंक्ति, सरसरपंक्ति, बिलपंक्ति-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या आराम, उद्यान, कानन, वन, वनषंड और वनराजि-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या देवल, सभा, प्रपा, स्तूप, खाई और परिखात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या प्राकार, अट्टालक, चरिका, द्वार और गोपुरात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या प्रासाद, घर, शरण, लयन और आपण-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या दुराहे, तिराहे, चौराहे, चौक, चोहड़े महापथ और पथात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या शकट, रथ, यान, युग्य, डोली, बग्घी, शिविका और स्यन्द-मानिका-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या तवा, लोह, कटाह और करछी-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या भावनात्मक नगर राजगृह कहलाता है? क्या देव, देवी, मनुष्य-मानुषी, नर-तिर्यञ्च और स्त्री-तिर्यञ्च-रूप नगर राजगृह कहलाता है? क्या आसन, शयन, स्तम्भ, भाण्ड, सचित्त, अचित्त और

जोणिया तिरिक्खजोणिणीओ नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ? किं आसण-सयण-खंभ-भंड-सचित्ताचित्तमीसयाइं दव्वाइं नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ?

गोयमा ! पुढवी वि नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ जाव सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ।

२३६. से केणट्टेणं?

गोयमा ! पुढवी जीवा इ य, अजीवा इ य नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ जाव सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं जीवा इ य, अजीवा इ य नगरं रायगिहं ति पवुच्चइ। से तेणट्टेणं तं चेव ॥

छया' नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं भवनानि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किं देवाः देव्यः मनुष्याः मानुष्यः तिर्यग्योनिकाः तिर्यग्योनिन्यः नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते? किम् आसन-शयन-स्ताम्भ-भाण्ड-सचित्ता-चित्त-मिश्रकाणि-द्रव्याणि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते?

गौतम ! पृथिव्यपि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते यावत् सचित्ताचित्त-मिश्रकाणि द्रव्याणि नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! पृथिवी जीवा इति च, अजीवा इति च नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते यावत् सचित्ताचित्त-मिश्रकाणि द्रव्याणि जीवा इति च, अजीवा इति च नगरं राजगृहम् इति प्रोच्यते। तत् तेनार्थेन तच्चैवा

मिश्र द्रव्य-रूप नगर राजगृह कहलाता है?

गौतम ! पृथ्वी भी राजगृह नगर कहलाती है यावत् सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्यों को भी राजगृह नगर कहा जाता है।

२३६. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! जीवाजीवात्मक पृथ्वी राजगृह नगर कहलाती है, यावत् जीवाजीवात्मक सचित्त, अचित्त, मिश्र द्रव्यों को राजगृह नगर कहा जाता है। यह इस अपेक्षा से।

भाष्य

१. सूत्र २३५, २३६

नगर की अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्याएं मिलती हैं।
द्रष्टव्य—भ. १/४९, ५० का भाष्य।

प्रस्तुत प्रकरण में नगर की तत्त्व-परक व्याख्या की गई है। किसी एक द्रव्य से नगर का निर्माण नहीं होता। वह अनेक द्रव्यों के समुदाय से निर्मित होता है। संक्षिप्त दृष्टि से वह सचित्त, अचित्त, मिश्र—इन तीन प्रकार

के द्रव्यों से निर्मित होता है। विस्तार की दृष्टि से जलाशय, प्रासाद, मार्ग, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के समुदाय से नगर निर्मित होता है। राजगृह नगर के विषय में प्रश्न पूछा गया और उत्तर में महावीर ने कहा—राजगृह किसी एक द्रव्य का नाम नहीं है, किन्तु सजीव, अजीव और मिश्र—इन सभी द्रव्यों के समुदाय का नाम है। टंक, कूट आदि-आदि शब्दों की जानकारी के लिए देखें भ. ५/१८२-१९० तक का भाष्य।

उज्जोय-अंधयार-पदं

उद्द्योतान्धकार-पदम्

उद्द्योत-अन्धकार-पद

२३७. से नूनं भन्ते ! दिया उज्जोए? राइं अंधयारे?

हंता गोयमा ! दिया उज्जोए, राइं अंधयारे।।

तन् नूनं भदन्त ! दिवा उद्द्योतः? रात्रौ अन्धकारः?

हन्त गौतम ! दिवा उद्द्योतः, रात्रौ अन्धकारः।

२३७. 'भन्ते ! क्या दिन में उद्द्योत और रात्रि में अन्धकार है?

हां, गौतम ! दिन में उद्द्योत और रात्रि में अन्धकार है।

२३८. से केणट्टेणं?

गोयमा ! दिया सुभा पोगला सुभे पोगल-परिणामे, राइं असुभा पोगला असुभे पोगलपरिणामे। से तेणट्टेणं।।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! दिवा शुभाः पुद्गलाः शुभः पुद्गल-परिणामः, रात्रौ अशुभाः पुद्गलाः अशुभः पुद्गलपरिणामः। तत् तेनार्थेन।

२३८. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! दिन में शुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणामन शुभ होता है। रात्रि में अशुभ पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणामन अशुभ होता है—यह इस अपेक्षा से।

२३९. नेरइयाणं भन्ते ! किं उज्जोए? अंधयारे?

गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए, अंधयारे।।

नैरयिकाणां भदन्त ! किम् उद्द्योतः? अन्धकारः?

गौतम ! नैरयिकाणां नो उद्द्योतः, अन्धकारः।

२३९. भन्ते ! नैरयिक जीवों के क्या उद्द्योत होता है? अथवा अन्धकार?

गौतम ! नैरयिक जीवों के उद्द्योत नहीं होता, अन्धकार होता है।

२४०. से केणट्टेणं ?
गोयमा ! नेरइयाणं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे। से तेणट्टेणं ॥
- तत् केनार्थेन?
गौतम ! नैरयिकाणाम् अशुभाः पुद्गलाः अशुभः पुद्गलपरिणामः। तत् तेनार्थेन।
२४०. यह किस अपेक्षा से?
गौतम ! नैरयिक जीवों के अशुभ-पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन अशुभ होता है—यह इस अपेक्षा से।
२४१. असुरकुमाराणं भंते ! किं उज्जोए? अंध-यारे?
गोयमा ! असुरकुमाराणं उज्जोए, नो अंध-यारे ॥
- असुरकुमाराणां भदन्त ! किम् उद्द्योतः? अन्धकारः?
गौतम ! असुरकुमाराणाम् उद्द्योतः, नो अन्धकारः।
२४१. भंते ! असुरकुमार देवों के क्या उद्द्योत होता है? अथवा अन्धकार?
गौतम ! असुरकुमार देवों के उद्द्योत होता है, अन्धकार नहीं होता।
२४२. से केणट्टेणं?
गोयमा ! असुरकुमाराणं सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे। से तेणट्टेणं। जाव थणिय-कुमाराणं ॥
- तत् केनार्थेन?
गौतम ! असुरकुमाराणां शुभाः पुद्गलाः शुभः पुद्गलपरिणामः। तत् तेनार्थेन। यावत् स्तनितकुमाराणाम्।
२४२. यह किस अपेक्षा से?
गौतम ! असुरकुमार देवों के शुभ पुद्गल होते हैं, और पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है—यह इस अपेक्षा से। यावत् स्तनितकुमार देवों तक यही वक्तव्यता है।
२४३. पुढक्काइया जाव तेइंदिया जहा ने-रइया ॥
- पृथ्वीकायिकाः यावत् त्रीन्द्रियाः यथा नैरयिकाः।
२४३. पृथ्वीकायिक यावत् त्रीन्द्रिय जीवों की वक्तव्यता नैरयिकों की भांति ज्ञातव्य है।
२४४. चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोए? अंध-यारे?
गोयमा ! उज्जोए वि, अंधयारे वि ॥
- चतुरिन्द्रियाणां भदन्त ! किम् उद्द्योतः? अन्धकारः?
गौतम ! उद्द्योतोऽपि, अन्धकारोऽपि।
२४४. भंते ! चतुरिन्द्रिय जीवों के क्या उद्द्योत होता है? अथवा अन्धकार?
गौतम ! उद्द्योत भी होता है, अन्धकार भी होता है।
२४५. से केणट्टेणं?
गोयमा ! चउरिंदियाणं सुभासुभा य पोग्गला सुभासुभे य पोग्गलपरिणामे। से तेणट्टेणं ॥
- तत् केनार्थेन?
गौतम ! चतुरिन्द्रियाणां शुभाशुभाश्च पुद्गलाः शुभाशुभाश्च पुद्गलपरिणामः। तत् तेनार्थेन।
२४५. यह किस अपेक्षा से?
गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवों के शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के पुद्गल होते हैं और पुद्गलों का परिणमन शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है—यह इस अपेक्षा से।
२४६. एवं जाव मणुस्साणं ॥
- एवं यावन् मनुष्याणाम्।
२४६. इसी प्रकार यावत् मनुष्यों की वक्तव्यता।
२४७. वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा ॥
- वानमन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकाः यथा असुरकुमाराः।
२४७. वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की वक्तव्यता असुरकुमारों की भांति ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सूत्र २३७-२४७

उद्द्योत और अन्धकार दोनों पुद्गल के विशेष परिणमन हैं। पुद्गलों के शुभ परिणमन को प्रकाशात्मक होने के कारण उद्द्योत और उनके अशुभ परिणमन को तमोमय होने के कारण अन्धकार कहा गया है।

दिन में सूर्यरश्मियों के सम्पर्क से पुद्गलों का परिणमन शुभ होता है^१ इसलिए दिन में उद्द्योत होता है। रात्रि में सूर्य-रश्मि तथा अन्य प्रकाशक वस्तुओं के अभाव में पुद्गलों का परिणमन अशुभ हो जाता है।

प्रस्तुत आलापक में उद्द्योत और अन्धकार का अनेक अपेक्षाओं से

१. भ.व. ५/२३८—दिवसे शुभाः पुद्गला भवन्ति, किमुक्तं भवति?—शुभः पुद्गलपरिणामः स चार्ककरसम्पर्कात्।

निरूपण किया गया है। नरक में पुद्गलों का अशुभ परिणमन होने के कारण निरन्तर अन्धकार रहता है। वृत्तिकार के अनुसार पुद्गल की शुभ परिणति के निमित्तभूत सूर्य-किरण आदि प्रकाशक वस्तु का वहां अभाव है।

पण्यवणा में उल्लेख है कि नरक-पृथ्वियों में सौरमण्डल नहीं होता।

देवों के भवन और विमान पुद्गलों के शुभ परिणमन के कारण निरन्तर भास्वर रहते हैं।

भवनों और विमानों के आकाश में सौरमण्डल नहीं होता। वे रत्नों

के प्रभामण्डल से निरन्तर प्रभास्वर रहते हैं। वहां दिन और रात का विभाग नहीं है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों के निरन्तर अन्धकार रहता है। यह चक्षु-सापेक्ष अन्धकार का निरूपण है। इन जीवों को सूर्य-रश्मि का प्रकाश उपलब्ध होता है, किन्तु चक्षु-इन्द्रिय के अभाव में उन्हें निरन्तर अन्धकार का संवेदन होता है। चतुरिन्द्रिय, तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय और मनुष्य में चक्षु-इन्द्रिय का विकास होता है। वे सूर्य के सम्पर्क में भी आते हैं, इसलिए उनमें उद्द्योत होता है। वे रात्रि का अनुभव करते हैं, इसलिए अन्धकार भी होता है।

मणुस्सखेत्ते समयादि-पदं

२४८. अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पण्णायए, तं जहा—समया इ वा, आवलिया इ वा जाव ओसप्पिणी इ वा, उस्सप्पिणी इ वा? णो तिण्ठे समट्ठे।

२४९. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं दुच्चइ—नेरइयाणं तत्थगयाणं नो एवं पण्णायए, तं जहा—समया इ वा, आवलिया इ वा जाव ओसप्पिणी इ वा, उस्सप्पिणी इ वा?

गोयमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं, इहं तेसिं एवं पण्णायए, तं जहा—समया इ वा जाव उस्सप्पिणी इ वा। से तेणट्ठेणं जाव नो एवं पण्णायए, तं जहा—समया इ वा जाव उस्सप्पिणी इ वा ॥

२५०. एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं।

२५१. अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगयाणं एवं पण्णायते, तं जहा—समया इ वा जाव

मनुष्यक्षेत्रे समयादि-पदम्

अस्ति भदन्त ! नैरयिकाणां तत्रगतानाम् एवं प्रज्ञायते, तद् यथा—समया इति वा, आवलिका इति वा यावद् अवसर्पिणी इति वा, उत्सर्पिणी इति वा? नायमर्थः समर्थः।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाणां तत्रगतानां नो एवं प्रज्ञायते, तद् यथा—समया इति वा, आवलिका इति वा, यावद् अवसर्पिणी इति वा, उत्सर्पिणी इति वा?

गौतम ! इह तेषां मानम्, इह तेषां प्रमाणं, इह तेषाम् एवं प्रज्ञायते, तद् यथा—समया इति वा यावद् उत्सर्पिणी इति वा। तत् तेनार्थेन यावन् नो एवं प्रज्ञायते, तद् यथा—समया इति वा यावद् उत्सर्पिणी इति वा।

एवं यावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाम्।

अस्ति भदन्त ! मनुष्याणाम् इहगतानाम् एवं प्रज्ञायते, तद् यथा—समया इति वा यावद्

मनुष्य-क्षेत्र में समयादि-पद

२४८. 'भंते ! नैरयिक मनुष्य-लोक (समयक्षेत्र) के बाहर स्थित है, इसलिए उनके विषय में क्या ऐसा प्रज्ञापन हो सकता है, जैसे—समय, आवलिका यावत् अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी होते हैं? यह अर्थ संगत नहीं है।

२४९. भंते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक मनुष्य-लोक के बाहर स्थित है, इसलिए उनके विषय में ऐसा प्रज्ञापन नहीं हो सकता, जैसे—समय, आवलिका यावत् अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी होते हैं?

गौतम ! समय आदि का मान और प्रमाण मनुष्य-लोक में होता है। मनुष्य-लोक में ही उनका इस प्रकार प्रज्ञापन हो सकता है, जैसे—समय यावत् उत्सर्पिणी होते हैं। इस अपेक्षा से यावत् नैरयिक मनुष्य-लोक के बाहर स्थित हैं, इसलिए उनके विषय में ऐसा प्रज्ञापन नहीं हो सकता, जैसे—समय यावत् उत्सर्पिणी होते हैं।

२५०. इसी प्रकार यावत् मनुष्य-लोक के बाहर स्थित पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों के विषय में ज्ञातव्य है।

२५१. भन्ते ! मनुष्य-लोक में स्थित मनुष्यों के लिए क्या ऐसा प्रज्ञापन हो सकता है, जैसे—समय यावत्

१. भ.वृ. ५/२४० तत्क्षेत्रस्य पुद्गलशुभतानिमित्तभूतविकरादिप्रकाशकवस्तुवर्जितत्वात्।
२. पण्ण. २/२०—ते णं नरगा... णिच्छंथयारतमसा ववगयगह-चंद-सूर-णक्खत्त-जोइसपहा।
३. (क) पण्ण. २/३०—ते णं भवणां बाहिं वट्ठं अंतो समचउरंसा अहे पुक्खरकणियासांठाण-संठिता उक्किण्णंतरविउलणंभीर-खात-परिहा पामारट्ठालय-कवाड-तोरणपडिदुवारदेसभागा जंत-सयधि-मुसल-मुसुंठिपरिवारिया अओज्झा सदाजता सदागुत्ता अडयालकोट्टगरइया अडयालकयवणमाला खेमा सिवा किंकरामरदण्डोवरकिखिया लाउल्लोइयमहिया गोसीस-सरसत्तचंदणदहरदिण्णपंचंगुलितला उवचियवंदणकलसा वंदणघडसुकततोरणपडिदुवारदेसभागा आसत्तोसत्तविउलवट्ठवधारियमल्लदामकलावा पंचवणसरससुरहिमुक्कपुप्फुंजोवयारकलिया

कालागह-पवरकुंदुरुक्क-तुल्ल धूवमघमघंत-गंधुदुयाभिरामा सुगन्ध-वर-गंध-गंधिया गंधवट्ठि-भूता अच्छरण-संघ संविगिण्णा दिव्वतुडित-सद्दसंपणदिता सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला निप्पंका निक्कंकाडच्छाया सप्पहा सत्सिरीया समिरीया सउज्जोया।
(ख) पण्ण. २/४९—तेणं विमाणा सव्वरतणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा नीरया निम्मला निप्पंका निक्कं कडच्छाया सप्पभा सत्सिरीया सउज्जोया।
४. भ.वृ. ५/२४३—विकरादि संपर्क सत्यपि एषां चक्षुरिन्द्रियाभावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावा-च्छुभपुद्गलकार्याकरणेशुभाः पुद्गला उच्यन्ते तदृश्येषामन्धकारमेवेति।

उत्सर्पिणी इ वा?
हंता अत्थि।।

उत्सर्पिणी इति वा?
हन्त अस्ति।।

उत्सर्पिणी होते हैं?
हां, ऐसा हो सकता है।

२५२. से केणट्टेणं?

गोयमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं,
इहं चेव तेसिं एवं पण्णायते, तं जहा—
समया इ वा जाव उत्सर्पिणी इ वा । से
तेणट्टेणं ।।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! इहं तेषां मानम्, इह तेषां प्रमाणम्,
इह चैव तेषां एवं प्रजायते, तद् यथा—
समया इति वा यावद् उत्सर्पिणी इति वा।
तत् तेनार्थेन।।

२५२. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! समय आदि का मान और प्रमाण मनुष्य-
लोक में ही होता है। मनुष्य-लोक में ही समय यावत्
उत्सर्पिणी होते हैं। यह इस अपेक्षा से।

२५३. वाणमंतर-जोइस-वेमाणियाणं जहा
नेरइयाणं ।।

वानमन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां यथा
नैरयिकाणाम् ।।

२५३. वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के
विषय में नैरयिकों की भांति वक्तव्यता।

भाष्य

१. सूत्र २४८-२५३

इस विश्व में दो प्रकार के क्षेत्र हैं—समयक्षेत्र और समयातीत क्षेत्र।
मनुष्य-लोक—जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्कर द्वीप—यह अढाई
द्विप समयक्षेत्र है। नरकलोक, देवलोक तथा अढाई द्वीप के आगे का क्षेत्र
समयातीत क्षेत्र है। वहां समय का विभाग नहीं होता। अढाई द्वीप के बाहर
सौरमण्डल गतिशील नहीं है—जहां सूर्य है, वहां सूर्य है, जहां चन्द्र है, वहां
चन्द्र है, सब अवस्थित हैं। इसलिए वहां भी काल का विभाग नहीं है।

काल का विभाग मनुष्य के लिए है। मनुष्य ही अपने काल-प्रमाण
के आधार पर नरक गति, तिर्यञ्च और देवगति के आयुष्य आदि की काल-
मर्यादा का निर्धारण करता है।

काल के दो प्रकार हैं—नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक काल
का लक्षण है वर्तना। उत्तरज्जयणाणि में काल का यही लक्षण निर्दिष्ट है।
तत्त्वार्थसूत्र में काल के पांच लक्षण बतलाए गए हैं—वर्तना, परिणाम,
क्रिया, परत्व और अपरत्वा। इनमें वर्तना और परिणाम का सम्बन्ध नैश्चयिक
काल से तथा क्रिया, परत्व और अपरत्व का सम्बन्ध व्यावहारिक काल से
है। ठाणं में व्यावहारिक काल जीव, अजीव दोनों रूप में वर्णित है।

अकलंक के अनुसार मनुष्य-क्षेत्रवर्ती समय, आवलिका आदि
व्यावहारिक काल के द्वारा ही सभी जीवों की कर्म-स्थिति, भवस्थिति और
कायस्थिति आदि का परिच्छेद होता है। संख्येय, असंख्येय और अनन्त—इस
काल-गणना का आधार भी व्यावहारिक काल है।

पासावच्चिज्ज-पदं

२५४. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासा-
वच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छन्ति, उवागच्छित्ता
समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते
ठिच्चा एवं वयासी—से नूणं भंते !
असंख्वेज्जे लोए अपणंता राइंदिया
उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जन्ति वा,
उप्पज्जिस्सन्ति वा? विगच्छिंसु वा,

पार्श्वपत्तीय-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये पार्श्वपत्तीयाः
स्थविराः भगवन्तो यत्रैव श्रमणः भगवान्
महावीरः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य
श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते
स्थित्वा एवमवादिषुः—तन् नूनं भगवन् !
असंख्येये लोके अनन्तानि रात्रिदिवानि
उदपादिषुः वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्पत्स्यन्ते
वा? व्यगमन् वा, विगच्छन्ति वा, विग-

पार्श्वपत्तीय-पद

२५४. ^१ उस काल और उस समय पार्श्वपत्तीय स्थविर
भगवान् जहां श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहां आते
हैं। वहां आकर श्रमण भगवान् महावीर के न अति
दूर, न अति निकट स्थित होकर इस प्रकार बोले—
भन्ते ! क्या इस असंख्येय प्रदेशात्मक लोक में अनन्त
रात-दिन उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न
होंगे? व्यतीत हुवे हैं, व्यतीत होते हैं और व्यतीत
होंगे ? परीत (परिमित) रात-दिन उत्पन्न हुए हैं,

१. उत्तर. २८/१०—वतणा लक्खणे कालो।

२. त.सू. ५/२२—वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्या

३. ठाणं २/३८७-३८९—समयाति वा आवलियाति वा जीवाति या अजीवाति या पबुच्चति।
आणापाणूति वा थोविति वा जीवाति या अजीवाति या पबुच्चति । खणाति वा लवाति वा जीवाति
या अजीवाति या पबुच्चति एवंमुहत्ताति वा अहोरात्ताति वा पक्खाति वा मासाति वा उकृति वा
अयणाति वा संवच्छरति वा जुगाति वा वाससायाति वा वाससहस्साइ वा वाससतसहस्साइ वा
वाससकोडीइ वा पुच्चंगाति वा पुच्चति वा तुडियंगाति वा तुडियाति वा अडडंगाति वा अडडाति
वा अवंगाति वा अववाति वा हूहंगाति वा हूहयाति वा उप्पलंगाति वा उप्पलति वा पउमंगाति

वा पउमाति वा णलियाति वा णलियाति वा अत्थणिकुंगाति वा अत्थणिकुरति वा अउअंगाति
वा अउआति वा णउअंगाति वा णउआति वा पउतंगाति वा पउताति वा चूलियंगाति वा चूलियाति
वा सीसपहेलियंगाति वा सीसपहेलियाति वा पलिओवमाति वा सागरोवमाति वा ओसप्पिणीति
वा उत्सर्पिणीति वा—जीवाति या अजीवाति या पबुच्चति।

४. त.रा.वा. ५/२२—मनुष्यक्षेत्रसमुत्थेन ज्योतिर्गतिसमयावलिकादिना परिच्छिन्नेन
क्रियाकलापेन कालवर्तनया कालाख्येन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्राणिनां संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तान्त-
कालगणनाप्रभेदेन कर्मभवकायस्थितिपरिच्छेदः सर्वत्र जघन्यमध्यमोत्कृष्टावस्थः क्रियते।

विगच्छंति वा, विगच्छिस्सति वा? परित्ता राइंदिया उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति वा, उप्पज्जिस्संति वा? विगच्छिंसु वा, विगच्छंति वा, विगच्छिस्संति वा? हंता अज्जो ! असंखेज्जे लोए अणंता राइंदिया तं चेव ॥

मिष्यन्ति वा? परीतानि रात्रिदिवानि उद-पादिषु; वा, उत्पद्यन्ते वा, उत्सत्स्यन्ते वा? व्यगमन् वा, विगच्छन्ति वा, विगमिष्यन्ति वा?

हन्त आर्याः! असंख्येये लोके अनन्तानि रात्रिदिवानि तच्चैव ।

उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे? व्यतीत हुए हैं, व्यतीत होते हैं और व्यतीत होंगे?

हां, आर्यों ! इस असंख्येयप्रदेशात्मक लोक में अनन्त रात-दिन उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे। व्यतीत हुए हैं, व्यतीत होते हैं और व्यतीत होंगे। इसी प्रकार परीत रात-दिन उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे। व्यतीत हुए हैं, व्यतीत होते हैं और व्यतीत होंगे ।

२५५. से केणट्टेणं जाव विगच्छिस्संति वा?

तत् केनार्थेन यावद् विगमिष्यन्ति वा?

२५५. यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—असंख्येय प्रदेशात्मक लोक में अनन्त रात-दिन उत्पन्न हुए हैं यावत् व्यतीत होंगे?

से नूनं भे अज्जो ! पासेणं अरहया पुरिसा-दाणिणं सासए लोए बुइए—अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे हेड्डा विच्छिण्णे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले, अहे पलियं कसंठिए, मज्झे वरवइरविग्गहिए, उप्पिं उद्धमुइं गाकारसंठिए। तेसिं च णं सासयंसि लोमंसि अणादियंसि अणवदग्गंसि परित्तंसि परिवुडंसि हेड्डा विच्छिण्णंसि, मज्झे संखित्तंसि, उप्पिं विसालंसि, अहे पलियं कसंठियंसि, मज्झे वरवइरविग्गहियंसि, उप्पिं उद्धमुइं गाकारसंठियंसि अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता-उप्पज्जित्ता निलीयंति, परित्ता जीवघणा उप्पज्जित्ता-उप्पज्जित्ता निलीयंति। से भूए उप्पण्णे विगए परिणए, अजीवेहिं लोककइ पलोक्कइ, जे लोककइ से लोए?

तन् नूनं भवताम् आर्याः ! पार्श्वेन अहंता पुरुषादान्गियेन शाश्वतः लोकः उक्तः—अनादिकः 'अणवदग्गे' परीतः परिवृतः अधः विस्तीर्णः, मध्ये संक्षिप्तः, उपरि विशालः, अधः पल्यङ्गस्थितः मध्ये वरवज्रविग्रहिकः उपरि ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थितः। तस्मिंश्च शाश्वते लोके अनादिके 'अणवदग्गंसि' परिते परिवृते अधः विस्तीर्णे, मध्ये संक्षिप्ते, उपरि विशाले, अधः पल्यङ्गस्थिते, मध्ये वरवज्रविग्रहिके, उपरि ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थिते अनन्ताः जीवघनाः उत्पद्य-उत्पद्य निलीयन्ते, परीताः जीवघनाः उत्पद्य-उत्पद्य निलीयन्ते। स भूतः उत्पन्नः विगतः परिणतः, अजीवैः लोक्यते-प्रलोक्यते, यः लोक्यते, स लोकः।

हे आर्यों ! आपके पूर्ववर्ती पुरुषादान्गीय अहंत् पार्श्व ने लोक को शाश्वत कहा है—अनादि, अनन्त, परीत, अलोक से परिवृत, निम्नभाग में विस्तीर्ण मध्य में संक्षिप्त और ऊपर विशाल है। वह निम्न भाग में पर्यक के आकारवाला, मध्य में उसकी आकृति श्रेष्ठ वज्र जैसी है और ऊपर ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार वाला है। उस शाश्वत, अनादि, अनन्त, परीत, अलोक से परिवृत, निम्न भाग में विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त, ऊपर विशाल, निम्न भाग में पर्यक आकार वाले, मध्य में श्रेष्ठ वज्र और ऊपर ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार वाले लोक में अनन्त जीवघन उत्पन्न हो-होकर निलीन हो जाते हैं। परीत जीवघन उत्पन्न हो-होकर निलीन हो जाते हैं। वह लोक सद्भूत, उत्पन्न, विगत और परिणत है। अजीव—पुद्गल आदि के विविध परिणामों के द्वारा जिसका लोकन किया जाता है, प्रलोकन किया जाता है, वह लोक है।

हंता भगवं !

से तेणट्टेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ—असंखेज्जे लोए अणंता राइंदिया तं चेव ।

हन्त भगवन् !

तत् तेनार्थेन आर्याः! एवमुच्यते—असंख्येये लोके अनन्तानि रात्रिदिवानि तच्चैव ।

हां, भगवन् !

आर्यों ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—इस असंख्येयप्रदेशात्मक लोक में अनन्त रात-दिन उत्पन्न होते हैं—पूर्ण वक्तव्यता ।

तप्पभिइं च णं पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति सव्वण्णु सव्वदरिसी ॥

तत्प्रभृति च ते पार्श्वोपत्वीयाः स्थविराः भगवन्तः श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रत्यभिजानन्ति सर्वज्ञः सर्वदर्शी ।

उस समय से पार्श्वोपत्वीय स्थविर भगवान् श्रमण भगवान् महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूप में पहचानते हैं।

२५६. तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता

ततः ते स्थविराः भगवन्तः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वदन्ते नमस्यन्ति, वन्दित्वा नम-

२५६. वे स्थविर भगवान् श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं। वन्दन-नमस्कार कर इस

एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं स-पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जिताणं विहरि-त्तए।
अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधां।

स्थित्वा एवमवादिषुः—इच्छामः भगवन् ! युष्माकम् अन्तिके चातुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकं सप्रतिक्रमणं धर्मम् उपसंपद्य विहर्तुम्।
यथासुखं देवानुप्रियाः। मा प्रतिबन्धम्।

प्रकार बोले—भन्ते ! हम आपके पास चातुर्याम धर्म से सप्रतिक्रमण पांच महाव्रत-रूप धर्म की उपसंपदा प्राप्त कर विहरण करना चाहते हैं।

देवानुप्रियो ! तुम्हे जैसा सुख हो, प्रतिबन्ध मत करो।

२५७. तए णं ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं स-पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जिताणं विहरंति जाव चरिमेहिं उस्सास-निस्सासेहिं सिद्धा बुद्धा मुक्का परिनिव्वुडा सव्वदुक्खप्पहीणा । अत्थेगतिया देवलोएसु उववण्णा ॥

ततः ते पार्श्वपत्नीयाः स्थविराः भगवन्तः चातुर्यामाद् धर्मात् पञ्चमहाव्रतिकम् स-प्रतिक्रमणं धर्मम् उपसंपद्य विहरन्ति यावच् चरमैः उच्छ्वास-निःश्वासैः सिद्धाः 'बुद्धा' मुक्ताः परिनिर्वृताः सर्वदुःखप्रहीणाः। अस्त्ये-कके देवलोकेषु उपपन्नाः।

२५७. वे पार्श्वपत्नीय स्थविर भगवान् चातुर्याम धर्म से सप्रतिक्रमण पांच महाव्रत रूप धर्म की उपसंपदा प्राप्त कर विहरण कर रहे हैं। यावत् चरम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध, प्रशांत, मुक्त, परिनिवृत और सब दुःखों से प्रहीण हुए। उनमें से कुछ एक स्थविर देवलोको में उपपन्न हुए।

भाष्य

१. सूत्र २५४-२५७

अर्हत् पार्श्व जैन परम्परा के २३ वें तीर्थंकर थे। उनका अस्ति-त्वकाल भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्ववर्ती है। डॉ. याकोबी ने जैन आगमों और बौद्ध-पिटकों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पार्श्व की ऐतिहासिकता को स्थापित किया।^१ भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वपत्निक (पार्श्व के अनुयायी) थे।^२ भगवान् महावीर के समय पार्श्वनाथ की परम्परा चल रही थी। पार्श्व के शिष्य भगवान् महावीर तथा गौतम के पास आते और तत्त्वचर्चा करते, ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं—

१. पार्श्वपत्नीय कालासवेसियपुत्त महावीर के स्थविरों के पास आते हैं और सामायिक आदि के विषय में तात्त्विक चर्चा करते हैं। अन्त में महावीर के शासन में दीक्षित हो जाते हैं।^३

२. तुंगिया नगरी के श्रावकों ने पार्श्वपत्नीय स्थविरों से तत्त्वचर्चा की। स्थविरों ने जो उत्तर दिए, उनका महावीर ने समर्थन किया। वे स्थविर महावीर के शासन में दीक्षित हुए, इसका कोई उल्लेख नहीं है।^४

३. पार्श्वपत्नीय स्थविर भगवान् महावीर के पास आते हैं और परिमित लोक में अनन्त रात-दिन के विषय में प्रश्न पूछते हैं। भगवान् महावीर पार्श्वनाथ के सिद्धान्त को उद्धृत कर उनके प्रश्न का समाधान करते हैं। वे स्थविर महावीर की सर्वज्ञता के विषय में विश्वस्त होकर उनके शासन में दीक्षित होते हैं।^५

४. पार्श्वपत्नीय गांगेय नामक अनगर वाणिज्यग्राम नामक नगर में आकर जीवों की उत्पत्ति और उद्वर्तन के विषय में प्रश्न पूछते हैं। महावीर उनका उत्तर देते हैं। इस प्रसंग में भी पार्श्व के लोक-विषयक सिद्धान्त को उद्धृत करते हैं। महावीर की सर्वज्ञता के प्रति विश्वस्त होकर गांगेय अनगर

उनके शासन में दीक्षित हो जाते हैं।^६

५. सूयगडो के नालंदीय अध्ययन के अनुसार पार्श्वपत्निक उदक पेढाल नालन्दा में गौतम के पास आते हैं और व्रत दिलाने की पद्धति के विषय में विस्तृत चर्चा करते हैं। चर्चा के पश्चात् वे महावीर के शासन में दीक्षित हो जाते हैं।^७

६. उत्तरज्झयणाणि में पार्श्वपत्नीय कुमार श्रमण केशी का उल्लेख है। वे श्रावस्ती में गौतम स्वामी के पास आते हैं। उन दोनों में एक लम्बा संवाद चलता है। अन्त में कुमार श्रमण केशी महावीर के शासन में दीक्षित होते हैं।^८

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के केवली हो जाने पर भी पार्श्व की परम्परा स्वतन्त्र रूप से चलती थी। उसी पार्श्व की परम्परा के स्थविर भगवान् महावीर के पास आए और उन्होंने पूछा—भन्ते ! परिमित लोक में अनन्त रात-दिन उत्पन्न और विगत होते हैं अथवा परिमित रात-दिन उत्पन्न और विगत होते हैं।

भगवान् महावीर ने दोनों विकल्पों को स्वीकार किया। यदि अनन्त हैं, तो परिमित कैसे? और यदि परिमित हैं, तो अनन्त कैसे? इस विरोध का परिहार सापेक्ष दृष्टि से किया गया। इस जगत में दो प्रकार के जीव हैं—साधारण शरीरी और प्रत्येक शरीरी।

साधारण शरीरी की अवस्था में अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। प्रत्येक शरीरी की अवस्था में परिमित जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। काल जीव का एक स्थिति लक्षण वाला पर्याय है। साधारण शरीरी जीवों की अपेक्षा से अनन्त रात-दिन उत्पन्न होते हैं और बीत जाते हैं। प्रत्येक शरीरी जीवों की अपेक्षा से परिमित रात-दिन उत्पन्न होते हैं और बीत जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों वक्तव्य परस्पर-विरोधी नहीं, किन्तु सापेक्ष हैं। असंख्येय

१. Sacred Books of the East, vol. XLV, Introduction,

२. आ. सू. १५/२५।

३. भ. १/४२३-४३३।

४. वही, २/९२-११०।

५. वही, ५/२५४-२५७।

६. वही, ९/७७-९३५।

७. भूय. २/७/८-३८।

८. उत्तर. अ. २३।

प्रदेश वाले लोक में अनन्त रात-दिन अथवा अनन्त जीवों का होना असम्भव नहीं है। आकाश में अवगाहन की क्षमता है और जीवों में परिणति की सूक्ष्मता है। अतः असंख्येय प्रदेशात्मक लोक में अनन्त जीवों का होना सम्भव है।

भगवान् महावीर ने अर्हत् पार्श्व के सिद्धान्त को उद्भूत करते हुए असंख्येय प्रदेशात्मक लोक के स्वरूप का प्रतिपादन किया। वह लोक भूत—यथार्थ है। वह उत्पन्न होता है, विगत होता है और परिणत होता है। यहां उत्पत्ति और व्यय परिणति अथवा पर्यायान्तर की दृष्टि से विवक्षित हैं, असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश विवक्षित नहीं है।

अजीव द्रव्य—पुद्गल की उत्पत्ति, व्यय और परिणति प्रत्यक्षतः दिखाई दे रही है। जो दिखाई दे रहा है, वह लोक है। पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है, इसलिए उसकी उत्पत्ति, व्यय और परिणति दिखाई दे रही है। शेष द्रव्य अमूर्त्त है, इसलिए उनकी उत्पत्ति, व्यय और परिणति दिखाई नहीं दे रही है। इसलिए लोक का निर्वचन प्रत्यक्ष-भूत पुद्गल द्रव्य के द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण में अर्हत् पार्श्व ने लोक को शाश्वत कहा है, यह उल्लेख है। भगवान् महावीर ने लोक को शाश्वत और अशाश्वत दोनों बतलाया है।

इन दोनों निरूपणों में विवक्षा-भेद है, विरोधाभास नहीं है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से लोक शाश्वत है, पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। द्रव्यार्थिक नय मुख्य वृत्ति से अभेद को स्वीकार करता है। वह भेद को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु उसे गौण कर देता है। इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय मुख्यवृत्ति से भेद को स्वीकार करता है। वह अभेद को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु उसे गौण कर देता है।

द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से लोक को शाश्वत कहा गया है, वहां

गौणरूप में यह स्वतःसिद्ध है कि लोक अशाश्वत भी है। लोक शाश्वत है—इस निरूपण में लोक अशाश्वत है—यह गम्य है, इसलिए उक्त दोनों निरूपणों में कोई विरोध नहीं है।

अर्हत् पार्श्व और भगवान् महावीर के शासन में भेदेखा खींचने वाले दस कल्प निर्दिष्ट हैं। इनमें व्रत छठा और प्रतिक्रमण आठवां कल्प है। प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं दो कल्पों का उल्लेख है। पार्श्वनाथ की व्रत-व्यवस्था में चातुर्याम का विधान था। भगवान् महावीर की व्रत-व्यवस्था में पांच महाव्रतों का विधान था। अर्हत् पार्श्व के शासन में प्रतिक्रमण करना अनिवार्य नहीं था, कोई प्रमाद होता तो प्रतिक्रमण कर लिया जाता, अन्यथा नहीं। महावीर के शासन में प्रतिक्रमण अनिवार्य था।

शब्द-विमर्श

परीत—परिमित।

पुरुषादानीय—जनता द्वारा आदेय, लोकमान्य।

अगवदग्ग—अनन्त

पर्यक आकार वाले—पर्यकासन अथवा पद्मासन में संस्थित, ऊपर संकड़ा, नीचे विस्तृत।

वरवज्रविग्रहिक — वज्र जैसी शरीर रचना वाला^१, मध्य में पतला।

उर्ध्वमृदंग के आकार वाला — मल्लक सम्पुट के आकार वाला।

जीवधन — अनन्त पर्याय समूह युक्त होने के कारण जीव के लिए जीवधन का प्रयोग किया गया है।

सद्भूत (भूत) — यथार्थ।

देवलोक-पदं

२५८. कइविहा णं भंते ! देवलोगा पण्णत्ता?
गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, तं
जहा—भवनवासी-वाणमंतर-जोतिसिय-
-वेमाणियभेदेणं। भवनवासी दसविहा,
वाणमंतरा अइविहा, जोतिसिया पंचविहा,
वेमाणिया दुविहा।

देवलोक-पदम्

कतिविधाः भदन्त ! देवलोकाः प्रज्ञप्ताः?
गौतम ! चतुर्विधाः देवलोकाः प्रज्ञप्ताः, तद्
यथा—भवनवासि-वानमन्तर-ज्यौतिषिक-
-वैमानिकभेदेन। भवनवासिनः दशविधाः,
वानमन्तराः अष्टविधाः, ज्यौतिषिकाः
पञ्चविधाः, वैमानिकाः द्विविधाः।

देवलोक-पद

२५८. भन्ते ! देवलोक के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! देवलोक के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
भवनवासी, वानमन्तर, ज्यौतिषिक और वैमानिक।
भवनवासी के दश प्रकार, वानमन्तर के आठ प्रकार,
ज्यौतिषिक के पांच प्रकार और वैमानिक के दो प्रकार
हैं।

संग्रहणी गाथा

किमिदं रायगिहं ति य,
उज्जोए अंधयार-समए या

संग्रहणी गाथा

किमिदं राजगृहमिति च,
उद्द्योतोऽन्धकार-समयौ च।

संग्रहणी गाथा

यह राजगृह क्या है? उद्द्योत और अन्धकार कहां है?
समय आदि को कौन जानता है? पार्श्वपत्नीय

१. भ.वृ. ५/२५४—इहायमभिप्रायः—यद्यनन्तानि तानि तदा कथं परीतानि? इति विरोधः, अत्र हन्तेत्यारुत्तरं, अत्र चायमभिप्रायः—असंख्येयप्रदेशेषु लोकेऽनन्ता जीवा वर्तन्ते, तयविधस्वरूपत्वाद्, एकत्राश्रये सहस्रादि संख्यप्रदीपप्रभा इव, ते नैकत्रैव समयादिके कालेऽनन्ता उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, स च समयादि कालस्तेषु साधारण-शरीरावस्थायामनन्तेषु प्रत्येक-शरीरावस्थायां च परीतेषु प्रत्येकं वर्तते, तद् स्थितिलक्षणपर्यायरूपत्वात्तस्य, तथा च कालोऽनन्तः परीतश्च भवतीति, एवं चासंख्येयेऽपि लोके गत्रिन्दिवान्यनन्तानि परीतानि च बालव्रदेऽपि युज्यन्त इति।

२. भ. १/२३३

३. द्रव्यानुयोगतर्कणा, ५/२,३—

द्रव्यार्थिकनयो मुख्यवृत्त्या भेदं नदंस्त्रिषु।
अन्योन्यमुपचारेण तेषु भेदं दिशत्यलम् ॥२॥
पर्यायार्थिक एवापि मुख्यवृत्त्यात्र भेदताम्।
उपचारानुभूतिभ्यां मनुतेऽभेदतां त्रिषु ॥३॥

४. ठाणं, ६/१,०३ का टिप्पण।

५. भ. २/११८ का भाष्य।

श. ५ : उ. ९ : सू. २५९

२२४

भगवई

पासंतिवासिपुच्छा,
रातिंदिय देवलोगा य॥१॥

पाश्वान्तिवासि-पृच्छा,
रात्रिंदिया देवलोकाश्च ॥१॥

स्थविरो की पृच्छा, लोक में होने वाले रात-दिन और
देवलोकों का वर्णन—इस उद्देशक में है।

२५९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

२५९. भंते ! यह ऐसा ही है, भंते ! यह ऐसा ही है।



दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल

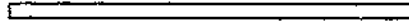
संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

२६०. तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं
नगरी, जहा पढमित्तो उद्देशओ तहा नेयव्वो
एसो वि, नवरं—चंदिमा भाणियव्वा ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये चम्पा नाम नगरी,
यथा प्रथमः उद्देशकः तथा नेतव्यः एषोऽपि,
नवरं—चन्द्रमाः भणितव्यः।

२६०. उस काल और उस समय चम्पा नाम की नगरी
थी। प्रथम उद्देशक में जो सूर्य की वक्तव्यता है, वह
यहां ज्ञातव्य है। उसमें और इसमें इतना विशेष—
सूर्य के स्थान पर चन्द्रमा वक्तव्य है।



छठं सयं

छठा शतक

आमुख

कर्मविद्या जैन तत्त्व-विद्या का प्रमुख अंग है। कर्म की विविध अवस्थाओं को जानने के लिए 'वेदना' और 'निर्जरा' का उद्देशक प्रस्तुत शतक का प्रथम उद्देशक अध्यक्ष-पूर्वक मननीय है। सामान्य अवधारणा है—जितना अधिक कष्ट सहन, उतनी अधिक निर्जरा। इस अवधारणा में सत्यांश नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु सत्यांश की आधारभूमि समझे बिना कर्मविद्या का रहस्य पकड़ में नहीं आता। कर्म की मुख्यतः दो अवस्थाएं होती हैं—गाढीकृत और शिथिलीकृत। कर्म की गाढीकृत अवस्था में अधिक कष्ट सहने पर भी निर्जरा अल्प होती है। कर्म की शिथिलीकृत अवस्था में अल्प कष्ट सहन करने पर भी निर्जरा अधिक हो जाती है। इससे यह सिद्धान्त फलित होता है कि निर्जरा की अल्पता और अधिकता के पीछे कष्ट सहन गौण कारण है, मुख्य कारण है कर्म की गाढीकृत और शिथिलीकृत अवस्था। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है—

कर्म	वेदना	निर्जरा
गाढीकृत	महावेदना	अल्पनिर्जरा
शिथिलीकृत	महावेदना	महानिर्जरा
शिथिलीकृत	अल्पवेदना	अल्पनिर्जरा
शिथिलीकृत	अल्पवेदना	महानिर्जरा

पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार क्लेश-हानि की तीन अवस्थाएं फलित होती हैं—१. तनूभाव २. दग्धभाव ३. सम्यक् प्रणाश। क्रियायोग के द्वारा क्लेश का तनूभाव होता है। प्रसंख्यान के द्वारा उसका दग्धबीज भाव होता है। चित्तप्रलय के द्वारा उसका सम्यक् प्रणाश होता है।^१ इसकी तुलना अल्पनिर्जरा और महानिर्जरा से की जा सकती है। साधना की प्रत्येक पद्धति में विशुद्धि की प्रक्रिया का निर्देश अनिवार्य है।

अध्यात्मविद्या में आभामण्डल एक चर्चित विषय है। आगम-साहित्य में यह द्रव्यलेश्या के रूप में चर्चित है। प्रत्येक प्राणी का अपना आभामण्डल होता है। केवल प्राणी में ही नहीं अचेतन पदार्थ का भी आभामण्डल होता है। अचेतन पदार्थ का आभामण्डल नियत होता है। प्राणी का आभामण्डल अनियत होता है। वह बदलता रहता है। प्रस्तुत शतक में बदलने के चार हेतु बतलाए गए हैं : १. कर्म २. क्रिया (प्रवृत्ति आचरण) ३. आश्रव ४. वेदना। कर्म का विपाक अशुभ, क्रिया अशुभ, आश्रव—आत्मा का परिणाम अशुभ और अशुभ पुद्गलों का ग्रहण तथा वेदना अशुभ—ये प्रकृष्ट अवस्था में होते हैं, तब आभामण्डल मलिन हो जाता है। उसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अनिष्ट हो जाते हैं, मानसिक संक्लेश बढ़ जाते हैं।

उक्त चारों हेतु शुभ होते हैं, तब आभामण्डल निर्मल हो जाता है। उसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इष्ट हो जाते हैं, मानसिक सुख का निर्झर सतत प्रवाही हो जाता है। आभामण्डल का प्रभाव शरीर पर भी होता है।^२

सिद्धान्त को उदाहरण के द्वारा सरल बनाकर समझाना प्रस्तुत आगम की रचनाशैली की विशेषता है। कर्म का उपचय प्रयोग से होता है, स्वभाव से नहीं होता—इस सिद्धान्त को वस्त्र के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।^३ जीव के सादित्व और अनादित्व के लिए भी वस्त्र का उदाहरण प्रदत्त है।

प्रस्तुत आगम में कर्मशास्त्र प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध है। यदि उसे एकत्र संकलित किया जाये तो पूरा ग्रन्थ बन सकता है। प्रस्तुत शतक का तीसरा उद्देशक कर्मशास्त्र का ही एक प्रकरण है।

१. पा.मो.द. २/११

२. भ. ६/२०-२३

३. बही, ६/२४-२९

आगम-साहित्य का बहुत बड़ा भाग विस्मृति में चला गया। उसकी अगाध ज्ञानराशि में जो शेष रहा, उसमें प्रस्तुत आगम का विशेष महत्त्व है। इसमें तमस्काय, कृष्णराजि जैसे लोकविद्या के महत्त्वपूर्ण विषय वर्णित हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों ने कृष्ण विवर (Black Hole) को खोजा है। तमस्काय को अप्कायिक तथा कृष्णराजी को पृथ्वीकायिक परिणामन बताया गया है। 'बरमूदा त्रिकोण' (त्रिनिडाड समुद्र तट) के रहस्यमय क्षेत्र में यात्रा करने वालों ने जो जानकारी दी है, वह तमस्काय का आभास देने वाली है। घटना ८ अगस्त १९५६ की है—

कोष्टगार्ड का एक खोजी और तार बिछाने वाला जहाज 'यामाक्रा' सरगासो समुद्र क्षेत्र की ओर बढ़ रहा था। सरगासो समुद्र क्षेत्र, बरमूदा त्रिकोण के बाहमास क्षेत्र के उत्तर में समुद्री घास, जालों से भरा जलक्षेत्र माना जाता है। यह भी कहा जाता है कि इस जलक्षेत्र के नीचे 'गल्फ स्ट्रीम' तथा अन्य प्रवाही धाराएं सक्रिय हैं। जहाजों, नौकाओं आदि के लिए यह क्षेत्र वर्जित और बेहद जोखिम भरा माना जाता है। कहा तो यहां तक जाता है कि बरमूदा त्रिकोण में रहस्यमय ढंग से गायब अथवा नष्ट होने वाले जलयानों, नौकाओं आदि की समाधि इसी जल-क्षेत्र में लगी है। तो यामाक्रा खुले समुद्र में आगे बढ़ रहा था कि अचानक राडार संचालक ने पाया कि जहाज के ठीक सामने अद्वाइस तीस मील दूर तक एक बहुत बड़ा मिट्टी का ढेर-सा खड़ा है। उसने अपने अफसर को इसकी सूचना दी। अफसर ने उस ढेर और अपने दिशासूचक यन्त्रों को देखा तो उसे भी लगा कि कुछ गड़बड़ है। जहाज के कैप्टन को भी इस सम्बन्ध में सूचित किया गया, पर उसने जहाज की दिशा नहीं बदली और जहाज आगे बढ़ता गया। कुछ ही घण्टों में जहाज उस मिट्टी के ढेर के बहुत करीब पहुंच गया। पर अब मिट्टी का आभास तो होता था, लेकिन ढेर जैसी ऊंचाई नहीं थी। रोचक और दिलचस्प बात यह थी कि जहाज के शक्तिशाली राडार और सर्चलाइटें यहां बेअसर साबित हो रहे थे। सच तो यह था कि मिट्टी या जमीन भी नहीं थी, लेकिन यह पानी की ऐसी विचित्र सतह थी, जो उत्तर-पूर्व से दक्षिणपूर्व की ओर ऊंचे उठते हुए जमीन के टुकड़े या मिट्टी के ढेर जैसे मालूम दे रही थी। सूनी, ठण्डी मौत की जीती-जागती अनुभूति थी वह। लेकिन 'यामाक्रा' के कप्तान और चालक-दल ने विलक्षण साहस का परिचय देते हुए जहाज को आगे बढ़ाना जारी रखा। प्रवंचना भरे इस जल-क्षेत्र में प्रवेश करते ही जहाज की तमाम बतियां गुल हो गईं। ऐसा घना, ठोस अंधेरा कि बेहद तेज जलने वाली कार्बन आर्क बतियां भी एक बुझती चिनगारी से ज्यादा चमकदार नहीं रह गई थी। चालक-दल के सदस्यों में खांसी का ऐसा दौर चला कि रोके नहीं रुका। जहाज के इंजन में 'स्टीम प्रेशर' खत्म होने लगा। हारकर कैप्टन को जहाज मोड़ने और लौट चलने का आदेश देना पड़ा। अनुमान से सब काम किया गया लेकिन कई घण्टे जीवन-मृत्यु से जूझते इस जहाज के लोगों को जब सुबह की रोशनी मिली तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही कि दूर दराज तक उस प्रवंचना का कोई नामों निशान नहीं था।^१

मृत्युकालीन अनुभवों का संकलन परामनोविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इस सन्दर्भ में मारणान्तिक समुद्घात का सिद्धान्त अनुसन्धेय है। उससे अनेक रहस्य अनावृत होते हैं।^२

गणनाकाल, गणनातीतकाल, कालचक्र, वैक्रियशक्ति द्वारा रूप-निर्माण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषय प्रस्तुत शतक में निरूपित हैं।

प्रस्तुत आगम की रचना-शैली से पता चलता है कि देवर्धिगणी के समय में इसमें अनेक पाठ संकलित किए गए। कुछ सूत्र अक्षरशः पुनरावृत्त हैं। केवली इन्द्रियों से नहीं जानता-देखता—यह पांचवे शतक में भी है।^३

तत्त्वज्ञान के गंभीर प्रतिपादन की दृष्टि से प्रत्येक शतक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १ सितम्बर, १९७९ में 'बरमूदा त्रिकोण—नए पुराने कितने कोण' लेख, लेखक—सुधीर सैन।

२. भ. ६/१२२-१२७

३. वही, ५/१०८, १०९; ६/१८७, १८८

पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाथा

१. वेदण २. आहार ३. महस्सवे य
४. सपदेश ५. तमुए ६. भविए।
७. साली ८. पुढ वी ९. कम्म
१०. अण्णउत्थि दस छद्दगम्मि सए ॥

संग्रहणी गाथा

- वेदनाहार-महास्रवाश्च
सप्रदेश तमस् भव्यः।
शालिः पृथिवी कर्मा-
ऽन्ययूथिका दश षष्ठके शते॥

संग्रहणी गाथा

- वेदना, आहार, महाश्रव, सप्रदेश, तमस्काय, भव्य,
शालि, पृथ्वी, कर्म और अन्ययूथिक—छठे शतक
के दस उद्देशकों के ये प्रतिपाद्य हैं।

पसत्थनिज्जराए सेयत्त-पदं

१. से नूणं भन्ते ! जे महावेदणे से महानिज्जरे?
जे महानिज्जरे से महावेदणे? महावेदणस्य
य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थ-
निज्जराए?

प्रशस्तनिर्जारायाः श्रेयस्त्व-पदम्

- तन् नूनं भदन्त ! यः महावेदनः सः महा-
निर्जरः? यः महानिर्जरः सः महावेदनः?
महावेदनस्य च अल्पवेदनस्य च सः श्रेयान्
यः प्रशस्तनिर्जाराकः?

प्रशस्त निर्जरा का श्रेयस्त्व-पद

१. 'भन्ते! क्या जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा
वाला है? क्या जो महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना
वाला है? महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में
क्या वह श्रेयान् है जो प्रशस्त निर्जरा वाला है?

- हंता गोयमा ! जे महावेदणे से महानिज्जरे,
जे महानिज्जरे से महावेदणे, महावेदणस्य
य अप्पवेदणस्स य से सेए जे पसत्थनिज्ज-
राए ॥

- हन्त गौतम ! यः महावेदनः सः महानिर्जरः,
यः महानिर्जरः सः महावेदनः, महावेदनस्य
च अल्पवेदनस्य च सः श्रेयान् यः प्रशस्त-
निर्जाराकः।

- हां, गौतम ! जो महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा
वाला है? जो महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना
वाला है। महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में
वह श्रेष्ठ है, जो प्रशस्त निर्जरा वाला है।

२. छट्ठ-सत्तमासु णं भन्ते ! पुढ वीसु नेरइया
महावेदणा?
हंता महावेदणा ॥

- षष्ठी-सप्तम्योः भदन्त ! पृथिव्योः नैरयिकाः
महावेदनाः?
हन्त महावेदनाः।

२. भन्ते ! छठी और सातवीं पृथिवियों के नैरयिक क्या
महावेदना वाले हैं?
हां, महावेदना वाले हैं।

३. ते णं भन्ते ! समणेहिंतो निगंथेहिंतो महा-
निज्जरतरा?
गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे ॥

- ते भदन्त ! श्रमणेभ्यो निर्गन्थेभ्यो महा-
निर्जरतराः?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

३. भन्ते ! क्या वे श्रमण-निर्गन्थों से महानिर्जरा वाले
हैं?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

४. से केणं खाइ अट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—
जे महावेदणे से महानिज्जरे? जे महानिज्जरे
से महावेदणे? महावेदणस्य य अप्पवेदणस्स
य से सेए जे पसत्थनिज्जराए?

- तत् केन 'खाइ' अर्थेन भदन्त ! एवमुच्यते
—यः महावेदनः सः महानिर्जरः? यः
महानिर्जरः सः महावेदनः? महावेदनस्य च
अल्पवेदनस्य च सः श्रेयान् यः प्रशस्त-
निर्जाराकः?

४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो
महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है? जो
महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना वाला है?
महावेदना वाले और अल्पवेदना वाले में वह श्रेष्ठ है
जो प्रशस्त निर्जरा वाला है?

गोयमा ! से जहानामए दुवे वत्था सिया—
एगे वत्थे कद्मरागरत्ते, एगे वत्थे खंजण-
रागरत्ते। एएसि णं गोयमा ! दोण्हं वत्थाणं
कयरे वत्थे दुद्धोयतराए चैव, दुवामतराए
चैव, दुपरिकम्मतराए चैव; कयरे वा वत्थे
सुद्धोयतराए चैव, सुवामतराए चैव, सुपरि-
कम्मतराए चैव; जे वा से वत्थे कद्मरागरत्ते?
जे वा से वत्थे खंजणरागरत्ते?

भगवं ! तत्थ णं जे से कद्मरागरत्ते, से णं
वत्थे दुद्धोयतराए चैव, दुवामतराए चैव,
दुपरिकम्मतराए चैव, एवामेव गोयमा !
नेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं,
चिक्कणीकयाइं, सिलिष्टीकयाइं, खिली-
भूताइं भवंति। संपगाढं पि य णं ते वेदणं
वेदेमाणा नो महानिज्जरा, नो महापज्जव-
साणा भवंति।

से जहा वा केइ पुरिसे अहिगरणिं आउडेमाणे
महया-महया सदेणं, महया-महया घोसेणं,
महया-महया परंपराघाएणं नो संचाएइ तीसे
अहिगरणीए केइ अहाबायरे पोग्गले परि-
साडित्तए, एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं
कम्माइं गाढीकयाइं, चिक्कणीकयाइं,
सिलिष्टीकयाइं, खिलीभूताइं भवंति। संपगाढं
पि य णं ते वेदणं वेदेमाणा नो महानिज्जरा,
नो महापज्जवसाणा भवंति।

भगवं ! तत्थ जे से खंजणरागरत्ते, से णं वत्थे
सुद्धोयतराए चैव, सुवामतराए चैव, सुपरि-
कम्मतराए चैव, एवामेव गोयमा ! सभणाणं
निग्गंथाणं अहाबायराइं कम्माइं सिढिली-
कयाइं, निड्डियाइं कयाइं, विप्परिणामियाइं
खिप्पामेव विद्धत्थाइं भवंति। जावत्तियं
तावत्तियं पि णं ते वेदणं वेदेमाणा महा-
निज्जरा, महापज्जवसाणा भवंति।

से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं
जायतेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा !
से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते
समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जति?

गौतम ! तद् यथानाम द्वे वस्त्रे स्याताम्—
एकं वस्त्रं कर्दमरागरक्तम्, एकं वस्त्रं
खञ्जनरागरक्तम्। एतयोः गौतम ! द्वयोः
वस्त्रयोः कतरद् वस्त्रं दुधौततरकं चैव,
दुर्वाभ्यतरकं चैव, दुष्परिकर्मतरकं चैव;
कतरद् वा वस्त्रं सुधौततरकं चैव,
सुवाभ्यतरकं चैव, सुपरि-कर्मतरकं चैव; यद्
वा तद् वस्त्रं कर्दमरागरक्तम्? यद् वा तद् वस्त्रं
खञ्जनरागरक्तम्?

भगवन् ! तत्र यत् तत् कर्दमरागरक्तं, तद्
वस्त्रं दुधौततरकं चैव, दुर्वाभ्यतरकं चैव,
दुष्परिकर्मतरकं चैव, एवमेव गौतम !
नैरयिकाणां पापानि कर्माणि गाढीकृतानि,
चिक्कणी-कृतानि, शिलिष्टीकृतानि, खिली-
भूतानि भवन्ति। संप्रगाढामपि च ते वेदनां
वेदयन्तः नो महानिर्जराः नो महापर्यवसानाः
भवन्ति।

तद् यथा वा कोपि पुरुषः अधिकरणीम्
आकुड्डयन् महता-महता शब्देन, महता-
महता घोषेण, महता-महता परम्पराघातेन
नो शक्नोति तस्याः अधिकरण्याः कानपि
यथाबादरान् पुद्गलान् परिशाटयितुम्,
एवमेव गौतम ! नैरयिकाणां पापानि कर्माणि
गाढीकृतानि, चिक्कणीकृतानि, शिलिष्टी-
कृतानि, खिलीभूतानि भवन्ति। संप्रगाढामपि
च ते वेदनां वेदयन्तः नो महानिर्जराः नो
महापर्यवसानाः भवन्ति।

भगवन् ! तत्र यत् तत् खञ्जनरागरक्तं, तद्
वस्त्रं सुधौततरकं चैव, सुवाभ्यतरकं
चैव, सुपरिकर्मतरकं चैव, एवमेव गौतम !
श्रमणाणां निर्ग्रन्थानां यथाबादराणि कर्माणि
शिथिलीकृतानि, निष्ठितानि कृतानि,
विपरिणामितानि क्षिप्रमेव विध्वस्तानि
भवन्ति। यावत्तिकां तावत्तिकामपि ते वेदनां
वेदयन्तः महानिर्जराः महापर्यवसानाः
भवन्ति।

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः शुष्कं तृणहस्तकं
जाततेजसि प्रक्षिपेत्, तन् नूनं गौतम ! तत्
शुष्कं तृणहस्तकं जाततेजसि प्रक्षिप्तं सत्
क्षिप्रमेव 'मसमसाविज्जति'?

गौतम ! जैसे कोई दो वस्त्र हैं—एक वस्त्र कर्दम-राग
से रंगा हुआ है और एक वस्त्र खंजनराग से रंगा हुआ
है। गौतम ! इन दोनों वस्त्रों में कौन-सा वस्त्र कठिनता
से धुलता है? किस वस्त्र का धब्बा कठिनता से उतरता
है और किस वस्त्र का परिकर्म सम्यक् प्रकार से नहीं
होता? कौन-सा वस्त्र सरलता से धुलता है? किस
वस्त्र का धब्बा सरलता से उतरता है? और किस
वस्त्र का परिकर्म सम्यक् प्रकार से होता है? वह जो
वस्त्र कर्दमराग से रंगा हुआ है अथवा वह जो वस्त्र
खंजनराग से रंगा हुआ है?

भगवन् ! जो वस्त्र कर्दमराग से रंगा हुआ है, वह
कठिनता से धुलता है, उसके धब्बे कठिनता से उतरते
हैं और उसका परिकर्म सम्यक् प्रकार से नहीं
होता। गौतम ! इसी प्रकार नैरयिक जीवों के पापकर्म
गाढ़ रूप में किए हुए होते हैं, चिकने किए हुए होते
हैं, संसृष्ट किए हुए होते हैं और अलंघ्य होते हैं। वे
प्रगाढ़ वेदना का वेदन करते हुए भी महानिर्जरा
वाले नहीं होते, महापर्यवसान वाले नहीं होते।

जैसे कोई पुरुष अहरन (निहाई) को तेज शब्द, तेज
घोष और निरन्तर तेज आघात के साथ हथौड़े से
पीटता हुआ उस अहरन के स्थूल पुद्गलों का
परिशाटन करने में समर्थ नहीं होता, गौतम ! इसी
प्रकार नैरयिक जीवों के पापकर्म गाढ़रूप में किए
हुए होते हैं, चिकने किए हुए होते हैं, संसृष्ट किए हुए
होते हैं और अलंघ्य होते हैं। वे प्रगाढ़ वेदना का
वेदन करते हुए भी महानिर्जरा वाले नहीं होते,
महापर्यवसान वाले नहीं होते।

भगवन् ! जो वस्त्र खंजन राग से रंगा हुआ है, वह
सरलता से धुलता है। उसके धब्बे सरलता से उतरते
है, उसका परिकर्म सम्यक् प्रकार से होता है। गौतम!
इसी प्रकार श्रमण-निर्ग्रन्थों के शिथिल रूप में किए
हुए निःसत्त्व किए हुए और विपरिणामन को प्राप्त
किए हुए स्थूल कर्म-पुद्गल शीघ्र ही विध्वस्त हो
जाते हैं। वे जिस-तिस मात्रा में भी वेदना का वेदन
करते हुए महानिर्जरा वाले और महापर्यवसान वाले
होते हैं।

गौतम ! जैसे कोई पुरुष सूखे घास के पूलों को अग्नि
में डालता है। वह अग्नि में डाला हुआ सुखा घास
का पूल शीघ्र ही भस्म हो जाता है?

हंता मसमसाविज्जति ।

एवामेव गोयमा ! समणाणं निगंथाणं अहा-
बायराइं कम्माइं, सिद्धिलीकयाइं, निद्धियाइं
कयाइं, विप्परिणामियाइं खिप्पामेव विद्ध-
त्थाइं भवंति जावतियं तावतियं पि णं ते
वेदणं वेदेमाणा महानिज्जरा, महापज्ज-
वसाणा भवंति ।

से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकव-
ल्लंसि उदगबिंदुं पक्खिवेज्जा, से नूणं
गोयमा ! से उदगबिंदू तत्तंसि अयकवल्लंसि
पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसमा-
गच्छइ?

हंता विद्धंसमागच्छइ ।

एवामेव गोयमा ! समणाणं निगंथाणं अहा-
बायराइं कम्माइं, सिद्धिलीकयाइं, निद्धियाइं
कयाइं, विप्परिणामियाइं खिप्पामेव विद्ध-
त्थाइं भवंति जावतियं तावतियं पि णं ते
वेदणं वेदेमाणा महानिज्जरा, महापज्जव-
साणा भवंति । से तेणट्ठेणं जे महावेदणे से
महानिज्जरे, जे महानिज्जरे से महावेदणे,
महावेदणस्स थ अप्पवेदणस्स थ से सेए जे
पसत्थनिज्जराए ॥

हन्त 'मसमसाविज्जति' ।

एवमेव गौतम ! श्रमणानां निर्ग्रन्थानां यथा-
बादराणि कर्माणि, शिथिलीकृतानि, निष्ठि-
तानि कृतानि विपरिणामितानि क्षिप्रमेव
विध्वस्तानि भवन्ति । यावतिकां तावति-
कामपि ते वेदनां वेदयन्तः महानिर्जरा; महा-
पर्यवसानाः भवन्ति ।

तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः तपे अयस्कपाले
उदकबिन्दुं प्रक्षिपेत्, तन् नूनं गौतम ! स
उदकबिन्दुः तपे अयस्कपाले प्रक्षिप्तः सन्
क्षिप्रमेव विध्वंसमागच्छति?

हन्त विध्वंसमागच्छति ।

एवमेव गौतम ! श्रमणानां निर्ग्रन्थानां यथा-
बादराणि कर्माणि, शिथिलीकृतानि, निष्ठि-
तानिकृतानि, विपरिणामितानि क्षिप्रमेव
विध्वस्तानि भवन्ति । यावतिकां तावति-
कामपि ते वेदनां वेदयन्तः महानिर्जराः
महापर्यवसानाः भवन्ति । तत् तेनार्थेन यः
महावेदनः स महानिर्जरः, यः महानिर्जरः स
महावेदनः, महावेदनस्य च अल्पवेदनस्य च
सः श्रेयान् यः प्रशस्तनिर्जराकः ।

हां, भस्म हो जाता है ।

गौतम ! इसी प्रकार श्रमण-निर्ग्रन्थों के शिथिल रूप में
किए हुए, निःसत्त्व किए हुए और विपरिणमन को
प्राप्त किए हुए स्थूल कर्म-पुद्गल शीघ्र ही विध्वस्त
हो जाते हैं। वे जिस-तिस मात्रा में भी वेदना का वेदन
करते हुए महानिर्जरा वाले और महापर्यवसान वाले
होते हैं।

गौतम ! जैसे कोई पुरुष तपे हुए लोहे के तवे पर पानी
की बूंद गिराता है। वह तपे हुए लोहे के तवे पर गिराई
हुई पानी की बूंद शीघ्र ही विध्वस्त हो जाती है?

हां, विध्वस्त हो जाती है ।

गौतम ! इसी प्रकार श्रमण-निर्ग्रन्थों के शिथिल रूप
में किए हुए, निःसत्त्व किए हुए और विपरिणमन को
प्राप्त किए हुए स्थूल कर्म-पुद्गल शीघ्र ही विध्वस्त
हो जाते हैं। वे जिस-तिस मात्रा में भी वेदना का वेदन
करते हुए महानिर्जरा वाले और महापर्यवसान वाले
होते हैं। इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जो
महावेदना वाला है, वह महानिर्जरा वाला है, जो
महानिर्जरा वाला है, वह महावेदना वाला है। महावेदना
वाले और अल्पवेदना वाले में वह श्रेष्ठ है जो प्रशस्त
निर्जरा वाला है।

भाष्य

१. सूत्र १-४

प्रस्तुत आलापक में वेदना और निर्जरा के सम्बन्ध पर विमर्श
किया गया है। इस विमर्श में तीन सूत्र प्रस्तुत हैं—

१. महावेदना और महानिर्जरा।

२. वेदना महान हो या अल्प, जो प्रशस्त निर्जरा है, वह श्रेष्ठ है।

३. कर्म गाढीकृत होता है, तो महावेदना होने पर महानिर्जरा नहीं
होती, जैसे—छठी और सातवीं पृथिवियों के नैरयिकों के महावेदना होती है,
पर महानिर्जरा नहीं होती। श्रमण-निर्ग्रन्थ के अल्पवेदना होने पर भी महानिर्जरा
होती है। इसका हेतु है कर्म का शिथिलीकृत स्वरूप।

'महावेदना और महानिर्जरा'—यह सामान्य नियम है।

'अल्पवेदना और महानिर्जरा'—यह इसका अपवाद सूत्र है।

निर्जरा का मूल हेतु है—प्रशस्त अध्यवसाय एवं शुभयोगा निर्जरा

की अल्पता या बहुता उसी पर निर्भर है। उमास्वाति ने अध्यवसाय की प्रकर्षता
के आधार पर निर्जरा के तारतम्य का प्रतिपादन किया है—

१. सम्यग्दृष्टि से श्रावक के असंख्येयगुणा निर्जरा

२. श्रावक से विरत के असंख्येयगुणा निर्जरा

३. विरत से अनन्तवियोजक के असंख्येयगुणा निर्जरा

४. अनन्तवियोजक से दर्शनमोहक्षपक के असंख्येयगुणा निर्जरा

५. दर्शनमोह क्षपक से मोहोपशमक के असंख्येयगुणा निर्जरा

६. मोहोपशमक से उपशान्तमोह के असंख्येयगुणा निर्जरा

७. उपशान्तमोह से मोहक्षपक के असंख्येयगुणा निर्जरा

८. मोहक्षपक से क्षीणमोह के असंख्येयगुणा निर्जरा

९. क्षीणमोह से जिन के असंख्येयगुणा निर्जरा ।

१. त.रा.वा. ९/४५—अध्यवसायविशुद्धि प्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरात्वं दर्शानाम् ।

२. त.सू. ९/४७—सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमकोप-

शान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥

तत्त्वार्थ भाष्यकार ने निर्जरा के दो भेद किए हैं—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला । नरक आदि में जो कर्म-फल विपाकजा निर्जरा होती है, वह अबुद्धिपूर्वा है। 'मैं कर्म का शासन करूँ'—इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती, केवल कर्म का विपाक होने पर उसकी निर्जरा होती है, इसलिए वह अबुद्धिपूर्वा है। इस निर्जरा को अकुशलानुबन्धा कहा गया है। तप और परिषह-जय से होने वाली निर्जरा कुशलमूला होती है। प्रशस्तनिर्जरा की कुशलमूला निर्जरा से तुलना की जा सकती है। अभयदेवसूरि ने प्रशस्त निर्जरा का अर्थ 'कल्याणानुबन्ध निर्जरा' किया है। तत्त्वार्थभाष्य में कुशलमूला निर्जरा के दो प्रकार बतलाये गए हैं—शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा जिस निर्जरा का फल स्वर्ग आदि सुगति हो वह शुभानुबन्धा निर्जरा है जो निर्जरा साक्षात् मोक्ष का कारण बने, वह निरनुबन्धा निर्जरा है।

प्रस्तुत प्रकरण की विस्तृत व्याख्या इसी शतक के १५, १६ वें सूत्र में प्राप्त है।

शब्द-विमर्श

कर्दमराग से रंगा हुआ—गाढे चिकने पंक से लिप्त।

खंजनराग से रंगा हुआ—सामान्य पंक से लिप्त।

गाढरूप में किए हुए—आत्मप्रदेशों के साथ गाढ रूप में बद्धकर्म,

जैसे—सन के सूत्र से गाढ रूप में बंधा हुआ सूत्र-कलाप।

चिकने किए हुए—सूक्ष्म कर्म-स्कन्ध—जो परस्पर गाढ रूप में संबद्ध होने के कारण दुर्भेद्य बन जाएं, जैसे मृतपिण्ड।

संसृष्ट किए हुए—निधत्त, जैसे सूत्र से बंधा हुआ अग्निपत्त लोह का शलाका-कलाप।

अलंघ्य (खिलीभूताई) —जिस कर्म का निश्चित रूप में विपाकोदय हो वह कर्म, निकाचित कर्म।

महापर्यवसानवाले—जिस निर्जरा का फल निर्वाण हो।

निरन्तर तेज आघात (परंपराघाएण)—परम्पराघात — ऊपर से ऊपर होने वाली चोट।

अहरन (अहिरणी)—निहाई; 'एरण'।

स्थूलकर्मपुद्गल (अहाबायराई)—स्थूलतर कर्म-पुद्गल, असार पुद्गल।

शिथिल रूप में किए हुए—जिसका विपाक मन्द किया गया हो।

निःसत्त्व किए हुए—जो कर्म निःसत्ताक बना दिया गया हो।

विपरिणमन को प्राप्त किए हुए—जिस कर्म के स्थितिघात और रसघात में परिवर्तन किया गया हो।

करण-पदं

५. कतिविहे णं भन्ते ! करणे पण्णत्ते?

गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे, वइकरणे, कायकरणे, कम्म-करणे॥

करण-पदम्

कतिविधं भदन्त ! करणं प्रज्ञप्तम्?

गौतम ! चतुर्विधं करणं प्रज्ञप्तं, तद् यथा—मनः करणं, वाक्करणं, कायकरणं, कर्म-करणम्।

करण-पद

५. ' भन्ते ! करण के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?

गौतम ! करण के चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—मनकरण, वचनकरण, कायकरण और कर्मकरण।

६. नेरइयाणं भन्ते ! कतिविहे करणे पण्णत्ते?

गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—मण-करणे, वइकरणे, कायकरणे, कम्मकरणे ॥

नैरयिकाणां भदन्त ! कतिविधं करणं प्र-ज्ञप्तम्?

गौतम ! चतुर्विधं प्रज्ञप्तं, तद् यथा—मनः-करणं, वाक्करणं, कायकरणं, कर्मकरणम्।

६. भन्ते ! नैरयिक जीवों के करण कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं?

गौतम ! उनके चारों प्रकार के करण प्रज्ञप्त हैं, जैसे—मनकरण, वचनकरण, कायकरण और कर्म-करण।

७. एवं पंचिंदियाणं सव्वेसिं चउव्विहे करणे पण्णत्ते।

एगिंदियाणं दुविहे—कायकरणे य, कम्म-

एवं पंचेन्द्रियाणाम् सर्वेषां चतुर्विधं करणं प्रज्ञप्तम्।

एकेन्द्रियाणां द्विविधम्—कायकरणं च

७. इस प्रकार सब पंचेन्द्रिय जीवों के चारों प्रकार के करण प्रज्ञप्त हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के करण दो प्रकार के हैं—

१. (क) त. मू. भा. वृ. ९/४७—स द्विविधः—इति विपाकाभिसम्बन्धः निर्जरया सहेकार्थत्वादा तद् द्वैविध्यप्रदर्शनामाह—अबुद्धीत्यादि। तत्राबुद्धिपूर्वः बुद्धिः पूर्वा यस्य कर्म शाटयामीत्येवंलक्षणा बुद्धिः प्रथमं यस्य विपाकस्य स बुद्धिपूर्वः न बुद्धिपूर्वाऽबुद्धिपूर्वः, तत्र तयोर्विपाकयोरयं तावदबुद्धिपूर्वः नरकतिर्यङ्मनुष्यामरेषु कर्म ज्ञानावरणादि। तस्य यत् फलमाच्छादकारूपं तद्विपाकः—तदुदयस्तस्मात् कर्मफलाद् विपच्यमानाद् यो विनिर्जरणलक्षणो विपाकः। सति तस्मिन् कर्मफले विपच्यमाने स भवत्यबुद्धिपूर्वकः। तपः परीषहजयकृतः कुशलमूलः।

(ख) त. रा. वा. ९/४५—सा द्वेषा चेति—अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला चेति। तत्र नरकादिषु कर्मफलाविपाकजा अबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा परीषहजये कृते कुशलमूला, सा शुभानुबन्धा

निरनुबन्धा चेति।

२. भ. वृ. ६/१—प्रशस्तनिर्जराकः कल्याणानुबन्धनिर्जरः।

३. त. मू. भा. वृ. ९/७, पृ. २२०—तादृशो विपाकः शुभमनुबन्धाति, अमरेषु तावदिन्द्र-सामानिकादिस्थानानि अवाप्नोति। मनुष्येषु च चक्रवर्तिबलमहामण्डलिकादिपदानि लब्ध्वा ततः सुखपरम्परया मुक्तिमवाप्स्यतीतिशुभानुबन्धो निरनुबन्धो वेति। वा शब्दः पूर्वविकल्पापेक्षः। तपःपरीषहजयकृतो विपाकः सकलकर्मक्षयलक्षणः साक्षान्मोक्षायैव कारणीभवतीति।

४. आपटे. खिलीभू—To become impassable.

५. अंग्रेजी में anvil.

६. भ. ६/४ की वृत्ति।

- करणे य।
विगल्लिंदियाणं तिबिहे—वइकरणे, काय-
करणे, कम्मकरणे ॥
- कर्मकरणं च।
विकलेन्द्रियाणां त्रिविधं—वाक्करणं,
कायकरणं, कर्मकरणम्।
- कायकरण और कर्मकरण।
विकलेन्द्रिय जीवों के करण तीन प्रकार के हैं—
वचनकरण, कायकरण और कर्मकरण।
८. नेरइया णं भंते ! किं करणओ असायं वेदणं
वेदेति? अकरणओ असायं वेदणं वेदेति?
- नेरयिका: भदन्त ! किं करणत: असातां
वेदनां वेदयन्ति? अकरणत: असातां वेदनां
वेदयन्ति?
८. भन्ते ! क्या नैरयिक जीव करण से असात वेदना का
वेदन करते हैं अथवा अकरण से असातवेदना का
वेदन करते हैं?
- गोयमा ! नेरइया णं करणओ असायं वेदणं
वेदेति, नो अकरणओ असायं वेदणं वेदेति।
- गौतम ! नैरयिका: करणत: असातां वेदनां
वेदयन्ति, नो अकरणत: असातां वेदनां
वेदयन्ति।
- गौतम ! नैरयिक जीव करण से असातवेदना का वेदन
करते हैं, अकरण से असातवेदना का वेदन नहीं करते।
९. से केणट्टेणं?
- गोयमा ! नेरइयाणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते,
तं जहा—मणकरणे, वइकरणे, कायकरणे,
कम्मकरणे। इच्चेएणं चउव्विहेणं असुभेणं
करणेणं नेरइया करणओ अस्सायं वेदणं
वेदेति, नो अकरणओ।
- तत् केनार्थेन?
- गौतम ! नैरयिकाणां चतुर्विधं करणं प्रज्ञप्तं,
तद् यथा—मन:करणं, वाक्करणं, काय-
करणं, कर्मकरणम्। इत्येतेन चतुर्विधेन
अशुभेन करणेन नैरयिका: करणत: असातां
वेदनां वेदयन्ति, नो अकरणत:।
९. यह किस अपेक्षा से?
- गौतम ! नैरयिक जीवों के चार प्रकार के करण प्रज्ञप्त
हैं, जैसे—मनकरण, वचनकरण, कायकरण और
कर्मकरण। इस चतुर्विध अशुभकरण के आधार पर
यह कहा जाता है—नैरयिक जीव करण से असात
वेदना का वेदन करते हैं, अकरण से असात वेदना
का वेदन नहीं करते।
इस अपेक्षा से।
- से तेणट्टेणं।
- तत् तेनार्थेन।
१०. असुरकुमारा णं किं करणओ? अक-
रणओ?
- असुरकुमारा: किं करणत: ? अकरणत: ?
१०. असुरकुमार देव क्या करण से वेदना का वेदन
करते हैं? अथवा अकरण से?
- गोयमा ! करणओ, नो अकरणओ।
- गौतम ! करणत:, नो अकरणत:।
- गौतम ! वे करण से वेदना का वेदन करते हैं, अकरण
से वेदना का वेदन नहीं करते।
११. से केणट्टेणं?
- गोयमा ! असुरकुमाराणं चउव्विहे करणे
पण्णत्ते, तं जहा—मणकरणे, वइकरणे,
कायकरणे, कम्मकरणे। इच्चेएणं सुभेणं
करणेणं असुरकुमारा करणओ सातं वेदणं
वेदेति, नो अकरणओ।
- तत् केनार्थेन?
- गौतम ! असुरकुमाराणां चतुर्विधं करणं
प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—मन:करणं, वाक्करणं,
कायकरणं, कर्मकरणम्। इत्येतेन शुभेन
करणेन असुरकुमारा: करणत: सातां वेदनां
वेदयन्ति, नो अकरणत:।
११. यह किस अपेक्षा से?
- गौतम ! असुरकुमार देवों के करण चार प्रकार के
प्रज्ञप्त हैं, जैसे—मनकरण, वचनकरण, कायकरण
और कर्मकरण। इस शुभ करण के आधार पर कहा
जाता है—असुरकुमार देव करण से सातवेदना का
वेदन करते हैं, अकरण से सात वेदना का वेदन नहीं
करते।
१२. एवं जाव थणियकुमारा।
- एवं यावत् स्तनितकुमारा:।
१२. इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार देवों की वक्तव्यता।
१३. पुढवीकाइयाणं एवामेव पुच्छा, नवरं—
इच्चेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढविककाइया
करणओ वेमायाए वेदणं वेदेति, नो अकरण-
ओ ॥
- पृथ्वीकायिकानाम् एवमेव पृच्छा, नवरं—
इत्येतेन शुभाशुभेन करणेन पृथ्वीकायिका:
करणत: विमात्रया वेदनां वेदयन्ति, नो
अकरणत:।
१३. पृथ्वीकायिक जीवों की पृच्छा इसी प्रकार है, केवल
इतना अन्तर है—इस शुभाशुभ करण के आधार पर
कहा जाता है—पृथ्वीकायिक जीव करण से विमात्र
—कभी सात कभी असात वेदना का वेदन करते हैं,
अकरण से विमात्र वेदना का वेदन नहीं करते।

१४. ओरालियसरीरा सव्वे सुभासुभेण वेमा-
याए।
देवा सुभेण सायां।

औदारिकशरीराः सर्वे शुभाशुभेन विमात्रया।
देवाः शुभेन साताम्।

१४. औदारिक शरीर वाले सभी जीव शुभ और अशुभ
करण से विमात्र वेदना का वेदन करते हैं।
देव शुभ करण से सात वेदना का वेदन करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ५-१४

‘करण’ शब्द का शाब्दिक अर्थ है साधन। कार्य की सिद्धि में जो साधकतम होता है वह, करण कहलाता है। अभयदेवसूरि ने करण का अर्थ ‘जीव-वीर्य’ किया है। इस आधार पर मन, वाक् और शरीर की प्रवृत्ति के हेतुभूत जीववीर्य को क्रमशः मनकरण, वाक्करण और कायकरण कहा जा सकता है। अभयदेवसूरि की व्याख्या का मूल आधार तत्त्वार्थसूत्र की भाष्यानुसारिणी टीका है। उसके अनुसार करण का अर्थ है पर्याप्ति। कायवर्गणा के योग्य पुद्गलों से कायकरण (शरीरपर्याप्ति) निष्पन्न होता है। इसी प्रकार भाषावर्गणा के योग्य पुद्गलों से वाक्करण (भाषापर्याप्ति) और मनोवर्गणा के योग्य पुद्गलों से मनकरण (मनःपर्याप्ति) निष्पन्न होता है। कायकरण, वाक्करण और मनकरण—ये तीनों जीव के वीर्य की परिणति के साधन बनते हैं। इसलिए इनकी करण संज्ञा उपयुक्त है। मनन करना मनयोग है, बोलना वचनयोग है और गमन आदि करना काययोग है। मनन, भाषण और गमन में साधन बनने वाले पुद्गल भी मनकरण, वाक्करण और कायकरण कहलाते हैं।

कर्म-प्रकृति में कर्म के आठ करण बतलाए गए हैं—बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन उदीरण, उपशामना, निधत्ति और निकाचना। गोमटसार में करण के दस प्रकार मिलते हैं। उनमें आठ पूर्वोक्त ही हैं, सत्व और उदय—ये दो अतिरिक्त हैं।

बन्धन, संक्रमण आदि कर्म की अवस्थाओं के घटित होने में

निमित्त बनने वाला जीव का वीर्य कर्मकरण कहलाता है।

प्रस्तुत आलापक में सातवेदन और असातवेदन तथा करण का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। मन, वाक्, काय और कर्म—ये करण अशुभ होते हैं उस अवस्था में असात का वेदन होता है और ये शुभ होते हैं उस अवस्था में सात का वेदन होता है। अशुभ मन दुःख का संवेदन उत्पन्न करता है, मानसिक चिकित्सा की दृष्टि से यह उल्लेखनीय सूत्र है।

नारक और देव के वैक्रिय शरीर होता है। शेष सब जीवों के औदारिक शरीर होता है। औदारिक शरीर वाले जीव शुभ करणों से सुखात्मक संवेदन करते हैं और अशुभ करणों से दुःखात्मक संवेदन करते हैं। नारक अशुभ करणों से दुःख का संवेदन करते हैं। देव शुभ करणों से सुख का संवेदन करते हैं। ये दोनों सूत्र प्रायिक हैं, बहुलता की अपेक्षा से है। वास्तव में नारक और देव में सात, असात और सातासात तीनों प्रकार की वेदना का उल्लेख मिलता है। नारक में भी कदाचित् शुभ करण और सुख का संवेदन हो सकता है। देवों में भी कदाचित् अशुभ करण और असुख का संवेदन हो सकता है।

ठाण में कर्मकरण का उल्लेख नहीं है। वहां मनकरण, वाक्करण और कायकरण के अतिरिक्त करण के दो वर्गीकरण और मिलते हैं।

शब्द-विमर्श

विमात्र—विविध मात्रा, कभी सुख का संवेदन, कभी दुःख का संवेदन।

महावेदना-महानिज्जरा-चउभंग-पदं

१५. जीवा णं भंते ! किं महावेदना महा-
निज्जरा? महावेदना अप्पनिज्जरा? अप्प-
वेदना महानिज्जरा? अप्पवेदना अप्प-
निज्जरा?

गोयमा ! अत्थेगतिया जीवा महावेदना
महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा महावेदना
अप्पनिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा अप्प-
वेदना महानिज्जरा, अत्थेगतिया जीवा
अप्पवेदना अप्पनिज्जरा।

महावेदना-महानिर्जरा-चतुर्भंग-पदम्

जीवाः भदन्त ! किं महावेदनाः महानिर्जराः?
महावेदनाः अल्पनिर्जराः? अल्पवेदनाः
महानिर्जराः? अल्पवेदनाः अल्पनिर्जराः?

गौतम ! अस्त्येकके जीवाः महावेदनाः
महानिर्जराः, अस्त्येकके जीवाः महावेदनाः
अल्पनिर्जराः, अस्त्येकके जीवाः अल्प-
वेदनाः महानिर्जराः, अस्त्येकके जीवाः
अल्पवेदनाः अल्पनिर्जराः।

महावेदना-महानिर्जरा-चतुर्भंग-पद

१५. भन्ते ! क्या जीव महावेदना और महानिर्जरा
वाले हैं? महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं?
अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं? अल्पवेदना
और अल्पनिर्जरा वाले हैं?

गौतम ! कुछ जीव महावेदना और महानिर्जरा वाले
हैं, कुछ जीव महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं,
कुछ जीव अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं, कुछ
जीव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

१. भ.वृ. ६/५—करणं जीववीर्यम्।

२. त.सू.भा.वृ.—८/१२।

३. वही, ६/१।

४. द्रष्टव्य, भ. १/२३, २४ का भाष्य।

५. गो. क. मा. ४३७।

६. भ.वृ. ६/५—‘कम्मकरणं’ ति कर्मविषयं करणं जीववीर्यं बन्धनसंक्रमणादिनिमित्तभूतं

कर्मकरणम्।

७. भ. ६/१८५।

८. भ. ३/१२ का भाष्य।

९. (क) ठाणं, ३/१६—तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—आरंभकरणे, संरंभकरणे, समारंभकरणे।

(ख) ठाणं, ३/५०६—तिविहे करणे पण्णत्ते, तं जहा—धम्मिए करणे, अधम्मिए करणे,

धम्मियाधम्मिए करणे।

१६. से केणट्टेणं?

गोयमा ! पडिमापडिवन्नए अणगारे महावेदणे महानिज्जरे। छट्ट-सत्तमासु पुढवीसु नेरइया महावेदणा अप्पनिज्जरा। सेलेसिं पडिवन्नए अणगारे अप्पवेदणे महानिज्जरे। अणुत्तरोव-वाइया देवा अप्पवेदणा अप्पनिज्जरा ॥

तत् केनार्थेन?

गौतम ! प्रतिमाप्रतिपन्नकः अनगारः महावेदनः महानिर्जराः। षष्ठीसप्तमयोःपृथिव्योः नैरयिकाः महावेदनाः अल्पनिर्जराः। शैलेशी प्रतिपन्नकः अनगारः अल्पवेदनः महानिर्जराः। अनुत्तरोपपातिकाः देवाः अल्पवेदनाः अल्पनिर्जराः।

१६. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार महावेदना और महानिर्जरा वाले हैं। छठी-सातवीं नरक भूमियों के नैरयिक जीव महावेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं। शैलेशी अवस्था को प्रतिपन्न अनगार अल्पवेदना और महानिर्जरा वाले हैं। अनुत्तरोपपातिक देव अल्पवेदना और अल्पनिर्जरा वाले हैं।

भाष्य

१. सूत्र १५, १६

प्रथम आलापक (सू. १-४) में महावेदना और महानिर्जरा आदि का विमर्श प्रशस्त निर्जरा के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत आलापक में महावेदना और महानिर्जरा आदि का विमर्श उदाहरणपूर्वक किया गया है। भिक्षु के लिए बारह प्रतिमाओं का निर्देश है। प्रतिमा प्रतिपन्न भिक्षु अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। इसलिए उसके वेदना महान् होती है। वह प्रशस्त अध्यवसाय युक्त होता है, वेदना को सहने में समभाव रखता है, इसलिए उसके निर्जरा भी महान् होती है। छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक क्षेत्रजनित महावेदना का अनुभव करते हैं। उनके निर्जरा अल्प होती है। उक्त दोनों सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि महानिर्जरा का आधार वेदना की अल्पता या अधिकता नहीं है। निर्जरा की अल्पता या अधिकता का कारकतत्त्व वेदना को सहन करने की पद्धति है।

प्रतिमा प्रतिपन्न अनगार महावेदना को समभाव से सहन करता है, इसलिए उसके महानिर्जरा होती है।

छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक महावेदना को समभाव से सहन नहीं करते, इसलिए उनके निर्जरा अल्प होती है।

शैलेशी अवस्था को प्रतिपन्न अनगार के वेदना अल्प होती है, किन्तु समभाव अधिकतम होता है, इसलिए अल्पवेदना की अवस्था में भी

निर्जरा महान् होती है।

अनुत्तर विमान के देवों के वेदना भी अल्प और निर्जरा भी अल्प होती है।

इन चारों उदाहरणों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर एक निष्कर्ष और निकलता है कि जिनमें निर्जरा करने का प्रयत्न होता है, उनके अविपाकी निर्जरा होती है। वे उदीरणा कर अविपक्व कर्मों को उदय में लाकर निर्जीण कर देते हैं। प्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार और शैलेशी-प्रतिपन्न अनगार—ये दो इस कोटि के उदाहरण हैं। छठी-सातवीं पृथ्वी के नैरयिक और अनुत्तरविमान के देव—ये विपाकी निर्जरा के उदाहरण हैं। उनमें निर्जरा का प्रयत्न नहीं होता। अशुभ और शुभ कर्म उदयावली में प्रविष्ट होकर अपना फल देकर निवृत्त हो जाते हैं।

शब्द-विमर्श

प्रतिमा-प्रतिपन्नक—प्रतिमा—साधना का विशेष प्रयोग, विशेष प्रकार का अभिग्रह और संकल्प। प्रतिमा को स्वीकार करने वाला प्रतिमा-प्रतिपन्नक कहलाता है।

शैलेशी—चौदहवें गुणस्थान की अवस्था। इसमें योग का सर्वथा निरोध हो जाता है, इसलिए यह मेरु की भांति अप्रकम्प होती है।

१७. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

१७. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

संग्रहणी गाथा

महावेदणे य वत्थे,
कद्दम-खंजणकए य अहिगरणी ।
तणहत्थे य कवल्ले,
करण-महावेदणा जीवा ॥

संग्रहणी गाथा

महावेदनश्च वस्त्रं
कद्दम-खञ्जनकृतं चाधिकरणी ।
तृणहस्तश्च कवल्ले,
करण-महावेदनाः जीवाः ॥

संग्रहणी गाथा

महावेदना, कर्दम और खञ्जन से रंगा हुआ वस्त्र,
अहरन, पूला, लोह का तवा, करण और महावेदना
वाले जीव—प्रथम उद्देशक में ये विषय वर्णित हैं।

१. दसाओ, ७/१-३५।

२. (क) द्रष्टव्य, भ. ६/१-४ का भाष्य
(ख) त.सू. सर्वार्थसिद्धि, ८/२३।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

१८. रायगिहं नगरं जाव एवं वयासी—
आहारुद्देशो जो पणवणाए सो सब्बो
निरवसेसो नेयव्वो ॥

राजगृहं नगरं यावद् एवमवादीद्—आहा-
रोद्देशकः यः प्रज्ञापनायां स सर्वः निरवशेषः
नेतव्यः।

१८. राजगृह नाम का नगर यावत् गौतम ने इस प्रकार
कहा—पणवणा का जो आहार उद्देशक है, वह
यहां अविकल रूप से ज्ञातव्य है।
भन्ते ! नैरयिक जीव क्या सचित्त आहार वाले हैं,
अचित्त आहार वाले हैं अथवा मिश्र आहार वाले
हैं?

भाष्य

१. आहार-उद्देशक

पणवणा का अट्टाईसवां पद आहार-पद है। उसमें जीव किस
प्रकार का—सचित्त, अचित्त या मिश्र आहार करते हैं? उनमें आहार की
इच्छा उत्पन्न होती है? वे कितनी कालावधि के पश्चात् आहार करते हैं?
आदि-आदि विषयों का विमर्श किया गया है।

आहारुद्देशो—यहां पणवणा के प्रथम उद्देशक का उल्लेख

नहीं है। केवल आहारोद्देशक—इतना संकेत है। आहार-पद के दो उद्देशक
हैं। पहले उद्देशक का विषय आहार है। दूसरे उद्देशक का विषय आहारक
और अनाहारक है। यहां 'आहार' पद का प्रथम उद्देशक ही वक्तव्य है।
भगवती के प्रथम शतक में 'प्रथम आहारोद्देशक' का उल्लेख भी मिलता
है—'आहारो वि—जहा पणवणाए पढमे आहारुद्देशए तहा
भाणियव्वो'।^१

१९. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

१९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. भ. १/३२।

तइओ उद्देशो : तृतीय उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाथा

१. बहुकम्म २. वत्थपोग्गल-
पयोगसा-वीससा य ३. सादीए।
४. कम्मद्विद्धि ५. त्थि ६. संजय
७. सम्मदिद्धि य ८. सन्नी य ॥१॥
९. भविए १०. दंसण ११. पज्जत्त
१२. भासय १३. परित्ते १४. नाण
१५. जोमे य।
१६, १७. उवओगाहारण १८. सुहुम
१९. चरिमबन्धे य २०. अल्पबहुं ॥२॥

महाकम्मादीणं पोग्गलबन्धादि-पदं

२०. से नूनं भन्ते ! महाकम्मस्स, महाकिरिय-
स्स, महासवस्स, महावेदणस्स सब्बओ
पोग्गला बज्झंति, सब्बओ पोग्गला
चिज्झंति, सब्बओ पोग्गला उवचिज्झंति;
सया समियं पोग्गला बज्झंति, सया समियं
पोग्गला चिज्झंति, सया समियं पोग्गला
उवचिज्झंति; सया समियं च णं तस्स आया
दुरूवत्ताए दुवण्णत्ताए दुगंधत्ताए दुरसत्ताए
दुफासत्ताए, अपिठत्ताए अकंतत्ताए
अप्पियत्ताए असुभत्ताए अमणुणत्ताए
अमणामत्ताए अणिच्छियत्ताए अभिज्झि-
यत्ताए अहत्ताए—नो उड्ढत्ताए, दुक्खत्ताए
—नो सुहत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति?
हंता गोयमा ! महाकम्मस्स तं चेव ॥

२१. से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स अहयस्स वा,

संग्रहणी गाथा

१. बहुकर्म २. वस्त्र-पुद्गल-
प्रयोग-विस्त्रसा च: ३. सादिक:।
४. कर्मस्थिति: ५. स्त्री ६. संयत;
७. सम्यग्दृष्टि च ८. संज्ञी च ॥१॥
९. भविक: १०. दर्शनं ११. पर्याप्त:
१२. भाषक: १३. परीत: १४. ज्ञानं
१५. योग: च।
१६-१७. उपयोग: आहारक: १८. सूक्ष्म।
१९. चरमबन्ध: च २०. अल्पबहु ॥२॥

महाकर्मादीनां पुद्गलबन्धादि-पदम्

तन् नूनं भदन्त ! महाकर्मणाः, महाक्रियस्य,
महाखवस्य, महावेदनस्य सर्वतः, पुद्गलाः
बध्यन्ते, सर्वतः पुद्गलाः चीयन्ते, सर्वतः
पुद्गलाः उपचीयन्ते; सदा समितं पुद्गलाः
बध्यन्ते, सदा समितं पुद्गलाः चीयन्ते,
सदा समितं पुद्गलाः उपचीयन्ते; सदा
समितं च तस्य आत्मा 'दुरूवत्ताए',
दुर्वर्णतया, दुर्गन्धतया, दूरसतया, दुःस्पर्श-
तया, अनिष्टतया अकान्ततया अप्रियतया
अशुभतया अमनोज्ञतया 'अमणामत्ताए',
अनीप्तिमतया अभिध्यततया अधस्तया
—नो ऊर्ध्वतया, दुःखतया—नो सुख-
तया भूयो-भूयः परिणमति?
हन्त गौतम ! महाकर्मणः तच्छेवा

तत् केनार्थेन?

गौतम ! तद् यथानाम वस्त्रस्य अहतस्य वा,

संग्रहणी गाथा

बहुकर्म, प्रयोग और स्वभाव से वस्त्र का उपचय
—वस्त्र में पुद्गल के उपचय का सादित्व, कर्म-
स्थिति, स्त्री, संयत, सम्यग्दृष्टि, संज्ञी, भव्य,
दर्शनी, पर्याप्तक, भाषक, परीत, ज्ञानी, योगी,
उपयोगी, आहारक, सूक्ष्म, चरम बन्ध और अल्प-
बहुत्व।
तीसरे उद्देशक में ये विषय प्रतिपाद्य हैं।

महाकर्म वाले आदि के पुद्गल-बन्ध-पद

२०. ' भन्ते ! क्या महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव
और महावेदना वाले पुरुष के सब ओर से पुद्गलों
का बन्ध होता है? सब ओर से पुद्गलों का चय
होता है? सब ओर से पुद्गलों का उपचय होता है?
सदा प्रतिक्षण पुद्गलों का बंध होता है? सदा
प्रतिक्षण पुद्गलों का चय होता है? सदा प्रतिक्षण
पुद्गलों का उपचय होता है? उस पुरुष की आत्मा
(शरीर) सदा प्रतिक्षण बीभत्स दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दूरस,
दुःस्पर्श, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ,
अमनोज्ञ, अकमनीय, अवांछनीय, अलोभनीय
और जघन्य रूप में—न ऊर्ध्वरूप में, दुःखरूप
में—न सुख रूप में बार-बार परिणत होती है।

हां, गौतम ! महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव और
महावेदना वाले पुरुष की आत्मा (शरीर) का परिणमन
ऐसा ही होता है।

२१. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! जैसे कोई वस्त्र अपरिभुक्त है, प्रक्षालित है

धोयस्स वा, तंतुगयस्स वा आणुपुव्वीए परिभुज्जमाणस्स सव्वओ पोग्गला बज्जंति, सव्वओ पोग्गला चिज्जंति जाव परिणमति। से तेणट्ठेणं।।

धौतस्य वा, तन्त्रोद्गतस्य वा आनुपूर्व्या परिभुज्यमानस्य सर्वतः पुद्गलाः बध्यन्ते, सर्वतः पुद्गलाः चीयन्ते यावत् परिणमति। तत् तेनार्थेन।।

अथवा तन्न (करघा) से तत्काल निकला हुआ है। वह पहना जा रहा है तब कालक्रम से उसके सब ओर से पुद्गलों का बन्ध होता है, सब ओर से पुद्गलों का चय होता है यावत् परिणमन होता है। यह इस अपेक्षा से।

अप्पकम्मादीणं पोग्गलभेदादि-पदं

अल्पकर्मादीनां पुद्गलभेदादि-पदम्

अल्पकर्म वाले आदि के पुद्गल-भेद का पद

२२. से नूणं भंते ! अप्पकम्मस्स, अप्पकिरियस्स, अप्पासवस्स, अप्पवेदणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति, सव्वओ पोग्गला छिज्जंति, सव्वओ पोग्गला विद्धंति, सव्वओ पोग्गला परिविद्धंति; सया समियं पोग्गला भिज्जंति, सया समियं पोग्गला छिज्जंति, सया समियं पोग्गला विद्धंति, सया समियं पोग्गला परिविद्धंति; सया समियं च णं तस्स आया सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए सुगंधत्ताए सुरसत्ताए सुफासत्ताए इट्ठत्ताए कंतत्ताए पियत्ताए सुभत्ताए मणुण्णत्ताए मणामत्ताए इच्छियत्ताए अणभिज्झयत्ताए उट्ठत्ताए—नो अहत्ताए, सुहत्ताए—नो दुक्खत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति?

तन् नूनं भदन्त ! अल्पकर्मणः, अल्पक्रियस्य, अल्पास्रवस्य, अल्पवेदनस्य सर्वतः पुद्गलाः भिद्यन्ते, सर्वतः पुद्गलाः छिद्यन्ते, सर्वतः पुद्गलाः विध्वस्यन्ते, सर्वतः पुद्गलाः परिविध्वस्यन्ते; सदा समितं पुद्गलाः भिद्यन्ते, सदा समितं पुद्गलाः छिद्यन्ते, सदा समितं पुद्गलाः विध्वस्यन्ते, सदा समितं पुद्गलाः परिविध्वस्यन्ते; सदा समितं च तस्य आत्मा सुरूपतया सुवर्णतया सुगन्धतया सुरसतया सुस्पर्शतया इष्टतया कान्ततया प्रियतया सुभतया मनोज्ञतया 'मणामत्ताए' ईप्सिततया अनभिध्यिततया ऊर्ध्वतया—नो अधस्तया, सुखतया—नो दुःखतया भूयो-भूयः परिणमति?

२२. भंते ! क्या अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पआश्रव और अल्पवेदना वाले पुरुष के सब ओर से पुद्गलों का भेदन होता है? सब ओर से पुद्गलों का छेदन होता है? सब ओर से पुद्गलों का विध्वंस होता है? सब ओर से पुद्गलों का परिविध्वंस होता है? सदा प्रतिक्षण पुद्गलों का भेदन होता है? सदा प्रतिक्षण पुद्गलों का छेदन होता है? सदा प्रतिक्षण पुद्गलों का विध्वंस होता है? सदा प्रतिक्षण पुद्गलों का परिविध्वंस होता है? उस पुरुष की आत्मा सदा प्रतिक्षण सुरूप, सुवर्ण, सुगन्ध, सुरस, सुस्पर्श, इष्ट, कान्त, प्रिय, शुभ, मनोज्ञ, कमनीय, वांछनीय, लोभनीय और ऊर्ध्वरूप में—न जघन्य रूप में, सुखरूप में—न दुःखरूप में बार-बार परिणत होती है।

हंता गोयमा ! जाव परिणमति।

हन्त गौतम ! यावत् परिणमति।

हां, गौतम ! यावत् परिणत होती है।

२३. से केणट्ठेणं?

गोयमा ! से जहानामए वत्थस्स जल्लियस्स वा, पंक्रियस्स वा, मइल्लियस्स वा, रइल्लियस्स वा आणुपुव्वीए परिकम्मिज्जमाणस्स सुद्धेणं वारिणा धोव्वेमाणस्स सव्वओ पोग्गला भिज्जंति जाव परिणमति। से तेणट्ठेणं।।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! तद् यथानाम वस्त्रस्य 'जल्लियस्स' वा, पङ्कितस्य वा, मलिनितस्य वा, रजस्वतो वा आनुपूर्व्या परिकर्ममाणस्य शुद्धेन वारिणा धाव्यमानस्य सर्वतः पुद्गलाः भिद्यन्ते यावत् परिणमति। तत् तेनार्थेन।।

२३. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! जैसे कोई वस्त्र शरीर के मल, आर्द्रमल, कठिनमल और रजकणों से सना हुआ हो उसका परिकर्म करने पर और शुद्ध जल से धोने पर कालक्रम से उसके सब ओर से पुद्गलों का भेदन होता है, यावत् शुद्धरूप में परिणमन होता है। यह इस अपेक्षा से।

भाष्य

१. सूत्र २०-२३

प्रस्तुत आलापक में कर्मबन्ध के हेतु और कर्मबन्ध के निमित्त का प्रतिपादन किया गया है। महाकर्म और महावेदन—ये दो कर्मबन्ध के निमित्त हैं। जिस प्राणी के ज्ञानावरण और मोहनीय कर्म प्रबल होता है, उसके कर्म-पुद्गलों का अधिक बन्ध होता है। महावेदना वाले व्यक्ति का ध्यान आर्त्त बन

जाता है, इसलिए वह भी प्रचुर कर्म-पुद्गलों का बन्ध करता है। क्रिया और आश्रव ये दोनों कर्मबन्ध के हेतु हैं, साधन हैं। प्राणातिपात आदि क्रिया वास्तव में योग आश्रव के ही प्रकार हैं। तत्त्वार्थसूत्र में साम्प्रदायिक आश्रव के ३९ भेद बतलाए गए हैं—पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अन्नत और पच्चीस क्रियाएं। आश्रव के मौलिक भेद पांच हैं—मिथ्यात्व, अविरति,

१. त.रा.वा. ६/५—योगत्रयस्य एकोनचत्वारिंशत्प्रभेदाः सर्वत्रैककार्यत्वात् संसारिणां सर्वेषां साधारणाः।।

२. त.सू. ६/५—इन्द्रियकषायावन्नतक्रियाः पञ्च चतुः पद्म पञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः।।

प्रमाद, कषाय और योगा

महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव और महावेदना वाला जीव अशुभ योग में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सब (छहों) दिशाओं से कर्म-पुद्गलों का बन्ध, चय और उपचय करता है। यह कर्म-पुद्गलों का बंध, चय और उपचय निरन्तर होता रहता है। कर्म-पुद्गलों के बंध से कर्मण (सूक्ष्मतर) शरीर पुष्ट होता है। उसका प्रभाव औदारिक (स्थूल) शरीर और आभामण्डल पर भी होता है। प्रचुर कर्म-बंध करने वाले व्यक्ति का शरीर अनिष्ट पुद्गलों से आक्रान्त होकर रुग्ण बन जाता है तथा आभामण्डल मलिन हो जाता है।

अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्पआश्रव और अल्पवेदना वाला जीव शुभयोग में प्रवृत्त होता है, इसलिए उसके सर्वतः कर्म-पुद्गलों की निर्जरा होती है। निर्जरा से कर्मण शरीर का विशोधन होता है, साथ-साथ औदारिक शरीर और आभामण्डल का रंग-रूप भी सुन्दर हो जाता है। शरीर स्वस्थ और सुखद बन जाता है तथा आभामण्डल निर्मल हो जाता है।

आध्यात्मिक चिकित्सा की दृष्टि से यह बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। भाव और आचरण की अशुद्धि शरीर को कान्तिहीन और रुग्ण बनाती है। भाव और आचरण की शुद्धि शरीर को कान्तियुक्त और स्वस्थ बनाती है। तेरापथ के अष्टम आचार्य पूज्य कालूगणी इसके निदर्शन हैं। भाव और आचरण की विशुद्धि जैसे-जैसे बढ़ती गई, वैसे-वैसे उनका शरीर कान्ति-सम्पन्न और वर्ण सुन्दर होता गया।

महाकर्म और अल्पकर्म—इन दोनों अवस्थाओं को दो दृष्टान्तों से समझाया गया है—१. जैसे नया वस्त्र पहनने पर धीमे-धीमे मलिन होता

जाता है, वैसे ही महान् आश्रव वाला व्यक्ति अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा मलिन होता रहता है।

२. जैसे मलिन वस्त्र धोने पर उजला हो जाता है, वैसे ही अल्प आश्रव वाला व्यक्ति शुभ प्रवृत्ति के द्वारा निर्मल होता रहता है।

कर्म, क्रिया, आश्रव और वेदना—इन चारों पदों का प्रयोग कर सूत्रकार ने उनका आन्तरिक सम्बन्ध दिखलाया है। कर्म का संचय महान् है, इस अवस्था में क्रिया, आश्रव और वेदना—ये भी महान् होंगी। कर्म-बन्ध की अल्पता की अवस्था में क्रिया, आश्रव और वेदना—ये भी अल्प होंगी।

शब्द-विमर्श

आत्मा (आया)—शरीर, आभामण्डल बंध—आत्मा के साथ शुभ, अशुभ कर्मों का सम्बन्ध, कर्म-ग्रहणा चय, उपचय—वृद्धि, अतिवृद्धि देखें भ. १/१९-२४ का भाष्या सदा, प्रतिक्षण (सया समियं)—विस्तृत मीमांसा के लिए द्रष्टव्य भ. ३/१४३-१४८ का भाष्य।

अलोभनीय रूप में (अभिज्झियत्ताए)—‘भिध्या’ का अर्थ है—लोभ। भिध्यत अर्थात् लोभनीय। अभिध्यित = अलोभनीय।

अपरिभुक्त (अहय)—जो अभी तक परिभुक्त नहीं है।

तंतुगय—तंत्र से उद्गत, करघा से तत्काल निकाला हुआ।

शरीर का मल (जल्लिय)—गाढ़े मैल से युक्त।

आर्द्रमल (पंकिय)—गीले मैल से युक्त।

कठिन मल (मइल्लिय)—मैला।

रजकणों से सना हुआ (रइल्लिय)—रजयुक्त।

कम्मोवचय-पदं

२४. वत्थस्स णं भंते ! पोगलोवचए किं पयो-
गसा? वीससा?

गोयमा ! पयोगसा वि, वीससा वि।।

२५. जहा णं भंते ! वत्थस्स णं पोगलोवचए
पयोगसा वि, वीससा वि, तथा णं जीवाणं
कम्मोवचए किं पयोगसा? वीससा?

गोयमा ! पयोगसा, नो वीससा।

२६. से केणट्टेणं?

गोयमा ! जीवाणं तिविहे पयोगे पण्णत्ते, तं

कर्मोपचय-पदम्

वस्त्रस्य भदन्त ! पुद्गलोपचयः किं प्रयोगे-
ण? विस्ससा?

गौतम ! प्रयोगेणापि, विस्ससाऽपि।

यथा भदन्त ! वस्त्रस्य पुद्गलोपचयः
प्रयोगेणाऽपि, विस्ससाऽपि, तथा जीवानां
कर्मोपचयः किं प्रयोगेण? विस्ससा ?

गौतम ! प्रयोगेण, नो विस्ससा।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! जीवानां त्रिविधः प्रयोगः प्रज्ञप्तः,

कर्मोपचय-पद

२४. ^१ भन्ते ! वस्त्र के पुद्गलों का उपचय क्या प्रयोग
से होता है? अथवा स्वभाव से होता है?

गौतम ! प्रयोग से भी होता है और स्वभाव से भी
होता है।

२५. भंते ! जैसे वस्त्र के पुद्गलों का उपचय प्रयोग से
भी होता है और स्वभाव से भी होता है, उसी प्रकार
जीवों के कर्मों का उपचय प्रयोग से होता है? अथवा
स्वभाव से होता है?

गौतम ! प्रयोग से होता है, स्वभाव से नहीं होता।

२६. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! जीवों के तीन प्रकार के प्रयोग प्रज्ञप्त हैं—

१. भ.वृ. ६/२०—आत्मा बाह्यात्मा शरीरमित्यर्थः

२. वही, ६/२०—‘सया समियं’ ति ‘सदा’ सर्वदा सदात्वं च व्यवहारतोऽसात्त्व्येऽपि स्यादित्यत आह—‘समितं’ सन्ततं।

३. वही, ६/२०—‘अज्झियत्ताए’ ति भिध्या—लोभः सा संजाता यत्र सो भिध्यितो न

भिध्यितोऽभिध्यितस्तद्भावस्तत्ता तथा।

४. वही, ६/२०—‘अहयस्स व’ ति अपरिभुक्तस्य।

५. वही, ६/२०—तंत्रात्—तुरीयेमादेरपनीतमात्रस्य।

जहा—मण्यपयोगे, वइपयोगे, कायप्य-
योगे। इच्छेणं तिविहेणं पयोगेणं जीवाणं
कम्मोवचए पयोगसा, नो वीससा।
एवं सव्वेसिं पंचिंदियाणं तिविहे पयोगे
भाणियव्वे।

पुढवीकाइयाणं एगविहेणं पयोगेणं, एवं जाव
वणस्सइकाइयाणं।

विगलिंदियाणं दुविहे पयोगे पण्णते, तं जहा
—वइपयोगे, कायपयोगे य।

इच्छेणं दुविहेणं पयोगेणं कम्मोवचए,
पयोगसा, नो वीससा। से तेण्डेणं गोयमा !
एवं वुच्चइ—जीवाणं कम्मोवचए पयोगसा,
नो वीससा। एवं जस्स जो पयोगे जाव
वेमाणियाणं ॥

तद् यथा—मनःप्रयोगः, वाक्प्रयोगः, काय-
प्रयोगः। इत्येतेन त्रिविधेन प्रयोगेण जीवानां
कर्मोपचयः प्रयोगेण, नो विस्ससा। एवं सर्वेषां
पंचेन्द्रियाणां त्रिविधः प्रयोगः भणितव्यः।

पृथ्वीकायिकानां एकविधेन प्रयोगेण, एवं
यावद् वनस्पतिकायिकानाम्।

विकलेन्द्रियाणां द्विविधः प्रयोगः प्रज्ञप्तः, तद्
यथा—वाक् प्रयोगः, काय प्रयोगः च।

इत्येतेन द्विविधेन प्रयोगेण कर्मोपचयः प्र-
योगेण, नो विस्ससा। तत् तेनार्थेन गौतम !
एवमुच्यते—जीवानां कर्मोपचयः प्रयोगेण,
नो विस्ससा। एवं यस्य यः प्रयोगः यावद्
वैमानिकानाम्।

जैसे मन-प्रयोग, वचन-प्रयोग और काय-प्रयोग।
इस त्रिविध प्रयोग के आधार पर जीवों के कर्मों का
उपचय प्रयोग से होता है, स्वभाव से नहीं होता है।
इसी प्रकार सब पंचेन्द्रिय जीवों के तीन प्रकार के
प्रयोग वक्तव्य है।

पृथ्वीकायिक जीवों के एक प्रकार के प्रयोग से कर्मों
का उपचय होता है। इसी प्रकार यावत् वनस्पति-
कायिक जीवों की वक्तव्यता।

विकलेन्द्रिय जीवों के दो प्रकार का प्रयोग वक्तव्य है
—वचन-प्रयोग और काय-प्रयोग। इस द्विविध
प्रयोग के आधार पर विकलेन्द्रिय जीवों के कर्मों का
उपचय प्रयोग से होता है, स्वभाव से नहीं होता।
गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीवों
के कर्मों का उपचय प्रयोग से होता है, स्वभाव से
नहीं होता। इस प्रकार यावत् वैमानिक, देवों तक
जिसके जो प्रयोग है उससे कर्मों का उपचय वक्तव्य
है।

भाष्य

१. सूत्र २४-२६

कर्म आत्मकृत होता है, अकृत नहीं होता। यदि कर्म का बन्ध
अकृत हो तो कोई भी जीव कर्म से मुक्त हो नहीं सकता और कर्ममुक्त रह नहीं
सकता। कर्म-वर्गणा के पुद्गल पूरे लोक में फैले हुए हैं और वे आत्म प्रदेशों
के अनन्तरावगाह भी हैं, फिर भी जीव उनको ग्रहण करने के लिए अपना
प्रयोग नहीं करता, तब तक उसका उपचय अथवा बन्ध नहीं होता। प्रस्तुत
आलापक में कर्म-वर्गणा के पुद्गलों के बन्ध की प्रक्रिया बतलाई गई है।
जीव का प्रयोग तीन प्रकार का होता है — मानसिक प्रयोग, वाचिक प्रयोग
और कायिक प्रयोग।

सब प्रकार के पुद्गलों का ग्रहण काययोग के द्वारा होता है। यह

पुद्गल-ग्रहण का सामान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्म के
पुद्गलों का ग्रहण काययोग से होता है। शरीर नामकर्म के द्वारा कर्म-पुद्गलों
का जीव-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। वह सम्बन्ध एक प्रकार
का नहीं होता। उसमें तारतम्य होता है। मन, वचन और काया का प्रयोग
तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम तथा मन्द, मन्दतर और मन्दतम होता है। वैसे ही
कर्म-बन्ध हो जाता है।

शब्द-विमर्श

विस्ससा (वीससा) — स्वभाव, स्वाभाविक परिणमन, जो प्रयोग
अथवा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता।

दृष्टव्य भ. १/१३३-१३५ का भाष्य।

कम्मोवचयस्स सादि-अनादित्त-पदं

२७. वत्थस्स णं भंते! पोणलोवचए किं सादीए
सपज्जवसिए? सादीए अपज्जवसिए? अणा-
दीए सपज्जवसिए? अणादीए अपज्जवसिए?

कर्मोपचयस्य साद्यनादित्व-पदम्

वस्त्रस्य भदन्त ! पुद्गलोपचयः किं सादिकः
सपर्यवसितः? सादिकः अपर्यवसितः?
अनादिकः सपर्यवसितः? अनादिकः अ-
पर्यवसितः?

कर्मोपचय का सादि-अनादि-पद

२७. 'भंते ! वस्त्र के पुद्गलों का उपचय सादि-
सपर्यवसित है? सादि-अपर्यवसित है? अनादि-
सपर्यवसित है? अनादि-अपर्यवसित है?

१. ठाणं, ३/३३६—से णं भंते ! दुक्खे केण कडे? जीवेणं कडे पमादेणं।

२. त. सू. भा. वृ. ८/२५—नामकर्मण उत्तप्रकृतिः शरीरनामान्तर्गता बन्धननाम तत्प्रत्ययाः किल
पुद्गला इति। तच्च गृहीतगृहमाणपुद्गलानामन्यशरीरपुद्गलैर्वा सम्बन्धो यस्य कर्मण उदयाद्
भवति, काष्ठद्वयभेदैकध्यकरणे जतुवदिति।

३. वही, ८/२५—नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशु
अनन्तान्तप्रदेशाः।

भाष्य—नामप्रत्ययाः पुद्गलाः बध्यन्ते। नामप्रत्यय एषां ते इमे नामप्रत्ययाः। नामनिभिता
नामहेतुका नामकारणा इत्यर्थः।

टीका—संज्ञानामन्वर्थं सर्वकर्मणामुक्तं ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यवसानं तस्य प्रत्ययाः
—कारणानीति षष्ठी समासः।

न हि तानन्तरेण तदाह्योदयादि सम्भवो मुक्तस्येवात्मनः संसारिणः प्रथमप्रश्नः। एवं
द्वितीयविकल्पः किंप्रत्यया वेति द्वितीयभेदाश्रयणेन भाष्यम्—नाम प्रत्यय एषां ते इमे नाम प्रत्यया
इति बहुव्रीहिः अन्यपदार्थश्च, गतिजात्यादिभेदं नामकर्म। औदारिकशरीरादयो योगाः कर्मणो
निमित्ता प्रतिपद्यन्ते पारम्पर्येण गत्यादयोऽपीत्यतो नामकर्मकरणाः पुद्गला बध्यन्त इति

४. वही, ५/१२४—विश्रसा—स्वभावः प्रयोगनिरपेक्षो विश्रसाबन्धः।

गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए, नो सादीए अपज्जवसिए, नो अणादीए सपज्जवसिए, नो अणादीए अपज्जवसिए ॥

गौतम ! वस्त्रस्य पुद्गलोपचयः सादिकः सपर्यवसितः, नो सादिकः अपर्यवसितः, नो अनादिकः सपर्यवसितः, नो अनादिकः अपर्यवसितः।

गौतम ! वस्त्र के पुद्गलों का उपचय सादि-सपर्यवसित है, सादि-अपर्यवसित नहीं है, अनादि-सपर्यवसित नहीं है, अनादि-अपर्यवसित नहीं है।

२८. जहा णं भन्ते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए, नो सादीए अपज्जवसिए, नो अणादीए सपज्जवसिए, नो अणादीए अपज्जवसिए, तथा णं जीवाणं कम्मोवचए पुच्छा।

यथा भदन्त ! वस्त्रस्य पुद्गलोपचयः सादिकः सपर्यवसितः, नो सादिकः अपर्यवसितः, नो अनादिकः सपर्यवसितः, नो अनादिकः अपर्यवसितः, तथा जीवानां कर्मोपचये पृच्छा।

२८. भन्ते ! जैसे वस्त्र के पुद्गलों का उपचय सादि-सपर्यवसित है, सादि-अपर्यवसित नहीं है, अनादि-सपर्यवसित नहीं है, अनादि-अपर्यवसित नहीं है, उसी प्रकार जीवों के कर्मोपचय के सम्बन्ध में प्रश्न है।

गोयमा ! अत्थेगतियाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए, अत्थेगतियाणं अणादीए सपज्जवसिए, अत्थेगतियाणं अणादीए अपज्जवसिए, नो चैव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए ॥

गौतम ! अस्त्येककेषां जीवानां कर्मोपचयः सादिकः सपर्यवसितः, अस्त्येककेषां अनादिकः सपर्यवसितः, अस्त्येककेषां अनादिकः अपर्यवसितः, नो चैव जीवानां कर्मोपचयः सादिकः अपर्यवसितः।

गौतम ! कुछ जीवों के कर्मों का उपचय सादि-सपर्यवसित है, कुछ जीवों के कर्मों का उपचय अनादि-सपर्यवसित है, कुछ जीवों के कर्मों का उपचय अनादि-अपर्यवसित है, पर जीवों के कर्मों का उपचय सादि-अपर्यवसित नहीं होता।

२९. से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! इरियावहियबंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए, भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए, अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए। से तेणट्ठेणं ॥

तत् केनार्थेन ?

गौतम ! ईर्यापथिकबन्धकस्य कर्मोपचयः सादिकः सपर्यवसितः, भवसिद्धिकस्य कर्मोपचयः अनादिकः सपर्यवसितः, अभवसिद्धिकस्य कर्मोपचयः अनादिकः अपर्यवसितः। तत् तेनार्थेन।

२९. यह किस अपेक्षा से ?

गौतम ! ईर्यापथिक कर्म बांधने वाले के कर्मों का उपचय सादि-सपर्यवसित है, भवसिद्धिक जीवों के कर्मों का उपचय अनादि-सपर्यवसित है, अभवसिद्धिक जीवों के कर्मों का उपचय अनादि-अपर्यवसित है। इस अपेक्षा से।

भाष्य

१. सूत्र २७-२९

कर्म के विषय में एक जिज्ञासा प्राचीन काल से होती रही है—पहले कौन, जीव अथवा कर्म ? इसका उत्तर है—जीव और कर्म में पौर्वापर्य नहीं है। कर्म के बिना जीव संसार में रहता नहीं और जीव के बिना कर्म का बन्ध होता नहीं। इसकी फलश्रुति है कि जीव और कर्म दोनों अनादि हैं। प्रस्तुत आलापक में कर्म के अनादित्व पर सापेक्ष दृष्टि से विमर्श किया गया है। अनादित्व और सादित्व को चार भंगों में विभक्त कर समझाया गया है—

१. सादि सपर्यवसित—वीतराग के ईर्यापथिक कर्म का बन्ध होता है। उसकी अवधि दो समय की है। पहले समय में कर्म बन्ध होता है, दूसरे समय में परिभुक्त होता है और तीसरे समय में निर्जीर्ण होता है। वीतराग अवस्था से पहले इसका बन्ध नहीं होता, इसलिए यह सादि है। अयोगी अवस्था में इसका बन्ध रुक जाता है, इसलिए यह सपर्यवसित है, सान्त है।

२, ३. अनादि-सपर्यवसित, अनादि-अपर्यवसित—अवीतराग अवस्था में सभी जीवों के कर्म का बन्ध अनादि होता है। अनादित्व की दृष्टि से दूसरा और तीसरा भंग समान है। भव्य जीव में मोक्ष-गमन की अर्हता होती है, उनमें से जो कर्म-बन्ध का अन्त कर देता है, इस आधार पर दूसरा भंग बनता है अनादि-सपर्यवसित। अभव्य जीव में मोक्ष-गमन की अर्हता नहीं होती; इसलिए उसके कर्म-बन्ध का कभी अन्त नहीं होता; इस आधार पर अनादि-अपर्यवसित भंग बनता है।

४. सादि-अपर्यवसित—यह चतुर्थ भंग शून्य है। कर्म-बन्ध का अनादित्व निरपेक्ष है और सादित्व सापेक्ष है। केवल ईर्यापथिकी क्रिया की अपेक्षा कर्मबन्ध का सादित्व है। ईर्यापथिकी क्रिया केवल वीतराग के ही होती है और वीतराग निश्चित रूप से कर्म-बन्ध का समापन कर मुक्त होता है। अतः सादि-अपर्यवसित भंग शून्य है।

१. (क) भ. १/२९१

(ख) आचार्य भिक्षु द्वारा रचित तेरह द्वार, द्वार - २

२. भ. वृ. ६/२९—ईर्यापथिककर्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात् सादित्वम्, अयोग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपत्ति वाऽबन्धनात् सपर्यवसितत्वम्।

जीवाणं सादि-अनादित्त-पदं

३०. वत्थे णं भंते ! किं सादीए सपज्जवसिए
—चउभंगो?

गोयमा ! वत्थे सादीए सपज्जवसिए, अव-
सेसा तिण्णि वि पडिसेहेयव्वा ।

३१. जहाणं भंते ! वत्थे सादीए सपज्जवसिए,
नो सादीए अपज्जवसिए, नो अणादीए
सपज्जवसिए, नो अणादीए अपज्जवसिए,
तहा णं जीवा किं सादीया सपज्जवसिया?
चउभंगो—पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगतिया सादीया सपज्ज-
वसिया—चत्तारि वि भाणियव्वा ॥

३२. से केणट्टेणं?

गोयमा ! नैरतिय-तिरिक्खजोणिय-मणु-
-स्स-देवा गतिरागतिं पडुच्च सादीया स-
पज्जवसिया, सिद्धा गतिं पडुच्च सादीया
अपज्जवसिया, भवसिद्धिया लब्धिं पडुच्च
अणादीया सपज्जवसिया, अभवसिद्धिया
संसारं पडुच्च अणादीया अपज्जवसिया से
तेणट्टेणं ॥

जीवानां साधनादित्व-पदम्

वस्त्रं भदन्त ! किं सादिकं सपर्यवसितम्—
चतुर्भङ्गाः ?

गौतम ! वस्त्रं सादिकं सपर्यवसितम्, अव-
शेषाः त्रयोऽपि प्रतिषेधयितव्याः।

यथा भदन्त ! वस्त्रं सादिकं सपर्यवसितं, नो
सादिकम् अपर्यवसितं, नो अनादिकं स-
पर्यवसितं, नो अनादिकम् अपर्यवसितं, तथा
जीवाः किं सादिकाः सपर्यवसिताः? चतु-
र्भङ्गाः—पृच्छा ।

गौतम ! अस्त्येकके सादिकाः सपर्यवसिताः
—चत्वारोऽपि भणितव्याः।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य-
-देवाः गत्यागती प्रतीत्य सादिकाः सपर्य-
वसिताः, सिद्धा गतिं प्रतीत्य सादिकाः
अपर्यवसिताः, भवसिद्धिकाः लब्धिं प्रतीत्य
अनादिकाः सपर्यवसिताः, अभवसिद्धिकाः
संसारं प्रतीत्य अनादिकाः अपर्यवसिताः। तत्
तेनार्थेन ।

जीवों की सादि-अनादिता का पद

३०. भन्ते ! क्या वस्त्र सादि-सपर्यवसित है? सादि-
अपर्यवसित है? अनादि-सपर्यवसित है? अथवा
अनादि-अपर्यवसित है?

गौतम ! वस्त्र सादि-सपर्यवसित है। शेष तीनों भंग
(विकल्प) प्रतिषेधनीय है—सादि-अपर्यवसित नहीं
है, अनादि-सपर्यवसित नहीं है और अनादि-
अपर्यवसित नहीं है।

३१. भंते ! जैसे वस्त्र सादि-सपर्यवसित है, सादि
अपर्यवसित नहीं है, अनादि-सपर्यवसित नहीं है
और अनादि-अपर्यवसित नहीं है, वैसे ही क्या जीव
भी सादि-सपर्यवसित है? सादि-अपर्यवसित है?
अनादि-सपर्यवसित है? अथवा अनादि-अपर्य-
वसित है?

गौतम ! कुछ जीव सादि-सपर्यवसित है। कुछ जीव
सादि-अपर्यवसित है। कुछ जीव अनादि-सपर्यवसित
है। कुछ जीव अनादि-अपर्यवसित हैं।

३२. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव
गति-आगति की अपेक्षा सादि-सपर्यवसित है। सिद्ध
गति की अपेक्षा सादि अपर्यवसित है। भवसिद्धिक
जीव भव्यत्व-लब्धि की अपेक्षा अनादि-सपर्यवसित
है, अभवसिद्धिक जीव संसार (जन्म-मरण) की
अपेक्षा अनादि-अपर्यवसित हैं। इस अपेक्षा से।

भाष्य

१. सूत्र ३०-३२

सादित्व और अनादित्व का विमर्श अनेक अपेक्षाओं से किया जा
सकता है। प्रस्तुत आलापक में जीव-पर्याय आत्मा का स्वरूप स्वाभाविक
योग्यता और अयोग्यता—इन अपेक्षाओं से सादित्व और अनादित्व की
संबन्धि दी गई है।

१. नैरयिक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देव—ये चारों जीव के
पर्याय हैं। प्रत्येक पर्याय की आदि होती है और उसका अन्त भी होता है।
उदाहरण स्वरूप—मनुष्य-गति में उत्पन्न होना मनुष्य का आदि बिंदु है।
मनुष्य-जीवन की आयु समाप्त कर देना उसका पर्यवसान है। अतः मनुष्यगति
में आने की अपेक्षा से मनुष्य का सादित्व और वहां से चले जाने की अपेक्षा

से उसका सपर्यवसित्व है।

२. सिद्ध जीव का शुद्ध स्वरूप है। वह स्वरूप पहले कभी उपलब्ध
नहीं हुआ, इसलिए सिद्धि-गति की अपेक्षा सिद्ध का सादित्व है। आत्मा का
स्वरूप उपलब्ध होने पर फिर कभी उसका विलोप नहीं होता, इसलिए वह
अपर्यवसित है।

योगदर्शन में मुक्त और ईश्वर इन दो अवस्थाओं को भिन्न माना
गया है। उसके अनुसार मुक्त जीव बन्धनों का छेदन कर कैवल्य को प्राप्त
होता है। ईश्वर सदा-सर्वदा बन्धनों से मुक्त होता है। फलतः मुक्त सादि होता
है और ईश्वर अनादि। जैन दर्शन में अनादिसिद्धत्व का सिद्धान्त स्वीकार्य
नहीं है। सापेक्ष दृष्टि से सिद्धों को अनादि बतलाया गया है, किन्तु निरपेक्ष

१. (क) पा. यो. द. व्यास-भाष्य, १/२४—केवल्यं प्राप्तास्तर्हि संति च बहवः केवलिनः, ते हि
श्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा
बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते

नैवमीश्वरस्य स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।
(ख) देखें भ. १/२८८-३०७ का भाष्य ।

दृष्टि से उनका अनादित्व नहीं है।

उत्तरज्झयणाणि में प्रतिपादित है—प्रत्येक की अपेक्षा से सिद्ध सादि और अनंत है, बहुत्व (सन्तति-प्रवाह) की अपेक्षा वे अनादि और अनंत है। यहाँ अनादित्व योगदर्शन के प्रतिपाद्य से भिन्न है। जैनदर्शन के अनुसार जो भी मुक्त हुआ है वह कर्म-बंधन का छेदन कर मुक्त हुआ है। प्रत्येक सिद्ध प्रथम है, कोई भी अप्रथम नहीं है। सिद्ध को 'अनादि-अनन्त' काल की अपेक्षा से कहा गया है।

सिद्ध अपर्यवसित होते हैं। कुछ दार्शनिक मुक्त जीव का पुनरवतार मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने परिमित जीववाद के सिद्धान्त में दो त्रुटियाँ बतलाई हैं। यदि जीव परिमित हैं तो सभी जीव मुक्त हो जाएंगे, इस अवस्था में मुक्त जीव का पुनरवतार होगा अथवा किसी दिन संसार जीव-शून्य हो

जाएगा।^१ सिद्ध अपर्यवसित हैं—यह वाक्य इस सिद्धान्त की ओर संकेत करता है कि जीव मुक्त होने के पश्चात् फिर कभी संसार में जन्म नहीं लेगा।

३. भवसिद्धिक जीवों में भव्यत्व नाम की लब्धि अनादिकाल से है। इस लब्धि की अपेक्षा से वे अनादि है। मुक्त होने के समय वह लब्धि परिसम्पन्न हो जाती है। इस अपेक्षा से भवसिद्धिक जीव सपर्यवसित है। भवसिद्धिक जीव ही सिद्ध होते हैं। किन्तु जिनके काललब्धि का परिपाक हो जाता है, वे ही भवसिद्धिक जीव सिद्ध होते हैं, सब नहीं होते। इसलिए भगवान् महावीर ने जयन्ती के प्रश्न के उत्तर में बतलाया—यह लोक कभी भी भवसिद्धिक जीवों से शून्य नहीं होगा।

४. अभवसिद्धिक जीवों में मुक्त होने की अर्हता नहीं होती, इसलिए वे संसार—जन्म-मरण की अपेक्षा से अनादि और अपर्यवसित होते हैं।

कम्मपगडी-बंध-विवेयण-पदं

३३. कति णं भन्ते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! अद्द कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ,
तं जहा—१. नाणावरणिज्जं २. दरिसणा-
वरणिज्जं ३. वेदणिज्जं ४. मोहणिज्जं
५. आउगं ६. नामं ७. गोयं ८. अंतराइयं ।।

३४. नाणावरणिज्जस्स णं भन्ते ! कम्मस्स
केवतियं कालं बंधट्ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं
तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य
वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्म-
ट्ठिती—कम्मनिसेओ।

दरिसणावरणिज्जं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं,
उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ,
तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया
कम्मट्ठिती—कम्मनिसेओ।

वेदणिज्जं जहण्णेणं दो समया, उक्कोसेणं
तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य
वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्म-
ट्ठिती—कम्मनिसेओ।

कर्मप्रकृति-बंध-विवेचन-पदम्

कति भदन्त ! कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! अष्ट कर्मप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः, तदयथा
—१. ज्ञानावरणीयं २. दर्शनावरणीयं ३.
वेदनीयं ४. मोहनीयम् ५. आयुष्कं ६. नान
७. गोत्रम् ८. अन्तरायिकम्।

ज्ञानावरणीयस्य भदन्त ! कर्मणः कियन्तं
कालं बन्धस्थितिः प्रज्ञप्ता ?

गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण
त्रिंशत् सागरोपमकोटिकोटीः, त्रीणि च वर्ष-
सहस्राणि अबाधा, अबाधोनिका कर्मस्थि-
तिः—कर्मनिषेकः।

दर्शनावरणीयं जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उ-
त्कर्षेण त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीः, त्रीणि
च वर्षसहस्राणि अबाधा, अबाधोनिका
कर्मस्थितिः—कर्मनिषेकः।

वेदनीयं जघन्येन द्वौ समयौ, उत्कर्षेण त्रिंशत्
सागरोपमकोटिकोटीः, त्रीणि च वर्षसह-
स्राणि अबाधा, अबाधोनिका कर्मस्थितिः
—कर्मनिषेकः।

कर्म-प्रकृति-बंध-विवेचन-पद

३३. ' भन्ते ! कर्म-प्रकृतियां कितनी प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! आठ कर्म प्रकृतियां प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय,
आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय ।

३४. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म की बंध-स्थिति कितने
काल की प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षतः तीस कोटा-
कोटि सागरोपम है। इसका अबाधाकाल तीन हजार
वर्ष का है। अबाधा-काल जितनी न्यून कर्म-स्थिति
कर्म-निषेक (कर्म-दलिकों के अनुभव के लिए
होने वाली विशिष्ट प्रकार की रचना) का काल है।
दर्शनावरणीय कर्म की बंध-स्थिति जघन्यतः अन्त-
र्मुहूर्त, उत्कर्षतः तीस कोटाकोटि सागरोपम है।
इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है।
अबाधाकाल जितनी न्यून कर्म-स्थिति कर्म-
निषेक का काल है।

वेदनीय कर्म की बन्ध-स्थिति जघन्यतः दो समय,
उत्कर्षतः तीस कोटाकोटि सागरोपम है। इसका
अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। अबाधाकाल
जितनी न्यून कर्म-स्थिति कर्म-निषेक का काल
है।

१. उत्तरः ३६/६५—

एगत्तेण साईया, अपज्जवरिसिया वि य ।

पुहत्तेण अणाईया, अपज्जवरिसिया वि य ।।

२. भ. १८/२—सिद्धे णं भन्ते ! सिद्ध भावेण किं पदमे? अपदमे?

गोयमा ! पहले, नो अपदमे।

३. अन्वयोगान्वयच्छेदिका. २९—

मुक्तोपि वाभ्येतु भवं भजे वा भवस्वशून्योऽस्तु मिततामवादे ।

षड्जीवकाय तत्रमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥

४. भ. व. ६/२९—भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धन्वेऽपेर्तितिकृत्वाऽनादिः सपर्यवसिता चेति ।

५. भ. १२/५०-५२।

मोहणिज्जं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरि सागरोवमकोडाकोडीओ, सत्त य वाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्म-ड्विती—कम्मनिसेओ।

आउगं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडितिभाग-मब्भहियाणि, कम्मड्विती—कम्मनिसेओ।

नाम-गोयाणं जहण्णेणं अट्ट मुहुत्ता, उक्को-सेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, दोण्णि य वाससहस्साणि अबाहा, अबाहूणिया कम्मड्विती—कम्मनिसेओ।

अंतराइयं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिण्णि य वाससहस्साइं अबाहा, अबाहूणिया कम्म-ड्विती—कम्मनिसेओ।

मोहनीयं जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण सप्तति सागरोपमकोटिकोटीः, सप्त च वर्षसहस्राणि अबाधा, अबाधोनिका कर्म-स्थितिः—कर्मनिषेकः।

आयुष्कं जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम् उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमानि पूर्वकोटि-त्रिभा-गाध्यधिकानि कर्मस्थितिः—कर्मनिषेकः।

नाम-गोत्रयोरजघन्येन अष्ट मुहूर्तानि, उत्कर्षेण विंशतिः सागरोपमकोटिकोटीः, द्वे च वर्ष-सहस्रे अबाधा, अबाधोनिका कर्मस्थितिः—कर्मनिषेकः।

अन्तराधिकं जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण त्रिंशत् सागरोपमकोटिकोटीः, त्रीणि च वर्ष-सहस्राणि अबाधा, अबाधोनिका कर्म-स्थितिः—कर्मनिषेकः।

मोहनीय कर्म की बंध-स्थिति जघन्यतः अन्त-र्मुहूर्त, उत्कर्षतः सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है। इसका अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है। अबाधाकाल जितनी न्यून कर्म-स्थिति कर्म-निषेक का काल है।

आयुष्य-कर्म की बंध-स्थिति जघन्यतः अन्त-र्मुहूर्त, उत्कर्षतः कोटिपूर्व का एक तिहाई भाग अधिक तेतीस सागरोपम है। कर्मस्थिति घटाव पूर्वकोटि का तीसरा भाग (यानि तेतीस सागर) कर्म-निषेक का काल है।

नाम और गोत्र कर्म की बंध-स्थिति जघन्यतः आठ मुहूर्त, उत्कर्षतः बीस कोटाकोटि सागरोपम है। उनका अबाधाकाल दो हजार वर्ष का है। अबाधाकाल जितनी न्यून कर्म-स्थिति कर्म-निषेक का काल है। अन्तराय कर्म की बंध-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त, उत्कर्षतः तीस कोटाकोटि सागरोपम है। इसका अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। अबाधाकाल जितनी न्यून कर्म-स्थिति कर्म-निषेक का काल है।

भाष्य

१. सूत्र ३३, ३४

विश्व के परिवर्तन में वर्गणा का मुख्य स्थान है। वर्गणाएं आठ हैं—

१. औदारिक शरीर वर्गणा
२. वैक्रिय शरीर वर्गणा
३. आहारक शरीर वर्गणा
४. तैजस शरीर वर्गणा
५. भाषा वर्गणा
६. श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७. मनोवर्गणा
८. कामर्ण वर्गणा

कर्म-वर्गणा के पुद्गल जीव को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास—इन सबका कर्म के साथ सम्बन्ध है। ये सब कर्म के उपजीवी हैं। जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध होने पर शरीर आदि होते हैं। जीव से कर्म का असम्बन्ध हो जाने पर ये नहीं होते।

कर्म पारिभाषिक शब्द है। इसकी परिभाषा है—जीव अपनी आश्रव-शक्ति से कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वे पुद्गल कर्मरूप में परिणत होकर जीव के प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं। इस अवस्था में उन कर्म-वर्गणा के पुद्गलों की संज्ञा 'कर्म' हो जाती है। कर्म-प्रायोग्य पुद्गल निर्विभाग होते हैं। उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण—इस प्रकार विभाग नहीं होता। जीव जिस अध्यवसाय के द्वारा कर्म-पुद्गलों का ग्रहण करता है, उस अध्यवसाय से सामान्य रूप से गृहीत कर्म-पुद्गलों का ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि विभाग के रूप में परिणमन होता है। बंध के चार प्रकार हैं—प्रकृति-बंध, स्थिति-बंध, अनुभाग-बंध, प्रदेश-बंध।

इनमें पहला प्रकार प्रकृति-बंध है। सिद्धसेन गणी ने इसे कर्म के भेदों का मूल कारण माना है, जैसे—मिट्टी के घट आदि अनेक रूप बनते हैं, वैसे ही एक रूप में ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गलों के प्रकृति द्वारा अनेक रूप बन जाते हैं। प्रकृति का दूसरा अर्थ स्वभाव है। प्रकृति-बंध द्वारा प्रत्येक विभाग का स्वभाव-निर्धारण होता है। ज्ञानावरण का स्वभाव है—ज्ञान को आवृत्त करना, दर्शनावरण का स्वभाव है—दर्शन को आवृत्त करना। दर्शनावरण के उदय से विषय का आलोचन अथवा दर्शन नहीं होता। ज्ञानावरण के उदय से अर्थ का अवगमन नहीं होता। पहले आलोचन होता है और फिर अवगमन। ज्ञानमीमांसा का यह क्रम है। वेदनीय कर्म का स्वभाव है—सुख-दुःख का संवेदन। मोह का स्वभाव है—तात्त्विक मूढ़ता और चारित्र-मूढ़ता। आयुष्य का स्वभाव है—जन्म का निर्धारण। नामकर्म का स्वभाव है—जीव का मूर्त्तिकरण—जीव को नाना आकृतियों में परिणत करना। गोत्रकर्म का स्वभाव है—हीनता और उच्चता की स्थिति में प्रतिष्ठित करना। अन्तराय कर्म का स्वभाव है—क्रियात्मक वीर्य अथवा शक्ति में बाधा डालना।

कर्म की मौलिक प्रकृतियां आठ ही क्यों? इस प्रश्न का समाधान जीव के आत्मिक स्वरूप और पौद्गलिक व्यक्तित्व पर विचार करने से प्राप्त होता है। ज्ञान, दर्शन आत्मरमण अथवा आनन्द और वीर्य—यह जीव का चतुर्गुणात्मक स्वरूप है। चार कर्म आत्मा के स्वरूप को प्रभावित करते

१. त. सू. भा. वृ. ८/२५—नु चैकाकारा एव पुद्गलाः समादीयन्ते न तु ज्ञानावरणादिविशिष्टाः केचिद् बहिः सन्तीति उच्यते—सत्यमेतत्। वयं त्विदमभिद्धमहे—ज्ञानावरणादिकानां सर्वासं मूलप्रकृतीनां कर्म-भेदानां सामर्थ्येन्ये न योगानां कर्मवर्गणानां ग्रहणमाप्त्यायते। ततः सामान्य-गृहीतानामध्यवसायविशेषात् पृथक्-पृथक् ज्ञानावरणादिभेदत्वेन परिणमयत्यात्मेति ॥

२. वही, ८/४—तत्र प्रकृतिर्मूलं कारणं मृदिव धटादिभेदानामेकरूपपुद्गलग्रहणम्, अतः

प्रक्रियेनेऽस्य सकाशादिति अकर्तरीत्यनुवृत्तेरपादानसाधना प्रकृतिः।

३. वही, ८/४—स्वभाववचनो वा प्रकृतिशब्दः। दुष्टप्रकृतिर्दुष्टस्वभाव इति प्रसिद्धः। ज्ञानावरणं ज्ञानाच्छादनस्वभावं मौलभेदतः, एवं दर्शनावरणादावपि योज्यम्। स्वभाववचनत्वे च भाव-साधनः प्रकृतिशब्दः।

हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण—ये दो कर्म आवारक है—आत्मा की ज्ञान और दर्शन की शक्ति को आवृत्त करते हैं। मोहनीय कर्म विकारक है। वह आत्मा की दृष्टि और चारित्र में विकृति उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म प्रतिरोधक है। वह आत्मा के वीर्य का प्रतिघात करता है। आत्म-स्वरूप को प्रभावित करने वाले कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं। चार कर्म पौद्गलिक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। उसका मुख्य अंग है—अमूर्त का मूर्त रूप में बने रहना, शरीर-धारण। इस कार्य का संपादन नाम कर्म करता है। जीवन की सीमा का निर्धारण आयुष्य कर्म से होता है। सुख-दुःख के संवेदन का हेतु है—वेदनीय कर्म। प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का हेतु बनता है—गोत्र कर्म। पौद्गलिक व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले चार कर्म अघातिक कर्म कहलाते हैं।

इन आठ मूल प्रकृतियों में जीवन के मौलिक पक्षों की व्याख्या हो जाती है। शेष पक्षों का संपादन उत्तरप्रकृतियों के द्वारा होता है। बंध का दूसरा प्रकार स्थिति-बंध है। इसके द्वारा कर्म की स्थिति का निर्धारण होता है। प्रत्येक कर्म अपनी काल-मर्यादा के अनुसार जीव के साथ बद्ध रहता है। उसके सम्पन्न होते ही वह उदय में आकर निर्जीर्ण हो जाता है।

कर्म बंध की अवस्था में आते ही अपना फल नहीं देता। वह विपक्व होकर ही फल देना प्रारम्भ करता है। बंध और उदय के मध्य अवेद्यमान अवस्था होती है। उसका नाम अबाधाकाल है। इस प्रकार कर्म के स्थितिबंध की दो अवस्थाएं फलित होती हैं—१. अबाधाकाल २. बाधाकाल।

अबाधाकाल में कर्म का वेदन नहीं होता। बाधाकाल में कर्म का वेदन प्रारंभ हो जाता है। इस प्रकार कर्म की स्थिति—कालावधि और उसका अनुभव काल समान नहीं होता।

अबाधाकाल के सम्पन्न होने पर कर्म-निषेक की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। बद्धकर्म एक साथ ही उदय में नहीं आता। उनका उदय क्रमशः होता है। क्रम-अवस्था की दृष्टि से उनके अनेक वर्ग बन जाते हैं। वे कर्म-निषेक कहलाते हैं। प्रथम समय के कर्म-निषेक में कर्म-पुद्गलों का निषेचन अधिक होता है। दूसरे समय में वह निषेचन विशेष हीन हो जाता है। इस प्रकार कर्म-फल देने की अवधि तक वह उत्तरोत्तर विशेष हीन होता चला जाता है।

प्रस्तुत आलापक में अन्य सात कर्म-प्रकृतियों के अबाधाकाल निर्दिष्ट हैं। आयुष्य के अबाधाकाल का निर्देश नहीं है। कर्म-प्रकृति में आयुष्य के अबाधाकाल का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार अपनी वर्तमान आयु का तीसरा भाग आयुष्य का अबाधाकाल होता है। पञ्चसंग्रह में आयुष्य का उत्कृष्ट अबाधाकाल पूर्वकोटि वर्ष का तीसरा भाग बतलाया गया है। अभयदेवसूरि ने आयुष्य का अबाधाकाल पूर्वकोटि का तीसरा भाग बतलाया है। उसका निषेक-काल तेतीस सागर का होता है। भगवती के मूल पाठ में आयु के अबाधाकाल का उल्लेख नहीं है। पण्णवणा के मूल पाठ में भी नहीं है। आयुष्यकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और पूर्वकोटि का तीसरा भाग बतलाई गई है। वह सापेक्ष है। बध्यमान आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। पूर्वकोटि का तीसरा भाग भुज्यमान आयुष्य है। उसे बध्यमान आयुष्य के साथ मिलाने पर आयुष्य की स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग अधिक

संख्या	कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति	अबाधाकाल	निषेककाल
१	ज्ञानावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० क्रोडाक्रोड सागर	३ हजार वर्ष	३ हजार वर्ष न्यून ३० क्रोडाक्रोड सागर
२	दर्शनावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० क्रोडाक्रोड सागर	३ हजार वर्ष	३ हजार वर्ष न्यून ३० क्रोडाक्रोड सागर
३	वेदनीय	२ समय	३० क्रोडाक्रोड सागर	३ हजार वर्ष	३ हजार वर्ष न्यून ३० क्रोडाक्रोड सागर
४	मोहनीय	अन्तर्मुहूर्त	७० क्रोडाक्रोड सागर	७ हजार वर्ष	७ हजार वर्ष न्यून ७० क्रोडाक्रोड सागर
५	आयुष्य	अन्तर्मुहूर्त	३३ सागर १/३ पूर्वकोटि अधिक	—	३३ सागर
६	नाम	८ मुहूर्त	२० क्रोडाक्रोड सागर	२ हजार वर्ष	२ हजार वर्ष न्यून २० क्रोडाक्रोड सागर
७	गोत्र	८ मुहूर्त	२० क्रोडाक्रोड सागर	२ हजार वर्ष	२ हजार वर्ष न्यून २० क्रोडाक्रोड सागर
८	अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त	३० क्रोडाक्रोड सागर	३ हजार वर्ष	३ हजार वर्ष न्यून ३० क्रोडाक्रोड सागर

१. त. रा. वा. ८/२३—ता. पुनः कर्म प्रकृतियो द्विविधाः—घातिका अपातिकश्चेतिः। तत्र ज्ञान दर्शनावरण मोहान्तरायाख्या घातिकाः। इतरा अपातिकाः।

२. भ. वृ. ६/३४—अबाधया उक्तक्षणा ऊनिका अबाधोनिका कर्मस्थितिः कर्म वस्थान-काल उक्तक्षणः कर्म-निषेको भवति। तत्र कर्मनिषेको नाम कर्मदलिकस्यानुभवनाथ रचनाविशेषः। तत्र च प्रथमसमये बहुकं निषिञ्चन्ति द्वितीयसमये विशेषहीणं तृतीयसमये विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टस्थितिकं कर्मदलिकं तावद् विशेषहीनं निषिञ्चति। तथा चोक्तम्—

मोत्तुण सममबाहं पदमाए ठिईए बहुतरं दव्वं।

सेसे त्रिसेसणहीवं जा उक्कोसंति सव्वासिं।

३. कर्म प्रकृति, बंधनकरण, गाथा ७४—

आउचउक्कुक्कोसो पल्लासंखेज्जभागममणेसु
सेसाण पुच्चकोटि, साउतिभागो अबाहासिं।

४. पं. सं. पृ. २४४, गाथा ३९३—

स्ससयं अबाहाकोडाकोटी ठिदिस्स जलहोणं।

सत्तण्हं कम्मार्णं आउस्स दु पुच्चकोडितइअंसो।।

५. भ. वृ. ६/४८—नवमायुषि त्रयस्त्रिंशत्सारापोपमाणि निषेकः पूर्वकोटी त्रिभागश्चाबाधाकाल इति।

६. पण्ण. २३/७८-८०।

तेतीस सागर की होती है। भगवतीवृत्ति तथा शतक (पंच संग्रह) की कर्मस्थिति कर्म-निषेक का काल बतलाया गया है। आयुष्य कर्म का चूर्णि में पूर्व कोटि का तीसरा भाग अबाधाकाल तथा अबाधाकाल-ऊन उत्कृष्ट निषेक-काल तेतीस सागर का है। देखे यंत्र—(पृ. २४७)

३५. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ? पुरिसो बंधइ? नपुंसओ बंधइ? नोइत्थी नोपुरिसो नोनपुंसओ बंधइ? गोयमा ! इत्थी वि बंधइ, पुरिसो वि बंधइ, नपुंसओ वि बंधइ। नोइत्थी नोपुरिसो नोनपुंसओ सिय बंधइ, सिय नो बंधइ।

एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं स्त्री बध्नाति? पुरुषः बध्नाति? नपुंसकः बध्नाति? नोस्त्री नोपुरुषः नोनपुंसकः बध्नाति? गौतम ! स्त्री अपि बध्नाति, पुरुषोऽपि बध्नाति, नपुंसकोऽपि बध्नाति। नोस्त्री नोपुरुषः नोनपुंसकः स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति।

एवम् आयुष्यकवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतयः।

३५. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या स्त्री करती है? पुरुष करता है? नपुंसक करता है? नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक करता है? गौतम ! स्त्री भी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करती है, पुरुष भी करता है, नपुंसक भी करता है; नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक स्यात् बंध करता है, स्यात् बंध नहीं करता।

इसी प्रकार आयुष्य को छोड़कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता करें।

३६. आउगं णं भंते ! कम्मं किं इत्थी बंधइ? पुरिसो बंधइ? नपुंसओ बंधइ? नोइत्थी नोपुरिसो नोनपुंसओ बंधइ? गोयमा ! इत्थी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। पुरिसो सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। नपुंसओ सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। नोइत्थी नोपुरिसो नोनपुंसओ न बंधइ।

आयुष्यं भदन्त ! कर्म किं स्त्री बध्नाति? पुरुषः बध्नाति? नपुंसकः बध्नाति? नोस्त्री नोपुरुषः नोनपुंसकः बध्नाति? गौतम ! स्त्री स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। पुरुषः स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। नपुंसकः स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। नोस्त्री नोपुरुषः नोनपुंसकः न बध्नाति।

३६. भन्ते ! आयुष्य कर्म का बंध क्या स्त्री करती है? पुरुष करता है? नपुंसक करता है? नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक करता है? गौतम ! आयुष्य कर्म का बंध स्त्री स्यात् करती है, स्यात् नहीं करती। पुरुष स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। नपुंसक स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता।

३७. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं संजए बंधइ? अस्संजए बंधइ? संजयासंजए बंधइ? नोसंजए नोअसंजए नोसंजयासंजए बंधइ? गोयमा ! संजए सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। अस्संजए बंधइ, संजयासंजए वि बंधइ। नोसंजए नोअस्संजए नोसंजयासंजए, न बंधइ। एवं आउगवज्जाओ सत्त वि। आउगे हेड्डि-ल्ला तिण्णि भयणाए, उवरिल्ले न बंधइ।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं संयतः बध्नाति? असंयतः बध्नाति? संयतासंयतः बध्नाति? नोसंयतः नोअसंयतः नो संयता-संयतः बध्नाति? गौतम ! संयतः स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। असंयतः बध्नाति, संयतासंयतः अपि बध्नाति। नोसंयतः नोअसंयतः नो-संयतासंयतः न बध्नाति। एवम् आयुष्यकवर्जानि सप्त अपि। आयुष्यकम् अधस्तनाः त्रयो भजनया, उपरितनः न बध्नाति।

३७. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या संयत करता है? असंयत करता है? संयतासंयत करता है? नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत करता है?

गौतम ! संयत ज्ञानावरणीय कर्म का बंध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। असंयत बंध करता है, संयतासंयत भी बन्ध करता है। नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत बंध नहीं करता।

इसी प्रकार आयुष्य को छोड़कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। प्रथम तीनों—संयत, असंयत और संयतासंयत आयुष्य कर्म का बंध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। चौथा भंग—नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत नहीं करता।

३८. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सम्मदिट्ठी बंधइ? मिच्छ दिट्ठी बंधइ? सम्मा-मिच्छ दिट्ठी बंधइ?

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं सम्यग्दृष्टिः बध्नाति? मिथ्यादृष्टिः बध्नाति? सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः बध्नाति?

३८. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध सम्यग्दृष्टि करता है? मिथ्यादृष्टि करता है? सम्यग्मिथ्यादृष्टि करता है?

१. प. सं. पृ. २४६—देवणिरयाउगाणं उक्कोसगो ठिडबंधो तेतीसं सागरोपमाणि पुव्व-कोटि तिभागहियाणि, पुव्वकोटि तिभागो अबाहा अबाहाए विणा कम्मद्रिई कम्मणिसेगो।

२. वही, गाथा ३९५—

अबाधूणट्ठि दी, कम्मणिसेओ होइ सत्तकम्मणां ठिदिमेव णिया सव्वा, कम्मणिसेओ व आउस्स ।।

गोयमा ! सम्मदिट्ठी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। मिच्छदिट्ठी बंधइ, सम्मामिच्छदिट्ठी बंधइ।

एवं आउगवज्जाओ सत्त वि आउगे हेड्डिल्ला दो भयणाए, सम्मामिच्छदिट्ठी न बंधइ।

३९. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सण्णी बंधइ? असण्णी बंधइ? नोसण्णी नोअसण्णी बंधइ?

गोयमा ! सण्णी सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। असण्णी बंधइ। नोसण्णी नोअसण्णी न बंधइ।

एवं वेदणिज्जाउगवज्जाओ छ कम्मप्पग-डीओ। वेदणिज्जं हेड्डिल्ला दो बंधंति, उवरिल्ले भयणाए। आउगं हेड्डिल्ला दो भयणाए, उवरिल्ले न बंधइ।

४०. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं भवसिद्धिए बंधइ? अभवसिद्धिए बंधइ? नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए बंधइ?

गोयमा ! भवसिद्धिए भयणाए, अभवसिद्धिए बंधइ। नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए न बंधइ।

एवं आउगवज्जाओ सत्त वि आउगं हेड्डिल्ला दो भयणाए उवरिल्ले न बंधइ।

४१. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं चक्षु-दंसणी बंधइ? अचक्षुदंसणी बंधइ? ओहि-दंसणी बंधइ? केवलदंसणी बंधइ?

गोयमा ! हेड्डिल्ला तिण्णि भयणाए, उवरिल्ले न बंधइ।

गौतम ! सम्यग्दृष्टिः स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। मिथ्यादृष्टिः बध्नाति, सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः बध्नाति।

एवम् आयुष्कवर्जानि सप्त अपि। आयुष्कम् अधस्तनौ द्वौ भजनया, सम्यग्मिथ्यादृष्टिः न बध्नाति।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं संज्ञी बध्नाति? असंज्ञी बध्नाति? नोसंज्ञी नोअ-संज्ञी बध्नाति?

गौतम ! संज्ञी स्यात् बध्नाति, स्यान् नो बध्नाति। असंज्ञी बध्नाति। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी न बध्नाति।

एवं वेदनीयायुष्कवर्जाः षट्कर्म प्रकृतीः। वेदनीयं अधस्तनौ द्वौ बध्नीतः, उपरितनः भजनया। आयुष्कम् अधस्तनौ द्वौ भजनया, उपरितनः न बध्नाति।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं भवसिद्धिकः बध्नाति? अभवसिद्धिकः बध्नाति? नो-भवसिद्धिकः नोअभवसिद्धिकः बध्नाति?

गौतम ! भवसिद्धिकः भजनया, अभव-सिद्धिकः बध्नाति। नोभवसिद्धिकः नोअभव-सिद्धिकः न बध्नाति।

एवं आयुष्कवर्जानि सप्त अपि। आयुष्कम् अधस्तनौ द्वौ भजनया, उपरितनः न बध्नाति।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं चक्षुदर्शनी बध्नाति? अचक्षुदर्शनी बध्नाति? अवधि-दर्शनी बध्नाति? केवलदर्शनी बध्नाति?

गौतम ! अधस्तनाः त्रयः भजनया, उपरितनः न बध्नाति।

गौतम ! सम्यग्दृष्टिः ज्ञानावरणीय कर्म का बंध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता, मिथ्यादृष्टि बंध करता है, सम्यग्मिथ्यादृष्टि बंध करता है।

इसी प्रकार आयुष्य को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। प्रथम दोनों—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आयुष्य कर्म का बन्ध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं करता।

३९. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या संज्ञी (समनस्क) करता है? असंज्ञी (अमनस्क) करता है? नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी (केवली और सिद्ध) करता है?

गौतम ! संज्ञी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। असंज्ञी बन्ध करता है। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी बन्ध नहीं करता।

इसी प्रकार वेदनीय और आयुष्क को छोड़ कर छह कर्म-प्रकृतियों के बन्ध की वक्तव्यता। प्रथम दोनों—संज्ञी और असंज्ञी वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं; तीसरा—नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी स्यात् बन्ध करता है, स्यात् नहीं करता। प्रथम दोनों—संज्ञी और असंज्ञी आयुष्य कर्म का बन्ध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। तीसरा—नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी बन्ध नहीं करता।

४०. भंते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या भवसिद्धिक करता है? अभवसिद्धिक करता है? नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक करता है?

गौतम ! भवसिद्धिक ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। अभवसिद्धिक बंध करता है। नो भवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक बन्ध नहीं करता।

इसी प्रकार आयुष्य को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। प्रथम दोनों—भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक आयुष्य कर्म का बन्ध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक बन्ध नहीं करता।

४१. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या चक्षुदर्शनी करता है? अचक्षुदर्शनी करता है? अवधिदर्शनी करता है? केवलदर्शनी करता है?

गौतम ! प्रथम तीनों—चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। केवलदर्शनी बन्ध नहीं करता।

एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि। वेदणिज्जं हेड्डिल्ला तिण्णि बंधंति, केवलदंसणी भयणाए।।

४२. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं पज्जत्तए बंधइ? अपज्जत्तए बंधइ? नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए बंधइ?
गोयमा ! पज्जत्तए भयणाए, अपज्जत्तए बंधइ। नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए न बंधइ।

एवं आउगवज्जाओ सत्त वि। आउगं हेड्डिल्ला दो भयणाए, उवरिल्ले न बंधइ।।

४३. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं भासए बंधइ? अभासए बंधइ?

गोयमा ! दो वि भयणाए।
एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि। वेदणिज्जं भासए बंधइ, अभासए भयणाए।

४४. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं परित्ते बंधइ? अपरित्ते बंधइ? नोपरित्ते नोअपरित्ते बंधइ?
गोयमा ! परित्ते भयणाए, अपरित्ते बंधइ। नोपरित्ते नोअपरित्ते न बंधइ।

एवं आउगवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ। आउयं परित्ते वि, अपरित्ते वि भयणाए, नोपरित्ते नोअपरित्ते न बंधइ।।

४५. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं आभिणिबोहियनाणी बंधइ? सुयनाणी बंधइ? ओहिनाणी बंधइ? मणपज्जवनाणी बंधइ? केवलनाणी बंधइ?
गोयमा ! हेड्डिल्ला चत्तारि भयणाए। केवल-

एवं वेदनीयवर्जानि सप्त अपि। वेदनीयम् अधस्तनाः त्रयः बध्नन्ति, केवलदर्शनी भजनया।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं पर्याप्तकः बध्नाति? अपर्याप्तकः बध्नाति? नोपर्याप्तकः नोअपर्याप्तकः बध्नाति?
गौतम ! पर्याप्तकः भजनया, अपर्याप्तकः बध्नाति। नोपर्याप्तकः नोअपर्याप्तकः न बध्नाति।
एवं आयुष्कवर्जानि सप्त अपि। आयुष्कम् अधस्तनौ द्वौ भजनया, उपरितनः नो बध्नाति।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं भाषकः बध्नाति? अभाषकः बध्नाति?

गौतम ! द्वौ अपि भजनया।
एवं वेदनीयवर्जानि सप्त अपि। वेदनीयं भाषकः बध्नाति, अभाषकः भजनया।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं परीतः बध्नाति? अपरीतः बध्नाति? नोपरीतः नोअपरीतः बध्नाति?
गौतम ! परीतः भजनया, अपरीतः बध्नाति। नोपरीतः नोअपरीतः न बध्नाति।

एवं आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः। आयुष्कं परीतः अपि, अपरीतः अपि भजनया, नोपरीतः नोअपरीतः न बध्नाति।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं आभिनिबोधिकज्ञानी बध्नाति? श्रुतज्ञानी बध्नाति? अवधिज्ञानी बध्नाति? मनःपर्यवज्ञानी बध्नाति? केवलज्ञानी बध्नाति?
गौतम ! अधस्तनाः चत्वारः भजनया।

इसी प्रकार वेदनीय कर्म को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बन्ध की वक्तव्यता। प्रथम तीनों वेदनीय कर्म का बंध करते हैं। केवलदर्शनी स्यात् बंध करता है, स्यात् नहीं करता।

४२. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या पर्याप्तक करता है? अपर्याप्तक करता है? नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक करता है?
गौतम ! पर्याप्तक ज्ञानावरणीय कर्म का बंध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। अपर्याप्तक करता है। नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक नहीं करता।
इसी प्रकार आयुष्क को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। आयुष्य कर्मका बंध प्रथम दोनों—पर्याप्तक और अपर्याप्तक स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। नोपर्याप्तक नोअपर्याप्तक नहीं करता।

४३. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या भाषक (भाषा पर्याप्ति-सम्पन्न) करता है? अभाषक करता है?
गौतम ! दोनों ही स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। इसी प्रकार वेदनीय को छोड़ कर सात कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। वेदनीय कर्म का बन्ध भाषक करता है। अभाषक स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता।

४४. भंते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या परीत करता है? अपरीत करता है? नोपरीत-नोअपरीत करता है?
गौतम ! परीत ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। अपरीत करता है। नोपरीत-नोअपरीत नहीं करता।
इसी प्रकार आयुष्य को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। आयुष्क कर्म का बंध परीत और अपरीत दोनों ही स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। नोपरीत-नोअपरीत नहीं करता।

४५. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध क्या आभिनिबोधिकज्ञानी करता है? श्रुतज्ञानी करता है? अवधिज्ञानी करता है? मनःपर्यवज्ञानी करता है? केवलज्ञानी करता है?
गौतम ! प्रथम चारों—आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुत-

नाणी न बंधइ।

केवलज्ञानी न बध्नाति।

ज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनः पर्यवज्ञानी स्यात् ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करते हैं, स्यात् नहीं करते। केवलज्ञानी बंध नहीं करता।

एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि वेदणिज्जं हेडिल्ला चत्तारि बंधंति, केवलनाणी भयणाए।

एवं वेदनीयवर्जानि सप्त अपि। वेदनीयम् अधस्तनाः चत्वारः बध्नन्ति, केवलज्ञानी भजनया।

इसी प्रकार वेदनीय कर्म को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। वेदनीय कर्म का बन्ध प्रथम चारों करते हैं। केवलज्ञानी स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता।

४६. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं मइअण्णाणी बंधइ? सुयअण्णाणी बंधइ? विभंगनाणी बंधइ? गोयमा ! आउगवज्जाओ सत्त वि बंधंति, आउगं भयणाए।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं मत्तज्ञानी बध्नाति? श्रुताज्ञानी बध्नाति? विभङ्गज्ञानी बध्नाति?

४६. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या मति-अज्ञानी करता है? श्रुत-अज्ञानी करता है? विभङ्गज्ञानी करता है?

गौतम ! आयुष्कवर्जानि सप्त अपि बध्नन्ति, आयुष्कं भजनया।

गौतम ! आयुष्कर्म को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों का बन्ध वे करते हैं, आयुष्क कर्म का बंध स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते।

४७. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं मणजोगी बंधइ? वइजोगी बंधइ? कायजोगी बंधइ? अजोगी बंधइ? गोयमा ! हेडिल्ला तिण्णि भयणाए, अजोगी न बंधइ। एवं वेदणिज्जवज्जाओ सत्त वि वेदणिज्जं हेडिल्ला बंधंति, अजोगी न बंधइ।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं मनोयोगी बध्नाति? वाग्योगी बध्नाति? काययोगी बध्नाति? अयोगी बध्नाति?

४७. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या मनयोगी करता है? वचनयोगी करता है? काययोगी करता है? अयोगी करता है?

गौतम ! अधस्तनाः त्रयः भजनया, अयोगी न बध्नाति।

गौतम ! प्रथम तीनों स्यात् ज्ञानावरणीय कर्म का बंध करते हैं, स्यात् नहीं करते। अयोगी नहीं करता।

एवं वेदनीयवर्जानि सप्त अपि। वेदनीयम् अधस्तनाः बध्नन्ति, अयोगी न बध्नाति।

इसी प्रकार वेदनीय को छोड़ कर सातों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। वेदनीय कर्म का बंध प्रथम तीनों करते हैं, अयोगी नहीं करता।

४८. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सागारोवउत्ते बंधइ? अणागारोवउत्ते बंधइ? गोयमा ! अइसु वि भयणाए।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं साकारोप-युक्तः बध्नाति? अनाकारोपयुक्तः बध्नाति?

४८. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या साकार उपयोग वाला करता है? अनाकार उपयोग वाला करता है?

गौतम ! अइसु अपि भजनया।

गौतम ! आठों ही कर्म-प्रकृतियों का बंध वे स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते।

४९. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं आहारए बंधइ? अणाहारए बंधइ? गोयमा ! दो वि भयणाए। एवं वेदणिज्जाउगवज्जाणं छण्हं। वेदणिज्जं आहारए बंधइ, अणाहारए भयणाए। आउए आहारए भयणाए, अणाहारए न बंधइ।

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किम् आहारकः बध्नाति? अनाहारकः बध्नाति?

४९. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या आहारक करता है? अनाहारक करता है?

गौतम ! द्वौ अपि भजनया। एवं वेदनीयायुष्कवर्जानां षण्णाम्। वेदनीयम् आहारकः बध्नाति, अनाहारकः भजनया। आयुष्कम् आहारकः भजनया, अनाहारकः न बध्नाति।

गौतम ! दोनों ही स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं करते। इसी प्रकार वेदनीय और आयुष्क को छोड़ कर छह कर्म-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। वेदनीय कर्म का बंध आहारक करता है। अनाहारक स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। आयुष्क कर्म का बंध आहारक स्यात् करता है, स्यात् नहीं करता। अनाहारक नहीं करता।

५०. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं सुहुमे बंधइ? बादरे बंधइ? नोसुहुमे नोबादरे बंधइ?

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं सूक्ष्मः बध्नाति? बादरः बध्नाति? नोसूक्ष्मः नोबादरः

५०. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या सूक्ष्म करता है? बादर करता है? नोसूक्ष्म-नोबादर करता है?

गोयमा ! सुहुमे बंधइ, बादरे भयणाए। नो-
सुहुमे नोबादरे न बंधइ।
एवं आउगवज्जाओ सत्त वि। आउगं सु-
हुमे बादरे भयणाए। नोसुहुमे नोबादरे न
बंधइ ॥

बध्नाति?

गौतम ! सूक्ष्मः बध्नाति, बादरः भजनया।
नोसूक्ष्मः नोबादरः न बध्नाति।
एवं आयुष्कवर्जानि सप्त अपि। आयुष्कं
सूक्ष्मः बादरः भजनया। नोसूक्ष्मः नोबादरः न
बध्नाति।

गौतम ! सूक्ष्म बंध करता है। बादर स्यात् करता है,
स्यात् नहीं करता। नोसूक्ष्म-नोबादर नहीं करता।
इसी प्रकार आयुष्य को छोड़कर सातों ही कर्म-
-प्रकृतियों के बंध की वक्तव्यता। आयुष्य कर्म का
बंध सूक्ष्म और बादर स्यात् करते हैं, स्यात् नहीं
करते। नोसूक्ष्म-नोबादर नहीं करता।

५१. नाणावरणिज्जं णं भंते ! कम्मं किं चरिमे
बंधइ? अचरिमे बंधइ?
गोयमा ! अह्म वि भयणाए ॥

ज्ञानावरणीयं भदन्त ! कर्म किं चरमः
बध्नाति? अचरमः बध्नाति?
गौतम ! अष्ट अपि भजनया।

५१. भन्ते ! ज्ञानावरणीय कर्म का बंध क्या चरम करता
है? अचरम करता है?
गौतम ! आठों ही कर्म-प्रकृतियों का बंध स्यात् करता
है, स्यात् नहीं करता।

भाष्य

१. सूत्र ३५-५१

सवेद-अवेद

नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ तक जीव सवेद (वेद-सहित) होता है।
नौवें गुणस्थान के उत्तरभाग में वह अवेद (वेद-रहित) हो जाता है। अवेद
अवस्था में दसवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है। उसके आगे
ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण कर्म का बंध नहीं होता।
सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में आयुष्य का बंध नहीं होता, इसलिए
अवेद जीव आयुष्य का बंध नहीं करता। आयुष्य का बंध जीवन में केवल
एक बार होता है, इसलिए आयु-बन्ध की भजना का निर्देश है। बन्ध-काल
में उसका बंध होता है, अबन्ध-काल में नहीं होता। आयुबन्ध के योग्य काल
का विवेचन भ. ५/५९-६१ का भाष्य द्रष्टव्य।

नौवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है। उससे आगे के
गुणस्थानों में नहीं होता, इसलिए भजना का निर्देश है।

संयत-असंयत

नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत सिद्ध होता है। उसके कर्मबन्ध
का कोई हेतु नहीं है, इसलिए वह ज्ञानावरण कर्म का बन्ध नहीं करता।
दर्शनावरण आदि छह कर्मों की वक्तव्यता ज्ञानावरण के समान है। संयत,
असंयत और संयतासंयत के आयुष्य का बंध स्यात् होता है, स्यात् नहीं होता
है। सिद्ध के आयुष्य का बन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि

सम्यग्दृष्टि के दो प्रकार हैं—सराग सम्यग्दृष्टि और वीतराग सम्यग्-
दृष्टि। सराग सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरण का बन्ध होता है, वीतराग सम्यग्दृष्टि के नहीं
होता।

संज्ञी

वीतराग संज्ञी के ज्ञानावरण कर्म का बन्ध नहीं होता, सराग संज्ञी के
होता है। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी केवली और सिद्ध होते हैं। उनके ज्ञानावरणीय का बन्ध
नहीं होता। संज्ञी और असंज्ञी वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं। केवली के वेदनीय का
बन्ध होता है, सिद्ध के नहीं होता, इसलिए तृतीय विकल्प में भजना का निर्देश है।

भवसिद्धिक

भवसिद्धिक के दो प्रकार हैं—वीतराग भवसिद्धिक और सराग भव-
सिद्धिक। वीतराग भवसिद्धिक ज्ञानावरण का बन्ध नहीं करता, सराग भवसिद्धिक
करता है, इसलिए भजना का निर्देश है। तृतीय विकल्प का स्वामी सिद्ध है, उसके
कर्म का बन्ध नहीं होता।

दर्शन

वीतराग छद्मस्थ ज्ञानावरण का बन्ध नहीं करते, शेष करते हैं; इसलिए
चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी औरअवधिदर्शनी में भजना का निर्देश है। सयोगी केवल-
दर्शनी के वेदनीय का बन्ध होता है, अयोगी केवली और सिद्ध के नहीं होता,
इसलिए भजना का निर्देश है।

पर्याप्तक

वीतराग पर्याप्तक ज्ञानावरण कर्म का अबन्धक है। सराग पर्याप्तक
उसका बन्ध करता है। इसलिए भजना का निर्देश है। तृतीय विकल्प का स्वामी
सिद्ध है। वह कर्म का अबन्धक है।

भाषक

वीतराग भाषक ज्ञानावरण का बन्ध नहीं करता, सराग करता है। द्वितीय
विकल्प के स्वामी चार हैं—अयोगी केवली, सिद्ध, एकेन्द्रिय और विग्रहगति-
समापन्नक जीव। इनमें अयोगी केवली और सिद्ध ज्ञानावरण का बन्ध नहीं करते,
एकेन्द्रिय और विग्रहगति-समापन्नक जीव करते हैं, इसलिए भजना का निर्देश है।

१. भ. जो. १९/७०-७३।

२. भ. वृ. ६/३६—तत्र स्वादित्रयमायुः स्याद्बध्नाति स्यान्न बध्नाति, बन्धकाले बध्नाति

अबन्धकाले तु न बध्नाति, आयुषः सकृदेवैकत्र भवे बन्धात्, निवृत्तस्यादिदेवदस्तु न बध्नाति,
निवृत्तिबादरसम्प्रायादि गुणस्थानकेष्वायुर्बन्धस्य व्यवच्छिन्नत्वात्।

अयोगीकेवली और सिद्ध वेदनीय कर्म के अबन्धक हैं, एकेन्द्रिय और विग्रहगति समापन्नक जीव उसका बन्ध करते हैं।

परीत-अपरीत

परीत के दो अर्थ हैं—प्रत्येक शरीरी जीव और परिमित संसार (जन्म मरण) वाला जीव। अपरीत का अर्थ है साधारण शरीर वाला जीव और अनन्त संसार वाला जीव। वीतराग परीत ज्ञानावरण का अबन्धक है, सराग परीत उसका बन्धक है।

ज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञानी आदि चार विकल्पों में यदि वीतराग है, वह अबन्धक है; यदि सराग है, वह बन्धक है। पांचवें विकल्प के स्वामी तीन हैं—सयोगी केवली, अयोगी केवली और सिद्ध। सयोगी केवली बन्धक है, शेष दो अबन्धक हैं। वीतराग और सयोगी केवली ज्ञानावरण का बन्ध नहीं करते, इसलिए भजना का निर्देश है।

साकार-अनाकार (उपयोग)

साकार और अनाकार उपयोग वाले सयोगी जीव कर्म का बन्ध करते हैं। साकार-अनाकार उपयोग वाले अयोगी जीव कर्म का बन्ध नहीं करते।

आहारक-अनाहारक

वीतराग और केवली आहारक के ज्ञानावरण कर्म का बन्ध नहीं होता,

सराग आहारक के उसका बन्ध होता है। केवलिसमुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवे समय में केवली अनाहारक होता है, वह ज्ञानावरण कर्म का अबन्धक है। विग्रहगति में समापन्नक अनाहारक जीव उसका बन्ध करता है। समुद्घातगत केवली और विग्रहगति-समापन्नक जीव अनाहारक अवस्था में वेदनीय कर्म का बन्ध करते हैं, अयोगी केवली और सिद्ध के उसका बन्ध नहीं होता।

सूक्ष्म-बादर

एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर दोनों प्रकार के होते हैं, शेष जीव केवल बादर होते हैं। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से सूक्ष्म जीवों की शारीरिक रचना बहुत सूक्ष्म होती है। उनके शरीर समुदित होकर भी (चाक्षुक) दृष्टिगोचर नहीं बनते। वीतराग बादर जीव ज्ञानावरण कर्म का अबन्धक है। सराग बादर जीव उसका बन्धक है। नो सूक्ष्म-नो बादर सिद्ध होता है, वह अबन्धक है।

चरम-अचरम

जिसका भव चरम होगा, वह चरम है। जिसका भव चरम नहीं होगा, वह अचरम है। सयोगी चरम यथायोग आठों कर्मों का बन्ध करता है। अयोगी चरम अबन्धक होता है, इसलिए भजना का निर्देश है। संसारी अचरम जीव आठों कर्मों का बन्ध करता है, मुक्त जीव का पुनर्भव नहीं होता, इस अपेक्षा से वह भी अचरम है, वह कर्म का अबन्धक होता है, इसलिए अचरम में भी भजना का निर्देश है।

वेदगावेदगाण जीवाणं अप्पाबहुयत्त-पदं

वेदकावेदकानां जीवानाम् अल्पबहु-
त्व-पदम्

वेदक-अवेदक जीवों का अल्पबहुत्व-पद

५२. एएसि णं भन्ते ! जीवाणं इत्थीवेदगाणं
पुरिसवेदगाणं, नपुंसगवेदगाणं, अवेदगाण य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा? बहुया वा?
तुल्ला वा? विसेसाहिया वा?
गोयभा ! सन्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा,
इत्थीवेदगा संख्येयगुणा, अवेदगा अणंतगु-
णा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा।
एएसिं सव्वेसिं पदाणं अप्प-बहुगाइं उच्चारे-
यव्वाइं जाव सन्वत्थोवा जीवा अचरिमा,
चरिमा अणंतगुणा ॥

एतेषां भदन्त! जीवानां स्त्रीवेदकानां, पुरुष-
वेदकानां, नपुंसकवेदकानाम् अवेदकानां
च कतरे कतरेभ्यः अल्पाः वा? बहुकाः वा?
तुल्याः वा? विशेषाधिकाः वा?
गौतम ! सर्वस्तोकाः जीवाः पुरुषवेदकाः,
स्त्रीवेदकाः संख्येयगुणाः, अवेदकाः
अनन्तगुणाः, नपुंसकवेदकाः अनन्तगुणाः।
एतेषां सर्वेषां पदानाम् अल्प-बहुकानि
उच्चरीयतव्यानि यावत् सर्वस्तोकाः
जीवाः अचरमाः, चरमाः अनन्तगुणाः।

५२. 'भन्ते ! स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक, नपुंसकवेदक और
अवेदक जीवों में कौन किनसे अल्प, बहुत, तुल्य
अथवा विशेषाधिक हैं?
गौतम ! पुरुषवेदक सबसे अल्प हैं, स्त्रीवेदक उनसे
संख्येयगुणा हैं, अवेदक उससे अनन्तगुणा हैं, नपुंसक
वेदक उनसे अनन्तगुणा हैं।
इन सब पदों (संयत आदि) का अल्पबहुत्व उच्चार-
णीय है यावत् अचरम जीव सबसे अल्प हैं, चरम
उनसे अनन्तगुणा हैं।

भाष्य

१. सूत्र ५२

वेद के भाव और अभाव की अवस्था में जीवों के चार वर्गीकरण होते हैं—१. स्त्रीवेदक २. पुरुषवेदक ३. नपुंसकवेदक ४. अवेदक। इस सूत्र तथा अन्य सूत्रों (सूत्र ३५-५१) के पदों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

१. वेदक

पुरुषवेदक	—	सर्वस्तोक
स्त्रीवेदक	—	संख्यातगुणा
अवेदक	—	अनन्तगुणा
नपुंसकवेदक	—	अनन्तगुणा
सवेदक	—	विशेषाधिक

१. भ ७/१—विग्रहगति में जीव एक अथवा दो समय अनाहारक रहता है।

२. संयत

संयत	—	सर्वस्तोक
संयतासंयत	—	असंख्यातगुना
नोसंयत-नोअसंयत-		
नोसंयतासंयत	—	अनन्तगुना
असंयत	—	अनन्तगुना

३. दृष्टि

सम्यक्मिथ्यादृष्टि	—	सर्वस्तोक
सम्यग्दृष्टि	—	अनन्तगुना
मिथ्यादृष्टि	—	अनन्तगुना

४. संज्ञी

संज्ञी	—	सर्वस्तोक
नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी	—	अनन्तगुना
असंज्ञी	—	अनन्तगुना

५. भवसिद्धिक

अभवसिद्धिक	—	सर्वस्तोक
नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक	—	अनन्तगुना
भवसिद्धिक	—	अनन्तगुना

६. दर्शनी

अवधिदर्शनी	—	सर्वस्तोक
चक्षुदर्शनी	—	असंख्यातगुना
केवलदर्शनी	—	संख्यातगुना
अचक्षुदर्शनी	—	अनन्तगुना

७. पर्याप्तक

नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक	—	सर्वस्तोक
अपर्याप्तक	—	अनन्तगुना
पर्याप्तक	—	संख्यातगुना

८. भाषक

भाषक	—	सर्वस्तोक
अभाषक	—	अनन्तगुना

९. परीत

परीत	—	सर्वस्तोक
नोपरीत-नोअपरीत	—	अनन्तगुना
अपरीत	—	अनन्तगुना

१०. ज्ञानी

मनःपर्यवज्ञानी	—	सर्वस्तोक
अवधिज्ञानी	—	असंख्यातगुना
मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी	—	परस्पर तुल्य एवं अवधिज्ञानी से विशेषाधिक
केवलज्ञानी	—	अनन्तगुना

११. अज्ञानी

विभंगअज्ञानी	—	सर्वस्तोक
मतिश्रुतअज्ञानी	—	परस्पर तुल्य एवं अनन्तगुना

१२. योगी

मनोयोगी	—	सर्वस्तोक
वाग्योगी	—	असंख्यातगुना
अयोगी	—	अनन्तगुना
काय योगी	—	अनन्तगुना
सयोगी	—	विशेषाधिक

१३. आहारक

अनाहारक	—	सर्वस्तोक
आहारक	—	असंख्यातगुना

१४. सूक्ष्म

नोसूक्ष्म-नोबादर	—	सर्वस्तोक
बादर	—	अनन्तगुना
सूक्ष्म	—	असंख्यातगुना

१५. चरम

अचरम	—	सर्वस्तोक
चरम	—	अनन्तगुना

५३. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति।।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।।

५३. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
कालादेसेणं सपदेस-अपदेस-पदं	कालादेशेन सप्रदेशाप्रदेश-पदम्	काल की अपेक्षा सप्रदेश-अप्रदेश-पद
५४. जीवे णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसे? अपदेसे?	जीवः भदन्त ! कालादेशेन किं सप्रदेशः? अप्रदेशः?	५४. ' भन्ते ! जीव काल की अपेक्षा क्या सप्रदेश है? अप्रदेश है?
गोयमा ! नियमा सपदेसे।	गौतम ! नियमात् सप्रदेशः।	गौतम ! नियमतः सप्रदेश है।
५५. नेरइए णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसे? अपदेसे?	नैरयिकः भदन्त ! कालादेशेन किं सप्रदेशः? अप्रदेशः?	५५. भन्ते ! नैरयिक जीव काल की अपेक्षा क्या सप्रदेश है? अप्रदेश है?
गोयमा ! सिय सपदेसे, सिय अपदेसे।	गौतम ! स्यात् सप्रदेशः, स्याद् अप्रदेशः।	गौतम ! स्यात् सप्रदेश है, स्यात् अप्रदेश है।
५६. एवं जाव सिद्धे।	एवं यावत् सिद्धः।	५६. इसी प्रकार यावत् सिद्ध की वक्तव्यता।
५७. जीवा णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसा? अपदेसा?	जीवाः भदन्त ! कालादेशेन किं सप्रदेशाः? अप्रदेशाः?	५७. भन्ते ! जीव काल की अपेक्षा क्या सप्रदेश हैं? अप्रदेश हैं?
गोयमा ! नियमा सपदेसा।	गौतम ! नियमात् सप्रदेशाः।	गौतम ! नियमतः सप्रदेश हैं।
५८. नेरइया णं भंते ! कालादेसेणं किं सपदेसा? अपदेसा?	नैरयिकाः भदन्त ! कालादेशेन किं सप्रदेशाः? अप्रदेशाः?	५८. भन्ते ! नैरयिक जीव काल की अपेक्षा क्या सप्रदेश हैं? अप्रदेश हैं?
गोयमा ! १. सव्वे वि ताव होज्जा सपदेसा २. अहवा सपदेसा य अपदेसे य ३. अहवा सपदेसा य अपदेसा या।	गौतम ! १. सर्वेऽपि तावद् भवेयुः सप्रदेशाः २. अथवा सप्रदेशाश्च अप्रदेशाश्च ३. अथवा सप्रदेशाश्च अप्रदेशाश्च।	गौतम ! १. सभी जीव सप्रदेश हैं २. अथवा अनेक जीव सप्रदेश हैं और एक जीव अप्रदेश है ३. अथवा अनेक जीव सप्रदेश हैं और अनेक जीव अप्रदेश हैं।
५९. एवं जाव थणियकुमारा।	एवं यावत् स्तनितकुमाराः।	५९. इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार देवों की वक्तव्यता।
६०. पुढविकाइया णं भंते ! किं सपदेसा? अपदेसा?	पृथिवीकायिकाः भदन्त ! किं सप्रदेशाः? अप्रदेशाः?	६०. भंते ! पृथ्वीकायिक जीव क्या सप्रदेश हैं? अप्रदेश हैं?
गोयमा ! सपदेसा वि, अपदेसा वि।	गौतम ! सप्रदेशाः अपि, अप्रदेशाः अपि।	गौतम ! सप्रदेश भी हैं, अप्रदेश भी हैं।
६१. एवं जाव वणप्फइकाइया।	एवं यावद् वनस्पतिकायिकाः।	६१. इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों की वक्तव्यता।
६२. सेसा जहा नेरइया तथा जाव सिद्धा।	शेषाः यथा नैरयिकाः तथा यावत् सिद्धाः।	६२. शेष सिद्धों तक सभी जीव नैरयिक जीवों की भांति वक्तव्य हैं।

६३. आहारगाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।
अणाहारगाणं जीवेगिंदियवज्जा छब्भंगा
एवं भाणियव्वा—१. सपदेसा वा २. अप-
देसा वा ३. अहवा सपदेसे य अपदेसे य
४. अहवा सपदेसे य अपदेसा य ५. अहवा
सपदेसा य अपदेसे य ६. अहवा सपदेसा य
अपदेसा या सिद्धेहिं तियभंगो।

भवसिद्धिया, अभवसिद्धिया जहा ओहिया।
नोभवसिद्धिय-नोअभवसिद्धिय-जीवसिद्धे-
हिं तियभंगो।

सण्णीहिं जीवादिओ तियभंगो। असण्णीहिं
एगिंदियवज्जो तियभंगो। नेरइयदेवमणुएहिं
छब्भंगो। नोसण्णि-नोअसण्णि-जीव-
-मणुय-सिद्धेहिं तियभंगो।

सलेसा जहा ओहिया। कणहलेस्सा, नील-
लेस्सा, काउलेस्सा जहा आहारओ, नवरं
—जस्स अत्थि एथाओ। तेउलेस्साए जीवा-
दिओ तियभंगो, नवरं—पुढविककाइएसु,
आउवणप्फतीसु छब्भंगा। पम्हलेस्ससुक्क-
लेस्साए जीवादिओ तियभंगो। अलेसेहिं
जीव-सिद्धेहिं तियभंगो। मणुएसु छब्भंगा।

सम्महिद्धीहिं जीवादिओ तियभंगो। विग-
लिंदिएसु छब्भंगा। मिच्छदिद्धीहिं एगिंदिय-
वज्जो तियभंगो। सम्मामिच्छदिद्धीहिं छब्भं-
गा।

संजएहिं जीवादिओ तियभंगो। अस्संजएहिं
एगिंदियवज्जो तियभंगो। संजयासंजएहिं
तियभंगो जीवादिओ। नोसंजय-नोअसंजय-
-नोसंजयासंजय-जीव-सिद्धेहिं तियभंगो।

आहारकाणां जीवेकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः।
अनाहारकाणां जीवेकेन्द्रियवर्जाः षड्भङ्गाः
एवं भणितव्याः—१. सप्रदेशाः वा २. अप्र-
देशाः वा ३. अथवा सप्रदेशश्च अप्रदेशश्च
४. अथवा सप्रदेशश्च अप्रदेशश्च ५. अ-
थवा सप्रदेशश्च अप्रदेशश्च ६. अथवा
सप्रदेशश्च अप्रदेशश्च। सिद्धेषु त्रिकभङ्गः।

भवसिद्धिकाः, अभवसिद्धिकाः यथा औधि-
काः। नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक-
-जीव-सिद्धयोः त्रिकभङ्गः।

संज्ञेषु जीवादिकः त्रिकभङ्गः। असंज्ञेषु एके-
न्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। नैरयिक-देव-मनुजेषु
षड्भङ्गः। नोसंज्ञि-नोअसंज्ञि-जीव-मनुज-
-सिद्धेषु त्रिकभङ्गः।

सलेश्याः यथा औधिकाः। कृष्णलेश्याः,
नीललेश्याः, कापोतलेश्याः यथा आहार-
कः, नवरं—यस्य सन्ति एताः। तेजोलेश्या-
यां जीवादिकः त्रिकभङ्ग, नवरं—पृथिवी-
कायिकेषु, अब्वनस्पतिषु षड्भङ्गाः। पद्म-
लेश्यशुक्ललेश्योः जीवादिकः त्रिकभङ्गः।
अलेश्येषु जीव-सिद्धेषु त्रिकभङ्गः। मनुजेषु
षड्-भङ्गाः।

सम्यग्दृष्टिषु जीवादिकः त्रिकभङ्गः। विकले-
न्द्रियेषु षड्भङ्गाः। मिथ्यादृष्टिषु एकेन्द्रियवर्जः
त्रिकभङ्गः। सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु षड्भङ्गाः।

संयतेषु जीवादिकः त्रिकभङ्गः। असंयतेषु
एकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। संयतासंयतेषु
त्रिकभङ्गः जीवादिकः। नोसंयत-नोअसंयत-
-नोसंयतासंयत-जीव-सिद्धेषु त्रिकभङ्गः।

६३. आहारक जीवों में जीव-पद और एकेन्द्रिय-पद
को छोड़कर तीन भंग होते हैं। अनाहारक जीवों में
बहुवचनान्त जीव-पद और एकेन्द्रिय-पद को
छोड़कर छह भंग इस प्रकार हैं—१. अनेक जीव
सप्रदेश हैं २. अनेक जीव अप्रदेश हैं ३. अथवा
एक जीव सप्रदेश हैं, एक जीव अप्रदेश है। ४. अथवा
एक जीव सप्रदेश है, अनेक जीव अप्रदेश हैं। ५.
अथवा अनेक जीव सप्रदेश है, एक जीव अप्रदेश
है। ६. अथवा अनेक जीव सप्रदेश हैं, अनेक जीव
अप्रदेश है। सिद्ध जीवों में तीन भंग होते हैं।

भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक जीव औधिक जीवों
की भांति वक्तव्य हैं। नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक
जीव और सिद्ध के तीन-तीन भंग होते हैं।
जीव आदि पदों (जीव तथा नैरयिक आदि दण्डकों)
में संज्ञी जीवों के तीन भंग होते हैं। असंज्ञी जीवों में
एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। नैरयिक, देव
और मनुष्यों में छह भंग होते हैं। नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी
जीवों में जीव, मनुष्य और सिद्ध के तीन-तीन भंग
होते हैं।

लेश्या-युक्त जीवों की भंग-व्यवस्था औधिक जीव
की भांति वक्तव्य है। कृष्ण लेश्या वाले, नील लेश्या
वाले और कापोत लेश्या वाले जीवों की भंग-
व्यवस्था आहारक की भांति वक्तव्य है। केवल इतना
विशेष है—जिन दण्डकों में ये लेश्याएं उपलब्ध हैं।
तैजस लेश्या वाले जीवों के जीव आदि पदों (नारक,
तेजो, वायु, विकलेन्द्रिय और सिद्ध को वर्ज कर) में
तीन भंग होते हैं। केवल इतना विशेष है—पृथ्वी-
कायिक, अपकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों
में छह भंग होते हैं। पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या
वाले जीवों के जीव आदि पदों (पंचेन्द्रिय तिर्यक्,
मनुष्य और वैमानिक पदों) में तीन भंग होते हैं।
लेश्या-रहित जीव और सिद्धों में तीन भंग होते हैं।
मनुष्यों में छह भंग होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवों के जीव आदि पदों में तीन भंग
होते हैं। विकलेन्द्रिय जीवों में छह भंग होते हैं।
मिथ्यादृष्टि जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग
होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों में छह भंग होते हैं।
संयत जीवों के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं।
असंयत जीवों में एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग
होते हैं। संयतासंयत जीवों के जीव आदि पदों में
तीन भंग होते हैं। नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयता-

सकसाईहिं जीवादिओ तियभंगो। एगिंदिएसु अभंगकं। कोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। देवेहिं छब्भंगा। माणव.साई-मायाकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। नेरइय-देवेहिं छब्भंगा। लोभकसाईहिं जीवे-गिंदियवज्जो तियभंगो। नेरइएसु छब्भंगा। अकसाई-जीव-मणुएहिं, सिद्धेहिं तियभंगो।

ओहियनाणे, आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे जीवादिओ तियभंगो। विगलिंदिएहिं छब्भंगा। ओहिनाणे मणपज्जवनाणे केवलनाणे जीवादिओ तियभंगो।

ओहिए अण्णाणे, मइअण्णाणे, सुयअण्णाणे एगिंदियवज्जो तियभंगो। विभंगनाणे जीवा-दिओ तियभंगो। सजोगी जहा ओहिओ। मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी जीवादिओ तियभंगो, नवरं — कायजोगी एगिंदिया, तेसु अभंगयं। अजोगी जहा अलेस्सा।

सागारोवउत्त-अणागारोवउत्तेहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। सवेदगा जहा सकसाई। इत्थिवेदक-पुरिस-वेदग-नपुंसगवेदगोसु जीवादिओ तियभंगो, नवरं—नपुंसगवेदे एगिंदिएसु अभंगयं। अवेदगा जहा अकसाई।

ससरीरी जहा ओहिओ। ओरालियवेउव्वि-यसरीराणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो। आ-हारगसरीरे जीव-मणुएसु छब्भंगा, तेयग-कम्मगाइं जहा ओहिथा। असरीरेहिं जीव-सिद्धेहिं तियभंगो।

आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए, इंदिय-पज्जत्तीए, आणापाणपज्जत्तीए जीवेगिंदिय-वज्जो तियभंगो, भासामणपज्जत्तीए जहा सण्णी। आहार-अपज्जत्तीए जहा अणा-

सकषायेषु जीवादिकः त्रिकभङ्गः। एकेन्द्रियेषु अभंगकम्। क्रोधकषायिषु जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। देवेषु षड्भङ्गाः। मानकषायि-मायाकषायिषु जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। नैरयिक-देवेषु षड्भङ्गाः। लोभकषायिषु जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। नैरयिकेषु षड्भङ्गाः। अकषायि-जीव-मनुजेषु, सिद्धेषु त्रिकभङ्गः।

औधिकज्ञाने, आभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने जीवादिकः त्रिकभङ्गः। विकलेन्द्रियेषु षड्-भङ्गाः। अवधिज्ञाने, मनःपर्यवज्ञाने, के-वलज्ञाने जीवादिकः त्रिकभङ्गः।

औधिके अज्ञाने, मत्यज्ञाने, श्रुताज्ञाने, एकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। विभङ्गज्ञाने जीवा-दिकः त्रिकभङ्गः। सयोगी यथा औधिकः। मनयोगी, वायोगी, काययोगी जीवादिकः त्रिकभङ्गः, नवरं— काययोगी एकेन्द्रियाः, तेषु अभङ्गकम्। अयोगी यथा अलेश्याः।

साकारोपयुक्त-अनाकारोपयुक्तेषु जीवैके-न्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। सवेदकाः यथा सकषायः। स्त्रीवेदक-पुरुषवेदक-नपुंसकवेदकेषु जीवादिकः, त्रिकभङ्गः, नवरं—नपुंसकवेदे एकेन्द्रियेषु अभङ्गकम्। अवेदकाः यथा अकषायः।

सशरीरी यथा औधिकः। औदारिक-वैक्रिय-शरीराणां जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः। आ-हारकशरीरी जीव-मनुजेषु षड्भङ्गाः, तैजस-कर्मके यथा औधिकः। अशरीरेषु जीव-सिद्धेषु त्रिकभङ्गः।

आहारपर्याप्तौ, शरीरपर्याप्तौ, इन्द्रियपर्या-प्तौ, आनापानपर्याप्तौ जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिकभङ्गः, भाषा-मनःपर्याप्तौ यथा संज्ञी। आहार-अपर्याप्तौ यथा अनाहारकाः,

संयत, जीव और सिद्धों में तीन भंग होते हैं। सकषायी जीवों के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में कोई भंग नहीं होता। क्रोध कषायी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। देवों में छह भंग होते हैं। मानकषायी और मायाकषायी जीवों में जीव तथा एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। नैरयिकों में और देवों में छह भंग होते हैं। लोभ-कषायी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। नैरयिकों में छह भंग होते हैं। अकषायी जीव और मनुष्यों तथा सिद्धों में तीन भंग होते हैं।

औधिकज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी और श्रुतज्ञानी के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं। विकलेन्द्रिय जीवों में छह भंग होते हैं। अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं।

औधिक अज्ञानी, मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी में एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। विभंगज्ञानी के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं। सयोगी औधिक जीव की भांति वक्तव्य है। मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी के जीव आदि पदों के तीन भंग होते हैं। केवल इतना विशेष है—काययोगी एकेन्द्रिय जीवों में कोई भंग नहीं होता। अयोगी लेश्या-रहित जीवों की भांति वक्तव्य है।

साकारोपयोग वाले और अनाकारोपयोग वाले जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। सवेदक सकषाय जीवों की भांति वक्तव्य है। स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक और नपुंसकवेदक जीवों के जीव आदि पदों में तीन भंग होते हैं। केवल इतना विशेष है: नपुंसकवेदक एकेन्द्रिय जीवों में कोई भंग नहीं होता। अवेदक अकषायी की भांति वक्तव्य है।

सशरीर औधिक जीव की भांति वक्तव्य है। औदारिक और वैक्रिय शरीरी जीवों में जीव और एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। आहारक शरीरी जीव और मनुष्यों में छह भंग होते हैं। तैजस और कर्मक शरीरी औधिक जीव की भांति वक्तव्य है। अशरीर जीव और सिद्धों में तीन भंग होते हैं।

आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति और आनापान पर्याप्ति वाले जीवों में जीव तथा एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। भाषा और मन पर्याप्ति वाले जीव संज्ञी जीव की भांति वक्तव्य हैं। आहार

हारगा, सरीर-अपज्जतीए, इंदिय-अपज्ज-
तीए, आणापाण-अपज्जतीए जीवेगिं-
दियवज्जो तियभंगो, नेरइय-देव-मणुएहिं
छब्भंगा, भासा-मणअपज्जतीए जीवादियो
तियभंगो, नेरइय-देव-मणुएहिं छब्भंगा।

शरीर-अपर्याप्तौ, इन्द्रिय-अपर्याप्तौ, आ-
नापान-अपर्याप्तौ जीवैकेन्द्रियवर्जः त्रिक-
भङ्गः, नैरयिक-देव-मनुजेषु षड्भङ्गाः, भाषा-
मनः-अपर्याप्तौ जीवादिकः त्रिकभङ्गः, नैर-
यिक-देव-मनुजेषु षड्भङ्गाः।

अपर्याप्ति वाले जीव अनाहारक जीव की भांति
वक्तव्य हैं। शरीर अपर्याप्ति वाले, इन्द्रिय अपर्याप्ति
और आनापान अपर्याप्ति वाले जीवों में जीव तथा
एकेन्द्रिय को छोड़कर तीन भंग होते हैं। नैरयिक,
देव और मनुष्यों में छह भंग होते हैं। भाषा और मन-
अपर्याप्ति वाले जीवों के जीव आदि पदों में तीन
भंग होते हैं। नैरयिक, देव और मनुष्यों में छह भंग
होते हैं।

संग्रहणी गाथा

सपदेसाहारग-भविद्य-
सण्णि-लेस्सा-दिट्ठि-संजय-कसाए।
नाणे जोगुवओगे,
वेदे य सरीर-पज्जती ॥१॥

संग्रहणी गाथा

सप्रदेशाहारक-भविक-
संज्ञि-लेश्या-दृष्टि-संयत-कषायाः।
ज्ञान योगोपयोगी,
वेदश्च शरीर-पर्याप्ती ॥१॥

संग्रहणी गाथा

सप्रदेश, आहारक, भव्य, संज्ञी, लेश्या, दृष्टि, संयत,
कषाय, ज्ञान, योग, उपयोग, वेद, शरीर और
पर्याप्ति—उक्त दस सूत्रों (५४-६३) में ये विषय
वर्णित हैं।

भाष्य

१. सूत्र ५४-६३

सप्रदेश और अप्रदेश सापेक्ष शब्द हैं। इस पर अनेक नयों से विमर्श
किया गया है। प्रस्तुत आलापक में काल की दृष्टि से सप्रदेश-अप्रदेश का
विमर्श किया गया है, जिसे उत्पन्न हुए एक समय बीता है, वह अप्रदेश और
जिसकी स्थिति दो तथा उससे अधिक समय की है वह सप्रदेश कहलाता है।
जीव और नैरयिक के उदाहरण से इस विषय को समझाया गया है। जीव
अनादि होने के कारण अनन्त समय की स्थिति वाला है; इसलिए वह नियमतः
सप्रदेश है। उसे अनन्त भागों में विभक्त किया जा सकता है। इस प्रकार काल
की अपेक्षा उसका व्यक्तित्व अनन्त खण्ड वाला हो जाता है। इसका समर्थन
उत्तरज्ज्ञयणाणि के इस सूत्र से होता है — संतइं पप्पडणाईया।

नैरयिक, मनुष्य यावत् सिद्ध सप्रदेश व अप्रदेश दोनों होते हैं। जो
प्रथम समय में उत्पन्न हैं, वे अप्रदेश होते हैं। जिनका उत्पत्तिकाल दो समय
तथा उससे अधिक समय की स्थिति का हो, वे सप्रदेश होते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा विचार करने पर समुच्चय में जीव नियमतः
सप्रदेश हैं। बहुवचन में नैरयिक के तीन विकल्प बनते हैं: १. उपपात के
विरह-काल में पूर्वोत्पन्न सभी नैरयिक सप्रदेश होते हैं। २. पूर्वोत्पन्न नैरयिकों
के मध्य एक नैरयिक उत्पन्न होता है, उस स्थिति में अनेक सप्रदेश और एक
अप्रदेश होता है। ३. पूर्वोत्पन्न नैरयिकों के मध्य अनेक नैरयिक एक साथ
उत्पन्न होते हैं, तब तीसरा विकल्प बनता है—अनेक सप्रदेश और अनेक
अप्रदेश।

एकेन्द्रिय जीवों को छोड़कर शेष सभी जीवों तथा सिद्धों के ये
तीन-तीन विकल्प होते हैं। एकेन्द्रिय जीव सप्रदेश व अप्रदेश दोनों होते हैं—

१. जिनका उत्पत्तिकाल दो तथा उससे अधिक समय का हो गया, वे
सब सप्रदेश होते हैं।

२. एकेन्द्रिय में प्रति समय अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं; इसलिए वे
अप्रदेश भी हैं।

बहुवचन में छह भंग भी बनते हैं —

असंज्ञी से उत्पन्न बहुवचनान्त नारक के छह विकल्प इस प्रकार
बनते हैं—

१. उपपात के विरह-काल में पूर्वोत्पन्न सभी नैरयिक सप्रदेश होते हैं।

२. कुछ जीव एक साथ उत्पन्न हुए, उत्पत्ति के प्रथम समय में वे सब
अप्रदेश होते हैं।

३. असंज्ञी से नरक में उत्पन्न होने वालों में द्वितीय आदि समयवर्ती एक
जीव सप्रदेश तथा प्रथम समयवर्ती एक जीव अप्रदेश होता है।

४. असंज्ञी से नरक में उत्पन्न होने वालों में द्वितीय आदि समयवर्ती एक
जीव सप्रदेश है, प्रथम समयवर्ती अनेक जीव अप्रदेश हैं।

५. असंज्ञी से नरक में उत्पन्न होने वालों में द्वितीय आदि समयवर्ती
अनेक जीव सप्रदेश एवं प्रथम समयवर्ती एक जीव अप्रदेश हैं।

६. असंज्ञी से नरक में उत्पन्न होने वाले जीवों में द्वितीय आदि समयवर्ती
अनेक जीव सप्रदेश एवं प्रथम समयवर्ती अनेक जीव अप्रदेश हैं।

शब्द-विमर्श

सप्रदेश—सावयव, सविभाग

अप्रदेश—निरवयव, अविभाग

१. द्रष्टव्य भ. ५/२०१-२०७ का भाष्य।

२. भ. वृ. ६/५४—यो लोकसमयस्थितिः सोऽप्रदेशः द्रव्यादिसमयस्थितिस्तु सप्रदेशः, इह चानया
गाथया भावना कार्या—

जो जस्स पढमसमय वड्ढति भावस्स सो उ अपदेसो ।

अण्णामि वड्ढमाणो कालाएसेण सपएसो।।

३. उत्तर. ३६/७९।

४. पण्ण. ६/६२, ६३।

देखें तालिका—

१. कालादेश से सप्रदेश व अप्रदेश

भंग	
१. एक जीव	नियमत: सप्रदेश
२. एक नारक यावत् एक सिद्ध	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
३. अनेक जीव	नियमत: सप्रदेश
४. अनेक नारक तथा एकेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक और सिद्ध	३ १. सर्व सप्रदेश २. अथवा अनेक सप्रदेश, एक अप्रदेश ३. अथवा अनेक सप्रदेश, अनेक अप्रदेश।
५. एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

२. आहारक

भंग	
६. एक जीव, एक नारक यावत् एक वैमानिक	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
७. अनेक जीव और अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
८. अनेक नारक यावत् अनेक वैमानिक	३

३. अनाहारक

भंग	
९. एक जीव, एक नारक यावत् सिद्ध	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
१०. अनेक जीव और अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
११. अनेक नारक तथा एकेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक	६ १. सर्व सप्रदेश २. सर्व अप्रदेश ३. अथवा एक सप्रदेश, एक अप्रदेश ४. अथवा एक सप्रदेश, अनेक अप्रदेश ५. अथवा अनेक सप्रदेश, एक अप्रदेश ६. अथवा अनेक सप्रदेश, अनेक अप्रदेश
१२. अनेक सिद्ध	३

४. भव्य-अभव्य

भंग	
१३. एक जीव	नियमत: सप्रदेश
१४. एक नारक यावत् एक वैमानिक	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
१५. अनेक जीव	नियमत: सप्रदेश
१६. अनेक नारक तथा एकेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक	३
१७. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

५. नोभव्य-नोअभव्य

भंग	
१८. एक जीव/एक सिद्ध	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
१९. अनेक जीव/अनेक सिद्ध	३

६. संज्ञी

भंग	
२०. अनेक जीव और एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक	३

७. असंज्ञी

भंग	
२१. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
२२. तीन विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय एवं मनुष्य	३
२३. असंज्ञी से उत्पन्न होने वाले अनेक नारक, भवनपति, व्यंतर और मनुष्य	६

८. नोसंज्ञी नोअसंज्ञी

भंग	
२४. अनेक मनुष्य, अनेक सिद्ध	३

९. सलेश्य

भंग	
२५. एक जीव	नियमतः सप्रदेश
२६. एक नारक यावत् एक वैमानिक	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
२७. अनेक जीव	नियमतः सप्रदेश
२८. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक यावत् अनेक वैमानिक	३
२९. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

१०. कृष्ण-, नील-, कापोत-लेश्यी

भंग	
३०. एक जीव, एक नारक यावत् एक व्यंतर	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
३१. अनेक जीव और अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
३२. अनेक नारक, भवनपति, विकलेन्द्रिय, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और व्यंतर	३

११. तेजोलेश्यी

भंग	
३३. अनेक भवनपति, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	३
३४. अनेक पृथ्वी, अपु, वनस्पति	६

१२. पद्मलेश्यी-शुक्ललेश्यी

	भंग	
३५. अनेक जीव, अनेक तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और वैमानिक	३	

१३. अलेश्यी

	भंग	
३६. अनेक जीव, अनेक सिद्ध	३	
३७. अनेक मनुष्य	६	

१४. सम्यग्दृष्टि

	भंग	
३८. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक	३	
३९. अनेक विकलेन्द्रिय	६	

१५. मिथ्यादृष्टि

	भंग	
४०. अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
४१. एकेन्द्रिय-वर्जित शेष दंडक	३	

१६. सम्यग्मिथ्यादृष्टि

	भंग	
४२. एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि		
१६ दंडक	६	

१७. संयत

	भंग	
४३. अनेक जीव, अनेक मनुष्य	३	

१८. असंयत

	भंग	
४४. अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
४५. अनेक जीव एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३	

१९. संयतासंयत

	भंग
४६. अनेक जीव, अनेक तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य	३

२०. नोसंयत नोअसंयत

	भंग
४७. अनेक जीव, अनेक सिद्ध	३

२१. सकषाय

	भंग
४८. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उत्तीस दंडक	३
४९. एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

२२. क्रोधकषायी

	भंग
५०. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
५१. अनेक नारक, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यच पंचेन्द्रिय और मनुष्य	३
५२. अनेक भवनपति, व्यंतर ज्योतिष्क, वैमानिक	६

२३. मानकषायी-मायाकषायी

	भंग
५३. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
५४. अनेक विकलेन्द्रिय, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य	३
५५. अनेक नारक, भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	६

२४. लोभकषायी

	भंग
५६. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
५७. अनेक नारक	६
५८. नारक-एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक भवनपति आदि अठारह दंडक	३

२५. अकषाय

	भंग
५९. अनेक जीव, अनेक मनुष्य, अनेक सिद्ध	३

२६. ज्ञानी— औधिक ज्ञानी मति-श्रुत-ज्ञानी

	भंग
६०. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित	
शेष सोलह दण्डक	३
६१. विकलेन्द्रिय	६

२७. अवधिज्ञानी

	भंग
६२. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित अनेक भवनपति आदि सोलह दंडक	३

२८. मनःपर्यवज्ञानी

	भंग
६३. अनेक जीव, अनेक मनुष्य	३

२९. केवलज्ञानी

	भंग
६४. अनेक जीव, अनेक मनुष्य, अनेक सिद्ध	३

३०. अज्ञानी— औधिक अज्ञानी मति-श्रुत-अज्ञानी

	भंग
६५. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित उन्नीस दंडक	३
६६. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

३१. विभंगज्ञानी

	भंग
६७. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित शेष सोलह दंडक	३

३२. सयोग

	भंग
६८. एक जीव	नियमतः सप्रदेश
६९. एक नारक आदि २४ दंडक	स्यात् सप्रदेश, स्यात् अप्रदेश
७०. अनेक जीव	नियमतः सप्रदेश
७१. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३

३३. मनयोगी

	भंग	
७२. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित सोलह उंडक	३	

३४. वचनयोगी

	भंग	
७३. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३	

३५. काययोगी

	भंग	
७४. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३	
७५. अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

३६. अयोगी

	भंग	
७६. अनेक जीव, अनेक सिद्ध	३	
७७. अनेक मनुष्य	६	

३७. साकार-अनाकारोपयुक्त

	भंग	
७८. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
७९. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक, अनेक सिद्ध	३	

३८. सवेद

	भंग	
८०. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३	
८१. अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

३९. स्त्रीवेदी-पुरुषवेदी

	भंग	
८२. अनेक जीव, अनेक भवनपति, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	३	

४०. नपुंसकवेदी

भंग	
८३. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३
८४. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

४१. अवेदी

भंग	
८५. अनेक जीव अनेक मनुष्य अनेक सिद्ध	३

४२. सशरीर

भंग	
८६. एक जीव, अनेक जीव	नियमत: सप्रदेश
८७. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३
८८. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी

४३. औदारिकशरीरी

भंग	
८९. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
९०. अनेक विकलेन्द्रिय, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य	३

४४. वैक्रियशरीरी

भंग	
९१. अनेक जीव, अनेक वायुकायिक	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
९२. अनेक नारक, भवनपति, तिर्यच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	३

४५. आहारकशरीरी

भंग	
९३. अनेक जीव, अनेक मनुष्य	६

४६. तैजसशरीरी-कार्मणशरीरी

भंग	
९४. एक जीव, अनेक जीव	नियमत: सप्रदेश
९५. अनेक एकेन्द्रिय	सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
९६. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३

४७. अशरीर

	भंग	
९७. अनेक जीव अनेक सिद्ध	३	

४८. आहार-शरीर-इन्द्रिय-आनापान-पर्याप्ति-प्रतिपन्न जीव

	भंग	
९८. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
९९. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	३	

४९. भाषा-मन-पर्याप्ति-प्रतिपन्न

	भंग	
१००. अनेक जीव, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-वर्जित सोलह दंडक	३	

५०. आहार-अपर्याप्ति वाला

	भंग	
१०१. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
१०२. एकेन्द्रिय-वर्जित अनेक नारक आदि उन्नीस दंडक	६	

५१. शरीर-इन्द्रिय-आनापान-अपर्याप्ति वाला

	भंग	
१०३. अनेक जीव अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी
१०४. अनेक विकलेन्द्रिय, तिर्यच पंचेन्द्रिय	३	
१०५. अनेक नारक, भवनपति, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	६	

५२. भाषा-मन-अपर्याप्ति वाला

	भंग	
१०६. अनेक जीव, अनेक एकेन्द्रिय		सप्रदेश भी, अप्रदेश भी ^१
१०७. अनेक जीव, अनेक तिर्यच पंचेन्द्रिय	३	
१०८. अनेक नारक, भवनपति, मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक	६	

१. अभयदेवसूरि ने भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति के एकत्व का समर्थन किया है। उनके सामने बहुश्रुत-मान्यता की परम्परा रही है। इस आधार पर केवल पंचेन्द्रिय का ग्रहण किया गया है। भाषा और मनःपर्याप्ति को स्वतन्त्र मानने पर भी त्रिभंग की व्यवस्था में कोई फर्क नहीं पड़ता। विकलेन्द्रिय जीवों में भाषा पर्याप्ति है उनमें भी तीन भंग प्राप्त होते हैं और मनः पर्याप्ति वाले जीवों में भी तीन भंग होते हैं। भ.वृ. ६/६३—भाषामनसोः पर्याप्तिर्भाषामनःपर्याप्तिः, भाषा-मनःपर्याप्त्योस्तु बहुश्रुताभिमतं केनापि कारणैकत्वं विवक्षितं, तदश्च तथा पर्याप्तका यथा

सञ्ज्ञनस्तथा सप्रदेशादितया वाच्याः, सर्वपदेसु भद्रकत्रयमित्यर्थः, पंचेन्द्रियपदान्त्वेव चेह वाच्यानि।

२. अभयदेवसूरि ने भाषा-अपर्याप्ति, मन-अपर्याप्ति में एकेन्द्रिय को समाविष्ट करते हुए लिखा है—भ.वृ. ६/६३—भाषामनोऽपर्याप्त्याऽपर्याप्तकास्ते येषां जातितो भाषामनोयोग्यत्वे सति तदसिद्धिः, ते च पञ्चेन्द्रिया एव। यदि पुनर्भाषामनसोरभावमात्रेण तदपर्याप्तका अभविष्यस्तदै-केन्द्रिया अपि तेऽभविष्यस्ततश्च जीवपदे तृतीय एव भद्रः स्यात्।

पच्चकखाणादि-पदं

६४. जीवा णं भंते ! किं पच्चकखाणी? अपच्चकखाणी? पच्चकखाणापच्चकखाणी?

गोयमा ! जीवा पच्चकखाणी वि, अपच्चकखाणी वि, पच्चकखाणापच्चकखाणी वि।

६५. सव्वजीवाणं एवं पृच्छा।

गोयमा ! नेरइया अपच्चकखाणी जाव चउरिंदिया (सेसा दो पडिसेहेयव्वा)। पंचिंदियतिरिक्खजोणिया नो पच्चकखाणी, अपच्चकखाणी वि, पच्चकखाणापच्चकखाणी वि। मणूसा तिण्णि वि। सेसा जहा नेरइया ॥

६६. जीवा णं भंते ! किं पच्चकखाणं जाणंति? अपच्चकखाणं जाणंति? पच्चकखाणापच्चकखाणं जाणंति?

गोयमा ! जे पंचिंदिया ते तिण्णि वि जाणंति, अवसेसा पच्चकखाणं न जाणंति, अपच्चकखाणं न जाणंति, पच्चकखाणापच्चकखाणं न जाणंति।

६७. जीवा णं भंते ! किं पच्चकखाणं कुव्वंति? अपच्चकखाणं कुव्वंति? पच्चकखाणापच्चकखाणं कुव्वंति?

जहा ओहिओ तथा कुव्वणा ॥

६८. जीवा णं भंते ! किं पच्चकखाणनिव्वत्तियाउया? अपच्चकखानिव्वत्तियाउया? पच्चकखाणापच्चकखानिव्वत्तियाउया?

गोयमा ! जीवा य, वेमाणिया य पच्चकखानिव्वत्तियाउया, तिण्णि वि। अवसेसा अपच्चकखानिव्वत्तियाउया ॥

प्रत्याख्यानानादि-पदम्

जीवाः भदन्त ! किं प्रत्याख्यानिनः? अप्रत्याख्यानिनः? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानिनः?

गौतम ! जीवाः प्रत्याख्यानिनः अपि, अप्रत्याख्यानिनः अपि, प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानिनः अपि।

सर्वजीवानाम् एवं पृच्छा।

गौतम ! नैरयिकाः अप्रत्याख्यानिनः यावच्चतुरिन्द्रियाः (शेषो द्वौ प्रतिषेद्धव्यौ) पंचेन्द्रियतिर्यग्भूयोनिकाः नो प्रत्याख्यानिनः, अप्रत्याख्यानिनः अपि, प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानिनः अपि। मनुष्याः त्रयोऽपि। शेषाः यथा नैरयिकाः।

जीवाः भदन्त ! किं प्रत्याख्यानं जानन्ति? अप्रत्याख्यानं जानन्ति? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानं जानन्ति ?

गौतम ! ये पञ्चेन्द्रियाः ते त्रीणि अपि जानन्ति, अवशेषाः प्रत्याख्यानं न जानन्ति, अप्रत्याख्यानं न जानन्ति, प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानं न जानन्ति।

जीवाः भदन्त ! किं प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति? अप्रत्याख्यानं कुर्वन्ति ? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानं कुर्वन्ति?

यथा औधिकः तथा करणम्।

जीवाः भदन्त ! किं प्रत्याख्याननिर्वर्तितायुष्काः? अप्रत्याख्याननिर्वर्तितायुष्काः? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्याननिर्वर्तितायुष्काः?

गौतम ! जीवाश्च वैमानिकाश्च प्रत्याख्याननिर्वर्तितायुष्काः, त्रयोऽपि अवशेषाः अप्रत्याख्याननिर्वर्तितायुष्काः।

प्रत्याख्यानानादि-पद

६४. 'भंते ! क्या जीव प्रत्याख्यानी हैं? अप्रत्याख्यानी हैं? प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी हैं?

गौतम ! जीव प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं और प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी भी हैं।

६५. इस प्रकार सब जीवों की पृच्छा।

गौतम ! नैरयिक जीव अप्रत्याख्यानी हैं यावत् चतुरिन्द्रिय जीव अप्रत्याख्यानी हैं। (इनमें शेष दो प्रत्याख्यानी तथा प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानी प्रतिषेधनीय है।) पंचेन्द्रिय तिर्यग्भूयोनिक प्रत्याख्यानी नहीं है, अप्रत्याख्यानी भी हैं और प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यानी भी हैं। मनुष्य तीनों ही हैं। शेष सभी जीव नैरयिक जीवों की भांति वक्तव्य हैं।

६६. भन्ते ! क्या जीव प्रत्याख्यान को जानते हैं? अप्रत्याख्यान को जानते हैं? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यान को जानते हैं?

गौतम ! जो पंचेन्द्रिय जीव हैं, वे तीनों को जानते हैं। अवशेष जीव प्रत्याख्यान को नहीं जानते, अप्रत्याख्यान को नहीं जानते, प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यान को नहीं जानते।

६७. भन्ते ! क्या जीव प्रत्याख्यान करते हैं? अप्रत्याख्यान करते हैं? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यान करते हैं?

प्रत्याख्यान करने का औधिक सूत्र (६४, ६५) की भांति वक्तव्य है।

६८. भन्ते ! क्या जीव प्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं? अप्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं? प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं?

गौतम ! जीव और वैमानिक देव प्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं, अप्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं और प्रत्याख्यानानाप्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले भी हैं। अवशेष जीव अप्रत्याख्यान से बद्ध आयुष्य वाले हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६४-६८

प्रति+आ+ख्या धातु के अनेक अर्थ होते हैं—परित्याग करना, सावध आचरण से निवृत्त होना, अस्वीकार करना^१ निषेध करना।

प्रस्तुत प्रकरण में 'प्रत्याख्यान' पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—सर्व सावध प्रवृत्ति का परित्याग। इस आधार पर प्रत्याख्यानी का अर्थ होता है—सर्व सावध प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करने वाला, सर्वविरत अथवा महाव्रती।

अप्रत्याख्यानी का अर्थ होगा—अविरत, जिसने कोई भी व्रत स्वीकार न किया हो।

प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी का अर्थ होगा—देश विरत-बारह व्रती श्रावक—जिसने महाव्रत स्वीकार न किया हो।

प्रत्याख्यान की योग्यता सब जीवों में समान नहीं होती, उसके अनेक हेतु हैं। नैरयिकों में असात का संवेदन अधिक होता है; इसलिए उनमें प्रत्याख्यान की चेतना नहीं जागती।

देवों में सात का संवेदन अधिक होता है, अतः उनमें प्रत्याख्यान के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—अत्यन्त दुःखी और अत्यन्त सुखी दोनों ही व्रत स्वीकार करने में सक्षम नहीं होते। व्रत की आराधना वही व्यक्तिकर सकता है जो अति दुःखी और अति सुखी न हो।

एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव अमनस्क होते हैं। मानसिक विकास के बिना व्रत स्वीकार करने का संकल्प जागृत नहीं होता। समनस्क पंचेन्द्रिय तिर्यच जीवों में मानसिक चेतना का सीमित विकास होता है; इसलिए उनमें आंशिक प्रत्याख्यान स्वीकार करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य में मानसिक विकास पर्याप्त मात्रा में होता है; इसलिए उसमें आंशिक प्रत्याख्यान तथा पूर्ण प्रत्याख्यान करने का संकल्प हो सकता है।

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से अप्रत्याख्यान जीव की एक सामान्य अवस्था है। इसका हेतु अप्रत्याख्यान मोह का उदय है। जिन जीवों में पूर्ण प्रत्याख्यान

करने की क्षमता उत्पन्न नहीं होती, उसका हेतु प्रत्याख्यानावरण मोह का उदय है।

अप्रत्याख्यानावरण मोह का क्षयोपशम होने पर अंशतः प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानावरण मोह का क्षयोपशम होने पर सर्वतः प्रत्याख्यान करने की क्षमता उत्पन्न होती है। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि मानसिक विकास और चारित्र मोह कर्म का क्षयोपशम—दोनों का योग होने पर ही आंशिक अथवा पूर्ण प्रत्याख्यान की चेतना जागृत होती है।

सब समनस्क जीव (नैरयिक, देव, तिर्यच और मनुष्य) प्रत्याख्यान को जान सकते हैं। अमनस्क जीवों में उसे जानने की क्षमता नहीं होती।

प्रत्याख्यान करने की क्षमता कुछ जीवों में होती है, कुछ जीवों में नहीं होती—इसकी वक्तव्यता ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है।

प्रत्याख्यान आयुष्य-बंध का हेतु भी बनता है। उसकी मीमांसा इस प्रकार है—सामान्य जीव-पद में प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्याना-प्रत्याख्यान—इन तीनों आयुष्य-बंध में हेतु बनते हैं। वैमानिक देव का आयुष्य-बंध भी इन तीनों के होता है। शेष तेईस दंडकों (वैमानिक को छोड़ कर) के आयुष्य का बंध अप्रत्याख्यानी जीव ही करते हैं। साधु प्रत्याख्यानी और श्रावक प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी होते हैं, इसलिए उनके वैमानिक के अतिरिक्त किसी अन्य आयुष्य का बंध नहीं होता। जयाचार्य ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है—

पूर्व कह्या पचखाण, ते आयु बंधण तणां ।

हेतू पिण द्वै जाण, आयु-सूत्र कहियै हिवै ॥

जीव प्रभु ! पचखाण करै स्यूं आयु बांधै निपजावै ?

अपचखाण करि आयु बांधै, पचखाणापचखाण स्यूं थावै ?

जिन कहै जीवा पचखाण करिकै, अपचखाण करि सोया

बलि पचखाणापचखाण करिकै, आयु-बंध अवलोय ॥

वैमानिक देवता नो आउखो, पचखाणी पिण बांधै ।

अपचखाणवंत पिण बांधै, बलि पचखाणापचखाणी सांधै ॥

शेष तेवीस दंडक नो आउखो, अपचखाणी बांधै ।

पचखाणी नै पचखाणापचखाणी नरकादिक आयु न सांधै ॥^४

संग्रहणी गाथा

१. पचचखाणं २. जाणइ,
३. कुव्वइ ४. तिण्णेव आउनिव्वत्ती ।
सपएसुद्देसम्मि य,
एमेए दंडगा चउरो ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

१. प्रत्याख्यानं २. जानाति,
३. करोति ४. त्रीण्येव आयुर्निर्वृत्ति
सप्रदेशोद्देशे च,
एवमेते दण्डकाश्चत्वारः ॥ १ ॥

संग्रहणी गाथा

१. प्रत्याख्यानी २. प्रत्याख्यान को जानना। ३. प्रत्या-
ख्यान करना और ४. तीनों से आयुष्य का निबन्ध
—इस प्रकार सप्रदेश के उद्देशक में ये चार दण्डक
और प्रतिपादित हैं।

६९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! च्छि।

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

६९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. आप्ते—प्रत्याख्या—To deny

२. वही, प्रत्याख्या—To decline, refuse, reject

३. भ. वृ. ६/६४—'पचचखाणि' ति सर्वविरता: 'अपचचखाणि' ति अविरता:, 'पच-

चखाणापचचखाणि' ति देशविरता इति:।

४. भ. जो. २/१०२/१८-२२।

पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

तमुक्काय-पदं

७०. किमियं भन्ते ! तमुक्काए त्ति पव्वुच्चति?
किं पुढवी तमुक्काए त्ति पव्वुच्चति? आऊ
तमुक्काए त्ति पव्वुच्चति?
गोयमा ! नो पुढवि तमुक्काए त्ति पव्वु-
च्चति, आऊ तमुक्काए त्ति पव्वुच्चति।।

७१. से केणट्टेणं?

गोयमा ! पुढविकाए णं अत्थेगइए सुभे देसं
पकासेइ, अत्थेगइए देसं नो पकासेइ से
तेणट्टेणं।।

७२. तमुक्काए णं भन्ते ! कहिं समुट्टिए? कहिं संनिट्टिए?

गोयमा ! जंबूदीवस्स दीवस्स बहिया तिरिय-
मसंखेज्जे दीव-समुट्टे वीईवइत्ता, अरुण-
वरस्स दीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ
अरुणोदयं समुट्टं बायात्तीसं जोयणसह-
स्साणि ओगेगाहिता उवरिल्लाओ जलंताओ
एगपएसियाए सेढीए—एत्थ णं तमुक्काए
समुट्टिए। सत्तरस-एककवीसे जोयणसए उड्डं
उप्पइत्ता तओ पच्छा तिरियं पवित्थरमाणे-
पवित्थरमाणे सोहम्मिसाण-सणकुमारमाहिदे
चत्तारि वि कप्पे आवरित्ता णं उड्डं पि य णं
जाव बंभलोगे कप्पे रिद्धविमाणपत्थडं संपत्ते
—एत्थ णं तमुक्काए संनिट्टिए।।

७३. तमुक्काए णं भन्ते ! किंसंठिए पण्णत्ते?
गोयमा ! अहे मल्लग-मूलसंठिए, उप्पिं

तमस्काय-पदम्

किमयं भदन्त ! तमस्कायः इति प्रोच्यते? किं
पृथिवी तमस्कायः इति प्रोच्यते? किम् आपः
तमस्कायः इति प्रोच्यते?
गौतम ! नो पृथिवी तमस्कायः इति प्रोच्यते,
आपः तमस्कायः इति प्रोच्यते?

तत् केनार्थेन?

गौतम ! पृथिवीकायः अस्त्येककः शुभः
देशं प्रकाशयति, अस्त्येककः देशं नो प्र-
काशयति। तत्तेनार्थेन।

तमस्कायः भदन्त ! कुतः समुत्थितः? कुत्र संनिष्ठितः?

गौतम ! जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य बहिः तिर्यग्-
संख्येयान् द्वीप-समुद्रान् व्यतिब्रज्य, अ-
रुणवरस्य द्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताद्
अरुणोदयं समुद्रं द्विचत्वारिंशद् योजन-
सहस्राणि अवगाह्य उपरितनाद् जलान्ताद्
एकप्रदेशिक्याः श्रेण्याः—अत्र तमस्कायः
समुत्थितः। सप्तदशैकविंशतियोजनशतानि
ऊर्ध्वम् उत्पत्य, ततः पश्चात् तिर्यक् प्र-
विस्तरन्-प्रविस्तरन् सौधर्मेशान-सनत्-
कुमार-माहेन्द्रान् चतुरोऽपि कल्पान् आवृत्य
ऊर्ध्वमपि च यावद् ब्रह्मलोके कल्पे रिष्ट-
विमानप्रस्तरं संप्राप्तः—अत्र तमस्कायः
संनिष्ठितः।

तमस्कायः भदन्त ! किंसंस्थितः प्रज्ञप्तः?
गौतम ! अधः 'मल्लग'मूलसंस्थितः, उपरि

तमस्काय-पद

७०. 'भन्ते ! तमस्काय किसे कहा जाता है? क्या पृथ्वी
को तमस्काय कहा जाता है? क्या जल को तमस्काय
कहा जाता है?
गौतम ! पृथ्वी को तमस्काय नहीं कहा जाता, जल
को तमस्काय कहा जाता है।

७१. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! कुछेक शुभ (भास्वर) पृथ्वीकाय विवक्षित
क्षेत्र के देश को प्रकाशित करता है और कुछेक
पृथ्वीकाय विवक्षित क्षेत्र के देश को प्रकाशित नहीं
करता। इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—
पृथ्वीकाय तमस्काय नहीं है।

७२. भन्ते ! तमस्काय कहां से उठता है? और कहां समाप्त होता है?

गौतम ! जम्बूद्वीप से बाहर तिरछी दिशा में असंख्य
द्वीप-समुद्रों को पार करने पर अरुणवर द्वीप के
बहिर्वर्ती वेदिका के छोर से आगे जो अरुणोदय
समुद्र है, उसमें बयालीस हजार योजन अवगाहन
करने पर जल के ऊपर के सिरे से एक प्रदेश वाली
(सममिति आकार वाली) श्रेणी निकली है। यहां से
तमस्काय उठता है। वह सतरह सौ इक्कीस योजन
ऊपर जाता है। उसके पश्चात् तिरछा फैलता हुआ
सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन
चारों कल्पों (स्वर्गलोकों) को घेर कर ऊपर
ब्रह्मलोक कल्प के रिष्ट विमान के प्रस्तर तक पहुंच
जाता है। यहां तमस्काय समाप्त होता है।

७३. भन्ते ! तमस्काय का संस्थान कैसा है?

गौतम ! नीचे से शराव के तल का संस्थान है और

कुक्कुडग-पंजरगसंठिए पण्णत्ते।

कुर्कुटक-पञ्जरकसंस्थितः प्रज्ञप्तः।

ऊपर मुर्गे के पिंजरे का संस्थान है।

७४. तमुक्काए णं भंते ! केवतियं विक्खं-
भेणं, केवतियं परिकखेवेणं पण्णत्ते?
गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संखे-
ज्जवित्थडे य, असंखेज्जवित्थडे या तत्थ
णं जे से संखेज्जवित्थडे, से णं संखेज्जाइं
जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, असंखेज्जाइं
जोयणसहस्साइं परिकखेवेणं पण्णत्ते ।

तमस्कायः भदन्त! कियान् विष्कम्भेण,
कियान् परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः।
गौतम! द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा— संख्ये-
यविस्तृतश्च, असंख्येयविस्तृतश्च। तत्र यः
एषः संख्येयविस्तृतः सः संख्येयानि योजन-
सहस्राणि विष्कम्भेण, असंख्येयानि योजन-
सहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः।

७४. भन्ते ! तमस्काय का विष्कम्भ (चौडाई) कितना
और परिक्षेप (परिधि) कितना प्रज्ञप्त है?
गौतम ! तमस्काय दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—
संख्यात योजन विस्तृत और असंख्यात योजन
विस्तृत। जो संख्यात योजन विस्तृत है, उसका
विष्कम्भ संख्यात हजार योजन और उसका परिक्षेप
असंख्यात हजार योजन प्रज्ञप्त है।

तत्थ णं जे से असंखेज्जवित्थडे, से णं
असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं,
असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिकखेवेणं
पण्णत्ते ॥

तत्र यः एषः असंख्येयविस्तृतः स असंख्ये-
यानि योजनसहस्राणि विष्कम्भेण, असंख्ये-
यानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः।

जो असंख्यात योजन विस्तृत है, उसका विष्कम्भ
असंख्यात हजार योजन और उसका परिक्षेप
असंख्यात हजार योजन प्रज्ञप्त है।

७५. तमुक्काए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते?
गोयमा ! अयण्णं जंबुदीवे दीवे सव्वदीव-
समुद्दाणं सव्वब्भंतराए जाव एणं जोयजण-
सयसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं, तिण्णि
जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोण्णि
य सत्तावीसे जोयणसए तिण्णि य कोसे
अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं
अद्धंगुलगं च किंचिविसेसाहिए परिकखेवेणं
पण्णत्ते। देवे णं महिइड्डीए जाव महानुभावे
इणामेव-इणामेवत्ति कट्टु केवलकप्पं
जंबुदीवं दीवं तिहिंअच्छरानिवाएहिं
तिसत्तक्खुतो अणुपरियड्ढिता णं हव्व-
भागच्छिज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए
तुरियाए जाव दिव्वाए देवगईए वीईवय-
माणे-वीईवयमाणे जाव एकाहं वा, दुयाहं
वा, तियाहं वा, उक्कोसेणं छम्मासे
वीईवएज्जा, अत्थेगतियं तमुक्कायं
वीईवएज्जा, अत्थेगतियं तमुक्कायं नो
वीईवएज्जा। एमहालए णं गोयमा!
तमुक्काए पण्णत्ते ॥

तमस्कायः भदन्त ! कियन्महान् प्रज्ञप्तः?
गौतम ! अयं जम्बूद्वीपे द्वीपे सर्वद्वीप-
समुद्राणां सर्वाभ्यन्तरकः यावद् एकं
योजनशतसहस्रम्, आयाम-विष्कम्भेण,
त्रीणियोजन-शत-सहस्राणि षोडशसहस्राणि
द्वे च सप्तविंशति योजनशते त्रीणि च
क्रोशान् अष्टाविंशति च धनुशतं त्रयोदश
अंगुलानि अर्धांगुलकं च किंचिद्
विशेषाधिकः परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः। देवः
महर्द्धिकः यावत् महानुभावः इदमेव-
इदमेवेति कृत्वा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं
त्रिभिः 'अच्छरा' निपातैः त्रिसप्तकृत्वः
अनुपर्यत्य 'हव्वं' आगच्छेत्, स देवः तथा
उत्कृष्टतया त्वरितया यावद् दिव्यया देव-
गत्या व्यतिव्रजन्-व्यतिव्रजन् यावद् एकाहं
वा द्वयहं वा त्रयहं वा उत्कर्षेण षण्मासान्
व्यतिव्रजेत्, अस्त्येककः तमस्कायं व्यति-
व्रजेत्, अस्त्येककः तमस्कायं नो व्यति-
व्रजेत्। इयन्महान् गौतम ! तमस्कायः
प्रज्ञप्तः।

७५. भन्ते ! तमस्काय कितना बड़ा प्रज्ञप्त है?
गौतम ! यह जम्बूद्वीप द्वीप सब द्वीपसमुद्रों के मध्य
में अवस्थित है यावत् एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा
और उसका परिक्षेप तीन लाख, सोलह हजार, दो
सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अठाईस
धनुष और साढ़ा तेरह अंगुल से कुछ अधिक प्रज्ञप्त
है। कोई महान् ऋद्धि वाला यावत् महान् अनुभाव
वाला देव 'यह रहा-यह रहा' इस प्रकार कहकर
सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप में तीन बार चुटकी बजाने जितने
समय में इक्कीस बार घूमकर शीघ्र ही आ जाता है,
वह देव उस उत्कृष्ट त्वरित यावत् दिव्य देव गति से
परिव्रजन करता हुआ-परिव्रजन करता हुआ यावत्
एक दिन, दो दिन, तीन दिन उत्कर्षितः छह मास
तक परिव्रजन करे तो किसी (संख्यात योजन विस्तार
वाले) तमस्काय का अतिक्रमण कर जाता है और
किसी (असंख्यात योजन विस्तार वाले) तमस्काय
का अतिक्रमण नहीं कर पाता। गौतम ! तमस्काय
इतना बड़ा प्रज्ञप्त है।

७६. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गेहा इ वा?
गेहावणा इ वा?
णो तिण्णट्ठे समट्ठे ॥

अस्ति भदन्त ! तमस्काये गेहानि इति वा?
गेहापणा : इति वा?
नायमर्थः समर्थः।

७६. भन्ते ! तमस्काय में क्या घर है? गृह-आपण
(दुकाने) हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।

७७. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए गामा इ वा?

अस्ति भदन्त ! तमस्काये ग्रामा इति वा?

७७. भन्ते ! तमस्काय में क्या गांव हैं? यावत् सन्नवेश

- जाव सण्णिवेसा इति वा?
णो तिण्ण्डे समट्ठे ॥
- यावत् सन्निवेशा इति वा?
नायमर्थः समर्थः।
- हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।
७८. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए ओराला बलाहया संसेयंति? सम्मुच्छंति? वासं वासं-ति?
हंता अत्थि।
- अस्ति भदन्त ! तमस्काये 'ओराला' बलाहकाः संस्विद्यन्ति? संमूच्छन्ति? वर्षाः वर्षन्ति?
हन्त अस्ति।
७८. भन्ते ! तमस्काय में क्या बड़े मेघ संस्विन्न होते हैं? संमूच्छित होते हैं? (मेघ का आकार लेते हैं) बरसते हैं?
हां, ऐसा होता है।
७९. तं भंते ! किं देवो पकरेति? असुरो पकरेति? नागो पकरेति?
गोयमा ! देवो वि पकरेति, असुरो वि पकरेति, नागो वि पकरेति।
- तद् भदन्त ! किं देवः प्रकरोति? असुरः प्रकरोति? नागः प्रकरोति?
गौतम ! देवोऽपि प्रकरोति, असुरोऽपि प्रकरोति, नागोऽपि प्रकरोति।
७९. भन्ते ! क्या वह संस्वेदन सम्मूर्च्छन, वर्षण कोई देव करता है? असुर करता है? नाग करता है?
गौतम ! देव भी करता है, असुर भी करता है, नाग भी करता है।
८०. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे थणिय-सदे? बादरे विञ्जुयारे?
हंता अत्थि।
- अस्ति भदन्त ! तमस्काये बादरः स्तनि-तशब्दः? बादरः विद्युत्कारः?
हन्त अस्ति।
८०. भन्ते ! तमस्काय में क्या बादर (स्थूल) गर्जन का शब्द है? बादर विद्युत् है।
हां, है।
८१. तं भंते ! किं देवो पकरेति? असुरो पकरेति? नागो पकरेति?
तिण्णि वि पकरेति।
- तद् भदन्त ! किं देवः प्रकरोति? असुरः प्रकरोति? नागः प्रकरोति?
त्रयोऽपि प्रकुर्वन्ति।
८१. भन्ते ! क्या वह (गर्जन का शब्द और विद्युत्) कोई देव करता है? असुर करता है? नाग करता है?
तीनों ही करते हैं।
८२. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए बादरे पुढवि-काए? बादरे अगणिकाए?
णो तिण्ण्डे समट्ठे, नण्णत्थ विग्गहगति-समावन्नएणं ॥
- अस्ति भदन्त ! तमस्काये बादरः पृथिवी-कायः? बादरः अग्निकायः?
नायमर्थः समर्थः नान्यत्र विग्रहगतिसमा-पन्नकात्।
८२. भन्ते ! तमस्काय में क्या बादर पृथ्वीकाय हैं? बादर अग्निकाय हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है, विग्रहगति (अन्तरालगति) करते हुए जीवों को छोड़ कर।
८३. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवा?
णो तिण्ण्डे समट्ठे, पलियस्सओ पुण अत्थि।
- अस्ति भदन्त ! तमस्काये चन्द्र-सूर्य-ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूपा?
नायमर्थः समर्थः, परिपार्श्वतः पुनः अस्ति।
८३. भन्ते ! तमस्काय में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है। उसके परिपार्श्व में चन्द्रमा आदि पांचों हैं।
८४. अत्थि णं भंते ! तमुक्काए चंदाभा ति वा? सूरभा ति वा?
णो तिण्ण्डे समट्ठे, कादूसणिया पुण सा।
- अस्ति भदन्त ! तमस्काये चन्द्राभा इति वा? सूरभा इति वा?
नायमर्थः समर्थः, कदूषणिका पुनः सा।
८४. भन्ते ! तमस्काय में क्या चन्द्रमा की आभा है? सूर्य की आभा है?
यह अर्थ संगत नहीं है। पार्श्ववर्ती चन्द्र, सूर्य की प्रभा तमस्काय में आ कर धुंधली बन जाती है।
८५. तमुक्काए णं भंते ! केरिसए वण्णएणं पण्णत्ते?
गोयमा ! काले कालोभासे गंभीरे लोम-हरीसजणणे भीमे उतासणए परमक्किण्हे वण्णेणं पण्णत्ते । देवे वि णं अत्थेगतिए जे णं
- तमस्कायः भदन्त ! कीदृशकः वर्णकेण प्रज्ञप्तः?
गौतम ! कालः कालाभासः गम्भीरः लोम-हर्षजननः भीमः उत्तासनकः परमकृष्णः वर्णेन प्रज्ञप्तः। देवोऽपि अस्त्येककः यः
८५. भन्ते ! तमस्काय वर्ण से कैसा प्रज्ञप्त है?
गौतम ! वह वर्ण से काला, कृष्ण अवभासवाला, गम्भीर, रोमाञ्च उत्पन्न करने वाला, भयंकर, उत्-त्रासक और परम कृष्ण प्रज्ञप्त है। कोई एक देव भी

तप्पढमयाए पासिता णं खुभाएज्जा, अहेणं अभिसमागच्छेज्जा तओ पच्छा सीहं-सीहं तुरियं-तुरियं खिप्पामेव वीतीवएज्जा।

तत्प्रथमतया दृष्ट्वा क्षुभ्येत्, अधः अभि-समागच्छेत् ततः पश्चात् शीघ्रं-शीघ्रं त्वरितं-त्वरितं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजेत् ॥

उसे देखकर प्रथम दर्शन में क्षुब्ध हो जाता है; यदि वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है तो उसके पश्चात् अतिशीघ्रता और अतित्वरा के साथ झटपट उसके बाहर चला जाता है।

८६. तमुक्कायस्स णं भंते ! कति नामधेज्जा पण्णत्ता?

गोयमा ! तेरस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—तमे इ वा, तमुक्काए इ वा, अंधकारे इ वा, महंधकारे इ वा, लोगंधकारे इ वा, लोगतमिसे इ वा, देवंधकारे इ वा, देवतमिसे इ वा, देवरण्णे इ वा, देववूहे इ वा, देव-फलहे इ वा, देवपडिक्खोभे इ वा, अरुणोदए इ वा समुदे ॥

तमस्काय भदन्त ! कति नामधेयानि प्रज्ञ-प्तानि?

गौतम ! त्रयोदश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—तमः इति वा, तमस्कायः इति वा, अन्धकारः इति वा, महान्धकारः इति वा, लोकान्धकारः इति वा, लोकतमिस्रम् इति वा, देवान्धकारः इति वा, देवतमिस्रम् इति वा, देवारण्यम् इति वा, देवव्यूहः इति वा, देवपरिघः इति वा, देवप्रतिकोभः इति वा, अरुणोदयः इति वा समुद्रः।

८६. भन्ते ! तमस्काय के कितने नाम हैं?

गौतम ! तमस्काय के तेरह नाम प्रज्ञप्त हैं, जैसे—तम, तमस्काय, अन्धकार, महान्धकार, लोका-न्धकार, लोकतमिस्र, देवान्धकार, देवतमिस्र, देवा-रण्य, देवव्यूह, देवपरिघ, देवप्रतिकोभ, अरुणोदक समुद्र।

८७. तमुक्काए णं भंते ! किं पुढविपरिणामे? आउपरिणामे? जीवपरिणामे? पोग्गल-परिणामे?

गोयमा ! नो पुढविपरिणामे, आउपरिणामे वि, जीवपरिणामे वि, पोग्गलपरिणामे वि ॥

तमस्कायः भदन्त ! किं पृथिवीपरिणामः? अप्परिणामः? जीवपरिणामः? पुद्गल-परिणामः?

गौतम ! नो पृथिवीपरिणामः अप्परि-णामःअपि, जीवपरिणामः अपि, पुद्गल-परिणामःअपि।

८७. भन्ते ! तमस्काय क्या पृथ्वी का परिणामन है? जल का परिणामन है? जीव का परिणामन है? पुद्गल का परिणामन है?

गौतम ! तमस्काय पृथ्वी का परिणामन नहीं है, जल का परिणामन भी है, जीव का परिणामन भी है, पुद्गल का परिणामन भी है।

८८. तमुक्काए णं भंते ! सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता पुढवीकाइयत्ताए जाव तस-काइयत्ताए उववन्नपुव्वा?

हंता गोयमा ! असत्तिं अदुवा अणंतक्खुत्तो, नो चैव णं बादरपुढविकाइयत्ताए, बादर-अगणिकाइयत्ताए वा ।

तमस्काये भदन्त ! सर्वे प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः पृथिवीकायिकतया यावत् त्रस-कायिकतया उपपन्नपूर्वाः?

हन्त गौतम ! असकृद् अथवा अनन्तकृत्वः, नो चैव बादरपृथिवीकायिकतया, बादरामि-कायिकतया वा ।

८८. भन्ते ! क्या तमस्काय में सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पृथ्वीकाय रूप में यावत् त्रसकाय रूप में उपपन्न पूर्व हैं?

हां, गौतम ! अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, पर बादर पृथ्वीकायिक और बादर अग्नि-कायिक के रूप में उपपन्न नहीं हुए।

कणहराइ-पदं

८९. कइ णं भंते ! कणहरातीओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! अट्ट कणहरातीओ पण्णत्ताओ ॥

९०. कहि णं भंते ! एयाओ अट्ट कणहरातीओ पण्णत्ताओ?

गोयमा ! उप्पिं सणकुमार-माहिंदाणं कप्पाणं, हव्विं बंभलोए कप्पे रिट्ठे विमाणपत्थडे, एत्थ णं अक्खाडग-समचउरंस-संठाण-संठियाओ अट्ट कण-रातीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमे णं

कृष्णराजि-पदम्

कति भदन्त ! कृष्णराजयः प्रज्ञप्ताः? गौतम ! अष्ट कृष्णराजयः प्रज्ञप्ताः।

कुत्र भदन्त ! एताः अष्ट कृष्णराजयः प्रज्ञ-प्ताः?

गौतम ! उपरि सनत्कुमार-माहेन्द्रयोः कल्प-योः 'हव्विं' ब्रह्मलोके कल्पे रिष्टे विमान-प्रस्तटे, अत्र अक्षपाटक-समचतुरस्र-संस्थान-संस्थिताः अष्ट कृष्णराजयः प्र-ज्ञप्ताः, तद् यथा—पौरस्त्ये द्वे, पश्चिमे द्वे,

कृष्णराजि-पद

८९. भन्ते ! कृष्णराजियां कितनी प्रज्ञप्त हैं? गौतम ! आठ कृष्णराजियां प्रज्ञप्त हैं।

९०. भन्ते ! ये आठ कृष्णराजियां कहां प्रज्ञप्त हैं?

गौतम ! सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प से ऊपर ब्रह्मलोक कल्प में रिष्ट विमान प्रस्तर के समानान्तर आखाटक के आकार वाली समचतुरस्र संस्थान से संस्थित आठ कृष्णराजियां प्रज्ञप्त हैं, जैसे—दो पूर्व में, दो पश्चिम में, दो दक्षिण में और दो उत्तर में। पूर्व

दो, पच्चत्थिमे णं दो, दाहिणे णं दो, उत्तरे णं दो। पुरत्थिमब्भंतरा कण्हराती दाहिण-बाहिरं कण्हरातिं पुट्ठा, दाहिणब्भंतरा कण्हराती पच्चत्थिम-बाहिरं कण्हरातिं पुट्ठा, पच्चत्थिमब्भंतरा कण्हराती उत्तर-बाहिरं कण्हरातिं पुट्ठा, उत्तरब्भंतरा कण्हराती पुरत्थिम-बाहिरं कण्हरातिं पुट्ठा। दो पुरत्थिम-पच्चत्थिमाओ बाहिराओ कण्हरातीओ छलंसाओ, दो उत्तरदाहिणाओ बाहिराओ कण्हरातीओ तंसाओ, दो पुरत्थिम-पच्चत्थिमाओ अब्भंतराओ कण्हरातीओ चउरंसाओ, दो उत्तर-दाहिणाओ अब्भंतराओ कण्हरातीओ चउरंसाओ।

दक्षिणे द्वे, उत्तरे द्वे। पौरस्त्याभ्यन्तरा कृष्णराजिः दक्षिण-बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्ट्वा, दक्षिणाभ्यन्तरा कृष्णराजिः पश्चिम-बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्ट्वा, पश्चिमाभ्यन्तरा कृष्णराजिः उत्तर-बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्ट्वा, उत्तराभ्यन्तरा कृष्णराजिः पौरस्त्य-बाह्यां कृष्णराजिं स्पृष्ट्वा।
द्वे पौरस्त्यपश्चिमे बाह्ये कृष्णराजी षडस्ये, द्वे उत्तर-दक्षिणे बाह्ये कृष्णराजी त्र्यस्ये, द्वे पौरस्त्य-पश्चिमे आभ्यन्तरे कृष्णराजी चतुरस्ये, द्वे उत्तर-दक्षिणे आभ्यन्तरे कृष्णराजी चतुरस्ये।

दिशा की भीतरी कृष्णराजि दक्षिण दिशा की बाहरी कृष्णराजि का स्पर्श करती है। दक्षिण दिशा की भीतरी कृष्णराजि पश्चिम दिशा की बाहर कृष्णराजि का स्पर्श करती है। पश्चिम दिशा की भीतरी कृष्णराजि उत्तर दिशा की बाहरी कृष्णराजि का स्पर्श करती है। उत्तर दिशा की भीतरी कृष्णराजि पूर्व दिशा की बाहरी कृष्णराजि का स्पर्श करती है।
दो पूर्व और पश्चिम की बाहरी कृष्णराजियां षट्-कोण हैं, दो उत्तर और दक्षिण की बाहरी कृष्णराजियां त्रिकोण हैं, दो पूर्व और पश्चिम की भीतरी कृष्णराजियां चतुष्कोण हैं, दो उत्तर और दक्षिण के भीतरी कृष्णराजियां चतुष्कोण हैं।

संग्रहणी गाथा

पुब्बावरा छलंसा,
तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा।
अब्भंतरा चउरंसा,
सव्वा वि थ कण्हरातीओ ॥१॥

संग्रहणी गाथा

पूर्वापरे षडस्ये,
त्र्यस्ये पुनः दक्षिणोत्तरे बाह्ये।
अभ्यन्तराः चतुरस्राः,
सर्वा अपि च कृष्णराजयः ॥१॥

संग्रहणी गाथा

पूर्व और पश्चिम की बाहरी कृष्णराजियां षट्कोण हैं, दक्षिण और उत्तर की बाहरी कृष्णराजियां त्रिकोण हैं और सभी भीतरी कृष्णराजियां चतुष्कोण हैं।

११. कण्हरातीओ णं भंते ! केवतियं आया-
मेणं ? केवतियं विक्खंभेणं ? केवतियं परि-
क्खेवेणं पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं
आयामेणं, संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं
विक्खंभेणं, असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं
परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ॥

कृष्णराजयः भदन्त ! कियत्यः आयामेन ?
कियत्यः विष्कम्भेण ? कियत्यः परिक्षेपेण
प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! असंख्येयानि योजनसहस्राणि
आयामेन, संख्येयानि योजनसहस्राणि
विष्कम्भेण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि
परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः ।

११. भन्ते ! कृष्णराजियों का आयाम (लम्बाई) कितना,
विष्कम्भ (चौड़ाई) कितना और परिक्षेप (परिधि)
कितना प्रज्ञप्त है ?
गौतम ! उनका आयाम असंख्येय हजार योजन,
विष्कम्भ संख्येय हजार योजन और परिक्षेप असंख्येय
हजार योजन प्रज्ञप्त हैं ।

१२. कण्हरातीओ णं भंते ! केमहालियाओ
पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! अयं णं जंबूदीवे दीवे जाव देवे णं
महिदीए जाव महाणुभावे इणामेव-इणामेव
त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबूदीवं दीवं तिहिं
अच्छरानिवाएहिं तिसत्तवखुत्तो अणुपरि-
यट्ठिता णं हव्वमागच्छिज्जा, से णं देवे ताए
उक्किट्ठाए तुरियाए जाव दिव्वाए देवगईए
वीईवयमाणे-वीईवयमाणे जाव एकाहं वा,
दुयाहं वा, तियाहं वा, उक्कोसेणं अद्धमासं
वीईवएज्जा, अत्थेगइयं कण्हरातिं वीई-
वएज्जा, अत्थेगइयं कण्हरातिं णो वीईव-

कृष्णराजयः भदन्त ! कियन्महत्यः प्रज्ञ-
प्ताः ?
गौतम ! अयं जम्बूद्वीपः द्वीपः यावद् देवः
महर्द्धिकः यावन् महानुभावः इदमेव-इदमेव
इति कृत्वा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं त्रिभिः
'अच्छरा' निपातैः त्रिसप्तकृत्वः अनुपर्यट्य
'हव्वं' आगच्छेत्, स देवः तथा उत्कृष्टया
त्वरितया यावद् दिव्यया देवगत्या व्यतिव्र-
जन्-व्यतिव्रजन् यावद् एकाहं वा, द्वयहं वा,
त्रयहं वा, उत्कर्षेण अद्धमासं व्यतिव्रजेत्
अस्त्येककां कृष्णराजिं व्यतिव्रजेत्, अस्त्ये-
ककां कृष्णराजिं नो व्यतिव्रजेत् इयन्महत्यः

१२. भन्ते ! कृष्णराजियां कितनी बड़ी प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! यह जम्बूद्वीप द्वीप यावत् कोई महान् ऋद्धि-
वाला यावत् महान् अनुभाव वाला देव 'यह रहा, यह
रहा'—इस प्रकार कह कर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप में
तीन बार चुटकी बजाने जितने समय में इक्कीस बार
धूम कर शीघ्र ही आ जाता है। वह देव उस उत्कृष्ट,
त्वरित यावत् दिव्य देवगति से परिव्रजन करता हुआ
-परिव्रजन करता हुआ यावत् एक दिन, दो दिन, तीन
दिन अथवा उत्कर्षतः पन्द्रह दिन परिव्रजन करे तो
किसी कृष्णराजि का अतिक्रमण कर जाता है और
किसी कृष्णराजि का अतिक्रमण नहीं कर पाता।

- एज्जा! एमहालियाओ णं गोयमा! कण्हरा-
तीओ पण्णत्ताओ ॥
- गौतम ! कृष्णराजः प्रज्ञप्ताः।
- गौतम ! कृष्णराजियां इतनी बड़ी प्रज्ञप्त हैं।
१३. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु गेहा इ वा?
गेहावणा इ वा?
णो इण्ठे समट्ठे ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु गेहानि इति
वा? गेहावणाः इति वा?
नायमर्थः समर्थः।
१३. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या घर हैं? गृह-आपण
(दुकानें) हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।
१४. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु गामा इ वा?
जाव सण्णिवेसा इ वा?
णो इण्ठे समट्ठे ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु ग्रामाः इति वा?
यावत् सान्निवेशाः इति वा?
नायमर्थः समर्थः।
१४. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या गांव हैं यावत् सन्निवेश
हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।
१५. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु ओराला
बलाहया संसेयंति? सम्मुच्छंति? वासं
वासंति?
हंता अत्थि ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु 'ओराला'
बलाहकाः संस्विद्यन्ति? सम्मूर्च्छन्ति? वर्षाः
वर्षन्ति?
हन्त अस्ति।
१५. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या बड़े मेघ संस्विन्न होते
हैं? सम्मूर्च्छित होते हैं ? (मेघ का आकार लेते हैं)
बरसते हैं?
हां, ऐसा होता है।
१६. तं भंते ! किं देवो पकरोति? असुरो
पकरोति? नागो पकरोति?
गोयमा ! देवो पकरोति, नो असुरो, नो नागो
पकरोति ॥
- तद् भदन्त ! किं देवः प्रकरोति? असुरः
प्रकरोति? नागः प्रकरोति?
गौतम ! देवः प्रकरोति, नो असुरः, नो नागः
प्रकरोति।
१६. भन्ते ! क्या वह (संस्वेदन, सम्मूर्च्छन, वर्षण) कोई
देव करता है? असुर करता है? नाग करता है?
गौतम ! देव करता है, असुर नहीं करता है, नाग नहीं
करता है?
१७. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु बादरे
थणियसद्दे? बादरे विज्जुयारे?
हंता अत्थि ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु बादरः स्तनित-
शब्दः? बादरः विद्युत्कारः?
हन्त अस्ति।
१७. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या बादर (स्थूल) गर्जना
का शब्द है? बादर विद्युत् है?
हां, है।
१८. तं भंते ! किं देवो पकरोति? असुरो
पकरोति? नागो पकरोति?
गोयमा ! देवो पकरोति, नो असुरो, नो नागो
पकरोति ॥
- तद् भदन्त ! किं देवः प्रकरोति? असुरः
प्रकरोति? नागः प्रकरोति?
गौतम ! देवः प्रकरोति, नो असुरः, नो नागः
प्रकरोति।
१८. भन्ते ! क्या वह (गर्जन का शब्द और विद्युत्)
कोई देव करता है? असुर करता है, नाग करता है?
गौतम ! देव करता है। असुर नहीं करता, नाग नहीं
करता।
१९. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु बादरे
आउकाए? बादरे अग्गिकाए? बादरे वण-
प्फइकाए?
णो तिण्ठे समट्ठे, नण्णत्थ विग्गहगति-
समावन्नएणं ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु बादरः अप्-
कायः? बादरः अग्निकायः? बादरः वन-
स्पतिकायः?
नायमर्थः समर्थः, नान्यत्र विग्रहगतिसमा-
पन्नकात्।
१९. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या बादर अप्काय हैं?
बादर अग्निकाय है? बादर वनस्पतिकाय है?
यह अर्थ संगत नहीं है। विग्रहगति (अन्तरालगति)
करते हुए जीवों को छोड़कर।
१००. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु चंदिम-
-सूरिय-ग्रहगण-नक्खत्त-तारारूवा?
णो तिण्ठे समट्ठे ॥
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु चन्द्र-सूर्य-ग्रह-
गण-नक्षत्र-तारारूपाः?
नायमर्थः समर्थः।
१००. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या चन्द्रमा, सूर्य,
ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।
१०१. अत्थि णं भंते ! कण्हरातीसु चंदाभा
- अस्ति भदन्त ! कृष्णराजिषु चन्द्राभा इति
१०१. भन्ते ! कृष्णराजियों में क्या चन्द्रमा की आभा

ति वा? सूरभा ति वा?
णो तिण्डे समट्टे ॥

वा? सूरभा इति वा?
नायमर्थः समर्थः।

हे? सूर्य की आभा है?
यह अर्थ संगत नहीं है।

१०२. कणहरातीओ णं भंते ! केरिसियाओ वण्णेणं पण्णत्ताओ?
गोयमा ! कालाओ कालोभासाओ गंभीराओ लोमहरिसज्जणाओ भीमाओ उत्तासणाओ परमकिण्हाओ वण्णेणं पण्णत्ताओ। देवे वि णं अत्थेगतिए जे णं तप्पढमयाए पासित्ता णं खुभाएज्जा, अहेणं अभिसमागच्छेज्जा तओ पच्छा सीहं-सीहं तुरियं-तुरियं खिप्पाभेव वीतीवएज्जा ॥

कृष्णराजयः भदन्त ! कीदृश्यः वर्णेन प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! कालाः कालावभासाः गम्भीराः लोमहर्षजनन्यः भीमाः उत्त्रासनाः परम-कृष्णाः वर्णेन प्रज्ञप्ताः। देवोऽपि अस्त्येककः यः तत्प्रथमतया दृष्ट्वा क्षुभ्येदअधः अभि-समागच्छेत् ततः पश्चात् शीघ्रं-शीघ्रं त्व-रितं-त्वरितं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजेत्।

१०२. भन्ते ! कृष्णराजियां वर्णं से कैसी प्रज्ञप्त हैं?

गौतम ! वे वर्ण से काली, कृष्ण अवभासवाली, गम्भीर रोमाञ्च उत्पन्न करने वाली, भयंकर, उत्त्रासक और परमकृष्ण प्रज्ञप्त है। कोई एक देव भी उनके प्रथम दर्शन में क्षुब्ध हो जाता है। यदि वह उनमें प्रविष्ट हो जाता है तो उसके पश्चात् अतिशीघ्रता और अतिव्रता के साथ झटपट उसके बाहर चला जाता है।

१०३. कणहराती णं भंते ! कति नामधेज्जा पण्णत्ता?

गोयमा ! अद्द नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा —कणहराती इ वा, मेहराती इ वा, मघा इ वा, माघवई इ वा, वायफलहा इ वा, वायपल्लिखोभा इ वा, देवपल्लिखोभा इ वा, देवपल्लिखोभा इ वा ॥

कृष्णराजिनां भदन्त ! कति नामधेयानि प्रज्ञप्तानि?

गौतम ! अहनामधेयानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा —कृष्णराजिः इति वा, मेघराजिः इति वा, मघा इति वा, माघवती इति वा, वातपरिया इतिया, वातप्रतिकोभा इति वा, देवपरिया इति वा देवप्रतिकोभा इति वा।

१०३. भन्ते ! कृष्णराजि के कितने नाम हैं?

गौतम ! कृष्णराजि के आठ नाम प्रज्ञप्त हैं—कृष्ण-राजि, मेघराजि, मघा, माघवती, वातपरिया, वात-प्रतिकोभ, देवपरिया, देवप्रतिकोभ।

१०४. कणहरातीओ णं भंते ! किं पुढवी-परिणामाओ? आउपरिणामाओ? जीव-परिणामाओ? पोग्गलपरिणामाओ?
गोयमा ! पुढविपरिणामाओ, नो आउपरि-णामाओ, जीवपरिणामाओ वि, पोग्गलपरि-णामाओ वि ॥

कृष्णराजयः भदन्त ! किं पृथ्वीपरिणामाः? अप्परिणामाः? जीवपरिणामाः? पुद्गल-परिणामाः?
गौतम ! पृथ्वीपरिणामाः, नो अप्परि-णामाः, जीवपरिणामाः अपि, पुद्गलपरि-णामाः अपि।

१०४. भन्ते ! कृष्णराजियां क्या पृथ्वी के परिणमन हैं? जल के परिणमन हैं? जीव के परिणमन हैं? पुद्गल के परिणमन हैं?

गौतम ! कृष्णराजियां पृथ्वी के परिणमन हैं, जल के परिणमन नहीं है, जीव के परिणमन भी हैं और पुद्गल के परिणमन भी हैं।

१०५. कणहरातीसु णं भंते ! सब्बे षाणा भूया जीवा सत्ता पुढवीकाइयत्ताए जाव तस-काइयत्ताए उववण्णपुव्वा?
हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतक्खुत्तो; नो चेव णं बादरआउकाइयत्ताए, बादरअग-णिकाइयत्ताए, बादरवण्णफइकाइयत्ताए वा ॥

कृष्णराजिषु भदन्त ! सर्वे प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः पृथ्वीकायिकतया यावत् त्रसकायिकतया उपपन्नपूर्वाः?
हन्त गौतम ! असकृद् अथवा अनन्तकृत्वः, नो चेव बादरपृथ्वीकायिकतया, बादरअग्नि-कायिकतया, बादरवनस्पतिकायिकतया वा।

१०५. भन्ते ! क्या कृष्णराजियों में सब प्राण, भूत जीव और सत्त्व पृथ्वीकाय-रूप में यावत् त्रसकाय रूप में उपपन्नपूर्व हैं?

नो गौतम ! अनेक बार अथवा अनन्त बार उपपन्न हुए हैं। पर बादर अपृथ्वीकायिक, बादर अग्निकायिक और बादर वनस्पतिकायिक रूप में उपपन्न नहीं हुए।

लोगंतियदेव-पदं

१०६. एएसि णं अद्दण्हं कणहराईणं अद्दसु ओवासंतरेसु अद्द लोगंतियविमाणा पण्णत्ता, तं जहा—१. अच्ची २. अच्चिमाली ३. वड्ढोयणे ४. पभंकरे ५. चंदाभे ६. सूरभे ७. सुक्काभे ८. सुपइद्दाभे, मज्जे रिद्दाभे।

लोकान्तिक देव-पदम्

एतासाम् अष्टानां कृष्णराजिनाम् अष्टसु अवकाशान्तरेषु अष्ट लोकान्तिकविमानानि प्रज्ञप्तानि, तद् यथा—१. अर्चिः २. अर्चि-मालिः ३. वैरोचनः ४. प्रभङ्गरः ५. चन्द्राभः ६. सूरभः ७. शुक्लाभः ८. सुप्रतिष्ठाभः, मध्ये रिष्ठाभः।

लोकान्तिक देव-पद

१०६. इन आठ कृष्णराजियों के आठ अवकाशान्तरों में आठ लोकान्तिक विमान प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
१. अर्चि २. अर्चिमाली ३. वैरोचन ४. प्रभंकर ५. चन्द्राभ ६. सूरभ ७. शुक्लाभ ८. सुप्रतिष्ठाभ और मध्य में रिष्ठाभ।

१०७. कहि णं भंते ! अच्चि-विमाणे पण्णत्ते?
गोयमा ! उत्तर-पुरत्थिमे णं ॥

कुत्र भदन्त ! अर्चिं-विमानं प्रज्ञप्तम्?
गौतम ! उत्तर-पौरस्त्ये।

१०७. भन्ते ! अर्चिं-विमान कहां प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! उत्तरपूर्व (ईशान कोण) में।

१०८. कहि णं भंते ! अच्चिमाली विमाणे
पण्णत्ते?
गोयमा ! पुरत्थिमे णं। एवं परिवाडीए नेयव्वं
जाव—

कुत्र भदन्त ! अर्चिमालि विमानं प्रज्ञप्तम्?
गौतम ! पौरस्त्ये। एवं परिपाट्या ज्ञातव्यम्
यावत्—

१०८. भन्ते ! अर्चिमाली विमान कहां प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! पूर्व दिशा में हैं। इस प्रकार परिपाटी से
ज्ञातव्य है। यावत्—

१०९. कहि णं भंते ! रिद्धे विमाणे पण्णत्ते?
गोयमा ! बहुमज्झदेसभाए।

कुत्र भदन्त ! रिष्टं विमानं प्रज्ञप्तम्?
गौतम ! बहुमध्यदेशभागे।

१०९. रिष्ट विमान कहां प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! कृष्णराजियों के प्रायः मध्यदेश भाग में।

११०. एएसु णं अड्डसु लोगतियविमाणेसु
अड्डविहा लोगतिया देवा परिवसन्ति, तं
जहा—

एतेषु च अष्टसु लोकान्तिकविमानेषु अष्ट-
विधाः लोकान्तिकाः देवाः परिवसन्ति, तद्
यथा—

११०. इन आठों लोकान्तिक विमानों में आठ प्रकार
के लोकान्तिक देव निवास करते हैं, जैसे—

संगहणी गाथा

सारस्सयमाइच्चा,
वण्ही वरुणा य गदतोया या
तुसिया अब्वावाहा,
अग्गिच्चा चैव रिद्धा य ॥१॥

संगहणी गाथा

सारस्वतादित्याः,
वह्न्यो वरुणाः च गर्दतोयाः च।
तुषिताः अब्याबाधाः,
आग्नेयाः चैव रिष्टाः च ॥१॥

संग्रहणी गाथा

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित,
अब्याबाध और आग्नेया रिष्टविमान में रिष्ट नामक
देव।

१११. कहि णं भंते ! सारस्सया देवा परि-
वसन्ति?
गोयमा ! अच्चिमि विमाणे परिवसन्ति।

कुत्र भदन्त ! सारस्वताः देवाः परिवसन्ति?
गौतम ! अर्चिषि विमाणे परिवसन्ति।

१११. भन्ते ! सारस्वत देव कहां निवास करते हैं?
गौतम ! अर्चिं विमान में निवास करते हैं।

११२. कहि णं भंते ! आइच्चा देवा परिवसन्ति?
गोयमा ! अच्चिमालिमि विमाणे। एवं
नेयव्वं जहाणुपुव्वीए जाव—

कुत्र भदन्त ! आदित्याः देवाः परिवसन्ति?
गौतम ! अर्चिमाली विमाने। एवं ज्ञातव्यं
यथानुपूर्व्या यावत्—

११२. भन्ते ! आदित्य देव कहां निवास करते हैं?
गौतम ! अर्चिमाली विमान में निवास करते हैं। इस
प्रकार क्रमशः ज्ञातव्य है यावत्—

११३. कहि णं भंते ! रिद्धा देवा परिवसन्ति?
गोयमा ! रिद्धिमि विमाणे।

कुत्र भदन्त ! रिष्टाः देवाः परिवसन्ति?
गौतम ! रिष्टे विमाने।

११३. भन्ते ! रिष्ट देव कहां निवास करते हैं?
गौतम ! रिष्ट विमान में।

११४. सारस्सयमाइच्चाणं भंते ! देवाणं कति
देवा, कति देवसया पण्णत्ता?
गोयमा ! सत्त देवा, सत्त देवसया परिवारो
पण्णत्तो।
वण्ही-वरुणाणं देवाणं चउद्दस देवा, चउद्दस
देवसहस्सा परिवारो पण्णत्तो।
गदतोय-तुसियाणं देवाणं सत्त देवा, सत्त
देवसहस्सा परिवारो पण्णत्तो।
अवसेसाणं नव देवा, नव देवसया परिवारो
पण्णत्तो।

सारस्वतादित्यानां भदन्त ! देवानां कति
देवाः, कति देवशतानि प्रज्ञप्तानि?
गौतम ! सप्त देवाः, सप्त देवशतानि परिवारः
प्रज्ञप्तः।
वह्नि-वरुणानां देवानां चतुर्दश देवाः, चतुर्दश
देवसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः।
गर्दतोय-तुषितानां देवानां सप्त देवाः, सप्त
देवसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः।
अवशेषाणां नव देवाः, नव देवशतानि परि-
वारः प्रज्ञप्तः।

११४. भन्ते ! सारस्वत और आदित्य देवों के कितने
देव हैं? और कितने सौ देवों का परिवार है?
गौतम ! सात देव और सात सौ देवों का परिवार
प्रज्ञप्त है।
वह्नि और वरुण देवों के चौदह देव और चौदह हजार
देवों का परिवार प्रज्ञप्त है।
गर्दतोय और तुषित देवों के सात देव और सात हजार
देवों का परिवार प्रज्ञप्त है।
अवशेष देवों के नौ देव और नौ सौ देवों का परिवार
प्रज्ञप्त है।

संगहणी गाहा

पढम-जुगलमि सत्तओ,
सयाणि बीयमि चउद्दससहस्सा।
तइए सत्तसहस्सा,
नव चैव सयाणि सेसेसु ॥१॥

संग्रहणी गाथा

प्रथम-युगले सप्त,
शतानि द्वितीये चतुर्दशसहस्राणि।
तृतीये सप्तसहस्राणि,
नव चैव शतानि शेषेषु ॥१॥

संग्रहणी गाथा

प्रथम युगल में सात सौ, दूसरे युगल में चौदह हजार,
तीसरे युगल में सात हजार और शेष में नौ सौ देवों
का परिवार है ।

११५. लोगंतियविमाणे णं भंते ! किंपइड्डिया
पण्णत्ता?

गोयमा ! वाउपइड्डिया पण्णत्ता एवं नेयव्वं
विमाणेण पइड्डाणं, बाहुल्लुच्चत्तमेव सं-
ठाणं, बंभलोयवत्तव्वया नेयव्वा जाव—

लोकान्तिकविमानानि भदन्त ! किंप्रतिष्ठि-
तानि प्रज्ञप्तानि?

गौतम ! वायुप्रतिष्ठानि प्रज्ञप्तानि । एवं
ज्ञातव्यं विमानां प्रतिष्ठानं, बाहुल्योच्च-
त्वमेव संस्थानं, ब्रह्मलोकवक्तव्यता ज्ञात-
व्या यावत्—

११५. भन्ते ! लोकान्तिक-विमान किस पर प्रतिष्ठित
हैं?

गौतम ! वे वायु पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सभी
विमानों का प्रतिष्ठान वायु पर ज्ञातव्य है। इन विमानों
की मोटाई, ऊँचाई और संस्थान ब्रह्मलोक के विमानों
की वक्तव्यता के अनुसार ज्ञातव्य है, यावत्—

११६. लोगंतियविमाणेषु ण भंते ! सव्वे
पाणा भूया जीवा सत्ता पुढविकाइयत्ताए,
आउकाइयत्ताए, तेउकाइयत्ताए, वाउकाइय-
त्ताए, वणप्फइकाइयत्ताए, देवत्ताए, देवि-
त्ताए उववण्णपुव्वा?

हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतक्खुत्तो,
नो चे णं देवित्ताए ॥

लोकान्तिकविमानेषु भदन्त ! सर्वे प्राणाः
भूताः जीवाः सत्त्वाः पृथिवीकायिकतया
अपकायिकतया तेजस्कायिकतया, वायु-
कायिकतया, वनस्पतिकायिकतया, देव-
तया, देवीतया उपपन्नपूर्वाः ?

हन्त गौतम ! असकृद् अथवा अनन्तकृत्वः,
नो चैव देवीतया ।

११६. भन्ते ! लोकान्तिक विमानों में सब प्राण, भूत,
जीव और सत्त्व पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजस्-
कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, देव और
देवी के रूप में उपपन्नपूर्व हैं ?

हाँ, गौतम ! अनेक बार अथवा अनन्त बार । पर वे
देवी के रूप में उपपन्न नहीं होते ।

११७. लोगंतियदेवाणं भंते ! केवइयं कालं
ठिती पण्णत्ता?

गोयमा ! अद्द सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

लोकान्तिकदेवानां भदन्त ! कियन्तं कालं
स्थितिः प्रज्ञप्ता ?

गौतम ! अद्द सागरोपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता।

११७. भन्ते ! लोकान्तिक देवों की स्थिति कितने काल
की प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! उनकी स्थिति आठ सागरोपम की प्रज्ञप्त है।

११८. लोगंतियविमाणेहिंतो णं भंते ! केवतियं
अबाहाए लोगंते पण्णत्ते ?

गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं अ-
बाहाए लोगंते पण्णत्ते।

लोकान्तिकविमानेभ्यः भदन्त ! कियन्त्या
अबाधया लोकान्तः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! असंख्येयानि योजनसहस्राणि अ-
बाधया लोकान्तः प्रज्ञप्तः।

११८. भन्ते ! लोकान्तिक विमानों से लोकान्त कितने
अन्तर (दूरी) पर प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! लोकान्त लोकान्तिक विमानों से असंख्येय
हजार योजन के अन्तर पर प्रज्ञप्त है ।

भाष्य

१. सूत्र ७०-११८

तमस्काय और कृष्णराजि की तुलना

तमस्काय और कृष्णराजि में कुछ समानता भी है और कुछ विषमता
भी है।

समानताएं

१. दोनों में वर्ण काला, कृष्ण अवभास वाला, गम्भीर, रोमाञ्च
उत्पन्न करने वाला, भयंकर, उत्त्रासक और परम कृष्ण है। (सू. ८५, १०२)
इसका तात्पर्य हुआ कि ये दोनों ऐसे पुद्गल-स्कन्धों से निर्मित

हैं, जिनमें से प्रकाश की एक भी किरण बाहर नहीं जा सकती। इस तथ्य की
वैज्ञानिक व्याख्या यह है कि उन पुद्गलों का घनत्व इतना अधिक है कि
उनमें से प्रकाश-अणु जैसे सूक्ष्म पुद्गल भी बाहर नहीं आ सकते। इस माने में
विज्ञान के 'कृष्ण विवर' के साथ इनकी समानता है।

२. परिमाण की समानता—विष्कम्भ की अपेक्षा से—तमस्काय
दो प्रकार का होता है—संख्यात हजार योजन वाला तथा असंख्यात हजार
योजन वाला, कृष्णराजि केवल संख्यात हजार योजन वाली होती है।

३. परिधि की अपेक्षा से—दोनों असंख्यात हजार योजन वाले

होते हैं।

४. आयाम की अपेक्षा से—कृष्णराजि असंख्य हजार योजन वाली होती है। तमस्काय का आयाम निर्दिष्ट नहीं है।

५. वहाँ गृह आदि का अभाव—तमस्काय और कृष्णराजि दोनों रिक्त स्थान हैं—वहाँ न घर हैं, न दुकानें, न सन्निवेश।

विषमताएं

१. तमस्काय और कृष्णराजि में मुख्य फर्क यह है कि तमस्काय मुख्य रूप में अप्कायिक (जल) है, जबकि कृष्णराजि मुख्यतः पृथ्वीकायिक (पृथ्वी) है।

२. तमस्काय में बादर पृथ्वीकाय और बादर अग्निकाय नहीं है, कृष्णराजि में बादर अप्काय, बादर अग्निकाय एवं बादर वनस्पतिकाय नहीं हैं।

३. तमस्काय और कृष्णराजि दोनों में चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र एवं तारा-रूप का पूर्ण अभाव है, किन्तु जहाँ तमस्काय के परिपार्श्व में चन्द्रमा आदि पांचों होते हैं तथा पार्श्ववर्ती चन्द्र, सूर्य की प्रभा तमस्काय में आकर धुंधली बन जाती है, वहाँ कृष्णराजि में चन्द्रमा, सूर्य की आभा का सर्वथा अभाव है।

४. दोनों में बड़े मेघ संस्वित्र होते हैं, समूच्छित होते हैं और बरसते हैं तथा वह (संस्वेदन, समूच्छन, वर्षण) देव, नाग और असुर भी करते हैं; पर तमस्काय में जहां स्थूल गर्जन और विद्युत देव, असुर और नाग तीनों करते हैं, वहां कृष्णराजि में केवल कोई देव करता है, असुर और नाग नहीं करते।

विज्ञान में कृष्ण विवर^१ (Black Hole)

आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रकाश के अणुओं (जिन्हें 'फोटोन' कहा जाता है) पर भी गुरुत्वाकर्षण^२ का प्रभाव होता है। अतः प्रकाश की गति भी इससे प्रभावित होती है। सामान्य स्थिति में ताराओं से प्रकाश निकलता रहता है और चारों ओर फैलता है किन्तु कुछ तारे ऐसे होते हैं जिनमें द्रव्यमान या संहति (Mass) अत्यन्त अधिक मात्रा में तथा सघन रूप में होती है। उनका प्रकाश उनके गुरुत्वाकर्षण के कारण उनसे बाहर निकल कर फैल नहीं सकता। उनकी सतह से जो भी प्रकाश बाहर फैलने की कोशिश करता है, तो उसे भी थोड़ी दूर पहुंचने पर ही तारे के भीतर का गुरुत्वाकर्षण पुनः खींच लेता है। इसकी वजह से वह तारा 'कृष्ण' वर्ण वाला दिखाई देता है। विज्ञान ने ऐसे तारे को 'कृष्ण विवर' (ब्लैक होल) की संज्ञा दी है। जब प्रकाश जैसे अति सूक्ष्म अणुओं को भी कृष्ण छिद्र अपने चंगुल से निकलने नहीं देता, तब यह स्पष्ट है कि यदि कोई भी अन्य भौतिक पदार्थ

या आकाशीय पिण्ड उसके निकट आएगा तो वह अपनी ओर उसे खींच लेगा और अपने में आत्मसात कर लेगा।

कृष्ण विवर की उत्पत्ति

वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार जब किसी तारे के भीतर का ईंधन^३ समाप्त हो जाता है, तब उस तारे का ताममान क्रमशः घटता जाता है और उसके परिमाण का संकुचन होता जाता है। संकुचन के साथ-साथ तारे का घनत्व बढ़ता जाता है। उसकी सतह का गुरुत्वाकर्षण-बल भी उसकी घनत्व की वृद्धि के अनुपात में बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते वह इतना अधिक हो जाता है कि उसकी सतह से किसी भी पदार्थ का मुक्त होना कठिन हो जाता है। अन्ततोगत्वा उसका घनत्व इतना अधिक हो जाता है कि प्रकाश के अणु जैसा सूक्ष्म पदार्थ भी फिर उससे बाहर भाग नहीं सकता। जो भी पदार्थ उसके गुरुत्व-क्षेत्र की सीमा में आ जाता है, उसे भी वह अपनी ओर लेता है।

कृष्ण विवर सही अर्थ में पूर्णरूपेण कृष्ण होने से किसी भी साधन के द्वारा दिखाई नहीं दे सकता। फिर भी उसके गुरुत्वाकर्षण-बल का अनुभव किया जा सकता है। आकाश में विद्यमान तारे आदि प्रकाशित पिण्डों से घिरा हुआ यह पिण्ड एक प्रकार का गड्ढा (विवर) है, जिसमें गिरने वाला पदार्थ वापिस बाहर नहीं निकल सकता। इस रूप में 'कृष्ण विवर' की संज्ञा बिल्कुल सार्थक है।

वैज्ञानिक धारणा के अनुसार ऐसे कृष्ण विवरों की संख्या अनेक हैं। संभवतः इनमें से एक कृष्ण विवर का अस्तित्व हमारी आकाश-गंगा (गैलेक्सी) के भीतर है, जिसे 'सिग्नसएक्स-१' की संज्ञा दी गई है।

कृष्ण विवर के साथ तुलना

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि लोक में नए कृष्ण विवर की उत्पत्ति होती रहती है, पर तमस्काय, कृष्णराजि के वर्णन से ऐसा लगता है कि ये एक रूप में शाश्वत पदार्थ हैं; इनकी नई उत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि कृष्णराजि और कृष्ण विवर में समानताएं हैं, फिर भी दोनों एक नहीं हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि जहां तमस्काय और कृष्णराजि—ये दोनों ही रोमाञ्च उत्पन्न करने वाली, भयंकर, उत्साहक और क्षुब्ध करने वाली हैं जिससे कि देव आदि आकाशगामी जीव उनसे दूर रहने की कोशिश करते हैं, वहां कृष्ण विवर के विषय में वैज्ञानिकों की भी यही धारणा है कि कोई भी आकाशीय पिण्ड या प्रकाश-पिण्ड उसके पास से गुजर नहीं सकता। यदि गुजरता है, तो उस गड्ढे में गिर जाता है, उसमें विलीन हो जाता है।

कृष्णराजि का आकार त्रिकोण, चतुष्कोण अथवा षट्कोण है,

१. यहाँ प्रदत्त कृष्ण-विवर विषयक जानकारी का आधार है—

A Brief History of Time by Stephen W. Hawking, 1988.

२. किसी भी दो भौतिक पदार्थों के बीच एक आकर्षण का बल विद्यमान रहता है, जिससे हल्का पदार्थ भारी पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है, इसे गुरुत्वाकर्षण का बल कहा जाता है।

३. तारे के भीतर रही हुई हाइड्रोजन नामक वायु लगातार आण्विक प्रक्रिया के द्वारा हिलियम नामक वायु में परिणत होती रहती है और उसके परिणाम स्वरूप प्रकाश एवं ताप उत्पन्न होते रहते हैं। जब सुदीर्घ अवधि में सारे हाइड्रोजन का हिलियम में रूपान्तरण हो जाता है तब यह प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, तब कहा जाता है कि ईंधन समाप्त हो गया।

वहां तमस्काय का आकार प्रारम्भ में एक प्रदेश-श्रेणी-रूप रेखात्मक है और ऊपर उठ कर वह मुर्गे के पिंजरे की भांति आकार वाला अर्थात् चतुरस्रात्मक हो जाता है। वृत्ति के अनुसार प्रदत्त स्थापना से यह अनुमान लगाया जा सकता है।

वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार स्थिर होने के पश्चात् कृष्ण

विवर का आकार पूर्ण वृत्त का होता है।

देखें—कृष्णराजी व तमस्काय के चित्र—परिशिष्ट - ६

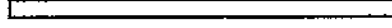
तमस्काय की जानकारी के लिए द्रष्टव्य—भगवई, १४। २५ से

२७।

११९. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति

११९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।



छट्टो उद्देशो : छट्टा उद्देशक

मूल

नेरइयादीणं आवास-पदं

१२०. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?
गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा
—रयणप्पभा जाव अहेसत्तमा।
रयणप्पभाईणं आवासा भाणियव्वा जाव
अहेसत्तमाए। एवं जत्तिया आवासा ते भाणि-
यव्वा जाव—

१२१. कति णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ?
गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता, तं
जहा—विजए, वैजयंते, जयंते, अपराजिए
सव्वहसिद्धे।।

मारणंतियसमुग्घाय-पदं

१२२. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं
समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे
रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावा-
ससयसहस्सेसु अण्णयरंसि निरयावासंसि
नेरइयत्ताए उववज्जितए, से णं भंते ! तत्थ-
गए चेव आहारेज्ज वा? परिणामेज्ज वा?
सरीरं वा बंधेज्जा?
गोयमा ! अत्थेगतिए तत्थगए चेव आहारेज्ज
वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा;
अत्थेगतिए तओ पडिनियत्तति, ततो पडि-
नियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता दोच्चं
पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, समो-
हणित्ता इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए
निरयावाससयसहस्सेसु अण्णयरंसि निर-
यावासंसि नेरइयत्ताए उववज्जितए, तओ
पच्छा आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं
वा बंधेज्जा। एवं जाव अहेसत्तमा पुढवी।।

संस्कृत छाया

नैरयिकादीनाम् आवास-पदम्

कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा
—रत्नप्रभा यावत् अधःसप्तमी।
रत्नप्रभादीनाम् आवासाः भणितव्याः यावद्
अधःसप्तम्याः। एवं यावन्तः आवासाः ते
भणितव्याः यावत्—

कति भदन्त ! अनुत्तरविमानानि प्रज्ञप्तानि ?
गौतम ! पंच अनुत्तरविमानानि प्रज्ञप्तानि,
तद् यथा—विजयः, वैजयन्तः, जयन्तः,
अपराजितः, सर्वार्थसिद्धः।

मारणान्तिकसमुद्घात-पदम्

जीवः भदन्त ! मारणान्तिकसमुद्घातेन
समवहतः, समवहत्य यः भव्यः अस्यां
रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत् निरयावास-
शतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् निरयावासे नैरयि-
कतया उपपत्तुम्, स भदन्त ! तत्रगतश्चैव
आहरेद् वा? परिणमयेद् वा? शरीरं वा
बध्नीयात् ?
गौतम ! अस्त्येककः तत्रगतश्चैव आहरेद्
वा, परिणमयेद् वा, शरीरं वा बध्नीयाद्;
अस्त्येककः ततः प्रतिनिवर्तते, ततः प्रतिनि-
वृत्य इह आगच्छति, आगत्य द्वितीयमपि
मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहन्ति, सम-
वहत्य अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां त्रिंशत्
निरयावासशतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् निरया-
वासे नैरयिकतया उपपत्तुम्, ततः पश्चाद्
आहरेद् वा, परिणमयेद् वा, शरीरं वा बध्नी-
याद्। एवं यावद् अधःसप्तमी पृथिवी।

हिन्दी अनुवाद

नैरयिक आदि के आवास-पद

१२०. ' भन्ते ! पृथिव्यां कितनी प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! पृथिव्यां सात प्रज्ञप्त हैं, जैसे—रत्नप्रभा
यावत् अधःसप्तमी।
रत्नप्रभा पृथ्वी यावत् अधःसप्तमी पृथ्वी के
आवास वक्तव्य हैं। इस प्रकार जितने आवास हैं,
वे सब वक्तव्य हैं, यावत्—

१२१. भन्ते ! अनुत्तरविमान कितने प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! अनुत्तरविमान पांच प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वा-
र्थसिद्ध।

मारणान्तिकसमुद्घात-पद

१२२. भन्ते ! जीव मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत
होता है। समवहत हो कर जो भव्य इस रत्नप्रभा पृथ्वी
के तीस लाख नरकावासों में से किसी एक नरकावास
में नैरयिक के रूप में उत्पन्न होने वाला है, भन्ते ! वह
जीव वहां नरकावास में जाते ही क्या पुद्गलों का
आहरण करता है ? उनका परिणमन करता है ? उनसे
शरीर का निर्माण करता है ?
गौतम ! कोई जीव वहां नरकावास में जाते ही पुद्गलों
का आहरण करता है, उनका परिणमन करता है और
उनसे शरीर का निर्माण करता है। कोई जीव वहां से
लौट आता है। लौट कर यहां अपने वर्तमान शरीर
में आ जाता है। आ कर फिर दूसरी बार मारणान्तिक
समुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर इस
रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में से किसी
एक नरकावास में नैरयिक के रूप में उपपन्न होता है।
उसके पश्चात् पुद्गलों का आहरण करता है, उनका
परिणमन करता है और उनसे शरीर का निर्माण करता
है। इस प्रकार अधःसप्तमी पृथ्वी तक ज्ञातव्य है।

१२३. जीवे णं भंते ! मारणंति यसमुग्धाएणं समोहए, समोहणित्ता जे भविए चउसङ्गीए-असुरकुमारावाससयसहस्सेसु अण्णयरंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमारताए उव-वज्जित्ताए, जहा नेरइया तहा भाणियव्वा जाव थणियकुमारा ॥

१२४. जीवे णं भंते ! मारणंति यसमुग्धाएणं समोहए, समोहणित्ता जे भविए असंखेज्जेसु पुढविकाइयावाससयसहस्सेसु अण्णयरंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविकाइयत्ताए उव-वज्जित्ताए, से णं भंते ! मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं केवइयं गच्छेज्जा? केवइयं पाउ-णेज्जा?

गोयमा ! लोयंतं गच्छेज्जा, लोयंतं पाउणे-ज्जा ॥

१२५. से णं भंते ! तत्थगए चेव आहारेज्ज वा? परिणामेज्ज वा? सरीरं वा बंधेज्जा?

गोयमा ! अत्थेगतिए तत्थगए चेव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा; अत्थेगतिए तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, दोच्चं पि मारणंति यसमुग्धाएणं समोहणणइ, समोहणित्ता मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे णं अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तं वा, संखेज्जइभागमेत्तं वा, बालाग्रं वा, बालाग्रपुहत्तं वा; एवं लिक्ख-जूय-जव-अंगुल जाव जोयणकोडिं वा, जोयण-कोडाकोडिं वा संखेज्जेसु वा असंखेज्जेसु वा जोयणसहस्सेसु, लोयंतं वा एणपएसियं सेडिं मोत्तूण असंखेज्जेसु पुढविकाइया-वाससयसहस्सेसु अण्णयरंसि पुढविकाइया-वासंसि पुढविकाइयत्ताए उववज्जेत्ता, तओ पच्छा आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा, सरीरं वा बंधेज्जा ॥

जीवः भदन्त ! मारणान्तिकसमुद्घातेन सम-वहतः, समवहत्य यः भव्यः चतुष्पट्ट्याम् असुरकुमारावासशतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् असुरकुमारावासे असुरकुमारतया उपपत्तुम्, यथा नैरयिकाः तथा भणितव्याः यावत् स्तनि-तकुमाराः ॥

जीवः भदन्त ! मारणान्तिकसमुद्घातेन सम-वहतः, समवहत्य यः भव्यः असंख्येषु पृथ्वीकायिकावासाशतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् पृथ्वीकायिकावासे पृथ्वीकायिकतया उप-पत्तुम्, स भदन्त ! मन्दरस्य पर्वतस्य पौर-स्त्ये कियद् गच्छेद्? कियत् प्राप्नुयात्?

गौतम ! लोकान्तं गच्छेत्, लोकान्तं प्राप्नु-यात् ॥

स भदन्त ! तत्रगतश्चैव आहरेद् वा? परि-णमयेद् वा? शरीरं वा बध्नीयाद्?

गौतम ! अस्त्येककः तत्रगतश्चैव आहरेद् वा, परिणमयेद् वा, शरीरं वा बध्नीयाद्; अस्त्ये-ककः ततः प्रतिनिवर्तते, ततः प्रतिनिवृत्य इह आगच्छति, द्वितीयमपि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहन्ति, समवहत्य मन्दरस्य पर्वत-स्य पौरस्त्ये अंगुलस्य असंख्येयभाग-मात्रं वा, संख्येयभागमात्रं वा, बालाग्रं वा, बालाग्रपृथक्त्वं वा; एवं लिक्खा-यूका-यवा-हुला यावद् योजनकोटिं वा, योजनकोटिकोटिं वा, संख्येषु वा असंख्येषु वा योजनसह-स्रेषु, लोकान्ते वा एकप्रदेशिकां श्रेणीं मुक्त्वा असंख्येषु पृथ्वीकायिकावासाशतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् पृथ्वीकायिकावासे पृथ्वी-कायिकतया उपपद्य, ततः पश्चाद् आहरेद् वा, परिणमयेद् वा, शरीरं वा बध्नीयाद् ॥

१२३. भन्ते ! जीव मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर जो भव्य चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से किसी एक असुरकुमारावास में असुरकुमार के रूप में उपपन्न होता है, उसकी वक्तव्यता नैरयिक की भांति (सू. १२२) ज्ञातव्य है। असुरकुमार से स्तनिक कुमार तक यही वक्तव्यता ॥

१२४. भन्ते ! जीव मारणान्तिकसमुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर जो भव्य असंख्य लाख पृथ्वीकायिक-आवासों में से किसी एक पृथ्वी-कायिक-आवास में पृथ्वीकायिक के रूप में उपपन्न होता है, भन्ते ! वह जीव मेरु पर्वत के पूर्व में कितनी दूर जाता है? कितनी दूर प्राप्त करता है?

गौतम ! वह लोकान्त तक जाता है, लोकान्त को प्राप्त करता है ॥

१२५. भन्ते ! वह वहां पृथ्वीकायिक आवास में जाते ही क्या पुद्गलों का आहरण करता है? उनका परिणमन करता है? उनसे शरीर का निर्माण करता है?

गौतम ! कोई जीव वहां पृथ्वीकायिक आवास में जाते ही पुद्गलों का आहरण करता है, उनका परिणमन करता है, उनसे शरीर का निर्माण करता है। कोई जीव वहां से लौट आता है, लौट कर यहां अपने वर्तमान शरीर में आता है, आ कर फिर दूसरी बार मारणान्तिक समुद्घात से समवहत होता है। समवहत हो कर मेरुपर्वत के पूर्व में अंगुल के असंख्यातर्वे भाग मात्र, संख्यातर्वे भाग मात्र, बालाग्र, बालाग्र-पृथक्त्व (अनेक बालाग्र), इसी प्रकार लीख, जू, यव, अंगुल यावत् कोटि योजन कोटिकोटियोजन, संख्येय हजारयोजन और अ-संख्येय हजारयोजन में अथवा लोकान्त में एक प्रदेशात्मक श्रेणी को छोड़ कर पृथ्वीकायिक जीवों के असंख्य लाख पृथ्वीकायिक आवासों में से किसी एक पृथ्वीकायिक आवास में पृथ्वीकायिक के रूप में उपपन्न होता है, उसके पश्चात् पुद्गलों का आहरण करता है, उनका परिणमन करता है, उनसे शरीर का निर्माण करता है ॥

जहा पुरत्थिमे णं मंदरस्स पव्वयस्स आ-
लावओ भणिओ, एवं दाहिणे णं, पच्च-
त्थिमे णं, उत्तरे णं, उड्ढे, अहे ॥

जहा पुढविकाइया तथा एगिंदियाणं सन्वेसिं
एक्केक्कस्स छ आलावगा भाणियव्वा ।

१२६. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं
समोहण्णइ, समोहणित्ता जे भविए असंखे-
ज्जेसु बेइंदियावाससयसहस्सेसु अण्णयरंसि
बेइंदियावासंसि बेइंदियत्ताए उववज्जित्तए,
से भंते ! तत्थगए चेव आहारेज्ज वा? परि-
णामेज्ज वा? सरीरं वा बंधेज्जा?

जहा नेरइया, एवं जाव अणुत्तरोववाइया ।

१२७. जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं
समोहए, समोहणित्ता जे भविए पंचसु
अणुत्तरेसु महतिमहाल्लएसु महाविमाणेसु
अण्णयरंसि अणुत्तरविमाणंसि अणुत्तरो-
ववाइयदेवत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते !
तत्थगए चेव आहारेज्ज वा? परिणामेज्ज
वा? सरीरं वा बंधेज्जा?

तं चेव जाव आहारेज्ज वा, परिणामेज्ज वा,
सरीरं वा बंधेज्जा।

यथा पौरस्त्ये मन्दरस्य पर्वतस्य आलापकः
भणितः, एवं दक्षिणे, पश्चिमे, उत्तरे, ऊर्ध्वे,
अधः।

यथा पृथ्वीकायिकाः तथा एकेन्द्रियाणां
सर्वेषाम् एकैकस्य षड् आलापकाः भणि-
तव्याः।

जीवः भदन्त ! मारणान्तिकसमुद्घातेन
समवहन्ति, समवहत्य यः भव्यः असंख्येषु
द्वीन्द्रियावासशतसहस्रेषु अन्यतरस्मिन् द्वी-
न्द्रियावासे द्वीन्द्रियतया उपपत्तुम्, स भदन्त!
तत्रगतश्चैव आहरेद् वा? परिणमयेद् वा?
शरीरं वा बध्नीयाद्?

यथा नैरयिकाः, एवं यावद् अनुत्तरौप-
पातिकाः।

जीवः भदन्त ! मारणान्तिकसमुद्घातेन सम-
वहतः, समवहत्य यः भव्यः पंचसु अनुत्तरेषु
महतिमहत्सु महाविमाणेषु अन्यतरस्मिन्
अनुत्तरविमाने अनुत्तरौपपातिकदेवतया उप-
पत्तुम्, स भदन्त ! तत्रगतश्चैव आहरेद् वा?
परिणमयेद् वा? शरीरं वा बध्नीयाद्?

तच्चैव यावद् आहरेद् वा, परिणमयेद् वा,
शरीरं वा बध्नीयात्।

जिस प्रकार मेरु पर्वत के पूर्व में (इतने दूर जाने से
सम्बन्धित) आलापक कहा गया है, इसी प्रकार
दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व और अधो दिशा में
वक्तव्य है।

जैसे पृथ्वीकायिक जीवों के आलापक कहे गए हैं,
वैसे ही शेष सब एकैन्द्रिय जीवों में से प्रत्येक के
छह-छह आलापक वक्तव्य हैं।

१२६. भन्ते ! जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत
होता है। समवहत हो कर जो भव्य असंख्येय लाख
द्वीन्द्रिय आवासों में से किसी एक द्वीन्द्रियावास में
द्वीन्द्रिय के रूप में उपपन्न होता है, भन्ते ! वह वहां
द्वीन्द्रियावास में जाते ही पुद्गलों का आहरण करता
है? उनका परिणमन करता है? उनसे शरीर का निर्माण
करता है?

नैरयिक जीवों की भांति वक्तव्यता। इस प्रकार
यावत् अनुत्तरौपपातिक की वक्तव्यता।

१२७. भन्ते ! जीव मारणान्तिक समुद्घात से समवहत
होता है। समवहत होकर जो भव्य पांच अनुत्तर
महति-महान् महाविमानों में से किसी एक अनुत्तर
विमान में अनुत्तरौपपातिक देव के रूप में उपपन्न
होता है, भन्ते ! वह वहां अनुत्तरौपपातिक विमान में
जाते ही पुद्गलों का आहरण करता है? उनका
परिणमन करता है? उनसे शरीर का निर्माण करता
है?

यह पूर्ववत् ज्ञातव्य है यावत् वह पुद्गलों का
आहरण करता है, परिणमन करता है, उनसे शरीर
का निर्माण करता है।

भाष्य

१. सूत्र १२०-१२७

सात पृथ्वियों और अनेक आवासों का विस्तृत निरूपण शतक
१, सूत्र २१२-२१५ में हो चुका है। प्रस्तुत प्रकरण में इनका पुनः उल्लेख
मारणान्तिक समुद्घात के सन्दर्भ में किया गया है।^१

मारणान्तिक समुद्घात करने वाला जीव अपने भावी-जन्म-स्थान
तक पहुंचकर लौट आता है—यह परामनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण रहस्य
है। इस रहस्य की चर्चा ईसा की बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक स्तर पर बहुत
हुई है। “Life after Death” पुस्तक में वर्णित Dr. George Ritchie

की घटना इस सन्दर्भ में मननीय है।^२

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते ! मारणान्तिक समुद्घात
करने वाला जीव अपने भावी जन्मस्थान तक पहुंच कर क्या आहार ग्रहण
करता है? उसका परिणमन करता है? नए शरीर का निर्माण करता है? इन
तीनों प्रश्नों के उत्तर में भगवान ने कहा—मारणान्तिक समुद्घात का प्रयोग
जीवन में दो बार होता है। कुछ जीव मारणान्तिक समुद्घात का प्रयोग कर
अपने उत्पत्ति-स्थान में जन्म ले लेते हैं। वे जन्म के पहले समय में आहार
ग्रहण करते हैं, उसका परिणमन करते हैं और शरीर-निर्माण का क्रम

१. द्रष्टव्य भ. २/७४ का भाष्य

२. Life after Death, pp.51-53 (Out of Body, Ch. III)

प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ जीव मारणांतिक समुद्घात के द्वारा अपने भावी जन्मस्थान तक पहुंचकर लौट आते हैं। वे वहां आहार-ग्रहण, उसका परिणमन और शरीर-निर्माण नहीं करते। दूसरी बार मारणांतिक समुद्घात का प्रयोग करने वाले वहां जन्म लेकर आहार-ग्रहण, उसका परिणमन और शरीर का निर्माण करते हैं। यह नियम नरक के आवासों से लेकर अनुत्तर विमान तक के सभी जन्म-स्थानों में समान है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों के आवास-स्थान लोक के एक भाग में हैं। एकेन्द्रिय के आवास-स्थान सम्पूर्ण लोक में है, इसलिए वे जीव लोकान्त तक उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक जीव का

आकाश के असंख्य प्रदेशों में अवगाहन होता है, इसलिए वह एक प्रदेशात्मक आकाश-श्रेणी को छोड़कर अनेक प्रदेशात्मक—असंख्य प्रदेशात्मक आकाशश्रेणी में उत्पन्न होता है। जयाचार्य ने एक का प्रतिपक्ष 'अनेक' बतलाया है। उनके मतानुसार 'अनेक' असंख्य के अर्थ में विवक्षित है।

शब्द-विमर्श

बालाग्र—बालाग्र आदि शब्दों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य भ. ६/१३४ का भाष्य।

१२८. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

१२८. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है ।

१. उत्तर. ३६/१२०—

सुहुमा सन्व लोममि, लोगदेसे य बायरा ॥

२. भ.जो. २/१०५/३३-३८—

असंख्यातपरदेश, अवगाहै आकाश नै ।

जीव स्वभाव विशेष, तिण प्रकार करिके इहां ॥

एक प्रदेश नीं श्रेण, खंघ जीव नु नां रहै ।

पाठ जीवेण तेण, रहे अनेक प्रदेश में ।

वन्थो एक प्रदेश, प्रतिपक्ष इक शब्द मुं ।

अनेक कहिय शेष, तेह विषे रहै जीवइं ॥

अनेक शब्दे ताहि, प्रदेश असंख्य लीजियै ।

उणां प्रदेशां माहि, खंघ जीव नो नहिं रहै ॥

दशवैकालिक देख, जीव अनेक पृथ्वी मझै ।

चउथे अधेन पेख, तेह असंखिज्ज जणवा ॥

तिम इहां पिण अवलोय, एक शब्द करि वर्जिया ।

अनेक रह्या सुजोय, असंखिज्ज इहां पिण अछै ॥

सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

धन्नाणं जोणि-ठिइ-पदं

१२९. अह भंते ! सालीणं, वीहीणं, गो-धूमाणं, जवाणं, जवजवाणं—एएसि णं धन्नाणं कोट्टाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचा-उत्ताणं मालाउत्ताणं ओलित्ताणं लिताणं पिहियाणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवतियं कालं जोणी संचिद्धइ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिण्णि संवच्छराइं। तेण परं जोणी पमिलायइ, तेण परं जोणी पविद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए भवति, तेण परं जोणीवोच्छेदे पण्णत्ते सम-णाउसो!

१३०. अह भंते ! कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-निप्फव-कुलत्थ-आलिसंदग-सतीण-पलिमंथगमाईणं—एएसि णं धन्नाणं कोट्टा-उत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं माला-उत्ताणं ओलित्ताणं लिताणं पिहियाणं मुद्दियाणं लंछियाणं केवतियं कालं जोणी संचि-द्धइ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पंच संवच्छराइं। तेण परं जोणी पमिलायइ, तेण परं जोणी पविद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए भवति, तेण परं जोणीवोच्छेदे पण्णत्ते सम-णाउसो !

१३१. अह भंते ! अयसि-कुसुंभग-कोदव-कंगु-वरग-रालग-कोददूसग-सण-सरि-सव-मूलाबीयमाईणं—एएसि णं धन्नाणं कोट्टाउत्ताणं पल्लाउत्ताणं मंचाउत्ताणं माला-

धान्यानां योनि-स्थिति-पदम्

अथ भदन्त ! शालीनां, व्रीहीणां, गोधूमानां, यवानां, यवयवानाम्—एतेषां धान्यानां कोट्टागुप्तानां पल्यागुप्तानां मञ्चागुप्तानां मालागुप्तानाम् अवलिप्तानां लिप्तानां पिहितानां मुद्रितानां लाञ्छितानां कियन्तं कालं योनिः सन्तिष्ठते?

गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षेण त्रीणि संवत्सराणि। ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः परं योनिः प्रविध्वंसते, ततः परं बीजम् अभीजं भवति, ततः परं योनि-व्युच्छेदः प्रज्ञप्तः आयुष्मन् श्रमण!

अथ भदन्त ! कलाय-मसूर-तिल-मुद्गा-मास-निष्पाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सतीण-परिमन्थकादीनाम्—एतेषां धान्यानां कोट्टागुप्तानां पल्यागुप्तानां मञ्चा-गुप्तानां मालागुप्तानाम् अवलिप्तानां लिप्तानां पिहितानां मुद्रितानां लाञ्छितानां कियन्तं कालं योनिः सन्तिष्ठते?

गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षेण पञ्च संवत्सराणि। ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः परं योनिः प्रविध्वंसते, ततः परं बीजम् अभीजं भवति, ततः परं योनि-व्युच्छेदः प्रज्ञप्तः आयुष्मन् श्रमण!

अथ भदन्त ! अतसि-कुसुम्भक-कोद्रव-क्वञ्जु-वरक-रालक-कोदूषक-सण-सर्षप-मूलकबीजादीनाम्—एतेषां धान्यानां कोट्टागुप्तानां, पल्यागुप्तानां

धान्यों की योनि और स्थिति का पद

१२९. 'भन्ते ! शालि, व्रीहि, गेहूं, जौ तथा यवयव—इन धान्यों को कोठे, पल्य, मचान और माल में डाल कर उनके द्वार-देश को लीप देने, चारों ओर से लीप देने, ढक्कन से ढक देने, मिट्टी से मुद्रित कर देने और रेखाओं से लाञ्छित कर देने पर उनकी योनि (उत्पादक-शक्ति) कितने काल तक रहती है?

गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कर्षतः तीन वर्षा उसके बाद योनि म्लान हो जाती है, प्रविध्वस्त हो जाती है, बीज अभीज हो जाता है, योनि का विच्छेद हो जाता है, आयुष्मन् श्रमण !

१३०. मटर, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, निष्पाव (सेम), कुलथी, चवला, मटर का एक भेद और काला चना आदि—इन धान्यों को कोठे, पल्य, मचान और माल में डाल कर उनके द्वार-देश को लीप देने, चारों ओर से लीप देने, ढक्कन से ढक देने, मिट्टी से मुद्रित कर देने और रेखाओं से लाञ्छित कर देने पर उनकी योनि कितने काल तक रहती है?

गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तं, उत्कृष्टतः पाँच वर्षा उसके बाद योनि म्लान हो जाती है, प्रविध्वस्त हो जाती है, बीज अभीज हो जाता है, योनि का विच्छेद हो जाता है, आयुष्मन् श्रमण!

१३१. अलसी, कुसुम्भ, कोदव, कंगु, चीना धान्य, दाल, कोदव की एक जाति, सन, सरसों, मूलक बीज—इन धान्यों को कोठे, पल्य, मचान और माल में डाल कर उनके द्वार-देश को लीप देने, चारों ओर

उत्ताणं ओलित्ताणं लित्ताणं पिहियाणं मुद्दि-
याणं लंछियाणं केवतियं कालं जोणी सं-
चिद्धइ?

गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्खेसेणं
सत्त संवच्छराइं। तेण परं जोणी पमिलायइ,
तेण परं जोणी पविद्धंसइ, तेण परं बीए अबीए
भवति, तेण परं जोणीवोच्छेदे पण्णत्ते सम-
णाउसो !

मञ्चागुप्तानां मालागुप्तानाम् अवलिप्तानां
लिप्तानां पिहितानां मुद्रितानां लाञ्छितानां
क्रियन्तं कालं योनिः सन्तिष्ठते?

गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण सप्त
संवत्सराणि ततः परं योनिः प्रम्लायति, ततः
परं योनिः प्रविध्वंसते, ततः परं बीजम् अ-
बीजं भवति, ततः परं योनिव्युच्छेदः प्रज्ञप्तः
आयुष्मन् श्रमण!

से लीप देने, ढक्कन से ढक देने, मिट्टी से मुद्रित कर
देने और रेखाओं से लाञ्छित कर देने पर उनकी योनि
कितने काल तक रहती है?

गौतम ! जघन्यतः अन्तर्मुहूर्तं, उत्कर्षतः सात वर्षा
उसके बाद योनि म्लान हो जाती है, प्रविध्वस्त हो
जाती है, बीज अबीज हो जाता है, योनि का विच्छेद
हो जाता है, आयुष्मन् श्रमण!

भाष्य

१. सूत्र १२९-१३१

प्रस्तुत आलापक के तीन सूत्रों में धान्य के तीन वर्ग किये गये हैं—प्रथम वर्ग खाद्यान्न का है; दूसरा वर्ग दलहन का है; तीसरा वर्ग तिलहन का है।

प्रथम वर्ग के धान्यों में उत्पादक शक्ति तीन वर्ष तक, द्वितीय वर्ग के धान्यों में पांच वर्ष तक और तृतीय वर्ग के धान्यों में सात वर्ष तक रहती है। यह उनकी उत्कृष्ट अवधि है। उनकी जघन्य अवधि अन्तर्मुहूर्त की है। उनकी उत्पादक शक्ति संरक्षण के प्रबंध पर निर्भर है। संरक्षण की व्यवस्था अच्छी होती है, तो वे धान्य अपनी उत्पादक शक्ति को वर्षों तक बनाए रख लेते हैं। उसके अभाव में उत्पादक शक्ति शीघ्र नष्ट हो जाती है।

प्रस्तुत आलापक में धान्यों को संरक्षित रखने की प्राचीन काल की पद्धति का उल्लेख किया गया है। धान्यों को संरक्षित रखने के लिए कोठे, पत्य, मञ्च और 'माल' बनाए जाते थे। उनमें धान्यों को डालकर उनके द्वार-मुख पर ढक्कन लगा गोबर आदि से लीप देतो उस पर चपड़ी लगा देते और उसे रेखांकित कर देते।

आयुर्वेद में पांच प्रकार के धान्य बतलाए गए हैं—शालि धान्य, ब्रीहि धान्य, शूक धान्य, शिम्बी और क्षुद्र धान्य। रक्त शालि आदि को शालि धान्य, साठी आदि को ब्रीहि धान्य, जौ आदि को शूक धान्य, मूंग आदि को शिम्बी धान्य और कंगुनी आदि धान्य को क्षुद्र धान्य अथवा तृण धान्य कहते हैं।^१

शब्द-विमर्श

शाली (सालीणं)—शालिधान्य (चावल का एक प्रकार)^२

ब्रीहि (वीहीणं)—षष्टि धान्य^३ ?

गोधूम (गोधूमाणं)—गेहूँ

यव (जवाणं)—जौ

यवयव (जवजवाणं)—जई (जव का एक प्रकार)^४

कल—मटर

मसूर—मसूर

तिल—तिल

मुग्ग—मूंग

मास—उड़द

निष्फाव—राजशिम्बी के बीज

कुलत्थ—कुलथी

आलिसंदग—चवला

सतीण—मटर का एक भेद (वृत्ति में तूवर अर्थ भी किया है।)

पलिमंथग—काला चना

कुसुंभग—वरट्टिका धान्य (वृत्ति में कुसुम्भ अर्थ भी किया है।)

कोद्व—कोदों

कंगु—कंगुनी

वरग—चीना धान्य^५

रालग—कंगु धान्य का एक प्रकार

कोदूसग—कोदव की एक जाति

सण—सन

सरिसव—सरसों

मूलाबीय—मूलक बीज^६

१. शालिग्राम निघण्टु भूषणम्; भाग ७, ८, पृ. ६०४, धान्य वर्ग—
शालिधान्यं ब्रीहि धान्यं, शूक धान्यं तृतीयकम् ।
शिम्बीधान्यं क्षुद्रधान्यमित्युक्तं धान्यपंचकम् ॥
शालयोक्तं शाल्याद्या, ब्रीहयः षष्टिकादयः एकलाइं ।
कंगवादिकं क्षुद्रधान्यं, तृणधान्यं च तत्स्मृतम् ॥

२. जै. आ. व. को. पृ. २८५, २८६।

३. वही, पृ. २६६।

४. वही, पृ. ११६-११७।

५. जै. आ. व. को. पृ. २७२—'सतीन'

६. वही, पृ. २६१—'वर' शब्द।

७. भ. वृ. ६/१३०, १३१—'कल' ति कलाया वृत्तचनका इत्यन्ये, 'मसूर' ति मिलः चनकिका इत्यन्ये, 'निष्फाव' ति वल्ला: 'कुलत्थ' ति चवलिकाकारा: चिपिटिका भवन्ति, 'आलीसंदग' ति चवलकप्रकारा: चवलका एवान्ये, 'सईण' ति तुवरी, 'पलिमंथग' ति वृत्तचनका: कालचनका इत्यन्ये, 'अयसि' ति भन्नी, 'कुसुंभग' ति लट्टा, 'वरग' ति वरट्टो, 'रालग' ति कंगुविशेषः, 'कोदूसग' ति कोदवविशेषः, 'सण' ति त्वक्प्रधाननालो धान्यविशेषः, 'सरिसव' ति सिद्धार्थकाः, 'मूलाबीय' ति मूलकबीजानि शाकविशेषबीजानीत्यर्थः ।

कोष्ठ—(कोठ्ठ)—कोठा, अनाज रखने के लिए बनाया गया गोलाकार घेरा।

पल्य (पल्ल)—इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—पल्ल और पल्या पल्य का अर्थ अनाज डालने का बोरा और पल्ल का अर्थ धान्य रखने का बड़ा कोठा, बड़ा धान्यागार है। प्राकृत का पाठ 'पल्ल' है। व्याख्याकारों ने पल्ल का संस्कृत रूप 'पल्य' किया है। आगम में पल्ल का माप एक योजन बतलाया गया है। इस विशाल 'पल्ल' की संगति पल्य के साथ नहीं बैठती।

मचान(मंच)—अनाज को रखने के लिए बनाया हुआ मचान।

माल(माल)—दूसरी मंजिल पर बना हुआ घर।

डाल कर (आगुत्ताणं)—संरक्षित

अवलिप्त—द्वार-देश पर गोबर आदि से लीपा हुआ

लिप्त—सर्वतः गोबर आदि से लीपा हुआ

पिहित—ढक्कन दिया हुआ

मुद्रित—मुद्रा—मोहर लगा हुआ

लांछित—चिह्नित

योनि—अंकुर-उत्पत्ति का हेतु, उत्पादक शक्ति

अबीज—जिसकी उत्पादक शक्ति नष्ट हो गई हो जो बीज बने

पर भी अंकुर उत्पन्न न करे

योनि-विच्छेद—उत्पादक शक्ति का नाश।

गणना-काल-पदं

१३२. एगमेगस्स णं भन्ते ! मुहुत्तस्स केवतिया ऊसासद्धा वियाहिया?

गोयमा ! असंखेज्जाणं समयणं समुदय-
-समिति-समागमेणं सा एग आवलिय ति
पवुच्चइ, संखेज्जा आवलिया ऊसासो,
संखेज्जा आवलिया निस्सासो।

गाहा—

हृदस्स अणवगल्लस्स,
निरुक्किद्धस्स जंतुणो।
एगे ऊसास-नीसासे,
एस पाणु त्ति वुच्चइ ॥१॥
सत्त पाणुं से थोवे,
सत्त थोवाइं से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए,
एस मुहुत्ते वियाहिए ॥२॥
तिण्णि सहस्सा सत्त य,
सयाइं तेवत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिद्धो,
सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥३॥

एएणं मुहुत्तपमाणेणं तीसमुहुत्ता अहोरत्तो,
पण्णरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो,
दो मासा उड्, तिण्णि उड् अयणे, दो अयणा
संवच्छरे, पंच संवच्छराइं जुगे, वीसं जुगाइं
वाससयं, दस वाससयाइं वाससहस्सं, सयं

गणना-काल-पदम्

एकैकस्य भदन्त ! मुहूर्त्तस्य कियन्तः उच्छ-
वासद्धा व्याहताः?

गौतम ! असंख्येयानां समयानां समुदय-
-समिति-समागमेन सा एका आवलिका
इति प्रोच्यते, संख्येयाः आवलिकाः उच्छ-
वासः, संख्येयाः आवलिकाः निःश्वासः।

गाथाः—

हृष्टस्याऽनवकल्यस्य,
निरुक्लिष्टस्य जन्तोः।
एक उच्छ्वास-निःश्वासः,
एष प्राण इति प्रोच्यते ॥१॥
सप्त प्राणाः स स्तोकाः,
सप्त स्तोकाः स लवः।
लवानां सप्तसप्ततिः,
एष मुहूर्त्तो व्याहृतः ॥२॥
त्रीणि सहस्राणि सप्त च,
शतानि त्रिसप्ततिश्चोच्छ्वासाः।
एष मुहूर्त्तो दृष्टः,
सर्वैरनन्तज्ञानिभिः ॥३॥

एतेन मुहूर्त्तप्रमाणेन त्रिंशन्मुहूर्त्तः अहोरात्रः,
पञ्चदश अहोरात्राः पक्ष, द्वौ पक्षौ मासः,
द्वौ मासौ ऋतुः, त्रयः ऋतवः अयनं, द्वे अयने
संवत्सरः, पञ्चे संवत्सराः युगं, विंशतिः
युगानि वर्षशतम्, दश वर्षशतानि वर्षसहस्रं,

गणना-काल-पद

१३२. भन्ते ! प्रत्येक मुहूर्त्त का उच्छ्वास-काल
कितना होता है ?

गौतम ! असंख्येय समयों के समुदय, समिति और
समागम से एक आवलिका होती है। संख्येय आव-
लिकाओं का एक उच्छ्वास होता है। संख्येय आव-
लिकाओं का एक निःश्वास होता है।

गाथाएं—

हृष्ट, नीरोग और मानसिक क्लेश से मुक्त प्राणी का
एक उच्छ्वास-निःश्वास प्राण कहलाता है, सात
प्राण का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव और
सतहत्तर लवों का एक मुहूर्त्त होता है। तीन हजार
सात सौ तिहत्तर (३७७३) उच्छ्वासों का एक मुहूर्त्त
होता है—यह सब अनन्त ज्ञानियों द्वारा दृष्ट है।
इस मुहूर्त्त-प्रमाण से तीस मुहूर्त्त का एक दिन-रात,
पंद्रह दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास,
दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो
अयन का एक संवत्सर, पांच संवत्सर का एक युग,
बीस युग की एक शताब्दी, दस शताब्दियों की एक
सहस्राब्दी, सौ सहस्राब्दियों का एक लाख वर्ष,
चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग, चौरासी लाख
पूर्वांगों का एक पूर्व होता है। इसी प्रकार (पूर्वोक्त
क्रम से) त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग,
अवव, हूकांग, हूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग
पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिकुरांग, अर्थनिकुर,
अयुतांग, अयुत, न्युतांग, न्युत, प्रयुतांग, प्रयुत,

१. (क) आटे—पल्य—A sack for corn.

पल्ल—A large granary.

(ख) भ.वृ. ६./१२९ इह पल्यो—वंशादिमयो धान्याधारविशेषः।

२. भ.वृ. ६./१२८—मञ्चमालयोर्भेदः—

“अकुड्ढो होइ मंचो. मालो य घरोवारीं होति”।

वाससहस्साणं वाससयसहस्सं, चउरासीइं वाससयसहस्साणि से एगे पुव्वंगे, चउरासीइं पुव्वंगा सयसहस्साइं से एगे पुव्वे, एवां तुडियंगे, तुडिए, अडडंगे, अडडे, अववंगे, अववे, हूहूयंगे, हूहूए, उप्पलंगे, उप्पले, पउमंगे, पउमे, नलिंगे, नलिणे, अत्थ-निरंगे, अत्थनिररे, अउयंगे, अउए, नउयंगे, नउए, पउयंगे, पउए, चूलियंगे, चूलिया, सीरापहेलियंगे, सीसपहेलिया। एताव ताव गणिए, एताव ताव गणियस्स विसए, तेण परं ओवमिए ॥

शतं वर्षसहस्राणां वर्षशतसहस्रं, चतुरशीतिः वर्षशतसहस्राणि तदेकं पूर्वाङ्गम्, चतुरशीतिः पूर्वाङ्गानि शतसहस्राणि तदेकं पूर्वम्, एवं त्रुटिताङ्गम्, त्रुटितम्, अटटाङ्गम्, अटटम्, अववाङ्गम्, अववम्, हूहूकाङ्गम्, हूहूकम्, उत्पलाङ्गम्, उत्पलम्, पद्माङ्गम्, पद्मम्, नलिनाङ्गम्, नलिनम्, अर्थनिकुराङ्गम्, अर्थ-निकुरम् अयुताङ्गम्, अयुतम्, नयुताङ्गम्, नयुतम्, प्रयुताङ्गम्, प्रयुतम्, चूलिकाङ्गम्, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्गम्, शीर्षप्रहेलिका। एतावत् तावद् गणितम्, एतावान् तावान् गणितस्य विषयः, ततः परम् औपमिकम्।

चूलिकाङ्ग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकाङ्ग और शीर्ष-प्रहेलिका। यहां तक गणित है, यहां तक गणित का विषय है। इसके बाद औपमिक काल प्रवृत्त होता है।

भाष्य

१. सूत्र १३२

अणुगोदाराइं में प्रमाण के चार प्रकार बतलाए गए हैं—द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाणा^१ काल प्रमाण दो प्रकार का है—प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न। विभागनिष्पन्न काल का आदि बिन्दु 'समय' है और 'पुद्गल परावर्तन' उसका अंतिम बिन्दु है। प्रस्तुत सूत्र में गणित काल (संख्येय काल) का निरूपण है। इसमें समय का उल्लेख नहीं है। गणित काल का प्रारम्भ 'समय' से होता है। देखें यंत्र—

समय	= परम सूक्ष्म काल
असंख्य समय	= एक आवलिका
संख्येय आवलिका	= एक उच्छ्वास
संख्येय आवलिका	= एक निःश्वास
एक उच्छ्वास-निःश्वास	= एक प्राण
सात प्राण	= एक स्तोक
सात स्तोक	= एक लव
सतहत्तर लव अथवा	
अड़चास मिनट	= एक मुहूर्त
तीस मुहूर्त	= एक अहोरात्र
पंद्रह अहोरात्र	= एक पक्ष
दो पक्ष	= एक मास
दो मास	= एक ऋतु
तीन ऋतु	= एक अयन
दो अयन	= एक संवत्सर
पांच संवत्सर	= एक युग
बीस युग	= सौ वर्ष

चौरासी लाख वर्ष = एक पूर्वाङ्ग

पूर्व—चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख से गुणन करने पर जो संख्या प्राप्त हो (सत्तर लाख करोड़, छप्पन हजार करोड़ वर्ष) = ७०५६०-०००००००० वर्ष।

त्रुटिताङ्ग—एक पूर्व को चौरासी लाख वर्षों से गुणन करने पर जो संख्या प्राप्त होती हो।

त्रुटिताङ्ग से आगे शीर्षप्रहेलिका तक जितनी संख्या है वह उत्तरोत्तर चौरासी लाख से गुणित होने पर प्राप्त होती है। शीर्षप्रहेलिका की संख्या अंको में इस प्रकार है—७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६ इस संख्या के आगे १४० शून्य होते हैं। यह पूरी संख्या १९४ अंकों की है। इसमें ५४ अंक और उसके ऊपर १४० शून्य हैं। शीर्षप्रहेलिका के विषय में दो अभिमत उपलब्ध हैं—माथुरी वाचना के अनुसार शीर्षप्रहेलिका की संख्या में अंक ५४ और शून्य १४०, पूर्ण संख्या १९४ की है। वल्लभी वाचना के अनुसार अंक ७० और शून्य १८०, पूर्ण संख्या २५० की है। प्रस्तुत आलापक में शीर्षप्रहेलिका का पाठ माथुरी वाचना का अनुसारी है। ठाणं, अणुओगदाराइं और जंबुदीवपण्णती में माथुरी वाचनानुसारी संख्या ही मिलती है। वल्लभी वाचनानुसारी संख्या 'ज्योतिष्करण्ड' में उपलब्ध है। इसकी विशद जानकारी के लिए ठाणं, २/३८१-३८९ का टिप्पण द्रष्टव्य है। पूर्व श्रुत के पारगामी मुनि इसका विभिन्न प्रयोजनों से उपयोग करते थे। अनुयोगद्वार की चूर्णि में इस संख्या के उपयोग के दो कोण बतलाए गए हैं—अन्तर्मुहूर्त से पूर्व कोटि तक की संख्या का उपयोग मनुष्यों और तिर्यञ्चों के धर्माचरणकाल के सन्दर्भ में आयुष्य-परिमाण के लिए किया जाता था। किसी मनुष्य का जीवन-काल करोड़ पूर्व का हो और वह नौ वर्ष की

१. अणु. सू. ३६९—पमाणे चउच्चिहे पण्णते, तं जहा—१. दब्बपमाणे २. खेत्तपमाणे ३. कालपमाणे ४. भावपमाणे।

२. वही. मू. ४१३-४१५।

३. लोक प्रकाश, काललोक, सर्ग २९, श्लोक १२, २१।

अवस्था में मुनि बने तो वह कुछ न्यून करोड़ पूर्व तक धर्म की आराधना करता है।

त्रुटित से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या का उपयोग नरक, भवनपति और व्यन्तर देवों का आयुष्य-परिमाण करने के लिए किया जाता था।^१ (देखें, इसी शतक के सूत्र १३४ का भाष्य)

शब्द-विमर्श

समुदय-समिति-समागम—समुदय का अर्थ है समूह। अनेक समुदय मिलकर समिति का निर्माण करते हैं। समागम का अर्थ है संयोग। अनेक समितियों का संयोग समागम कहलाता है। असंख्यात समयों का

समुदय-समिति-समागम होने पर जो कालमान होता है, उसका नाम 'आवलिका' है।^२

हृष्ट—संतुष्ट^३

अनवकल्य—नीरोग, जो वार्धक्य से रहित है।^४

निरुपक्लिष्ट—मानसिक क्लेश से मुक्त, जो कभी व्याधि से ग्रस्त नहीं हुआ है।^५

मानसिक संताप (Tension), मानसिक क्लेश और रुग्ण अवस्था में श्वास की संख्या बढ़ जाती है, इसलिए वैसे व्यक्ति का श्वास प्रमाण नहीं होता। यह तथ्य काल-गणना और प्रेक्षा-ध्यान दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

ओवमिय-काल-पदं

१३३. से किं तं ओवमिये?

ओवमिये दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—पलि-ओवमे य, सागरोवमे य ॥

१३४. से किं तं पलिओवमे? से किं तं सागरोवमे?

गाहा—

सत्थेण सुत्तिक्खेण वि,
छेतुं भेतुं व जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा,
वदन्ति आदिं पमाणानां ॥१॥

अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदय-समिति-समागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिया इ वा, सण्हसण्हिया इ वा, उड्ढरेणू इ वा, तसरेणू इ वा, रहरेणू इ वा, वालगो इ वा, लिक्खा इ वा, जूया इ वा, जवमज्जे इ वा, अंगुले इ वा। अट्ठ उस्सण्हसण्हियाओ सा एगा सण्हसण्हिया, अट्ठ सण्हसण्हियाओ सा एगा उड्ढरेणू, अट्ठ उड्ढरेणूओ सा एगा तसरेणू, अट्ठ तसरेणूओ सा एगा रहरेणू, अट्ठ रहरेणूओ से एगे देवकुरु-उत्तरकुरुगाणं मणुस्साणं वालगो; एवं हरिवास-रम्मग-हेमवय-एरन्नवयाणं, पुव्वविदेहाणं मणुस्साणं अट्ठ वालगो सा एगा लिक्खा, अट्ठ लिक्खाओ सा एगा जूया, अट्ठ जूयाओ से

औपमिक-काल-पदम्

अथ किं तद् औपमिकम्?

औपमिकं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—पत्योपमं च, सागरोपमं च ।

अथ किं तत् पत्योपमं? अथ किं तत् सागरोपमम्?

गाथा—

शस्त्रेण सुतीक्ष्णेनापि,
छेतुं भेतुं च यं किल न शक्ताः।
तं परमाणुं सिद्धाः,
वदन्ति आदिं प्रमाणानाम् ॥१॥

अनन्तानां परमाणुपुद्गलानां समुदय-समिति-समागमेण सा एका उत्सलक्षणश्लक्ष्णिका इति वा, श्लक्षणश्लक्ष्णिका इति वा, ऊर्ध्वरेणुः इति वा, त्रसरेणुः इति वा, रथरेणुः इति वा, बालाग्रम् इति वा, लिक्षा इति वा, यूका इति वा, यवमध्यम् इति वा, अङ्गुलः इति वा। अष्ट उत्सलक्षणश्लक्ष्णिकाः सा एका श्लक्षणश्लक्ष्णिका, अष्ट श्लक्षणश्लक्ष्णिकाः सा एका ऊर्ध्वरेणुः, अष्ट ऊर्ध्वरेणवः सा एका त्रसरेणुः, अष्ट त्रसरेणवः सा एका रथरेणुः, अष्ट रथरेणवः तद् एकं देवकुरु-उत्तरकुरुजाणां मनुष्याणां बालाग्रम् एवं हरिवर्ष-रम्यग-हैमवत-हैरण्यवतां, पूर्व-विदेहानां मनुष्याणां अष्ट बालाग्राणि सा एका

औपमिक-काल-पद

१३३. 'वह औपमिक क्या है?

औपमिक के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पत्योपम और सागरोपम।

१३४. वह पत्योपम क्या है? वह सागरोपम क्या है?

गाथा—

सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता, उस (व्यावहारिक) परमाणु को सिद्ध पुरुष (केवली) प्रमाणों का आदि बतलाते हैं।

अनन्त व्यावहारिक परमाणु-पुद्गलों के समुदय, समिति और समागम से एक उत्सलक्षणश्लक्ष्णिका, (परिपाटी के अनुसार) श्लक्षणश्लक्ष्णिका, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु बालाग्र, लिक्षा, यूका, यवमध्य और अंगुल होता है। आठ उत्सलक्षणश्लक्ष्णिका की एक श्लक्षणश्लक्ष्णिका, आठ श्लक्षणश्लक्ष्णिका का एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र, देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्यों के आठ बालाग्र का हरिवर्ष और रम्यकृ वर्ष के मनुष्यों का एक बालाग्र, हरिवर्ष और रम्यकृ वर्ष के मनुष्यों के आठ बालाग्र का हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्यों का एक बालाग्र, हैमवत और हैरण्यवत के मनुष्यों के आठ बालाग्र का पूर्व-

१. अनु. च. पृ. ५७—अंतोमुहुत्तादिया जाव पुव्वकोडीएति, एतानि धम्मचरणकालं पडुच्च णरतिरिशाण आउपरिमाणकरणे उवजुज्जति, णारगभवणवंतराणं दसवरिससहस्सादि उवजुज्जति, आउयचिंताए तुडियादिया सीसपहेलियंता एते पायसो पुव्वगतेसु जविएसु आउयसेदीए उवजुज्जति।

२. भ. वृ. ६/१३२—असंख्यातानां समयानां सम्बन्धिनो ये समुदाया—वृन्दानि तेषां याः

समितयो—मीलनानि तासां यः समागमः—संयोगः। समुदयसमितिसमागमस्तेन यद् कालमानं भवतीति गम्यते सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते।

३. वही, ६/१३२—हृष्टस्य—तुष्टस्य।

४. वही, ६/१३२—अनवकल्यस्य जरसाऽनभिभूतस्य।

५. वही, ६/१३२—निरुपक्लिष्टस्य व्याधिना प्राक् साम्प्रतं चानभिभूतस्य।

एगे जवमज्झे, अट्ट जवमज्झा से एगे अंगुले।

एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाणि पादो, बारस अंगुलाइं विहत्थी, चउवीसं अंगुलाइं रयणी, अडयालीसं अंगुलाइं कुच्छी, छन्न-उत्तिं अंगुलाणि से एगे दंडे इ वा, धणू इ वा, जूए इ वा, नालिया इ वा, अक्खे इ वा, मुसले इ वा।

एएणं धनुष्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउयं, चत्तारि गाउयाइं जोयणं।

एएणं जोयणप्पमाणेणं जे पल्ले जोयणं आयाम-विक्खंभेणं, जोयणं उद्धं उच्चत्तेणं, तं तिउणं, सविसेसं परिरएणं, से णं—

गाहा—

एगाहिय-बेहिय-तेहिय,
उक्कोसं सत्तरत्तप्परूढाणां।

संमट्ठे संनिचिए,

भरिए वालग्गकोडीणं ॥२॥

ते णं वालग्गे नो अग्गी दहेज्जा, नो वातो हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो परिविद्धंसेज्जा, नो पूत्तिताए हव्वमागच्छेज्जा।

तओ णं वाससए-वाससए गते एगमेगं वालग्गं अवहाय जावतिएणं कालेणं से पल्ले खीणे निरए निम्मले निट्ठिए निट्ठेवे अवहडे विसुद्धे भवइ। से तं पलिओवमे।

गाहा—

एएसिं पल्लाणं,
कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।

तं सागरोवमस्स उ,

एक्कस्स भवे परिमाणं ॥३॥

एएणं सागरोवमपमाणेणं १. चत्तारि सागरो-वमकोडाकोडीओ कालो सुसम-सुसमा २. तिण्णि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमा ३. दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसम-दूसमा ४. एगा सागरोवम-कोडाकोडी बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो

लिक्खा, अट्ट लिक्खा: सा एका यूका, अट्ट यूका:, तद्द एकं यवमध्यम्, अट्ट यवमध्यानि स एक: अङ्गुलः।

एतेन अङ्गुलप्रमाणेन षड् अङ्गुलाः पादः, द्वादश अङ्गुलाः वितस्तिः, चतुर्विंशतिः अङ्गुलाः रत्तिः, अष्टचत्वारिंशद् अङ्गुलानि कुक्षिः, षण्णवतिः अङ्गुलानि स एकः दण्डः इति वा, धनुः इति वा, युगम् इति वा, नालिका इति वा, अक्ष इति वा, मुसलम् इति वा।

एतेन धनुष्प्रमाणेन द्वे धनुःसहस्रे गव्यूतं, चत्वारि गव्यूतानि योजनम्।

एतेन योजनप्रमाणेन यत् पत्यं योजनम् आयाम-विष्कम्भेण, योजनम् ऊर्ध्वम् उच्च-त्वेन, तत् त्रिगुणं, सविशेषं परिरयेण, स— गाथा—

एकाहिक-द्व्यहिक-त्र्यहिकाणाम्,
उत्कर्षेण सप्तरात्रप्ररूढानाम्।

संमृष्टः संनिचितः,

भृतः बालाग्रकोटिभिः॥२॥

तानि बालाग्राणि नो अग्निः दहेत्, नो वातः हरेत्, नो कुथ्येयुः, नो परिविध्वंस्येरन्, नो पूत्तितया 'हव्वं' आगच्छेयुः।

ततः वर्षशते-वर्षशते गते एकैकं बालाग्रम् अपहृत्य यावता कालेन स पत्यः क्षीणः नीरजाः निर्मलः निष्ठितः निर्लेपः अपहृतः विशुद्धः भवति। तत् तत् पत्योपमम्।

गाथा—

एतेषां पत्यानां,
कोटि-कोटिः भवेद् दशगुणिता।

तत् सागरोपमस्य तु,

एकस्य भवेत् परिमाणम्॥३॥

एतेन सागरोपमप्रमाणेण—१. चतस्रः सा-गरोपमकोटिकोट्यः कालः सुषम-सुषमा २. तिस्रः सागरोपमकोटिकोट्यः कालः सुषमा ३. द्वे सागरोपमकोटिकोटी कालः सुषम-दुःषमा ४. एका सागरोपमकोटिकोटिः द्विच-त्वारिंशतावर्षसहस्रैरुनिता कालः दुःषम-

विदेह (और अपर विदेह) के मनुष्यों का एक बालाग्र, पूर्व-विदेह और अपर-विदेह के मनुष्यों का आठ बालाग्र की एक लिक्खा, आठ लिक्खा की एक यूका, आठ यूका का एक यवमध्य और आठ यवमध्य का एक अंगुल होता है।

इस अंगुल-प्रमाण से छह अंगुल का पाद, बारह अंगुल की वितस्ति, चौबीस अंगुल की रत्ति, अड़-तालीस अंगुल की कुक्षि, छियानवे अंगुल का एक दंड, धनुष, यूग, नालिका, अक्ष अथवा मुसल होता है।

इस धनुष-प्रमाण से दो हजार धनुष का एक गव्यूत (कोश) और चार गव्यूत का एक योजन होता है। इस योजन-प्रमाण से कोई कोठा एक योजन लम्बा, चौड़ा, ऊँचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला है। वह —

गाथा —

एक, दो, तीन यावत् उत्कर्षतः सात रात के बढे हुए करोड़ों बालाग्रों से दूस-दूस कर घनीभूत कर भरा हुआ है।

वे बालाग्र न अग्नि से जलते हैं, न हवा से उड़ते हैं, न असार होते हैं, न विध्वस्त होते हैं और न दुर्गन्ध को प्राप्त होते हैं।

उस कोठे से सौ-सौ वर्ष के बीत जाने पर एक-एक बालाग्र को निकालने से जितने समय में वह कोठा खाली, रजरहित, निर्मल और निष्ठित होता है, निर्लेप होता है, सब बालाग्रों के निकल जाने पर विशुद्ध (सर्वथा खाली) हो जाता है, वह (व्यावहारिक) पत्योपम है।

गाथा —

इन दस कोडाकोडि पत्यों से एक (व्यावहारिक) सागरोपम होता है।

इस सागरोपम प्रमाण से—१. सुषम सुषमा का कालमान चार सागरोपम कोडाकोडि है। २. सुषमा का कालमान तीन सागरोपम कोडाकोडि है। ३. सुषम-दुःषमा का कालमान दो सागरोपम कोडाकोडि है। ४. दुःषम-सुषमा का कालमान बयालीस हजार वर्ष न्यून एक सागरोपम कोडाकोडि है। ५. दुःषमा

दूसम-सुसमा ५. एककवीसं वाससहस्साइं कालो दूसमा ६. एककवीसं वाससहस्साइं कालो दूसम-दूसमा ।

पुनरवि उस्सपिणीए १. एककवीसं वाससहस्साइं कालो दूसम-दूसमा २. एककवीसं वाससहस्साइं कालो दूसमा ३. एगा सागरोवमकोडाकोडी बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिया कालो दूसम-सुसमा ४. दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसम-दूसमा ५. तिण्णि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमा ६. चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसम-सुसमा ।

दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसपिणी, दस सागरोवमकोडाकोडीओ कालो उस्सपिणी, वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसपिणी उस्सपिणी य ॥

सुषमा ५. एकविंशतिः वर्षसहस्राणि कालः दुःषमा ६. एकविंशतिः वर्षसहस्राणि कालः दुःषम-दुषमा ।

पुनरपि उत्सर्पिण्याम्—१. एकविंशतिः वर्षसहस्राणि कालः दुःषम-दुःषमा २. एक-विंशतिः वर्षसहस्राणि कालः दुःषमा ३. एका सागरोपमकोटिकोटिः द्वि-चत्वारिंशता वर्षसहस्रैरुनिता कालः दुःषम-सुषमा ४. द्वे सागरोपमकोटिकोटि कालः सुषम-दुःषमा ५. तिस्रः सागरोपमकोटिकोट्यः कालः सुषमा ६. चतस्रः सागरोपमकोटिकोट्यः कालः सुषम-सुषमा ।

दश सागरोपमकोटिकोट्यः कालः अवसर्पिणी, दश सागरोपमकोटिकोट्यः कालः उत्सर्पिणी, विंशतिः सागरोपमकोटिकोट्यः कालः अवसर्पिणी उत्सर्पिणी च ॥

का कालमान इक्कीस हजार वर्ष है। ६. दुःषम-दुःषमा का कालमान इक्कीस हजार वर्ष हैं।

पुनः उत्सर्पिणी में—१. दुःषम-दुःषमा का कालमान इक्कीस हजार वर्ष हैं। २. दुःषमा का कालमान इक्कीस हजार वर्ष हैं। ३. दुःषम-सुषमा का कालमान बयालीस हजार वर्ष न्यून एक सागरोपम कोडाकोड़ि है। ४. सुषम-दुःषमा का कालमान दो सागरोपम कोडाकोड़ि है। ५. सुषमा का कालमान तीन सागरोपम कोडाकोड़ि है। ६. सुषम-सुषमा का कालमान चार सागरोपम कोडाकोड़ि है।

अवसर्पिणी का कालमान दस सागरोपम कोडाकोड़ि है। उत्सर्पिणी का कालमान दस सागरोपम कोडाकोड़ि है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों का समन्वित कालमान बीस सागरोपम कोडाकोड़ि है।

भाष्य

१. सूत्र १३३, १३४

शीर्षप्रहेलिका तक का काल गणित का विषय है—गणितप्रमेय है। इससे अधिक काल का ज्ञान उपमा के द्वारा किया जाता है। इसलिए उसे 'औपमिक काल' कहा जाता है। औपमिक काल के दो प्रकार हैं—पत्योपम और सागरोपम। औपमिक काल का प्रारम्भ-बिन्दु परमाणु है। वह दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म परमाणु और व्यावहारिक परमाणु। प्रस्तुत प्रसंग में सूक्ष्म परमाणु विवक्षित नहीं है। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं से एक व्यावहारिक परमाणु निष्पन्न होता है। उसका सुतीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा छेदन-भेदन नहीं किया जा

सकता। विस्तृत विवरण के लिए अणुओगदाराई, सू. ३९६-३९९ द्रष्टव्य है। अभयदेवसूरि ने लिखा है कि शस्त्र से छेदन-भेदन नहीं किया जा सकता—यह लक्षण नैश्चयिक परमाणु में भी घटित होता है। यहां प्रमाण के अधिकार में व्यावहारिक परमाणु विवक्षित है।

प्रस्तुत आगम में 'अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं' पाठ है। और अणुओगदाराई में 'अणंताणं ववहारियपरमाणुपोग्गलाणं' पाठ है। अभयदेवसूरि ने परमाणु का अर्थ 'व्यावहारिक परमाणु' किया है। भगवती और अणुओगदाराई की तुलना यहां तालिका में दी जा रही है—

भगवती ६/१३४	अणुओगदाराई सू. ३९९, ४००
अनन्त परमाणुपुद्गलो की एक उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका	अनन्त व्यावहारिक परमाणुपुद्गलो की एक उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका
८ उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका = एक श्लक्षणश्लक्ष्णिका	८ उत्तरलक्षणश्लक्ष्णिका = एक श्लक्षणश्लक्ष्णिका
८ श्लक्षणश्लक्ष्णिका = एक ऊर्ध्वरेणु	८ श्लक्षणश्लक्ष्णिका = एक ऊर्ध्वरेणु
८ ऊर्ध्वरेणु = एक त्रसरेणु	८ ऊर्ध्वरेणु = एक त्रसरेणु
८ त्रसरेणु = एक रथरेणु	८ त्रसरेणु = एक रथरेणु
८ रथरेणु = देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र	८ रथरेणु = देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र
इसी प्रकार—हरिवर्ष-रम्यक्-हैमवत हैरण्यवत ^१ -पूर्वविदेह-अपरविदेह ^३ के मनुष्यों का ८ बालाग्र = एक लिक्षा	देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों के ८ बालाग्र = हरिवर्ष - रम्यक्वर्ष के मनुष्यों का एक बालाग्र

१. भ. वृ. ६/१३४—यद्यपि च नैश्चयिकपरमाणुपरिदमेव लक्षणं तथाऽपीह प्रमाणा-धिकाराद्व्यावहारिकपरमाणुलक्षणमिदमवसेयम् ।

२. अणु. सू. ४१८-४३२। भ. मूलपाठ में हेरण्यवयाणं है, पर ठाणं और अनु. में हेरण्यवयाणं है।
३. भ. मूलपाठ में अपरविदेह नहीं है, कूट गया है।

भरत-ऐरवत मनुष्यों के ८ बालाग्र = एक लिक्षा	हरिवर्ष-रम्यकृवर्ष के मनुष्यों के ८ बालाग्र = हैमवत्-हैरण्यवत् के मनुष्यों का एक बालाग्र
८ लिक्षा = एक यूका	हैमवत्-हैरण्यवत् के मनुष्यों के ८ बालाग्र = पूर्वविदेह-अपरविदेह के मनुष्यों का एक बालाग्र
८ यूका = एक यवमध्य	पूर्वविदेह-अपरविदेह मनुष्यों के ८ बालाग्र = भरत ऐरवत के मनुष्यों का एक बालाग्र
८ यवमध्य = एक अंगुल	भरत-ऐरवत के मनुष्यों का ८ बालाग्र = एक लिक्षा
६ अंगुल = एक पाद	८ लिक्षा = एक यूका
१२ अंगुल = एक वितस्ति	८ यूका = एक यवमध्य
२४ अंगुल = एक रत्नि	८ यवमध्य = एक उत्सेध अंगुल
४८ अंगुल = एक कुक्षि	६ अंगुल = एक पाद
९६ अंगुल = एक दंड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मुसल	१२ अंगुल = एक वितस्ति
२,००० धनुष = एक गव्यूत	२४ अंगुल = एक रत्नि
४ गव्यूत = एक योजन	४८ अंगुल = एक कुक्षि
	९६ अंगुल = एक दंड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मुसल
	२,००० धनुष = एक गव्यूत
	४ गव्यूत = एक योजन

एक पत्य जो एक योजन लम्बा, चौड़ा व एक योजन ऊंचा, वह एक से सात दिन के शिशु के केशों से भरा हुआ है। सौ-सौ वर्ष से एक-एक केश निकालने पर वह पत्य खाली हो, उतना काल एक व्यावहारिक पत्योपम कहलाता है। पत्य की विस्तृत चर्चा के लिए अणुओगदाराई द्रष्टव्य है। अभयदेवसूरी ने भी व्यावहारिक और सूक्ष्म पत्योपम की चर्चा की है। 'विश्वप्रहेलिका' में कालमान का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है—

आवलिका : जघन्य-युक्त-असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। जघन्य-युक्त-असंख्यात का मान जघन्य-परीत-असंख्यात को जघन्य-परीत-असंख्यात से अभ्यास गुणित करने पर आता है। प्राण (उच्छ्वास-निःश्वास) : $\frac{४४४६ \times २४५८}{३७७३}$ आवलिकाओं का एक प्राण होता है। निरोगी, बलवान्, युवक पुरुष के एक उच्छ्वास-निःश्वास की क्रिया में लगने वाला काल १ प्राण है।

संख्यात काल-मान कोष्टक

१ समय=काल का सूक्ष्मतम अंश

जघन्य-युक्त-असंख्य समय = १ आवलिका

$\frac{४४४६ \times २४५८}{३७७३}$	आवलिका =	१ प्राण	”	अडडांग =	१ अडड
७	प्राण =	१ स्तोक	”	अडड =	१ अववांग
७	स्तोक =	१ लव	”	अववांग =	१ अवव
$\frac{३८}{१}$	लव =	१ घड़ी	”	अवव =	१ हूकांग
२	घड़ी =	१ मुहूर्त (=४८ मिनट)	”	हूकांग =	१ हूक
३०	मुहूर्त =	१ अहोरात्र	”	हूक =	१ उत्पलांग
३०	अहोरात्र =	१ मास	”	उत्पलांग =	१ उत्पल
१२	मास =	१ वर्ष	”	उत्पल =	१ पद्मांग
८४०००००	वर्ष =	१ पूर्वांग	”	पद्मांग =	१ पद्म
”	पूर्वांग =	१ पूर्व	”	पद्म =	१ नलिनांग
”	पूर्व =	१ त्रुटितांग	”	नलिनांग =	१ नलिन
”	त्रुटितांग =	१ त्रुटित	”	नलिन =	१ अर्थनिपुरांग
”	त्रुटित =	१ अडडांग	”	अर्थनिपुरांग =	१ अर्थनिपुर

१. लेखक—गुनि श्री महेंद्र कुमारजी 'द्वितीय', प्र. इवेरी प्रकाशन, बंबई, १९६८—पृ. २४२-२५२

” अर्थनिपुर =	१ अयुतांग	” नयुतांग =	१ नयुत
” अयुतांग =	१ अयुत	” नयुत =	१ चूलिकांग
” अयुत =	१ प्रयुतांग	” चूलिकांग =	१ चूलिका
” प्रयुतांग =	१ प्रयुत	” चूलिका =	१ शीर्षप्रहेलिकांग
” प्रयुत =	१ नयुतांग	” शीर्षप्रहेलिकांग =	१ शीर्षप्रहेलिका

यह कोष्ठक श्वेताम्बर-परम्परा के आधार पर दिया गया है।^१ दिगम्बर-परम्परा में वर्ष के बाद के मान निम्न रूप से मिलते हैं:^२

८४००००० वर्ष	=	१ पूर्वांग	८४००००० त्रुटितांग	=	१ त्रुटित
८४००००० पूर्वांग	=	१ पूर्व	८४ त्रुटित	=	१ अटटांग
८४ पूर्व	=	१ पूर्वांग ^३	८४००००० अटटांग	=	१ अटट
८४००००० पूर्वांग	=	१ पूर्व ^३	८४ अटट	=	१ अममांग
८४ पूर्व	=	१ नयुतांग ^४	८४००००० अममांग	=	१ अमम
८४००००० नयुतांग	=	१ नयुत	८४ अमम	=	१ हाहांग
८४ नयुत	=	१ कुमुदांग	८४००००० हाहांग	=	१ हाहा
८४००००० कुमुदांग	=	१ कुमुद	८४ हाहा	=	१ हूहांग
८४ कुमुद	=	१ पद्मांग	८४००००० हूहांग	=	१ हूहू
८४००००० पद्मांग	=	१ पद्म	८४ हूहू	=	१ लतांग
८४ पद्म	=	१ नलिनांग	८४००००० लतांग	=	१ लता
८४००००० नलिनांग	=	१ नलिन	८४ लता	=	१ महालतांग
८४ नलिन	=	१ कमलांग	८४००००० महालतांग	=	१ महालता
८४००००० कमलांग	=	१ कमल	८४००००० महालता	=	१ श्रीकल्प
८४ कमल	=	१ त्रुटितांग	८४००००० श्रीकल्प	=	१ हस्त-प्रहेलित
			८४००००० हस्त-प्रहेलित	=	१ अचलात्म

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट संख्यात काल-मान शीर्षप्रहेलिका है, जिसका मूल्य है:^३

$$(८४०००००)^{३६} = (८४^{३६} \times १०^{१४०})$$

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार उत्कृष्ट संख्यात काल-मान 'अचलात्म' है, जिसका मूल्य है:

$$(८४^{३६} \times १०^{१४०})$$

असंख्यात काल-मान

समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक के काल-मान संख्या के द्वारा निर्दिष्ट हो सकते हैं, इसलिये ये 'संख्यात काल-मान' माने गये हैं। वास्तविक दृष्टि से तो 'संख्या' का विषय 'शीर्षप्रहेलिका' से आगे भी है,^५ किन्तु व्यावहारिक गणित की मर्यादा के बाहर होने के कारण 'शीर्षप्रहेलिका' को उत्कृष्ट संख्यात काल-मान माना गया है।

असंख्यात काल-मानों की परिभाषाएं उपमा के द्वारा दी गई हैं। इनके मुख्य दो भेद हैं:

१. पल्योपम
२. सागरोपम

पल्योपम

बेलनाकार खड्डे या कुएं को 'पल्य' कहा जाता है। 'पल्य' की उपमा से बताया गया मान 'पल्योपम' है। श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में इसका वर्णन भिन्न-भिन्न रूप से मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार:

एक बेलनाकार वर्तुल का व्यास उत्सेध अंगुल प्रमाण से १ योजन है। बेलन की ऊंचाई भी १ योजन है। इस कुएं को देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के केशाग्रों से सम्पूर्ण भरा जाता है, जिससे कि बेलन का समग्र आकाश केशाग्रों से व्याप्त हो जाए। बेलन में समाहित केशाग्रों की संख्या निकालने के लिए पहले बेलन का घनफल निकालना आवश्यक है।

१. देखें अनुयोगद्वार सूत्र: समय का विषय; लोक-प्रकाश, सर्ग २८-२९; भगवती सूत्र, ६-७

२. तिलोपपण्णती, ४-२९३ से ३०७; आदिपुराण, ३—२१८, २२७; लोकविभाग, ५—१३९-१४८

३. ये दो नाम तिलोपपण्णती में छूट गए हैं, ऐसा लगता है।

४. तिलोपपण्णती में 'नियुतांग' और 'नियुत' हैं।

५. आदिपुराण और लोक विभाग में यहाँ शिरःप्रकम्पित है।

६. यह मूल्य बालभ्य वाचना के आधार पर है। माथुरी वाचना के आधार पर इसका मूल्य $(८४०००००)^{३६}$ होता है।

बेलन का आधार वर्तुल है। इस वर्तुल का क्षेत्रफल
= π (त्रिज्या)^२

बेलन का घनफल = π (त्रिज्या)^२ X ऊंचाई

इस समीकरण में π का मान $\frac{१९}{६}$ लिया गया है।^१

क्षेत्र-मान कोष्ठक के आधार पर १ योजन मान क्षेत्र के ७६८००० उत्सेध-अंगुल होते हैं। १ उत्सेध-अंगुल के ८^० देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के बालाग्र होते हैं; अतः

१ योजन = ८^० X ७६८००० देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों के बालाग्र^२

$$\text{व्यास} = ८^० X ७६८०००$$

$$\therefore \text{त्रिज्या} = \frac{८^० X ७६८०००}{२} \text{ दे.उ.क्षे.म. बालाग्र}$$

$$\text{ऊंचाई} = ८^० X ७६८००० \text{ दे.उ.क्षे.म. बालाग्र}$$

अतः बेलन का घनफल

$$= \frac{१९}{६} \left(\frac{८^० X ७६८०००}{२} \right)^२$$

$$= ३३०, ७६२, १०४, २४६, ५६२, ५४२, १९९, ६०९, ७५३,$$

६००,०००,०००,० घन दे.उ. क्षे.म. बालाग्र

$$= ३.३० X १०^{१६} घन दे.उ.क्षे.म. बालाग्र लगभग^३$$

इस प्रकार बेलन में समाहित बालाग्र की संख्या

$$= ३.६ X १०^{१६}$$

हैं। ये बालाग्र चार प्रकार^४ से बाहर निकाले जाते हैं, जिसके फलस्वरूप चार प्रकार के पत्योपम होते हैं:

१. बादर उद्धार पत्योपम—प्रति समय एक बालाग्र कुएं में से बाहर निकाला जाए। जितने काल में वह खड़डा खाली हो जाए, उतने काल को बादर उद्धार पत्योपम कहते हैं। बादर उद्धार पत्योपम केवल औपचारिक पत्योपम है, क्योंकि इसका मान संख्यात समयों का है। प्रति समय एक बालाग्र बाहर निकालने पर,

$$३.३ X १०^{१६}}$$

समयों में कुआं खाली हो जायेगा। इस प्रकार एक बादर उद्धार पत्योपम

$$= ३.३ X १०^{१६}}$$
 समय

२. सूक्ष्म उद्धार पत्योपम—पूर्वोक्त बालाग्रों में से प्रत्येक बालाग्र के 'असंख्य' खण्ड किये जाते हैं। प्रत्येक खण्ड केवल चक्षु द्वारा देखे जाने वाले

सूक्ष्मतम पदार्थ से भी असंख्य गुना छोटा होता है। इस प्रकार के बालाग्र-खण्डों में से प्रति समय एक बालाग्र-खण्ड कुएं में से बाहर निकालने पर जितने काल में समग्र कुंआं रिक्त हो जाता है, उतने काल को 'सूक्ष्म उद्धार पत्योपम' (सू.उ.प.) कहते हैं। इस प्रकार

$$१ \text{ सू.उ.प.} = \{(३.३ X १०^{१६}\} X \text{ असंख्यात} \} \text{समय}}$$

३. बादर अद्धार पत्योपम—पूर्वोक्त रीति से बालाग्रों से भरे हुए कुएं में से प्रति १०० वर्ष में एक बालाग्र निकालने पर जितने काल में समग्र कुंआं रिक्त हो जाता है, उतने काल को 'बादर अद्धार-पत्योपम' कहते हैं। संख्यात वर्षों का मान होने के कारण यह भी केवल औपचारिक पत्योपम है। प्रति १०० वर्ष में १ केशाग्र बाहर निकालने पर,

$$१०० X ३.३ X १०^{१६}}$$
 वर्षों

में कुंआं रिक्त हो जाता है। इस प्रकार

एक बादर अद्धार-पत्योपम

$$= १०० X ३.३ X १०^{१६}}$$
 वर्ष

$$= ३.३ X १०^{१६}}$$
 वर्ष

४. सूक्ष्म अद्धार पत्योपम—सूक्ष्म उद्धार पत्योपम की तरह प्रत्येक बालाग्र के असंख्य खण्ड किये जाते हैं। प्रति १०० वर्ष में एक बालाग्र खण्ड बाहर निकालने पर जितने काल में कुंआ रिक्त हो जाता है, उतने काल को 'सूक्ष्म अद्धार पत्योपम' (सू.अ.प.) कहते हैं। इस प्रकार,

$$१ \text{ सू.अ.प.} = \{(३.३. X १०^{१६}\} X १०० X \text{ असंख्यात} \} \text{वर्ष}}$$

$$= \{(३.३ X १०^{१६}\} X \text{ असंख्यात} \} \text{वर्ष}}$$

असंख्यात काल-मान कोष्ठक

$$१ \text{ सूक्ष्म अद्धार पत्योपम} = ३.३ X १०^{१६}}$$
 असंख्यात समय

$$१ \text{ सूक्ष्म उद्धार पत्योपम} = ३.३ X १०^{१६}}$$
 असंख्यात वर्ष

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार^५

श्वेताम्बर-परम्परा में बताये गये कुंए के वर्णन में जो योजन उत्सेध-अंगुल से निष्पन्न था, वह यहां प्रमाणानुगुल से निष्पन्न माना गया है। १ प्रमाणानुगुल के ५०० उत्सेध-अंगुल होते हैं। अतः

$$१ \text{ योजन} = (७६८००० X ५०० X ८^०) \text{ उत्तम भोग भूमि के बालाग्र}$$

अतः बेलन का घनफल^६

$$= \frac{१९}{६} X \frac{१}{४} X (७६८००० X ५०० X ८^०)^३$$

$$= ४१३, ४५२, ६३०, ३०८, २०३, १७७, ७४९, ५१२,$$

$$१९२, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ००० \text{ घन उत्तम भोग भूमि बालाग्र}$$

१. इसका विवेचन परिशिष्ट—३ में किया गया है।

२. अनुयोगद्वारा सूत्र, उपमा विषय; तथा लोकप्रकाश: १-६८ से १२९ के आधार पर।

३. वर्तुल की परिधि को वर्तुल के व्यास का भाग देने पर आने वाली संख्या को π कहते हैं। इसका संख्यात्मक मूल्य निकालने के लिए अति प्राचीन काल से प्रयत्न किया गया है। जैन आगमों में π के लिए 'तीन से कुछ अधिक' ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं—(देखें, अनुयोगद्वारा सूत्र, उपमा विषया)। आगमों में इसका मूल्य $\sqrt{१०}$ अथवा $\frac{१९}{६}$ लिया गया है। (देखें त्रिलोकसार, गाथा १७; तिलोयपण्णती, १-११७; लोकप्रकाश, १-७)। जैनतर प्राचीन ग्रन्थों में भी π के लिए $\sqrt{१०}$ का उपयोग हुआ है। (देखें, प्राचीन भारत में गणित का योग, पृ. ८) षट्खण्डागम पर वीरसेनाचार्य (ई.सन् ८१६) रचित ध्वला टीका में दिये गए एक श्लोक के अनुसार π का मूल्य $(३ + \frac{१९}{११३} + \frac{१९}{११३ X \text{ व्यास}})$ होता है। देखें, षट्खण्डागम, १-३-२ में श्लोक १४, पुस्तक ४, पृ. ४२। इसमें प्रथम पद में स्थित संख्या का मान ३.१४१५९२९२.....

आता है। आधुनिक गणित - शास्त्र के अनुसार π का मूल्य निम्न श्रेणी से व्यक्त होता है:

$$\pi = ४ \left(१ - \frac{१}{३} + \frac{१}{५} - \frac{१}{७} + \frac{१}{९} - \frac{१}{११} + \dots \right)$$

इसका मूल्य १४ दशमलव स्थान तक निकालने पर,

$$\pi = ३.१४१५९२६५३५८९७९ \text{ आता है। (देखें, ज्योमेट्री, ले. चार्ल्स एफ बूमफिड, रोबर्ट आईकोल्फ और मेरील ई. शान्क्स, पृ. २०४-२०५)}।$$

५. π का मूल्य ३.१४१५ लेने पर इस संख्या का मूल्य ३.०६ X १०^{३६} आता है।

६. वस्तुतः तो छः प्रकार से निकाले जाते हैं, किन्तु अंतिम दो प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में उपयोगी नहीं होने के कारण नहीं दिये गये हैं।

७. तिलोयपण्णती, १-११९ से १३० के आधार से।

८. यहां पर भी π का मूल्य १९/६ लिया गया है।

= ४.१३ X १०^{४४} घन उत्तम भोग भूमि के बालाग्र लगभग^१
 इस प्रकार पल्य (कुएं) में समाहित बालाग्र की संख्या
 = ४.१३ X १०^{४४} है।

इन बालाग्रों को बाहर निकालने के प्रकारों के आधार पर तीन प्रकार के पल्योपम होते हैं।

१. व्यवहार पल्योपम—प्रति १०० वर्ष में १ बालाग्र बाहर निकालने पर जितने काल में सम्पूर्ण कुंआं रिक्त होता है, उतने काल को व्यवहार पल्योपम कहते हैं। व्यवहार पल्योपम औपचारिक पल्योपम है; क्योंकि इसका मान संख्यात वर्षों का है। प्रति १०० वर्षों में एक बालाग्र बाहर निकालने पर,

$$४.१३ \times १०^{४४} \times १०० \text{ वर्षों में कुंआं रिक्त हो जायेगा; अतः}$$

$$१ \text{ व्यवहार-पल्योपम} = ४.१३ \times १०^{४४} \times १०० \text{ वर्ष}$$

२. उद्धार-पल्योपम—व्यवहार पल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने खण्ड किये जाते हैं और इन खण्डों से पूर्वोक्त कुंआं भरा जाता है। जितने काल में कुंआं रिक्त हो जाता है, उतने काल को उद्धार पल्योपम कहा जाता है। इस प्रकार

$$१ \text{ उद्धार पल्योपम} = (४.१३ \times १०^{४४}) \times (\text{असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों की संख्या}) \text{ समय}$$

यदि १ वर्ष के समय की संख्या 'अ_१' हो और 'असंख्यात' वर्ष 'अ_२' हो तो

$$१ \text{ उद्धार पल्योपम} = (४.१३ \times १०^{४४} \times \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \times १०^०) \text{ समय किन्तु अ}_१ \text{ समय} = १ \text{ वर्ष}$$

अतः

$$१. \text{ उद्धार पल्योपम} = (४.१३ \times १०^{४४} \times १०^० \times \text{अ}_२) \text{ वर्ष} = (१०^० \times \text{अ}_२) \text{ व्यवहार पल्योपम}$$

३. अद्धा पल्योपम—उद्धार पल्य के बालाग्र-खण्डों में से प्रत्येक के असंख्यात वर्षों के जितने समय होते हैं, उतने खण्ड किये जाते हैं। पूर्वोक्त प्रकार के कुंएं को इन खण्डों से सम्पूर्णतया भरा जाता है। प्रति समय एक खण्ड बाहर निकालने पर जितने काल में कुंआं रिक्त होता है, उतने काल को अद्धा पल्योपम कहते हैं। इस प्रकार, कुंएं में रहे खण्डों की संख्या

$$= (४.१३ \times १०^{४४} \times \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \times १०^०) \times (\text{असंख्यात वर्षों के समयों की संख्या})$$

यदि असंख्यात वर्ष अ_३ हो,

$$१ \text{ अद्धा पल्योपम} = (४.१३ \times १०^{४४} \times \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \times १०^० \times \text{अ}_३ \times \text{अ}_१) \text{ समय}$$

$$= (४.१३ \times १०^{४४} \times \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \times \text{अ}_३ \times १०^०) \text{ वर्ष}$$

$$= (४.१३ \times १०^{४४}) \times \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \times \text{अ}_३ \text{ वर्ष}$$

= १०^० अ_१ अ_२ अ_३ व्यवहार पल्योपम

यदि हम अ_२ = अ_३ मान लें, तो

$$१ \text{ अद्धा पल्योपम} = १०^० \times \text{अ}_१ (\text{अ}_२)^२ \text{ व्यवहार पल्योपम} = (\text{अ}_१ \times \text{अ}_२) \text{ उद्धार पल्योपम}$$

पल्योपम काल-मान कोष्ठक

$$(१ \text{ व्यवहार पल्योपम} = ४.१३ \times १०^{४४} \text{ वर्ष})$$

$$१ \text{ उद्धार पल्योपम} = (१०^० \times \text{अ}_२) \text{ व्यवहार पल्योपम}$$

$$१ \text{ अद्धा पल्योपम} = \text{अ}_१ \times \text{अ}_२ \text{ उद्धार पल्योपम}$$

काल-मान और क्षेत्र-मानों का परस्पर सम्बन्ध

काल-मान और क्षेत्र-मानों के परस्पर सम्बन्ध को सूचित करने वाले दो समीकरण दिगम्बर-परम्परा में मिलते हैं। इन समीकरणों में 'अर्धच्छेदों' का उपयोग हुआ है। छेदागणित का आधुनिक नाम 'लघुगणक (लोगरीद्म)' है।

प्रथम समीकरण में सूची अंगुल और अद्धा पल्योपम का सम्बन्ध इस प्रकार दिया गया है:^२ 'अद्धा पल्योपम के जितने अर्धच्छेद हों, उतनी जगह पल्य को रख कर परस्पर में गुणन करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे 'सूची अंगुल' कहते हैं।'

संज्ञा में

(लघु_२ अद्धापल्य)

$$\text{सूची अंगुल} = (\text{अद्धापल्य})$$

यहां पर सूची अंगुल और अद्धापल्य कौनसे मान में होने चाहिए, इसका उल्लेख नहीं है; फिर भी अनुमान से^३ ये मान क्रमशः 'प्रदेश' और 'समय' हैं, ऐसा लगता है; क्योंकि 'प्रदेश' और 'समय' क्रमशः क्षेत्र और 'काल' के इकाई मान हैं। इस प्रकार

$$\text{यदि सूची अंगुल} = \text{अ प्रदेश}$$

$$\text{और अद्धापल्य} = \text{प समय हो, तो}$$

$$\text{अ} = \text{प (लघु प)}$$

दूसरा समीकरण जगश्रेणी और अद्धापल्य के सम्बन्ध का है।^४

"अद्धापल्य की अर्धच्छेद राशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुल को रख कर उनके परस्पर गुणन करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे जगश्रेणी कहते हैं।" संज्ञा में:

लघु_२ अद्धापल्य

असंख्यात

$$\text{जगश्रेणी} = (\text{घनांगुल})$$

यहां पर 'घनांगुल' का अर्थ 'सूची अंगुल' का घन है अर्थात् सूची-अंगुल के प्रदेशों की संख्या का घन। इसलिये

$$\text{यदि जगश्रेणी} = \text{ज प्रदेश और असंख्यात} = \text{अ हो, तो}$$

१. π का मूल्य ३.१४१५ लेने पर, यह संख्या—४.०७ X १०^{४४} लगभग आती है।

२. 'लघुगणक' की व्याख्या:

यदि लघु_२ क = अ हो

तो अ^क = क होता है।

'क' को 'स्थापना' (Base) कहते हैं।

अर्धच्छेद का अर्थ होता है 'स्थापना दो के लघुगणक' (Logarithm to the base_२) और इसका संज्ञा में 'लघु_२' (log_२) लिखा जाता है। वास्तव में किसी संख्या के अर्धच्छेद उस संख्या के बराबर होते हैं, जितने बार कि हम उसका अर्धकरण कर सकें। अर्थात्

यदि किसी राशि क के अर्धच्छेद अ प्राप्त करने हों तो

$$\text{अ} = \text{क के अर्धच्छेद} = \text{लघु}_२ \text{ क होता है।}$$

$$\text{अर्थात् अ}^२ = \text{क होना चाहिए।}$$

३. तिलोयपण्णती, १-१३१।

४. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने भी तिलोयपण्णती का गणित में यही निरूपण किया है। देखें, जम्बूद्वीपपण्णत्ति संग्रहो की प्रस्तावना, पृ. १०२, १०४।

५. वही, १-१३१।

$$ज = (अं^३) \left(\frac{लपु, प}{५} \right)$$

इन दो समीकरणों के मिलाने से,

$$\left(\frac{३ लपु, प}{५} \right)$$

$$ज = प \left(\frac{लपु, प}{२} \right)$$

$$\left\{ \frac{३ (लपु, प)^२}{५} \right\}$$

$$ज = प$$

सागरोपम—१० कोटाकोटि^१ पत्योपमों का एक सागरोपम होता है। पत्योपम के सूक्ष्म-बादर, उद्धार और अद्धार तथा व्यवहार, उद्धार और अद्धार भेद होते हैं उसी प्रकार सागरोपम के हैं।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

- १० कोटाकोटि बादर उद्धार पत्योपम = १ बादर उद्धार सागरोपम
- १० कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धार पत्योपम = १ सूक्ष्म उद्धार सागरोपम
- १० कोटाकोटि बादर अद्धार पत्योपम = १ बादर अद्धार सागरोपम
- १० कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धार पत्योपम = १ सूक्ष्म अद्धार सागरोपम

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार

- १० कोटाकोटि व्यवहार पत्योपम = १ बादर व्यवहार सागरोपम
- १० कोटाकोटि उद्धार पत्योपम = १ उद्धार सागरोपम
- १० कोटाकोटि अद्धार पत्योपम = १ अद्धार सागरोपम

शब्द-विमर्श

सिद्ध—प्रस्तुत प्रसंग में सिद्ध का अर्थ केवली है।^१

समुदय-समिति-समागम—पुद्गल में एकीभाव हो सकता है, इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में समागम का अर्थ परिणमन से होने वाला एकीभाव है।^२

संमूष्ट—पूर्ण भरा हुआ।

संनिचित—सघन किया हुआ।

न असार होते हैं (नो कुच्छेज्जा)—पत्य से भरे हुए बालाग्र कुथित अथवा असार नहीं होते। वृत्तिकार ने उसके दो कारण बतलाए हैं—

- १. बालाग्रों का प्रचय सघन होने के कारण उसमें छिद्र नहीं होता।
- २. वायु का प्रवेश संभव नहीं होता, इसलिए वे असार नहीं होते।^३

कालचक्र—व्यावहारिक काल (सूर्य और चन्द्रमा की गति से होने वाला काल) पूर्ण मनुष्य-लोक (अढ़ाई द्वीप और समुद्र) में होता है। मनुष्य-लोक के कुछ क्षेत्र (भारत और ऐरावत) सौरमण्डल से अधिक प्रभावित होते हैं। वे सदा एकरूप नहीं रहते। उसमें हास और विकास का चक्र चलता है।^४

अकलंक के अनुसार अनुभव, आयुष्य का कालमान शरीर की लम्बाई आदि में वृद्धि और हास होता रहता है।^५

जंबुद्वीपपण्णती के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम में अनन्तगुना वृद्धि और हास होता है।

अकलंक ने इस परिवर्तन को कालहेतुक बतलाया है।^६ किन्तु इससे प्रश्न का समाधान नहीं होता, वास्तव में भौगोलिक स्थिति, पृथ्वी का वातावरण और सौरमण्डल का विकिरण—ये सब परिवर्तन के हेतु बनते हैं। क्षेत्र और काल (वातावरण) तीन प्रकार का होता है—१. स्निग्ध २. रूक्ष ३. स्निग्धरूक्ष। निशीथ चूर्णिकार ने लिखा है—देवकुरु और उत्तरकुरु में क्षेत्र की स्निग्धता के कारण तथा सुषमसुषमा में काल की स्निग्धता के कारण आयुष्य लम्बा होता है।^७ जंबुद्वीपपण्णती के अनुसार जब समय रूक्ष होता है, उस स्थिति में चन्द्रमा की सर्दी और सूर्य का ताप बढ़ जाता है। भगवान् ऋषभ से पूर्व स्निग्ध-काल था इसलिए अग्नि पैदा नहीं हुई। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—स्निग्धरूक्ष काल के आने पर अग्नि की उत्पत्ति हुई।^८

काल की स्निग्धता और रूक्षता की परिवर्तनशीलता के आधार पर भारत, ऐरावत क्षेत्र में क्रम चलता है। इस क्रम को अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के बारह काल-खण्डों में प्रदर्शित किया गया है। कालखण्ड की संज्ञा अर (आरा) है। जैसे चक्र के आरे होते हैं, वैसे ही अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी रूपक कालचक्र के बारह अर हैं। अवसर्पिणी के छह अरों में विकास से हास का क्रम चलता है। उत्सर्पिणी के छह अरों में हास से विकास का क्रम चलता है।

डार्विन आदि विकासवादी वैज्ञानिकों ने सृष्टि-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। आगमकारों को केवल विकास का सिद्धान्त मान्य नहीं है, विकास और हास दोनों का सिद्धान्त मान्य है। देखें कोष्ठक—

अवसर्पिणी — विकास से हास की ओर		
अर	विकास—हास	कालमान
१. सुषम-सुषमा	एकान्त विकास का कालखण्ड	चार कोटिकोटि सागर
२. सुषमा	विकास का कालखण्ड	तीन कोटिकोटि सागर

१. १ कोटाकोटि = १०^{१४}

२. अणु. वृ. ४१८-४३२

३. भ.वृ. ६/१३४—'सिद्धति' ज्ञानसिद्धा केवलिन इत्यर्थः न तु सिद्धा सिद्धिगता, एतेषां वदनस्यासंभवादिति।

४. वही, ६/१३४—समुदयाः द्ब्यादिसमुदायास्तेषां समितयो—मीलनानि, तासां समागमः—परिणामवशादेकीभवनं, समुदयसमितिसमागमास्तेन या परिमाणमात्रेति गम्यते।

५. वही, ६/१३४—न कुथ्येयुः प्रचयविशेषादेव शुषिराभावाद् वायोरसम्भवाच्च नासारातां गच्छेयुः।

६. त.सू. ३/२७—भरतैरावतयोर्वृद्धिहासो षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।

७. त.रा.वा. ३/२७—अनुभवः उपयोगपरिभोगसम्पत्, आयुर्जीवितपरिमाणं, प्रमाणं शरीरोत्प्रेध इत्येवमादिकृतौ मनुष्याणां वृद्धिहासौ प्रत्येत्यौ।

८. जंबु. २/५१, १३८।

९. त.रा.वा. ३/२७—किहेतुको पुनस्तौ, कालहेतुको।

१०. नि.चू. भाग ३, भा.गा. ३५४१ की चूर्णि—यथा देवकुरुतरासु क्षेत्रस्य स्निग्धगुणत्वादायुषो दीर्घत्वं, सुसमसुसमायां च कालस्य स्निग्धत्वादीर्घत्वमायुषः।

११. जंबु. २/१३१—समयलुस्रया एण अहियं चंदा सीयं मोच्छिहिति, अहियं सूरिया तन्निसंति।

१२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितं, प्रथम पर्व, श्लोक १४४—स्वायंप्यूचे—स्निग्धरूक्षकाल-दोषोऽग्निरुत्थितः। नैकान्तरूक्षे नैकान्तस्निग्धे काले भवत्यसौ।

३. सुषम-दुःषमा	विकास की प्रधानता और हास की अल्पता	दो कोटिकोटि सागर
४. दुःषम-सुषमा	हास की प्रधानता और विकास की अल्पता वाला कालखण्ड	एक कोटिकोटि सागर में बयालीस हजार वर्ष कम
५. दुःषमा	हास का कालखण्ड	इक्कीस हजार वर्ष
६. दुःषम-दुःषमा	एकान्त हास का कालखण्ड	इक्कीस हजार वर्ष

उत्सर्पिणी—हास से विकास की ओर		
अर	विकास—हास	कालमान
१. दुःषम-दुःषमा	एकान्त हास का कालखण्ड	इक्कीस हजार वर्ष
२. दुःषमा	हास का कालखण्ड	इक्कीस हजार वर्ष
३. दुःषम-सुषमा	हास की प्रधानता और विकास की अल्पता वाला कालखण्ड	एक कोटिकोटि सागर में बयालीस हजार वर्ष कम
४. सुषम-दुःषमा	विकास की प्रधानता और हास की अल्पता वाला कालखण्ड	दो कोटिकोटि सागर
५. सुषमा	विकास का कालखण्ड	तीन कोटिकोटि सागर
६. सुषम-सुषमा	एकान्त विकास का कालखण्ड	चार कोटिकोटि सागर

सुसम-सुसमाए भरहवास-पदं

१३५. जंबुद्वीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसम-सुसमाए समाए उत्तिमड्डपत्ताए, भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडो-यारे होत्था?

गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था, से जहानामए—आलिगपुक्खरे ति वा, एवं उत्तरकुरुवत्तव्वया नेयव्वा जाव—तत्थ णं बहवे भारथा मणुस्सा मणुस्सीओ य आसयंति सयंति चिद्धंति निसीयंति तुयद्धंति हसंति रमंति ललंति तीसे णं समाए भारहे वासे तत्थ-तत्थ देसे-देसे तहिं-तहिं बहवे उद्दाला को-दाला जाव कुस-विकुस-विसुद्धरूक्खमूला जाव छव्विहा मणुस्सा अणुसज्जित्था, तं जहा—पग्गंधा, मियगंधा, असमा, तेतली, सहा, सपिंचारी।

सुषम-सुषमायां भरतवर्ष-पदम्

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे अस्याम् अवसर्पिण्याम् सुषम-सुषमायां समायां उत्तमार्थ-प्राप्तायां भरतस्य वर्षस्य कीदृशः आकार-भावप्रत्यवतारः अभवत्?

गौतम ! बहुसमरमणीयः भूमिभागः अभवत्, तद् यथानाम—आलिङ्गपुष्करः इति वा, एवम् उत्तरकुरुवत्तव्यता ज्ञातव्या यावत् तत्र बहवः भारताः मनुष्याः मानुष्यः च आश्रयन्ति शेरते तिष्ठन्ति निषीदन्ति त्वग्वर्तयन्ति हसन्ति रमन्ते ललन्ते। तस्यां समायां भारते वर्षे तत्र-तत्र देशे-देशे तत्र-तत्र बहवः 'उद्दाला' 'कोद्दाला' यावत् कुश-विकुश-विशुद्धरूक्षमूलानि यावत् षड्विधाः मनुष्याः अनुषक्तवन्तः तद् यथा—पद्म-गन्धयः, मृगगन्धयः अममाः, तेजस्तलिनाः, सहाः, शनैश्चारिणः।

सुषम-सुषमा में भरतवर्ष-पद

१३५. 'भन्ते ! जम्बूद्वीप द्वीप में इस अवसर्पिणी के सुषम-सुषमा काल की प्रकृष्ट अवस्था में भरतवर्ष के आकार और भाव का अवतरण कैसा था?

गौतम ! उस समय का भूमिभाग समतल और रमणीय था जैसे मुरज (वाद्य) का मुखपुटी इस प्रकार उत्तरकुरु क्षेत्र की वक्तव्यता ज्ञातव्य है यावत् भरतवर्ष में रहने वाले अनेक भारतीय मनुष्य और स्त्रियां उस भूमिभाग पर आश्रय लेती हैं, सोती हैं, ठहरती हैं, बैठती हैं, करवट लेती हैं, हंसती हैं, क्रीडा करती हैं, खेलती हैं। उस समय भारत वर्ष के खण्ड-खण्ड, प्रदेश-प्रदेश और इधर-उधर अनेक उद्दाल, कोद्दाल यावत् दर्भ और बल्वज आदि तृणों से रहित मूल वाले वृक्ष हैं यावत् छह जाति के मनुष्यों की परम्परा चल रही थी, जैसे—पद्मगन्ध, मृगगन्ध, अमम, तेतली, सह, शनैश्चारी।^१

भाष्य

१. सूत्र १३५

प्रस्तुत आलापक में अवसर्पिणी के सुषमसुषमा नामक अर की स्थिति का चित्रण किया गया है। उस समय भूमिभाग पूर्ण समतल था।

शब्द-विमर्श

प्रकृष्ट अवस्था (उत्तिमद्वपत्त) — प्राप्त आयुष्य आदि का उत्कर्ष-काल।^१ भ. ६/११७ में उत्तमकद्वपत्ताए प्रयोग मिलता है।

आकार और भाव में अवतरण (आगारभावपडोयारे) — आकृति और भाव (पर्याय) का अवतरण।

प्रायः समतल और रमणीय (बहुसमरमणिज्ज) — वृत्तिकार ने 'बहु' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है।^२ किन्तु आलिंग के संदर्भ में इसका अर्थ 'प्रायः' उचित लगता है।

मुरज (वाद्य) का मुखपुट (आलिंगपुक्खरे) — मृदंग तीन प्रकार का होता है—१. अंकी २. आलिंगी ३. ऊर्ध्वक। अंकी मृदंग हरीतकी (हरें) के आकार के समान अर्थात् बीच में मोटा तथा दोनों छोर में पतला होता है। आलिंगी मृदंग गोपुच्छ के आकार के समान एक भाग में मोटा और दूसरे भाग में क्रमशः पतला होता है। ऊर्ध्वक मृदंग यव (जौ) के आकार के समान होता है।

'पुष्कर' का अर्थ मृदंग का मुख है। अभयदेवसूरि ने आलिंगपुष्कर का अर्थ 'मृदंग का मुखपुट' किया है।

उद्दाल—वृक्षविशेष। लीसोड़ा वृक्षा कूडा

कोद्दाल—वृक्षविशेष। कोविदार।

कुस—दर्भ (घास)।

विकुस—बल्वज नाम की घास।

विसुद्ध—यहाँ प्रकरणवश 'विशुद्ध' का अर्थ 'रहित' है।

'कुस-विकुस'-विसुद्ध—इसका अर्थ है—कुश-विकुश नामक घास से रहित।

परम्परा चल रही थी (अणुसज्जित्था)—पूर्वकाल से कालान्तर में अनुवृत्त हो रहे थे।^३

२. पद्मगन्ध (पम्हगंधा) शनैश्चारी (सणिंचारी)

पद्मगन्ध से लेकर शनैश्चारी तक मनुष्यों की छह जातियाँ हैं—

पद्मगन्ध—इस जाति के मनुष्यों के शरीर में कमल के समान गन्ध होती है।

मृगगन्ध—इस जाति के मनुष्यों के शरीर में कस्तूरी के समान गन्ध होती है।

अमम—इस जाति के मनुष्य ममत्व रहित होते हैं।

तेतली—इस जाति के मनुष्य तेजस्वी और रूपवान् होते हैं।

सह—इस जाति के मनुष्य सहिष्णु और शक्तिशाली होते हैं।

शनैश्चारी—इस जाति के मनुष्यों में उत्सुकता जनित त्वरा नहीं होती।^४

१३६. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति॥

१३६. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. भ. वृ. १३५—उत्तमान्—तत्कालापेक्षयोत्कृष्टानर्थान्—आयुष्यकादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ता उत्तमकाष्ठान् प्राप्ता वा—प्रकृष्टावस्थां गता तस्याम्।

२. वही, ६/१३५—आकारम्य—आकृतेर्भावाः पर्यायाः, अथवाऽऽकाराश्च भावाश्च आकारभावास्तेषां प्रत्यवतारः—अवतरणमाविर्भाव आकारभावप्रत्यवतारः।

३. वही, ६/१३५—बहुसमः—अत्यन्तसमः।

४. वही, ६/१३५—'आलिंगपुक्खरे' ति मुरजमुखपटम्।

५. जै. आ. व. को।

६. वही,

७. भ. वृ. ६/१३५—कुशाः—दर्भाः विकुशा—बल्वजादयः तृणविशेषास्तैर्विशुद्धानि—तदपेतानि वृक्षमूलानि—तदधोभागा येषां ते तथा।

८. वही, ६/१३५—अनुसकवन्तः पूर्वकालात् कालान्तरमनुवृत्तवन्तः।

९. वही, ६/१३५—'पद्मगन्ध' ति पद्मसमगन्धयः 'मियगंध' ति मृगमदगन्धयः। 'अमम' ति ममकाररहिताः 'तेयतलि' ति तेजश्च तलं च रूपं येषामस्ति ते तेजस्तलिनः। 'सह' ति सहिष्णवः समर्थाः। 'सणिंचारे' ति शनैः मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवंशीलाः शनैश्चारिणः।

अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
पुढवी-आदिसु गेहादिपुच्छा-पदं	पृथिव्यादिषु गेहादिपृच्छा-पदम्	पृथ्वी आदि में गेह आदि की पृच्छा का पद
१३७. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ? गोयमा ! अट्ट पुढवीओ पण्णत्ताओ, तं जहा —रयणप्पभा जाव ईसीपन्भारा।।	कति भदन्त ! पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः ? गौतम ! अष्ट पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा— रत्नप्रभा यावद् ईषत् प्राग्भाराः ।	१३७. 'भन्ते ! पृथिव्यां कितनी प्रज्ञप्त हैं? गौतम ! आठ पृथिव्यां प्रज्ञप्त हैं, जैसे—रत्नप्रभा यावत् ईषत् प्राग्भारा ॥
१३८. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे गेहा इ वा ? गेहावणा इ वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ॥	अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथि- व्याः अधःगेहाः इति वा? गेहापणाः इति वा? गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।	१३८. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे घर हैं? घर की आपण हैं ? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।
१३९. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए अहे गाग्गा इ वा? जाव सण्णिवेसा इ वा? णो इणट्ठे समट्ठे ॥	अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः अधः ग्रामाः इति वा यावत् सन्निवेशाः इति वा? नायमर्थः समर्थः ।	१३९. भन्ते ! इस रत्नप्रभा (पृथ्वी) के नीचे क्या गांव हैं यावत् सन्निवेश हैं? यह अर्थ संगत नहीं है।
१४०. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे ओराला बलाहया संसेयंति? संमुच्छंति? वासं वासंति? हंता अत्थि । (६.७९) तिण्णि वि पकरंति—देवो वि पकरेति, असुरो वि पकरेति, नागो वि पकरेति ॥	अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथि- व्याः अधः उदाराः बलाहकाः संस्विद्यन्ति? संमुच्छन्ति? वर्षा वर्षन्ति? हन्त अस्ति । त्रयोऽपि प्रकुर्वन्ति—देवोऽपि प्रकरोति, असुरोऽपि प्रकरोति, नागोऽपि प्रकरोति ।	१४०. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्या बड़े मेघ संस्विन्न होते हैं? सम्मुच्छिन्न होते हैं? बरसते हैं? हां, ऐसा होता है । यह क्रिया तीनों ही करते हैं—देव भी करता है, असुर भी करता है, नाग भी करता है।
१४१. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बादरे थणियसहे? हंता अत्थि । (६.८१) तिण्णि वि पकरंति ॥	अस्ति भदन्त ! अस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां बादरः स्तनितशब्दः ? हन्त अस्ति । त्रयोऽपि प्रकुर्वन्ति।	१४१. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में क्या बादर (स्थूल) गर्जन का शब्द है? हां, है। यह क्रिया तीनों ही करते हैं।
१४२. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे बादरे अगणिकाए? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, नन्नत्थ विग्गह- गतिसमावन्नएणं ॥	अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथि- व्याः अधः बादरः अग्निकायः ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नान्यत्र विग्रह- गतिसमापन्नकात् ॥	१४२. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्या बादर अग्निकाय है? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है, विग्रह गति करते हुए जीवों को छोड़कर ।

१४३. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्ख-त्त-तारारूवा?
णो इणट्ठे समट्ठे।।

अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः अधः चन्द्र-सूर्य-ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूपाः ?
नायमर्थः समर्थः।।

१४३. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्या चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।

१४४. अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे चंदाभा ति वा? सूरभा ति वा?
णो इणट्ठे समट्ठे।
एवं दोच्चाए पुढवीए भाणियब्बं, एवं तच्चाए वि भाणियब्बं, नवरं—देवो वि पकरेति, असुरो वि पकरेति, नो नागो पकरेति। चउत्थीए वि एवं, नवरं—देवो एक्को पकरेति, नो असुरो, नो नागो। एवं हेड्डिल्लासु सव्वासु देवो पकरेति ॥

अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्याः अधः चन्द्राभा इति वा? सूरभा इति वा?
नायमर्थः समर्थः।
एवं द्वितीयायाः पृथिव्याः भणितव्यम्, एवं तृतीयायाः अपि भणितव्यम्, नवरम्— देवोऽपि प्रकरोति, असुरोऽपि प्रकरोति, नो नागः प्रकरोति। चतुर्थ्याः अपि एवं, नवरम्— देवः एकः प्रकरोति, नो असुरः, नो नागः। एवम् अधस्तनासु सर्वासु देवः प्रकरोति।

१४४. भन्ते ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे क्या चन्द्रमा की आभा है? सूर्य की आभा है?
यह अर्थ संगत नहीं है।
इसी प्रकार दूसरी पृथ्वी के विषय में वक्तव्य है। इसी प्रकार तीसरी पृथ्वी के विषय में भी वक्तव्य है। केवल इतना विशेष है—देव भी करता है, असुर भी करता है, नाग नहीं करता। चौथी पृथ्वी के विषय में भी इसी प्रकार वक्तव्यता। केवल इतना विशेष है— अकेला देव करता है, असुर नहीं करता, नाग भी नहीं करता। इसी प्रकार नीचे की सभी पृथ्वियों में अकेला देव करता है।

१४५. अत्थि णं भंते ! सोहम्मीसाणाणं कप्पाणं अहे गेहा इ वा? गेहावणा इ वा?
णो इणट्ठे समट्ठे ॥

अस्ति भदन्त ! सौधर्मेशानयोः कल्पयोः अधः गेहाः इति वा? गेहावणाः इति वा?
नायमर्थः समर्थः।।

१४५. भन्ते ! सौधर्म और ईशान कल्प के नीचे क्या घर हैं? घर की आपण हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।

१४६. अत्थि णं भंते ! ओराला बलाहया? हंता अत्थि।
देवो पकरेति, असुरो वि पकरेति, नो नाओ।
एवं थणियसट्ठे वि ॥

अस्ति भदन्त ! उदारः बलाहकाः? हन्त अस्ति।
देवः प्रकरोति, असुरोऽपि प्रकरोति, नो नागः।
एवं स्तनितशब्दः अपि।

१४६. भन्ते ! वहाँ बड़े मेघ हैं? हाँ, हैं।
उसे देव करता है, असुर भी करता है, नाग नहीं करता।
इसी प्रकार गर्जन शब्द की वक्तव्यता।

१४७. अत्थि णं भंते ! बादरे पुढवीकाए? बादरे अगणिकाए?
णो इणट्ठे समट्ठे, नन्नत्थ विग्गहगतिसमा-वन्नएणं ॥

अस्ति भदन्त ! बादरः पृथिवीकायः? बादरः अग्निकायः?
नायमर्थः समर्थः, नान्यत्र विग्रहगतिसमा-पन्नकात् ॥

१४७. भन्ते ! वहाँ क्या बादर पृथ्वीकाय है? बादर अग्निकाय है?
यह अर्थ संगत नहीं है, विग्रह गति करते हुए जीवों को छोड़ कर।

१४८. अत्थि णं भंते ! चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवा?
णो इणट्ठे समट्ठे ॥

अस्ति भदन्त ! चन्द्र-सूर्य-ग्रहगण-नक्षत्र-तारारूपाः?
नायमर्थः समर्थः।।

१४८. भंते ! वहाँ चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।

१४९. अत्थि णं भंते ! गामा इ वा? जाव सण्णिवेसा इ वा?
णो इणट्ठे समट्ठे ॥

अस्ति भदन्त ! ग्रामाः इति वा? यावत् सन्निवेशाः इति वा?
नायमर्थः समर्थः।।

१४९. भन्ते ! वहाँ क्या गांव हैं? यावत् सन्निवेश हैं?
यह अर्थ संगत नहीं है।

१५०. अत्थि णं भंते ! चंदाभा ति वा? सूरभा

अस्ति भदन्त ! चन्द्राभा इति वा? सूरभा इति

१५०. भंते ! क्या वहाँ चन्द्रमा की आभा है? सूर्य की

ति वा?

गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे ।

एवं सणकुमार-माहिंदेसु, नवरं—देवो एगो पकरेति। एवं बंभलोए वि। एवं बंभलोगस्स उवरिं सव्वेहिं देवो पकरेति। पुच्छियव्वो य बादरे आउकाए, बादरे अगणिकाए, बादरे वणस्सइकाए। अण्णं तं चेव ॥

वा?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

एवं सनत्कुमार-माहेन्द्रयोः, नवरम्—देवः एकः प्रकरोति। एवं ब्रह्मलोकेऽपि। एवं ब्रह्मलोकस्य उपरि सर्वेषु देवः प्रकरोति। प्रष्टव्यश्च बादरः अप्कायः, बादरः अग्नि-कायः, बादरः वनस्पतिकायः। अन्यत् त-च्चैव ।

आभा है?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

इसी प्रकार सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पों की वक्तव्यता। केवल इतना विशेष है—अकेला देव करता है। इसी प्रकार ब्रह्मलोक की वक्तव्यता। इसी प्रकार ब्रह्मलोक से ऊपर सर्वत्र (अच्युत कल्प तक) देव करता है। बादर अप्काय, बादर अग्नि-काय और बादर वनस्पतिकाय प्रष्टव्य है—इनका निषेध है। शेष सब पूर्ववत् वक्तव्य हैं।

संग्रहणी गाथा

तमुकाए कप्पपणए,
अगणी पुढवी य अगणि पुढवीसु।
आऊ तेऊ वणस्सई,
कप्पुवरिमकणहराईस ॥१॥

संग्रहणी गाथा

तमस्काये कल्पपञ्चके,
अग्निः पृथिवी च अग्निः पृथिवीषु।
आपस्तेजो वनस्पति,
कल्पोपरिमकृष्णराजीषु ॥१॥

संग्रहणी गाथा

तमस्काय और पांच कल्पों—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्म में बादर अग्नि-काय और बादर पृथ्वीकाय का सूत्र विवक्षित है। रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों में बादर अग्नि-काय का सूत्र विवक्षित है। उपरितन कल्पों और कृष्णराजियों में बादर अप्काय, बादर तेजस्काय और बादर वनस्पतिकाय का सूत्र विवक्षित नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र १३७-१५०

रत्नप्रभा पृथ्वी सात पृथ्वियों में पहली पृथ्वी है। उसका बाहल्य (मोटाई) एकलाख अस्सी हजार योजन का है।^१ उसके नीचे गृह और गृहापण नहीं है, चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारा नहीं है, चन्द्र और सूर्य की आभा भी नहीं है, बादर अग्नि-काय नहीं है। इसका अपवाद सूत्र है—अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव शर्कराप्रभा पृथ्वी के पूर्ववर्ती चरमान्त में समवहत होकर समयक्षेत्र (मनुष्यलोक) में अपर्याप्त बादर अग्नि-काय के रूप में उत्पन्न होता है।^२ इस अपेक्षा से रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे बादर अग्नि-काय का अस्तित्व बतलाया गया है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे बादर अग्नि-काय की भांति बादर पृथ्वीकाय

निम्न प्रदत्त यन्त्र में सात पृथ्वियों के अधोभाग तथा बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर के अधोभाग में होने वाली वर्षा, स्तनित एवं उसके कर्ता के सम्बन्ध में विवरण है—

पृथ्वी/स्वर्ग	वर्षा	स्तनित	कर्ता
रत्नप्रभा का अधोभाग	है	है	देव, असुर, नाग
शर्कराप्रभा का अधोभाग	है	है	देव, असुर, नाग

१. जीवा. ३/५—इमा णं रयणप्पभा पुढवी असित्तरं जोयणसयसहस्सं बाहल्लेण पण्णत्ता ।

२. भ. ३४/१२—अपज्जतासुहुमपुढवीकाइए णं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिंमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जताबादरतेउक्काइयत्ताए उव्वज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं—पुच्छा ।

गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गाहेणं उव्वज्जेज्जा ॥

३. भ.वृ. ६/१४२—नु यथा बादरान्तेर्मनुष्यक्षेत्र एव सद्भावानिषेध इहोच्यते। एवं बादरपृथ्वीकायस्यापि निषेधो वाच्यः स्यात् पृथिव्यादिष्वेव स्वस्थानेषु तस्य भावादिति। सत्यं, किन्तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्र निषिध्यते मनुष्यादिवत् । विचित्रत्वात् सूत्रगतरेतोऽसतोऽपीह पृथ्वीकायस्य न निषेध उक्तः।

४. भ. ६/१४७।

५. ठाणं ३/३५९, ३६०।

पृथ्वी/स्वर्ग	वर्षा	स्तनित	कर्ता
बालुकाप्रभा का अधोभाग	है	है	देव, असुर
पंकप्रभा का अधोभाग	"	"	देव
धूमप्रभा का अधोभाग	"	"	"
तमःप्रभा का अधोभाग	"	"	"
तमस्तमप्रभा का अधोभाग	"	"	"
सौधर्म का अधोभाग	"	"	देव, असुर
ईशान का अधोभाग	"	"	" "
सनत्कुमार का अधोभाग	"	"	देव
माहेन्द्र का अधोभाग	"	"	"
ब्रह्म का अधोभाग	"	"	"
लान्तक का अधोभाग	"	"	"
शुक्र का अधोभाग	"	"	"
सहस्रार का अधोभाग	"	"	"
आनत का अधोभाग	"	"	"
प्राणतज का अधोभाग	"	"	"
आरण का अधोभाग	"	"	"
अच्युत का अधोभाग	"	"	"
नव ग्रैवेयक	०	०	०
पांच अनुत्तर	०	०	०

इस तालिका में बारह स्वर्गादि में बादर पृथ्वीकाय आदि के अस्तित्व या अभाव को दर्शाया गया है—

स्वर्ग	बादर पृथ्वीकाय	बादर अप्काय	बादर अग्निकाय	बादर वायुकाय	बादर वनस्पतिकाय
सौधर्म का अधोभाग	०	है	०	है	है
ईशान का अधोभाग	०	"	०	"	"
सनत्कुमार का अधोभाग	०	"	०	"	"
माहेन्द्र का अधोभाग	०	"	०	"	"
ब्रह्म का अधोभाग	०	"	०	"	"
लान्तक का अधोभाग	०	"	०	"	०
शुक्र का अधोभाग	०	"	०	"	०
सहस्रार का अधोभाग	०	"	०	"	०
आनत का अधोभाग	०	"	०	"	०
प्राणतज का अधोभाग	०	"	०	"	०
आरण का अधोभाग	०	"	०	"	०
अच्युत का अधोभाग	०	"	०	"	०
नव ग्रैवेयक	०	"	०	"	०
पांच अनुत्तर	०	"	०	"	०

पहला और दूसरा स्वर्ग घनोदधि पर प्रतिष्ठित है, इसलिए वहाँ जल और वनस्पति दोनों का अस्तित्व है। वायु सर्वत्र व्याप्त है।^१

१. भ. वृ. ६/१४४—तथाऽब्रवायुवनस्पतीनामनिषेधोऽपि सुगम एव, तयोर्दधिप्रतिष्ठितत्वेनाब्रवायुवनस्पतिसम्भवाद् वायोश्च सर्वत्र भावादिति ।

तीसरा, चौथा और पांचवां स्वर्ग घनवात-प्रतिष्ठित हैं। उनके नीचे जल और वनस्पति कैसे हो सकते हैं? वृत्तिकार के अनुसार तमस्काय के कारण उनमें बादर अप्काय और बादर वनस्पतिकाय का अस्तित्व संभव है^१।

छठा, सातवां और आठवां—ये तीन स्वर्ग अप् और वायु—घनोदधि और घनवात-प्रतिष्ठित हैं।

नवें स्वर्ग से लेकर शेष अठारह स्वर्ग आकाश-प्रतिष्ठित हैं। उनके नीचे बादर अप्काय और बादर वनस्पतिकाय नहीं हैं^२।

छठा, सातवां और आठवां—ये तीन स्वर्ग घनोदधि और घनवात-प्रतिष्ठित हैं तब उनके नीचे बादर अप्काय और बादर वनस्प-

तिकाय का निषेध कैसे हो सकता है? अभयदेवसूरि और जयाचार्य ने इसके समाधान में लिखा है—इन तीनों स्वर्गों के नीचे अनन्तर रूप में घनवात विद्यमान है, फिर घनोदधि है। इस घनवात की अपेक्षा से तीन स्वर्गों के नीचे बादर अप्काय और बादर वनस्पतिकाय का निषेध किया गया है^३।

प्रवचनसारोद्धार में विमान के प्रतिष्ठान का वर्णन मिलता है—

घनोदधिप्रतिष्ठाना विमानाः कल्पयोर्द्वयोः ।

त्रिषु वायु प्रतिष्ठानास्त्रिषु वायुदधिस्थिताः ॥५३॥

ते व्योम विहितस्थानाः सर्वेषुपरिवर्तिनः ।

इत्यूर्ध्वलोकविमानप्रतिष्ठानविधिः स्मृतः ॥५४॥

आउयबंध-पदं

१५१. कतिविहे णं भन्ते ! आउयबंधे पण्णत्ते?

गोयमा ! छव्विहे आउयबंधे पण्णत्ते, तं जहा—जातिनामनिहत्ताउए, गतिनामनिहत्ताउए, ठित्तिनामनिहत्ताउए, ओगाहणानामनिहत्ताउए, पएसनामनिहत्ताउए, अणुभागनामनिहत्ताउए। दंडओ जाव वेमाणियाणं ॥

आयुष्कबन्ध-पदम्

कतिविधः भदन्त ! आयुष्कबन्धः प्रज्ञप्तः?

गौतम ! षड्विधः आयुष्कबन्धः प्रज्ञप्तः, तद्वयथा—जातिनामनिधत्तायुष्कः, गतिनामनिधत्तायुष्कः, स्थितिनामनिधत्तायुष्कः, अवगाहनानामनिधत्तायुष्कः, प्रदेशनामनिधत्तायुष्कः, अनुभागनामनिधत्तायुष्कः। दण्डकः यावद् वैमानिकानाम् ।

आयुष्कबन्ध-पद

१५२. ^१ भन्ते ! आयुष्य का बन्ध कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है?

गौतम ! आयुष्य का बन्ध छह प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे—जातिनामनिधत्तायुष्य, गतिनामनिधत्तायुष्य, स्थितिनामनिधत्तायुष्य, अवगाहनानामनिधत्तायुष्य, प्रदेशनामनिधत्तायुष्य और अनुभागनामनिधत्तायुष्य नरक से लेकर वैमानिक तक सभी दंडको में छह प्रकार के आयुष्य का बन्ध होता है।

भाष्य

१. सूत्र १५१

कर्म आठ हैं। उनमें पांचवां कर्म है आयुष्या इसके पुद्गलों से जीवनी-शक्ति का निर्माण होता है। अगले जन्म के आयुष्य का बन्ध वर्तमान में हो जाता है^४। आयुष्य के बन्ध-काल में छह अन्य कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध होता है। उनसे जीवन के विभिन्न पक्ष निर्धारित होते हैं। जाति नाम कर्म से यह निर्धारण होता है कि जन्म लेने वाला एकेन्द्रिय होगा यावत् पंचेन्द्रिय होगा। गति नाम कर्म से यह निर्धारण होता है कि जन्म लेने वाला नरक गति में उत्पन्न होगा यावत् देवगति में उत्पन्न होगा। स्थिति नाम कर्म से जन्म लेने वाले की जीवन की कालावधि का निर्धारण होता है। अवगाहना नाम कर्म से औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर का निर्धारण होता है। प्रदेश नाम

कर्म से आयुष्य कर्म के पुद्गलों का परिमाण निर्धारित होता है। अनुभाग नाम कर्म से आयुष्य कर्म के पुद्गलों का विपाक निर्धारित होता है।

आयुष्य कर्म के उदय का पहला क्षण नए जीवन का पहला क्षण होता है। उसके साथ ही जाति नाम, गति नाम आदि का उदय प्रारंभ हो जाता है। आयुष्य कर्म के साथ जाति, गति आदि का सहचारी भाव है। आयुष्य के उदय के साथ इनका उदय होता है और आयुष्य के विराम के साथ इनका विराम हो जाता है।

गति-नाम के साथ नाम कर्म की अन्य प्रकृतियों का भी बन्ध होता है। उनका विस्तृत विवरण शतक में उपलब्ध है^५।

कर्म-बन्ध के क्षण में आयुष्य के साथ जाति नाम आदि का

१. (क) भू. वृ. ६/१५०—इहातिदेशतो बादराब्ब्वनस्पतीनां सम्भवोऽनुमीयते, स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेय इति।

(ख) भ. जो. २/१०८/४०-४१—

तृतीयं तुर्यं ब्रह्म सोय, घनवाय आधारं अहै।

तसु तल अप किम होय? वनस्पति वलि किम हुवे?॥

संभव तास जणाय, तमस्काय सद्भाव थी।

अतिदेश थकी कहिवाय, वृत्ति विषे ए न्याय छै ॥

२. भ. जो. २/१०८/४५, ४७।

३. (क) भू. वृ. ६/१५०—इह च ब्रह्मलोकोपरितनस्थानानामधो योऽब्वनस्पतिनिषेधः स थान्यव्वायुप्रतिष्ठानानि तेषामध आनन्तर्येण वावोरेव भावादाकाशप्रतिष्ठानामाकाशस्यैव

भावादवगन्तव्यः ।

(ख) भ. जो. २/१०८/५८, ५९—

लंतक प्रमुखक तीन, अपवायु आधार छै ।

तो किण न्याय सुचीन, बर्जी अप नै वणस्सई ?॥

त्रिहु कल्प तल वाय, अंतर-रहित अछै तिहै।

तसु तल अप इण न्याय, अप वणस्सई निषेध छै ॥

४. प्र. सारो. प. १६०।

५. पण्ण. ६/११४-१२३

६. प. सं. दि. शतक, गा. २६२-२८८।

निधत्त अथवा निषिक्त होता है, इसलिए आयुष्य का एक प्रकार बन गया— जातिनामनिषिक्त-आयुष्या दूसरा प्रकार—जातिनामनिषिक्त-आयुष्य, तीसरा प्रकार—अवगाहनानामनिषिक्त-आयुष्या^१ स्थिति, प्रदेश और अनुभाग—ये बंध के अंश हैं। इनका सम्बन्ध प्रत्येक कर्म के बन्ध के साथ है।

कर्म के उदय की एक विशेष व्यवस्था है। सभी कर्म-पुद्गल एक साथ उदय में नहीं आते। यदि सब कर्म-पुद्गल एक साथ उदय में आए तो दूसरा क्षण कर्मविपाक से शून्य हो सकता है। इस अवस्था में स्थिति-बन्ध की व्यर्थता हो जाएगी। कर्म के उदय की प्राकृतिक व्यवस्था यह है—विपाक में आने वाले पुद्गलों के निषेक बन जाते हैं, प्रतिसमय अनुभव में आने योग्य कर्म-पुद्गलों की विशिष्ट रचना होती है^२ उसकी संज्ञा “निषेक” है। विपाक की पूर्ववर्ती अवस्था में निषेक की द्रव्यराशि अधिक होती है,

उत्तर अवस्था में वह कम होती जाती है। कर्म की स्थिति की समाप्ति के क्षण तक निषेक-व्यवस्था सक्रिय रहती है^३।

आयुष्य के उक्त छह प्रकारों में जाति और गति ये दो नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां हैं^४। अवगाहना का नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों में उल्लेख नहीं है। अभयदेवसूरि ने अवगाहना का अर्थ ‘शरीर’ किया है^५। इस प्रकार अवगाहना नाम कर्म की उत्तरप्रकृति शरीर नाम कर्म है। जाति आदि छहों वाक्यों में ‘नाम’ शब्द का प्रयोग है। अभयदेवसूरि ने ‘नाम’ पद के दो अर्थ किए हैं—१. परिणाम, २. नाम कर्म^६। यद्यपि स्थिति, प्रदेश और अनुभाग का नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों में उल्लेख नहीं है। किन्तु नाम कर्म की निर्दिष्ट उत्तर प्रकृतियों के अतिरिक्त अन्य अनेक उत्तर प्रकृतियां हो सकती हैं।

१५२. जीवा णं भन्ते ! किं जातिनामनिहत्ता?
गतिनामनिहत्ता? ठितिनामनिहत्ता? ओ-
गाहणानामनिहत्ता? पएसनामनिहत्ता?
अणुभागनामनिहत्ता?

जीवाः भदन्त ! किं जातिनामनिधत्ताः?
गतिनामनिधत्ताः? स्थितिनामनिधत्ताः?
अवगाहनानामनिधत्ताः? प्रदेशनामनिध-
त्ताः? अनुभागनामनिधत्ता?

१५२. ‘भन्ते ! क्या जीव जाति-नाम का निषिक्त (विशिष्ट बंध) किए हुए हैं? गति-नाम का निषिक्त किए हुए हैं? स्थिति-नाम का निषिक्त किए हुए हैं? अवगाहना-नाम का निषिक्त किए हुए हैं? प्रदेश-नाम का निषिक्त भी किए हुए हैं? अनुभाग-नाम का निषिक्त किए हुए हैं?

गोयमा ! जातिनामनिहत्ता वि जाव अणु-
भागनामनिहत्ता वि। दंडओ जाव वेमाणि-
याणं।।

गौतम ! जातिनामनिधत्ताः अपि, यावद्
अनुभागनामनिधत्ताः अपि। दण्डकः यावद्
वैमानिकानाम्।

गौतम ! जीव जाति-नाम का निषिक्त भी किए हुए हैं यावत् अनुभाग-नाम का निषिक्त भी किए हुए हैं। नरक से लेकर वैमानिक तक सभी दण्डकों में छह प्रकार का निषिक्त (विशिष्ट बंध) होता है।

१५३. जीवा णं भन्ते ! किं जातिनामनिहत्ता-
उया? जाव अणुभागनामनिहत्ताउया?
गोयमा ! जातिनामनिहत्ताउया वि जाव
अणुभागनामनिहत्ताउया वि। दंडओ जाव
वेमाणियाणं ।।

जीवाः भदन्त ! किं जातिनामनिधत्तायुष्काः?
यावद् अनुभागनामनिधत्तायुष्काः?
गौतम ! जातिनामनिधत्तायुष्काः अपि यावद्
अनुभागनामनिधत्तायुष्काः अपि। दण्डकः
यावद् वैमानिकानाम्।

१५३. भन्ते ! क्या जीव जाति-नाम-निषिक्त्यायुष्क है?
यावत् अनुभाग-नाम-निषिक्त्यायुष्क हैं ?
गौतम ! जीव जाति-नाम-निषिक्त्यायुष्क भी यावत्
अनुभाग-नाम-निषिक्त्यायुष्क भी हैं। नरक से लेकर वैमानिक तक सभी दण्डक जाति-नाम-निषि-
क्त्यायुष्क यावत् अनुभाग-नाम-निषिक्त्यायुष्क हैं।

१५४. एवं एए दुवालस दंडगा भाणियव्वा—
जीवा णं भन्ते ! किं १. जातिनामनिहत्ता?
२. जातिनामनिहत्ताउया?
जीवा णं भन्ते ! किं ३. जातिनामनिउत्ता?
४. जातिनामनिउत्ताउया?

एवं एते द्वादश दण्डकः भणितव्याः—
जीवाः भदन्त ! किं १. जातिनामनिधत्ताः?
२. जातिनामनिधत्तायुष्काः?
जीवाः भदन्त ! किं ३. जातिनामनियुक्ताः?
४. जातिनामनियुक्तायुष्काः?

१५४. इसी प्रकार ये बारह दण्डक वक्तव्य हैं—
भन्ते! क्या जीव १. जाति-नाम का निषिक्त (विशिष्ट बन्ध) किए हुए हैं? २. जाति-नाम-निषिक्त्यायुष्क हैं? भन्ते ! क्या जीव ३. जाति-नाम-नियुक्त—जाति-नाम के वेदन में नियुक्त हैं? ४. जाति-नाम-नियुक्त्यायुष्क—जाति-नाम के साथ आयुष्य का

१. ठाण, ६/११६ का टिप्पण।

२. भ.वृ. ६/१५१—निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रतिसमयमनुभवनाथं रचनेति।

३. प.सं. दि.शतक, गा. ३९५ की संस्कृत टीका, पृ. २४६—

परतः परतः स्तोकः पूर्वतः पूर्वतो बहुः।

समये समये ज्ञेयो यावत् स्थितिसमापनम् ॥

४. पण्ण. २३/३८।

५. भ.वृ. ६/१५१—अवगाहते यस्यां जीवः साऽवगाहना—शरीरं औदारिकादि, तस्या

नाम—औदारिकादिशरीरनामकर्मस्यव्यवगाहनानाम अवगाहनारूपो वा नाम—परिणामो-
जवगाहनानाम। तेन सह यत्प्रथमतयायुस्तदवगाहनानामनिधत्तायुः।

६. वही, ६/१५१—नामेति—नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा। अथवेह
सूत्रे जातिनामगतिनामावगाहनानामग्रहणाज्जातिगत्यवगाहनानां प्रकृतिमात्रमुक्तं, स्थिति-
प्रदेशानुभागनामग्रहणात् तासामेवं स्थित्यादय उक्तास्ते च जात्यादिनामसम्बन्धित्वात्ता-
मकर्मरूपा एवेति नामशब्दः सर्वत्र क्रमाथो घटत इति स्थितिरूपं नाम—नामकर्म स्थितिनाम।

जीवा णं भंते ! किं ५. जातिगोयनिहत्ता?
 ६. जातिगोयनिहत्ताउया?
 जीवा णं भंते ! किं ७. जातिगोयनिउत्ता?
 ८. जातिगोयनिउत्ताउया?
 जीवा णं भंते ! किं ९. जातिनामगोयनिहत्ता?
 १०. जातिनामगोयनिहत्ताउया?

जीवा णं भंते ! किं ११. जातिनाम-
 गोयनिउत्ता? १२. जातिनामगोयनिउत्ताउया?
 जाव ७२. अणुभागनामगोयनिउत्ताउया?

गोयमा ! जातिनामगोयनिउत्ताउया वि जाव
 अणुभागनामगोयनिउत्ताउया वि। दंडको जाव
 वेमाणियाणं।।

जीवाः भदन्त ! किं ५. जातिगोत्रनिधत्ताः?
 ६. जातिगोत्रनिधत्तायुष्काः?
 जीवाः भदन्त ! किं ७. जातिगोत्रनियुक्ताः?
 ८. जातिगोत्रनियुक्तायुष्काः?
 जीवाः भदन्त ! किं ९. जातिनामगोत्रनि-
 धत्ताः? १०. जातिनामगोत्रनिधत्तायुष्काः?

जीवाः भदन्त ! किं ११. जातिनामगोत्र-
 नियुक्ताः? १२. जातिनामगोत्रनियुक्तायु-
 ष्काः? यावद् ७२. अनुभागनामगोत्र-
 नियुक्तायुष्काः ?

गौतम ! जातिनामगोत्रनियुक्तायुष्काः अपि
 यावद् अनुभागनामगोत्रनियुक्तायुष्काः अपि।
 दण्डकः यावद् वैमानिकानाम्।

वेदन आरम्भ किए हुए हैं?

भन्ते ! क्या जीव ५. जाति-गोत्र का निषिक्त किए
 हुए हैं? ६. जाति-गोत्र-निषिक्तायुष्क हैं?
 भन्ते ! क्या जीव ७. जाति-गोत्र-नियुक्त हैं? ८.
 जाति-गोत्र-नियुक्तायुष्क हैं?
 भन्ते ! क्या जीव ९. जाति-नाम-गोत्र का निषिक्त
 किए हुए हैं? १०. जाति-नाम-गोत्र-निषिक्तायुष्क
 हैं?

भन्ते ! क्या जीव ११. जाति-नाम-गोत्र-नियुक्त हैं?
 १२. जाति-नाम-गोत्र-नियुक्तायुष्क हैं? यावत् ७२.
 अनुभाग-नाम-गोत्र-नियुक्तायुष्क हैं?

गौतम ! जीव जाति-नाम-गोत्र-नियुक्तायुष्क भी हैं
 यावत् अनुभाग-नाम-गोत्र-नियुक्तायुष्क भी हैं। नरक
 से लेकर वैमानिक तक सभी दण्डकों में सभी भंग
 प्राप्त होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १५२-१५४

कर्म के आठ करण होते हैं—बंधन, संक्रमण, उद्वर्तना,
 अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना। इनमें सातवां करण
 निधत्ति है। इसका अर्थ है कर्म-स्कन्धों को उद्वर्तना और अपवर्तना के
 अतिरिक्त शेष करणों के अयोग्य कर देना। इस व्यवस्था में कर्म-स्कन्ध
 संक्रमण आदि से प्रभावित नहीं होते। जाति, गति आदि कर्म-प्रकृतियों के

साथ निधत्ति अथवा निषेचन करने वाले जीव जाति-नाम-निधत्त, गति-
 नाम-निधत्त कहलाते हैं।

नियुक्त—अभयदेवसूरी ने इसका अर्थ 'निकाचित' किया है। यह
 कर्म की गाढ़ता बन्धन वाली अवस्था है। जाति, गति, अवगाहना, गोत्र और
 आयुष्य—ये जन्म-मरण के मुख्य घटक हैं। इसलिए इनके आधार पर जीवों
 के ७२ विकल्प किए गए हैं।

१. कर्मप्रकृति, पृ. ४८, श्लोक २—

बंधणसंकमणुव्वट्ठणा य अववट्ठणा उदीरणया।
 उवसामणा निहत्ती निकायणा चत्ति करणाइं ।।

२. भ.वृ. ६/१५४—नियुक्तं—नितरां युक्तं—संबद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं वैस्ते
 जातिनामनियुक्ताः।

३. अंगमुत्तान्ति, भाग २ (भगवई), पृ. २६३, सू. ६/१५४ का पादटिप्पण—एतत् पदं त्रयोदशभंगात् द्वासप्ततितमपर्यन्तानां भंगानां संग्राहकमस्ति—

जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं
 जीवा णं भंते ! किं

१३. गतिनामनिहत्ता?
 १५. गतिनामनिउत्ता?
 १७. गतिगोयनिहत्ता?
 १९. गतिगोयनिउत्ता?
 २१. गतिनामगोयनिहत्ता?
 २३. गतिनामगोयनिउत्ता?
 २५. ठितिनामनिहत्ता?
 २७. ठितिनामनिउत्ता?
 २९. ठितिगोयनिहत्ता?
 ३१. ठितिगोयनिउत्ता?
 ३३. ठितिनामगोयनिहत्ता?
 ३५. ठितिनामगोयनिउत्ता?
 ३७. ओगाहणानामनिहत्ता?
 ३९. ओगाहणानामनिउत्ता?
 ४१. ओगाहणागोयनिहत्ता?
 ४३. ओगाहणागोयनिउत्ता?
 ४५. ओगाहणानामगोयनिहत्ता?

१४. गतिनामनिहत्ताउया?
 १६. गतिनामनिउत्ताउया?
 १८. गतिगोयनिहत्ताउया?
 २०. गतिगोयनिउत्ताउया?
 २२. गतिनामगोयनिहत्ताउया?
 २४. गतिनामगोयनिउत्ताउया?
 २६. ठितिनामनिहत्ताउया?
 २८. ठितिनामनिउत्ताउया?
 ३०. ठितिगोयनिहत्ताउया?
 ३२. ठितिगोयनिउत्ताउया?
 ३४. ठितिनामगोयनिहत्ताउया?
 ३६. ठितिनामगोयनिउत्ताउया?
 ३८. ओगाहणानामनिहत्ताउया?
 ४०. ओगाहणानामनिउत्ताउया?
 ४२. ओगाहणागोयनिहत्ताउया?
 ४४. ओगाहणागोयनिउत्ताउया?
 ४६. ओगाहणानामगोयनिहत्ताउया?

लवणादिसमुद्र-पदं

१५५. लवणे णं भंते ! समुद्रे किं उस्सिओदए?
पत्थडोदए? खुभियजले? अखुभियजले?

गोयमा ! लवणे णं समुद्रे उस्सिओदए, नो
पत्थडोदए, खुभियजले, नो अखुभियजले ॥

१५६. जहा णं भंते ! लवणसमुद्रे उस्सिओदए,
नो पत्थडोदए; खुभियजले, नो अखुभिय-
जले; तथा णं बाहिरगा समुद्रा किं उस्सिओ-
दगा? पत्थडोदगा? खुभियजला? अखुभि-
यजला?

गोयमा ! बाहिरगा समुद्रा नो उस्सिओदगा,
पत्थडोदगा; नो खुभियजला, अखुभियजला
पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोसवट्टमाणा वोसट्ट-
माणा समभरघटत्ताए चिहंति ॥

१५७. अत्थि णं भंते ! लवणसमुद्रे बहवे
ओराला बलाहया संसेयंति? संमुच्छंति?
वासं वासंति?
हंता अत्थि ॥

१५८. जहा णं भंते ! लवणसमुद्रे बहवे ओराला
बलाहया संसेयंति, संमुच्छंति, वासं वासं-
ति, तथा णं बाहिरगेषु वि समुद्रेसु बहवे ओ-
राला बलाहया संसेयंति? संमुच्छंति? वासं
वासंति?

लवणादिसमुद्र-पदम्

लवणः भदन्त ! समुद्रः किं उच्छ्रितोदकः?
प्रस्तृतोदकः? क्षुभितजलः? अक्षुभितजलः?

गौतम ! लवणः समुद्रः उच्छ्रितोदकः, नो
प्रस्तृतोदकः, क्षुभितजलः, नो अक्षुभितजलः।

यथा भदन्त ! लवणसमुद्रः उच्छ्रितोदकः, नो
प्रस्तृतोदकः, क्षुभितजलः, नो अक्षुभित-
जलः, तथा बाह्यकाः समुद्राः किं उच्छ्रितो-
दकाः? प्रस्तृतोदकाः? क्षुभितजलाः? अक्षु-
भितजलाः?

गौतम ! बाह्यकाः समुद्राः नो उच्छ्रितोदकाः,
प्रस्तृतोदकाः, नो क्षुभितजलाः, अक्षुभि-
तजलाः पूर्णाः पूर्णप्रमाणाः, व्यपलोत्तन्तः
विकसन्तः समभरघटतया तिष्ठन्ति।

अस्ति भदन्त ! लवणसमुद्रे बहवः 'ओराला'
बलाहकाः संस्विद्यन्ति? सम्मूर्च्छन्ति? वर्षा
वर्षन्ति?
हन्त अस्ति।

यथा भदन्त ! लवणसमुद्रे बहवः 'ओराला'
बलाहकाः संस्विद्यन्ति, सम्मूर्च्छन्ति, वर्षा
वर्षन्ति, तथा बाह्यकेषु अपि समुद्रेषु बहवः
'ओराला' बलाहकाः संस्विद्यन्ति? सम्मू-
र्च्छन्ति? वर्षा वर्षन्ति?

लवणादि समुद्र-पद

१५५. 'भंते ! क्या लवण समुद्र ऊंचे जलस्तर वाला
है? सम जलस्तर वाला है? क्षुब्ध जल वाला है?
अक्षुब्ध जल वाला है?

गौतम ! लवण समुद्र ऊंचे जलस्तर वाला है, सम
जलस्तर वाला नहीं है। क्षुब्ध जल वाला है,
अक्षुब्ध जल वाला नहीं है।

१५६. भंते ! जिस प्रकार लवण समुद्र ऊंचे जलस्तर
वाला है, सम जलस्तर वाला नहीं है, क्षुब्ध जल
वाला है, अक्षुब्ध जल वाला नहीं है। उसी प्रकार
अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्र क्या ऊंचे जलस्तर
वाले हैं? सम जलस्तर वाले हैं? क्षुब्ध जल वाले
हैं? अक्षुब्ध जल वाले हैं?

गौतम ! अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्र ऊंचे
जलस्तर वाले नहीं हैं, सम जलस्तर वाले हैं। क्षुब्ध
जल वाले नहीं हैं, अक्षुब्ध जल वाले हैं। वे जल से
भरे हुए, परिपूर्ण, छलकते हुए, हिलोरे लेते हुए,
चारों ओर से जलजलाकार हो रहे हैं।

१५७. भन्ते ! लवण समुद्र में क्या अनेक बड़े मेघ
संस्विन्न होते हैं? सम्मूर्च्छित होते हैं? बरसते हैं?
हाँ, ऐसा होता है।

१५८. भन्ते ! जिस प्रकार लवण समुद्र में अनेक बड़े
मेघ संस्विन्न होते हैं, सम्मूर्च्छित होते हैं, बरसते हैं,
उसी प्रकार अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्रों में भी
अनेक बड़े मेघ संस्विन्न होते हैं? सम्मूर्च्छित होते
हैं? बरसते हैं?

जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं
जीवा णं भंते ! किं

४७. ओगाहणानामगोयनिउत्ताया?
४९. पएसनामनिहत्ताया?
५१. पएसनामनिउत्ताया?
५३. पएसगोयनिहत्ताया?
५५. पएसगोयनिउत्ताया?
५७. पएसनामगोयनिहत्ताया?
५९. पएसनामगोयनिउत्ताया?
६१. अणुभागनामनिहत्ताया?
६३. अणुभागनामनिउत्ताया?
६५. अणुभागगोयनिहत्ताया?
६७. अणुभागगोयनिउत्ताया?
६९. अणुभागनामगोयनिहत्ताया?
७१. अणुभागनामगोयनिउत्ताया?

४८. ओगाहणानामगोयनिउत्तायाया?
५०. पएसनामनिहत्तायाया?
५२. पएसनामनिउत्तायाया?
५४. पएसगोयनिहत्तायाया?
५६. पएसगोयनिउत्तायाया?
५८. पएसनामगोयनिहत्तायाया?
६०. पएसनामगोयनिउत्तायाया?
६२. अणुभागनामनिहत्तायाया?
६४. अणुभागनामनिउत्तायाया?
६६. अणुभागगोयनिहत्तायाया?
६८. अणुभागगोयनिउत्तायाया?
७०. अणुभागनामगोयनिहत्तायाया?
७२. अणुभागनामगोयनिउत्तायाया?

नो इण्हे समट्टे ॥

नायमर्थः समर्थः।

यह अर्थ संगत नहीं है।

१५९. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—बाहिर्या णं समुद्दा पुण्णा जाव समभरघडत्ताए चिद्धंति?

गोयमा ! बाहिरगोसु णं समुद्देसु बहवे उदग-जोणिया जीवा य पोग्गला य उदगताए वक्क-मंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—बाहिरया णं समुद्दा पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिद्धंति, संठा-णओ एगविहिविहाणा, वित्थारओ अणेग-विहिविहाणा, दुगुणादुगुणप्पमाणा जाव अ-स्सिं तिरियलोए असंखेज्जा दीव-समुद्दा सयंभूरमणपज्जवसाणा पण्णत्ता समणा-उसो !

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते बाह्यकाः पूर्णाः यावत् समभरघटतया तिष्ठन्ति?

गौतम ! बाह्यकेषु समुद्रेषु बहवः उदक-योनिः जीवाश्च पुद्गलाश्च उदकतया अपक्रामन्ति, व्युत्क्रामन्ति, च्यवन्ते, उप-पद्यन्ते। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—बाह्यः समुद्राः पूर्णाः पूर्णप्रमाणाः व्यप-लोटन्तः विकसन्तः समभरघटतया तिष्ठन्ति, संस्थानतः एकविधिविधानाः विस्तारतः अनेकविधिविधानाः द्विगुणद्विगुणप्रमाणाः यावद् अस्मिन् तिर्यग्लोके असंख्येयाः द्वीप-समुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यवसानाः प्रज-प्ताः आयुष्मन् श्रमण !

१५९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्र पूर्ण है यावत् चारों ओर से जलजलाकार हो रहे हैं?

गौतम ! अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्रों में अनेक उदकयोनिक जीव और पुद्गल उदक-रूप में उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, च्युत होते हैं और उत्पन्न होते हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—अढ़ाई द्वीप से बहिर्वर्ती समुद्र जल से भरे हुए परिपूर्ण, छलकते हुए, हिलोरे लेते हुए, चारों ओर से जलजलाकार हो रहे हैं। उनका संस्थानगत स्वरूप एक प्रकार—चक्रवाल के आकार का है। विस्तार की दृष्टि से वे अनेक प्रकार के हैं। वे क्रमशः पूर्ववर्ती से उत्तरवर्ती द्विगुण-द्विगुण हैं। यावत् इस तिरछे लोक में असंख्येय द्वीप तथा स्वयम्भूरमण अवसान वाले समुद्र प्रजप्त हैं, आयुष्मन् श्रमण !

१६०. दीव-समुद्दा णं भंते ! केवतिया नामधे-ज्जेहिं पण्णत्ता?

गोयमा ! जावतिया लोए सुभा नामा, सुभा रूवा, सुभा गंधा, सुभा रसा, सुभा फासा, एवतिया णं दीव-समुद्दा नामधेज्जेहिं पण्ण-त्ता । एवं नेयव्वा सुभा नामा, उद्धारो, परि-णामो, सब्वजीवाणं (उप्पाओ?) ॥

द्वीप-समुद्राः भदन्त ! कियन्तः नामधेयैः प्रजप्ताः?

गौतम ! यावन्तः लोके शुभानि नामानि, शुभानि रूपाणि, शुभाः गन्धाः, शुभाः रसाः, शुभाः स्पर्शाः, एतावन्तः द्वीप-समुद्राः नामधेयैः प्रजप्ताः। एवं नेतव्यानि शुभानि नामानि, उद्धारः, परिणामः, सर्वजीवानाम् (उत्पादः)।

१६०. भन्ते ! कितने द्वीप और समुद्र नामों से प्रजप्त हैं?

गौतम ! लोक में जितने शुभ नाम, शुभ रूप, शुभ गन्ध, शुभ रस और शुभ स्पर्शा हैं उतने द्वीप और समुद्र नामों से प्रजप्त हैं। इस प्रकार शुभ नाम, उद्धार, परिणाम और द्वीप-समुद्रों में सब जीवों का उत्पाद ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १५५-१६०

जैन भूगोल के अनुसार मध्यलोक (तिरछे लोक) में असंख्य समुद्र हैं। उनमें प्रथम लवण समुद्र है और पर्यन्तवर्ती स्वयम्भूरमण समुद्र है। लवण समुद्र में जलस्तर उन्नत होता है और उसका जल क्षुब्ध रहता है—उसमें ज्वारभाटा आता रहता है। समयक्षेत्र से बाह्यवर्ती समुद्रों का जलस्तर समान रहता है। उनका जल क्षुब्ध नहीं होता—उनमें ज्वारभाटा नहीं आता।

लवण समुद्र में वर्षा होती है, बाह्यवर्ती समुद्रों में वर्षा नहीं होती। उनमें उदकयोनिक जीव जन्म लेते और मरते रहते हैं। तिरछे लोक में जो असंख्य द्वीप और समुद्र हैं, उनकी विस्तृत जानकारी के लिए जीवाजीवाभिगमे (३/९७२) द्रष्टव्य है। वोलट्टमाणा आदि शब्दों के लिए देखें भ. १/३१२, ३१३ का भाष्य।

१६१. सेव्वं भंते ! सेव्वं भंते ! ति ॥

तदेव भदन्त ! तदेव भदन्त ! इति ॥

१६१. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

कम्मप्पगडिबंध-पदं

१६२. जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं
बंधमाणे कति कम्मप्पगडीओ बंधति?
गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्टविहबंधए
वा, छव्विहबंधए वा। बंधुद्देशो पणवणाए
नेयव्वो ॥

कर्मप्रकृति-बन्ध-पदम्

जीवः भदन्त ! ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन् कति
कर्मप्रकृतीः बध्नाति?
गौतम ! सप्तविधबन्धको वा, अष्टविध-
बन्धको वा, षड्विधबन्धको वा। बन्धोद्देशः
प्रज्ञापनायाः नेतव्यः।

कर्मप्रकृति-बन्ध-पद

१६२. 'भन्ते ! जीव ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता
हुआ कितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध करता है?
गौतम ! सात प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध करता है।
अथवा आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों का बन्धन
करता है। अथवा छह प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध
करता है। यहां पणवणा का बन्ध-उद्देशक (पद २४)
ज्ञातव्य है।

भाष्य

१. सूत्र १६२

कर्म की मूल प्रकृतियां आठ हैं। इनका बन्ध एक साथ होता है।
अथवा स्वतन्त्र रूप में होता है? पणवणा के २४ वें पद में इसका विवेचन
किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में इसका संक्षिप्त निर्देश किया गया है। आयुष्य का

बन्ध जीवन में एक बार होता है। आयुष्य के अबन्ध-क्षण में ज्ञानावरण का
बन्ध करने वाला जीव सप्तविधबन्धक होता है। आयुष्य-बन्ध के क्षण में वह
अष्टविधबन्धक होता है। सूक्ष्म सम्पराय अवस्था (दसवें गुणस्थान) में मोह
और आयुष्य दोनों का बन्ध नहीं होता।

महिद्धीयदेव-विकुव्वणा-पदं

१६३. देवे णं भंते ! महिद्धीए जाव महाणुभागे
बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगवण्णं
एगरूवं विउव्वित्तए?
गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे ॥

महर्द्धिकदेव-विकरण-पदम्

देवः भदन्त ! महर्द्धिकः यावन् महानुभागः
बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः एक-
वर्णम् एकरूपं विकर्तुम्?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

महर्द्धिक देव की विक्रिया का पद

१६३. 'भन्ते ! क्या महान् ऋद्धि यावत् महान् शक्ति
से सम्पन्न देव बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना
एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करने में समर्थ हैं?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

१६४. देवे णं भंते ! बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता
पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए?
हंता पभू ॥

देवः भदन्त ! बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय
प्रभुः एकवर्णम् एकरूपं विकर्तुम्?
हन्त प्रभुः।

१६४. भन्ते ! क्या देव बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर
एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करने में समर्थ हैं?
हां, समर्थ है।

१६५. से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले परियाइत्ता
विउव्वति? तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता वि-
उव्वति? अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता
विउव्वति?

सः भदन्त ! किम् इहगतान् पुद्गलान्
पर्यादाय विकरोति? तत्रगतान् पुद्गलान्
पर्यादाय विकरोति? अन्यत्रगतान् पुद्गलान्
पर्यादाय विकरोति?

१६५. भन्ते ! क्या वह प्रज्ञापक-स्थानवर्ती पुद्गलों का
ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करता
है? अथवा स्वस्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक
वर्ण और एक रूप का निर्माण करता है? अथवा इन

१. भ. वृ. ६/१६२—'सत्तविहबंधए' आयुर्बन्धकाले, 'अट्टविहबंधए' ति आयुर्बन्धकाले,
'छव्विबंधए' ति सूक्ष्मसम्परायावस्थायां मोहायुषोरबन्धकत्वात्।

गोयमा ! नो इहगए पोग्गले परियाइत्ता विउ-
व्वति, तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वति,
नो अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वति।

एवं एएणं गमेणं जाव १. एगवण्णं एगरूवं
२. एगवण्णं अणेगरूवं ३. अणेगवण्णं एग-
रूवं ४. अणेगवण्णं अणेगरूवं—चउभंगो ॥

१६६. देवे णं भंते ! महिद्धीए जाव महानुभागे
बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू कालगं
पोग्गलं नीलगपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए? नी-
लगं पोग्गलं वा कालगपोग्गलत्ताए परिणा-
मेत्तए?

गोयमा ! नो इण्णहे समद्धे। परियाइत्ता पभू ॥

१६७. से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले परि-
याइत्ता परिणामेत्ति? तत्थगए पोग्गले परि-
याइत्ता परिणामेत्ति? अण्णत्थगए पोग्गले
परियाइत्ता परिणामेत्ति?

गोयमा ! नो इहगए पोग्गले परियाइत्ता
परिणामेत्ति, तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता
परिणामेत्ति, नो अण्णत्थगए पोग्गले परि-
याइत्ता परिणामेत्ति।

एवं कालगपोग्गलं लोहियपोग्गलत्ताए। एवं
कालएणं जाव सुक्किलं। एवं नीलएणं जाव
सुक्किलं। एवं लोहिणं जाव सुक्किलं। एवं
हालिद्धएणं जाव सुक्किलं। एवं एयाए परि-
वाडीए गंध-रस-फासा।

गौतम ! नो इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
विकरोति, तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
विकरोति, नो अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
विकरोति।

एवम् अनेन गमेन यावद् १. एकवर्णम् एक-
रूपम् २. एकवर्णम् अनेकरूपम् ३. अनेक-
वर्णम् एकरूपम् ४. अनेकवर्णम् अनेकरूपम्
—चतुर्भङ्गः।

देवः भदन्त ! महर्द्धिकः यावन् महानुभागः
बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः कालकं
पुद्गलं नीलकपुद्गलतया परिणमयितुम्?
नीलकं पुद्गलं वा कालकपुद्गलतया परि-
णमयितुम्?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः। पर्यादाय प्रभुः।

सः भदन्त ! किम् इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
परिणमयति? तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
परिणमयति? अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
परिणमयति?

गौतम ! नो इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परि-
णमयति, तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिण-
मयति, नो अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय
परिणमयति।

एवं कालकपुद्गलं लोहितपुद्गलतया। एवं
कालकेण यावत् शुक्लम्। एवं नीलकेन
यावत् शुक्लम्। एवं लोहितेन यावत् शुक्लम्।
एवं हारिद्रेण यावत् शुक्लम्। एवं अनया
परिपाट्या गन्ध-रस-स्पर्शाः।

दोनों से भिन्न किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का
ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण
करता है?

गौतम ! वह प्रज्ञापक-स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण
कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण नहीं करता,
स्वस्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और
एक रूप का निर्माण करता है, इन दोनों से भिन्न
किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक
वर्ण और एक रूप का निर्माण नहीं करता।

इस प्रकार इस गमक से अन्य विकल्प भी ज्ञातव्य हैं
यावत् १. एक वर्ण और एक रूप का निर्माण २. एक
वर्ण और अनेक रूप का निर्माण ३. अनेक वर्ण और
एक रूप का निर्माण तथा ४. अनेक वर्ण और अनेक
रूप का निर्माण—यह चौभंगी है।

१६६. भन्ते ! क्या महान् ऋद्धि यावत् महान् शक्ति से
सम्पन्न देव बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना
कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल को नील वर्ण वाले पुद्गल
के रूप में परिणत करने में समर्थ हैं? अथवा नील
वर्ण वाले पुद्गल को कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल के
रूप में परिणत करने में समर्थ हैं?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह बहिर्वर्ती पुद्-
गलों का ग्रहण कर वैसा करने में समर्थ है।

१६७. भन्ते ! क्या वह प्रज्ञापक-स्थानवर्ती पुद्गलों
का ग्रहण कर परिणत करता है? अथवा स्वस्थान-
वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है?
अथवा इन दोनों से भिन्न किसी अन्य स्थानवर्ती
पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है?

गौतम ! वह प्रज्ञापक-स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण
कर परिणत नहीं करता, स्वस्थानवर्ती पुद्गलों का
ग्रहण कर परिणत करता है, इन दोनों से भिन्न
किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर
परिणत नहीं करता।

इसी प्रकार कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल को लाल वर्ण
वाले पुद्गल के रूप में परिणत करता है। इसी
प्रकार कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल से यावत् शुक्ल वर्ण
वाले पुद्गल तक के परिणमन की वक्तव्यता। इसी
प्रकार नील वर्ण वाले पुद्गल से यावत् शुक्ल वर्ण
वाले पुद्गल के परिणमन की वक्तव्यता। इसी प्रकार
लोहित वर्ण वाले पुद्गल से यावत् शुक्ल वर्ण वाले

पुद्गल के परिणमन की वक्तव्यता। इसी प्रकार पीत वर्ण वाले पुद्गल से यावत् शुक्ल वर्ण वाले पुद्गल के परिणमन की वक्तव्यता। इसी प्रकार इस परिपाटी से गन्ध-रस और स्पर्श की परिणमन की वक्तव्यता।

भाष्य

१. सूत्र १६३-१६७

प्रस्तुत आलापक में वैक्रिय (विविध रूप-निर्माण) की शक्ति और उसके नियमों का वर्णन उपलब्ध है। देवों का शरीर वैक्रिय होता है। वे वैक्रिय शरीर के द्वारा नाना रूपों का निर्माण कर सकते हैं, किन्तु बाहरी पुद्गलों (वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों) का ग्रहण किए बिना नहीं कर सकते। द्रष्टव्य भ. ३/१८६-१९२ का भाष्य।

बाहरी पुद्गलों के विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं—

१. इहगत—प्रज्ञापक के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में स्थित वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल।

२. तत्रगत—वैक्रिय करने वाले के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में स्थित वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल।

३. अन्यत्रगत—प्रज्ञापक और वैक्रिय-कर्ता दोनों के स्थान से किसी अन्य स्थान में स्थित वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल।

वैक्रिय करने वाला तत्र-स्थित पुद्गलों के ग्रहण कर विक्रिया करता है—नाना रूपों का निर्माण करता है। विक्रिया से किए जाने वाले विविध रूपों को चार विकल्पों में इस प्रकार रखा जा सकता है—

- १. एक वर्ण एक रूप
- २. एक वर्ण अनेक रूप
- ३. अनेक वर्ण एक रूप
- ४. अनेक वर्ण अनेक रूप

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी होता है। कृष्ण वर्ण स्वभाव से नील वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। नील वर्ण रक्त वर्ण में बदल जाता है। सूर्य-विज्ञान की विद्या में भी वर्ण, गन्ध तथा आकार को बदलने की प्रक्रिया निर्दिष्ट है। उसका आधार प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध है।

पर्याय-परिवर्तन के विविध विकल्प प्रस्तुत तालिका में दिए गये हैं—

१. कृष्ण	—	नील,	नील	—	कृष्ण	१४. तिक्त	—	अम्ल,	अम्ल	—	तिक्त
२. कृष्ण	—	रक्त,	रक्त	—	कृष्ण	१५. तिक्त	—	मधुर,	मधुर	—	तिक्त
३. कृष्ण	—	पीत,	पीत	—	कृष्ण	१६. कटुक	—	कषाय,	कषाय	—	कटुक
४. कृष्ण	—	शुक्ल,	शुक्ल	—	कृष्ण	१७. कटुक	—	अम्ल,	अम्ल	—	कटुक
५. नील	—	रक्त,	रक्त	—	नील	१८. कटुक	—	मधुर,	मधुर	—	कटुक
६. नील	—	पीत,	पीत	—	नील	१९. कषाय	—	अम्ल,	अम्ल	—	कषाय
७. नील	—	शुक्ल,	शुक्ल	—	नील	२०. कषाय	—	मधुर,	मधुर	—	कषाय
८. रक्त	—	पीत,	पीत	—	रक्त	२१. अम्ल	—	मधुर,	मधुर	—	अम्ल
९. रक्त	—	शुक्ल,	शुक्ल	—	रक्त	२२. कर्कश	—	मृदु,	मृदु	—	कर्कश
१०. पीत	—	शुक्ल,	शुक्ल	—	पीत	२३. गुरु	—	लघु,	लघु	—	गुरु
११. दुर्गन्ध	—	सुगन्ध,	सुगन्ध	—	दुर्गन्ध	२४. शीत	—	उष्ण,	उष्ण	—	शीत
१२. तिक्त	—	कटुक,	कटुक	—	तिक्त	२५. स्निग्ध	—	रूक्ष,	रूक्ष	—	स्निग्ध
१३. तिक्त	—	कषाय,	कषाय	—	तिक्त						

२. यावत्

यावत् की पूर्ति के लिए भ. ३/४ द्रष्टव्य है।

अविशुद्धलेसादि देवाणं जाणणा-पासणा-पदं

१६८. १. अविशुद्धलेसे णं भन्ते ! देवे असमो-हणं अप्पाणेणं अविशुद्धलेसं देवं, देविं, अप्पाणयरं जाणइ-पासइ ?

णो तिण्हे सम्हे !

एवं—२. अविशुद्धलेसे देवे असमोहणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं ३. अविशुद्धलेसे

अविशुद्धलेश्यादि-देवानां ज्ञान-दर्शन-पदम्

१. अविशुद्धलेश्यः भदन्त ! देवः असम-वहतेन आत्मना अविशुद्धलेश्यं देवं देवीम्, अन्यतरं जानाति-पश्यति ?

नायमर्थः समर्थः।

एवं—२. अविशुद्धलेश्यः देवः असम-वहतेन आत्मना विशुद्धलेश्यं देवम् ३.

अविशुद्ध लेश्या आदि वाले देव का ज्ञान-दर्शन-पद

१६८. १. भन्ते ! १. अविशुद्ध लेश्या वाला देव असमवहत आत्मा के द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव, देवी अथवा अन्य किसी को जानता-देखता है ?

यह अर्थ संगत नहीं है।

इसी प्रकार—२. अविशुद्ध लेश्या वाला देव असम-वहत आत्मा के द्वारा विशुद्ध लेश्या वाले देव को

देवे समोहणं अप्पाणेणं अविमुद्धलेसं देवं
४. अविमुद्धलेसे देवे समोहणं अप्पाणेणं
विमुद्धलेसं देवं ५. अविमुद्धलेसे देवे समो-
हयासमोहणं अप्पाणेणं अविमुद्धलेसं देवं
६. अविमुद्धलेसे देवे समोहयासमोहणं
अप्पाणेणं विमुद्धलेसं देवं ७. विमुद्धलेसे देवे
असमोहणं अप्पाणेणं अविमुद्धलेसं देवं
८. विमुद्धलेसे देवे असमोहणं अप्पाणेणं
विमुद्धलेसं देवं ॥

अविशुद्धलेश्यः देवः समवहतेन आत्मना
अविशुद्धलेश्यं देवम् ४. अविशुद्धलेश्यः देवः
समवहतेन आत्मना विशुद्धलेश्यं देवम्
५. अविशुद्धलेश्य देवः समवहतासमवहतेन
आत्मना अविशुद्धलेश्यं देवम् ६. विशुद्ध-
लेश्यः देवः समवहतासमवहतेन आत्मना
विशुद्धलेश्यं देवम् ७. विशुद्धलेश्यः देवः
असमवहतेन आत्मना अविशुद्धलेश्यं देवम्
८. विशुद्धलेश्यः देवः असमवहतेन आत्मना
विशुद्धलेश्यं देवम्।

३. अविशुद्ध लेश्या वाला देव समवहत आत्मा के
द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को ४. अविशुद्ध
लेश्या वाला देव समवहत आत्मा के द्वारा विशुद्ध
लेश्या वाले देव को ५. अविशुद्ध लेश्या देव सम-
वहत-असमवहत आत्मा के द्वारा अविशुद्ध लेश्या
वाले देव को ६. अविशुद्ध लेश्या वाला देव सम-
वहत-असमवहत आत्मा के द्वारा विशुद्ध लेश्या वाले
देव को ७. विशुद्ध लेश्या वाला देव असमवहत
आत्मा के द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को ८.
विशुद्ध लेश्या वाले देव असमवहत आत्मा के द्वारा
विशुद्ध लेश्या वाले देव को नहीं जानता-देखता।

१६९. ९. विमुद्धलेसे णं भन्ते ! देवे समोहणं
अप्पाणेणं अविमुद्धलेसं देवं जाणइ-पासइ?

हंता जाणइ-पासइ।

एवं—१०. विमुद्धलेसे देवे समोहणं
अप्पाणेणं विमुद्धलेसं देवं ११. विमुद्धलेसे
देवे समोहयासमोहणं अप्पाणेणं अविमु-
द्धलेसं देवं १२. विमुद्धलेसे देवे समोह-
यासमोहणं अप्पाणेणं विमुद्धलेसं देवं ॥

९. विशुद्धलेश्यः भदन्त ! देवः समवहतेन
आत्मना अविशुद्धलेश्यं देवं जानाति
पश्यति?

हन्त जानाति-पश्यति।

एवम्—१०. विशुद्ध लेश्यः देवः समवहतेन
आत्मना विशुद्धलेश्यं देवम् ११. विशुद्ध-
लेश्यः देवः समवहतासमवहतेन आत्मना
अविशुद्धलेश्यं देवम्। १२. विशुद्धलेश्यः
देवः समवहतासमवहतेन आत्मना विशुद्ध-
लेश्यं देवम्।

१६९. भन्ते ! ९. विशुद्धलेश्या वाला देव समवहत
आत्मा के द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को
जानता-देखता है?

हां, जानता-देखता है।

इसी प्रकार—१०. विशुद्ध लेश्या वाला देव समवहत
आत्मा के द्वारा विशुद्ध लेश्या वाले देव को ११.
विशुद्ध लेश्या वाला देव समवहत-असमवहत आत्मा
के द्वारा अविशुद्ध लेश्या वाले देव को १२. विशुद्ध
लेश्या वाला देव समवहत-असमवहत आत्मा के
द्वारा विशुद्ध लेश्या वाले देव को जानता-देखता है।

भाष्य

१. सूत्र १६८, १६९

वृत्तिकार ने 'अविशुद्ध लेश्य' का अर्थ 'विभंग ज्ञान वाला' किया है। मलयगिरि ने 'अविशुद्ध लेश्या' का अर्थ 'कृष्ण आदि लेश्या वाला' किया है। ठाणं के अनुसार कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन लेश्याएं अविशुद्ध हैं। इस आधार पर मलयगिरि का अर्थ मूलस्पर्शी प्रतीत होता है।

अभयदेवसूरि ने इस प्रकरण में 'समवहत' का अर्थ 'उपयुक्त' (उपयोग-सहित), 'असमवहत' का अर्थ अनुपयुक्त (उपयोग-रहित) तथा समवहतासमवहत का अर्थ 'उपयुक्त-अनुपयुक्त' किया है। प्रस्तुत आगम में वेउब्बियसमुग्घाएणं समोहयं पाठांश मिलता है। उसकी वृत्ति में

अभयदेवसूरि ने 'समवहत' का अर्थ 'वैक्रिय शरीर का निर्माण किया हुआ' किया है। मलयगिरि के अनुसार 'समवहत' का अर्थ 'वेदना आदि समुद्घात में गया हुआ' और असमवहत का अर्थ 'वेदना आदि समुद्घात-रहित है' जो व्यक्ति वेदना आदि समुद्घात की क्रिया में आविष्ट है, किन्तु उस क्रिया को पूर्ण नहीं कर पाया, वह 'समवहतासमवहत' है।

ठाणं में समवहत और विउब्बित दोनों पाठ संलग्न हैं। स्थानांग की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने समवहत का अर्थ वैक्रिय अथवा अन्य समुद्घात में प्रविष्ट तथा असमवहत का अर्थ समुद्घात-रहित किया है। समवहतासमवहत को इनकी व्याख्या के रूप में प्रतिपादित किया है—

१. भ. वृ. ६/१६८—अविशुद्धलेश्यो विभंगज्ञानो देवः।

२. जीवा. वृ. प. १४२—अविशुद्धलेश्यः कृष्णादिलेश्यः।

३. ठाणं, २/५१७।

४. (क) भ. वृ. ६/१६८—'असमोहणं अप्पाणेणं' ति अनुपयुक्तेनात्मना।

(ख) वही, ६/१६९—साम्यदृष्टित्वादुपयुक्तत्वानुपयुक्तत्वाच्च ज्ञानाति उपयोगानुपयोगपक्षे उपयोगांशस्य साम्यज्ञानहेतुत्वादिति।

५. भ. ३/१५४-१५६।

६. भ. वृ. ३/१५४—'विउब्बियसमुग्घाएणं समोहयं' ति विहितोत्तवैक्रियशरीरमित्यर्थः।

७. जीवा. वृ. प. १४२—असमवहतः वेदनादिसमुद्घातरहितः, समवहतः वेदनादिसमुद्घाते गतः।

८. वही, वृ. प. १४२—समवहतासमवहतो नाम वेदनादि समुद्घातक्रियाविष्टो न तु परिपूर्ण-समवहतो नाप्यसमवहतः सर्वथा।

९. ठाणं, २/१९३-२००।

नियत क्षेत्र को जानने वाला अवधिज्ञानी कदाचित् समुद्घात करके जानता है और कदाचित् समुद्घात किए बिना ही जान लेता है। समवहतासमवहत का यह अर्थ मलयगिरि के अर्थ से भिन्न है। ठाणं में अविशुद्धलेश्य और विशुद्धलेश्य का उल्लेख नहीं है। समवहत और असमवहत के साथ कर्ता के रूप में अधोऽवधि आत्मा का उल्लेख है। प्रस्तुत प्रकरण में मलयगिरि का अर्थ अधिक उपयुक्त है।

ठाणं में समवहत के अनन्तर विउन्विय का आलापक है। वृत्ति के

अनुसार इसका अर्थ है जो वैक्रिय समुद्घात के द्वारा वैक्रिय शरीर का निर्माण कर चुका है।

प्रस्तुत आगम में ज्ञान, दर्शन के सन्दर्भ में अविशुद्धलेश्य के छह और विशुद्धलेश्य के छह—इस प्रकार बारह भंग बनते हैं। जीवाजीवाभिगमे में भी ये बारह भंग उपलब्ध हैं। प्रस्तुत आगम के अनुसार आठ भंग वाले नहीं जानते-देखते। जीवाजीवाभिगमे के अनुसार शेष छह भंग वाले जानते-देखते हैं। देखे यंत्र—

भगवई^३

१. अविशुद्धलेश्य	असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	नहीं जानता-देखता
२. "	"	विशुद्धलेश्य को	"
३. "	समवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
४. "	"	विशुद्धलेश्य को	"
५. "	समवहत-असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
६. "	"	विशुद्धलेश्य को	"
७. विशुद्धलेश्य	असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
८. "	"	विशुद्धलेश्य को	"
९. "	समवहत	अविशुद्धलेश्य को	जानता-देखता है
१०. "	"	विशुद्धलेश्य को	"
११. "	समवहत-असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
१२. "	"	विशुद्धलेश्य को	"

जीवाजीवाभिगमे^४

अविशुद्धलेश्य	असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	नहीं जानता-देखता
"	"	विशुद्धलेश्य को	"
"	समवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
"	"	विशुद्धलेश्य को	"
"	समवहत-असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
"	"	विशुद्धलेश्य को	"
विशुद्धलेश्य	असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	जानता-देखता है
"	"	विशुद्धलेश्य को	"
"	समवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
"	"	विशुद्धलेश्य को	"
"	समवहत-असमवहत	अविशुद्धलेश्य को	"
"	"	विशुद्धलेश्य को	"

१. स्था. वृ. प. ५७—'समवहतेन' वैक्रियसमुद्घातगतेनात्मना—स्वभावेन, समुद्घातान्त-गतेन वा, असमवहतेन त्वन्यथेति, एतदेव व्याख्याति—'आहोही' त्यादि यत्प्रकारोऽवधे-स्येति यथाविधिः, आदिदीर्घत्वं प्राकृतत्वात् परमावधेर्वाऽधोवर्त्यवधिर्वास्य सोऽधोऽवधिरात्मा—नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी स कदाचित् समवहतेन कदाचिद-न्यथेति समवहतासमवहतेनेति।

२. वही, वृ. प. ५७—'विउन्वियणं' ति कृतवैक्रियशरीरेण ।

३. भ. ६।१६८, १६९ ।

४. जीवा. ३।१९८-२०९

अभयदेवसूरि के अनुसार छह भंगों को जानने वाला मिथ्यादृष्टि होता है, इसलिए वह नहीं जानता। विशुद्धलेश्या वाले दो भंगों में जानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है फिर भी उपयोग शून्य होने के कारण नहीं जानता^१। मलयगिरि के अनुसार विशुद्ध लेश्या वाला ज्ञाता यथावस्थित ज्ञानदर्शन के कारण जानता-देखता है। समुद्घात जानने-देखने में अवरोध उत्पन्न नहीं करता^२।

प्रस्तुत आगम में विशुद्ध लेश्या वाले दो भंगों में ज्ञान, दर्शन का

निषेध और जीवाजीवाभिगमे में ज्ञान, दर्शन का स्वीकार एक उल्लेखनीय वाचना-भेद है।

विशुद्ध लेश्या वाले प्रथम दो भंग नहीं जानते-देखते, शेष चार भंग वाले जानते-देखते हैं। इसका कारण खोजना एक पहेली है। इस पहेली को बुझाने के लिए ही संभवतः अभयदेवसूरि ने असमवहत का अर्थ 'अनुपयुक्त' किया है।

१७०. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

१७०. भन्ते ! वह ऐसा ही है। भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. भ.वृ.६/१६८—एतैरष्टभिर्विकल्पैर्न जानाति, तत्र षड्भिर्मिथ्यादृष्टित्वाद् द्वाभ्यां त्वनुपयुक्तत्वादिति।

२. जीवा. वृ.प. १४२—विशुद्धलेश्याकतया यथाऽवस्थितज्ञानदर्शनभावात् आह च मूल-

टीकाकारः—“शोभनस्य शोभनं वा वस्तु यथावद्विशुद्धलेश्यो जानाती” ति, समुद्घातोऽपि च तस्याप्रतिबन्धक एव, न च तस्य समुद्घातोऽत्यन्तशोभनो भवति, उक्तं च मूलटीकायाम्—“समुद्घातोऽपि तस्याप्रतिबन्धक एव” त्यादीति।

दसमो उद्देशोः दशवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

सुह-दुह-उवदंसण-पदं

१७१. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेत्ति—जावतिया रायगिहे नयरे जीवा, एवइयाणं जीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा दुहं वा जाव कोलडिगमायमवि, निष्फावमायमवि, कलमायमवि, मासमाय-मवि, मुग्गमायमवि, जूयामायमवि, लिक्खामायमवि अभिनिवट्टेत्ता उवदंसेत्तए।

१७२. से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खाभि जाव परूवेमि—सव्वलोए वि य णं सव्वजीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा दुहं वा जाव कोलडिगमायमवि, निष्फा-वमायमवि, कलमायमवि, मासमायमवि, मुग्गमायमवि, जूयामायमवि, लिक्खामाय-मवि अभिनिवट्टेत्ता उवदंसेत्तए ॥

१७३. से केणट्टेणं?

गोयमा ! अयण्णं जंबुद्वीवे दीवे जाव विसे-साहिए परिकखेवेणं पण्णत्ते! देवे णं महि-इहीए जाव महानुभागे एणं महं सविलेवणं गंधसमुग्गं गहाय तं अवदालेति, अवदालेत्ता जाव इणामेव कट्टु केवलकल्पं जंबु-द्वीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिस-त्तखुत्तो अणुपरियट्टिता णं हव्वमागच्छेज्जा। से नूणं गोयमा ! से केवलकल्पे जंबुद्वीवे दीवे तेहिं घाणपोगलेहिं फुडे?

सुख-दुःखोपदर्शन-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्ते ! एवमाख्याति यावत् प्ररूपयन्ति— यावन्तः राजगृहे नगरे जीवाः, एतावतां जीवानां नो शक्नुयात् कोऽपि सुखं वा दुःखं वा यावत् कोलास्थिकमात्रमपि, निष्पावमात्रमपि, कलायमात्रमपि, माषमात्रमपि, मुद्गमात्रमपि, यूकामात्रमपि, लिक्षामात्रमपि अभिनिर्वृत्य उपदर्शयितुम्।

तत् कथम् एतद् भदन्त ! एवम्?

गौतम ! यत् ते अन्ययूथिकाः एवमाख्यान्ति यावन् मिथ्या ते एवमाहुः, अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि यावत् प्ररूपयामि—सर्व-लोकेऽपि च सर्वजीवानां नो शक्नुयात् कोऽपि सुखं वा दुःखं वा यावत् कोला-स्थिकमात्रमपि, निष्पावमात्रमपि, कलाय-मात्रमपि, माषमात्रमपि, मुद्गमात्रमपि, यूकामात्रमपि, लिक्षामात्रमपि अभिनिर्वृत्य उपदर्शयितुम्।

तत् केनार्थेन?

गौतम ! अयं जम्बूद्वीपः द्वीपः यावद् विशेषा-धिकः परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः। देवः महर्द्धिकः यावन् महानुभागः एकं महत् सविलेपनं गन्धसमुद्गकं गृहीत्वा तम् अवदारयति, अवदार्य यावद् इदमेव कृत्वा केवलकल्पं जम्बूद्वीपं द्वीपं त्रिभिः 'अच्छरानिवाएहिं' त्रिसप्तकृतवः अनुपर्यट्य 'हव्वं' आगच्छेत्। तन् नूनं गौतम ! सः केवलकल्पः जम्बूद्वीपः द्वीपः तैः घ्राण-पुद्गलैः स्पृष्टः?

सुख-दुःख-उपदर्शन-पद

१७१. ' भन्ते ! अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते है यावत् प्ररूपणा करते हैं—राजगृह नगर में जितने जीव हैं, इतने जीवों के सुख अथवा दुःख को यावत् बेर की गुठली जितना भी, सेम जितना भी, मटर जितना भी, उड़द जितना भी, मूंग जितना भी, जूं जितना भी और लीख जितना भी निष्पन्न करके दिखाने में कोई भी समर्थ नहीं है।

१७२. भन्ते ! इस प्रकार का वक्तव्य कैसे है?

गौतम वे अन्ययूथिक जो ऐसा आख्यान करते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं, वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान करता हूं यावत् प्ररूपणा करता हूं—सर्व लोक के सब जीवों के सुख अथवा दुःख को यावत् बेर की गुठली जितना भी, सेम जितना भी, मटर जितना भी, मूंग जितना भी, जूं जितना भी और लीख जितना भी निष्पन्न करके दिखाने में कोई भी समर्थ नहीं है।

१७३. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! यह जम्बूद्वीप द्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा यावत् उसका परिक्षेप तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढा तेरह अंगुल से कुछ अधिक प्रज्ञप्त है। महान् ऋद्धि वाला यावत् कोई महान् सामर्थ्य वाला देव विलेपन-सहित पिटक को ले कर उसे खोलता है, खोल कर यावत् यह रहा, यह रहा, इस प्रकार कह कर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप में तीन बार चुटकी बजाने जितने समय में इक्कीस बार घूम कर शीघ्र ही आ जाता है। गौतम ! क्या

हंता फुडे।

चक्किया षं गोयमा ! केइ तेसिं घाण-
पोगलाणं कोलड्डिमायमवि, निप्फाव-
मायमवि, कलमायमवि, मासमायमवि,
मुग्गमायमवि, जूयामायमवि, लिक्खा-
मायमवि अभिनिवट्टेत्ता उवदंसेत्तए?

नो तिणट्टे समट्टे। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं
वुच्चइ—नो चक्किया केइ सुहं वा जाव
उवदंसेत्तए।

हन्त स्पृष्टः।

शक्नुयाद् गौतम ! कोऽपि तेषां घ्राण-
पुद्गलानां कोलास्थिमात्रमपि, निष्पाव-
मात्रमपि, कलायमात्रमपि, माषमात्रमपि,
मुद्गमात्रमपि, यूकामात्रमपि, लिक्षामात्रमपि
अभिनिर्वर्त्य उपदर्शयितुम्?

नायमर्थः समर्थः। तत् तेनार्थेन गौतम ! एव-
मुच्यते—नो शक्नुयात् कोऽपि सुखं वा
यावत् उपदर्शयितुम्।

वह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप द्वीप उन नासिका-ग्राह्य
पुद्गलों से स्पृष्ट हुआ?

हां, स्पृष्ट हुआ।

गौतम ! उन नासिका-ग्राह्य पुद्गलों को बेर की
गुठली जितना भी, सेम जितना भी, भटर जितना
भी, उड़द जितना भी, मूंग जितना भी, जूं जितना भी
और लीख जितना भी निष्पन्न कर क्या कोई दिखाने
में समर्थ हैं?

यह अर्थ संगत नहीं है। गौतम ! इसीलिए यह कहा
जा रहा है—जीव के सुख अथवा दुःख को यावत्
दिखाने में कोई भी समर्थ नहीं है।

भाष्य

१. सूत्र १७१-१७३

सुख और दुःख संवेदन है। उन्हें पौद्गलिक पदार्थ के समान प्रदर्शित
नहीं किया जा सकता। राजगृह में कुछ दार्शनिक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन
कर रहे थे—राजगृह में जितने जीव हैं, उनके सुख-दुःख को बेर की गुठली
जितना रूप देकर भी दिखाया नहीं जा सकता।

गौतम ने इस प्रतिपादन के विषय में भगवान् महावीर से पूछा, तब
भगवान् ने कहा—केवल राजगृह के जीवों का प्रश्न नहीं है, सब जीवों के
सुख-दुःख को भी बेर की गुठली जितने आकार में प्रदर्शित नहीं किया जा
सकता। इसका हेतु यह है कि संवेदन जीव को होता है, वह पदार्थ से भिन्न है।
पदार्थ दृश्य हो सकता है; ज्ञान, संवेदन और अनुभव—ये जीव के लक्षण
हैं, इसलिए दृश्य नहीं बनते।

सुख-दुःख के संवेदन से शारीरिक प्रतिक्रियाओं को मनोविज्ञान,
प्रत्यक्ष दर्शन, अनुमान और सूक्ष्म छायांकन (Photography) के द्वारा जाना
जा सकता है, किन्तु उन्हें पदार्थ के आकार में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धान्त को घ्राण-पुद्गल-विकिरण के उदाहरण द्वारा

समझाया गया है। कोई देव एक लाख योजन आयाम-विष्कम्भ वाले जम्बूद्वीप
में तीन चुटकी बजाए इतने (लगभग एक सेकण्ड) समय में इक्कीस बार
चक्कर लगाता है। उस समय में वह एक डिबिया में रखे हुए सुगन्धी चूर्ण को
पूरे जम्बूद्वीप में बिखेर देता है। उस सुगन्धी चूर्ण को आकार में प्रदर्शित नहीं
किया जा सकता। इसी प्रकार सुख-दुःख को भी प्रदर्शित नहीं किया जा
सकता।

शब्द-विमर्श

कोलस्थिग (कोलड्डिग)—कोल + अस्थिग—बेर की गुठली।
संस्कृत शब्दकोश में कोला का अर्थ 'बदरी' तथा कोल का अर्थ 'बदर'
और 'बदरी' दोनों मिलते हैं^१। वृत्तिकार ने कोलड्डिग का संस्कृत रूप
कुबलास्थिक किया है^२। निष्पाव, मास आदि शब्दों के लिए देखें भ. ६/
१२६-१३१ का भाष्य।

अच्छरानिवाएहिं—चुटकी^३।

जीव-चेयणा-पदं

१७४. जीवे षं भंते ! जीवे? जीवे जीवे?

गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि
नियमा जीवे ॥

१७५. जीवे षं भंते ! नेरइए? नेरइए जीवे?

गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवे, जीवे पुण
सिय नेरइए, सिय अनेरइए ॥

जीव-चेतना-पदम्

जीवः भदन्त ! जीवः? जीवः जीवः?

गौतम ! जीवस्तावन् नियमाज् जीवः, जीवो-
ऽपि नियमाद् जीवः।

जीवः भदन्त ! नैरयिकः? नैरयिको जीवः?

गौतम ! नैरयिकः तावन् नियमाज् जीवः,
जीवः पुनः स्याद् नैरयिकः, स्याद् अनैरयिकः।

जीव-चेतना-पद

१७४. 'भन्ते ! क्या जीव जीव (चैतन्य) है? भन्ते!
क्या जीव (चैतन्य) जीव है?

गौतम ! जीव नियमतः जीव चैतन्य है। जीव (चैतन्य)
भी नियमतः जीव है।

१७५. भन्ते ! क्या जीव नैरयिक है? क्या नैरयिक जीव
है?

गौतम ! नैरयिक नियमतः जीव है, जीव स्यात् नैरयिक
है, स्यात् नैरयिक नहीं है।

१. आटे—कोलम्—A kind of berry
कोला—बदरी

२. भ. वृ. ६/१७१—तत्र कुबलास्थिक—बदरकुलकं।

३. जीवा. वृ. प. १०९—अप्सरो निपातो नाम चपुटिका।

१७६. जीवे णं भंते ! असुरकुमारे? असुरकुमारे जीवे?
गोयमा ! असुरकुमारे ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय असुरकुमारे, सिय नो असुरकुमारे ॥
- जीवः भदन्त ! असुरकुमारः? असुरकुमारः जीवः?
गौतम ! असुरकुमारः तावन् नियमाज् जीवः, जीवः पुनः स्याद् असुरकुमारः स्यान् नो-असुरकुमारः।
१७६. भन्ते ! क्या जीव असुरकुमार है? क्या असुरकुमार जीव है?
गौतम ! असुरकुमार नियमतः जीव है। जीव स्यात् असुरकुमार है, स्यात् असुरकुमार नहीं है।
१७७. एवं दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं ॥
- एवं दण्डकः भणितव्यः यावद् वैमानिकानाम्।
१७७. इस प्रकार वैमानिक देवों तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं।
१७८. जीवति भंते ! जीवे? जीवे जीवति?
गोयमा ! जीवति ताव नियमा जीवे, जीवे पुण सिय जीवति, सिय नो जीवति ॥
- जीवति भदन्त ! जीवः? जीवः जीवति?
गौतम ! जीवति तावन् नियमाज् जीवः, जीवः पुनः स्याद् जीवति, स्यान् नो जीवति।
१७८. भन्ते ! क्या जो जीता है, वह जीव है? अथवा जो जीव है वह जीता है?
गौतम ! जो जीता है, वह नियमतः जीव है और जीव स्यात् जीता है, स्यात् नहीं जीता।
१७९. जीवति भंते ! नेरइए? नेरइए जीवति?
गोयमा ! नेरइए ताव नियमा जीवति, जीवति पुण सिय नेरइए, सिय अनेरइए ॥
- जीवति भदन्त ! नैरयिकः? नैरयिकः जीवति?
गौतम ! नैरयिकस्तावन् नियमाज् जीवति, जीवति पुनः स्यान् नैरयिकः, स्याद् अनैरयिकः।
१७९. भन्ते ! क्या जो जीता है, वह नैरयिक है? अथवा जो नैरयिक, वह जीता है?
गौतम ! नैरयिक नियमतः जीता है और जो जीता है, वह स्यात् नैरयिक है, स्यात् नैरयिक नहीं है।
१८०. एवं दंडओ नेयव्वो जाव वेमाणियाणं ॥
- एवं दण्डकः नेतव्यः यावद् वैमानिकानाम्।
१८०. इस प्रकार वैमानिक तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं।
१८१. भवसिद्धिए णं भंते ! नेरइए? नेरइए भवसिद्धिए?
गोयमा ! भवसिद्धिए सिय नेरइए, सिय अनेरइए। नेरइए वि य सिय भवसिद्धीए, सिय अभवसिद्धीए ॥
- भवसिद्धिकः भदन्त ! नैरयिकः? नैरयिकः भवसिद्धिकः?
गौतम ! भवसिद्धिकः स्यान् नैरयिकः, स्याद् अनैरयिकः। नैरयिकोऽपि च स्याद् भवसिद्धिकः, स्याद् अभवसिद्धिकः।
१८१. भन्ते ! क्या जो भवसिद्धिक है, वह नैरयिक है? अथवा जो नैरयिक है, वह भवसिद्धिक है?
गौतम ! जो भवसिद्धिक है, वह स्यात् नैरयिक है, स्यात् नैरयिक नहीं है। नैरयिक भी स्यात् भवसिद्धिक है, स्यात् भवसिद्धिक नहीं है।
१८२. एवं दंडओ जाव वेमाणियाणं।
- एवं दण्डकः यावद् वैमानिकानाम्।
१८२. इसी प्रकार वैमानिक तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र १७४-१८२

जीव द्रव्य है, गुणी है और चैतन्य उसका गुण है। गुणी गुण का आश्रय होता है। गुण और गुणी में अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध है। जीव द्रव्य है और चैतन्य उसका गुण है, इसलिए वे अभिन्न हैं। गुण गुणी से कभी भिन्न नहीं होता। द्रव्य में अनेक गुण होते हैं। चैतन्य जीव-द्रव्य का एक गुण है। उसके आधार पर जीव का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित है। चैतन्य गुण केवल जीव में है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, इसीलिए जीव-द्रव्य अन्य

द्रव्यों से भिन्न है। गुण-गुणी-भाव की दृष्टि से जीव और चैतन्य भिन्न भी है। अनेकान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि जीव और चैतन्य कथंचित् अभिन्न हैं और कथंचित् भिन्न हैं।

प्रस्तुत आलापक में जीव और चैतन्य के अविनाभाव-सम्बन्ध का निरूपण किया गया है—

जीव नियमतः चैतन्य है और चैतन्य नियमतः जीव है।

मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक—ये जीव के क्रमभावी पर्याय

हैं, इसलिए इनके साथ जीव का अविनाभाव-सम्बन्ध नहीं होता। मनुष्य नियमतः जीव होता है, किन्तु जीव नियमतः मनुष्य नहीं होता है। वह कभी मनुष्य होता है, कभी देव, कभी तिर्यञ्च और कभी नारक।

दूसरे प्रश्न में जीव और जीवन का सम्बन्ध बतलाया गया है। जो जीता है—प्राण धारण करता है वह नियमतः जीव है—जीवन का मूल आधार है आयुष्य

कर्म। अजीव के आयुष्य कर्म नहीं होता, इसलिए उसमें जीवन भी नहीं होता। जो जीव है, वह स्यात् जीता है, स्यात् नहीं भी जीता। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चार गति के जीव जीते हैं। सिद्ध नहीं जीते—उनके प्राण नहीं होते। मनुष्य नियमतः जीता है। किन्तु जो जीता है वह केवल मनुष्य नहीं है, वह मनुष्य भी है और अमनुष्य भी है—नरक तिर्यञ्च और देव भी है।'

वेदना-पदं

१८३. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेति—एवं खलु सञ्चे पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति ॥

१८४. से कहमेयं भंते ! एवं?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया जाव भिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइ-क्खामि जाव परूवेमि—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति, आहच्च सायं। अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतसायं वेदणं वेदेति, आहच्च अस्सायं। अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता वेमायाए वेदणं वेदेति—आहच्च साय-मसायं ॥

१८५. से केणट्ठेणं?

गोयमा ! नेरइया एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति, आहच्च सायं। भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया एगंतसायं वेदणं वेदेति, आहच्च अस्सायं। पुढविक्काइया जाव मणुस्सा वेमायाए वेदणं वेदेति—आहच्च साय-मसायं। से तेणट्ठेणं ॥

वेदना-पदम्

अन्ययूथिकाः भदन्त ! एवमाख्यान्ति यावत् प्ररूपयन्ति—एवं खलु सर्वे प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एकान्तदुःखां वेदनां वेदयन्ति।

तत् कथमेतद् भदन्त ! एवम्?

गौतम ! यत्ते अन्ययूथिकाः यावन् मिथ्या ते एवमाहुः, अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि यावत् प्ररूपयामि—अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एकान्तदुःखां वेदनां वेदयन्ति, आहत्य साताम्। अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः एकान्तसातां वेदनां वेदयन्ति, आहत्य असाताम्। अस्त्येकके प्राणाः भूताः जीवाः सत्त्वाः विमात्रया वेदनां वेदयन्ति आहत्य सातामसाताम्।

तत् केनार्थेणं?

गौतम ! नैरयिकाः एकान्तदुःखां वेदनां वेदयन्ति, आहत्य साताम्। भवनपति-वानमन्तर-ज्योतिष-वैमानिका एकान्तसातां वेदनां वेदयन्ति, आहत्य असाताम्। पृथिवी-कायिकाः यावत् मनुष्याः विमात्रया वेदनां वेदयन्ति—आहत्य सातामसाताम्। तत् तेनार्थेणं।

वेदना-पद

१८३. 'भन्ते ! अन्ययूथिक इस प्रकार आख्यान करते हैं यावत् प्ररूपणा करते हैं सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एकान्त दुःखमय वेदना का वेदन करते हैं।

१८४. भन्ते ! इस प्रकार का वक्तव्य कैसे है?

गौतम ! जो अन्ययूथिक ऐसा आख्यान करते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं इस प्रकार आख्यान करता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ—कुछ प्राण, भूत, जीव, और सत्त्व एकान्त दुःखमय वेदना का वेदन करते हैं और कभी-कभी सुख का वेदन करते हैं। कुछ प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एकान्त सुखमय वेदना का वेदन करते हैं और कभी-कभी दुःख का वेदन करते हैं। कुछ प्राण, भूत, जीव और सत्त्व विमात्रा से वेदना का वेदन करते हैं—कभी सुख का वेदन करते हैं, कभी दुःख का वेदन करते हैं।

१८५. यह किस अपक्षा से?

गौतम ! नैरयिक एकान्त दुःखमय वेदना का वेदन करते हैं, कभी-कभी सुख का वेदन करते हैं। भवन-पति, वानमन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव एकान्त सुख का वेदन करते हैं, कभी-कभी दुःख का वेदन करते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर मनुष्य तक सभी जीव विमात्रा से वेदना का वेदन करते हैं—कभी सुख का वेदन करते हैं, कभी दुःख का वेदन करते हैं। इस अपेक्षा से यह कहा जाता है।

भाष्य

१. सूत्र १८३-१८५

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में कुछ दार्शनिक दुःखवादी रहे हैं। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः'।^१—पतञ्जलि का यह सूत्र सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण प्रस्तुत

करता है। बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्त्वों में दुःख पहला आर्यसत्त्व है। उसके अनुसार पूरा संसार आग में झुलस रहा है, सुख का कोई अवसर ही नहीं है।^२ सांख्य, जैन और बौद्ध—ये तीनों श्रमण-परम्परा के दर्शन हैं और तीनों ही

१. भ. वृ. ६/१७८—जीवति प्राणान् धारयति य सः जीवः उत यो जीवः स जीवति? इति प्रश्नः, उत्तरं तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीवः अजीवस्यायुः कर्माभावेन जीवनाभावात्, जीवस्तु स्याज्जीवति स्यान्न जीवति, सिद्धस्य जीवनाभावादिति; नारकादिस्तु नियमाज्जीवति, संसारिणः सर्वस्य प्राणधारणात्मकत्वात्, जीवतीति पुनः स्यान्नारकादिः स्यादनारकादिति, प्राणधारणस्य सर्वेषां

सद्भावादिति।

२. पा. यो. द. २/१५।

३. धम्मपद, १४६।

दुःखवादी है।

जैन दर्शन सापेक्ष दुःखवादी है—दुःख को एकान्ततः स्वीकार नहीं करता। प्रस्तुत आलापक में दुःख-वेदना का विभज्यवादी दृष्टिकोण से विमर्श किया गया है। नरक के जीव दुःख का संवेदन करते हैं, किन्तु कभी-

कभी वे सुख का संवेदन करते हैं। देव सुख का संवेदन करते हैं, कभी-कभी दुःख का संवेदन भी करते हैं। तिर्यञ्च और मनुष्य के जीव में सुख और दुःख का संवेदन विमात्रा से होता है—कभी वे दुःख का संवेदन करते हैं, कभी सुख का संवेदन करते हैं।

नेरइयादीणं आहार-पदं

१८६. नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति तं किं आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति? अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति? परंपरखेत्तो-गाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति?

गोयमा ! आयसरीरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्त-मायाए आहारेंति, नो अणंतरखेत्तोगाढे पो-ग्गले अत्तमायाए आहारेंति, नो परंपर-खेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेंति।

जहा नेरइया तहा जाव वेमाणियाणं दंडओ॥

नैरयिकादीनाम् आहार-पदम्

नैरयिकाः भदन्त ! यान् पुद्गलान् आत्मना आदाय आहरन्ति तत् किं आत्मशरीर-क्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् आत्मना आदाय आहरन्ति? अनन्तरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् आत्मना आदाय आहरन्ति? परंपरक्षेत्रा-वगाढान् पुद्गलान् आत्मना आदाय आहार-न्ति?

गौतम ! आत्मशरीरक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् आत्मना आदाय आहरन्ति, नो अनन्तर-क्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् आत्मना आहरन्ति, नो परम्परक्षेत्रावगाढान् पुद्गलान् आत्म-ना आदाय आहरन्ति।

यथा नैरयिकाः तथा यावद् वैमानिकानां दण्डकः।

नैरयिक आदि जीवों के आहार का पद

१८६. 'भन्ते ! नैरयिक जीव जिन पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार करते हैं, क्या अपने शरीर के क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार करते हैं? क्या अनन्तर क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार करते हैं? क्या परम्पर क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार करते हैं?

गौतम ! वे अपने शरीर के क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार करते हैं, अनन्तर क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार नहीं करते, परम्पर क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों को आत्मा से ग्रहण कर आहार नहीं करते।

नैरयिक जीवों की भांति वैमानिक तक सभी दण्डक वक्तव्य हैं।

भाष्य

१. सूत्र १८६

जीव प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए पुद्गलों का आहरण करता है। इस विषय में जिज्ञासा है कि वह पुद्गलों का आहरण कहां से करता है? पुद्गलों की अवस्थिति के तीन क्षेत्र हैं—१. स्वशरीर-क्षेत्र २. अनन्तर क्षेत्र—स्वशरीर-

-क्षेत्र से अव्यवहित क्षेत्र ३. परम्पर क्षेत्र—अनन्तर क्षेत्र से आगे का क्षेत्र। आहरण का नियम यह है कि जीव स्वशरीर-क्षेत्रावगाढ पुद्गलों का आहरण करता है, वह अनन्तर-क्षेत्रावगाढ और परम्पर-क्षेत्रावगाढ पुद्गलों का आहरण नहीं कर सकता।

केवलिस्स नाण-पदं

१८७. केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ-पासइ?

गोयमा ! नो इण्ठे समट्ठे ॥

१८८. से केण्ठेणं?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमे णं मियं पि जाणइ, अभियं पि जाणइ जाव निब्बुडे दंसणे केवलिस्स। से तेण्ठेणं ॥

केवलिनो ज्ञान-पदम्

केवली भदन्त ! किम् आदानैः जानाति-पश्यति?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः।

तत्केनार्थेन?

गौतम ! केवली पौरस्त्येन मितमपि जानाति, अमितमपि जानाति यावत् निर्वृतं दर्शनं केवलिनः। तत्केनार्थेन।

केवली के ज्ञान का पद

१८७. 'भन्ते ! क्या केवली इन्द्रियों से जानता-देखता है?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

१८८. यह किस अपेक्षा से?

गौतम ! केवली पूर्व दिशा में परिमित को भी जानता है, अपरिमित को भी जानता है, यावत् केवली का दर्शन निरावरण है इस अपेक्षा से।

भाष्य

१. सूत्र १८७, १८८

द्रष्टव्य भ. ५/१०८. १०९ का भाष्य।

संग्रहणी गाथा

जीवाण य सुहं दुक्खं,
जीवे जीवति तहेव भविया थ।
एगंतदुक्खं वेयण,
अत्तमायाय केवली ॥१॥

१८९. सेचं भंते ! सेचं भंते ! त्ति ॥

संग्रहणी गाथा

जीवानां च सुखं दुःखं,
जीवो जीवति तथैव भव्याश्च।
एकान्तदुःखां वेदनाम्,
आत्मनादाय केवली ॥१॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति।

संग्रहणी गाथा

जीवों का सुख और दुःख, जीव और जीना, भव-
सिद्धिक, एकान्त दुःखमय वेदना, आत्मा से आहार
ग्रहण का विषय और केवली का जानना-देखना—
दसवें उद्देशक में प्रतिपादित विषय ये हैं।

१८९. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।



सत्तमं सयं

सातवां शतक

आमुख

भगवती का प्रत्येक शतक प्रकीर्ण ज्ञान का पुञ्ज है। इसकी रचना प्रश्नोत्तर-प्रधान है। यह किसी एक विषय पर लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है। प्रस्तुत शतक में तत्त्व-विद्या, लोक-विद्या, आचार-शास्त्र, कर्म-शास्त्र, अनेकांत आदि अनेक विद्या-शाखाओं के विषय में जिज्ञासा और समाधान उपलब्ध हैं।

जिज्ञासा और समाधान के कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेख इस प्रकार हैं :

गति का माध्यम है शरीर। मुक्त जीव अशरीर होकर मोक्ष जाता है। अशरीर की गति कैसे होती है? और उसका हेतु क्या है? यह दार्शनिक जगत् की बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान प्रस्तुत शतक और तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उपलब्ध है। प्रस्तुत शतक में मुक्त जीव की गति के छह हेतु वतलाए गए हैं और उनकी स्पष्टता के लिए कुछ दृष्टान्तों का निर्देश किया गया है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में अशरीर की गति के चार हेतुओं का उल्लेख है और स्पष्टता के लिए चार दृष्टान्त भी निर्दिष्ट हैं।^१ जैन दर्शन आत्मा को देह-परिमाण मानता है, इसलिए मुक्त जीव की गति की समस्या पर विचार करना उसके लिए अनिवार्य है। न्याय-वैशेषिक आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं इसलिए मुक्त जीव की गति पर विचार करना उसके लिए अनिवार्य है।^२

दार्शनिक जगत् में नित्य और अनित्य की प्रतिपत्तियां भिन्न-भिन्न हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार जीव कूटस्थ नित्य है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीव अनित्य है। भगवान् महावीर ने जीव का निरूपण अनेकांत दृष्टि से किया है। इन दोनों की स्वीकृति दो नयों के आधार पर की। द्रव्य अथवा अस्तित्व की दृष्टि से जीव शाश्वत है और परिणमन की दृष्टि से वह अशाश्वत है। इस प्रकार दो नय-दृष्टियों से नित्यवाद और अनित्यवाद का समन्वय कर दार्शनिक जगत् में समन्वय की परंपरा स्थापित की गई है।^३

वेदान्त का सिद्धान्त है—सारा जगत् ब्रह्म का प्रपञ्च है। प्रत्यग् आत्मा विश्वक आत्मा का विस्तार है। जैन दर्शन ईश्वरवादी, ब्रह्मवादी अथवा एकात्मवादी नहीं है, इसलिए वह सब आत्माओं को किसी एक आत्मा का प्रपञ्च नहीं मानता, किंतु समन्वय का बिन्दु यह है—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब पर्याय हैं, विवर्त हैं, अस्तित्व नहीं हैं। ये सब प्रवाह की दृष्टि से शाश्वत हैं, व्यक्ति की दृष्टि से शाश्वत नहीं हैं।^४

प्रस्तुत शतक में अवसर्पिणी के दुःषम-दुःषमा काल के विषय में जो भविष्यवर्णा है, वह पर्यावरणीय प्रदूषण से उत्पन्न समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करती है।^५

कुंथु बहुत छोटा जंतु है और हाथी बहुत विशालकाय। दोनों में जीव हैं। सहज प्रश्न होता है—कुंथु का जीव हाथी के समान है अथवा छोटा है। यह आकार की भिन्नता जीव के परिमाण की भिन्नता का प्रश्न उपस्थित करती है। जैन दर्शन का एक सिद्धांत है—प्रत्येक जीव के असंख्य प्रदेश होते हैं।^६ दूसरा सिद्धांत-संसारी जीव देह-परिमाण है। तीसरा सिद्धांत—जीव के प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

कुछ दार्शनिक आत्मा को व्यापक (विभु) मानते हैं।^७ कुछ दार्शनिक अणु अथवा अंगुष्ठप्रमाण वाला मानते हैं।^८ आत्मा का देह-परिमाण होना दार्शनिक चर्चा का विषय रहा है। माध्वाचार्य ने जीव के देह-परिमाणत्व की मीमांसा की है। मीमांसा के मुख्य तर्क दो हैं—

१. योगी एक साथ अनेक शरीर धारण करते हैं। इस अवस्था में देह-परिमाणत्व का सिद्धांत संगत नहीं है।

२. मनुष्य के शरीर का परिमाण रखने वाला जीव पुनर्जन्म में हाथी के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता। हाथी के बड़े शरीर को छोड़ कर चींटी के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकता।^९ यदि माध्वाचार्य के सामने वैक्रिय शरीर और समुद्रघात^{१०} का सिद्धांत होता तो जीव के देह-परिमाणत्व का खंडन प्रस्तुत तर्कों के आधार पर नहीं किया जाता। जीव के प्रदेशों में संकोच और विस्तार की शक्ति है, इसलिए वह छोटे अथवा बड़े शरीर को अपने आत्म-प्रदेशों से संचित बना देता है।^{११}

वैशाली गणतंत्र के प्रमुख महाराज चेटक और कोणिक का युद्ध इतिहास का अछूता पहलू है। इस युद्ध के वर्णन का निष्कर्ष युद्ध को प्रोत्साहन देने वाली अवधारणा के विरोध में है। युद्ध में मरने वाला स्वर्ग में जाता है। इस अवधारणा के स्थान पर प्रस्तुत प्रकरण का वक्तव्य है—‘युद्ध स्वर्ग का हेतु नहीं है।’^{१२}

ईश्वरवादी चिन्तन की एक धारणा है—मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्म का फल ईश्वर देता है। जैन दर्शन ईश्वरवादी नहीं है। उसके सामने समस्या थी—यदि ईश्वर नहीं है तो कर्म का फल कैसे होगा? कोई भी मनुष्य बुरे कर्म का फल स्वयं भुगतना नहीं चाहता। इस प्रश्न का उत्तर है—स्वभाव। आंतरिक क्रिया स्वतः-

१. (क) त. सू. भा. वृ. १०/६—पूर्वप्रयोगात् असंगत्वात् बंधच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च।

(ख) त. रा. वा. —१०/६, ७ पूर्वप्रयोगात् असंगत्वात् बंधच्छेदात् तथागतिपरिणामाच्च।

आदिश्रद्धकुलचक्रवर्द्ध व्यपगतलेपालावुवदंरण्डवीत्रवदगिनशिखावच्च ।

२. द्रष्टव्य श. ७/१० का भाष्य ।

३. श. ७/५८-६०।

४. वही, ७/६३-६५।

५. वही, ७/११७-११९।

६. टाण्, ४/४६५।

७. जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. २४।

८. छान्दोग्य उपनिषद्, ५/१८/१

९. सर्वदर्शनसंग्रह, १५८, १५९—तथा जीवस्य देहानुरूप परिमाणस्यापीकारे योग-वलाग्ने कदेहपरिमाहकयोगशरीरेषु प्रतिशरीरं जीवविच्छेदः प्रसज्येत । मनुजशरीरपरिमाणो जीवो मनुजदेहं कृत्यं प्रवेष्टुं न प्रभवेत् । किं च गजादिशरीरं परित्यज्य पिपीलिका शरीरं विशतः प्राचानशरीरानिवेशयित्वाशोपि प्राप्नुयात् ।

१०. श. २/७४ का भाष्य ।

११. वही, ७/१५८-१५९।

१२. वही, ७/१८१।

-चालित होती है। नाडीतंत्र के दो भाग हैं—इच्छा-चालित और स्वतः-चालित। कर्मभोग भी स्वतः-चालित क्रिया है। कालोदायी के प्रश्न पर भगवान् महावीर ने उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट किया। भगवान् ने कहा—कालोदायी! कोई पुरुष अटारह व्यंजनों से युक्त विषमिश्रित भोजन करता है। वह प्रारंभ में अच्छा लगता है किंतु जैसे-जैसे विष का परिणाम होता है वैसे-वैसे मारक बनता है। कालोदायी! हिंसा आदि जितने पाप कर्म हैं वे प्रारंभ में अच्छे लगते हैं—किंतु परिणाम में अनिष्ट फल में बदल जाते हैं।

कोई पुरुष अटारह व्यंजनयुक्त औषधिमिश्रित भोजन करता है। वह प्रारंभ में अच्छा लगता है और परिणाम में भी अच्छा होता है। जैसे विषमिश्रित और औषधिमिश्रित भोजन का फल स्वतः प्राप्त होता है, वैसे ही बुरे और अच्छे कर्म का फल स्वतः होता है। इसमें किसी बाहरी हस्तक्षेप की अपेक्षा नहीं होती।
इस प्रकार प्रस्तुत शतक में अनेक सिद्धांत प्रतिपादित हैं। उनसे तत्त्ववेद्या के रहस्य अनावृत होते हैं।

१. भ. ७/२२३-२२६।



सत्तमं सयं : सातवां शतक पढमो उद्देशो : प्रथम उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संग्रहणी गाथा

१. आहार २. विरति ३. थावर,
४. जीवा ५. पक्षी य ६. आउ ७. अणगारे !
८. छद्मस्थ ९. असंवृत,
१०. अण्णउत्थि दस सत्तमंमि सए ॥१॥

संग्रहणी गाथा

१. आहारो २. विरतिः ३. स्थावरः,
४. जीवाः ५. पक्षी च ६. आयुः ७. अनगारः।
८. छद्मस्थः ९. असंवृतः,
१०. अन्ययूथिकः दश सप्तमे शते ॥

संग्रहणी गाथा

सप्तम शतक के दस उद्देशक हैं—१. आहार—आहारक और अनाहारक की वक्तव्यता, २. विरति—प्रत्याख्यान की वक्तव्यता, ३. स्थावर—वनस्पति की वक्तव्यता, ४. जीव—संसारी जीवों की वक्तव्यता, ५. पक्षी—पक्षी की वक्तव्यता, ६. आयुष्य—आयुष्य की वक्तव्यता, ७. अनगार—अनगार की वक्तव्यता, ८. छद्मस्थ—छद्मस्थ मनुष्य की वक्तव्यता, ९. असंवृत—असंवृत अनगार की वक्तव्यता, १०. अन्ययूथिक—कालोदायी आदि अन्यतीर्थिकों की वक्तव्यता।

अणाहारक-पदं

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वदासी—
जीवे णं भंते! कं समयमणाहारए भवइ?

गोयमा ! पढमे समए सिय आहारए सिय अणाहारए, बितिए समए सिय आहारए सिय अणाहारए, ततिए समए सिय आहारए सिय अणाहारए, चउत्थे समए नियमा आहारए। एवं दंडओ—जीवा य एण्णिदिया य चउत्थे समए, सेसा ततिए समए ॥

अनाहारक-पदम्

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यावद् एवम-
वादीत्—जीवः भदन्त! कं समयम् अनाहारकः
भवति?

गौतम! प्रथमे समये स्याद् आहारकः स्याद् अनाहारकः, द्वितीये समये स्याद् आहारकः स्याद् अनाहारकः, तृतीये समये स्याद् आहारकः स्याद् अनाहारकः, चतुर्थे समये नियमाद् आहारकः। एवं दण्डकः—जीवाश्च एकेन्द्रियाश्च चतुर्थे समये, शेषास्तृतीये समये।

अनाहारक-पद

१. 'उस काल और उस समय गणधर गौतम ने
श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार कहा—भन्ते!
जीव किस समय अनाहारक होता है ?

गौतम ! जीव प्रथम समय में स्यात् आहारक होता है, स्यात् अनाहारक, दूसरे समय में स्यात् आहारक होता है, स्यात् अनाहारक, तीसरे समय में स्यात् आहारक होता है, स्यात् अनाहारक, चौथे समय में नियमतः आहारक होता है। इस प्रकार चौबीस दण्डक वक्तव्य हैं। जीव और एकेन्द्रिय ये दोनों चौथे समय में नियमतः आहारक होते हैं, शेष सब तीसरे समय में नियमतः आहारक होते हैं।

भाष्य

१. सूत्र १

आहार के चार प्रकार हैं—ओज आहार, लोम आहार, प्रक्षेप आहार और मनोभक्ष्य आहार।^१ आहार का ग्रहण करने वाला आहारक और उसको

ग्रहण न करने वाला अनाहारक कहलाता है। ओज आहार का ग्रहण जन्म के प्रारम्भ में अन्तर्मुहूर्त तक किया जाता है। उसके पश्चात् लोम आहार का ग्रहण जीवन के अंतिम क्षण तक किया जाता है। प्रक्षेप आहार का ग्रहण भोजन-काल

१. द्रष्टव्य भ. १/२० का भाष्य ।

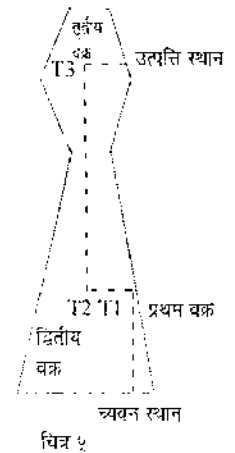
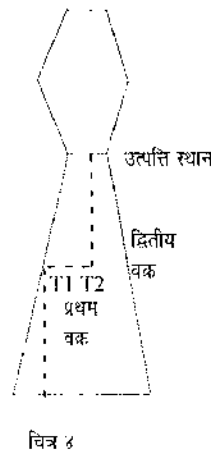
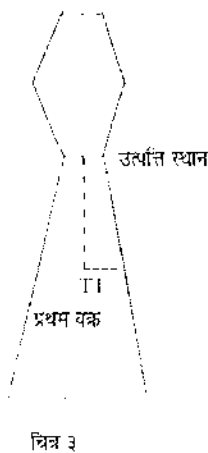
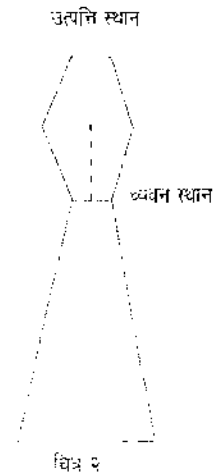
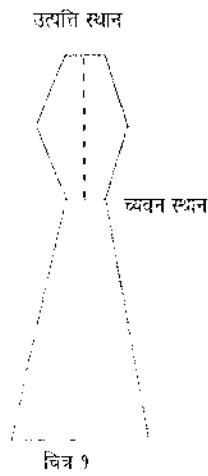
में किया जाता है।^१ प्रत्येक शरीरधारी प्राणी सयोग-अवस्था में निरन्तर आहार लेता है। आहार का ग्रहण भोजन-काल में किया जाता है। उसके बिना जीवन-क्रिया का संचालन नहीं होता।

अनाहारक होना आपवादिक अथवा विशेष स्थिति है। इसके दो प्रसंग हैं—अन्तरालगति और केवली समुद्घात। जीव मृत्यु के पश्चात् भावी जन्मस्थल तक जाता है। दोनों के मध्यवर्ती गति का नाम अन्तरालगति है। प्रस्तुत सूत्र में आहारक और अनाहारक का प्रज्ञापन अन्तरालगति के संदर्भ में किया गया है। अन्तरालगति दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। जो जीव ऋजु—आयत श्रेणी में उत्पन्न होता है, वह एक समय में उत्पत्ति-स्थान में चला जाता है। (चित्र १, २) उत्पत्ति-स्थान एकतः वक्रश्रेणी में होता है, तो अन्तराल

गति में दो समय लगते हैं। (चित्र ३) उत्पत्ति-स्थान उभयतः वक्र श्रेणी में होता है तो अन्तरालगति में तीन समय लगते हैं।^२ (चित्र ४) अन्तरालगति चार समय की भी होती है।^३ (चित्र ५)

१. जीव ऋजुगति से उत्पत्ति-स्थान तक जाता है तब वह परभव-आयुष्य के प्रथम समय में आहारक होता है। विग्रहगति से उत्पत्ति के स्थान तक जाने वाला जीव प्रथम समय में अनाहारक होता है। उक्त दोनों संदर्भों के आधार पर यह सिद्धांत फलित होता है—प्रथम समय में स्यात् आहारक, स्यात् अनाहारक।

२. कोई जीव दो समय और एक वक्र वाली विग्रह-गति से उत्पत्ति-स्थान में जाता है, तब वह प्रथम समय में अनाहारक और द्वितीय समय में आहारक होता है।



१ त सू. भा. वृ. २/३१—तत्राज्ञआहारोऽपर्याप्तकवस्थायां कार्मणशरीरेणाम्बुनिक्षिप्ततप्त-भाजनवत् पुद्गलादानं सर्वप्रदेशैर्यत् क्रियते जन्तुना प्रथमोत्पादकाले योनौ अपूपेनेव प्रथमकालप्रक्षिप्तेन धृतादिरिति, एष च आन्तर्मुहूर्तिकः। लोमाहाररतु पर्याप्तकवस्थाप्रभृति यत्

त्वचा पुद्गलोपादानमाभवक्षयाच्च सः। प्रक्षेपाहारः औदनदिकवलपानाभ्यवहारलक्षणः।
२. भा. ३४/२, ३, १।
३. वही, ३४/१४।

दो वक्र और तीन समय वाली विग्रह गति से उत्पन्न होने वाला जीव प्रथम और द्वितीय समय में अनाहारक होता है तथा तृतीय समय में आहारक होता है।

उक्त दोनों संदर्भों के आधार पर यह सिद्धान्त फलित होता है—
द्वितीय समय में स्यात् आहारक, स्यात् अनाहारक।

३. कोई जीव तीन समय और दो वक्र वाली गति से उत्पत्ति-स्थान तक जाता है तब वह प्रथम और द्वितीय समय में अनाहारक होता है तथा तृतीय समय में आहारक होता है।

तीन वक्र और चार समय वाली विग्रहगति से उत्पत्ति-स्थान तक जाने वाला जीव प्रथम समय में आहारक, द्वितीय और तृतीय समय में अनाहारक होता है।

उक्त दोनों संदर्भों के आधार पर यह सिद्धान्त फलित होता है—
तृतीय समय में स्यात् आहारक, स्यात् अनाहारक।

अभयदेवसूरि ने वक्रगति के प्रथम, द्वितीय और तृतीय—तीनों समयों में जीव को अनाहारक बतलाया है।^१ मतान्तर के अनुसार पांच समय वाली अन्तरालगति में अनाहारक रहने के चार समयों का उल्लेख है।^२

अनाहारक विषयक तत्त्वार्थाधिगम का सूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर

दोनों परम्पराओं में भिन्न है—एक द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः (तत्त्वार्थराजवार्तिक २/३०)

अकलंक ने विग्रहगति के प्रथम, द्वितीय और तृतीय तीनों समयों को अनाहारक बतलाया है।^३

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार सूत्रपाठ इस प्रकार है—
एकं द्वौ वाऽनाहारकः (तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम् सभाष्य टीका, २/३१)
सिद्धसेनगणी ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है—दो वक्र वाली तीन समय की गति में मध्यवर्ती समय अनाहारक है तथा तीन विग्रह और चार समय वाली गति में मध्यवर्ती दो समय अनाहारक होते हैं।^४

जयाचार्य ने अभयदेवसूरि के मत की समीक्षा की है तथा अनाहारक के दो समय के सिद्धान्त का समर्थन किया है।^५

पण्णवणा और जीवाजीवाभिगमे में अनाहारक के दो समयों का उल्लेख है।^६

इन दोनों सूत्रों के टीकाकार मलयगिरि हैं। उनके अनुसार यह सूत्र सापेक्ष है। बहुलतया दो समय या तीन समय की विग्रहगति होती है। इस अपेक्षा से अनाहारक अवस्था के दो समयों का उल्लेख किया गया है।^७

उक्त चर्चा का निष्कर्ष जानने के लिए देखें यंत्र—

ग्रन्थ नाम	एक समय की गति		दो समय की गति		तीन समय की गति		चार समय की गति	
	अनाहारक	आहार	अनाहारक	आहारक	अनाहारक	आहारक	अनाहारक	आहारक
१ भगवती वृत्ति	०	आहारक	प्रथम	द्वितीय	प्रथम, द्वितीय	तृतीय	प्रथम, द्वितीय, तृतीय	चतुर्थ
२ भगवती जोड	"	"	"	"	"	"	द्वितीय, तृतीय	प्रथम, चतुर्थ
३ प्रज्ञापना तथा प्रज्ञापना वृत्ति	"	"	"	"	"	"	०	०
४ जीवाजीवाभिगम तथा जीवाजीवाभिगम वृत्ति	"	"	"	"	"	"	०	०
५ तत्त्वार्थभाष्य टीका	"	"	०	प्रथम, द्वितीय	द्वितीय	प्रथम, तृतीय	द्वितीय, तृतीय	प्रथम, चतुर्थ
६ तत्त्वार्थराजवार्तिक	"	"	प्रथम	द्वितीय	प्रथम, द्वितीय	तृतीय	प्रथम, द्वितीय, तृतीय	चतुर्थ

१. म. वृ. ७/१--

(क) यदा तु विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्रेऽनाहारको भवति, उत्पत्ति-स्थानानवाप्तौ तदाहारणीयपदुद्गलानामभावात्।

(ख) यदकेन वक्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीया त्वाहारकः।

(ग) यदा वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदाऽऽद्योरनाहारकस्तृतीये त्वाहारकः।

(घ) यदा तु वक्रत्रयेण चतुर्भिः समयैरुत्पद्यते तदाद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थे तु नियमादाहारकः।

२. वही, ७/१—अन्ये त्वाहुः—वक्रचतुष्टयमपि संभवति, यदा हि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते तत्र समयत्रयं प्राग्वत्, चतुर्थे समये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणि प्रतिपद्यते, पञ्चमेन तूत्पत्तिनस्थानं प्राप्नोति, तत्र चाद्ये समयचतुष्टये वक्रचतुष्टयं स्यात्, तत्र चानाहारक इति, इदं च सूत्रे न दर्शितम्। प्रायेणेत्यमनुत्पत्तेरिति।

३. त. रा. वा. २/३०—पाणिमुक्तायामेकविग्रहायां द्विसमयायां प्रथमे समयेऽनाहारकः। लाङ्-गुलिकायां द्विविग्रहायां त्रिसमयायां प्रथमद्वितीययोः समययोरनाहारकस्तृतीये आहारकः। गोभूत्रिकायां त्रिविग्रहायां चतुःसमयायां चतुर्थसमये आहारक इतरैष्वनाहारकः।

४. त. सू. भा. वृ. २/३१, (खं १) पृ. १८७—तत्र द्विविग्रहायामेकं समयं मध्यमं त्रिविग्रहायां द्वौ समयावनाहारको मध्यमौ भवति।

५. म. जो. २/१११/१३-१७—

त्रिण वक्रे करि धार, चार समय करि उपजै।

प्रथम चरम वे आ'र, समय मन्डिम वे आ'र नहें ॥

वृत्ति मझे इम वाय, अन्य आचार्य इम कहे।

पंच समय उपजाय, सूत्रे कथन न इम कह्युं ॥

अणाहारक नां जेइ, समय जीन केई कहें ॥

प्राठ मझे नहिं तेह, बुद्धिवंत न्याय विचारिये ॥

पन्नवण मे तहतीक, अटारमा पद नें विषे।

छद्मस्थ अणाहारीक, स्थिति कही वे समय नां ॥

निण सूं सूत्रे वाय, आखी तेहिज सत्य छे।

विरुद्ध बहु वृत्ति मांय, ते किण रीते मानिये ॥

६. (क) पण्ण. १८/६८।

(ख) जीवा. ६/४३।

७. (क) प्रज्ञा. वृ. प. ३१३—इह यद्यपि चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी च विग्रहगतिर्भवति, आह च—

उजुया य एकवंका, दुहतो वंका गति विणिदिह्वा।

गुज्जइ तिचउवंकावि, नाम चउपंचसमयाओ ॥१॥

तथापि बाहुल्येन द्विसामयिकी त्रिसामयिकी वा प्रवर्तते न चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी वा प्रवर्तते ततो न ते विवक्षिते, तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामयिक्यां विग्रहगती।

(ख) जीवा. वृ. प. ४४१—जघन्यत एकं समयं जघन्याधिकाराद् द्विसामयिकीं विग्रहगति-मपेस्यैतदवसातव्यं, उत्कर्षतो द्वौ समयौ त्रिसामयिकया एव विग्रहगते बाहुल्येणाश्रयणात्, आह च चूर्णिकृत्—यद्यपि भगवत्यां चतुःसामयिकीऽनाहारक उक्तस्तथाप्यत्र नाङ्गीक्रियते, कदाचित्कोऽसौ भावो येन, बाहुल्यमेवाङ्गीक्रियते, बाहुल्याच्च समयद्वयमेवेति दावाद्यौ समयावनाहारकः।

पण्णवणा और जीवाजीवाभिगमे में अनाहारक के दो समयों का उल्लेख है। इस आधार पर सिद्धसेनगणी और जयाचार्य ने चार समय की विग्रह गति में प्रथम समय को आहारक बतलाया। किंतु अभयदेवसूरि ने जो तर्क प्रस्तुत किया है, उसका समाधान सरल नहीं है। उनका तर्क है कि उत्पत्तिस्थान तक पहुँचे बिना अन्तरालगति में आहार-योग्य पुद्गलों का अभाव है, इसलिए विग्रह गति का पहला समय अनाहारक होगा। दो और तीन समय वाली गति में यदि प्रथम समय अनाहारक हो, तो चार समय की गति में प्रथम समय आहारक कैसे होगा? सिद्धसेनगणी ने विग्रहगति के सभी प्रकारों में प्रथम समय को आहारक माना है। यह एकरूपता की दृष्टि से तर्क-संगत है।

किंतु प्रस्तुत सूत्र से इसकी संगति नहीं है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार प्रथम समय अनाहारक भी होता है। अभयदेवसूरि ने उत्पत्तिस्थान के पूर्ववर्ती सभी समयों को अनाहारक माना है। यह तार्किक दृष्टि से संगत है। दो समय और तीन समयों की अन्तरालगति में प्रथम समय को अनाहारक माना जाए तथा चार समय की अन्तरालगति में प्रथम समय को आहारक माना जाए—यह क्यों? इसके पीछे कोई तर्क नहीं है। केवल आगम का यह वचन है कि अन्तरालगति में जीव दो समय से अधिक अनाहारक नहीं रहता। मलयगिरि ने इस समस्या को सापेक्षता से सुलझाया है, इसलिए इस सापेक्ष दृष्टिकोण को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

सव्वप्पाहारग-पदं

२. जीवे णं भंते! कं समयं सव्वप्पाहारए भवति?

गोयमा! षडमसमयोववन्नए वा चरिमसमय-
भवत्थे वा, एत्थ णं जीवे सव्वप्पाहारए भवति!
दंडओ भाणियव्वो जाव वेमाणियाणं ॥

सर्वाल्पाहारक-पदम्

जीवः भदन्त ! कं समयं सर्वाल्पाहारकः भवति?

गौतम! प्रथमसमयोपपन्नको वा चरमसमय-
भवत्थो वा, अत्र जीवः सर्वाल्पाहारकः भवति!
दण्डकः भणितव्यः यावद् वैमानिकनाम् ।

सर्वअल्प आहार-पद

२. 'भन्ते ! जीव सबसे अल्प आहार किस समय करता है?

गौतम ! उत्पत्ति के प्रथम समय और जीवन के अन्तिम समय में जीव सबसे अल्प आहार करता है। वैमानिक तक सभी दण्डकों में यह वक्तव्यता ।

भाष्य

१. सूत्र २

जन्म का पहला समय और चरम समय—इन दोनों समय में जीव सबसे अल्प आहार का ग्रहण करता है। प्रथम समय में स्थूल शरीर का निर्माण नहीं होता, इसलिए वह सबसे अल्प आहार करता है। जीवन के चरम समय में

आत्म-प्रदेशों का संहरण हो जाता है, वे संकुचित होकर शरीर के अल्प अवयवों में रह जाते हैं, इसलिए जीवन के अन्तिम क्षण में भी वह सबसे अल्प आहार करता है। मध्यवर्ती समय में वह अधिक आहार का ग्रहण करता है।

लोगसंठाण-पदं

३. किंसंठिए णं भंते ! लोए पण्णत्ते?

गोयमा ! सुपइद्दगसंठिए लोए पण्णत्ते—हेट्ठा
विच्छिण्णे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले; अहे
पलियंकसंठिए, मज्झे वरवइरविग्गिहिए, उप्पिं
उद्धमुइंगाकारसंठिए।

तंसि घ णं सासयंसि लोगंसि हेट्ठा विच्छिण्णंसि
जाव उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठियंसि उप्पण्ण-
-नाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली जीवे
वि जाणइ-पासइ, अजीवे वि जाणइ-पासइ,
तओ पच्छा सिज्जइ बुज्जइ मुच्चइ परिनिव्वाइ
सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ॥

लोकसंस्थान-पदम्

किंसंस्थितः भदन्त ! लोकः प्रज्ञप्तः?

गौतम ! सुप्रतिष्ठकसंस्थितः लोकः प्रज्ञप्त—
अधस्तात् विस्तीर्णः, मध्ये संक्षिप्तः, उपरि
विशालः; अधः पर्यङ्कसंस्थितः, मध्ये वरवज्र-
विग्रहिकः, उपरि ऊर्ध्वमृदंगाकारसंस्थितः।

तस्मिन् च शाश्वते लोके अधस्तात् विस्तीर्णे
यावद् उपरि ऊर्ध्वमृदङ्गाकारसंस्थिते, उत्पन्न-
-ज्ञान-दर्शनधरः अर्हत् जिनः केवली जीवान्
अपि जानाति-पश्यति, अजीवान् अपि
जानाति-पश्यति, ततः पश्चात् सिद्धयति
'बुज्जइ' मुच्यते परिनिर्वाति सर्वदुखानाम् अन्तं
करोति।

लोक-संस्थान-पद

३. 'भन्ते ! लोक किस संस्थान से संस्थित है?

गौतम ! लोक सुप्रतिष्ठक संस्थान से संस्थित है। वह निम्न भाग में विस्तीर्ण, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर विशाल है। वह निम्न भाग में पर्यंक के आकार वाला, मध्य में श्रेष्ठ वज्र के आकार वाला और ऊपर ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार वाला है।

उस शाश्वत लोक के निम्न भाग में विस्तीर्ण यावत् ऊपर ऊर्ध्वमुख मृदंग के आकार वाले लोक में उत्पन्न-ज्ञानदर्शन का धारक अर्हत्, जिन, केवली जीव को भी जानता है, देखता है, अजीव को भी जानता है, देखता है, उसके पश्चात् वह सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होता है तथा सब दुःखों का अन्त करता है।

भाष्य

१. सूत्र ३

द्रष्टव्य भ. ५/२५४, २५५ का भाष्य ।

समणोवासगस्स किरिया-पदं

४. समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स तस्स णं भंते ! किं रियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?
गोयमा ! नो रियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ॥

५. से केणट्टणं भंते ! एवं वुच्चइ— नो रिया-वहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?
गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवइ, आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो रियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से तेणट्टेणं ॥

श्रमणोपासकस्य क्रिया-पदम्

श्रमणोपासकस्य भदन्त ! कृतसामायिकस्य श्रमणोपाश्रये आसीनस्यः तस्य भदन्त ! किम् । ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते ? साम्परायिकी क्रिया क्रियते ?
गौतम ! नो ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, साम्परायिकी क्रिया क्रियते ।

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—नो ऐर्या-पथिकी क्रिया क्रियते? साम्परायिकी क्रिया क्रियते?
गौतम ! श्रमणोपासकस्य कृतसामायिकस्य श्रमणोपाश्रये आसीनस्य आत्मा अधिकरणी भवति, आत्माधिकरणप्रत्ययं च तस्य नो ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, साम्परायिकी क्रिया क्रियते । तत् तेनार्येन ।

श्रमणोपासक की क्रिया का पद

४. ^१ भन्ते ! जो श्रमणोपासक सामायिक की साधना में है और श्रमणों के उपाश्रय में बैठा हुआ है, उसके क्या ऐर्यापथिकी क्रिया होती है अथवा साम्परायिकी क्रिया होती है?
गौतम ! ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती, साम्परायिकी क्रिया होती है ।

५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—श्रमणो-पासक के ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती, साम्परायिकी क्रिया होती है?
गौतम ! जो श्रमणोपासक सामायिक की साधना में है और श्रमणों के उपाश्रय में बैठा हुआ है, उसकी आत्मा अधिकरणी होती है, आत्मा अधिकरण है, इस कारण उसके ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती, साम्परायिकी क्रिया होती है । यह इस अपेक्षा से कहा जाता है ।

भाष्य

१. सूत्र ४,५

ऐर्यापथिकी क्रिया का विधान करने वाले तीन सूत्र हैं । 'संवृत' सूत्र का प्रतिपाद्य है कि समित, गुप्त और आयुक्त मुनि के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है ।^१ 'अनायुक्त' सूत्र का प्रतिपाद्य है कि वीतराग के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है और अवीतराग के साम्परायिकी क्रिया होती है । यथासूत्र गति करने वाले के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है और उत्सूत्र गति करने वाले के साम्परायिकी क्रिया होती है ।^२ भ० ६/१२५, १२६ के 'संवृत' सूत्र में पूर्ववर्ती दोनों सूत्रों का समन्वय मिलता है ।

अवीतराग मुनि के भी ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती, उस स्थिति में गृहस्थ में उसकी सम्भावना भी नहीं है । फिर यह प्रश्न क्यों ?

सूत्रकार ने प्रश्न की पृष्ठभूमि का निर्देश किया है । उस पृष्ठभूमि में यह प्रश्न हो सकता है । एक मनुष्य श्रमणोपासक है, घर के वातावरण से दूर श्रमणों के उपाश्रय में बैठ कर सामायिक की साधना कर रहा है । स्थान, सन्निधि और साधना तीनों कषाय को शान्त किए हुए हैं, उस स्थिति में यह प्रश्न पूछना सम्भव है कि उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है अथवा साम्परायिकी क्रिया होती है ? भगवान् महावीर ने इसका उत्तर अधिकरण के आधार पर दिया । यद्यपि वर्तमान में उसका कषाय शान्त है फिर भी वह अधिकरण से युक्त है । अधिकरण-युक्त आत्मा के साम्परायिकी क्रिया ही होती है, ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती ।

अभयदेव सूरि ने अधिकरण का अर्थ हल, शकट आदि किया है । ये कषाय के आश्रयभूत होते हैं । श्रमणोपासक सामायिक में बैठा है, फिर भी उसका अधिकरण के साथ संबंध विच्छिन्न नहीं होता, इसलिए उसकी आत्मा अधिकरणी है ।^३ अधिकरणी के ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती ।

अधिकरणी की व्याख्या अविरति के आधार पर की जा सकती है । वह अधिक प्रासंगिक है । गौतम ने पूछा—भन्ते ! जीव अधिकरणी है अथवा अधिकरण है? भगवान् ने उत्तर दिया—अविरति की अपेक्षा वह अधिकरणी भी है, अधिकरण भी है ।^४

सामायिक के क्षण में भी श्रमणोपासक के अविरति रहती है, इसलिए उसकी आत्मा अधिकरणी और अधिकरण दोनों हैं । अधिकरण की अवस्था में ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं हो सकती ।

जयाचार्य ने अधिकरण की विशद समीक्षा की है ।^५

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि अध्यात्म के निर्णय बाह्य दशा के आधार पर नहीं होते । उसके निर्णय का आधार आन्तरिक स्पन्दन बनते हैं । श्रमणोपासक बाहर से पूर्ण शान्त हो कर बैठा है, किंतु उसके आन्तरिक अध्यवसायों में अव्रत और कषाय के स्पन्दन विद्यमान हैं । इसलिए अध्यात्म की भाषा में वह उपशान्तकषाय अथवा क्षीणकषाय नहीं है । जो उपशान्तकषाय अथवा क्षीणकषाय नहीं है, उसके ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती ।

१ भ. ३/१४८ ।

२. वही, ७/२० ।

३. भ. वृ. ७/४—आत्मा—जीवः अधिकरणानि—हलशकटादीनि कषयाश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी । ततश्च 'आयाहिकरणवत्तियं च णं, ति आत्मनोऽधिकरणानि आत्मा-

धिकरणानि तान्येव प्रत्ययः—करणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययं साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः ।

४. भ. १६/८-९ ।

५. भ. जो. २/१११/३६-६८ ।

समणोवासगस्स अणाउट्टिहिंसा-पदं

६. समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव तसपाण-समारंभे पच्चक्खाए भवइ, पुढविसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ। से य पुढविं खणमाणे अण्णयरं तसं पाणं विहिंसेज्जा, से णं भंते ! तं वयं अतिचरति?

नो इण्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति ॥

७. समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणप्फइ-समारंभे पच्चक्खाए। से य पुढविं खणमाणे अण्णयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा, से णं भंते ! तं वयं अतिचरति?

नो इण्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति ॥

श्रमणोपासकस्य अनावृत्ति-हिंसा-पदम्

श्रमणोपासकस्य भदन्त ! पूर्वमेव त्रसप्राण-समारम्भः प्रत्याख्यातः भवति। पृथ्वीसमारम्भः अप्रत्याख्यातः भवति, स च पृथिवीं खनन् अन्यतरं त्रसं प्राणं विहिंस्याद्, स भदन्त ! तद् व्रतं अतिचरति ?

नायमर्थः समर्थः, नो खलु स तस्य अतिपाताय आवर्तते।

श्रमणोपासकस्य भदन्त ! पूर्वमेव वनस्पति-समारम्भः प्रत्याख्यातः। स च पृथिवीं खनन् अन्यतरस्य रुक्षस्य मूलं छिन्द्यात् स भदन्त ! तद् व्रतं अतिचरति ?

नायमर्थः समर्थः, नो खलु स तस्य अतिपाताय आवर्तते।

श्रमणोपासक के अनावृत्ति हिंसा का पद

६. 'भन्ते ! श्रमणोपासक के पहले ही त्रस-प्राण का समारम्भ (हिंसा) का प्रत्याख्यान किया हुआ है, पृथ्वीकायिक जीव के समारम्भ का प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। वह पृथ्वीकाय का खनन करता हुआ किसी त्रस प्राणी की हिंसा करे, भन्ते ! क्या ऐसा करता हुआ वह उस व्रत का अतिचरण करता है ?

यह अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि वह उस त्रस प्राणी के वध के संकल्प से प्रवृत्ति नहीं करता।

७. भन्ते ! श्रमणोपासक के पहले ही वनस्पति-जीवों के समारम्भ का प्रत्याख्यान किया हुआ है। वह पृथ्वी का खनन करता हुआ किसी वृक्ष की जड़ का काट दे, भन्ते ! क्या ऐसा करता हुआ वह उस व्रत का अतिचरण करता है ?

यह अर्थ संगत नहीं है। क्योंकि वह वनस्पति जीव के वध के संकल्प से प्रवृत्ति नहीं करता।

भाष्य

१. सूत्र ६,७

हिंसा के अनेक विकल्प होते हैं। उनमें प्रथम दो विकल्प मुख्य हैं—

१. आभोग-जनित हिंसा—संकल्प पूर्वक की जाने वाली हिंसा।

२. अनाभोग-जनित हिंसा—अनजान में होने वाली हिंसा।

जिज्ञासा की पृष्ठभूमि यह है—एक श्रावक ने संकल्पपूर्वक त्रस जीव के वध का प्रत्याख्यान किया। वह खदान में मिट्टी खोद रहा था। मिट्टी खोदते समय कोई त्रस जीव मर गया। इस घटना-प्रसंग को लेकर प्रश्न पूछा गया—क्या उसके व्रत का अतिक्रमण नहीं हुआ? इसके उत्तर में कहा गया—उसके व्रत का अतिक्रमण नहीं हुआ। वह संकल्प-वध से निवृत्त हुआ था। मिट्टी खोदते समय कोई त्रस जीव मर गया, वह अनाभोग जनित वध है, संकल्प पूर्वक किया हुआ वध नहीं है, इसलिए उसके व्रत का अतिक्रमण नहीं है।

इसी प्रकार एक श्रावक ने संकल्प पूर्वक वृक्ष काटने का प्रत्याख्यान किया। वह खदान में मिट्टी खोद रहा था। मिट्टी खोदते समय किसी वृक्ष की जड़ कट गई। इस घटना-प्रसंग को लेकर प्रश्न पूछा गया क्या उसके व्रत का

अतिक्रमण हुआ ? इसके उत्तर में कहा गया—उसके व्रत का अतिक्रमण नहीं हुआ। वह संकल्प-हिंसा से निवृत्त हुआ था। मिट्टी खोदते समय किसी वृक्ष की जड़ कट गई, वह अनाभोग जनित हिंसा है। संकल्प पूर्वक की गई हिंसा नहीं है, इसलिए उसके व्रत का अतिक्रमण नहीं है।

अनाभोग-जनित वध भी हिंसा है। अनजान में त्रस जीव का वध हुआ या वृक्ष कट गया—यह हिंसा ही है। किंतु इस हिंसा से व्रत का अतिक्रमण इसलिए नहीं हुआ कि यह संकल्प पूर्वक की हुई हिंसा नहीं है।

शब्द-विमर्श

समारंभ—हिंसा। द्रष्टव्य भ.३/१४५ का भाष्य

अतिचरण—अतिक्रमण

अतिपात—वध

आउट्टति—संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना

समणपडिलाभेण लाभ-पदं

८. समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं लब्भइ? भोयमा ! समणोवासए णं वहारूवं समणं वा माहणं वा फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएत्ति, समाहिकारए णं तामेव समाहिं पडिलभइ ॥

श्रमण-प्रतिलाभेण लाभ-पदम्

श्रमणोपासकः भदन्त ! तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा प्रासु-एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभयन् किं लभते ?

गौतम ! श्रमणोपासकः तथारूपं श्रमणं वा माहनं वा प्राशुकैषणीयेन अशन-पान-खाद्य-स्वाद्येन प्रतिलाभयन् तथारूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा समाधिम् उत्पादयति, समाधि-कारकः तामेव समाधिं प्रतिलभते।

श्रमण-प्रतिलाभ से लाभ-पद

८. 'भन्ते ! श्रमणोपासक तथारूप श्रमण अथवा माहन को अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य से प्रतिलाभित करता हुआ क्या प्राप्त करता है ? गौतम ! श्रमणोपासक तथारूप श्रमण अथवा माहन को अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य से प्रतिलाभित करता हुआ तथारूप श्रमण अथवा माहन के समाधि उत्पन्न करता है। समाधि देने वाला व्यक्ति उसी समाधि को प्राप्त करता है।

६. समणोवासए णं भंते ! तहाख्वं समणं वा माहणं वा फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं चयति ? गोयमा ! जीवियं चयति, दुच्चयं चयति, दुक्करं करेति, दुल्लहं लहइ, बोहिं बुज्झइ, तओ पच्छ सिज्जति जाव अंतं करेति ॥

श्रमणोपासकः भदन्त! तथारूपं श्रमणं वा माहणं वा प्रासु-एषणीयेन अशन-पान-खाद्य-रवाद्येन प्रतिलाभयन् किं त्यजति ? गौतम ! जीवितं त्यजति, दुस्त्यजं त्यजति, दुष्करं करोति, दुर्लभं लभते, बोधिं वुध्यते, ततः पश्चात् सिद्धयति यावद् अन्तं करोति।

६. भन्ते ! श्रमणोपासक तथारूप श्रमण अथवा माहन को अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य से प्रतिलाभित करता हुआ क्या देता है ? गौतम ! वह जीवन देता है, दुस्त्यज को त्यागता है, दुष्कर करता है, दुर्लभ को पाता है, बोधि का अनुभव करता है, उसके पश्चात् सिद्ध हो जाता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है।

भाष्य

१. सूत्र ८, ६

प्रस्तुत आलापक में संयमी-दान का प्रसंग है। दाता श्रमणोपासक है। देय वस्तु शुद्ध और एषणीय है। लेने वाला श्रमण है। इस विशुद्ध दान के विषय में जिज्ञासा है। उसका उत्तर है—श्रमणोपासक अपने विशुद्ध दान के द्वारा श्रमण के मन में समाधि उत्पन्न कर रहा है। समाधि देने का प्रतिफल है कि उसे भी वैसी ही समाधि प्राप्त होती है।

'समाधि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।^१ प्रस्तुत प्रकरण में उसके ये अर्थ घटित हो सकते हैं—मन की स्वस्थता, शांति, सहारा।

प्रस्तुत प्रकरण में चयइ धातु का प्रयोग है। वृत्तिकार ने उसके दो

अर्थ किए हैं—देना और विरहित करना।^२ 'त्याग' शब्द के दोनों अर्थ होते हैं—त्यागना और देना। आहार जीवन का हेतु है; इसलिए जो आहार देता है, वह जीवन देता है—ऐसा कहा जा सकता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अन्न आदि पदार्थ जीवन की भांति प्रिय होते हैं। उन्हें देना ऐसा लगता है मानो अपना जीवन दे रहा है। इसलिए इसे दुस्त्यज और दुष्कर कहा गया।

शब्द-विमर्श

फासु—प्रासु। म० १/४३८ का भाष्य द्रष्टव्य है।

अकम्मस्स गति-पदं

१०. अत्थि णं भंते! अकम्मस्स गती पण्णायति ? हंता अत्थि ॥

११. कहण्णं भंते! अकम्मस्स गती पण्णायति ? गोयमा! निस्संगयाए, निरंगणयाए, गति-परिणामेणं, बंधणछेदणयाए, निरिंधणयाए, पुव्वणओगेणं अकम्मस्स गती पण्णायति ॥

१२. कहण्णं भंते ! निस्संगयाए, निरंगणयाए, गतिपरिणामेणं अकम्मस्स गती पण्णायति ? से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिड्डं निरुवहयं आणुपुव्वीए परिकम्मेमाणे-परिकम्मेमाणे दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ, वेढेत्ता अट्ठहिं मट्ठियालेवेहिं लिंपइ, लिंपित्ता उण्हे दलयति, भूतिं-भूतिं सुक्कं समाणं अत्था-हमतारमपोरिसियंसि उदगांसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! से तुबे तेसिं अट्ठणं मट्ठिया-लेवाणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए सलिलतलमतिवइत्ता अहे धरणितलपइत्ताणे भवइ ?

अकर्मणः गति-पदम्

अस्ति भदन्त ! अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते। हन्त अस्ति।

कथं भदन्त ! अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते ? गौतम ! निःसङ्गतया निरञ्जनतया गतिपरिणामेन बन्धनछेदनतया निरिन्धनतया, पूर्व-प्रयोगेण अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते।

कथं भदन्त ! निःसङ्गतया, निरञ्जनतया, गतिपरिणामेन अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते ? तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः शुष्कं तुम्बं निश्छिद्रं निरुपहतम् आनुपूर्व्या परिकर्मयन् परिकर्मयन् दर्भेश्च कुशेश्च वेष्टयति, वेष्टयित्वा अष्टभिः मृत्तिकालैः लिम्पति, लिम्पित्वा उष्णे ददाति, भूतिं-भूतिं शुष्कः सन् अस्ता-धमतारम् अपौरुषिके उदके प्रक्षिपेत्, सः नूणं गौतम ! सः तुम्बः तेषाम् अष्टानां मृत्तिकालेपानां गुरुकतया भारिकतया गुरुसम्भारिकतया सलिलतलमतिपत्य अधः धरणितल-प्रतिष्ठानः भवति ?

अकर्म की गति का पद

१०. 'भन्ते ! क्या अकर्म के गति होती है? हाँ, होती है।

११. भन्ते ! अकर्म के गति कैसे होती है ? गौतम ! निस्संगता, निरञ्जनता, गति-परिणाम, बन्धन-छेदन, निरिन्धन्ता और पूर्व प्रयोग—इन कारणों से अकर्म के गति होती है।

१२. भन्ते! निस्संगता, निरञ्जनता और गति-परिणाम— इन कारणों से अकर्म के गति कैसे होती है ? जैसे कोई पुरुष सूखे, निश्छिद्र और निरुपहत तुम्बे का पहले परिकर्म करता है, फिर दर्भ और कुश से उसका वेष्टन करता है, वेष्टित कर आठ मिट्टी के लेपों से लीपता है, लीप कर धूप में रख देता है, प्रभूत शुष्क होने पर उसे अथाह, अतरणीय, पुरुष से अधिक परिमाण वाले जल में प्रक्षिप्त कर देता है। गौतम ! क्या वह तुम्बा उन आठ मिट्टी के लेपों की गुरुता से, भारीपन से, अत्यन्त भारीपन से जल के तल तक पहुँचकर नीचे धरातल पर प्रतिष्ठित होता है ?

१. आटे.—समाधि—collecting, profound or abstract meditation, intentness, penance, obligation, etc.

२. भ. वृ. ७/६—'किं चयइ' ति किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं चयइ' ति जीवितमिव ददाति,

अन्नादि द्रव्यं यच्छन् जीवितस्यैव त्यागं करोतीत्यर्थः जीवितस्यैवान्नादिद्रव्यस्य दुस्त्यजत्वात्, एतदेवाह—'दुच्चयं चयइ'ति दुस्त्यजमेतत्, त्यागस्य दुष्करत्वात्, एतदेवाह—दुष्करं करोतीति, अथवा किं त्यजति—किं विरहयति ? उच्यते, जीवितमिव जीवितं कर्मणो दीर्घा स्थितिः ।

हंता भवइ ।
अहे णं से तुबे तेसिं अट्टण्हं मट्टियालेवाणं
परिक्खएणं धरणिगतलमतिवइत्ता उप्पिं सलिल-
तलपइट्ठाणे भवइ ?
हंता भवइ ।
एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए, निरंगणयाए,
गतिपरिणामेणं अकम्मस्स गती पण्णायति ॥

हन्त भवति ।
अधः सः तुम्बः तेषाम् अष्टानां मृत्तिकालेषानां
परिक्षयेण धरणीतलमतिपत्य उपरि सलिल-
तलप्रतिष्ठानः भवति ?
हन्त भवति ।
एवं खलु गौतम ! निस्सङ्गतया, निरञ्जनतया,
गतिपरिणामेन अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते ।

हाँ, होता है।
क्या वह तुम्बा मिट्टी के आठों लेपों के उतर जाने पर
धरातल से ऊपर उठकर सलिल-तल पर प्रतिष्ठित
होता है ?
हाँ, होता है।
गौतम ! इसी प्रकार निस्संगता, निरञ्जनता और
गति-परिणाम—इन कारणों से अकर्म के गति होती
है।

१३. कहण्णं भंते ! बंधणछेदणयाए अकम्मस्स
गती पण्णायति ?
गोयमा ! से जहानामए कलसिंबलिया इ वा,
मुग्गसिंबलिया इ वा, माससिंबलिया इ वा,
सिंबलिसिंबलिया इ वा, एरंडमिजिया इ वा
उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी फुडित्ता णं एगंत-
मंतं गच्छइ। एवं खलु गोयमा ! बंधणछेदण-
याए अकम्मस्स गती पण्णायति ॥

कथं भदन्त ! बन्धनछेदनतया अकर्मणः गतिः
प्रज्ञायते ?
गौतम ! तद् यथानाम कलशिम्बलिका इति वा,
मुद्गशिम्बलिका इति वा, माषशिम्बलिका इति
वा, शिम्बलिशिम्बलिका इति वा, एरण्ड-
मिञ्जिका इति वा, उष्णे दत्ता, शुष्का सती
स्फुटित्वा एकान्तमन्तं गच्छति। एवं खलु
गौतम ! बन्धनछेदनतया अकर्मणः गतिः
प्रज्ञायते ।

१३. भन्ते ! बन्धन का छेद होने से अकर्म के गति कैसे
होती है ?
गौतम ! जैसे कोई गोल चने की फली, मूंग की फली,
उड़द की फली, शाल्मली की फली और एरण्ड फल
धूप लगने पर सूख जाता है और उसके बीज
प्रस्फुटित हो ऊपर की ओर उछल जाते हैं, गौतम !
इसी प्रकार बन्धन का छेदन होने पर अकर्म के
गति होती है।

१४. कहण्णं भंते ! निरिंधणयाए अकम्मस्स गती
पण्णायति ?
गोयमा ! से जहानामए धूमस्स इंधणविप्प-
मुक्कस्स उड्ढं वीससाए निव्वाघाएणं गती
पवत्तत्ति । एवं खलु गोयमा ! निरिंधणयाए
अकम्मस्स गती पण्णायति ॥

कथं भदन्त ! निरिन्धनतया अकर्मणः गतिः
प्रज्ञायते ?
गौतम ! तद् यथानाम धूमस्य इन्धनविप्र-
मुक्तस्य ऊर्ध्वं विस्रसातः निर्व्याघातेन गतिः
प्रवर्तते। एवं खलु गौतम ! निरिन्धनतया
अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते ।

१४. भन्ते ! निरिन्धन होने के कारण अकर्म के गति कैसे
होती है ?
गौतम ! जैसे इंधन से मुक्त धुएँ की गति स्वभाव से
ही किसी व्याघात के बिना ऊपर की ओर होती है।
गौतम ! इसी प्रकार निरिन्धन होने के कारण अकर्म
के गति होती है।

१५. कहण्णं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स
गती पण्णायति ?
गोयमा ! से जहानामए कंडस्स कोदंडविप्प-
मुक्कस्स लक्खाभिमुही निव्वाघाएणं गती
पवत्तइ। एवं खलु गोयमा ! पुव्वप्पओगेणं
अकम्मस्स गती पण्णायति ।
एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए, निरंगणयाए,
गतिपरिणामेणं, बंधणछेदणयाए, निरिंधण-
याए, पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पण्ण-
ायति ॥

कथं भदन्त ! पूर्व प्रयोगेण अकर्मणः गतिः
प्रज्ञायते ?
गौतम ! तद् यथानाम काण्डस्य कोदण्ड-
विप्रमुक्तस्य लक्ष्याभिमुखी निर्व्याघातेन गतिः
प्रवर्तते। एवं खलु गौतम ! पूर्वप्रयोगेण अक-
र्मणः गतिः प्रज्ञायते ।
एवं खलु गौतम ! निस्सङ्गतया, निरञ्जनतया,
गतिपरिणामेन, बंधनछेदनतया, निरिन्धनतया
पूर्वप्रयोगेण अकर्मणः गतिः प्रज्ञायते ।

१५. भन्ते ! पूर्व प्रयोग से अकर्म के गति कैसे होती है ?
गौतम ! जैसे कोई धनुष से छूटे हुए बाण की किसी
व्याघात के बिना लक्ष्य की ओर गति होती है। गौतम !
इसी प्रकार पूर्व प्रयोग से अकर्म के गति होती है।
गौतम ! इसी प्रकार निस्संगता, निरञ्जनता, गति-
परिणाम, बन्धन-छेदन, निरिन्धनता और पूर्व प्रयोग
—इन कारणों से अकर्म के गति होती है।

भाष्य

१. सूत्र १०-१५

सांख्य दर्शन में आत्मा को सर्वव्यापी माना गया है। नैयायिक और
वैशेषिक भी आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। नैयायिक दर्शन के अनुसार
आत्मा अणु परिमाण और मध्यम परिमाण वाला नहीं है। वह आकाश की तरह
विभु है। वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक सत्ता एक ब्रह्म है और वह व्यापक है।

इसलिए इन दर्शनों में मुक्त आत्मा की गति के विषय में चिन्तन करने के लिए
कोई अवकाश नहीं है। बौद्ध दर्शन में आत्मा अव्याकृत है। इसलिए वहाँ मुक्त
आत्मा की गति का कोई प्रश्न ही नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा
शरीर-व्यापी है।^१ मोक्ष लोक के अन्त भाग में है। आत्मा मनुष्य-लोक में मुक्त
होती है और मुक्त होने के पश्चात् लोक के अन्त अथवा अग्र भाग तक जाकर

सिद्ध होती है।^१ इस स्थिति में जैन दर्शन के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ— गति का प्रेरक है शरीर। शरीर से मुक्त होने के पश्चात् आत्मा की गति कैसे हो सकती है? इस प्रश्न के समाधान में सूत्रकार ने चार हेतु प्रस्तुत किये हैं—१. निस्संगता, निरंजनता, गति-परिणाम, २. बन्धन-छेदन, ३. निरिन्धनता, ४. पूर्व प्रयोग।

१. निस्संगता—निस्संगता, निरंजनता और गति-परिणाम को तुम्बे के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। सूखा तुम्बा मिट्टी के संग से नीचे जल के तल में चला जाता है। संगमुक्त होने पर वह जल के ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार कर्म के संग से मुक्त होने पर जीव लोक के अग्रभाग तक चला जाता है।

उमास्वाति ने मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति के चार हेतुओं का उल्लेख किया है।^२ उनमें चौथा हेतु 'तथागतिपरिणाम' है। भाष्यकार ने एक सार्वभौम नियम का निर्देश किया है—गतिमान् द्रव्य दो हैं—पुद्गल और जीव। पुद्गल की स्वाभाविक गति नीचे की ओर होती है। आत्मा की स्वाभाविक गति ऊपर की ओर होती है।^३ कर्म-युक्त आत्मा नीची, तिरछी अथवा ऊँची गति करती है। कर्ममुक्त आत्मा की केवल ऊर्ध्वगति होती है। इसलिए गति-परिणाम यह मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति का मुख्य हेतु है।

२. बन्धन-छेदन—कर्म के कारण से आत्मा की नीची, तिरछी या ऊर्ध्व गति होती है। बंधन के टूटने पर उसकी गति ऊपर की ओर हो जाती है। सूत्रकार ने इसके लिए फली और एरण्ड फल के दृष्टान्त का प्रयोग किया है। तत्त्वार्थ भाष्य में 'पेटा' (पेटी) का दृष्टान्त भी प्रयुक्त है।^४

३. निरिन्धनता—निरिन्धनता के लिए धूम का दृष्टान्त प्रस्तुत है। तत्त्वार्थसूत्र में निरिन्धनता का उल्लेख नहीं है। इसकी तुलना 'तथागतिपरिणाम' से की जा सकती है। सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक में 'तथागति-परिणाम' के लिए अग्निशिखा का दृष्टान्त दिया गया है।^५ जैसे प्रदीपशिखा स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही मुक्त आत्मा भी स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है। प्रस्तुत आगम में धूम का दृष्टान्त है।

४. पूर्व प्रयोग—आत्मा की गति काययोग द्वारा होती है। मुक्त होने के पूर्व चतुर्दश गुणस्थान में अयोग अवस्था आ जाती है, काययोग समाप्त हो जाता है। फिर भी उसकी प्रेरणा रहती है। उससे मुक्त आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है। पूर्व प्रयोग के लिए सूत्रकार ने धनुष से मुक्त बाण का दृष्टान्त दिया है। तत्त्वार्थभाष्य तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक में कुलालचक्र का दृष्टान्त दिया गया है।^६ जैसे पुरुष के प्रयत्न से कुलालचक्र चालित हो गया। पुरुष का प्रयत्न बंद हो जाने पर भी वह पूर्व प्रयोग कुछ समय तक घूमता रहता है, वैसे ही पूर्व प्रयोग से मुक्त आत्मा की गति होती है।

शब्द-विमर्श

अकर्म—कर्ममुक्त

निस्संगता—असंग, निर्लेप

निरञ्जन—मल-रहित, राग-रहित अथवा रंग-रहित^७ 'संखे इव निरंगणे'—इस उपमा का मुनि के लिए अनेक आगमों में प्रयोग हुआ है। आगमों में निरङ्गण और निरञ्जन दोनों पदों का प्रयोग मिलता है।^८ मूल शब्द 'निरंजण' है। जकार को गकार का वर्णादेश करने पर 'निरङ्गण' रूप बनता है।

परिकर्म—संस्कार

प्रभूत (भूतिं भूतिं)—बहुत अधिक। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'भूयो भूयः'—बार-बार किया है।^९

पुरुष से अधिक प्रमाण वाला (अपोरिसिय) पुरुष—ऊर्ध्व ई या महराई का एक प्राचीन माप जो पुरुष या १२० अंगुल के बराबर होता था।

एरण्ड-फल (एरंडमिंजिया)—मिंजा का अर्थ है—हाड के बीच का अवयव विशेष। मिंजिया का अर्थ है—मध्यवर्ती अवयव। इस आधार पर एरंडमिंजिया का अर्थ एरण्ड फल किया गया है।^{१०} एरंड का फल पकने पर धूप की गर्मी से फट जाता है और बीज ऊपर की ओर उछल जाते हैं।^{११}

इन्धन-रहित—निरिन्धन।

दुःखिस्स दुःखफासादि-पदं

१६. दुःखी भन्ते! दुःखेणं फुडे? अदुःखी दुःखेणं फुडे?

गौयमा ! दुःखी दुःखेणं फुडे, नो अदुःखी दुःखेणं फुडे ॥

दुःखिनः दुःखस्पर्शादि-पदम्

दुःखी भदन्त! दुःखेन स्पृष्टः? अदुःखी दुःखेन स्पृष्टः?

गौतम ! दुःखी दुःखेन स्पृष्टः, नो अदुःखी दुःखेन स्पृष्टः।

दुःखी के दुःखस्पर्श आदि का पद

१६. 'भन्ते ! दुःखी व्यक्ति दुःख से स्पृष्ट होता है ? अथवा अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है?

गौतम ! दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।

१. उत्तर. ३६/५६—

अलोए पडिहया सिद्धा लोयगो य पडिहिया।

इहं बोदि चड्ढाणं तथ गंतुण सिञ्जई ॥

२. त. सू.—१०/६ पूर्व प्रयोगाद्, असंगत्वाद्, बन्धच्छेदात् तथा गतिपरिणामाच्च तद्गतिः॥

३. त. सू. भा. वृ. १०/६—पुद्गलानां जीवानां च गतिमत्त्वमुक्तं, नान्येषां द्रव्याणाम् । तत्राधो गौरवधर्माणः पुद्गलाः ऊर्ध्वं गौरवधर्माणो जीवाः । एष स्वभावः।

४. वही, १०/६—बन्धच्छेदात्। यथा रज्जुबन्धच्छेदात् पेडाया बीजकोशबन्धनच्छेदाच्चैरण्ड बीजादीनां गतिर्दृष्टा तथा कर्मबन्धनच्छेदात् सिद्धमानगतिः।

५. स. सि. १०/६, ७, त. रा. वा. १०/६, ७—पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागति-परिणामाच्च॥६॥

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाभूवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

६. (क) त. भा. १०/६ ।

(ख) त. रा. वा. १०/७ ।

७. स्था. वृ. प. ४४०—'संखे इव निरङ्गणे' रङ्गणं—रागाद्युपरञ्जनं तस्मान्निर्गतं इत्यर्थः।

८. नाया. १/५/३५—संखो इव निरङ्गणे ।

पण्हा. १०/११—संखेविव निरंगणे।

ओवा. २७, राय. ८/३—संखे इव निरंगणे।

दसाओ ८/७८—संखो इव निरंजणे।

जंबु. २/६८—संखमिव निरंजणे।

सूय. २/२/६४—संखो इव निरंजणा।

६. भ. वृ. ७/१२—'भूई भूहन्ति भूयो भूयः ।

१०. पा. स. म.—मिंज, मिंजिया, एरंडमिंजिया।

११. जै. आ. व. को—एरंड।

१७. दुःखी भंते ! नेरइए दुःखेणं फुडे ? अदुःखी नेरइए दुःखेणं फुडे ?
गोयमा ! दुःखी नेरइए दुःखेणं फुडे, नो अदुःखी नेरइए दुःखेणं फुडे ॥

दुःखी भदन्त ! नैरयिकः दुःखेन स्पृष्टः? अदुःखी नैरयिकः दुःखेन स्पृष्टः?
गौतम ! दुःखी नैरयिकः दुःखेन स्पृष्टः, नो अदुःखी नैरयिकः दुःखेन स्पृष्टः।

१७. भन्ते ! दुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट होता है ? अथवा अदुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट होता है ?
गौतम ! दुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी नैरयिक दुःख से स्पृष्ट नहीं होता ।

१८. एवं दंडओ जाव वेमाणियाणं ॥

एवं दण्डकः यावद् वैमानिकानाम्।

१८. वैमानिक तक सभी दण्डक इसी प्रकार वक्तव्य हैं।

१९. एवं पंच दंडगा नेयव्वा — १. दुःखी दुःखेणं फुडे २. दुःखी दुःखं परियायइ ३. दुःखी दुःखं उदीरेइ ४. दुःखी दुःखं वेदेति ५. दुःखी दुःखं निज्जरेति ॥

एवं पञ्च दण्डकाः नेतव्याः — १. दुःखी दुःखेन स्पृष्टः २. दुःखी दुःखं पर्याददाति ३. दुःखी दुःखम् उदीरयति ४. दुःखी दुःखं वेदयति ५. दुःखी दुःखं निर्जरयति।

१९. इस प्रकार पांच दण्डक ज्ञातव्य हैं — १. दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है, २. दुःखी दुःख का ग्रहण करता है, ३. दुःखी दुःख की उदीरणा करता है, ४. दुःखी दुःख का वेदन करता है, ५. दुःखी दुःख की निर्जरा करता है।

भाष्य

१. सूत्र १६-१९

सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा कूटस्थ नित्य है। उसमें कोई परिणामन अथवा परिवर्तन नहीं होता। सांख्यकारिका में उसके अकर्तृत्व का सिद्धान्त स्वीकार कर उसके भोक्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है।^१ सहज ही प्रश्न होता है—जो कूटस्थ नित्य है, अकर्ता है वह सुख-दुःख का भोक्ता कैसे हो सकता है? इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में ही गौतम ने प्रश्न पूछा—भन्ते ! क्या दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है अथवा अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है ?

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है। इस उत्तर का आधार परिणामिनित्यत्ववाद है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा परिणामिनित्य है। आत्मा मदा ही आत्मा रहेगी—इस दृष्टि से वह नित्य है। उसके पर्याय-परिवर्तन होता रहता है—इस दृष्टि से वह परिणामी है, अनित्य है।

दुःखी होना आत्मा का स्वरूप नहीं है। वह पर्याय है। आत्मा में

कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों हैं और इसलिए है कि वह अपने सहज शुद्ध रूप को उपलब्ध नहीं है। वह कर्म का बन्ध करती है और उसका फल भोगती है। इस आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना की गई—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है।

दुःख के दो अर्थ हैं—१. पापकर्म^२ २. अप्रिय संवेदन। अभयदेवसूत्रि के अनुसार कर्म दुःख का निमित्त बनता है, इसलिए कर्म दुःख कहलाता है और कर्मयुक्त जीव दुःखी कहलाता है।^३

१. दुःखी दुःख का पर्यादान करता है।

२. दुःखी दुःख की उदीरणा करता है।

३. दुःखी दुःख का वेदन करता है।

४. दुःखी दुःख की निर्जरा करता है।

ये सब 'दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है'—इस स्थापना के ही उत्तरवर्ती सूत्र हैं।

इरियावहिय-संपराइय-किरिया-पदं

ऐर्यापथिक-साम्परायिक-क्रिया-पदम्

ऐर्यापथिक-साम्परायिक-क्रिया-पद

२०. अणगारस्स णं भंते ! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा, चिद्धमाणस्स वा, निसीयमाणस्स वा, तुयट्टमाणस्स वा, अणाउत्तं कथं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गेणमाणस्स वा, निक्खि-वमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं रियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा ! नो रियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ॥

अनगारस्य भदन्त ! अनायुक्तं गच्छतः वा, तिष्ठतः वा, निपीदतः वा, त्वग्वर्तयतः वा, अनायुक्तं वस्त्रं प्रतिग्रहं, कम्बलं, पाद-प्रौञ्चनं गृहतः वा, निक्षिपतः वा, तस्य भदन्त ! किम् ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते ? साम्परायिकी क्रिया क्रियते ?

गौतम ! नो ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, साम्परायिकी क्रिया क्रियते ।

२०. 'भन्ते ! जो अनगार अनायुक्त दशा में (दत्तचित्त न होकर) चलता है, खड़ा होता है, बैठता है, लेटता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रौञ्चन लेता अथवा रखता है। भन्ते ! क्या उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है ? अथवा साम्परायिकी क्रिया होती है ?

गौतम ! उसके ऐर्यापथिकी क्रिया नहीं होती, साम्परायिकी क्रिया होती है।

२१. से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा भवति तस्स णं रियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा

तत् केनार्थेन ?

गौतम ! यस्य क्रोध-मान-माया-लोभाः व्युच्छिन्नाः भवति, तस्य ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, यस्य क्रोध-मान-माया-लोभाः अव्युच्छिन्नाः

२१. यह किस अपेक्षा से ?

गौतम ! जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न हो जाते हैं, उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न नहीं होते,

१ सांख्यकारिका, १९, १७ :

२. भ. ७/१६० ।

३. भ. वृ. ७/१६—दुःखं कर्मतद्धान् जीवो दुःखी ।

अदोच्छिष्णा भवन्ति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ। अहासुत्तं रीयमाणस्स रिया-वहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ। से णं उस्सुत्तमेव रीयती । से तेणट्टेणे ॥

भवन्ति तस्य साम्प्रायिकी क्रिया क्रियते । यथा-सूत्रं रियतः ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, उत्सूत्रं रियतः साम्प्रायिकी क्रिया क्रियते । स उत्सूत्रमेव रियति । तत् तेनार्थेन ।

उसके साम्प्रायिकी क्रिया होती है। यथासूत्र—सूत्र के अनुसार चलने वाले के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, उत्सूत्र—सूत्र के विपरीत चलने वाले के साम्प्रायिकी क्रिया होती है। वह (जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न नहीं होते) उत्सूत्र ही चलता है। यह इस अपेक्षा से कहा जाता है।

भाष्य

१. सूत्र २०, २१

प्रस्तुत आगम में ऐर्यापथिक और सांप्रायिक क्रिया की चर्चा अनेक कोणों से की गई है।^१ इसमें मुनि से संबंध रखने वाले पांच उल्लेख हैं—

१. आत्मत्व संवृत अनगार के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है—यह ३/१४८ का प्रतिपाद्य है।

२. अनायुक्त गति करने वाले अनगार के साम्प्रायिक क्रिया होती है—यह ६/२० का प्रतिपाद्य है।

३. संवृत अनगार के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है—यह ७/१२५ का प्रतिपाद्य है।

४. वीचिमार्ग में स्थित संवृत अनगार के साम्प्रायिकी क्रिया होती है—यह १०/११, १२ का प्रतिपाद्य है।

५. अवीचिमार्ग में स्थित संवृत अनगार के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है—यह १०/१३, १४ का प्रतिपाद्य है।

त्रिसके क्रोध, मान, माया, लोभ व्युच्छिन्न होते हैं, उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। जिसके क्रोध, मान, माया, और लोभ व्युच्छिन्न नहीं होते, उसके साम्प्रायिकी क्रिया होती है। इस सूत्र के आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है—अवीतराग के साम्प्रायिकी क्रिया होती है और वीतराग (उपशान्त मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली) के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है।^२

उमास्वाति ने सकषाय के साम्प्रायिकी क्रिया और अकषाय के ऐर्यापथिकी क्रिया का विधान किया है।^३ अकषाय अथवा वीतराग के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है—यह निश्चित सिद्धान्त है। जयाचार्य ने भी सराग के साम्प्रायिकी और वीतराग के ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रतिपादन किया है।^४ अवीतराग के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है या नहीं होती—यह विमर्शनीय है। सिद्धसेनगणि ने अकषाय के दो प्रकार किए हैं—वीतराग और सराग। वीतराग अकषाय के तीन प्रकार हैं—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और केवली। कषाय का उदय न हो उस अवस्था में संज्वलन कषाय वाला भी अकषाय होता है। वह सराग अकषाय

है। इसके समर्थन में उन्होंने ओघनिर्युक्ति की १^५ गाथा उद्धृत की है।^६ ओघनिर्युक्ति की वृत्ति में द्रोणाचार्य ने लिखा है—जो मुनि ज्ञानी है, अप्रमत्त है, उसके काययोग से कोई प्राणी मर जाता है, उसके साम्प्रायिक कर्म का बंध नहीं होता, ईर्याप्रत्ययिक कर्म का बंध होता है।^७

सूत्रकार ने क्रोध, मान, माया, और लोभ के लिए 'व्युच्छिन्न' तथा 'अव्युच्छिन्न' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ 'क्षीण' शब्द का प्रयोग नहीं है। 'व्युच्छिन्न' शब्द विमर्शनीय है। पतञ्जलि ने क्लेश की चार अवस्थाएं बतलाई हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। क्लेश समय-समय पर विच्छिन्न होता रहता है। वह सदा लब्धवृत्ति अथवा उदित अवस्था में नहीं रहता।^८ अभयदेवसूरी ने भी 'वोच्छिन्न' का अर्थ 'अनुदित' किया है।^९ इन व्युच्छिन्न और अव्युच्छिन्न पदों के आधार पर ओघनिर्युक्तिकार और सिद्धसेनगणि का मत विमर्श योग्य है।

सिद्धसेनगणि और द्रोणाचार्य के मतानुसार सराग के भी कषाय की व्युच्छिन्न अवस्था में ऐर्यापथिकी क्रिया हो सकती है। यह मतान्तर विमर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत सूत्रों की रचना से भी कुछ प्रश्न उभरते हैं—

१. अनायुक्त—प्रमत्त अवस्था में चलने वाले अनगार के साम्प्रायिकी क्रिया होती है। कोई अनगार आयुक्त—अप्रमत्त अवस्था में चलता है उसके भी साम्प्रायिकी क्रिया होती है, तो फिर गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर का तात्पर्य क्या है ?

२. यथासूत्र—आगम निर्दिष्ट विधि के अनुसार चलने वाले के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है। उत्सूत्र—आगम-निर्दिष्ट विधि के प्रतिकूल चलने वाले के साम्प्रायिकी क्रिया होती है। क्या सभी सराग अनगार उत्सूत्र ही चलते हैं ?

ये प्रश्न सिद्धसेनगणि के मत पर विचार करने के लिए संप्रेरित करते हैं।

१. भ. १/४४४, ४४५, ६/२६, ८/३०२-३१४, ७/२०, २१, ७/४, ५, ३/१४८, ७/१२५, १२६, १०/११-१४, १८/१५६, १६० ।

२. त. सू. ६/५—सकषायकषाययोः साम्प्रायिकेय्यापथयोः ।

३. त. रा. वा. ६/४—उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगवशानुपात्तं कर्म कषयाभावात् कथाभावे शुक्लकृड्यपतितलोत्पद् अनन्तरसमये निवर्तमानमीर्यापथमुच्यते ।

४. भ. जो. २/११३/२१-२३

५. त. भू. भा. वृ. ६/५—अकषायो वीतरागः सरागश्च। तत्र वीतरागस्त्रिविधः—उपशान्तमोह एकः क्षीणमोहकेवलिनो च क्लेश-यैर्नोन्मूलितकर्मकन्दवकी, सरागः पुनः संज्वलनकषायवानां प अविद्यमान ऽऽयोऽऽऽऽय एव मन्दानुभावत्वमनुदराकन्यानिर्देशवद्, अतश्चोपपन्नमिदं—

“उच्चारित्यभिं पाए, इरियारामियस्स संकमट्टाए ।

वावज्जेज्ज कुलिंणी, मरेज्ज जोगभासज्ज ॥” (ओघनिर्युक्तिं गा० ७४७)

“न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसितो समए।” (ओघनिर्युक्तिं गा० ७४६)

६. औ. नि. पू. ४६६—तस्य एवंप्रकारस्य जागिनः कमध्यायार्थमभ्युद्यतस्य 'असंचेतयतः' अजागृतस्य किं ? सत्कानि, कथं ?—प्रकल्पवतीर्जप कथमापि न कृष्टः प्राणी व्यापदितश्च, तथा 'संचेतयतः' जागृतस्य कथमस्त्वत्र प्राणो जानो कृष्टश्च न च प्रयत्नं कुर्वतोर्जप रक्षितुं शक्तिः, ततश्च तस्यैवंविधस्य यानि सन्त्वानि 'योग' कायादि प्राप्य विनश्यन्ति यत्र नास्ति तस्य क्षापीर्हिसफल—साम्प्रायिकं संसारजननं दुःखजननमित्यर्थः, यदि परगीयोप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चकारिण्यन् समये बद्धमन्यास्मिन् समये श्रयति।

७. पा. धो. द. २/४—विच्छिन्न विच्छिन्न तेन तेनात्मना पुनः समुदाहरन्तीति विच्छिन्नाः कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधस्समुदाहरति, रागश्च क्वचिद् गृश्यमानो न विपद्यान्तरे नास्ति, नैकरथां स्त्रियां यत्रो स्वत इत्यन्वासु स्त्रीषु विरक्त इति। किंतु तत्र रागो लब्धवृत्तार-यत्र भवित्यव्यवृत्तिरिति।

८. भ. वृ. ६/२१.२—वोच्छिन्नेति अनुदिताः ।

सईंगालादिदोसदुट्ट-पाणभोयण-पदं

२२. अह भन्ते ! सईंगालस्स, सधूमस्स, संजो-यणा-दोसदुट्टस्स पाण-भोयणस्स के अट्टे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिण्णं गिद्धे गडिण्णं अज्झोवदन्ने आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! सईंगाले पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता महया अप्पत्तियं कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! सधूमे पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता गुणु-प्पायणहेउं अण्णदव्वेणं सख्खिं संजोएता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! संजोयणादोसदुट्टे पाण-भोयणे ।

एस णं गोयमा ! सईंगालस्स, सधूमस्स, संजोयणादोसदुट्टस्स पाण-भोयणस्स अट्टे पण्णत्ते॥

२३. अह भन्ते ! वीतिंगालस्स, वीयधूमस्स, संजोयणादोसविप्पमुक्कस्स पाण-भोयणस्स के अट्टे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता अमुच्छिण्णं अगिद्धे अगडिण्णं अण्णज्झोवदन्ने आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! वीतिंगाले पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता णो महया अप्पत्तियं कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! वीयधूमे पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता जहा लब्धं तहा आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! संजोयणादोसविप्पमुक्के पाण-भोयणे ।

एस णं गोयमा ! वीतिंगालस्स, वीयधूमस्स, संजोयणादोसविप्पमुक्कस्स पाण-भोयणस्स अट्टे पण्णत्ते ।

साङ्गारादिदोषदुष्ट-पानभोजन-पदम्

अथ भदन्त ! साङ्गारस्य, सधूमस्य, संयोजना-दोषदुष्टस्य पान-भोजनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य मूर्च्छितः गृह्यः ग्रथितः अध्येयुपपन्नः आहार-माहरति, एतद् गौतम ! साङ्गारं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य महदप्रत्ययिकं क्रोधक्लमं कुर्वन् आहारमाहरति, एतद् गौतम ! सधूमं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य गुणोत्पादन-हेतुम् अन्यद्रव्येण सार्धं संयोज्य आहारमाहरति, एतद् गौतम ! संयोजनादोषदुष्टं पान-भोजनम् ।

एष गौतम ! साङ्गारस्य, सधूमस्य, संयोजना-दोषदुष्टस्य पान-भोजनस्य अर्थः प्रज्ञप्तः ।

अथ भदन्त ! वीताङ्गारस्य, वीतधूमस्य, संयोजनादोषविप्रमुक्तस्य पान-भोजनस्य कोऽर्थः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य अमूर्च्छितः अगृह्यः अग्रथितः अनध्येयुपपन्नः आहारमाहरति, एतद् गौतम ! वीताङ्गारं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य नो महद-प्रत्ययिकं क्रोधक्लमं कुर्वन् आहारमाहरति, एतद् गौतम ! वीतधूमं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयं अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य यथा लब्धं तथा आहारमाहरति, एतद् गौतम ! संयोजना-दोषविप्रमुक्तं पान-भोजनम् ।

एष गौतम ! वीताङ्गारस्य वीतधूमस्य संयोजनादोषविप्रमुक्तस्य पान-भोजनस्य अर्थः प्रज्ञप्तः ।

स-अंगार आदि दोष से दूषित पान-भोजन-पद

२२. 'भन्ते ! स-अंगार, सधूम और संयोजना-दोष से दूषित पान-भोजन का क्या अर्थ प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर उसमें मूर्च्छित, गृह्य, ग्रथित और आसक्त हो कर आहार करता है, गौतम ! वह पान-भोजन स-अंगार है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर महती अप्रीति और क्रोध-जनित क्लेश करता हुआ आहार करता है, गौतम ! वह पान-भोजन सधूम है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर उसे अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए दूसरे पदार्थ के साथ मिला कर आहार करता है, गौतम ! वह पान-भोजन संयोजना-दोष से दूषित है ।

गौतम ! स-अंगार, सधूम और संयोजना-दोष से दूषित पान-भोजन का यह अर्थ प्रज्ञप्त है ।

२३. भन्ते ! अङ्गारमुक्त, धूममुक्त और संयोजना दोष-विप्रमुक्त पान-भोजन का क्या अर्थ प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर उसमें अमूर्च्छित, अगृह्य, अग्रथित और अनासक्त हो कर आहार करता है, गौतम ! यह अङ्गारमुक्त पान-भोजन है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर महती अप्रीति तथा क्रोध-जनित क्लेश न करता हुआ आहार करता है, गौतम ! वह धूममुक्त पान-भोजन है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर जैसा मिला है उसे उसी रूप में खाता है, गौतम ! वह संयोजना-दोष-विप्रमुक्त पान-भोजन है ।

गौतम ! अङ्गारमुक्त, धूममुक्त और संयोजना दोष-विप्रमुक्त पान-भोजन का यह अर्थ प्रज्ञप्त है ।

भाष्य

१. सूत्र २२, २३ ।

शरीर धारण करने के लिए आहार आवश्यक है; इसीलिए छह कारणों से आहार करने का निर्देश है ।^१ मुनि के लिए आहार संबंधी तीन एषणाएं बतलाई गई हैं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा ।^२ परिभोगैषणा के पांच दोष हैं—१. अंगार, २. धूम, ३. संयोजना, ४. प्रमाणातिक्रान्त पू. कारण ।

१. सअंगार—मूर्च्छासहित आहार करना । प्रस्तुत आलापक में इसकी व्याख्या की गई है । सू० २२, २३ में प्रथम तीन बिंदु की चर्चा है ।

२. सधूम—क्रोध करते हुए आहार करना ।

इन दोनों का फलितार्थ यह है कि आहार करते समय मुनि को

मनोज्ञ भोजन पर राग और अमनोज्ञ भोजन पर द्वेष नहीं करना चाहिए ।

३. संयोजना—भोजन को सरस बनाने के लिए द्रव्यों का मिश्रण करना । यह अस्वाद की साधना का विधान है ।

शब्द-विमर्श

क्रोध-जनित क्लेश (कोहकित्ताम)—क्रोध से होने वाला शारीरिक श्रम ।

अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए (गुणुप्पायण)—विशेष रसों को उत्पन्न करना ।

२४. अह भन्ते! खेत्तातिककंतस्स, कालातिककंतस्स, मग्गातिककंतस्स, पमाणातिककंतस्स पाण-भोयणस्स के अट्टे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जे ण निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं अणु-ग्गए सूरिए पडिग्गाहेत्ता उग्गए सूरिए आहार-माहारेइ, एस णं गोयमा ! खेत्तातिककंते पाण-भोयणे ।

जे ण निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! कालातिककंते पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता परं अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावेत्ता आहार-माहारेइ, एस णं गोयमा ! मग्गातिककंते पाण-भोयणे ।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ताणं कवलानां आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! पमाणा-तिककंते पाण-भोयणे ।

अट्ट कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहार-माहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिए, सोलस कुक्कुडिअंडगपमाण मेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते, चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगपमाण मेत्ते कवले

अथ भदन्त! क्षेत्रातिक्रान्तस्य कालातिक्रान्तस्य मार्गातिक्रान्तस्य प्रमाणातिक्रान्तस्य पान-भोजनस्य कः अर्थः प्रज्ञप्तः ?

गौतम ! यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यम् अनुद्-गते सूर्ये प्रतिगृह्य उद्गते सूर्ये आहारमाहरति, एतद् गौतम ! क्षेत्रातिक्रान्तं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीम् उपादाय आहार-माहरति, एतद् गौतम ! कालातिक्रान्तं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य पराम् अर्द्ध-योजनमर्थादां व्यतिक्रम्य आहारमाहरति, एतद् गौतम ! मार्गातिक्रान्तं पान-भोजनम् ।

यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा प्रासु-एषणीयम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं प्रतिगृह्य परं द्वात्रिं-शत् कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राणां कवलानां आहारमाहरति, एतद् गौतम ! प्रमाणातिक्रान्तं पान-भोजनम् ।

अष्ट कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् अल्पाहारः, द्वादश कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् अपार्द्धवमोदरिकः, षोडश कुक्कुट्यण्डक-प्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् द्विभाग-प्राप्तः, चतुर्विंशतिं कुक्कुट्यण्डक-प्रमाण-

२४. 'भन्ते ! क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन का क्या अर्थ है ।

गौतम ! जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का सूर्योदय से पहले प्रतिग्रहण कर सूरज के उगने पर आहार करता है, गौतम ! यह क्षेत्रातिक्रान्त पान-भोजन है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रथम प्रहर में प्रतिग्रहण कर अन्तिम प्रहर आने पर आहार करता है, गौतम ! यह कालातिक्रान्त पान-भोजन है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर आधे योजन (दो कोश) की मर्यादा का अतिक्रमण कर आहार करता है, गौतम ! यह मार्गातिक्रान्त पान-भोजन है ।

जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी अभिलषणीय और एषणीय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का प्रतिग्रहण कर मुर्गी के अंडे के प्रमाण जितने बत्तीस कवल से अधिक आहार करता है, गौतम ! यह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन है ।

मुर्गी के अण्डे जितने आठ कवल का आहार करने वाला अल्पाहारी कहलाता है, मुर्गी के अण्डे जितने बारह कवल का आहार करने वाला अपार्द्ध-अव-मोदरिक कहलाता है, मुर्गी के अण्डे जितने सोलह कवल का आहार करने वाला द्विभाग-प्राप्त कहलाता है, मुर्गी के अण्डे जितने चौबीस कवल का आहार

आहारमाहारेमाणे ओमोदरिए, बत्तीसं कुक्कु-
डिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे
पमाणपत्ते, एत्तो एककेण वि घासेण ऊणयं
आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामर-
सभोईति वत्तव्वं सिया।

एस पं गौयमा ! खेत्तातिककंतस्स, काला-
तिककंतस्स, मग्गातिककंतस्स, पमाण-
तिककंतस्स पाण-भोयणस्स अट्टे पण्णत्ते ॥

मात्रान् कयलान् आहारमाहरन् अवमोदरिकः,
द्वित्रिंशत् कुक्कुट्यण्डक प्रमाणमात्रान् कव-
लान् आहारमाहरन् प्रमाणप्राप्तः एतस्माद्
एकेनापि प्रासेण ऊनकम् आहारमाहरन्
श्रमणः निर्ग्रन्थः नो प्रकामरसभोजीति वक्तव्यं
स्यात् ।

एष गौतम ! क्षेत्रातिक्रान्तस्य, कालाति-
क्रान्तस्य, मार्गातिक्रान्तस्य, प्रमाणातिक्रान्तस्य
पान-भोजनस्य अर्थः प्रज्ञप्तः ।

करने वाला अवमोदरिक कहलाता है और मुर्गी के
अण्डे जितने बत्तीस कवल का आहार करने वाला
प्रमाणप्राप्त कहलाता है। इससे एक ग्रास भी कम आहार
करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकारस-भोजी नहीं
कहलाता।

गौतम ! क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त
और प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन का यह अर्थ है।

भाष्य

१. सूत्र २४

अतिक्रमण के चार प्रकार बतलाए गए हैं—

१. क्षेत्रातिक्रान्त—सूरज उगने के पहले आहार ग्रहण कर सूरज
उगने के बाद खाना। कप्पो (बृहत्कल्प)^१ और निसीहज्जयण^२ में कालातिक्रान्त
तथा क्षेत्रातिक्रान्त—इन दो पदों का उल्लेख है, मार्गातिक्रान्त का पृथक् उल्लेख
नहीं है। बृहत्कल्प भाष्य में अर्धयोजन की सीमा से आगे लाए गए भोजन को
क्षेत्रातिक्रान्त बतलाया गया है।^३ भगवती तथा कप्पो (बृहत्कल्प) और
निसीहज्जयण में विद्यमान यह मत-भिन्नता विमर्शनीय है। अभयदेवसूरि ने
क्षेत्र का अर्थ 'तापक्षेत्र'—दिन किया है।^४ सूर्योदय से पहले ले कर सूर्योदय के
पश्चात् आहार करना—इसका संबंध 'कालातिक्रान्त' के साथ होना चाहिए।
इस विषय में कप्पो (बृहत्कल्प)^५ का रात्रिभोजन का आलापक तथा
निसीहज्जयण^६ का 'दिवारात्रि भोजन' आलापक द्रष्टव्य है।

२. कालातिक्रान्त—प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार पश्चिम
प्रहर में खाना 'कालातिक्रान्त' होता है।^७ कालातिक्रान्त भोजन का निषेध संचय

की दृष्टि से किया गया है। निशीथ भाष्य में पश्चिम प्रहर का अर्थ 'चरम प्रहर'
किया गया है। निशीथ चूर्णिकार ने 'चरम' का अर्थ 'चतुर्थ' किया है। वैकल्पिक
रूप में प्रथम प्रहर की अपेक्षा द्वितीय प्रहर पश्चिम, द्वितीय प्रहर की अपेक्षा
तृतीय प्रहर पश्चिम और तृतीय प्रहर की अपेक्षा चतुर्थ प्रहर को पश्चिम बतलाया
गया है।^८ बृहत्कल्प भाष्य और मलयगिरि-वृत्ति में भी इन दोनों मतों का
उल्लेख है।^९

३. मार्गातिक्रान्त—अर्ध योजन (यानी २ कोश) से अधिक दूरी
तक आहार ले जा कर वहां उसे खाना, मार्गातिक्रान्त अतिक्रमण है।

४. प्रमाणातिक्रान्त—मनुष्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है।
उसके आधार पर आहार की मात्रा भी भिन्न-भिन्न होती है; सबकी समान नहीं
होती। फिर भी एक सामान्य अनुपात बतलाया जाता है। बत्तीस कवल खाना
आहार का समुचित प्रमाण है। इससे अधिक खाना प्रमाणातिक्रान्त आहार है।
कवल का प्रमाण भी स्पष्ट किया गया है। ओवाइयं में आहार के प्रमाण द्रव्य
अवमोदरिका के प्रसंग में बतलाए गए हैं।^{१०}

१ कप्पो, ४/१२, १३ ।

२. निसीह. १२/३१, ३२ ।

३. वृ. क. भा. भाग ५, गा. ५२६३, पृ. १४००—

भावस उ आतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुते ।

कालस्स य खेत्तस्स य, दुत्ते उ सुत्ता अणत्तियारे ॥

४. भ. वृ. ७/२४—क्षेत्रं—सूर्यसम्बन्धी तापक्षेत्रं दिनमित्यर्थः ।

५. कप्पो, ५/६-६

६. निसीह ० ११/७५-७८ ।

७. भ. वृ. ७/२४—कालं दिवसस्य प्रहरत्रयलक्षणमतिक्रान्तं कालातिक्रान्तं ।

८. नि. भा. वृ. गा. ४५४१—दिवसस्य पढमपोरितीर भत्तपाणं धेतुं चरिमं ति चउत्थपोरिती
तं जो सणवेत्ति तस्स चउत्तहुं अणत्तिया य दोसा । चिट्ठु ताव चउत्थपोरिती, पढमातो
वीया चरिमा, वित्तिवाओ ततिया चरिमा, ततियाओ चउत्थी चरिमा ।

९. वृ. क. भा. भाग ५, गा. ५२६४-६५—

वित्तिवाउ पढम पुब्बिं, उवात्तिणे चउत्तुरुं च अणत्ती ।

दोसा संचय संसत्त दीह, साणे य गोणे य ॥

अर्गाण मिलाणुच्चारो, अट्टमुट्टाणे च पाहुण पिरोधे ।

सञ्जाय विणय काइय, पयलत्त पत्तोदृणे पाणा ॥

आस्ता तावत् पश्चिमा चतुर्थी पौरुषी किंतु द्वितीयायाः पौरुष्याः प्रथमापि पूर्वा भाष्यते
प्रथगायाश्च द्वितीया पाश्चात्या, एवं तृतीयाया द्वितीया पूर्वा द्वितीयायास्तृतीया पाश्चात्या,

चतुर्थ्यास्तृतीया पूर्वा तृतीयायाश्चतुर्थी पश्चिमा । ततः प्रथमायाः पौरुष्या द्वितीयाया-
मक्षनादिकमतिक्रमयत्तश्चतुर्गुरुकम्, आज्ञादवश्य दोषाः ।

१०. ओवा. सू. ३३—से किं तं ओमोदरियाओ ? ओमोदरियाओ दुविहा पण्णत्ताओ, तं
जहा—दव्वोमोदरिया य भावोमोदरिया य ।

से किं तं दव्वोमोदरिया ? दव्वोमोदरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—उवगरणदव्वोमोदरिया
य भत्तपाणदव्वोमोदरिया य ।

से किं तं उवगरणदव्वोमोदरिया उवगरणदव्वोमोदरिया ति विहा पण्णत्ता, तं जहा—
एणे वत्थे, एणे पाए, चियत्तोवकरणसाइज्जणया । से तं उवगरणदव्वोमोदरिया ।

से किं तं भत्तपाणदव्वोमोदरिया ? भत्तपाणदव्वोमोदरिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—
अट्ट कुक्कुडअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडअंड-
गपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढेमोदरिए, सोलस कुक्कुडअंडगपमाणमेत्ते कवले
आहारमाहारेमाणे दुभागपत्तोमोदरिए, चउवीसं कुक्कुडअंडगपमाणमेत्ते कवले आहार-
माहारेमाणे पत्तोमोदरिए, एकतीसं कुक्कुडअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे
किंचूणोमोदरिए, बत्तीसं कुक्कुडअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते, एत्तो
एणेण वि घासेण ऊणयं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ ति वत्तव्वं
सिया । से तं भत्तपाणदव्वोमोदरिया । से तं दव्वोमोदरिया ।

से किं तं भावोमोदरिया ? भावोमोदरिया अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा—अप्पक्रेहे,
अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसट्ठे, अप्पञ्जे । से तं भावोमोदरिया । से तं ओमोदरिया ॥

२५. अह भंते ! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणाभियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स पाण-भोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा निविखत्तसत्थमुसले ववगयमालावण्णगविलेवणे ववगयचुय-चइय-चत्तदेहं, जीव-विप्पजडं, अकरयं, अकारियं, असंकप्पियं, अणाहूयं, अकीयकडं, अणुद्विडं, नवकोडीपरिसुद्धं, दसदोसविप्पमुक्कं, उग्गमुप्पायणेसणासुपरिसुद्धं, वीतिंगालं, वीतधूमं, संजोयणादोसविप्पमुक्कं, असुरसुरं, अचवचवं, अदुयं, अविलंबियं, अपरिसाडिं, अक्खोवजणवणाणुलेवणभूयं, संजमजायामायावत्तियं, संजमभारवहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! सत्थातीतस्स, सत्थपरिणाभियस्स एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स पाण-भोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते ।

अथ भदन्त ! शस्त्रातीतस्य, शस्त्रपरिणामितस्य, एषितस्य, वैशिकस्य, सामुदानिकस्य पान-भोजनस्य कः अर्थः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! यः निर्ग्रन्थः वा निर्ग्रन्थी वा निक्षिप्त-शस्त्रमूसलः व्यपगतमालावर्णकवलेपनः व्यपगत-च्युत-च्यावित-त्यक्तदेहं, जीव-विप्रत्यक्तं, अकृतम्, अकारितम्, असंकल्पितम्, अनाहृतम् अक्रीतकृतम्, अनुद्विष्टं, नवकोटिपरिशुद्धं, दशदोषविप्रमुक्तं, उद्गमोत्पादनैषणाभ्यः परिशुद्धं, वीताङ्गारं, वीतधूमं, संयोजनादोषविप्रमुक्तम्, असुरसुरम्, अचपचपम्, अद्रुतम् अविलम्बितम्, अपरिशाटितम्, अक्षोपाञ्जन-व्रणानुलेपनभूतं, संयमयात्रामात्रावृत्तिकं, संयमभारवहनार्थाय विलमिव पन्नगभूतेन आत्मना आहारमाहरति, एष गौतम ! शस्त्रातीतस्य, शस्त्रपरिणामितस्य, एषितस्य, वैशिकस्य, सामुदानिकस्य, पान-भोजनस्य अर्थः प्रज्ञप्तः।

२५. भन्ते ! शस्त्रातीत, शस्त्र परिणामित एषणा से प्राप्त, साधुवेश से लब्ध और सामुदानिक पान-भोजन का क्या अर्थ प्रज्ञप्त है ? गौतम ! शस्त्र (चाकु आदि) और मूसल का प्रयोग न करने वाला, पुष्पमाला और चन्दन के विलेपन से रहित निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी जो आहार च्युत-च्युवित और त्यक्त-जीव-शरीर वाला, जीव-रहित, साधु के निमित्त न किया गया, न कराया गया, न संकल्पित किया गया, आमन्त्रण-रहित, साधु के निमित्त न खरीदा गया, साधु को उद्विष्ट कर न बनाया गया, नवकोटि से परिशुद्ध, दस दोष से विप्रमुक्त, उद्गम, उत्पादन और एषणा से परिशुद्ध, अंगार, धूम और संयोजनादोष से विप्रमुक्त है। वैसा आहार करता है तथा 'सुरसुर' और 'चवचव' शब्द न करते हुए, न अधिक शीघ्रता से और न अधिक विलम्ब से, भूमि पर नहीं गिराते हुए, गाड़ी के पहिए की धूरी पर किए जाने वाले प्रक्षण और व्रण पर किए जाने वाले अनुलेप की भांति संयम-यात्रा के लिए अपेक्षित मात्रा वाला, संयम का भार वहन करने के लिए जैसे सर्प विल में प्रवेश करते समय सीधा होता है वैसे ही स्वाद लिए बिना सीधा खाने वाला—जो इस विधि से आहार करता है, गौतम ! यह शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणामित, एषित, वैशिक और समुदानिक पान-भोजन का अर्थ प्रज्ञप्त है।

भाष्य

१. सूत्र २५

प्रस्तुत सूत्र में आहार करने वाला, आहार का प्रकार, आहार करने की विधि, आहार की मात्रा और आहार का लक्ष्य-इस पञ्चक का प्रतिपादन किया गया है।

१. आहार करने वाला—आहार करने वाले निर्ग्रन्थ की दो विशेषताएं बतलाई गई हैं—१. वह अपने लिए भोजन नहीं पकाता। प्राचीन काल में रसोई के दो मुख्य घटक थे—अग्नि और मूसल। मुनि इनका प्रयोग नहीं करता। २. वह पुष्पमाला, सुगन्धी चूर्ण-प्रयोग और चन्दन के विलेपन से रहित होता है।

२. आहार के प्रकार—निर्ग्रन्थ के लिए वही आहार वांछनीय होता है जो जीव-रहित हो। अन्न आदि स्वयं जीव-रहित हो गया हो अथवा पाक-क्रिया द्वारा जीव-रहित किया गया हो।

निर्ग्रन्थ के लिए निष्पन्न न किया गया हो और न कराया गया हो।

गृहस्थ द्वारा अपने लिए भोजन पकाने समय निर्ग्रन्थ के लिए वनाने का संकल्प न किया गया हो।

आहूत न हो—आप सदा भरे घर से आहार ले, इस प्रकार का आमन्त्रण न दिया गया हो।

निर्ग्रन्थ के लिए खरीदा हुआ न हो।

निर्ग्रन्थ के उद्देश्य से बनाया गया न हो।

नवकोटि परिशुद्ध हो। दस दोष-विप्रमुक्त, उद्गम, उत्पादन और

एषणा से परिशुद्ध हो। उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह और एषणा के दस दोषों की तालिका इस प्रकार है—

उद्गम	उत्पादन	एषणा
१. आधाकर्म	१. धात्री	१. शक्ति
२. औद्देशिक	२. दूती	२. प्रक्षित
३. वृत्तिकर्म	३. निमित्त	३. निक्षिप्त
४. मिश्रजात	४. आजीव	४. पिहित
५. स्थापना	५. वनीपक	५. संहत
६. प्राभृतिक	६. चिकित्सा	६. दायक
७. प्रादुष्करण	७. क्रोध	७. उन्मिश्र
८. क्रीत	८. मान	८. अपरिणत
९. प्रामित्य	९. माया	९. लिप्त
१०. परिवर्त	१०. लोभ	१०. छर्दित
११. अभिहत	११. पूर्व-पश्चात् संस्तव	
१२. उद्भिन्न	१२. विद्या	
१३. मालापहत	१३. मंत्र	
१४. आच्छेद्य	१४. चूर्ण	
१५. अनिसृष्ट	१५. योग	
१६. अध्यवतरक	१६. मूलकर्म	

ये ४२ दोष आगम-साहित्य में एकत्र कहीं भी वर्णित नहीं हैं, किंतु प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं। श्रीगण्ड्याचार्य ने उनका अपुनरुक्त संकलन किया है। आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतर, पूतिकर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत—ये ठाणं, ६/६२ में बतलाए गए हैं। धात्रीपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, आजीवपिण्ड, वनीपकपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, क्रोधपिण्ड, मानपिण्ड, मायापिण्ड, तोभपिण्ड, विद्यापिण्ड, मंत्रपिण्ड, योगपिण्ड, चूर्णपिण्ड और पूर्व-पश्चात्-संस्तव—ये निसीहज्जयणं, १३/६१-७५ में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आयासचूला, १/२१ में मिलता है। मूलकर्म पण्ड्यावागरणाई, संवर १/१५ में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शक्ति, ग्रथित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित—ये दसवे आलियं के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं।

३. आहार करने की विधि—आहार करते समय अमूर्च्छ, अक्रोध और अस्वाद का प्रयोग किया जाए। 'सुरसुर' 'चवचव' इस प्रकार का शब्द न हो। बहुत शीघ्रता से न खाए और बहुत मन्थरगति से भी न खाए। खाते समय भोजन की सीधों को नीचे न गिराए।

४. आहार की मात्रा—जैसे गाड़ी की धुरी पर अञ्जन लगाया जाता है और व्रण पर लेप किया जाता है, आहार करते समय वैसी दृष्टि रखें; संयम यात्रा के लिए जितना आवश्यक हो, उतना भर खाए।

५. आहार करने का लक्ष्य—आहार करने का लक्ष्य है—संयम-भार का निर्वाह।

विषय के निगमन का निष्कर्ष यह है कि निरन्तर अस्वाद वृत्ति से आहार करे जैसे सर्प विल में प्रवेश करते समय पार्श्वभाग को छुए बिना सीधा चला जाता है, वैसे ही निरन्तर खाद्य वस्तु को स्वाद के लिए इधर-उधर घुमाए बिना सीधा खाए।

शब्द-विमर्श

शस्त्रातीत-शस्त्र—अग्नि आदि से उत्तीर्ण।^१

शस्त्रपरिणामित—शस्त्र-योग से अचित्त किया हुआ।^२

एषित—एषणा की विधि से गवेषित।

वैशिक—'वैसिय' पद के दो संस्कृत रूप हो सकते हैं—वैशिक और व्येषित। मुनिवेश के निमित्त से जो भिक्षा प्राप्त होती है, उसे 'वैशिक' कहा जाता है। विशेष अथवा विविध प्रकार की एषणा से प्राप्त 'व्येषित' कहलाती है। वृत्ति में 'व्येषित' मूल रूप में और 'वैशिक' वैकल्पिक रूप में व्याख्यात है।^३

सामुदानिक—माधुकरी वृत्ति से प्राप्त भिक्षा।

शस्त्र—प्रसंगवश यहाँ 'शस्त्र' का अर्थ 'अग्नि' होना चाहिए।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'खड्ग' आदि किया है।^४

व्यपगत—स्वयं पृथग्भूत।

च्युत—मृत।

च्यवित—'चाइय' शब्द के दो संस्कृत रूप हो सकते हैं—च्यवित और त्याजित।^५

अनाहृत—वृत्तिकार ने इसका अर्थ अनित्यपिण्ड किया है। आप भेरे घर से नित्य आहार लें—इस प्रकार आमन्त्रणपूर्वक लिया जाने वाला भोजन आहृत अथवा नित्यपिण्ड कहलाता है।^६ और आमन्त्रणरहित भोजन अनाहृत।^६

नवकोटिपरिशुद्ध—ठाणं^७ में भिक्षा की नौ कोटियां बतलाई गई हैं—जीवों का वध न करना, न कराना, करने वाले का अनुमोदन न करना। भोजन न पकाना, न पकवाना और न पकाने वाले का अनुमोदन करना। आने लिए न मोल लेना, न लिवाना और न लेने वाले का अनुमोदन करना।

गाड़ी के पहिए की धुरी पर किए जाने वाले ब्रक्षण (अक्खो-वंजण)—अक्ष—गाड़ी की धुरी। उपाञ्जन—ब्रक्षण करना, खञ्जन लगाना। (द्रष्टव्य सू. २/२/५०)

संयमयात्रामात्रवृत्तिक—(संयमयात्रामायावृत्तियं) अभयदेवसूरि ने मात्रा का अर्थ 'आलम्बन-समूह का अंश' किया है। 'वृत्तियं' पाठांश के दो अर्थ किए हैं—वृत्तिक और प्रत्यय।^८

शीलाकसूरि ने 'मात्रा' का संबंध आहार के साथ बतलाया है। आहार की जितनी मात्रा से संयम-यात्रा चल सके उतनी वृत्ति करने वाला 'संयम-यात्रामात्रवृत्तिक' होता है।^९

२६. सेव भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

२६. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

१. द्रष्टव्य, सू. २/१/६६ और उसके टिप्पण।

२. वही, २/२/५०।

३. भ. वृ. ७/२५—विशेषण विविधैर्था प्रकारैरेषितं—व्येषितं ग्रहणैषणा प्रासेषणाविशोधितं तस्व। अथवा वेयो—मुनिनेपद्यं स हेतुर्लाभे वरय तद्वैपिकम्—आकारमात्रादर्शनादवातं न त्वावर्जयन्।

४. वही, ७/२५—त्यक्ताखड्गादि शस्त्रमुसलः।

५. द्रष्टव्य टिप्पणे ३/२—'नित्याय' का टिप्पण।

६. भ. वृ. ७/२५—न च विद्यते आहृतम्—आहानमामन्त्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रामन्त्रणं नित्यं तदेव रूपं कृष्णराश्याकारणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरादन्वयानयनाय यत्र सोऽनाहृतः—

अनित्यपिण्डोऽभ्याहृतो वेत्यर्थः। स्पष्टं वाऽऽहृतं तन्निषेधादनाहृतो, दायकेनास्पृश्यं दीयमानमित्यर्थः, अनेन भावतोऽपरिणताभिधानएषणादोषनिषेध उक्तोऽतस्तम्।

७. ठाणं, ६/३०।

८. भ. वृ. ७/२५—संयमयात्रा—संयमानुपालनं सैव मात्रा—आलम्बनसमूहांशः संयम यात्रामात्रा तदर्थं वृत्तिः—प्रवृत्तिर्यात्राहारे स संयमयात्रामात्रावृत्तिकोऽतस्तं। संयमयात्रामात्रावृत्तिकं यथा भवति संयमयात्रामात्राप्रत्ययो वा यत्र स तथाऽतस्तं संयमयात्रामात्राप्रत्ययं वा यथा भवति।

९. सू. २/२/५०, वृ. प. ४०—संयमयात्रायां मात्रा संयमयात्रामात्रा, यावत्वाहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्तते सा तथा, तथा संयमयात्रामात्रया वृत्तिर्यस्य तत्तथा।

बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

सुपच्चक्खाण-दुपच्चक्खाण-पदं

२७. से नूणं भंते ! सव्वपाणेहिं, सव्वभूएहिं, सव्वजीवेहिं, सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति ? दुपच्चक्खायं भवति ?
गोयमा! सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवति, सिय दुपच्चक्खायं भवति ॥

२८. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवति? सिय दुपच्चक्खायं भवति ?

गोयमा! जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमन्नागयं भवति—इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति, दुपच्चक्खायं भवति। एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ। एवं खलु से मुसावाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले यावि भवति।

जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स एवं अभिसमन्नागयं

सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान-पदम्

तन्नूनं भदन्त! सर्वप्राणिभिः, सर्वभूतैः, सर्वजीवैः, सर्वसत्त्वैः, प्रत्याख्यातमिति वदतः सुप्रत्याख्यातं भवति? दुष्प्रत्याख्यातं भवति ?
गौतम! सर्वपाणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः स्यात् सुप्रत्याख्यातं भवति, स्यात् दुष्प्रत्याख्यातं भवति ।

तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते—सर्वप्राणिभिः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः स्यात् सुप्रत्याख्यातं भवति? स्यात् दुष्प्रत्याख्यातं भवति?

गौतम! यस्य सर्वप्राणिभिः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः नो एवं अभिसमन्नागतं भवति इमे जीवाः, इमे अजीवाः, इमे तसाः, इमे थावराः, तस्य सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः नो सुप्रत्याख्यातं भवति दुष्प्रत्याख्यातं भवति ।
एवं खलु स दुष्प्रत्याख्यायी सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदन् नो सत्यां भाषां भाषते, मृषां भाषां भाषते। एवं खलु स मृषावादी सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः त्रिविध-त्रिविधेन असंयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, सक्रियः, असंवृत्तः, एकान्तदण्डः, एकान्तबालः चापि भवति।

यस्य सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः एवं अभिसमन्नागतं भवति—

सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान-पद

२७. ' कोई पुरुष कहता है—मैंने सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है। भन्ते ! उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यात होता है ? अथवा दुष्प्रत्याख्यात होता है ?
गौतम! जो पुरुष कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है। उसका वह प्रत्याख्यान स्यात् सुप्रत्याख्यात होता है, स्यात् दुष्प्रत्याख्यात होता है।

२८. भन्ते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो पुरुष कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है, उसका वह प्रत्याख्यान स्यात् सुप्रत्याख्यात होता है, स्यात् दुष्प्रत्याख्यात होता है।

गौतम! जो पुरुष कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है और जिसे यह ज्ञात नहीं होता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं; ये त्रस हैं ये स्थावर हैं, उसके सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यात नहीं होता, दुष्प्रत्याख्यात होता है ।
इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है, वह सत्य भाषा नहीं बोलता है, मृषा भाषा बोलता है। इस प्रकार वह मृषावादी मनुष्य सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के प्रति तीन योग और तीन करण से असंयत, अविरत, अतीत के पापकर्म का प्रतिहनन न करने वाला, भविष्य के पापकर्म का प्रत्याख्यान न करने वाला होता है। वह कापिकी आदि क्रिया से युक्त, असंवृत्त, एकान्तदण्ड और एकान्तबाल भी होता है।

जो पुरुष कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है, और जिसे यह ज्ञात

भवति—इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे धावरा, तस्य णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति, नो दुपच्चक्खायं भवति।

एवं खलु से सुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे सच्चं भासं भासइ, नो मोसं भासं भासइ। एवं खलु से सच्चवादी सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं संजय-विरय-पडिहय-पच्च-क्खाय-पावकम्मे, अकिरिए, संवुडे, एगंत-पंडिए यावि भवति। से तेणद्वेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्च-क्खायमिति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवति, सिय दुपच्चक्खायं भवति ॥

इमे जीवाः, इमे अजीवाः, इमे तसाः, इमे धावराः, तस्य सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यात-मिति वदतः सुप्रत्याख्यातं भवति नो दुप्रत्याख्यातं भवति।

एवं खलु स सुप्रत्याख्यायी सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदन् सत्यां भाषां भाषते, नो मृषां भाषां भाषते। एवं खलु स सत्यवादी सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः त्रिविध-त्रिविधेन संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, अक्रियः, संवृतः, एकान्तपण्डितः चापि भवति। तत्तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते—सर्वप्राणैः यावत् सर्वसत्त्वैः प्रत्याख्यातमिति वदतः स्यात् सुप्रत्याख्यातं भवति, स्यात् दुप्रत्याख्यातं भवति।

होता है कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं। ये त्रस हैं ये स्थावर हैं, उसके सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यात होता है, दुप्रत्याख्यात नहीं होता।

इस प्रकार वह सुप्रत्याख्यानी कहता है—मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है, वह सत्य भाषा बोलता है, मिथ्या भाषा नहीं बोलता। इस प्रकार वह सत्यवादी मनुष्य सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के प्रति तीन योग और तीन करण से संयत, विरत, अतीत के पाप कर्म का प्रतिहनन करने वाला, भविष्य के पापकर्म का प्रत्याख्यान करने वाला होता है, वह कायिकी आदि क्रिया से मुक्त, संवृत और एकान्त-पण्डित भी होता है। गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जो पुरुष कहता है मैंने सब प्राण यावत् सब सत्त्वों के वध का प्रत्याख्यान किया है, उसका वह प्रत्याख्यान स्यात् सुप्रत्याख्यात होता है, स्यात् दुप्रत्याख्यात होता है।

भाष्य

१. सूत्र २७, २८

भगवान् महावीर ने वस्तु-सत्य का प्रतिपादन नय अथवा सापेक्ष दृष्टि के आधार पर किया था। इसलिए उसमें ऐकान्तिक आग्रह नहीं है, सत्य का संस्पर्श है। प्रत्याख्यान को निरपेक्ष दृष्टि से समीचीन अथवा असमीचीन कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उसे समीचीन और असमीचीन सापेक्ष दृष्टि के आधार पर कहा गया है। कोई व्यक्ति जीव और अजीव को नहीं जानता। वह सब जीवों के वध का प्रत्याख्यान करता है। जीव-विषयक उसका ज्ञान स्पष्ट नहीं है। उस अवस्था में वह सब जीवों के वध के प्रत्याख्यान का पालन कैसे कर सकेगा ?

अभयदेवसूरि ने लिखा है—जीव और अजीव के ज्ञान के अभाव में प्रत्याख्यान का यथावत् पालन नहीं किया जा सकता। इस अपेक्षा से अज्ञानी का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं है।^१

जयाचार्य ने अपेक्षा-दृष्टि को विकसित किया है। उनके अनुसार

१. भ. वृ. ७/२८—ज्ञानाभावेन यथावदपरिपालनात् सुप्रत्याख्यानत्वाभावः।

२. भ. जो. २/११५/१६-२६--

इहां जाण्यां विण जीव, त्याग किया थी तेहनां।
दुपचखाण कहीव, जाण्यां विण किम फलिये ॥
जीव त्रसादिक देह, जाणीं तसु हणवा तणां।
जो पचखाण करेह, पिण समदृष्टि ते नही ॥
संवर आथी तास. दुपचखाण कहीजियं।
संवर गुण सुविमास, कर्म रोकण नो तसु नही ॥
हिंसादिक पहिछण, त्यागी मिथ्याती तणं !
निर्जरा लेखे जाण, सुध पचखाण कही जिये ॥
सप्तम उत्तरज्जायण, वर गाथा जे वीस मी।
धुर गुणटाणे वयण, कहो सुव्वए स्वामजी ॥

जीव-अजीव को नहीं जानता, वह मिथ्यादृष्टि है। वह सब जीवों को नहीं जानता और उन्हें जाने बिना सब जीवों को मारने का प्रत्याख्यान करता है वह अज्ञान की अपेक्षा दुप्रत्याख्यान है। जो मिथ्यादृष्टि त्रस अथवा स्थावर जीव को जानकर उसके वध का प्रत्याख्यान करता है, उसका प्रत्याख्यान संवर की अपेक्षा दुप्रत्याख्यान है, किंतु निर्जरा की अपेक्षा वह दुप्रत्याख्यान नहीं है, सुप्रत्याख्यान है। इसके समर्थन में उन्होंने आगम के अनेक संदर्भ प्रस्तुत किये हैं।^२

प्रत्याख्यान की प्रथम अर्हता है—सम्यग् दर्शन। जो जीव और अजीव का भेद नहीं जानता, उसे सम्यग् दर्शन उपलब्ध नहीं होता। उसके अभाव में वह मुनि की भूमिका में नहीं जा सकता। तिविहं तिविहेणं—तीन योग—कृत, कारित और अनुमोदन, तीन करण—मन, वचन और शरीर से सब जीवों के वध का प्रत्याख्यान करना—यह मुनि की भूमिका है। सम्यग् दर्शन की भूमिका पर आरोहण किए बिना मुनि की भूमिका पर आरोहण करने का प्रत्याख्यान मिथ्या प्रत्याख्यान है। यह प्रस्तुत आलापक का प्रतिपाद्य है। कुछ अन्यतीर्थिक

देश आराधक जाण धुर गुणटाणां नो धणी।
अष्टम शतक पिष्ठाण, दशम उदेशे भगवती ॥
सूत्र विषाक मझार, सुमुख दान दे मुनि भणी।
क्रियो परित्त संसार, मनुष्य आउखो बांधियो ॥
गज भव मेघकुमार, परित्त संसार दवा धकी।
धुर गुणटाणे धार, नर आयू वंध्यो तिणे ॥
असोच्चा अधिकार, प्रथम गुणटाणे जिन कहो।
अपोह अर्थ विचार, धर्म ध्यान परिणाम शुभ ॥
इत्यादिक अयलोय पहिना गुणटाणां तणी।
निरवद करणी जोय ते छे आज्ञा माहिली ॥
ते गाटे पहिछण तेहनां दुपचखाण ते।
संवर आथी जाण निर्जरा आथी छे नहीं ॥

सम्यक्-दर्शन के अभाव में भी तीन योग, तीन करण से सब जीवों के वध का प्रत्याख्यान करते थे, उन्हीं को लक्ष्य में रखकर इस सूत्र की रचना की गई— यह संभावना की जा सकती है।

दुष्प्रत्याख्यान	सुप्रत्याख्यान
मिथ्या दर्शन तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान इसका फलित है—मिथ्या प्रत्याख्यान	सम्यग् दर्शन तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान इसका फलित है—सम्यग् प्रत्याख्यान

मिथ्या प्रत्याख्यान करने वाला साधु कहलाने पर भी वास्तव में साधु नहीं होता। वह असंयत, अविरत, अप्रतिहत-पाप-कर्म तथा अप्रत्याख्यात-पाप-

-कर्म वाला, सक्रिय, असंवृत—एकान्तदण्ड और एकान्त बाल होता है। वह वास्तव में साधु नहीं है और अपने आपको साधु कहता है। इसीलिए उसके वचन को असत्य वचन कहा गया है। सम्यक् प्रत्याख्यान करने वाला वास्तव में साधु होता है, इसलिए उसके सर्व जीवों के वध के प्रत्याख्यान का वचन सत्य होता है। वह संयत, विरत, प्रतिहत-पाप-कर्म तथा प्रत्याख्यात पाप-कर्म वाला, अक्रिय, संवृत और एकान्त पण्डित होता है।

शब्द-विमर्श

एकान्तदण्ड—सर्वथा दूसरे जीवों का वध करने वाला

एकान्तबाल—सर्वथा विरति-शून्य

एकान्तपण्डित—सर्वथा विरति-सम्पन्न महाप्रती।

पच्चक्खाण-पदं

२६. कतिविहे णं भंते! पच्चक्खाणे पण्णत्ते?
गोयमा! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—
मूलगुणपच्चक्खाणे य, उत्तरगुणपच्चक्खाणे
य ॥

३०. मूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे
पण्णत्ते ?
गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सव्व-
मूलगुणपच्चक्खाणे य, देसमूलगुणपच्चक्खाणे
य ॥

३१. सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे
पण्णत्ते ?
गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वाओ
पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ
वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं,
सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्ग-
हाओ वेरमणं ॥

३२. देसमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे
पण्णत्ते ?
गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—थूलाओ
पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ
वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं,
थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, थूलाओ परिग्ग-
हाओ वेरमणं ॥

३३. उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे
पण्णत्ते?
गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—सव्वुत्तर-
गुणपच्चक्खाणे य, देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे
य ॥

प्रत्याख्यान पदम्

कतिविधं भदन्त! प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तम्?
गौतम! द्विविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा
—मूलगुणप्रत्याख्यानं च, उत्तरगुणप्रत्याख्यानं
च।

मूलगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?
गौतम! द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद् यथा—सर्व-
मूलगुणप्रत्याख्यानं च, देशमूलगुणप्रत्याख्यानं
च।

सर्वगुणमूलप्रत्याख्यानं भदन्त ! कतिविधं
प्रज्ञप्तम् ?
गौतम! पच्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—सर्व-
स्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, सर्वस्मान्
मृषावादाद् विरमणम्, सर्वस्माद् अदत्तादानाद्
विरमणम्, सर्वस्मान् मैथुनाद् विरमणम्,
सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम् ।

देशमूलगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं
प्रज्ञप्तम् ?
गौतम ! पच्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—
स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, स्थूलान्
मृषावादाद् विरमणम्, स्थूलाद् अदत्तादानाद्
विरमणम्, स्थूलान् मैथुनाद् विरमणम्, स्थू-
लात् परिग्रहात् विरमणम्।

उत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञ-
प्तम्?
गौतम! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—सर्वो-
त्तरगुणप्रत्याख्यानं च, देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं
च।

प्रत्याख्यान-पद

२६. 'भन्ते! प्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम! प्रत्याख्यान के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
मूलगुणप्रत्याख्यान, उत्तरगुणप्रत्याख्यान ।

३०. भन्ते! मूलगुण प्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त
हैं?
गौतम! दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सर्वमूलगुणप्रत्या-
ख्यान, देशमूलगुणप्रत्याख्यान ।

३१. भन्ते! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त
हैं ?
गौतम! पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सर्वप्राणातिपात-
विरमण, सर्वमृषावादविरमण, सर्वअदत्तादानविरमण,
सर्वमैथुनविरमण, सर्वपरिग्रहविरमण।

३२. भन्ते! देशमूलगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त
हैं ?
गौतम! पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—स्थूलप्राणातिपात-
विरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादान-
विरमण, स्थूलमैथुनविरमण, स्थूलपरिग्रहविरमण।

३३. भन्ते! उत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त
हैं?
गौतम! दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—सर्वउत्तरगुणप्रत्या-
ख्यान, देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान ।

३४. सव्युत्तरगुणपञ्चकखाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?
 गोयमा! दसविहे पण्णत्ते, तं जहा—
 गाहा—
 १,२. अणागथमइक्कंतं
 ३. कोडीसहियं ४. नियन्त्रितं चैव।
 ५,६. सागारमणागारं
 ७. परिमाणकडं ८. निरवसेसं।
 ९. संकेयं चैव १०. अद्धाए,
 पच्चकखाणं भवे दसहा ॥१॥

सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम् ?
 गौतम! दशविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—
 गाथा—
 १, २. अनागतमतिक्रान्तं,
 ३. कोटिसहितं ४. नियन्त्रितं चैव।
 ५, ६. सागारमनागारं
 ७. परिमाणकृतं ८. निरवशेषं।
 ९. संकेतं चैव १०. अद्धातः
 प्रत्याख्यानं भवेद् दशधा ॥१॥

३४. भन्ते ! सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं ?
 गौतम ! दस प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
 गाथा—
 अनागत, अतिक्रान्त, कोटि-सहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, संकेत, अद्धा—
 इस प्रकार प्रत्याख्यान दस प्रकार का होता है।

३५. देसुत्तरगुणपञ्चकखाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते ?
 गोयमा! सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहां—१. दिसि-
 व्वयं २. उवभोगपरिभोगपरिमाणं ३. अण-
 त्यदंडवेरमणं ४. सामाइयं ५. देसावगासियं
 ६. पोसहोववासो ७. अतिहिसंविभागो ।
 अपच्छिममारणतियसंलेहणाइूसणाराहणता॥

देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त ! कतिविधं प्रज्ञ-
 प्तम् ?
 गौतम! सप्तविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा—१. दिग्-
 व्रतम् २. उपभोगपरिभोगपरिमाणम् ३. अनर्थ-
 दण्डविरमणम् ४. सामायिकम् ५. देशाव-
 काशिकम् ६. पौषधोपवासः ७. अतिथि-
 संविभागः। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-
 जूषणाराधनता।

३५. भन्ते ! देशोत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं।
 गौतम! सात प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—१. दिग्व्रत,
 २. उपभोग-परिभोग-परिमाण, ३. अनर्थदण्ड-विरमण,
 ४. सामायिक, ५. देशावकाशिक, ६. पौषधोपवास,
 ७. अतिथिसंविभाग। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखना-
 जोषणा-आराधना ।

भाष्य

१. सूत्र २६-३५

साधना के क्षेत्र में दो प्रकार के गुणों की व्यवस्था की गई—मूलगुण और उत्तरगुण । साधना के लिए जो अनिवार्य हैं, वे मूलगुण कहलाते हैं। साधना के विकास के लिए किए जाने वाले ऐच्छिक प्रयोग उत्तरगुण कहलाते हैं। प्रस्तुत आलापक के अनुसार मुनि के लिए मूलगुण पांच और उत्तरगुण दस बतलाए गए हैं। श्रावक के लिए अंशतः मूलगुण पांच और उत्तरगुण सात बतलाए गए हैं। दिगम्बर परम्परा में मूलगुणों का वर्गीकरण भिन्न प्रकार का है। वहां मुनि के लिए मूलगुण अट्ठाईस बतलाए गए हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रिय-निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षिति-शयन, अदन्त-घर्षण—दंतो न करना, स्थिति-भोजन—खड़े-खड़े भोजन करना, एक भक्त—दिन में एक बार भोजन करना ।^१

मूलगुणों की संख्या का विकास किस आधार पर किया गया—यह अन्वेषण का विषय है। पांच महाव्रत मूलगुण हैं—यह तर्क-संगत तत्त्व है। उनके होने पर मुनित्व होता है; उनके अभाव में मुनित्व नहीं होता; इसलिए उन्हें मूलगुण कहा जा सकता है। क्षिति-शयन आदि उत्तर गुण हैं। इस प्रकार

के गुणों की संख्या और अधिक मिल सकती है। श्रावक के लिए भी मूल गुण पांच ही हैं। दिगम्बर परम्परा में श्रावक के मूलगुण आठ बतलाए गए हैं—पांच अणुव्रत तथा मद्य, मांस और मधु का परित्याग।^२ यह उत्तरकालीन विकास है। वस्तुतः मूलगुण पांच अणुव्रत ही होने चाहिए।

ठाणं में जो दस प्रत्याख्यान बतलाए हैं, वे मुनि के लिए उत्तरगुण-प्रत्याख्यान होने चाहिए, जैसा कि भ. ७/३३ के पाठ से स्पष्ट है।

१. अनागत प्रत्याख्यान—भविष्य में करणीय तप को पहले करना।
 २. अतिक्रान्त प्रत्याख्यान—वर्तमान में करणीय तप नहीं किया जा सके, उसे भविष्य में करना।

३. कोटि-सहित प्रत्याख्यान—एक प्रत्याख्यान का अन्तिम दिन और दूसरे प्रत्याख्यान का प्रारम्भिक दिन हो, वह कोटि-सहित प्रत्याख्यान हैं।

४. नियन्त्रित प्रत्याख्यान—निरोध या ग्लान अवस्था में भी धैर्य “अमुक प्रकार का तप अमुक-अमुक दिन अवश्य करेगा” इस प्रकार का प्रत्याख्यान करना।

५. साकार प्रत्याख्यान—अपवाद-सहित प्रत्याख्यान।

१ (क) प्र. सा. : २०८, २०६—

वदसभिदियरोधो लोचावरसयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवणं तिदिभोयणमेगभत्तं च ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णता ।

(ख) मूलाचार, मूलगुणाधिकार, गा. २, ३

पंच य महव्ययाइं समिदीओ पंच जिणवरुदिइा।

पंचेविदियरोध छपि य आवासया लोचो ॥

अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतवणं चैव

तिदिभोयणमेगभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥

२. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ६६—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गुहिणां श्रमणोत्तमाः ॥

६. अनाकार प्रत्याख्यान—अपवाद-रहित प्रत्याख्यान।

७. परिमाण कृत प्रत्याख्यान—दत्त, कवल, भिक्षा, गृह, द्रव्य आदि के परिमाण-युक्त प्रत्याख्यान।

८. निरवशेष प्रत्याख्यान—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का सम्पूर्ण परित्याग-युक्त प्रत्याख्यान।

९. संकेत प्रत्याख्यान—संकेत या चिन्ह-सहित किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

१०. अध्वा प्रत्याख्यान—मुहूर्त, पौरुषा आदि कालमान के आधार पर किया जाने वाला प्रत्याख्यान।^१

निर्युक्ति काल में उत्तरगुण का दूसरा वर्गीकरण मिलता है। उसके अनुसार बारह प्रकार का तप उत्तरगुण है।^२ शीलांक सूरी ने सूयगडो की वृत्ति में एक गाथा उद्धृत की है। उसमें तीसरा वर्गीकरण है और बहुत विकसित है।^३

दिग्रत आदि मूलगुण के विशेष प्रयोग हैं। इसलिए उन्हें उत्तरगुण कहा गया है।

दिग्रत—उर्ध्व, नीचे और तिरछी दिशा में जाने का परिमाण।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत—जिनका एक बार भोग किया जा सके, वे अशन, पान आदि वस्तुएं उपभोग कहलाती हैं। जिनका बार-बार भोग किया जा सके वे आसन, शयन, वस्त्र आदि वस्तुएं परिभोग कहलाती हैं।^४

अनर्थदण्डविरमण—अपध्यान, प्रमाद, मारक शस्त्र देना आदि आचरणों से विरत होना।

सामायिक—एक मुहूर्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग और निरवद्य प्रवृत्ति का परिसेवन।^५

देशावकाशिक—दिग्रत की निर्धारित सीमा का अल्पकाल के लिए पुनः संकोच करना।^६

मुख्यतः इसका संबंध दिग्रत के साथ है। हरिभद्रसूरी ने वृद्ध परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार 'आजीवन स्वीकृत अणुव्रतों की सीमा का और अधिक संकोच करना'।^७

पौषधोपवास—आहार, शरीर-संस्कार, सावद्य व्यापार का त्याग और ब्रह्मचर्य के पालन-पूर्वक एक दिन-रात तक साधना का विशेष प्रयोग। यह दो प्रकार का होता है—देश पौषध और सर्व पौषध। देश पौषध अल्पकालिक भी होता है। उसमें आहार वर्जित नहीं होता। शंख प्रमुख श्रमणोपासकों ने देश पौषध करने का संकल्प किया था।^८ श्रमणोपासक शंख का चिंतन बदल गया।

१. टाणं, १०/१०११ दस प्रत्याख्यानों की व्याख्या के लिए इस सूत्र का टिप्पण द्रष्टव्य है।

२. सूत्र. नि. १/१४/१२६—

मूलगुणे पंचविहो उत्तरगुण वारसविहो उ।

३. सूत्र. वृ. प. २४७—

पिंडसज्जा विसोही समिईओ भावणा तयो दुविहो।

पडिमा अभिगाहाविय उत्तरगुणओ वियाणाहि॥

४. म. वृ. ७/३५—उपभोगः—सकृद् भोगः, स चाशनपानानुलेपनादीनां, परिभोगस्तु पुनः पुनर्भोगः, स चासनशयनवसनवनितादीनाम्।

५. आव. चू. (जिनदास), उत्तरार्ध, पृ. २६६—सामायिकं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं शिरवज्जजोगपरिसेवणं च।

६. वही, पृ. ३०२—पूर्व दिक्खु तं वहुणि जोयणाणि आसि, इदाणि दिवसे दिवसे ओसारेते।

७. आव. नि. हा. वृ. पृ. २३०—गृहीतस्य दिक्परिमाणस्य दार्घकालस्य यावज्जीव-संवत्सर-चतुर्मासादिभेदस्य योजनशतादिरूपत्वात् प्रत्यह तावत् परिमाणस्य गन्तुमशक्यत्वात् प्रतिदिनं प्रतिदिवसमित्येतच्च प्रहरमुहूर्ताद्युपलक्षणं प्रमाणकरणं दिवसादिगमनयोग्यदेश-

उसने अपनी पौषधशाला में सर्व पौषध अथवा प्रतिपूर्ण पौषध के प्रति जागरणा की।^९

द्रष्टव्य उत्तरज्जयणाणि (द्वितीय संस्करण) ५/२३ का टिप्पण।

अतिथि संविभाग—यह श्रावक का १२ वां व्रत है। इसे यथासंविभाग भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—आत्मानुग्रह की वृद्धि से आहार आदि एषणीय वस्तुओं का संयमी को संविभाग देना।

अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना—शरीर और कषाय को कृश करने के लिए की जाने वाली तपस्या संलेखना कहलाती है। उसका प्रयोग समाधि-मरण तक चलता है, इसलिए उसे पश्चिम मारणान्तिक संलेखना कहा जाता है। वृत्तिकार का मत है कि अमंगल का परिहार करने के लिए पश्चिम के स्थान पर अपश्चिम का प्रयोग किया गया है।^{१०} उसकी प्रीतिपूर्वक अथवा निष्ठापूर्वक आराधना करना अभीष्ट है।

संलेखना का विधान मुनि और श्रावक दोनों के लिए है। यह समाधि-मरण की विधि है। मरण की कला सिखाने वालों में भगवान महावीर अग्रणी हैं।

संलेखना मृत्यु के भय से मुक्त होने की साधना है। भगवान महावीर ने धार्मिक पुरुष को अभय और पराक्रमी होने का मंत्र दिया। संलेखना उसी मंत्र-शिक्षि का उपाय है। संलेखना उत्तरगुण है। उसका संबंध देशोत्तर गुण और सर्वोत्तर गुण दोनों से है श्रावक के लिए यह देशोत्तर गुण है।^{११}

संलेखना की विधि के लिए आयारो ८/८/१,३ का तथा उत्तरज्जयणाणि ३०/१२,१३ के टिप्पण द्रष्टव्य हैं।

पांच अणुव्रत देशतः मूलगुण वतलाए गए हैं। सात व्रत देशतः उत्तरगुण वतलाए गए हैं। तत्त्वार्थ भाष्य में सात व्रतों के लिए उत्तरगुण के स्थान पर उत्तरव्रत का प्रयोग मिलता है।^{१२}

अन्यत्र कहीं उत्तरगुण और 'उत्तरव्रत' का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ है।

उवासगदसाओं में पांच अणुव्रतों के पश्चात् अनर्थदण्ड के प्रत्याख्यान का विधान है।^{१३} अतिचार के प्रकरण में इच्छा-परिमाण के अणुव्रत के पश्चात् दिग्रत, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्डविरमण, सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास, यथासंविभाग का उल्लेख है।^{१४} इन बारह व्रतों के पश्चात् मारणान्तिक संलेखना का उल्लेख है।^{१५}

उवासगदसाओं में श्रावक के मूलगुण और उत्तरगुण का विभाग नहीं है, वहां बारह व्रतों के दो विभाग उपलब्ध हैं—पांच अणुव्रत और सात

स्थानं प्रतिदिनं प्रमाणकरणं देशावकाशिकम्, दिग्रतगृहीतदिक्परिमाणस्यैकदेशः—अंशः तस्मिन्वकाशः—गमनादि चेष्टा स्थानं देशावकाशस्तेन निर्वृतं देशावकाशिकम्, एतच्चाणु व्रतादिगृहीतदीर्घतरकालावाधिचिरतिरपि प्रतिदिनं संक्षेपोपलक्षणमिति पूज्या वर्णयन्तिः

८. म. १२/४,५, १४।

९. वही, १२/६, १३।

१०. म. वृ. ७/३५—पश्चिमैवामंगलपरिहारार्थमपश्चिमा।

११. वही, ७/३५—इह च सप्त दिग्रतादयो देशोत्तरगुणा एव, संलेखना तु भजनया तथाहि—सा देशोत्तरगुणवतो देशोत्तरगुणः आवश्यकं तथा जम्भिधानात्, इतरस्य तु सर्वोत्तरगुणः साकार-नाकारादि प्रत्याख्यानरूपत्वादिति संलेखनामविगणय्य सप्त देशोत्तरगुणा इत्युक्तम्! अस्यां श्वेतेषु षडो देशोत्तरगुणधारिणाऽपीयमन्ते विप्रतय इत्यस्यार्थस्य ख्यापनाथं इति ॥

१२. त. सू. भा. ७/१६—एभिश्च दिग्रतादिभिर्भूतारव्रतैः सम्पन्नोऽप्यारी व्रतं भवति।

१३. उवा. १/३०।

१४. वही, १/३७-४३।

१५. वही, १/४४।

शिक्षाव्रत। आवश्यक चूर्णि में पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये तीन विभाग मिलते हैं। उसमें उवासगदसाओ में उपलब्ध सात शिक्षाव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—इन दो भागों में विभक्त हो गए।

प्रतीत होता है कि गुणव्रत और शिक्षाव्रत का विभाग तत्त्वार्थ सूत्र की रचना के उत्तरकाल में विकसित हुआ है। तत्त्वार्थ भाष्य में यह विभाग उपलब्ध नहीं है। सिद्धसेन गणी ने इनका उल्लेख किया है।^१ सर्वार्थसिद्धि और भगवती-आराधना में भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का विभाग मिलता है किंतु व्रतों की संख्या का क्रम भिन्न है। उनके अनुसार दिग्ब्रत, देशावकाशिक और अनर्थदण्ड ये तीन गुणव्रत हैं।^२ सिद्धसेनगणि के अनुसार

दिग्ब्रत, उपभोग परिभोग परिमाण और अनर्थदण्ड विरमण—ये तीन गुणव्रत हैं।^३ महापुराण में इस मतभेद का उल्लेख मिलता है।^४ चारित्रपाहुड^५ और वसुनन्दी श्रावकाचार^६ में मारणातिक संलेखना को शिक्षाव्रत की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है।

प्रथम आठ व्रत यावज्जीवन के लिए होते हैं और अन्तिम चार शिक्षाव्रत अल्पकालिक होते हैं।^७ संभावना की जा सकती है कि सात शिक्षाव्रतों में से प्रथम तीन यावज्जीवन के लिए स्वीकृत किए जाते हैं और चार अल्पकाल के लिए—इस कालावधि-भेद के आधार पर प्रथम तीन शिक्षाव्रतों को तीन गुणव्रत के रूप में स्थापित कर दिया गया।

पच्वक्खाणि-अपच्वक्खाणि-पदं

३६. जीवा णं भन्ते! किं मूलगुणपच्वक्खाणी?
उत्तरगुणपच्वक्खाणी? अपच्वक्खाणी?
गोयमा! जीवा मूलगुणपच्वक्खाणी वि, उत्तर-
गुणपच्वक्खाणी वि, अपच्वक्खाणी वि ॥

३७. नेरइया णं भन्ते! किं मूलगुणपच्वक्खाणी?
पुच्छ ।
गोयमा! नेरइया नो मूलगुणपच्वक्खाणी, नो
उत्तरगुणपच्वक्खाणी, अपच्वक्खाणी ॥

३८. एवं जाव चउरिंदिया ॥

३९. पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा
जीवा, वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया जहा
नेरइया ॥

४०. एएसि णं भन्ते। जीवाणं मूलगुणपच्व-
क्खाणीणं, उत्तरगुणपच्वक्खाणीणं, अपच्व-
क्खाणीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा?
बहुया वा? तुल्ला वा? विसेसाहिया वा?
गोयमा ! सव्वथोवा जीवा मूलगुणपच्व-
क्खाणी, उत्तरगुणपच्वक्खाणी असंख्येय-
गुणा, अपच्वक्खाणी अणंतगुणा ॥

प्रत्याख्यानि-अप्रत्याख्यानि-पदम्

जीवाः भदन्त! किं मूलगुणप्रत्याख्यानिनः?
उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः? अप्रत्याख्यानिनः?
गौतम! जीवाः मूलगुणप्रत्याख्यानिनः अपि,
उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः अपि, अप्रत्याख्या-
निनः अपि।

नैरयिकाः भदन्त। किं मूलगुणप्रत्याख्यानिनः?
पृच्छ।
गौतम! नैरयिकाः नो मूलगुणप्रत्याख्यानिनः,
नो उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः, अप्रत्याख्यानिनः।

एवं यावच् चतुरिन्द्रियाः।

पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः मनुष्याश्च यथा
जीवाः, वानमन्तर-ज्यौतिष्क-वैमानिकाः यथा
नैरयिकाः।

एतेषां भदन्त। जीवानां मूलगुणप्रत्याख्यानि-
नाम्, उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनाम्, अप्रत्याख्या-
निनां च कतरे कतरेभ्यः अल्पाः वा? बहुकाः
वा? तुल्याः वा? विशेषाधिकाः वा?
गौतम! सर्वस्तोकाः जीवाः मूलगुणप्रत्या-
ख्यानिनः, उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः असंख्येय-
गुणाः, अप्रत्याख्यानिनः अनन्तगुणाः।

प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी-पद

३६. 'भन्ते! जीव कया मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं? उत्तरगुण-
प्रत्याख्यानी हैं? अप्रत्याख्यानी हैं?
गौतम! जीव मूलगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, उत्तरगुण-
प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं।

३७. भन्ते! नैरयिक कया मूलगुणप्रत्याख्यानी है? पृच्छ।
गौतम! नैरयिक मूलगुणप्रत्याख्यानी नहीं हैं, उत्तर-
गुणप्रत्याख्यानी नहीं हैं, अप्रत्याख्यानी है।

३८. चतुरिन्द्रिय जीवों तक इसी प्रकार वक्तव्य है।

३९. पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक और मनुष्य जीव की भांति
वक्तव्य है। वानमन्तर, ज्यौतिष्क और वैमानिक देव
नैरयिक की भांति वक्तव्य है।

४०. भन्ते! इन मूलगुणप्रत्याख्यानी, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी
और अप्रत्याख्यानी जीवों में कौन किनसे अल्प,
अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं?

गौतम ! मूलगुणप्रत्याख्यानी जीव सबसे अल्प हैं,
उत्तरगुणप्रत्याख्यानी जीव उनसे असंख्येयगुना अधिक
हैं, अप्रत्याख्यानी जीव उनसे अनन्तगुना अधिक हैं।

१. त. सू. भा. वृ. ७/१६—तत्र गुणव्रतानि त्रीणि—दिग्भोगपरिभोगपरिमाणानर्थदण्ड-
विरतिसंज्ञान्यणुव्रतानां भावनाभूतानि। यथाणुव्रतानि तथा गुणव्रतान्यापि सकृदगृहीतानि
यावज्जीवं भावनीयानि। शिक्षापदव्रतानि—सामायिकदेशावकाशिकधीपवासातिथि-
संविभागख्यानि चत्वारि।

२. (क) सर्वार्थसिद्धि ७/२१—दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिरिति एतानि त्रीणि
गुणव्रतानि।

(ख) भगवती आराधना, २०८१—जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं। देसा-
वगासियं पि य गुणव्वयाईं भवे ताईं।

३. देखें, ऊपर पाद-टिप्पण नं. १।

४. महापुराण, १०/१६५—

दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरतिः स्यादणुव्रतम्।

भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद् गुणव्रतम् ॥

५. चारित्रपाहुड, गा. २६

सामाद्यं च पदम्, विदियं च तहं पोसहं भणियं।

तइयं च अतिहिपुञ्जं, चउत्थं सल्लेहणा अते ॥

६. वसुनन्दी श्रावकाचार, गा. २१७, २१८, २१०।

७. आव. चू. भाग २, पृ. ३०७—एमेवेसो दुवात्तसविहो गिहत्थधम्मो। एत्थ पंच अणुव्वया
तिण्णि गुणव्वया, एएसिं दोण्हवि थिरीकरणि चत्तारि सिक्खावयाणि इत्तिरियाणि, तेसाणि
अद्दुवि आवकहियाणि णायव्व्याणि।

४१. एएसि णं भंते! पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छ ।

गोयमा! सव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्खजोणिया मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा ॥

एतेषां भदन्त ! पंचेन्द्रितिर्यग्योनिकानां पृच्छ ।

गौतम! सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रितिर्यग्योनिकाः मूलगुणप्रत्याख्यानिनः उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः असंख्येयगुणाः, अप्रत्याख्यानिनः असंख्येयगुणाः ।

४१. भन्ते ! इन पंचेन्द्रितिर्यग्योनिक जीवों में पृच्छ ।

गौतम! पञ्चेन्द्रितिर्यग्योनिक जीवों में सबसे अल्प मूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येयगुणा अधिक हैं, अप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येयगुणा अधिक हैं ।

४२. एएसि णं भंते! मणुस्साणं मूलगुणपच्चक्खाणीणं पुच्छ ।

गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सा मूलगुणपच्चक्खाणी, उत्तरगुणपच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा ॥

एतेषां भदन्त! मनुष्याणां मूलगुणप्रत्याख्यानिनां पृच्छ ।

गौतम! सर्वस्तोकाः मनुष्याः मूलगुणप्रत्याख्यानिनः, उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः संख्येयगुणाः, अप्रत्याख्यानिनः असंख्येयगुणाः ।

४२. भन्ते! इन मूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्यों में पृच्छ ।

गौतम! मूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य सबसे अल्प हैं, उत्तरगुणप्रत्याख्यानी उनसे संख्येयगुणा अधिक हैं, अप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येयगुणा अधिक हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ३६-४२

मोहनीय कर्म की अद्वाइस प्रकृतियों में चार प्रकृतियां ऐसी हैं, जिनका तीव्र विपाक होने पर प्रत्याख्यान का परिणाम उत्पन्न नहीं होता; उनकी संज्ञा है—अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क। कुछ मनुष्य और कुछ पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च अपने प्रशस्त अध्यवसायों के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण के विपाक को मंद कर देते हैं, इसलिए उनमें मूलगुणप्रत्याख्यान अथवा उत्तरगुणप्रत्याख्यान के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। नैरयिक जीव बहुत आर्त होते हैं। वे निरन्तर दुःख से पीडित रहते हैं; देव बहुत सात वेदनीय का अनुभव करते हैं; वे सुख में अधिक लीन होते हैं; इसलिए उन दोनों में अप्रत्याख्यानावरण के विपाक को मंद करने का पुरुषार्थ प्रकट नहीं होता। शेष सब जीव अमनस्क होने के कारण वैसे पुरुषार्थ का संकल्प ही नहीं करते, इसलिए वे अप्रत्याख्यानी होते हैं।

अल्प-बहुत्व

अभयदेवसूरि ने लिखा है—सर्वविरत मुनियों में जो उत्तरगुण वाले हैं वे निश्चित ही मूलगुण वाले हैं। मूलगुण वालों में उत्तरगुण वाले होते भी हैं और नहीं भी होते। यहां वे मूलगुण वाले विवक्षित हैं, जो उत्तरगुण वाले नहीं हैं। अधिक मुनि उत्तरगुण-युक्त होते हैं, इसलिए केवल मूलगुण वालों की अपेक्षा उत्तरगुण वाले संख्यातगुणा अधिक हैं।

देशविरत श्रावकों में मूलगुण वालों से भिन्न उत्तरगुण वाले अधिक मिलते हैं। उन देशविरत मूलगुण वालों की अपेक्षा केवल उत्तरगुण वाले असंख्यातगुणा अधिक हैं।'

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज मनुष्य संख्येय ही होते हैं। सम्मूर्च्छिम मनुष्य असंख्येय होते हैं। उनकी अपेक्षा से ही अप्रत्याख्यानी मनुष्य को असंख्येयगुणा अधिक कहा गया है।

४३. जीवा णं भंते ! किं सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी ? देसमूलगुणपच्चक्खाणी ? अपच्चक्खाणी ?

गोयमा! जीवा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी वि, देसमूलगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी वि ॥

जीवाः भदन्त ! किं सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानिनः ? देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः ? अप्रत्याख्यानिनः ?

गौतम! जीवाः सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानिनः अपि, देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः अपि, अप्रत्याख्यानिनः अपि ।

४३. 'भन्ते ! जीव क्या सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं? देशमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं? अप्रत्याख्यानी हैं?

गौतम ! जीव सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं ।

४४. नेरइयाणं पुच्छ ।

गोयमा ! नेरइया नो सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी, नो देसमूलगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी ॥

नैरयिकाणां पृच्छ ।

गौतम! नैरयिकाः नो सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानिनः, नो देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः, अप्रत्याख्यानिनः ।

४४. नैरयिकों की पृच्छ ।

गौतम! नैरयिक सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी नहीं हैं, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी नहीं हैं, अप्रत्याख्यानी हैं ।

४५. एवं जाव चउरिंदिया ॥

एवं यावच् चतुरिन्द्रियाः ।

४५. चतुरिन्द्रिय जीवों तक इसी प्रकार वक्तव्य है ।

१. भ. वृ. ७/४०—इह च सर्वविरतेषु ये उत्तरगुणवन्तस्ते ऽवश्वं मूलगुणवन्तः, मूलगुणवन्तस्तु स्यादुत्तरगुणवन्तः स्यात्तद्विकलाः, य एव च तद्विकलास्त एवेह मूलगुणवन्तो ग्राह्याः, ते चेतरेभ्यः स्तोका एव, बहुतरयतीनां दशविधप्रत्याख्यानयुक्तत्वात्, तेऽपि च मूलगुणेभ्यः सङ्घ्यातगुणा

एव नासङ्घ्यातगुणाः, सर्वयतीनामपि सङ्घ्यातत्वात्, देशविरतेषु पुनर्मूलगुणवद्भ्यो भिन्ना अप्युत्तरगुणिनो लभ्यन्ते, ते च मधुमांसादिविचित्राभिग्रहवशाद्बहुतरा भवन्तीतिकृत्वा देशविरतोत्तरगुणवतोऽधिकृत्योत्तरगुणवतां मूलगुणवद्भ्योऽसङ्घ्यातगुणत्वं भवति ।

४६. पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पृच्छा।

गोयमा! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया नो सव्व-
मूलगुणपच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी,
अपच्चक्खाणी वि ॥

४७. मणुस्सा णं भंते! किं सव्वमूलगुणपच्च-
क्खाणी? देसमूलगुणपच्चक्खाणी? अपच्च-
क्खाणी ?

गोयमा! मणुस्सा सव्वमूलगुणपच्चक्खाणी वि,
देसमूलगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी
वि ॥

४८. वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया जहा नेरइया॥

४९. एएसि णं भंते! जीवाणं सव्वमूलगुण-
पच्चक्खाणीणं, देसमूलगुणपच्चक्खाणीणं,
अपच्चक्खाणीणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा? बहुया वा? तुल्ला वा ? दिसेसाहिया वा?
गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा सव्वमूलगुणपच्च-
क्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी असंखे-
ज्जगुणा, अपच्चक्खाणी अणंतगुणा ॥

५०. एएसि णं भंते! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं
पृच्छा ।

गोयमा! सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया
देसमूलगुणपच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी अ-
संखेज्जगुणा ॥

५१. एएसि णं भंते! मणुस्साणं सव्वमूलगुण-
पच्चक्खाणीणं पृच्छा ।

गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सा सव्वमूलगुण-
पच्चक्खाणी, देसमूलगुणपच्चक्खाणी संखे-
ज्जगुणा, अपच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा ॥

५२. जीवा णं भंते! किं सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी?
देशोत्तरगुणपच्चक्खाणी? अपच्चक्खाणी?
गोयमा! जीवा सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणी वि,
देशोत्तरगुणपच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी
वि।

पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य एवं चैव।
सेसा अपच्चक्खाणी जाव वेमाणिया ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पृच्छा।

गौतम! पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका: नो सर्व-
मूलगुणप्रत्याख्यानिनः, देशमूलगुणप्रत्याख्या-
निनः, अप्रत्याख्यानिनः अपि।

मनुष्या: भदन्त! किं सर्वमूलगुणप्रत्याख्या-
निनः? देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः ? अप्रत्या-
ख्यानिनः ?

गौतम! मनुष्या: सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानिनः
अपि, देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः अपि, अप्रत्या-
ख्यानिनः अपि।

वानमन्तर-ज्योतिष्णं और वैमानिका: यथा नैर-
यिका:।

एतेषां भदन्त! जीवानां सर्वमूलगुणप्रत्याख्या-
निनां, देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनाम्, अप्रत्या-
ख्यानिनां च कतरे कतरेभ्यः अल्पा: वा?
बहुका: वा? तुल्या: वा? विशेषाधिका: वा?
गौतम! सर्वस्तोका: जीवा: सर्वमूलगुणप्रत्या-
ख्यानिनः, देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः असंख्ये-
यगुणाः, अप्रत्याख्यानिनः अनन्तगुणाः।

एतेषां भदन्त! पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां
पृच्छा।

गौतम! सर्वस्तोका: पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका:
देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः, अप्रत्याख्यानिनः,
असंख्येयगुणाः।

एतेषां भदन्त! मनुष्याणां सर्वमूलगुणप्रत्या-
ख्यानिनां पृच्छा।

गौतम! सर्वस्तोका: मनुष्या: सर्वमूलगुण-
प्रत्याख्यानिनः, देशमूलगुणप्रत्याख्यानिनः
संख्येयगुणाः, अप्रत्याख्यानिनः असंख्येय-
गुणाः।

जीवा: भदन्त! किं सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः?
देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः? अप्रत्याख्यानिनः?
गौतम! जीवा: सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः
अपि, देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनः अपि, अ-
प्रत्याख्यानिनः अपि।

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका: मनुष्याश्च एवं चैव।
शेषा: अप्रत्याख्यानिनः यावद् वैमानिका:।

४६. पंचेन्द्रिय-तिर्यग्योनिक जीवों की पृच्छा।

गौतम! पंचेन्द्रिय-तिर्यग्योनिक जीव सर्वमूलगुण-
प्रत्याख्यानी नहीं है, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं, अ-
प्रत्याख्यानी भी हैं।

४७. भन्ते! मनुष्य क्या सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं?
देशमूलगुणप्रत्याख्यानी हैं? अप्रत्याख्यानी हैं?

गौतम! मनुष्य सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान भी हैं, देशमूलगुण-
प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं।

४८. वानमन्तर, ज्योतिष्ण और वैमानिक देव नैरयिक
जीवों की भांति वक्तव्य हैं।

४९. भन्ते! इन सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी, देशमूलगुणप्रत्या-
ख्यानी और अप्रत्याख्यानी जीवों में कौन किनसे अल्प,
अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

गौतम! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी जीव सबसे अल्प हैं,
देशमूलगुणप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येयगुणा अधिक हैं,
अप्रत्याख्यानी उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं।

५०. भन्ते! इन पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक जीवों में पृच्छा ।

गौतम! देशमूलगुणप्रत्याख्यानी पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक
जीव सबसे अल्प हैं, अप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येय-
गुणा अधिक है।

५१. भन्ते! इन सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्यों की पृच्छा।

गौतम! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य सबसे अल्प
हैं, देशमूलगुणप्रत्याख्यानी मनुष्य उनसे संख्येयगुणा
अधिक है, अप्रत्याख्यानी मनुष्य उनसे असंख्येयगुणा
अधिक हैं।

५२. भन्ते! जीव क्या सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं ? देशो-
त्तरगुणप्रत्याख्यानी हैं, अप्रत्याख्यानी हैं ?

गौतम! जीव सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानी भी हैं, देशोत्तर-
गुण प्रत्याख्यानी भी है, अप्रत्याख्यानी भी हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यग्योनिक जीव और मनुष्य इसी प्रकार
वक्तव्य हैं। वैमानिक देवों तक शेष सभी जीव अ-
प्रत्याख्यानी हैं।

५३. एसि णं भंते! जीवाणं सव्वुत्तरगुण-
पच्चक्खाणीणं अप्पाबहुगाणि तिण्णि वि जहा
पढमे दंडए जाव मणुस्साणं ॥

एतेषां भदन्त! जीवानां सर्वोत्तरगुणप्रत्या-
ख्यानिनाम् अल्पबहुकानि त्रीणि अपि, यथा
प्रथमे दण्डके यावन् मनुष्याणाम् ।

५३. भन्ते! इन सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानी, देशोत्तरगुण-
प्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी जीवों में कौन किनसे
अल्प, अधिक, तुल्य विशेषाधिक है ? प्रथम दण्डक
की भांति तीनों हैं । (सू० ४०-४२) यावत् मनुष्यों तक
वक्तव्य है ।

भाष्य

१. सूत्र ४३-५३

सर्वमूलगुण का प्रत्याख्यान केवल मनुष्य के होता है, तिर्यञ्च के नहीं होता। इस अपेक्षा से पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च को देशमूलगुणप्रत्याख्यानी कहा है।

५४. जीवा णं भंते ! किं संजया ? असंजया ?
संजयासंजया ?
गोयमा! जीवा संजया वि, असंजया वि,
संजयासंजया वि । एवं जहेव पण्णवणाए तहेव
भाणियव्वं जाव वेमाणिया। अप्पाबहुगं तहेव
तिण्ह वि भाणियव्वं ॥

जीवाः भदन्त ! किं संयताः ? असंयताः ?
संयतासंयताः ?
गौतम! जीवाः संयताः अपि, असंयताः अपि,
संयतासंयताः अपि। एवं यथैव प्रज्ञापनायां
तथैव भणितव्यं यावद् वैमानिकः। अल्प-
बहुकं तथैव त्रयाणामपि भणितव्यम् ।

५४. भन्ते! जीव क्या संयत हैं ? असंयत हैं ? संयतासंयत
हैं ?
गौतम! जीव संयत भी हैं, असंयत भी हैं, संयतासंयत
भी हैं। इस प्रकार वैमानिक जीवों तक पण्णवणा की
भांति वक्तव्य है। तीनों का अल्प-बहुत्व भी प्रथम दण्डक
(सूत्र ४०-४२) की भांति वक्तव्य है।

५५. जीवा णं भंते! किं पच्चक्खाणी ? अपच्च-
क्खाणी ? पच्चक्खाणापच्चक्खाणी?
गोयमा! जीवा पच्चक्खाणी वि, अपच्चक्खाणी
वि, पच्चक्खाणापच्चक्खाणी वि ॥

जीवाः भदन्त! किं प्रत्याख्यानिनः ? अप्रत्या-
ख्यानिनः ? प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानिनः ?
गौतम! जीवाः प्रत्याख्यानिनः अपि, अप्रत्या-
ख्यानिनः अपि, प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानिनः
अपि ।

५५. भन्ते! जीव क्या प्रत्याख्यानी हैं ? अप्रत्याख्यानी हैं ?
प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी हैं ?
गौतम! जीव प्रत्याख्यानी भी हैं, अप्रत्याख्यानी भी हैं,
प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी भी हैं।

५६. एवं मणुस्साण वि। पंचिंदियतिरिक्ख-
जोणिया आदिल्लविरहिया। सेसा सव्वे अप-
च्चक्खाणी जाव वेमाणिया ॥

एवं मनुष्याणामपि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः
आदिमविरहिताः। शेषाः सर्वे अप्रत्याख्यानिनः
यावद् वैमानिकाः ।

५६. इसी प्रकार मनुष्यों की वक्तव्यता। पंचेन्द्रिय तिर्यग्-
योनिक जीव प्रत्याख्यानी नहीं हैं। वैमानिक देवों तक
शेष सभी जीव अप्रत्याख्यानी हैं।

५७. एसि णं भंते! जीवाणं पच्चक्खाणीणं
अपच्चक्खाणीणं पच्चक्खाणापच्चक्खाणीणं
य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ? बहुया वा ?
तुल्ला वा ? विसेसाहिया वा ?
गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा पच्चक्खाणी,
पच्चक्खाणापच्चक्खाणी असंखेज्जगुणा,
अपच्चक्खाणी अणंतगुणा।
पंचिंदियातिरिक्खजोणिया सव्वत्थोवा पच्च-
क्खाणापच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी अ-
संखेज्जगुणा।
मणुस्सा सव्वत्थोवा पच्चक्खाणी, पच्च-
क्खाणापच्चक्खाणी संखेज्जगुणा, अपच्च-
क्खाणी असंखेज्जगुणा ॥

एतेषां भदन्त! जीवानां प्रत्याख्यानिनाम्
अप्रत्याख्यानिनां प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानिनां च
कतरे कतरेभ्यः अल्पाः वा? बहुकाः वा ?
तुल्याः वा ? विशेषाधिकाः वा ?
गौतम! सर्वस्तोकाः जीवाः प्रत्याख्यानिनः,
प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानिनः असंख्येयगुणाः,
अप्रत्याख्यानिनः अनन्तगुणाः।
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः सर्वस्तोकाः प्रत्या-
ख्यानाप्रत्याख्यानिनः, अप्रत्याख्यानिनः
असंख्येयगुणाः ।
मनुष्याः सर्वस्तोकाः प्रत्याख्यानिनः, प्रत्या-
ख्यानाप्रत्याख्यानिनः संख्येयगुणाः, अप्रत्या-
ख्यानिनः असंख्येयगुणाः।

५७. भन्ते! इन प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्या-
ख्यानी-अप्रत्याख्यानी जीवों में कौन किससे अल्प,
अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?
गौतम! प्रत्याख्यानी जीव सबसे अल्प हैं, प्रत्याख्यानी-
अप्रत्याख्यानी जीव उनसे असंख्येयगुणा अधिक हैं,
अप्रत्याख्यानी जीव उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं।
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक जीवों में सबसे अल्प प्रत्याख्या-
नी-अप्रत्याख्यानी हैं, अप्रत्याख्यानी उनसे असंख्येय-
गुणा अधिक हैं।
मनुष्यों में प्रत्याख्यानी सब से अल्प हैं, प्रत्याख्यानी-
अप्रत्याख्यानी उनसे संख्येयगुणा अधिक है, अप्रत्या-
ख्यानी उनसे असंख्येयगुणा अधिक है।

भाष्य

१. सूत्र ५४-५७

संयम और प्रत्याख्यान के आधार पर सब जीव तीन श्रेणियों में वर्गीकृत होते हैं—

१. संयत २. असंयत ३. संयतासंयत

१. प्रत्याख्यानी २. अप्रत्याख्यानी ३. प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानी

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह अथवा अठारह पाप—इन सावध प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करने वाला प्रत्याख्यानी कहलाता है।^१

संयम का अर्थ है—सावध प्रवृत्ति से विरत होना। मन, वाणी और शरीर—इन तीनों का संयम करने वाला संयत कहलाता है। जिस व्यक्ति में संयम के परिणाम उत्पन्न होते हैं वह सावध प्रवृत्ति का प्रत्याख्यान करता है। संयम का परिणाम पूर्व क्रिया है और प्रत्याख्यान उत्तरक्रिया है। प्रत्याख्यान के द्वारा संयम का परिणाम पुष्ट होता है। अतीत के पाप की गह्रा करना संयम है। अनागत में होने वाले सावध आचरणों का त्याग करना भी संयम है। संयम वर्तमान क्षण में होता है। अतीत के सावध आचरणों की गह्रा, अनागत के सावध आचरणों का प्रत्याख्यान—ये दोनों संयम के सेतु हैं।

शब्द-विमर्श

संयत—जो सावध आचरणों का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है।

असंयत—जो सावध आचरणों का प्रत्याख्यान नहीं करता।

संयतासंयत—जो सावध आचरणों का अंशतः प्रत्याख्यान करता है।

— अल्पबहुत्व—

१. जीव—	
संयत	सबसे अल्प
संयतासंयत	असंख्येयगुणा अधिक
असंयत	अनंतगुणा अधिक
२. पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च—	
संयतासंयत	सबसे अल्प
असंयत	असंख्येयगुणा अधिक
३. मनुष्य—	
संयत	सबसे अल्प
संयतासंयत	संख्येयगुणा अधिक
असंयत	असंख्येय गुणा अधिक

प्रत्याख्यानी-त्रिक का अल्पबहुत्व संयत-त्रिक की भांति वक्तव्य है।

सासय-असासय-पदं

५८. जीवा णं भन्ते ! किं सासया ? असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया ॥

५९. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ—जीवा सिय सासया ? सिय असासया ?
गोयमा ! दव्वट्टयाए सासया, भावट्टयाए असासया । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं बुच्चइ—जीवा सिय सासया, सिय असासया ॥

६०. नेरइया णं भन्ते ! किं सासया ? असासया ?
एवं जहा जीवा तहा नेरइया वि । एवं जाव वेमाणिया सिय सासया, सिय असासया ॥

शाश्वत-अशाश्वत-पदम्

जीवाः भदन्त् ! किं शाश्वताः अशाश्वताः ?
गौतम ! जीवाः स्यात् शाश्वताः, स्याद् अशाश्वताः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जीवाः स्यात् शाश्वताः ? स्याद् अशाश्वताः ?
गौतम ! द्व्यार्थतया शाश्वताः, भावार्थतया अशाश्वताः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—जीवाः स्यात् शाश्वताः, स्याद् अशाश्वताः ।

नैरयिकाः भदन्त ! किं शाश्वताः ? अशाश्वताः ?
एवं यथा जीवाः तथा नैरयिकाः अपि । एवं यावद् वैमानिकाः स्यात् शाश्वताः, स्याद् अशाश्वताः ।

शाश्वत-अशाश्वत-पद

५८. ' भन्ते ! जीव क्वा शाश्वत हैं ? अशाश्वत हैं ?
गौतम ! जीव स्यात् शाश्वत हैं, स्यात् अशाश्वत हैं ।

५९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव स्यात् शाश्वत हैं, स्यात् अशाश्वत हैं ?
गौतम ! द्व्यार्थता (द्रव्यराशि) की अपेक्षा जीव शाश्वत हैं, भावार्थता (पर्याय) की अपेक्षा जीव अशाश्वत हैं ।
गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव स्यात् शाश्वत हैं, स्यात् अशाश्वत हैं ।

६०. भन्ते ! नैरयिक क्वा शाश्वत है ? अशाश्वत हैं ?

जिस प्रकार जीव की वक्तव्यता, उसी प्रकार नैरयिकों की वक्तव्यता । इस प्रकार वैमानिक देवों तक सभी जीव स्यात् शाश्वत हैं, स्यात् अशाश्वत हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ५८-६०

भारतीय तत्त्वचिंतन में शाश्वत और अशाश्वत का प्रश्न निरन्तर चर्चित रहा है। वेदाना दर्शन केवल शाश्वतवाद का निरूपक है, तो बौद्ध

दर्शन विशुद्ध रूप से उच्छेदवाद का प्रवक्ता है। सांख्य दर्शन में शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद दोनों की प्रतिष्ठा है। उसके अनुसार पुरुष शाश्वत है, कूटस्थ नित्य है। प्रकृति की विकृति अशाश्वत है। जैन दर्शन ने शाश्वतवाद और

अशाश्वतवाद दोनों को मान्य किया। उसके अनुसार केवल शाश्वत अथवा केवल अशाश्वत जैसा कोई द्रव्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। शाश्वत और अशाश्वत का सिद्धान्त अनेकान्त का मुख्य आधार है।

द्रव्य की संरचना के दो पक्ष हैं—१. प्रदेश-राशि २. भाव अथवा पर्याय। प्रत्येक द्रव्य की द्रव्यराशि—प्रदेश-राशि निश्चित है। उसका एक प्रदेश अथवा परमाणु भी न्यूनाधिक नहीं होता। वह अतीत में जितनी थी, वर्तमान में उतनी ही है और भविष्य में उतनी ही रहेगी। इस प्रदेश-राशि की अपेक्षा द्रव्य शाश्वत होता है। जीव एक द्रव्य है, इसलिए वह भी शाश्वत है। प्रत्येक द्रव्य में परिणमन अथवा परिवर्तन होता रहता है।^१

स्वाभाविक परिवर्तन सभी द्रव्यों में होता है। वैभाविक परिवर्तन देहधारी जीव और पुद्गल में होता है। इस भाव अथवा पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य अशाश्वत है। द्रव्य शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं, किंतु दोनों का

आधार एक नहीं है। शाश्वत का आधार है प्रदेश-राशि और अशाश्वत का आधार है भाव अथवा पर्याय।

जीव की भाति परमाणु भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। द्रव्य की अपेक्षा परमाणु शाश्वत है। परमाणु का अस्तित्व त्रैकालिक है। इसका द्रव्यत्व कभी विनष्ट नहीं होता। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदलते रहते हैं, इसलिए पर्याय की अपेक्षा वह अशाश्वत है।^२

शाश्वत और अशाश्वत की विवक्षा प्रवाह अथवा निरन्तरता की अपेक्षा से भी की गई है। नैरयिक अव्युच्छित्ति नय की अपेक्षा शाश्वत है और व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा अशाश्वत है। यह द्रव्य विषयक शाश्वत-अशाश्वतवाद नहीं है। नरक में नैरयिक निरन्तर विद्यमान रहते हैं। इस अपेक्षा से नैरयिक शाश्वत हैं। प्रत्येक नैरयिक अपनी आयु की अवधि पूर्ण होने पर मनुष्य अथवा तिर्यञ्च बन जाता है। इस व्युच्छित्ति-नय की अपेक्षा वह अशाश्वत है।^३

६१. सेवं भंते! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त! तदेवं भदन्त ! इति।

६१. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते! वह ऐसा ही है।

१. भ. १/४४० ।

२. वही, १४/४६,५०।

३. वही, ७/ ६३,६४ ।

तइओ उद्देशो : तीसरा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

वणस्सइ-आहार-पदं

६२. वणस्सइक्काइया णं भन्ते! कं कालं सव्वप्पा-
हारगा वा, सव्वमहाहारगा वा भवन्ति?

गौतम ! पाउस-वरिसारत्तेसु णं एत्थ णं
वणस्सइक्काइया सव्वमहाहारगा भवन्ति, तदा-
णंतरं च णं सरदे, तदाणंतरं च णं हेमन्ते,
तदाणंतरं च णं वसन्ते, तदाणंतरं च णं गिम्हे।
गिम्हासु णं वणस्सइक्काइया सव्वप्पाहारगा
भवन्ति ॥

वनस्पति-आहार-पदम्

वनस्पतिकायिकाः भदन्त! कं कालं सर्वात्पा-
हारकाः वा, सर्वमहाहारकाः वा भवन्ति ?

गौतम ! प्रावृट्-वर्षारात्रेषु अत्र वनस्पति-
कायिकाः सर्वमहाहारकाः भवन्ति, तदनन्तरं
च शरदि, तदनन्तरं च हेमन्ते, तदनन्तरं च
वसन्ते, तदनन्तरं च ग्रीष्मे। ग्रीष्मेषु वनस्प-
तिकायिकाः सर्वात्पाहारकाः भवन्ति।

वनस्पति-आहार-पद

६२. 'भन्ते ! वनस्पतिकायिक जीव किस समय सबसे
अल्प आहार करते हैं और किस समय सबसे अधिक
आहार करते हैं ?

गौतम ! प्रावृट् और वर्षाऋतु में वनस्पतिकायिक जीव
सबसे अधिक आहार करते हैं, तदनन्तर शरद् ऋतु
में उससे अल्प, हेमन्त ऋतु में उससे अल्प, वसन्त
ऋतु में उससे अल्प और ग्रीष्म ऋतु में उससे अल्प
आहार करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वनस्पतिकायिक जीव
सबसे अल्प आहार करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६२

ऋतुएं छह होती हैं। ठाणं में उनका क्रम इस प्रकार है—प्रावृट्,
वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म।^१ सूरपण्णत्ती में भी छह ऋतुओं का यही
क्रम उपलब्ध है।^२ जंबुद्वीवपण्णत्ती के अनुसार ऋतु का प्रारम्भ प्रावृट् ऋतु से
होता है।^३ 'शाङ्गधर संहिता' के अनुसार एक वर्ष में सूर्य का मेष, वृष आदि
बारह राशियों पर संक्रमण होने के कारण ऋतुएं छह होती हैं।^४ देखें तालिका—

राशियों पर सूर्य का संक्रमण	ऋतु	मास
१. मेष और वृष राशि पर	ग्रीष्म	वैशाख और ज्येष्ठ
२. मिथुन और कर्क राशि पर	प्रावृट्	आषाढ और श्रावण
३. सिंह और कन्या राशि पर	वर्षा	भाद्रपद और आश्विन
४. तुला और वृश्चिक राशि पर	शरद्	कार्तिक और मार्गशीष
५. धनु और मकर राशि पर	हेमन्त	पौष और माघ
६. कुम्भ और मीन राशि पर	वसन्त	फाल्गुन और चैत्र

१. ठाणं, ६/६५/ (वर्षारात्र का अर्थ वर्षा ऋतु है)

२. सू. १२/१४।

३. जंबु. ७/१२६—'पाउसाइया उऊ।

४. शाङ्गधर संहिता, पूर्व खण्ड, भेषज्याख्यानाक प्रकरण, श्लोक ३५.३६—

ऋतुपदकं तदाख्यातं रवेः राशिषु संक्रमात् ।

ग्रीष्मो मेषवृषो प्रोक्तौ प्रावृष्मिधुनकर्कयोः ॥

सिंहकन्ये स्मृता वर्षातुलावृश्चिकयोः शरद् ।

धनुर्ग्रीहो च हेमन्तो वसन्तः कुम्भमीनयोः ॥

५. अ. वृ. ७/६२—प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षारात्रोऽश्वयुजादिः ।

६. जंबु. ७/१२६—सावणाइया मासा ।

७. आ. चू. १५/८ ।

८. पञ्जो. सू. १६६ ।

९. सू. १०/६३-७४ ।

६३. जइ णं भंते ! गिम्हासु वणस्सइकाइया सव्व-
प्पाहारया भवंति, कम्हा णं भंते ! गिम्हासु
बहवे वणस्सइकाइया पत्तिया, पुप्फिया,
फलिया, हरियगरेरिज्जमाणा, सिरीए अतीव-
अतीव उवसोभेमाणा-उवसोभेमाणा चिद्धंति?

गोयमा ! गिम्हासु णं बहवे उप्पिणजोणिया
जीवा य, पोग्गला य वणस्सइकाइयत्ताए वक्क-
मंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति। एवं
खलु गोयमा! गिम्हासु बहवे वणस्सइकाइया
पत्तिया, पुप्फिया, फलिया, हरियगरेरिज्ज-
माणा, सिरीए अतीव-अतीव उवसोभेमाणा-
उवसोभेमाणा चिद्धंति ॥

यदि भदन्त! ग्रीष्मेषु वनस्पतिकायिकाः सर्वा-
ल्पाहारकाः भवन्ति, कस्मात् भगवन्! ग्रीष्मेषु
बहवः वनस्पतिकायिकाः पत्रिताः, पुष्पिताः,
फलिताः, हरितकरेरीज्यमाणाः, श्रिया अतीव-
अतीव उपशोभमानाः-उपशोभमानाः तिष्ठ-
न्ति?

गौतम! ग्रीष्मेषु बहवः उष्णयोनिकाः जीवाश्च
पुद्गलाश्च वनस्पतिकायिकतया अवक्रामन्ति,
व्युत्क्रामन्ति, च्यवन्ति, उपपद्यन्ते । एवं खलु
गौतम! ग्रीष्मेषु बहवः वनस्पतिकायिकाः
पत्रिताः, पुष्पिताः, फलिताः, हरितकरेरीज्य-
माणाः श्रिया अतीव-अतीव उपशोभमानाः-
उपशोभमानाः तिष्ठन्ति ।

६३. 'भन्ते ! यदि वनस्पतिकायिक जीव ग्रीष्म ऋतु में
सबसे अल्प आहार करते हैं, तो भन्ते ! क्या कारण
है—ग्रीष्म ऋतु में अनेक वनस्पतिकायिक जीव पत्रों
और पुष्पों से आकीर्ण, फलों से लदे हुए, हरितिमा से
दीप्यमान और वनश्री से अतीव-अतीव उपशोभमान-
उपशोभमान होते हैं ?

गौतम! ग्रीष्म ऋतु में अनेक उष्णयोनिक जीव और
पुद्गल वनस्पतिकायिक जीव के रूप में उत्पन्न होते हैं
और विनष्ट होते हैं, च्युत होते हैं और उत्पन्न होते
हैं । गौतम ! इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में अनेक
वनस्पतिकायिक जीव पत्रों और पुष्पों से आकीर्ण, फलों
से लदे हुए, हरितिमा से दीप्यमान और वनश्री से
अतीव-अतीव उपशोभमान-उपशोभमान होते हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ६३

उत्पत्ति की दृष्टि से वनस्पति अनेक प्रकार की होती है। कुछ पौधे
उष्णयोनिक होते हैं, वे ग्रीष्म प्रदेश में जल न मिलने पर भी फलते-फूलते हैं।
इसलिए सबसे अल्प आहार मिलने पर भी उनका फलना-फूलना अस्वाभाविक

नहीं है।

शब्द-विमर्श

ररिज्जमाण—दीप्यमान । रेज धातु का अर्थ 'दीपना' है।

६४. से नूणं भंते ! मूला मूलजीवफुडा, कंदा
कंदजीवफुडा, खंधा खंधजीवफुडा, तथा तथा-
जीवफुडा, साला सालजीवफुडा, पवाला
पवालजीवफुडा, पत्ता पत्तजीवफुडा, पुप्फ
पुप्फजीवफुडा, फला फलजीवफुडा, बीया
बीयजीवफुडा?

हंता गोयमा! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया
बीयजीवफुडा ॥

तन्नूनं भदन्त ! मूलानि मूलजीवस्फुटानि,
कन्दाः, कन्दजीवस्फुटाः, स्कन्धाः रकन्ध-
जीवस्फुटाः, त्वचः त्वज्जीवस्फुटाः सालाः,
सालाजीवस्फुटाः, प्रवालाः प्रवालजीवस्फुटाः,
पत्राणि पत्रजीवस्फुटानि, पुष्पाणि पुष्पजीव-
स्फुटानि, फलानि, फलजीवस्फुटानि, बीजानि
बीजजीवस्फुटानि ?

हन्त गौतम! मूलानि मूलजीवस्फुटानि यावत्
बीजानि बीजजीवस्फुटानि ।

६४. 'भन्ते ! क्या मूल मूल के जीव से स्पृष्ट, कंद कंद के
जीव से स्पृष्ट, स्कंध (तना) स्कन्ध के जीव से स्पृष्ट,
त्वचा (छाल) त्वचा के जीव से स्पृष्ट, शाखा शाखा के
जीव से स्पृष्ट, प्रवाल (कोपल) प्रवाल के जीव से
स्पृष्ट, पत्र पत्र के जीव से स्पृष्ट, पुष्प पुष्प के जीव से
स्पृष्ट, फल फल के जीव से स्पृष्ट और बीज बीज के
जीव से स्पृष्ट है ?

हां, गौतम ! मूल मूल के जीव स्पृष्ट यावत् बीज बीज
के जीव स्पृष्ट है।

६५. जइ णं भंते ! मूला मूलजीवफुडा जाव बीया
बीयजीवफुडा, कम्हा णं भंते ! वणस्सइकाइया
आहारंति ? कम्हा परिणामेति ?

गोयमा! मूला मूलजीवफुडा पुढवीजीवपडि-
बद्धा, तम्हा आहारंति, तम्हा परिणामेति।
कंदा कंदजीवफुडा मूलजीवपडिबद्धा, तम्हा
आहारंति, तम्हा परिणामेति। एवं जाव बीया
बीयजीवफुडा फलजीवपडिबद्धा तम्हा आ-
हारंति तम्हा परिणामेति ॥

यदि भदन्त ! मूलानि मूलजीवस्फुटानि यावत्
बीजानि बीजजीवस्फुटानि, कस्माद् भदन्त !
वनस्पतिकायिकाः आहरन्ति ? कस्मात्
परिणमयन्ति ?

गौतम! मूलानि मूलजीवस्फुटानि पृथ्वीजीव-
प्रतिबद्धानि, तस्माद् आहरन्ति तस्मात् परि-
णमयन्ति। कन्दाः कन्दजीवस्फुटाः मूलजीव-
प्रतिबद्धाः, तस्माद् आहरन्ति, तस्मात् परिण-
मयन्ति। एवं यावत् बीजानि बीजजीवस्फुटानि,
फलजीवप्रतिबद्धानि तस्माद् आहरन्ति,
तस्मात् परिणमयन्ति ।

६५. भन्ते! यदि मूल मूल के जीव से स्पृष्ट यावत् बीज
बीज के जीव से स्पृष्ट है तो भन्ते! वनस्पतिकायिक
जीव कैसे आहार करते हैं और कैसे उसे परिणत
करते हैं ?

गौतम! मूल मूल के जीव से स्पृष्ट और पृथ्वी के जीव
से प्रतिबद्ध होते हैं। इस हेतु से वे आहार करते हैं
और उसे परिणत करते हैं। कंद कंद के जीव से स्पृष्ट
और मूल के जीव से प्रतिबद्ध होते हैं। इस हेतु से वे
आहार करते हैं और उसे परिणत करते हैं। इस प्रकार
यावत् बीज बीज के जीव से स्पृष्ट और फल के जीव
से प्रतिबद्ध होते हैं। इस हेतु से वे आहार करते हैं
और उसे परिणत करते हैं।

भाष्य

१. सूत्र ६४, ६५

वृक्ष के दस अंग होते हैं—मूल, कंद, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।

मूल का संबंध भूमि के साथ है, इसलिए वह भूमि से अपना आहार खींच लेता है। किंतु कंद का संबंध सीधा भूमि से नहीं है। वह अपना आहार

कहां से लेता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने जो बताया है, वह सामुदायिक जीवन-प्रणाली का महत्त्वपूर्ण मंत्र है। मूल का जीव जो आहार लेता है, कंद उसमें से अपना आहार ग्रहण कर लेता है। स्कन्ध कंद से, छाल स्कन्ध से, शाखा छाल से, प्रवाल शाखा से, पत्र प्रवाल से, पुष्प पत्र से, फल पुष्प से और बीज फल से अपना आहार ग्रहण करता है। यह पारस्परिक सहयोग की वृत्ति उनके जीवन का मौलिक आधार है।

अणंतकाय-पदं

६६. अहं भन्ते ! आलुए, मूलए, सिंगबेरे, हिरिलि, सिरिलि, सिस्सिरिलि, किट्टिया, छिरिया, छीरविरालिया, कण्हकंदे, वज्जकंदे, सूरणकंदे, खेलूडे, भद्रमोत्या, पिंडहलिदा, लोही, णीहू, थीहू, थिभगा, अस्सकण्णी, सीहकण्णी, सिउंडी, मुसंडी, जेयावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता ?

हंता गोयमा ! आलुए, मूलए जाव अणंतजीवा विविहसत्ता ॥

अनन्तकाय-पदम्

अथ भदन्त ! आलुकं, मूलकं, शृङ्गवेरं, 'हिरिली', 'सिरिली', 'सिस्सिरिली', कृष्टिका (किलिष्टिका), क्षीरिका, क्षीरविडालिका, कृष्णकंदः, वज्रकंदः, सूरणकंदः, केलूटः, भद्रमुस्ता, पिण्डहरिद्रा, लोही, 'णीहू', 'थीहू' स्तबकम्, अश्वकर्णा, सिंहकर्णा, 'सिउंडी', 'मुसंडी', ये चापि अन्ये तथाप्रकाराः सर्वे ते अनन्तजीवाः विविधसत्त्वाः ?

हन्त गौतम ! आलुकं, मूलकं यावद् अनन्तजीवाः विविधसत्त्वाः ।

अनन्तकाय-पद

६६. 'भन्ते ! क्या आलु, मूला, अदरक, हिरिलि, सिरिलि, सिस्सिरिली, वाराही कंद, भूखर्जूर, क्षीरविदारी, कृष्णकंद, वज्रकंद, सूरणकंद, केलूट, भद्रमुस्ता, पिण्डहरिद्रा, रोहीतक, त्रिधारा धूर, थीहू, स्तबक, शाल, अडूसा, कांटा-धूर, काली मूसली इस प्रकार के अन्य वनस्पतिकायिक जीव हैं, वे सब अनन्त जीव वाले हैं ? उनका सत्त्व विविध प्रकार का है ?

हां, गौतम ! आलु, मूला, यावत् अनन्त जीव वाले हैं। उनका सत्त्व विविध प्रकार का है।

भाष्य

१. सूत्र ६६

बादर वनस्पति के दो प्रकार हैं—१. प्रत्येक शरीरवाली, २. साधारण शरीरवाली। जिसके एक शरीर में एक जीव होता है वह वनस्पति 'प्रत्येक शरीर वाली' कहलाती है। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं वह वनस्पति 'साधारण शरीर वाली' कहलाती है। अनन्त जीव वाली वनस्पति का वर्ण भगवई, पणवणा, जीवाजीवाभिगमे और उत्तरज्झयणाणि—इन चार आगमों में मिलता है। देखें तालिका (पृ. २५३ पर)।

भगवती के २३ वें शतक में भी अनेक नामों का उल्लेख है—

२३/१—आलुय-मूलग-सिंगबेर-हलिदा-रुरु-कंडरिय-जारु-छीरबिराली-किट्टी-कुंदु-कण्हकडभु-मधु-पुयलइ-महुसिंगि-निरुहा-सप्पसुगंभा-छिण्ण-रुह-बीयरुह।

२३/२—लोही-णीहू-थीहू-थिभगा-अस्सकण्णी-सीहकण्णी-सीउंडी-मुसंडी।

२३/४—आय-काय-कुहुण-कुंदुरुक-उव्वेहलिया-सप्फा-सज्जा-छत्ता-वंसाणियकुरा ।

२३/६—पाढा-मियवालुंकि-मधुरसा-रायवल्लि-पउमा-मोढरि-दंति-चंडि।

२३/८—मासपण्णी-मुग्गपण्णी-जीवग-सरिसव-करेणुय-काओलि-खीर-काकोलि-भंगि-णहि-किमिरासि-भद्रमुत्थ-णंगलइ-पयुय-किण्हा-पउल-हढ-हरेणुया-लोही।

उत्तरज्झयणाणि के वर्गीकरण में प्याज और लहसुन को अनन्त जीव की कोटि में रखा गया है। भगवई और जीवाजीवाभिगमे के अनन्तजीव-

विषयक वर्गीकरण में इनका उल्लेख नहीं है। पणवणा में इन्हें प्रत्येक शरीर वाले जीवों की कोटि में रखा गया है।^३

इस सूत्र में आया आलुए (आलुकम्) शब्द विमर्शनीय है। इसका वास्तविक अर्थ 'आलुक' या 'आलु' है, जो आलू या potato नहीं है। क्योंकि—

१. आलू या potato नामक पौधा भारतीय नहीं है; इसे भारत में पुर्तगाली लोग लाए थे। मूलतः इसे दक्षिणी अमरीका से यूरोप ले गए थे। इसकी मूल उत्पत्ति चिली (द० अमरीका) है।^३ इस स्थिति में इसका संबंध प्रस्तुत सूत्र के 'आलुए' के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

२. आप्टेकृत संस्कृत-अंग्रेजी कोष के अनुसार 'आलु—an esculent root (not applied to potato etc.)' अर्थात् एक ऐसा खाद्य मूल (जो आलू (potato) का द्योतक नहीं है।

३. निघण्टुआदर्श, पृ० १६४, १६५ में लिखा है—

“३७७ आलू (बटाटा)

नाम—आलू (हिंदी); बटाटा, बटाटा (गु०); potato पोटेटो (अं०); Solanum Tuberosum सोलेनम् ट्यूबरोजम् (ले०)।

“परिचय—वर्णन और गुण—आलू की जन्मभूमि तो दक्षिण अमेरिका है। तो भी संस्कृत में आये हुए 'आलूनि' यह शब्द आलू अर्थात् बटाटा के लिये आया है, ऐसा मानकर कुछ लोग इस शाक को भारत की उपज बताने का जोरदार शब्दों में प्रतिपादन करते हैं। हमारा मत है कि शास्त्र में अनेक प्रकार

१. पण्ण. १/३२।

२. पण्ण. १/४८ गा. ४३।

३. See Encyclopaedia Britannica—Potato.

के 'आलू' का वर्णन उपलब्ध है और वे सब डायोरकोरिया—Dioscoria—वर्ग के अर्थात् रेतालवर्ग के कन्दशाक है। निघण्टुकारों ने अनेक प्रकार के आलूओं का उल्लेख किया है।

“आलू जमीन के अन्दर होते हैं, तो भी वस्तुतः इसको कन्द कहना ठीक नहीं है। मूंगफली जमीन के अन्दर होती है, तो भी हम उसे कन्द की गणना में नहीं मानते। इसी प्रकार आलू भी जमीन में होने पर भी कन्द नहीं है। इसके पौधे में से डंडी बनती है, इस डंडी में से शाखायें निकलती हैं और वे शाखायें जमीन में घुस जाती हैं और फिर कन्द के समान फूलती हैं। अर्थात् आलू तो Stem tuber स्टेमट्यूबर है, Root tuber रूट ट्यूबर नहीं है। कुछ जैन लोग आलू को कन्द मानकर उसका उपयोग नहीं करते, अतः इतना स्पष्टीकरण

उचित प्रतीत हुआ है। खाना न खाना यह उनकी इच्छा का सवाल है। परन्तु आलू कन्दमूल नहीं है।”

शब्द-विमर्श

क्षीरविदारी—सफेद और अधिक दूध वाली विदारी।

कृष्णकन्द—वत्सनामविष।

केलुट—कौटुम्बकन्द।

भद्रमुस्ता—मोथा, नागरमोथा।

पिण्डहरिद्रा—गोल गांठ वाली हरिद्रा।

सीहुण्ड—दुधिया थोहर।

भग. ७/६६	जीवा. १/७३	पण्ण. १/४८ गा. १ से ७		उत्तर. ३६/६६-६६
आलू	आलू	१ शैवाल	२४ जल महुआ	४६ क्षीरकाकोली
मूला	मूली	२ काइ	२५ पोवलइ	४७ भांग
अदरक	अदरक	३ सेवार	२६ गुडमार	४८ नाही कंद
हिरिलि	हिरिलि	४ रोहीतक	२७ तेलिया कंद	४९ माजूफल
सिरिलि	सिरिलि	५ तिधाराथोहर	२८ नाकुली	५० मोथा
सिस्सिरिली	सिस्सिरिली	६ थिहु	२९ गिलोयपद्म	५१ कलिकारी
वाराही कंद	वाराही कंद	७ स्तबककंद	३० शालिषाष्टिक	५२ सनजाति का पौधा
भूखजूर	भूखजूर	८ शाल	३१ पाठा	५३ किण्ह
क्षीर विदारी	क्षीर विदारी	९ अडूसा	३२ बडी इद्रायण	५४ विदारी
कृष्णकंद	कृष्णकंद	१० कांटा थूहर	३३ मुलहठी	५५ जल कुंभी
वज्रकंद	वज्रकंद	११ काली मूसली	३४ करेली	५६ रेणुका
सूरणकंद	सूरणकंद	१२ वन रोहेडा	३५ स्थल कमल	५७ नोनीशाक
केलुट	केलुट	१३ अत्यम्लवर्णी	३६ अतिविषा	५८ रक्त उत्पल कंद
भद्रमुस्ता	भद्रमुस्ता	१४ जारुल	३७ लघुदंती	५९ वज्रकंद
पिण्डहरिद्रा	पिण्डहरिद्रा	१५ घोडवेल	३८ शिवलिंगी	६० सूरणकंद
रोहीतक	रोहीतक	१६ वाराही कंद	३९ दूसरा वाराही कंद	६१ कौटुम्बकंद
त्रिधाराथूहर	त्रिधारा थूहर	१७ हल्दी	४० जंगली उडद	
धीहू	धीहू	१८ अदरक	४१ वनमूंग	
स्तबक		१९ आलू	४२ डोडीशाक	
शाल	शाल	२० मूली	४३ ऋषभक	
अडूसा	अडूसा	२१ शंखपुष्पी	४४ संभालु के बीज	
कांटा थूहर	कांटा थूहर	२२ कटमी	४५ काकोली	
काली मूसली	काली मूसली	२३ कृष्ण पुष्पावली		

अप्पकम्म-महाकम्म-पदं

६७. सिय भंते ! कण्हलेसे नेरइए अप्प-कम्मतराए? नीलेसे नेरइए महाकम्मतराए ?

हंता सिय ॥

६८. से केण्हणं भंते ! एवं वुच्चइ—कण्हलेसे

अल्पकर्म-महाकर्म-पदम्

स्याद् भदन्त ! कृष्णलेश्यः नैरयिकः अल्प-कर्मतरकः? नीललेश्यः नैरयिकः महाकर्म-तरकः ?

हन्त स्यात् ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—कृष्ण-

अल्पकर्म-महाकर्म-पद

६७. भन्ते । स्यात् (कदाचित्) कृष्णलेश्या वाला नैरयिक अल्पतर कर्म वाला और नील लेश्या वाला नैरयिक महत्तर कर्म वाला हो सकता है ?

हां, स्यात् हो सकता है।

६८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—कृष्ण

नेरइए अप्पकम्मतराए? नीललेसे नेरइए महा-
कम्मतराए ?
गोयमा ! ठित्तिं पडुच्च । से तेणट्टेणं गोयमा!
जाव महाकम्मतराए ॥

लेश्यः नैरयिकः अल्पकर्मतरकः? नीललेश्यः
नैरयिकः महाकर्मतरकः ?
गौतम ! स्थितिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम!
यावन् महाकर्मतरकः।

लेश्या वाला नैरयिक अल्पतर कर्म वाला और नीललेश्या
वाला नैरयिक महत्तर कर्म वाला हो सकता है ?
गौतम ! स्थिति की अपेक्षा से। गौतम ! इसलिए यह
कहा जा रहा है यावत् नील लेश्या वाला नैरयिक महत्तर
कर्म वाला हो सकता है।

६६. सिय भंते! नीललेसे नेरइए अप्पकम्मतराए?
काउलेसे नेरइए महाकम्मतराए ?

हंता सिय ॥

स्याद् भदन्त ! नीललेश्यः नैरयिकः अल्पकर्म-
तरकः? कापोतलेश्यः नैरयिकः महाकर्म-
तरकः?
हन्त स्यात् ।

६६. भन्ते ! स्यात् नीललेश्या वाला नैरयिक अल्पतर कर्म
वाला और कापोत लेश्या वाला नैरयिक महत्तर कर्म
वाला हो सकता है ?
हाँ, स्यात् हो सकता है।

७०. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नीललेसे
नेरइए अप्पकम्मतराए ? काउलेसे नेरइए महा-
कम्मतराए ?
गोयमा ! ठित्तिं पडुच्च । से तेणट्टेणं गोयमा !
जाव महाकम्मतराए ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नीललेश्यः
नैरयिकः अल्पकर्मतरकः ? कापोतलेश्यः
नैरयिकः महाकर्मतरकः ?
गौतम ! स्थितिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम!
यावन् महाकर्मतरकः।

७०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— नील-
लेश्या वाला नैरयिक अल्पतर कर्म वाला और कापोत
लेश्या वाला नैरयिक महत्तर कर्म वाला हो सकता है ?
गौतम ! स्थिति की अपेक्षा से। गौतम ! इसलिए यह
कहा जा रहा है यावत् कापोतलेश्या वाला नैरयिक
महत्तर कर्म वाला हो सकता है।

७१. एवं असुरकुमारे वि, नवरं—तेउलेसा अ-
ब्भहिया। एवं जाव वेमाणिया। जस्स जइ
लेस्साओ तस्स तत्तिया भाणियव्वाओ। जोइ-
सियस्स न भण्णइ जाव—

एवंअसुरकुमारेऽपि, नवरं—तेजोलेश्या अभ्य-
धिका। एवं यावद् वैमानिकाः। यस्य यावत्यः
लेश्याः तस्य तावत्यः भणितव्याः। ज्योति-
षिकस्य न भण्यते यावत्—

७१. असुरकुमार की वक्तव्यता भी इसी प्रकार है। विशेष
यह है कि असुरकुमार में तेजोलेश्या वक्तव्य है। इस
प्रकार यावत् वैमानिक की वक्तव्यता। जिसमें जितनी
लेश्याएं हैं, उतनी वक्तव्य हैं। ज्योतिष्क देवों में केवल
तेजोलेश्या होती है, इसलिए वह इस प्रकरण में वक्तव्य
नहीं है। यावत्—

७२. सिय भंते ! पम्हलेस्से वेमाणिए अप्प-
कम्मतराए ? सुक्कलेस्से वेमाणिए महा-
कम्मतराए ?
हंता सिय ॥

स्याद् भदन्त ! पद्मलेश्यः वैमानिकः अल्प-
कर्मतरकः? शुक्ललेश्यः वैमानिकः महाकर्म-
तरकः?
हन्त स्याद् ।

७२. भन्ते ! स्यात् पद्मलेश्या वाला वैमानिक अल्पतर
कर्म वाला और शुक्ल लेश्या वाला वैमानिक महत्तर
कर्म वाला हो सकता है?
हाँ, स्यात् हो सकता है।

७३. से केणट्टेणं ?
गोयमा ! ठित्तिं पडुच्च । से तेणट्टेणं गोयमा !
जाव महाकम्मतराए ॥

तत् केनार्थेन ?
गौतम ! स्थितिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम!
यावन् महाकर्मतरकः ।

७३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से ?
गौतम ! स्थिति की अपेक्षा से। गौतम ! इसलिए यह
कहा जा रहा है। यावत् शुक्ललेश्या वाला वैमानिक
महत्तर कर्म वाला हो सकता है।

भाष्य

१. सूत्र ६७-७३

लेश्या के दो प्रकार हैं—द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या ।^१ द्रव्य लेश्या
पौद्गलिक है; अतः वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होती है। प्रस्तुत आलापक
में द्रव्य लेश्या विवक्षित है। नरक में लेश्या-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—

नरक	लेश्या
प्रथम, द्वितीय	कापोत

तृतीय चतुर्थ पंचम षष्ठ सप्तम	कापोत वाले अधिक और नील वाले अल्प नील नील वाले अधिक, कृष्ण वाले अल्प कृष्ण परम कृष्ण ^२
--	--

देवों में लेश्या-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—

१. भग. १/३७-३८, १/६०-१००, १/१०२ का भाष्य द्रष्टव्य है।

२. जीवा. ३/६८-१०२।

देव	लेश्या
भवनपति	प्रथम चार
व्यन्तर	"
ज्योतिष्क	तेजस् ^१
प्रथम, द्वितीय कल्प	"
तृतीय, चतुर्थ, पंचम कल्प	पद्म
षष्ठ स्वर्ग से त्रैवेयक	शुक्ल
अनुतर विमान	परम शुक्ल ^२

लेश्या और कर्म का परस्पर संबंध है। महाकर्म की अवस्था में लेश्या अविशुद्ध होती है और अल्पकर्म की अवस्था में लेश्या विशुद्ध होती है।

कृष्ण लेश्या वाला नैरयिक महाकर्म और नीललेश्या वाला नैरयिक अल्पकर्म होता है। प्रस्तुत आलापक में इस नियम के अपवाद बतलाए गए हैं। कृष्ण लेश्या वाला नैरयिक बहुत पुराना है। वह अपनी आयु-अवधि को बहुत पार कर चुका है। नील लेश्या वाला नैरयिक अभी-अभी उत्पन्न हुआ है।

आयुष्य की स्थिति—कालमान की अपेक्षा कृष्ण लेश्या वाला नैरयिक अल्पकर्म वाला और नील लेश्या वाला नैरयिक महाकर्म वाला होता है। यह स्थिति सापेक्ष नियम सब पर लागू होता है।

प्रस्तुत प्रकरण में महाकर्म और अल्पकर्म का प्रयोग सापेक्ष है। इनका संबंध मुख्यतः आयुष्य और वेदनीय कर्म तथा आयुष्य के सहवर्ती गति, जाति आदि से है।

वेदणा-निज्जरा-पद

७४. से नूणं भन्ते ! जा वेदणा सा निज्जरा ?
जा निज्जरा सा वेदणा ?
गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे ॥

७५. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—जा वेदणा
न सा निज्जरा ? जा निज्जरा न सा वेदणा ?

गोयमा ! कम्मं वेदणा, नोकम्मं निज्जरा । से
तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जा वेदणा न
सा निज्जरा, जा निज्जरा न सा वेदणा ॥

७६. नेरइयाणं भन्ते ! जा वेदणा सा निज्जरा ?
जा निज्जरा सा वेदणा ?
गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे ॥

७७. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—नेरइयाणं
जा वेदणा न सा निज्जरा ? जा निज्जरा न
सा वेदणा ?
गोयमा ! नेरइयाणं कम्मं वेदणा, नोकम्मं
निज्जरा ! से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—
नेरइयाणं जा वेदणा न सा निज्जरा, जा
निज्जरा न सा वेदणा ॥

७८. एवं जाव वेमाणियाणं ॥

७९. से नूणं भन्ते ! जं वेदेंसु तं निज्जरेंसु ? जं
निज्जरेंसु तं वेदेंसु ?

णो इण्ठे समट्ठे ॥

वेदना-निर्जरा-पदम्

तन्नूनं भदन्त ! या वेदना सा निर्जरा ? या
निर्जरा सा वेदना ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—या वेदना
न सा निर्जरा ? या निर्जरा न सा वेदना ?

गौतम ! कर्म वेदना, नोकर्म निर्जरा ! तत्
तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—या वेदना न
सा निर्जरा, या निर्जरा न सा वेदना ।

नैरयिकाणां भदन्त ! या वेदना सा निर्जरा ?
या निर्जरा सा वेदना ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाणां
या वेदना न सा निर्जरा ? या निर्जरा न सा
वेदना ?

गौतम ! नैरयिकाणां कर्म वेदना, नोकर्म
निर्जरा ! तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—
नैरयिकाणां या वेदना न सा निर्जरा, या
निर्जरा न सा वेदना ।

एवं यावद् वैमानिकानाम् ।

तन्नूनं भदन्त ! यद् अवेदिषुः तन्निरजारिषुः ?
यन्निरजारिषुः तद् अवेदिषुः ?

नायमर्थः समर्थः ।

वेदना-निर्जरा-पद

७४. भन्ते ! क्या जो वेदना है, वह निर्जरा है, जो निर्जरा
है वह वेदना है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

७५. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो
वेदना है, वह निर्जरा नहीं है? जो निर्जरा है वह वेदना
नहीं है?

गौतम ! वेदना कर्म की होती है, निर्जरा नो-कर्म की
होती है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा
है—जो वेदना है वह निर्जरा नहीं है, जो निर्जरा है वह
वेदना नहीं है।

७६. भन्ते ! क्या नैरयिकों के जो वेदना है, वह निर्जरा है?
जो निर्जरा है, वह वेदना है ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

७७. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—
नैरयिकों के जो वेदना है, वह निर्जरा नहीं है ? जो
निर्जरा है वह वेदना नहीं है ?

गौतम ! नैरयिकों के वेदना कर्म की होती है, निर्जरा
नोकर्म की होती है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा
जा रहा है—नैरयिकों के जो वेदना है, वह निर्जरा
नहीं है, जो निर्जरा है वह वेदना नहीं है।

७८. इसी प्रकार यावत् वैमानिकों की वक्तव्यता।

७९. भन्ते ! क्या जिसकी वेदना की, उसकी निर्जरा की ?
जिसकी निर्जरा की, उसकी वेदना की ? ऐसा हो सकता
है ?

यह अर्थ संगत नहीं है।

८०. से केणट्टेण भंते ! एवं वुच्चइ—जं वेदेंसु नो तं निज्जरेंसु ? जं निज्जरेंसु नो तं वेदेंसु ?
गोयमा ! कम्मं वेदेंसु, नोकम्मं निज्जरेंसु ।
से तेणट्टेणं गोयमा । जाव नो तं वेदेंसु ॥

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—यद् अवेदिषुः नो तन् निरजारिषुः ? यन् निरजारिषुः नो तद् अवेदिषुः ।
गौतम ! कर्म अवेदिषुः, नोकर्म निरजारिषुः ।
तत् तेनार्येन गौतम ! यावत् नो तद् अवेदिषुः ।

८०. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— जिसकी वेदना की, उसकी निर्जरा नहीं की ? जिसकी निर्जरा की, उसकी वेदना नहीं की ?
गौतम ! वेदना कर्म की की और निर्जरा नोकर्म की की। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है यावत् जिसकी निर्जरा की, उसकी वेदना नहीं की ।

८१. एवं नेरइया वि, एवं जाव वेमाणिया ॥

एवं नैरयिकाः अपि, एवं यावद् वैमानिकाः ।

८१. इसी प्रकार नैरयिक यावत् वैमानिकों की वक्तव्यता ।

८२. से नूणं भंते । जं वेदेति तं निज्जरेति ?
जं निज्जरेति तं वेदेति ?

तन्नूनं भदन्त ! यद् वेदयन्ति तन् निर्जरयन्ति ?
यन् निर्जरयन्ति तद् वेदयन्ति ?

८२. भन्ते ! क्या जिसकी वेदना करते हैं, उसकी निर्जरा करते हैं, जिसकी निर्जरा करते हैं, उसकी वेदना करते हैं ?

गोयमा ! णो इणट्टे समट्ठे ॥

गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

८३. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जाव नो तं वेदेति ?
गोयमा ! कम्मं वेदेति, नोकम्मं निज्जरेति ।
से तेणट्टेणं गोयमा ! जाव नो तं वेदेति ॥

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—यावन् नो तद् वेदयन्ति ?
गौतम ! कर्म वेदयन्ति, नोकर्म निर्जरयन्ति ।
तत् तेनार्येन गौतम ! यावन् नो तद् वेदयन्ति ।

८३. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— यावत् जिसकी निर्जरा करते हैं उसकी वेदना नहीं करते ?
गौतम ! वेदना कर्म की करते हैं, निर्जरा नोकर्म की करते हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा है— यावत् जिसकी निर्जरा करते हैं, उसकी वेदना नहीं करते ।

८४. एवं नेरइया वि जाव वेमाणिया ॥

एवं नैरयिकाः अपि यावद् वैमानिकाः ।

८४. इसी प्रकार नैरयिकों यावत् वैमानिकों की वक्तव्यता ।

८५. से नूणं भंते ! जं वेदिस्संति तं निज्जरिस्संति ?
जं निज्जरिस्संति तं वेदिस्संति ?
गोयमा ! णो इणट्टे समट्ठे ॥

तन्नूनं भदन्त ! यद् वेदिष्यन्ति तन् निर्जरिष्यन्ति ?
यन् निर्जरिष्यन्ति तद् वेदिष्यन्ति ?
गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

८५. भन्ते ! क्या जिसकी वेदना करेंगे, उसकी निर्जरा करेंगे, जिसकी निर्जरा करेंगे, उसकी वेदना करेंगे ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

८६. से केणट्टेणं जाव नो तं वेदिस्संति ?

तत् केनार्येन यावन् नो तद् वेदिष्यन्ति ?

८६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— यावत् जिसकी निर्जरा करेंगे, उसकी वेदना नहीं करेंगे ?

गोयमा ! कम्मं वेदिस्संति, नोकम्मं निज्जरिस्संति ।
से तेणट्टेणं जाव नो तं निज्जरिस्संति ॥

गौतम ! कर्म वेदिष्यन्ति, नोकर्म निर्जरिष्यन्ति ।
तत् तेनार्येन यावन् नो तन् निर्जरिष्यन्ति ।

गौतम ! वेदना कर्म की करेंगे, निर्जरा नोकर्म की करेंगे।
इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है यावत् जिसकी वेदना करेंगे, उसकी निर्जरा नहीं करेंगे ।

८७. एवं नेरइया वि जाव वेमाणिया ॥

एवं नैरयिकाः अपि यावद् वैमानिकाः ।

८७. इसी प्रकार नैरयिक यावत् वैमानिकों की वक्तव्यता ।

८८. से नूणं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए ?
जे निज्जरासमए से वेदणासमए ?

तन् नूनं भदन्त ! यः वेदनासमयः सः निर्जरासमयः ?
यः निर्जरासमयः सः वेदनासमयः ?

८८. भन्ते ! क्या जो वेदना का समय है, वही निर्जरा का समय है ?
जो निर्जरा का समय है, वही वेदना का समय है ?

णो इणट्टे समट्ठे ॥

नायमर्थः समर्थः ।

यह अर्थ संगत नहीं है ।

८९. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जे वेदणासमए न से निज्जरासमए ?
जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ?

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—यः वेदनासमयः न सः निर्जरासमयः ?
यः निर्जरासमयः न सः वेदनासमयः ?

८९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है— जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है ?
जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है ?

गोयमा ! जं समयं वेदेति नो तं समयं निज्जरेति, जं समयं निज्जरेति नो तं समयं

गौतम ! यं समयं वेदयन्ति नो तं समयं निर्जरयन्ति, यं समयं निर्जरयन्ति नो तं समयं

गौतम ! जिस समय वेदना करते हैं, उस समय निर्जरा नहीं करते ।
जिस समय निर्जरा करते हैं, उस समय

वेदेति—अण्णम्मि समए वेदेति, अण्णम्मि समए निज्जरेति । अण्णे से वेदणासमए, अण्णे से निज्जरासमए । से तेण्ठेणं जाव न से वेदणासमए, न से निज्जरासमए ॥

वेदयन्ति—अन्यस्मिन् समये वेदयन्ति, अन्यस्मिन् समये निर्जरयन्ति । अन्यः तस्य वेदनासमयः, अन्य तस्य निर्जरासमयः । तत् तेनार्थेन यावन् न सः वेदनासमयः, न सः निर्जरासमयः ।

वेदना नहीं करते—अन्य समय में वेदना करते हैं, अन्य समय में निर्जरा करते हैं । वेदना का समय अन्य है, निर्जरा का समय अन्य है । इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है यावत् जो निर्जरा का समय है; वंह वेदना का समय नहीं है । जो वेदना का समय है, वह निर्जरा का समय नहीं है ।

६०. नेरइयाणं भंते ! जे वेदणासमए से निज्जरासमए ? जे निज्जरासमए से वेदणासमए ?

नैरयिकाणां भदन्त ! यः वेदनासमयः सः निर्जरासमयः ? यः निर्जरासमयः सः वेदनासमयः ?

६०. भन्ते ! क्या नैरयिकों के जो वेदना का समय है वही निर्जरा का समय है, जो निर्जरा का समय है वही वेदना का समय है ।

गोयमा ! णो इण्ठे समट्ठे ॥

गौतम ! नायमर्थः समर्थः ॥

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है ।

६१. से केण्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ—नेरइया णं जे वेदणासमए न से निज्जरासमए ? जे निज्जरासमए न से वेदणासमए ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाणां यः वेदनासमयः न स निर्जरासमयः ? यः निर्जरासमयः न स वेदनासमयः ?

६१. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिकों के जो वेदना का समय है वह निर्जरा का समय नहीं है? जो निर्जरा का समय है वह वेदना का समय नहीं है?

गोयमा ! नेरइया णं जं समयं वेदेति नो तं समयं निज्जरेति, जं समयं निज्जरेति नो तं समयं वेदेति—अण्णम्मि समए वेदेति, अण्णम्मि समए निज्जरेति । अण्णे से वेदणासमए, अण्णे से निज्जरासमए । से तेण्ठेणं जाव न से वेदणासमए ॥

गौतम ! नैरयिकाः यं समयं वेदयन्ति नो तं समयं निर्जरयन्ति, यं समयं निर्जरयन्ति नो तं समयं वेदयन्ति । अन्यस्मिन् समये वेदयन्ति, अन्यस्मिन् समये निर्जरयन्ति । अन्यः स वेदनासमयः, अन्यः स निर्जरासमयः । तत् तेनार्थेन यावन् न स वेदनासमयः ।

गौतम ! नैरयिक जिस समय वेदना करते हैं उस समय निर्जरा नहीं करते, जिस समय निर्जरा करते हैं उस समय वेदना नहीं करते है—अन्य समय में वेदना करते हैं, अन्य समय में निर्जरा करते हैं । वेदना का समय अन्य है, निर्जरा का समय अन्य है । इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है यावत् जो निर्जरा का समय है, वह वेदना का समय नहीं है ।

६२. एवं जाव वेमाणियाणं ॥

एवं यावद् वैमानिकानाम् ।

६२. इसी प्रकार यावत् वैमानिकों की वक्तव्यता ।

भाष्य

१. सूत्र ७४-६२

वेदना और निर्जरा

कर्म की अनेक अवस्थाएँ हैं । उनमें प्रथम अवस्था है बंध और अन्तिम अवस्था है उदय । उदयकाल में कर्म का वेदन होता है ।^१ वेदन के

पश्चात् कर्म नोकर्म बन जाता है । प्रस्तुत आलापक में वेदना और नोकर्म का अन्तर बतलाया गया है । वेदना कर्म की होती है, निर्जरा कर्म की नहीं होती । फल-विपाक के पश्चात् कर्म की फलदान-शक्ति समाप्त हो जाती है । वह फिर कर्म नहीं रहता, नोकर्म बन जाता है ।^२ उसकी निर्जरा होती है, इसलिए वेदना का समय पृथक् होता है और निर्जरा का समय पृथक् ।

सासय-असासय-पदं

शाश्वत-अशाश्वत-पदम्

शाश्वत-अशाश्वत-पद

६३. नेरइया णं भंते ! किं सासया ? असासया ? गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया ॥

नैरयिकाः भदन्त ! किं शाश्वताः ? अशाश्वताः ? गौतम ! स्यात् शाश्वताः, स्याद् अशाश्वताः ।

६३. भन्ते ! क्या नैरयिक शाश्वत है ? अशाश्वत है ? गौतम ! स्यात् (किसी अपेक्षा से) शाश्वत हैं, स्यात् अशाश्वत हैं ।

६४. से केण्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नेरइया सिय सासया ? सिय असासया ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—नैरयिकाः स्यात् शाश्वताः ? स्याद् अशाश्वताः ?

६४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—नैरयिक स्यात् शाश्वत हैं ? स्यात् अशाश्वत हैं ?

गोयमा ! अब्बोच्छित्तिनयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिनयट्ठयाए असासया । से तेण्ठेणं जाव

गौतम ! अब्बुच्छित्तिनयार्थतया शाश्वताः व्युच्छित्तिनयार्थतया अशाश्वताः । तत् तेनार्थेन

गौतम ! अब्बुच्छित्ति-नय की अपेक्षा शाश्वत हैं, व्युच्छित्ति-नय की अपेक्षा अशाश्वत हैं, इस अपेक्षा से

१. भ. वृ. ७/७५—उदयप्राप्तं कर्म वेदना धर्मधम्मिणोरभेदविवक्षणात् ।

२. वही, ७/७५—वेदितरसं कर्म नोकर्म ।

सिय सासया, सिय असासया ॥

यावत् स्यात् शाश्वताः, स्याद् अशाश्वताः ।

यह कहा जा रहा है यावत् नैरयिक स्यात् शाश्वत हैं, स्यात्—अशाश्वत हैं ।

६५. एवं जाव वेमाणिया जाव सिय असासया ॥

एव यावद् वैमानिकः यावत् स्याद् अशाश्वताः ।

६५. इसी प्रकार यावत् वैमानिक यावत् स्यात् अशाश्वत हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ६३-६५

जैन दर्शन के अनुसार मूल द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव । नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सब जीव के पर्याय हैं । नैरयिक जीव-द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत है और नैरयिक-पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है ।

इसकी व्याख्या का दूसरा नय भी है । प्रत्येक नैरयिक एक निश्चित अवधि तक नैरयिक रहता है, उसके पश्चात् वह तिर्यञ्च अथवा मनुष्य की पर्याय में चला जाता है । नरक कभी भी नैरयिकों से शून्य नहीं होता । अतः

प्रवाह की दृष्टि से नैरयिक शाश्वत हैं और एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा वह अशाश्वत है ।

भ. ७/६० में नैरयिक शाश्वत हैं या अशाश्वत—इस प्रश्न पर द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचार किया गया है । प्रस्तुत प्रकरण में अव्युच्छित्ति-नय और व्युच्छित्ति-नय की अपेक्षा से शाश्वत और अशाश्वत का विचार किया गया है । यहाँ व्याख्या का दूसरा नय प्रासंगिक है । व्याख्या के प्रथम नय का सम्बन्ध भ. ७/६० के साथ है ।

६६. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त इति ।

६६. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है ।

चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संसारस्थ-जीव-पदं

६७. रायगिहे नयरे जाव एवं वयासि—कतिविहाणं भन्ते ! संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा संसारसमावन्नगा जीवा पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया। एवं जहा जीवाभिगमे जाव एगे जीवे एगेणं समएणं एणं किरियं पकरेइ, तं जहा—सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा॥

संसारस्थ-जीव-पदम्

राजगृहे नगरे यावत् एवमावादीत्—कतिविधाः भदन्त! संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्ताः ?

गौतम ! षड्विधाः संसारसमापन्नकाः जीवाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—पृथ्वीकायिकाः यावत् त्रसकायिकाः । एवं यथा जीवाभिगमे यावद् एकः जीवः, एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति, तद् यथा—सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा ।

संसारस्थ-जीव-पद

६७. 'राजगृह नगर में महावीर का समवसरण यावत् गौतम ने कहा—भन्ते ! संसारसमापन्नक जीव कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं ?

गौतम ! संसारसमापन्नक जीव छह प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक यावत् त्रसकायिक। इस प्रकार यह प्रकरण जीवाभिगम की भांति वक्तव्य है यावत् एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है, जैसे—सम्यक्त्व-क्रिया अथवा मिथ्यात्व-क्रिया।

भाष्य

१. सूत्र ६७

प्रस्तुत सूत्र जीवाजीवाभिगमे के २६ (३/१८३-२११) सूत्रों का संक्षेप है। अविशुद्ध लेश्या और विशुद्ध लेश्या के बारह सूत्र भगवई, ६/१६८, १६९ में आ चुके हैं। अन्तिम सूत्र सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व-क्रिया

से संबंधित है—अन्यतीर्थिकों के अनुसार एक जीव एक समय में दो क्रियाएं—सम्यक्त्व-क्रिया और मिथ्यात्व-क्रिया करता है। भगवान महावीर ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्रतिपादन किया—एक समय में एक जीव सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों क्रियाएं नहीं करता।

६८. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

६८. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

जोणीसंग्रह-पदं

६६. रायगिहे जाव एवं वयासी—खहयरपंचिंदिय-
तिरिखजोणियाणं भन्ते ! कतिदिहे जोणी-
संगहे पण्णत्ते ?

गोयमा! तिविहे जोणीसंगहे पण्णत्ते, तं
जहा—अंडया, पोयया, संमुच्छिमा । एवं जहा
जीवाभिगमे जाव नो चैव णं ते विमाणे
वीतीवएज्जा, एमहालया णं गोयमा! ते
विमाणा पण्णत्ता ॥

योनिसंग्रह-पदम्

राजगृहे यावद् एवमवादीत्—खेचरपञ्चे-
न्द्रिय-तिर्यग्योनिकानां भदन्त ! कतिविधः
योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः ?

गौतम! त्रिविधः योनिसंग्रहः प्रज्ञप्तः, तद्
यथा—अण्डजाः, पोतजाः, सम्मूर्च्छिमाः । एवं
यथा जीवाभिगमे यावन् नो चैव तानि विमानानि
व्यतिव्रजेयुः, इयन्महन्ति गौतम! तानि विमा-
नानि प्रज्ञप्तानि ।

योनिसंग्रह-पद

६६. 'राजगृह नगर में महावीर का समवसरण यावत्
गौतम ने कहा—भन्ते ! खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक
जीवों का योनि-संग्रह कितने प्रकार का प्रज्ञप्त है ?

गौतम ! तीन प्रकार का योनि-संग्रह प्रज्ञप्त है, जैसे—
अण्डज, पोतज, सम्मूर्च्छिम । इस प्रकार यह प्रकरण
जीवाभिगम की भांति वक्तव्य है यावत् वे उन विमानों
का अतिक्रमण नहीं करते । गौतम! वे विमान इतने
महान् प्रज्ञप्त हैं ।

भाष्य

१. सूत्र ६६

प्रस्तुत सूत्र जीवाजीवाभिगमे के ३६ (३/१४७-१८२) सूत्रों का

संक्षेप है। इसके अन्तिम सूत्र में अनुत्तरविमान के विमानों की विशालता का प्रतिपादन किया गया है।

१००. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

१००. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

छट्ठो उद्देशो : छठा उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

आउद्यपकरण-वेयणा-पदं

१०१. रायगिहे जाव एवं वयासी—जीवे णं भंते !
जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए, से णं भंते !
किं इहगए नेरइयाउयं पकरेइ? उववज्जमाणे
नेरइयाउयं पकरेइ? उववन्ने नेरइयाउयं पक-
रेइ?

गोयमा ! इहगए नेरइयाउयं पकरेइ, नो
उववज्जमाणे नेरइयाउयं पकरेइ, नो उववन्ने
नेरइयाउयं पकरेइ । एवं असुरकुमारेसु वि,
एवं जाव वेमाणिएसु ॥

आयुष्क-प्रकरण-वेदना-पदम्

राजगृहे यावद् एवमवादीज्—जीवः भदन्त !
यः भव्यः नैरयिकेषु उपपत्तुं, स भदन्त !
किम् इहगतः नैरयिकायुः प्रकरोति ? उप-
पद्यमानः नैरयिकायुः प्रकरोति ? उपपन्नः
नैरयिकायुः प्रकरोति ?

गौतम ! इहगतः नैरयिकायुः प्रकरोति, नो
उपपद्यमानः नैरयिकायुः प्रकरोति, नो उप-
पन्नः नैरयिकायुः प्रकरोति । एवं असुर-
कुमारेषु अपि, एवं यावद् वैमानिकेषु ।

आयुष्क-प्रकरण-वेदना-पद

१०१. ' राजगृह नगर में महावीर का समवसरण यावत्
गौतम ने इस प्रकार कहा— भन्ते ! जो भविक जीव
नैरयिक-रूप में उपपन्न होने वाला है, भन्ते ! क्या वह
यहां रहता हुआ नैरयिक आयुष्य का बंध करता है ?
उपपन्न होता हुआ नैरयिक आयुष्य का बंध करता है ?
उपपन्न होने पर नैरयिक आयुष्य का बंध करता है ?
गौतम ! वह यहां रहता हुआ नैरयिक आयुष्य का बंध
करता है, उपपन्न होता हुआ नैरयिक आयुष्य का बंध
नहीं करता, उपपन्न होने पर नैरयिक आयुष्य का बंध
नहीं करता । असुरकुमारों के लिए भी यही नियम है ।
इसी प्रकार यावत् वैमानिकों के लिए भी यही नियम है ।

भाष्य

१. सूत्र १०१

परलोक-विद्या का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—पुनर्जन्म के आयुष्य का
निर्धारण । इसी विषय को लेकर गौतम ने जिज्ञासा की और महावीर ने उसका
उत्तर दिया । आयुष्य का निर्धारण वर्तमान जीवन में ही जाता है । उसी के
आधार पर जीव परलोक की यात्रा शुरु करता है । आयुष्य का निर्धारण न होने
पर जीव परलोक की यात्रा का प्रारम्भ नहीं कर सकता । इसलिए उपपद्यमान
और उपपन्न—ये दोनों अवस्थाएं आयुष्य-निर्धारण के लिए अनुपयुक्त है ।

वर्तमान जीवन की आयु की सम्पन्नता और मृत्यु दोनों समानार्थक
हैं । पुनर्जन्म के लिए यात्रा करने वाला जीव अपनी यात्रा सायुष्क अवस्था में
प्रारम्भ करता है । 'यह नियम वर्तमान सूत्र के प्रतिपाद्य का संवादी है ।

विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य भ० ५/५६-६१ का भाष्य ।

उपपद्यमान और उपपन्न के मध्य में भेदरेखा क्या है? इसका
प्राचीन ग्रन्थ में कोई समाधान उपलब्ध नहीं है । अनुमान के आधार पर यह
समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है—अपर्याप्त अवस्था उपपद्यमान अवस्था
है और पर्याप्त अवस्था उपपन्न अवस्था है ।

१०२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु
उववज्जित्तए, से णं भंते ! किं इहगए नेर-
इयाउयं पडिसंवेदेइ ? उववज्जमाणे नेरइयाउयं
पडिसंवेदेइ ? उववन्ने नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ?

गोयमा ! नो इहगए नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ,
उववज्जमाणे नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ, उववन्ने

जीवः भदन्त ! यः भव्यः नैरयिकेषु उपपत्तुं,
स भदन्त ! किम् इहगतः नैरयिकायुः प्रति-
संवेदयति ? उपपद्यमानः नैरयिकायुः प्रति-
संवेदयति ? उपपन्नः नैरयिकायुः प्रति-
संवेदयति ?

गौतम ! नो इहगतः नैरयिकायुः प्रति-
संवेदयति, उपपद्यमानः नैरयिकायुः प्रति-

१०२. ' भन्ते ! जो भविक जीव नैरयिक-रूप में उपपन्न
होने वाला है, भन्ते ! क्या वह यहां रहता हुआ
नैरयिक-आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है ? उपपन्न
होता हुआ नैरयिक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है ?
उपपन्न होने पर नैरयिक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता
है ?

गौतम ! वह यहां रहता हुआ नैरयिक आयुष्य का
प्रतिसंवेदन नहीं करता, उपपन्न होता हुआ नैरयिक

वि नेरइयाउयं पडिसंवेदेइ । एवं जाव वेमा-
णिएसु ।

संवेदयति, उपपन्नः अपि नैरयिकायुः प्रति-
संवेदयति। एवं यावद् वैमानिकेषु।

आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उपपन्न होने पर भी
नैरयिक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है। इसी प्रकार
यावत् वैमानिकों के लिए यही नियम है।

भाष्य

१. सूत्र १०२

प्रत्येक जीव वर्तमान जीवन में ही भवसंबंधी आयुष्य का प्रतिसंवेदन
करता है। भावी जीवन के आयुष्य का वर्तमान जीवन में प्रतिसंवेदन नहीं

करता। उपपद्यमान और उपपन्न दोनों अवस्थाएं वर्तमान जीवन की हैं। इसलिए
उन दोनों अवस्थाओं में वर्तमान आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है।
द्रष्टव्य म० ५/५७-५८ का भाष्य।

१०३. जीवे णं भन्ते ! जे भविए नेरइएसु उवव-
ज्जित्तए, से णं भन्ते ! किं इहगए महावेदणे?
उववज्जमाणे महावेदणे ? उववन्ने महावेदणे?

जीवः भदन्त! यः भव्यः नैरयिकेषु उपपत्तुं,
स भदन्त! किम् इहगतः महावेदनः ? उपपद्य-
मानः महावेदनः ? उपपन्नः महावेदनः ?

१०३. 'भन्ते ! जो भविक जीव नैरयिक रूप में उपपन्न
होने वाला है, भन्ते ! क्या वह यहां रहता हुआ (मृत्युक्षण
में) महावेदना वाला होता है ? उपपन्न होता हुआ
महावेदना वाला होता है ? उपपन्न होने पर महावेदना
वाला होता है ?

गोयमा ! इहगए सिय महावेदणे सिय अप्प-
वेदणे, उववज्जमाणे सिय महावेदणे सिय
अप्पवेदणे, अहे णं उववन्ने भवइ तओ पच्छा
एगंतदुक्खं वेदणं वेदेति, आहच्च सायं ॥

गौतम! इहगतः स्यान् महावेदनः स्याद्
अल्पवेदनः, उपपद्यमानः स्यात् महावेदनः
स्याद् अल्पवेदनः, अथ उपपन्नः भवति
ततः पश्चाद् एकान्तदुक्खां वेदनां वेदयति,
आहत्य साताम् ।

गौतम! वह यहां रहता हुआ स्यात् महावेदना वाला
होता है, स्यात् अल्पवेदना वाला होता है। उपपन्न होता
हुआ स्यात् महावेदना वाला होता है, स्यात् अल्पवेदना
वाला होता है। उपपन्न होने के पश्चात् एकान्त दुःखद
वेदना का वेदन करता है और कदाचित् सात वेदना का
वेदन करता है।

१०४. जीवे णं भन्ते ! जे भविए असुरकुमारेसु
उववज्जित्तए, पृच्छा।

गोयमा ! इहगए सिय महावेदणे सिय अप्प-
वेदणे, उववज्जमाणे सिय महावेदणे सिय
अप्पवेदणे, अहे णं उववन्ने भवइ तओ पच्छा
एगंतसातं वेदणं वेदेति, आहच्च असायं ।
एवं जाव थणियकुमारेसु ॥

जीवः भदन्त! यः भव्यः असुरकुमारेषु उप-
पत्तुं, पृच्छा !

गौतम! इहगतः स्यान् महावेदनः स्याद्
अल्पवेदनः, उपपद्यमानः स्यान् महावेदनः
स्याद् अल्पवेदनः, अथ उपपन्नः भवति ततः
पश्चाद् एकान्तसातां वेदनां वेदयति, आहत्य
असाताम्। एवं यावत् स्तनितकुमारेषु।

१०४. भन्ते ! जो भविक जीव असुरकुमारों में उपपन्न
होने वाला है, पृच्छा।

गौतम ! वह यहां रहता हुआ स्यात् महावेदना वाला
होता है, स्यात् अल्पवेदना वाला होता है। उपपन्न होता
हुआ स्यात् महावेदना वाला होता है, स्यात् अल्पवेदना
वाला होता है, उपपन्न होने के पश्चात् एकान्त सुखद
वेदना का वेदन करता है और कदाचित् असात वेदना
का वेदन करता है। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों
के लिए यही नियम है।

१०५. जीवे णं भन्ते ! जे भविए पुढविक्काइएसु
उववज्जित्तए, पृच्छा।

गोयमा! इहगए सिय महावेदणे सिय अप्प-
वेदणे, एवं उववज्जमाणे वि, अहे णं उववन्ने
भवइ तओ पच्छा वेमायाए वेदणं वेदेति। एवं
जाव मणुस्सेसु। वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणि-
एसु जहा असुरकुमारेसु ॥

जीवः भदन्त! यः भव्यः पृथिवीकायिकेषु
उपपत्तुं, पृच्छा।

गौतम! इहगतः स्यान् महावेदनः स्याद्
अल्पवेदनः, एवं उपपद्यमानः अपि, अथ
उपपन्नः भवति ततः पश्चाद् विमात्रया वेदनां
वेदयति। एवं यावद् मनुष्येषु। वानमन्तर-
ज्योतिषिक-वैमानिकेषु यथा असुरकुमारेषु।

१०५. भन्ते ! जो भविक जीव पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न
होने वाला है, पृच्छा।

गौतम ! वह यहां रहता हुआ स्यात् महावेदना वाला
होता है, स्यात् अल्पवेदना वाला होता है। इसी प्रकार
उत्पन्न होता हुआ भी स्यात् महावेदना वाला होता है,
स्यात् अल्पवेदना वाला होता है, उत्पन्न होने के पश्चात्
विभिन्न मात्रा वाली वेदना का वेदन करता है। इसी
प्रकार यावत् मनुष्यों के लिए यही नियम है। व्यन्तर,
ज्योतिष्क और वैमानिकों में असुरकुमार के समान
वक्तव्यता।

भाष्य

१. सूत्र १०३-१०५

प्रस्तुत आलापक में वर्तमान जीवन तथा भावी जीव की उपपद्यमान और उपपन्न—इन दोनों अवस्थाओं में होने वाली वेदना का विमर्श किया गया है देखें यंत्र।

वेदनावाद के विस्तृत विवेचन के लिए देखें भ० १/६०-१०० का भाष्य ।

दण्डक	इहगत	उपपद्यमान	उपपन्न
नारक	स्यात् महावेदना स्यात् अल्पवेदना	स्यात् महावेदना स्यात् अल्पवेदना	एकान्त दुःखवेदन कदाचित् सुखवेदन
देवों के तेरह दण्डक	"	"	एकान्त सुखवेदन कदाचित् दुःखवेदन
शेष सभी दण्डक	"	"	विमात्रा से वेदन कदाचित् सुखवेदन कदाचित् दुःखवेदन

१०६. जीवा णं भन्ते ! किं आभोगनिव्वत्तियाउया?
अणाभोगनिव्वत्तियाउया ?

गोयमा ! नो आभोगनिव्वत्तियाउया, अणा-
भोगनिव्वत्तियाउया । एवं नेरइया वि, एवं
जाव वेमाणिया ॥

जीवाः भदन्त ! किम् आभोगनिर्वर्तितायुष्काः?
अनाभोगनिर्वर्तितायुष्काः ?

गौतम ! नो आभोगनिर्वर्तितायुष्काः, अना-
भोगनिर्वर्तितायुष्काः । एवं नैरयिकाः अपि, एवं
यावद् वैमानिकाः ।

१०६. 'भन्ते ! क्या जीव ज्ञात अवस्था में आयुष्य का बंध
करते हैं ? अथवा अज्ञात अवस्था में आयुष्य का बंध
करते हैं।

गौतम ! जीव ज्ञात अवस्था में आयुष्य का बंध नहीं
करते, अज्ञात अवस्था में आयुष्य का बंध करते हैं।
इसी प्रकार नैरयिक यावत् वैमानिक की वक्तव्यता ।

भाष्य

१. सूत्र १०६

आयुष्य के विषय में कुछ नियमों का निर्देश पूर्व शतकों में हो चुका
है। उदाहरणस्वरूप —

१. परलोक में जाने वाला जीव आयुष्य का बंध करके जाता है।^१
२. आयुष्य का बंध पूर्व जन्म-भावी जन्म की अपेक्षा पूर्व अर्थात्
वर्तमान में होता है।^२
३. जीव को जिस योनि में उत्पन्न होना है, उसी से संबद्ध आयुष्य

का बंध करता है।^३

४. एक जीव एक साथ एक आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है।^४

५. आयुष्य-बंध के साथ जाति आदि छह विषयों का निर्धारण होता
है।^५

प्रस्तुत सूत्र में 'आयुष्य का बंध अज्ञात अवस्था में होता है' इस
नियम का निर्देश है। आयुष्य का बंध कब होता है, इसकी जानकारी उसे नहीं
होती, जिसके आयुष्य-बंध हो रहा है, हो चुका है अथवा होगा।

कक्कस-अक्कसवेयणीय-पदं

१०७. अत्थि णं भन्ते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा
कम्मा कज्जति ?
हंता अत्थि ॥

१०८. कहण्णं भन्ते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा
कम्मा कज्जति ?
गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण-
सल्लेणं—एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कस-
वेयणिज्जा कम्मा कज्जति ॥

१०९. अत्थि णं भन्ते ! नेरइयाणं कक्कसवेय-
णिज्जा कम्मा कज्जति ?

कर्कश-अकर्कश-वेदनीय-पदम्

अस्ति भदन्त ! जीवानां कर्कशवेदनीयानि
कर्माणि क्रियन्ते ?
हन्त अस्ति ।

कथं भदन्त ! जीवानां कर्कशवेदनीयानि कर्माणि
क्रियन्ते ?
गौतम ! प्राणातिपातेन यावत् मिथ्यादर्शन-
शल्येन—एवं खलु गौतम ! जीवानां कर्कश-
वेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते।

अस्ति भदन्त ! नैरयिकाणां कर्कशवेदनीयानि
कर्माणि क्रियन्ते ?

कर्कश-अकर्कश-वेदनीय-पद

१०७. 'भन्ते ! क्या जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म होते हैं?
हां, होते हैं।

१०८. भन्ते ! जीवों के कर्कशवेदनीय कर्म किस कारण से
होते हैं?
गौतम ! प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से होते
हैं। गौतम ! इस प्रकार जीवों के कर्कश वेदनीय कर्म
होते हैं।

१०९. भन्ते ! क्या नैरयिकों के कर्कशवेदनीय कर्म होते
हैं?

१. भ. ५/५६ ।

२. यही, ५/६० ।

३. यही, ५/६२ ।

४. यही, ५/५८ ।

५. यही, ६/१५१ ।

एवं चैव । एवं जाव वेमाणियाणं ॥	एवं चैव ! एवं यावद् वैमानिकानाम् ।	हां, होते हैं। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों के कर्कश-वेदनीय कर्म होते हैं।
११०. अत्थि णं भंते ! जीवाणं अकक्कसवे- यणिज्जा कम्मा कज्जंति? हंता अत्थि ॥	अस्ति भदन्त ! जीवानाम् अकर्कशवेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते? हन्त अस्ति ।	११०. भन्ते ! क्या जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म होते हैं ? हां, होते हैं।
१११. कहण्णं भंते ! जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गह- वेरमणेणं, कोहविदेगेणं जाव मिच्छादंसण- सल्लविदेगेणं — एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अक्ककसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ॥	कथं भदन्त ! जीवानाम् अकर्कशवेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते? गौतम ! प्राणातिपातविरमणेन यावत् परिग्रह- विरमणेन, क्रोधविवेकेन यावत् मिथ्यादर्शन- शल्यविवेकेन — एवं खलु गौतम ! जीवानाम् अकर्कशवेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ।	१११. भन्ते ! जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म किस कारण से होते हैं ? गौतम ! प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह-विरमण और क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य-विवेक से होते हैं। गौतम ! इस प्रकार जीवों के अकर्कशवेदनीय कर्म होते हैं।
११२. अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं अकक्कसवेय- णिज्जा कम्मा कज्जंति? णो इण्ठे समट्ठे ! एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं — मणुस्साणं जहा जीवाणं ॥	अस्ति भदन्त ! नेरयिकाणाम् अकर्कशवेदनी- यानि कर्माणि क्रियन्ते? नायमर्थः समर्थः । एवं यावद् वैमानिकानाम्, नवरं — मनुष्याणां यथा जीवानाम् ।	११२. भन्ते ! क्या नेरयिकों के अकर्कशवेदनीय कर्म होते हैं ? यह अर्थ संगत नहीं है। इसी प्रकार यावत् वैमानिकों के लिए यही नियम है। विशेष यह है—मनुष्यों की वस्तुव्यता जीवों के समान है।

भाष्य

१. सूत्र १०७-११२

प्रस्तुत आलापक में कर्म के दो वर्गीकरण किए गए हैं—कर्कशवेदनीय कर्म और अकर्कशवेदनीय कर्म । इसके अग्रिम आलापक में सातवेदनीय कर्म और असातवेदनीय कर्म का विमर्श किया गया है। कर्कशवेदनीय और अकर्कशवेदनीय का संबंध केवल वेदनीय कर्म से नहीं है। उनका संबंध अनेक कर्मों के वेदन से है। सात वेदनीय और असातवेदनीय का सम्बन्ध वेदनीय कर्म से है। कर्कशवेदनीय कर्म-बंध के हेतु प्राणातिपात आदि अठारह पाप हैं। असातवेदनीय कर्म-बन्ध के हेतु दूसरे को दुःख देना, परिताप देना आदि हैं। अकर्कशवेदनीय कर्म-बंध का हेतु अठारह पापों से विरत होना है। सातवेदनीय कर्म-बंध का हेतु प्राणी की अनुकम्पा है। इन बंध-हेतुओं की भिन्नता के आधार पर कर्कश-अकर्कश एवं सात-असात का भेद स्पष्ट होता है।

अभयदेवसूरि ने 'विरमण' का अर्थ 'संयम' किया है।^१ 'अविरमण' का अर्थ है—असंयम। असंयम नैरयिक आदि सभी दण्डकों में उपलब्ध होता है, इसलिए कर्कश वेदनीय कर्म का बन्ध सभी जीवों के होता है। संयम (पूर्ण विरति) का अधिकारी केवल मनुष्य ही है, इसलिए अकर्कश वेदनीय कर्म का बंध केवल मनुष्य के ही होता है, अन्य किसी दण्डक के नहीं होता। सातवेदनीय

और असातवेदनीय का बंध सभी दण्डकों के होता है।

प्राणातिपात कर्म-बंध का हेतु है, यह सही है। किन्तु प्राणातिपात का विरमण संवर है, कर्म-निरोध का हेतु है। वह अकर्कश वेदनीयकर्म के बन्ध का हेतु कैसे बन सकता है ? इस समस्या से एक नया निष्कर्ष निकलता है कि जहां संवर है, वहां शुभ योग की प्रवृत्ति का नियम है; जहां शुभयोग की प्रवृत्ति है, वहां निर्जरा का नियम है; जहां निर्जरा है, वहां तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य-बन्ध का नियम है।

संयमी के संवर-सहचारी शुभयोग से जो पुण्य-बंध होता है, वह अकर्कशवेदनीय होता है।

अकर्कशवेदनीय का संबंध केवल अघात्यकर्म के साथ ही नहीं है, उसका संबंध घात्य कर्म से भी है। संयमी के कषाय-आश्रव के निमित्त से ज्ञानावरण आदि घात्य कर्मों तथा अशुभ अघात्य कर्मत्रिक का निरन्तर बन्ध होता रहता है, किन्तु प्राणातिपात का विरमण होने के कारण वह अकर्कशवेदनीय होता है। अकर्कशवेदनीय पुण्य कर्म पापानुबन्धी नहीं होता, संसार-परिभ्रमण का हेतु नहीं होता । इसी प्रकार अकर्कशवेदनीय पाप कर्म भी संसार-चक्र की वृद्धि का हेतु नहीं बनता । वह सरलता से मुक्त होकर निर्जीर्ण हो जाता है।

सायासाय-वेयणीय-पदं

११३. अत्थि णं भंते ! जीवाणं सातावेयणिज्जा
कम्मा कज्जंति ?

सातासात-वेदनीय-पदम्

अस्ति भदन्त ! जीवानां सातावेदनीयानि
कर्माणि क्रियन्ते ?

सातासात-वेदनीय-पद

११३. ' भन्ते ! क्या जीवों के सात वेदनीय कर्म होते हैं ?

१. भ. वृ. ७/१०६ 'पाणाइवायवेरमणेण' ति संयमेनेत्यर्थः।

- हंता अत्थि ॥ हन्त अस्ति । हां, होते हैं।
११४. कहण्णं भंते ! जीवाणं सातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? कथं भदन्त ! जीवानां सातवेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ? ११४. भन्ते ! जीवों के सात वेदनीय कर्म का बंध किस कारण से होता है ।
गोयमा ! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकंपयाए, जीवाणुकंपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए अतिप्पणयाए अपिट्ठणयाए अपरियावणयाए—एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। एवं नेरइयाण वि, एवं जाव वेमाणियाणं ॥ गौतम ! प्राणानुकम्पया, भूतानुकम्पया, जीवानुकम्पया, सत्त्वानुकम्पया, बहूनां प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानाम् अदुक्खनतया अशोचनतया, अखेदनतया, 'अतिप्पणयाए' 'अपिट्ठणयाए' अपरितापनतया—एवं खलु गौतम ! जीवानां सातवेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते। एवं नैरयिकाणाम् अपि, एवं यावद् वैमानिकानाम्। ११४. भन्ते ! जीवों की अनुकम्पा, भूतों की अनुकम्पा, जीवों की अनुकम्पा, सत्त्वों की अनुकम्पा, अनेक प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःखी न बनाना, शोकाकुल न करना, न जुराना (शरीर को जीर्ण अथवा खेद खिन्न न करना) न रुलाना, न पीटना, न परिताप देना— गौतम ! इस प्रकार की अनुकम्पा-वृत्ति से जीवों के सातवेदनीय कर्म का बंध होता है। इसी प्रकार नैरयिक यावत् वैमानिकों के सात वेदनीय कर्म का बंध होता है।
११५. अत्थि णं भंते ! जीवाणं असातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? अस्ति भदन्त ! जीवानाम् असातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ? ११५. भन्ते ! क्या जीवों के असात वेदनीय कर्म होते हैं ?
हंता अत्थि ॥ हन्त अस्ति । हां, होते हैं।
११६. कहण्णं भंते ! जीवाणं असातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? कथं भदन्त ! जीवानाम् असातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ? ११६. भन्ते ! जीवों के असातवेदनीय कर्म का बंध किस कारण से होता है ?
गोयमा ! परदुक्खणयाए, परसोयणयाए, परजूरणयाए, परतिप्पणयाए, परपिट्ठणयाए, परपरियावणयाए, बहूणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए, जूरणयाए, तिप्पणयाए, पिट्ठणयाए, परियावणयाए—एवं खलु गोयमा ! जीवाणं असातावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति। एवं नेरइयाण वि, एवं जाव वेमाणियाणं ॥ गौतम ! परदुक्खनतया, परशोचनतया, परखेदनतया, 'परतिप्पणयाए', 'परपिट्ठणयाए', परपरितापनतया, बहूनां प्राणानां भूतानां, जीवानां सत्त्वानां दुक्खनतया, शोचनतया, खेदनतया, 'तिप्पणयाए', 'पिट्ठणयाए', परितापनतया—एवं खलु गौतम ! जीवानाम् असातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते। एवं नैरयिकाणाम् अपि, एवं यावद् वैमानिकानाम्। ११६. भन्ते ! जीवों को दुःखी बनाना, शोकाकुल बनाना, जुराना (शरीर को जीर्ण और खेद खिन्न करना) रुलाना, पीटना, परिताप देना गौतम ! अनेक प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःखी बनाना, शोकाकुल करना, जुराना, रुलाना, पीटना, परिताप देना— इस प्रकार की क्रूर वृत्ति से जीवों के असातवेदनीय कर्म का बंध होता है—इसी प्रकार नैरयिक यावत् वैमानिकों के असात वेदनीय कर्म का बंध होता है।

भाष्य

१. सूत्र ११३-११६

अनुकम्पा के दो रूप होते हैं—विधेयात्मक और निषेधात्मक । भगवान महावीर ने अहिंसा के संयमस्वरूप को मान्य किया है।^१ अनुकम्पा अहिंसा का ही एक अवान्तर प्रकार है, इसलिए उसका सीमा-स्तम्भ संयम ही हो सकता है। सूत्रकार ने अनुकम्पा की प्रयोगात्मक व्याख्या में 'दुःख न देना'—इसका निर्देश किया है, सुख देना—इसका निर्देश नहीं किया है। सुखात्मक अनुकम्पा समाज की प्रकृति के अनुकूल हो सकती है, किंतु संयम-धर्म की प्रकृति के अनुकूल नहीं हो सकती । मनुष्य आरम्भ में प्रवृत्त होकर दूसरों को दुःख देता है।^२ अनुकम्पा का भाव जागृत होने पर वह आरम्भ का संयम करता है, इसलिए वह दूसरों को दुःख नहीं देता। अनुकम्पा का यह स्वरूप सार्वभौम

है, सार्वकालिक और सार्वदेशिक है और सर्वथा निर्दोष है।

भ. ३/१४५ में दुक्खावणयाए—इस प्रकार का पाठ मिलता है—प्रस्तुत प्रकरण में दुक्खणयाए पाठ है। शब्द-विमर्श के लिए द्रष्टव्य भ. ३/१४५ का भाष्य ।

उमास्वाति ने सात वेदनीय कर्म-बंध के अनेक कारण बतलाए हैं— १. भूतानुकम्पा २. द्रती-अनुकम्पा ३. दान ४. सराग संयम आदि—सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बाल तप ५. योग ६. क्षान्ति ७. शौच।^३

प्रस्तुत आगम (भगवती) में आठ कर्मों के बंध के कारण बतलाए गए हैं। उनमें भी केवल अनुकम्पा का ही उल्लेख है।^४

शेष कारणों का उल्लेख उमास्वाति ने किस आधार पर किया है, यह

१. दसवे. ६/८—

अहिंसा निउणं दिट्ठा, सबभूएसु संजमो।

२. भ. ३/१४५।

३. त. सू. ६/१३—भूतद्रत्यनुकम्पादनं सरागसंयमादिः क्षान्तिः शौचमिति एतद्देघस्य।

४. भ. ८/४२२।

अन्वेषण का विषय है। सिद्धसेनगणि ने इस सूची को और अधिक लम्बा बना दिया है।^१ भगवती का पाठ प्राचीन प्रतीत होता है। तत्त्वार्थ सूत्र का विकास उत्तरकालीन है।

अकलंक ने अनुकम्पा की व्याख्या इस प्रकार की है—जिसका चित्त अनुग्रह से भीगा हुआ है तथा पर पीड़ा को अपनी पीड़ा की भाँति अनुभव करने के कारण जो अनुकम्पन होता है, उसका नाम अनुकम्पा है।^२

उमास्वति ने असातवेदनीय कर्म-बन्ध के छह हेतु वतलाए हैं। वे भगवती में निर्दिष्ट हेतुओं के समान ही हैं। देखें, तालिका—

भगवती	तत्त्वार्थ सूत्र
१. दुःख	दुःख
२. शोक	शोक
३. जूरण (शरीर को जीर्ण अथवा खेद खिन्न करना)	ताप
४. अश्रुमोचन	आक्रन्दन
५. पीटना	वध
६. परिताप देना	परिवेदन

अकलंक ने असातवेदनीय कर्मबन्ध की सूची में अनेक प्रवृत्तियों की वृद्धि की है।^३

दुस्समदुस्समा-पदं

११७. जंबुद्वीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसपिणीए दुस्सम-दुस्समाए समाए उत्तमकट्टपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोयारे भविस्सइ?

गोयमा! कालो भविस्सइ हाहाभूए, भंभम्भूए कोलाहलभूए। समाणभावेण य णं खर-फरुस-धुल्लिमइला दुव्विसहा वाउला भंयकरा वाया सवट्टगा य वाहिति। इह अभिक्खं धूमाहिति य दिसा समंता रउस्सला रेणु-कलुस-तमपडल-निरालोगा। समयलुक्खयाए य णं अहियं चंदा सीयं मोच्छंति। अहियं सूरिया तवइस्संति। अदुत्तरं च णं अभिक्खणं बहवे अरसमेहा विरसमेहा खारमेहा खत्तमेहा अग्गिमेहा विज्जुमेहा विसमेहा असग्गिमेहा—अपिवणिज्जोदगा, वाहिरोगवेदणोदीरणा-परिणामसलिला, अमणुण्णपाणियगा चंडा-निल-पहयतिकखधारा-निवायपउरं वासं वासिहंति, जेणं भारहे वासे गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासमगयं जणवयं, चउप्ययगवेलए, खहयरे य पक्खि-संघे, गामारण्ण-पयारनिरए तसे य पाणे, बहुपगारे रुक्ख-गुच्छ-गुम्म-लय-वल्लि-तण-पव्वग-हरितोसहि-पवालंकुर-मादीए य तण-वणस्सइकइए विद्धंसेहंति, पव्वय-गिरि-डोंगरुत्थल-भट्टिमादीए वेयड्ढगिरिवज्जे वि-रावेहंति, सलिलबिल-गड्ढ-दुग्ग-विसम-निण्णुन्नयाइं च गंगा-सिंधुवज्जाइं समीकरे-हंति ॥

दुःषम-दुःषमा-पदम्

जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे अस्याम् अवसर्पिण्यां दुःषम-दुःषमायां समायाम् उत्तमकाष्ठ (कष्ट)-प्राप्तायां भरतस्य वर्षस्य कीदृशः आकारभाव-प्रत्यवतारः भविष्यति ?

गौतम ! कालः भविष्यति हाहाभूतः, भम्भाभूतः, कोलाहलभूतः। समानुभावेन च खर-परुष-धूलिमलिनाः दुर्विसहाः वातूलाः भंयकराः वाताः संवर्तकाश्च वास्यन्ति। इह अभीक्ष्णं धूमाधिष्यन्ति च दिशः समन्ताद् रजस्वलाः रेणु-कलुष-तमःपटल-निरालोकाः। समय-रुक्षतया च अधिकं चन्द्राः शीतं मोक्षयन्ति। अधिकं सूर्याः तापयिष्यन्ति। 'अदुत्तरं' च अभीक्ष्णं बहवः अरसमेघाः विरसमेघाः क्षार-मेघाः 'खत्त'मेघाः अग्निमेघाः विद्युन्मेघाः विषमेघाः अशनिमेघाः—अपानीयेदकाः, व्याधिरोगवेदनोदीरणा-परिणामसलिलाः, अमनोज्ञपानीयकाः वण्डानिल-प्रहततीक्ष्ण-धारा-निपातप्रचुरां वर्षां वर्षिष्यन्ति, येन भारते वर्षे ग्रामाकर-नगर-खेट-कर्बट-मडम्ब-द्रोण-मुख-पत्तनाश्रमगतं जनपदं, चतुष्पद-गवेल-कान् खेचरांश्च पक्षिसंघान्, ग्रामारण्य-प्रचारनिरतान् व्रसांश्च प्राणान्, बहुप्रकारान् रुक्ष-गुच्छ-गुल्म-लता-वल्लि-तृण-पर्वक-हरितौषधि-प्रवालाडिकुरादींश्च तृण-वनस्पति-क्रायिकान् विध्वंसिष्यन्ति, पर्वत-गिरि-‘डोंगरो’-त्स्थल-‘भट्टि’आदीन् वैतादयगिरिवर्जान् 'विरावेहंति' सलिलबिल-गर्त्त-दुर्ग-विषम-निम्नोन्नतानि च गङ्गा-सिंधुवर्जानि समीकरि-ष्यन्ति।

दुःषम-दुःषमा-पद

११७. 'भन्ते! जम्बूद्वीप द्वीप में इस अवसर्पिणी का दुःषम-दुःषमा अर पराकाष्ठा पर होगा, तब भरतक्षेत्र के आकार-पर्याय का अवतरण कैसा होगा?

गौतम! वह काल हाहाकारमय होगा, पशुओं का 'भौं-भौं' इस प्रकार का आर्त्तस्वर तथा पीड़ित पक्षियों का कोलाहल होगा। उस काल के प्रभाव से खर-पुरुष धूलि से मटमैले, दुःसह वातुल (बवण्डर) तथा भयंकर प्रलयकारी हवाएँ चलेंगी। दिशाएं बार-बार धूमिल रजकणों से व्याप्त तथा धूल-भरी आधियों से अन्ध-कारमय हो जाएंगी। 'समय' की रूक्षता के कारण चांद अधिक शीतल होंगे। सूर्यों का ताप अधिक तपेगा। अरस जल वाले मेघ, विरस जल वाले मेघ, क्षार जल वाले मेघ, खाद के समान रस वाले मेघ, अग्नि की भाँति दाहक जल वाले मेघ, विद्युत् निपात करने वाले मेघ, विषयुक्त जल वाले मेघ, ओला वृष्टि वाले मेघ—इस प्रकार के अनेक मेघ बार-बार बरसैंगे। उनका जल पीने योग्य नहीं होगा। वह व्याधि, रोग, वेदना को उभारने वाला होगा। वह अमनोज्ञ होगा और वर्षा भी प्रचण्ड वायु के आघात से प्रेरित हो मूसलाधार होगी। उस वर्षा के कारण भरत क्षेत्र में गांव, आकर, नगर, खेट, कब्बड, मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम आदि जनपदों, गाय, भेड़ आदि पशुओं, आकाशविहारी पक्षी समूहों, गांव और जंगल में घूमने वाले प्राणियों और बहुत प्रकार के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्लि, तृण, पर्व, हरित, औषधि, प्रवाल-अंकुर आदि तृण वन-स्पतिक्रय का विध्वंस हो जायेगा। वैतादय पर्वत को छोड़ कर शेष सारे पर्वत, गिरि, डूंगर, टीले, पठार नष्ट हो जायेंगे। गंगा और सिंधु नदी को छोड़ कर शेष सारे भूमि-निर्झर, गढे, दुर्ग, विषम प्रदेश और

१. त. सू. भा. वृ. ६/१३—धर्मानुरागः धर्मनिषेवणशीलव्रतपौषधोपवासरतितपोऽनुष्ठान-बालवृद्धतपरिचर्यानवैवायव्यानुष्ठानधर्माचार्यमातृपितृभक्तिसिद्धवैत्यपूजाशुभपरि-णामश्च सद्देयस्याश्रवा भवन्तीति।

२. त. रा. वा. ६/१२—अनुग्रहाद्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा।
३. वही, ६/११, पृ० ५२१।

निम्नोन्नत प्रदेश समतल हो जायेंगे।

११८. तीसे णं भंते! समाए भरहस्स वासस्स भूमीए केरिसए आगारभाव-पडोयारे भविस्सति ?

गोयमा! भूमी भविस्सति इंगालभूया मुम्मु-रभूया छारियभूया तत्तकवेत्तयभूया तत्त-समजोतिभूया धूलिबहुला रेणुबहुला पंक-बहुला पणगबहुला चलणिबहुला बहूणं धरणिगोयराणं सत्ताणं दुन्निक्कमा यावि भविस्सति ।

तस्यां भदन्त! समायां भरतस्य वर्षस्य भूमेः कीदृशः आकारभाव-प्रत्यावतारः भविष्यति ?

गौतम! भूमिः भविष्यति अंगारभूता मुर्मुर्भूता क्षारिकभूता तप्तकवेत्तकभूता तप्तसम-ज्योतिर्भूता धूलिवहुला रेणुबहुला पङ्कबहुला पनकबहुला चलनीबहुला बहूनां धरणीगोच-राणां सत्त्वानां दुर्निष्क्रमा चापि भविष्यति।

११८. भन्ते ! उस काल में भरत क्षेत्र की भूमि के आकार और भाव का अवतरण कैसा होगा ?

गौतम ! उस काल में भरत क्षेत्र की भूमि अंगारों, मुर्मुर् (भस्ममिश्रित-अग्निकणों), तपी हुई राख एवं तपे हुए तवे के समान हो जाएगी। वह ताप से तप्त और अग्नि तुल्य हो जाएगी। वह बहुत धूलवाली, बहुत रजवाली बहुत पंकवाली, बहुत सघन कीचड़ वाली और बहुत चरण प्रमाण कीचड़ वाली हो जायेगी। भूमि पर चलने वाले अनेक प्राणियों के लिए उस पर चलना कठिन हो जाएगा।

११९. तीसे णं भंते! समाए भरहे वासे मणुयाणं केरिसए आगारभाव-पडोयारे भविस्सइ ?

गोयमा! मणुया भविस्सति दुर्खा दुवण्णा दुग्ग्धा दुरसा दुफासा अण्णिहा अकंता अप्पिया असुभा अमणुण्णा अमण्णामा हीणस्सरा दीण-स्सरा अण्णिट्ठस्सरा अकंतस्सरा अप्पियस्सरा असुभस्सरा अमणुण्णस्सरा अमणामस्सरा अण्णदेज्जवयण-पच्चायाया, निल्लज्जा, कूड-कवड-कलह-वह-बंध-वेरनिरया, मज्जाया-तिक्कमप्पहाणा, अकज्जनिच्चुज्जता, गुरु-नियोग-विणयरहिया य, विकलरूवा, परुढ-नह-केस-मंसु-रोमा, काला, खर-फरुस-झाम-वण्णा, फुट्टिसिरा, कविलपलियकेसा, बहुण्हारुसंणिणद्ध-दुद्धसंणिज्जरूवा, संकुडित-वली-तरंगपरिवेदियं गमंगा, जरापरिणतव्व धेरगनरा, पविरलपरिसडियदंतसेढी, उब्भ-डघडा मुहा विसमणयणा, वंकनासा, वंक-वलीविगय-भेसणमुहा, कच्छु-कसराभिभूया, खरतिक्खनखकंडूइय-विक्खयतणू, ददु-किडिभ-सिब्भ-फुडियफरुसच्छवी, चित्तलंगा, टोलगति-विसमसंधिबंधण-उक्कुडुअट्टि-गविमत्त-दुब्बला कुसंघयण-कृप्पमाण-कुसं-ठिया, कुरूवा, कुट्टाणासाण-कुसेज्ज-कुभो-इणो, असुइणो, अपे गवाहिपरिपीलियं-गमंगा, खलंत-विब्भलगती, निरुच्छाहा, सत्त-परिवज्जिया, विगयचेट्टनइतेया, अभिक्खणं सीय-उण्ह-खर-फरुसवाय-विज्जडियमलिन-पंसुरउग्गुडियं गमंगा, बहुकोह-माण-माया, बहुलोभा, असुह-दुक्खभागी, उस्सण्णं धम्म-सण्णसम्मत्तपरिभट्टा, उक्कोसेणं रयणिप्प-माण मेत्ता, सोलसवीसतिवासपरमाउसो, पुत्त-

तस्यां भदन्त! समायां भरते वर्षे मनुजानां कीदृशः आकारभाव-प्रत्यावतारः भविष्यति?

गौतम ! मनुजाः भविष्यन्ति 'दुरूवा' दुर्वर्णाः दुर्गन्धाः दूरसाः दुःस्पर्शाः अनिष्टाः अकान्ताः अप्रियाः अशुभाः अमनोज्ञाः 'अमणामा' हीन-स्वराः दीनस्वराः अनिष्टस्वराः अकान्तस्वराः अप्रियस्वराः अशुभस्वराः अमनोज्ञस्वराः 'अमणामस्सरा' अनादेयवचन-प्रत्याजाताः, निर्लज्जाः, कूट-कपट-कलह-वध-बन्ध-वेरनिरताः, मर्यादातिक्रमप्रधानाः, अकार्य-नित्योद्यताः, गुरुनियोग-विनयरहिताः च, विकलरूपाः, परुढनख-केश-शमश्रु-रोमाः कालाः, खर-परुष-झाम-वर्णाः, 'फुट्ट' शिरसाः, कपिलपलितकेशाः, बहुस्नायुसंनिध-दुर्दर्शनीयरूपाः, संकुटितवलि-तरङ्गपरिवेष्टि-ताङ्गाङ्गाः, जरापरिणता इव स्थविरकनराः, प्रविरलपरिश्रितदन्तश्रेणयः, उद्भटघट-मुखाः विषमनयनाः वक्रणसाः, वक्रवलि-विगत-मेषणमुखाः, कच्छू-कसराभिभूताः, खरतीक्ष्णनखकण्डुयित-विक्षततनवः, ददु-किटिभ-सिध्म-स्फुटितपरुषच्छवयः, चित्र-लाङ्गाः 'टोल'गति-विषमसन्धिबन्धन-उत्कु-टुकारिथकविभक्त-दुर्वलाः कुसंहनन-कु-प्रमाण-कुसंस्थिताः, कुरूपाः, कुस्थानासन-कुशय्या-कुभोजिनः, अशुचयः, अनेकव्याधि-परिपीडिताङ्गाङ्गाः, स्वखलद्-विहलगतयः, निरुत्साहाः, सत्त्वपरिवर्जिताः, विगतचेष्टा-नष्टतेजसः, अभीक्ष्णं शीतोष्ण-खर-परुष-वात 'विज्जडिय' मलिनपांशुरजो 'उग्गुडिय'-अङ्गाङ्गाः, बहुक्रोध-मान-मायाः, बहुलोभाः, अशुभ-दुक्खभागिनः 'उस्सण्णं' धर्मसंज्ञा-

११९. भन्ते! उस काल में भरत क्षेत्र के मनुष्यों का आकार और भाव का अवतरण कैसा होगा ?

गौतम! उस काल में भरतक्षेत्र के मनुष्य दुःस्वभाव वाले, दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दूरस, दूःस्पर्श, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अकमनीय, तथा हीन स्वर, दीन स्वर, अनिष्ट स्वर, अकान्त स्वर, अप्रिय स्वर, अशुभ स्वर, अमनोज्ञ स्वर, अकमनीय स्वर वाले होंगे। उनका वचन दूसरों द्वारा आदेय नहीं होगा। वे निर्लज्ज तथा कूट, कपट, कलह, वध, बंध और वैर में संलग्न रहेंगे। वे मर्यादा का अतिक्रमण करने में मुखिया, अकरणीय करने में सदा उद्यत, बड़ों के प्रति अवश्य करणीय विनय से शून्य होंगे। उनका रूप विकल होगा, उनके नख, केश, शमश्रु, रोम बड़े हुए होंगे, वे काले वर्ण वाले होंगे, वे अत्यन्त रूक्ष और मटमैले वर्ण वाले, फटे हुए सिर वाले, पीले और सफेद केश वाले बहुत स्नायुओं से गूंधे हुए होने के कारण दुर्दर्शनीय रूप वाले, सिकुड़ी हुई वलि-तरंगों (झुर्रियों) से परिवेष्टित प्रत्येक अंग वाले, जरा-परिणत वृद्ध मनुष्यों के समान, संख्या में स्वल्प और सड़ी हुई दांतों की श्रेणी वाले, घड़े के मुख की भांति छोटे होंठ वाले, तुच्छ मुख, विषम नेत्र, टेढ़ी नाक, टेढ़े और झुर्रियों से विकृत बने हुए भयानक मुख वाले, कच्छू (खुजली) और कसर (गीली खुजली) से अभिभूत, खर-तीक्ष्ण नखों से खुजलाने के कारण क्षत-विक्षत बने हुए शरीर वाले, दाद, कुष्ठ और सेंहुआ रोग से फटी और रूखी चमड़ी वाले चितकवरे अंग वाले, टिड्डे की जैसी टेढ़ी-मेढ़ी गति, टेढ़े-मेढ़े सन्धिबन्धन, हडिडियों की अव्यवस्थित रचना और दुर्बल शरीर वाले, दोषपूर्ण संहनन, शरीर-प्रमाण और संस्थान वाले, कुरूप, कुत्सित आसन, कुत्सित शय्या और कुत्सित भोजन वाले, शुचि न करने वाले, अनेक व्याधियों से पीडित प्रत्येक-अंग वाले,

ननुपरिवाल-पणयबहुला, गंगा-सिंधूओ महा-
नदीओ, वेयड्डं च पव्वयं निस्साए बावत्तरिं
निओदा बीयं बीयमेत्ता बिलवासिणो भवि-
स्सन्ति ॥

सम्यक्त्वपरिभ्रष्टाः, उत्कर्षेण रत्निप्रमाण-
मात्राः, षोडशविंशतिवर्षपरमायुषः, पुत्रननु-
परिवार-प्रणयबहुलाः, गङ्गा-सिंधू महानद्यौ,
वैताढ्यं च पर्वतं निश्चित्य द्विसप्ततिः निगोदाः
बीजं बीजमात्राः बिलवासिनः भविष्यन्ति ।

स्खलित और विह्वल गति वाले, निरुत्साह, सत्त्व से
रहित, चेष्टा-शून्य, तेज-शून्य, बार-बार सर्दी-गर्मी, रूक्ष
और कठोर वायु से व्याप्त होने वाली मलिन धूलिं और
रजकणों से भरे हुए प्रत्येक अंग वाले होंगे। उनका
क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबल होगा। उनका दुःख
दुःखानुबन्धी होगा। वे प्रायः धर्म-संज्ञा से शून्य और
सम्यक्त्व-रहित होंगे। उनका शरीर रत्नि (बंधी मुट्टी
वाला हाथ) जितना होगा। उनकी उत्कृष्ट आयु सोलह
अथवा बीस वर्ष की होगी। वे पुत्र-पौत्र आदि में बहुत
स्नेह रखने वाले होंगे। वे गंगा, सिंधु दो महानदियों
तथा वैताढ्य पर्वत के परिपार्श्व में होने वाले कुछ बिलों
अथवा गुफाओं के आश्रय में रहेंगे। उनके बहत्तर
कुटुम्ब आगामी मनुष्य-जाति के लिए बीज और
बीजमात्र बवेंगे।

१२०. ते णं भन्ते ! मणुया कं आहारं आहारे-
हिंति?

गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं गंगा-
सिंधूओ महानदीओ रहपहवित्थराओ अक्ख-
सोयप्पमाणमेत्तं जलं वोज्झिहिंति, से वि य
णं जले बहुमच्छकच्छभाइण्णे, णो चेव णं
आउबहुले भविस्सन्ति। तए णं ते मणुया सूरु-
ग्गमणमुहुत्तंसि य सूरत्थमणमुहुत्तंसि य बिले-
हिंतो निद्धाहिंति, निद्धाइत्ता मच्छ-कच्छमे
थलाइं गाहेहिंति, गाहेत्ता सीतातवतत्तएहिं
मच्छ-कच्छएहिं एकवीसं वाससहस्साइं वितिं
कप्पेमाणा विहरिस्सन्ति ॥

ते भदन्त! मनुजाः कम् आहारम् आहा-
रिष्यन्ति?

गौतम! तस्मिन् काले तस्मिन् समये गङ्गा-
सिन्धू महानद्यौ रथपथविस्तरे अश्वतो-
प्रमाणमात्रं जलं वक्ष्यतः, तद् अपि च जलं
बहुमत्स्यकच्छपाकीर्णम्, नो चैव अब्बहुलं
भविष्यति। ततः ते मनुजाः सूरुद्वगमनमुहूर्ते
च सूरस्तमनमुहूर्ते च बिलेभ्यः निर्धाविष्यन्ति,
निर्धाव्य मत्स्यकच्छपान् स्थलानि गाहिष्यन्ति,
गाहित्वा शीतातपदत्तैः मत्स्यकच्छपैः एक-
विंशति वर्षसहस्राणि वृत्तिं कल्पमानाः विहरि-
ष्यन्ति ।

१२०. भन्ते ! वे मनुष्य किसका आहार करेंगे ?

गौतम ! उस काल और उस समय गंगा और सिंधु-दो
महानदियों का विस्तार रथ के पथ जितना होगा। उनमें
पहिये की धुरी के प्रवेश-छिद्र जितना जल बहेगा। वह
जल अनेक मछलियों और कछुओं से आकीर्ण होगा।
उसमें जल की मात्रा कम होगी। वे मनुष्य सूर्य के
उदयकाल और अस्तकाल के समय अपने-अपने बिलों
से निकलेंगे, निकल कर मछलियों और कछुओं को
स्थल पर लाएंगे, ला कर उन्हें सर्दी के दाह और गर्मी
के ताप में पकाएंगे। इक्कीस हजार वर्ष तक इस
प्रकार जीविका का निर्वाह करेंगे।

१२१. ते णं भन्ते ! मणुया निस्सीला निग्गुणा
निम्भेरा निष्पच्चक्खाणपोसहोववासा, उस्स-
ण्णं मंसाहारा मच्छाहारा खोद्दाहारा कुणिमा-
हारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिंति?
कहिं उववज्जिहिंति?

गोयमा ! उस्सण्णं नरग-तिरिक्खजोणिएसु
उववज्जिहिंति ॥

ते भदन्त ! मनुजाः निश्शीलाः निर्गुणाः निर्मेराः
निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासाः, 'उस्सण्णं'
मांसाहाराः मत्स्याहाराः शौद्राहाराः 'कुणिमा'-
हाराः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गमिष्यन्ति?
कुत्र उपपत्स्यन्ते ?

गौतम ! 'उस्सण्णं' नरक-तिर्यग्योनिकेषु उप-
पत्स्यन्ते ।

१२१. भन्ते ! वे शील-रहित, गुण-रहित, मर्यादा-रहित,
पौषधोपवास- और प्रत्याख्यान-रहित तथा प्रायः
मांस-मछली खाने वाले, क्षुद्र-भोजी तथा शयों को खाने
वाले मनुष्य कालमास में काल कर कहाँ जायेंगे ? कहाँ
उत्पन्न होंगे।

गौतम ! वे प्रायः नरक और तिर्यञ्च-योनि में उत्पन्न
होंगे।

१२२. ते णं भन्ते ! सीहा, वग्घा, वग्घा, दीविया,
अच्छा, तरच्छा, परस्सरा निस्सीला तहेव जाव
कहिं उववज्जिहिंति ?

गोयमा ! उस्सण्णं नरग-तिरिक्खजोणिएसु
उववज्जिहिंति ॥

ते भदन्त ! सिंहाः, व्याघ्राः, वृकाः, द्वीपिनः,
ऋक्षाः, तरक्षाः, पराशराः निश्शीलाः तथैव
यावत् कुत्र उपपत्स्यन्ते ?

गौतम ! 'उस्सण्णं' नरक-तिर्यग्योनिकेषु उप-
पत्स्यन्ते ।

१२२. भन्ते ! वे शील-रहित सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, चीता
(चित्तिदार तेंदुआ) रीछ, तेंदुआ (लक्कडबग्घा या
hyena), अष्टापद (भालू की प्रजाति का जानवर या
wombat) यावत् कालमास में काल कर कहाँ
उत्पन्न होंगे ?

गौतम ! वे प्रायः नरक और तिर्यञ्च-योनि में उत्पन्न
होंगे।

१२३. ते णं भन्ते ! ढंका, कंका, विलका, मद्दुगा,

ते भदन्त ! 'ढंका', कड्काः, विलकाः, मद्-

१२३. भन्ते ! वे शील-रहित ढंका (द्रोण-काक या बड़े

सिही निस्सीला तहेव जाव कहिं उववज्जि-
हिंति ?

गुकाः, शिखिनः निश्शीलाः तथैव यावत् कुत्र
उपपत्स्यन्ते ?

कौए) कंक (सफेद कौआ), बिलक (सुनहरा नील पक्षी
या नीलक), जलवायस (पन्नडूबी या बानकी), मोर या
कुक्कुट (मुर्गा) यावत् कहां उपपन्न होंगे ?

गोयमा ! उस्सण्णं नरग-तिरिक्खज्जोणिएसु
उववज्जिहिंति ॥

गोयमा 'उस्सण्णं' नरक-तिर्यग्योनिकेषु
उपपत्स्यन्ते ।

गौतम ! वे प्रायः नरक और तिर्यञ्च-योनि में उत्पन्न
होंगे।

भाष्य

१. सूत्र ११७-१२३

जंबुद्वीवपण्णत्ती में कालचक्र का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। प्रस्तुत आगम में यह वर्णन वहीं से उद्धृत प्रतीत होता है। आगम-वाचना के किसी चरण में इस आलापक का प्रक्षेप हुआ—यह स्वीकार करने में कोई बाधक कारण नहीं है। भगवती की संवादात्मक तथा सूत्रात्मक रचना-शैली के साथ इस विवरणात्मक शैली का संगतिपूर्ण संबंध भी नहीं है।

दुःषम-दुःषमा काल में होने वाली पर्यावरणीय परिस्थिति का विवेचन इस प्रकार है—

१. प्रलयकर वायु चलेगी।
२. दिशाएं धूमिल हो जाएंगी।
३. चन्द्रमा से अधिक ठण्ड निकलेगी।
४. सूर्य अधिक तपेगा।
५. वर्षा वैसी होगी, जिसका पानी व्याधि पैदा करने वाला होगा एवं पीने योग्य नहीं होगा।

६. वर्षा तूफानी हवा के साथ इतनी तेज बरसेगी, जिससे ग्राम-नगर, पशु-पक्षी तथा वनस्पति-जगत् का विध्वंस हो जाएगा।

७. वैताद्वयगिरि को छोड़ शेष पर्वत, डूंगर नष्ट हो जायेंगे।

८. गंगा, सिन्धू को छोड़ शेष नदियां समतल बन जाएंगी।

९. भूमि अंगारे की भांति तप्त, धूलि-बहुल हो जाएगी एवं निवास योग्य नहीं रहेगी।

१०. मनुष्य सौन्दर्य, सदाचार और शक्ति से हीन हो जाएगा।

११. मनुष्य के शरीर की ऊंचाई एक रत्निप्रमाण हो जाएगी।

१२. कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) प्रबल हो जाएगा।

१३. भोजन पोषणहीन होगा और रोग बढ़ जायेंगे।

१४. आयुष्य का कालमान १६ से २० वर्ष जितना होगा।

२. बिलों

इन बिलों की संख्या ७२ बताई गई है।*

शब्द-विमर्श

सू० ११७

१. भ. ६/१३४ ।

२. भ. जो. २/१२०/८१-८३—

गंगा सिंधु महानदी वेताढनीं नेश्राय।

बोहिनर विल-वासीनां, कुटुब निगोदा कहाय ॥८१॥

गंगा नदि जिहां उत्तर दिशि वेताढरै,

नीचे प्रवेश करै तिहां विहु पासै धरै ।

पराकाष्ठा पर (होगा) (उत्तमकट्टपत्ताए)—पराकाष्ठा को प्राप्त (होगा)।

भ० ६/१३५ में 'उत्तमकट्टपत्ताए' प्रयोग मिलता है।

आकार पर्याय का अवतरण—आकार (बाह्य स्वरूप) और भाव (पर्याय) का अवतरण अथवा आविर्भाव।

अर (समा)—काल, समय, कालचक्र का एक भाग 'अर' है।

काल के प्रभाव से (समानुभाव)—समा-काल; अनुभव-सामर्थ्य खर-परुष—अत्यन्त कठोर

वातुल—वातुल और वातूल—ये दोनों शब्द संस्कृत क्रोश-सम्मत हैं। इनका अर्थ है 'वायु का समूह', आंधी, बवण्डर।

वृत्तिकार ने वाउल का अर्थ व्याकुल असमंजस किया है। किंतु यहां व्याकुल का अर्थ संगत नहीं लगता। खर-परुष-धूलिमइला-दुव्विसहा—ये वाउला के विशेषण हैं।

प्रलयकारी हवाएं (संवर्तक)—तृण, काष्ठ आदि को उडा देने वाली वायु।

'भयंकरा'—यह संवर्तक वात का विशेषण है।

अंधकारमय (निरालोक)—आलोक-रहित।

समय की रूक्षता—यहां 'समय' शब्द 'वातावरण' का वाचक है।

काल औपचारिक द्रव्य है। वह सिन्ध अथवा रूक्ष नहीं हो सकता।

क्षार जल वाले मेघ—सज्जी क्षार के समान रस वाले मेघ।

खाद के समान रस वाले मेघ—गोबर की खाद के समान रस वाले मेघ।

ग्वेलय—गाय, भेड़ आदि पशु।

वृक्ष(रुक्ख)—आम आदि वृक्ष।

गुच्छ—वृन्ताकि आदि पौधा।

गुल्म—जिसका स्कन्ध छोटा हो और कांड, पत्र, पुष्प तथा फल अधिक हो वह गुल्म है।

लता—जिसके स्कन्ध प्रदेश से ऊपर एक शाखा के अतिरिक्त दूसरी शाखा न निकले।

वल्ली—बेल, ककडी आदि की बेल।

तण—वीरण आदि घास।

नव नव बिल छे एम अटारै विल धवा,

इम गंगा दक्षिण वेताढ कने कहाय ॥८२॥

उत्तर दिशि में अटार अटार दक्षिण दिशे,

एवं विल षट तीस तिहां जंतु वसे।

इम सिंधू बिहूं पास छतीस पिछाणिये

बोहिनर विल एम सर्व ही जाणिये ॥८३॥

पर्वग—जिसके मध्य में गांठे हों, जैसे इक्षु आदि।

हरित—दूब आदि।

औषधि—धान्य (शाली आदि)

प्रवाल—पल्लवांकुर।

तृण वनस्पतिकाय—बादर वनस्पति।

डूंगर (डोंगर)—छोटी पहाड़ी। यह देशी शब्द है।

टीले (उत्थल)—बालु के टीले

पठार (भट्टी)—पठार भूमि (धूलरहित मार्ग)

भूमिनिर्झर (सलिलबिल)—भूमि से नीचे से ऊपर की ओर

निकलती जलधारा, जलोच्छ्वास।

विरावेहिंति—विराय (विरात)—यह देशी धातु है। यहाँ इसका अर्थ है—विलीन।

सू० ११८

तत्तकवेल्लयम्भूया, तत्तसमजोतिभूया—द्रष्टव्य भ० ३/४८ का भाष्य।

चलणी—चरण-प्रमाण कर्दम।^१ जीवाजीवाभिगम वृत्ति में इसका अर्थ 'चरणमात्रस्पर्शी कर्दम' किया गया है।^२

सू० ११९

अनादेयवचन—जिसका वचन दूसरों के द्वारा आदेय, ग्राह्य अथवा मान्य न हो वह 'अनादेयवचन' कहलाता है।

प्रत्यायात—जन्म। 'पच्चायाय' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—प्रत्यायात और प्रत्याजात। वृत्तिकार ने प्रत्याजात का अर्थ 'जन्म' किया है।^३

नियोग—विधि, अवश्य करणीय।^४

दग्ध (ज्ञाम)—'ज्ञाम' देशी पद है। इसका अर्थ है—'दग्ध'।

फुट्टिसिरा—फटे हुए अथवा विदीर्ण सिर वाले। वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'विकीर्ण बाल वाला' किया है।^५

कच्छुकसराभिभूय—'कच्छु' और 'कसर' दोनों खुजली के प्रकार हैं। वृत्तिकार ने कच्छु का अर्थ 'पामा' और कसर का अर्थ 'खशर' किया है।^६

दाद, कुष्ठ, सेंहुआ, (दहु-किडिभ-सिध्म)—आयुर्वेद में कुष्ठ के अठारह प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें सिध्म और किडिभ—ये दोनों कफवातज बतलाए गए हैं। दहु भी कुष्ठ का एक प्रकार है। उसे कफपित्तज बतलाया गया है।^७

छवि—त्वचा।

चित्रल—चितकवरा।

टोलगति—टोल का अर्थ है—टिड्डा। टिड्डे की तरह टेढ़ी-मेढ़ी गति। वृत्ति में इसका अर्थ किया है—ऊंट जैसी गति वाला। विकल्प में अर्थ किया है—अप्रशस्त आकार वाला।^८

उक्कुडअट्टिग—जिसकी हड्डियां यथास्थान निविष्ट नहीं है।

विञ्जडिय—यह देशी पद है। इसका अर्थ है—'मिश्रित', 'व्याप्त'।

उग्गुडिय—यह देशी पद है। इसका अर्थ है 'धूल से भरा हुआ'।

असुहदुक्खभागी—दुःखानुबन्धी दुःखभागी।

रत्ति—बन्धी मुट्टी वाला हाथ।

निगोद—कुटुम्ब।

सू० १२०

रहपह—रथ के दोनों चक्कों की दूरी जितना मार्ग।^९

अक्खसोयपमाणमेत्तं—पहिये की धूरी के प्रवेश-छिद्र जितना।^{१०}

सू० १२१

प्रस्तुत सूत्र में 'मांसाहार' और 'कुणिमाहार' दोनों का प्रयोग हुआ है। कुणिमा का अर्थ है—शव। मांसाहार के साथ शव—मृतशरीर खाने का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि मांसाहार और शव का आहार दोनों एक कोटि के नहीं हैं। मांसाहार की अपेक्षा शव के आहार में अधिक क्रूरता की मनोवृत्ति होती है।

सू० १२२

सू० ११७ में बतलाया गया है कि चतुष्पदों का विध्वंस हो जाएगा। वह प्रायिक वचन है। प्रस्तुत सूत्र में बचे हुए चतुष्पदों का उल्लेख है। शब्द-विमर्श के लिए द्रष्टव्य भ० ३/२०६-२२० का भाष्य।

१२४. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इत्ति ।

१२४. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है।

१. भ. वृ. ६/११८—चलनप्रमाणः कर्दमश्चलनीत्युच्यते ।

२. जीवा. वृ. प. २४२ चलणीति वा. चलनी—चरणमात्रस्पर्शीकर्दमः ।

३. भ. वृ. ७/११९—प्रत्याजातन्तु जन्म।

४. अग्निमान चिन्तामणि, ६/१५६—नियोगे विधिस्त्रेषो।

५. भ. वृ. ७/११९—'फुट्टिसिर'ति विकीर्णशिरोज्ञा इत्यर्थः ।

६. वही, ७/११९—कच्छुकसराभिभूया कच्छुः—पामा तथा कशरेश्च—खशररभिभूता—व्याप्ता ये ते तथा ।

७. शार्ङ्गधरसंहिता पूर्वखण्ड, रोग गणना प्रकरण, पृ. १४८।

८. भ. वृ. ७/११९—टोलेत्वादि, टोलगतयः—उष्ट्रादिसमप्रचाराः पाठान्तरेण टोत्ताकृतयः—अप्रशमताकाराः ।

९. वही, ७/१२०—रथपथः—शकटचक्रद्वयप्रमितो मार्गः ।

१०. वही, ७/१२०—अवश्रोतः—चक्रधुरः प्रवेशरन्ध्रं तदेव प्रमाणमवश्रोतः प्रमाणं तेन मात्रा परिमाणमवगाह्यतो यस्य तत् ।

सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

संवुडस्स किरिया-पदं

१२५. संवुडस्स णं भन्ते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स, आउत्तं चिट्ठमाणस्स, आउत्तं निसीयमाणस्स, आउत्तं तुयट्ठमाणस्स, आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं गेण्हमाणस्स वा निविखवमाणस्स वा, तस्स णं भन्ते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! संवुडस्स णं अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ॥

१२६. से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—संवुडस्स णं अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा वोच्छिण्णा भवन्ति, तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोह-माण-माया-लोभा अवोच्छिण्णा भवन्ति, तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ। अहासुत्तं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ। से णं अहासुत्तमेव रीयइ। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—संवुडस्स णं अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ॥

संवृतस्य क्रिया-पदम्

संवृतस्य भदन्त ! अनगारस्य आयुक्तं गच्छतः, आयुक्तं तिष्ठतः, आयुक्तं निषीदतः, आयुक्तं त्वग्वर्तयतः, आयुक्तं वस्त्रं प्रतिग्रहं कम्बलं पादप्रोञ्चनं गृहन्तो वा निक्षिपतो वा, तस्य भदन्त ! किम् ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते? साम्परायिकी क्रिया क्रियते ?

गौतम ! संवृतस्य अनगारस्य आयुक्तं गच्छतः यावत् तस्य ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, नो साम्परायिकी क्रिया क्रियते ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—संवृतस्य अनगारस्य आयुक्तं गच्छतः यावन् नो साम्परायिकी क्रिया क्रियते ?

गौतम ! यस्य क्रोध-मान-माया-लोभाः व्युच्छिन्नाः भवन्ति, तस्य ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, यस्य क्रोध-मान-माया-लोभाः अव्युच्छिन्नाः भवन्ति, तस्य साम्परायिकी क्रिया क्रियते । यथासूत्रं रियतः ऐर्यापथिकी क्रिया क्रियते, उत्सूत्रं रियतः साम्परायिकी क्रिया क्रियते । सः यथासूत्रमेव रियति। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—संवृतस्य अनगारस्य आयुक्तं गच्छतः यावन् नो साम्परायिकी क्रिया क्रियते।

संवृत का क्रिया-पद

१२५. 'भन्ते ! जो संवृत अनगार आयुक्त दशा में (दत्तचित्त होकर) चलता है, खड़ा होता है, बैठता है, लेटता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोञ्चन लेता अथवा रखता है, भन्ते ! क्या उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है अथवा साम्परायिकी क्रिया होती है ?

गौतम ! संवृत अनगार आयुक्त दशा में चलता है यावत् उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, साम्परायिकी क्रिया नहीं होती।

१२६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—संवृत अनगार आयुक्त दशा में चलता है यावत् साम्परायिकी क्रिया नहीं होती ?

गौतम ! जिसके क्रोध, मान, माया, और लोभ व्यवच्छिन्न हो जाते हैं, उसके ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ व्यवच्छिन्न नहीं होते, उसके साम्परायिकी क्रिया होती है। यथासूत्र—सूत्र के अनुसार चलने वाले के ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, उत्सूत्र—सूत्र के विपरीत चलने वाले के साम्परायिकी क्रिया होती है। वह (जिसके क्रोध, मान, माया, और लोभ व्यवच्छिन्न होते हैं) यथासूत्र ही चलता है। गौतम! यह इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—संवृत अनगार जो आयुक्त दशा में चलता है यावत् साम्परायिकी क्रिया नहीं होती ।

भाष्य

१. सूत्र १२५, १२६

द्रष्टव्य भ. ७/२० का भाष्य ।

संवृत के लिए द्रष्टव्य भ. १/४४-४७ का भाष्य ।

काम-भोग-पदं

१२७. रूवी भंते ! कामा? अरूवी कामा?
गोयमा ! रूवी कामा, नो अरूवी कामा ॥

१२८. सचित्ता भंते ! कामा ? अचित्ता कामा ?
गोयमा ! सचित्ता वि कामा, अचित्ता वि कामा ॥

१२९. जीवा भंते ! कामा ? अजीवा कामा ॥
गोयमा ! जीवा वि कामा, अजीवा वि कामा ॥

१३०. जीवाणं भंते ! कामा ? अजीवाणं कामा?
गोयमा ! जीवाणं कामा, नो अजीवाणं कामा ॥

१३१. कतिविहा णं भंते ! कामा पण्णत्ता?
गोयमा ! दुविहा कामा पण्णत्ता, तं जहा—
सद्दा य, रूवा य ॥

१३२. रूवी भंते ! भोगा ? अरूवी भोगा ?
गोयमा ! रूवी भोगा, नो अरूवी भोगा ॥

१३३. सचित्ता भंते ! भोगा ? अचित्ता भोगा?
गोयमा ! सचित्ता वि भोगा, अचित्ता वि भोगा ॥

१३४. जीवा भंते ! भोगा ? अजीवा भोगा?
गोयमा ! जीवा वि भोगा, अजीवा वि भोगा ॥

१३५. जीवाणं भंते ! भोगा ? अजीवाणं भोगा ?
गोयमा ! जीवाणं भोगा, नो अजीवाणं भोगा ॥

१३६. कतिविहा णं भंते ! भोगा पण्णत्ता ?
गोयमा ! तिविहा भोगा पण्णत्ता, तं जहा—
गंधा, रसा, फासा ॥

१३७. कतिविहा णं भंते ! काम-भोगा पण्णत्ता ?
गोयमा ! पंचविहा काम-भोगा पण्णत्ता, तं
जहा—सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा ॥

१३८. जीवा णं भंते ! किं कामी ? भोगी ?

काम-भोग-पदम्

रूपिणः भदन्त ! कामाः? अरूपिणः कामाः?
गौतम ! रूपिणः कामाः, नो अरूपिणः कामाः।

सचित्ताः भदन्त ! कामाः? अचित्ताः कामाः?
गौतम ! सचित्ताः अपि कामाः अचित्ताः अपि
कामाः।

जीवाः भदन्त ! कामाः? अजीवाः कामाः ?
गौतम ! जीवाः अपि कामाः, अजीवाः अपि
कामाः।

जीवानां भदन्त ! कामाः? अजीवानां कामाः?
गौतम ! जीवानां कामाः, नो अजीवानां कामाः।

कतिविधाः भदन्त ! कामाः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! द्विविधाः कामाः प्रज्ञप्ताः तद् यथा—
शब्दाः च रूपाणि च।

रूपिणः भदन्त ! भोगाः? अरूपिणः भोगाः?
गौतम ! रूपिणः भोगाः, नो अरूपिणः भोगाः।

सचित्ताः भदन्त ! भोगाः? अचित्ता भोगाः ?
गौतम ! सचित्ताः अपि भोगाः, अचित्ताः अपि
भोगाः।

जीवाः भदन्त ! भोगाः? अजीवाः भोगाः?
गौतम ! जीवाः अपि भोगाः, अजीवाः अपि
भोगाः।

जीवानां भदन्त ! भोगाः अजीवानां भोगाः?
गौतम ! जीवानां भोगाः, नो अजीवानां भोगाः।

कतिविधाः भदन्त ! भोगाः प्रज्ञप्ताः?
गौतम ! त्रिविधाः भोगाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—
गन्धाः, रसाः, स्पर्शाः।

कतिविधाः भदन्त ! काम-भोगाः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! पंचविधाः काम-भोगाः प्रज्ञप्ताः, तद्
यथा—शब्दाः, रूपाणि, गन्धाः, रसाः, स्पर्शाः।

जीवाः भदन्त ! किं कामिनः ? भोगिनः ?

काम-भोग-पद

१२७. भन्ते ! काम रूपी हैं अथवा अरूपी ?
गौतम ! काम रूपी हैं, अरूपी नहीं हैं।

१२८. भन्ते ! काम सचित्त हैं अथवा अचित्त ?
गौतम ! काम सचित्त भी हैं और अचित्त भी हैं।

१२९. भन्ते ! काम जीव हैं अथवा अजीव ?
गौतम ! काम जीव भी हैं और अजीव भी हैं।

१३०. भन्ते ! काम जीवों के होते हैं अथवा अजीवों के
होते हैं ?
गौतम ! काम जीवों के होते हैं, अजीवों के नहीं होते।

१३१. भन्ते ! काम कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! काम दो प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—शब्द और
रूप।

१३२. भन्ते ! भोग रूपी हैं अथवा अरूपी हैं ?
गौतम ! भोग रूपी हैं, अरूपी नहीं हैं।

१३३. भन्ते ! भोग सचित्त हैं अथवा अचित्त ?
गौतम ! भोग सचित्त भी हैं और अचित्त भी हैं।

१३४. भन्ते ! भोग जीव हैं अथवा अजीव ?
गौतम ! भोग जीव भी हैं और अजीव भी हैं।

१३५. भन्ते ! भोग जीवों के होते हैं अथवा अजीवों के
होते हैं ?
गौतम ! भोग जीवों के होते हैं, अजीवों के नहीं होते।

१३६. भन्ते ! भोग कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं?
गौतम ! भोग तीन प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—गन्ध,
रस और स्पर्श।

१३७. भन्ते ! काम-भोग कितने प्रकार के प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! काम-भोग पांच प्रकार के प्रज्ञप्त हैं, जैसे—
शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श।

१३८. भन्ते ! क्या जीव कामी हैं अथवा भोगी ?

गोयमा ! जीवा कामी वि, भोगी वि ॥

गौतम ! जीवाः कामिनः अपि, भोगिनः अपि ।

गौतम ! जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं ।

१३६. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जीवा कामी वि ? भोगी वि ?

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—जीवाः कामिनः अपि ? भोगिनः अपि ?

१३६. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं ?

गोयमा ! सोइंदिय-चर्विंखदियाइं पडुच्च कामी, घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च भोगी ! से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जीवा कामी वि, भोगी वि ॥

गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिये प्रतीत्य कामिनः, घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रियाणि प्रतीत्य भोगिनः । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—जीवाः कामिनः अपि, भोगिनः अपि ।

गौतम ! श्रोत्र-इन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय की अपेक्षा जीव कामी हैं। घ्राण-इन्द्रिय, जिह्व-इन्द्रिय और स्पर्शनइन्द्रिय की अपेक्षा जीव भोगी हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव कामी भी हैं, और भोगी भी हैं।

१४०. नेरइया णं भंते ! किं कामी ? भोगी ? एवं चैव जाव थणियकुमारा ॥

नैरयिकाः भदन्त ! किं कामिनः ? भोगिनः ? एवं चैव यावत् स्तनितकुमाराः ।

१४०. भन्ते ! नैरयिक कामी है अथवा भोगी ? नैरयिक से लेकर स्तनितकुमार तक जीव की भाँति वक्तव्य है।

१४१. पुढविकाइयाणं—पृच्छ ।

गोयमा ! पुढविकाइया नो कामी, भोगी ॥

पृथ्वीकायिकानां—पृच्छ ।

गौतम ! पृथ्वीकायिकाः नो कामिनः, भोगिनः ।

१४१. पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में पृच्छ ।

गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव कामी नहीं हैं, भोगी हैं।

१४२. से केणट्टेणं जाव भोगी ?

गोयमा ! फासिंदियं पडुच्च । से तेणट्टेणं जाव भोगी । एवं जाव वणस्सइकाइया । बेइंदिया एवं चैव, नवरं—जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च । तेइंदिया वि एवं चैव, नवरं—घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च ॥

तत् केनार्थेन यावद् भोगिनः ?

गौतम ! स्पर्शनेन्द्रियं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन यावद् भोगिनः । एवं यावद् वनस्पतिकायिकः । द्वीन्द्रियाः एवं चैव, नवरं जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रिये प्रतीत्य । त्रीन्द्रियाः अपि एवं चैव, नवरं—घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रियाणि प्रतीत्य ।

१४२. भन्ते ! पृथ्वीकायिक जीव किस अपेक्षा से भोगी है ?

गौतम ! स्पर्शन इन्द्रिय की अपेक्षा से। उनमें स्पर्शन-इन्द्रिय है, इसलिए वे भोगी हैं। अस्कायिक, तेज-स्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की वक्तव्यता पृथ्वीकायिक जीवों के समान है। द्वीन्द्रिय जीवों के विषय में यही वक्तव्यता है, केवल इतना विशेष है—वे जिह्व और स्पर्शन—इन दो इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं। त्रीन्द्रिय जीवों के विषय में भी यही वक्तव्यता है, केवल इतना विशेष है—वे घ्राण, जिह्व और स्पर्शन—इन तीन इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं।

१४३. चउरिंदियाणां—पृच्छ ।

गोयमा ! चउरिंदिया कामी वि, भोगी वि ॥

चतुरिन्द्रियाणां—पृच्छ ।

गौतम ! चतुरिन्द्रियाः कामिनः अपि, भोगिनः अपि ।

१४३. चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में पृच्छ ।

गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीव कामी भी हैं और भोगी भी हैं।

१४४. से केणट्टेणं जाव भोगी वि ?

गोयमा ! चर्विंखदियं पडुच्च कामी, घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियाइं पडुच्च भोगी । से तेणट्टेणं जाव भोगी वि । अवसेसा जहा जीवा जाव वेमाणिया ॥

तत् केनार्थेन यावद् भोगिनः अपि ?

गौतम ! चक्षुरिन्द्रियं प्रतीत्य कामिनः, घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शनेन्द्रियाणि प्रतीत्य भोगिनः । तत् तेनार्थेन यावद् भोगिनः अपि । अवशेषाः यथा जीवाः यावद् वैमानिकाः ।

१४४. भन्ते ! चतुरिन्द्रिय जीव किस अपेक्षा से कामी भी हैं, भोगी भी हैं ?

गौतम ! वे चक्षु-इन्द्रिय की अपेक्षा से कामी हैं, घ्राण, जिह्व और स्पर्शन-इन्द्रियों की अपेक्षा से भोगी हैं। गौतम ! इस अपेक्षा से वे कामी भी हैं, भोगी भी हैं। अवशिष्ट वैमानिक तक सभी दण्डकों की वक्तव्यता जीव के समान है।

१४५. एएसि णं भंते ! जीवाणं कामभोगीणं, नोकामीणं, नोभोगीणं, भोगीणं य कयरे कयरे-हिंती अप्पा वा ? बहुया वा ? तुल्ला वा ? विसेसाहिया वा ?

एतेषां भदन्त ! जीवानां कामभोगीनां नोका-मिनां, नो भोगीनां, भोगीनां च कतरे कतरेभ्यः अल्पाः वा ? बहुकाः वा ? तुल्याः वा ? विशेषा-धिकाः वा ?

१४५. भन्ते ! कामभोगी, नो कामी, नो भोगी और भोगी—इन जीवों में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा कामभोगी, नोका-
मी, नोभोगी अणंतगुणा, भोगी अणंतगुणा ॥

गौतम ! सर्वस्तोकाः जीवाः कामभोगिनः,
नोकाभिनः, नोभोगिनः अनन्तगुणाः, भोगिनः
अनन्तगुणाः

गौतम ! कामभोगी जीव सबसे अल्प हैं। नोकाभी, नो-
भोगी उनसे अनन्तगुणा अधिक हैं। भोगी उनसे
अनन्तगुणा अधिक हैं।

भाष्य

१. सूत्र १२७-१४५

प्रस्तुत आलापक में इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय के संबंध की मीमांसा की गई है। पांच इन्द्रियां हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन। इनके पांच विषय हैं—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। दर्शन-युग में इन्द्रियों के प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी होने की चर्चा विस्तार से हुई है। नैयायिक-वैशेषिक सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार चक्षु और श्रोत्र प्राप्यकारी नहीं हैं। जैन दर्शन में केवल चक्षु को अप्राप्यकारी माना गया है। यह ज्ञानमीमांसा का विषय है। काम और भोग की मीमांसा ज्ञानमीमांसा से भिन्न है। काम और भोग की मीमांसा में श्रोत्र और चक्षु—ये दो इन्द्रियां कामी हैं, शेष तीन इन्द्रियां भोगी हैं। जिन विषयों की कामना की जाती है, किंतु संवेदन या अनुभव नहीं होता, वे काम कहलाते हैं। शब्द और रूप ये दो काम हैं। जो विषय संवेदन उत्पन्न करते हैं, जिनका अनुभव होता है, वे भोग कहलाते हैं। गंध, रस और स्पर्श—ये तीन भोग हैं।

काम और भोग पौद्गलिक हैं, इसलिए वे रूपी हैं।

चैतन्य-युक्त शब्द और रूप सचित्त तथा चैतन्य-रहित शब्द और रूप अचित्त हैं। वृत्तिकार ने सचित्त-अचित्त की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार समनस्क प्राणी का रूप सचित्त काम और अमनस्क प्राणी का रूप अचित्त काम है। किंतु यह विमर्शनीय है। आगम-साहित्य में समनस्क के

लिए संज्ञी और अमनस्क के लिए असंज्ञी का प्रयोग मिलता है। 'सचित्त' का प्रयोग सभी चेतनावान् प्राणियों के लिए हुआ है और 'अचित्त' का प्रयोग चेतना-शून्य वस्तु के लिए हुआ है।

सजीव शरीर के रूप की अपेक्षा तथा जीव-शब्द की अपेक्षा काम जीव भी हैं। चित्र, पुतली आदि के रूप की अपेक्षा तथा अजीव-शब्द की अपेक्षा काम अजीव भी हैं।

भोग का विषय काम की भांति ही वक्तव्य है।

जीव कामी और भोगी दोनों प्रकार के होते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीव केवल भोगी होते हैं। चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव कामी और भोगी दोनों प्रकार के होते हैं।

कामी और भोगी जीव सबसे अल्प हैं। इसका हेतु यह है—चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव सबसे अल्प होते हैं। सिद्ध जीव नोकामी और नोभोगी हैं। वे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं। भोगी जीव सिद्धों से भी अनन्तगुणा अधिक हैं। भोगी की कोटि में जीवों के तीन वर्ग हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय। वनस्थिति में अनन्त जीव होते हैं, इस अपेक्षा से भोगी जीव सिद्धों की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं।

प्रस्तुत आलापक में काम और भोग का निश्चित वर्गीकरण है। व्याख्या-साहित्य में उस का निर्वाह नहीं हुआ है।

दुब्बलशरीरस्स भोगपरिच्चाय-पदं

१४६. छउमत्थे णं भन्ते ! मणुसे जे भविए
अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जित्तए,
से नूणं भन्ते ! से खीणभोगी नो पभू उट्टाणेणं,
कम्मणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-
परक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे
विहरित्तए ? से नूणं भन्ते ! एयमट्ठं एवं वयह?
गोयमा ! नो तिण्ढे समट्ठे । पभू णं से उट्टाणेण
वि, कम्मणं वि, बलेणं वि, वीरिएणं वि, पुरि-
सक्कार-परक्कमेणं वि अण्णयराइं विपुलाइं
भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी,
भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे, महापज्ज-
वसाणे भवइ ॥

दुर्बलशरीरस्य भोग-परित्याग-पदम्

छदमस्थः भदन्त ! मनुष्यः यः भव्यः अन्यतरेषु
देवलोकेषु देवतया उपपत्तुं तन् नूनं भदन्त !
स क्षीणभोगी नो प्रभुः उत्थानेन, कर्मणा,
बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण विपुला-
न् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम् ? तन् नूनं
भदन्त ! एतमर्थम् एवं वदथः ?
गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः । प्रभुः सः उत्था-
नेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण
अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अन्यतरान्
विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम्,
तस्माद् भोगी, भोगान् परित्यजन् महानिर्जरः
महापर्यवसानः भवति ।

दुर्बल शरीर वाले का भोग-परित्याग-पद

१४६. 'भन्ते ! छदमस्थ मनुष्य जो किसी देवलोक में देव
के रूप में उपपन्न होने के योग्य है, भन्ते ! वह
क्षीणभोगी—दुर्बल शरीर वाला है। वह उत्थान, कर्म,
बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य
भोगों का भोग करने में समर्थ नहीं है। भन्ते ! क्या
आप भी इस अर्थ को इस प्रकार कहते हैं ?
गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह उत्थान, कर्म,
बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों
का भोग करने में समर्थ है, इसलिए वह भोगी है। वह
भोगों का परित्याग करता हुआ महानिर्जर और महा-
पर्यवसान को प्राप्त होता है।

१४७. आहोहिए णं भन्ते ! मणुसे जे भविए
अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जित्तए,
से नूणं भन्ते ! से खीणभोगी नो पभू उट्टाणेणं,
कम्मणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-

आधोवधिकः भदन्त ! मनुष्यः यः भव्यः
अन्यतरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्तुं तन्
नूनं भदन्त ! स क्षीणभोगी नो प्रभुः उत्थानेन,
कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण

१४७. भन्ते ! आधोवधिज्ञानी मनुष्य जो किसी देवलोक
में देव के रूप में उपपन्न होने के योग्य है, भन्ते ! वह
क्षीणभोगी—दुर्बल शरीर वाला है। वह उत्थान, कर्म,
बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य

१. म. वृ. ६/१२८—सचित्ता अपि कामाः समनस्कप्राणिरूपापेक्षया। अचित्ता अपि कामा भवति शब्दद्वयापेक्षयाऽसंज्ञीजीवशरीररूपापेक्षया चेति।

-परक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए ? से नूणं भंते ! एयमद्धं एवं वयह ? गोयमा ! णो तिण्ढे समद्धे । पभू णं से उट्टाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेणं वि अण्णयराईं विपुलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी, भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ ॥

१४८. परमाहोहिणं णं भंते ! मणूसे जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं सिञ्जित्तए जाव अंतं करेत्तए, से नूणं भंते ! से खीणभोगी नो पभू उट्टाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए ? से नूणं भंते ! एयमद्धं एवं वयह ?

गोयमा ! णो तिण्ढे समद्धे । पभू णं से उट्टाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि, पुरिसक्कार-परक्कमेणं वि अण्णयराईं विपुलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी, भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ ॥

१४९. केवली णं भंते ! मणूसे जे भविए तेणेव भवग्गहणेणं सिञ्जित्तए जाव अंतं करेत्तए, से नूणं भंते ! से खीणभोगी नो पभू उट्टाणेणं, कम्मेणं, बलेणं, वीरिएणं, पुरिसक्कार-परक्कमेणं विउलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए ? से नूणं भंते ! एयमद्धं एवं वयह ? गोयमा ! णो तिण्ढे समद्धे । पभू णं से उट्टाणेण वि, कम्मेण वि, बलेण वि, वीरिएण वि पुरिसक्कार-परक्कमेणं वि अण्णयराईं विपुलाइं भोगभोगाईं भुंजमाणे विहरित्तए, तम्हा भोगी, भोगे परिच्चयमाणे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवति ॥

विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम् ? तन् नूनं भदन्त ! एतमर्थम् एवं वदथ ? गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः । प्रभुः सः उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अन्यतरान् विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम्, तस्माद् भोगी भोगान् परित्यजन् महानिर्जरः महापर्यवसानः भवति ।

परमाधोऽवधिकः भदन्त ! मनुष्यः यः भव्यः तेनैव भवग्रहणेन सेद्धुं यावद् अन्तं कर्तुम्, तन् नूनं भदन्त ! स क्षीणभोगी नो प्रभुः उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम् ? तन् नूनं भदन्त ! एतमर्थम् एवं वदथ ?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः । प्रभुः सः उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि, पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अन्यतरान् विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम्, तस्माद् भोगी, भोगान् परित्यजन् महानिर्जरः, महापर्यवसानः भवति ।

केवली भदन्त ! मनुष्यः यः भव्यः तेनैव भवग्रहणेन सेद्धुं यावद् अन्तं कर्तुम्, तन् नूनं भदन्त ! स क्षीणभोगी नो प्रभुः उत्थानेन, कर्मणा, बलेन, वीर्येण, पुरुषकार-पराक्रमेण विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम् ! तन् नूनं भदन्त ! एतमर्थम् एवं वदथ ?

गौतम ! नायमर्थः समर्थः । प्रभुः स उत्थानेन अपि, कर्मणा अपि, बलेन अपि, वीर्येण अपि पुरुषकार-पराक्रमेण अपि अन्यतरान् विपुलान् भोग्यभोगान् भुञ्जानः विहर्तुम् तस्माद् भोगिनः भोगान् परित्यजन् महानिर्जरः महापर्यवसानः भवति ।

भोगों का भोग करने में समर्थ नहीं है। भन्ते ! क्या आप भी इस अर्थ को इस प्रकार कहते हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों का भोग करने में समर्थ है, इसलिए वह भोगी है। वह भोगों का परित्याग करता हुआ महानिर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त होता है।

१४८. भन्ते ! परम अवधिज्ञानी मनुष्य, जो उसी भव में सिद्ध होने यावत् सब दुःखों का अन्त करने में योग्य हैं, भन्ते ! वह क्षीणभोगी—दुर्बल शरीर वाला है। वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों का भोग करने में समर्थ नहीं है। भन्ते ! क्या आप भी इस अर्थ को इस प्रकार कहते हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों का भोग करने में समर्थ है। इसलिए वह भोगी है। वह भोगों का परित्याग करता हुआ महानिर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त होता है।

१४९. भन्ते ! केवलज्ञानी मनुष्य जो उसी भव में सिद्ध होने यावत् सब दुःखों का अन्त करने के योग्य है, भंते ! वह क्षीणभोगी—दुर्बल शरीर वाला है। वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों का भोग करने में समर्थ नहीं है। भन्ते ! क्या आप भी इस अर्थ को इस प्रकार कहते हैं ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से विपुल भोग्य भोगों का भोग करने में समर्थ है, इसलिए वह भोगी है। वह भोगों का परित्याग करता हुआ महानिर्जरा और महापर्यवसान को प्राप्त होता है।

भाष्य

१. सूत्र १४६-१४९

प्रश्न उपस्थित किया गया—जो भोगी नहीं है, वह त्यागी नहीं होता। जो त्यागी नहीं है, वह महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला नहीं हो सकता। विशिष्ट निर्जरा के बिना वे विशिष्ट पुण्य का बंध नहीं होता। जैसे—एक पुरुष दुर्बल शरीर वाला है। उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम नहीं है। वह भोग भोगने में समर्थ नहीं हो सकता, फिर त्याग कैसे ?

इस प्रश्न का समाधान उत्थान, कर्म आदि के मात्रा-भेद और उनके

प्रवर्तक अध्यवसाय-भेद के आधार पर किया गया है। दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति विषय का भोग करने में अधिक उत्थान, कर्म आदि का प्रयोग नहीं कर सकता, किंतु अल्प उत्थान, कर्म आदि का प्रयोग कर सकता है; इसलिए वह विषय का भोग करने में सर्वथा असमर्थ नहीं है।

दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी अध्यवसाय के स्तर पर विषय का भोग कर सकता है; इस अपेक्षा से भी वह विषय का भोग करने में असमर्थ नहीं है। वह भोग करने में समर्थ है; इसलिए उनका परित्याग करने के कारण वह त्यागी भी हो सकता है।

एकेन्द्रिय जीव भी प्रशस्त अध्यवसाय से मनुष्य के आयुष्य का बंध करते हैं। फिर दुर्बल मनुष्य प्रशस्त अध्यवसाय से निर्जरा और देव-आयुष्य का बंध क्यों नहीं कर सकता ? प्रत्येक मनुष्य में उत्थान, कर्म आदि एक जैसे नहीं होते। 'ध्यानविचार' में वीर्य, पराक्रम आदि के बारह-बारह प्रकार बतलाए गए हैं।^१ एक व्यक्ति निर्जरा के लिए शरीर की शुभ प्रवृत्ति अधिक नहीं कर सकता, किंतु ध्यान में वीर्य का प्रयोग अधिक कर सकता है। ध्यानात्मक वीर्य शरीर की शुभ प्रवृत्ति से अधिक निर्जरा का हेतु बन सकता है। ध्यानविचार में वीर्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—'ध्यान की अग्नि में जीव-प्रदेशों के द्वारा कर्मों को जला डालने वाली शक्ति वीर्य है।'^२ इसलिए दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी भोग का परित्याग कर महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला हो सकता है।

प्रस्तुत आलापक में अवधिज्ञानी, परमावधिज्ञानी और केवलज्ञानी

को भी भोगी कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि वे दुर्बल शरीर वाले होने के कारण जीवन-यात्रोपयोगी वस्तु या पदार्थ का भोग करने में सर्वथा असमर्थ नहीं हैं, इसलिए वे भोगी हैं। भोगी हैं, अतः त्यागी भी हैं और महानिर्जरा-महापर्यवसान वाले भी हैं।

शब्द-विमर्श

छद्मस्थ—आवृत ज्ञान वाला।

आधोवधिक, परमाधोवधिक—द्रष्टव्य भ. १/२००-२१० का भाष्य।

केवली—अनावृत ज्ञान वाला, सर्वज्ञ।

महानिर्जरा—जिसके कर्म का महान् निर्जरण हुआ है।

महापर्यवसान—जिसका पर्यवसान स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति में हो।

अकामनिकरण-वेदण-पदं

१५०. जे इमे भंते ! असण्णिणो पाणा, तं जहा—
पुढविकाइया जाव वणस्सइकइया, छट्ठा य
एगतिया तसा—एए णं अंधा, मूढा, तमं-
पविट्ठा, तमपटल-मोहजाल-पडिच्छन्ना अ-
कामनिकरणं वेदणं वेदेतीति वक्तव्यं सिया?

हंता गौयमा ! जे इमे असण्णिणो पाणा जाव
वेदणं वेदेतीति वक्तव्यं सिया ॥

अकामनिकरण-वेदना-पदम्

ये इमे भदन्त ! असंजिनः प्राणाः, तद् यथा
—पृथिवीकायिकाः यावद् वनस्पतिकायिकाः,
षष्ठाः च एकके त्रसाः—एते अन्धाः, मूढाः,
तमःप्रविष्टाः, तमःपटल-मोहजाल-प्रति-
च्छन्नाः अकामनिकरणां वेदनां वेदयन्तीति
वक्तव्यं स्यात् ?

हन्त गौतम ! ये इमे असंजिनः प्राणाः यावद्
वेदनां वेदयन्तीति वक्तव्यं स्यात् ।

अकामनिकरण-वेदना-पद

१५०. 'भन्ते ! जो ये अमनस्क प्राणी, जैसे—पृथ्वीकायिक
यावत् वनस्पतिकायिक (पांच स्थावर) छठे वर्ग के कुछ
त्रस जीव हैं—ये अन्ध हैं, मूढ़ हैं, अन्धकार में प्रविष्ट
हैं, तमपटल और मोहजाल से आच्छादित हैं, अकाम-
निकरण—अज्ञानहेतुक वेदना का वेदन करते हैं,
क्या यह कहा जा सकता है?

हां, गौतम ! जो ये अमनस्क प्राणी यावत् अकाम-
निकरण वेदना का वेदन करते हैं—यह कहा जा
सकता है।

१५१. अत्थि णं भंते ! पभू वि अकामनिकरणं
वेदणं वेदति ?

हंता ! अत्थि ॥

अरित भदन्त ! प्रभुः अपि अकामनिकरणां
वेदनां वेदयति ?

हन्त ! अरित ।

१५१. भन्ते ! क्या प्रभु—समनस्क भी अकामनिकरण
वेदना का वेदन करता है ?

हां, करता है।

१५२. कहण्णं भंते ! पभू वि अकामनिकरणं
वेदणं वेदेति ?

गौयमा ! जे णं नो पभू विणा पदीवेणं अंध-
कारंसि रुवाइं पासित्तए, जे णं नो पभू पुरओ
रुवाइं अणिज्जाइत्ता णं पासित्तए, जे णं नो
पभू मग्गओ रुवाइं अणवयक्खित्ता णं पासि-
त्तए, जे णं नो पभू पासओ रुवाइं अण-
वल्लोएत्ता णं पासित्तए, जे णं नो पभू उड्डं
रुवाइं अणालोएत्ता णं पासित्तए, जे णं नो
पभू अहे रुवाइं अणालोएत्ता णं पासित्तए, एस
णं गौयमा ! पभू वि अकामनिकरणं वेदणं
वेदेति ॥

कथं भदन्त ! प्रभुः अपि अकामनिकरणां
वेदनां वेदयति ?

गौतम ! यः नो प्रभुः बिना प्रदीपेन अन्धकारे
रूपाणि द्रष्टुं, यः नो प्रभुः पुरतः रूपाणि
अनिध्याय द्रष्टुं, यः नो प्रभुः 'मग्गओ' रूपाणि
अनवेक्ष्य द्रष्टुं, यः नो प्रभुः पार्श्वतः रूपाणि
अनवलोक्य द्रष्टुं, यः नो प्रभुः ऊर्ध्वं रूपाणि
अनालोक्य द्रष्टुं, यः नो प्रभुः अधः रूपाणि
अनालोक्य द्रष्टुं, एष गौतम ! प्रभुः अपि
अकामनिकरणां वेदनां वेदयति ।

१५२. भन्ते ! प्रभु भी अकामनिकरण वेदना का वेदन
कैसे करता है ?

गौतम ! जो दीप के बिना अन्धकार में रूपों को देखने
में समर्थ नहीं है, जो अपने सामने के रूपों को भी चक्षु
का व्यापार किए बिना देखने में समर्थ नहीं है, जो
अपने पृष्ठवर्ती रूपों को पीछे की ओर मुड़े बिना देखने
में समर्थ नहीं है, जो अपने पार्श्ववर्ती रूपों का
अवलोकन किए बिना देखने में समर्थ नहीं है, जो
अपने ऊर्ध्ववर्ती रूपों का अवलोकन किए बिना देखने
में समर्थ नहीं है, जो अपने अधोवर्ती रूपों का
अवलोकन किए बिना देखने में समर्थ नहीं है, गौतम !
यह प्रभु भी अकामनिकरण वेदना का वेदन करता है।

१. ध्यानविचार, पृ. १६६—

जोगो विरियं थामो उच्छह परक्कमो तहा चेत्ता ।

सती सामत्थं चिय चउगुण बारडु छन्नउई ॥

२. ध्यानविचार, पृ. १६८—वीर्यम्—जीवप्रदेशैः कर्मणः प्रेरणं ध्यानाग्नौ चैतिकयेव कचवरस्य ।

प्रकामनिकरण-वेदना-पदं

१५३. अत्थि णं भन्ते ! पभू वि प्रकामनिकरणं वेदणं वेदेति ?
हंता अत्थि ॥

प्रकामनिकरण-वेदना-पदम्

अस्ति भदन्त ! प्रभुः अपि प्रकामनिकरणां वेदनां वेदयति ?
हन्त अस्ति ।

प्रकामनिकरण-वेदना-पद

१५३. भन्ते ! क्या प्रभु प्रकामनिकरण-प्रज्ञानहेतुक वेदना का वेदन करता है ?
हाँ, करता है।

१५४. कहणं भन्ते ! पभू वि प्रकामनिकरणं वेदणं वेदेति ?

गोयमा ! जे णं नो पभू समुद्दस्स पारं गमित्तए, जे णं नो पभू समुद्दस्स पारगयाईं रुवाइं पासित्तए, जे णं नो पभू देवलोगं गमित्तए, जे णं नो पभू देवलोगयाईं रुवाइं पासित्तए, एस णं गोयमा ! पभू वि प्रकामनिकरणं वेदणं वेदेति ॥

कथं भदन्त ! प्रभु अपि प्रकामनिकरणां वेदनां वेदयति ?

गौतम ! यः नो प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं, यः नो प्रभुः समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं, यः नो प्रभुः देवलोकं गन्तुं, यः नो प्रभुः देवलोकगतानि रूपाणि द्रष्टुं, एष गौतम ! प्रभुः अपि प्रकामनिकरणां वेदनां वेदयति ।

१५४. भन्ते ! प्रभु भी प्रकामनिकरण वेदना का वेदन कैसे करता है ?

गौतम ! जो समुद्र के उस पार जाने में समर्थ नहीं हैं, जो समुद्र के पारवर्ती रूपों को देखने में समर्थ नहीं है, जो देवलोक में जाने में समर्थ नहीं है, जो देवलोकवर्ती रूपों को देखने में समर्थ नहीं हैं, गौतम ! यह प्रभु भी प्रकामनिकरण वेदना का वेदन करता है।

भाष्य

१. सूत्र १५०-१५४

प्रस्तुत आलापक में अमनस्क और समनस्क श्रेणी के जीवों की वेदना का विमर्श किया गया है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सधूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय—ये सब असंज्ञी—अमनस्क होते हैं। इनकी अज्ञान-अवस्था को अंध आदि चार विशेषणों के द्वारा व्यक्त किया गया है। इन जीवों में मन का ज्ञान नहीं होता, फिर भी संवेदन होता है। संज्ञा-सिद्धान्त के अनुसार इनमें भय, क्रोध, लोभ आदि संवेगों से उत्पन्न संवेदन होता है।

गौतम ने पूछा—भन्ते ! पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों में 'हम इष्ट और अनिष्ट स्पर्श का संवेदन कर रहे हैं'—क्या इस प्रकार की संज्ञा, प्रज्ञा,

मन और वचन होता है ? भगवान—नहीं होता, किंतु वे इष्ट और अनिष्ट स्पर्श का संवेदन करते हैं।^१ पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव छह स्थानों का अनुभव या संवेदन करते हैं।—१. इष्ट-अनिष्ट स्पर्श, २. इष्ट-अनिष्ट गति, ३. इष्ट-अनिष्ट स्थिति, ४. इष्ट-अनिष्ट लावण्य, ५. इष्ट-अनिष्ट यज्ञःकीर्ति, ६. इष्ट-अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम।^२

इन संदर्भों से स्पष्ट है कि मन-रहित जीवों में भी संवेदन होता है। इस प्रसंग में प्रो० मर्किल, वोगल तथा क्ली वैक्स्टर द्वारा पौधों पर किए गए प्रयोग उल्लेखनीय हैं।^३ पेड़-पौधों के संवेदना-तंत्र की घटनाएँ भी वैज्ञानिक अनुसंधान का विषय बन रही है।^४

१. ठाणं, १०/१०५-१०७।

२. भ. १६/१४; २०/३-६।

३. वही, १४/६३।

४. तीर्थकर, जनवरी ८६ : लेखक डॉ० अवधेश शर्मा—

"पेड़-पौधे न केवल अपने आस-पास आने वाले व्यक्तियों के भले-बुरे भावों को पहचान लेते हैं, बल्कि वे उन भावनाओं से प्रभावित भी होते हैं। प्रो० वोगल ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि पौधे उन्हें उखाड़ने या नष्ट करने के विचार मात्र से पूरी तरह आतंकित हो जाते हैं। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक मित्र विवियन विले के सहयोग से एक प्रयोग की योजना बनायी। इसके लिए उन्होंने गमलों में लगे दो पौधों को चुना। इन्हें दोनों ने अपने-अपने शयन कक्षों में रखा। वोगल ने जो पौधा अपने शयन-कक्ष में रखा था, जब भी वे वहाँ जाते तब पौधे के बारे में अच्छे भाव और शुभ विचार लाते। इधर विले अपने शयन-कक्ष में पौधे के पास जब भी जाते तब पौधे को उखाड़ने या नष्ट करने का विचार करते। दोनों मित्र प्रातःकाल जब उठते, तब उसी प्रकार के विचार करते।

एक माह बाद देखा गया तो वोगल वाला पौधा अधिक हरा-भरा था और विले वाला पौधा पहले की अपेक्षा सूखकर पीला पड़ने लगा था। दोनों को जो खाद-पानी दिया गया था, वह एक ही तरह का था। संभव है यह मात्र संयोग ही रहा हो; यह सोचकर वोगल तथा विले पहले के भावों के विपरीत भावनाएँ जगाने लगे। महीने-भर बाद देखा गया कि वोगल वाला पौधा सूखने लगा तथा विले वाला पौधा हरा-भरा रहने लगा।

इन लम्बे प्रयोगों के बाद वोगल ने कुछ और भी प्रयोग किए। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में एक पौधे को एक ऐसे यंत्र से जोड़ा जो पौधे की आन्तरिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों को कंपन के रूप में अंकित करता था। पौधे को इस यंत्र से जोड़ने के बाद वोगल ने अपनी हथेलियों को पौधों के चारों ओर सटायी तथा साथ ही अपने मन में पौधे के प्रति मित्रता के भाव भी जगाने लगे। वोगल ने देखा कि पौधे के साथ लगे यंत्र ने कामज पर एक ग्राफ खींच दिया है। इस प्रयोग को उन्होंने कई बार दोहराया और लगभग एक ही समान ग्राफ प्राप्त किया। प्रोफेसर वोगल ने इन प्रयोगों से

प्राप्त निष्कर्षों को जब वनस्पति-विज्ञानियों के एक सम्मेलन में रखा तब कई वैज्ञानिकों ने इन प्रयोगों में रुचि दिखाई। एक वनस्पति विज्ञानी डा० सिलेम जोन्स ने स्वयं इस प्रयोग को अपने हाथों से किया और संतोषजनक परिणाम प्राप्त किया। एक बार जब जोन्स ने वोगल की प्रयोगशाला में प्रवेश किया तब एक पौधे ने कंपन देना एकदम बंद कर दिया। वोगल ने जोन्स से विचार पूछे तब उन्होंने बताया कि इस पौधे की तुलना वे अपने पौधे से कर रहे थे, जो हरा-भरा है। वोगल के उस पौधे ने दो सप्ताह तक कोई कंपन अंकित नहीं किया। मशीन काम कर रही थी, फिर कंपन अंकित क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर देते हुए वोगल ने कहा कि जोन्स ने अपने मन में पौधे के प्रति जो भाव लाये थे और उसके प्रति जो हीनता की भावना व्यक्त की थी, उससे पौधे की भावनाओं को बड़ी तेस पहुँची थी, इसी कारण कोई बात करने—प्रतिक्रिया व्यक्त करने से उसने इन्कार कर दिया था।

पौधों की संवेदनशीलता को न्यूयार्क के प्रसिद्ध वनस्पति-विज्ञानी क्ली वैक्स्टर ने भी सिद्ध कर दिखाया है। उन्होंने कंपन अंकित करने के लिए गेल्बेनो मीटर का इस्तेमाल किया और सुई की जगह पेन का प्रयोग किया। क्ली वैक्स्टर ने पेड़ की एक पत्ती को जुड़ी हालत में ही कॉफी की प्याली में डाला, लेकिन कोई प्रतिक्रिया अंकित नहीं हुई, उन्होंने पुनः विचार करके कि पत्ती को जला देंगे, माचिस की तीली को ज्यों ही हाथ लगाया गेल्बेनोमीटर ने पेड़ के कंपनों को तेजी से अंकित करना आरंभ कर दिया। इस प्रयोग को उन्होंने कई बार दोहराया और ग्राफों को सुरक्षित रख लिया। यही प्रयोग पच्चीस तरह के भिन्न-भिन्न पौधों पर दोहराया गया, जो देश के विभिन्न क्षेत्रों से मंगवाए गए थे। सभी पौधों पर विचारों के होने वाले प्रभावों को अलग-अलग गेल्बेनोमीटर से आंका गया तो वे ही परिणाम सामने आये जो पहले आये थे। इन कंपनों को ध्वनि-तरंगों में रूपान्तरित किया गया। जब ध्वनियों को सुना गया, तो उनमें से कहीं भय, कहीं प्रसन्नता, कहीं हर्ष, तो कहीं उत्साह की ध्वनियाँ निकली।

भयभीत होने, प्रसन्नता व्यक्त करने तथा शत्रु को पहचानने में समर्थ होने के अतिरिक्त पेड़-पौधे गर्मी-सर्दी भी महसूस करते हैं। उन्हें प्यास भी लगती है। यह खोज रूस के सुप्रसिद्ध वनस्पति-शास्त्री लियोनिड ए पनिशकिन तथा कैरो मोनव ने की है। उन्होंने एक विशेष यंत्र को एक

समनस्क पञ्चेन्द्रिय के लिए 'प्रभु' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रभु अकाम-निकरण और प्रकाम-निकरण दोनों प्रकार की वेदनाओं का संवेदन करता है। अकाम-निकरण संवेदन ज्ञानशक्ति की विकलता के कारण करता है और प्रकाम-निकरण संवेदन ज्ञानशक्ति एवं क्रियात्मक सामर्थ्य की विकलता के कारण होता है।

शब्द-विमर्श

अकाम-निकरण—(१) अनाभोग-प्रत्यय अज्ञान अवस्था में होने वाला।

(२) ज्ञान की साधन-सामग्री के अभाव में होने वाला।

प्रकाम-निकरण—प्रज्ञानहेतुक, मानसिक ज्ञान का विकास होने

पर भी ज्ञान और क्रिया की असमर्थता में होने वाला।

प्रस्तुत प्रकरण में काम का अर्थ है 'ज्ञान'। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान के सोलह पर्यायवाची नाम बतलाए गए हैं। उनमें एक है—'काम'। काम का 'अभिलाषा' अर्थ प्रसिद्ध है, किंतु प्रस्तुत संदर्भ में वह संगत नहीं है। यहां 'ज्ञान' अर्थ संगत है। इस आधार पर अकाम-निकरण का अर्थ 'अज्ञानहेतुक' और प्रकाम-निकरण का अर्थ 'प्रज्ञानहेतुक' होता है।

अभयदेवसूरि ने अकाम का अर्थ 'अनिच्छा' एवं प्रकाम का अर्थ 'प्रकृष्ट इच्छा' किया है।^१

मग्गओ—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—पीठ पीछे। मराठी में 'मागे' का अर्थ है—पीछे।

प्रभु—समनस्क होने के कारण जानने में समर्थ।

१५५. सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

१५५. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते वह ऐसा ही है।

रोग के पीधे से जोड़ा। जब भी पीधे को पानी की जरूरत पड़ती, तब वह यत्र पर एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा संकेत देता। यह संकेत देखकर पीधे को एक विशेष विधि से पानी दिया जाता। देखा गया कि पहले दो मिनटों तक पीधे ने पानी लिया, किंतु फिर उसने पानी के प्रति अनिच्छा व्यक्त की। इसके धण्डे भर बाद पीधे ने पुनः पानी का संकेत दिया।

"अब तक तो यहाँ सोचा जाता था कि पेड़-पौधों में कोई संवेदन-तंत्र नहीं होता, क्योंकि जानवरों की तरह उनमें कोई स्नायु (शरीर) नहीं होते, लेकिन पूवी इंग्लैण्ड स्थित नार्विक रिसर्च पार्क में किए गए एक अध्ययन के पुताविक अब टेमाटर के पत्ते को कोड़े काटते हैं, तो पत्ता तुरन्त विकली के चेतावनी संदेश पूरे पौधे में भेज देता है। बाकी के सावत पत्तों को यह संदेश प्राप्त होते ही वे ऐसे सुरक्षात्मक रसायन बनाना शुरू कर देते हैं, जिन्हें पचाना मुश्किल हो जाता है।

यह अध्ययन ईस्ट एंग्लिया विश्वविद्यालय और जान इन्स सेंटर के वैज्ञानिकों ने न्यूजीलैंड के वैज्ञानिकों के साथ मिलकर किया है।

जान इन्स सेंटर में क्रोशिका विज्ञान विभाग के अध्यक्ष प्रो० कीथ रावटर्स का कहना है कि

पीधे विजली के संदेश उसी तरह प्रयोग करते हैं जैसे स्नायु-कोशिकाओं में पशु-पक्षी करते हैं। जानवरों में संदेश-तरंगें बहुत तेजी से मस्तिष्क और शरीर के बीच आती-जाती हैं, जबकि पौधों में संदेश बिल्कुल कछुआ चाल से चलते हैं।

ब्रिटिश वैज्ञानिकों की टीम अभी भी यह मालूम करने की कोशिश कर रही है कि ऐसी कौन सी कोशिकाएं हैं जो इन विद्युत-संदेशों को पैदा करती हैं और किस तरह से पीधे पर लगने वाली चोट से यह संदेश स्वतः पैदा हो जाते हैं।"

१. ऐतरेय उपनिषद्, ३/२—संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा वृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा मुतिः स्मृतिः संकल्पः ऋतुः अमुः कामः वशः सर्वाण्येवेतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

२. भ. वृ. ७/१५१, १५३—अकामेन—अनिच्छया निकरणं क्रियाया—इष्टार्थप्राप्तिलक्षणाया अभावो यत्र वेदने तत्तथा।

प्रकामः—ईसितार्थाप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽभिलाषः। स एव निकरणं कारणं यत्र वेदने तत्तथा।

अट्ठमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

मोक्ष-पदं

१५६. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयण-मायाहिं सिञ्जिसु? बुञ्जिसु? मुच्चिसु? परिणिव्वाइंसु? सब्बदुक्खाणं अंतं करिंसु?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे जाव—

१५७. से नूणं भंते! उप्पण्णणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु ति वत्तव्वं सिया ?

हंता गोयमा ! उप्पण्णणाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु ति वत्तव्वं सिया ॥

मोक्ष-पदम्

छद्यस्थाः भदन्त ! मनुष्याः अतीतम् अनन्तं शाश्वतं समयं केवलेन संयमेन, केवलेन संवरेण, केवलेन ब्रह्मचर्यवासेन, केवलाभिः प्रवचनमातृभिः असैत्सुः? 'बुञ्जिसु'? अ-मुक्षत? परिनिरवासिषु? सर्वदुक्खानाम् अन्तम् अकार्षुः?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः यावत्—

तन् नूनं भदन्त ! उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरः अर्हन् जिनः केवली अलमस्तु इति वक्तव्यं स्यात् ?

हन्त गौतम ! उत्पन्नज्ञान-दर्शनधरः अर्हन् जिनः केवली अलमस्तु इति वक्तव्यं स्यात् ।

मोक्ष-पद

१५६. 'भन्ते ! क्या छद्यस्थ मनुष्य निरन्तर गतिशील अनन्त अतीत समय में केवल संयम, केवल संवर, केवल ब्रह्मचर्यवास, केवल प्रवचनमाता क्री आराधना के द्वारा सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत हुए ? सब दुःखों का अन्त किया ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है।

१५७. भन्ते ! क्या उत्पन्न-ज्ञान-दर्शन के धारक अर्हत् जिन और केवली को 'अलमस्तु' ऐसा कहा जा सकता है ?

हां, गौतम ! उत्पन्न-ज्ञान-दर्शन के धारक, अर्हत्, जिन और केवली को 'अलमस्तु' ऐसा कहा जा सकता है।

भाष्य

१. सूत्र १५६, १५७

द्रष्टव्य भ. १/२००-२१० का भाष्य। तुलना भ. १/२००-२१० तथा ५/११५।

हत्थि-कुंधु-जीव-समाणत्त-पदं

१५८. से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंधुस्स य समे चैव जीवे ?

हंता गोयमा ! हत्थिस्स य कुंधुस्स य समे चैव जीवे ।

से नूणं भंते ! हत्थीओ कुंधू अप्पकम्मतराए चैव अप्पकिरियतराए चैव अप्पासवतराए चैव एवं अप्पाहारतराए चैव अप्पनीहारतराए चैव अप्पुस्सासतराए चैव अप्पनीसासतराए चैव अप्पिड्ढतराए चैव अप्पमहतराए चैव अप्प-ज्जुइतराए चैव ?

हस्ति-कुन्धु-जीव-समानत्व-पदम्

तन् नूनं भदन्त ! हस्तिनः च कुन्धोः च समः चैव जीवः ?

हन्त गौतम ! हस्तिनः च कुन्धोः च समः चैव जीवः।

तन् नूनं भदन्त ! हस्तिनः कुन्धुः अल्पकर्म-तरकः चैव अल्पक्रियातरकः चैव अल्पाश्रव-तरकः चैव एवम् अल्पाहारतरकः चैव अल्प-नीहारतरकः चैव अल्पोच्छ्वासतरकः चैव अल्पनिःश्वासतरकः चैव अल्पार्थितरकः चैव अल्पमहस्तरकः चैव अल्पद्युतितरकः चैव ?

हस्ति और कुन्धु के जीव की समानता का पद

१५८. 'भन्ते ! हाथी का जीव और कुन्धु का जीव एक समान है ?

हां, गौतम ! हाथी का जीव और कुंधु का जीव दोनों समान है।

भन्ते क्या ! हाथी की अपेक्षा कुन्धु अल्पतर कर्म, अल्पतर क्रिया, अल्पतर आश्रव, अल्पतर आहार, अल्पतर नीहार, अल्पतर उच्छ्वास, अल्पतर निःश्वास, अल्पतर ऋद्धि, अल्पतर महिमा और अल्पतर द्युति वाला है ?

कुंथुओ हत्थी महाकम्मतराए चेव महाकिरिय-
तराए चेव महासवतराए चेव महाहारतराए
चेव महानीहारतराए चेव महाउस्सासतराए
चेव महानीसासतराए चेव महिडिडतराए चेव
महामहतराए चेव महज्जुइतराए चेव ?

हंता गोयमा ! हत्थीओ कुंथू अप्पकम्मतराए
चेव कुंथूओ वा हत्थी महाकम्मतराए चेव,
हत्थीओ कुंथू अप्पकिरियतराए चेव कुंथूओ
वा हत्थी महाकिरियतराए चेव,
हत्थीओ कुंथू अप्पासवतराए चेव कुंथूओ
वा हत्थी महासवतराए चेव,
एवं आहार-नीहार-उस्सास-नीसास-इडिड-
महज्जुइएहिं हत्थीओ कुंथू अप्पतराए चेव
कुंथूओ वा हत्थी महातराए चेव ॥

कुन्थोः हस्ती महाकर्मतरकः चैव महाक्रिया-
तरकः चैव महासवतरकः चैव महाहारतरकः
चैव महानीहारतरकः चैव महोच्छ्वासतरकः
चैव महानिःश्वासतरकः चैव महर्धितरकः चैव
महामहतरकः चैव महाद्युतितरकः चैव ?

हन्त गौतम ! हस्तिनः कुन्थुः अल्पकर्मतरकः
चैव कुन्थोः वा हस्ती महाकर्मतरकः चैव,
हस्तिनः कुन्थुः अल्पक्रियातरकः चैव कुन्थोः
वा हस्ती महाक्रियातरकः चैव,
हस्तिनः कुन्थुः अल्पासवतरकः चैव कुन्थोः
वा हस्ती महासवतरकः चैव,
एवम् आहार-नीहार-उच्छ्वास-निःश्वास-
ऋद्धि-महोद्युतिभिः हस्तिनः कुन्थुः अल्पतरकः
चैव कुन्थोः वा हस्ती महतरकः चैव ॥

कुन्थु की अपेक्षा हाथी महतर कर्म, महतर क्रिया,
महतर आश्रव, महतर आहार, महतर नीहार, महतर
उच्छ्वास, महतर निःश्वास, महतर ऋद्धि, महतर
महिमा और महतर द्युति वाला है ?

हां, गौतम ! हाथी की अपेक्षा कुन्थु अल्पतर कर्म वाला
है और कुन्थु की अपेक्षा हाथी महतर कर्म वाला है;
हाथी की अपेक्षा कुन्थु अल्पतर क्रिया वाला है और
कुन्थु की अपेक्षा हाथी महतर क्रिया वाला है;
हाथी की अपेक्षा कुन्थु अल्पतर आश्रव वाला है और
कुन्थु की अपेक्षा हाथी महतर आश्रव वाला है;
इसी प्रकार हाथी की अपेक्षा कुन्थु अल्पतर आहार,
नीहार, उच्छ्वास, निःश्वास, ऋद्धि, महिमा और द्युति
वाला है और कुन्थु की अपेक्षा हाथी महतर आहार,
नीहार, उच्छ्वास, निःश्वास, ऋद्धि, महिमा और द्युति
वाला है ॥

१५९. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—हत्थिस्स
य कुंधुस्स य समे चैव जीवे ?

गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया
—दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा निवाया
निवाय-गंभीरा। अह णं केइ पुरिसे जोई व
दीवं व महाय तं कूडागारसालं अंतो-अंतो
अणुपविसइ, तीसे कूडागारसालाए सब्वतो
समंता घण-निचिय-निरंतर-निच्छिइइ दुवार-
वयणाइं पिहेति, तीसे कूडागारसालाए बहु-
मज्जदेसभाए तं पईवं पत्तीवेज्जा ।
तए णं से पईवे तं कूडागारसालं अंतो-अंतो
ओभासइ उज्जोवेइ तवति पभासेइ, नो चैव
णं बाहिं ।

अह णं से पुरिसे तं पईवं इड्डरणं पिहेज्जा,
तए णं से पईवे तं इड्डरणं अंतो-अंतो ओ-
भासेइ उज्जोवेइ तवति पभासेइ, नो चैव णं
इड्डरणं बाहिं, नो चैव णं कूडागारसालं,
नो चैव णं कूडागारसालाए बाहिं ।

एवं—गोकिलिजेणं पच्छियापिडएणं गंडमाणि-
याए आढएणं अर्द्धाढएणं पत्थएणं अर्द्ध-
पत्थएणं कुलवेणं अर्द्धकुलवेणं चाउब्भाइयाए
अट्टभाइयाए सोलसियाए बत्तीसियाए चउ-
सट्टियाए ।

अह णं पुरिसे तं पईवं दीवचंपएणं पिहेज्जा ।

तत् केनार्येन भदन्त ! एवमुच्यते—हस्तिनः
च कुन्थोः च समः चैव जीवः ?

गौतम ! तद् यथानाम कूटाकारशाला स्यात्—
द्वितः लिप्ता गुप्ता गुप्तद्वारा निर्वाता निर्वात-
गंभीरा । अथ कश्चित् पुरुषः ज्योतिर्वा दीपं
वा गृहीत्वा तां कूटाकारशालाम् अन्तः-अन्तः
अनुप्रविशति, तस्याः कूटाकारशालायाः सर्वतः
समन्तात् घन-निचित-निरन्तर-निश्छिद्राणि
द्वार-वदनानि पिदधाति, तस्याः कूटाकार-
शालायाः बहुमध्यदेशभागे तं प्रदीपं प्रदीपयति ।
ततः स प्रदीपः तां कूटाकारशालाम् अन्तः-
अन्तः अवभासयति उद्द्योतयति तापयति
प्रभासयति, नो चैव बहिः ।

अथ स पुरुष तं प्रदीपम् 'इड्डरणं' पिद-
ध्यात्, ततः स प्रदीपः तद् 'इड्डरणं' अन्तः-
अन्तः अवभासयति उद्द्योतयति तापयति
प्रभासयति नो चैव 'इड्डरणं' बहिः, नो चैव
कूटाकारशालां, नो चैव कूटाकारशालायाः
बहिः ।

एवं—गोकिलिज्जेण पक्षिकापिटकेन 'गण्ड-
माणियाए' आढकेन अर्द्धाढकेन प्रस्थकेन
अर्द्धप्रस्थकेन कुडवेन अर्द्धकुडवेन चातु-
र्भाणिक्या अष्टभाणिक्या षोडशिक्या द्वात्रिं-
शिक्या चतुष्पष्टिक्या ।

अथ पुरुषः तं प्रदीपं दीपचंपकेन पिदध्यात् ।

१५९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—हाथी
का जीव और कुन्थु का जीव समान है ?

गौतम ! जैसे कोई कूटाकार (शिखर के आकार वाली)
शाला है। वह भीतर और बाहर दोनों ओर से लीपी
हुई, गुप्त, गुप्त द्वार वाली, पवन-रहित और निवात-
गंभीर है। कोई पुरुष ज्योति अथवा दीप को लेकर उस
कूटाकार शाला के चारों ओर से सघन, निचित, अन्तर-
और छिद्र-रहित किवाड़ों को बंद कर देता है और उस
कूटाकार शाला के प्रायः मध्यभाग में उस प्रदीप को
प्रदीप करता है।

वह प्रदीप उस कूटाकार शाला के भीतरी भाग को
अवभासित, उद्द्योतित, तप्त और प्रभासित करता है,
बाहर के भाग में उसका प्रकाश नहीं फैलता ।

वह पुरुष उस प्रदीप को एक बड़े पिटक से ढांक देता
है, तब वह प्रदीप उस बड़े पिटक के भीतरी भाग को
अवभासित, उद्द्योतित, तप्त और प्रभासित करता है,
उसके बाहर प्रकाश नहीं फैलता, न कूटाकार शाला में
और न कूटाकार शाला के बाहर ।

इसी प्रकार—गोकिलिज्ज, पिटारा, डालिया, आढक,
अर्धआढक, प्रस्थ, अर्धप्रस्थ, कुडव, अर्धकुडव,
चतुर्भाणिका (कुडव का चौथा भाग), अष्टभाणिका
(कुडव का आठवां भाग), षोडशिका (कुडव का सोलहवां
भाग), द्वात्रिंशिका (कुडव का बत्तीसवां भाग),
चतुःषष्टिका (कुडव का चौसठवां भाग) से ढांकने पर
प्रदीप का प्रकाश उनके भीतर ही फैलता है, बाहर नहीं
फैलता ।

वह पुरुष उस प्रदीप को दीपचंपक (दीये का ढक्कन)

तए णं से पदीवे दीपचंपगस्स अंतो-अंतो ओभासति उज्जोवेइ तवति पभासेइ, नो चेव णं दीवचंपगस्स बाहिं, नो चेव णं चउसट्टियाए बाहिं, नो चेव णं कूडागारसालं, नो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं।

एवामेव गोयमा ! जीवे वि जं जारिसयं पुव्व-कम्मनिबद्धं बोदिं निव्वत्तेइ तं असंखेज्जेहिं जीवपदेसेहिं सचितीकरेइ—खुट्टियं वा महा-लियं वा ! से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे।

ततः स प्रदीपः दीपचम्पकस्य अन्तः-अन्तः अवभासयति उद्द्योतयति तापयति प्रभास-यति, नो चैव दीपचम्पकस्य बहिः, नो चैव चतुःषष्ट्या बहिः, नो चैव कूटाकारशाला, नो चैव कूटाकारशालायाः बहिः।

एवमेव गौतम ! जीवः अपि यद् यादृक् पूर्व-कर्मनिबद्धं 'बोदिं' निर्वर्तयति तद् असंख्येयैः जीवप्रदेशैः सचितीकरोति—क्षुल्लिकां वा महालयां वा। तत् तेनार्थेन गौतम ! एव-मुच्यते—हस्तिनः च कुन्थोः च समः चैव जीवः।

से ढांक देता है, तब वह प्रदीप दीपचंपक के भीतरी भाग को अवभासित, उद्द्योतित, तप्त और प्रभासित करता है, उसके बाहर प्रकाश नहीं फैलता, न चतुःषष्टिका के बाहर, न कूटाकार शाला में और न कूटाकार शाला के बाहर।

गौतम ! इसी प्रकार जीव भी पूर्व कर्म के अनुसार जैसे शरीर का निर्माण करता है, उस शरीर को अपने असंख्य प्रदेशों से सचित बना देता है—वह शरीर छोटा हो अथवा बड़ा। गौतम ! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—हाथी और कुंथु का जीव समान है।

भाष्य

१. सूत्र १५८, १५९

चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है।^१ उसकी दृष्टि से सब जीव समान होते हैं, किंतु उसका विकास सब में समान नहीं होता। उसका हेतु है—आवरण का तारतम्य। चैतन्य की दृष्टि से सब जीव समान हैं और कर्मजनित तारतम्य की दृष्टि से वे असमान हैं—यह प्रस्तुत आलापक का प्रतिपाद्य है।

जीवत्व की दृष्टि से हाथी और कुंथु की समानता का प्रतिपादन कर तारतम्य के दस बिंदु बतलाए गए हैं।

प्रश्न उपस्थित हुआ—हाथी और कुंथु का जीव चैतन्य की दृष्टि से समान है—यह कैसे संभव है ? कुंथु अपने छोटे शरीर को चैतन्यमय बनाता है और हाथी अपने विशाल शरीर को चैतन्यमय बनाता है, फिर दोनों का चैतन्य समान कैसे ?

इस प्रश्न का समाधान प्रकाश और ढक्कन के उदाहरण से दिया गया है—दीये पर ढक्कन छोटा होता है तो वह छोटे भाग को प्रकाशित करता है, ढक्कन बड़ा होता है तो वह बड़े भाग को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार

जीव पूर्वकृत कर्म के अनुसार जिस प्रकार के शरीर का निर्माण करता है, उसे अपने असंख्य आत्म प्रदेशों से चैतन्यमय बनाता है, फिर वह छोटा हो अथवा बड़ा। शरीर का भेद चैतन्य की सत्ता में भेद नहीं डालता। उससे चैतन्य का प्रसार-क्षेत्र छोटा-बड़ा हो सकता है।

शब्द-विमर्श

कूडागारसाला—द्रष्टव्य भ. ३/२६ का भाष्य

इडडरअ—वड़ा पिटक। द्रष्टव्य देशी शब्द कोश।

गोकिलिज्ज—बांस का बड़ा पात्र। उसे देशी भाषा में 'डल्ला', बंगाली भाषा में 'डाला' और राजस्थानी भाषा में 'खारियो' कहा जाता है।

पच्छियापिडअ—बांस से बना हुआ पात्र, पिटारा।

गंडमाणिया—बांस से बना हुआ पात्र, 'डालिया' जो 'डल्ला' से छोटा होता है। आढक, प्रस्थक आदि पात्र उत्तरोत्तर छोटे होते हैं।

दीवचंपअ—दीये का ढक्कन।

आढक से चतुःषष्टिका—द्रष्टव्य अणुओगदाराइं, सू. ३७७

सुह-दुःख-पदं

१६०. नेरइयाणं भन्ते ! पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जइ, जे य कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे, जे निज्जिण्णे से सुहे ?

हंता गोयमा ! नेरइयाणं पावे कम्मे जे य कडे, जे य कज्जइ, जे य कज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे, जे निज्जिण्णे से सुहे। एवं जाव वेमाणियाणं।

सुख-दुःख-पदम्

नैरयिकाणां भदन्त ! पाप कर्म यच् व कृतं, यच् च क्रियते, यच् च करिष्यते सर्वं तद् दुःखं, यद् निर्जीर्णं तत् सुखम् ?

हन्त गौतम ! नैरयिकाणां पापं कर्म यच् च कृतं, यच् च क्रियते, यच् च करिष्यते सर्वं तद् दुःखं, यद् निर्जीर्णं तत् सुखम्। एवं यावद् वैमानिकानाम्।

सुख-दुःख-पद

१६०. 'भन्ते ! नैरयिकों द्वारा जो पापकर्म कृत है, जो किया जा रहा है, जो किया जाएगा, क्या वह सब दुःख है ? जो पाप कर्म निर्जीर्ण है, क्या वह सुख है ?

हां, गौतम। नैरयिकों द्वारा जो पाप कर्म कृत है, जो किया जा रहा है, जो किया जाएगा, वह सब दुःख है। जो पाप कर्म निर्जीर्ण है, वह सुख है। इसी प्रकार वैमानिक तक के सभी दण्डकों की वक्तव्यता।

भाष्य

१. सूत्र १६०

दुःख और सुख की परिभाषा अनेक कोणों से की गई है। सामान्यतः

अनुकूल वेदनीय को सुख और प्रतिकूल वेदनीय को दुःख कहा जाता है। इस परिभाषा का संबंध संवेदन से है। प्रस्तुत सूत्र में सुख और दुःख की आध्या-

त्मिक परिभाषा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'आत्मा स्वयं सुख है'—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—यदि दृष्टि स्वयं तिमिर को दूर करने वाली है, फिर दीप का क्या प्रयोजन ? आत्मा स्वयं सुख है, फिर इन्द्रिय-विषयों का क्या प्रयोजन ?^१

प्रस्तुत सूत्र में दुःख-सुख की परिभाषा पाप कर्म के बंध और निर्जरण

के आधार पर की गई है। पाप कर्म का बंध दुःख का हेतु है और सहज सुख के अनुभव में बाधा उपस्थित करता है, इसलिए वह दुःख ही है। उसका निर्जरण सहज सुख के अनुभव का हेतु बनता है, इसलिए पाप कर्म की निर्जरा को सुख बतलाया गया है।

दसविहसण्णा-पदं

१६१. कति णं भंते ! सण्णाओ पण्णत्ताओ ?
गोयभा ! दस सण्णओ पण्णत्ताओ, तं जहा—
आहारसण्णा, भयसण्णा, मेहुणसण्णा, परि-
ग्रहसण्णा, कोहसण्णा, माणसण्णा, माया-
सण्णा, लोभसण्णा, लोभसण्णा, ओहसण्णा।
एवं जाव वेमाणियाणं ॥

दशविधसंज्ञा-पदम्

कति भदन्त ! संज्ञाः प्रज्ञप्ताः ?
गौतम ! दश संज्ञाः प्रज्ञप्ताः, तद् यथा—आ-
हारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा,
क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा,
लोकसंज्ञा, ओघसंज्ञा। एवं यावद् वैमानिका-
नाम्।

दशविधसंज्ञा-पद

१६१. 'भन्ते ! संज्ञा के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं ?
गौतम ! संज्ञा के दश प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे—आहार
संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा, क्रोध संज्ञा,
मान संज्ञा, माया संज्ञा, लोभ संज्ञा, लोक संज्ञा, ओघ
संज्ञा। वैमानिक तक के सभी दण्डकों में दशों संज्ञाएं
होती हैं।

भाष्य

१. सूत्र १६१

संज्ञा जैन मनोविज्ञान का बहुचर्चित शब्द है। नन्दी में तीन प्रकार के संज्ञी बतलाए गए हैं—१. कालिकोपदेश २. हेतूपदेश ३. दृष्टिवादोपदेश।^१ इनके आधार पर तीन संज्ञाएं फलित होती हैं—१. कालिकोपदेशिकी २. हेतूपदेशिकी ३. दृष्टिवादोपदेशिकी। इनके आधार पर समनस्क और अमनस्क की व्यवस्था की गई है। ये संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में निर्दिष्ट दस संज्ञाएं केवल ज्ञानात्मक नहीं हैं। वे ज्ञानात्मक और संवेगात्मक दोनों हैं। वृत्तिकार ने इस का निर्देश किया है।

वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से होने वाली चेतना का नाम है संज्ञा।^१ इनमें प्रथम आठ संज्ञाएं संवेगात्मक अथवा संवेदनप्रधान हैं। शेष दो संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं। वृत्तिकार ने संज्ञा की व्यवहारपरक व्याख्या की है।^२ उसकी तुलना व्यवहार-मनोविज्ञान से की जा सकती है।

वृत्तिकार ने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार ओघ का अर्थ है—'सामान्य प्रवृत्ति' और लोक का अर्थ है 'विशेष प्रवृत्ति'।^३

शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों की जानकारी के लिए देखें, यन्त्र—

संज्ञा	कर्म	शारीरिक-मानसिक क्रिया और परिवर्तन
१. आहार	क्षुधावेदनीय का उदय	हाथ से कोर लेना, मुख का संचलन आदि, आहार की खोज
२. भय	भयमोहनीय का उदय	उद्भ्रान्त दृष्टि, वचनविकार, रोमाञ्च आदि
३. मैथुन	वेदमोहनीय का उदय	अंगों का अवलोकन, स्पर्श, कम्पन आदि
४. परिग्रह	लोभमोहनीय का उदय	आसक्तिपूर्वक द्रव्यों का ग्रहण और संग्रह
५. क्रोध	क्रोधवेदनीय का उदय	नेत्रों की रुक्षता, दांत और होंठों की फड़कन आदि
६. मान	मानवेदनीय का उदय	अहंकारपूर्वक शरीर की अकड़न
७. माया	मायावेदनीय का उदय	संक्लेशपूर्वक मिथ्या भाषण छिपाने आदि की क्रिया
८. लोभ	लोभवेदनीय का उदय	लोभपूर्वक द्रव्य के ग्रहण और संग्रह की अभिलाषा।
९. लोक	मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम	विशेष अवबोध की क्रिया
१०. ओघ	मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम	सामान्य अवबोध की क्रिया

ओघ संज्ञा का अर्थ दर्शनोपयोग और लोक संज्ञा का अर्थ ज्ञानोपयोग किया गया है, यह विमर्शनीय है। सिद्धसेन गणी ने ओघ संज्ञा का अर्थ अनिन्द्रिय

ज्ञान किया है—जो ज्ञान इन्द्रिय और मन के बिना सामान्य चेतना से होता है, वह ओघ संज्ञा है।^४ यह ज्ञान पेड़-पौधों और छोटे जीव-जन्तुओं में भी होता है।

१. प्रवचनसार, गा. ६७—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण गत्तिं कादव्वं ।

तच्च सोख्खं सयमादा, विमया किं तत्थ कुव्वंति ?

२. नन्दी, ६१ ।

३. भ. वृ. ६/१६१—तत्र संज्ञानं संज्ञा—आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये संज्ञायते वा-
ज्जयेति संज्ञा वेदनीयमोहनीयोदयश्रया ज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमश्रया च विचित्रहारविप्राप्तये
क्रियैवेत्यर्थः ।

४. वही, ६/१६१।

५. वही, ७/१६१।

६. त. सू. भा. वृ. १/१४, पृ. ७८—ओघः—सामान्य अप्रविभक्तरूपं यत्र न स्पर्शनादीनी-
न्द्रियाणि तानि मनोनिमित्तिमाश्रीयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्ती
निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां नीत्राद्यभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं न मनोनिमित्तमिति,
तस्मात् तत्र मत्याज्ञानावरण-क्षयोपशम एव केवलो निमित्तीक्रियते ओघज्ञानस्य।

वे प्रकम्पनों के आधार पर दूर तथा भविष्य में होने वाली घटना को जान लेते हैं। लोक-परम्परा अथवा वंश-परंपरा से होने वाली संज्ञा 'लोक संज्ञा' है। वृत्तिकार ने लिखा है कि ये संज्ञाएं स्पष्ट रूप में पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती हैं, एकेन्द्रिय

आदि जीवों में केवल कर्मोदयरूप होती है।^१ वर्तमान वैज्ञानिकों ने यन्त्रों के माध्यम से पेड़-पौधों में इन संज्ञाओं का अध्यापन किया है, इसलिए एकेन्द्रिय आदि जीवों में यह स्पष्ट विज्ञान हो रही है।

नेरइयाणं दसविहवेदणा-पदं

१६२. नेरइया दसविहं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—सीयं, उसिणं, खुहं, पि-वासं, कंडुं, परज्झं, जरं, दाहं, भयं, सोगं ॥

नैरयिकाणां दशविधवेदना-पदम्

नैरयिकाः दशविधां वेदनां प्रत्यनुभवन्तः विहरन्ति, तद् यथा—शीतम्, उष्णं, क्षुधां पिपासां, कंडू, 'परज्झं', ज्वरं, दाहं, भयं, शोकम्।

नैरयिकों की दशविध वेदना का पद

१६२. 'नैरयिके दस प्रकार की वेदना का अनुभव करते रहते हैं, जैसे—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, खुजली, पर-वशता, ज्वर, दाह, भय और शोक।

भाष्य

१. सूत्र १६२

प्रस्तुत सूत्र में नारकीय जीवों की शारीरिक और मानसिक वेदना

का उल्लेख है। ये सब दुःखद वेदनाएं हैं। नारकीय जीव प्रायः इनका अनुभव करते हैं। उनमें सुखद वेदना का अनुभव कदाचित् होता है।^२

हत्थि-कुंथुणं अपच्चवखाणकिरिया-पदं

१६३. से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चैव अपच्चवखाणकिरिया कज्जइ ? हंता गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चैव अपच्चवखाणकिरिया कज्जइ ॥

हस्ति-कुन्थोः अप्रत्याख्यानक्रिया-पदम्

तन् नूनं भदन्त ! हस्तिनः च कुन्थोः च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ? हन्त गौतम ! हस्तिनः च कुन्थोः च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ।

हस्ती और कुन्थु की अप्रत्याख्यानक्रिया का पद

१६३. भन्ते ! क्या हाथी और कुन्थु के अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है ? हाँ, गौतम ! हाथी और कुन्थु के अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है।

१६४. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चैव अपच्चवखाणकिरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अविरति पडुच्च । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चैव अपच्चवखाणकिरिया कज्जइ ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—हस्तिनः च कुन्थोः च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ?

गौतम ! अविरतिं प्रतीत्य । तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—हस्तिनः च कुन्थोः च समा चैव अप्रत्याख्यानक्रिया क्रियते ।

१६४. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—हाथी और कुन्थु के अप्रत्याख्यानक्रिया समान होती है ?

गौतम ! अविरति की अपेक्षा से । गौतम ! इस अपेक्षा से कहा जा रहा है—हाथी और कुन्थु के अविरति की क्रिया समान होती है।

अहाकम्मादि-पदं

१६५. अहाकम्मं णं भंते ! भुंजमाणे किं बंधइ ? किं पकरेइ ? किं चिणाइ ? किं उव-चिणाइ ?

गोयमा ! अहाकम्मं णं भुंजमाणे आउय-वज्जाओ सत्त कम्पगडीओ सिटिलबंधण-बद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव सासए पंडिए, पंडियत्तं असासयं ॥

आधाकर्मादि-पदम्

आधाकर्म भदन्त ! भुञ्जानः किं वध्नाति ? किं प्रकरोति ? किं चिनोति ? किम् उप-चिनोति ?

गौतम ! आधाकर्म भुञ्जानः आयुर्वजां सप्त कर्म-प्रकृतीः शिथिलबन्धनबद्धाः 'धणिय'-बन्धन-बद्धाः प्रकरोति यावत् शाश्वतः पंडितः, पंडितत्वम् अशाश्वतम् ।

आधाकर्म आदि-पद

१६५. 'भन्ते ! 'आधाकर्म' भोजन करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? क्या करता है ? क्या चय करता है ? क्या उपचय करता है ?

गौतम ! आधाकर्म भोजन करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ आयुष्य कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की शिथिल बन्धनबद्ध प्रकृतियों को गाढ़ बन्धनबद्ध करता है यावत् (पृ. भ. १/४३६-४४०) पण्डित शाश्वत है, पंडितत्व अशाश्वत है।

भाष्य

१. सूत्र १६५

द्रष्टव्य भ. १/४३६-४४० का भाष्य ।

१६६. सेवं भंते ! सेवं भंते ! ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

१६६. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है ।

१. भ. वृ. ७/१६१ ।

२. द्रष्टव्य भ. ६/१८५ का भाष्य ।

नवमो उद्देशो : नवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

असंवृद्ध-अणगारस्स विउव्वणा-पदं

१६७. असंवृद्धे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए?

णो इणट्ठे समट्ठे ॥

१६८. असंवृद्धे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए ?

हन्त पभू ।

१६९. से णं भंते ! किं इहगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ? तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ? अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ ?

गोयमा ! इहगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ, नो तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ, नो अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता विकुव्वइ ।

एवं २. एगवण्णं अणेगरूवं ३. अणेगवण्णं एगरूवं ४. अणेगवण्णं अणेगरूवं — चउभंगो॥

१७०. असंवृद्धे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू कालगं पोग्गलं नीलग-पोग्गलत्तए परिणामेत्तए ? नीलगं पोग्गलं वा कालगपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । परियाइत्ता पभू

असंवृतानगारस्य विक्रिया-पदम्

असंवृतः भदन्तः ! अनगारः बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः एकवर्णम् एकरूपं विकर्तुम् ?

नो अयमर्थः समर्थः ।

असंवृतः भदन्त ! अनगारः बाह्यकान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः एकवर्णम् एकरूपं विकर्तुम् ?

हन्त प्रभुः !

स भदन्त ! किम् इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते ? तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते ? अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते ?

गौतम ! इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते, नो तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते, नो अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय विकुरुते ।

एवम् २. एकवर्णम् अनेकरूपम् ३. अनेकवर्णम् एकरूपम् ४. अनेकवर्णम् अनेकरूपम् — चतुर्भंगः ।

असंवृतः भदन्त ! अनगारः बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः कालकं पुद्गलं नीलक-पुद्गलत्वेन परिणामयितुम् ? नीलकं पुद्गलं वा कालकपुद्गलत्वेन परिणामयितुम्?

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः । पर्यादाय प्रभुः

असंवृत अनगार की विक्रिया का पद

१६७. 'भन्ते ! क्या असंवृत अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करने में समर्थ है ?

यह अर्थ संगत नहीं है ।

१६८. भन्ते ! क्या असंवृत अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करने में समर्थ है ?

हाँ, समर्थ है ।

१६९. भन्ते ! क्या वह मनुष्य-लोक में स्थित पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करता है? अथवा गन्तव्यस्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करता है ? अथवा इन दोनों से भिन्न किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करता है?

गौतम ! वह मनुष्य-लोक में स्थित पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण करता है, गन्तव्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर एक वर्ण और एक रूप का निर्माण नहीं करता, इन दोनों से भिन्न किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर निर्माण नहीं करता ।

इस प्रकार २. एकवर्ण और अनेक रूप का निर्माण ३. अनेक वर्ण और एक रूप का निर्माण ४. अनेक वर्ण और अनेक रूप का निर्माण — यह चौभंगी है ।

१७०. भन्ते ! क्या असंवृत अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल को नील वर्ण वाले पुद्गल के रूप में परिणत करने में समर्थ है? अथवा नील वर्ण वाले पुद्गल को कृष्ण वर्ण वाले पुद्गल के रूप में परिणत करने में समर्थ है ?

गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है । वह बहिर्वर्ती

जाव—

यावत्—

पुद्गलों का ग्रहण कर वैसा करने में समर्थ है यावत्—

१७१. असंवृडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू निद्धपोग्गलं लुक्खपोग्गलत्ताए परिणामेत्ताए ? लुक्खपोग्गलं वा निद्धपोग्गलत्ताए परिणामेत्ताए ?

असंवृतः भदन्त ! अनगारः बाह्यकान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभुः स्निग्धपुद्गलं रूक्षपुद्गलत्वेन परिणामयितुम् ? रूक्षपुद्गलं वा स्निग्धपुद्गलत्वेन परिणामयितुम् ?

१७१. क्या असंवृत अनगार बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण किए बिना स्निग्ध स्पर्श वाले पुद्गल को रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल के रूप में परिणत करने में समर्थ है? अथवा रूक्ष स्पर्श वाले पुद्गल को स्निग्ध स्पर्श वाले पुद्गल के रूप में परिणत करने में समर्थ है? गौतम ! यह अर्थ संगत नहीं है। वह बहिर्वर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर वैसा करने में समर्थ है।

गोयमा ! नो इण्ठे सम्ठे । परियाइत्ता पभू ॥

गौतम ! नो अयमर्थः समर्थः । पर्यादाय प्रभुः ।

१७२. से णं भंते किं इहगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति ? तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति ? अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति ?

स भदन्त ! किम् इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति ? तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति ? अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति ?

१७२. भन्ते ! क्या वह मनुष्य-लोक में स्थित पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है ? अथवा गन्तव्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है ? अथवा इन दोनों से भिन्न किसी अन्य स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है ?

गोयमा ! इहगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति, नो तत्थगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति, नो अण्णत्थगए पोग्गले परियाइत्ता परिणामेति ॥

गौतम ! इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति, नो तत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति, नो अन्यत्रगतान् पुद्गलान् पर्यादाय परिणमयति ।

गौतम ! वह मनुष्य-लोक में स्थित पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत करता है, गन्तव्यस्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत नहीं करता, इन दोनों से भिन्न किसी अन्य-स्थानवर्ती पुद्गलों का ग्रहण कर परिणत नहीं करता।

भाष्य

१. सूत्र १६७-१७२

द्रष्टव्य भ. ६/१६३-१६७ का भाष्य ।

महाशिलाकंटकसंग्राम-पदं

महाशिलाकंटकसंग्राम-पदम्

महाशिलाकंटक संग्राम-पद

१७३. नायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विण्णायमेयं अरहया—महाशिलाकंटक संग्रामे । महाशिलाकंटकं णं भंते ! संग्रामे वट्टमाणे के जइत्था ? के पराजइत्था ? गोयमा ! वज्जी, विदेहपुत्रे जइत्था, नव मल्लई, नव लेच्छई—काशी-कोसलगा अट्टारस वि गणरायाणो पराजइत्था ॥

ज्ञातमेतद् अर्हता, श्रुतमेतद् अर्हता, विज्ञातमेतद् अर्हता—महाशिलाकंटकः संग्रामः । महाशिलाकंटके भदन्त ! संग्रामे वर्तमाने कः अजिंषीत् ? कः पराजेष्ट ? गौतम ! वज्जी, विदेहपुत्रः अजेष्टाम्, नव 'मल्लई', नव 'लेच्छई'—काशीकोशलकाः अष्टात्रश अपि गणराजाः पराजेष्ट ।

१७३ 'यह अर्हत् के द्वारा ज्ञात है, यह अर्हत् के द्वारा स्मृत है, यह अर्हत् के द्वारा विज्ञात है—महाशिलाकंटक संग्राम। भदन्त ! महाशिलाकंटक संग्राम में कौन जीता? कौन हारा? गौतम ! वज्जी (इन्द्र) और विदेहपुत्र (कूणिक) जीते। नौ मल्ल नौ लिच्छवी—काशी कौशल के अट्टारह गणराज हारे।

भाष्य

१. सूत्र १७३

चेटक और कोणिक (कूणिक) के युद्ध का वर्णन भगवती^१ और निरयावलियाओ^२—इन दो आगमों में मिलता है। भगवती में युद्ध की पृष्ठभूमि वर्णित नहीं है, केवल महाशिलाकंटक और रथमुसल इन दो युद्धों का वर्णन है। निरयावलियाओ में युद्ध की पृष्ठभूमि का विशद वर्णन है। उसमें महाशिलाकंटक

संग्राम का उल्लेख नहीं है।

वैदिक साहित्य में मगध सम्राट अजातशत्रु विदेहपुत्र और वज्जी गणराज्य के बीच युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु वहां पर चेटक के नाम का उल्लेख नहीं मिलता।^३

आश्चर्य है कि वैदिक साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

१. भ. ७/१७३-२१० ।

२. निरया. १/६४-१४१।

३. (क) बुद्धचर्या—महापरिनिव्वाणसुत्त, पृ० ४८४-४८७।

(ख) दीर्घनिकाय, महावग्गकथा, २/३, पृ० ६५, ६६।

लौकिक साहित्य में भी इस युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है। मगध और वैशाली प्रदेश में इतनी बड़ी सेना का समावेश कैसे हुआ, यह भी एक विमर्शनीय प्रश्न है। महाशिलाकंटक संग्राम में चौरासी लाख तथा रथमुसल संग्राम में छियानवे लाख—कुल मिलाकर एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मारे गये। तत्कालीन आबादी और प्रदेश की छोटी सीमा दोनों दृष्टियों से यह संख्या विस्मयकारक है। हो सकता है संख्या के संकेत किसी भिन्न गणना-पद्धति से संबद्ध हो।

१७४. तए णं से कोणिए राया महाशिलाकंटकं संग्रामं उवद्वियं जाणित्ता कोडुंबियपुरिसे सदावेइ, सदावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! उदाइं हत्थिरायं पडिक्पेह, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह, सण्णाहेत्ता मम एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह ॥

ततः स कोणिकः राजा महाशिलाकंटकं संग्रामम् उपस्थितं ज्ञात्वा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—क्षिप्रमेव भोः देवानुप्रियाः! उदायिनं हस्तिराजं प्रतिकल्पयत, हय-गज-रथ-प्रवरयोधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नह्यत, सन्नह्य मम एतामाज्ञापितं क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयत।

१७५. तए णं ते कोडुंबियपुरिसे कोणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्टुत्तुच्चित्तमाणदिया जाव मत्थए अंजलिं कट्टु एवं सामी! तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता खिप्पामेव छेयायरियोवएस-मति-कप्पणा-विकप्पेहिं सुनिउणेहिं उज्ज्वलणेवत्थ-हव्व-परिवच्छियं सुसज्जं जाव भीमं संगामियं अओज्जं उदाइं हत्थिरायं पडिक्पेति, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेति, सण्णाहेत्ता जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयलपरिगहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु कूणियस्स रण्णो तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ॥

ततः ते कौटुम्बिकपुरुषाः कोणिकेन राजा एवम् उक्ताः सन्तः हृष्टतुष्टचित्ताः आनन्दिताः यावन् मस्तके अञ्जलिं कृत्वा एवं स्वामिन् ! तथेति आज्ञया विनयेन वचनं प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिशृत्य क्षिप्रमेव छेकाचार्योपदेश-मति-कल्पना-विकल्पैः सुनिपुणैः उज्ज्वलनेपथ्य-‘हव्व’-परिपक्षितं सुसज्जं यावत् भीमं सांग्रामिकम् अयोध्यम् उदायिनं हस्तिराजं प्रतिकल्पयन्ति, हय-गज-रथ-प्रवरयोधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नह्यन्ति, सन्नह्य यत्रैव कोणिकः राजा तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य करतल-परिगृहीतं दशनखं शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा कोणिकस्य राज्ञः ताम् आज्ञापितं प्रत्यर्पयन्ति।

प्रस्तुत दो युद्धों के वर्णन के निष्कर्ष ये हैं—

१. कोणिक का सामन्तवादी दृष्टिकोण युद्ध का हेतु बना।
२. शरणगत की रक्षा को उस समय प्राथमिकता दी जाती थी।
३. युद्धकाल में भी विशेष मर्यादाओं का पालन किया जाता था।
४. जिते च लभ्यते लक्ष्मीः मृते चापि सुराङ्गना।
क्षणभंगुरको देहः का चिन्ता मरणे रणे ॥

—इस अवधारणा का निरसन।

१७४. महाशिलाकंटक संग्राम उपस्थित हो गया है— यह जानकर राजा कोणिक ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया, बुलाकर कहा—देवानुप्रियो! शीघ्र ही हस्तिराज उदाई को सज्ज करो, अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध करो, सन्नद्ध कर शीघ्र ही मेरी इस आज्ञा का प्रत्यर्पण करो।

१७५. कौटुम्बिक पुरुष कोणिक राजा के द्वारा इस प्रकार का निर्देश प्राप्त कर हृष्ट-तुष्ट और आनन्दित वित्त वाले हुए यावत् अञ्जलि को भाल पर टिका कर बोले—स्वामिन् ! जैसा आपका निर्देश है वैसा ही होगा, यह कह कर विनयपूर्वक वचन को स्वीकार किया, स्वीकार कर शीघ्र ही कुशल आचार्य के उपदेश से उत्पन्न मति, कल्पना और विकल्पों तथा सुनिपुण व्यक्तियों द्वारा निर्मित उज्ज्वल नेपथ्य से युक्त, सुसज्ज यावत् भीम, सांग्रामिक, अयोध्य—जिसके सामने कोई लड़ने में समर्थ न हो—हस्तिराज उदाई को सज्ज किया, अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरङ्गिणी सेना को सन्नद्ध किया, सन्नद्ध कर जहां राजा कोणिक हैं वहां आए, आ कर दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुट वाली दसनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर मस्तक पर टिका कर राजा कोणिक को उस आज्ञा का प्रत्यर्पण किया।

भाष्य

१. कुशल आचार्य

छेक—निपुण, आचार्य—शिल्प का उपदेशदाता।

२. उज्ज्वल नेपथ्य से युक्त

‘उज्ज्वल परिधान’ को शीघ्र परिगृहीत कर। परिवच्छिय का संस्कृत

रूप—परिपक्षित है।

नायाधम्मकहाओ^२ में परिवत्थिय पाठ है। ओवाइयं में भी परिवत्थिय पाठान्तर है।^३ उसके आधार पर ‘उज्ज्वल परिधान को धारण कर’ अर्थ घटित होगा। ‘हव्व’ के स्थान पर ‘वत्थ’ भी मिलता है।^४

१. आप्ते. नेपथ्य— attire

२. नाया. १/१६/२४७—तयाणंतरं च णं छेयायरिय-उवदेस मद्-कप्पणा-विकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्ज्वल-णेवत्थिय-हत्थ परिवत्थियं.....।

३. ओवा. सू. ५७ (तेरापंथां महासभा का संस्करण)

४. नाया. १/१६/२४७ (देखें इसी पृष्ठ का पाद टिप्पण २)

१७६. तए णं से कूणिए राया जेणेव मज्जनघरं तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता मज्जनघरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसिता ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सण्णद्ध-बद्ध-वम्मियकवए उप्पीलियसरासणपट्टिए पिणद्धगेवेज्ज-विमलवरबद्धचिंधपट्टे गहियाउहप्पहरणे सकोरेंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउचामर-बालवीजियंगे मंगलजयसहकयालोए जाव जेणेव उदाई हत्थिराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता उदाई हत्थिरायं दुख्खे ॥

ततः स कौणिकः राजा यत्रैव मज्जनगृहं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य मज्जनगृहं अनुप्रविशति, अनुप्रविश्य स्नातः कृतबलिकर्मा कृत-कौतुक-मंगल-प्रायश्चित्तः सर्वालंकारविभूषितः सन्नद्ध-वद्ध-वर्मितकवचः उत्पीडित-शरासनपट्टिकः पिन्नद्धग्रैवेय-विमलवरबद्ध-चिह्नपट्टः गृहीतायुधप्रहरणः सकोरण्टमाल्य-दाम्ना छत्रेण धियमाणेन चतुश्चामरबाल-वीजिताङ्गः मङ्गलजयशब्दकृतालोकः यावद् यत्रैव उदायी हस्तिराजः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य उदायिनं हस्तिराजम् आरूढः ।

१७६. राजा कूणिक जहां मज्जनघर है, वहां आया, आकर मज्जनघर में अनुप्रवेश किया, अनुप्रवेश कर उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक (तिलक आदि) मंगल (दधि, अक्षत आदि) और प्रायश्चित्त किया, सब अलंकारों से विभूषित हुआ, लोहकवच को धारण किया^१, कलाई पर चमड़े की पट्टी बांधी^२, गले का सुरक्षा-कवच पहना^३, विमलवर चिह्नपट्ट बांधे, आयुध और प्रहरण लिए^४। उसने कटसरैया के फूलों से बनी मालाओं से युक्त छत्र धारण किया, जिसके दोनों ओर दो-दो चामर डुलाए जा रहे थे। उसको देखते ही जन-समूह मंगल जय-निनाद करने लगा। यावत् जहां हस्तिराज उदाई था, वहां आया। आकर हस्तिराज उदाई पर आरूढ हो गया।

भाष्य

१. बलिकर्म प्रायश्चित्त

भ. २/६६ का भाष्य द्रष्टव्य है।

२. लोहकवच को धारण किया

सण्णद्धबद्धवम्मिय (सन्नद्धबद्धवर्मित) में सन्नाह और वर्म ये दोनों कवच के पर्यायवाची नाम हैं। कवच पहने हुए योद्धा के लिए सन्नद्ध, बद्ध और वर्मित शब्दों का प्रयोग किया गया है।

३. कलाई पर चमड़े की पट्टी बांधी

उप्पीलियसरासणपट्टिए (उत्पीडितशरासनपट्टिका) में उत्पीडित का अर्थ है—खींचकर बांधी हुई। शरासनपट्टिका का अर्थ है—धनुष को डोरी के आघात से रक्षा के लिए कलाई पर बांधी जाने वाली चमड़े की पट्टी।

४. गले का सुरक्षाकवच पहना

१७७. तए णं से कूणिए राया हारोत्थय-सुकय-रइयवच्छे जाव सेयवरचामराहिं उद्धु-व्वमाणीहिं-उद्धुव्वमाणीहिं हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे महयाभडचडगरबिंदपरिविखत्ते जेणेव महासिलाकण्टए संगामे तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छिता महासिलाकण्टं संगामं ओयाए। पुरओ य से सक्के देविंदे देवराया एणं महं अभेज्जकवयं वइरपडिरुवगं विउव्वित्ता णं चिह्णइ। एवं खलु दो इंदा संगामं संगामेति, तं जहा—देविंदे य, मणुइंदे य। एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया जइत्तए, एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया पराजित्तए ॥

ततः स कूणिकः राजा हारोपस्तृत-सुकृत-रचितवक्षाः यावत् श्वेतवरचामराभिः उद्धू-यमानाभिः-उद्धूयमानाभिः हय-गज-रथ-प्रवरयोधकलितया चतुराङ्गिण्या सेनया सार्धं सपरिवृतः महद्भटचटकरवृन्दपरिशितः यत्रैव महाशिलाकण्टकः संग्रामः तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य महाशिलाकण्टकं संग्रामं उपयातः । पुरतश्च स शक्रः देवेन्द्रः देवराजः एकं महद् अभेद्यकवचं वज्रप्रतिरूपकं विकृत्य तिष्ठति । एवं खलु द्वौ इन्द्रौ संग्रामं संग्रामयतः. तद् यथा—देवेन्द्रश्च मनुजेन्द्रश्च। एकहस्तिनापि प्रभुः कूणिकः राजा जेतुम्, एक हस्तिनापि प्रभुः कूणिकः राजा पराजितुम्।

१७७. राजा कूणिक का वक्षहार के आच्छादन^१ से सुशोभित हो रहा था यावत् वह डुलाए जा रहे श्वेतवर चामरों से युक्त, अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना से परिवृत, महान् सुभटों के सुविरतृत वृन्द से घिरा हुआ जहां महाशिलाकण्टक संग्राम की भूमि थी, वहां आया, आकर महाशिलाकण्टक संग्राम में उतर गया। उसके पुरोभाग में देवेन्द्र देवराज शक्र एक महान् वज्रतुल्य^२ अभेद्य कवच का निर्माण कर उपस्थित हैं। इस प्रकार दो इन्द्र संग्राम कर रहे हैं, जैसे देवेन्द्र और मनुष्येन्द्र। राजा कूणिक एकहस्तिना^३ से भी जीतने में समर्थ है। राजा कूणिक एकहस्तिना^४ से भी दूसरों को पराजित करने में समर्थ है।

वृत्तिकार ने ग्रैवेयक का अर्थ ग्रीवाभरण किया है।^१ किंतु यह अर्थ विमर्शनीय है।

सव्वालंकारविभूसिए—इस पाठ में अलंकृत होने का निर्देश है। इसके पश्चात् युद्ध के लिए सन्नद्ध होने का वर्णन है। ग्रैवेयक बाँधने और योद्धा के उपयुक्त चिह्नपट्ट लगाने का पाठ संयुक्त है, अतः ग्रैवेयक का प्रासंगिक अर्थ है—‘ग्रीवा की सुरक्षा का उपकरण’। जैसे सिर, पेट, जंघा, बाहु और अंगरक्षा के लिए पृथक्-पृथक् कवच पहने जाते थे वैसे ही ग्रीवा की रक्षा के लिए ग्रैवेयक नामक कवच पहना जाता होगा।

५. विमलवरचिह्नपट्ट.... प्रहरण लिए

चिह्नपट्ट (चिंधपट्टे)—योद्धा की पहचान कराने वाला चिह्नपट्ट गृहीतायुधप्रहरण (गहियाउहप्पहरणे) में गृहीत का अर्थ है—ग्रहण किया हुआ। आयुध अर्थात् अभेद्य शस्त्र । प्रहरण का अर्थ है—प्रक्षेपास्त्र-बाण आदि ।

१. भ. वृ. ७/१७६—ग्रैवेयकं ग्रीवाभरणं ।

भाष्य

१. आच्छादन

'उपस्तृत' का अर्थ है आच्छादित।

२. वज्रतुल्य

वज्रपडिस्रवग में वज्र का अर्थ है—वज्र, पडिस्रवग का अर्थ है—तुल्य।

३. एकहस्तिका

वृत्तिकार ने हस्ति का अर्थ हाथी किया है किंतु महाशिलाकण्टक संग्राम के प्रकरण में यह विमर्शनीय है। महाशिलाकण्टक संग्राम में फेंका हुआ एक बालु का कण भी शिला जैसी चोट करता है। इसलिए यहाँ हस्ति का अर्थ 'हस्तिका' नामक उपकरण है, जिसके द्वारा कंकड़ आदि फेंके जाते हैं।^१

१७८. तए णं से कूणिए राया महासिलाकंटकं संग्रामं संगामेमाणे नव मल्लई, नव लेच्छई— कासी-कौसलगा अट्टारस वि गणरायाणो हय-महिय-पवरवीर-घाइय-विवाडियचिंध्रय-पडागे किच्छपाणगए दिसोदिसिं पडिसेहित्था ॥

ततः स कूणिकः राजा महाशिलाकण्टकं संग्रामं संग्रामयन् नव 'मल्लई' नव 'लेच्छई'— काशी-कौशलकान् अष्टादश अपि गणराजान् हत-मथित-घातितप्रवरवीर-विपतित-विह-ध्वजपताकान् कृच्छ्रप्राणगतान् दिशोदिशं प्रत्यसीषिधत्।

१७८. राजा कूणिक ने महाशिलाकण्टक संग्राम लड़ते हुए नौ मल्ल और नौ लिच्छवी—काशी-कौशल के अट्टारह गणराजों को हत-प्रहत कर दिया, मथ डाला, प्रवर योद्धाओं को मार डाला, चिह्न-ध्वजा-पताका को गिरा दिया, उनके प्राण संकट में पड़ गए, उन्हें पीछे की ओर ढकेल दिया।

१७९. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—महासिलाकंटक संग्रामे ?

गोयमा ! महासिलाकंटक णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा हत्थी वा जोहे वा सारही वा तणेण वा कट्टेण वा पत्तेण वा सक्कराए वा अभिहम्मति, सव्वे से जाणैइ महासिलाए अहं अभिहए। से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—महासिलाकंटक संग्रामे ॥

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—महाशिलाकण्टकः संग्रामः ?

गौतम ! महाशिलाकण्टके संग्रामे वर्तमाने यो यत्र अश्वो वा हस्ती वा योधो वा सारथी वा तृणेन वा काष्ठेन वा पत्रेण वा शर्करया वा अभिहन्यते, सर्वः स जानाति महाशिलया अहम् अभिहतः। तत् तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—महाशिलाकण्टकः संग्रामः।

१७९. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है कि वह महाशिलाकण्टक संग्राम है ?

गौतम ! महाशिलाकण्टक संग्राम चल रहा था। वहाँ विद्यमान अश्व, हाथी, योद्धा अथवा सारथी पर तृण, काष्ठ, पत्र अथवा शर्करा (कंकर) का प्रहार किया जाता, तब वे सब अनुभव करते कि उन पर महाशिला से प्रहार किया जा रहा है। गौतम ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—महाशिलाकण्टक संग्राम है।

१८०. महासिलाकंटकं णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कति जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ?

गोयमा ! चउरासीइं जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ॥

महाशिलाकण्टके भदन्त ! संग्रामे वर्तमाने कति जनशतसाहस्र्यः हताः ?

गौतम ! चतुरशीतिः जनशतसाहस्र्यः हताः।

१८०. भन्ते ! महाशिलाकण्टक संग्राम में कितने लाख मनुष्य मारे गए ?

गौतम ! चौरासी लाख मनुष्य मारे गए।

१८१. ते णं भंते ! मणुया निस्सीला निग्गुणा निम्मेरा निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा रुट्ठा परिकुविया समरवहिया अणुवसंता कालमासे कालं किच्चा कहिं गया ? कहिं उववण्णा ?

गोयमा ! उस्सण्णं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववण्णा ॥

ते भदन्त ! मनुजाः निस्शीला निर्गुणाः निर्मर्यादाः निष्प्रत्याख्यानपोषधोपवासाः रुष्टाः परिकुपिताः समरहताः अनुपशान्ताः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गताः ? कुत्र उपपन्नाः ?

गौतम ! 'उस्सण्णं' नरक-तिर्यग् योनिकेषु उपपन्नाः।

१८१. भन्ते ! उस संग्राम में मारे जाने वाले मनुष्य शील, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से रहित, रुष्ट और परिकुपित थे। उनका क्रोध उपशान्त नहीं था। वे मृत्यु के समय में मर कर कहाँ गए? कहाँ उत्पन्न हुए?

गौतम ! वे प्रायः नरक और तिर्यक् योनि में उपपन्न हुए।

भाष्य

शब्द-विमर्श

उस्सण्ण—प्रायः। यह देशी शब्द है। भ. ७/१६० का भाष्य भी द्रष्टव्य है।

रहमुसलसंग्राम-पदं

१८२. नायमेयं अरहया, सुयमेयं अरहया, विण्णा-

रथमुसलसंग्राम-पदम्

ज्ञातमेतत् अर्हता, श्रुतमेतत् अर्हता, वि-

रथमुसलसंग्राम-पद

१८२. यह अर्हत् के द्वारा ज्ञात है, यह अर्हत् के द्वारा

१. भ. वृ. ७/१७७—एगहत्थिणा वि ति—एकेनापि गजेन।

२. आप्टे—हस्तिका—A kind of stringed instrument

यमेयं अरहया—रहमुसले संगामे। रहमुसले णं मंते ! संगामे वट्टमाणे के जइत्था ? के पराजइत्था ?

गोयमा ! वज्जी, विदेहपुत्रे, चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया जइत्था, नव गल्लई, नव लेच्छई पराजइत्था ॥

ज्ञातमेतद् अर्हता—रथमुसलः संग्रामः। रथ-मुसले भदन्त ! संग्रामे वर्तमाने कः अजैषीत्? कः पराजेष्ट ?

गोतम ! वज्जी, विदेहपुत्रः, चमरः असुरेन्द्रः अरुरकुमार राजा अजैषुः, नव 'मल्लई' नव 'लेच्छई' पराजेषत।

स्मृत है, यह अर्हत् के द्वारा विज्ञात है—रथमुसल संग्राम! भन्ते ! रथमुसलसंग्राम में कौन जीता ? कौन हारा ?

गोतम ! वज्जी (इन्द्र) विदेहपुत्र (कौणिक) और असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर जीते। नौ मल्ल और नौ लिच्छवी हारे।

१८३. तए णं से कूणिए राया रहमुसलं संग्रामं उवट्टिए जाणित्ता कोडुबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणु-पिषया! भूयाणंदं हत्थिरायं पडिकप्पेह, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह, सण्णाहेत्ता मम एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चपिणह ॥

ततः स कूणिकः राजा रथमुसलं संग्रामम् उपस्थितं ज्ञात्वा कौटुम्बिकपुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—क्षिप्रमेव भोः देवानु-प्रियाः! भूतानन्दं हस्तिराजं परिकल्पयत, हय-गज-रथ-प्रवर-योधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नह्यत, सन्नह्य मम एतामाज्ञप्तिं क्षिप्रमेव प्रत्यर्पयत।

१८३. रथमुसल संग्राम उपस्थित हो गया है—यह जान कर राजा कौणिक ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया बुला कर कहा—देवानुप्रियो ! शीघ्र ही हस्तिराज भूतानन्द को सज्ज करो, अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध करो, सन्नद्ध कर शीघ्र ही मेरी इस आज्ञा का प्रत्यर्पण करो।

१८४. तए णं ते कोडुबियपुरिसा कोणिएणं रण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्टतुट्टचित्तमाणंदिआ जावं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं सामी ! तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडि-सुणित्ता खिप्पामेव छेयायरियोवएसमति-कप्पणा-विकप्पेहिं सुनिउणेहिं उज्जलणेवत्थ-हव्वपरिवच्छियं सुसज्जं जाव भीमं संग्रामियं अओज्जं भूयाणंदं हत्थिरायं पडिकप्पेति, हय-गय-रह-पवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेति, सण्णाहेत्ता जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता करयल-परिगहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु कूणियस्स रण्णो तमाणत्तियं पच्च-पिणंति ॥

ततः ते कौटुम्बिकपुरुषाः कूणिकेन राज्ञा एवमुक्ताः सन्तः हृष्टतुष्टचित्ताः आनदिताः यावत् मस्तके अञ्जलिं कृत्वा एवं स्वामिन्! तथेति आज्ञया विनयेन वचनं प्रतिश्रुयन्ति, प्रतिश्रुत्य क्षिप्रमेव छेकाचार्योपदेश-मति-कल्पना-विकल्पैः सुनिपुणैः उज्ज्वलनेपथ्य-हव्वपरिवक्षितं सुसज्जं यावद् भीमं सांग्रामिकम् अयोध्यं भूतानन्दं हस्तिराजं परिकल्पयन्ति, हय-गज-रथ-प्रवरयोधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नह्यन्ति, सन्नह्य यत्रैव कूणिकः राजा तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागम्य करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा कूणिकस्य राज्ञः ताम् आज्ञप्तिं प्रत्यर्पयन्ति।

१८४. कौटुम्बिक पुरुष कौणिक राजा के द्वारा इस प्रकार का निर्देश प्राप्त कर हृष्ट-तुष्ट और आनन्दित चित्त वाले हुए यावत् अञ्जलि को मस्तक पर टिका कर बोले—स्वामिन् ! जैसा आपका निर्देश है, वैसा ही होगा, यह कह कर विनयपूर्वक वचन को स्वीकार किया, स्वीकार कर शीघ्र ही कुशल आचार्य के उपदेश से उत्पन्न मति, कल्पना और विकल्पों तथा सुनिपुण व्यक्तियों द्वारा निर्मित उज्ज्वल नेपथ्य से युक्त, सुसज्ज यावत् भीम, सांग्रामिक, अयोध्य—जिसके सामने कोई लड़ने में समर्थ न हो—हस्तिराज भूतानन्द को सज्ज किया; अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध किया, सन्नद्ध कर जहां राजा कूणिक है वहां आए, आ कर दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुट वाली दसनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर, मस्तक पर टिका कर राजा कूणिक को उस आज्ञा का प्रत्यर्पण किया।

१८५. तए णं से कूणिए राया जेणेव मज्जनघरं तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता मज्जनघरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता ण्हाए कयबलि-कम्मे कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते सव्वा-लंकारविभूसिए सण्णद्ध-बद्ध-वम्मियकवए उप्पीलियसरासण-पट्टिए पिणद्धगेवेज्ज-विमलवरबद्धविंधपट्टे गहियाउहप्पहरणे स-कोरेंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं चउ-चाभरबालवीजियंगे, मंगलजयसद्दकयालोए जाव जेणेव भूयाणंदे हत्थिराया तेणेव उवा-गच्छइ, उवागच्छित्ता भूयाणंदं हत्थिरायं वुरुढे ॥

ततः सः कूणिकः राजा यत्रैव मज्जनगृहं तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य मज्जनगृहम् अनु-प्रविशति, अनुप्रविश्य स्नातः कृतबलिकर्मा कृतकौतुक-मंगल-प्रायश्चित्तः सर्वालंकारवि-भूषितः सन्नद्ध-बद्ध-वर्मितकवचः उत्पीडित-शरासन-पट्टिकः पिणद्धग्रैवेय-विमलवरबद्ध-चिह्नपट्टः गृहीतायुधप्रहरणः सकोरण्टमा-त्यदाम्ना छत्रेण धियमाणेन चतुश्चाभरबाल-वीजिताङ्गः मंगलजयशब्दकृतालीकः यावद् यत्रैव भूतानन्दः हस्तिराजः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य भूतानन्दं हस्तिराजम् आरूढः।

१८५. राजा कूणिक जहां मज्जनघर है, वहां आया, आ कर मज्जनघर में अनुप्रवेश किया, अनुप्रवेश कर उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक (तिलक आदि) और प्रायश्चित्त किया, सब अलंकारों से विभूषित हुआ, लोह कवच को धारण किया, कलाई पर चमड़े की पट्टी बांधी, गले का सुरक्षाकवच पहना, विमलवर चिह्नपट्ट बांधे, आयुध और प्रहरण लिए। उसने कटसरैया के फूलों से बनी मालाओं से युक्त छत्र धारण किया, जिसके दोनों ओर दो-दो चमर जुलाए जा रहे थे। उसको देखते ही जनसमूह मंगल जय-निनाद करने लगा यावत्, जहां हस्तिराज भूतानन्द है, वहां आया। आ कर हस्तिराज भूतानन्द पर आरूढ़ हो गया।

१८६. तए णं से कूणिए राया हारोत्थय-सुकय-
-रइयवच्छे जाव सेयवरचामराहि उद्धुवमाणी-
हिं-उद्धुवमाणीहिं हय-गय-रह-पवरजोह-
कलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सखिं संपरिवुडे
महयाभडचडगरविंदपरिखित्ते जेणेव रह-
मूसले संगामे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता
रहमुसलं संगामं ओयाए। पुरओ य से सक्के
देविंदे देवराया एगं महं अमेज्जकवयं वइर-
पडिस्वगं विउव्वित्ता णं चिट्ठइ। मग्गओ य से
चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया एगं महं
आयसं किट्ठिणपडिस्वगं विउव्वित्ता णं चिट्ठइ।
एवं खलु तओ इंदा संगामं संगामेति, तं
जहा—देविंदे य, मणुइंदे य, असुरिंदे य।
एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया जइत्तए,
एगहत्थिणा वि णं पभू कूणिए राया पराजि-
णित्तए ॥

ततः स कूणिकः राजा हारोपस्तृत-सुकृत-
-रचितवक्षाः यावत् श्वेतवरचामराभिः उद्धुय-
मानाभिः-उद्धुयमानाभिः हय-गज-रथ-
-प्रवरयोधकलितया चतुरङ्गिण्या सेनया सार्धं
संपरिवृतः महद्भटवटकरवृन्दपरिक्षिप्तः यत्रैव
रथमुसलः संग्रामः तत्रैव उपागच्छति, उपागम्य
रथमुसलं संग्रामम् उपयातः । पुरतः च स
शक्रः देवेन्द्रः देवराजः एकं महद् अभेद्य-कवचं
वज्रप्रतिरूपकं विकृत्य तिष्ठति। 'मग्गओ' च
स चमरः असुरेन्द्रः; असुरकुमारराजा एकं
महद् आयसं 'किट्ठिण'प्रतिरूपकं विकृत्य
तिष्ठति। एवं खलु त्रयः इन्द्राः संग्रामं सं-
ग्रामयन्ति, तद् यथा देवेन्द्रः च, मनुजेन्द्रः च,
असुरेन्द्रः च। एकहस्तिनापि प्रभुः कूणिकः
राजा जेतुम्, एकहस्तिनापि प्रभुः कूणिकः
राजा पराजेतुम्।

१८६. 'राजा कूणिक का वक्ष हार के आच्छादन से
सुशोभित हो रहा था यावत् वह डुलाए जा रहे
श्वेतवर चमरों से युक्त; अश्व, गज, रथ और प्रवर
योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना से परिवृत, महान्
सुभटों के सुवित्तृत वृन्द से परिक्षिप्त हो कर जहां
रथमुसल संग्राम की भूमि थी, वहां आया। आ कर
रथमुसल संग्राम में उतर गया। उसके पुरोभाग में
देवेन्द्र देवराज शक्र एक महान् वज्र तुल्य अभेद्य
कवच का निर्माण कर उपस्थित है। उसके पृष्ठभाग में
असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर एक महान् लोह का
तापस-पात्र-तुल्य पात्र' निर्मित कर उपस्थित है। इस
प्रकार तीन इन्द्र संग्राम कर रहे हैं, जैसे—देवेन्द्र,
मनुष्येन्द्र और असुरेन्द्र। राजा कूणिक एकहस्तिना से
भी जीतने में समर्थ है। राजा कूणिक एकहस्तिना से
भी दूसरों को पराजित करने में समर्थ है।

भाष्य

१. सूत्र १८६

शब्द-विमर्श

मग्गओ—यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है 'पीठ पीछे'। मराठी में
मागे का अर्थ है—पीछे।

तापस-पात्र-तुल्य पात्र (किट्ठिणपडिस्वग) — 'किट्ठिण' का अर्थ
है—वास से बना हुआ पात्र। जिसका उपयोग तापस किया करते थे। 'किट्ठिण'
देशी शब्द है। प्रतिरूपक का अर्थ है—उसके आकार वाला पात्र।^१

हस्तिना—प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त हस्तिना का भाष्य किया जा
चुका है।^२

१८७. तए णं से कूणिए राया रहमुसलं संगामं
संगामेमाणे नव मल्लई, नव लेच्छई—कासी-
-कोसलगा अट्टारस वि गणरायाणो हय-महिय-
-पवरवीर-घाइय-विवडियचिंध-द्धयपडागे कि-
च्छपाणगाए दिसोदिसिं पडिसेहित्था ॥

ततः स कूणिकः राजा रथमुसलं संग्रामं
संग्रामयन् नव 'मल्लई' नव 'लेच्छई'—काशी-
-कौशलकान् अष्टादशापि गणराजान् हत-
-मथित-घातित-प्रवरवीर-विपतितचिह्न-ध्वज-
पताकान् कृच्छ्रप्राणगतान् दिशोदिशं प्रत्य-
सीषिधत्।

१८७. राजा कूणिक ने रथमुसल संग्राम लड़ते हुए नौ
मल्ल और नौ लिच्छवी—काशी-कोशल के अठारह
गणराजों को हत-प्रहत कर दिया, मथ डाला, प्रवर
योद्धाओं को मार डाला, ध्वजा-पताका को गिरा दिया,
उनके प्राण संकट में पड़ गए, उन्हें पीछे की ओर
ढकेल दिया।

१८८. से केणट्टेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—रहमुसले
संगामे ?

गोयमा! रहमुसले णं संगामे वट्टमाणे एगे रहे
अणासए, असारहिए, अणारोहए, समुसले
महया जणक्खयं, जणवहं, जणप्पमहं, जण-
संवट्टकपं रुहिरकहमं करेमाणे सब्बओ समंता
परिधावित्था। से तेणट्टेण गोयमा ! एवं
वुच्चइ—रहमुसले संगामे।

तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—रथमुसलः
संग्रामः ?

गौतम ! रथमुसले संग्रामे वर्तमाने एको रथः
अनश्वकः, असारथिकः, अमारोहकः, स-
मुसलः महद् जनक्षयं जनवधं, जनप्रमर्दं,
जनसंवर्तकल्पं रुधिरकर्दमं कुर्वाणः सर्वतः
समन्तात् पर्यधावित्थ। तत् तेनार्थेन गौतम!
एवमुच्यते—रथमुसलः संग्रामः ।

१८८. 'भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—वह
रथमुसल संग्राम है ?

गौतम ! रथमुसल संग्राम चल रहा था। उस समय एक
रथ जिसमें घोड़े जुते हुए नहीं थे, कोई सारथि उसे
चला नहीं रहा था। जिसमें कोई योद्धा नहीं बैठा था,
उसमें एक मुसल था, वह रथ योद्धाओं का क्षय, वध
और प्रमर्दन करता हुआ, योद्धाओं के लिए प्रलयपात
के समान बना हुआ, युद्धभूमि पर रक्त का कीचड़
फैलाता हुआ चारों तरफ दौड़ रहा था। गौतम ! इस
अपेक्षा से कहा जा रहा है—रथमुसल संग्राम है।

१. अ. वृ. ६/१८६—किट्ठिनं वंशमयस्तापससंबंधी भाजनविशेषस्तत् प्रतिरूपकं—तदाकारं वस्तु।

२. देखें, अ. ७/१७७ का भाष्य।

भाष्य

१. सूत्र १८८

प्रस्तुत सूत्र में स्वतःचालित रथ और स्वतःचालित शस्त्र का उल्लेख है। ये दोनों असुरेन्द्र चमर के द्वारा निर्मित थे। रथ स्वतःचालित था। इसके प्रतिपादक तीन पद हैं—वह अश्वरहित (अणासए), सारथिरहित (असारहिए) और आरोहक—योद्धारहित (अणारोहए) था। इसी प्रकार 'मुसल' भी स्वतः

संचालित था जो शत्रु सेना का शय, वध और प्रमर्दन करता था।

इसकी तुलना आधुनिक स्व-चालित शस्त्रारम्भों से की जा सकती है।

शब्द-विमर्श

संवर्त्त (संवट्ट)—प्रलय।

१८६. रहमुसले णं भंते ! संगामे वट्टमाणे कति जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ?
गोयमा ! छण्णउत्तिं जणसयसाहस्सीओ वहियाओ ॥

रथमुसले भदन्त ! संग्रामे वर्तमाने कति जनशतसाहस्यः हताः ?
गौतम ! षण्णवतिः जनशतसाहस्यः हताः ।

१८६. भन्ते ! रथमुसलसंग्राम में कितने लाख मनुष्य मारे गए ?
गौतम ! छियानवे लाख मनुष्य मारे गए।

१६०. ते णं भंते ! मणुया निस्सीला निग्गुणा निम्मेरा निप्पच्चक्खाणपोसहोववासा रुट्ठा परिकुविया समरवहिया अणुवसंता कालमासे कालं किच्च्या कहिं गया ? कहिं उववन्ना ?

ते भदन्त ! मनुजाः निश्शीलाः निर्गुणाः निर्मर्यादाः निष्प्रत्याख्यानपोषधोपवासाः रुष्टाः परिकुपिताः समरहताः अनुपशान्ताः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गताः ? कुत्र उपपन्नाः ?

१६०. भन्ते ! उस संग्राम में मारे जाने वाले मनुष्य शील, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और षोषधोपवास से रहित, रुष्ट और परिकुपित थे। उनका क्रोध उपशान्त नहीं था। वे मृत्यु के समय में मरकर कहाँ गए ? कहाँ उपपन्न हुए ?

गोयमा ! तत्थ णं दससाहस्सीओ एगाए मच्छियाए कुच्छिसि उववन्नाओ। एगे देव-लोगेसु उववन्ने। एगे सुकुले पच्चायाए। अवसेसा उस्सण्णं नरग-तिरिक्खजोणिएसु उववन्ना ॥

गौतम ! तत्र दशसाहस्यः एकस्याः मत्स्याः कुक्षौ उपपन्नाः । एकः देवलोकेषूपपन्नः । एकः सुकुले प्रत्यायातः । अवशेषाः 'उस्सण्णं' नरक-तिर्यग्योनिक्वेषु उपपन्नाः ।

गौतम ! उनमें से दस हजार मनुष्य एक मछली की कुक्षि में उपपन्न हुए। एक देवलोक में उपपन्न हुआ। एक अच्छे मनुष्य कुल में उत्पन्न हो गया। शेष सब नरक और तिर्यक्-योनि में उपपन्न हुए।

भाष्य

१. शेष सब

'शेष सब' किया गया है। द्रष्टव्य भ. ७/१८१ का भाष्य ।

उस्सण्णं का अर्थ 'प्रायः' है। यहां 'अवसेसा उस्सण्णं' का अर्थ

१६१. कम्हा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया, चमरे य असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रण्णो साहेज्जं दलइत्था ?
गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया पुव्वसंगतिए, चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया परियाय-संगतिए । एवं खलु गोयमा ! सक्के देविंदे देवराया, चमरे य असुरिंदे असुरकुमारराया कूणियस्स रण्णो साहेज्जं दलइत्था ॥

कस्माद् भदन्त ! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः चमरश्च असुरेन्द्रः असुरकुमारराजः कूणिकाय राज्ञे साहाय्यं अदात् ?
गौतम ! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः पूर्वसांगतिकः, चमरः असुरेन्द्रः असुरकुमारराजः पर्याय-सांगतिकः । एवं खलु गौतम ! शक्रः देवेन्द्रः देवराजः, चमरः च असुरेन्द्रः असुरकुमारराजः कूणिकाय राज्ञे साहाय्यं अदात् ।

१६१. भन्ते ! देवेन्द्र देवराज शक्र और असुरेन्द्र असुर-कुमारराज चमर ने राजा कूणिक को साहाय्य किस कारण से दिया ?
गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र राजा कूणिक का पूर्व जन्म का मित्र था^१, असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर उसका दीक्षा-पर्याय का साथी था।^२ गौतम ! इस प्रकार देवेन्द्र देवराज शक्र और असुरेन्द्र असुरकुमारराज चमर ने राजा कूणिक को साहाय्य दिया ।

भाष्य

१. पूर्वजन्म का मित्र (पुव्वसंगतिए)

कार्तिक सेठ की अवस्था में कूणिक का जीव शक्र का मित्र था, इसलिए शक्र को कूणिक का पूर्वसांगतिक बतलाया गया है।^१

द्रष्टव्य भ. १८/४०-५३।

२. दीक्षा पर्याय का साथी (परियायसंगतिए)

पूरण तापस के जीवन-काल में कूणिक का जीव तापस-पर्याय में था और वह पूरण तापस का मित्र था, इसलिए उसे पर्यायसांगतिक कहा गया है।^२

द्रष्टव्य भ. ३/१०१-१०७।

१. भ. वृ. ७/१६१—कार्तिकश्रेष्ठवस्थायां कूणिकजीवो मित्रमभवत् ।

२. वही, ७/१६१—पूरणतापसावस्थायां चरमस्यासौ तापसपर्यायवर्ती मित्रमासीदिति ।

वरुण-नागनत्तुय-पदं

१६२. बहुजणे णं भन्ते ! अण्णमण्णस्स एव-
माइक्खइ जाव परूवेइ—एवं खलु बहवे
मणुस्सा अण्णयरेसु उच्चावएसु संगामेसु
अभिमुहा चेव पहया समाणा कालमासे कालं
किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उवव-
त्तारो भवन्ति ॥

१६३. से कहमेयं भन्ते! एवं ?

गोयमा ! जण्णं से बहुजणे अण्णमण्णस्स
एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—एवं खलु बहवे
मणुस्सा अण्णयरेसु उच्चावएसु संगामेसु
अभिमुहा चेव पहया समाणा कालमासे कालं
किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उवव-
त्तारो भवन्ति, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एव-
माहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव
परूवेमि—एवं खलु गोयमा! तेषं कलेणं तेषं
समएणं वेसाती नामं नगरी होत्था—वण्णओ।
तत्थ णं वेसातीए नगरीए वरुणे नामं नागनत्तुए
परिवसइ—अड्ढे जाव अपरिभूए, समणो-
वासए, अभिगयजीवाजीवे जाव समणे निग्गंथे
फासु-एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइ-
मेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पीढ-
-फलग-सेज्जा-संधारएणं ओसहभेसज्जेणं
पडित्ताभेमाणे छट्ठंछट्ठेणं अणिखित्तेणं तवो-
कम्पेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरति ॥

१६४. तए णं से वरुणे नागनत्तुए अण्णया कयाइ
रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं
रहमुसले संगामे आणत्ते समाणे छट्ठभत्तिए
अट्टमभत्तं अणुवट्ठेति, अणुवट्ठेत्ता कोडुंबिय-
पुरिसे सदावेइ, सदावेत्ता एवं वयासी—
खिप्पामेव भो देवानुप्पिया ! चाउग्घटं आसरहं
जुत्तामेव उवट्ठावेह, हय-गय-रह-पवरजोह-
कलियं चाउरंगिणि सेणं सण्णाहेह, सण्णाहेत्ता
मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह ॥

१६५. तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव पडिसुणेत्ता
खिप्पामेव सच्छत्तं सज्झयं जाव चाउग्घटं
आसरहं जुत्तामेव उवट्ठावेत्ति, हय-गय-रह-
-पवरजोहकलियं चाउरंगिणि सेणं सण्णाहेत्ति,
सण्णाहेत्ता जेणेव वरुणे नागनत्तुए तेणेव उवा-

वरुण-नागनत्तुक-पदम्

बहुजनः भदन्त ! अन्योन्यस्य एवमाचक्षते
यावत् प्ररूपयति—एवं खलु बहवः मनुष्याः
अन्यतरेषु उच्चावचेषु संग्रामेषु अभिमुखाः
चैव प्रहताः सन्तः कालमासे कालं कृत्वा
अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वेन उपपत्तारो
भवन्ति ।

तत् कथमेतत् भदन्त ! एवम् ?

गौतम ! यत् स बहुजनः अन्योन्यस्य एव-
माचक्षते यावत् प्ररूपयति—एवं खलु बहवः
मनुष्याः अन्यतरेषु उच्चावचेषु संग्रामेषु
अभिमुखाः चैव प्रहताः सन्तः कालमासे कालं
कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वेन उपपत्तारो
भवन्ति, ये ते एवमाहुः मिथ्या ते एवमाहुः।
अहं पुनः गौतम ! एवमाख्यामि यावत् प्ररूप-
यामि—एवं खलु गौतम ! तस्मिन् काले तस्मिन्
समये वैशाली नाम नगरी आसीद्—वर्णकः।
तत्र वैशाल्यां नगर्यां वरुणो नाम नागनत्तुकः
परिवसति—आढ्यः यावद् अपरिभूतः,
श्रमणोपासकः अभिगतजीवाजीवः यावत्
श्रमणान् निर्ग्रन्थान् प्राप्तु-एषणीयेन अशन-
-पान-खाद्य-स्वाद्येन वस्त्र-प्रतिग्रह-कम्बल-
-पादप्रोञ्जनेन पीठ-फलक-शय्या-संस्तार-
-केण औषध-भैषज्येन प्रतिलाभयन् पण्ड-
-पष्टेण अनिक्षिप्तेन तपःकर्मणा आत्मानं
भावयन् विहरति ।

ततः सः वरुणः नागनत्तुकः अन्यदा कदाचिद्
राजाभियोगेन, गणाभियोगेन, बलाभियोगेन
रथमुसले संग्रामे आज्ञप्तः सन् षष्ठभक्त्या
अष्टमभक्तं अनुवर्तते, अनुवर्त्य कौटम्बिक-
पुरुषान् शब्दयति, शब्दयित्वा एवमवादीत्—
क्षिप्रमेव भोः देवानुप्रियाः! चतुर्घण्टम् अश्वरथं
युक्तमेव उपस्थापयत, हय-गज-रथ-प्रवर-
योधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्नद्धत,
सन्नद्ध मम एतामाज्ञप्तिं प्रत्यर्पयत।

ततः ते कौटम्बिकपुरुषाः यावत् प्रतिश्रुत्य
क्षिप्रमेव सच्छत्रं सध्वजं यावच् चतुर्घण्टम्
अश्वरथं युक्तमेव उपस्थापयन्ति, हय-गज-
-रथ-प्रवरयोधकलितां चतुरङ्गिणीं सेनां सन्-
-नहन्ति, सन्नद्ध यत्रैव करुणः नागनत्तुकः

नाग के धेवता वरुण का पद

१६२. भन्ते ! बहुत लोग परस्पर ऐसा आख्यान कर रहे
हैं यावत् प्ररूपणा कर रहे हैं—अनेक मनुष्य छोटे-बड़े
किसी भी संग्राम में लड़ते हुए प्रहत हो मृत्यु के समय में
मरकर किसी देवलोक में देव के रूप में उपपन्न होते
हैं।

१६३. भन्ते ! यह कैसे है ?

गौतम ! बहुत लोग परस्पर ऐसा आख्यान कर रहे हैं
यावत् प्ररूपणा कर रहे हैं—अनेक मनुष्य छोटे-बड़े
किसी भी संग्राम में लड़ते हुए प्रहत हो मृत्यु के समय में
मरकर किसी देवलोक में देव के रूप में उपपन्न होते
हैं। जो ऐसा कहते हैं वे मिथ्या कहते हैं। गौतम ! मैं
ऐसा आख्यान करता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ—
गौतम ! उस काल और उस समय वैशाली नाम की
नगरी थी—वर्णन। उस वैशाली नगरी में नागनत्तुक
(नाग का धेवता) वरुण रहता था—वह सम्पन्न यावत्
अपरिभवनीय था। वह श्रमणों की उपासना करने वाला,
जीव-अजीव को जानने वाला, यावत् श्रमण-निर्ग्रन्थों
को प्राप्तु और एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य,
वस्त्र, पात्र, कंबल, पाद-प्रोञ्जन, पीठ-फलक, शय्या-
संस्तारक और औषध-भैषज्य का दान देने वाला
निरन्तर वेले-वेले के तपःकर्म द्वारा आपने आपको
भावित करता हुआ विहरण कर रहा है।

१६४. युद्ध का प्रसंग उपस्थित होने पर राजाभियोग,
गणाभियोग, बलाभियोग के द्वारा नागनत्तुक वरुण
को रथमुसल संग्राम में जाने की आज्ञा प्राप्त हुई। उस
दिन वह बेला (दो दिन का उपवास) की तपस्या में था।
उसने बेला (तीन दिन का उपवास) कर लिया, तप
सम्पन्न कर कौटम्बिक पुरुषों को बुलाया, बुला कर
कहा—देवानुप्रियो! शीघ्र ही चार घण्टाओं वाले अश्वरथ
को जोत कर उपस्थित करो; अश्व, गज, रथ और
प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना को सन्नद्ध करो,
सन्नद्ध कर शीघ्र ही मेरी इस आज्ञा का प्रत्यर्पण करो।

१६५. कौटम्बिक पुरुषों ने यावत् स्वीकार कर शीघ्र ही
छत्र और ध्वजायुक्त यावत् चार घण्टाओं वाले
अश्वरथ को जोत कर उपस्थित किया तथा अश्व,
गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त चतुरंगिणी सेना
को सन्नद्ध किया, सन्नद्ध कर जहाँ नागनत्तुक वरुण

गच्छति उवागच्छिता जाव तमाणसियं पच्च-
पिण्णति ॥

तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागत्य यावत् तामाज्ञपिं
प्रत्यर्पयन्ति।

था वहां आए, आ कर यावत् उस आज्ञा का प्रत्यर्पण
किया।

१६६. तए णं से वरुणे नागनत्तुए जेणेव मज्जण-
घरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिता मज्जण-
घरं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसित्ता ष्हाए
कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते
सव्वालंकारविभूसिए सण्णद्ध-बद्ध-वम्मिय-
-कवए सकोरेटमल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्ज-
माणेणं, अणेगगणनायग-दंडनायग-राईसर-
-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इम्म-सेट्ठि-से-
णावइ-सत्थवाह-दूय-संधिपालसद्धिं संपरिवुडे
मज्जणघराओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्ख-
मिता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला, जेणेव
चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवाग-
च्छिता चाउग्घंटे आसरहं दुरुहइ, दुरुहत्ता
हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए
सेणाए सद्धिं संपरिवुडे, महयाभडचडगरविंद-
परिक्खित्ते जेणेव रहमुसले संगामे तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छिता रहमुसलं संगामं
ओयाए ॥

ततः सः वरुणः नागनप्तुकः यत्रैव मज्जनगृहं
तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य मज्जनगृहं अनु-
प्रविशति, अनुप्रविश्य स्नातः कृतवलिकर्मा
कृतकौतुक-मंगल-प्रायश्चित्तः सर्वालंकार-
विभूषितः सन्नुद्ध-बद्ध-वर्मित-कवचः सको-
रुटमाल्य-दान्ना छत्रेण धियमाणेन अनेक-
गणनायक-दण्डनायक-राजेश्वर-तलवर-
-माडम्बिक-कौटुम्बिक-इम्य-श्रेष्ठी-सेनापति-
-सार्थवाह-दूत-सन्धिपालैः सार्द्धं संपरिवृतः
मज्जनगृहात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य
यत्रैव बाह्यकन उपस्थानशाला, यत्रैव चतुर्घण्टम्
अश्वरथः तत्रैव उपागच्छति, उपागत्य चतु-
र्घण्टम् अश्वरथम् आरोहति, आरुह्य हय-
-गज-रथ-प्रवरयोधकलितया चतुरङ्गिण्या
सेनया सार्द्धं संपरिवृतः महद्भटचटकरवृन्द-
परिक्षिप्तः यत्रैव रथमुसलः संग्रामः तत्रैव
उपागच्छति, उपागत्य रथमुसलं संग्रामम्
उपयातः।

१६६. नागनप्तुक वरुण जहां मज्जनघर है वहां आया,
आ कर मज्जनघर में अनुप्रवेश किया, अनुप्रवेश कर
उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक (तिलक
आदि) मंगल (वधि, अक्षत आदि) और प्रायश्चित्त किया;
सब अलंकारों से विभूषित हुआ, लोहकवच को धारण
किया, कटसरैया के फूलों से बनी मालाओं से युक्त
छत्र धारण किया। अनेक गणनायक, दण्डनायक, राजे,
ईश्वर, तलवर, (कोटवाल) माडम्बिक, कौटुम्बिक,
इम्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, दूत और सन्धिपालों
के साथ उनसे घिरा हुआ मज्जनघर से बाहर निकला,
निकल कर जहां बाहरी उपस्थानशाला है, जहां चार
घण्टाओं वाला अश्वरथ है, वहां आया। आ कर चार
घण्टाओं वाले अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ, आरूढ़ हो
कर अश्व, गज, रथ और प्रवर योद्धा से युक्त
चतुरंगिणी सेना से परिवृत, महान् सुभटों के सुविस्तृत
वृन्द से परिक्षिप्त हो कर जहां रथमुसल संग्राम की
भूमि थी वहां आया। आ कर रथमुसल संग्राम में उतर
गया।

१६७. तए णं से वरुणे नागनत्तुए रहमुसलं संगामं
ओयाए समाणे अयमेयारुवं अभिग्गहं अभि-
गेण्हइ—कप्पति मे रहमुसलं संगामं संगामे-
माणस्स जे पुव्विं पहणइ से पडिहणित्तए,
अवसेसे नो कप्पतीति; अयमेयारुवं अभिग्गहं
अभिगेण्हइ, अभिगेण्हत्ता रहमुसलं संगामं
संगामेति ॥

ततः स वरुणः नागनप्तुकः रथमुसलं संग्रामम्
उपयातः सन् इममेतद्रूपं अभिगृहम् अभि-
गृह्णाति कल्पते मे (मम) रथमुसलं संग्रामं
संग्रामयतः यो पूर्वं प्रहन्ति तं प्रतिहन्तुम्,
अवशेषान् न कल्पते इति; इममेतद्रूपं अभिग्रहम्
अभिगृह्णाति, अभिगृह्य रथमुसलं संग्रामं
संग्रामयति।

१६७. नागनप्तुक वरुण ने रथमुसल संग्राम में उतरने के
साथ-साथ इस प्रकार का अभिग्रह स्वीकार किया—
रथमुसल संग्राम करते समय जो मुझ पर पहले प्रहार
करता है उस पर मैं प्रहार करूंगा, दूसरों पर प्रहार
नहीं करूंगा। इस प्रकार का अभिग्रह स्वीकार किया,
स्वीकार कर रथमुसल संग्राम में संलग्न हो गया।

१६८. तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स रह-
मुसलं संगामं संगामेमाणस्स एगे पुरिसे सरि-
सए सरित्तए सरिब्बए सरिसभंडमत्तोवगरणे
रहेणं पडिरहं हव्वमागए ॥

ततः तस्य वरुणस्य नागनप्तुकस्य रथमुसलं
संग्रामं संग्रामयतः एकः पुरुषः सदृशकः सदृ-
क्त्वक् सदृग्वयाः सदृग्भाण्डामात्रोपकरणः
रथेन प्रतिरथं 'हव्व'आगतः।

१६८. वह नागनप्तुक वरुण रथमुसल संग्राम में युद्ध कर
रहा था, उस समय एक रथारोही पुरुष प्रतिरथी के
रूप में उसके सामने आया जो उसके जैसा ही लग
रहा था—समान त्वचा वाला, समान वय वाला और
समान युद्धोपयोगी साधन सामग्री वाला।

१६९. तए णं से पुरिसे वरुणं नागनत्तुयं एवं
वदासी—पहण भो वरुणा! नागनत्तुया! पहण
भो वरुणा! नागनत्तुया!

ततः सः पुरुषः वरुणं नागनप्तुकं एवम-
वादीत्—प्रजहि भो वरुण! नागनप्तुक! प्र-
जहि भो वरुण! नागनप्तुक!

१६९. उस पुरुष ने नागनप्तुक वरुण से इस प्रकार कहा—
हे नागनप्तुक वरुण! प्रहार करो। नागनप्तुक वरुण!
प्रहार करो।

२००. तए णं से वरुणे नागनत्तुए तं पुरसं एवं
वदासी—नो खलु मे कप्पइ देवानुप्पिया! पुव्विं
अहयस्स पहणित्तए, तुमं चैव णं पुव्विं पहणा-
हि ॥

ततः सः वरुणः नागनप्तुकः तं पुरुषम् एव-
मवादीत्—नो खलु मे (मम) कल्पते देवानुप्पिय!
पूर्वम् अघ्नतः प्रहन्तुम्, त्वं चैव पूर्वं प्रजहि।

२००. नागनप्तुक वरुण ने उस पुरुष से इस प्रकार
कहा—देवानुप्पिय! जो पहले मुझ पर प्रहार नहीं
करता, उस पर मैं प्रहार नहीं कर सकता। तू ही
पहले मुझ पर प्रहार करो।

२०१. तए णं से पुरिसे वरुणेणं नागनत्तुएणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते रुद्धे कुविए चंडिकिए मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसइ, परामुसित्ता उसुं परामुसइ, परामुसित्ता ठाणं ठाति, ठिच्चा आययकण्णाययं उसुं करेइ, करेत्ता वरुणं नागनत्तुयं गाढप्पहारीकरेइ ॥

२०२. तए णं से वरुणे नागनत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकरेणं समाणे आसुरुत्ते रुद्धे कुविए चंडिकिए मिसिमिसेमाणे धणुं परामुसइ, परामुसित्ता उसुं परामुसइ, परामुसित्ता आययकणाययं उसुं करेइ, करेत्ता तं पुरिसं एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेइ ॥

२०३. तए णं से वरुणे नागनत्तुए तेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकरेणं समाणे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु तुरए निगिण्हइ, निगिण्हित्ता रहं परावत्तेइ, परावत्तेत्ता रहमुसलाओ संगामाओ पडि-निक्खमति, पडिनिक्खमित्ता एगंतमंतं अवक्कमइ, अवक्कमित्ता तुरए निगिण्हइ, निगिण्हित्ता रहं ठवेइ, ठवेत्ता रहाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता तुरए मोएइ, मोएत्ता तुरए विसज्जेइ, विसज्जेत्ता दब्भसंधारणं संथरइ, संथरित्ता दब्भसंधारणं दुरुहइ, दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियं कनिसण्णे करयल परिग्गहियं दसनहं सिरसावतं मत्थए अंजलि कट्टु एवं वयासी-नमोत्थु णं अरहंताणं भगवताणं जाव सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स जाव सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपाविउकामस्स मम धम्मयारियस्स धम्मोवदेसगस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ मे से भगवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-पुव्विं पि णं मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, एवं जाव थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणिं पि णं अहं तस्सेव भगवओ महावीरस्स अंतिए

ततः स पुरुषः वरुणेन नागनप्तृकेण एवम् उक्तः सन् आशुरुत्तः रुष्टः कुपितः चाण्डिक्यतः मिसिमिसिमानः धनुः परामृशति, परामृश्य इषुं परामृशति, परामृश्य स्थाने तिष्ठति, स्थित्वा आयतकर्णायतम् इषुं करोति, कृत्वा वरुणं नागनप्तृकं गाढप्रहारीकरोति।

ततः सः वरुणः नागनप्तृकः तेन पुरुषेण गाढप्रहारीकृतः सन् आशुरुत्तः रुष्टः कुपितः चाण्डिक्यतः मिसिमिसिमानः धनुः परामृशति, परामृश्य इषुं परामृशति, परामृश्य आयतकर्णायतम् इषुं करोति, कृत्वा तं पुरुषम् 'एकाहच्चं कूडाहच्चं' जीविताद् व्यपरोपयति।

ततः स वरुणः नागनप्तृकः तेन पुरुषेण गाढप्रहारीकृतः सन् अस्थामः अबलः अवीर्यः अपुरुषकारपराक्रमः अधारणीयमिति कृत्वा तुरगौ निगृह्णाति, निगृह्य रथं परावर्तयति, परावर्त्य रथमुसलात् संग्रामात् प्रतिनिष्क्रामति, प्रतिनिष्क्रम्य एकान्तभन्तम् अपक्रामति, अपक्रम्य तुरगौ निगृह्णाति, निगृह्य रथं स्थापयति, स्थापयित्वा रथात् प्रत्यवरोहति, प्रत्यरूह्य तुरगौ मोचयति, मोचयित्वा तुरगौ विसृजति, विसृज्य दर्भसंस्तारकं संस्तृणोति, संस्तृत्य दर्भसंस्तारकं आरोहति, आरूह्य पूर्वाभिमुखः सपर्यङ्गनिषण्णः करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा एवमवादीत्—नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यः यावत् सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः, नमोऽस्तु श्रमणाय भगवते महावीराय आदिकराय यावत् सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तुकामाय मम धर्माचार्याय धर्मोपदेशकाय वन्दे भगवन्तं तत्रगतम् इहगतः, पश्यतु मां, स भगवान् तत्रगतः इहगतम् इति कृत्वा वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा एवमवादीत्—पूर्वमपि मया श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्तिके स्थूलकः प्राणातिपातः प्रत्याख्यातः यावज्जीवम् एवं यावत् स्थूलकः परिग्रहः प्रत्याख्यातः यावज्जीवम् इदानीम्

२०१. नागनप्तृक वरुण के द्वारा ऐसा कहने पर वह पुरुष तत्काल आवेश में आ गया, रुष्ट हो गया, कुपित हो गया। उसका रूप रौद्र बन गया। वह क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो उठा। इस अवस्था में वह धनुष हाथ में लेता है, ले कर बाण को धनुष्य पर चढ़ाता है, चढ़ा कर स्थान (वंशाख नामक युद्ध की मुद्रा) में खड़ा होता है। खड़ा हो कर बाण को कान की लंबाई तक खींचता है, खींच कर वह नागनप्तृक वरुण पर गाढ प्रहार करता है।

२०२. नागनप्तृक वरुण उस प्रतिरथी पुरुष के द्वारा गाढ प्रहार किये जाने पर तत्काल आवेश में आ गया, रुष्ट हो गया, कुपित हो गया। उसका रूप रौद्र बन गया। वह क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त हो उठा। इस अवस्था में वह धनुष हाथ में लेता है, ले कर बाण को धनुष्य पर चढ़ाता है, चढ़ा कर बाण को कान की लम्बाई तक खींचता है, खींच कर उस पुरुष को कूट के प्रहार की भांति एक ही प्रहार में जीवन-शून्य बना देता है।

२०३. नागनप्तृक वरुण उस पुरुष के द्वारा गाढ प्रहार किये जाने पर प्राण, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम रहित हो गया। शरीर अब टिक नहीं पाएगा, यह चिन्तन कर घोड़ों की लगाम खींची, खींच कर रथ को मोड़ा, मोड़ कर रथमुसल संग्रामभूमि से बाहर आ गया, बाहर आ कर एकान्त भूमिभाग में पहुंचा, पहुंच कर घोड़ों की लगाम को खींचा, खींच कर रथ को ठहराया, ठहरा कर रथ से नीचे उतरा, उतर कर घोड़ों को मुक्त कर दिया, मुक्त कर उन्हें विसर्जित कर दिया, विसर्जित कर दर्भ का बिछौना किया, बिछौना कर उस पर चला गया। जा कर पूर्व की ओर मुंह कर पर्यकासन में बैठ दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुट वाली दसनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर भाल पर टिका कर इस प्रकार बोला—'नमस्कार हो अर्हत् भगवान को यावत् जो सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं, नमस्कार हो आदिकर्ता श्रमण भगवान महावीर को यावत् जो सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, जो मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक हैं। वहां विराजित भगवान यहां स्थित मुझे देखें, ऐसा सोच कर वह वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर वह इस प्रकार बोला—'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर के पास जा कर जीवनभर के लिए स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया था। इस समय भी मैं श्रमण भगवान् महावीर के पास जीवनभर के लिए सर्व प्राणातिपात यावत् मिथ्या-

सर्वं पाण्डुवायं पच्यक्खामि जावज्जीवाए जाव मिच्छादंसणसल्लं पच्यक्खामि जावज्जीवाए। सर्वं असण-पाण-खाइम-साइमं—चउब्बिहं पि आहारं पच्यक्खामि जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं जाव मा णं वाइय-पित्थिय-सेभिय-सण्णिवाइय विविहा रोगायंका परीसहोदसग्गा फुसंतु ति कटटु एयं पि णं चरिमेहिं ऊसास-नीसासेहिं बोसिरिस्सामि ति कटटु सण्णाहपट्टं मुयइ, मुइत्ता सल्लुद्धरणं करेइ, करेत्ता आलोइय-पडिक्कते समाहिपत्ते आणुपुब्बीए कालगए ॥

वरुणनागनत्तुय-मित्त-पदं

२०४. तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स एगे पियबालवयंसए रहमुसलं संगामां संगामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे अधारणिज्जमिति कटटु वरुणं नागनत्तुयं रहमुसलाओ संगामाओ पडिनिक्खममाणं पासइ, पासित्ता तुरए निगिण्हइ, निगिण्हित्ता जहा वरुणे जाव तुरए विसज्जेति, पडसंथारगं दुरुहइ, दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंक-निसण्णे करयलपरिण्हियं दसनहं सिरसावतं मत्थए अंजलिं कटटु एवं वयासी—जाइ णं भंते! मम पियबालवयंसस्स वरुणस्स नाग-नत्तुयस्स सीलाइं वयाइं गुणाइं वेरमणाइं पच्यक्खाण-पोसहोववासाइं, ताइ णं मम पि भवंतु ति कटटु सण्णाहपट्टं मुयइ, मुइत्ता सल्लुद्धरणं करेइ, करेत्ता आणुपुब्बीए काल-गए ॥

२०५. तए णं तं वरुणं नागनत्तुयं कालगतं जाणित्ता अहासन्निहिण्हिं वाणमन्तरेहिं देवेहिं दिव्वे सुरभिगंधोदगवासे वुट्ठे, दसद्धवण्णे कुसुमे निवातिए, दिव्वे य गीय-गंधव्वनिनादे कए या वि होत्थ ॥

२०६. तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स तं दिव्वं देविडिंढं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं सुणित्ता य पासित्ता य बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव परुवेइ—एवं खलु देवाणु-पिया! बहवे मणुस्सा अण्णयरेसु उच्चावएसु संगामेसु अभिमुहा चेव पहया समाणा काल-

अपि अहं तरयैव भगवतो महावीरस्य अन्ति-के सर्वं प्राग्जातिपातं प्रत्याख्यामि यावज्जीवं यावन् मिथ्यादर्शनशल्यं प्रत्याख्यानि याव-ज्जीवम् । सर्वम् अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यं—चतुर्विधमपि आहारं प्रत्याख्यामि यावज्जीवम्। यदपि च इदं शरीरम् इष्टं कान्तं प्रियं यावन् मा वातिक-पैक्तिक-शैथिलिक-सन्निपातिकाः विविधाः रोगातङ्काः परीषहोपसर्गाः सृशन्तु इति कृत्वा एतदपि चरमैः उच्छ्वास-निःश्वासेः व्युत्सुजामि इति कृत्वा सन्नाहपट्टं मुञ्चति, मुक्त्वा शल्योद्धरणं करोति, कृत्वा आलोचित-प्रतिक्रान्तः प्राप्तसमाधिः आनुपूर्व्यां कालगतः।

वरुणनागनत्तुक-मित्र-पदम्

ततः तस्य वरुणस्य नागनत्तुकस्य एकः प्रियबालवयस्यः रथमुसलं संग्रामं संग्रामयन् एकेन पुरुषेण गाढप्रहारीकृतः सन् अस्थामः अबलः अवीर्यः अपुरुषकारपराक्रमः अधार-णीयमिति कृत्वा वरुणं नागनत्तुकं रथमुसलात् संग्रामात् प्रतिनिष्क्रमन्तं पश्यति, दृष्ट्वा तुरंगौ निगृह्णाति, निगृह्य यथा वरुणः यावत् तुरंगौ विसृजति, पटसंस्तारकम् आरोहति, आरुह्य पूर्वाभिमुखः संपर्यङ्गनिषण्णः करतलपरिगृहीतं दशनखं शिरसावर्तं मस्तके अञ्जलिं कृत्वा एवमवादीद्—यानि भदन्त ! मम प्रियबाल-वयस्य वरुणस्य नागनत्तुकस्य शीलानि व्रतानि गुणाः विरमणानि प्रत्याख्यानपौषधोपवासाः, तानि ममापि भवन्तु इति कृत्वा सन्नाहपट्टं मुञ्चति, मुक्त्वा शल्योद्धरणं करोति, कृत्वा आनुपूर्व्यां कालगतः।

ततः तं वरुणं नागनत्तुकं कालगतं ज्ञात्वा यथासन्निहितैः वाणमन्तरेः देवैः दिव्यानि सुरभिगन्धोदकवासांसि वृष्टानि (वर्षितानि) दशार्द्धवर्णानि कुसुमानि निपातितानि, दिव्यश्व गीत-गन्धर्वनिनादः कृतश्चापि अभूत्।

ततः तस्य वरुणस्य नागनत्तुकस्य तां दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभागं श्रुत्वा च दृष्ट्वा च बहुजनः अन्योन्यस्य एवमाचक्षते यावत् प्ररुपयति—एवं खलु देवानुप्रियाः! बहवः मनुष्याः अन्यतरेषु उच्चावचेषु संग्रामेषु अभिमुखां चैव प्रहताः सन्तः कालमासे काल-

दर्शनशल्य का प्रत्याख्यान करता हूं। मैं जीवन भर के लिए सर्व अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इस चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूं। यद्यपि मेरा यह शरीर मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय यावत् वात, पित्त श्लेष्म और सन्निपातजनित बहुत से रोग और आतंक तथा परीषट और उपसर्ग इसका स्पर्श न करे, इसलिए इसको भी मैं अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास तक छोड़ता हूं, ऐसा कर कवच खोला, खोलकर बाण को निकाला, निकाल कर आलोचना की, प्रतिक्रमण किया, समाधि में लीन हो गया, कुछ समय पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

नागनत्तुक वरुण के मित्र का पद

२०४. उस नागनत्तुक वरुण का प्रिय बालसखा रथमुसल संग्राम में लड़ रहा था, एक पुरुष के द्वारा गाढ़ प्रहार किये जाने पर वह प्राण, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रमरहित हो गया। शरीर अब टिक नहीं पाएगा, यह चिन्तन कर रहा था। उसने देखा—नागनत्तुक वरुण रथमुसल संग्राम की भूमि से लौट रहा है, यह देख कर उसने घोड़ों की लगाम खींची, खींच कर वरुण की भांति यावत् घोड़ों को विसर्जित किया, वस्त्र के विछौने पर गया, जा कर पूर्व की ओर मुंह कर, पर्यकासन में बैठ दोनों हथेलियों से निष्पन्न सम्पुट वाली दसनखात्मक अंजलि को सिर के सम्मुख घुमा कर भाल पर टिका कर इस प्रकार बोला—मेरे प्रिय बालसखा नागनत्तुक वरुण के जो शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास हैं वे सब मुझे भी उपलब्ध हो। यह कह कर कवच को खोला, खोल कर बाण को निकाला, निकाल कर कुछ समय पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ।

२०५. नागनत्तुक वरुण को दिवंगत हुआ जान कर पार्श्ववर्ती वाणमन्तर देवों ने दिव्य सुरभि गंध वाला जल बरसाया, पांच वर्ण के फलों की वर्षा की, दिव्य गीत गाए और गन्धर्व-निनाद किया।

२०६. नागनत्तुक वरुण की वह दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव-द्युति और दिव्य देव-सामर्थ्य के संवाद को सुन कर देख कर बहुत जनों ने परस्पर इस प्रकार आख्यान किया यावत् प्ररुपणा की—देवानुप्रियो ! बहुत मनुष्य नाना प्रकार के संग्रामों में अभिमुख रहते हुए प्रहत हुए हैं, वे काल मास में काल (मृत्यु) को

मासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति ॥

कृत्वा अन्यतरेषु देवलोकेषु देवत्वेन उपपत्तारो भवन्ति ।

प्राप्त कर किसी भी देवलोक में देव के रूप में उपपन्न हुए हैं ।

२०७. वरुणे णं भन्ते ! नागनत्तुए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सौहम्मे कप्पे, अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगतियाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता । तत्थ णं वरुणस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता ॥

वरुणः भदन्त ! नागनप्तृकः कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गतः ? कुत्र उपपन्नः ?

गौतम ! सौधर्मे कल्पे, अरुणाभे विमाने देवत्वेन उपपन्नः । तत्र अस्त्येककेषां देवानां चत्वारि पत्न्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता । तत्र वरुणस्य अपि देवस्य चत्वारि पत्न्योपमानि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

२०७. भन्ते ! नागनप्तृक वरुण कालमास में काल को प्राप्त कर कहां गया है ? कहां उपपन्न हुआ है ?

गौतम ! वह सौधर्म कल्प में अरुणाभ विमान में देवरूप में उपपन्न हुआ है । वहां कुछ देवों की स्थिति चार पत्न्योपम की प्रज्ञप्त है । वहां नागनाप्तृक वरुण देव की स्थिति भी चार पत्न्योपम की प्रज्ञप्त है ।

२०८. से णं भन्ते ! वरुणे देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिणिव्वाहिति सव्वदुक्खाणं अंतं करेहिति ॥

स भदन्त ! वरुणः देव तस्माद् देवलोकात् आयुःक्षयेण, भवक्षयेण, स्थितिक्षयेण अनन्तरं च्यवं च्युत्वा कुत्र गमिष्यति ? कुत्र उपपत्स्यते ?

गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति 'बुज्झिहिति' मोक्ष्यति परिनिर्वास्यति सर्वदुक्खानाम् अन्तं करिष्यति ।

२०८. भन्ते ! वह वरुण देव आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय के अनन्तर उस देवलोक से च्यवन कर कहां जाएगा ? कहां उपपन्न होगा ?

गौतम ! वह महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त और परिनिर्वृत होगा, सब दुःखों का अन्त करेगा ।

२०९. वरुणस्स णं भन्ते ! नागनत्तुयस्स प्रियबालवयसए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए ? कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सुकुले पच्चायाते ॥

वरुणस्य भदन्त ! नागनप्तृकस्य प्रियबालवयस्य कालमासे कालं कृत्वा कुत्र गतः ? कुत्र उपपन्नः ?

गौतम ! सुकुले प्रत्यायातः ।

२०९. भन्ते ! नागनप्तृक वरुण का प्रिय बालसखा कालमास में काल को प्राप्त कर कहां गया है ? कहां उपपन्न हुआ है ?

गौतम ! वह अच्छे मनुष्यकुल में उत्पन्न हुआ है ।

२१०. से णं भन्ते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति ॥

स भदन्त ! तस्माद् अनन्तरं उद्वर्त्य कुत्र गमिष्यति ? कुत्र उपपत्स्यते ?

गौतम ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति यावद् अन्तं करिष्यति ।

२१०. भन्ते ! वह उस जन्म के अनन्तर उद्वर्तन कर कहां जाएगा ? कहां उपपन्न होगा ?

गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में सिद्ध होगा यावत् सब दुःखों का अन्त करेगा ।

२११. सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

२११. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है ।

दसमो उद्देशो : दसवां उद्देशक

मूल

संस्कृत छाया

हिन्दी अनुवाद

कालोदाइ-पभित्तीयं पंचत्थिकाए संदेह-पदं

कालोदायि-प्रभृतीनां पञ्चास्तिकाये संदेह-पदम्

कालोदायी प्रभृति का पञ्चास्तिकाय में सन्देह-पद

२१२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था—वण्णओ। गुणसिलए वेइए—वण्णओ जाव पुढविसिलापट्टओ। तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति, तं जहा—कालोदाई, सेलोदाई, सेवाल्लोदाई, उदए, नामुदए, नम्मूदए, अण्णवालए, सेलवालए, संखवालए, सुहत्थी गाहावई ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरम् आसीद्—वर्णकः। गुणशिलकं चैत्यम्—वर्णकः यावत् पृथ्वीशिलापट्टकः। तस्य गुणशिलकस्य चैत्यस्य अदूरसामन्ते बहवः अन्ययूथिकाः परिवसन्ति, तद् यथा—कालोदायी, शैलोदायी, शैवाल्लोदायी, उदयः, नामोदयः, नमोदयः अन्नपालकः, शैलपालकः, शङ्खपालकः, सुहस्ती गृहपतिः।

२१२. 'उस काल और उस समय राजगृह नामक नगर था—नगर का वर्णन। गुणशिलक नामक चैत्य—वर्णन। यावत् पृथ्वीशिलापट्ट। उस गुणशिलक चैत्य के न बहुत दूर न बहुत निकट अनेक अन्ययूथिक निवास करते थे, जैसे—कालोदायी, शैलोदायी, शैवाल्लोदायी, उदक. नामोदक, नमोदक, अन्नपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ती गृहपति।

२१३. तए णं तेसिं अण्णउत्थियाणं अण्णया कयाइ एगयओ सहियाणं समुवागयाणं सण्णिविट्ठाणं सण्णिसण्णाणं अयमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था—एवं खलु समणे नायपुत्ते पंच अत्थिकाए पण्णवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं ।

ततः तेषाम् अन्ययूथिकानाम् अन्यथा कदाचिद् एकत्र सहितानां समुपागतानां सन्निविष्टानां सन्निपण्णानाम् अयमेतदरूपः मिथःकथा-समुल्लापः समुदपद्यत—एवं खलु श्रमणः ज्ञातपुत्रः पञ्च अस्तिकायान् प्रज्ञापयति, तद् यथा—धर्मास्तिकायं यावत् पुद्गलास्तिकायम्।

२१३. वे अन्ययूथिक किसी समय अपने-अपने आवास-गृहों से निकल कर एकत्र हुए, एक स्थान पर बैठे। उनमें परस्पर इस प्रकार का समुल्लाप प्रारंभ हुआ—श्रमण ज्ञातपुत्र पांच अस्तिकायों की प्रज्ञापना करते हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय।

तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पण्णवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, पोग्गलत्थिकायं । एणं च णं समणे नायपुत्ते जीवत्थिकायं अरुविकायं जीवकायं पण्णवेति।

तत्र श्रमणः ज्ञातपुत्रः चतुरः अस्तिकायान् अजीवकायान् प्रज्ञापयति, तद् यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं पुद्गलास्तिकायम्। एकं च श्रमणः ज्ञातपुत्रः जीवास्तिकायम् अरूपिकायं जीवकायं प्रज्ञापयति।

उनमें श्रमण ज्ञातपुत्र चार अस्तिकायों को अजीवकाय बतलाते हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। श्रमण ज्ञातपुत्र एक जीवास्तिकाय को, जो अरूपीकाय है, जीवकाय बतलाते हैं।

तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरुविकाए पण्णवेति, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, जीवत्थिकायं । एणं च णं समणे नायपुत्ते पोग्गलत्थिकायं रूविकायं अजीवकायं पण्णवेति। से कहमेयं मण्णे एव ?

तत्र श्रमणः ज्ञातपुत्रः चतुरः अस्तिकायान् अरूपिकायान् प्रज्ञापयति, तद् यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायम्, जीवास्तिकायम्। एकं च श्रमणः ज्ञातपुत्रः पुद्गलास्तिकायं रूपिकायम् अजीवकायं प्रज्ञापयति। अथ कथमेतद् 'मण्णे' एवम्?

उनमें श्रमण ज्ञातपुत्र चार अस्तिकायों को अरूपीकाय बतलाते हैं, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय। श्रमण ज्ञातपुत्र एक पुद्गलास्तिकाय को रूपीकाय अजीवकाय बतलाते हैं। क्या यह ऐसा है ?

२१४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणः भगवान्

२१४. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर

महावीरे जाव गुणसिलए चेइए समोसढे जाव परिसा पडिगय ॥

महावीरः यावद् गुणशिलके चैत्ये समवसुतः यावत् परिषत् प्रतिगताः ।

यावत् गुणशिलक चैत्य में समवसृत हुए यावत् परिषद् आई, धर्मोपदेश सुन चली गई ।

२१५. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयमे गोत्तेणं जाव भिक्खा-यरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्त-पाणं पडिग्गाहिता रायगिहाओ नगराओ पडिनिक्ख-मइ, अतुरियमच्चवलमसंभंतं जुगंतरपलो-यणाए दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे-सोहेमाणे तेसिं अण्णउत्थियाणं अदूरसामंतेणं वीई-वयति ॥

तरिमन् काले तरिमन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठः अन्तेवासी इन्द्रभूतिः नाम अनगारः गौतमः गोत्रेण यावद् भिक्षाचार्यायाम् अटन् यथापर्याप्तं भक्त-पानं प्रतिगृह्य राज-गृहान् नगरात् प्रतिनिष्क्रामति, अत्वरित-मचपलमराम्भ्रान्त युगान्तरप्रलोकनया दृष्ट्या पुरतः ईर्यां शोधयन्-शोधयन् तेषाम् अन्य-यूथिकानाम् अदूरसामन्तेन व्यतिव्रजाते ।

२१५. उस काल और उस समय श्रमण भगवान महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्री इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् भिक्षाचार्या के लिए घूमते हुए आवश्यकतानुसार पर्याप्त भक्त-पान ग्रहण कर राजगृह नगर से बाहर आते हैं । त्वरा-, चपलता- और संभ्रम-रहित होकर युग-प्रमाण भूमि को देखने वाली दृष्टि से ईर्यांसमिति का शोधन करते हुए, शोधन करते हुए उन अन्य-यूथिकों के न अति दूर और न अति निकट से जा रहे थे ।

२१६. तए णं ते अण्णउत्थिया भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीईवयमाणं पासंति, पासित्ता अण्णमण्णं सद्दावेत्ति, सद्दावेत्ता एवं वयासी— एवं खलु देवाणुप्पिया ! अन्हं इमा क्ख अविष्प-कडा, अयं च णं गोयमे अन्हं अदूरसामंतेणं वीईवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अन्हं गोयमं एयमट्ठं पुच्छित्तए त्ति कट्टु अण्ण-मण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति, पडि-सुणित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं ? एवं वयासी— एवं खलु गोयमा ! तव धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे नायपुत्ते पंच अत्थिकाए पण्णवेत्ति, तं जहा— धमत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं । तं चेव जाव रुविकायं अजीवकायं पण्णवेत्ति । से कहमेयं गोयमा ! एवं ?

ततः ते अन्ययूथिकाः भगवतं गौतमम् अ-दूरसामन्तेन व्यतिव्रजन्तं पश्यन्ति, दृष्ट्वा अन्योन्यं शब्दयन्ति, शब्दयित्वा एवमवादिषुः— एवं खलु देवानुप्रियाः ! अस्माकम् इयं कथा अविप्रकटा अयं च गौतमः अस्माकम् अदूर-सामन्तेन व्यतिव्रजति, तत् श्रेयः खलु देवानु-प्रियाः । अस्माकं गौतमम् एवम् अर्थं प्रष्टुम् इति कृत्वा अन्योन्यस्य अन्तिके एतमर्थं प्रतिशृण्वन्ति, प्रतिश्रुत्य यत्रैव भगवान् गौतमः तत्रैव उपागच्छन्ति, उपागत्य भगवन्तं गौतमम् एवमवादिषुः— एवं खलु गौतम ! तव धर्मा-चार्यः धर्मोपदेशकः श्रमणः ज्ञातपुत्रः पञ्च अस्तिकायान् प्रज्ञापयति, तद् यथा— धर्मा-स्तिकायं यावत् पुद्गलास्तिकायम् । तच्चैव यावद् रूपिकायम् अजीवकायं प्रज्ञापयति । अथ कथमेतद् गौतम ! एवम् ?

२१६. वे अन्ययूथिक भगवान् गौतम को न अति दूर और न अति निकट से जाते हुए देखते हैं, देख कर परस्पर एक-दूसरे को बुलाते हैं, बुला कर इस प्रकार कहा— देवानुप्रियो ! यह कथा— अस्तिकाय की वक्तव्यता हमारे लिए अप्रकट है— अस्पष्ट है और यह गौतम हमारे पार्श्ववर्ती मार्ग से जा रहा है । देवानुप्रियो ! हमारे लिए श्रेय है कि हम यह अर्थ गौतम से पूछें, यह चिन्तन कर वे एक दूसरे के पास जा इस विषय का प्रतिश्रवण (विचार-विनियम) करते हैं, प्रतिश्रवण कर जहाँ भगवान् गौतम है, वहाँ आए, आ कर भगवान् गौतम से इस प्रकार बोले— गौतम ! तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पांच अस्तिकायों का प्रज्ञापन करते हैं, जैसे— धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय । पूर्ववत् वक्तव्यता यावत् रूपिकाय अजीवकाय का प्रज्ञापन करते हैं । गौतम ! यह इस प्रकार की वक्तव्यता कैसे संगत है ?

कालोदाइस्स समाहाणपुव्वं पव्वज्जा-पदं

कालोदायिनः समाधानपूर्व प्रव्रज्या-पदम्

कालोदायी का समाधानपूर्वक प्रव्रज्या का पद

२१७. तए णं से भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी— नो खलु वयं देवाणुप्पिया ! अत्थिभावं नत्थि त्ति वदामो, नत्थिभावं अत्थि त्ति वदामो । अन्हे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वदामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थि त्ति वदामो । तं चेयसा खलु तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं सयमेव पच्चुवेक्खह त्ति कट्टु ते अण्णउत्थिए एवं वदासी, वदित्ता जेणेव गुणसिलए चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव भत्त-पाणं पडिदंसेत्ति, पडिदंसेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वदित्ता नमंसित्ता नच्चासण्णे

ततः स भगवान् गौतमः तान् अन्ययूथिकान् एवमवादीत्— नो खलु वयं देवानुप्रियाः । अस्तित्वा नास्ति इति वदामः, नास्तित्वा नास्ति इति वदामः । वयं देवानुप्रियाः ! सर्वम् अस्तित्वा नास्ति इति वदामः, सर्वं नास्तित्वा नास्ति इति वदामः । तच्च वेतसा खलु वयं देवानुप्रियाः ! एतमर्थं स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वम् इति कृत्वा तान् अन्ययूथिकान् एवमवादीत्, उदित्वा यत्रैव गुणशिलकं चैत्यं, यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपा-गच्छति यावद् भक्त-पानं प्रतिदर्शयति, प्रतिदर्श्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते-

२१७. भगवान् गौतम ने उन अन्ययूथिकों से इस प्रकार कहा— देवानुप्रियो ! हम अस्तित्व को नास्ति (नहीं है) ऐसा नहीं कहते । नास्तित्व को अस्ति (है) ऐसा नहीं कहते । देवानुप्रियो ! हम सर्व अस्तित्व को 'अस्ति' (है) ऐसा कहते हैं, सर्व नास्तित्व को 'नास्ति' (नहीं है) ऐसा कहते हैं । देवानुप्रियो ! तुम अपनी चेतना से स्वयं इसका प्रत्युपेक्षण करो— गौतम ने अन्ययूथिकों से इस प्रकार कहा, कह कर जहाँ गुणशिलक चैत्य है, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर हैं, वहाँ आते हैं यावत् भक्त-पान दिखलाते हैं, दिखला कर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार कर न अति निकट न अति दूर यावत् पर्युपासना करते

जाव पञ्जुवासति ॥

नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा नात्यासन्नः हैं।
यावत् पर्युपासते ।

भाष्य

१. सूत्र २१२-२१७

प्रस्तुत प्रकरण से यह फलित होता है कि भगवान् महावीर ने पञ्चास्तिकाय का प्रतिपादन किया था। षड्द्रव्य का प्रस्थान उत्तरकाल में हुआ। पञ्चास्तिकाय में काल की परिगणना नहीं है। ठाणं से ज्ञात होता है कि काल जीव और अजीव का एक पर्याय है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। अरूपी अथवा अमूर्त और रूपा अथवा मूर्त का विभाग भी पञ्चास्तिकाय के साथ

संबद्ध है। अन्यतीर्थिकों (अपर दार्शनिकों) के लिए पञ्चास्तिकाय का सिद्धान्त नया था, इसलिए उनमें यह चर्चा का विषय बना हुआ था। महुक के प्रकरण से भी इसकी पुष्टि होती है।^१ गौतम स्वामी ने अन्यतीर्थिकों की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—हम अस्तित्व को नास्तित्व नहीं कहते और नास्तित्व को अस्तित्व नहीं कहते। हम अस्तित्व को अस्तित्व कहते हैं और नास्तित्व को नास्तित्व कहते हैं। तुम स्वयं अपनी चेतना से इसकी प्रत्युपेक्षा करो। भ० १/१३३ का भाष्य द्रष्टव्य है।

२१८. तेणं कालेणं तेणं सभएणं समणे भगवं महावीरे महाकहापडिवण्णे या वि होत्था। कालोदाई य तं देसं हव्वमागए। कालोदाईति! समणे भगवं महावीरे कालोदाई एवं वयासी—से नूणं भे कालोदाई! अण्णया कयाइ एगयओ सहियाणं समुवागयाणं सण्णिविहाणं सण्णिसण्णाणं अयमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुपज्जित्था—एवं खलु समणे नायपुत्ते पंच अत्थिकाए पण्णवेति तहेव जाव से कहमेयं मण्णे एवं ? से नूणं कालोदाई ! अत्थे समत्थे?

हंता अत्थि । तं सच्चवे णं एसगट्ठे कालोदाई! अहं पंचत्थिकायं पण्णवेमि, तं जहा—धम्मत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं।

तत्थ णं अहं चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पण्णवेमि, तं जहा—धम्मत्थिकायं, अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, पोग्गलत्थिकायं। एगं च णं अहं जीवत्थिकायं अरूवीकायं जीवकायं पण्णवेमि ।

तत्थ णं अहं चत्तारि अत्थिकाए अरूवीकाए पण्णवेमि, तं जहा—धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं, आगासत्थिकायं, जीवत्थिकायं । एगं च णं अहं पोग्गलत्थिकायं रूविकायं पण्णवेमि ॥

२१९. ताए णं से कालोदाई समणं भगवं महावीरं एवं वदासी—एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायंसि, अधम्मत्थिकायंसि, आगासत्थिकायंसि अरूविकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्ताए वा? सइत्ताए वा ?

तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणः भगवान् महावीरः महाकथाप्रतिपन्नः चापि अभूत् । कालोदायी च तं देशम् 'हव्व' आगतः। कालोदायिन्निति ! श्रमणः भगवान् महावीरः कालोदायिनं एवमवादीत्—तन् नूनं युष्माकं कालोदायिन् ! अन्यद्वा कदाचिद् एकत्र सहितानां समुपागतानां सनिविष्टानां सन्निषण्णानां अयमेतद्रूपः मिथः कथासमुल्लापः समुदपद्यत—एवं खलु श्रमणः ज्ञातपुत्रः पञ्च अस्तिकायान् प्रज्ञापयति तथैव यावद् अथ कथमेतद् 'मण्णे' एवम् ? तन् नूनं कालोदायिन् ! अर्थः समर्थः?

हन्त अस्तित्व । तत् सत्यः एष अर्थः कालोदायिन्! अहं पञ्चास्तिकायं प्रज्ञापयामि, तद् यथा—धर्मास्तिकायं यावत् पुद्गलास्तिकायम् ।

तत्र अहं चतुरः अस्तिकायान् अजीवकायान् प्रज्ञापयामि, तद् यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायम्, पुद्गलास्तिकायम्। एकं च अहं जीवास्तिकायम् अरूपिकायं जीवकायं प्रज्ञापयामि।

तत्र अहं चतुरः अस्तिकायान् अरूपिकायान् प्रज्ञापयामि, तद् यथा—धर्मास्तिकायम्, अधर्मास्तिकायम्, आकाशास्तिकायं, जीवास्तिकायम्। एकं च अहं पुद्गलास्तिकायं रूपिकायं प्रज्ञापयामि।

ततः सः कालोदायी श्रमणं भगवन्तं महावीरं एवमवादीत्—एतस्मिन् भदन्त ! धर्मास्तिकाये अधर्मास्तिकाये आकाशास्तिकाये अरूपिकाये अजीवकाये शक्ताः केऽपि आसितुं वा ? शयितुं वा ? स्थातुं वा ? निपनुं वा ? त्वग्वर्तयितुं वा ?

२१८. उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर महाकथाप्रतिपन्न विशाल परिषद् में प्रवचन कर रहे थे। कालोदायी उस प्रवचन सभा में आ गया, श्रमण भगवान् महावीर ने कालोदायी को संबोधित कर कहा—हे कालोदायी ! किसी समय तुम लोग अपने-अपने आवासगृहों से निकल कर एकत्र हुए, एक स्थान पर बैठे। तुम लोगों में परस्पर इस प्रकार का समुल्लाप प्रारम्भ हुआ—श्रमण ज्ञातपुत्र पांच अस्तिकायों की प्रज्ञापना करते हैं, पूरी वस्तुव्यता। यावत् क्या यह ऐसा है? कालोदायी ! क्या यह अर्थ संगत है?

हां, संगत है। कालोदायी ! यह अर्थ सत्य है। मैं पञ्चास्तिकाय का प्रज्ञापन करता हूँ, जैसे—धर्मास्तिकाय यावत् पुद्गलास्तिकाय ।

उनमें चार अस्तिकायों को मैं अजीवकाय बतलाता हूँ, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। एक जीवास्तिकाय को मैं अरूपीकाय जीवकाय बतलाता हूँ ।

उनमें चार अस्तिकायों को मैं अरूपीकाय बतलाता हूँ, जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय। एक पुद्गलास्तिकाय को मैं रूपीकाय बतलाता हूँ ।

२१९. कालोदायी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार कहा—भन्ते ! इस धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय, जो अरूपीकाय है, मैं क्या कोई प्रार्णा रुक सकता है ? सो सकता है? खड़ा रह सकता है? बैठ सकता है ? करवट ले सकता

चिद्वृत्तए वा? निसीइत्तए वा? तुयद्वृत्तए वा?
णो तिणट्टे समट्टे । कालोदाई ! एयंसि णं
पोग्गलत्थिकायंसि रुविकायंसि अजीवकायंसि
चविकया केइ आसइत्तए वा, सइत्तए वा,
चिद्वृत्तए वा, निसीइत्तए वा, तुयद्वृत्तए वा ॥

२२०. एयंसि णं भन्ते ! पोग्गलत्थिकायंसि
रुविकायंसि अजीवकायंसि जीवाणं पावा कम्मा
पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?

णो तिणट्टे समट्टे ! कालोदाई ! एयंसि णं
जीवत्थिकायंसि अरुविकायंसि जीवाणं पावा
कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति । एत्थ
णं से कालोदाई संबुद्धे समणं भगवं महावीरं
वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—
इच्छामि णं भन्ते ! तुब्भं अत्थियं धम्मं निसा-
मेत्तए । एवं जहा खंदए तहेव पव्वइए, तहेव
एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ जाव विचित्तेहिं
तवोकम्महिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

नो तदर्थः समर्थः। कालोदायिन्! एतस्मिन्
पुद्गलास्तिकाये रूपिकाये अजीवकाये शक्ताः
केऽपि आसितुं वा, शयितुं वा, स्थातुं वा,
निषत्तुं वा, त्वग्धर्तयितुं वा ।

एतस्मिन् भदन्त ! पुद्गलास्तिकाये रूपिकाये
अजीवकाये जीवानां पापानि कर्माणि पाप-
फलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते ?

नो तदर्थः समर्थः । कालोदायिन् ! एतस्मिन्
जीवास्तिकाये अरूपिकाये जीवानां पापानि
कर्माणि पापफलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते !
अत्र सः कालोदायी संबुद्धः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
एवमवादीद्—इच्छामि भदन्त! तव अन्तिके
धर्मं निशमितुम् । एवं यथा स्कन्दकः तथैव
प्रव्रजितः तथैव एकादश अङ्गानि अध्येति
यावद् विचित्रैः तपःकर्मभिः आत्मानं भावयन्
विहरति।

है?

कालोदायी! यह अर्थ संगत नहीं है। केवल एक पुद्-
गलास्तिकाय, जो रूपीकाय और अजीवकाय है, में
कोई प्राणी रुक सकता है, सो सकता है, खड़ा रह
सकता है, बैठ सकता है, करवट ले सकता है।

२२०. भन्ते ! इस पुद्गलास्तिकाय, जो रूपीकाय अजीव-
काय है, में क्या जीवों के पापकर्म पापफल विपाक
संयुक्त होते हैं ?

कालोदायी ! यह अर्थ संगत नहीं है। केवल एक
जीवास्तिकाय, जो अरूपीकाय है, में जीवों के पापकर्म
पापफल विपाकसंयुक्त होते हैं। इस संवाद से कालोदायी
संबुद्ध हो गया; वह श्रमण भगवान महावीर को वन्दन-
नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार कर इस प्रकार
बोला—‘भन्ते ! मैं आपके पास धर्म सुनना चाहता
हूँ।’ महावीर ने धर्म का उपदेश दिया और वह प्रव्रजित
हो गया। स्कन्दक (भ. २/५०-६३) की भाँति पूरी
वक्तव्यता । कालोदायी ने ग्यारह अंगों का अध्ययन
किया यावत् वह नाना प्रकार के तपःकर्मों से आत्मा
को भावित करता हुआ विहरण कर रहा है।

भाष्य

१. सूत्र २१८-२२०

कालोदायी की जिज्ञासा और अधिक प्रबल हो उठी। भगवान महावीर
के समवसरण में आया और भगवान से पञ्चास्तिकाय के सिद्धान्त का श्रवण
किया। पञ्चास्तिकाय के सिद्धान्त को समझ कर कर्मविषयक एक प्रश्न उपस्थित
किया। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा के कर्म का बंध और मोक्ष नहीं होता।

२२१. तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइ
रायगिहाओ नगराओ, गुणसिलाओ चेइयाओ,
पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता बहिया
जणवयविहारं विहरइ ॥

ततः श्रमणः भगवान् महावीरः अन्यदा
कदाचिद् राजगृहान् नगराद्—गुणशिलाच्
चैत्यात् प्रतिनिष्क्रमति, प्रतिनिष्क्रम्य बहिः
जनपदविहारं विहरति।

२२१. श्रमण भगवान महावीर किसी समय राजगृह नगर
और गुणशिलक चैत्य से पुनः निष्क्रमण करते हैं, पुनः
निष्क्रमण कर नगर से बाहर जनपद-विहार कर रहे
हैं।

कालोदाइस्स कम्मादिविसए पसिण-पदं

कालोदायिनः कर्मादिविषये प्रश्न-पदम्

कालोदायी का कर्म आदि के विषय में प्रश्न का
पद

२२२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं
नगरे गुणसिलए चेइए। तए णं समणे भगवं
महावीरे अण्णया कयाइ जाव समोसडे, परिसा
जाव पडिगया ॥

तस्मिन् काले तस्मिन् समये राजगृहं नाम नगरं,
गुणशिलकं चैत्यम् । ततः श्रमणः भगवान्
महावीरः अन्यदा कदाचिद् यावत् समवसृतः,
परिषद् यावत् प्रतिगतः।

२२२. उस काल और उस समय राजगृह नाम का नगर
और गुणशिलक नाम का चैत्य। श्रमण भगवान महावीर
किसी समय वहाँ समवसृत हुए, परिषद् आई, धर्म
सुना और वापिस चली गई।

२२३. तए णं से कालोदाई अणगारे अण्णया कयाइ
जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति,
उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं बंदइ

ततः स कालोदायी अनगारः अन्यदा कदाचिद्
यत्रैव श्रमणः भगवान् महावीरः तत्रैव उपा-
गच्छति, उपागत्य श्रमणं भगवन्तं महावीरं

२२३. किसी समय अनगार कालोदायी जहाँ भगवान श्रमण
महावीर हैं वहाँ आता है, आ कर श्रमण भगवान्
महावीर को वन्दन-नमस्कार करता है, वन्दन-नमस्कार

नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—अत्थि णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफल-विवागसंजुत्ता कज्जंति ? हंता अत्थि ॥

२२४. कहण्णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पाव-फलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? कालोदाई ! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्टारसर्वजणाकुलं विससंमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे-परिणममाणे दुरुवत्ताए, दुवण्णत्ताए, दुगंधत्ताए जाव दुक्खत्ताए—नो सुहत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति । एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, तस्स णं आवाए भद्दए भवइ, तओ पच्छा विपरिण-ममाणे-विपरिणममाणे दुरुवत्ताए दुवण्णत्ताए दुगंधत्ताए जाव दुक्खत्ताए—नो सुहत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति । एवं खलु कालो-दाई ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग-संजुत्ता कज्जंति ।

२२५. अत्थि णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? हंता अत्थि ॥

२२६. कहण्णं भंते ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? कालोदाई ! से जहानामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्टारसर्वजणाकुलं ओसहमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे-परिणममाणे सुरुवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए—नो दुक्खत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति । एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहदिवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लदिवेगे, तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे-परिणममाणे सुरुवत्ताए सुवण्ण-त्ताए जाव सुहत्ताए—नो दुक्खत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमति । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ॥

२२७. दो भंते ! पुरिसा सरिसया सरित्तया

वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यत्वा एवम-वादीद्—अस्ति भदन्त ! जीवानां पापानि कर्माणि पापफलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते ? हन्त अस्ति ।

कथं भदन्त ! जीवानां पापानि कर्माणि पाप-फलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते ? कालोदायिन् ! तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः मनोज्ञं स्थालीपाकशुद्धं अष्टादशव्यञ्जनाकुलं विषसम्मिश्रं भोजनं भुञ्जीत, तस्य भोजनस्य आपातः भद्रकः भवति, ततः पश्चात् परिण-मत्-परिणमत् 'दुरुवत्ताए' दुर्वर्णतया, दुर्गन्ध-तया यावद् दुःखतया—नो सुखतया भूयो-भूयः परिणमति । एवमेव कालोदायिन् ! जीवानां प्राणातिपातः यावन् मिथ्यादर्शनशल्यं, तस्य आपातः भद्रकः भवति, ततः पश्चाद् विपरिण-मन्-विपरिणमन् 'दुरुवत्ताए' दुर्वर्णतया दुर्ग-न्धतया यावद् दुःखतया—नो सुखतया भूयो-भूयः परिणमति । एवं खलु कालोदायिन् ! जीवानां पापानि कर्माणि पापफलविपाक-संयुक्तानि क्रियन्ते ।

अस्ति भदन्त ! जीवानां कल्याणानि कर्माणि कल्याणफलविपाकानि क्रियन्ते ? हन्त अस्ति ।

कथं भदन्त ! जीवानां कल्याणानि कर्माणि कल्याणफलविपाकसंयुक्तानि क्रियन्ते ? कालोदायिन् ! तद् यथानाम कोऽपि पुरुषः मनोज्ञं स्थालीपाकशुद्धं अष्टादशव्यञ्जनाकुलं औषधमिश्रं भोजनं भुञ्जीत, तस्य भोजनस्य आपातः नो भद्रकः भवति, ततः पश्चात् परिणमत्-परिणमत् सुरुपतया सुवर्णतया यावत् सुखतया—नो दुःखतया भूयो-भूयः परिणमति । एवमेव कालोदायिन् ! जीवानां प्राणातिपातविरमणं यावत् परिग्रहविरमणं क्रोधविवेकः यावन् मिथ्यादर्शनशल्यविवेकः, तस्य आपातः नो भद्रकः भवति, ततः पश्चात् परिणमन्-परिणमन् सुरुपतया सुवर्णतया यावत् सुखतया—नो दुःखतया परिणमति । एवं खलु कालोदायिन् ! जीवानां कल्याणानि कर्माणि कल्याणफलविपाकसंयुक्तानि क्रि-यन्ते ?

द्वौ भदन्त ! पुरुषौ सदृशकौ सदृक्त्वचौ स-

कर इस प्रकार बोला—भन्ते ! क्या जीवों के पापकर्म पापफलविपाकसंयुक्त होते हैं ?

हां, होते हैं ।

२२४. भन्ते ! जीवों के पापकर्म पापफलविपाकसंयुक्त कैसे होते हैं ?

कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ स्थालीपाक—शुद्ध (हंडिया में पका हुआ) अटारह प्रकार के व्यञ्जनों से युक्त विषमिश्रित भोजन करता है, उस भोजन का आपात भद्र होता है—खाते समय वह सरस लगता है, उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसका परिणमन होता है, वैसे-वैसे वह दुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्ध यावत् दुःखरूप में—न सुखरूप में बार-बार परिणत होता है। कालो-दायी इसी प्रकार जीवों के अटारह पाप होते हैं—प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य। उस पापवर्ग का आपातभद्र होता है—करते समय वह अच्छा लगता है, उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसका विपरिणमन होता है, वैसे-वैसे वह दुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्ध यावत् दुःखरूप में—न सुखरूप में बार-बार परिणत होता है। कालो-दायी ! इसी प्रकार जीवों के पापकर्म पापफलविपाक-संयुक्त होते हैं।

२२५. भन्ते ! क्या जीवों के कल्याणकर्म कल्याणफल-विपाक संयुक्त होते हैं ?

हां, होते हैं।

२२६. भन्ते ! जीवों के कल्याण कर्म कल्याणफलविपाक-संयुक्त कैसे होते हैं ?

कालोदायी ! जैसे कोई मनुष्य मनोज्ञ स्थालीपाक शुद्ध अटारह प्रकार के व्यञ्जनों से युक्त औषधमिश्रित भोजन करता है, उस भोजन का आपात भद्र नहीं होता—खाते समय वह नीरस लगता है, उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसका परिणमन होता है, वैसे-वैसे वह सुरुप, सुवर्ण यावत् सुखरूप में—न दुःखरूप में बार-बार परिणत होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार जीवों के प्राणातिपातविरमण यावत् परिग्रहविरमण—क्रोध-विवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक होते हैं। उस विरमण और विवेक का आपात भद्र नहीं होता—प्रारम्भ में वह नीरस लगता है, उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसका परिणमन होता है वैसे-वैसे वह सुरुप, सुवर्ण यावत् सुखरूप में—न दुःखरूप में बार-बार परिणत होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार जीवों के कल्याणकर्म कल्याणफलविपाकसंयुक्त होते हैं।

२२७. भन्ते ! दो पुरुष जो एक जैसे समान त्वचा वाले,

सरिव्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अण्णमण्णेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभति । तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ । एएसि णं भंते ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव ? महाकिरियतराए चेव ? महासवतराए चेव ? महावेयणतराए चेव ? कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव ? अप्पकिरियतराए चेव ? अप्पासवतराए चेव ? अप्पवेयणतराए चेव ? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ?

कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव, महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेयणतराए चेव । तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव, अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए चेव, अप्पवेयणतराए चेव ॥

२२८. से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव ? महाकिरियतराए चेव ? महासवतराए चेव ? महावेयणतराए चेव ? तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव ? अप्पकिरियतराए चेव ? अप्पासवतराए चेव ? अप्पवेयणतराए चेव ?

कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतराणं पुढविककायं समारभति, बहुतराणं आउक्कायं समारभति, अप्पतराणं तेउक्कायं समारभति, बहुतराणं वाउक्कायं समारभति, बहुतराणं वणस्सइकायं समारभति, बहुतराणं तसकायं समारभति ।

तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतराणं पुढविककायं समारभति, अप्पतराणं आउक्कायं समारभति, बहुतराणं तेउक्कायं समारभति, अप्पतराणं वाउक्कायं समारभति, अप्पतराणं वणस्सइकायं समारभति, अप्पतराणं तसकायं समारभति ।

से तेणट्टेणं कालोदायी ! एवं वुच्चइ—तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव, महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेयणतराए चेव ।

दृग्वयसीं सदृशभाण्डामत्रोपकरणौ अन्योन्यं सार्द्धम् अग्निकायं समारभते । तत्रा एकः पुरुषः अग्निक्रयम् उज्ज्वलयति, एकः पुरुषः अग्निकायं निर्वापयति । एतयोः भदन्त ! इयोः पुरुषयोः कतरः पुरुषः महाकर्मतरकः चैव ? महाक्रियातरकः चैव ? महासवतरकः चैव ? महावेदनतरकः चैव ? कतरो वा पुरुषः अल्पकर्मतरकः चैव ? अल्पक्रियातरकः चैव ? अल्पासवतरकः चैव ? अल्पवेदनतरकश्चैव ? यो वा सः पुरुषः अग्निकायं उज्ज्वलयति यो वा सः पुरुषः अग्निकायं निर्वापयति ?

कालोदायिन् ! तत्र यः एषः पुरुषः अग्निक्रयम् उज्ज्वलयति, सः पुरुषः महाकर्मतरकः चैव, महाक्रियातरकः चैव, महासवतरकः चैव, महावेदनतरकः चैव, तत्र यः एषः पुरुषः अग्निक्रयं निर्वापयति, सः पुरुषः अल्पकर्मतरकः चैव, अल्पक्रियातरकः चैव अल्पासवतरकः चैव, अल्पवेदनतरकः चैव ।

तत् केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते—तत्र यः एषः पुरुषः अग्निक्रयम् उज्ज्वलयति, सः पुरुषः महाकर्मतरकः चैव, महाक्रियातरकः चैव, महासवतरकः चैव, महावेदनतरकः चैव ? तत्र यः एषः पुरुषः अग्निकायं निर्वापयति सः पुरुषः अल्पकर्मतरकः चैव, अल्पक्रियातरकः चैव, अल्पासवतरकः चैव, अल्पवेदनतरकः चैव ।

कालोदायिन् ! तत्र यः एषः पुरुषः अग्निक्रयम् उज्ज्वलयति, सः पुरुषः बहुतरकं पृथ्वीकायं समारभते, बहुतरकम् अप्पकायं समारभते, अल्पतरकं तेजस्कायं समारभते, बहुतरकं वायुकायं समारभते बहुतरकं वनस्पतिकायं समारभते, बहुतरकं त्रसकायं समारभते ।

तत्र यः एषः पुरुषः अग्निकायं निर्वापयति, सः पुरुषः अल्पतरकं पृथ्वीकायं समारभते, अल्पतरकम् अप्पकायं समारभते, बहुतरकं तेजस्कायं समारभते, अल्पतरकं वायुकायं समारभते, अल्पतरकं वनस्पतिकायं समारभते, अल्पतरकं त्रसकायं समारभते ।

तत् तेनार्थेन कालोदायिन् ! एवमुच्यते—तत्र यः एषः पुरुषः अग्निक्रयम् उज्ज्वलयति, सः पुरुषः महाकर्मतरकः चैव, महाक्रियातरकः चैव, महासवतरकः चैव, महावेदनतरकः चैव ।

समान वय वाले और समान भाण्ड, पात्र, उपकरण वाले हैं, परस्पर मिलकर अग्निकाय का समारम्भ करते हैं। उनमें एक पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है और दूसरा पुरुष उसे बुझाता है। भन्ते ! इन दोनों पुरुषों में कौन-सा पुरुष महत्तर कर्म वाला होता है ? महत्तर क्रिया वाला होता है ? महत्तर आश्रव वाला होता है ? महत्तर वेदना वाला होता है ? और कौन-सा पुरुष अल्पतर कर्म वाला होता है ? अल्पतर क्रिया वाला होता है ? अल्पतर आश्रव वाला होता है ? अल्पतर वेदना वाला होता है ? जो पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है तथा जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है ?

कालोदायी ! उनमें जो पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, वह पुरुष महत्तर कर्म, महत्तर क्रिया, महत्तर आश्रव और महत्तर वेदना वाला होता है। जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह पुरुष अल्पतर कर्म, अल्पतर क्रिया अल्पतर आश्रव और अल्पतर वेदना वाला होता है।

२२८. भन्ते ! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जो पुरुष अग्निक्रय को प्रज्वलित करता है, वह पुरुष महत्तर कर्म वाला होता है ? महत्तर क्रिया वाला होता है ? महत्तर आश्रव वाला होता है ? महत्तर वेदनावाला होता है ? जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह पुरुष अल्पतर कर्म वाला होता है ? अल्पतर क्रिया वाला होता है ? अल्पतर आश्रव वाला होता है ? अल्पतर वेदना वाला होता है ?

कालोदायी ! जो पुरुष अग्निक्रय को प्रज्वलित करता है, वह पुरुष बहुतर पृथ्वीकाय का समारम्भ करता है, बहुतर अप्पकाय का समारम्भ करता है, अल्पतर तेजस्काय का समारम्भ करता है, बहुतर वायुकाय का समारम्भ करता है, बहुतर वनस्पतिकाय का समारम्भ करता है, बहुतर त्रसकाय का समारम्भ करता है।

जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता है, वह पुरुष अल्पतर पृथ्वीकाय का समारम्भ करता है, अल्पतर अप्पकाय का समारम्भ करता है, बहुतर तेजस्काय का समारम्भ करता है, अल्पतर वायुकाय का समारम्भ करता है, अल्पतर वनस्पतिकाय का समारम्भ करता है, अल्पतर त्रसकाय का समारम्भ करता है।

कालोदायी ! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जो पुरुष अग्निकाय को प्रज्वलित करता है, वह पुरुष महत्तर कर्म, महत्तर क्रिया, महत्तर आश्रव, महत्तर वेदना वाला होता है। जो पुरुष अग्निकाय को बुझाता

तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ,
से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव, अप्प-
किरियतराए चेव, अप्पासवतराए चेव, अप्प-
वेयणतराए चेव ॥

तत्र यः एषः पुरुषः अग्निकायं निर्वापयति,
सः पुरुषः अल्पकर्मतरकः चैव, अल्पक्रिया-
तरकः चैव, अल्पास्रवतरकः चैव, अल्प-
वेदनतरकः चैव ।

है, वह पुरुष अल्पतर कर्म, अल्पतर क्रिया, अल्पतर
आश्रव और अल्पतर वेदना वाला होता है।

२२६. अत्थि णं भंते ! अच्चित्ता वि पोग्गला
ओभासंति ? उज्जोवेत्ति ? तवेत्ति ? पभासेत्ति ?

अरित भदन्त ! अचिताः अपि पुद्गलाः अव-
भासन्ते ? उद्द्योतन्ति ? तापयन्ति ? प्रभा-
सन्ति ?

२२६. भन्ते ! क्या अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित
करते हैं ? उद्द्योतित करते हैं ? तप्त करते हैं ?
प्रभासित करते हैं ?

हंता अत्थि ॥

हन्त अस्ति ।

हां, करते हैं ।

२३०. कयरे णं भंते ! ते अच्चित्ता वि पोग्गला
ओभासंति ? उज्जोवेत्ति ? तवेत्ति ? पभासेत्ति ?

कतरे भदन्त ! ते अचिताः अपि पुद्गलाः
अवभासन्ते ? उद्द्योतन्ति ? तापयन्ति ?
प्रभासन्ति ?

२३०. भन्ते ! वे कौन से अचित्त पुद्गल भी वस्तु को
अवभासित करते हैं ? उद्द्योतित करते हैं ? तप्त करते
हैं ? प्रभासित करते हैं ?

कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेय-लेस्सा
निसद्धा समाणी दूरं गता दूरं निपतति, देसं
गता देसं निपतति, जहिं-जहिं च णं सा
निपतति तहिं-तहिं च णं ते अचिता वि पोग्गला
ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति ।
एतेणं कालोदाई ! ते अचिता वि पोग्गला
ओभासंति, उज्जोवेत्ति, तवेत्ति, पभासेत्ति ॥

कालोदायिन् ! क्रुद्धस्य अनगारस्य तेजो-लेश्या
निःसृष्टा सती दूरं गता दूरं निपतति, देशं गता
देशं निपतति, यत्र-यत्र च सा निपतति, तत्र-
तत्र च ते अचिताः अपि पुद्गलाः अव-
भासन्ते, उद्द्योतन्ते, तापयन्ति, प्रभासन्ते एतेन
कालोदायिन् ! ते अचिताः अपि पुद्गलाः अव-
भासन्ते, उद्द्योतन्ते, तापयन्ति, प्रभासन्ते ।

कालोदायी ! क्रुद्ध अनगार ने तेजोलेश्या का निसर्जन
किया, वह दूर जाकर दूर देश में गिरती है, पार्श्व में
जाकर पार्श्व देश में गिरती है। वह जहां-जहां गिरती
है, वहां-वहां उसके अचित्त पुद्गल भी वस्तु को
अवभासित करते हैं, उद्द्योतित करते हैं, तप्त करते
हैं और प्रभासित करते हैं। कालोदायी ! इस प्रकार वे
अचित्त पुद्गल भी वस्तु को अवभासित करते हैं,
उद्द्योतित करते हैं, तप्त करते हैं और प्रभासित करते
हैं।

२३१. ताए णं से कालोदाई अणगारे समणं भगवं
महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता बहूहिं
चउत्थ-छट्ठम-दसम-दुवालसेहिं, मासद्धमास-
खमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्महिं अप्पाणं
भावेमाणे विहरइ ॥

ततः स कालोदायी अनगारः श्रमणं भगवन्तं
महावीरं वन्दते नमस्यति, वन्दित्वा नमस्यित्वा
बहुभिः चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादशैः मासा-
र्द्धमासक्षणैः विचित्रैः तपःकर्मभिः आत्मानं
भावयन् विहरति ।

२३१. कालोदायी अनगार श्रमण भगवान् महावीर को
वन्दन नमस्कार करता है, वन्दन नमस्कार कर अनेक
चतुर्थभक्त, षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त, द्वादश-
भक्त, अर्धमास और मासक्षण—इस प्रकार विचित्र
तपःकर्म द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विहार
कर रहा है।

२३२. ताए णं से कालोदाई ! अणगारे जाव
चरमेहिं उस्सास-नीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के
परिनिव्वुडे सव्वदुखप्पहीणे ॥

ततः स कालोदायी अनगारः यावत् चरमेः
उच्छ्वास-निःश्वासैः सिद्धः बुद्धः मुक्तः परि-
निर्वृतः सर्वदुःखप्रक्षीणः ।

२३२. कालोदायी अनगार यावत् चरम उच्छ्वास-निःश्वासों
के साथ सिद्ध, प्रशान्त, मुक्त, परिनिर्वृत और सब
दुःखों का नाश करने वाला हो गया।

२३३. सेवं भते ! सेवं भते ! त्ति ॥

तदेवं भदन्त ! तदेवं भदन्त ! इति ।

२३३. भन्ते ! वह ऐसा ही है, भन्ते ! वह ऐसा ही है।

परिशिष्ट

	पृष्ठ
१. नामानुक्रम	४०७-४१०
(क) व्यक्ति और स्थान	४११-४१६
(ख) देव	४१७-४१८
(ग) पशु-पक्षी	
२. भाष्यविषयानुक्रम	४१९-४२८
३. पारिभाषिक शब्दानुक्रम	४२९-४७९
४. आधारभूत ग्रन्थ-सूची	४८१-४९०
५. अभयदेवसूरिकृत वृत्ति—	४९१-५६५
शतक ३, ४, ५, ६, ७	
६. चित्र	५६७-५७०

परिशिष्ट-१ (क)

नामानुक्रम : व्यक्ति और स्थान

अ

अकलंक ६/१३३-१३४ (भा.); ७/१, ११३-११६ (भा.)
 अग्निभूति ३ आमुख, ४, ८-१२, १४-१६
 अजातशत्रु ७/१७३
 अहाईद्वीप ५/२४८-२५३; ६/१५६, १५६
 अतिमुक्त ५/७८-८२, ७८-८२ (भा.)
 अपर विदेह ५/१४; ६/१३४
 अभयदेव सूरि (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/२६, ११२; ५/३१-४५, ११०, १११, ११६-१२१, १८१; ६/१-४, ५-१४, ३३, ३४, १३३, १३४, १३५, १३७-१५०, १५१, १६८-१६९; ७/१, ४, ५, १६-१९, २०, २१, २४, २७, २८, ३६-४२, ६२, १०७-११२, १५०-१५४
 अमेरिका ५ आमुख
 अर्जेन्टिना ५/३-१२
 अर्धपुष्कर द्वीप ५/२४८-२५३
 अशोकषण्ड ३/१०५, ११२
 आकर ७/११७
 आग्नेय ६/११७
 आचार्य कुन्दकुन्द (सारे अंक भाष्य के हैं) ५/५१-५४; ७/१६०
 आचार्य नेमिचन्द्र ३/१७ (भा.)
 आचार्य सिद्धसेन ३ आमुख (भा.)
 आभ्यन्तरपुष्करार्ध ५/२६
 आवंगार ३/२०७ (भा.)
 आर्यरक्षित ५/६४-६६ (भा.)
 आश्रम ७/११७

इ

इन्द्रभूति ५/३, ८५; ७/२१५
 ईसा ५ आमुख

उ

उज्जैनी ४ आमुख
 उत्तरकुरु ६/१३४
 उत्तर भारत ५/६४
 उत्पातपर्वत ३/३८, ११२
 उदक ७/२१२

उदक पेढाल ५/२५४-२५७
 उमारवाति (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/२२२-२३०; ५/१०७, १२८-१३२; ६/१-४; ७/१०-१५, २०, २१, ११३-११६

ऋ

ऋषभ ३/८६-८७; ६/१३३, १३४; ७/६२

ऐ

ऐरावत (हाथी) ३/१०९
 ऐरावत ५ आमुख; ६/१३३, १३४

क

कणाद ५ आमुख
 कब्बड ७/११७
 कल्याण विजय जी ४ आमुख
 कार्तिक सेठ ७/१६१
 कालकाचार्य ४ आमुख
 कालासवेसिय पुत्र ५/२५४-२५७
 कालोद समुद्र ५/२८
 कालोदायी ७ आमुख, २१२, २१८-२२०, २१८-२२० (भा.), २२३, २२४, २२६-२२८, २३०-२३२
 कालूगणी ६/२०-२३ (भा.)
 काशी ७/१७३, १७८, १८७
 कुमार श्रमण केशी ५/२५४-२५७ (भा.)
 कुरुदत्त ३/७६
 कुरुदत्तपुत्र ३/२१
 कूणिक ७/१७५-१७८, १८५-१८७, १९०, १९१
 कोणिक ७/१७३-१७५, १७३ (भा.), १८२-१८४
 कोष्टगार्ड ६ आमुख
 कौणिक ७ आमुख
 कौशल ७/१७३, १७८, १८७
 क्ली वेक्स्टर ७/१५०-१५४

ख

खेट ७/११७

ग

गंगा ७/११७, ११९, १२०

गंगा महानदी ५/१५७, १५६
 गजसुकुमाल ३/१०५
 गणराज ७/१७३-१७८, १८७
 गल्फस्ट्रीम ६ आमुख
 गांगेय ५/२५४-२५७
 गाँव ७/११७
 गुणशिलक (चैत्य) ७/२१२, २१४, २१७, २२१, २२२
 गोल्ल देश ३/१६४-१७१
 गौतम ३ आमुख, ४-१४, १६-२१, २४, २७-२६, ३१, ३४, ५१-५५, ५७, ५६,
 ६१, ६३, ६५, ६६, ७१-७५, ७६, ८३, ८४, ८६-९०, ९३, ९७, १००, १०५, ११५,
 ११७, १२३, १२५, १२६, १३०, १३१, १४३-१४८, १५२-१५८, १६४-१७१,
 १७४-१७८, १८३-१८६, १८८, १९०, १९१, १९६, १९८, २१२-२१६,
 २२३, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३२, २३३, २३५, २३६, २३८, २३९,
 २४२, २४४, २४७-२४९, २७२, २७३, २७५, २७७, २७९, २८०;
 ४/१-३, ८; ५/४-६, ११, १२, १६, २३, २५-२७, ३१, ३४, ३६, ४१, ४३,
 ४५-५४, ५६, ५८-६०, ६२, ६४-६७, ६९-७१, ७३-७५, ८५-९३,
 ९५, ९६, १०१, १०२, १०४, १०६-१११, ११३, ११५, ११७-१२०, १२३-१३५,
 १३७, १३८, १४७, १४८, १५०-१५४, १५६, १५७, १५९-१६२, १६४,
 १६५, १६६-१८५, २०८, २०९, २११-२१३, २१५, २२३-२२८, २३१,
 २३२, २३५-२४२, २४४, २४५, २४६, २५२, २५४-२५८;
 ६/१, ३, ८-११, १५, १६, २१-५२, ५४, ५५, ५७, ५८, ६०, ६४-६६,
 ६८, ७०-७५, ७६, ८५, ९२, ९६, ९८, १०२-१०५, १०७-१०९, १११-११८,
 १२०-१२२, १२४, १२५, १२६-१३२, १३५, १३७, १३८, १४२, १५०-१५६,
 १५९, १६०, १६२, १६३, १६५-१६७, १७२-१७६, १७८, १७९, १८१, १८४,
 १८८; ७/१-५, ८, ९, ११-१७, २०-२५, २७-३७, ४०-४४, ४६, ४७,
 ४९-५२, ५४, ५५, ५७-५९, ६२-६६, ६८, ७०, ७३-७७, ८०, ८२, ८३,
 ८५, ८६, ८९-९१, ९३, ९४, ९७, ९९, १०१-१०६, १०८, १११, ११४,
 ११६-१२२, १२५-१३६, १४१-१५०, १५२, १५४-१६१, १६३-१६५,
 १६६-१७३, १७६-१८२, १८८-१९१, १९३, २०७-२१०, २१६
 गौतम (गोत्र, गोत्री) ५/३; ७/२१५
 ग्राम ३/३०

च

चम्पा ५/१, २६०
 चरक ५/७२-७५ (भा.)
 चेटक ७ आमुख, १७३ (भा.)
 चोष्याल ३/११२

ज

जनपद ७/११७
 जम्बूद्वीप ३/४, ५, १२, १४, १६, १८, २०, २१, २२, २३, ३१, ३८; ४/३;
 ५/३-६, ३-१२ (भा.), ११-१४, १६, १७, १९, २१, २४, २४८-२५३; ६/७२, ७५,
 ९२, १३५, १७३; ७/११७
 जयन्ती ६/३०-३२
 जयाचार्य (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/२२, ७३, ९०, ९५, १०६, ११२,
 १४३-१४८, १४९, १५०, १६४-१७१, २२२-२३०; ५/५६-६१, १०३-१०६;

६/६४-६८, १२०-१२७, १३७-१५०; ७/१, ४, ५, २०, २१, १६४-१७१,
 २२२-२३०

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ५/५६-६१ (भा.)

ज्योर्ज रिटिशे ६/१२०-१२६ (भा.)

ज्ञातपुत्र ७/२१३, २१५, २१६

ड

डार्विन ६/१३३, १३४ (भा.)

डेमोक्रीट्स ५ आमुख

त

तामली तापस ३ आमुख

तामलि ३/३०, ३२, ३३, ३५, ३६, ३८-४१, ४३, ४५, ४६।

ताम्रलिप्त ३/३१, ३२, ३३, ३६, ३८, ४५

तुंगिया ५/२५४-२५७

द

दक्षिण भारतीय ५/६४ (भा.)

दक्षिणी कर्नाटक ५/६४ (भा.)

दक्षिणी ध्रुव ५ आमुख

द्वीप ३/४, ५, ६, १२, १४, १६, १८, २०, २१, २२, २३, ३१, ३८; ४/३;

५/३-६, ११-१४, १६, १७, १९, २४, २७, ३६, ३८, ३९; ६/७२, ७५, ९२,
 १३५, १५६, १६०, १७३; ७/११७

देवकी ५/७६, ७७

देवकुरु ६/१३४

देवधिगणी (सारे अंक भाष्य के हैं) ४ आमुख; ५/६४-६६; ६ आमुख

द्रोणमुख ७/११७

द्रोणाचार्य ७/२०, २१

ध

धन सार्थवाह ३/९०

धातकी षण्ड (खण्ड) ५/२४-२७, २९, २४८, २५३

न

नगर ३/३०; ५/३१, २०१, २३५, २५४-२५७, २६०; ६/१८, १७१;

७/९७, ९९, १०१, ११७, २१२, २२१, २२२

नगरी ५/१, २५४-२५७, २६०; ७/१६३

नदी ५/११०, १११

नन्दन (चैत्य) ३/२, २५

नन्दीश्वर द्वीप ३/८६, ८७

नमिनाथ ५/१०३-१०६ (भा.)

नरकपाल ३/२५७

नर्मोदक ७/२१२

नागनप्तृक ७/१९३-२०७

नामोदक ७/२१२

नारदपुत्र ५/२०१-२०७

नालदा ५/२५४-२५७

निर्ग्रन्थीपुत्र ५/२०१-२०५, २०७

प

पट्टण ७/११७

पद्मप्रभ ३/८६-८७ (भा.)

पार्वती ५/७६, ७७

पार्श्व (नाथ) ५ आमुख, २५५, २५४-२५७ (भा.)

पूर्णभद्र (चैत्य) ५/२

पूरण ३/१०१-१०४, १०६, १०७; ७/१६१

पूर्व (विदेह) ५/१४; ६/१३४

ब

बरमूदा त्रिकोण (त्रिनिडाड समुद्रतट) ६ आमुख

बुद्ध ३/८६-८७ (भा.)

बेभेल ३/१००, १०१, १०२, १०४

बाहमास क्षेत्र ६ आमुख

भ

भरत ५ आमुख; ६/१३३, १३४

भरतक्षेत्र ७/११७, ११८, ११९

भारत ५ आमुख, ३-१२, ६४

भारतवर्ष ३/३१, ३८, ४५; ६/१३५

भिक्षु (आचार्य) ३/८४ (भा.)

भोम ३/२७५

भूतानन्द (हाथी) ७/१८३-१८५

म

मण्डितपुत्र ३ आमुख, १३४-१४०, १४३, १४५-१५१

मगध ७/१७३

मघवा ३/१०६

मडम्ब ७/११७

मद्रास ५/६४ (भा.)

मलयगिरि (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/१७, २६, ७२; ५/६४; ६/१६८, १६९; ७/१

(प्रो०) मर्किल ७/१५०-१५४ (भा.)

मल्ल ७/१७३, १७८, १८२, १८७

महुक ७/२१२-२१७

मनुष्यलोक ५ आमुख, १०३-१०६, १३६, १३७

महर्षि पतञ्जलि (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/४; ५ आमुख, ५७, ५८, ११२, ११३; ७/२०, २१

महर्षि भरत ५/६४ (भा.)

महाविदेह क्षेत्र ३/५३; ७/२०८, २१०

महावीर ३ आमुख, ३, ४, ८, १०, १२, १३, १६, १९, २०, २४, २५, २८, ३३, ३५, ३६, ७६, ९५, १०५, ११२, ११६, ११७, १२६, १३३, १३४, १५१, १५२, २७२, २७७, २८०; ४/१; ५ आमुख, २, ५७, ५८, ७६, ७७, ७८, ८०-८६, ९३, १३६-१४६, १६५-१६८, २०१, २०२, २३५, २३६, २५४, २५६; ६/३०-३२, १२०-१२७, १७१-१७३; ७ आमुख, १, ४, ५,

२०, २१, २७, २८, २९ -३५, ६२, ६७, ६९, १०१, ११३-११६, २०३, २१४, २१७-२२४, २३१

माध्वाचार्य ७ आमुख

मेरु (पर्वत) ४/३; ५/४-६, ११, १४, १६, १७, १९, २५, २६, २७, २९;

६/१२४, १२५

मोका ३/१, २, २५

मौर्यपुत्र ३/३२, ३३, ३५, ३८, ४०

य

यामाका (जहाज) ६ आमुख

(डॉ०) याकोबी ५/२५४-२५७ (भा.)

यूरोप ५ आमुख

र

रत्नप्रभा पृथ्वी (देखें परिशिष्ट ३)

रम्यकवर्ष ६/१३४

राजगृह ३/२६, ७७, १२३, १८८, १८९, २२२, २२४, २२५, २२७,

२२८, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३६, २३७, २३८, २४७; ४/१;

५/१, ३१, २०१, २३५, २५८; ६/१८, १७१; ७/६७, ६९, १०१, २१२,

२२१, २२२

ल

लवण समुद्र ५/३-१२, २०-२३, २८, ३६; ६/१५५-१५८

लाट देश ३/१६४-१७१ (भा.)

लिच्छवी ७/१७३, १७८, १८२, १८७

व

वज्रपाणि ३/१०६

वज्र ३/११३-११६, ११९, १२२, १२५, १२६, १२८, १२९

वज्राधिपति ३/१२६

वचन ३/२५२, २५७, २६२, २६७

वायुभूति ३ आमुख, ८-१३, १५, २०, २४

वाणिज्य ग्राम ५/२५४-२५७

वाराणसी ३/२२२, २२४, २२५, २२७, २२८, २३०, २३१, २३३, २३४, २३६, २३७, २३९

विंध्यगिरि ३/१००

विदेह(हि)पुत्र कूणिक ७/१७३-१८२

वीरसेनाचार्य ६/१३३-१३४ (भा.)

वैतरणी ३/२५६

वैताढ्य पर्वत ७/११७, ११९

वैशाली ७ आमुख, १७३, १६३

वोगल ७/१५०-१५४ (भा.)

व्यावर्त ३/२७४

श

शंख ७/२६-३५

शीलांकाचार्य (शीलांक सूरि) (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/१६४-१७१; ७/२५, २६-३५

शैवालोदायी ७/२१२
 शैलोदायी ७/२१२
 शैलपाल ३/२७३
 श्यामाचार्य ४ आमुख
 श्रावस्ती ५/२५४-२५७

स

समुद्र ३/४, ५, ६, १४, २२, ३८; ५/३७-३९; ६/७२, ७५, १५६-१६०;
 ७/१५४
 सरगासो समुद्र क्षेत्र ६ आमुख
 सागर ४ आमुख
 सिद्धसेनगणी (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/४, १७; ५/५९-६१, ६८-७१, ११०,
 १११, १६०-१६४; ६/३३, ३४; ७/१, २०, २१, २९-३५, ११३-११६, १६१
 सिद्धसेन दिवाकर ५/१९१-१९८ (भा.)
 सुसुमारपुर ३/१०५, ११२
 सुवाहु कुमार ३/३० (भा.)

सुमुख ३/३० (भा.)
 सुलसा ५/७६-७७ (भा.)
 सुवर्णभूमि ४ आमुख
 सुहस्ती ७/२१२
 स्कन्दक (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/३५, ३६; ७/२२०
 स्वयम्भूरमण ६/१५९
 स्वर्गलोक ६/७२

ह

हरिभद्रसूरि ७/२९-३५ (भा.)
 हरिवर्ष ६/१३४
 हेमचन्द्राचार्य (सारे अंक भाष्य के हैं) ३/१०५, १४३-१४८; ५/१८२-१९०;
 ६/३०-३२, १३३, १३४
 हेराक्लाइटस ५/११०, १११ (भा.)
 हैमवत ६/१३४
 हैरण्यवत ६/१३४

परिशिष्ट-१ (ख)

नामानुक्रम : देव

अ

अंकावतंसक ४/३
 अंगारक (मंगलग्रह) ३/२५४
 अंजन ३/२६४, ३७४
 अंब ३/२५६
 अम्बरीष ३/२५६
 अग्रमाहिषी ३/१८, २२, २२ (भा.), ३७
 अग्नि कुमार ३/२५२, २७४
 अग्नि कुमारियां ३/२५२
 अग्निमानव ३/२७४
 अग्निशिख ३/२७४
 अच्युत (कल्प) ३/२३, ८६, २४५, २८०; ५/२२२; ६/१५०
 अतिआशातना ३/१११, ११२, ११५, ११६, १२९
 अतिकाय ३/२७५
 अनाभियोगिक देवलोक ३/१६०, २२०
 अनीक (सेना) ३/११२, २४७
 अनीकाधिपति (सेनापति) ३/११२
 अधस्तन ग्रैवेयक ५/२०८-२२४
 अधुनोपपन्न (देव) ३/१३१ (भा.)
 अनिन्द्र ३/३७
 अनीक ३/३७
 अनुत्तर ६/१२७, १३७-१५०
 अनुत्तर विमान ३/११२, १८३-१८५; ५/१०३-१०६, १०७, १०७ (भा.),
 २०८-२२४; ६/१५, १६, १२१, १२७, १३७-१५०; ७/६७-७३, ६६
 अनुत्तरोपपातिक देव ५/१०३-१०६, १०७; ६/१६, १२६, १२७
 अन्नपालक ७/२१२
 अपराजित ५/२२२; ६/१२१
 अप्सरा ३/८३, ११२
 अपुरोहित ३/३७
 अभिषेक ३/२५०, २५६
 अमितगति ३/२७४
 अमितवाहन ३/२७४
 अमोह ३/२६६
 अयंपुल ३/२६४
 अरुण ७/२०७
 अरुणदर ६/७२

अरुणोदय ६/७२
 अर्चनिका ४/४
 अर्चि ६/१०६, १०७, १११
 अर्चिमाली ६/१०६, १०८, ११२
 अर्चिष्मती ६/१०६, १०८, ११२
 अवतंसक ३/२४६, २५१
 अव्याबाध ६/११०
 अवतंसक ४/३
 अशोकावतंसक ३/२४६
 असंग ३/२६६
 असिपत्र ३/२५६
 असुर ६/७६, ८१, ६६, ६८, १४०, १४४
 असुरकुमार ३/४, ५, ३८-४१, ४५, ४६, ४६-५१, ७६-६०, ६२, ६६, ११६,
 १३१, १३१ (भा.), २५७; ५/१८४, १८५, २१७, २४१, २४२; ६/१०, ११, १२३,
 १७६; ७/७१, १०१, १०४, १०५
 असुरकुमार राज ३/६४; ७/१८२, १८६, १६१
 असुरकुमारवास ६/१२३
 असुरकुमारियां ३/२५७
 असुरराज ३/४-१०, १२, ७८, ६७-६६, १०८-११६, ११६, १२१, १२४,
 १२६-१३०, २४४, २४५, २७२, २८०
 असुरेन्द्र ३/४-१०, १२, ७८, ६७-६६, १०८-११६, ११६, १२१, १२४, १२६-१३०,
 २४४, २४५, २७२, २८०; ७/१८२, १८६, १६१
 अस्मृत ३/२५३, २५८, २६३, २६६

आ

आग्नेय ६/११०
 आच्छन्न ३/१७, २१, ४३
 आज्ञा ३/४, ४ (भा.), ५१, २५२, २५७, २६२, २६७
 आत्मरक्षक ३/४, ४ (भा.), १४, १६, १७, ३७, ६०, ११२, २४४, २४५, २४७
 आदित्य ६/११०, ११२, ११४
 आदेश ३/५१, ५१ (भा.)
 आधिपत्य ३/४, ४ (भा.), ५, ७, ८, १४, १६, २७२, २७७
 आनत ५/२२२; ६/१३७-१५० (भा.)
 आभा ६/८४, १०१, १४४, १५०
 आभियोगिक ३/२५७, २५७ (भा.)
 आभियोगिक देवलोक ३/१६०, २१६

आभियोग्य ३/३७, २४७
आरण ६/१३७-१५० (भा.)
आर्या ३/३४
आवर्त ३/२७४
आवास ३/१५, ८१, ६३

इ

इन्द्र ३/४, ३४, ३४(भा.), ३६(भा.), ३७, ३८, ४०, ४२, ४६, ७६, १०६,
१०७, २४५, २४७, २७७
इन्द्रत्व ३/४
इन्द्रकील ३/११२

ई

ईशान ३ आमुख, २०-२२, २७, २८, ३०, ४३-४८, ५०-५४, ५६, ५८; ४/१, ३,
४; ५/२२२; ६/७२, १४५
ईशानकल्प ३/२१, २७, ४२, ४३, ४५, ४६, २७७
ईशानकल्पवासी ३/४६, ४७
ईशानावतंसक ३/२१, ४३; ४/३, ४
ईशानेन्द्र ३ आमुख, ३०; ४ आमुख
ईश्वर ३/४ (भा.)

उ

उत्तरवैक्रिय ३/११२
- रूप ३/११२
- शरीर ३/११२, १५४-१६३
उदधिकुमार ३/२६२, २७४
उदधिकुमारियां ३/२६२
उपपात ३/५१; २५२, २५७, २६२, २६७
- सभा ३/१७, २१, ४३
उपपाद ३/५१
उपासना ३/५१
उपरितन ग्रैवेयक ५/२०८-२२४
उपरुद्र ३/२५६

क

कन्दर्प ३/२५७
ककौटक ३/२६४
कर्दमक ३/२६४
कल्प ३ आमुख, १७, २१, २२; ४/३; ५/८३, ८५, ८८, २७७; ६/७२,
६०, १४५, १५०; ७/६७-७३
कातरिक ३/२६४
कान्दपिक ३/२५७
कार्तिकेय ३/३४; ५/७६, ७७
काल ३/२५६, २७४, २७५
कालपाल ३/२७३
किन्नर ३/२७५
किपुरुष ३/२७५

किल्बिषिक ३/३७, १८३, १८५, २४७
कुम्भ ३/२५६
कोडुक्रिया ३/३४
कोलपाल ३/२७३
क्षिप्रगति ३/२७४

ख

खरस्वर ३/२५६

ग

गन्धर्व ३/२७५
गदंतोय ६/११०, ११४
गीतयशा ३/२७५
गीतरति ३/२७५
ग्रह ५/७६, ७७
ग्रहगण ३/२४६; ६/८३, १००, १४३, १४८
ग्रैवेयक ५/१०७, २२२; ६/१३७-१५० (भा.); ७/६७-७३
घोष ३/२७४

च

चक्ररक्ष ३/२६६
चण्डा ३/२८०
चण्डिका ३/३४
चन्द्र ५/२४८-२५३; ६/८४, १३७-१५०
चन्द्रमा ५/१, १६०; ६/८३, ८४, १००, १०६, १३३, १३४, १४३, १४४, १४८, १५०;
७/११७-१२३
चन्द्राभ ६/१०६
चम्पकावतंसक ३/२४६
चमर (इन्द्र) ३ आमुख, १, ४-१०, १२, १६, १८, २१, ७८, ६८-६९,
१०८-११६, ११६, १२१, १२४, १२६-१३०, २४४, २४५, २६२; ७/१८२,
१८६, १६१
चमरचञ्चा ३/४, १८, ७८, १०६, १०७, ११२, १२७
चाँद ३/२४६; ७/११७
चित्र ३/२७४
चित्रानक्षत्र ३/८६, ८७
चूतावतंसक ३/२४६

ज

जय ३/२६४
जयन्त ५/२२२; ६/१२१
जल ३/२७४
जलकान्त ३/२७४
जलप्रभ ३/२७४
जलरूप ३/२७४
जातरूपावतंसक ४/३
जाता ३/२८०
ज्योतिश्चक्र ५ आमुख

ज्योतिषराज ३/१६
 ज्योतिषेन्द्र ३/१६
 ज्योतिष्क ३ आमुख, १५, ११२, १८३-१८५, २७६, २७६; ४ आमुख; ५/५६-६१,
 ६२, १८०, २२२, २४७, २५३; ६/५४-६३, १८५; ७/३६, ४८, ७१, १०५
 ज्योतिषिक ५/२५८
 जापनीय (शय्या) ३/४७

त

तत्पाक्षिक ३/२५२, २५२ (भा.), २५७, २६२, २६७
 तद्भक्तिक ३/२५२, २५२ (भा.), २५७, २६२, २६७
 तद्भार्य ३/२५२, २५२ (भा.), २५७, २६२, २६७
 तद्भारिक ३/२५२, २५२ (भा.),
 त्वरित गति ३/२७४
 तारा ३/२४६
 तारुरूप ६/८३, १००, १४३, १४८
 तावन्त्रिंशक ३/४, ४ (भा.) ४६, १४, १६, १८, २१, २२, ३७
 तिष्यक ३/१७, १८, २१, ७६
 तुषित ६/११०, ११४
 त्रायस्त्रिंशक ३/४, ४ (भा.) ३७
 तेजः ३/२७४
 तेजःप्रभ ३/२७४
 तेजस्कान्त ३/२७४
 तेज-शिख ३/२७४

द

दक्षिणार्धलोकाधिपति ३/६९, १०९
 दधिमुख ३/२६४
 दिक्कुमार ३/२६७, २७४
 टिकुमारियां ३/२६७
 दिव्य ३/४, ५, ३८, ८१, ६३, ६८, ६६, १०६, ११०, १३०, १३१
 -देवगति ३/३८, ४५, ११५
 -देवर्षि ३/१७, २७, २८, ३०, ३८, ५०, ५१, ६८, ६६, १३०, १३१
 -देवद्युति ३/१७, २७, २८, ३०, ३८, ५०, ५१, ६६, १३०
 -देवानुभाग ३/२८, ३०, ३८, ६६, १३०
 -देवानुभाव ३/१७, ५०, ५१, १०६
 -देवसामर्थ्य ३/२७
 -तेजोलेश्या ३/५०, ५१
 -नाट्यविधि ३/२७, ३८
 -प्रभाव ३/४८
 -भोग ३/२७२-२७७

देव ३/४, ७, १४-१८, २१, २२, २७, ३०, ३४, ३६-४१, ४५-४६, ४६, ५०, ५१, ७२,
 ७८-६६, १०६-११२, ११७-११९, १२८, १२९, १३१, १५४-१५६, १६४-१७१,
 १७२-१८२, १६०, २४४, २४५, २५०-२५५, २५७-२६०, २६२-२६५,

२६७-२७०, २७२-२७७; ४/५; ५/६१, ६२, ७६, ७७, ८३-६३, १०१-१०७,
 १४७, १८४, १८५, २१०, २१७, २१८, २४१, २४२, २४३; ६/१०-१२,
 १५, १६, २६, ३२, ५६, ६८, ७५, ७६, ८१, ८५, ६२, ६६, ६८, १०२, ११०, ११३,
 ११४, ११६, ११७, १२७, १३२, १४०, १४४, १४६, १५०, १६३, १६४,
 १६६, १६८, १६९, १७७, १८५; ७/३६, ४८, ५२, ५४, ५६, ६०, ७१, १०३-१०५,
 १४६, १४७, १६२, २०५, २०६, २०७

देवगति ५/६२, १२४-१२७, २४८-२५३; ६/१५१
 देवजगत ३/४
 देवता ३/१०६; ५/६४, ७६, ७७
 देवदूष्य ३/१७, २१, ४३, ११२
 देवनिकाय ४ आमुख
 देवराज ३/१६-१८, २०, २१, २७, २८, ३०, ४४-४८, ५०-५४, ५६, ५८, ६०,
 ६२, ६४, ६६, ६८-७४, १०६-११३, ११५, ११६, ११९, १२०, १२३, १२७, १२९,
 १३१, २४७, २४८-२७०, २७७; ४/१, ३, ४; ७/१७७, १८६, १६१
 देवरूप ३/३८, ५१, २१६, २२०; ७/२०७
 देवलोक ३ आमुख, ४, २३, ३६, ४२, ५३, ७५, २१६, २२०; ५/२२२,
 २४८-२५३, २५७, २५८; ७/१४८, १४९, १५४, १६०, १६२, २०६, २०८
 देववाद ३/२५०-२७७
 देवशय्या ३/१७
 देवशयनीय ३/१७, २१, ४३
 देवी ३/४, ५, ७, १७, २१, २२, ३८-४१, ४५-४७, ४६-५१, ६०, १५५, १५६;
 ५/६४, १८५; ६/११६, १६८
 देवेन्द्र ३ आमुख, १६-१८, २०, २१, २७, २८, ३०, ४३-४८, ३/५०-५४, ५६,
 ५८, ६०, ६२, ६४, ६६, ६८, ७४, १०६-११३, ११५, ११६, ११९, १२०, १२३,
 १२७, १२९, १३१, २४७, २४८-२७०, २७७; ४/१, ३, ४; ७/१७७, १८६, १६१

ध

धनद ४/५
 धनु ३/२५६
 धरण ३/१४, २७३

न

नन्द्यावर्त ३/२७४
 नक्षत्र ३/२४६, २५२; ६/८३, १००, १४३, १४८
 नाग ६/७६, ८१, ६६, ६६, १४०, १४४; ७/१६३
 नागकुमार ३/१४, २६२, २७३
 नागकुमारियां ३/१४, २६२
 नागकुमार राज ३/१४, २७३
 नागकुमारेन्द्र ३/१४, २७३, २७४
 निकाय (नौ) ३/२४५, २४५ (भा.)
 निकाय (दश) ३/३७, २४७, २४७ (भा.)
 निर्देश ३/५१, २५२, २५७, २६२, २६७
 नैगमेय ५/७६, ७७,
 —ग्रह ५/७६, ७७

प

पटरानी ३/४,५,७,८,९,१०,१४,१६,१७,२१,२२
 परमाधार्मिक ३/८४,२५६
 परिघरत्न ३/११२
 परिचाराणा ३/६०
 परिधि ३/२५१
 परिषद् ३/४,७,१४,१६,१७,३१,१०८-११२,१२८,१२९, २८०
 पारिषद्य ३/३७,२४७
 पितृग्रह ५/७६,७७
 पिशाच ३/२७५
 पीठ ३/५४
 पीठिका ३/२५१
 पुण्ड्र ३/२६४
 पुत्र-रूप ४/५
 पुरन्दर ३/१०६
 पुरोहित ३/४, ३७, ३८, ४०, ४२
 पूर्ण ३/२७४
 पूर्णभद्र ३/२६६, २७५
 पूर्णरक्ष ३/२६६
 पौरपत्य ३/४, ४ (भा.)
 प्रकीर्ण (क) ३/३७, २४७
 प्रच्छद-पट ३/१७
 प्रतिरूप ३/२७५
 प्रभंकर ६/१०६
 प्रभ ३/२७४
 प्रभञ्जन ३/२७४
 प्रभा ६/८४, ८७
 प्रस्तर ६/७२, ६०
 प्राणत ३/२३, २४५; ५/२२२; ६/१३७-१५०
 प्रासाद ३/५४, २५१
 प्रासाद-पंक्ति ३/२५६
 प्रासादावतंसक ३/२६१, २६६
 प्रेतदेवकायिक ३/२५७
 प्रेतकायिक ३/२५७

ब

बलि ३/१२, १४५, २७२
 बलिचञ्चा ३/३७-४१, ४५-५१
 बालुक ३/२५६
 बुध ३/२५४
 बृहस्पति ३/२५४
 ब्रह्म (लोक) ३/२३, २४५; ५/२२२; ६/७२, ६०, ११५, १५०

भ

भवन ३/५, ७, १२; ५/१८५, २३७-२४७

भवनपति ३ आमुख; ४ आमुख; ५/५६-६१, ६२, २१७; ६/५४-६३, १३२, १८५; ७/६७-७३
 भवनवासी ५/१६०-२५८; ३/४, १४
 भर्तृत्व (पोषण) ३/४
 भूत ३/२७५; ६/१३७-१५०
 भूतग्रह ३/२५८
 भूतानन्द ३/२७३

म

मण्डल ५/३-१२
 मध्यम त्रैवेयक ५/२०८-२२४
 महत्तरिका ३/७
 महर्द्धिक (देव) ६/१६३-१६७ (भा.)
 महाकाल ३/२५६, २७४, २७५
 महाकाल श्मशान ३/१०५
 महाकाय ३/२७५
 महाघोष ३/२५४, २७४
 महादेव ३/३४
 महानन्यावर्त ३/२७४
 महापुरुष ३/२७५
 महाभीम ३/२७५
 महाराज ३/२४६-२७०; ४/३, ४, ६
 महाविमान ३/२४६-२५१, २५६, २६१, २६६; ४/३, ४; ५/८३, ८८; ६/१२७;
 महाशुक्र ३/२३; ५/८३, ८८, २२२
 महोरग ३/२७५
 मणिभद्र ३/२६६, २७५
 माहेन्द्र ३/२३, २४५; ५/२२२; ६/७२, ६०, १५०
 मोद ३/२६४

य

यक्ष ३/२७५; ६/१३७-१५०
 यम ३/२४७, २५६-२६०, २७२, २७७; ४/१
 यमकायिक ३/२५७, २५८
 यमदेवकायिक ३/२५७

र

राक्षस ३/२७५
 राजधानी ३/२५१, २५६, २६१, २६६
 राहू ३/२५४
 रत्नावतंसक ३/४
 रिष्ट (विमान देव) ३/२७४; ६/७२, ६०, १०६, ११०, ११३
 रिष्टाभ ६/१०६
 रुचकेन्द्र ३/३८
 रुद्र ३/३४, २५६

रूप ३/२७४

रूपकान्त ३/२७४

रूपप्रभ ३/२७४

रूपांश ३/२७४

ल

लान्तक ३/२३, २४५; ५/२२२; ६/१३७-१५०

लोकपाल ३ आमुख, १, ४, ४ (भा.), ६, ७, १४, १६, १८, २१, २२, ३४, ३७, ११२, २४७-२७१, २४७ (भा.), २७७; ४ आमुख, १-५

लोकान्तिक (देव) ६/११०

लोकान्तिक विमान ६/१०६, ११०, ११५-११८

लोहिवताक्ष (एक महाग्रह) ३/२५४

व

वज्रि (इन्द्र) ७/१७३, १८२

वरशिष्ट ३/२४८, २५६

वरुण ३/२४७, २६१-२६५, २७२, २७७; ४/१, ५, ६; ६/११०, ११४; ७/१६३-२०७

वल्गू ३/२४८, २५६; ४/२

वह्नि ६/११०, ११४

वरुण ६/११०, ११४

वरुणकायिक ३/२६२, २६३

वरुणदेव कायिकि ३/२६२

वानमन्तर ३/१५, ११२, २६७, २७५; ५/५६-६१, ६२, १६०, २२२, २४७, २५३, २५८; ६/१८५; ७/३६, ४८, २०५

वानमन्तरियां ३/२६७

वायु (वात) कुमार ३/२५२, २७४; ५/४५

वायु (वात) कुमारी ३/२५२; ५/४५

विकालक (ज्योतिष्क देवकी जाति) ३/२५४

विचित्र ३/२७४

विचित्रपक्ष ३/२७४

विजय ५/२२२; ६/१२१

विद्युत कुमार ३/२५२, २७४

विद्युत कुमारियां ३/२५२

विमान ३/१७, २१, २७, ४३, ५४, ७६, १०६, ११२, १५४-१५६, २४८, २५६, २६१; ४/१, २, ५; ५/८३, ८५, ८८, १०३, २०८-२२४, २३७-२४७; ६/७२, ६०, ११०, १११, ११३, ११५, ११८, १३७-१५०; ७/६६, २०७

विमानवास ३/१६

विशिष्ट ३/२७४

वेणुदाली ३/२७४

वेणुदेव ३/२७४

वेलम्ब ३/२७४

वैमानिक ३/१७, ४६, ४७, ६२, ११२, ११६, १८५; ४ आमुख; ५/६१, ६२, ७१, १०१, १०२, १२१, १६०, २१०, २४७, २५३, २५८; ६/२६, ५४-६३, ६८, १०६, १५१, १५४, १७७, १८०, १८२, १८५, १८६; ७/२, १८, ३६, ४८, ५२, ५४, ५६, ६०, ७१, ७२, ७३, ७८, ८१, ८४, ८७, ६२, ६५, १०१, १०५, १०६, १०६, ११२,

११४, ११६, १४४, १६०, १६१

वैजयन्त ५/२२२; ६/१२१

वैरोचन ६/१०६

वैरोचनराज ३/१२, १४, २७२

वैरोचेनेन्द्र ३/१२, १४

वैश्रवण ३/३४, २४७, २६६-२७०, २७२, २७७

- कायिक ३/२६७, २६८

- देवकायिक ३/२६७

वैश्रमण ४/१, ५

व्यन्तर ३ आमुख, ३४, १८३-१८५; ४ आमुख; ६/५४-६३, १३२; ७/६७-७३, १०५

व्यावर्त ३/२७४

श

शंखपाल ३/२७३

शंखपालक ३/२६४

शक्र ३/आमुख, १६-१८, २०, ५४-५६, ५८, ६०, ६२, ६४, ६६, ६८-७२, १०६-११३, ११५, ११६, ११९, १२०, १२३, १२४, १२६, १२७, १२९, १३१, २४५, २४६-२७०, २७७; ४ आमुख, ४; ५/७६, ७७; ७/१७७, १८६, १६१

शतक्रतु ३/१०६

शनिश्चर ३/२५४

शबल ३/२५६

शमिता ३/२८०

शय्या ३/१७

शयनीय (शय्या) ३/४७

शान्तिकर्मकांक्षी ३/३७

शालिभद्र ३/२६६

शिव ३/३४

शुक्लाभ ६/१०६

शुक्र ३/१७, २४५, २५४; ६/१३७-१५०

स

सन्ध्याप्रभ ३/२४८-२५१

सन्निवेश ३/३०

सत्पुरुष ३/२७५

सनत्कुमार ३ आमुख, २२, ७२-७४, ७६, २४५; ५/२२२; ६/७२, ६०, १५०

सप्तपर्णावतसक ३/२४६

सभा ३/१७

समिता ३/२८०

समृद्ध ३/२६६

सर्वतोभद्र ४/२

सर्वबाह्यमण्डल ५/३-१२

सर्वार्थसिद्ध ५/२२२; ६/१२१
 सर्वाभ्यन्तर मण्डल ५/३-१२
 सव्यान ३/२६६
 सहस्राक्ष ३/१०६
 सहस्रार ३/२३; ५/२२२; ६/१३७-१५०
 सामानिक ३/४-७, ४(भा.)१३-१८, २१, २२, २७, ३७, ७८, १०६, १११,
 ११२, १२८, १२९, २४५, २४५, (भा.), २४७
 सारस्वत ६/११०, १११, ११४
 सिंहगति ३/२७४
 सिंह विक्रमगति ३/२७४
 सिंहासन ३/७८, ११३, १२७
 सुधर्मा सभा ३/७८, १०६, ११२, १२७, २५१
 सुपर्णकुमार ३/२६७, २७४
 सुपर्णकुमारियां ३/२६७
 सुप्रतिष्ठाभ ६/१०६
 सुप्रभकान्त ३/२७४
 सुमन ४/२, ३, ४
 सुर ५/१०३-१०६
 सुर-असुर ३/६०
 सुरूप ३/२७५
 सुवत्या ४/२
 सूरज ३/२४६
 सूराम ६/१०६
 सूर्य ३/२१, ३२, ३३, ३६; ५/१, ३-१२, ३-१२(भा.), २१, २४, २६, २३७-२४७,
 २४८-२५३; ६/८३, ८४, १००, ०१, १३३, १३४, १४३, १४४, १४८, १५०;
 ७/११७, १२०
 — की अवस्थिति ५/३-१२
 सूर्य-किरण ५/२३७-२४७

सूर्य-रश्मि ५/२३७-२४७
 सूर्याभ (देव) ३/२७
 सूर्याभ विमान ३/२५०
 सेना ३/४, १४, १६; १७
 सेनापति ३/४, ४ (भा.), १४, १६, १७
 सेनापतित्व ३/४, ४ (भा.)
 सोम ३/२४७, २४६-२५६, २६१, २६६, २७२, २७७; ४/१, ३, ४
 सोमकायिक ३/२२२, २५३
 सोमदेवकायिक ३/२५२
 सोमा ३/२५१
 सौधर्मकल्प ३/१७, २२, ८०, ८६, ९०, ९३, ९७, १०६, ११२, ११५, ११६, १३१,
 १३१(भा.), २५०, २५६, २७५; ५/२२२; ६/७२, १४५; ७/२०७
 सौधर्मकल्पवासी ३/६०
 सौधर्मवर्ती ३/२५१
 सौधर्मावतंसक ३/१०६, ११२, १४६, २५०, २५६, २६१, २७६
 सौरमण्डल ५/आमुख, २३७-२४७, २४८-२५३; ६/१३३, १३४
 स्कन्द ३/३४(भा.)
 स्तनितकुमार ३/१५, २६२, २७४; ५/१८६, २४२; ६/१२, ५६, १२३;
 ७/१०४, १४०
 स्तनितकुमारियां ३/२६२
 स्फटिकावतंसक ४/३
 स्वयञ्जल ३/२४८, २६६
 स्वर्ग ३ आमुख; ५/८५; ६/१-४, १३७-१५०; ७/६७-७३, १४६-१४६
 स्वर्गलोक ६/७२
 स्वामित्व ३/४
 हरि-नैगमेष्ठी ५/७६, ७७ (भा.)
 हरिस्सह ३/२७४

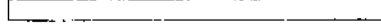
परिशिष्ट-१ (ग)

पशु-पक्षी

	अ		द
१.	अच्छ (ऋक्ष) ३/२०१-२१० Sloth Bear- रीछ		१३. दीविग (द्विपिक) ३/२०६-२१० Leopard-चितीदार तेदुआ
	आ		प
२.	आस (अश्व) ३/६५, २०६-२१० Horse-घोड़ा		१४. दीविय (द्विपिक) ३/२०६-२१० Spotted Dove-चित्रक, पारावत, चित्ता फाखता, पर्की
	क		म
३.	कंक (कङ्क) ७/१२३ White Bellied Sea Eagle-कोहासा, सफेद चील, कंक		१५. परस्सर (पराशर) ७/१२२ Wombat-वाम्बेट, पराशर
४.	कच्छभ (कच्छप) ३/१०२, ७/१२० Tortoise, turtle-कछुआ		१६. परासर (पराशर) ३/२०६-२१० A fabulous animal-अष्टापद, शरभ, पराशर, परिसर
५.	काग (काक) ३/१०२ House Crow-कौवा, देशीकौवा, घरेलू कौवा		
६.	कुंथु (कुंथु) ७/१५८, १५८-१५९ (भा.) Very Very Small Insect-कुंथु		१७. मग्गुक (मदग्गुक) ७/१२३ Snake-bird or Darter-जलीय जंतु, जलकाक, पनडुब्बी, बानकी
७.	कुक्कुड (कुक्कुट) ७/२४ Gray Jungle Fowl-मुर्गा, जंगली मुर्गा, घुसरवन, कुक्कुट		१८. मच्छ (मत्स्य) ३/१०२; ७/१२० Fish-मत्स्य
	ख		ल
८.	खंजण (खंजन) ६/४ Large pied Wagtail-मग्गुला, खंजन, बृहत्-शबल खंजन		२०. लिक्ख (लिक्खा) ६/१२५, १३४ Lesser Florican-लिख, खरमोर लिक्ख (लिक्खा) ६/१२५, १३४ Anit, A Tiny Louse-लिक्ख
	ग		व
९.	गय (गज) ७/१७७, १८४ Elephant-हाथी		२१. वग्घ (व्याघ्र) ३/२०६-२१० Tiger-वाघ
	ज		व
१०.	जूया (यूका) ६/१२५, १३४, १७१, १४२ Louse-जूँ		२२. विग (वृक) ३/२०६-२१० Wolf-भेडिया
	ढ		स
११.	ढंक (ढंक) ७/१२३ Jungle Crow-जंगली कौवा, डाल कौवा, द्रोण काक, ढीकड़ा (राज०) बड़ा काक		२३. विलय (विलय) भग० ७/१२३ Golden Oriole-पीलक
	त		
१२.	तरच्छ (तरक्ष) ३/२०६-२१० Hyena-लकडबग्घा		२४. सिहि (शिखिन) ७/१२३ Common Peacock-मोर
			२५. सिहि (शिखिन) ७/१२३ Red Jungle Fowl - मुर्गा

२६. सीह (सिंह) ३/११२, २०६, २१०
Lion-शेर, सिंह
२७. सुणय (शुनक) ३/१०२
Dog-कुत्ता

ह
२८. हत्थि (हस्तिन्) ३/६५, ११२; ७/१५८, १५९, १५८-१५९ (भा.)
Elephant-हाथी
२९. हय (हय) ७/१७७, १८४
Horse-घोड़ा



परिशिष्ट २ भाष्य-विषयानुक्रम

अ

अंक ३/४
 अंजण ३/४
 अंजणपुलक ३/४
 अंतक्रिया ३/१४३-१४८
 अंतकर ५/७८-८२
 अंतकर, अन्तिम शरीरी ५/६४-६६
 अंतिमसरीरिय ५/७८-८२
 अंधकारमय (निरालोक) ७/११७
 अकर्म ७/१०-१५
 - की गति ७/१०-१५
 अकाम-निकरण ७/१५०-१५४
 अकिट्ट ३/१२६
 अवस्त्रसौयपमाणमेतं ७/१२०
 अमड ५/१८२-१६०
 अगिला ५/७८-८२
 अग्नि की दो अवस्थाओं का सापेक्ष प्रतिपादन ५/१३३
 अग्रमहिषी (अगमहिषी) ३/२२
 अग्लान भाव ५/१४७
 अच्छासायित्तए ३/११२
 अच्छ ३/२०६-२२०
 अच्छरानिवाएहिं ६/१७१-१७३
 अड्डालक ५/१८२-१६०
 अणवदग्ग ५/२५४-२५७
 अणिच्चजागरिया ३/३६
 अतिचरण ७/६,७
 अतिपात ७/६,७
 अतिमुक्तक का जीवन-वृत्त ५/७८-८२
 अनगार ३/२२२-२३०, २३१-२३६
 अनन्तर ५/३-१२
 अनवकल्प ६/१३२
 अनादेय वचन ७/११६
 अनार्य ३/२५३
 अनाहूत ७/२५
 अनुत्तरोपपातिक देव, उपशान्त मोह ५/१०७

अनेषणीय ५/१२४-१२७
 अन्यथाभाव ३/२२२-२३०
 अपत्थियपत्थए ३/१०६
 अपने वीर्य ५/११०, १११
 अपरिभुक्त (अहय) ६/२०-२३
 अपवाद ३/२६३
 अप्राशुक ५/१२४-१२७
 अप्फोडइ ३/११२
 अबीज ६/१२६-१३१
 अभिसमन्वागत ५/११२, ११३
 अभिसमागच्छति ५/१४८
 अभ्याख्यान ५/१४८
 अभ्याख्याति ५/१४८
 अभ्याख्यानी के कर्म-बन्ध ५/१४८
 अभ्र ३/२५३
 अभ्रवृक्ष ३/२५३
 अमनस्क-समनस्क जीवों की वेदना ७/१५०-१५४
 अमुय ३/२५३
 अमोघा ३/२५३
 अयकवल्ल ३/१४३-१४८
 अर (समा) ७/११७
 अरयंबरवत्थधरं ३/१०६
 अलंघ्य (खिलीभूताई) ६/१-४
 अलीक ५/१४८
 अलोभनीय रूप में (अभिज्झियत्ताए) ६/२०-२३
 अल्प आयुष्य और दीर्घ आयुष्य का बन्ध ५/१२४-१२७
 अल्प आहार ७/२
 अल्पोत्सुक ३/१०६
 अवलिप्त ६/१२६-१३१
 अविशुद्ध लेश्या आदि देव का ज्ञान-दर्शन ६/१६८, १६६
 अव्यथाभाव ३/२२२-२३०
 अष्टममक्त ३/१०५
 असंयत ७/५४-५७
 असंवृत अनगार द्वारा विक्रिया ७/१६७-१७२
 असद्भूत ५/१४८

असारगल्ल ३/४
 असुरकुमार देवों के सौधर्म कल्प में जाने का हेतु ३/१३१
 असुहदुक्खभागी ७/११६
 अहरन (अहिरगणी) ६/१-४
 अहालहुस्सगाई ३/९०

आ

आइण्ण ३/४
 आउट्टति ७/६, ७
 आकडुक्किड्डिहिं ३/४५
 आकार और भाव में अवतरण (आगारभावपडोयारे) ६/१३५
 आकार-पर्याय का अवतरण ७/११७
 आचार्य-उपाध्याय ५/१४७
 आचार्य-उपाध्याय की सिद्धि ५/१४७
 आच्छादन ७/११७
 आज्ञा ३/५१
 आज्ञा-ईश्वर-सेनापत्य ३/४
 आढाह टिटिपकप्पं पकरेह ३/३८
 आत्मरक्षक ३/४
 - देव सामानिक से चारगुना ३/२४५
 आत्मा (आया) ६/२०-२३
 आत्मागम, अनन्तरागम, परम्यरागम ५/६४-६६
 आदान ५/१०८, १०९
 आदेश (वचन) ३/५१
 आधाकर्म ५/१३६-१४६; ७/१६५
 - आदि आहार ५/१३६-१४६
 आधिपत्य ३/४
 आधोवधिक, परमाधोवधिक ७/१४६-१४६
 आनुकामिक ३/७३
 आपण ५/१८२-१६०
 आभियोगिक ३/२५७
 आयत ५/१३४-१३५
 आयुष्य-बन्ध ६/१५१
 आयुष्य का प्रतिसंवेदन वर्तमान जीवन में ७/१०२
 आयुष्य का बन्ध किस अवस्था में ७/१०६
 आयुष्य की क्रम-शृंखला ५/५६-६१
 आयुष्य-बन्ध का निर्धारण ७/१०१
 आरगत ५/६५-६७
 आरम्भ ३/१४३ से १४८
 आराधक ३/७२
 आराम ५/१८२-१६०
 आर्द्रमल (पंकिय) ६/२०-२३
 आर्या ३/३४
 आलिसदग ६/१२६-१३१
 आसुरुत्त ३/४५

आस्वादमान, विस्वादमान ३/३३
 आहत नाट्यों, गीतों ३/४
 आहार-उद्देशक ६/१८
 आहारक-अनाहारक ७/१

इ

इङ्गुरअ ७/१५८-१५६
 इन्द्र ३/३४
 - और पुरोहित से रिक्त थी (अणिंदा अपुरोहिया) ३/३६
 - काल ३/११२
 - के विविध नाम—मघवा, पुरन्दर ३/१०६
 - ग्रह ३/२५८
 इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय ७/१२७-१४५
 इन्द्रिय-ज्ञान और केवली ५/१०८-१०९; ६/१८७, १८८
 इन्धन-रहित ७/१०-१५
 इह-पर-भक्तिक आयुष्य का वेदन ५/५७, ५८

ई

ईर्यापथिकी क्रिया ३/१४३-१४८

उ

उक्कुडुअड्डिग ७/११६
 उगुण्डिय ७/११६
 उच्चं पणामं करेइ, नीयं पणामं करेइ ३/३४
 उच्चतर, उन्नततर ३/५४
 उच्छोलेइ पच्छोलेइ ३/११२
 उच्छन्न ३/२६८
 उच्छित्तोदय ३/१६४-१७१
 उज्ज्वल ५/१३८
 - नेपथ्य से युक्त ७/१७५
 उज्जर ५/१८२-१६०
 उत्कलिकावात ३/२५३
 उत्तरवेउच्चियं रूवं ३/११२
 उदकमत्स्य ३/२५३
 उदकोत्पीड ३/२६३
 उदकोद्भेद (उदन्भेया) ३/२६३
 उदीरणा ३/१४३-१४८
 उद्दाल ६/१३५
 उद्घोत और अन्धकार ५/२३७-२४७
 उद्वेजक (उद्वेयग) ३/२५८
 उपकरण ५/१८२-१६०
 उपपात ३/५१
 उल्कापात ३/२५३
 उवग्गह (उपग्रह) ५/१३४-१३५
 उवगिण्हह ५/७८-८२
 उव्वहइ ५/१३४, १३५

उस्सण्ण ७/१८१

ऊ

ऊर्ध्वं मृदंग के आकार वाला ५/२५४-२५७

ऋ

ऋद्धि ३/२२२-२३०

ए

एक पदार्थ से हजारों पदार्थ निर्माण करने की क्षमता ५/११२,११३

एक पुद्गल पर दृष्टि टिका, नेत्रों को अनिमेष बना (एगपोगलनिविद्धिदिद्धी अणिमिसणयणे) ३/१०५

एकतः पताक ३/१६४-१७१

एक युवती का.....गाड़ी की नाभि (जुवती जुवाणे

चक्कस्स वा नाभी) ३/४

एक समय में एक ही क्रिया ७/६७

एकहस्तिका ७/१७७

एकान्त दण्ड ७/२७-२८

एकान्त षण्डित ७/२७-२८

एकान्त बाल ७/२७-२८

एगन्तसो खयं (केवल क्षय) ३/३३

एजन ३/१४३-१४८

एमहिद्धिद्धए ३/४

एवंभूत अनेवंभूत वेदना का वेदन ५/११६-१२१

एषित ७/२५

ऐ

ऐर्यापथिकी, साम्परायिकी क्रिया किस के हो ७/२०,२१,१२५,१२६

एण्ड फल ७/१०-१५

औ

औपमिक काल ६/१३३,१३४

औषधि ७/११७

क

कंगु ६/१२६-१३१

कवखागयसेयं पिव ३/११४

कक्षा-कोथ ३/२५८

कच्छुकसराभिभूय ७/११६

कठिन मल (मइल्लिय) ६/२०-२३

कडुच्छुय ५/१८२-१६०

कण्णायत ५/१३४,१३५

कन्दर्प ३/२५७

कन्दराग्रह ३/२६८

कापिहसित ३/२५३

करण ६/५-१४

कर्कश ५/१३८

- अकर्कश वेदनीय कर्म ७/१०७-११२

कर्दम राग से रंगा हुआ ६/१-४

कर्म आत्म कृत ६/२४-२६

कर्म का बन्ध किसके होता है ६/३५-५१

कर्म का सादि-अनादित्व ६/२७-२८

कर्म के करण ६/१५२-१५४

कर्म-प्रकृति-बन्ध ६/१६२

कर्म-प्रकृति-बन्ध-विवेचन ६/३३,३४

कर्म-बन्ध के हेतु और निमित्त ६/२०-२३

कल (धान्य) ६/१२६-१२१

कलई पर चमड़े की पट्टी बांधी ७/१७६

कवेल्लक ३/४८;७/११८

कानन ५/१८२-१६०

कान्तार-भक्त ५/१३६-१४६

काल की अपेक्षा सप्रदेश-अप्रदेश ६/५४-६३

काल के प्रभाव से ७/११७

काल-चक्र ६/१३३,१३४

कालोदायी की जिज्ञासा ७/२१८-२२०

काहला (खरमुही) ५/६४

कितनी महान ऋद्धिवाला (केमहिद्धिए) ३/४

कुटुम्बजागरिका ३/३३

कुणिमाहार ७/१२१

कुमारग्रह ३/२५८

कुलत्थ ६/१२६-१३१

कुशल आचार्य ७/१७५

कुस ६/१३५

'कुस-विकुस'-विसुद्ध ६/१३५

कुसुंभग ६/१२६-१३१

कूट ५/१८२-१६०

कूटागारशाला (कूडागारशाला) ३/२६; ७/१५८, १५६

कुष्ण कन्द ७/६६

केलुट ७/६६

केवल क्षय ३/३३

केवलि-उपासक ५/६४-६६

केवलि-श्रावक ५/६४-६६

केवली ७/१४६-१४६

केवली के मन का अस्तित्व ५/१००-१०२

कोट्ट क्रिया ३/३४

कोदव ६/१२६-१३१

कोदूसग ६/१२६-१३१

कोदाल ६/१३५

कोलस्थिग (कोलट्टिग) ६/१७१-१७३

कोष्ठ (कोट्ट) ६/१२६-१३१

क्रिया ३/१३४-१३६

- की सघनता और विरलता का निरूपण ५/१२८-१३२

- और वेदना ३/१४०-१४२

क्रीतकृत ५/१३६-१४६

क्षार जल वाले मेघ ७/११७

क्षीरविदारी ७/६६

क्षेत्रातिक्रान्तादि पान-भोजन ७/२४

ख

खंजन राग से रंगा हुआ ६/१-४

खर-परुष ७/११७

खातिका ५/१८२-१६०

खाद के समान रस वाले मेघ ७/११७

खार ३/२५८

ग

गंडमाणिया ७/१५८-१५६

गन्धर्वनगर ३/२५३

गणनाकाल ६/१३२

गर्भ-संहरण की प्रक्रिया ५/७६-७७

गले का सुरक्षा-कवच पहना ७/१७६

गवेलय ७/११७

गाडी के पहिए की धुरी पर किए जाने वाले प्रक्षण ७/२५

गाढरूप में किए हुए ६/१-४

गिरिगृह ३/२६८

गिल्ली ३/१६४-१७१

गुंजालिका ५/१८२-१६०

गुञ्जावात ३/२५३

गुच्छ ७/११७

गुल्म ७/११७

गोकिलिञ्ज ७/१५८, १५६

गोधूम (गोधूमाणं) ६/१२६-१३१

गोपुर ५/१८२-१६०

ग्रहगर्जित ३/२५३

ग्रहदण्ड ३/२५३

ग्रहमुशल ३/२५३

ग्रहयुद्ध ३/२५३

ग्रहसिंघाटक ३/२५३

ग्रहापसव्य ३/२५३

ग्लान-भक्त ५/१३६-१४६

घ

घट्टन ३/१४३-१४८

च

चंद्र-परिवेश ३/२५३

चक्रवाल ३/१७२-१८२

चक्षुर्विक्षेप ३/११३

चय-उपचय ६/२०-२३

चरम ३/७२

- कर्म ५/६४-६६

- निर्जरा ५/६४-६६

- भवस्थ ३/१३१

चरिका ५/१८२-१६०

चलन ३/१४३-१४८

चलणी (चरण-प्रमाण कर्दम) ७/११८

चंडिककय ३/४५

चारों गतियों के साथ आयुष्य का सम्बन्ध ५/६२

चारित्र मोह की प्रकृति—कषाय और नोकषाय ५/६८-७१

चिकने किए हुए ६/१-४

चित्रल ७/११६

चिन्तन में ३/११४

चिल्लल ५/१८२-१६०

चूर्णवर्षा ३/२६८

चेटक और कोणिक का युद्ध ७/१७३

चौबीस दण्डकों में उपचय, अपचय, उपचय-अपचय ५/२२५-२३३

चौबीस दण्डकों में वृद्धि, हानि, अवस्थिति ५/२०८-२२४

च्यवित ७/२५

च्युत ७/२५

छ

छदस्थ ७/१४६-१४६

- और केवली के बीच जानने-देखने में भेदरेखा ५/६४-६६

- और केवली के बीच नींद के आधार पर भेदरेखा ५/७२-७५

- और केवली के बीच शब्द सुनने में भेदरेखा ५/६५-६७

छवि ७/११६

ज

जइणवेग ३/११३

जम्बूद्वीप में सूर्य-वक्तव्यता ५/३-१२

जिमियभुत्ततरागय ३/३३

जीवधन ५/२५४-२५७

जीव और चैतन्य ६/१७४-१८२

जीव का सादि-अनादित्व ६/३०-३२

जीवाजीवाधिगमे के ३६ सूत्रों का संक्षेप ७/६६

जीवा-प्रत्यञ्चा ५/१३४, १३५

जीवों की प्रवृत्ति—आरम्भ और परिग्रह ५/१८२-१६०

जूसवण ३/१४३-१४८

जोईरस ३/४

ज्ञाति ३/३३

ज्ञान और शक्ति का भेद ५/११०, १११

झ

झञ्जावत ३/२५३

झल्लरी (झल्लरी) ५/६४

ट

टंक ५/१८२-१६०

टीले (उत्थल) ७/११७

टोलगति ७/११६

	ठ	
ठाणं ठाइ ५/१३४, १३५		
	ड	
डमर ३/२५८		
डाल कर (आगुत्ताणं) ६/१२६-१३१		
डिंब ३/२५८		
डूंगर (डोंगर) ७/११७		
	ण	
णवि ५/३-१२		
णहारू (स्नायु) ५/१३४, १३५		
	त	
तंतुगय ६/२०-२३		
तंत्री ३/४		
तत, वितत, घन, शुषिर ५/६४		
तत्तकव्वेलयभूया ३/४८; ७/११८		
तत्तसमजोतिभूया ३/४८; ७/११८		
तत्पाक्षिक (तप्पक्खिय) ३/२५२		
तत्पाक्षिक ५/६४-६६		
तद्भक्ति (तब्भत्तिए) ३/२५२		
तद्भार्य (तब्भारिए) ३/२५२		
तथाभाव ३/२२२-२३०		
तमस्काय और कृष्णराजि ६/७०-११८		
तरच्छ ३/२०६-२२०		
तसिय ३/४६		
तहेव ३/११४		
तापस-पात्र-तुल्य पात्र (किडिणपडिरूवग) ७/१८६		
ताल ३/४		
तावत्त्रिंशक ३/४		
तिगिंछिकूडे उप्पायपव्वए (तिगिंछिकूट उत्पातपर्वत) ३/११२		
तिप्पावण ३/१४३-१४८		
तिल ६/१२६-१३१		
तुरियाए..... उद्धुयाए ३/३८		
तृण ७/११७		
- वनस्पतिकायिक ७/११७		
- हस्तक ३/१४३-१४८		
त्रपु-आकार (तउयागारा) ३/२६८		
त्रिपदी का छेद करता है ३/११२		
	थ	
थिल्ली ३/१६४-१७१		
	द	
दग्ध (ज्ञाम) ७/११६		
दद्दुकिडिभसिम्भ ७/११६		
दर्शन-विपर्यय ३/२२२-२३०		

दानामा ३/१०२
दिग्दाह ३/२५३
दिट्ठाभट्ट ३/३६
दीक्षा पर्याय का साथी (परियायसंगतिए) ७/१६१
दीवचंपअ ७/१५८, १५९
दीविय ३/२०६-२२०
दुन्दुभि (दुंदुभि) ५/६४
दुर्गम ५/१३८
दुर्बल शरीर वाले का भोग-परित्याग ७/१४६-१४९
दुर्भिक्ष-भक्त ५/१३६-१४६
दुर्भूत ३/२५८
दुर्वृष्टि ३/२६३
दुःखवाद ६/१८३-१८५
दुःखापन ३/१४३-१४८
दुःखी के दुःख का स्पर्श आदि ७/१६-१९
दुःषम-दुःषमा काल में होनेवाली पर्यावरणीय परिस्थिति ७/११७-१२३
दुःसह ५/१३८
दृष्टिप्रतिघात ३/११३
देवकुल ५/१८२-१९०
देवराज ईशान को दिव्य ऋद्धि कैसे प्राप्त ३/३०
देववाद का सिद्धान्त ३/२५०-२७७
द्युति ३/२२२-२३०
द्विधा पताक ३/१६४-१७१

ध

धन ३/३३
धणुपट्ट (धनुःपृष्ठ) ५/१३४, १३५
धान्यों की योनि और स्थिति ६/१२६-१३१
धूमिका, महिका ३/२५३
ध्यानान्तरिका ५/८३-८८

न

न असार होते हैं (नो कुच्छेज्जा) ६/१३३, १३४
नगर की तत्त्वपरक व्याख्या ५/२३५, २३६
नगरनिद्धमण ३/२६८
नन्दीश्वर द्वीप पर जाने के हेतु ३/८६, ८७
नवकोटिपरिसुद्ध ७/२५
नाट्यविधि ३/७८
नाभि ३/४
नारकीय जीवों की वेदना ३/६२
नारकीय जीवों को वेदना कौन देता है ३/८४
नारकीय जीवों की वेदना ७/१६२
निःसत्त्व किए हुए ६/१-४
निगोद ७/११६
निजक ३/३३
निहुहंति ३/४५

निष्काव ६/१२६-१३१
 निधान ३/२६८
 निधि ३/२६८
 नियोग ७/११६
 निरञ्जन ७/१०-१५
 निरन्तर तेज आघात (परंपराघाटणं) ६/१-४
 निरुपक्विलष्ट ६/१३२
 निर्जर ५/१८२-१६०
 निर्देश ३/५१
 निवण्ण ३/३६
 निश्रा के तीन कारक ३/६५
 निस्संगता ७/१०-१५
 निस्सोसकामए ३/७३
 नैरयिक आदि के आवास व मारणान्तिक समुद्घात ६/१२०-१२८
 नैरयिक जीवों की विक्रिया ५/१३८
 नैश्रेयसिक ३/७३

प

पच्चोवयमाण ५/१३४, १३५
 पच्छियापिडअ ७/१५८-१५६
 प्रभु ७/१५०-१५४
 पञ्चास्तिकाय ७/२१२-२१७
 पटह (पडह) ५/६४
 पठार (भट्टी) ७/११७
 पणव (पणव) ५/६४
 पणामा प्रत्रज्या ३/३४
 पतद् उदय ३/१६४-१७१
 पत्तण (पत्रण) ५/१३४, १३५
 पथ ३/७३
 पद्मगंध (पम्हगंधा)..... शनैश्चारी (सणिंचारी) ६/१३५
 पन्द्रह परमाधार्मिक ३/२५६
 परमाणु व स्कन्ध का अन्तरकाल ५/१७५-१८०
 परमाणु व स्कन्ध का छेदन आदि ५/१५४-१५६
 परमाणु व स्कन्ध का द्रव्यादेश आदि ५/२०१-२०७
 परमाणु व स्कन्ध का पस्पर अल्पबहुत्व ५/१८१
 परमाणु व स्कन्ध का सार्द्ध आदि ५/१६०-१६४
 परमाणु व स्कन्ध की पस्पर स्पर्शना ५/१६५-१६८
 परमाणु व स्कन्ध की संस्थिति ५/१६६-१७४
 परमाणु व स्कन्ध में एजन आदि ५/१५०-१५३
 पराकाष्ठा पर होगा ७/११७
 परामुसइ ५/१३४, १३५
 परिखा ५/१८२-१६०
 परिणामवाद—तद्रूप/तन्मय पर्यायवाद का निरूपण ५/५१-५४
 परिजन ३/३३

परिजानाति ३/३३
 परितावण ३/१४३-१४८
 परिभाजयन ३/३३
 परियारेमाणा ३/६०
 घरीत ५/२५४-२५७
 परीत-संसारी ३/७२
 पर्यकासन ३/१६४-२०८
 पर्वग ७/११७
 पल्लिमंथग ६/१२६-१३१
 पत्य (पल्ल) ६/१२६-१३१
 पत्वल ५/१८२-१६०
 पाण ३/३४
 पायददरगं (पैरों से भूमि पर प्रहार करता है) ३/११२
 पारगत ५/६५-६७
 पार्श्वपत्तीय स्थविर ५/२५४-२५७
 पाषण्डस्थ ३/३६
 पिट्टावण (पीटना) ३/१४३-१४८
 पिण्डहरिद्रा ७/६६
 पिहित ६/१२६-१३१
 पुद्गलों का आहरण कहां से ६/१८६
 पुरुषादानीय ५/२५४-२५७
 पुलग (पुलक) ३/४
 पुष्करणी ५/१८२-१६०
 पूर्व जन्म का मित्र (पुव्वसंगतिए) ७/१६१
 पृथक्त्व सूत्रों ५/६८-७१
 पृथ्वी आदि में गेहा आदि ६/१३७-१५०
 पौरपत्य ३/४
 प्रकाम-निकरण ७/१५०-१५४
 प्रकृष्ट अवस्था (उत्तिमद्वपत्त) ६/१३५
 प्रणीत ५/१००-१०२
 प्रतिचन्द्र ३/२५३
 प्रतिमा-प्रतिपन्नक ६/१५, १६
 प्रतिसंवेदयति ५/१४८
 प्रतिसूर्य ३/२५३
 प्रत्याख्यान ६/६४-६८
 प्रत्याख्यात ७/११६
 प्रपा ५/१८२-१६०
 प्रभूत ७/१०-१५
 प्रमत्त संयम, अप्रमत्त संयम ३/१४६-१५०
 प्रवाल ७/११७
 प्रशस्त निर्जरा का श्रेष्ठत्व ६/१-४
 प्रहीणसेतुक ३/२६८
 प्रहीणगोत्रागार (पहीणगोत्तागार) ३/२६८
 प्राकार ५/१८२-१६०

प्राग्भार ३/१०५, ५/१८२-१९०
 प्राप्त ५/११२-११३
 प्रायः समतल और रमणीय (बहुसमरमणिज्ज) ६/१३५
 प्रासाद ५/१८२-१९०

फ

फल ५/१३४, १३५
 फलिह ३/४
 फासु ७/८, ९
 फुट्टिसिरा ७/११९
 फुल्लकिंसुअसमाणं (विकसित किंशुक (टेसु) पुष्प के समान रक्त) ३/११३

ब

बंध ६/२०-२३
 बत्तीसविहं नट्टविहिं (बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियां) ३/३८
 बलिकर्म प्रायश्चित्त ७/१७६
 बादर वनस्पति के दो प्रकार ७/६६
 बाण फेंकने वाले व जिन जीवों के शरीर से बाण, जीवा आदि का निर्माण हुआ वे जीव कितनी क्रियाओं से स्पृष्ट ५/१३४, १३५
 बार्दलिका-भक्त ५/१३९-१४६
 बालतवोकम्पेणं, बालतवस्सी ३/३५, ३६
 बाहरी पुद्गलों का ३/१८६, २०९-२२०
 बिलपंक्ति ५/१८२-१९०
 बिलों ७/११९
 बेभेल सत्रिवेश ३/१००
 बोल ३/२५८

भ

भंभा (भंभा) ५/६४
 भगवान महावीर का अर्ध मागधी भाषा में प्रवचन ५/९३
 भगवान महावीर द्वारा स्वीकृत प्रतिमा ३/१०५
 भद्रमुस्ता ७/६६
 भयंकरी ७/११७
 भयाणीय (भयानक) ३/११२
 भर्तृत्व ३/४
 भवनगृह ३/२६८
 भवसिद्धिक ३/७२
 भावितात्मा ३/१५४-१६३, २२२-२३०, २३१-२३६
 भाण्ड ५/१८२-१९०
 भूतग्रह ३/२५८
 भूमि-निर्झर ७/११७
 भृकुटी ३/४७
 भेरी (भेरी) ५/६४

म

मंडलिकावात ३/२५३
 मउडविडवे (मुकुट-विटप) ३/११४

मग्गओ ७/१५०-१५४; ७/१८६
 मचान (मंच) ६/१२९-१३१
 मणि ३/३३
 मसमसाविज्जइ ३/१४३-१४८
 मसारगल्ल (मसृण पाषाणमणि) ३/४
 मसूर ६/१२९-१३१
 महानिर्जरा ७/१४६-१४९
 महर्द्धिक देव द्वारा विक्रिया ६/१६३-१६७
 महापर्यवसान ६/१-४; ७/१४६-१४९
 महायुद्ध, महासंग्राम ३/२५८
 महार्घ्य ३/२६८
 महावेदना-महानिर्जरा ६/१५, १६
 मांसाहार ७/१२१
 मानसिक प्रश्न और मानसिक उत्तर ५/८३-८८
 मानसिक संप्रेषण ५/१०३-१०६
 मायी ३/२२२-२३०
 - मिथ्यादृष्टि, अमायी सम्यग् दृष्टि ५/१००-१०२
 माल (माल) ६/१२९-१३१
 मास ६/१२९-१३१
 मिथ्यादृष्टि ३/२२२-२३०
 मिसिमिसेमाण (क्रोध की अग्नि से प्रदीप्त) ३/४५
 मुग्ग (मूँग) ६/१२९-१३१
 मुद्रित ६/१२९-१३१
 मुरज (वाद्य) का मुखपुट (आलिंगपुक्खरे) ६/१३५
 मूलगुण प्रत्याख्यान-उत्तरगुण प्रत्याख्यान ७/२९-३५
 मूलगुण प्रत्याख्यानी-उत्तरगुण प्रत्याख्यानी ७/३६-४२
 मूलाबीय (मूलक बीज) ६/१२९-१३१
 मृदंग ३/४
 मोक्षवाद ५/११५; ७/१५६-१५७

य

यक्षग्रह ३/२५८
 यथापत्याभिज्ञात (अहावच्चाभिष्णाय) ३/२५५
 यथाप्रणिहित ३/१०५
 यथोद्दीप्त ३/२५३
 यव (जवाण) ६/१२९-१३१
 यवयव (जवजवाण) ६/१२९-१३१
 यश ३/२२२-२३०
 यावत् ६/१६३-१६७
 युग्य ३/१६४-१७१
 युवक युवती का गाड़ी की नाभि
 (जुवती जुवाणे..... चक्कस्स वा नाभि) ३/४
 यूपक ३/२५३
 योनि ६/१२९-१३१

योनि-विच्छेद ६/१२६-१३१

र

रक्तरत्न ३/३३

रचित ५/१३६-१४६

रज उद्घात ३/२५३

रजकणों से सना हुआ (रङ्गल्लिय) ६/२०-२३

रत्न ३/३३

-प्रभा पृथ्वी ३/८१

रत्नि ७/११६

रहपह (रथपथ) ७/१२०

राजपिंड ५/१३६-१४६

रालग (कंगु धान्य का एक प्रकार) ६/१२६-१३१

रिद्ध (रिष्ट) ३/४

रुद्र ३/३४

रूप ३/२२२-२३०

रेरिज्जमाण (दीप्यमान) ७/६३

ल

लता ७/११७

लब्ध ५/११२-११३

लयन ५/१८२-१९०

लवणादि समुद्र ६/१५५-१६०

लांछित ६/१२६-१३१

लिप्त ६/१२६-१३१

लेश्या और पुनर्जन्म ३/१८३-१८५

लेश्या का परिवर्तन ४/८

लेश्या के दो प्रकार—द्रव्य व भाव ७/६७-७३

लेसेति (चोट पहुंचाता है) ५/१३४, १३५

लोक का संस्थान ७/३

लोकपाल ३/४, २४७

लोह कवच को धारण किया ७/१७६

लोह कडाह ५/१८२-१९०

लोहियक्ख (लोहिताक्ष) ३/४

लौही ५/१८२-१९०

वग्घारिय (प्रलम्बित) ३/१०५

वज्रतुल्य ७/१७७

वत्तेति (वर्तुल बनाता है) ५/१३४, १३५

वन ५/१८२-१९०

- राजि ५/१८२-१९०

वनषण्ड ५/१८२-१९०

वनस्पतिकार्यिक जीवों का आहार और ऋतुएं ७/६२

वनस्पतिकार्यिक जीवों का ग्रीष्म ऋतु में फलना-फूलना ७/६३

वप्पिण (क्यारी-युक्त खेत) ५/१८२-१९०

वयर (वन्न) ३/४

वरग (चीना धान्य) ६/१२६-१३१

वरवन्नविग्रहिक ५/२५४-२५७

वर्णवर्षा ३/२६८

वर्तमान व भावी जीवन की वेदना ७/१०३-१०५

वल्ली (बेल) ७/११७

वसुधारा ३/२६८

वाणी का विवेक ५/८६-९२

वातमंडलिका ३/२५३

वातुल ७/११७

वातोत्कलिका ३/२५३

वातोद्ग्राम ३/२५३

वायुकार्यिक जीवों का आन, अपान, उच्छ्वास-निःश्वास, कायस्थिति, सशरीर-अशरीर निष्क्रमण ५/४६-५०

वायु के प्रकार, गति-क्षेत्र और गति ५/३१-४५

विकुब्धेमाणा ३/६०

विकुस ६/१३५

विग्घ ३/२०६-२२०

विज्झडिय ७/११६

विउभाएमाणे ३/११२

वित्तिकिण्ण ३/४

विडंवइ ३/११२

विन्ध्यगिरि (विंझगिरि) ३/१००

विपरिणमन को प्राप्त किए हुए ६/१-४

विपुल ५/१३८

विभंगज्ञान का विपर्यय ५/१३६-१३७

विमलवर चिह्नपट्ट बांधे, आयुध और प्रहरण लिए ७/१७६

विमात्र ६/५-१४

विरावहिंति—विराय (विरात) ७/११७

विसय (विषय) ३/४

विसुद्ध ६/१३५

विस्ससा (वीससा) (स्वाभाविक) ३/१०६; ६/२४-२६

वीणा (पिरिपिरिया) ५/६४

वृक्ष (रुक्ख) ७/११७

- के दस अंग व परस्पर स्पृष्ट व आहार ७/६४, ६५

वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ (वैक्रिय समुद्घात से समवहत होता है) ३/४

वेदक आदि जीवों का अल्पबहुत्व ६/५२

वेदना और निर्जरा ७/७४-९२

वेरुलिय (वैडुर्थ) ३/४

वेहास (विहायस, आकाश) ५/१३४, १३५

वैक्रिय शक्ति और उसके नियमों का वर्णन ६/१६३-१६७; ७/१६७-१७२

वैक्रिय शरीर ३/१६४-१७१

वैशिक ७/२५

वैश्रवण ३/३४

व्येजन ३/१४३-१४८

व्यपगत ७/२५
 व्यसनभूत ३/२५३
 व्याकरण ५/८३-८८
 व्रीहि (वीहीणं) ६/१२६-१३१

श

शक्र और ईशान के पारस्परिक संबंध ३/५६-६१
 शक्र की ऊर्ध्व, अधो, तिरछी गति ३/११६-१२६
 शब्द सुनने की प्रक्रिया ५/६४
 शय्यातर पिण्ड ५/१३६-१४६
 शर ५/१३४, १३५
 शरीर का मल (जल्लिय) ६/२०-२३
 शस्त्र ७/२५
 - परिणामित ७/२५
 शस्त्रातीत ७/२५
 शस्त्रातीतादि पान-भोजन ७/२५
 शान्तिगृह ३/२६८
 शाली (सालीणं) ६/१२६-१३१
 शाश्वत-अशाश्वत—द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ७/६३-६५
 शाश्वत-अशाश्वत—अव्युच्छित्ति-व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा से ७/५८-६०
 शिखरी ५/१८२-१९०
 शिथिलरूप में किए हुए ६/१-४
 शिला-प्रवाल ३/३३
 शिव ३/३४
 शिविका ३/१६४-१७१
 शुद्धोदन ३/३३
 शुम्भ ३/४५
 शेष सब ७/१६०
 शैल ५/१८२-१९०
 - गृह ३/२६८
 शैलेशी ६/१५, १६
 शोकापन ३/१४३-१४८
 शोष ३/२५८
 श्मसानगृह ३/२६८
 श्रमणोपासक के अनावृत्ति हिंसा ७/६, ७
 श्रमणोपासक के ऐर्यापथिक व साम्प्रायिकी क्रिया ७/४, ५

स

संगिण्हह (स्वीकार करो) ५/७८-८२
 संघट्टेति (संचालित करता है) ५/१३४, १३५
 संघाएइ (एक दूसरे के अवयवों को संहत करता है) ५/१३४, १३५
 संज्ञा ७/१६१
 संदमागिया (शिविका) ३/१६४-१७१
 संनिचित ६/१३३, १३४
 संपत्ती (संप्राप्ति) ३/४
 संमृष्ट ६/१३३, १३४

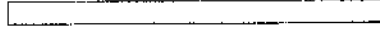
संयत ७/५४-५७
 -असंयत-संयतासंयत ७/५४-५७
 संयतासंयत ७/५४-५७
 संयमयात्रामात्रवृत्तिक ७/२५
 संयमी दान ७/८, ९
 संरम्भ ३/१४३-१४८
 संवर्त (संवट्ट) ७/१८८
 संवर्तकवात ३/२५३
 संवृत ७/१२५, १२६
 संसार मंडल ५/१२२
 संसृष्ट किए हुए ६/१-४
 स-अंगारादि दोष से दूषित पान-भोजन ७/२२, २३
 सण ६/१२६-१३१
 सदा, प्रतिक्षण (सया समियं) ६/२०-२३
 सद्भूत (भूत) ५/२५४-२५७
 सन्त ३/३३
 सन्निचय ३/२६८
 सन्निधि ३/२६८
 सपक्खि सपडिदिसिं (ठीक ऊपर आकाश में स्थित होकर) ३/३८
 सभा ५/१८२-१९०
 समजोइब्भुया (अग्नि-तुल्य बन गई) ३/४८
 समतुरगेमाणा (समाश्लेष करता हुआ) ३/४६
 समय की रुक्षता ७/११७
 समय क्षेत्र और समयातीत क्षेत्र ५/२४८-२५३
 समारंभ ३/१४३-१४८, ७/६, ७
 समुदय-समिति-समागम ६/१३२, १३३, १३४
 सर ५/१८२-१९०
 सरण ५/१८२-१९०
 सरपंक्ति ५/१८२-१९०
 सरसरपंक्ति ५/१८२-१९०
 सरिसव (सर्षप) ६/१२६-१३१
 सर्व-देश-मूल-उत्तर गुण प्रत्याख्यानी-अप्रत्याख्यानी ७/४३-५३
 सात-असात वेदनीय कर्मबंध के कारण ७/११३-११६
 सात प्रकार की प्रकृतियों का अथवा आठ प्रकार की प्रकृतियों का बंधन करता है ५/६८-७१
 सामानिक ३/४
 सामुदानिक ७/२५
 सार ३/३३
 सारिणी ५/१८२-१९०
 सालंबहत्थाभरणे (उसके हाथ के आभरण नीचे लटक गए) ३/११४
 सिंह, व्याघ्र आदि चतुष्पद ७/१२२
 सिद्ध ६/१३३-१३४
 सीहुण्ड (दुधिया धोहर) ७/६६
 सुख, दुःख की परिभाषा ७/१६०

सुख-दुःख उपदर्शन ६/१७१-१७३
 सुप्रत्याख्यात-दुष्प्रत्याख्यात ७/२७, २८
 सुलभबोधिक ३/७२
 सुवृष्टि ३/२६३
 सुषम-सुषमा ६/१३५
 सूर्यपरिवेश ३/२५३
 सौगंधिय (सौगंधिक, माणिक्य) ३/४
 स्कन्द ३/३४
 - ग्रह ३/२५८
 स्तूप ५/१८२-१९०
 स्थापित ५/१३९-१४६
 स्थितिप्रकल्प ३/३८
 स्थूल कर्म पुद्गल (अहाबायराई) ६/१-४
 स्पन्दन ३/१४३-१४८

स्वतःचालित रथ व शस्त्र ७/१८८
 स्वविषय ५/१४७
 स्वामित्व ३/४

ह

हंसगम्भ (पुष्पराग) ३/४
 हरित ७/११७
 हाथी व कुंथु का जीव समान ७/१५८, १५९
 हियकामए (हित चाहने वाला) ३/७३
 हीणपुष्पाचारदस (हीनपुष्प चतुर्दशी को जन्मा हुआ) ३/१०९
 हीलंति निंदंति खिंसंति गरहंति अवमण्णंति तज्जेति ताणोति परिवहेति
 पव्वहेति पव्वहंति ३/४५
 हृष्ट ६/१३२
 हेतु-अहेतु ५/१९१-१९८



परिशिष्ट - ३

पारिभाषिक शब्दानुक्रम

अ

अंक (रत्न) ३/४,४ (भा.)

अंग ६/१३३,१३४ (भा.)

- प्रविष्ट ४ आमुख

- बाह्य ४ आमुख

अंगार ५/५४; ७/२२, २३, २५

अङ्गारमुक्त ७/२३

अंगुल ३/४, १७, २१, ४३; ५/६४; ६/७५, १२५, १३४, १७३; ७/१०-१५ (भा.)

अंगुष्ठ प्रमाण ७ आमुख ,

अंगूठा ५/६४

अंजन ३/४,४ (भा.)

- पुलक ३/४,४ (भा.)

अंडज ७/६६

अंतक्रिया ३/१४४, १४५, १४७, १४८, १४३-१४८ (भा.)

अंतर ५/१७५-१८०; ६/१३, ११८

अंतरक ५/७८, ८१-८२ (भा.), ९४, ९५, ९९, ९४-९९ (भा.)

अंतराय ६/३३, ३४, ३३-३४ (भा.)

- कर्म ६/३३, ३४

अंतराल ३/२२८, २३०, २३७, २३९

- गति ५/५६-६१ (भा.); ६/८२, ६६; ७/१

- वर्ती ५/१४७

अंतर्भाव ४ आमुख

अंतर्मुहूर्त ३/१५०, १८३-१८५ (भा.); ५/६४, २२०, २२२; ६/३४,

१२६-१३१; ७/१

अंतिमशरीरी ५/८१, ७८-८२ (भा.), ९४, ९५, ९४-९९ (भा.)

अंतेवासी ३/४, १६, २१, १३४; ५/३, ७८, ८०, ८१, ८४-८६, ८८, २०१;

७/२१५

अंधकार (मय) ५/२३७-२४७ (भा.) ६/८६; ७/११७, ११७ (भा.)

अंबरतल ३/११२

अ-करण ६/८-११, १३

अकर्कश ७/१०७-११२

- वेदनीय ७/१०७-११२

अकर्ता ७/१६-१६

अकर्तृत्व ७/१६-१६

अकर्म ३/१४३-१४८; ७/१०-१५ (भा.)

- की गति ७/१०-१५ (भा.)

अकल्पनीय ५/१२४-१२७ (भा.)

अकषाय ६/५४, ६३; ७/२०

अकषायी ६/६३

अक्ष ६/१३४

अक्षत ३/३३; ७/१७६

अकामनिकरण ७/१५०-१५२, १५०-१५४ (भा.)

अकाम निर्जरा ७/११३-११६ (भा.)

अकाल-मृत्यु ५/११६-१२१ (भा.)

अकुट्यमान ५/६४

अकुशलानुबन्धा ६/१-४ (भा.)

अकृत ६/२४-२६ (भा.)

अकृष्ट (अकिष्ट) ३/१२९

अक्षस्रोतप्रमाणमात्र ७/१२०, १२० (भा.)

अक्रम ५/६४

अक्रिय ३ आमुख

अक्रिया ३/१४३-१४८ (भा.)

अक्लिष्ट ३/१२९

अगड (कुआ) ५/१८९, १८२-१९० (भा.)

अग्नि ३/४५, ४६, ४८, ४९; ५ आमुख, ५१-५४ (भा.) ६८-७१ (भा.),

१३३, २३५; ६/४, १३४; ७/११७, २०१, २०२

- काय ५/१३३, १५७, १५९; ६/८२, ९९, १४२, १४७, १५०;

७/२२७, २२८

- कायिक ५/१३३; ६/८८, १०५

- की दो अवस्थाएं ५/१३३ (भा.)

- जीव ५/५१-५४, ५१-५४ (भा.)

- जीव का शरीर ५ आमुख

- रूप ५/५१-५४, ५१-५४ (भा.)

- शरीर ५ आमुख

- से शोषित ५/५१

- से श्यामल ५/५१

- स्नात ५ आमुख

अग्रिमचरण ३/१३४-१३९ (भा.)

अग्रगामिता ३/४

अग्रस्थान ३/३७

अग्राह्य ५/१६०-१६४, १६०-१६४ (भा.)

अग्लान ५/८१, ८२, ७८-८२ (भा.)

- भाव (अगिला) ५/८१, ८२, ७८-८२ (भा.)
 अघातिक कर्म ६/३३, ३४ (भा.)
 अघात्यकर्म ७/१०७-११२ (भा.)
 अचक्षुदर्शनी ६/४१, ५२
 अचरम ३/७२, ७३; ६/५१, ५२
 अचलात्म ६/१३१, १३४
 अचित्त ५/१३३, १८३, १८५, १८७, १८९, २३५, २३६; ६/१८; ७/१२८, १३३
 - आहार ६/१८
 - पुद्गल ७/२२९, २३०
 अचेतन ३/१३४-१३९, १७२-१८२; ५/१३४, १३५
 - स्तर की क्रिया ३/१३४-१३९
 अच्छेज्ज ५/१३९-१४६ (भा.)
 अजीव ५/२०८-२२४, २४८-२५३; ६/१७४-१८२; ७/२८, ६३-६५, १२८, १३०, १३४, १३५, १६३, २१२-२१७
 - काय ७/२१३, २१६, २१८, २२०
 - प्रादोषिकी ३/१३७
 अज्ज्ञोयर ५/१३६-१४६ (भा.)
 अज्ज्ञोयरय ५/१३६-१४६ (भा.)
 अश्रुत ३/२५३, २५८, २६२, २६६
 अज्ञात ३/२५३, २५८, २६२, २६८
 अज्ञात अवस्था ७/१०६
 अज्ञान ७/२७, २८, १५०, १५४
 - मरण ५/१९३, १९४
 - हेतुक ७/१५०
 अज्ञानी ६/५२, ५४-६३; ७/२७, २८
 अटट ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४ (भा.)
 अटटोंग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४ (भा.)
 अट्टालक ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 अडड ६/१३३, १३४ (भा.)
 अडडोंग ६/१३३, १३४ (भा.)
 अढाई द्वीप ६/१५६, १५८, १५९
 अनगार ३/११५, ११६, १३४, १५१, १५४-१५८, १६३, २१६
 अणिमा ५/११२-११३ (भा.)
 अणिसिद्ध ५/१३६-१४६ (भा.)
 अणु ६/७०-११८ (भा.); ७ आमुख, १०-१५ (भा.)
 - द्रत ७/२९-३५ (भा.)
 अणु (सूक्ष्म) ५/६४
 अतिक्रमण ७/६, ७, २६
 अतिक्रान्त ७/३, ४
 अतिचरण ७/६, ७, ६-७ (भा.)
 अतिचार ७/२६, ३५
 अतिथिसंविभाग ७/३५
 अतिपात ७/६, ७, ६-७ (भा.)
 अतिशय ५/९३

अतिसूक्ष्म ५ आमुख
 अतीत ७/५४, ५६, १५६
 - काल ५/११५
 अतीन्द्रिय ज्ञान ३ आमुख, २२२-२३० (भा.); ५/८३-८८ (भा.), १०८-१०९ (भा.)
 - गम्यजगत् ५/१०८-१०९ (भा.)
 अतीन्द्रिय ज्ञानी ५/१००-१०२ (भा.), १०८-१०९ (भा.)
 अदत्तादान ७/५४-५७ (भा.)
 अदन्त घर्षण ७/२६-३५ (भा.)
 अदाह्य ५/१६०-१६४
 अदुःखी ७/१६, १७, १८
 अदृश्य जगत् ३ आमुख
 अदृष्ट ३/२५३, २५८, २६३, २६८
 अद्वा पल्योपम ६/१३३-१३४ (भा.)
 अधर्म ३/१३४-१३९ (भा.)
 अधर्मास्तिकाय ७/२१३, २१८, २१९
 अधिकरण ३/१३४-१३९ (भा.); ७/५
 अधिकरणी ७/४, ५
 अधिकृत वाचना ३/२१८
 अधिष्ठित ३/३८, ४०
 अधीन ३/३८, ४०
 अधः क्षेत्र ५/६४
 अधोगति ३/११९-१२६ (भा.)
 अधो लोक ३/११२, १२०-१२२ (भा.)
 - कण्डक ३/११९
 अधोऽवधि ६/१६८, १६९
 अधोवर्ति ५/६४
 अधःसप्तमी ६/१२०, १२२
 - पृथ्वी ३/८३; ५/६२
 अध्ययन ३/४; ५/२५४-२५७ (भा.) ७/२२०
 अध्यवतरक ७/२५
 अध्यवसान ५/१९१-१९८ (भा.)
 अध्यवसाय ६/१-४, ३३, ३४; ७/४, ५, १४६-१४८ (भा.)
 - की प्रकर्षता ६/१-४ (भा.)
 - पूर्वक ६ आमुख
 अध्यात्म ३/१५४-१६३ (भा.); ७/४, ५
 - विद्या, ३ आमुख; ६ आमुख
 - साधना ३/१३४-१३९ (भा.)
 अध्यापन ७/१६१
 अध्वा ७/३४
 अनगार ३ आमुख, ४, ८-१४, १६, १७, २०, २१, २४, ११५, ११६, १३४, १५१, १५४-१५८, १६३, २१६; ५/३, ८५, २०१-२०५, २०७, २२२-२३० (भा.) २३१-२३९ (भा.) २५४-२५७; ६/१६; ७/१, २०, १२५, १२६, १६७, १६८, १७०-१७१, १६७-१७२ (भा.), २१५, २२३, २३०, २३१, २३२

भावित्वात्मा

—देखें भावितात्मा अनगार

अनन्त ३/६४; ५/६७, १०६, १०६, ११५, १६०-१६४(भा.), २०५, २४८-२५३(भा.), २५४, २५५; ६/३०-३२, ५४-६३, ८८, १०५, ११६, १३४; ७/१२७-१४५ (भा.)

- काल ५/१७६

- क्षेत्र ६/१८६

- गुण ५/१०२

- गुना ६/५२, १३३, १३४; ७/४०, ४६, ५६, १४५

- जीव ७/६६

- ज्ञानी ६/१३२

- प्रदेशी (शिक) स्कन्ध ५/६४, १५३, १५६, १५९, १६४, १६६-

१६९ (भा.), १७५-१८०(भा.), १७६, २०१-२०७ (भा.)

- वियोजक ६/१-४

- संसार ६/३५-५१

- संसारी ३/७२, ७३

अनन्तर ३/५३, ७५; ५/३-१२ (भा.)

- पश्चाद्वर्ती ५/१७

अनन्तरागम ५/६८, ६४-६६ (भा.)

अनन्तिक ५/६७

अनर्थदण्डविरमण ७/३५

अनर्थ ५/१६०-१६२, १६४, २०१-२०३

अनवकल्प ६/१३२ (भा.)

अनवगाढ ५/६४

अनवद्य ५/१३६, १४१, १४३, १४५

अनन्तरावगाढ ५/६४

अनन्तरोपपन्नक ५/१०२

अनशन ३/१७, २१, ३६, ३८, ४३, ७६, १०७, १३४-१३९

अनाकार ६/३५-५१; ७/३४

- उपयोग ६/४८, ६३

अनाकारोपयुक्त ६/५४-६३(भा.)

अनागत ७/३४, ५४-५७ (भा.)

अनात्मवादी ७ आमुख

अनादर ३/४७, ४९

अनादि ५ आमुख, ६७, २५५; ६/२७-२६(भा.), ३०-३२, ५४-६३(भा.)

अनादृत ३/४१

अनादेय (वचन) ७/११९(भा.)

अनाभोग जनित ७/६, ७

अनाभोग प्रत्यय ७/१५०-१५४(भा.)

अनायुक्त ७/४, ५, २०

अनार्थ ३/२५३, २५३ (भा.)

अनावृत ज्ञान ७/१४६-१४६(भा.)

अनावृत्ति (अणाउट्टि) हिंसा ७/६, ७, ६-७ (भा.)

अनाहारक ६/१८, ४८, ५२, ६३; ७/१

अनाहृत ७/२५ (भा.)

अनित्य ३/३५, ३६; ७ आमुख, १६-१६

- जागरिका ३/३६, ३६(भा.), १०४

- त्व ३/३५, ३६

- वाद ७ आमुख

अनिन्द्रिय ५/५६-६१(भा.)

- ज्ञान ७/१६१

अनिमेष नेत्र (प्रेक्षा) ३/१०५(भा.)

अनिष्ट पुद्गल ६/२०-२३

अनिसृष्ट ७/२५

अनुकम्पन ७/११३-११६

अनुकम्पा ३/७३; ७/१०७-११२(भा.), ११४

- वृत्ति ७/११४

अनुकृत ३/२२

अनुज्ञात ३/३५, ३६

अनुचिन्तन ३/३३, ३५, ३६

अनुज्ञा ५/८६

अनुतटिका भेद ५/११२, ११३

अनुदित ७/२०, २१

अनुपयुक्त ५/१०२; ६/१६८, १६६

अनुपरतकाय क्रिया ३/१३५; ५/१३४, १३५

अनुपरतकायिकी ३/१३४-१३६(भा.); ५/१३४, १३५

अनुबंध ३/८४

अनुप्रवेश ३/४९

अनुभव ६/१७१-१७३(भा.); ७/१२७-१४५(भा.), १६२

अनुभाग ६/१५१

- नाम कर्म ६/१५१

- नाम का निषिक्त ६/१५२

- नाम गोत्र नियुक्तायुक्त ६/१५४

- नामनिधत्त आयुष्य ५/६२

- नाम निषिक्तायुक्त ६/१५३

- नाम निषिक्तायुष्य ६/१५१

- बन्ध ६/३३, ३४

अनुमान ४ आमुख; ५/९७, १९१-१९८ (भा.)

अनुमोदन ७/२७, २८

अनुयोग ४ आमुख

- सूत्र ४ आमुख

अनुशासन ३/४

अनुसंधान ३ आमुख

अनेक गुण ५/२०१-२०७(भा.)

अनेक रूप ६/१६५; ७/१६६

अनेक वर्ण ६/१६५; ७/१६६

अनेकान्त ५ आमुख, ५८-६०, १५०-१५३(भा.); ६/१७४-१८२;

७ आमुख

- दृष्टि ७ आमुख
 - वाद ५/१५०-१५३ (भा.)
 अनेवंभूत वेदना ५/११८-१२० (भा.)
 अनेषणीय ५/१२४-१२७ (भा.)
 - दान ५/१२४-१२७ (भा.)
 अनैरयिक ४/७
 अन्यतीर्थिक ७/१, २७, २८, ६७, २१२-२१७ (भा.)
 अन्यथा भाव ३/२२३, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २२२-२३० (भा.)
 २३२, २३३, २३५, २३६, २३८, २३९
 अन्यदीय ३/२२२-२३०
 अन्यत्रगत ६/१६३-१६७
 अन्ययूथिक ५/५७, ५८, ११६, ११७, १३६, १३७; ६/१, १७१, १७२, १८३, १८४;
 ७/१, २१२, २१३, २१५-२१७
 अन्वय ५/११२, ११३
 अन्वेषण ४ आमुख
 अन्वेषणीय ४ आमुख
 अपचय ५/२२५-२३३, २२५-२३३ (भा.)
 - सहित ५/२२५, २२६, २२९, २३१, २२५-२३३ (भा.)
 अपदेश ५/१९१-१९८ (भा.)
 अपध्यान ७/२६-३५
 अपनी ऋद्धि ३/१६६, १७४, २१२
 अपनी क्रिया ३/१६७, १७५, २१३
 अपने प्रयोग ३/१६८, १७६, २१४
 अपभ्रंश ५/९३
 अपने वीर्य ५/११०, १११ (भा.)
 अपरत्व ५/२४८-२५३ (भा.)
 अपर दार्शनिकों ७/२१२-२१७ (भा.)
 अपर विदेह ६/१३४
 अपरिणत ७/२५
 अपरितापित ३/१२९
 अपरित्याग ६/६४-६८
 अपरिभुक्त (अहय) ६/२०-२३ (भा.)
 अपरिभूत ३/३२
 अपरिमित ५/६७; ६/१८८
 अपरीत ६/४४, ५२
 अपर्यवसित ६/२७, २८, ३०-३२
 अपर्याप्त ३/१६४-१७१; ६/१३७-१५० (भा.); ७/१०१
 अपर्याप्तक ५/१०२; ६/४२, ५२
 अपर्याप्ति ६/६३
 अपवर्तना ६/१५४
 अपवाद ३/२६३ (भा.)
 अपञ्चिममारणान्तिकसंलेखना ७/२६-३५ (भा.)
 - जोषणाराधना ७/३५
 अपान ५/४६, ४६-५० (भा.)

अपाङ्ग-अवमोदरिक्त ७/२४
 अपायसद्रव्यतया ५/१११
 अ-पुद्गल ५/२५५
 - द्रव्य ५/२५४-२५७ (भा.)
 अपोरिसिय ७/१०-१५
 अप् ६/१३७-१५०
 - काय ३/१८३-१८५ (भा.); ५/१०३, १८३; ६/६६, १५०
 - काय जीव ५/५१-५४ (भा.)
 - कायिक ६ आमुख, ६३, १०५, ११६; ७/१४२
 अप्रकट ७/२१६
 अप्रकम्प ३ आमुख; ५/१७१, १७८; ६/१५, १६
 अप्रतीति ३/९
 अप्रत्याख्यान ६/६६, ६७, ६८
 - मोह ६४-६८
 - क्रिया ५/१२८, १२९; ७/१६३, १६४
 - आवरण ७/३६-४२
 - आवरण मोह ६/६४-६८ (भा.)
 अप्रत्याख्यानी ६/६४, ६५; ७/३६, ३७, ४०-४४, ४६, ४७, ४९-५३, ५५-५७
 अप्रथम ६/३०-३२ (भा.)
 अप्रदेश ५/१६०-१६२, १६४, २०१-२०३, २०५, २०६; ६/५४, ५५, ५७,
 ५८, ६०, ६३, ५४-६३ (भा.)
 अप्रमत्त ३/१४९, १५०, १९०; ७/२०, २१
 - अवस्था ३/१५०
 - संयत ३/१५०, १४९-१५० (भा.)
 - संयम में ३/१५०
 अप्रवीचार ५/१०७
 अप्रशस्त ४/८
 अप्राप्यकारी ५/६४; ७/१२७-१४५ (भा.)
 अप्रार्थनीय ३/१०९
 अप्राशुक ५/१२४, १२४-१२७ (भा.)
 अबन्धक ६/३५-५१ (भा.)
 अबन्ध काल ६/३५-५१ (भा.)
 अबन्ध क्षण ६/१६२
 अबाधाकाल ६/३८
 अबीज ६/१२९-१३१ (भा.)
 अबुद्धिपूर्वा ६/१-४
 अभय ७/२६-३५
 अभवसिद्धिक ३/७२, ७३; ६/२६, ३२, ४०, ५२, ६३
 अभव्य ६/२७-२९, ५४-६३ (भा.)
 अभाषक ६/४३, ५२
 अभिग्रह ३/३३, १०२; ६/१५, १६; ७/१६७
 अभिनिष्क्रमण-उत्सव ३/८६, ८७
 - महोत्सव ३/८६, ८७
 अभिन्न ६/१७४-१८२ (भा.)

अभिपक्व कर्म ६/१५, १६
 अभिमत ३/२२, ३३, ३६
 अभियोग ३/१९०, २१८, २२१
 अभियोगी भावना ३/२५७
 अभियोजन ३/१९०
 - शक्ति ३/२११
 अभियोजना ३/२०९-२११, २१७
 - शक्ति ३/२११
 अभिलषणीय ७/८९, २२२, २२४
 अभिलाषा ३/३८
 अभिलाषात्मक ३/३३, ३६, १०२, १०४, १०९, ११२, ११५, ११६, १३१
 अभिसमन्वागत ३/१७, ३०, ५०, ५१; ५/१०६, ११३, ११२/११३ (भा.)
 अभिसमन्वागत (विपाकाभिमुख) ३/९९, १०९, १३०, १३१, २३०, २३९
 अभिहत (अभिहट) ५/१३९-१४६ (भा.); ७/२५
 अभ्याख्यान ५/८९, ८४ (भा.)
 अभेद ५/२५४-२५७ (भा.)
 अभेदोपचार ५/१९१-१९८ (भा.)
 अभेद्य ५/१६०-१६४
 अभ्र ३/२५३ (भा.)
 - वृक्षा ३/२५३ (भा.)
 अमंगल ७/२६-३५
 अमध्य ५/१६०-१६२, १६४, २०१-२०३
 अमन ६/१६३-१६७ (भा.)
 अमनस्क ६/३६, ६४-६८; ७/३६-४२, १२७-१४५ (भा.); १५०, १५०-१५४ (भा.) १६१
 अमनुष्य ६/१७४-१८२ (भा.)
 अमनोज्ञ ३/१०९
 अमम (संख्या) ६/१३३, १३४ (भा.)
 अमम (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५, १३५ (भा.)
 अममांग ६/१३३, १३४ (भा.)
 अमायी ३/१९०-१९२, २१८, २२०, २३१, २३४, २३७
 - सम्यग्दृष्टि ५/१०२, १००-१०२ (भा.)
 अमावस्या ३/१५२
 अमित ५/१०६
 अमूर्त ५/१९१-१९८ (भा.), २५४-२५७ (भा.); ७/२१२-२१७ (भा.)
 अमोघा ३/२५३, २५३ (भा.)
 अय आकार (अयागर)—देखें लोहे की खान
 अयन ५/१७, १८; ६/१३२
 अयुत ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४ (भा.)
 अयुतांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४ (भा.)
 अयोग ५/६४-६६ (भा.); ७/१०-१५ (भा.)
 - अवस्था ३/१४३-१४८ (भा.)
 अयोगी ६/२७-२६, ४७, ५२, ६३

- केवली ६/३५-५१ (भा.)
 अर (आरा) ६/१३३, १३४, १३५; ७/११७ (भा.)
 अरजोऽम्बरवस्त्रधर ३/१०९ (भा.)
 अरत्नि (बद्धमुष्टि हाथ) ३/३५, ३६
 अरुचि ३/९
 अरुणवर ६/७२
 अरुणोदकसमुद्र (तमस्काय का नाम) ६/८६
 अरुणोदय ६/७२
 अरूपी ७/१२७, २१२-२१७ (भा.)
 - काय ७/२१३, २१८, २१९
 अर्थ ५/६४-६६, १०४-१०६; ७/२१६, २१८
 - अधिकार ४ आमुख
 - आगम ५/६७
 - चर ३/४ (भा.), २४७ (भा.)
 - दान ५/१४७
 - निकुर ५/१८; ६/१३२
 - निकुरांग ५/१८; ६/१३२
 - निपुर ६/१३३, १३४
 - निपुरांग ६/१३२, १३३
 - बद्ध ३/३८
 - बोध ५/२०७
 अर्थ ५/६४-६६, १०४-१०६
 - आढक ७/१५६
 - कृत्व ५/११२, ११३
 - कुडव ७/१५६
 - च्छेदक ६/१३३, १३४
 - निवर्तनिक मण्डल ३/१०४
 - पदासन ३/२०७
 - पर्यक ३/२०७
 - पर्यकासन ३/२०७
 - प्रस्थ ७/१५६
 - मागधी (भाषा) ५/९३
 - मास ७/२३१
 - वज्रासन ३/२०७
 अर्पणा की पद्धति ४ आमुख
 अर्पित ४ आमुख
 अर्हत् ३/८७, ९५, ११५, ११६, २३१-२३९ (भा.); ५ आमुख, २५५;
 ७/३, १५७, १७३, १८२, २०३
 - की प्रतिमा ३/९५
 - तैत्त्य ३/९५, ११५, ११६
 - मुनि ३/९५
 अर्हता ६/२७-२६
 अलंघ्य ६/४, १-४ (भा.)
 अलमस्तु ७/१५७

अलघु (महान् या वरिष्ठ) ३/९०

अलीक ५/१४८, १४८ (भा.)

अलेशयी ६/५४-६३

अलोक ५/२५५

अल्प

- आयुष्य ५/१२४, १२४-१२७ (भा.)
- आश्रव ५/१३३; ६/२२
- आहार ७/२ (भा.)
- उत्सुक ३/१०९ (भा.)
- कर्म ५/१३३; ६/२२; ७/६७-७३(भा.)
- कालिक ७/२६-३५(भा.)
- क्रिया ५/१३३; ६/२२
- निर्जरा ६ आमुख, १५, १६
- प्रदेशोपचय ५/६४
- बहुत्व ४/८; ६/२०-५२(भा.); ७/३६-४२(भा.), ५४
- वेदना ५/१३३; ६ आमुख, ४, १५, १६, २२; ७/१०३-

१०५

अल्पतर

- अप्काय ७/२२८
- आश्रव ७/१५८, २२७, २२८
- आहार ७/१५८
- उच्छ्वास ७/१५८
- ऋद्धि ७/१५८
- कर्म ७/६७-७०, ७२, ७३, १५८, २२७, २२८
- क्रिया ७/१५८, २२७, २२८
- तेजस्काय ७/२२८
- त्रस काय ७/२२८
- द्युति ७/१५८
- निःश्वास ७/१५८
- निहार ७/१५८
- पृथ्वीकाय ७/२२८
- महिमा ७/१५८
- वनस्पतिकाय ७/२२८
- वायुकाय ७/२२८
- वेदना ७/२२७, २२८

अल्पाहारी ७/२४

अवकाश-क्षेत्र ३ आमुख

अवकाशांतर ६/१०६

अवगम ६/३३, ३४

अवगाढ ५/१६४, १७०, १७१, १७७, १७८; ६/१८६

अवगाढावगाढ ३/४, ५, १९६

अवगाहन ३/११९, २५१; ५/१५७, १५९, २०१, २०७, २५४-२५७(भा.); ६/७६

- नामनिधत्त आयुष्य ५/६२

- स्थान अणु ५/१८१

अवगाहना ३/१७, २१, ४३, ११२; ४/१८; ६/१५१, १५४

- नाम कर्म ६/१५१

- नाम का निषिक्त ६/१५२

- नाम निषिक्तायुष्य ६/१५१

अवगाहित ३/१२०-१२२(भा.)

अवतरण ७/११७, ११८, ११९

अवतरित ५/१०

अवधारण ३/३०, ४७

अवधारणा ३ आमुख, ६ आमुख

अवधिज्ञान ३ आमुख, ३८, ५६-७१, १०९, ११२, ११५, १५८, १६३, २२२-२३०(भा.); ५/८३-८८(भा.), १०३-१०६(भा.), १०८, १०९

- लब्धि ३/२३१, २३४, २३७, २३९

अवधिज्ञानी ३/९५; ६/४५, ५२, १६८, १६९; ७/१४८

अवधिदर्शनी ६/४१, ५२

अवमोदरिक ७/२४

अवबोधात्मक सहभागिता ३/२५०-२७७(भा.)

अवयव ३/३, ४

अवयवी द्रव्य ५/५१-५४(भा.)

अवलिप्त ६/१२९-१३१(भा.)

अवलोकन ७/१५२

अवव ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४(भा.)

अववांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४(भा.)

अवसर्पिणी ३/९४; ५ आमुख, १६, २०, २३, २७, २९, २०१-२०७(भा.), २३७-२४७(भा.), २४८, २४९, २५४-२५७(भा.); ६/१३४, १३५; ७ आमुख, ११७

- प्रलय के साथ आंशिक तुलना ५ आमुख

अवस्था (आठ वर्ष की) ३/१५०

अवस्था-परिवर्तन ५/१५०-१५३(भा.)

अवस्था-सप्तक ३/१४३-१४८(भा.)

अवस्थान (संचिद्रुणा) ५/१६९-१७४(भा.), १७८

अवस्थित ५ आमुख, १६, २६, २०८, २०९, २११, २१२, २१५-२१७, २१९, २२०, २२४

अवस्थिति ५/२१६, २१८, २२१, २२२, २२५-२३३(भा.)

- काल ५/२१८, २२२, २२५-२३३(भा.)

- मान ५/१८१

अवान्तर प्रकार ७/११३-११६(भा.)

अविकल ३/२७९; ४/५; ६/१८

अविच्छिन्न ३/१७

अविज्ञात ३/२५३, २५८, २६३, २६८

अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध ६/१७४-१८२(भा.)

अविपाकी निर्जरा ६/१५, १६

अविभाग ६/५४-६३(भा.)

अविभागी प्रतिच्छेद ५/१६९-१७४(भा.)

अविभाज्य ५/आमुख, १६०-१६४(भा.)
 अविरत ३/१३४-१३९(भा.); ६/६४-६८(भा.); ७/२८
 अविरति ३/३५, ३६; ६/२०-२३(भा.); ७/४, ५, १६४
 - की क्रिया ३/१३४-१३९(भा.); ७/१६४
 - परिणाम ५/१३४, १३५
 अविशुद्ध ६/१६८, १६९
 - लेश्या ६/१६८, १६९, १६८-१६९ (भा.); ७/६७
 अविषयभूत ५/६४
 अवीतराग ६/२७-२९; ७/४, ५, २०, २१
 - अवस्था ६/२७-२९
 अवीचिमार्ग ७/२०, २१
 अवेद ६/३५-५१(भा.)
 अवेदक ६/५२, ६३
 अवेदी ६/५४-६३(भा.)
 अवेद्यमान अवस्था ६/३३, ३४
 अव्यथाभाव ३/२२२-२३० (भा.)
 अव्यथित ३/१२९
 अव्यवहित क्षेत्र ६/१८६
 अव्याकृत ७/१०-१५(भा.)
 अव्याहत ३/४
 अव्युच्छित्ति-नय ७/५८-६०, ६४
 अव्युच्छित्र ७/२०, २१
 अव्रत ६/२०-२३; ७/४, ५
 अशन ३/३०; ७/८, ९, २२, २३, २४, २६-३५, १६३, २०३
 अशब्द ५/१७४, १८१
 अशरीर ५/४६, ५०, ४६-५० (भा.); ६/६३; ७/आमुख
 अशरीरी ५/५६-६१
 अशाश्वत ५/२५४-२५७; ७/आमुख, ५८-६०, ६३-६५, १६५
 - वाद ७/५८-६०
 अशुभ ५/१३४-१३५; ६/५-१४
 - करण ६/९, ५-१४
 - कर्म ३/१३४-१३९; ६/१५, १६, २०-२३(भा.)
 - दीर्घ आयुष्य ५/१२६
 - पुद्गल ६/आमुख
 - मन ६/५-१४
 - प्रवृत्ति ६/२०-२३
 - योग ५/१३४, १३५; ६/२०-२३(भा.)
 अशोकषण्ड ३/१०५, ११२
 अश्रद्धा ३/९
 अश्रुत ३/२५३, २५८, २६२, २६६
 अष्टप्रदेशी ५/६४
 अष्टमभक्त (तीन दिन का उपवास) ३/१०५, १०५ (भा.), ११२; ७/२३१
 अष्टमी ३/१५२
 अष्टभागिका ७/१५६

अष्टविधबन्धक ५/६८-७१(भा.), ७५; ६/१६२
 अष्टापद-रूप ३/२०९
 असंख्य ३/४, ५, २२, ३८, ८६, ११२, ११४, ११५, २५०, २५६;
 ४/४; ५/१७१, १७७, १७८; ६/७१, १२४, १२५, १३२, १५५-१६० (भा.);
 ७/आमुख, १५८, १५९
 असंख्य
 - काल ५/१७१, १७२, १७४, १७५, १७७, १७८
 - गुणा ७/५७
 - प्रदेश ७/१५९
 असंख्यात ३, ४; ५/१६०-१६४; ६/७४, ७५, १३२, १३३, १३४
 - गुणा ६/५२; ७/३६-४२
 - वै भाग ३/१७, २१; ५/५८-६१, ६४, १७०, १७३, १७८,
 १८०, २१३, २१४, २१९, २२८-२३१; ६/१२५
 असंख्येय ३/२५१; ५/५६-६१, २२२, २४८-२५३; ६/६१, ११८, १२२,
 १२६, १३२, १५६; ७/३६-४२(भा.)
 - गुणा (णा) ५/१८१-२०६(भा.); ७/४०-४२(भा.), ४९-
 ५१(भा.), ५७
 - प्रदेश ५/२५४-२५७
 - प्रदेशात्मक लोक ५/२५४, २५५
 - प्रदेशी (शिक) स्कन्ध ५/१५५, १५८, १६४
 - भाग ३/४३
 असंज्ञी (अमनस्क) ६/३६, ५२, ६३, ७/१२७-१४५(भा.), १५०-१५४(भा.)
 - तिर्यचपंचेन्द्रिय ३/१८३-१८५(भा.)
 - पंचेन्द्रिय ६/६४-६८(भा.)
 - मनुष्य ३/१८३-१८५(भा.)
 असंबुद्ध ५/७८-८२
 असंयत ५/९०; ६/३७, ५२, ६३; ७/२८, ५४, ५४-५७ (भा.)
 असंयम ५/८९-९२; ७/११०-११२
 असंवृत ७/१, २८, १६७, १६८, १७०, १७१, १६७-१७२ (भा.)
 असत् ५/२५४-२५७ (भा.)
 असद्भूत ५/१४८, १४८ (भा.)
 - वचन ५/९१
 असमवहत ६/१६८
 असात ६/५-१४, ६४-६८; ७/१०४, १०७-११२(भा.)
 - वेदना ६/८, ९, १३
 - वेदनीय ७/१०७-११२, ११५, ११६
 असारगल्ल ३/४, ४ (भा.)
 असिचर्मपात्र ३/१९७
 असुख ६/५-१४
 - दुःख ७/११९, ११९ (भा.)
 अस्त ५/३-१२
 अस्ति ७/२१७
 - काय ७/२१३, २१६, २१८
 - त्व ४/आमुख; ५/आमुख; ७/आमुख, २१७

- त्वकाल, ५ आमुख, २५४-२५७ (भा.)

अस्नान ७/२६-३५

अस्पृष्ट ७/२१६

अस्पृष्ट ५/४८, ६४

अस्मिता मात्र ३/४

अस्वीकृत ३/४१

अहरन ६/१-४ (भा.)

अहिंसा ७/११३-११६ (भा.)

अहेतु ५/१९५-१९८

अहेतुक ३/१४०-१४२; ५/१९१-१९८

अहेतुगम्य ३ आमुख; ५/१९१-१९८ (भा.)

अहोरात्र ५/३-१२, १५; ६/१३२, १३३, १३४

आ

आउखो ६/६४-६८

आकार ६/१३५ (भा.)

- पर्याय ७/११७, ११७ (भा.)

- भाव ६/१३५ (भा.); ७/११८

- वाला ३/३३

आकाश ३/३८, ११२; ५ आमुख, १३४, १६५-१६८ (भा.), १७०, १७१, १७७, १७८; ७/१०-१५

- अस्तिकाय ७/२१३, २१८, २१९

- गंगा (मेलेक्सी) ६/७०-११८ (भा.)

- गामी ६/७०-११८; ७/१

- प्रदेश ५/११०, १११, १६५-१६८ (भा.)

- श्रेणी ६/१२०-१२८; ७/१

आकृति-विकृति ३/४५

आकाशीय पिण्ड ६/७०-११८ (भा.)

आकीर्ण ३/४, ४ (भा.) ५, १४, १६, १८, २०, २१, १९६

आख्यानक (कथानक) ३/४

आक्रन्दन ७/११३-११६

आगम ३/१४३-१४८, १५४-१६३, २५०-२७७ (भा.); ४ आमुख; ५/३१-४५ (भा.), ५७, ५८, ६२, ६७, ११६-१२१ (भा.), १६०-१६४ (भा.); ६ आमुख, १३३, १३४, १६८, १६९; ७/१, १०-१५, १६-१९, २०, २१, २७, २८, ६६, ११३-११६ (भा.), ११७-१२३ (भा.), १७३

- कार ४ आमुख

- का व्याख्या साहित्य ३/१०९

- के अर्वाचीन काल ५/९४-९९ (भा.)

- के प्राचीन युग ५/९४-९९ (भा.)

- के संस्करण ४ आमुख

- गम्य ३ आमुख

- युग ३/१५४-१६३ (भा.); ५/५७, ५८

- रचनाशैली ६ आमुख

- वाचना ७/११७-१२३ (भा.)

- वाद ३ आमुख

- संकलनकार ४ आमुख

- संकलन काल ५/९४-९९ (भा.)

- साहित्य ३ आमुख; ५/९८-९९ (भा.), १३८-१४५ (भा.), १५४-१५९ (भा.); ६ आमुख; ७/२५, १२७-१४५ (भा.)

- सूत्र ३/७३

आगमिक ३ आमुख, ५/११६-१२१ (भा.)

आघात ६/१-४

आचरण ३/३०; ५ आमुख, १४८; ६ आमुख, २०-२३ (भा.), ६४-६८ (भा.); ७/२६-३५ (भा.), ५४-५७ (भा.)

आचाम्ल ३/२१

आचार ५/१३६-१४६ (भा.)

- की मर्यादा ५/१३९-१४६ (भा.)

- विषयक सूत्र ५/१३९-१४६ (भा.)

- शास्त्र, ७ आमुख

आचार्य ३/३५, ३६, २०७; ४ आमुख; ५/१००-१०२ (भा.), १४७, १४७ (भा.); ६/२०-२३

- कुशल ७/१७५ (भा.)

आचेलक्य ७/२९-३५ (भा.)

आच्छन्न ३/१७, २१

आच्छादन ३/२९; ७/१७७ (भा.)

आजाति ५/५७, ५८

आजीव ७/२५

- पिण्ड ७/२५

आच्छेद्य ७/२५

आज्ञा ३/५१; ७/१७४, १७५, १८३, १८४, १९४, १९५

आढक ७/१५६

आणुगामियताए ३/७३

आण्विक ६/७०-११८ (भा.)

आतापना ३/२१, ३३

- भूमि ३/२१, २३, १०२

आत्म-कर्तृत्व का सिद्धान्त ३/२५०-२७७ (भा.)

आत्मकृत ६/२४-२६ (भा.)

आत्मत्व ७/२०, २१

आत्मना (संवृत) ३/१४८

आत्मप्रदेश ५/६४, १०३-१०६; ७ आमुख २, १५८, १५९

आत्मरमण ६/३३, ३४

आत्मलीन ३/१७; ५/७८

आत्मवाद ३ आमुख

आत्मसंदूत ३/१४३-१४८ (भा.)

आत्मस्वरूप ६/३३, ३४

आत्महत्या ३/१३४-१३९ (भा.)

आत्मा ३/४, १०५, १५५, १५४-१६३ (भा.); ५ आमुख, ५१-५४, १०८, १०९; ६ आमुख, २०, २२, २०-२३ (भा.) ३०-३२, ३४, १६८, १६९, १८६, १८८; ७ आमुख, ५, १०-१५, १६०, २२०

आत्मागम ५/६७, ६४-६६ (भा.)
 आत्मिक ६/३३, ३४
 आदर ३/३८-४०, ५१, ५७, ५९
 आदान (इन्द्रिय) ५/१०८-१०९ (भा.)
 आदि-भाग ५/६४
 आदेय ५/२५४-२५७
 आदेश (वचन) ३/५१ (भा.)
 आधाकर्म ५/१३६, १४१, १४२, १४५, १३६-१४६ (भा.); ७/२५, १६५, १६५ (भा.)
 आधाकर्मिक ५/१३६-१४६ (भा.)
 आधिकरणिकी ३/१३४, १३६; ५/१३४
 - क्रिया ३/१३४-१३९; ५/१३४
 आधुनिक मान्यता ५/३-१२ (भा.)
 आधुनिक विज्ञान ५/१५४-१५९ (भा.)
 आधुनिक वैज्ञानिक ५/८३-८८ (भा.)
 आधोऽवधिज्ञानी ७/१४७, १४६-१४९ (भा.)
 आध्यात्मिक ३/३३, ३६, १०२, १०४, १०९, ११२, ११५, ११६, १३१, १३४-१३९ (भा.)
 - चिकित्सा ६/२०-२३ (भा.)
 - परिभाषा ७/१६०
 आन ५/४६, ४६-५० (भा.)
 आनापान (शवासोच्छ्वास पर्याप्ति) ३/१७; ५/१५
 - पर्याप्ति ६/६३
 - अपर्याप्ति ६/६३
 आनुकम्पिक ३/७३ (भा.)
 आन्तरिक
 - अध्यवसाय ७/४, ५
 - इच्छा (आकांक्षा) ३/१३४-१३९ (भा.)
 - क्रिया ७ आमुख
 - स्पन्दन ७/ ४, ५,
 आपण ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 आपातभद्र ७/२२४, २२६
 आप्तपुरुष ३ आमुख; ५/१६१-१६८ (भा.)
 आभामण्डल (आभावलय) ३/१८३-१८५ (भा.); ४/८; ६आमुख, २०-२३ (भा.)
 अभिनिबोधिकज्ञानी ६/४५, ६३
 अभियोगिकी भावना ३/१९०, २११
 आभोग-जनित ७/६, ७
 आमन्त्रण ७/२५
 आयाम ६/६१, १७१-१७३ (भा.)
 आयु ५/१, ५७, ५८; ६/३०-३२, ६४, ६८; ७/५८-६०, १०१
 - अवधि ७/६७, ७३
 - क्षय ३/५३, ७५; ७/२०५
 - बन्ध ६/३५-५१ (भा.), ६४-६८ (भा.), १५१
 - सूत्र ६/६४-६८ (भा.)

- स्थिति ३/१४३-१४८ (भा.)
 आयुक्त ७/४, ५, २०, २१, १२५, १२६
 आयुध ७/१७६, १७६ (भा.), १८५
 आयुमान ५/१८१
 आयुर्विज्ञान (मेडिकल साइंस) ५/७२-७५ (भा.), ७६-७७ (भा.)
 आयुर्वेद-साहित्य ५/७६-७७ (भा.)
 आयुष्मन् ५/१६, २३, २७, २६, ८१; ६/१५६
 आयुष्य ५/५७, ५८, ५९, ६०, ५९-६१ (भा.), ६२, ६२ (भा.) २४८-२५३ (भा.) ६/३३, ३४, ३५, ३७, ४०, ४२, ४४, ४६, ५०, ६८, १३३, १३४, १३५, १५१, १५१ (भा.), १५४, १६२; ७/१, ६७-७३, १०१, १०२, १०६
 - कर्म ५/५७, ५८, ६२, ११६-१२१ (भा.); ६/३३, ३४, ३५, ३६, ३७-४०, ४२, ४४, ४६, ४९, ५०, १५१, १७४-१८२; ७/१६५
 - का बन्ध ५/५७, ५८, ५९, १२४-१२७ (भा.); ६/६४, ६८, १५१, १५१ (भा.), १६२; ७/१०६, १०६ (भा.) १४६-१४८
 - काल ५/५७, ५८
 - का वेदन ५/५७, ५८
 - आयुष्य - की क्रम-श्रंखला ५/५९-६१ (भा.)
 - क्रम ५/५७, ५८
 - परिमाण ६/१३२
 - बंध का निर्धारण ७/१०१, १०१ (भा.)
 - रहित ५/५९, ६०
 - सहित ५/५९
 आरंभ ३/१४५, १४३-१४८ (भा.); ५/१५०-१५३ (भा.), १८२-१८५ (भा.), १८२-१८० (भा.); ७/११३-११६ (भा.)
 आरंभिकी क्रिया ५/१२८-१३२
 आरक्षक ३/४, २४७
 आरगत ५/६५-६७ (भा.)
 आराधक ३/७२, ७२ (भा.) ७३, १९२
 आराधना ३ आमुख, ३६, ३८, १९२; ५/११५, १३६, १४१, १४३, १४५; ६/६४-६८, १३२; ७/१५६
 आराम ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 आर्त ६/२०-२३ (भा.); ७/३६-४२ (भा.)
 आर्द्रमल (पंकिय) ६/२०-२३ (भा.)
 आर्य ३/३०; ५/८१, २०१-२०३, २०५, २५४, २५५
 - सत्य ६/१८३-१८५
 आर्या ३/३४ (भा.)
 आलिसंदग—देखें चवला
 आलीन ५/२०१
 आलेखन ३/३६, ३८
 आलोचन ६/३३, ३४
 आलोचना ३/१६, २१, १९२, २१९, २२०; ५/१३६-१४५ (भा.); ७/२०३
 आवरण ७/१५८, १५६
 - युक्त ५/१०८, १०६
 आवलिका ५/१५, ५९-६१, १७०, १७३, १७८, १८०, २१३, २१४,

२१९, २२८-२३१(भा.), २४८, २४९; ६/१३२
 आवश्यक ७/२६-३५(भा.)
 आवारक ६/३३, ३४
 आवास ६/१२०
 - गृह ७/२१३, २१८
 आवृतज्ञान ७/१४६-१४६(भा.)
 आशातना ३/९५
 आशुरुत्त (आसुरुत्त) ३/४५, ४५ (भा.)
 आश्रयभूत ३/२८, ९४
 आश्रव ३/१३४-१३९(भा.), १४०-१४२(भा.), १४८; ५/१०८, १०९,
 १३३; ६ आमुख २०-२३; ७/१०७-११२(भा.)
 - शक्ति ६/३३, ३४
 आश्रवण (बन्ध) ५/१२८-१३२(भा.)
 आसक्त ३/१३५
 आसुरुत्त—देखें आशुरुत्त
 आस्वादमान ३/३३(भा.)
 आहत नाट्यों, गीतों ३/४ (भा.)
 आहरण ६/१८६
 आहार ३/३०, ३३, १४८; ५/१३६-१४६ (भा.); ६/१, १८, १२०-१२८,
 १८६, १८८; ७/१, २, २२, २३, २४, २५, २६-३५, ६२, ६३, ६५, ६४-६५ (भा.)
 १६१, २०२
 - उद्देशक ६/१८
 - पद ६/१८
 - पर्याप्ति ३/१७, ४४, १०९
 - विषयक दोष ५/१३९-१४६(भा.)
 - संज्ञा ७/१६१
 आहारक ६/१८, २०, ४८, ५२, ६३; ७/१
 - वर्गणा ५ आमुख
 - शरीर वर्गणा ६/३३, ३४
 - शरीरी ६/६३
 - समुद्घात ३/४
 आहूत ७/२५
 इ
 इंधन-रहित—देखें निरिंधन
 इच्छा-चालित ७ आमुख
 इच्छा-परिमाण ७/२६-३५
 इतनी सूक्ष्मता (एसुहुमं) ५/१७६, १७७
 इन्द्र ७/१७७, १८६
 - कील ३/११२ (भा.)
 - ग्रह ३/२५८, २५८(भा.)
 - जाल ३/११७
 इन्द्रिय ३ आमुख १, १०५, १३५, १४८, १९१, ५/६४, ८३-८८(भा.),
 १०८, १०९; ६ आमुख २०-२३, ८७; ७/१२७-१४५(भा.) १६१
 - अपर्याप्ति ६/६३

- ज्ञान ५/१०८-१०९ (भा.); ६/१८७-१८८(भा.)
 - ज्ञान गम्य जगत् ५/१०८, १०९
 - ज्ञानी ५/१००-१०२ (भा.)
 - दर्शन ५/७२-७५(भा.)
 - निरोध ७/२६-३५(भा.)
 - पर्याप्ति ३/१०; ६/६३
 - विषय ३/२७९; ५/६५-६७; ७/१२७-१४५ (भा.)

इभ्य ३/३४; ७/१६६

इहगत ६/१६३-१६७, ७/१०३-१०५

इहभव के आयुष्य ५/५७, ५८, ५७-५८ (भा.)

ई

ईथर ७ आमुख, १८६

ईर्यापथ ३/१४३-१४८

- बन्ध ३/१४३-१४८

ईयपथिक ६/२६; ७/२०, २१

ईर्यापथिकी क्रिया (देखें, ऐर्यापथिकी क्रिया)

ईर्याप्रत्ययिक कर्म ७/२०, २१

ईर्यासमित ७/२१५

ईशितृत्व ५/११२, ११३

ईश्वर ३/४, ४ (भा.) ३४; ६/३०-३२(भा.); ७ आमुख, १९६

- कर्तृत्ववादी ३/२५०-२७७(भा.)

- वादी ७ आमुख

ईषत् ५/३१, ३२, ३४, ३६-४५

- प्राम्भारि पृथ्वी ३/७९; ६/१३५

उ

उच्चतर ३/५४, ५४ (भा.) १९१

उच्छन्न ३/२६८ (भा.)

उच्छ्वास ५/४६; ६/१३२, १३३, १३४; ७/१५८

- निश्वास ५/४६, ४६-५०(भा.); ७/२०३, २३२

उच्छेदवाद ७/५८-६०(भा.)

उच्छ्रितोदय ३/१६४-१७१(भा.)

उज्ज्वल (नेपथ्य) ७/११५ (भा.)

उज्ज्वल (वेदना) ५/१३८, १३८ (भा.)

उत्करिका ५/११२, ११३

- भेद ५/११२, ११३

उत्कलिकावात ३/२५२, २५३ (भा.)

उत्कुटुकास्थिक (उत्कुडअस्थिग) ७/११९, ११९(भा.)

उत्तम ३/३६

- भोग भूमि ६/१३३, १३४

उत्तर ५/३, ५, ७, ९, १४

- काल ७/२६-३५, २१२-२१७(भा.)

- क्रिया ५/४३; ७/५४-५७(भा.)

- गुण ७/२६, ३३, ३६-४२(भा.)

- गुण प्रत्याख्यान ७/२९, ३३, २९-३५ (भा.) ३६-४२(भा.)

- गुण प्रत्याख्यानी ७/३६, ३७, ४०-४२, ३६-४२ (भा.)
 - गोलार्ध ५/३-१२ (भा.)
 - परिणाम ५ आमुख
 - पूर्व ३/११६, १२९
 - पौरस्त्य ३/११२
 - प्रकृति ६/३३, ३४, १५१
 - वर्ती ४ आमुख
 - वर्ती पर्याय ५/५१-५४ (भा.)
 - रचना ४ आमुख
 - व्रत ७/२६-३५
 - वैक्रिय ३/३८; ७/५४-५७
 - वैक्रिय शरीर ३/११२, ११२ (भा.), १५४-१६३
 - कुरु ६/१२४
 उत्तरार्द्ध ५/४, ६, १३, १७, १९, २३, २५, २७
 उत्तरायन ५/३-१२ (भा.)
 उत्थल— देखें टीले
 उत्थान ३/२६, १०४; ७/१४६-१४६, १५०-१५४
 उत्पत्ति ५/२०८-२२४ (भा.), २५४-२५७; ७/२
 - स्थान ७/१
 - काल ६/५४-६३ (भा.)
 उत्पन्न ज्ञानदर्शन के धारक ७/३, १५८
 उत्पल ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 उत्पलांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 उत्पात ३/१
 उत्पाद ५/१५०-१५३ (भा.), २०८-२२४ (भा.), २२५-२३३ (भा.)
 उत्पादन ७/२५
 उत्प्रासन ५/६८-७१ (भा.)
 उत्पलक्षणश्लक्षिका ६/१३४
 उत्सर्पिणी ३/६४; ५ आमुख, १९, २०, २३, २७, २९, २४८, २४९, २५१, २५२; ६/१३४
 - सृष्टि के साथ आंशिक तुलना ५ आमुख
 उत्पूत्र ७/४, ५, २१, १२६
 उत्स्रेध ३/४
 - अंगुल ६/१३३, १३४
 उदक ६/१५६
 - मत्स्य ३/२५३, २५३ (भा.)
 - योनिक ६/१५६
 उदकोत्पीड ३/१६३ (भा.)
 उदकोद्भेद ३/२६३ (भा.)
 उदय ३/१४३-१४८, २२२-२३०; ५/३-१२ (भा.), ७०, ७४, १०७;
 ६/५-१४, १५, १६, ३३, ३४, ६४-६८, १५१; ७/२०, २१, ७४-६२ (भा.), १६१
 - काल ७/७४-९२
 उदयावली ६/१५, १६

उदार ३/३६; ७/२०, २१
 उदित ५/३, २१, २४, २९; ७/२०, २१
 उदीरणा ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.), १५४-१६३ (भा.); ५/
 ४५, १३८, १५०-१५३, १५०-१५३ (भा.); ६/५-१४, १५, १५४;
 ७/१६
 उदीरित ३/१४८
 उदीर्ण (उत्कट) मोह ३/१०७
 उद्गम ७/२५
 उद्दिष्टा (अमावास्या) ३/१५२
 उद्दिष्ट ७/२५
 उद्देशक ३ आमुख ७६, २२१, २७९; ४ आमुख, १, ५, ६, ८; ५ आमुख,
 ११५, २५८, २६०; ६ आमुख १, १७, १८, २०, ६८, १८८; ७/१
 उद्देश्य ७/२५
 उद्देशिय ५/१३६-१४६
 उद्द्योत ५/१३७-२४७ (भा.)
 उद्धार ६/१६०
 - पल्योपम ६/१३३, १३४
 उद्भूत—देखें गति
 उद्भिन्न ७/२५
 उद्यान ३/१०५, ११२
 उद्वर्तन ५/२०८-२२४ (भा.), २२५-२३३ (भा.), २५४-२५७ (भा.); ७/२१०
 उद्वर्तना ६/१५४
 उद्वेजक ३/२५८ (भा.)
 उन्नततर ३/५४, ५४ (भा.)
 उन्मत्तवत् ३/२२२-२३०
 उन्मिश्र ७/२५
 उन्मेष-निमेष ३/१४८
 उपकरण ३/३६, १०४; ५/१३४, १३५, १८२-१६० (भा.); ७/२२७
 उपग्रह ५/१३४-१३५ (भा.)
 उपचय ५/२२५-२३३, २२५-२३३ (भा.); ६ आमुख, २०, २४-२६,
 २७-२९; ७/१६४
 - अपचय-सहित ५/२२५, २२६, २३०, २३४
 - और अपचय से रहित ५/२२५-२२७, २३१, २३३
 - सहित ५/२२५, २२६, २२८, २३१, २३२, २२५-२३३ (भा.)
 उपजीवी ६/३३, ३४
 उपनिषद् ३ आमुख
 उपदेश ७/२२०
 उपधि ५/१८२-१६०
 उपपद्यमान ७/१०१-१०५
 उपपन्न ३/१७, २१, ४३, ४६, ५३, ७५, १०७, १०८, १०९, ११०,
 १११, १२८, १२९, १३१, १८३-१८५, २१९, २२०; ४/७; ५/५९,
 २५७; ६/८८, १०५, १२२, १२४-१२६; ७/१०१-१०५, १४६, १४७, १८१,
 १६०, १६२, १६३, २०६-२१०
 उपपत्रक ५/१०२

उपपात ३/१७, ५१(भा.); ६/५४-६३
- सभा ३/१०७

उपपाद ३/५१

उपभोग ७/२६-३५
- परिभोग-परिमाण ७/३५

उपमा ६/१३३, १३४

उपमान ५/९४-९९ (भा.)

उपयुक्त ५/१०२; ६/१६८, १६९

उपयोग ३/१४८; ५/८३-८८ (भा.) ६/३५-५१, ६३, १६८, १६९
- रूप ५/१००-१०२, १०३-१०६

उपयोगी ६/२०

उपलब्ध ३/१७, ३०, ५०, ५१

उपवास ३/१७, २१, ३३, ७६; ७/१६४

उपशामन ३/८४; ५/१०७

उपशम श्रेणी ३/१४९-१५०; ५/१०७

उपशान्त ३/१७, ८४, १४३-१४८; ५/१०७, १०७(भा.); ७/१८१, १९०
- मोह ३/१४३-१४८(भा.); ५/१०७; ६/१-४; ७/२०, २१

उपशामना ६/५-१४, १५४

उपसम्पदा ५/२५६, २५७

उपसम्पन्न (प्रशान्त) ३/१२९

उपस्तृत ३/४, ५, १९६

उपस्थान शाला ७/१६६

उपसर्ग ७/२०३

उपार्जन ३/३०

उपहत ३/१२७, १२८
- मतिवाला ३/२२२-२३०

उपादान ५/१६१-१६६(भा.)

उपाध्याय ५/१४७, १४७ (भा.)

उपाश्रय ५/४, ५

उपासना ७/१६३

उभयतः वक्रश्रेणी ७/१

उल्कापात ३/२५३, २५३ (भा.)

उल्लंघन (एक बार लांघना) ३/१८६, १८७

उष्ण ४/८; ५/१५०-१५३

- यौनिक ७/६३

उस उस भाव में (परिणाम) ३/१४३-१४८

ऊ

ऊर्ध्व-क्षेत्र ५/६४

ऊर्ध्व-गति ३/११९-१२६(भा.)

ऊर्ध्वजानु अधःसिर ५/८५, २०१

ऊर्ध्वरेणु ६/१३४

ऊर्ध्वलोक ३/८८, ८९, ९४-९८, १०९, ११५, ११६, ११९, १२०-१२२, १३१
- कण्डक ३/११९

ऊर्ध्ववर्ती ५/६४

ऋ

ऋजु ७/१

- आयत श्रेणी ७/१

- गति ५/५६-६१; ७/१

ऋतु ५/१५, १६; ६/१३२; ७/१, ६२

ऋद्धि ३/१५४-१६३, २३०, २२२-२३०(भा.), २३९
- मान ३/१५४-१६३

ए

एक (अर्ध) पर्यकासन ३/२०७

एक (अर्ध) पर्यस्तिका-आसन ३/२०५

एकगुण ५/१७२, २०१-२०७

एकतःपत्राक ३/१६४-१७१(भा.)

एकतःवक्रश्रेणी ७/१

एकपुद्गलनिविष्टदृष्टि ३/१०५

एक-भक्त ७/२६-३५

एकभक्तिक ५/५७, ५८

एक रात्रि की महाप्रतिमा ३/१०५, ११२

एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा ३/१०५

एक-रूप ५/५१-५४; ६/१६३-१६६; ७/१६७-१६९

एकवर्ण ६/१६३-१६५; ७/१६७-१६९

एक समय (में एक क्रिया) ७/१७(भा.)

एक सौ बीस भक्त ३/४३

एकहस्तिका ७/१७७, ११७ (भा.), १८६

एकाग्रता ३/२२२-२३०(भा.)

एकात्मवादी ७ आमुख

एकान्त

- दण्ड ७/२८, २७-२८ (भा.)

- दुःखद ७/१०३

- दुःखमय ६/१८३-१८५, १८८

- पण्डित ७/२८, २७-२८ (भा.)

- बाल ७/२८, २७-२८ (भा.)

- सुख ६/१८५

- सुखद ७/१०४

- सुखमय ६/१८४

एकार्थ ३/२१८

एकेन्द्रिय ५/७१, १८२-१९०(भा.); ६/७, ३५-५१(भा.), ६३, ६४-६८(भा.),
१२५, १५१; ७/१, १२७-१४५, १५०-१५४, १६१

- जीव ५/५४, १८६, २१९, २२०, २२२, २२५, २३१

एजन ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.), १५४-१६३(भा.); ५/
१, १५०-१५३, १५०-१५३ (भा.)

एण्ड फल ७/१०-१५(भा.)

एण्ड मिजिया ७/१०-१५

एवंभूत-वेदना ५/११६-१२०, ११६-१२१ (भा.)
 एषणा ३/१४८: ७/२२, २३, २५
 एषणीय ५/१२५; ७/८, ९, २२, २३, २४, १६३
 एषित ७/२५, २५ (भा.)

ऐ

ऐर्यापथिकी ३/१४३-१४८
 - क्रिया ३/१४८, १४३-१४८ (भा.); ६/२६-२८; ७/४, ५,
 ४-५ (भा.), २०, २१, १२५, १२६
 ऐष्यत् काल ३/१४३-१४८

ओ

ओष संज्ञा ७/१६१
 ओज आहार ७/१
 ओदन ५/५१

औ

औषिक ६/६३, ६७
 - ज्ञानी ६/६३
 औदयिकभाव ३/२२२-२३०
 औदारिक (स्थूल) ३/४; ५/३१-४५, ५०, ५६-६१; ६/६३, १५१
 - वर्गणा ३/४; ५ आमुख
 औदारिक शरीर-प्रयोग बंध ५/१११
 - शरीर ६/१४, २०-२३
 - शरीर वर्गणा ६/३३, ३४
 - शरीरी ६/५४-६३
 औद्देशिक ७/२५
 औषमिक ६/१३३
 - काल ६/१३१, १३३-१३४ (भा.)
 औषम्य ५/६७
 औषधि ३/४; ७/११७ (भा.)
 - (औषध) मिश्रित ७ आमुख, २२६

क

कंगु (धान्य) ६/१३१, १२९-१३१ (भा.)
 कंदराग्रह ३/२६८, २६८ (भा.)
 कंदर्पक ३/२५७
 कंदर्प ३/२५७ (भा.)
 कक्षाकोथ ३/२५८ (भा.)
 कक्षागतस्वेदमिव (कक्खागयसेयमिव) ३/११४ (भा.)
 कच्छुकसराभिभूत (कच्छुकसराभिभुम) ७/११९ (भा.)
 कटुक ६/१६३-१६७
 कठिन मल (मइल्लिय) ६/२०-२३ (भा.)
 कथंचित् ६/१७४-१८२
 कदाचित् ७/१०३-१०५, १६२
 कन्या (राशि) ७/६२
 कपिहसित ३/२५३

कमल ६/१३३, १३४
 कमलांग ६/१३३, १३४
 करण ६/५-११, ५-१४ (भा.) १७, १५४; ७/२८
 करोड़ पूर्व ३/१४९, १५०
 कर्क (राशि) ७/६२
 कर्कश ७/१०७-११२
 - वेदनीय ७/१०७-१०९, १०७-११२ (भा.)
 कर्दम राग ६/१-४ (भा.)
 कर्म ३/३३, ३६, १०४, १४०-१४२, १४८ : ५/५७, ५८, ७०, ७४,
 ६४-६६, ११६, ११७, १२०, १२८-१३२, १४८, १८३, १८५, १८७, १८९; ६
 आमुख, १, ५-१४, २०, २५, २६, २६, २७-२९ (भा.) ३३, ३४, ६४, ६८,
 १३३, १३४, १५१, १५४, १६२; ७ आमुख, १०-१५, १६-१९, ६७-७३, ७५, ७७,
 ८०, ८३, ८६, १०७-११६, १४६-१४९, १५०-१५४, १५८, १५९, १६५
 - आत्मकृत ६/२४-२६ (भा.)
 - करण ६/५-७, ९, १५२-१५४ (भा.)
 - का उदय ३/१४३-१४८ (भा.)
 - का विपाक ६ आमुख १-४,
 - जनित ७/१५८, १५९
 - दलिक ६/३४
 - निरोध ७/१०७-११२
 - निषेक ६/३४
 - पुद्गल ३/४, १४०-१४२; ६/२०-२३, ३३, ३४, १५१
 - पूर्वक ३/१४०-१४२
 - प्रकृति ५/७१-७५, ६८-७१ (भा.); ६/३३, ३४, ३३-३४ (भा.),
 ३५, ३७-५१, १५१, १५४, १६२
 - प्रायोग्य ३/१४३-१४८ (भा.); ६/३३, ३४
 - फल ६/१-४, ३३, ३४
 - बन्ध ३/१३४-१३९, १४०-१४२, १४३-१४८, २२२-२३०;
 ६/२०-२३ (भा.), ३५-५१ (भा.), १५१, १५४; ७/१०७-११२, ११४, ११६,
 २१८-२२०
 - भोग ७ आमुख
 - मुक्त ६/२४-२६; ७/१०-१५
 - वर्गणा ६/२४-२६, ३३, ३४
 - विद्या ६ आमुख
 - विपाक ६/१५१
 - विषयक ७/२१८-२२०
 - शास्त्र ५/१४८; ६ आमुख; ७ आमुख
 - शास्त्रीय ३/३३, १४९-१५० (भा.); ५/७२-७५ (भा.), १२४-
 १२७ (भा.); ६/६४-६८ (भा.)
 - सिद्धान्त ५/ ५७, ५८
 - स्कन्ध ६/१५४
 - स्थिति ६/२०, ३४
 - स्पर्श ३/१४३-१४८ (भा.)
 कर्मक (कर्मण) शरीर ६/६३

कर्माशय ५/५७,५८
 कल्पना ३/१७
 कर्मोदय रूप ७/१६१
 कल (धान्य) १३१, १२९-१३१ (भा.)
 कलकलरव ३/११२
 कल्पनीय ३/१०२
 कल्पवासी ३/९०
 कल्याण ३/३६
 - कर्म ७/२२५, २२६
 - कारी ३/३३, ३८, ५१
 - दायी ३/३३
 - फल विपाक संयुक्त ७/२२५, २२६
 कल्याणानुबन्ध निर्जरा ६/१-४ (भा.)
 कवल ७/२४, २६-३५ (भा.)
 कषाय ३/१४३-१४८ (भा.), १९०; ५/६८-७१ (भा.); ६/२०-२३, ६३;
 ७/४, ५, २०, २१, २६-३५
 - आश्रव ७/१०७-११२ (भा.)
 - जनित (साम्परायिकी क्रिया) ३/१४३-१४८ (भा.)
 - वान् ३/१९०
 - समुद्घात ३/४
 कषाय (रस) ६/१६३-१६७ (भा.)
 कसौटी ५/५२
 कांस्य ताल ५/६४
 कांतर-भक्त ५/१४०, १३६-१४६ (भा.)
 कानन ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 कापोत (लेश्या) ४/८; ६/६३, १६८, १६६; ७/६७-७३ (भा.), ६६, ७०
 - लेश्या ६/६३; ७/६९, ७०
 - लेश्यी ६/६३
 काम ६/८२, ६६, १४२, १४७, १५०; ७/१२७-१३१ (भा.), १५०-१५४ (भा.)
 - भोग ७/१३७
 - भोगी ७/१४५
 कामना ७/१२७-१४५
 कामी ५/६४; ७/१३८-१४१, १४३
 काय
 - करण ६/५, ६, ७, ९
 - प्रयोग ६/२६
 - योग ५/१३४, १३५; ६/५-१४ (भा.)
 - योगी ६/४७, ६३
 - वर्गणा ६/५-१४ (भा.)
 - स्थिति ५/४६, ४६-५० (भा.), २४८-२५३ (भा.)
 काया ३/१३५; ५/८३-८८, ११०, १११
 - का योग ५/११०, १११, १३४, १३५
 कायिकी ३/१३४, १३५; ५/१३४; ७/२८
 - क्रिया ५/१३४-१३९

कायिक प्रयोग ६/२४-२६ (भा.)
 कायिक प्रवृत्ति ५/११०, १११
 कायोत्सर्ग ३/३५, ३६
 कारक तत्त्व ६/१५, १६
 कारण ५/१०४-१०६ (भा.), १५०-१५३ (भा.), १६१-१६८ (भा.); ७/२२, २३
 कारित ७/२७, २८
 कार्बन आर्क बत्ति ६ आमुख
 कार्मण ५/५०
 - वर्गणा ५ आमुख; ६/३३, ३४
 - शरीर ६/२०-२३ (भा.)
 कार्य ५/१५०-१५३ (भा.)
 - कारण ५/१६१-१६८ (भा.)
 - कारण-भाव ३/१४०-१४२ (भा.)
 काल ३/१७, २१, ४३, १४९, १५०; ५ आमुख, १, ३, १६, २६, ६४, ६७,
 १६०-१६४ (भा.), १६६-१७४ (भा.), २२७-२३३ (भा.); ६/३०-३२ (भा.),
 ३३, ३४, १३२, १३५; ७ आमुख, ११७-११६, २०६, २०७, २०८, २१२-२१७
 (भा.)
 - कर ७/१२१, १२२
 - का प्रभाव ७/११७ (भा.)
 - का विभाग ५/२४८-२५३ (भा.)
 - की अपेक्षा ५/२०२, २०३, २०५, २०६; ६/५४, ५५,
 ५७, ५८, ६०, ५४-६३ (भा.)
 - की दृष्टि ६/५४-६३ (भा.)
 - कृत ५/१७५-१८० (भा.)
 - के दो प्रकार नैश्चयिक और व्यावहारिक ५/२४८-२५३ (भा.)
 - क्रम ६/२१, २३
 - खण्ड ३/१४०-१४२; ६/१३३, १३४
 - गणना ५/२४८-२५३ (भा.); ६/१३२
 - चक्र ५ आमुख; ६ आमुख १३३, १३४, १३३-१३४ (भा.);
 ७/११७-१२३
 - धर्म ५/१३९, १४१, १४३, १४५
 - परमाणु ५/१६०-१६४ (भा.)
 - प्रमाण ५/२४८-२५३ (भा.); ६/१३२
 - मर्यादा ५/१६६-१७४ (भा.), २४८-२५३ (भा.); ६/३३-३४
 (भा.)
 - मान ५/१६६-१७४ (भा.); ६/१३२, १३४; ७/२९-३५, ६७-
 ७३ (भा.)
 - मास ३/१७, २१, ४३, १०६; ७/१२१, १२२, २०६, २०७, २०९
 - लब्धि ६/३०-३२ (भा.)
 काल (मृत्यु) ३/११२
 कालातिक्रान्त ७/२४
 कालादेश ५/२०१-२०७ (भा.); ६/५४-६३ (भा.)
 कालावधि ३/१४३-१४८ (भा.), १४९, १५०; ५/१६६-१७२, २३१;
 ६/१८, १५१

कालिकोपदेश ७/१६१
 कालिकोपदेशिकी ७/१६१
 काष्ठमय पात्र ३/३३, ३६
 काहला (खरमुही) ५/६४, ६४ (भा.)
 किंकिच्चा ३/३०
 किंदच्चा ३/३०
 किंशरीरत्व ५ आमुख
 किंशुक (टेसू) पुष्प ३/११३
 किंदिणपडिरूवग (तापस-पात्र तुल्य पात्र)—देखें परिशिष्ट - २
 किमिच्छिय ५/१३६-१४६ (भा.)
 कीय ५/१३६-१४६ (भा.)
 कुक्षि ६/१३४
 कुच्छेज्जा (असार होना) ६/१३३, १३४
 कुटुम्बजामरिका ३/३३, ३३ (भा.) १०२
 कुडव ७/१५६
 कुणिमाहार ७/१२१, ७/१२१ (भा.)
 कुथित ६/१३३, १३४
 कुमारग्रह ३/२५८, २५८ (भा.)
 कुमार-श्रमण ५/७८-८२
 कुमुद ६/१३३, १३४
 कुमुदांग ६/१३३, १३४
 कुम्भ (राशि) ७/६२
 कुलत्थ ६/१३०, १२९-१३१ (भा.)
 कुल्माष ५/५१
 कुशलमूला ६/१-४ (भा.)
 कुस ६/१३५, १३५ (भा.)
 कुसुम्भ (धान्य) ६/१३१, १२९-१३४ (भा.)
 कूट ५/१८९-१८२-१९० (भा.)
 कूटस्थनित्य ७ आमुख, १६-१६ (भा.), ५८-६० (भा.)
 कूटाकार शाला ७/१५८, १५६
 कूटागारशाला ३/२९, २९ (भा.) ९८
 कूडागारशाला ७/१५८, १५९, १५८-१५९ (भा.)
 कृष्ण ६/१६७, १६३-१६७ (भा.); ७/६७-७३
 - कंद ७/६६, ६६ (भा.)
 - छिद्र ६/७०-११८
 - राजि ६ आमुख, ७०-११८ (भा.) ८९-९५, ९७, ९९-१०६,
 १०९, १५०
 - लेश्या ३/१८३; ४/८; ६/६३; ७/६७-६८
 - लेश्या ६/५४-६३ (भा.), १६८-१६९
 - वर्ण ६/१६३-१६७ (भा.); ७/१७०
 - विवर (Black hole) ६ आमुख, ७०-११८ (भा.)
 कृत ७/२७, २८
 कृत्या ३/१९७
 कृत्यागत ३/२०२, २०३, २०५, २०७

केलुट ७/६६, ६६ (भा.)
 केवल ३/४, १३४-१३९, १४३-१४८ (भा.), १९६, २६१; ५/१०८, १०६
 - ज्ञान ३ आमुख, ८६-८७; ५ आमुख, १०८, १०६, १६१-१६८;
 ७/६२, १४६
 - ज्ञानी ३/१५, १४९, १५०; ५/८३, ८८; ६/४५-६३ (भा.)
 - दर्शनी ६/४१, ५२
 - प्रवचन माता ७/१५६
 - ब्रह्मचर्यवास ७/१५६
 - संयम ७/१५६
 - संवर ७/१५६
 केवलि-मरण ५/१६५, १६६
 केवलिसमुद्घात ३/४; ६/३५-५१ (भा.); ७/१
 केवली ३/१४९, १५०; ५ आमुख, ६६, ६७, ६५-६७ (भा.) ६६, ७०, ७३,
 ७४, ७२-७५ (भा.), ८३-८८, ६४-६६, ६४-६६ (भा.), ६८-१०१, १०२-१०६,
 १०३-१०६ (भा.) १०८-१११, १०८-१०६ (भा.), ११५, १६१-१६८, २५४-२५७
 (भा.); ६/३६, १३४, १८७, १८८, १८७-१८८ (भा.); ७/३, १४६-१४६
 (भा.) १५७
 - का मन ५/१००-१०२ (भा.)
 - के उपासक ५/९६, ९४-९९ (भा.)
 - की उपासिका ५/९६
 - पाक्षिक ५/९४-९९, ९४-९९ (भा.)
 - की श्राविका ५/९६
 - के श्रावक ५/९६, ९४-९९ (भा.)
 केशाय ६/१३३, १३४
 कैवल्य ५ आमुख; ६/३०-३२
 कोटवाल ३/२४
 कोटाकोटि ६/३४, १३३, १३४
 कोटि ६/१२५
 - कोटि ६/१२५, १३३, १३४
 - पूर्व ६/३४
 - सहित ७/३४
 कोट्टक्रिया ३/३४ (भा.)
 कोठा ६/१३४
 कोडाकोडि ६/१३४
 कोदव (धान्य) ६/१३१, १२९-१३१ (भा.)
 कोदाल (वृक्ष) ६/१३५, १३९ (भा.)
 कोदूषक (धान्य) ६/१३१, १२९-१३१ (भा.)
 कोश ६/१३४; ७/२४
 कोष्ठ ६/१२९-१३१ (भा.)
 कोलस्थिग ६/१७१-१७३ (भा.)
 कोस ६/७५, १७३
 कौटुम्बिक ३/३४; ७/१७४, १७५, १८३, १८४, १६४, १६५, १६६
 कौतुक ३/३३; ७/१७६
 क्रमभावीपर्याय ६/१७४-१८२

क्रय-विक्रय ५ आमुख
क्रिया ३ आमुख १, १७, ४५, १३४-१३९(भा.), १४०-१४२, १४८; ५ आमुख
३१-४५, ८३-८८, १२८, १३४, १३५, १३४-१३५(भा.), १५०-१५३, २४८-२५३;
६ आमुख, २०-२३; ७ आमुख, २८, ६७, १५०-१५४
- और वेदना ३/१४०-१४२ (भा.)
- कांड ३/३८
- की विभिन्न अवस्थाएं ३/१४३-१४९(भा.)
- की सघनता, विरलता ५/१२८-१३२ (भा.)
- पञ्चक ३/१३४-१३९
- पद ३/४५, ११२; ५/१६१-१६८(भा.)
- पूर्वक ३/१४०-१४२(भा.)
- योग ६ आमुख
- वाद ५ आमुख
- वाही तन्त्रिका (Motor Nerve) ५/८३-८८(भा.)
- विशेष ३/१३४-१३९(भा.)
- प्रवृत्ति ५/८३-८८(भा.)
- वीर्य ६/३३-३४(भा.)

क्रीडा ३/२५७

क्रीत ५/१४०, १४२, १४४, १४६; ७/२५
- कृत ७/२५, २५ (भा.)

क्रोध ३/१७, ४५, ४६, १३४-१३९, २२२-२३०; ७/२१, २२, २५, १२६,
१५०-१५४, १६१, १८१, १६०, २०१, २०२

- कषायी ६/६३
- पिण्ड ७/२५
- विवेग ७/१११
- वेदनीय ७/१६१
- संज्ञा ७/१६१

कूर वृत्ति ७/११६

क्ष

क्षमा ३/५०, ११६, १२९

- याचना ३/११, ५०, ११६, १२९; ५/२०७

क्षय ३/३३, १४८; ५/६८-७१

क्षयोपशम ३/२२२-२३०; ५/१००-१०२ (भा.); ६/६४-६८(भा.);
७/१६१

क्षान्ति ७/११३-११६(भा.)

क्षायिक ५/१००-१०२(भा.)

क्षयोपशमिक ज्ञान ५/१६१-१६८(भा.)

क्षयोपशमिक भाव ३/२२२-२३०(भा.)

क्षार जल (वाले मेघ) ७/११७, ११७ (भा.)

क्षिति-शयन ७/२६-३५(भा.)

क्षीण ५/१०७-१३३(भा.); ७/२०, २१

- कषाय ७/४, ५
- भोगी ७/१४६-१४६(भा.)
- मोह ३/१४३-१४८(भा.); ५/१०७; ६/१-४(भा.); ७/

२०, २१

क्षीरविदारी (वनस्पति) ७/६६, ६६ (भा.)

क्षुधा वेदनीय ७/१६१

क्षेत्र ३/५३, ११९-१२२, १३०; ५/२४८-२५३; ६/७१, १८६; ७/२४

- अतिक्रान्त ७/२४, २४ (भा.)
- आदेश ५/२०१-२०७(भा.)
- की अपेक्षा ५/२०२, २०३, २०५, २०६
- जनित ६/१५, १६
- परमाणु ५/१६०-१६४(भा.)
- प्रमाण ६/१३२
- मान ६/१३३-१३४(भा.)
- सापेक्ष ५ आमुख
- स्थान आयु ५/१८१

क्षोभ ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.), १५४-१६३(भा.); ५/१५०-
१५३, १५०-१५३(भा.)

ख

खंजन राग ६/१-४ (भा.)

खर-परुष ७/११७, ११७-१२३ (भा.)

खरमुही—देखें काहला

खातिका ५/१८९, १८२-१९० (भा.)

खाद ७/११७, ११७ (भा.)

खण्डभेद ५/११२, ११३

खाद्य ७/८, ६, २२, २३, २४, २६-३५, १६३, २०३

खार ३/२५८, २५८ (भा.)

खुर ५/५३

खेचर ७/६६

खेदखिन्न ७/११४, ११६

ग

गंध ४/८; ५/५१-५४(भा.), ६४, १०७, १०६, १५०-१५३(भा.), १६०-१६४
(भा.), १७२, १७८, २०१-२०७; ६ आमुख, १३३, १३४, १६७; ७/५८-६०
(भा.), ६७-७३(भा.), १३६, १३७

गंधर्व नगर ३/२५३, २५३ (भा.)

गंधर्व-निनाद ७/२०५

गण्डिकानुयोग ४ आमुख

गंडमाणिया ७/१५९, १५८-१५९ (भा.)

ग्रन्थ ६ आमुख

ग्रन्थि ५/५७, ५८

ग्रन्थिक ५/१

गण का उपग्रह ५/१४७

गण का संग्रह ५/१४७

गणतन्त्र ७ आमुख

गणधर ३ आमुख, २४७; ४ आमुख; ५/६७; ७/१

गणनायक ७/१६६

गणना-काल ६ आमुख, १३२ (भा.)

गणनातीत काल ६ आमुख

गणना-पद्धति ७/१७३

गणाभियोग ७/१६४

गणित ६/१३२, १३३, १३४

- काल ६/१३२

- प्रमेय ६/१३३-१३४

- शास्त्र ६/१३३-१३४(भा.)

गति ३/१२०, १६४-१७१(भा.); ४/८; ५/३१-४५(भा.); ६२, १२४-१२६

(भा.); ६/५७, १५१, १५४; ७ आमुख, १, ४, ५, ९०-१५, २०, २१, ६७-७३, १५०-१५४(भा.)

, अधो ३/११९-१२६(भा.)

, उत्कृष्ट ३/३८, ४५, ११२; ६/७५, ९२

- उत्तर क्रिया ५/३१-४५

, उदीरणाजनित ५/३१-४५

, उद्धृत ३/३८, ११२

- का विषय ३/८२-८६, ८८

- के नियम ५/३१-४५(भा.)

- क्षेत्र ३/११९-१२६; ५/३१-४५

, चंड ३/३८, ११२

, चपल ३/३८, ११२

, छेक ३/३८, ११२

, जविनी ३/३८, ११२

, त्वरित ३/३८, ११२; ६/७५, ९२

, दिव्य ३/३८; ६/७५, ९२

, देव ३/३८

- नाम ६/१५१

- नाम कर्म ६/१५१

- नाम का निषिक्त ६/१५२

- नाम निधत्त ६/१५४

- नाम निधत्त आयुष्य ५/६२

- नामनिषिक्तायुष्य ६/१५१

- परिणाम ७/११, १२, १५

, यथारीति ५/३१-४५

, शीघ्र ३/३८, ११२

- शील ५ आमुख, ५१-५४(भा.), १५०-१५३(भा.); ७/१५६

- सिद्धान्त ३ आमुख

, सैही ३/३८, ११२

गमक ५/१४०, १६१-१६८(भा.); ६/१६५

गमन ६/५-१४

- मार्ग ३/१४३-१४८(भा.)

गम्य ५/२५४-२५७

गर्म ३/१७

- प्रत्यारोपण ५/७६, ७७

- महोत्सव ३/८६-८७(भा.)

- संहरण ५/७६, ७७, ७६-७७ (भा.)

- गर्भावक्रान्तिक मनुष्य ५/६२

गर्भज ७/३६-४२

- तिर्यञ्च पञ्चोन्द्रिय ५/२०८-२२८(भा.)

- पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक ५/२२२

- मनुष्य ५/२२२; ७/३६-४२(भा.)

गवेलक (गवेलय) ७/११७ (भा.)

गवेषणा ७/२२, २३

गवेषित ७/२५

गव्यूत ३/११९-१२६(भा.); ६/१३४

गव्यूति ३/११९-१२६(भा.)

गाढबन्धनबद्ध ७/१६५

गाढरूप ६/४, १-४ (भा.)

गुच्छ ७/११७, ११७ (भा.)

गुंजालिका ५/१८९, १८२-१९० (भा.)

गुंजावात ३/२५३, २५३ (भा.)

गाढीकृत ६ आमुख, १-४(भा.)

गिरिगृह ३/२६८, २६८ (भा.)

गिल्ली ३/१६४-१७१ (भा.)

गीत ३/४ (भा.)

गुण ३/५४; ५/१६०-१६४, १७२, १७५-१८०, २०३; ६/१७४-१८२; ७/२६-३५, १२१, १८१, १६०, २०४

- गुणी-भाव ६/१७४-१८२

- बन्धनबद्ध ७/१६५

- व्रत ७/२६-३५

- स्थान ३/१४३-१४८(भा.); ६/१५, १६, ३५-५१(भा.), १६२;

७/१०-१५(भा.), १०७-११२(भा.)

गुणांश ५/१६६-१७४(भा.)

गुणी ६/१७४-१८२(भा.)

गुप्त ७/४, ५

गुरु ३/३५, ३६; ६/१६३-१६७(भा.)

- त्वाकर्षण ६/७०-११८(भा.)

गुल्म ७/११७, ११७(भा.)

गूढ सूचना ४ आमुख

गृह ७/२६-३५

- आपण (दुकान) ६/७६, ६३

- पति ३/३२, ३३, १०१, १०२; ५/१२८-१३२(भा.)

- वास ३/२३१-२३९(भा.)

- स्थ ३/३६; ७/४, ५, २५

गेहा ६/१३७-१५० (भा.)

गोकिंलिज्ज ७/१५६, १५८-१५६(भा.)

गोत्र ३/४; ६/३३-३४, १५४

- कर्म ६/३३, ३४

गोत्रीय ५/३

गोधूम ७/१२९, १२९-१३१ (भा.)
 गोपुर ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 गोबर ५/५४
 गौण ५/२५४-२५७ (भा.)
 - रूप ५/२५४-२५७ (भा.)
 गौतम (गोत्र) ३ आमुख, ४, १४; ७/२१५
 ग्यारह-अंग ७/२२० (भा.)
 ग्रह ३/२५३ (भा.)
 - गर्जित ३/२५३, २५३ (भा.)
 - दण्ड ३/२५३, २५३ (भा.)
 - मुश्ल ३/२५३, २५३ (भा.)
 - युद्ध ३/२५३, २५३ (भा.)
 - शृंगारक ३/२५३, २५३ (भा.)
 ग्रहण ७/१६
 ग्रहणैषणा ७/२२, २३
 ग्रहणोचित ५/६४
 ग्रहापसव्य ३/२५३, २५३ (भा.)
 ग्राम ६/७७, १३६, १४८
 ग्रामानुग्राम ३/१०५
 ग्राम ७/२४
 ग्रीष्म ५/१६
 - ऋतु ७/६२, ६३
 - प्रदेश ७/६३
 ग्लान-भक्त ५/१४०, १३६-१४६ (भा.)
 ग्लानि ५/२०४

घ

घंटा ५ आमुख
 घट्टन ३/१४३-१४८ (भा.)
 घडी ६/१३३, १३४
 घन ५/६४
 - त्व ६/७०-११८ (भा.)
 - फल ६/१३३-१३४ (भा.)
 - वात ६/१३७-१५० (भा.)
 घनीभूत ६/१३४
 घनोदधि ६/१३७-१५० (भा.)
 घरोन्दे ५/१८२-१६० (भा.)
 घातिक कर्म ६/३३-३४ (भा.)
 घात्यकर्म ७/१०७-११२ (भा.)
 घ्राणेन्द्रिय ३/१९१; ५/६४; ७/१३६, १४२, १४४
 - विषय ३/२७९
 घ्राण-पुद्गल-विकिरण ६/१७१-१७३ (भा.)

च

चण्ड—देखें गति

चंडिविक्रय ३/४५, ४५ (भा.)
 चंद्रपरिवेश ३/२५३, २५३ (भा.)
 चक्रवाल ३/१७२-१८२ (भा.); ६/१५६
 चक्राकार गति ३/१८१
 चक्षु ३/२२२-२३० (भा.); ५/६४, ७२-७५; ७/१५२
 - इन्द्रिय ३/१६१; ५/६४, २३७, २४७; ७/१३६, १४५
 - इन्द्रिय-विषय ३/२७९
 - ज्ञान ३/२२२-२३० (भा.)
 - दर्शनी ६/४१
 - विक्षेप ३/११३, ११३ (भा.)
 - सापेक्ष ५/२३७-२४७ (भा.)
 चतुरिन्द्रिय ५/१८८, २२६, २४४, २४५; ६/६५; ७/३८, ४५, १४३, १४४,
 १५०-१५४ (भा.)
 चतुर्थ भक्त ७/२३१
 चतुर्दश गुणस्थान ५/६४-६६
 चतुर्दशपूर्वी ५/११२, ११३
 चतुर्दशी ३/१५२
 चतुर्भागिका ७/१५६
 चतुष्कोण ६/६०
 चतुष्पुटक ३/१०२
 चतुःप्रदेशी (शिक) स्कन्ध ५/१५३, १६३, १६६-१६८
 चतुःस्पर्शी ५/६४
 चपल— देखें गति
 चय ६/२०, २१; ७/१६५
 - उपचय ६/२०-२३ (भा.)
 चरम ३/७२, ७२ (भा.), ७३, १३१, १३४, १३९; ६/२०, ५१, ५२;
 ७/२, २४
 - उच्छ्वास-निःश्वास ५/२५७
 - कर्म ५/९८, ९९, ९४-९९ (भा.)
 - निर्जरा ५/९८, ९९, ९४-९९ (भा.)
 - बिन्दु ५ आमुख
 - भवस्थ ३/१३१, १३१ (भा.)
 - समय ५/९८, ९९, ९४-९९ (भा.)
 चरमान्त ६/१३७-१५०
 चरिका ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 चरित्र ३/९०
 चर्चा ७/२१२-२१७ (भा.)
 चर्म ५/५३
 चलन ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.), १५४-१६३ (भा.); ५/
 १५०-१५३, १५०-१५३ (भा.)
 चलनी ७/११८ (भा.)
 चवचव ७/२५
 चवला (आलिसंदग) ६/१३०, १२९-१३१ (भा.)
 चांदी की खान ३/२६८

चाक्षुक ६/३५-५१(भा.)
 चातुर्याम ५/२५६,२५७
 चार गतियां ५/६२ (भा.)
 चार द्वार वाले स्थान ३/४५
 चार भूत ५ आमुख
 चारित्र ३/१९२; ५/१६१-१६८(भा.)
 - मूढता ६/३३,३४
 - मोह ५/६८-७१(भा.); ६/६४-६८(भा.)
 - मोह की प्रकृति ५/६८-७१(भा.)
 - मोहनीय ५/७०
 चारित्र भावना ३/१५४-१६३(भा.)
 चिंतन ३/१७,११४ (भा.)
 चिकने ६/४,१-४ (भा.)
 चिकित्सा ७/२५
 - पिण्ड ७/२५
 चितवृत्ति का नियमन ३/२२२-२३०(भा.)
 चितिशक्ति ५ आमुख
 चित प्रलय ६ आमुख
 चित्ताहादक ३/३८,५१
 चित्रल ७/११९,११७-१२३ (भा.)
 घिल्लल ५/१८९,१८२-१९० (भा.)
 चिह्नपट ७/१७६,१७६ (भा.) १८५
 चीना धान्य (वरग) ६/१३१,१२९-१३१ (भा.)
 चुटकी (अच्छरानिवाए) ६/१७१-१७३ (भा.)
 चूर्णिका भेद ५/११२,११३
 चूर्ण ७/२५
 - पिण्ड ७/२५,२५ (भा.)
 - वर्षा ३/१६८,१६८ (भा.)
 चूर्णि ३/७३
 - कार ७/२४
 चूलिका ५/१८; ६/१३२,१३३,१३४
 चूलिकांग ५/१८; ६/१३२,१३३,१३४
 चेतन स्तर की क्रिया ३/१३४-१३९(भा.)
 चेतना ५/८३-८८; ७/१६१,२१७
 - बान् ७/१२७-१४५(भा.)
 - शून्य ७/१२७-१४५(भा.)
 चैतन्य ६/१७४,१७४-१८२ (भा.); ७/१२७-१४५(भा.),१५८,१५८
 - मय ७/१५८,१५९
 चौक ३/४५
 चौबीस दण्डक ५/२०८-२२४ (भा.), २२५-२३३ (भा.)
 चौराहो ३/४५
 च्यवन ३/५३,७५
 च्यवित ७/२५,२५ (भा.)
 च्युत ७/२५,२५ (भा.)

छ

छठा अर ५ आमुख
 छत्र-आवरण ५ आमुख
 छत्रगृह ३/२९
 छत्रस्थ ५ आमुख, १,६४-६६,६५-६७ (भा.)६८-७४,७२-७५(भा.)
 ६६,६६,६४-६६ (भा.),११५,१६१-१६८,१६१,१६२,१६७,१६८; ७/१,
 १४६,१५६
 - अवस्था ३/१०५
 - तीर्थकर ३/१५
 - मरण ५/१९१,१९२,१९७,१९८
 छर्दित ७/२५(भा.)
 छवि ७/११९(भा.)
 छविच्छेद ५/७७
 छेकी—देखें गति
 छेदकर ३/१०७
 छेदन ३/१७,२१,४३; ६/२२
 छेदागणित ६/१३३-१३४(भा.)
 छोटे शंख ५/६४

ज

जड़ण वेग ३/११३,११३(भा.)
 जगत ५/२५४-२५७(भा.)
 जगश्रेणी ६/१३३-१३४(भा.)
 जघन्य परीत असंख्यात ६/१३३-१३४(भा.)
 जघन्य युक्त असंख्यात ६/१३३-१३४(भा.)
 जनपद ३/२७
 - विहार ७/२२१
 जनपदाग्र ३/२२८,२३०,२३७,२३९
 जनसमूह ३/२९
 जन्म ३/४,१७; ५/५७,५८,६०,१४७; ६/३३,३४,१२०-१२८(भा.),१५१;
 ७/१
 - जात ३/१६४-१७१(भा.)
 - मरण ६/३०-३२,३५-५१(भा.),१५४
 - स्थल ७/१
 - स्थान ३/१७
 जन्मोत्सव ३/८७
 - महोत्सव ३/८७
 जम्बूद्वीप ३/१००,११२,११४,१४६,२४९,२५१,१५३
 जयन्ती ६/३०-३२
 जल ५/५१-५४(भा.); ६/७०,७१,८७,१०४,१५५,१५६; ७/६२,६३
 - क्षेत्र ६ आमुख
 - यान ६ आमुख
 - स्तर ६/१५५,१५६
 जलात्मक ५/२३५
 जलीय ५ आमुख

जविनी—देखें गति

जाति ५/५७, ५८; ६/१५१, १५४; ७/६७-७३(भा.), १०६

- गोत्र का निषिक्त ६/१५४
- गोत्रनियुक्त ६/१५४
- गोत्र नियुक्त्यायुष्क ६/१५४
- गोत्र निषिक्त्यायुष्क ६/१५४
- नाम ६/१५१, १५४
- नाम कर्म ६/१५१
- नाम का निषिक्त ६/१५२, १५४
- नाम गोत्र का निषिक्त ६/१५४
- नामगोत्र नियुक्त ६/१५४
- नामगोत्र नियुक्त्यायुष्क ६/१५४
- नामगोत्र निषिक्त्यायुष्क ६/१५४
- नाम निधत्त ५/६२; ६/१५२-१५४
- नाम नियुक्त ६/१५४
- नाम नियुक्त्यायुष्क ६/१५४
- नाम निषिक्त्यायुष्क ६/१५३, १५४
- नाम निषिक्त्यायुष्य ६/१५१

जादुगरी विद्या ३/१९०

जादू-टोना ३/१९७

जानता-देखता ३/१५४-१५६, २२२-२३९; ५/६६, ६७, ६४, ६५, ६८, ६९, ६४-६६ (भा.), १०१, १०२, १०५, १०६, १०८; ६/१६८, १६९, १८७

जाल ५/५७, ५८

- ग्रन्थि ५/५७, ५८

जिन ६/१-४; ७/३, १५६

जिनेन्द्रमुद्रा ३/१०५

जिह्वा-इन्द्रिय ७/१३६, १४२, १४४

जीर्ण ७/११४, ११६

जीव ३/४, १४५, १४८, १४९, १५०, १६४-१७१(भा.), १८३-१८५(भा.);

५ आमुख, ४६-५४(भा.), ५७-५९, ७०, ७१, ७५, ११६-११८, १३३-१३५,

१५०-१५३, २०६-२१३, २१५-२१७, २२५, २२७-२३१, २३६, २४०,

२४३-२४५, २४८-२५३, २५४-२५७; ६/७-९, १३-१६, १७, २५, २६, २८,

२९, ३१, ३२, ३०-३२, ५४, ५५, ५७, ५८, ६०-६८, ८७, ८८, १०४, १०५,

११६, १२५, १४२, १४७, १५२-१५४, १५६, १७१-१७६, १७४-१८२ (भा.)

१७८, १८३, १८४, १८६, १८८; ७ आमुख, १-३, ६, ७, १०-१५, २५, २७,

३६, ३६-४१, ४३,

४५, ४७, ४८, ५०, ५२-६०, ६२-६६, ६७, ६९, १०१-१०८, ११०-११६, ११६,

१२६, १३०, १३४, १३५, १३८-१४५, १५८, १५९, १६१, १६२, १६१, १६३,

२२०, २२५-२२७

- काय ७/२१३, २१८
- का वीर्य ६/५-१४
- का शरीर ५ आमुख
- का सादित्व ६/३०-३२ (भा.)
- की प्रवृत्ति ५/१८२-१९० (भा.)

- घन ५/२५५, २५४-२५७ (भा.)

- त्व ७/१५८, १५९

- द्रव्य ५/१११

- पद ५/६८-७१

- पर्याय ६/३०-३२

- प्रदेश ३/१४३-१४८ (भा.); ५/६४-६६

- प्रादोषिकी ३/१३७

- वाद ६/३०-३२

- वीर्य ६/५-१४

जीवन ६/१७४-१८२; ७/२, १०१

- काल ७/१९१

- क्रिया ७/१

- चरित ४ आमुख

- चर्या ५ आमुख

- प्रणाली ७/६४, ६५

- व्यवहार ३/१४३-१४८ (भा.)

- शून्य ७/२०२

जीवनी-शक्ति ३/१७

जीवा ५/१३४, १३५, १३४-१३५ (भा.)

- प्रत्यञ्जा ५/१३४-१३५ (भा.)

जीवाजीवात्मक ५/२३५, २३६

जीवास्तिकाय ७/२१३, २१८, २१९

जुराना ७/११४, ११६

जूं ६/१२५, १७१

जूरारण ३/१४३-१४८ (भा.)

जैन ३/१३४-१३९(भा.); ६/१८३-१८५(भा.)

- आगम ५/२५४-२५७(भा.); ६/१३३-१३४(भा.)

- आचार ५ आमुख

- कर्म-शास्त्र ५/११६-१२१(भा.)

- खगोल ५ आमुख

- ग्रन्थ ६/१३३-१३४(भा.)

- ज्योतिष ७/६२(भा.)

- तत्त्वविद्या ६ आमुख

- दर्शन ३ आमुख, २५०-२७७(भा.); ५ आमुख, ५१-५४

(भा.), ५७, ५८, ८३-८८ (भा.), १५०-१५३, १५४-१५९, १९१-१९९(भा.);

६/३०-३२, १८३-१८५; ७ आमुख, १०-१५(भा.), १६-१९(भा.), ५८-

६०(भा.), ९३-९५(भा.), १२७-१४५(भा.)

- दार्शनिक ५ आमुख, ९४-९९(भा.)

- धर्म ३ आमुख १३४-१३९(भा.)

- न्याय ५/६४

- परम्परा ५/९४-९९(भा.)

- प्रमाण मीमांसा ५/९४-९९(भा.)

- भूगोल ६/१५५(भा.), १६०(भा.)

- मनोविज्ञान ७/१६१

- साहित्य ५ आमुख
 जैनेतर ६/१३३-१३४(भा.)
 ज्ञात ७/१७३, १८२
 - अवस्था ७/१०६
 - व्य ३/६
 ज्ञाता ६/१६८, १६९
 ज्ञाति ३/३३, ३३(भा.)
 ज्ञान ३ आमुख, ९५, १९२, २२२-२३०(भा.), २३१-२३९(भा.); ४
 आमुख, ५ आमुख ६४, ६७, १००-१०२, १०८-१११, ११०-१११(भा.),
 १३६, १३७, १६१-१६८; ६/३३, ३४, ६३, १३३, १३४, १६८, १६९,
 १७१-१७३; ७ आमुख, २७, २८, १५०, १५४
 - दर्शन ६/१६८, १६९, १६८-१६९(भा.)
 - भावना ३/१५४-१६३(भा.)
 - मीमांसा ६/३३, ३४; ७/१२७-१४५(भा.)
 - राशि ६ आमुख
 - शक्ति ७/१५०-१५४(भा.)
 - वाही तन्त्रिका (Sensory nerve) ५/८३-८८(भा.)
 ज्ञानात्मक ५/१००-१०२(भा.), १०३-१०६(भा.), १०६; ७/१६१
 - क्रिया ५/८३-८८(भा.)
 - प्रवृत्ति ५/८३-८८(भा.)
 - मन (भाव मन) ५/८३-८८(भा.)
 ज्ञानावरण (कर्म) ३/२२२-२३०(भा.); ५/१००-१०२; ६/२०-२३,
 ३३, ३४, ३५-५१(भा.), १६२; ७/१०७-११२(भा.), १६१
 ज्ञानी ६/२०, ५२, ५४-६४(भा.), ७/२०, २१
 ज्ञानेन्द्रिय ५/१०८-१०९(भा.)
 ज्ञानोत्पत्ति-उत्सव ३/८७
 ज्ञानोन्पाद-महोत्सव ३/८६, ८७
 ज्ञानोपयोग ७/१६१
 ज्ञेय ३ आमुख; ५/१६१-१६६(भा.)
 ज्योतिरस ३/४, ४(भा.)
 ज्वार भाटा ६/१५५-१६०(भा.)

झ

झंझावात ३/२५३, २५३(भा.)
 झल्लरी ५/६४, ६४(भा.)
 झांझ ५/६४
 झाम-देखे दग्ध
 झालरा ५/६४

ट

टंक ५/१८९, १८२-१९०(भा.)
 टीले (उत्थल) ७/११७, ११७-१२३(भा.)
 टोलगति ७/११९, ११७-१२३(भा.)

ड

डमर ३/२५८, २५८(भा.)

डिंब ३/२५८, २५८(भा.)
 डूगर (डोंगर) ७/११७, ११७-१२३(भा.)

ढ

ढक्का ५/६४
 ढोल ५/६४

ण

णवि ५/३-१२(भा.)
 णहार (स्नायु) ५/१३४, १३५
 णिस्सेसाए ३/७३

त

तंजोरी वीणा ५/६४
 तंतुगय ६/२०-२३(भा.)
 तंत्री ३/४
 तटवर्ती ५/३१-४५(भा.)
 तत ५/६४
 तत्त्व-चिन्तन ७/५८-६०(भा.)
 तत्त्व-चर्चा ५/२५४-२५७(भा.)
 तत्त्वज्ञान ६ आमुख
 तत्त्व-विद्या ७ आमुख
 तत्त्वार्थभाष्यकार ३/१४३-१४८(भा.); ६/१-४(भा.)
 तत्पाक्षिक (तत्पक्खिए) ३/२५२; ५/९४-९९(भा.)
 तत्रगत ६/१६३-१६७
 तथागति परिणाम ७/१०-१५(भा.)
 तथाभाव ३/२२२-२३०(भा.)
 तथारूप ३/३०; ५/१२४-१२७; ७/८, ९
 तथाविध पुद्गल ५/१११
 तदेजति ३ आमुख
 तत्रेजति ३ आमुख
 तद्भक्ति (तब्भत्तिए) ३/२५२
 तद्भार्य (तब्भारिय) ३/२५२
 तद्दरूप ५/५१-५४
 तनु ७/२०, २१
 - भाव ६ आमुख
 तन्त्रशास्त्र ३/१०५
 तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) ५/८३-८८(भा.)
 तन्मय ५/५१-५४(भा.)
 तप ३/१०५, १५१, १५३, १५४-१६३(भा.), २३१-२३९(भा.);
 ५/८५, २०७; ६/१-४(भा.); ७/२६-३५(भा.)
 - कर्म ३/१७, ३६, १०४-१०५; ७/१६३, २२०
 - साधना ३/२१, ३३, १०२
 - स्या ३/७६, १३४-१३९(भा.); ५/२०१
 - स्ती ३/३३, ३५, ३६
 - तपोबल ३ आमुख, ३०

तम ६/८६
 - तमा पृथ्वी ५/२१६; ६/१३७-१५०(भा.)
 तमस्काय ६ आमुख, १,७०,७१,७२-७८,८०,८२-८८,१५०,७०-११८
 (भा.)
 तमःप्रभापृथ्वी ५/६२; ६/१३७-१५०(भा.)
 तमा पृथ्वी ५/२१६
 तमोमय ५/२३७-२४७(भा.)
 तरच्छ—देखें परिशिष्ट-१ (ग)
 तर्क ३ आमुख, ३८
 तलवर (कोटवाल) ७/१६६
 तसिय—देखें परिशिष्ट - २
 तहेव (चिन्तन के क्षण में) ३/११४
 तांबे की खान ३/२६८
 तात्त्विक चर्चा ५/२५४-२५७(भा.)
 तात्त्विक मूढ़ता ६/३३-३४(भा.)
 तादात्म्य ३/३८
 तानपूरा ५/६४
 ताप-क्षेत्र ५/३-१२; ७/२४
 तापमान ६/७०-११८(भा.)
 तापस ३/३६, १०४, १०७; ७/१६१
 - परम्परा ३/३३
 - पर्याय ३/४३; ७/१११
 - पात्र ७/१८६
 - लिंग ३/४५
 तारतम्य ६/१-४(भा.)
 तार्किक रूप ३/१६४-१७१(भा.)
 ताल ३/४
 तिरछा (तिर्यग)
 - क्षेत्र ५/६४
 - गति ३/११९-१२६(भा.), १२०-१२२, १६४-१७१(भा.)
 - दिशा ३/३८, ११२; ४/४; ६/७२
 - योनिक ५/६२, १२४-१२७, १८५, १६०; ६/३२; ७/१८१, १६०
 - वर्ती ५/६४
 - लोक में ३/४, ५, १४, २२, ८५, ८६, ११२, ११४, ११५, १२०-
 १२२, २५१
 तिगिञ्छकूट ३/११२
 तिप्पावण—देखें परिशिष्ट - २
 तिराहा ३/४५
 तिलक ३/३३; ७/१७६
 तिर्यञ्च ५/१८५; ६/६४-६८(भा.), १३२, १७४-१८२(भा.); ७/४३-५३(भा.),
 ५८-६०(भा.), ६३-६५(भा.)
 - गति ५/६२, १२४-१२७(भा.), २४८-२५३(भा.)
 - षञ्चेन्द्रिय ५/२३७-२४७(भा.); ६/५४-६३(भा.)
 - योनि ७/१२१-१२३

तिल ६/१३०, १२९-१३१(भा.)
 तीन दिन का उपवास—देखें अष्टमभक्त
 तीर्थ ३/७३
 - प्रवर्तन, ५ आमुख
 तीर्थकर ३/८६, ८७, ९५; ५/८५, ६४-६६(भा.), २५४-२५७(भा.)
 तीव्र विपाक ७/३६-४२(भा.)
 तीसभक्त ३/२१
 तीसरी पृथ्वी ३/८३-८४(भा.)
 तृतीयान्त ५/१६१-१६८(भा.)
 तुरियाए (त्वरित गति) ३/३८
 तुलनात्मक अध्ययन ६/१५, १६(भा.)
 तुला (राशि) ७/६२
 तृण ७/११७
 - वनस्पतिकायिक ७/११७
 - हस्तक ३/१४८, १४३-१४८(भा.)
 तेजस् ५/५०; ६/६३; ७/६७-७३(भा.)
 - काय ५/१८३
 - कायिक ३/१६४-१७१; ६/११६; ७/१४२
 - वी ३/३२
 - लेश्या ३/१८५, १८३-१८५(भा.); ७/७१, २३०
 - लेश्यी ३/१८४, १८५; ६/५४-६३(भा.)
 तेतली (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५
 तेरापंथ ६/२०-२३
 तेला ३/१०५; ७/१६४
 - तेला ३/२१
 तैजस ५ आमुख; ६/६३
 - वर्गणा ५ आमुख
 - शरीर वर्गणा ६/३३-३४(भा.)
 - शरीरी ६/५४-६३(भा.)
 - लेश्या ६/६३
 त्यक्त ७/२५
 त्याग ७/८, ६, २६-३५(भा.), १४६-१४६(भा.)
 त्यागी ७/१४६-१४६(भा.)
 त्वरित—देखें गति
 त्रपु—आकार (तडयागरा)
 - देखें रंगे की खान
 त्रस ७/६, २८, १५०
 - काय ५/१८३, १८४, १८७; ६/८८, १०५
 - कायिक ७/१७
 - जीव का शरीर ५ आमुख
 - प्राण ७/६
 - प्राण जीव ५/५३
 - रेणु ६/१३४
 त्राटक ३/१०५

त्रिकोण ६/६०

त्रिज्या ६/१३३-१३४(भा.)

त्रिकोणाकार - आसन ३/२०५

त्रिपदी ३/११२

- का छेद करता है ३/११२(भा.)

- छेद ३/११२

त्रिप्रदेशात्मक ५/१६५-१६८

त्रिप्रदेशिक स्कन्ध ५/१५२, १६२, १६३, १६६-१६७, १७५-१८

त्रिभाग ३/२५४, २६०

त्रिन्द्रिय ५/२४३; ७/१४२, १५०-१५४

- तिर्यग्योनिक ५/६२

त्रुटित ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४

त्रुटितांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४

थ

थिल्ली—देखें परिशिष्ट-२

द

दंड ३/४, ३५, ३६; ६/१३४

- नायक ७/१६६

दंडक ५/६१, ६८-७१, १२१; ६/६३, ६४-६८, १५१-१५४, १७७, १८०, १८२;

७/१, २, १८, १९, ५३, ५४, १०३-१०५, १६०, १६१

दक्षिण ५/३, ५, ६, १४

- गोलार्ध ५/३-१२

- भाग ३/२४९, २५३, २५६

दक्षिणापथ ३/१००

दक्षिणायन ५/३-१२, १७

दक्षिणार्द्ध ५/४, ६, १३, १६, १७, १९, २२, २३, २५, २७

दाघ (ज्ञाम) ५/५३; ७/११९

- अस्थि ५/५३

- खुर ५/५३

- चर्म ५/५३

- नख ५/५३

- बीजभाव ६ आमुख

- भाव ६ आमुख

- रोम ५/५३

- सींग ५/५३

दत्ति ७/२६-३५

दाधि ३/३३; ७/१७६

दर्शन ३/९५, ११२; ५/५१-५४, ६७, १०८, १०९, १६१-१६८(भा.),

६/३३, ३४, ३५-५१(भा.), १६८, १६९, १८३-१८५, १८८, ७/१०-१५(भा.)

- का अविपर्यास ३/२३३, २३६, २३९

- का विपर्यास ३/२२४, २२७, २३०

- भावना ३/१५४-१६३(भा.)

- मोहक्षपक ६/१-४(भा.)

- युग ३/१६४-१७१(भा.); ७/१२७-१४५(भा.)

- विपर्यय ३/२२२-२३०(भा.)

- विपर्यास ३/२२४, २२७, २३०

दर्शनावरण ५/७४, १००-१०२; ६/३३, ३४, ३५-५१(भा.); ७/१६१

दर्शनी ६/२०, ५२

दर्शनोपयोग ७/१६१

दशमभक्त ७/२३१

दशमलव ६/१३३, १३४

दस कल्प ५/२५४-२५७

दान ३/३०; ५/१४८, ७/११३-११६(भा.), १६३

दानामा ३/१०२

दायक ७/२५

दार्शनिक ६/३०-३२(भा.), १७१-१७३(भा.), १८३-१८५(भा.); ७/१६-१६(भा.)

- जगत् ७ आमुख

- साहित्य ५/६४-६६(भा.)

दिक्(म्) ५ आमुख

- दाह ३/२५२

- मूढ ३/२२२-२३०(भा.)

- व्रत ७/३५

दिगम्बर ६/१३३, १३४; ७/१

- परम्परा ७/१, २९-३५(भा.)

- साहित्य ३/८६-८७(भा.)

दिट्वाभट्ट ३/३६

दिन ५ आमुख, ४-१२, २२, २५, २६, २३७, २३८, २५४; ६/६२

- रात ५/२२२; ६/१३२, ७/२६-३५(भा.)

दिवारात्रिभोजन ७/२४

दिव्य ७/२०५

- देव ऋद्धि ७/२०६

- देवगति ३/३८

- देव द्युति ७/२०६

- देव सामर्थ्य ७/२०६

- नाट्यविधियां ३/३८, १२९

- भोग ३/२७२-२७७

- शक्ति ३ आमुख

दिशा ३/१७०; ५/६४, ६७, ८८

- मूढ ३/२२२-२३०(भा.)

- मोह ३/२२२-२३०(भा.)

- सूचक यंत्र ६ आमुख

दीक्षा ३/३५, ३६, ८६-८७, १०५, १४९, १५०; ५/७८-८२(भा.)

- पर्याय ३/७६, १०५; ५/१४७; ७/१६१

दीक्षित ३/३५, ३६; ५/७८-८२, २५४-२५७(भा.)

दीपचंपक (दीये का ढक्कन) ७/१५९, १५८-१५९(भा.)

दीर्घ आयुष्य ५/१२४, १२४-१२७(भा.)

दीविय—देखें परिशिष्ट-१-ग

दुःख ६/५-१४, १७१-१७३, १८४, १८५, १८८; ७/१६, १७, १९, ३६-४२, १०७-११२, ११३-११६, ११९, २०२, २१०, २३२
 - उपदर्शन ६/१७१-१७३ (भा.)
 - की परिभाषा ७/१६० (भा.)
 - द ७/१६२ (भा.)
 - रूप ७/२२४, २२६
 - वाद ६/१८३-१८५ (भा.)
 - वादी ३/१४०-१४२ (भा.); ६/१८३-१८५ (भा.)
 दुःखात्मक ६/५-१४
 दुःखानुबन्धी ७/११९
 दुःखापन ३/१४३-१४८
 दुःखी ७/१६, १७, १९, ११४-११६ (भा.)
 दुःषम-दुःषमा ६/१३४; ७ आमुख, ११७, ११७-१२३ (भा.)
 दुःषम-सुषमा ६/१३४
 दुःषमा ६/१३४
 दुःसह ५/१३८
 दुन्दुभि ५/६४
 दुर्गहो ३/४३
 दुर्गध ६/१६३-१६७ (भा.)
 दुर्गम ५/१३८
 दुर्बल शरीर वाला ७/१४६-१४९ (भा.)
 दुर्भिक्षभक्त ५/१४०, १३९-१४६ (भा.)
 दुर्भूत ३/२५८
 दुर्लभ बोधिक ३/७२, ७३
 दुर्वृष्टि ३/२६३
 दुष्प्रत्याख्यात ७/२७, २८, २७-२८ (भा.)
 दुष्प्रत्याख्यानी ७/२८
 दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया ५/१३४, १३५
 दुष्प्रयुक्तकायिकी ३/१३४-१३९; ५/१३४, १३५
 दूत ७/१६६
 दूती ७/२५ (भा.)
 - पिण्ड ७/२५ (भा.)
 दूषित ७/२२, २३, २२-२३ (भा.)
 दूसरा अर ५ आमुख
 दृश्य जगत् ३ आमुख
 दृष्टान्त ३/१४३-१४८ (भा.)
 दृष्टाभाषित ३/३५, ३६
 दृष्टि (नय) ३/१२७, १२८, १३४-१३९ (भा.), २२२-२३० (भा.); ५/२०१-२०७ (भा.), २५४-२५७ (भा.); ६/५२, ६३, ६४
 दृष्टिकोण ३/२२४, २२७, २३०, २३३, २३६, २३९
 दृष्टि प्रतिघात ३/११३
 दृष्टि-विन्यास ३/४७
 दृष्टिवादोपदेश ७/१६१
 दृष्टिवादोपदेशिकी ७/१६१

देव कर्तृत्ववादी ३/२५०-२७७ (भा.)
 देवकूल ५/१८२-१९० (भा.)
 देवगति ३/३८; ५/६२, १२४-१२७ (भा.)
 देव-तमिस्र ६/८६
 देववाद ३/२५०-२७७ (भा.), २६८
 देवव्यूह ६/८६
 देवारण्य ६/८६
 देवान्धकार ६/८६
 देवभाषा ५/६३
 देवानुप्रिय ३/३८, ४०, ४६, ५०, १०९-१११, ११६, १२८, १२९; ५/८१, ८४, ८८, २०४; ७/१७४, २००, २०६, २१६, २१७
 देश ५/१५१-१५३, १६५-१६८; ६/७२
 - उत्तरगुण ७/२९-३५
 - उत्तरगुणप्रत्याख्यान ७/३३, ३५
 - उत्तरगुणप्रत्याख्यानी ७/५२, ५३, ४३-५३ (भा.)
 - तः ७/२९-३५
 - पौषध ७/२९-३५
 - मूलगुणप्रत्याख्यान ७/३०, ३२
 - मूलगुणप्रत्याख्यानी ७/४३, ४४, ४६, ४७, ४९-५१, ४३-५३ (भा.)
 - विरत ७/३६-४२
 - व्रत ६/६४-६८
 देशावकाशिक ७/३५
 देशी क्रियापद ३/११२, १४३-१४८ (भा.)
 देशी धातु ३/४५
 देशी पद ३/४९
 देशी भाषा ७/१५८-१५९ (भा.)
 देशी शब्द ३/३५ (भा.), ३६ (भा.), ४५ (भा.), ११२ (भा.); ७/१८१ (भा.), १८६ (भा.)
 - कोश ७/१५८-१५९ (भा.)
 देह-परिमाण ७ आमुख
 देह-परिमाणत्त्व ७ आमुख
 देहधारी ७/५८-६० (भा.)
 दो आयुष्य ५/५७
 दो-दो दिन का उपवास ३/१७, ७६
 दो प्रकार के क्षेत्र
 - समय क्षेत्र ५/२४८-२५३ (भा.)
 - समयातीत क्षेत्र ५/२४८-२५३ (भा.)
 दोष ७/२२, २३, २२-२३ (भा.), २५, २५ (भा.)
 द्युति ३/२३०, २२२-२३० (भा.), २३९
 द्रव द्रव्य ५/५१
 द्रव्य ५ आमुख, ५१-५४ (भा.), ११०, १११, १५०, १५३, १६०-१६४ (भा.), १८३, १९१-१९८ (भा.), २३५, २३६, २५५-२५७ (भा.); ६/१७४-१८२ (भा.); ७ आमुख, २६-३५ (भा.), ५८-६० (भा.), ६३-६५ (भा.)

- अवमोदरिका ७/२४
- इन्द्रिय ५/१०८-१०९
- की अपेक्षा ५/२०२, २०३, २०५, २०६
- त्व ७/५८-६०
- परमाणु ५ आमुख ५/१६०-१६४(भा.)
- प्रमाण ६/१३२
- मन ५/१००-१०२(भा.)
- मान ६/७०-११८
- राशि ६/१५१; ७/५९
- लेश्या ३/१८३-१८५; ६ आमुख; ७/६७-७३(भा.)
- स्थान आयु ५/१८६

द्रव्य (पुद्गल) ३/१८३-१८५

द्रव्य (काय वर्गणा प्रयोग) ५/१११

द्रव्यों के समुदाय ५/२३५, २३६

द्रव्यादेश ५/२०१-२०७

द्रव्यार्थता ७/५६

द्रव्यार्थिक नय ५/२५४-२५७(भा.); ७/६३-६५(भा.)

द्रह ३/१४८

द्वात्रिंशिका ७/१५६

द्वादश भक्त ७/२३१

द्विचन्द्र-दर्शन ३/२२२-२३०(भा.)

द्वितीयान्त ५/१६१-१६८(भा.)

द्विघापताक ३/१७०, १६४-१७१(भा.)

द्वि (पूर्ण) पर्यस्तिका-आसन ३/२०५

द्वि (पूर्ण) पर्यकासन ३/२०८

द्विप्रदेशिक (प्रदेशी) स्कन्ध ५/१५१, १६१, १६३, १६६-१६८, १७६, २०१-२०७

द्विभाग-प्राप्त ७/२४

द्विविधता ५/१६१-१६८(भा.)

द्रीन्द्रिय (जीव) ५/१८७, २२०, २२५-२३३(भा.); २३७-२४७(भा.); ६/१२६;

७/१४२, १५०-१५४(भा.)

- आवास ६/१२६

- तिर्यग्योनिक ५/६२

द्वीप ३/८६, ८७, १००, ११२, ११४, ११६, २४९; ६/७१, ७२, ७५,

६२, १३५, १५६, १६०, १७३

- समुद्र ३/८६, ११२, ११४, ११५

द्वेष ७/२२, २३

ध

धन ३/३३

धन (राशि) ७/६२

धनुष ६/७५, १३४, १७३

धनुःपृष्ठ ५/१३४, १३५

धन्य ३/३६

धर्म ३/१३४-१३९; ५/७८-८२, ८३, २५६; ६/१३२, ७/२२०, २२२

- शासन ३ आमुख

- संज्ञा ७/११९

धर्माचरण काल ६/१३२

धर्माचार्य ७/२०३, २१६

धर्मास्तिकाय ७/२१३, २१६, २१८, २१९

धर्मोपदेश ७/२१३

- क ७/२०३, २१६

धातु ३/४५

धात्री ७/२५

- पिण्ड ७/२५

धान्यों की योनि और स्थिति ६/१२९-१३१(भा.)

धारणा ३/३९

धार्मिक ३/३०, ३८

धूम ७/२२, २३, २५

- मुक्त ७/२३

- प्रभा ६/१३७-१५०

- प्रभा पृथ्वी ५/६२, २१६

धूमिका (महिका) ३/२५२

ध्यान ३/४, ३८-४०(भा.), १०५, १०९; ५/५१-५४(भा.), ८३-८८(भा.);

६/२०-२३(भा.), ७/१४६-१४९(भा.)

- कोष्ठ ५/८५, २०१

- पद्धति ३/१०५

ध्यानात्मक वीर्य ७/१४६-१४९

ध्यानान्तरिका ५/८५, ८६, ८३-८८(भा.)

धूलि-विकिरण ३/११२

ध्रुव सिद्धान्त ५/१५०-१५३

ध्वंस ६/२२

न

नंदीश्वर द्वीप ३/८६-८७

नक्षत्र ३/८६-८७

नख ५/५३

नगर ३/११२, १३३, १८८, १८९, २२२, २२४, २२५, २२७, २२८, २३०,

२३१, २३३, २३४, २३६, २३७, २३९, २७२, २७९, २८०; ५/२३५, २३६;

६/१८, १७१

- की तत्त्व-परक व्याख्या ५/२३५, २३६(भा.)

नगरी ३/२२२, २२४, २२५, २२७, २२८, २३०, २३१, २३३, २३४, २३६,

२३७, २३९

नगाड़ा ५/६४

नपुंसक ६/३५, ३६

- वेदक ६/५२, ६३

- वेदी ६/५४-६३(भा.)

नमोऽस्तु ३/३५, ३६

नय ३/१४०-१४२(भा.); ५/१०८, १०९, १८१, २०१-२०७(भा.); ६/६३,

७/२७, २८, ६३-६५(भा.)

- दृष्टि ७ आमुख

नयुत ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 नयुतांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 नरक ३ आमुख, ८४, १६४-१७१(भा.); ५/२३७-२४७(भा.); ६/१-४
 (भा.), ६४-६८(भा.), १३२, १५१-१५४(भा.), १७४-१८२(भा.);
 ७/५८-६०(भा.), ६७-७३(भा.), ६३-६५(भा.), १२१-१२३(भा.), १८१, १६०
 - आयुष्य ५/१२४-१२७(भा.)
 - आवास ६/१२२
 - गति ५/६२, १२४-१२७(भा.), १४८-१५३(भा.); ६/१५१
 - जीव ३/९२
 - पृथ्वी ५/२०८-२२४(भा.), २३७-२४७(भा.)
 - भूमि ३/८४; ६/१६
 - लोक ५/१३७, २४८-२५३(भा.)
 नलिन ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 नलिनांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 नवकोटि (परिशुद्ध) ७/२५
 नवगुणोपेत ५/५१-५४(भा.)
 नाट्य-विधियां (बत्तीस प्रकार की) ३/३८, १२९
 नाट्य-शास्त्र ५/६४
 नाड़ी-तन्त्र ७ आमुख
 नानात्व ४/५
 नाभि ३/४
 नाम ६/३३, ३४, १५१
 - कर्म ६/३३, ३४, ३५-५१(भा.), १५१
 नारक ६/५-१४, ६३, १७४-१८२(भा.); ७/१०३-१०५(भा.)
 नारकीय ३/८४; ७/१६२
 - जीवों की वेदना ३/८४, ९२; ७/१६२
 नालंदीय अध्ययन ५/२५४-२५७(भा.)
 नालिका ६/१३४
 नास्ति ७/२१७
 -त्व ७/२१७
 निकाचना ६/५-१४(भा.), १५४
 निकाचित ६/१५४
 निक्षिप्त ७/२५
 निगोद ७/११९
 निजक ३/३३
 नित्य ७ आमुख
 - वाद ७ आमुख
 - वादी ५ आमुख
 निदर्शन ३/३०
 निदान ३/३५, ३६, ३८, ४०
 निद्रा ५/७२-७५
 निधत्त ६/१५१; ७/१५१
 निधत्ति ६/५-१४, १५४; ७/५-१४, १५४
 निधान ३/२६८

निपत्र ३/३५, ३६
 निष्पण्ण ३/३५, ३६
 निष्फण्ण ३/३५, ३६
 निष्फाव ६/१२९-१३१(भा.)
 निबंध ३/३०
 निमित्त ३/१४२; ७/२५
 - पिण्ड ७/२५
 निमीलन ३/११४
 नियन्त्रित ७/३४
 नियम ७/१०७-११२(भा.)
 - तः ५/१२८-१३२(भा.); ६/५४-६३(भा.), १७४-१७६(भा.),
 १७८, १७९; ७/१
 नियाम ५/१३९-१४६(भा.)
 नियोग ७/११९
 निरञ्जन (ता) ७/१०-१५ (भा.) ११, १२, १५
 निरनुबन्धा ६/१-४(भा.)
 निरन्तरता ७/५८-६०(भा.)
 निरपेक्ष दृष्टि ७/२७, २८
 निरवद्य ७/२६-३५(भा.)
 निरवयव ५ आमुख; ६/५४-६३(भा.)
 निरवशेष ७/३४
 निरायु ५/५९-६१
 निरालोक ७/११७, ११७ (भा.)
 निरावरण ५/६७, १०८, १०९; ६/१८८
 निरिन्धन ७/१४, १०-१५ (भा.)
 - ता ७/११, १५
 निरुक्त ३/१०९
 निरुपक्रम आयुष्य (ष्क) ५/५६-६१(भा.)
 निरुपक्लिष्ट ६/१३२
 निरुपचय-निरपचय काल ५/२२५-२३३(भा.)
 निरुपण ५/२५४-२५७(भा.)
 निरोध ६/१५, १६
 निर्यन्थ ३/१४२; ५/१; ६/३, ४; ७/२२-२५, १६५, १६३
 निर्यन्थी ७/२२-२५
 निर्जरण ३/१४३-१४८(भा.); ५/६४-६६(भा.); ७/१४६-१४९(भा.), १६०
 निर्जरा ३/१४३-१४८(भा.); ५/१२४-१२७(भा.), १४७; ६ आमुख, १५, १६,
 २०-२३; ७/१६, २७, २८, ७४-७७(भा.), ७६, ८०, ८२, ८३, ८५, ८६,
 ८८-९१(भा.), १०७-११२(भा.), १४६-१४९(भा.), १६०
 निर्जीर्ण ३/१४८; ६/१५, १६, २७-२९(भा.), ३३, ३४; ७/१०७-११२(भा.),
 १६०
 निर्भर ५/१८९, १८२-१९०(भा.)
 निर्माल ६/१३४
 निर्माण ३/१३४-१३९(भा.)
 - चित्त ३/४

निर्लेप ६/१३४
 निर्वर्तनाधिकरण ३/१३४-१३९(भा.)
 - क्रिया ३/१३६
 निर्वाण-महोत्सव ३/८६-८७
 निर्हेतुक ५/१६५
 निलीन ५/२५५
 निवण्ण ३/३५, ३६
 निवर्तन ३/३५, ३६
 निवर्तनिकमण्डल ३/३६, ३८
 निवात ३/२९
 - गम्भीर ३/२९
 निवृत्त ६/६४-६८
 निवृत्ति ३/१३४-१३९(भा.)
 - वादी ३/१३४-१३९(भा.)
 निश्चय नय ३/१४३-१४८(भा.); ५/१५४-१५६(भा.)
 निश्चा ३/९५, ११२, ११५, ११६, १२९
 निःश्रेयस ३/७३
 निःश्वास ५/४६; ६/१३२, १३३, १३४
 निषिक्त ६/१५१, १५२
 निषेक ६/१५१
 - काल ६/३३, ३४
 निषेचन ६/३३, ३४, १५४
 निषेधात्मक ७/११३-११६(भा.)
 निष्क्रमण ५/४६, ५०, ४६-५०(भा.); ७/२२१
 निष्क्रिय ३/१३४-१३९
 - ता ३/१३४-१३९(भा.)
 निष्ठित ६/१३४
 निष्पादन ३/१३४-१३९(भा.)
 निष्पन्न ३/३५, ३६
 निस्सर्जन ७/२३०
 निःसत्त्व ६/१-४(भा.)
 निस्संगता ७/११, १२, १५, १०-१५(भा.)
 नींद ५/७२-७५(भा.)
 नीचे लोक में ३/८२, ८३, ११९ तथा देखें अधोलोक
 नील ४/८; ७/६७-७२, ६७-७३(भा.)
 - लेश्या ४/८; ६/६३; ७/६७-७०(भा.)
 - लेश्यी ६/६३
 - वर्ण (वर्णी लेश्या) ६/१६६, १६३-१६७(भा.); ७/१७०
 नेपथ्य ७/१७७(भा.)
 नैयायिक देखें न्याय
 नैरयिक ३/९२, १८३; ४/७; ५/५६, ६२, ११६, १२०, १३७, १३८, १८२, १८३,
 १८६, १८७, १८८, २०६, २१०, २१३-२१७, २२८-२३१, २३६, २४०,
 २४३, २४८, २४९-२५३; ६/२, ४, ६, ८, ९, १५, १६, ३२, ५५, ५८, ६०, ६३,
 ६५, १२२, १२३, १२६, १७५, १७६, १८१, १८५, १८६; ७/१७, ३७, ३८,

४४, ४८, ६०, ६७-७०, ७६, ७७, ८१, ८४, ८७, ९०, ९१, ९३-९५, १०१, १०३,
 १०६, १०६, ११२, ११४, ११६, १४०, १६०, १६२
 - के आवास ६/१२०-१२८(भा.)
 - जीवों की विक्रिया ५/१३८
 नैश्चयिक ६/१३४
 - काल ५/२४८-२५३(भा.)
 - परमाणु ६/१३३-१३४(भा.)
 नैश्रेयसिक ३/७३
 नोकर्म ३/१४३-१४८; ७/७५, ७७, ८०, ८३, ८६
 नोक्षाय ५/६८-७१(भा.)
 नोकामी ७/१४५
 नोपरीत-नोअपरीत ६/४४, ५२
 नोपर्याप्तक-नोअपर्याप्तक ६/४२, ५२
 नोभवसिद्धिक-नोअभवसिद्धिक ६/४०, ५२, ६३
 नोभव्य-नोअभव्य ६/५४-६३(भा.)
 नोभोगी ७/१४५
 नोसंज्ञी ५/१००-१०२(भा.)
 नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी ६/३६, ५२, ६३
 नोसंयत ५/६२
 नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत ६/३७, ५२, ६३
 नोसूक्ष्म-नोबादर ६/५०, ५२
 नोस्त्री-नोपुरुष-नोनपुंसक ६/३५, ३६
 नौका ३/१४८; ६ आमुख
 न्याय (नैयायिक) ५/५१-५४; ७ आमुख, १०-१५, १२७-१४५
 - दर्शन ५/९४-९९; ७/१०-१५
 - शास्त्रीय ५/१८१
 - सम्मत ५/९४-९९

प

पंकप्रभा पृथ्वी ५/६२, २१६; ६/१३७-१५०
 पंक्रिय—देखें आद्रमल
 पंचप्रदेशी स्कन्ध ५/१५३, १६३
 पंच महाव्रत ५/२५४-२५७
 पंचास्तिकाय ७/२१२-२१७(भा.), २१८
 पंचेन्द्रिय ५/१०८, १०९; ६/२६, ५४-६३(भा.), ६६, १५१; ७/१२७-१४५
 (भा.), १६१
 - जीव ५/५४
 - तिर्यच ५/५६-६१
 - तिर्यग्योनिक ५/६२, ८६, २५०; ६/६५; ७/३६, ४१, ४६, ५०,
 ५२, ५६, ५७, ६६
 पंडित ७/१६५
 - त्व ७/१६५
 पक्ष ५/१५; ६/१३२
 पक्षी ७ आमुख १
 पच्छ्यापिटक ७/१५६
 पटरानी ३/११२

पटह ५/६४
 पठनीय ३ आमुख
 पठार (भट्टी) ७/११७
 पणव ५/६४
 पणामा प्रव्रज्या ३/३४
 पतत्-उदय ३/१६४-१७१ (भा.)
 पतन ३/१४३-१४८ (भा.)
 पतण (पत्रण) ५/१३४, १३५
 पथ्य ३/७३
 पद ३/३८, ५४; ५/६८-७१(भा.), २२५; ६/१८, ५२, ६३, १६२
 पदार्थ ३ आमुख, ३५, ३६; ५/१६५; ६/१७१-१७३(भा.)
 - निर्माण की क्षमता ५/१२२-१२३(भा.)
 पद्म ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४; ७/६७-७३
 - गंध (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५
 - लेख्या ३/१८५; ६/६३; ७/७२
 - लेश्या ६/५४-६३
 - वरवेदिका ३/११२
 पद्मार्ग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 पद्मासन ५/२५४-२५७(भा.)
 परंपरा ५/२५४-२५७(भा.)
 परंपरागम ५/६७, ६४-६७ (भा.)
 परंपरावगाढ ५/६४
 परंपरोपत्रक ५/१०२
 पर-ऋद्धि ३/१६६, १७४, २१२
 परकाय-प्रवेश ३/२०९, २११
 पर-क्रिया ३/१६७, १७५, २१३
 परतः ४ आमुख
 - प्रामाण्य ४ आमुख
 परत्व ५/२४८-२५३(भा.)
 पर-प्रयोग ३/१६८, १७६, २१४
 परभव ७/१
 - के आयुष्य ५/५७, ५८
 - योग्य आयुष्य ५/५६-६१(भा.)
 परम कृष्ण ६/८५, १०२; ७/६७-७३(भा.)
 परम शुक्ल ७/६७-७३(भा.)
 परमाणु ५ आमुख, ५१-५४, १५०-१५३, १५४-१५६ (भा.), १६०-१६४, १६५-१६८ (भा.), १६९-१७४ (भा.), २०१-२०७ (भा.); ६/१३३, १३४; ७/५८-६०
 - पुद्गल ५/१५०, १५४, १५७, १६०, १६५-१६८, १६९, १७५, २०३; ६/१३४
 - वाद ५ आमुख
 - स्कन्ध ३/१४३-१४८(भा.); ५/५१-५४ (भा.), ६४, ११२, ११३
 परमाधोवाधिक ७/१४६-१४९ (भा.)

परमावधिज्ञानी ७/१४६-१४६ (भा.)
 परम्पर क्षेत्र ६/१८६
 परलोक ३/१८३-१८५; ७/१०१, १०६
 - विद्या ७/१०१(भा.)
 परहस्तपारितापनिकी ३/१३८
 परहस्त प्राणातिपातक्रिया ३/१३९
 पराकाष्ठा ७/११७
 परामनोवैज्ञानिक ३ आमुख
 परिकर्म ६/४, २३
 परिक्षेप (परिधि) ५/३-१२; ६/७४, ७५, ६९, १७३
 परिखा ५/१८२-१९०(भा.)
 परिगणना ७/२१२-२१७(भा.)
 परिग्रह ५/१०८, १०९, १८२-१८५, १८२-१९० (भा.)
 - विरमण ७/२२६
 - संज्ञा ७/१६१
 परिच्छेद ५/२४८-२५३(भा.)
 परिजन ३/३३
 परिज्ञा ३/३८
 परिणत ३/४, १४३-१४८; ४/८; ५/१७२-१७४, १७८-१८०, २५५; ६/३३, ३४, १६६, १६७; ७/६५, १७०-१७२, २२४, २२६
 परिणति ५/१७२-१७४; १७८-१८०
 परिणमन ३/४, १४३-१४८; ५ आमुख; ६ आमुख, २०-२३, ३३, ३४, ८७, १०४, १२२, १२५-१२७, १६७; ७ आमुख, १६-१९, ५८-६०, २२४, २२६
 परिणामित ५/५४
 परिणाम ४/८; ५ आमुख, २४८-२५३, २५५; ६/१५१, १६०; ७/३६-४२, ५४-५७
 - वाद ५/५१-५४(भा.)
 - वादी ५ आमुख
 परिणामान्तर ३/१४३-१४८(भा.); ५/५१-५४(भा.)
 परिणामिनित्य ७/१६-१९
 - वाद ५ आमुख; ७/१६-१९(भा.)
 - वादी ५ आमुख
 परिणामी ७/१६-१९
 परिताप ३/१३४-१३९(भा.), १४८; ७/१०७-११२(भा.), ११४, ११६
 परितावण ३/१४३-१४८
 परित्याग ६/६४-६८; ७/२६-३५, १४६-१४६(भा.)
 परिधि ६/१३४
 परिध्वंस ६/२२
 परिनिर्वाण ३/८६-८७
 - उत्सव ३/८६,
 - महोत्सव ३/८६
 परिनिर्वृत्त ३/५३; ५/८०, ११५, २५७; ७/३, १५६, २०८, २३२
 परिपाटी ३/१९६
 परिभाषा ३/३५, ३६

परिभाषित ७/१४६-१४६(भा.)
 परिभोग ७/२६-३५(भा.)
 परिभोगैषणा ७/२२,२३
 परिमाण ३/३५, ३६; ६/१५१; ७/२६-३५(भा.)
 - कृत ७/३४
 परित्याग ३/१९२
 परिमित ५/६७, २५४-२५७(भा.); ६/३०-३२(भा.), १८८
 - संसार ६/३५-५१(भा.)
 परियुक्त ६/२७-२६
 परिवर्त ७/२५
 परिवर्तन ४/८; ७/१६-१६, ५८-६०(भा.)
 परिवेदन ७/११३-११६
 परिव्रजन ३/१०५
 परिशाटन ६/४
 परिशुद्ध ७/२५
 परिशोधन ३/४
 परिश्रम ५/१३४, १३५
 परिषद् ३/७७, १३३; ५/२
 परिषह ७/२०७
 - जय ६/१-४(भा.)
 परिष्ठापन ३/१४८
 परिसेवन ७/२६-३५(भा.)
 परिस्थितिवादी ३/१४०-१४२(भा.)
 परीत (परिमित) ५/२५४, २५५; २५४-२५७ (भा.); ६/२०, ४४, ५२
 - संसारी ३/७२, ७३
 परोक्ष ३आमुख; ५/६८-६६
 - दर्शन ३आमुख
 पर्यक ३/२०७, २२१
 - आसन ३/३५, ३६, १९४-२०८ (भा.), २०७;
 ५/२५४-२५७; ७/२०३, २०४
 पर्यटन ३/३३
 पर्यवसान ६/३०-३२; ७/१४६-१४६
 - भाग ५/६४
 पर्यस्तिका ३/२०५, २२१
 पर्यादान ७/१६-१६
 पर्याप्त ३/१६४-१७१(भा.); ७/१०१, २१५
 - क ५/१०२; ६/२०, ४२, ५२
 - भाव ३/१७, ४४, १०८, १०९
 पर्याप्ति ३/१७, ४४, १०८, १०९; ६/५-१४(भा.), ६३, १६३
 - भाव ३/१७, १०९
 पर्याय ३/१०७; ५/२५४-२५७(भा.); ६/३०-३२; ७आमुख, १६-१६(भा.),
 ५६, ६३-६५(भा.), २१२-२१७(भा.)
 - परिवर्तन ५/५१-५४(भा.); ७/१६-१९(भा.)
 - प्रवाह ५/५१-५४(भा.)

- वाची ३/३३, ४५, १५४-१६३(भा.); ५/१६१-१६६(भा.)
 - वाद ५/५१-५४(भा.)
 - सांगतिक ३/३५, ३६; ७/१६१
 पर्यायान्तर ५/५१-५४(भा.), २५४-२५७(भा.)
 पर्यायार्थिक नय ५/२५४-२५७(भा.); ७/६३-६५(भा.)
 पर्यावरणीय ७/११७-१२३(भा.)
 - प्रदूषण ७आमुख
 पर्युपासना ३/४, ९, १२, १३, २६, ३३, ३८, ५१, १०२, १२९, १३४, २४७
 २७२, २७९; ४/१; ५/३१, ८४, ८५, ८८; ७/२१७
 पर्व ६/१३३, १३४
 पर्वग ७/११७
 पर्वग ६/१३३, १३४
 पल्य ६/१२६-१३१, १३४
 पल्योपम ३/२५४, २६०, २६५, २७०; ४/५; ५/१८, २२२; ६/१३३,
 १३४; ७/२०७
 पल्ल ५/१८२-१९० (भा.)
 पशु ७आमुख
 पश्चातवात ५/३१, ३२, ३४, ४०
 पश्चिम ३/२२२-२३०(भा.); ५/३-६, १४; ७/२६-३५
 - भाग ३/२६१
 - मारणांतिक संलेखना ७/२९-३५(भा.)
 पांच महाव्रत ५/२५६, २५७
 पाकजगुण ५/५१-५४(भा.)
 पाठ ३/२२, ४८; ४आमुख; ५आमुख, १४, १६; ६/१६८, १६६;
 ७/११३-११६(भा.)
 पाठांश ३/४८; ६/१६८, १६६
 पाण ३/३४
 पात्र ३/१०२; ५/७६, ८०, १३४, १३५
 पाद ६/१३४
 पान ७/८, ६, २२, २४, २६-३५, १६३, २०३
 - भोजन ३/१९१; ७/२२-२५, २२-२३(भा.), २४(भा.), २५
 (भा.)
 पाप ७/५४-५७, १०७-११२, २२४
 - कर्म ६/४; ७/१६-१९, २८, १०७-११२, १६०, २२०,
 २२३, २२४
 - फलविपाकसंयुक्त ७/२२०, २२३, २२४
 पापानुबन्धी ७/१०७-११२
 पामिच्च (प्राप्तित्य) ५/१३६-१४६; ७/२५
 पारगत ५/६५-६७
 पारगामी ६/१३२
 पारण ३/२१
 पारमार्थिक सत्ता ७/१०-१५(भा.)
 पारिग्रहिकी क्रिया ५/१२८
 पारितापनिकी ३/१३४, १३८; ५/१३४

- क्रिया १३४-१३९ (भा.)
 पारिभाषिक ५ आमुख
 पार्थिव ५ आमुख
 पार्श्वपत्निक ५/२५४-२५७ (भा.)
 पार्श्वपत्नीय ५ आमुख, २५४, २५७, २५८
 - स्थविरों ५ आमुख, २५४-२५७ (भा.)
 पाश्चात्य दार्शनिक ५ आमुख
 पाषण्डस्थ ३/३६, १०४
 पाषाण ५/५२
 पाहुण-भत्त ५/१३६-१४६ (भा.)
 पिण्डहरिद्रा ७/६६
 पिंडैषणा अध्ययन ७/२५ (भा.)
 पिटक ७/१५६
 पित्त ५/६४
 पिरिपिरिया ५/६४
 पिहित ६/१२९-१३१ (भा.); ७/२५
 पीटना ७/११४, ११६
 पिट्टावण ३/१४३-१४८ (भा.)
 पीठ ३/५४
 पीठरपाक ५/५१-५४ (भा.)
 पीत ६/१६३-१६७ (भा.)
 - वर्ण ६/१६७ (भा.)
 पीलुपाक ५/५१-५४ (भा.)
 पुट ३/१०२
 पुण्य ३/३०; ५/१३४, १३५; ७/१४६-१४६ (भा.)
 - कर्म ३/३०; ७/१०७-११२ (भा.)
 - बन्ध ७/१०७-११२ (भा.), १४६-१४८ (भा.)
 पुद्गल ३/१७, १०५, ११७-११९, १४०-१४२, १४३-१४८, १८३-१८६;
 ४/८; ५ आमुख, ५१-५४, ६४, १०३-१०६, १११, १५०, २४२, २४५,
 २५५, २५४-२५७ (भा.) ६/४, ५-१४, २०-२३, २४, २५, २७, २८, ३३, ३४,
 ८७, १०४, १२२, १२५-१२७, १५१, १५६, १६३-१६७, १७३, १८६; ७/१,
 १०-१५, ५८-६०, ६३, १६७-१७२
 - परावर्तन ६/१३२
 - राशि ३/१८६
 - वर्गणा ४/८
 - स्कन्ध ६/७०-११८
 पुद्गलास्तिकाय ७/२१३, २१६, २१८, २२०
 पुनरवतार ६/३०-३२
 पुनर्जन्म ३/१८३-१८५ (भा.), ७ आमुख, १०१
 पुनर्भव ६/३५-५१
 पुराकृत ३/३३
 पुराण ४ आमुख
 पुरातन ३/३३
 पुरुष ५/६६; ६/२०, २२, ३५, ३६; ७/२७, २८

- वेदक ६/५२, ६३
 - वेदी ६/५४-६३
 पुरुषकार-पराक्रम ३/३६, १०४, २३०, २३९; ६/१३३, १३४; ७/
 १४६-१४६, १५०-१५४, २०३, २०४
 पुरुषादानीय ५/२५५
 पुरोवात ५/३१, ३२, ३४, ३६-४५
 पुलग ३/४
 पुष्कर संवर्तक महामेघ ५/१५७, १५६
 पुष्करणी ५/१८२-१९० (भा.)
 पूङ्कम् ५/१३६-१४६ (भा.)
 पूतिकर्म ७/२५ (भा.)
 पूतिय ५/१३६-१४६ (भा.)
 पूर्णिमा ३/१५२
 पूर्व ३/२२२-२३० (भा.); ५/३-६, १४; ६/१३२, १३३, १३४
 - उत्पन्न ६/५४-६३ (भा.)
 - कर्म ७/१५६
 - कृत ३/३३
 - कृत दोष ३/१९२
 - कोटि ६/३३, ३४, १३२
 - क्रिया ७/५४-५७
 - जन्म ३/१८३-१८५ (भा.); ५/६०, ६८-७१ (भा.); ७/१०६,
 १६१
 - पक्ष ५/५७, ५८
 - परिणाम ५ आमुख
 - पर्याय ५/५१-५४ (भा.)
 - पश्चात् संस्तव ७/२५ (भा.)
 - प्रज्ञापन ५/५१-५४ (भा.)
 - प्रयोग ७/११, १५
 - भव ३/३०
 - वर्ती रचना ४ आमुख
 - विदेह ६/१३४
 - वैक्रिय शरीर ३/११२
 - श्रुत ६/१३२
 - सांगतिक ३/३५, ३६; ७/१६१
 पूर्व (समय) ५/१८
 पूर्वांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 पृथक्त्व ६/१२५
 - सूत्र ५/७१, ६८-७१ (भा.), ७५
 पृथ्वी ३/७९, ८०, २५०, २७७; ५/३-१२, ५१-५४, ६८-७१, २१६, २३५;
 ६/१, २, १५, १६, ७०, ८७, १०४, १२०, १२२, १३३, १३४, १३७-१४४,
 १३७-१५० (भा.); ७/७
 - काय ३/१८३-१८५; ५/१८३, १८५, १८७; ६/७१, ८२,
 ८८, १०५, १४७; ७/६
 - कायिक ५/२४३; ६ आमुख, १३, २६, ६०, ६३, ८८, ११६,

१२४, १२५, १८५; ७/६, ९७, १०५, १४१, १४२, १५०
 - कायिक आवास ६/१२४, १२५
 - शिलापट्ट ३/३५, ३६, १०५, ११२; ७/२१२
 पृष्ठभूमि ३/१३४-१३९
 पैशाची ५/६३
 पोतज ७/९९
 पौद्गलिक ५ आमुख, १००-१०२; ६/३३, ३४; ७/६७-७३(भा.), १२७-१४५(भा.)
 - इन्द्रियां ५/५९-६१(भा.), १०८, १०९
 - चंचलता ५/११०, १११
 - त्व ५ आमुख
 - पदार्थ ६/१७१-१७३ (भा.)
 - परिवर्तन ३/२५०-२७७(भा.)
 - मन (द्रव्यमन) ५/८३-८८(भा.)
 - लेश्या ३/१८३-१८५(भा.)
 पौरुषी ७/२९-३५(भा.)
 पौर्वापर्य ३/१४०-१४२; ६/२७-२६(भा.)
 पौषद्योपवास ७/३५, १२०, १८१, १९०, २०४
 पौषधशाला ७/२९-३५
 प्रकम्पन ३/१४३-१४८, १४३-१४८(भा.), १५४-१६३(भा.); ५/१५०-१५३, १५०-१५३(भा.); ७/१६१
 प्रकरण ४/७
 प्रकर्ष बिन्दु ५ आमुख
 प्रकाम निकरण ७/१५३, १५४, १५०-१५४ (भा.)
 प्रकामरस-भोजी ७/२४
 प्रकाश ६/७०-११८(भा.)
 - अणु ६/७०-११८(भा.)
 - पिण्ड ६/७०-११८(भा.)
 प्रकाशात्मक ५/२३७-२४७(भा.)
 प्रकाशित ५/३-१२(भा.)
 प्रकीर्ण ६ आमुख
 प्रकृति ६/३३, ३४, १५१, १६२; ७/३६-४२(भा.), ५८-६०(भा.), ११३-११६(भा.), १६५
 - बंध ६/३३, ३४
 - में क्रोध, मान, माया, लोभ प्रतनु ५/७८, २०१
 - से उपशान्त ५/७८, २०१
 - से भद्र ५/७८, २०१
 प्रकृष्ट अवस्था ६/१३५
 प्रक्रिया ३/४, ३८; ५ आमुख
 प्रक्षिप्त ४ आमुख
 प्रक्षेप ४ आमुख
 - आहार ७/१
 प्रक्षेपण ३/११७, ११८, १२९
 प्रगाढ़ वेदना ६/४

प्रगृहीत ३/३५, ३६
 प्रचला ५/७२-७५(भा.)
 प्रचुरप्रदेशोपचय ५/६४
 प्रज्ञा ७/१५०-१५४(भा.)
 प्रज्ञान हेतुक ७/१५३
 प्रज्ञापक ६/१६३-१६७(भा.)
 - स्थानवर्ती ६/१६५, १६७
 प्रज्ञापना ३ आमुख, ६, ७, ९, १०; ५/२४०, २४६, २५१; ७/१, २१३, २१६, २१८
 प्रणाम ३/३४
 प्रणीत ३/१९१; ५/१००-१०२
 - मन और वचन ५/१००, १०१
 प्रतर-भेद ५/११२, ११३
 प्रतिक्रमण ३/१७, २१, १९२, २१९, २०२; ५/१३६, १४१, १४३, १४५, २५४-२५७; ७/२०३
 प्रतिग्रहण ७/२२, २३, २४
 प्रतिचंद्र ३/२५२
 प्रतिनिधित्व ३/१३४-१३९(भा.)
 प्रतिनिष्क्रमण ३/२५
 प्रतिपति ७ आमुख
 प्रतिपन्न ६/१६, १५-१६ (भा.)
 प्रतिपादन ३ आमुख, ८४, २२२-२३०(भा.); ६ आमुख, १-४, १७१-१७३(भा.); ७/९७, १५८, १५९, १६०, २१२-२१७(भा.)
 प्रतिपादित ३/४, ५, १६, १७, १८, २१, १९६; ६/१६८, १६९, १८८
 प्रतिपाद्य ३/२२२-२३०(भा.); ६/१, २०; ७/४, ५, २६, २८, १०१, १५८, १५९
 प्रतिपूर्ण पौषध ७/२६-३५(भा.)
 प्रतिबद्ध ७/६५
 प्रतिमा ६/१५, १६
 - प्रतिपन्न ६/१६
 प्रतिलाभित ७/८, ९
 प्रतिश्रवण (विचार-विनिमय) ७/२१६
 प्रतिष्ठान ६/१३७-१५०(भा.)
 प्रतिष्ठित ६/१३७-१५०(भा.)
 प्रतिसंवेदन ५/५७, ५८, १४८; ७/१०२, १०६
 प्रतिसूर्य ३/२५२
 प्रतिस्रोत ५/१५७, १५६
 प्रतिहनन ७/२८
 प्रतीति ३/९
 प्रत्यक्ष ३ आमुख; ५/६७
 - तः ५/२५४-२५७(भा.)
 - दर्शन ३ आमुख
 - दर्शी ३ आमुख
 - पदार्थ ५/१९१-१९९(भा.)

- भूत ५/२५४-२५७(भा.)
 प्रत्यग् ७ आमुख
 प्रत्यय ३/८४, ९०, १३१, १४२; ७/२५
 प्रत्यर्पण ७/१७४, १७५, १८३, १९४, १९५
 प्रत्याख्यात ७/११९ (भा.)
 प्रत्याख्यान ३/३६, ३८, १०४; ५/१२८-१३२(भा.), १३४, १३५;
 ६/६६-६८, ६४-६८(भा.); ७/१, ६, ७, २७-२९, ३४, ३६-४२, ५४-
 ५७, १२०, १८१, १९०, २०३, २०४
 - अप्रत्याख्यान ६/६६-६८
 प्रत्याख्यानावरण मोह ६/६४-६८(भा.)
 प्रत्याख्यानी ६/६४, ६५; ७/५५-५७(भा.)
 - अप्रत्याख्यानी ६/६४, ६५; ७/५७, ७५
 प्रत्याख्येय कृषाय ५/१२८-१३२(भा.)
 प्रत्युपेक्षा ७/२१२-२१७(भा.)
 प्रत्येक शरीर ७/६६
 प्रत्येक शरीरी ५/२५४-२५७(भा.); ६/३५-५९(भा.)
 प्रथम ६/३०-३२
 प्रथमानुयोग ४ आमुख
 प्रदक्षिणा ३/३८, ४०, ११२, ११६, १२९
 प्रदेश ३/४, ३५, ३६; ४/८; ५ आमुख, १५०-१५३, १६०-१६४, १७०,
 १७१, १७७, १७८, ६/३३, ३४, ७२, १३३, १३४, १५१; ७ आमुख, ५८-६०,
 १४६-१४९
 - नामकर्म निषिक्त ६/१५२
 - नामनिधत्त आयुष्य ५/६२
 - नामनिषिक्तायुष्क ६/१५१
 - बन्ध ६/३३, ३४
 - निष्पन्न ६/१३२
 - राशि ७/५८-६०(भा.)
 प्रदेशात्मक ६/१२५
 प्रदोष ३/१३४-१३९(भा.)
 प्रधान ३/३५, ३६
 प्रपंच ७ आमुख
 प्रपा ५/१८२-१९०(भा.)
 प्रशस्तनिर्जरा ६/१-४(भा.), १५, १६
 प्रभामण्डल ५/२३७-२४७(भा.)
 प्रभार ३/११६
 प्रभास्वर ५/२३७-२४७(भा.)
 प्रभु ३/११५-११९(भा.); ७/१५०-१५४(भा.)
 प्रभूत ७/१०-१५(भा.)
 प्रमत्त ३/१९०; ७/२०, २१
 - अवस्था ३/१४९
 - संयत ३/१४९,
 - संयम ३/१४९, १४९-१५०(भा.)
 - संयति ३/१३४-१३९

प्रमाण ३/४, ५४; ५/६७, ६६, १६१-१६८, २४६; ६/१३२, १३४
 - चतुष्क ५/९४-९९ (भा.)
 - प्राप्त ७/२४
 प्रमाणांगुल ६/१३३, १३४
 प्रमाणातिक्रांत ७/२२, २३, २४
 प्रमाद ३/१४२, १४९, १५०; ५/२५४-२५७(भा.); ६/२०-२३(भा.);
 ७/२६-३५(भा.)
 प्रयुत ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४,
 प्रयुतांग ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 प्रयोग ५/५४; ६/२०, २४-२६(भा.), १६३-१६७(भा.)
 - जनित ५/५१-५४(भा.)
 प्रयोजन ३/३८, ४०
 प्ररूपक ३ आमुख
 प्ररूपण ३ आमुख, ९, १०
 प्रलंघन ३/१८६, १८७
 प्रयोगात्मक ७/११३-११६(भा.)
 प्रलय ५ आमुख
 प्रलोकन ५/२५५
 प्रवचना ६ आमुख
 प्रवचन ७/२१८
 - सभा ७/२१८
 प्रवर अशोक वृक्ष ३/१०५, ११२, ११४, ११५, १२९
 प्रवर्तक अध्यवसाय ७/१४६-१४९(भा.)
 प्रवाल ७/११७
 प्रवाह ७/५८-६०(भा.)
 - का सिद्धांत ५/११०, ११
 - रूप ३/२२
 प्रवाही धारा ६ आमुख
 प्रवृत्ति ३/१३४-१३९(भा.), १४८; ६/६४-६८(भा.); ७/५४-५७(भा.),
 १०७-११२(भा.)
 - वादी ३/१३४-१३९(भा.)
 प्रवेश्य ३/३३
 प्रव्यथित ३/९२
 प्रव्रजित ३/३३, ३४, ४५, १०२; ५/७८-८२(भा.); ७/२२०
 प्रव्रज्या ३/३३, ३६, १०२
 प्रशस्त अध्यवसाय ६/१-४(भा.), १५, १६; ७/३६-४०(भा.), १४६-
 १४९(भा.)
 प्रशस्त निर्जरा ६/१-४, १५, १६
 प्रशान्त ४ आमुख; ३/५३, ७५; ५/८०; ७/३, १५६, २०८, २३२
 प्रशिष्य ५/६७
 प्रश्न ५/१०४-१०६(भा.)
 प्रश्नित ३/५१
 प्रसंख्यान ६ आमुख
 प्रसार-क्षेत्र ७/१५८, १५९

प्रसुप्त ७/२०, २१
 प्रस्तर ६/७१, ७२, ६०
 प्रस्थ ७/१५६
 प्रस्थान ७/२१२-२१७(भा.)
 प्रहर ७/२४
 प्रहरण ७/१७६, १७६(भा.), १८५
 प्रहीणगोत्रागार ३/२८६, २८६ (भा.)
 प्रहीणसेतुक ३/२८६, २८६ (भा.)
 प्राकार ५/१८२-१९०(भा.)
 प्राकृत ३/३८; ५/६३
 - रूप ३/३५, ३६
 प्राकृतिक ३ आमुख
 प्राकृतीकरण ३/११२
 प्राग्भार ३/१०५; ५/१८२-१९० (भा.)
 प्राचीन काल ३ आमुख
 प्राचीन ग्रंथ ७/१०१
 प्राण ३/१३४-१३९(भा.), १४५, १४८; ५/११६-११८(भा.), १२४-१२७
 (भा.), १३४, १३५; ६/८८, १०५, ११६, १३२, १३३, १३४, १७४-१८२, १८३,
 १८४; ७/२७, २८, ११४, ११६, १७८, १८७, २०३, २०४
 - वियोजन ३/१३४-१३९(भा.)
 प्राणतज ६/१३७-१५०(भा.)
 प्राणातिघात ३/१३४-१३९(भा.); ५/१३४-१३५(भा.); ६/२०-२३(भा.);
 ७/५४-५७(भा.), १०८, २२४
 - क्रिया ३/१३४-१३९(भा.)
 - विरमण ७/१११, १०७-११२(भा.)
 प्राणी ६ आमुख, २०-२३(भा.); ७/१, ६, २०, २१, १०७-११२(भा.), १२७-१४५
 (भा.), २१६
 प्रादुष्करण ७/२५
 प्रादोषिक ५/१३४
 प्रादोषिकी ३/१३४, १३७
 - क्रिया ३/१३४-१३९(भा.)
 प्राप्त ३/१७, ३०, ४४, ४५, ५१, २३०; ५/१०६, ११३, ११२-११३ (भा.), १६१
 प्राप्यकारी ५/६४; ७/१२७-१४५(भा.)
 प्राभृतिक ७/२५
 प्रामाणिकता ४ आमुख
 प्रायश्चित्त ३/३३; ७/१७६, १८५, १९६
 प्रामित्य—देखें पामित्य
 प्रायोगिक ५/५१-५४(भा.)
 प्रायोग्य ६/३३, ३४
 प्रायोपगमन अनशन ३/३६, ३८, १०४
 प्रारम्भकाल ३/१३४-१३९(भा.)
 प्रावृत् ऋतु ७/६२
 प्राशुक (फासु) ५/१२५; ७/८, ६, १६३
 प्रासंगिक ३/३७

प्रासाद ५/१८२-१९०(भा.)
 प्रेक्षा-ध्यान ६/१३२

फ

फल ५/१३४-१३५(भा.)
 - दान ७/७४-९२(भा.)
 - विपाक ७/७४-९२(भा.)
 फलिह ३/४
 फासु—देखें प्राशुक
 फुटसिरा ७/११९
 फोटोन ६/७०-११८(भा.)

ब

बंगाली भाषा ७/१५८, १५९
 बड़ी काहला ५/६४
 बद्ध ३/१४८; ६/३३, ३४
 - अवस्था ३/१४३-१४८(भा.)
 - कर्म ३/१४३-१४८(भा.); ६/३३, ३४
 - स्पृष्ट ३/१४८; ५/६४
 बध्यमान आयुष्य ६/३३, ३४
 बंध ३/१३४-१३६(भा.), १४०-१४२(भा.), १४३-१४८(भा.); ५/६८-
 ७१(भा.), १२४-१२७(भा.), १३४; ६/२०, २१, २३, २०-२३(भा.), २४-२६,
 २७-२६, ३३, ३४, ३५-५१(भा.), १५१, १५२, १५४, १६२; ७/२०, २१,
 ७४-६२(भा.), १०६, १६०, २१८-२२०
 - उद्देशक ६/१६२
 - काल ६/३५-५१(भा.), १५१
 - स्थिति ६/३४
 बन्धक ६/३५-५१(भा.)
 बन्धन ५/७१, ६८-७१(भा.), ७५; ६/५-१४, १५४, १६२
 - का छेद ७/१३
 - छेदन ७/११
 बल ३/३६, १०४, २३०, २३९; ६/१३३, १३४; ७/१४६-१४६(भा.),
 १५०-१५४(भा.), २०३, २०४
 बलाभियोग ७/१९४
 बलाहक ३ आमुख
 बलिकर्म ३/३३; ७/१७६, १७६(भा.), १८५, १९६
 बहिर्भूमि ५/७६
 बहिर्वर्ती पुद्गल ३/१८६(भा.), १८६-१८९, १९४, १९५, २०९, २१०,
 २०९-२२०(भा.) २४०, २४१
 बहुकर्म ६/२०
 बहुतर
 - अप्काय ७/२२८
 - तेजस्काय ७/२२८
 - पृथ्वीकाय ७/२२८
 - वनस्पतिकाय ७/२२८

- वायुकाय ७/२२८
- त्रसकाय ७/२२८

बहुत्व ६/३०-३२
 बहुसमरमणिज्ज ६/१३५
 बहुरूप-निर्माण ५/११२, ११३
 बहुवचन ६/५४-६३
 बहुश्रुत मान्यता ६/५४-६३
 बांस ३/३५, ३६
 बांसुरी ५/६४
 बाण ५/१३४, १३५, १३४-१३५ (भा.)
 बादर (स्थूल) ५/६४, १६६-१७४(भा.); ६/५०, ५२, ८०, ८२, ८८, ९७, ९९, १०५, १४१, १४२, १४७
 - अग्निकाय ६/१३७-१५०(भा.)
 - अद्वा पल्योपम ६/१३३-१३४(भा.)
 - अद्वा सागरोपम ६/१३३-१३४(भा.)
 - अप्काय ६/१३०-१५०
 - उद्धार पल्योपम ६/१३३-१३४(भा.)
 - उद्धार सागरोपम ६/१३३-१३४(भा.)
 - त्व ५/२०१-२०७(भा.)
 - पुद्गल ३/१९१
 - पृथ्वीकाय ६/१३७-१५०(भा.)
 - वनस्पतिकाय ६/१३०-१५०(भा.); ७/६६
 - वायुकाय ६/१३७-१५०(भा.)
 - व्यवहार पल्योपम ६/१३३-१३४(भा.)
 बाधाकाल ६/३३, ३४
 बारह प्रतिमा ६/१५, १६
 बारहव्रती श्रावक ६/६४-६८
 बार्दलिका-भक्त ५/१४०, १३६-१४६ (भा.)
 बाल ३/३५, ३६
 - तप ३/३५, ३६; ७/११३-११६(भा.)
 - तपःकर्म ३/३५, ३६, ३५-३६ (भा.), १०३
 - तपस्वी ३/३६, ३५-३६(भा.) ३८, ३९, ४१, ४३, ४५, ४६, १०३, १०४, १०७
 बालाग्र ६/१२५, १३४
 बालुकाप्रभा (पृथ्वी) ५/६२, २१६; ६/१३०-१५०(भा.)
 बाहरी पुद्गल—देखें बहिर्वर्ती पुद्गल
 बाह्य जगत् ५/१०८, १०९
 बाह्य पुद्गल—देखें बहिर्वर्ती पुद्गल
 बिल ७/११९, ११९(भा.), १२०
 - पक्ति ५/१८२-१९० (भा.)
 बीज ७/११९
 - मात्र ७/११९
 बुद्धि ३ आमुख; ५ आमुख, ६/१-४(भा.)
 बुध ५/२५७

बुसा ५/५४
 बेलनाकार ६/१३३-१३४(भा.)
 बेला ३/३३; ५/३६; ७/१९४
 बेल-बेले ३/३३, १०२; ७/१९३
 बोधि ५/१६१-१६८; ७/८
 बोल ३/२५८, २५८(भा.)
 बौद्ध ६/१८३-१८५
 - दर्शन ५/११६-१२१(भा.); ६/१८३-१८५(भा.); ७ आमुख, १०-१५(भा.), ५८-६०(भा.), १२७-१४५(भा.)
 - पिटक ५/२५४-२५७(भा.)
 - साहित्य ३/८६-८७(भा.); ७/१७३(भा.)
 ब्रह्म ७ आमुख, १०-१५(भा.)
 - चर्य ३/१४८; ७/२९-३५(भा.)
 - वादी ७ आमुख

भ

भंभा ५/६४
 भंग (विकल्प) ३/१५७-१६३(भा.); ६/२७-२९(भा.); ३०, ६३, १६८, १६९
 भक्त-पान ३/३६, ३८; ७/२१५, २१७
 भजना ५/१३०-१३२(भा.); ६/३५-५१(भा.)
 भद्रमुस्ता ७/६६
 भय ७/१५०-१५४, १६१
 - मोहनीय ७/१६१
 - संज्ञा ७/१६१
 भयंकरा ७/११७(भा.)
 भर्तृत्व ३/४(भा.)
 भव ३/३०; ५/८६, १४७; ७/१४८, १४९
 - क्षय ३/५२, ५३, ७५; ७/२८
 - ग्रहण ५/१४७
 - धारणीय ३/११२
 - धारणीय शरीर ३/११२
 - प्रत्ययिक ३/१०, १३१
 - संबंधी ७/२०२
 - सिद्धिक ३/७२, ७३;
 - स्थिति ५/२४८-२५३(भा.); ६/२६, ३२, ४०, ४२, ५२, ६३, १८१, १८८
 भवन ३/२९
 - गृह ३/२६८ (भा.)
 भविक ७/१०१-१०५
 भव्य ३/७२; ६/१, २०, २७-२९, ६३, १२२-१२४
 - ता ३/७६
 - त्व ६/३०-३२
 - त्व लब्धि ६/३२
 भाण्ड ५/१८९, १८२-१९०(भा.)

भारतवर्ष ३/१००, ११२
 भारतीय ७/५८-६०(भा.)
 - दर्शन ६/१८३-१८५(भा.)
 - दार्शनिक ५ आमुख
 भाव ५/५१-५४(भा.), १५०, १५१, १६०-१६४(भा.); ६/२०-२३(भा.);
 ७/५८-६०(भा.)
 - आदेश ५/२०१-२०७(भा.)
 - इन्द्रिय ५/१०८, १०९
 - की अपेक्षा ५/२०२, २०३, २०५, २०६
 - धारा ४/८
 - परमाणु ५ आमुख, १६०-१६४
 - प्रमाण ६/१३२
 - मन ५/१००-१०२(भा.), १०३-१०६(भा.)
 - लेश्या ३/१८३-१८५(भा.); ७/६७-७३(भा.)
 - स्थान आयु ५/१८१
 भावना ३/१५, १५४-१६३(भा.), २३१-२३९(भा.)
 भावादेश—देखें भाव
 भावान्तर ५ आमुख, ५१-५४(भा.)
 भावार्थता ७/५९
 भाविक ७/१०१-१०५(भा.)
 भावित ३/१७, १९, २४, ९५, १०४, १५१, १५३, १५४-१६३(भा.), १९०,
 २३१-२३९(भा.), २५७; ५/८५, २०१, २०७; ७/१९३, २२०
 भावितात्मा ३ आमुख, १५४-१६३, १५४-१६३ (भा.)
 - अनगार ३/१५, ११६, १४३-१४८, १५४-१५८, १६३,
 १८६, १८९, १९४-२००, २०२, २०३, २०५, २०७, २०९-२१५, २२२,
 २२५, २२८, २३१, २३४, २३७, २४०-२४२,
 भावी जन्म ३/१८३-१८५; ७/१०६
 भावी जीवन ७/१०२, १०३-१०५(भा.)
 भावी स्थान ६/१२०-१२८(भा.)
 भाषक ६/२०, ४३, ५२
 भाषण ६/५-१४
 भाषा ३/१७; ५/६३; ६/३३, ३४, ६३
 - अपर्याप्ति ६/६३
 - द्रव्य ५/६४
 - पर्याप्ति ३/१७; ६/५-१४, ४३
 - मन-पर्याप्ति ३/१७, ४४, १०९
 - वर्गणा ५/६४; ६/३३, ३४, ६३
 भाष्य ५/५७-५८(भा.)
 - कार ७/१०-१५(भा.)
 भिक्षा ३/१०२; ५/१३६-१४६(भा.); ७/२५, २९-३५(भा.)
 - चरी ३/३३, १०२
 - चर्या ७/२१५
 भिक्षु (भिक्षुक) ५/१३६-१४६(भा.); ६/१५, १६
 - की बारहवीं प्रतिमा ३/१०५

भिन्न ६/१७४-१८२(भा.)
 भुक्त ७/१०७-११२(भा.)
 भुज्यमान आयुष्य ६/३३, ३४
 भूत ३/१४५, १४८; ५/११६-११८, १३४, ६/८८, १०५, ११६, १८३, १८४;
 ७/२७, ११४, ११६
 - अनुकम्पा ७/११३-११६(भा.)
 - ग्रह ३/२५८, २५८(भा.)
 - जय ५/११२, ११३
 - यथार्थ ५/२५४-२५७(भा.)
 - रूप ५/११२, ११३
 भूतिकर्म ३/१९०
 भूमितल ३/११२
 भूमि-निर्झर ७/११७
 भृकुटि ३/४७
 भेद ५/२०१-२०७(भा.), २५४-२५७(भा.)
 भेदन ६/२२, २३
 भेरी ५/६४
 भोक्तृत्व ७/१६-१९
 भोग ३/४, ५, ३८, ८१, ९०, ९३, १०९, ११०; ५/५७, ५८; ७/१३२-१३६
 (भा.), १४६-१४९(भा.)
 भोगार्ह ३/४, ५, ३८, ८१, ९३, १०९, ११०
 भोगी ५/६४; ७/१३८-१४५, १४६
 भोग्य ७/१४६-१४९
 - अवस्था ३/१७
 भोजन-पानी ३/३६
 भौतिक पदार्थ ६/७०-११८(भा.)
 भौतिक विज्ञान ३ आमुख
 भ्रूण ३/१७

म

मंगल ३/३३
 - कारी ३/३३, ३८, ५१
 - मय ३/३६
 मंडलिकावात ३/२५२, २५२(भा.)
 मंत्र ७/२५, २९-३५
 - पिण्ड ७/२५
 - सिद्धि ७/२९-३५
 मंत्री ३/४
 मंद ७/३६-४२
 - वात ५/३१, ३२, ३४, ४०
 मकर (राशि) ७/६२
 मघा ६/१०३
 मचान (मंच) ६/१२९-१३१ (भा.)
 मडम्बाधिपति ३/३४
 मणि ३/३३

मत ३/१३४-१३९(भा.); ५/२०१-२०२(भा.), २०५
 मतान्तर ५/४, ३५, ३६, ५६-६९(भा.); ७/२०, २१
 मतिज्ञानावरण ७/१६१
 मतिअज्ञानी ६/४६, ५२, ६३
 मतिज्ञानी ६/५२
 मधुर ६/१६३-१६७
 मध्य भाग ३/११२; ५/६४
 मन (नो) ३ आमुख, १७, ३६, १३५, १४८; ५/८३-८८(भा.), १००-१०२, ११०, १११; ५/१००-१०२(भा.); ६/५-१४(भा.), ३३, ३४; ७/२७, २८, ५४-५७(भा.), १५०-१५४(भा.), १६१
 - अपर्याप्ति ६, ६३
 - और वचन १००, १०१
 - करण ६/५, ६, ९
 - गत ३/३३, ३६, १०२, १०४, १०९, ११२, ११५, ११६, १३१
 - (द्रव्य) वर्गणा ५ आमुख, १०६, ११०, १११; ६/५-१४(भा.), ३३, ३४
 - पर्यव ५/१०८, १०९
 - पर्यवज्ञानी ३/९५; ६/४५, ५२, ६२
 - पर्याप्ति ३/१७; ६/५-१४, ६२
 - पूर्वक ५/१००-१०२
 - प्रयोग ६/२६
 - भक्ष्य आहार ७/१
 - योग ५/८३-८८; ६/५-१४
 - योगी ६/४७, ५२, ६३
 - वर्गणा ६/५-१४ (भा.), ३३-३४ (भा.)
 - विज्ञान ६/१७१-१७३
 - संकल्प ३/१२७, १२८
 मन (भाव मन) ५/८३-८८
 मनन ६/५-१४
 मननीय ३ आमुख
 मनुष्य ३ आमुख, ३०, ९०; ५/५६-६९, ६२, ६४-७४, ११५, १०६-१२१, १३६, १३७, २३५, २४६, २५१, २५२; ६/३२, ६३, ६५, १३२, १३४, १३५, १७४-१८२, १८५; ७ आमुख १, ४, ५, २८, ३९, ४२, ४७, ५१-५३, ५६, ५७, ५८-६०, ९३-९५, ११२-११६, ११९-१२१, १४६-१४९, १५६, १७३, १८०, १८१, १८९, १९०, २२६
 - आयु ३/३०
 - कुल ७/२०९, १६९, १७२
 - गति ५/६२, १२४-१२७; ६/३०-३२
 - लोक ३ आमुख ११२; ४ आमुख: ५/१०३-१०६, १३६, १३७, २४८-२५२; ६/१३३, १३४, १३७-१५०; ७/१०-१५, १६९, १७२
 मनुष्येन्द्र ७/१७७, १८६
 मरण ३/१९२; ५/१६१-१६८
 मर्यादा ३/४; ७/१२०, १७३, १८१, १९०
 मल्ल ३/११२

मसमसाविज्जइ ३/१४३-१४८(भा.)
 मसारगल ३/४
 मसूर ६/१२९-१३१ (भा.)
 महत्तर
 - आश्रव ७/१५८, २२७, २२८
 - आहार ७/१५८
 - उच्छ्वास ७/१५८
 - कर्म ७/६७-७०, ७२, ७३, १५८, २२७, २२८
 - क्रिया ७/१५८, २२७, २२८
 - द्युति ७/१५८
 - निहार ७/१५८
 - निःश्वास ७/१५८
 - महिमा ७/१५८
 - वेदना ७/२२७, २२८
 महर्द्धिक ३/९६, १११, ११७-११९; ५/८३, ८५, ८८; ६/१६३-१६७(भा.)
 महा
 - अनुभव ६/७५, ९२
 - आश्रव ५/१३३; ६/२०
 - ऋद्धि ३/४-९, १२, १४, १६-१८, २०, २१, २८, ९८, २५५, २६०, २६५, २७०; ६/१५, १२, १६२, १६३-१६७(भा.), १६६, १७३;
 - कथा प्रतिपन्न ७/२१८
 - कर्म ५/१३३; ६/२०; ७/६७-७३(भा.)
 - काल श्मसान ३/६५
 - क्रिया ५/१३३; ६/२०
 - ढक्का ५/६४
 - द्युति ३/४, ५, ९८
 - निर्जरा ६ आमुख १, ३, ४, १५, १६, १५-१६(भा.); ७/१४६-१४९(भा.)
 - पर्यवसान ६/४, १-४(भा.); ७/१४६-१४९(भा.)
 - प्रतिमा ३/१०५
 - प्रभावी ५/३६, ८८
 - बंधकार ६/८६
 - बल ३/४
 - बलि ३/४, ५
 - यश ३/४
 - यशस्वी ३/४, ५
 - युद्ध ३/२५८, २५८(भा.)
 - लता ६/१३३, १३४
 - लतांग ६/१३३, १३४
 - वात ५/३१, ३२, ३४, ४०, ४१, ४३-४५
 - विदेह ३/५३, ७५, १३०
 - वेदना ५/१३३; ६ आमुख, १, २, ४, १५-१७, १६-१७ (भा.), २०; ७/१०३-१०५

- व्रत ३/३५, ३६; ६/६४-६८; ७/२९-३५
- व्रती ६/६४-६८
- शक्ति ६/१६२, १
- शरीर ३/११२
- शिला ७/१७८
- शिला कंटक ७/१०३, १७७-१८०
- शरीर ३/११२
- श्रमण ६/१
- संग्राम ३/२५८, २५८(भा.); ५/११६-१२१
- सामर्थ्य ३/४, ५, ७, ९, १२, १४, १६, १७, २८; ९८, ११७-११९, २५५, २६०, २६५, २७०; ५/८३, ८५; ६/१७३
- सुख ३/४, ५
- सुखी ३/४, ५
- महार्घ्य ३/२६८
- महिमा ५/११२, ११३
- महोत्सव ३/८६-८७(भा.)
- मांसाहार ७/१२१
- मागधी ५/६३
- माघवती ६/१०३
- माडम्बिक ७/१९६
- माथुरी वाचना ६/१३२
- माध्यस्थ-फल ५/१६१-१६८
- मान ३/१७, २२२-२३०(भा.); ५/२४६; ७/२१, २५, १२६, १६१
- कषायी ६/६३
- पिण्ड ७/२५
- वेदनीय ७/१६१
- संज्ञा ७/१६१
- मानसिक ५/८३, ८४, ८८, १०३-१०६; ७/१६१, १६२
- आलाप-संलाप ५/१०३-१०६(भा.)
- उत्तर ५/८३-८६ (भा.)
- क्रिया ३/१७; ७/१६१
- क्लेश ६/१३२
- चिकित्सा ६/५-१४(भा.)
- ज्ञान ७/१५०-१५४(भा.)
- तरंगों ३/७१
- प्रयोग ६/२४-२६
- प्रश्न ५/८३-८८ (भा.)
- योग ६/२४-२६ (भा.)
- संताप (tension) ६/१३२
- संप्रेषण ५/१०३-१०६ (भा.)
- स्मृति ३/७१
- मानुषी ५/२३५
- माया ३/१७, ११०, २२२-२३०; ७/२१, २५, १२६, १६१
- कषायी ६/६३

- कार ३/१९०
- पिण्ड ७/२५
- प्रत्यया क्रिया ५/१२८-१३२(भा.)
- वान् ३/१९०
- वेदनीय ७/१६१
- संज्ञा ७/१६१
- मायि-मिथ्यादृष्टि ३/२२२; ५/१०२, १००-१०२ (भा.)
- मायी ३/१९०-१९२, २१८, २१९, २२१, २२२, २२५, २२८, २२२-२३० (भा.)
- अवस्था ३/१९२ (भा.)
- मारणांतिक संलेखना ७/२१-३५
- मारणांतिक समुद्घात ३/४; ६/१२२-१२७, १२०-१२७ (भा.)
- मार्गान्तिक्रान्त ७/२४
- मार्दव ३/१७; ५/२०१
- माल ६/१२५, १२९-१३१(भा.)
- मालापहत ७/२५
- मास ५/१५, ५६-६१, २१६, २२४, २३३; ६/१३२, १३३, १३४
- क्षपण ७/२३१
- मास (धान्य) १२९-१३१ (भा.),
- माहन ३/३०; ५/१२४-१२७; ७/८, ९
- मित ५/१०६
- मिथुन (राशि) ७/६२
- मिथ्या ५/५८, ११७, १३७, १३६-१४६(भा.), १४८, २०३; ६/१७२, १८४
- त्व ६/२०-२३; ७/९७
- त्व क्रिया ७/९७
- त्व मोह ३/२२२-२३०(भा.)
- दर्शन ३/३५, ३६, २२२-२३०(भा.); ५/१२८-१३२(भा.); ७/२७, २८
- दर्शन क्रिया ५/१२८-१३२(भा.)
- दर्शन प्रत्यया क्रिया ५/१२८-१३२(भा.)
- दर्शन शल्य ७/१०८, २०३, २२४
- दर्शन शल्य विवेग ७/१११, २२६
- दर्शनात्मक ५/१२८-१३२(भा.)
- दृष्टि ३/७२, ७३, २२२, २२५, २२८, २२२-२३०(भा.); ५/१६१-१६६; ६/३८, ५२, ६३, १६८, १६९; ७/२७, २८
- प्रत्याख्यान ७/२७, २८
- मिनट ५ आमुख
- मिश्र ५/१३५, १३६; ६/१८
- आहार ६/१८
- जात ७/२५
- मीन (राशि) ७/६२
- मीमांसा ३/३३; ६/६४-६८(भा.); ७ आमुख, १२७-१४५(भा.)
- मौसजाय ५/१३६-१४६(भा.)
- मुक्त ३ आमुख, ३५, ३६, ५३, ७५, ११६, १२७, १४३-१४८(भा.); ५/८०,

२५७; ६/२७-२९, ३०-३२; ७ आमुख ३, १०-१५, २९-३५, १५६,
२०८, २३२

- आत्मा ७/१०-१५
- जीव ५/१३४, १३५

मुक्ति ३/७२

मुकुट-विटप (मउडविडवे) ३/११४

मुख्यवृत्ति ५/२५४-२५७(भा.)

मुण्ड ३/३३, १०२

मुद्रा ३/३५, ३६, २०७; ५/२०१

मुद्रित ६/१२९-१३१ (भा.)

मुनि ३/१०५, १४९, १५०, १९२; ५/१२४-१२७, १३६-१४५(भा.); ६/१३२;
७/४, ५, २०, २१, २२, २३, २५, २७, २८, २९-३५(भा.); ३६-४२(भा.)

- गण ३/२७
- त्व ७/२९-३५(भा.)

मुरज (वाद्य) ६/१३५

मुसल ६/१३४

मुहूर्त ३/१४९, १५०; ५ आमुख, ६-१२, १५, ५६-६१, १३२, १३३, १३४,
२१५-२१७, २२२; ७/२९-३५(भा.)

मूंग (मुग) ६/१३०, १२९-१३१(भा.)

मूर्ति ५/१६१-१६८, २५४-२५७; ७/२१२-२१७

मूर्धाभिषिक्त राजा ५/१३६-१४६(भा.)

मूल ४ आमुख

- कर्म ७/२५
- गुण ७/२९-३५, ३६-४२
- गुण प्रत्याख्यान ७/२९, ३०, २९-३५ (भा.), ३६-४२
- गुण प्रत्याख्यानी ७/३६, ३७, ४०-४२, ३६-४२ (भा.)
- पाठ ३ आमुख; ६/३३, ३४
- प्रकृति ६/३३, ३४, १६२
- प्रथमानुयोग ४ आमुख
- स्पर्शा ६/१६८, १७९

मूलकबीज (मूलाबीज) ६/१३१, १२९-१३१ (भा.)

मृगमन्थ (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५

मृत शरीर ३/४५, ४६

मृत्यु ३/३६, ३८, १४९, १५०, १८३-१८५(भा.); ५/५६-६१(भा.),
११६-१२१(भा.); ७/२९-३५(भा.), २०३

मृदंग ५/६४

मृदु ३/१७; ५/२०१; ६/१६३-१६७(भा.)

- भाव ५/७८

मृषा भाषा ७/२८

मृषावादी ७/२८

मृषावाद ७/५४-५७(भा.)

मृषा-वचन ५/१२४-१२७(भा.)

मेरु पर्वत ३/२४९, २५३, २५८, २६३, २६८; ६/१५, १६, १२४, १२५

मेष (राशि) ७/६२

मैथुन ७/५४-५७(भा.)

- संज्ञा ७/१६१

मोक्ष ३ आमुख, ७३, १३४-१३९(भा.), १४३-१४८(भा.); ५/१४७; ६/
१-४(भा.); ७ आमुख, १०-१५, १४६-१४९(भा.), २१८, २२०

- गति ३/१४८
- गमन ६/२७-२९(भा.)
- गामी ३/७२
- वाद ५/११५(भा.); ७/१५६-१५७ (भा.)

मोह ५/१०७; ६/३३, ३४, १६२

- जाल ७/१५०

मोहनीय ६/२०-२३, ३३, ३४

- कर्म ७/३६-४२, १६१
- क्षपक ६/१-४(भा.)

मोहोपशमक ६/१-४(भा.)

मौन ३/३९, ४०

प्रक्षण ७/२५(भा.)

प्रक्षित ७/२५(भा.)

य

यक्षग्रह ३/२५८

यत्रकामावसायित्व ५/११२, ११३

यथापत्याभिज्ञात (अहावच्चाभिष्णाय) ३/२५५, २५५(भा.)

यथाप्रणिहित ३/१०५

यथालघुस्वक ३/१०, १० (भा.)

यथार्थदर्शन ३/२३१-२३९

यथार्थभाव ३/२२३, २२४, २२६, २२७, २२९, २३०, २३२, २३३, २३५,
२३६, २३८, २३९

यथावस्थित ६/१६८, १६६

यथासंविभाग ७/२९-३५(भा.)

यथामूत्र ७/४, ५, २१, १२६

- गति ७/१२६

यथैर्य ५/४१

यथोद्दीप्त ३/२५२

यव ६/१२६, १२६-१३१(भा.)

- मध्य ६/१३४

यवयव ६/१२९, १२९-१३१ (भा.)

यश ३/२३०, २२२-२३० (भा.)

यशःकीर्ति ७/१५०-१५४

यान ३/१५४-१६३

यावज्जीवन ७/२९-३५

युग ५/१८, ६/१३२

- प्रमाण भूमि ७/२१५

युग्य ३/१६४-१७१ (भा.)

युवराज ३/३४

यूका ६/१३४

यूप ६/१३४
 यूपक ३/२५२
 योग ३/१४२, १५४-१६३, १९०, २११, २२२-२३०; ५/८३-८८, १०७,
 ११०, १११; ६/१५, १६, २०-२३, ६३; ७/२५, २८, ११३-११६
 - आश्रव ६/२०-२३(भा.)
 - दर्शन ५/५७, ५८
 - निरोध ३/१४३-१४८(भा.)
 - पिण्ड ७/२५
 - रूप ५/१००-१०२(भा.), १०३-१०६(भा.)
 - सिद्ध पुरुष ३/४
 योगी ३/४; ६/२०, ५२; ७ आमुख
 योजन ३/४, ८१, ११२, ११९-१२६(भा.), १६५, १७३, १८०, २११, २४९-
 २५१, २५६; ४/४; ५/३-१२, ५५, १३६, १३७; ६/७२, ७४, ७५, ६१, ११८,
 १२५, १२६-१३१, १३४, १३७-१५०, १७३; ७/२४
 योनि ५/६२, ६/१२६-१३१(भा.); ७/१०६
 - विच्छेद ६/१२९-१३१ (भा.)
 - संग्रह ७/९९
 यौगलिक मनुष्य ३/१८३-१८५

र

रक्त (वर्ण) ६/१६३-१६७
 रक्तरत्न ३/३३, ३३(भा.)
 रचना-काल ४ आमुख
 रचना-शैली ७/११७-१२३(भा.)
 रचित ५/१४०, १३६-१४६ (भा.)
 रज-उद्घात ३/२५२
 रजकरण ६/२०-२३ (भा.)
 रजोहरण ५/७६
 रज्जु ३/३५, ३६, ४५
 रडार ६ आमुख
 रतिवेदनीय ५/६८-७१(भा.)
 रत्न ३/३३, ३३(भा.), ९०, ९१, ९२
 - द्वीप ३/९०
 - प्रभा पृथ्वी ३/७९, ८१, ८१ (भा.), २४९; ४/३; ५/६२, २९६;
 ६/१२०, १२२, १३७-१४४, १५०
 रत्नाकार (रयणागर) - देखें रत्नों की खान
 रत्नि ६/१३४; ७/११९ (भा.)
 रत्नों की खान ३/२६८
 रथपथ ७/१२०, ११७-१२० (भा.)
 रथ मुशल (संग्राम) ७/१७३, १८२, १८३, १८७, १८९, १९४, १९६-१८८,
 २०३, २०४
 रथरेणु ६/१३५
 रमणीय ६/१३५
 रस ४/८; ५/५१-५४(भा.), ६४, १०७, १०९, १५०, १५३, १६०-१६४(भा.),
 १७२, १७८, २०१, २०७; ६ आमुख, १३३, १३४, १६७; ७/५८-६०(भा.),

६७-७३(भा.), १३६, १३७
 रसनेन्द्रिय ३/१९१; ५/६४
 - विषम ३/२७९
 रहस्य
 - मय क्षेत्र ६ आमुख
 - वादी ३ आमुख
 - विद्या ३ आमुख
 रांगा ५/५२
 रांगे की खान ३/२६८
 राख ५/५४
 राग ७/२२, २३,
 - द्वेष की त्रीवता ५/१६१-१६८(भा.)
 - द्वेषात्मक अध्यवसान ५/१६१-१६८(भा.)
 राजधानी ३/७८, १०६, १०७, ११२, १२७
 राजपथ ३/४५
 राजपिण्ड ५/१४०, १४२, १४४, १४६, १३६-१४६ (भा.)
 राजा ७/१९६
 राजाभियोग ७/१९४
 राडार संचालक ६ आमुख
 रात ५ आमुख २५४
 - दिन ५ आमुख, २५४, २५८
 रात्रि ५/४-१२, ३-१२ (भा.), २२, २५, २६, २३७, २३८
 - भोजन ७/२४
 रालग (धान्य) ६/१३१
 राशि ५/६२; ७/६२
 रिष्ट (रत्न) ३/४
 रुचि ३/९
 रुलाना ७/११४, ११६
 रूक्ष ५/१५०-१५३, १७२; ६/१३३, १३४, १६३-१६७
 - ता ६/१३३, १३४
 - स्पर्श ७/१७१
 रूप ३/४, १२, १४, १६, १८, २२२-२३०(भा.); ४/८; ५/६४, १०७, १०९;
 ६/१६५-१६७(भा.); ७/१३१, १३७, १७०, १७१
 - निर्माण ३/४, १९०; ६ आमुख, १६३-१६७(भा.)
 - परिवर्तन ३ आमुख
 रूपी ७/१२७, १३२, २१२-२१७(भा.)
 - काय ७/२१२, २१६, २१८, २१९
 - द्रव्यग्राही ३/२२२-२३०(भा.)
 रोम ५/५३
 रौद्र रूपधारी ३/४५

ल

लघिमा ५/११२, ११३
 लघुगणक (लोगरिदम) ६/१३३, १३४
 लघुस्वक ३/९०

लता ६/१३३, १३४
लब्ध ३/२३०; ५/१०६, ११३, ११२-११३ (भा.)
- वृत्ति ७/२०, २१
लब्धि ३/१५४-१६३(भा.); ६/३०-३२(भा.)
- जन्य ३/१६४-१७१(भा.)
- सम्पन्न ५/११२, ११३
लयन ५/१८२-१९० (भा.)
लव ५/१५, ६/१३२, १३३, १३४
लवण समुद्र ३/१५२
लता (संख्या) ६/१३३, १३४
लता (वनस्पति) ७/११६ (भा.)
लतांग ६/१३३, १३४
लिंग ५/१६१-१६६(भा.)
लांछित ६/१२९-१३१ (भा.)
लाल वर्ण ६/१६७
लावण्य ७/१५०-१५४(भा.)
लिक्षा ६/१३४
लिप्त ६/१२९-१३१, १२९-१३१(भा.); ७/२५
लीख ६/१२५, १७१
लेश्या ३/१८३-१८५ (भा.); ४/१, ८, ८ (भा.); ६/५४-६३, १६८-१६९;
७/७१, ७२, ६७-७३ (भा.)
- पद ४/८
लेसर की किरण ३/४
लोक ३/१४; ५/१०३-१०६, २५५, २५८, ६/३०-३२; ७/३, १०-१५, १६१
- अनुभाव ३/१५२; ५/५५
- अन्त ६/११८, १२४, १२५
- अन्धकार ६/८६
- तमिस्र ६/८६
- नाडी ५/१०३-१०६
- परम्परा ७/१६१
- मान्य ५/२५४-२५७(भा.)
- विद्या ७ आमुख
- संज्ञा ७/१६१
- संस्थान ७/३ (भा.)
- स्थिति ३/१५२; ५/५५, २०८-२२४(भा.)
लोकन ५/२५५
लोच ७/२९-३५(भा.)
लोभ ३/१७, २२२-२३०(भा.); ७/२१, २५, १२६, १६१
- कषायी ६/६३
- पिण्ड ७/२५
- मोहनीय ७/१६१
- वेदनीय ७/१६१
- संज्ञा ७/१६१
लोम आहार ७/१

लोहकवच ७/१७६, १७६ (भा.)
लोहकडाह ५/१८२-१९० (भा.)
लोहा ५/५२
लोहे की खान (अयागरा) ३/२६८
लोहित वर्ण ६/१६७
लोहिताक्ष (लोहियक्ख) ३/४ (भा.)
लौकिक साहित्य ७/१७३
लौही ५/१८२-१९०(भा.)

व

वंश-परम्परा ७/१६१
वक्कन्ति-काल ५/२२५-२३३(भा.)
वक्र ७/१
- गति ५/५६-६१(भा.)
वर्धारिय पाणि ३/१०५
वचन ३/१४८; ५/८३-८८, १००-१०२, ११०, १११; ७/२७, २८, १५०-१५४
- करण ६/५-७, ९
- प्रयोग ६/२६
- योग ६/५-१४
- योगी ६/४७, ६३
- वर्गणा ५ आमुख
वज्र ३/४, ४ (भा.)
- तुल्य ७/१७७ (भा.)
वज्रासन ३/२०७
वध ७/६, ७, २७, २८, ११३-११६
वनस्पति ५/३१-४५, ६८-७१; ७/१, ६, ७, ६२, ६६, १२७-१४५(भा.)
- काय ३/१८३-१८५; ५/१८३; ७/११७
- कायिक ६/२६, ६१, ६३, ६६, १०५, ११६, १५०; ७/६२, ६३, ६५, ६६, १४२, १५०
- जगत ७/११७-१२३(भा.)
- जीव ५/५१, १३४, १३५
- जीव का शरीर ५ आमुख
वनीपक ७/२५
- पिण्ड ७/२५
वन ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
- राजि ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
- षण्ड ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
वनस्पत्यात्मक ५/२३५
वपिण ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
वरवज्रविग्रहिक ५/२५४-२५७ (भा.)
वर्ग ६/३३, ३४
वर्गणा ४/८; ५/१११; ६/३३, ३४
वर्गीकरण ३/१३४-१३९(भा.); ५/६-१४(भा.)
वर्गीकृत ७/५४-५७

वर्ण ४/८; ५/५१-५४, १५०-१५३, १६०-१६४, १७२, १७८, २०१-२०७;
 ६ आमुख, ८५, १०२, १३३, १३४; ७/५८-६०, ६७-७३(भा.)
 वर्णनवाची ५/१,२
 वर्णवर्षा ३/२६८
 वर्ण्य विषय ४ आमुख
 वर्तनी ५/२४८-२५३(भा.)
 वर्तमान जीवन ७/१०२, १०३-१०५(भा.)
 वर्तमान वैज्ञानिक ७/१६१
 वर्तुल ३/२९; ६/१३३, १३४
 वर्धापित ३/४६, ५०
 वर्ष ३/१४९-१५०; ५/५६-६१, २२२; ६/३४, १३२, १३३-१३४; ७/६२
 वर्षा ३/२५०-२७७; ५/१३-१६, १८
 - ऋतु ७/६२
 वल्लभी वाचना ६/१३२
 वल्ली ७/११७, ११७(भा.)
 वशित्व ५/११२
 वशीकरण ३/२११
 वसुधारा ३/२६८, २६८(भा.)
 व्रत ५/१५४-२५७(भा.)
 वाक् ६/५-१
 - करण ६/५-१४(भा.)
 - योगी ६/५२
 वाचना ३/१९०; ४ आमुख
 - भेद ६/१६८, १६९
 वाचिक प्रयोग ६/२४-२६
 वाणी ५/८३-८८, ८९-९२(भा.); ७/५४-५७
 - का तंत्र ५/८३-८८(भा.)
 वात ५/३६
 - परिक्षोभ ६/१०५
 - मंडलिका ३/२५३
 वातुल ७/११७
 वातोत्कालिका ३/२५३
 वातोद्भ्राम ३/२५३
 वाद ५ आमुख
 वायवीय ५ आमुख
 वायु ३/१७२-१८२; ५/१, ३१-४५, ५१-५४, ६८-७१, २३५; ६/६३, ११५,
 १३३, १३४, १३७-१५०(भा.)
 - काय ३ आमुख, १६४-१७१, १७२-१८२, १८३-१८५;
 ५/४१, ४५, ४६, ४७
 - कायिक ५/४६-५०(भा.); ६/११६; ७/१४२
 विउच्चित ६/१६८, १६९
 विकलेन्द्रिय ३/१८३-१८५; ५/५६-६१, ६/७, २६, ६३
 विकल्प ३ आमुख
 विकुस ६/१३५, १३५(भा.)

विक्रिया ३/१, ४, ७, १२, १४, १६, २०, २१, २२, १६४, १६५, १८८-
 १९२, १९८, १९६, १९९, २००, २०३, २०५, २०७, २१८, २२१, २४०, २४१;
 ५/१३८; ६/१६३-१६७; ७/१६७-१७२(भा.)
 - शक्ति ३/४, १६, १८, १९६(देखें वैक्रिय-शक्ति)
 विगत ५/२२५
 विग्रह-गति ७/१
 - समापन्नक ६/३५-५१, ८२, ८६, १४२, १४७
 विचरण ३/१०५
 विच्छिन्न ७/२०, २१
 विजृम्भमाण ३/११२
 विज्ञात ७/१६१, १७३, १८२
 विज्ञान ५/१५४-१५६(भा.), ६/७०-११८(भा.)
 वितत ५/६४
 वितस्ति ६/१३४
 विद्या ३/१९०, २०९, २११; ७ आमुख २५
 - पिण्ड ७/२५
 विद्युत ६/८०, ८१
 विधेय ३/३४
 विधेयात्मक ७/११३-११६(भा.)
 विनम्रता ३/४
 विनयपूर्वक ३/५०, ५१
 विनाश ५/२५४-२५७(भा.)
 विनीत ३/१७, २१; ५/७८, २०१
 विन्ध्यपर्वत ३/१००
 विन्ध्याचल ३/१००
 विपरिणमन ६/४; ७/२२४
 विपरीतग्राही ३/२२२-२३०(भा.)
 विपरीत भाव- देखें अन्यथाभाव
 विपर्यय ३/२२२-२३०; ५/१३६, १३७, १३६-१३७(भा.)
 विपाक ५/५७, ५८, १४८; ६/१५१; ७/३६-४०(भा.), २१८-२२०(भा.)
 - जा ६/१४
 - अभिमुख ३/१७, ३०, ५०, ५१
 विपाकी निर्जरा ६/१५, १६
 विपुल ३/३५, ३६
 विप्रमुक्त ७/२५
 विभंग
 - ज्ञान ३/२२२-२३०(भा.); ५/१३६, १३७, १३६-१३७
 (भा.); ६/१६८, १६९
 - ज्ञानलब्धि ३/२२२, २२५, २२८, २३०
 - ज्ञानी ३/२२२-२३०(भा.); ५/१३६, १३७; ६/४६, ५२, ६३
 विभज्यवादी ५ आमुख; ६/१८३-१८५(भा.)
 विभागनिष्पन्न ६/१३२
 विभिन्न-मात्रा ७/१०५
 विभु ७/१०-१५(भा.)

विमर्श ६/१८, २७-२६, ३०-३२, ५४-६३, १८३-१८५; ७/२०, २१, १५०-१५४

- नीय ७/१२७-१४५, १६१, १७३

विमात्र ६/१३, १४, ५-१४ (भा.)

विमात्रा ३/१४३-१४८; ६/१८४-१८५

वियोजन ३/१३४-१३९ (भा.)

विरत ३/१३४-१३९ (भा.); ६/१-४ (भा.); ७/२८, २९, ३५, ३६-४२ (भा.), ५४-५६ (भा.), १०७-११२ (भा.)

विरति ७/१, २७, २८, १०७-११२ (भा.)

विरमण ७/१०७-११२ (भा.), २०४, २२६

विरह-काल ५/२०८-२२४ (भा.), २३१; ६/५४-६३ (भा.)

विराधक ३/७२, ७३

विरोधाभास २५४-२५७ (भा.)

विवक्षा ३/१७

- भेद ५/२५४-२५७ (भा.)

विवक्षित ३/१८

विवर ६ आमुख

विवरणात्मक ७/११७-१२३ (भा.)

विवर्त ७ आमुख

विवेक ७/२२६

विशुद्ध (सर्वथा खाली) ६/१३४

विशुद्ध ३/१९२

- आधार ३/३०

- लेश्य ६/१६८, १६९

- लेश्या ६/१६८, १६६; ७/६७

विशुद्ध (रहित) ६/१३५, १३५ (भा.)

विशेषण-समूह ३/१४३-१४८ (भा.)

विशेषाधिक ६/५२

- भाग ३/२२२

विशोधन ६/२०-२३ (भा.)

विश्वक् ७ आमुख

विषम प्रदेशित ५/१६०-१६४ (भा.)

विषम भाग ३/१८८, १८९

विषय ३/४, ५, १६, १८, २१; ५/६४

विश्व ५/२४८-२५३, ६/३३, ३४

- व्यवस्था ३ आमुख

विषमिश्रित ७ आमुख, २२४

विषय (वैक्रिय करने की शक्ति का सामर्थ्य-क्षेत्र) ३/४, ४ (भा.)

विषय क्षेत्र ५/१०३-१०६

विष्कम्भ ६/७४, ६९, ६७, ६८, १७१-१७३ (भा.)

विस्तृत ६/७४

विश्वादमान ३/३३ (भा.)

विस्मसा ३/१०९; ६/२४-२६ (भा.)

विहरण ३/१९, २४, ३३, ३८; ७/१९३, २२०

विहार ३/२५, ३३, १५१, १५३

विहित ७/२५

वीचिमार्ग ७/२०, २१

वीणा (पिरिपिरिया) ५/६४

वीतराग ३/१४३-१४८ (भा.); ५ आमुख; ६/२७-२६ (भा.), ३५, ५१; ७/४, ५

- अवस्था ३/१४३-१४८ (भा.)

वीर्य ३/३६, १०४, २२२-२३०, २३९; ५/११०, १११; ६/३३, ३४, १३३, १३४; ७/१४६-१४९, १५०-१५४, २०३, २०४

- की परिणति ६/५-१४

- योग (कायिक प्रवृत्ति) ५/११०, १११

- लब्धि ३/२२२, २२५, २२८, २३०

वृक्ष (रुक्ख) ७/६४, ६५, ६४-६५ (भा.), ११६ (भा.)

वृत्ति ३/४८, ७३, १०९

- कार (सभी अंक भाष्य के हैं) ३/४, १७, २२, ३०, ३४, ३८, ४५,

४७, ४८, ९५; ७/२९-३५, १२७, १४५, १६१

वृत्तिक ७/२५

वृत्तियां ३/९०

वृद्ध परम्परा ७/२९-३५ (भा.)

वृद्धमत ३/९०

वृद्ध व्याख्या ३/४, ४९

वृद्धि-हानि (कहीं बढ़ते-घटते) ५/२१८, २१६, २२१, २०८-२२४ (भा.)

वृष (राशि) ७/६२

वृश्चिक (राशि) ७/६२

वृष्टि ३/२५०-२७७ (भा.)

वेद ५/११२, ११३; ६/३५-५१ (भा.), ६३

- भोग ५/१०७

- मोहनीय ७/१६१

वेदक ६/५२, ५२ (भा.)

वेदन ३/१४०-१४२, १४८; ५/५७, ५८, ११६-१२०, १४८; ६/४, ८, ९, १०, ११, १३, १४, १५४, १८३-१८५; ७/१९, ७४-९२, ७४-९२ (भा.) १०३, १०५, १५०-१५४

वेदना ३/८४, ९२, १४०, १४३-१४९; ५/१२०, १२१, १३८; ६/१, ४, १५, १६, १६८, १६६, १८३-१८५, १८८; ७/७४-७७, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८४, ८६, ८८-९१, ७४-९२ (भा.), १०३-१०५, १४०-१४२ (भा.), १५०-१५४ (भा.), १६२ (भा.)

, असात ३/९२

, उज्ज्वल ५/१३८, १३८ (भा.)

- का उपशमन ३/८४

- की उदीरणा ३/८४

- वाद ७/१०३-१०५ (भा.)

, विपुल ५/१३८

- समुद्घात ३/४

, सात ३/९२

, सातासात ३/९२
वेदनीय ६/३३, ३४, ३६, ४१, ४३, ४५, ४७, ४९; ७/१६०, १६१
- कर्म ३/१४३-१४८; ६/३३, ३४, ४३, ४५, ४७, ४९; ७/६७-
७३(भा.), १०७-११२(भा.)
वेदान्त ७ आमुख, १०-१५(भा.)
वेदिका ६/७१
वेद्यमान (कर्म-समय) ३/१४३-१४८ (भा.)
वेरानुबन्ध ३/९०, १३१
वेसिय (वैशिक) ७/२५
वेहास (आकाश) ५/१३४-१३५ (भा.)
वैक्रिय ३/९०, १९०; ५/३१-४५, ५०, ५६-६१, १३८; ६/१६३-१६७
- कर्ता ३/४
- पुद्गल ३/२०९
- वर्गणा ३/४, १७, १८६; ५ आमुख; ६/१६३-१६७
- विमान ३/१५४-१५६
- लब्धि ३/१९०, २०९, २११, २२२, २२५, २२८, २३०, २३१,
२३४, २३७, २३९
- शक्ति ३ आमुख, ४, ९०, १७२-१८२, १९०, २२२-२३०;
६ आमुख, १६७, १६३-१६७ (भा.); ७/१६७-१७२ (भा.) (देखें विक्रिया-
शक्ति)
- शरीर ३/४, १७, ११४, १६४-१७१(भा.), १८६; ५/३१-४५;
६/५-१४ (भा.), ६३, १५१, १६३-१६७, १६८, १६९; ७ आमुख
- शरीर वर्गणा ६/३३, ३४,
- समुद्घात ३/४, ४ (भा.) ५, ३८, ११२, १५४-१५६, १९६,
२२२, २२४, २२५, २२७, २२८, २३१, २३३, २३४, २३६, २३७; ६/१६८,
१६९
वैज्ञानिक ६/७०-११८(भा.), १३३-१३४(भा.)
- अनुसंधान ७/१५०-१५४ (भा.)
- जगत ३/४(भा.)
- मान्यता ६/७०-११८(भा.)
- व्याख्या ६/७०-११८(भा.)
वैज्ञानिकों ६ आमुख
वैदूर्य (वेरुलिय) ३/४, ४(भा.)
वैदिक-साहित्य ५/६३; ७/१७३
वैभार पर्वत ३/१८६-१८९
वैभाविक ७/५८-६०
वैयावृ(पृ) त्य ५/८१, ८२
वैराग्य ३/२३१-२३९(भा.)
- भावना ३/१५४-१६३(भा.)
वैशिक देखें वेसिय
वैशेषिक (दर्शन) ५ आमुख, ५१-५४(भा.); ७ आमुख, १०-१५(भा.),
१२७-१४५(भा.)
- सूत्र ५ आमुख
वैससिक ३/१०९

व्यंजन ७ आमुख, २२४, २२६
- पर्याय ३/१४३-१४८(भा.)
व्यतिकीर्ण ३/४, ५, १९६
व्यपभ्राजमान ३/११२
व्यवच्छिन्न ३/१४३-१४८(भा.); ७/२१, १२६
व्युच्छित्ति-नय ७/५८-६०(भा.), ९४
व्युत्पत्ति ३/४, २४, १४०-१४२(भा.)
व्यवहारनय ५/१५४-१५६(भा.)
व्यवहार पल्योपम ६/१३३-१३४(भा.)
व्यवहार-मनोविज्ञान ७/१६१(भा.)
व्यसनभूत ३/२५३
व्याकरण ५/८३-८८ (भा.), १०४-१०६(भा.)
व्याख्या ३/२९, ४५; ६/१-४(भा.); ७/९३-९५(भा.), ११३-११६
(भा.), १६१
- साहित्य ७/१२७-१४५(भा.)
व्यापक (विभु) ७ आमुख, १०-१५(भा.)
व्यावहारिक ३ आमुख; ५/१५४-१५६(भा.); ६/१३३-१३४
- काल ५/२४८-२५३ (भा.)
- पल्योपम ६/१३३-१३४(भा.)
- परमाणु ५/१५४-१५९ (भा.); ६/१३३-१३४(भा.)
व्यास ६/१३३, १३४
व्युच्छिन्न ७/२०, २१
व्युद्भ्राजमान ३/११२
व्युद्भ्राजयन् ३/११२
व्युत्पत्ति ३/४, २४, १४०-१४२(भा.)
- लभ्य ३/१४३-१४८(भा.)
व्येजन ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.); ५/१५०-१५३, १५०-१५३ (भा.)
व्येषित ७/२५(भा.)
व्रत ६/६४-६८; ७/६, ७, २९-३५(भा.), २०४
- व्यवस्था ५/२५४-२५६ (भा.)
व्रतीअनुकम्पा ७/११३-११६(भा.)
व्रीहि ६/१२९, १२९-१३१ (भा.)
श
शंकित ७/२५(भा.)
शंख ५/६४
शक्ति ५/११०, १११, ११०-१११ (भा.), १३६; ६/३३, ३४
शतक ३ आमुख, १, ४, ४८, १३१, १४८, २५०-२७७(भा.); ४ आमुख,
१, ४; ५ आमुख, १, ५७, ५८, ११५, १२४-१२७(भा.), १३६-१४६(भा.),
१५०-१५३(भा.); ६ आमुख, १, १८, १२०-१२८(भा.); ७ आमुख, १, ६६,
१०६
शनैश्चारी (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५
शताब्दी ६/१३२
शब्द ५ आमुख, १, ६४, ६४ (भा.), ६७, ६५-६७ (भा.), १०७, १७२, १७६;
७/१३१, १३७

- की ध्वनि तरंग ५/६७

- मीमांसा ३/४५

शब्दात्मक ५/१०८, १०९

शयन मुद्रा ३/३५, ३६

शरणागत ७/१७३

शरीर ३/४, २७, २८, २९, ४५; ५/३१-४५(भा.), ५०-५४(भा.), ५९-६१(भा.), ८३-८८(भा.), १३४-१३९, १३८, १४८, १८३, १८५, १८७, २०९, २११; ६/५-१४, २०, २०-२३ (भा.), ३३, ३४, ६३, १२२, १२५-१२७, १५२, १८६; ७ आमुख, २, २२, २३, २५, २६, २७, २८, ५४-५७, ६६, १४६-१४९, १५९, २०३

- अपर्याप्ति ६/६३

- का मल (जल्लिय) ६/२०-२३ (भा.)

- का वर्ण ३/१८३-१८५

- धारी ७/१

- नाम कर्म ६/१५१

- निर्माण ३/१७

- पर्याप्ति ३/१७; ६/५-१४, ६३

- प्रमाण भूमि ३/३५, ३६

- रूप ५/५१-५४

- विज्ञान ५/८३-८८

- व्यापी ७/१०-१५

- शास्त्रीय ३/१७

- संस्कार ७/२९-३५

शय्यातर पिण्ड ५/१४०; ५/१३९-१४६ (भा.)

शरद्वस्तु ७/६२

शर्करा प्रभा पृथ्वी ५/६२, २१६; ६/१३७-१५०

शल्य ३/१९०

शस्त्र ७/२५

- परिणामित ५/५१-५४(भा.); ७/२५(भा.)

- प्रहार ३/९२

शस्त्रागार ३/११२

शस्त्रातीत ५/५१-५४(भा.); ७/२५, २५ (भा.)

शांतिगृह ३/२६८, २६८ (भा.)

शाटन ६/१-४(भा.)

शाम्बरी विद्या ३/१९०

शाम्बरी मुद्रा ३/१०५

शारीरिक (वेदना) १६, २(भा.)

शालि (ली) ६/१(सं.गा), १२९, १२९-१३१ (भा.)

शाश्वत १/११५, २५५; ७ आमुख, ३, ५८-६०(भा.), ९३, ९४, १६५

- वाद ७/५८-६०(भा.)

- अशाश्वतवाद ७/५८-६० (भा.), ९३-९५ (भा.)

शिक्षाव्रत ७/२९-३५(भा.)

शिखरयुक्त भवन ३/२७

शिखरी ५/१८२-१९० (भा.)

शिथिल बन्धन बद्ध ७/१६५

शिथिल रूप ६/४; ६/१-४ (भा.)

शिथिलोक्त ६ आमुख, १-४(भा.)

शिरोरक्षक ३/४

शिला-प्रवाल ३/३३, ३३ (भा.)

शिव (महादेव) ३/३६

शिव ३/३४

शिविका ३/१६४-१७१ (भा.)

शिष्य ३/१३४; ४ आमुख, ५/२५४-२५७(भा.)

शीघ्र—देखें गति

शीत ५/१५०-१५३(भा.); ६/१६३-१६७(भा.)

शीर्षप्रहेलिका ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४

शीर्षप्रहेलिकांग ६/१३२, १३३, १३४

शीर्षासन की मुद्रा (में दौड़) ३/११४ (भा.)

शील ७/१२१, १८३, १८१, १९०, २०४

शुक्ल ६/१६३-१६७(भा.); ७/६७-७३(भा.)

- लेश्या ६/६३, ५४-६३(भा.)

- वर्ण ६/१६७

शुद्ध ४/८

शुद्धोदन(भोजन) ३/३३, ३३ (भा.)

शुभ ६/१४, १५, १६, २०-२३

- करण ६/११, १४

- कर्म ३/३३

- गन्ध ६/१६०

- जन्य ६/१६०

- ध्यान ३/३०

- नाम ६/१६०

- प्रवृत्ति ६/२०-२३(भा.); ७/१४६-१४९(भा.)

- योग ६/१-४, २०-२३(भा.); ७/१०७-११२(भा.)

- रस ६/१६०

- रूप ६/१६०

- स्पर्श ६/१६०

शुभ (भास्वर) ६/७१

शुभ (दीर्घ) ५/१२७

शुभानुबंधा ६/१-४(भा.)

शुभाशुभ करण ६/१३

शुम्ब (रज्जु) ३/४५, ४५ (भा.)

शुषिर ५/६४

शुश्रूषा ३/१३

शून्य ६/२७-२९(भा.)

शूल ५/१८९, १८२-१९० (भा.)

- गृह ३/२६८, २६८ (भा.)

शौलेशी (अवस्था) ५/६४-६६; ६/१५-१६ (भा.)

शोकाकुल ७/११४

शोकापन ३/१४३-१४८ (भा.)
 शोणित ३/१७
 शोष (राज्यक्षमा) ३/२५८, २५८ (भा.)
 शौच ७/११३-११६
 शौरसेनी ५/६३
 श्मशानगृह ३/२६८, २६८ (भा.)
 श्रद्धा ३/९
 - गम्य ५/१३४, १३५
 श्रमण ३/४, ८, १०, १२, १३, १६, १९, २०, २४, २५, २८, ३०, ३६, ९, ११२, ११७, १२९, १३४, १४२, १५१, १५२; ४ आमुख: ५/३, १६, २३, २७, ७८, ८०-८६, १२४-१२७, २४४-२५६; ६/३, ४, १५६; ७/४, ५, ८, ९, २४, १५९, १६५, १९३, २०३, २१३-२२४, २३१
 - परम्परा ६/१८३-१८५ (भा.)
 श्रमणोपासक ७/४, ६, ७, ६-७ (भा.), ९, २९, ३५
 श्रवण-क्षेत्र ५/६४, ६४-६६ (भा.)
 श्रामण्य पर्याय ३/१७, २१
 श्रावक ३/७३: ५/२४५-२५६ (भा.); ६/१-४ (भा.), ६४-६८ (भा.); ७/६, ७, २९-३५ (भा.), ३६-४२ (भा.)
 श्राविका ३/७३
 श्रीकल्प ६/१३३-१३४ (भा.)
 श्रीसंपन्न ३/३६
 श्रुतज्ञान ५/११२-११३ (भा.)
 श्रुतज्ञानावरण ७/१६१
 श्रुतभावितात्मा ३/१५४-१६३ (भा.)
 श्रुता ५/६६
 श्रेणी ६/७१, १२५
 श्रेयस्कर ३/३८, ११२
 श्रेयान् ६/१
 श्रेष्ठ ६/१, ४
 श्रेष्ठी ३/३४; ७/१९६
 श्रोता ५/६३
 श्रोत्र ५/६४
 श्रोत्रेन्द्रिय ३/१९१: ५/६४
 - विषय ३/२७९
 श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका ६/१३४
 श्वासोच्छ्वास ६/३३-३४ (भा.)
 - वर्गणा ५ आमुख; ६/३३, ३४
 श्वेताम्बर ७/१ (भा.)
 - परम्परा ६/१३३-१३४ (भा.); ७/१ (भा.)

ष

षट्कोण ६/९०
 षट् प्रदेशी ५/१६३
 षड् जीविकाय ५/१८२-१६० (भा.)
 षड्द्रव्य ७/२१२-२१७ (भा.)
 षष्ठ भक्त ३/१०५; ७/२३१

षोडशिका ७/१५९

स

संकलित ६ आमुख
 संकल्प ३/३३, ३६, ३८, ५०, १०२, १०४, १०९, ११२, ११५, ११६, १३१; ६/१५, १६
 - पूर्वक ७/६, ७
 - सिद्धि ३/३८
 - हिंसा ७/६, ७
 संकल्पित ७/२५ (भा.)
 संकेत ७/३४
 संक्रमण ५/५६; ६/५-१४, १५४
 संक्लिष्ट ३/८४: ४/८
 संक्षिप्त पाठ ४ आमुख
 संख्यात ५/१६०-१६५; ६/७४, ७५, १३३, १३४
 - गुना ६/५२; ७/३६-४२
 - वां भाग ५/२२२; ६/१२५
 संख्यात्मक ६/१३३, १३४
 संख्येय ३/४, ६, १४; ५/५८-६१, १६०-१६४, २२२, २४८-२५३; ६/६१, १२५, १३२; ७/३६-४२
 - गुना ३/११९, १२४: १२६
 - भाग ३/१२०, १२१, ११९-१२६ (भा.); ५/१०३-१०६
 संघ ३/१९७
 संघट्टेति ५/१३४, १३४-१३५ (भा.)
 संघाण्ड १३४, १३४-१३५ (भा.)
 संघात ५/२०१-२०७
 संघलन ३/४५, ४६
 संघालित ३/४५
 संज्ञा ६/५-१४; ७/३६-४२, ११६, १५०-१५४, १६१
 - मन ५/१००-१०२
 - सिद्धान्त ७/१५०-१५४
 संज्ञी (समनस्क) ३/१७; ६/२०, ३९, ५२, ६३; ७/१२७-१४५ (भा.), १६१
 - तिर्यच पंचेन्द्रिय ३/१८३-१८५ (भा.)
 - कर्मभूमिजमनुष्य ३/१८३-१८५ (भा.)
 संज्वलन-कषाय ७/२०, २९
 सन्त ३/३३, ३३ (भा.)
 सन्तति-प्रवाह ६/३०-३२ (भा.)
 संतुलन ३/१३४-१३९ (भा.)
 संदृब्ध ४ आमुख
 संधिनिष्पन्न ५/३-१२ (भा.)
 सन्धिपाल ७/१९६
 सन्निचय ३/२६८, २६८ (भा.)
 सन्निचित ६/१३४, १३३-१३४ (भा.)
 सन्निधि ३/२६८, २६८ (भा.); ७/४, ५

सन्निवेश ३/१००, १०१, १०४; ६/७७, ६४, १३६, १४६
संप्राप्ति ३/४
संप्रेक्षा ३/३३, ३६, १०२, ११२; ५/५८
संबुद्ध ७/२२०
संबोधि ६/३०-३२(भा.)
संभ्रम-रहित ७/२१५
संमूर्च्छित ६/७८, ६५, १४०, १५७, १५८
संमृष्ट ६/१३४, १३३-१३४(भा.)
सम्मूर्च्छन ६/७६, ६६
संयत ५/८१; ६/२०, ३६, ५२, ६३; ७/२८, ५४, ५४-५७(भा.)
संयतासंयत ५/६१; ६/३७, ५२, ६३; ७/५४, ५४-५७(भा.)
संयतेन्द्रिय ५/२०१
संयम ३/१९, २४, १०५, १४९, १५०, १५१, १५३, १५४-१६३(भा.), २२२-
२३०(भा.); ५/८५-८६(भा.), ६२, ११२, ११३, २०१, २०७; ७/१, २, २५, ५४-
५६, ९७, १०७-११२(भा.), ११३-११६(भा.), १५६
- धर्म ७/११३, ११६
- भार ७/२५
- यात्रा ७/२५
- यात्रामात्रावृत्तिक ७/२५, २५(भा.)
संयमासंयम ७/११३-११६(भा.)
संयमी ७/१०७-११२(भा.)
- दान ७/८, ९, ८-९(भा.)
संरक्षण ३/४
संयोजना ७/२२, २३, २५
संयोजनाधिकरणक्रिया ३/१३६
संरम्भ ३/१४५, १४३-१४८(भा.)
संलेखना ३/१७, २१, ३६, ३८, ४३, १०७; ७/२९-३५(भा.)
- आराधना ३/१०४
संवत्सर ५/१८; ६/१३२
संवर ३/१३४-१३९(भा.); ७/२७, २८, १०७-११२(भा.)
- सहचारी ७/१००-११२(भा.)
संवर्त (संवट्ट) ७/१८८, १८८(भा.)
संवर्तकवात २/२५३, २५३(भा.)
संवाद ७/२२०
संवादात्मक ७/११७-१२३(भा.)
संवृत ३/१०५, १४८; ७/४, ५, २०, २१, २८, १२५, १२६, १२५-१२६
(भा.)
संवेग ७/१५०-१५४(भा.)
संवेगात्मक ७/१६१
संवेदन ५/६४; ६/५-१४, ३३, ३४, ६४-६८(भा.), १७१-१७३(भा.), १८३-१८५
(भा.); ७/१२७-१४५(भा.), १५०-१५४(भा.), १६०-१६१
संवेदना-तंत्र ७/१५०-१५४(भा.)
संशय ३ आमुख
संसार ६/३५-५१(भा.)

- चक्र ७/१०७-११२(भा.)
- परिभ्रमण ७/१०७-११२(भा.)
- मण्डल ४ आमुख; ५/१२२
- स्थ ७/२१८-२२०(भा.)
- समापन्नक ७/१७
संसार (जन्म-मरण) ६/२७-२९(भा.), ३२
संसारी-जीव ७ आमुख, १
संसृष्ट ६/४, १-४(भा.)
संस्कृत ३/३५-३६(भा.), ४५(भा.), ५१(भा.); ५/६३(भा.)
- रूप ३/११२(भा.)
- शब्दकोश ६/१७१-१७३(भा.); ७/११७-१२३(भा.)
संस्तृत ३/४, ५, १९६
संस्थान ३/१६४-१७१(भा.); ६/७३, ११५; ७/३, ११९
- गत ६/१५९
संस्थित ६/६०; ७/२
संस्वित्र ६/७८, ६५, १४०, १५७, १५८
संस्वेदन ६/७६, ६६, १७१-१७३(भा.)
संहत ५ आमुख
संहति (Mass) ६/७०-११८(भा.)
संहनन ६/१३३, १३४; ७/११८
संहरण ७/२
संहृत ७/२५(भा.)
स-अर्थ ५/१६०-१६२, १६४, १६०-१६४(भा.), २०१-२०३, २०५,
२०६, २०१-२०७(भा.)
स-इंगाल (स-अंगार) ७/२२, २२-२३(भा.)
स-द्रव्य ५/१११
स-धूम ७/२२
स-प्रदेश ५/१६०-१६२, १६४, २०१-२०२, २०५, २०६, २०१-
२०७(भा.); ६/१, ५४, ५५, ५७, ५८, ६०, ६३, ५४-६३(भा.), ६८
स-मध्य ५/१६०-१६२, १६४, २०१, २०२, २०३, २०१-२०७(भा.)
सकषाय ३/१९०; ६/६३; ७/२०, २१
सकषायी ६/६३
सक्रिय ३/१३४-१३९(भा.)
- ता ३/१३४-१३९(भा.), १४३-१४८(भा.)
सघन द्रव्य ५/५१
सचित्त ५/१२४-१२७(भा.), १८३, १८५, १८७, १८६; ६/१८; ७/१२८,
१३३, १५६
- आहार ६/१८
सजीव ७/१२७-१४५(भा.)
सतह ६ आमुख
सत् ५/२५४-२५७(भा.)
सत्यभाषा ७/२८
सत्यभाषी ७/२८
सत्त्व ३/१४५, १४८; ५/११६, ११८, १३४, १३५; ६/५-१४(भा.),

८८, १०५, ११६, १८३, १८४; ७/२७, २८, ६६, ११४, ११६
सदा प्रतिक्षण ३/१४३-१४८(भा.); ६/२०, २२, २०-२३ (भा.)
सदा-समित ३/१४३-१४८(भा.)
सद्भूत ५/२५५, २५४-२५७ (भा.)
सद्-द्रव्य ५/१११
सन (सण) ६/१२९-१३१ (भा.)
सपक्ष (सप्रतिदिश) ३/३८, ३८ (भा.)
सपर्यवसित ६/२७-२६, ३०-३२
सप्त प्रदेशी ५/१६३
सप्तविधबन्धक ५/६८-७५(भा.); ७५; ६/१६२
सप्रकम्प ५/१७०-१७७(भा.)
सप्रतिक्रमण ५/२५६
सप्रतिदिक् ३/३८
सब ओर से ५/१०९
सब काल ५/१०९
सब भावों ५/१०९
सभा ५/१८९, १८२-१९०(भा.)
समचतुरस्र संस्थान ६/६०
समतल (प्रायः) ६/१३५
समन्वय ३/१३४-१३९(भा.)
समनस्क ३/१७; ६/३९, ६४-६८(भा.); ७/१२७-१४५(भा.); १५१,
१५०-१५४ (भा.)
- तिर्यञ्च ३/१६४-१७१(भा.)
- मनुष्य ३/१६४-१७१(भा.)
- पञ्चेन्द्रिय ७/१५०-१५४(भा.)
समप्रदेशिक ५/१६०-१६४(भा.)
समभाव (अधिकतम) ६/१५, १६
सममिति ६/७२
समय ३/१७, ११९-१२६(भा.); १४८, १४९, १५०, १८३-१८५(भा.); ५/१,
३-६, १३-१६, २३, २५, २६, ५७, ६१, ६४, ८३-८८, ११०, १११, १६६-१८०
(भा.); २०३, २१३-२१५, २१७, २१९, २२०, २२२-२२४(भा.); २२८-२३३
(भा.); २४८, २४६, २५१, २५२, २५८; ६/२७-२६(भा.); ३८, ५४-६३(भा.);
१३२, १३३, १३४
- की रूक्षता ७/११७ (भा.)
- क्षेत्र ५/२४०, २४८-२५३ (भा.); ६/१३७-१५०(भा.); १६०
समयातीत क्षेत्र ५/२४८-२५३ (भा.)
समर्पण सूत्र ४ आमुख
समवसरण ७/९७, ९९, १०१, ११८-१२०
समवसृत ३/३, ११६, १२९; ७/२१४, २२२
समवहत ३/४, ५, ३८, ११२, १५४-१५६, १९६; ६/१२२-१२७(भा.);
१३७-१५०(भा.); १६८, १६६
समवहतासमवहत ६/१६८, १६६
समागम ६/१३२, १३४, १३३-१३४ (भा.)
समाधान ५/२५४-२५७(भा.); ७/२१८-२२०(भा.)

समाधि ३/४; ५/१०७; ६ आमुख; ७/८, २०३
- की साधना ३/१३४-१३९(भा.)
- पूर्ण ३/१७, २१
- मरण ३/१३४-१३९(भा.); ७/२९-३५(भा.)
समारम्भ ३/१४५, १४३-१४८(भा.); ५/१५०-१५३, १५६, १८३, १८५,
१८७; ७/६, ७, ६-७ (भा.) २२७, २२८
समित ७/४, ५
समिति ६/१३२, १३४; १३३-१३४ (भा.) ७/२९-३५(भा.)
समीकरण काल ५/२०८-२२४(भा.)
समीक्षा ३/१७
समुदय ६/१३२, १३४, १३३-१३४ (भा.)
समुदाय ५/२३५, २३६
- रचना ५/५७, ५८
समुद्र ६ आमुख, ७२, ७५, १५६-१६०
समुद्री घास ६ आमुख
समुद्घात ३/४; ६/१६८, १६६; ७ आमुख
- गत ६/३५-५१(भा.)
समुल्लास ७/२१३, २१८
सम्मूर्च्छन ३/१७
सम्मूर्च्छिम ७/३६-४२(भा.); १९
- मनुष्य ५/६२, २२२; ७/३६-४२(भा.)
- पञ्चेन्द्रिय ५/२०८-२२४ (भा.); ७/१५०-१५४(भा.)
सम्यक् ३/११, १३४-१३९(भा.)
- दर्शन ३/३५, ३६, २३१-२३९(भा.); ७/२७, २८
- दृष्टि ३/७२, ७३, २२२-२३०, २३१, २३४, २३७;
५/१२८-१३२, १६१-१६६; ६/१-४, २०, ३८, ५२, ६३, १६८
- प्रकार ३/५०, ५१; ६/४
- प्रज्ञापना ३ आमुख
- प्रणाश ६ आमुख
- प्रत्याख्यान ७/२७, २८
- मिथ्यादृष्टि ६/३८, ५२, ६३
- विनयपूर्वक ५/२०७
- श्रद्धा ५/१६१
सम्यक्त्व ७/९७, ११९
- क्रिया ७/९७
- दलिक ५/१११
सयोग ६/५४-६३; ७/१
सयोगी ६/३५-५१, ५२, ६२
- केवली ३/१४३-१४८; ७/२०, २१
सर ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
सरण ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
सरपंक्ति ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
सरसरपंक्ति ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
सराग ६/३५-५१; ७/२०-२१

- संयम ७/११३-११६(भा.)
 सर्वलाईट ६ आमुख
 सर्व ५/१६५-१६४
 - अदत्तादान विरमण ७/३१
 - उत्तर गुण ७/२९-३५
 - उत्तरगुण प्रत्याख्यान ७/३३, ३४
 - उत्तरगुणप्रत्याख्यानी ७/५२, ५३, ४३-५३ (भा.)
 - काल ३/१४९, १५०; ५/२१२, २२७, २३१
 - ज्ञ ५/२५५
 - ज्ञता ५/२५४-२५७(भा.)
 - दर्शा ५/२५
 - दूर-मूल ५/६५-६७(भा.)
 - परिग्रह विरमण ७/३९
 - प्राणातिपात ७/२०३
 - प्राणातिपात विरमण ७/३१
 - पौषध ७/२९-३५
 - मूल ५/६५-६७
 - मूलगुण प्रत्याख्यान ७/३०, ३१
 - मूलगुणप्रत्याख्यानी ७/४३, ४४, ४६, ४७, ४९, ५१, ४३-
 ५३(भा.)
 - मृषावाद विरमण ७/३१
 - मैथुन विरमण ७/३१
 - विरत ६/६४-६८; ७/३६-४२
 - व्यापी ७ आमुख, १०-१५(भा.)
 - स्तोक ६/५२
 सर्षप ६/१३१, १२९-१३१(भा.)
 सलेश्य ६/५४-६३(भा.)
 सविनय ३/१३
 सविभाग ६/५४-६३(भा.)
 सवेद ६/३५-५१, ५४-६३(भा.)
 - क ६/५२-६३(भा.)
 सशरीर ५/४८, ५०, ४६-५० (भा.) ; ६/६३
 सह (मनुष्य की एक जाति) ६/१३५
 सह-चरित ३/१४३-१४८(भा.)
 सहचारी भाव ६/१५१
 सहेतुक ५/१६१-१६४(भा.)
 सांख्य दर्शन ५ आमुख; ६/१८३-१८५(भा.); ७ आमुख, १०-१५(भा.),
 १६-१९(भा.), ५८-६०(भा.), २१८-२२०(भा.)
 सांप्रदायिक दृष्टिकोण ३ आमुख
 साकार ६/३५-५१(भा.), ५४-६३(भा.); ७/३४
 - उपयोग ६/४०, ६३
 सागर ३/१२७, १२८; ६/३३, ३४
 सागरोपम ३/५२, ७४, १३०; ५/१८; ६/३४, ११७, १३३, १३४
 साठ भक्त ३/१७, १०७

सात ७/१०३, १०७-११२(भा.)
 - असात ३/९२ (भा.)
 - वेदनीय कर्म ३/१४३-१४८(भा.); ६/१३, ६४-६८(भा.);
 ७/३६-४२(भा.), १०७-११४(भा.)
 सादि ६/२७-२६, ३०-३२
 - अपर्यवसित ६/२७, २८, ३०-३२
 - सपर्यवसित ६/२७-३२(भा.)
 - त्व ६ आमुख, २०, २७-२९(भा.), ३०-३२(भा.)
 साधकतम ६/५-१४
 साधन ५/१६१-१६६(भा.); ६/५-१४(भा.)
 साधना ३/१७, १३४-१३९; ७/४, ५, २२, २३, २९-३५(भा.)
 साधारण शरीर ६/३५-५१(भा.); ७/६६
 साधारण शरीरी ५/१५४-१५७(भा.)
 साधु ३/७३; ६/६४-६८(भा.); ७/२५
 साध्य की सिद्धि ५/१६१-१६६(भा.)
 साध्वी ३/७३
 सान्त ६/२७-२६
 सापेक्ष ५/१५०-१५३(भा.), २५४-२५७(भा.)
 - दुःखवादी ६/१८३-१८५(भा.)
 - दृष्टि ५/२५४-२५७ (भा.); ७/२७, २८
 सामंतवादी ७/१७३
 सामाचारी ३/३०
 सामायिक ५/२५४-२५७(भा.); ७/४, ५, ३५
 - चारित्र ३/१४९, १५०
 सामुदानिक ३/३३, १०२; ७/२५, २५ (भा.)
 साम्प्रदायिक आश्रव ६/२०-२३(भा.)
 साम्प्रदायिकी ७/२०, २१
 - कर्म ७/२०, २१
 - क्रिया ३/१४३-१४८; ७/४, ५, ४-५ (भा.) २०, २१, २०-
 २१(भा.), १२५, १२६, १२५-१२६(भा.)
 सार (रत्न) ३/३३ (भा.)
 सार पुद्गल ३/४
 सारम्भ ५/१८२-१६०(भा.)
 सारिणी ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 सार्वकालिक ७/११३-११६(भा.)
 सार्वदेशिक ७/११३-११६(भा.)
 सार्थवाह ३/३४; ५/१३६-१४६(भा.); ७/१९६
 सार्वभौम ३ आमुख, ७/११३-११६(भा.)
 सावद्य ६/६४-६८; ७/८, ९, २२, २३, २४, २९-३५(भा.), ५४-५७(भा.),
 १९३, २०३
 - प्रवृत्ति ७/५४-५७(भा.)
 सावयव ५ आमुख; ६/५४-६३(भा.)
 सावेदक ६/५२, ६३
 सिंधु नदी ७/११७, ११६, १२०

सिंह (राशि) ७/६२
 सिंहनाद ३/११२
 सिग्नसएक्स ६/७०-११८(भा.)
 सिद्धि ३/३०, ५०, ५३, ७५, १३०; ५/८०-८१, ८४, ८८, ११, १४७, २११, २२३, २२४, २२६, २३२, २३३, २५७; ६/३२, ३६, ५६, ६२, ६३, १३३-१३४(भा.)
 १७४-१८२(भा.); ७/३, ८, १०-१५, १२७-१४५(भा.), १५६, २०३, २१०
 - पुरुष ६/१३४
 - गति ६/३०-३२; ७/२०३
 सिद्धान्त ३ आमुख, ८४, २२२-२३०(भा.), २५०-२७७(भा.); ५ आमुख, ५१-५४(भा.), ५७, ५८, ७२-७५(भा.), २५४-२५७(भा.); ६ आमुख, ३०-३२(भा.), १३३, १३४, १७१-१७३(भा.); ७ आमुख, १, १६-१९(भा.), २०, २१, ५८-६०(भा.), १६०, २१२-२१५(भा.), २१८-२२०(भा.)
 सिद्धि ३/३८; ६/५-१४(भा.)
 सिय ५/१५०-१५३(भा.)
 सींग ५/५३, ६४
 सीमाक्षक ३/४
 सीसा ५/५२
 सीसाकर (सीसागर)—देखें सीसे की खान
 सीसे की खान ३/२६८
 सु-आचरित ३/३३
 सुख ६/५-१४(भा.), १७१-१७३(भा.), १८४, १८५, १८८; ७/३६-४२(भा.), ११३-११६(भा.), १६०
 - उपदर्शन ६/१७१-१७३ (भा.)
 - की परिभाषा ७/१६०
 - द ७/१६२
 - मय ६/१८४
 - रूप ७/२२६
 सुखात्मक ७/११३-११६(भा.)
 सुखासन की मुद्रा ३/३३
 सुगन्ध ६/१६३-१६७(भा.)
 सुगति ६/१-४
 सुपराक्रान्त ३/३३
 सुप्तवज्रासन ३/२०७
 सुप्रतिष्ठक ७/३
 सुप्रत्याख्यात ७/२७, २८, २७-२८ (भा.)
 सुप्रत्याख्यानी ७/२८
 सुभाए ३/७३
 सुरक्षाकवच ७/१७६ (भा.)
 सुरसुर ७/२५
 सुरा ५/५१
 सुलभबोधिक ३/७२, ७२ (भा.), ७३
 सुवचन ३/३०
 सुवर्णाकर (सुवर्णागर)—देखें सोने की खान
 सुवृष्टि ३/२६३, २६३ (भा.)

सुषमा ६/१३४
 सुषम-सुषमा ६/१३४, १३५, १३५ (भा.)
 सुषम-दुःषमा ६/१३४
 सूक्ष्म ५/११२, ११३, १५४-१५६, १६६-१७४, १७८; ६/२०, ५०, ५२
 - अणु ६/७०-११८(भा.)
 - क्रिया ३/१३४-१३९(भा.), १४३-१४८(भा.)
 - छायांकन (Photography) ६/१७१-१७३(भा.)
 - जीव ३ आमुख
 - तम ६/१३३, १३४
 - तर ६/२०, ५०, ५२
 - त्व ५/२०१-२०७(भा.)
 - ता ५ आमुख, २५४-२५६(भा.)
 - परमाणु ५/१५४-१५९(भा.); ६/१३३, १३४
 - पृथ्वीकाय ६/१३७-१५०(भा.)
 - संपराय ६/१६२
 - (सार) पुद्गल ३/४
 सूचना-पद्धति ३/३८
 सूची अंगुल ६/१३३-१३४(भा.)
 सूत्र ३/१५, २२, २३, ३४, ३७, ३८, १४३-१४८(भा.), १५४-१६३(भा.);
 ४ आमुख: ५/६२, ६४-६८(भा.), १०७, १४८; ६ आमुख, १-४(भा.),
 ५-१४(भा.), २०-२३(भा.), ५२, ६३, १२०-१२८(भा.), १३२, १५०, १६२,
 १८३-१८५(भा.); ७/१, ४, ५, २०, २१, २७, २८, १७, १९, १२६
 - अंश ३/४
 - आगम ५/६७
 - आत्मक ७/११७-१२३
 - कार ७/४, ५, १०-१५(भा.), २०, २१, ६४, ६५, ११३-११६(भा.)
 - दान ५/१४७
 - पाठ ३/४; ७/१
 सृष्टि ५ आमुख
 - रचना ५ आमुख
 - विकास ६/१३३-१३४(भा.)
 सेना ३/११२: ७/१७३
 - पति ३/३४: ७/१९६
 - पत्य ३/४, ४ (भा.)
 सैही—देखें गति
 सोने की खान ३/२६८
 सोपक्रम आयुष्य (ष्क) ५/५८-६१
 सोपचय-सापचय ५/२२५
 सौगन्धिक ३/४, ४ (भा.)
 स्कन्ध ३/१४०-१४२; ५/५१-५४, ६४, ११२, ११३, १५०-१५३, १५६,
 १५६, १५४-१५६ (भा.), १६३, १६०-१६४ (भा.), १६५-१६८, १६६-१७४
 (भा.), १७५-१८० (भा.), १८१, २०१-२०७ (भा.)
 स्तूप ५/१८९, १८२-१९० (भा.)
 स्तोक ६/१३२, १३३, १३४

स्त्री ६/२०, ३५, ३६
 - वेदक ६/५२, ६३
 - वेदी ६/५४-६३
 स्थान ४/८: ७/४, ५
 स्थान (वैशाख नाम युद्ध की मुद्रा) ५/१३४
 स्थान (आलोच्य स्थान) ५/१३६, १४२, १४३, १४५
 स्थापना ७/२५
 स्थापित ५/१४०, १३६-१४६ (भा.)
 स्थालीपाक शुद्ध ७/२२४, २२६
 स्थावर ५/५८-६१; ७/१, २८, १५०
 स्थिति ३/५२, १४९, १५०; ४/५; ५/२४८-२५३(भा.); ६/३३, ३४, ५४-६३(भा.), ११७, १५१; ७/६८, ७०, ७३, १५०-१५४(भा.), २०७
 - काल ३/१४३-१४८ (भा.)
 - क्षय ३/५२, ५३, ७५; ७/२०८
 - नाम कर्म ६/१५१
 - नाम का निषिक्त ६/१५२
 - नामनिधत्त आयुष्य ५/६२
 - नाम निषिक्तायुष्य ६/१५१
 - प्रकल्प (विशेष संकल्प) ३/३८, ३८ (भा.), ४०
 - बन्ध ६/३३, ३४, १५१
 - भोजन ७/२९-३५(भा.)
 - लक्षण ५/२५४-२५७(भा.)
 स्थूल ५/११२, ११३; ६/२०-२३(भा.)
 - अदत्तादान विरमण ७/३२
 - (असार) पुद्गल ३/४
 - कर्म पुद्गल ६/४, १-४ (भा.)
 - क्रिया ३/१३४-१३९(भा.), १४३-१४८(भा.)
 - परिग्रह ७/२०३
 - परिग्रह विरमण ७/३२
 - परिणति ५/१५४-१५९ (भा.)
 - पुद्गल ६/४
 - प्राणातिपात ७/२०३
 - प्राणातिपात विरमण ७/३२
 - मृषावाद विरमण ७/३२
 - मैथुन विरमण ७/३२
 - शरीर ७/२
 स्नायु—देखें णहारु
 स्निग्ध ५/१५०-१५३; ६/१३३, १३४, १६३-१६७(भा.)
 - काल ६/१३३, १३४
 - ता ६/१३३, १३४
 - रूक्ष ६/१३३, १३४
 - स्पर्श ७/१७१
 स्नेहयुक्त वायु ५/३१-४५(भा.)
 स्पन्दन ३/१४३-१४८, १४३-१४८ (भा.), १५४-१६३ (भा.); ५/१५०-

१५३, १५०-१५३ (भा.)
 स्पर्श ३/१४३-१४८; ४/८; ५/५१-५४, ६४, १०७, १०९, १३५, १५०, १५३;
 ६आमुख, १३३, १३४, १६०, १६७; ७/५८-६०(भा.), ६७-७३(भा.), १३६,
 १३७, १५०-१५४(भा.), २०३
 स्पर्शनेन्द्रिय ३/१९१; ५/६४; ७/१३७, १४२
 - विषय ३/२७९
 स्पृष्ट ३/४, ५, १७, १४८, १९६; ५/४८, ६४, १३४, १३५; ७/१६, १७, १९,
 ६४, ६५
 - अवस्था ३/१४३-१४८ (भा.)
 स्मृत ७/१७३, १८२
 स्मृति ३/१७, ३८, ४०
 स्मृत्यात्मक ३/३३, ३६, १०२, १०४, १०९, ११२, ११५, ११६, १३१
 स्पन्दन ३/१४३-१४८ (भा.)
 स्पृहा ३/११४
 स्यन्दमानिका (संदमाणिया) ३/१६४, १६४-१७१(भा.)
 स्यात् ५/४६, ५०, १५०-१५३, २०५; ६/३५, ५१-५४(भा.) ६३, १७५, १७६,
 १७८, १७९, १८१; ७/१, २८, ५८-६०, ६७, ६९, ७२, ९३-९५, १०३-
 १०५
 स्याद्वाद ५/१५०-१५३(भा.)
 स्वतःचालित (रथ व शस्त्र)७आमुख, १८८ (भा.)
 स्वतःप्रामाण्य ४आमुख
 स्वतःसिद्ध ५/२५४-२५७(भा.)
 स्वद्रव्य ५/१११
 स्वभाव ६आमुख, २०, २४-२६, ३३, ३४
 स्वयंबुद्ध ५/६६
 - की उपासिका ५/९६
 - की श्राविका ५/९६
 - के उपासक ५/९६
 - के श्रावक ५/९६
 स्वर-यन्त्र ३/१७; ५/८३-८८(भा.)
 स्वरूप ५/११२, ११३
 स्वविषय ५/१४७, १४७ (भा.)
 स्वशरीर क्षेत्र ६/१८६
 स्वस्तिकासन ३/२०५
 स्वहसपारितापनिकी ३/१३८
 स्वहस्तप्राणातिपातक्रिया ३/१३९
 स्वाभाविक ३/१०९; ५/५१-५४, ७८, २०१-२०७; ६/३०-३२;
 ७/५८-६०
 - परिणमन ५/१९१-१९८ (भा.)
 स्वामित्व ३/४, ४ (भा.)
 स्वोपज्ञ आगम ५/६८-६६
 ह
 हंसगर्भ ३/४, ४ (भा.)
 हठयोग ३/१०५

हरित ७/११७, ११७ (भा.)
 हस्तक ३/१४३-१४८
 हस्तकृत्य ३/१९७
 हस्त-कृत्यागत ३/१९७-२००
 हस्त-कृत्या ३/१९७
 हस्त-कौशल ३/१९७
 हस्त-प्रहेलित ६/१३३-१३४(भा.)
 हस्त-लाघव ३/१९७
 हस्ते कृत्वा ३/१९७
 हाइड्रोजन ६/७०-११८(भा.)
 हाथ ३/४, ३५, ३६
 हानि ५/२०८-२२४ (भा.); तथा देखें, वृद्धि-हानि
 हास्य ५/६८-७१
 हाहा ६/१३३, १३४
 हाहांग ६/१३३, १३४
 हिंसा ३/१३४-१३९(भा.), १४३-१४८(भा.); ५/१२४-१२७(भा.),
 १८२-१६०(भा.); ७/६
 हित ३/७३
 - कामए ३/७३, ७३ (भा.)

हिताए ३/७३
 हिरण्याकर (हिरण्णागर देखें—चांदी की खान)
 हिलियम ६/७०-१८८(भा.)
 हीनपुण्य-चतुर्दशी का जन्मा हुआ ३/१०९, १०९ (भा.)
 हूहू ६/१३३, १३४
 हूहांग ६/१३३, १३४
 हूहूक ५/१८; ६/१३२, १३३, १३४
 हूहूकांग ५/१८, ६/१३२, १३३, १३४
 हृष्ट ६/१३२, १३२ (भा.)
 हेतु ३ आमुख, ३०, १४२; ५/१०४-१०६, १६१-१६४, १६१-१६८(भा.)
 - अहेतु ५/१९१-१९८ (भा.)
 - गम्य ३ आमुख
 - भूत ३/१३४-१३९(भा.)
 - लभ्य ५/१६१-१६८(भा.)
 - वाद ३ आमुख
 हेतूपदेश ७/१६१
 हेतूपदेशिकी ७/१६१
 हेमन्त (ऋतु) ५/१६; ७/६२(भा.)
 होरंभ ५/६४, ६४(भा.)

परिशिष्ट-४

आधारभूत ग्रन्थसूची

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
१. अंतगडदसाओ अंगसुत्ताणि भाग-३	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)	सन् १९७४	जैन विश्व भारती लाडनूँ (राजस्थान)	३/१०५; ५/७६, ७७, ७८-८२
२. अणुओगदाराइं मूल पाठ संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा तुलनात्मक टिप्पण	वा. प्र. गणाधिपति तुलसी सं. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९६६	जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूँ (राजस्थान)	३/४; ५/९४-९९, १५४-१५९; ६/१३२; ७/१५८, १५९
३. अनुकम्पा की चौपाई भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, प्रथम खण्ड	रचयिता—आचार्य भिक्षु सं. आचार्य तुलसी	प्रथमावृत्ति सन् १९६०	जैन श्वेताम्बर तेरापंथ महासभा, कलकत्ता	३/८४
४. अनुयोग द्वार चूर्णि	कर्ता—जिनदास महत्तर	सन् १९२८	श्री ऋषभ देवजी केशरामल जी श्वेताम्बर संस्था रतलाम (मालवा)	३/१६४-१७१; ६/१३२
५. अनुयोगद्वारवृत्ति	कर्ता—मलधारी हेमचन्द्र सूरि	सन् १९३६	केशरदेवी ज्ञान मन्दिर (पाटन)	३/१६४-१७१; ५/१५४-१५९, ६/१३३, १३४
६. अनुयोगद्वारवृत्ति	कर्ता—हरिभद्र	देखें अनुयोगद्वार चूर्णि		३/१६४-१७१
७. अन्ययोगव्यवच्छेदिका	कर्ता—हेमचन्द्राचार्य	सन् १९७९	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	६/३०-३२
८. अभिधान चिन्तामणि (नाममाला)	कर्ता—आचार्य हेमचन्द्र	वि. सं. २०२०	चोखम्बा विद्याभवन (वाराणसी)	३/३३, ११४, ११९-१२६, १९०; ५/६४, ७/११९
९. अयोगव्यवच्छेदिका	कर्ता—हेमचन्द्राचार्य	सन् १९७९	श्री परम श्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	३/१०५,
१०. आचारांगवृत्ति	कर्ता—श्री शीलानकाचार्य	सन् १९३५	श्रीसिद्ध चक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई	५/६४
११. आप्तमीमांसा				५/१५०-१५३
१२. आचार्य चूला अंगसुत्ताणि भाग-१	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती लाडनूँ (राजस्थान)	५/७६, ७७, १३९-१४६, २५४-२५७; ७/२५, ६२

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
१३. आयारो (मूलपाठ, अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक मुनि नथमल	वि. सं. २०३१	जैन विश्व भारती लाडनूँ (राजस्थान)	३/१०५, २२२-२३०; ७/२६-३५
१४. आवश्यक चूर्ण	कर्ता—श्री जिनदासगणि	सन् १९२६	श्री ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम (मालवा)	७/२६-३५
१५. आवश्यक निर्युक्ति	कर्ता—भद्रबाहु	वि. सं. २०३८	श्री भेरुलाल कनैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, आर. आर. ठक्कर मार्ग, वम्बई ।	७/२६-३५
१६. ईशावास्योपनिषद्				३ आमुख
१७. उत्तरज्ज्ञयणाणि (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा तुलनात्मक टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वितीय संस्करण सन् १९६२	जैन विश्व भारती संस्थान लाडनूँ (राजस्थान)	३/१४३-१४५, १८३-१८५, १९०, २११; ५/५६-६१, ६८-७१, २४८-२५३, २५४-२५७; ६/३०-३२, ५४-६३, १२०-१२८; ७/१०-१५, २२, २३, २६-३५, ६६
१८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति	कर्ता—भद्रबाहु	सन् १९१७	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्त- कोष्ठार फण्ड, वम्बई	५/१९१-१९८
१९. उवासगदसाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान)	७/२६-३५
२०. ऐतरेयउपनिषद्				७/१५०-१५४
२१. ओघनिर्युक्ति (भाष्य एवं द्रोणाचार्यकृत-वृत्ति सहित)	निर्युक्तिकार—भद्रबाहु	सन् १९१६	आगमोदय समिति, मेढ्रसाणा (गुजरात)	७/२०, २१
२२. ओवाइयं (उवंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)	५/७६, ७७, ८३; ७/१०, १५, २४
२३. ओवाइयं	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल		जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता	७/१७५
२४. कण्यो (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूँ राजस्थान	७/२४
२५. कर्म प्रकृति	श्रीमद् शिवशर्मसूरि विरचित तत्त्वावधान-आचार्य श्री नानेश सं. देवकुमार जैन	प्रथम संस्करण सन् १९८२	श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, बीकानेर	६/३३, ३४
२६. कसाय पाहुडं	सं. पं. फूलचंद्र, पं. महेन्द्र कुमार, पं. कैलाशचन्द्र	सन् १९४४	भा. दि. जैनसंघ चौरासी, मथुरा	४ आमुख

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक / वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
२७. कौटिल्य अर्थशास्त्र	रचयिता कौटिल्याचार्य	सन् १९६०	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई	३/४, ३५, ३६
२८. गोम्मतसार	कर्ता—श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती सं. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	सन् १९७६	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बम्बई	५/१००-१०२; ६/५-१४
२९. घेरण्ड संहिता	भाष्यकार श्रीस्वामी जी महाराज	वि. सं. २०२१	श्रीपीताम्बर पीठ संस्कृत परिषद् दतिया, मध्यप्रदेश	३/१०५, २०५
३०. चरक संहिता		चतुर्दश संस्करण	चौखम्भाभारती अकादमी, वाराणसी	३/२६; ५/७२, ७५
३१. चारित्तपाहुड		वि. सं. २०२१	माणिक चन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई	६/२६-३५
३२. छान्दोग्यउपनिषद्	भाष्यकार शङ्कराचार्य	वि. सं. २०१३	गीताप्रेस, गोरखपुर	७ आमुख
३३. छोट्टी चौबीसी (आराधना)	रचयिता श्रीभद्र जयाचार्य	सन् १९८१	जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान)	५/१०३-१०६
३४. जंबुद्वीवपण्णत्ती (उर्वंग सुत्ताणि, भाग-४, खण्ड-२)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान)	३/८६, ८७; ४ आमुख; ६/१३३, १३४; ७/१०-१५, ६२
३५. जंबुद्वीवपण्णत्तीसंगहो	आचार्य पद्मनन्दि सं. अनु. डा० ए. एन. उपाध्ये डा० हीरालाल जैन	सन् १९५८	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर	३/८६, ८७
३६. जातक, अविदूरेनिदान	अनु. भदन्त आनन्द कौशल्यायन	सन् १९८५	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	३/८६, ८७
३७. जीवाजीवाभिगमवृत्ति	कर्ता—मलर्यागिरि	सन् १९१६	देवचंद लालभाई जैन पुस्तकालय फण्ड, बम्बई	३/२५३; ५/६४, १३८; ६/१६८, १६९, १७१-१७३; ७/१, ६७-७३, ११८
३८. जीवाजीवाभिगमे (उर्वंगसुत्ताणि, भाग-४, खण्ड-१)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, राजस्थान	४ आमुख; ५/५५; ६/१५५-१६०, १६८, १६९; ७/१६७, १६९
३९. जैन आगम वनस्पतिकोश	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्रधान सं. आचार्य महाप्रज्ञ सं. मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'	सन् १९६६	जैन विश्व भारती, लाडनू, राजस्थान	६/१२६-१३१, १३५; ७/१०-१५
४०. जैन दर्शन: मनन और मीमांसा	ले. आचार्य महाप्रज्ञ सं. मुनि दुलहराज	चतुर्थ संस्करण सन् १९६५	आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान)	७ आमुख
४१. जेनेन्द्र सिद्धान्तकोश	सं. क्षु. जिनेन्द्रवर्णी	सन् १९४४	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	३/१६४-१७१; ५/५६-६१
४२. ज्ञाताधर्म कथा वृत्ति	कर्ता—अभयदेव सूरी	सन् १९५२	श्रीसिद्ध चक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई	५/३१-४५

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
४३. शीणी चरचा	रचयिता जयाचार्य, प्रवाचक आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा	सन् १९८५	जैन विश्व भारती, लाडनूं	३/१४३-१४८; ५/५९-६१
४४. टाणं (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक मुनि नथमल	वि. सं. २०३३	जैन विश्व भारती, लाडनूं	३ आमुख, ४, ४९, ५६-७१, ७३, ८६, ८७, ९४, ११२, १३४-१३६, १४३-१४८, १५४-१६३, १७२- १८२, २५३, २५८, २६३; ५/६२, १२४-१२७, १३९-१४६, १५०- १५३, १६०-१६४, १८२-१९०, १९१-१९८, २०९-२२४, २४८-२५३, २५४-२५७; ६/५-१४, २४-२६, १५१, १६८, १६९; ७/ आमुख, २५, २९-३५, ६२, १५०-१५४, २१२-२१७
४५. तत्त्वानुशासन	कर्ता—आचार्य रामसेन		माणिकचन्द्र दि० जैन, बम्बई	५/५१-५४
४६. तत्त्वार्थ भाष्य	कर्ता—उमास्वाति		देखें तत्त्वार्थ सूत्र	३/४, ३७, १४३-१४८; ५/११०, १११; ७/१०-१५, २९-३५
४७. तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक)	कर्ता—भट्ट अकलंक देव सं. पं. महेन्द्र कुमार जैन	वि. सं. २००६	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गा कुण्ड रोड, बनारस ४	३/४; ५/६४, ६८-७१, १०८, १०९, १५०-१५३, २४८-२५३; ६/१-४, २०-२३, ३३, ३४, १३३, १३४; ७ आमुख, १, १०-१५, २०, २१, ११३-११६
४८. तत्त्वार्थ सूत्र (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र)	कर्ता—उमास्वाति	वि. सं. १९८६	सेठ मणीलाल रेवाशंकर जगजीवन जोहरी, बम्बई-२	३/३७, २४७; ४ आमुख; ५/११०, १११, १२८-१३२, १५०-१५३, २०१-२०७, २४८-२५३; ६/१-४, २०-२३, १३३, १३४; ७/१०-१५, २०, २१, १/३-११६
४९. तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि	कर्ता—पूज्यपाद	सन् १९५५	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस	६/१५, १६
५०. तत्त्वार्थसूत्राधिगम-भाष्यवृत्ति	टीकाकार सिद्धसेन गणि		देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	३/४, १७, १४३-१४८, १६४-१७१, २२२-२३०, २४७; ५ आमुख, ५९-६१, ६२, ६४, ६८-७१, १०७, १०८, १०९, १२८-१३२, १६०-१६४; ६/१-४, ५-१४, २४-२६, ३३, ३४; ७ आमुख, १, १०-१५, २०, २१, २९-३५, ११३-११६, १६२
५१. तिलोयपण्णत्ति	कर्ता—यति वृषभाचार्य	वि. सं. १९६६	जीवरज ग्रन्थमाला, शोलापुर	३/८४

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
५२. तीर्थंकर (मासिक)	सं. नेमिचंद जैन	जनवरी १९८६	हीराभैया प्रकाशन (इंदौर)	७/१५०-१५४
५३. तेरह द्वार	रचयिता—आचार्य भिक्षु			६/२७-२९
५४. त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र	ले. हेमचन्द्राचार्य	वि. सं. १९९२	श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर (काठियावाड)	६/१३३, १३४
५५. दशवैकालिक चूर्ण	कर्ता—जिनदास महत्तर	सन् १९३३	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	३/१६४-१७१
५६. दशवैकालिक वृत्ति	कर्ता—हरिभद्रसूरि		देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड	३/३५, ३६
५७. दसवेआलिप्यं (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	५/१३९-१४६; ७/२५, ११३-११८
५८. दसाओ (नवसुत्ताणि, भाग-५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	३/२९, १०५; ६/१५, १६; ७/१०-१५
५९. दीघनिकाय, महावग्गकथा	सं. भिक्षु जगदीश काश्यप	सन् १९५६	नवनालरा महाविहार, (नालंदा)	७/१७३
६०. देशीशब्द कोश	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनूं	३/४५, ४८, १०५
६१. द्रव्यानुयोग तर्कणा	श्रीमद्भोज कवि विरचित	सन् १९७७	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास	५/२५४-२५७
६२. धम्मपद	सं. धर्मानन्द कौसम्बी, सं. रामनारायण वि पाठक	सन् १९२४	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद	६/१८३-१८५
६३. ध्यान विचार				७/१४६-१४९
६४. ध्यान शतक (ध्यान शतक तथा ध्यानस्तव)	रचयिता—हरिभद्रसूरि	सन् १९७६	वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली	३/१५४-१६३
६५. नदी (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूं	४ आमुख; ५/६४, १०८, १०९; ७/१६१
६६. नय चक्र	ले. माइल्ल धवल, सं. अनुवाद- पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री	सन् १९७१	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	५/१५०-१५३
६७. नायाधम्मकहाओ (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्रा. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९८१	जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान	३/५६-७१, ८१; ५/३१-४५, १३९, १४६; ७/१०-१५, १७५
६८. निरयावलियाओ (उवंगसुत्ताणि, भाग-४, खण्ड-२)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान	७/१७३

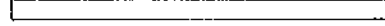
ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
६६. निशीधसूत्र (भाष्य व चूर्णि सहित)	सं. उपाध्याय कवि श्री अग्रमुनि मुनि श्री कनैयालाल "कमल"	सन् १९८२	सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा	३/२५३; ६/१३३, १३४
७०. निरीहज्जयणं (नवसुत्ताणि, भाग-५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	७/२४, २५
७१. पंचसंग्रह (दिगम्बर)	सं. हीरालाल जैन	वि. सं. २०१७	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	६/३३, ३४, ५१
७२. पञ्जोसवणा कण्ठो (नवसुत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	५/७६, ७७; ७/६२
७३. पञ्चकल्प भाष्य				४ आमुख
७४. पण्णवणा (उद्वंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	३/१५, २२, ६२, १६४-१७१, २२२-२३०; ४ आमुख, ७, ८, ५/६२, ६४, ७६, ७७, १००-१०२, १०७, ११२, ११३, २०८-२२४, २३७-२४८; ६/५४-६३, १५१, १७१-१७३; ७/१, ८, ६, ६६, ६७-७३
७५. पण्हावागरणाइं अंगसुत्ताणि, भाग ३	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	३/२६; ७/१०-१५, २५
७६. पातञ्जलयोगदर्शनम् (व्यास भाष्य सहित)	कर्ता—महर्षि पातञ्जलि व्याख्याकार— श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्द आरण्य	सन् १९७४	भोती लाल बनारसी दास, दिल्ली-पटना-वाराणसी	३/४; ५ आमुख, ५७ ५८, ११२, ११३; ६ आमुख, ३०-३२; १८३-१८५; ७/२०, २१
७७. पाइयसद्वमहण्णवो	स्व० पंडित हरगोविंद दास त्रिकमचंद सेठ	द्वितीय संस्करण सन् १९६३	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	७/१०-१५
७८. पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक विवेचन	ले. राम नाथ शर्मा	सन् १९८३-८४	केदारनाथ रामनाथ, कालेज रोड, मेरठ	५/११०, १११
७९. प्रज्ञापनावृत्ति	कर्ता—श्रीमन्मलयगिर्याचार्य	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेहसाणा, गुजरात	३/१३४-१३६; ५/६४, १००-१०२, १६०-१६४; ७/१
८०. प्रवचनसार	रचयिता—कुन्दकुन्दाचार्य	सन् १९४८	श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, सौराष्ट्र—(गुजरात)	५/५१-५४; ७/२६-३५, १६१
८१. प्रवचनसारोद्धार	रचयिता—श्रीमन्नेमिचन्द्रसूरि टीका० श्री सिद्धसेन सूरि	प्रथम संस्करण	देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	६/१३७-१५०
८२. प्रश्नव्याकरणवृत्ति	कर्ता—अभयदेवसूरि	सन् १९१६	आगमोदय समिति, मेहसाणा (गुजरात)	३/२६

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
८३. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध	रचयिता—जयाचार्य प्रवाचक—आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रथम संस्करण सन् १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू राजस्थान	३/६५
८४. प्राकृतव्याकरण (तुलसी मंजरी)	कर्ता—हेमचन्द्र (व्याख्याकार—आचार्य महाप्रज्ञ)	सन् १९६०	जैन विश्व भारती, लाडनू	५/१८२-१९०
८५. बुद्धचर्या-महपरिनिव्वाणसुत्त	ले. राहुल सांकृत्यायन	सन् १९५२	महाबोधिसभा (तारनाथ), बनारस	७/१७३
८६. बृहत्कल्पसूत्रम् (स्वोपज्ञनियुक्ति, संघदासगणि संकलित भाष्य आदि सहित)	कर्ता—स्थविर आर्यभद्रवाहु		जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर गुजरात	४ आमुख, ७/२४
८७. बृहत् हिन्दी कोश	सं. कालिकाप्रसाद रामवल्लभसहाय, मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव	सन् १९६२	ज्ञान मण्डल लि०, विक्रम भवन, लंका, वाराणसी	५/६४
८८. भगवती आराधना	रचयिता—आचार्य श्री शिवायं	सन् १९३५	सखागम दोशी, सोलापुर महाराष्ट्र	७/२६-३५
८९. भगवती चूर्ण	कर्ता—जिनदास महत्तर		हस्तलिखित	३/१४६, १५०
९०. भगवती जोड़ (खण्ड १-७)	कर्ता—जयाचार्य प्रवाचक आचार्य तुलसी प्रधान सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा	प्रथम संस्करण सन् १९८१ से १९९७	जैन विश्व भारती, लाडनू राजस्थान	३/२२, ७३, ६०, ६५, १०६, ११२, १४३-१४८, १४९, १५०, १६४-१७१, २२२-२३०, २५३; ५/५६-६१, ६६, १४७; ६/६४-६८, १३७-१५०; ७/१, २, ५, २०, २१, २७, २८, ११६
९१. भगवती वृत्ति (प्रस्तुत खण्ड का पाँचवा परिशिष्ट)	कर्ता—अभयदेवसूरि	सन् १९१६	आगमोदय समिति, बम्बई	अनेक स्थल
९२. भारतीय दर्शन परिचय (द्वितीय खण्ड वैशेषिक दर्शन)	ले. प्रोफेसर हरिमोहन झा		पुस्तक भण्डार, लहेटियासराय	५/५१-५४
९३. भारतीय संगीत में वाद्य वृन्द	ले. डा० कविता चक्रवर्ती	सन् १९८०	राजस्थानी ग्रन्थागार, सोजती गेट के बाहर, जोधपुर (राज.)	५/६४
९४. महापुराण			भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	७/२६-३५
९५. महाभारत			गीताप्रेस, गोरखपुर	३/१५४-१६३
९६. मूलाचार	रचयिता—श्रीमद् वड्डकेराचार्य	सन् १९८४	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	७/२६-३५
९७. मूलाराधना विजयोदया वृत्ति	वृत्तिकार—अपरामितसूरि		सोलापुर (महाराष्ट्र)	३/२०७; ५/१६१-१६८

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
६८. योगदीपिका	ले. वी. के. एस. आर्यंगर	सन् १९८८	ओरियन्ट लॉन्गमैन, हैदराबाद	३/२०७
६९. योग्याश्रित				३/१५४-१६३
१००. रत्नकरण्ड श्रावकाचार	कर्ता—स्वामी समन्तभद्र	वि. सं. १९८२	माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	७/२९-३५
१०१. राजप्रश्नीय वृत्ति	कर्ता—मलयगिरि	वि. सं. १९९४	शंभुलाल जगशीशाह, गुर्जर ग्रन्थ- रत्न कार्यालय, अहमदाबाद	३/२९, ७३; ५/६४
१०२. रायपसेण्ड्यं (उवंगसुत्ताणि भाग ४, खण्ड १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, राजस्थान	३/२७, ७८, ११२; ५/७६, ७७
१०३. लीलावती	भास्कराचार्य विरचित	सन् १९३७	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पुणे (महाराष्ट्र)	३/३५, २६
१०४. लोकप्रकाश (तीन खण्ड)	रचयिता—विनय विजय गणि	वि. सं. १९९०	श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद	६/१३२
१०५. ववहारो (नवसत्ताणि, भाग ५)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू, राजस्थान	३/१४९, १५०; ५/१४७
१०६. वसुनन्दि श्रावकाचार	आचार्य वसुनन्दि, सं. पं. हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री	वि. सं. २००९	भारतीय ज्ञान पीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस-४	७/२९-३५
१०७. विवाग सुयं (अंगसुत्ताणि, भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू, राजस्थान	३/३०
१०८. विशेषावश्यक भाष्य	कर्ता—श्री जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण	वि. सं. २४८९	दिव्य दर्शन कार्यालय, कालुशा नी पोल, कालुपुर रोड, अहमदाबाद	५/५९-६१
१०९. विश्वप्रहेलिका	ले. मुनि महेन्द्र कुमार	सन् १९६६	जवेरी प्रकाशन, माटुंगा, बम्बई, (प्राप्तिस्थान-जैन विश्व भारती, लाडनू)	६/१३३, १३४
११०. वैशेषिक सूत्र				५ आमूख, १९१-१९८
१११. व्यवहार सूत्र (भाष्य एवं मलयगिरि विरचित वृत्ति-सहित)	सं. मुनि माणिक	सन् १९२८	वकील त्रिकमलाल अगरचन्द्र	५/१३९-१४६
११२. शार्ङ्गधर संहिता	शार्ङ्गधराचार्य विरचित	सन् १९८४	श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड	७/६२, ११९
११३. शालिग्रामं निघण्टुभूषणम्	शालिग्राम वैश्वकर्म विरचित	प्रथम संस्करण सन् १९८१	खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई	६/१२९-१३१
११४. षट्खण्डागम धवला टीका-सहित	कर्ता—पुष्पदन्त भूतबलि, वीरसेनाचार्य कृत धवला टीका सहित, सं० हीरालाल जैन	सन् १९४२	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र अमरावती (महाराष्ट्र)	३/१४०-१४२, १६४-१७१; ५/१००-१०२, १०३-१०६, १०८, १०९, १६९-१७१

ग्रन्थ का नाम	लेखक/सम्पादक/अनुवादक वाचनाप्रमुख/प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
११५. संगीत विशारद	ले. वसन्त	सन् १९९१	संगीत कार्यालय, हाथरस (उ० प्र०)	५/६४
११६. समवाओ (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण आदि)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान	४ आमुख; ५/६३, १२२, १९१-१९८
११७. सम्मति प्रकरण	कर्ता— सिद्धसेन दिवाकर सं. दलसुखभाई मालवणिया		ज्ञानोदय ट्रस्ट, अनेकान्त विहार, श्रेयान्स कालोनी के पास, अहमदाबाद-६	३ आमुख; ५/१९१-१९८
११८. सर्वदर्शनसंग्रह	ले. सायन माधवाचार्य, टीका. महामोहोपाध्याय प्राच्य विद्याशास्त्री अभयंकर	सन् १९२४	संशोधन मंदिर, पूना (महाराष्ट्र)	७ आमुख
११९. सर्वार्थसिद्धि	कर्ता—आ. पूज्यपाद; सं. पं. फूलचन्द्र	१९७१	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	३/८४; ७/१०-१५, २६-३४
१२०. सांख्यकारिका	कर्ता—ईश्वरकृष्ण, टीका. माधवाचार्य		चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी	७/१६-१९
१२१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान		६ सितम्बर १९७६	दिल्ली	६ आमुख
१२२. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य				४ आमुख
१२३. सुश्रुत-संहिता	अनु. अत्रिदेव	सन् १९७५	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	५/७६, ७७
१२४. सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति	कर्ता—भद्रबाहु		देखें सूत्रकृताङ्ग वृत्ति	७/२६-३५
१२५. सूत्रकृताङ्ग वृत्ति	कर्ता—श्री शीलाकाचार्य	प्रथम-सन् १९५० द्वितीय-सन् १९५३	श्रीगोडी जी पार्श्वनाथ- जैन देरासर पेढी, बम्बई	३/१६४-१७१; ७/२६-३५
१२६. सूयगडो (मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. विवेचक युवाचार्य महाप्रज्ञ	भाग १ सन् १९८४ भाग २ सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	३/१५४-१६३, १६४-१७१, २५८; ५/२५४-२५७; ७/१०-१५, २५
१२७. सूरपण्णत्ती (उयंगसुत्ताणि, भाग ४, खण्ड २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनूं, राजस्थान	७/६२
१२८. स्थानाङ्ग वृत्ति	कर्ता—अभयदेवसूरि	सन् १९३७	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद	३/४६, २५३; ६/१६८, १६९; ७/१०-१५
१२९. स्याद्वादमंजरी	कर्ता—मल्लिषेण अनु. सं. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	सन् १९६२	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास गुजरात	५ आमुख
१३०. हठयोगप्रदीपिका	सं. स्वात्माराम योगीन्द्र	सन् १९८८	खेमराज श्रीकृष्ण दास अध्यक्ष, श्री वेन्कटेश्वर प्रेस, बम्बई	३/२०५
१३१. हेमशब्दानुशासनम्	कर्ता—आचार्य हेमचन्द्र	वि. सं. २००७	छानीराम अमरचन्द्र शिरोलिया,	३/१४३-१४८

ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक / अनुवादक वाचनाप्रमुख / प्रवाचक आदि	संस्करण	प्रकाशक	भाष्य में प्रयुक्त स्थल
१३२. A Brief History of Time By Stephen W. Howking		सन् १९८८	उज्जैन	६/७६-११६
१३३. Life after Death				६/१२०-१२८
१३४. Sacred Books of the East	Translated by Hermann Jacobi	सन् १८६५	Oxford	५/२५४-२५७
१३५. Sanskrit English Dictionary	V. S. Apte	Revised and Enlarged Edition सन् १९५७	Prasad Prakashan, Pune	३/३५, ३६, ३७, ४५, ४८, १०५, १०६, ११२, ११६-१२६, १४३-१४८, १६०-१६७, २५८, २६३; ५/६४; ६/१-४, ६४-६६, १२६-१३१; ७/६३, १७५, १७७



परिशिष्ट - ५

अभयदेवसूरि-कृता भगवती-वृत्तिः

सर्वज्ञमीश्वरमनन्तमसङ्गमग्र्यं,
सार्वीयमस्मरमनीशमनीहमिद्धम् ।
सिद्धं शिवं शिवकरं करणव्यपेतं,
श्रीमाज्जिनं जितरिपुं प्रयतः प्रणौमि ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवर्द्धमानाय, श्रीमते च सुधर्मणे ।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो, वाण्यै सर्वविदस्तथा ॥ २ ॥
एतद्वीकाचूर्णी जीवाभिगमादिवृत्तिलेशांश्च ।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित् ॥ ३ ॥

अथ तृतीयं शतकम्

प्रथम उद्देशकः

व्याख्यातं द्वितीयशतम्, अथ तृतीयं व्याख्यायते। अस्य चायमभिसंबन्धः—अनन्तरशतेऽस्तिकाया उक्ताः, इह तु तद्विशेषभूतस्य जीवास्तिकायस्य विविधधर्मा उच्यन्ते, इत्येवं सम्बन्धस्यास्य तृतीयशतस्योद्देशकार्थसंग्रहायेयं गाथा—
'केरिसेत्यादि'...

तत्र 'केरिसविउव्वणे' ति कीदृशी चमरस्य विकुर्वणा-
शक्तिरित्यादिप्रश्ननिर्वचनार्थः प्रथम उद्देशकः। 'चमरे' ति चमरोत्पाताभिधानार्थं द्वितीयः। 'किरिय' ति कायिक्यादि-
क्रियाद्यर्थाभिधानार्थस्तृतीयः। 'जाण' ति यानं देवेन वैक्रियं कृतं जानाति साधुरित्याद्यर्थनिर्णयार्थश्चतुर्थः। 'इत्थि' ति साधुर्बाह्यान् पुद्गलान् पर्यादाय प्रभुः स्त्रयादिरूपाणि वैक्रियाणि कर्तुमित्याद्यर्थनिर्णयार्थः पञ्चमः। 'नगर' ति वाराणस्यां नगर्यां कृतसमुद्घातोऽनगारो राजगृहे रूपाणि जानातीत्याद्यर्थनिश्चयपरः षष्ठः। 'पाला य' ति सोमादिलोकपालचतुष्टयस्वरूपाभिधायकः सप्तमः। 'अहिवइ' ति असुरादीनां कति देवा अधिपतयः ?

इत्याद्यर्थपरोऽष्टमः। 'इदिय' ति इन्द्रियविषयाभिधानार्थो नवमः। 'परिस' ति चमरपरिषदभिधानार्थो दशमः इति। तत्र कीदृशी विकुर्वणेत्याद्यर्थस्य प्रथमोद्देशकस्येदं सूत्रम्—

३/१

'तेणं कालेण' मित्यादि सुगमं, नवरं

३/४

'के महिद्धिण' ति केन रूपेण महर्द्धिकः? किंरूपा वा महर्द्धिरस्येति किंमहर्द्धिकः।

कियन्महर्द्धिक इत्यन्ये। 'सामाणियसाहस्सीणं' ति समानया—इन्द्रतुल्यया ऋद्ध्या चरन्तीति सामानिकाः। 'तायत्तीसाए' ति त्रयस्त्रिंशतः। 'तावत्तीसगाणं' ति मन्त्रिकल्पानाम्। यावत्करणादिदं दृश्यं 'चउण्हं लोगपालाणं', पंचण्हं अगमहिस्सीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवईणं, चउण्हं चउसट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं, अत्रेसिं च बहूणं चमरचंचारायहाणिवत्थव्वाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामितं भट्टितं आणाईसरसेणावच्चं

कारेमाणे पालेमाणे महयाऽऽहयनदृगीयवाइतंतीत-
लतालतुडिय-घणमुङ्गपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाईं
भुंजमाणे' ति। तत्राधिपत्यम्—अधिपतिकर्म। पुरोवर्तित्वम्
—अग्रगामित्वं, स्वामित्वं—स्वस्वामिभावं, भर्तृत्वं—
पोषकत्वम्, आज्ञेश्वरस्य—आज्ञाप्रधानस्य सतो
यत्सेनापत्यं तत्तथा तत्कारयन् अन्यैः पालयन् स्वयमिति।
तथा महता रवेणेति योगः। 'आहय' ति
आख्यानकप्रतिबद्धानीति वृद्धाः। अथवा 'अहय' ति
अहतानि—अव्याहतानि नाट्यगीतवादितानि, तथा तन्त्री—
वीणा तलतालाः—हस्ततालाः तला वा हस्ताः तालाः—
कंसिकाः 'तुडिय' ति शेषतूर्याणि, तथा घनाकारो
ध्वनिसाधर्म्याद्यो मृदंगो—मर्दलः। पटुना—दक्षपुरुषेण
प्रवादित इत्येतेषां द्वन्द्वोऽत एषां यो रवः स तथा। तेन
'भोगभोगाई' ति भोगार्हान् शब्दादीन्। 'एवं महिङ्गि' ति
एवं महर्द्धिकः इव महर्द्धिकः इयन्महर्द्धिक इत्यन्ये। से
'जहानामए' इत्यादि, यथा युवतिं युवा हस्तेन हस्ते गृह्णाति,
कामवशाद् गाढतरग्रहणतो निरन्तर-हस्तांगुलितयेत्यर्थः।
दृष्टान्तान्तरमाह—'चक्कसे' त्यादि, चक्रस्य वा नाभिः
किंभूता? 'अरगाउत्त' ति अरकैरायुक्ता—अभिविधिना-
ऽन्विता अरकायुक्ता। 'सिय' ति स्यात् भवेत्। अथवा अरका
उत्तासिता—आस्फालिता यस्यां सा अरकोत्तासिता।
'एवमेव' ति निरन्तरतयेत्यर्थः। प्रभुः। जम्बूद्वीपं
बहुभिर्देवादिभिराकीर्णं कर्तुमिति योगः। वृद्धैस्तु व्याख्यातं
यथा यात्रादिषु युवतिर्यूनो हस्ते लग्ना—प्रतिबद्धा गच्छति
बहुलोकप्रचिते देशे, एवं यानि रूपाणि विकुर्वितानि
तान्येकस्मिन् कर्त्तरि प्रतिबद्धानि। यथा वा चक्रस्य नाभिरेका
बहुभिररकैः प्रतिबद्धा घना निश्छिद्रा, एवमात्मशरीर-
प्रतिबद्धैरसुरदेवैर्देवीभिश्च पूरयेदिति। 'वेउव्वियसमुग्घाएणं'
ति वैक्रियकरणाय प्रयत्नविशेषेण 'समोहण्णइ' ति
समुपहन्यते समुपहतो भवति, समुपहन्ति वा—प्रदेशान्
विक्षिपतीति। तत्स्वरूपमेवाह—'संखेज्जाइ' इत्यादि, दण्ड
इव दण्ड :— ऊर्ध्वाध आयतः शरीरबाहल्यो जीवप्रदेश-
कर्मपुद्गलसमूहः। तत्र च विविधपुद्गलानादत्त इति
दर्शयन्नाह—तद्यथा—'रत्नानां' कर्केतनादीनाम्, इह च
यद्यापि रत्नादिपुद्गला औदारिका वैक्रियसमुद्घाते च
वैक्रिया एव ग्राह्या भवन्ति, तथाऽपीह तेषां
रत्नादिपुद्गलानामिव सारता प्रतिपादनाय रत्नानामित्याद्युक्त
तच्च रत्नानामिवेत्यादि व्याख्येयम्। अन्ये त्वाहु :—
औदारिका अपि ते गृहीताः सन्तो वैक्रियतया परिणमन्तीति।
यावत्करणदिदं दृश्यम्—'वइराणं' वेरुलियाणं

लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगम्भाणं पुलयाणं
सोगंधियाणं जोतीरसाणं अंकाणं अंजणाणं रयणाणं
जायरूवाणं अंजणपुलयाणं फलिहाणं' ति, किम्? अत
आह—'अहाबायरे' ति यथाबादशनसारान् पुद्गलान्
परिशातयति दण्डनिसर्गगृहीतान्। यच्चोक्तं प्रज्ञाप-
नाटीकायां—“यथा स्थूलान् वैक्रियशरीरनामकर्मपुद्गलान्
प्राग्बद्धान् शातयती” ति, तत्समुद्घातशब्दसमर्थनार्थ-
मनाभोगिकं वैक्रियशरीरकर्मनिर्जरणमाश्रित्येति। 'अहासुहुमे'
ति यथासूक्ष्मान् सारान्। 'परियाइयति' पर्यादत्ते, दण्ड-
निसर्गगृहीतान् सामस्त्येनादत्त इत्यर्थः। 'दोच्चंपि' ति
द्वितीयमपि वारं समुद्घातं करोति, चिकीर्षितरूपनिर्माणार्थं,
ततश्च 'पभु' ति समर्थः। 'केवलकप्पं' ति केवलः—
परिपूर्णः कल्पत इति कल्पः—स्वकार्यकरणसामर्थ्योपेतः
ततः कर्मधारयः, अथवा 'केवलकल्पः' केवलज्ञानसदृशः
परिपूर्णतासाधर्म्यात्, सम्पूर्णपर्यायो वा केवलकल्प शब्द
इति। 'आइण्ण' मित्यादय एकार्था अत्यन्तव्याप्ति-
दर्शनायोक्ताः 'अदुत्तरं च णं' ति अथाऽपरं च, इदं च
सामर्थ्यातिशयवर्णनम्। 'विसए' ति गोचरो वैक्रियकरण-
शक्तेः, अयं च तत्करणयुक्तोऽपि स्यादित्यत आह—
'विसयमेत्ते' ति विषय एव विषयमात्रं—क्रियाशून्यम्।
'बुइए' ति उक्तम्, एतदेवाह—'संपत्तीए' ति यथोक्तार्थ-
संपादनेन 'विउव्विंसु वा' विकुर्वितवान् विकुर्वति वा,
विकुर्विष्यति वा विकुर्व इत्ययं धातुः सामयिकोऽस्ति,
विकुर्वणेत्यादिप्रयोगदर्शनादिति।

- ३/६. 'नवरं संखेज्जा दीवसमुद्' ति लोकपालादीनां सामानिकेभ्यः
अल्पतरर्द्धिकत्वेनाल्पतरत्वाद् वैक्रियकरणलब्धेरिति।
३/८. 'अपुड्वागरणं' ति अपृष्टे सति प्रतिपादनम्।
३/१२. 'वइरोयणिंदे' ति दाक्षिणात्यासुरकुमारेभ्यः सकाशाद् विशिष्टं
रोचनं—दीपनं येषामस्ति ते वैरोचना औदिक्या असुरास्तेषु
मध्ये इन्द्रः—परमेश्वरो वैरोचनेन्द्रः। 'साइरेगं केवलकप्पं'
ति औदिक्येन्द्रत्वेन बलेर्विशिष्टतरलब्धिकत्वादिति।
३/१५. 'एवं जाव थणियकुमार' ति धरणप्रकरणमिव भूतानन्दादिमहा-
घोषान्तभवनपतीन्द्रप्रकरणान्यध्येयानि। तेषु च इन्द्रानामान्येत्द-
गाथानुसारतो वाच्यानि—

“चमरे१ धरणे२ तह वेणुदेव३ हरिकंत४ अगिगीही५ य।
पुण्णे६ जलकंतेवि७ य अमिय८ विलंबे९ य घोसे१० य॥”
एते दक्षिणनिकायेन्द्राः इतरे तु —
“बलि१ भूयाणंदे२ वेणुदाली३ हरिस्सहे४ ऽग्गिमाणव५ यसिद्धे६।

जलप्यभे७ अमियवाहणे८ पभंजण९ य महाघोसे१० ॥”

एतेषां च भवनसंख्या ‘चउतीसा चउचता’ इत्यादि पूर्वोक्त-
गाथाद्वयादवसेया, सामानिकात्मरक्षसंख्या चैवम्—

“चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणं ।

सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥”

अग्रमहिष्यस्तु प्रत्येकं धरणादीनां षट्, सूत्राभिलापस्तु धरण-
सूत्रवत्कार्यः ।

‘वाणमंतरजोइसियावि’ ति व्यन्तरेन्द्रा अपि धरणेन्द्रवत्सपरिवारा
वाच्याः। एतेषु च प्रतिनिकायं दक्षिणोत्तरभेदेन द्वौ द्वौ इन्द्रौ
स्याताम् । तद्यथा—

“काले य महाकाले१ सुरूव पडिरूव२ पुण्णभहे य ।

अमरवइ माणिभहे३ भीमे य तथा महाभीमे४ ॥

किंनर किंपुरिसे५ खलु सम्पुरिसे च्चव तथा महापुरिसे६ ।

अइकाय महाकाए७ गीयरई च्चव गीयजसे८ ॥”

एतेषां ज्योतिष्काणां च त्रायस्त्रिंशा लोकपालाश्च न सन्तीति
ते न वाच्याः, सामानिकास्तु चतुःसहस्रसंख्याः। एतच्चतुर्गुणा-
श्चात्मरक्षाः अग्रमहिष्यश्चतस्र इति, एतेषु च सर्वेष्वपि
दक्षिणात्यानिन्द्रानादित्यं च अग्निभूतिः पृच्छति। औदीच्यांश्चन्द्रं
च वायुभूतिः, तत्र च दक्षिणात्येष्वदित्ये च केवलकल्पं
संस्तृतमित्यादि, औदीच्याेषु च चन्द्रे च सातिरेकं जम्बूद्वीपमित्यादि
च वाच्यम्। यच्चेहाधिकृतवाचनायामसूचितमपि व्याख्यातं
तद्वादनान्तरमुपजीव्येति भावनीयमिति। तत्र कालेन्द्रसूत्राभिलाप
एवम्— ‘काले णं भंते!’ पिसाइदे पिसायराया केमहिड्डीए.....
केवइयं च णं पभु विउव्वित्तए? गोयमा! काले णं महिड्डीए.....
से णं तत्थ असंखेज्जाणं नगरवाससयसहस्साणं चउण्हं
सामाणियसाहस्सीणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं चउण्हं
अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं अत्रेसिं च बहूणं पिसायाणं देवाणं
देवीण य आहेवच्चं जाव विहरइ, एमहिड्डीए..... एवतियं च
णं पभु विउव्वित्तए जाव केवलकप्पं जंबूद्वीवं दीवं जाव
तिरियं संखेज्जे दीवसमुद्दे इत्यादि ।

३/१६ शक्रप्रकरणे ‘जाव चउण्हं चउरासीणं’ मित्यत्र यावत्करणादिदं
दृश्यम्—अट्टण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चउण्हं
लोगपालाणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं
अणियाहिवईणं’ ति। शक्रस्य विकुर्वणोक्ता, अथ तत्सामानिकानां
सा वक्तव्या, तत्र च स्वप्रतीतं सामानिकविशेषमाश्रित्य
तच्चरितानुवादतस्तान् प्रश्नयन्नाह—

३/१७ ‘एवं खलु’ इत्यादि, एवं इति वक्ष्यमाणन्यायेन सामानिक-
देवतयोत्पन्न इति योगः।

‘तीसए’ ति तिष्यकाभिधानः। ‘सयंसि’ ति स्वके विमाने।
‘पंचविहाए पज्जतीए’ ति पर्याप्तिः—आहारशरीरादीना-
मभिनिर्वृत्तिः, सा चान्यत्र षोढोक्ता, इह तु पञ्चधा,
भाषामनःपर्याप्त्योर्बहुश्रुताभिमतेन केनापि कारणेनैकत्वविवक्षणात्।
‘लद्धे’ ति जन्मान्तरे तदुपार्जनापेक्षया। ‘पते’ ति प्राप्ता
देवभवापेक्षया। ‘अभिसमण्णागए’ ति तद्भोगापेक्षया। जहेव
चमरस्स’ ति अनेन लोकपालाग्रमहिषीणाम्। ‘तिरियं संखेज्जे
दीवसमुद्दे’ ति वाच्यमिति सूचितम्।

३/२० ‘ईसाणे णं भंते’ इत्यादि, ईशानेन्द्रप्रकरणम्। इह च ‘एवं
तहेव’ ति अनेन यद्यपि शक्रसमानवक्तव्यमीशानेन्द्रप्रकरणं
सूचितं, तथाऽपि विशेषोऽस्ति। उभयसाधारणपदापेक्ष-
त्वादतिदेशस्येति। स चायम्—‘से णं अट्टावीसाए विमाणावास-
सयसहस्साणं असीईए सामाणियसाहस्सीणं जाव चउण्हं
असीईणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं’ ति।

ईशानवक्तव्यतानन्तरं तत्सामानिकवक्तव्यतायां स्वप्रतीतं तद्
विशेषमाश्रित्य तच्चरितानुवादतः प्रश्नयन्नाह—

३/२१ ‘एवं खलु’ इत्यादि, ‘उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय’ ति प्रगृह्य—
विधायेत्यर्थः।

३/२२ ‘एवं सणंकुमारेवि’ ति अनेनेदं सूचितम् - ‘सणंकुमारे णं
भंते! देविदे देवराया केमहिड्डीए.... केवइयं च णं प्रभू
विउव्वित्तए? गोयमा! सणंकुमारे णं देविदे देवराया महिड्डीए
....., ‘से णं बारसण्हं विमाणावाससयसाहस्सीणं बावत्तरीए
सामाणियसाहस्सीणं जाव चउण्हं बावत्तरीणं आयरक्ख-
देवसाहस्सीणं’ मित्यादीति। ‘अग्गमहिसीणं’ ति यद्यपि
सनत्कुमारे स्त्रीणामुत्पत्तिर्नास्ति तथाऽपि याः सौधर्मोत्पन्नाः
समयाधिकपल्योपमादिदशपल्योपमान्स्थितयोऽपरिगृहीतदेव्यस्ताः
सनत्कुमारदेवानां भोगाय संपद्यन्ते इति कृत्वाऽग्रमहिष्य,
इत्युक्तमिति।

३/२३ ‘एवं माहेन्द्रादिसूत्राण्यपि गाथानुसारेण विमानमानं सामानिकादि-
मानं च विज्ञायानुसन्धानीयानि गाथाश्चैवम्—

“बत्तीस अट्टावीसा बारस अट्ट य चउरो सयसहस्सा ।

आरेण बंभलोया विमाणसंखा भवे एसा ॥

पण्णासं चत्त छच्चेव सहस्सा लंतसुक्कसहस्सारे ।

सयचउरो आणयपाणएसु तिण्णारण्णच्चुयओ ॥”

सामानिकपरिमाणगाथा—

“चउरासीइ असीई बावत्तरि सत्तरी य सट्ठी य।

पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्सा ॥”

इह च शक्रादिकान् पञ्चैकान्तरितानग्निभूतिः पृच्छति,

ईशानादीश्च तथैव वायुभूतिरिति। इन्द्राणां वैक्रिय-
शक्तिप्ररूपणप्रक्रमादीशानेन्द्रेण प्रकाशितस्यात्मीयस्य वैक्रिय-
रूपकरणसामर्थ्यस्य तेजोलेश्यासामर्थ्यस्य चोपदर्शनायेद-
माह—

३/२७ 'तेण' मित्यादि 'जहेव रायप्पसेणइज्ज' ति यथैव
राजप्रशनीयाख्येऽध्ययने सूरिकाभदेवस्य वक्तव्यता तथैव
चेहेशानेन्द्रस्य, किमन्तेत्याह—'जाव दिव्वं देविड्ढि' मिति,
सा चयमर्थसंक्षेपतः—सभायां सुधर्मायामीशाने सिंहासने
अशीत्या सामानिकसहस्रैश्चतुर्भिलोकपालैः अष्टाभिः सपरि-
वाराभिरग्रमहिषीभिः सप्तभिरनीकैः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः
चतसृभिश्चाशीतिभिरात्मरक्षदेवसहस्राणाम् अन्यैश्च बहु-
भिर्देवैर्देवीभिश्च परिवृतो महताऽऽहतनाट्यादिरवेण दिव्यान्
भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति स्मा इतश्च जम्बूद्वीप-
मवधिनाऽऽलोकयन् भगवन्तं महावीरं राजगृहे ददर्श, दृष्ट्वा
च ससंभ्रममासनदुत्तस्थौ, उत्थाय च सप्ताष्टानि पदानि
तीर्थकराभिमुखमाजगाम, ततो ललाटतटघटितकरकुड्मलो
ववन्दे, वन्दित्वा चाभियोगिकदेवान् शब्दयाञ्चकार, एवं च
तानवादीत्—गच्छत भो! राजगृहं नगरं महावीरं च भगवन्तं
वन्दध्वं, योजनपरिमण्डलं च क्षेत्रं शोधयत, कृत्वा चैवं मम
निवेदयत, तेऽपि तथैव चक्रुः, ततोऽसौ पदात्यनीकाधिपतिं
देवमेवमवादीत्—भो! भो! देवानां प्रिये ईशानावतंसके विमाने
घण्टामास्फालयन् कुरु यदुत गच्छति भो! ईशानेन्द्रो महावीरस्य
वन्दनाय ततो यूयं शीघ्रं महर्द्ध्या तस्यान्तिकमागच्छत,
कृतायां च तेन तस्यां बहवो देवाः कुतूहलादिभिस्तत्-
समीपमुपगताः तैश्च परिवृतोऽसौ योजनलक्षप्रमाणयान-
विमानारूढोऽनेकदेवगणपरिवृतो नन्दीश्वरद्वीपे कृतविमानसंक्षेपो
राजगृहनगरमाजगाम, ततो भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य
चतुर्भिरंगुलैर्भुवमप्राप्तं विमानं विमुच्य भगवत्समीपमागत्य
भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपास्ते स्म, ततो धर्मं श्रुत्वैवमवादीत्
—भदन्त! यूयं सर्वे जानीथ पश्यथ, केवलं गौतमादीनां
महर्षीणां दिव्यं नाट्यविधिमुपदर्शयितुमिच्छामीत्यभिधाय
दिव्यं मण्डपं विकुर्वितवान्, तन्मध्ये मणिपीठिकां तत्र च
सिंहासनं ततश्च भगवन्तं प्रणम्य तत्रोपविवेश, ततश्च
तस्य दक्षिणाद्भुजादष्टोत्तरं शतं देवकुमाराणां वामाच्च
देवकुमारीणां निर्गच्छति स्म, ततश्च विविधातोद्यरवगीतध्वनि-
रञ्जितजनमानसं द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिमुपदर्शयामासेति। 'तए
णं से ईसाणे देविदे देवराया तं दिव्वं देविड्ढि' यावत्करणादि-
दमपरं वाच्यं यदुत 'दिव्वं देवज्जुइं दिव्वं देवाणुभावं पडि-
साहरइ पडिसाहरित्ता खणेणं जाए एगभूप। तए णं ईसाणे
देविदे देवराया समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमसित्ता

नियगपरियालसंपरिवुडे' ति 'परियाल' ति परिवारः।
'कूडागारसालादिडुंतो' ति कूटाकारेण—शिखराऽऽकृत्योप-
लक्षिता शाला या सा तथा तथा दृष्टान्तो यः स तथा।

- ३/२८ स चैवं—भगवन्तं गौतम एवमवादीत्—ईशानेन्द्रस्य सा
दिव्या देवर्द्धिः क्व गता? गौतम! शरीरकमनुप्रविष्टा।
- ३/२९ अथ केनाथेनैवमुच्यते? गौतम! यथा नाम कूटाकारशाला
स्यात्, तस्याश्चादूरे महान् जनसमूहस्तिष्ठति, स च
महाभ्रादिकमागच्छन्तं पश्यति, दृष्ट्वा च तां कूटागारशाला-
मनुप्रविशति, एवमीशानेन्द्रस्य सा दिव्या देवर्द्धिः शरीरक-
मनुप्रविष्टेति।
- ३/३० 'किण्णे' ति केन हेतुना? किं वा दच्चे' त्यादि, इह
दत्त्वाऽऽशानादि भुक्त्वाऽऽन्तप्रान्तादि कृत्वा तपः शुभध्यानादि
समाचर्य च प्रत्युपेक्षाप्रमार्जनादि, 'कस्स वे' त्यादि वाक्यस्य
चान्ते पुण्यमुपार्जितमिति वाक्यशेषो दृश्यः 'जण्णं' ति
यस्मात् पुण्यात् णमिति वाक्यालंकारे।
- ३/३३ 'अत्थि ता मे पुरा पोरणाणं' मित्यादि पुरा—पूर्वं कृतानामिति
योगः, अत एव 'पोराणाणं' ति पुराणानां 'सुचिण्णाणं' ति
दानादिसुचरितरूपाणां 'सुपरक्कंताणं' ति सुष्ठु पराक्रान्तं—
पराक्रमस्तपःप्रभृतिकं येषु तानि तथा तेषां, शुभानामर्थावहत्त्वेन
कल्याणानामनर्थोपशमहेतुत्वेनेति, कुतोऽस्ति? इत्याह—
'जेणाह' मित्यादि, पूर्वोक्तमेव किञ्चित्सविशेषमाह—
'विउलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखिसिलप्पालरत्तरयणसंतसार-
सावत्तेज्जेणं' ति, इह धनं—गणिमादि रत्नानि-कर्केतनादीनि
मणयः—चन्द्रकान्ताद्याः शिलाप्रवालानि—विद्रुमाणि, अन्ये
त्वाहुः—शिला—राजपट्टादिरूपाः प्रवालं—विद्रुमं रक्त-
रत्नानि—पद्मरागादीनि, एतद्रूपं यत् 'संत' ति विद्यमानं
सारं—प्रधानं स्वापतेयं—द्रव्यं तत्तथा तेन 'एगंतसो 'खयं'
ति एकान्तेन क्षयं, नवानां शुभकर्मणामनुपार्जनेन। 'मित्ते'
त्यादि, तत्र मित्राणि—सुहृदो ज्ञातृयः सजातीयाः निजकाः
—गोत्रजाः सम्बन्धिनो—मातृपक्षायाः श्वसुरकुलीना वा
परिजनो—दासादिः, 'आढाइ' ति अद्रियते 'परिजाणइ' ति
परिजानाति स्वामितया 'पाणामाए' ति प्रणामोऽस्ति विधेयतया
यस्यां सा प्राणामा तथा, 'सुद्धोयण' ति सूपशाकादिवर्जितं
कूरं 'तिसत्तखुत्तो' ति त्रिसप्तकृत्वः, एकविंशतिवारानित्यर्थः,
'आसाएमाणे' ति ईषत्स्वादयन्, 'वीसाएमाणे' ति विशेषेण
स्वादयन् स्वाद्यविशेषं 'परिभाएमाणे' ति ददत् 'परिभुंजेमाणे'
त्ति भोज्यं परिभुंजानः, 'जिमियभुत्तरागए' ति 'जिमिय' ति
प्रथमैकवचनलोपात् जिमितः—भुक्तवान् 'भुत्तर' ति भुक्तोत्तरं
—भोजनोत्तरकालं, 'आगए' ति आगतः उपवेशनस्थाने

भुक्तोत्तरागतः, किंभूतः सन्? इत्याह—‘आयंते’ ति आचान्तः—शुद्धोदकयोगेन ‘चोक्खे’ ति चोक्षः लेपसिक्खाद्यपनयनेन, अतएव परमशुचिभूत इति।

३/३४ ‘जं जत्थ पासइ’ ति यम्—इन्द्रादिकं यत्र देशे काले वा पश्यति तस्य तत्र प्रणामं करोतीति वाक्यशेषो दृश्यः, ‘खंदं व’ ति स्कन्दं वा—कार्तिकेयं ‘रुदंवा’ महादेवं ‘सिवं व’ ति व्यन्तरविशेषम्, आकारविशेषो दृश्यः, आकारविशेषधरं वा रुद्रमेव, ‘वेसमणं व’ ति उत्तरदिक्पालम् ‘अज्जं व’ ति आर्यां प्रशान्तरूपां चण्डिकां ‘कोट्टकिरियं व’ ति चण्डिकामेव रौद्ररूपां, महिषकुट्टनक्रियावतीमित्यर्थः, ‘रायं’ वा इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्—‘ईसरं वा तलवरं वा माडंबियं वा कोडुंबियं वा सेट्टिं वा’ इति ‘पाणं व’ ति चण्डालं ‘उच्चं’ ति पूज्यम् ‘उच्चं पणामं’ ति अतिशयेन प्रणमतीत्यर्थः ‘नीयं’ ति अपूज्यं ‘नीयं पणामं’ ति अनत्यर्थं प्रणमतीत्यर्थः, एतदेव निगमयन्नाह—‘जं जहे’ इत्यादि यं पुरुषपश्वादिकं यथा—यत्प्रकारं पूज्यापूज्यस्वभावं तस्य—पुरुषादेः तथा पूज्यापूज्योचिततया।

३/३६ ‘अणिच्चजागरियं’ ति अनित्यचिन्तां ‘दिट्ठा भट्टे य’ ति दृष्टाभाषितान् ‘पुव्वसंगतिए’ ति पूर्वसंगतिकान् गृहस्थत्वे परिचितान् ‘नियत्तणियमंडलं’ ति निवर्तनं—क्षेत्रमानविशेषस्तत्परिमाणं निवर्तनिकं, निजतनुप्रमाणमित्यन्ये, ‘पाओवगणमं’ निवर्णणे’ ति पादपेपगमनं। ‘निष्पन्नः’ उपसंपन्न आश्रित इत्यर्थः।

३/३७ ‘अणिदं’ ति इन्द्राभावात् ‘अपुरोहिय’ ति शान्तिकर्मकारिरहिता अनिन्द्रत्वादेव, पुरोहितो हीन्द्रस्य भवति, तदभावे तु नासाविति।

३/३८ ‘इंदाहीण’ ति इन्द्राधीना इन्द्रवश्यत्वात् ‘इंदाहिडिय’ ति ‘इंद्राधिष्ठितास्तद्युक्तत्वात् अत एवाह—‘इन्द्राहीणकज्ज’ ति इन्द्राधीनकार्याः ‘ठितिपकप्पं’ ति स्थितौ—अवस्थाने बलिचंचाविषये प्रकल्पः—संकल्पः स्थितिप्रकल्पोऽतस्तं ‘ताए उक्किट्टाए’ इत्यादि, तथा विवक्षितया ‘उत्कृष्टतया’ उत्कर्षवत्या देवगत्येति योगः ‘त्वरितया’ आकुलया न स्वभावजयेत्यर्थः, अन्तराकूतताऽभिप्रायः^१ स्यादित्यत आह—‘चपलया’ कायचापलोपेतया ‘चण्डया’ रौद्रया तथा-विधोत्कर्षयोगेन ‘जयिन्या’ गत्यन्तरजेतृत्वात् ‘छेकया’ निपुणया उपायप्रवृत्तितः ‘सिंहया’ सिंहगतिसमानया श्रमाभावेन ‘शीघ्रया’ वेगवत्या ‘दिव्यया’ प्रधानया ‘उद्धूताया’ वस्त्रादीनामुद्धूतत्वेन, उद्धतया वा सदर्पया, ‘सपक्खं’ ति समाः सर्वे पक्षाः—

पार्श्वः पूर्वापरदक्षिणोत्तरा यत्र स्थाने तत्सपक्षम्, इंकारः प्राकृतप्रभवः, समाः—सर्वाः प्रतिदिशो यत्र तत्सप्रतिदिक्, ‘बत्तीसतिविहं नट्टविहिं’ ति द्वात्रिंशद्विधं नाट्यविधिं, नाट्यविषयवस्तुनो द्वात्रिंशद्विधत्वात्, तच्च यथा राजप्रश्नीयाध्ययने तथाऽवसेयमिति। ‘अट्टं बंधह’ ति प्रयोजननिश्चयं कुरुतेत्यर्थः ‘निदानं’ प्रार्थनाविशेषम्। एतदेवाह—ठिइपकप्पं ति प्राग्वत्।

३/४५ ‘आसुरुत्त, ति आसुरुत्ताः’ शीघ्रं कोपविमूढबुद्धयः अथवा स्फुरितकोपचिह्नाः ‘कुविय’ ति जातकोपोदयाः ‘चंडिककय’ ति प्रकटितरौद्ररूपाः ‘मिसिमिसेमाणे’ ति देदीप्यमानाः क्रोधज्वलनेनेति। ‘सुबेणं’ ति रज्जा ‘उट्टुहंति’ ति अवष्टीव्यन्ति, निष्ठीवनं कुर्वन्ति ‘आकट्टविकट्टं’ ति आकर्षविकर्षिकां, ‘हीलेति’ ति जात्याद्युद्घाटनतः कुत्सन्ति ‘निंदति’ ति चेतसा। कुत्सन्ति ‘खिंसंति’ ति स्वसमक्षं वचनैः कुत्सन्ति ‘गरहंति’ ति लोकसमक्षं कुत्सन्त्येव ‘अवमण्णंति’ ति अवमन्यन्ते—अवज्ञाऽऽस्यदं मन्यन्ते ‘तज्जिंति’ ति अंगुलीशिरश्चालनेन ‘तालेति’ ताडयन्ति हस्तादिना ‘परिवहेति’ ति सर्वतो व्यथते कदर्शयन्ति ‘पव्वहंति’ ति प्रव्यथन्ते प्रकृष्टव्यथामेवोत्पादयन्ति।

३/४७ ‘तत्थेव सयणिज्जवरगाए’ ति तत्रैव शयनीयवरे स्थितः इत्यर्थः। ‘तिवलियं’ ति त्रिवलिकां ‘भृकुटिं’ दृष्टिविन्यासविशेषम्।

३/४९ ‘समजोइभूय’ ति समा ज्योतिषा—अग्निना भूता समज्योतिर्भूताः ‘भीय’ ति जातभयाः। ‘तत्थ’^२ ति त्रस्ताः भयाज्जातोत्कम्पादि-भयभावाः ‘सुसिय’^३ ति शुषिताऽऽनन्दरसाः ‘उव्विग्ग’ ति तत्यागमानसाः किमुक्तं भवतीत्याह—संजातभया, ‘आधावन्ति’ ईषद्धावन्ति ‘परिधावन्ति’ सर्वतो धावन्तीति ‘समतुरंगेमाण’ ति समाशिलष्यन्तः, अन्योऽन्यमनुप्रविशन्त इति वृद्धाः।

३/५० ‘नाइ भुज्जो एवं करणयाए’ ति नैवं भूयं एवंकरणाय संपत्स्यामहे इति शेषः।

३/५१ ‘आणाउववायवयणनिदेसे’ ति आज्ञा—कर्तव्यमेवेदमित्याद्या-देशः उपपातः—सेवा वचनम्—अभियोगपूर्वक आदेशः निर्देशः—प्रश्नितं कार्यं नियतार्थमुत्तरं तत एषां द्वन्द्वस्ततस्तत्र।

ईशानेन्द्रवक्तव्यताप्रस्तावात्तद्वक्तव्यतासंबद्धमेवोदेशकसमाप्तिं यावत् सूत्रवृन्दमाह—

३/५४ ‘सक्कस्से’ त्यादि। ‘उच्चतरा चेव’ ति उच्चत्वं प्रमाणतः ‘उन्नतरा चेव’ ति उन्नतत्वं गुणतः अथवा उच्चत्वं प्रासादापेक्षम्, उन्नतत्वं तु प्रासादपीठापेक्षमिति, यच्चोच्यते—

१. स प्रतौ, अंगसुत्तणौ — अन्तराकूलतया

अन्तराकूलतोऽप्येषा इति वा पाठः

२. स प्रतौ ‘उतत्थ’ ति।

३. अंगसुत्तणौ ‘तसिया’

‘पंचसयउच्चतेणं आइमकप्पेसु होति उ विमाण’ ति तत्परिस्थूलन्यायमंगीकृत्यावसेयं तेन किंचिदुच्चतरत्वेऽपि तेषां न विरोध इति।

- ३/५५. ‘देसे उच्चे देसे उन्नए’ ति प्रमाणतो गुणतश्चेति।
- ३/६६ ‘आलावं वा संलावं व’ ति ‘आलापः’ संभाषणं संलापस्तदेव पुनः पुनः।
- ३/६८ ‘किच्चाइं’ ति प्रयोजनानि ‘करणिज्जाइं’ ति विधेयानि।
- ३/६९ ‘से कहमियाणिं पकरेंति’ ति अथ कथम् ‘इदानीम्’ अस्मिन् काले कार्यावसरलक्षणे प्रकुरुतः? कार्याणीति गम्यम् ‘इति भो’ ति इति एतत्कार्यमस्ति, भोशब्दश्चामंत्रणे ‘इति भो इति भोति’ ति परस्परालापानुकरणम्।
- ३/७१ ‘जं से वयइ तस्स आणाउववायवयणनिहेसे’ ति यदाज्ञादिकमसौ वदति तत्राज्ञादिके तिष्ठत इति वाक्यार्थः तत्राज्ञादयः पूर्वं व्याख्याता एवेति।
- ३/७२ ‘आराहए’ ति ज्ञानादीनामाराधयिता ‘चरिमे’ ति चरम एव भवो यस्याप्राप्तस्तिष्ठति, देवभवो वा चरमो यस्य सः चरमभवो वा भविष्यति यस्य स चरमः।
- ३/७३ ‘हियकामए’ ति हितं—सुखनिबन्धनं वस्तु ‘सुहकामए’ ति सुखं—शर्म ‘पथकामए’ ति पथ्यं—दुःखत्राणं, कस्मा-देवमित्याह—‘आणुकंपिए’ ति कृपावान्, अत एवाह—‘निस्सेयसिय’ ति निःश्रेयसं—मोक्षस्तत्र नियुक्त इव नैःश्रेय-सिकः ‘हियसुहनिस्सेसकामए’ ति हितं यत्सुखमदुःखानु-बन्धमित्यर्थः तन्निःशेषाणां—सर्वेषां कामयते—वाञ्छति यः स तथा। पूर्वोक्तार्थसंग्रहाय गाथे—
- ३/७६ ‘छट्टे’ त्यादि, इहाद्यगाथायां पूर्वार्द्धपदानां पश्चार्द्धपदैः सह यथासंख्यं सम्बन्धः कार्यः, तथाहि—तिष्यककुरुदतसाध्वोः क्रमेण षष्ठमष्टमं च तपः तथा मासोऽर्द्धमासश्च। ‘भतपरिणण’ ति अनशनविधिः, एकस्य मासिकमनशनमन्यस्य चार्द्ध-मासिकमिति भावः। तथैकस्याष्ट वर्षाणि पर्यायः, अन्यस्य च षण्मासा इति। द्वितीया गाथा गतार्था।
- ‘भोया समत्त’ ति मोकाभिधाननगर्यामस्योदेशकार्यस्य कीदृशी विकुर्वणा? इत्येतावद्रूपस्योक्तत्वान्मोकेवायमुद्देशक उच्चते।

।। तृतीयशते प्रथमोद्देशकः ।।

द्वितीय उद्देशकः

प्रथमोद्देशके देवानां विकुर्वणोक्ता, द्वितीये तु तद्विशेषाणा-

मसुरकुमाराणां गतिशक्तिप्ररूपणायेदमाह—

- ३/७७ ‘तेण’ मित्यादि
- ३/७८ ‘एवं असुरकुमारे’ त्यादि ‘एवम्’ अनेन सूत्रक्रमेणेति।
- ३/८१ स चैवम्—‘उवरि एगं जोयणसहस्सं ओगाहेता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्जे अट्टहत्तरे जोयणसयसहस्से एत्थ पं असुरकुमाराणां देवाणां चोसट्ठिं भवणवाससयसहस्सा भवंतीति अक्खाय’ मित्यादि।
- ३/९० ‘विउव्वेमाणा व’ ति संरभेण महद्वैक्रियशरीरं कुर्वन्तः ‘परियारेमाणा व’ ति परिचारयन्तः परकीयदेवीनां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः ‘अहालहुस्सगाइं’ ति ‘यथे’ ति यथोचितानि लघुस्वकानि—अमहास्वरूपाणि महता हि तेषां नेतुं गोपयितुं वाऽशक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि, अथालघूनि—महान्ति वरिष्ठानीति च वृद्धाः। ‘आथाए’ ति आत्मना स्वयमित्यर्थः ‘एगंतं’ ति विजनम् ‘अंतं’ ति देशम्।
- ३/९२ ‘से कहमियाणिं पकरेंति’ ति अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रमणकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिका रत्नाऽऽदातृणामिति। ‘तओ से पच्छा कायं पव्वहंति’ ति ततो रत्नादानात् ‘पच्छ’ ति अनन्तरं ‘से’ ति एषां रत्नाऽऽदातृणाम् असुराणां ‘कायं देहं प्रव्यथन्ते, प्रहारैर्मथ्यन्ति वैमानिका देवाः। तेषां च प्रव्यथितानां वेदना भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतः षण्मासान् यावत्।
- ३/९५ ‘सबरा’ इ वा इत्यादौ शबरादयोऽनार्यविशेषाः ‘गड्ढं व’ ति गर्ता ‘दुगं व’ ति जलदुर्गादि ‘दरिं व’ ति दरिं पर्वतकन्दरां ‘विसमं व’ ति विषमं गर्तातर्वाद्याकुलं—भूमिरूपं ‘निस्साए’ ति निश्रया आश्रित्य ‘धणुबलं व’ ति धनुर्दरबलम् ‘आगलेंति’ ति आकलयन्ति जेष्याम इत्यध्यवस्यन्तीति। ‘नण्णत्थ’ ति ननु निश्चितं ‘अत्र’ इहलोके, अथवा ‘अरहंते वा निस्साए उड्ढं उप्पयंति’ नान्यत्र तन्निश्रयाऽन्यत्र न, न तां विनेत्यर्थः।
- ३/१०२ ‘दाण्णमाए’ ति दानमय्या।
- ३/१०५ ‘छउमत्थकालियाए’ ति छद्मस्थकाल एव छद्मस्थकालिका तस्यां ‘दोवि पाए साहट्टु’ ति संहत्य संहतौ (संहतौ) कृत्वा जिनमुद्रयेत्यर्थः ‘वग्घारियपाणि’ ति प्रलम्बितभुजः ‘ईसिपम्भारगणं’ ति प्राग्भारः—अग्रतोमुखमवनतत्वम्। ‘अहापणिहिएहिं गतेहिं’ ति यथाप्रणिहितैः यथास्थितैः।
- ३/१०९ ‘वीससाए’ ति स्वभावत एवा। ‘पासइ य तत्थ’ ति पश्यति च, तत्र—सौधमैकल्पे, ‘मघवं’ ति मघा—महामेघास्ते यस्य वशे सन्त्यसौ मघवानतस्तं ‘पागसासणं’ ति पाको नाम

बलवान् रिपुस्तं यः शास्ति—निराकरोत्यसौ पाकशासनोऽतस्तं 'सयक्कडं' ति शतं क्रतूनां—प्रतिमानामभिग्रहविशेषाणां श्रमणोपासकपंचमप्रतिमारूपाणां वा, कार्तिकश्रेष्ठिभवापेक्षया यस्यासौ शतक्रतुरतस्तं 'सहस्सक्खं' ति सहस्रमक्षणां यस्यासौ सहस्राक्षोऽतस्तम्, इन्द्रस्य किल मंत्रिणां पंच शतानि सन्ति, तदीयानां चाक्षगामिन्द्रप्रयोजनव्यापृततया इन्द्रसम्बन्धित्वेन विवक्षणात्तस्य सहस्राक्षत्वमिति 'पुरंदरं' ति असुरादिपुराणां दारणात् पुरन्दरस्तं 'जाव दस दिसाओ' ति इह यावत्करणात् 'दाहिणङ्गुलोगाहिवइं बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवइं एरावणवाहणं सुरिंदं अरयंबरवत्थरं' अरजांसि च तानि अम्बरवस्त्राणि च तानि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पवसनानि अरजोऽम्बरवस्त्राणि तानि धारयति यः स तथा तम्, 'आलाइयमालमडडं' आगलितमालं मुकुटं यस्य स तथा तं 'नवहेम-चारुचित्तचंचल-कुण्डलविलिहिज्जमाणगंडं' नवाभ्यामिव हेमः सत्काभ्यां चारुचित्राभ्यां चंचलाभ्यां कुण्डलाभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा तम्, इत्यादि तावद् वाच्यम् 'जाव दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए' ति अथ यत्र यत्परिवारं यत्कुर्वाणं च तं पश्यति तथा दर्शयितुमाह— 'सोहम्मे' त्यादि 'अपत्थियपत्थए' ति अप्राथितं प्रार्थयते यः स तथा। 'दुरंतपंतलक्खणे' ति हीनायां पुण्यचतुर्दश्यां जातो हीनपुण्यचातुर्दशः, किल चतुर्दशी तिथिः पुण्या जन्माश्रित्य भवति, सा च पूर्णा अत्यन्तभाग्यवतो जन्मनि भवति। आक्रोशता उक्तं—हीणपुण्यचातुर्दसे' ति 'जण्णं ममं' ति मम 'अस्याम्' एतद्रूपायां दिव्यायां देवद्धीं तथा दिव्यायां देवद्युतौ सत्यां तथा दिव्ये देवानुभागे लब्धे प्राप्ते अभिसमन्वागते सति 'उष्णिं' ति ममैव 'अप्पुस्सुए' ति अल्पौत्सुक्यः।

३/१११ 'अच्चासाइत्तए' ति 'अत्याशातयितुं' छायाया भ्रंशयितुमिति। 'उसिणे' ति उष्णः कोपसन्तापात्, कोपसन्तापजं चोष्णत्वं कस्यचित्स्वभावतोऽपि स्यादित्याह—'उसिणब्भूए' ति अस्वाभाविकमौष्ण्यं प्राप्त इत्यर्थः।

३/११२ 'एगे' ति सहायाभावात्, एकत्वं च बहुपरिवारभावेऽपि विवक्षितसहायाभावाद् व्यवहारतो भवतीत्यत आह—'अबिइए' ति अद्वितीयो डिम्बरूपमात्रस्यापि द्वितीयस्याभावादिति। 'एगं महं' ति एकां महतीं बोन्दीमिति योगः 'घोरं, ति हिस्त्रां, कथम्? यतो 'घोराकारां' हिस्त्राकृतिं 'भीमं' ति 'भीमां' विकरालत्वेन भयजनिकां कथम्? यतो 'भीमाकारां' भयजनकाकृतिं 'भासुरं' ति भास्वरां 'भयाणीयं' ति भयमानीतं यया सा भयानीताऽतस्ताम्, अथवा भयं भयहेतुत्वादनीकं— तत्परिवार-भूतमुल्कास्फुलिङ्गादि सैन्यं यस्याः सा भयानीकाऽतस्तां 'गंभीरं' ति गंभीरां विकीर्णावयवत्वात्

'उत्तासणयं' ति उत्तासनिकां 'त्रसी उद्वेगे' इति वचनात् स्मरणेनाप्युद्वेगजनिकाम्। 'महाबोदिं' ति महाप्रभावतनुम् 'अप्फोडेइ' ति करास्फोटं करोति 'पायदहरगं' ति भूमेः पादेनास्फोटनम् 'उच्छोलेइ' ति अग्रतोमुखां चपेटां ददाति 'पच्छोलेइ' ति पृष्ठतोमुखां चपेटां ददाति 'तिवइं छिंदइ' ति मल्लं इव रंगभूमौ त्रिपदीच्छेदं करोति। 'ऊसवेइ' ति उच्छृतं करोति 'विडंबेइ' ति विवृतं (विकृतं) करोति 'साकडुंतेव' ति समाकर्षयन्निव 'विउम्भाएमाणे' ति व्युद्भ्राज-मानः—शोभमानो विजुम्भमाणो वा व्युद्भ्राजयन् वाऽम्बरतले परिघरत्नमिति योगः। 'इंदकील' ति गोपुरकपाटयुगसन्धिनवेश-स्थानम्।

३/११३ 'नाहि ते' ति नैव तव। 'फुलिङ्गजाले' त्यादि स्फुलिङ्गानां ज्वालानां च या मालास्तासां च यानि सहस्राणि तानि तथा तैः, चक्षुर्विक्षेपश्च—चक्षुर्भ्रमः दृष्टिप्रतिघातश्च—दर्शनाभावः चक्षुर्विक्षेपदृष्टिप्रतिघातं तदपि कुर्वत्, अपि विशेषणसमुच्चये 'हुतवहे' त्यादि हुतवहातिरेकेण यत्तेजस्तेन दीप्यमानं यत्तथा 'जङ्गवेगं' ति जयी शेषवेगवद्वेगजयी वेगो यस्य तत्तथा 'महब्भयं' ति महतां भयमस्मादिति महद्भयं, कस्मादेवमित्यत आह—'भयंकरं' भयकर्तुः।

३/११४. 'झियाइ' ति ध्यायति, किमेतदिति चिन्तयति, यथा 'पिहाइ' ति स्पृहयति यद्येवंविधं प्रहरणं ममापि स्यादित्येवं तदभिलषति, स्वस्थानगमनं वाऽभिलषति, अथवा 'पिहाइ' ति अक्षिणी पिधते—निमीलयति, 'पिहाइ झियाइ' ति पूर्वोक्तमेव क्रियाद्वयं व्यत्ययेन करोति, अनेन च तस्यातिव्याकुलतोक्ता, 'तहेव' ति तथा ध्यातवारं तथैव तत्क्षण एवेत्यर्थः 'संभग्गमउडविडवे' ति संभग्ने मुकुटवितपः शोखरकविस्तारो यस्य स तथा। 'सालंबहत्थाभरणे' ति सह आलम्बेन—प्रलम्बेन वर्तन्ते सालम्बानि तानि हस्ताभरणानि—यस्याधोमुखगमनवशादसौ सालम्बहस्ताभरणः, 'कक्खागयसेयंपिव' ति भयातिरेकात्कक्षागतं स्वेदमिव मुञ्चयन्, देवानां किल स्वेदो न भवतीति संदर्शनार्थः पिव शब्दः। 'झिति वेगेणं' ति वेगेन समवपतितः, कथं? 'झगिति' झटितिकृत्वा।

३/११५ 'पभु' ति शक्तः 'समत्थे' ति संगतप्रयोजनः 'हा हा' इत्यादेः संस्कारोऽयं हा हा अहो! हतोऽहमस्मीतिकृत्वा, व्यक्तं चैतत्। 'अवियाइं' ति अपि चेति अभ्युच्चये, 'आइं' ति वाक्यालंकारे 'मुट्टिवाएणं' ति अतिवेगेन वज्रग्रहणाय यो मुष्टेर्बन्धने वात उत्पन्नोऽसौ मुष्टिवातस्तेन मुष्टिवातेन 'केसग्गे' ति केशाग्राणि 'वीइत्थां' वीजितवान्।

३/११६ 'इहमागए' ति तिर्यक्लोके 'इहसमोसडे' ति सुसमारपुरे 'इह संपते' ति उद्याने 'इहैवोद्याने' 'अज्जे' ति 'अद्य' अस्मिन्नहनि

अथवा हे आर्य! पापकर्मबहिर्भूत! आर्य! वा स्वामिन्! 'उपसंपज्जिता णं' ति 'उपसंपन्नो' उपसंपन्नो भूत्वा 'विहरामि' वत्ते 'नाइभुज्जो' ति नैव भूयः 'एवं पकरणयाए' ति एवं प्रकरणतायां वर्तिष्य इति शेषः, 'दाणिं' ति इदानीं साम्प्रतमित्यर्थः। इह लेङ्वादिकं पुद्गलं क्षिप्तं गच्छन्तं क्षेपकमनुष्यस्तावद्गृहीतुं न शक्नोतीति दृश्यते, देवस्तु किं शक्नोति? येन शक्रेण वज्रं क्षिप्तं संहतं च तथा वज्रं चेद् गृहीतं चमरः कस्मात् गृहीत इत्यभिप्रायतः।

प्रस्तावनोपेतं^१ प्रश्नोत्तरमाह—

३/११८ 'भंते! इत्यादि, 'सीहे' ति शीघ्रो वेगवान्, स च शीघ्रगमन-शक्तिमात्रापेक्षयाऽपि स्यादत आह—'सीहर्गई चेव' ति शीघ्रगतिरेव नाशीघ्रगतिरपि एवं भूतश्च कायापेक्षयाऽपि स्यादत आह—'तुरियं' ति त्वरितः—त्वरान्, स च गतेरन्यत्रापि स्यादित्यत, आह—'तुरियगई' ति 'त्वरितगतिः मानसौत्सुक्यप्रवर्तितवेगवद्गतिरिति, एकार्था वैते शब्दाः।

३/११९ 'संचाइए' ति शक्तिः 'साहत्थियं' ति स्वहस्तेना 'गइविसए' ति इह यद्यपि गतिमोचरभूतं क्षेत्रं गतिविषयशब्देनोच्यते तथाऽपि गतिरेवेह गृह्यते, शीघ्रादिविशेषणानां क्षेत्रेऽयुज्यमानत्वादिति, 'सीहे सीहे चेव' ति शीघ्रो वेगवान्, स चानैकान्तिकोऽपि स्यादित्याह—'सीहे' चेव ति शीघ्र एव, एतदेव प्रकर्षवृत्तिप्रतिपादनाय पर्यायान्तरेणाह—'त्वरितस्त्वरितश्चैवेति, 'अप्ये अप्ये चेव' ति अतिशयेनाल्पोऽतिस्तांक इत्यर्थः। 'मंदे मंदे चेव' ति अत्यन्तमन्दः एतेन च देवानां गतिस्वरूपमात्रमुक्तम्। एतस्मिंश्च गतिस्वरूपे सति शक्रवज्रचमराणामेकमाने ऊर्ध्वादौ क्षेत्रे गन्तव्ये यः कालभेदो भवति तं प्रत्येकं दर्शयन्नाह—'जावइय' मित्यादि अथेन्द्रस्योर्ध्वाधःक्षेत्रगमने कालभेदमाह—'सव्वत्थोवे सव्वकस्से' त्यादि 'सर्वस्तोकं' स्वल्पं शक्रस्य ऊर्ध्वलोकगमने कण्डकं—कालखण्डम् ऊर्ध्वलोककण्डकम् ऊर्ध्वलोक-गमनेऽतिशीघ्रत्वात्स्य, अधोलोकगमने कण्डकं—काल-खण्डमधोलोककण्डकं संख्यातगुणम् ऊर्ध्वलोककण्डका-पेक्षया द्विगुणमित्यर्थः। अधोलोकगमने शक्रस्य मंदगतित्वात्, द्विगुणत्वं च 'सव्वकस्स उप्पयणकाले चमरस्स य ओवयण-काले एए णं दोण्णिणिव तुल्ला' तथा 'जावतियं खेतं' चमरे असुरिदे असुरराया अहे ओवयइ इक्केणं समएणं तं सव्वके दोहिं' ति वक्ष्यमाणवचनद्वयसामर्थ्याल्लभ्यमिति, 'जावइय' मित्यादिसूत्रद्वयमधःक्षेत्रापेक्षं पूर्ववद् व्याख्येयम् एवं खलु इत्यादि च निगमनम्। अथ शक्रादीनां प्रत्येकं गतिक्षेत्र-स्याल्पबहुत्वोपदर्शनाय सूत्रत्रयमाह—

३/१२० 'सव्वकस्से' त्यादि, तत्र ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च यो गतिविषयो— गतिविषयभूतं क्षेत्रमनेकविधं तस्य मध्ये कतरो गतिविषयः कतरस्माद्गतिविषयात्सकाशादल्पादिः? इति प्रश्नः. उत्तरं तु सर्वस्तोकमधःक्षेत्रं समयेनावपतति, अधो मंद-गतित्वाच्छक्रस्य। 'तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ' 'ति' कल्पनया किलैकेन समयेन योजनमधो गच्छति शक्रः तत्र च योजने द्विधाकृते द्वौ भागौ भवतः, तयोश्चैकस्मिन् द्विभागे मीलिते त्रयः संख्येया भागा भवन्ति, अतस्तान् तिरियं गच्छति, सार्द्धयोजनमित्यर्थः, तिरियंगतौ तस्य शीघ्रगतित्वात् 'उड्डं संखेज्जे भागे गच्छइ' यान् किल कल्पनया त्रीन् द्विभागांस्तिरियंगच्छति तेषु चतुर्थेऽन्यस्मिन् द्विभागे मीलिते चत्वारो द्विभागरूपाः संख्यातभागाः संभवन्ति अतस्तान् ऊर्ध्वं गच्छति' अथ कथं सूत्रे संख्यातभागमात्रग्रहणे सतीदं नियतभागव्याख्यानां क्रियते? उच्यते 'जावइयं खेतं चमरे असुरिदे असुरराया अहे ओवयइ एक्केणं समएणं तं सव्वके दोहिं' तथा 'सव्वकस्स उप्पयणकाले चमरस्स ओवयणकाले एतेणं वि दो (वि) ण्णिणिव तुल्ला' इति वचनतो निश्चीयते शक्रो यावदधो द्वाभ्यां समयाभ्यां गच्छति तावदूर्ध्वमेकेनेति द्विगुणमधःक्षेत्रदूर्ध्वक्षेत्रम्, एतयोश्चा-पान्तरालवर्त्ति तिर्यक्क्षेत्रमतोऽपान्तरालप्रमाणेनैव तेन भवितव्यमित्यधः क्षेत्रापेक्षया तिर्यक्क्षेत्रं सार्द्धं योजनं भवतीति व्याख्यातम्। आह च चूर्णिकारः—'एगेणं समएणं ओवयइ अहे जोयणं एगेणेव समएणं तिरियं दिवड्डं गच्छइ, उड्डं दो जोयणाणि सव्वको ति'।

३/१२१ 'चमरस्स ण' मित्यादि 'सव्वत्थोवं खेतं चमरे असुरिदे असुरराया उड्डं उप्पयइ एक्केणं समएणं' ति ऊर्ध्वगतौ मंदगतित्वात्स्य, तच्च किल कल्पनया त्रिभागन्यूनं गव्यूतत्रयं 'तिरियं संखेज्जे भागे' ति तस्मिन्नेव पूर्वोक्ते त्रिभागन्यूनगव्यूतत्रये द्विगुणिते ये योजनस्य संख्येया भागा भवन्ति तान् गच्छति, तिरियंगतौ शीघ्रतरगतित्वात्स्य, 'अहे संखेज्जे भागे गच्छइ' ति पूर्वोक्ते त्रिभागद्वयन्यूने गव्यूतषट्के त्रिभागन्यूनगव्यूतत्रये मीलिते ये संख्येयभागा भवन्ति तान् गच्छति, योजन-द्वयमित्यर्थः। अथ कथं संख्यातभागमात्रोपादाने नियत-संख्येयभागत्वं व्याख्यायते? उच्यते शक्रस्योर्ध्वगतेश्चमरस्य चाधोगतेः समत्वमुक्तं शक्रस्य चोर्ध्वगमनं समयेन योजनद्वयरूपं कल्पितमतश्चमरस्याधोगमनं समयेन योजनद्वयमुक्तं, तथा 'जावइयं सव्वके देविंदे देवराया उड्डं उप्पयइ एगेणं समएणं तं वज्जं दोहिं जं वज्जं दोहिं तं चमरे तिहिं' ति वचनसामर्थ्यात् प्रतीयते शक्रस्य यदूर्ध्व

गतिक्षेत्रं तस्य त्रिभागमात्ररूपं चमरस्योर्ध्वगतिक्षेत्रमतो व्याख्यातं त्रिभागन्यूनत्रिगव्युत्तमानं तदिति, ऊर्ध्वक्षेत्राधोगतिक्षेत्रयोश्चापान्तरालवर्ति तिर्यक्क्षेत्रमितिकृत्वा त्रिभागद्वयन्यूनषड्गव्युत्तमानं तद्व्याख्यातमिति। यच्च चूर्णिकारेणोक्तं 'चमरो उड्डं जीयण' मित्यादि, तत्रावगतम्।

३/१२२ 'वज्जं जहा सक्कस्स तहेव' ति वज्रमाश्रित्य गतिविषयस्याल्पबहुत्वं वाच्यं यथा शक्रस्य तथैव, विशेषद्योतनार्थं त्वाह—'नवरं विसेसाहियं कायव्वं' ति, तच्चैवम्—वज्जस्स णं भंते! उड्डं अहे तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पं वा बहुं वा? गोयमा! सव्वत्थोवं खेतं वज्जे अहे ओवयइ एक्केणं समएणं तिरियं विसेसाहिए भागे गच्छइ उड्डं विसेसाहिए भागे गच्छइ' ति वाचनान्तरे तु एतद्-साक्षादेवोक्तमिति। अस्यायमर्थः—सर्वस्तोकं क्षेत्रं वज्रमधो व्रजत्येकेन समयेन, अधो मंदगतित्वात्तस्य वज्रस्य, तच्च किल कल्पनया त्रिभागन्यूनं योजनं, तिर्यक् च विशेषाधिकौ भागौ गच्छति, शीघ्रतरगतित्वात्। तौ च किल योजनस्य द्वौ त्रिभागौ विशेषाधिकौ सत्रिभागं गव्युत्तत्रयमित्यर्थः। तथा ऊर्ध्व विशेषाधिकौ भागौ गच्छति, यौ किल तिर्यग्विशेषाधिकौ भागौ गच्छति, तावेवोर्ध्वगतौ किंचिद्विशेषाधिकौ, ऊर्ध्वगतौ शीघ्रतरगतित्वात्परिपूर्णं योजनमित्यर्थः। अथ कथं सामान्यतो विशेषाधिकत्वेऽभिहिते नियतभागत्वं व्याख्यायते? उच्यते 'जावइयं चमरे असुरिदे असुरराया अहे ओवयइ एक्केणं समएणं तावइयं सक्के दोहिं जं सक्के दोहिं तं वज्जे तिहिं' ति वचनसामर्थ्याच्छक्राधोगत्यपेक्षया वज्रस्य त्रिभागन्यून-धोगतिर्लब्धेति त्रिभागन्यूनं योजनमिति सा व्याख्या। तथा 'सक्कस्स ओवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले एस णं दोणहवि तुल्ले' इति वचनादवसीयते यावदेकेन समयेन शक्रोऽधो गच्छति तावद्वज्रमूर्ध्व, शक्रश्चैकेनाधः किल योजनं एवं वज्रमूर्ध्वं योजनमिति कृत्वा ऊर्ध्वं योजनं तस्योक्तम्, ऊर्ध्वाधोगत्योश्च तिर्यग्गतेरपान्तरालवर्तित्वात्तदपान्तरालवर्त्येव सत्रिभागगव्युत्तत्रयलक्षणं तिर्यग्गतिप्रमाणमुक्तमिति अनन्तरगतिविषयस्य क्षेत्रस्याल्पबहुत्वमुक्तं, अथ गतिकालस्य तदाह—

३/१२३-१२५ 'सक्कस्स णं' मित्यादि सूत्रत्रयम्। शक्रादीनां गतिकालस्य प्रत्येकमल्पबहुत्वमुक्तम्।

अथ परस्परापेक्षया तदाह —

३/१२६ 'एयस्स णं भंते! वज्जस्से' त्यादि 'ए णं बेण्णिवि तुल्ल' ति शक्रचमरयोः स्वस्थानगमनं प्रति वेगस्य समत्वादुत्पत्तनाव-पतनकालौ तयोस्तुल्यौ परस्परेण, 'सव्वत्थोव' ति वक्ष्यमाण-पेक्षयेति, तथा 'सक्कस्से' त्यादौ 'एस णं दोणहवि तुल्ले'

ति उभयोरपि तुल्यः शक्रावपतनकालो वज्रोत्पातकालस्य तुल्यः वज्रोत्पातकालश्च शक्रावपतनकालस्य तुल्य इत्यर्थः। 'संखेज्जगुणे' ति शक्रोत्पातचमरावपातकालापेक्षया।

एवमनन्तरसूत्रमपि भावनीयम्।

३/१२६ 'ओहयमणसंकप्पे' ति उपहतो—ध्वस्तो मनसः संकल्पो - दर्पहर्षादिप्रभवो विकल्पो यस्य स तथा 'चिंतासोग-सागरमणुपविट्ठे' ति चिन्ता—पूर्वकृतानुस्मरणं शोको— दैन्यं तावेव सागर इति विग्रहोऽतस्तं 'करतलपल्हत्थमुहे' ति करतले पर्यस्तम्—अधोमुखतया न्यस्तं मुखं येन स तथा।

३/१२९ 'जस्समिह पभावेणं' ति यस्य प्रभावेण इहागतोऽस्मि— भवामीति योगः, किंभूतः सन्नित्याह 'अकिट्ठे' ति अकृष्टः अविलिखितः अक्लिष्टो वा—अबाधितो निर्वेदनमित्यर्थः, एतदेव कथमित्याह—'अव्वहिए' ति अव्यथितः, अताडितः अताडितत्वेऽपि ज्वलनकल्पकुलिशसन्निकर्षात्परितापः स्यादतस्तं निषेधयन्नाह—'अपरिताविए' ति, 'इहमागए' त्यादि विवक्षया पूर्ववद्व्याख्येयम् 'इहेव अज्जे' त्यादि इहैव स्थाने अद्य अस्मिन्नहनि उपसंपद्य प्रशान्तो भूत्वा विहरामीति। पूर्वमसुराणां भवप्रत्ययो वैरानुबन्धः सौधर्मगमने हेतुरुक्तः। अथ तत्रैव हेत्वन्तराभिधानायाह—

३/१३१ 'किं पत्तियं णं' मित्यादि तत्र 'किं पत्तियं' ति कः प्रत्ययः— कारणं यत्र तत् किं प्रत्ययम् 'अहुणोववण्णाणं' ति उत्पन्नमात्राणाम्। चरिमभवत्थाण व ति भवचरमभागस्थानाम्? च्यवनावसर इत्यर्थः।

॥ तृतीयशते द्वितीयोद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

द्वितीयोद्देशके चमरोत्पात उक्तः स च क्रियारूपः अतः क्रियास्वरूपाभिधानाय तृतीयोद्देशकः

३/१३३ 'तेणं कालेण' मित्यादि।

३/१३४ तत्र 'पंच किरियाओ' ति करणं क्रिया कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थः। 'काइय' ति चीयत इति, कायः—शरीरं तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता कायिकी, 'अहिगरणिय' ति अधिक्रियते नरकादिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरणम्—अनुष्ठानविशेषः। बाह्यं वा वस्तु चक्रखड्गादि^१। तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता इत्याधिकरणिकी। 'पाउसिय' ति प्रद्वेषो—मत्सरस्तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता स एव वा प्राद्वेषिकी। 'पारितावणिय' ति परितापनं परितापः—पीडाकरणं तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता तदेव वा पारितापनिकी।

‘पाणातिवायकिरिय’ ति प्राणातिपातः—प्रसिद्धस्तद्विषया क्रिया प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया।

३/१३५ ‘अणुवरयकायकिरिया य’ ति अनुपरतः—अविरतस्तस्य कायक्रियाऽनुपरतकायक्रिया, इयमविरतस्य भवति। ‘दुष्प-उत्तकायकिरिया य’ ति दुष्टं प्रयुक्तो दुःप्रयुक्तः स चासौ कायश्च दुःप्रयुक्तकायस्तस्य क्रिया दुःप्रयुक्तकायक्रिया, इयं प्रमत्तसंयतस्यापि भवति, विरतिमतः प्रमादे सति कायदुष्ट-प्रयोगस्य सदभावात्।

३/१३६ ‘संजोयणाहिगरणकिरिया य’ ति संयोजनं—हलगरविष-कूटयंत्राद्यंगानां पूर्वनिर्वर्तितानां मीलनं तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया। ‘निव्वत्तणाहिगरणकिरिया य’ ति निर्वर्तनम्—असिशक्तितोमरादीनां निष्पादनं तदेवाधिकरणक्रिया निर्वर्तनाधिकरणक्रिया।

३/१३६ ‘जीवपाओसिया य’ ति जीवस्य—आत्मपरतदुभयरूपस्योपरि प्रद्वेषाद् या क्रिया प्रद्वेषकरणमेव वा। ‘अजीवपाउसिया य’ ति अजीवस्योपरि प्रद्वेषाद् या क्रिया प्रद्वेषकरणमेव वा।

३/१३८ ‘सहत्थपारितावणिया य’ ति स्वहस्तेन स्वस्य परस्य तदुभयस्य वा परितापनाद्—असातोदीरणाद् या क्रिया परितापनाकरणमेव वा सा स्वहस्तपारितापनिकी एवं परहस्तपारितापनिक्यपि।

३/१३९ एवं प्राणातिपातक्रियाऽपि। उक्ता क्रिया।

अथ तज्जन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्याह—

३/१४० ‘पुंक्व भंते!’ इत्यादि क्रिया—करणं तज्जन्यत्वात्कर्मापि क्रिया, अथवा क्रियत इति क्रिया कर्मेव, वेदना तु कर्मणोऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति, कर्मपूर्वकत्वात्तदनुभवनस्येति। अथ क्रियामेव स्वामिभावतो निरूपयन्नाह—

३/१४१ ‘अत्थि ण’ मित्यादि, अस्त्ययं पक्षो यदुत्त क्रिया क्रियते—क्रिया भवति।

३/१४२ प्रमादप्रत्ययात् यथा दुःप्रयुक्तकायक्रियाजन्यं कर्म, योगनिमित्तं च यथा ऐर्यापथिकं कर्म। क्रियाधिकारादिदमाह—

३/१४३ ‘जीवे ण’ मित्यादि, इह जीवग्रहणेऽपि सयोग एवासौ ब्राह्मः अयोगस्यैजनादेरसंभवात्। ‘सदा’ नित्यम्। ‘समिथं’ ति सप्रमाणम्। ‘एयइ’ ति एजते—कम्पते ‘एज् कम्पने’ इति वचनात्। ‘वेयइ’ ति ‘व्येजते’ विविधं कम्पते। ‘चलइ’ ति स्थानान्तरं गच्छति। ‘फंदइ’ ति स्पंदते किंचिच्चलति ‘स्पदि किंचिच्चलने’ इति वचनात् अन्यमवकाशं गत्वा पुनस्तत्रैवागच्छतीत्यन्ये।

‘घट्टइ’ ति सर्वदिक्षु चलति पदार्थान्तरं वा स्पृशति। ‘खुब्भइ’ ति क्षुभ्यति पृथिवीं प्रविशति, क्षोभयति वा पृथिवीं बिभेति वा। ‘उदीरइ’ ति प्राबल्येन प्रेरयति पदार्थान्तरं प्रतिपादयति वा। शेषक्रियाभेदसंग्रहार्थमाह—‘तं तं भावं परिणमइ’ ति उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणादिकं परिणामं यातीत्यर्थः। एषां चैजनादिभावानां क्रमभावित्वेन सामान्यतः सदेति मन्वाव्यं न तु प्रत्येकापेक्षया, क्रमभावित्वात् युगपद्भावादिति।

३/१४४ ‘तस्स जीवस्स ‘अंते’ ति मरणांते ‘अंतकिरिय’ ति सकलकर्मक्षयरूपा।

३/१४५ ‘आरभइ’ ति आरभते पृथिव्यादीनुपद्रवयति। ‘सारभइ’ ति संरभते तेषु विनाशसंकल्पं करोति, ‘समारभइ’ ति समारभते तानेव परितापयति, आह च—

‘संकम्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो।

आरंभो उद्भवओ सव्वनयाणं विसुद्धाणं ॥’

इदं च क्रियाक्रियावतो कथंचिद्भेद इत्यभिधानाय तयोः समानाधिकरणतः ‘सूत्रमुक्तम्’। अथ तयोः कथंचिद्भेदोऽप्यस्तीति दर्शयितुं पूर्वोक्तमेवार्थं व्यधिकरणत आह—‘आरंभे’ इत्यादि आरंभे—अधिकरणभूते वर्तते जीवः, एवं संरम्भे समारंभे च, अनन्तरोक्तवाक्यार्थद्वयानुवादेन प्रकृतयोजनमाह—आरंभमाणः संरंभमाणः समारंभमाणो जीव इत्यनेन प्रथमो वाक्यार्थोऽनूदितः आरंभे वर्तमान इत्यादिना तु द्वितीयः ‘दुक्खावणयाए’ इत्यादौ ताशब्दस्य प्राकृतप्रभवत्वात् ‘दुःखापनायां’ मरणलक्षण-दुःखप्रापणायाम् अथवा इष्टवियोगादि दुःखहेतुप्रापणायाम् वर्तते इति योगः। तथा ‘शोकापनायां’ दैन्यप्रापणायाम् ‘जूरावणयाए’ ति शोकातिरेकाच्छरीरजीर्णताप्रापणायाम्। ‘तिप्पावणयाए’ ति तेपापनायां ‘तिपृ छेपृ क्षरणार्थी’ इति वचनात् शोकातिरेका-देवाश्रुलालादिक्षरणप्रापणायाम् ‘पिट्टावणयाए’ ति पिट्टनप्रापणायाम् ततश्च परितापनायां शरीरसन्तापे वर्तते, क्वचित् पठ्यते ‘दुक्खावणयाए’ इत्यादि, तच्च व्यक्तमेव, यच्च तत्र ‘किला-मणयाए उद्दावणयाए’ इत्यधिकमभिधीयते। तत्र ‘किलामणयाए’ ति ग्लानिनयने ‘उद्दावणयाए’ ति उत्त्रासने ॥

उक्तार्थविपर्ययमाह—

३/१४६ ‘जीवे ण’ मित्यादि। ‘णो एयइ’ ति शैलेशीकरणे योगनिरोधान्नो एजत इति। एजनादिरहितस्तु नारंभादिषु वर्तते तथा च न प्राणादीनां दुःखापनादिषु।

३/१४६ तथाऽपि योगनिरोधाभिधानशुक्लध्यानेन सकलकर्मध्वं-सरूपाऽन्तक्रिया भवति तत्र दृष्टान्तद्वयमाह—

३/१४८ 'से जहा' इत्यादि 'तणहत्थयं' ति तृणपूलकं 'जायतेयंसि' ति वहायौ । 'मसमसाविज्जइ' ति शीघ्रं दह्यते। इह च दृष्टान्तद्वयस्याप्युपनयनार्थः सामर्थ्यागम्यो, यथा एवमेजनादिरहितस्य शुक्लस्थानचतुर्थभेदानलेन कर्मदाह्यदहनं स्यादिति।

अथ निःक्रियस्यैवान्तक्रिया भवतीति नौदृष्टान्तेनाह—'से जहाणामए' इत्यादि, इह शब्दार्थः प्राग्वन्नवरम् 'उद्दाइ' ति उद्याति जलस्योपरि वर्तते 'अत्ततासंवुडस्से' ति आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंलीनस्येत्यर्थ, एतदेव 'इरियासमियस्से' त्यादिना प्रपंचयति—'आउत्तं' ति आयुक्तमुपयोगपूर्वकमित्यर्थः 'चक्खुपम्हनिवायमवि' ति किं बहुना आयुक्तगमनादिना स्थूलक्रियाजालेनोक्तेन? यावच्चक्षुःपक्षमनिपातोऽपि, प्राकृतत्वान्तिंगव्यत्ययः, उन्मेषनिमेषमात्रक्रियाऽप्यस्ति आस्तां गमनादिका तावदिति शेषः। 'वेमाय' ति विविधमात्रा, अन्तर्मुहूर्तादिदेशोनपूर्वकोटीपर्यन्तस्य क्रियाकालस्य विचित्रत्वात्, वृद्धाः पुनरेवमाहुः—यावता चक्षुषो निमेषोन्मेषमात्राऽपि क्रिया क्रियते तावताऽपि कालेन विमात्रया स्तोक्मात्रयाऽपीति, क्वचिद्विमात्रेत्यस्य स्थाने 'सपेहाए' ति दृश्यते तत्र च स्वप्रेक्षया स्वेच्छया चक्षुःपक्षमनिपातो न तु परकृतः 'सुहुम' ति सूक्ष्मबन्धादिकाला। 'ईरियावहिय' ति ईर्यापथो—गमनमार्गस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी केवलयोगप्रत्ययेति भावः। 'किरिय' ति कर्मसातवेदनीयमित्यर्थः 'कज्जइ' ति क्रियते भवतीत्यर्थः, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगीकेवलिलक्षणगुणस्थानकत्रयवर्ती वीतरागोऽपि हि सक्रियत्वात्सातवेद्यं कर्म बध्नातीति भावः। 'से' ति ईर्यापथिकी क्रिया 'पढमसमयबद्धपुट्ट' ति बद्धा कर्मतापादनात् स्पृष्टा जीवप्रदेशैः स्पर्शानात्ततः कर्मधारये तत्पुरुषे च सति प्रथमसमयबद्धस्पृष्टा, तथा द्वितीयसमये वेदिता—अनुभूतस्वरूपा, एवं तृतीयसमये निर्जीर्णा अनुभूतस्वरूपत्वेन जीवप्रदेशेभ्यः परिशाटितेति, एतदेव वाक्यान्तरेणाह—सा बद्धा स्पृष्टा प्रथमे द्वितीये तु 'उदीरिता' उदयमुपनीता, किमुक्तं भवति? वेदिता, न ह्येकस्मिन् समये बन्ध उदयश्च संभवतीत्येव^१ व्याख्यातम्। तृतीये तु निर्जीर्णा, ततश्च 'सेयकाले' ति एष्यत्काले 'अकम्मं वावि' ति अकर्माऽपि च भवति, इह च यद्यपि तृतीयेऽपि समये कर्म अकर्म भवति तथाऽपि तत्क्षण एवातीतभावकर्मत्वेन द्रव्यकर्मत्वात् तृतीये निर्जीर्णं कर्मेति व्यपदिश्यते, चतुर्थादिसमयेषु त्वकर्मेति 'अत्ततासंवुडस्से' त्यादिना चेदमुक्तं—यदि संयतोऽपि साश्रवः कर्म बध्नाति तदा सुतरामसंयतः, अनेन च जीवनावः कर्मजलपूर्वमाणातयार्थतोऽधोनिमज्जनमुक्तं, सक्रियस्य कर्मबन्धभणनाच्चाक्रियस्य तद्विपरीतत्वात्कर्मबन्धाभाव उक्तः,

तथा च जीवनावोऽनाश्रवतायामूर्ध्वगमनं सामर्थ्यादुपनीतमवसेयमिति। अथ यदुक्तं श्रमणानां प्रमादप्रत्यया क्रिया भवतीति तत्र प्रमादपरत्वं तद्विपक्षत्वात्तदितरत्वं संयतस्य कालतो निरूपयन्नाह—

३/१४९ 'पमत्ते' त्यादि 'सव्वावि य णं पमत्तद्ध, ति सर्वाऽपि च सर्वकालसंभवाऽपि च प्रमत्ताद्वा प्रमत्तगुणस्थानककालः कालतः प्रमत्ताद्वासमूहलक्षणं कालमाश्रित्य 'क्रियच्चिरं' क्रियन्त कालं यावद् भवतीति प्रश्नः ननु कालत इति न वाच्यं क्रियच्चिरमित्यनेनैव गतार्थत्वात्, नैवं, क्षेत्रत इत्यस्य व्यवच्छेदार्थत्वात्, भवति हि क्षेत्रतः क्रियच्चिरमित्यापि प्रश्नः' यथाऽवधिज्ञानं क्षेत्रतः क्रियच्चिरं भवति? त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, कालतस्तु सातिरेका षट्षष्टिरिति, 'एककं समयं' ति कथम्? उच्यते, प्रमत्तसंयमप्रतिपत्तिसमयसमनन्तरमेव मरणात्। 'देसूणा पुव्वकोडि' ति किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणे एव प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानके, ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्वकोटिं यावदुत्कर्षेण भवतः, संयमवतो हि पूर्वकोटिरेव परमायुः, स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते, महान्ति चाप्रमत्तान्तर्मुहूर्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्तानि कल्पन्ते। एवं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मौलनेन देशोना पूर्वकोटी कालमानं भवति। अन्ये त्वाहुः—अष्टवर्षेणां पूर्वकोटिं यावदुत्कर्षतः प्रमत्तसंयतता स्यादिति।

३/१५० एवमप्रमत्तसूत्रमपि, नवरं 'जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं' ति किल अप्रमत्ताद्वायां वर्तमानस्यान्तर्मुहूर्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति। चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात्। स चोपशमश्रेणां प्रतिपद्यमानो मुहूर्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति। देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति। 'णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्ध' मित्युक्तम्।

अथ सर्वाद्वाभाविभावान्तरप्ररूपणायाह—

३/१५२ 'भंते! ति' इत्यादि 'अतिरेगं' ति तिथ्यन्तरापेक्षया अधिकतरमित्यर्थः 'लवणसमुद्वत्तव्वया—नेयव्व' ति जीवाभिगमोक्ता, क्रियदूरं यावदित्याह—'जाव लोयद्धी' त्यादि, सा चैवमर्थतः—कस्माद् भदन्त! लवणसमुद्रश्चतुर्दश्यादिष्वतिरेकेण वद्धंते वा हीयते वा? इह प्रश्ने उत्तरं—लवणसमुद्रस्य मध्यभागे दिक्षु चत्वारो महापातालकलशा योजनलक्षप्रमाणाः सन्ति, तेषां चाधस्तने त्रिभागे वायुर्मध्यमे वायूदके उपरितने तूदकमिति। तथाऽन्ये क्षुद्रपातालकलशा योजनसहस्रप्रमाणाश्चतुरशीत्युत्तराष्टशताधिकसप्तसहस्रसंख्या

१. स प्रतौ तथापि च। अ प्रतौ तथा च

२. स प्रतौ स्तोत्रकया मात्रया

३. अ. स. प्रतौ न ह्येकस्मिन् समये उदरणा उदयश्च संभवतीति

वाय्वादियुक्तत्रिभागवन्तः सन्ति' तदीयवातविक्षोभवशाज्जल-
वृद्धिहानी अष्टम्यादिषु स्यातां, तथा लवणशिखाया दशयोजनानां
सहस्राणि विष्कम्भः षोडशः उच्छ्रयो योजनार्द्धमुपरि वृद्धिहानी
इत्यादि। अथ कस्माल्लवणो जम्बूद्वीपं नोत्प्लावयति?
अर्हदादिप्रभावाल्लोकस्थितिवैषा इति। एतदेवाह—'लोयड्विइ'
ति लोकव्यवस्था 'लोयाणुभावे' ति लोकप्रभाव इति।

।। तृतीयशते तृतीयोदेशकः।।

चतुर्थ उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके क्रियाोक्ता, सा च ज्ञानवतां प्रत्यक्षेति तमेव
क्रियाविशेषमाश्रित्य विचित्रतया दर्शयंश्चतुर्थोद्देशकमाह—
तस्य चेदं सूत्रम्

३/१५४ 'अणगारे ण' मित्यादि, तत्र 'भावियप्' ति भावितात्मा
संयमतपोभ्याम् एवंविधानामनगराणां हि प्रायोऽवधिज्ञानादि-
लब्धयो भवन्तीति कृत्वा भावितात्मेत्युक्तम्। 'विउच्च्य-
समुग्धाएणं समोहयं' ति विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः।
'जाणरूवेणं' ति यानप्रकारेण शिबिकाद्याकारवता वैक्रिय-
विमानेनेत्यर्थः। 'जामाणं' ति यान्तं गच्छन्तम्। 'जाणइ' ति
ज्ञानेन 'पासइ' ति दर्शनेन? उत्तरमिह चतुर्भगी, विचित्रत्वाद्-
वधिज्ञानस्येति।

३/१५६ 'अंतो' ति मध्यं काष्ठसारादि 'बाहिं' ति बहिर्वीरितं त्वक्पत्रसंचयादि।

३/१५८-१६३ 'एवं मूलेण' मित्यादि 'एवं' मिति मूलस्कन्दसूत्राभिलापेन
मूलेन सह कन्दादिपदानि वाच्यानि यावद्बीजपदम्। तत्र
मूलं१ कन्द२ः स्कन्ध३ः त्वक्४ शाखा५ प्रवालं६ पत्रं७
पुष्पं८ फलं९ बीजं१० चेति दशपदानि। एषां च पंचचत्वारिंशद्-
द्विकसंयोगाः एतावन्येवेह चतुर्भगीसूत्राण्यध्येयानीति। एतदेव
दर्शयितुमाह—'एवं कंदेण वी' त्यादि—

चौभंगी यंत्र

१. मूल-कंद २. मूल-स्कन्ध ३. मूल-त्वचा ४. मूल-शाखा
५. मूल-प्रवाल ६. मूल-पत्र ७. मूल-पुष्प ८. मूल-फल
९. मूल-बीज
१. कंद-स्कन्ध २. कंद-त्वचा ३. कंद-शाखा ४. कंद-
प्रवाल ५. कंद-पत्र ६. कंद-पुष्प ७. कंद-फल ८. कंद-
बीज
१. स्कन्ध-त्वचा २. स्कन्ध-शाखा ३. स्कन्ध-प्रवाल ४. स्कन्ध-
पत्र ५. स्कन्ध-पुष्प ६. स्कन्ध-फल ७. स्कन्ध-बीज
१. त्वचा-शाखा २. त्वचा-प्रवाल ३. त्वचा-पत्र ४. त्वचा-

पुष्प ५. त्वचा-फल ६. त्वचा-बीज

१. शाखा-प्रवाल २. शाखा-पत्र ३. शाखा-पुष्प ४. शाखा-
फल ५. शाखा-बीज
१. प्रवाल-पत्र २. प्रवाल-पुष्प ३. प्रवाल-फल ४. प्रवाल-बीज
१. पत्र-पुष्प २. पत्र-फल ३. पत्र-बीज
१. पुष्प-फल २. पुष्प-बीज
१. फल-बीज

'देवं विउच्च्यसमुग्धाएणं समोहयं' ति प्रागुक्तमतो वैक्रिया-
धिकारादिदमाह—

३/१६४ 'पभू ण' मित्यादि 'जाणं' ति शकटं 'जुगं' ति गोल्लविषयप्रसिद्धं
जम्पानं द्विहस्तप्रमाणं वेदिकोपशोभितं 'गिल्ली' ति हस्तिन
उपरि कोल्लररूपा या मानुषं गिलतीव। 'थिल्लि' ति लाटानां
यदश्वपत्यानं तदन्यविषयेषु थिल्लीत्युच्यते 'सियं' ति शिबिका
कूटाकाराच्छादितो जम्पानविशेषः, 'संदमाणियं' ति पुरुष-
प्रमाणायामो जम्पानविशेषः। 'एगं महं पडागासंठियं' ति
महत् पूर्वप्रमाणापेक्षया पताकासंस्थितं स्वरूपेणैव वायोः
पताकाकारशरीरत्वाद् वैक्रियावस्थायामपि तस्य तदाकारस्यैव
भावादिति।

३/१६६ 'आइड्विइ' ति आत्मद्वयां स्वशक्त्या स्वलब्ध्या वा

३/१६७ 'आयकम्मुण' ति आत्मक्रियया

३/१६८ 'आयप्पओगेणं' ति न परप्रयुक्त इत्यर्थः 'ऊसिओदयं' ति
उच्छ्रित—ऊर्ध्वम्, उदय—आयामो यत्र गमने तदुच्छ्रितोदयम्
ऊर्ध्वपताकमित्यर्थः क्रियाविशेषणं चेदम् 'पतोदयं' पतदुदयं
—पतितपताकं गच्छति, ऊर्ध्वपताका स्थापना चेत्यम्—

पतितपताकास्थापना त्वियम्—



३/१७० 'एगओपडागं' ति एकतः—एकस्यां दिशि पताका यत्र
तदेकतः पताकं स्थापनात्वियम्—



'दुहओपडागं' ति द्विधापताकं स्थापना त्वियम्



रूपान्तरक्रियाधिकाराद्बलाहकसूत्राणि—

३/१७२ 'बलाहए' ति मेघः 'परिणामेत्तए' ति बलाहकस्याजीवत्वेन विकुर्वणाया असंभवात् परिणामयितुमित्युक्तं परिणामश्चास्य विश्रसारूपः।

३/१७४ 'नो आयङ्गीए' ति अचेतनत्वान्मेघस्य विवक्षितायाः शक्तेरभावान्नात्मङ्कर्या गमनमस्ति, वायुना देवेन वा प्रेरितस्य तु स्यादपि गमनमतोऽभिधीयते—'परिङ्गीए' ति।

३/१७९ एवं 'पुरिसे आसे हत्थि' ति स्त्रीरूपसूत्रमिव पुरुषरूपाश्व-रूपहस्तिरूपसूत्राण्यध्येतव्यानि, यानरूपसूत्रे विशेषोऽस्तीति तद्दर्शयति—

३/१८० 'पभू णं भंते! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता' इत्यादि 'पतोदयं पि गच्छइ' इत्येतदन्तं स्त्रीरूपसूत्रसमानमेव, विशेषः पुनरयम्—

३/१८१ 'से भंते! किं एगओचक्कवालं दुहओचक्कवालं गच्छइ? गोयमा! एगओचक्कवालं पि गच्छइ दुहओचक्कवालं पि गच्छइ' ति। अस्यैवोत्तररूपमंशमाह—नवरं 'एगओ' इत्यादि, इह यानं—शकटं, चक्रवालं—चक्रं, शेषसूत्रेषु त्वयं विशेषो नास्ति, शकट एव चक्रवालसद्भावात्, ततश्च युग्यगिल्लि-थिल्लिशिबिकास्यन्दमानिकारूपसूत्राणि स्त्रीरूपसूत्रवदध्येयानि, एतदेवाह—

३/१८२ 'जुगगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणियाणं तहेव' ति। परिणामाधिकारादिदमाह—

३/१८३ 'जीवे ण' मित्यादि, 'जे भविए' ति यो योग्यः 'किलेसेसु' ति का कृष्णादीनामन्यतमा लेश्या येषां ते तथा तेषु किं लेश्येषु मध्ये, 'जल्लेसाइ' ति या लेश्या येषां द्रव्याणां तानि यल्लेश्यानि, यस्या लेश्यायाः सम्बन्धीनीत्यर्थः 'परियाइत्त' ति पर्यादाय—परिगृह्य भावपरिणामेन कालं करोति म्रियते तल्लेश्येषु नारकेषूत्पद्यते, भवन्ति चात्र गाथाः—

“लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयंमि परिणयाहिं तु।
नो कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
लेसाहिं सव्वाहिं चरमे समयंमि परिणयाहिं तु।
नो कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स ॥
अंतमुहुत्तंमि गए अंतमुहुत्तंमि सेसए चेव।
लेस्साहिं परिणयाहिं जीवा गच्छंति परलोयं ॥”

- उत्तरज्जयणाणि ३४/५८, ५९, ६०

चतुर्विंशतिदण्डकस्य शेषपदान्यतिदिशन्नाह—'एव' मित्यादि एवमिति नारकसूत्राभिलाषेनेत्यर्थः 'जस्स' ति असुरकुमारादेर्या लेश्या कृष्णादिका सा लेश्या तस्यासुरकुमारादेर्भणितव्येति। नन्वेतावतैव विवक्षितार्थसिद्धेः किमर्थं भेदेनोक्तं जाव—

३/१८४-१८५ जीवे णं भंते! इत्यादि? उच्यते, दण्डकपर्यवसान-सूत्रदर्शनार्थम्। एवं तर्हि वैमानिकसूत्रमेव वाच्यं स्यान्न तु ज्योतिष्कसूत्रमिति, सत्यं, किन्तु ज्योतिष्कवैमानिकाः प्रशस्तलेश्या एव भवन्तीत्यस्य दर्शनार्थं तेषां भेदेनाभिधानं, विचित्रत्वाद् वा सूत्रगतेरिति।

देवपरिणामाधिकारादनगाररूपद्रव्यदेवपरिणामसूत्राणि—

३/१८६, १८७ 'बाहिरए' ति औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः 'वेभारं' ति वैभाराभिधानं राजगृहक्रीडापर्वतम्। उल्लंघितए वे' त्यादि तत्रोल्लंघनं सकृत् प्रल्लंघनं पुनः पुनरिति, 'णो इणट्टे समट्टे' ति वैक्रियपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रिय-करणस्यैवाभावात् बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वत-स्योल्लंघनादौ प्रभुः स्यात्, महतः पर्वतातिक्रामिणः शरीरस्य संभवादिति।

३/१८८ 'जावइयाइ' इत्यादि यावन्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि 'एवइयाइ' ति एतावन्ति 'विउत्तरा' ति वैक्रियाणि कृत्वा वैभारं पर्वतं समं सन्तं विषमं तु समं कर्तुमिति सम्बन्धः। किं कृत्वेत्याह—अन्तः मध्ये वैभारस्यैवानुप्रविश्य।

३/१९० 'मायी' ति मायावान् उपलक्षणत्वादस्य सकृत्प्रः प्रमत्तः इति यावत्, अप्रमत्तो हि न वैक्रियं कुरुत इति।

३/१९१ 'पणीयं' ति प्रणीतं गलत्स्नेहबिन्दुकं 'भोच्चा भोच्चा वामेति' वमनं करोति विरेचनां वा करोति वर्णबलाद्यर्थं यथा प्रणीतभोजनं तद्वमनं च विक्रियास्वभावं मायित्वाद् भवति एवं वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यं 'वहलीभवन्ति' घर्नीभवन्ति, प्रणीतसामर्थ्यात् 'पयणुए' ति अघनम् 'अहावायर' ति यथोचितबादराः आहारपुद्गला इत्यर्थः परिणमन्ति श्रोत्रेन्द्रियादित्वेन अन्यथा शरीरस्य दाढ्यासंभवात्, 'तुहं' ति रूक्षम् अप्रीणितं 'नो वामेइ' ति अकषायितया विक्रियायामनर्थत्वात्, 'पासवणत्ताए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम् - खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए' ति रूक्षभोजिन उच्चारादितयैवाहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तेरिति।

अथ माय्यमायिनोः फलमाह—

३/१९२ 'माई ण' मित्यादि 'तस्स ठाणस्स' ति तस्मात्स्थानाद्विकुर्वणा-करणलक्षणात्प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा। 'अमाई ण' मित्यादि, पूर्वं मायित्वाद् वैक्रियं प्रणीतभोजनं वा कृतवान् पश्चा-ज्जातानुतापोऽमायी सन् तस्मात्स्थानादालोचितप्रतिकान्तः सन् कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति।

॥ तृतीयशते चतुर्थोद्देशकः ॥

पंचम उद्देशकः

चतुर्थोद्देशके विकुर्वणोक्ता, पञ्चमेऽपि तामेव विशेषत आह—

- ३/१९४ 'अणगारे ण' मित्यादि 'असिचर्मपायं गहाय' ति असिचर्मपात्रं—स्फुरकः अथवाऽसिश्च—खड्गः चर्मपात्रं च—स्फुरकः खड्गकोशको असिचर्मपात्रं तद् गृहीत्वा
- ३/१९७ 'असिचर्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं' ति असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा। कृत्यं—संधादिप्रयोजनं गतः—आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः अतस्तेनात्मना अथवा असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्वाकृतस्तेन प्राकृतत्वाच्चैवं समासः अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यां—हस्तकरणं गतः—प्राप्तो यः स तथा तेन ।
- ३/२०७ 'पलियंकं' ति आसनविशेषः प्रतीतश्च
- ३/२०९ 'विग' ति वृकः 'दीविय' ति चतुष्पदविशेषः 'अच्छ' ति ऋक्षः 'तरच्छ' ति व्याघ्रविशेषः 'परास' ति सरभः इहान्यान्त्यपि शृगालादिपदानि वाचनान्तरे दृश्यन्ते। 'अभिजुंजित्तए' ति अभियोक्तुं विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं, यच्च स्वस्थानुप्रवेशेनाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्यादितिकृत्वोच्यते—'नो बाहिरए पुग्गले अपरियाइत्तं' ति।
- ३/२१६ 'अणगारे णं से' ति अनगार एवासौ तत्त्वतोऽनगार-स्यैवाश्वाद्यनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात्।
- ३/२१८ 'माई अभिजुंजइ' ति कषायवानभियुक्ते इत्यर्थः अधिकृतवाचनायां 'माई विउव्वइ' ति दृश्यते। तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति मन्तव्यं, विक्रियारूपत्वात्तस्येति ।
- ३/२१९ 'अणयरेसु' ति अभियोगिकदेवा अच्युतान्ता भवन्तीति-कृत्वाऽन्यतरेष्वित्युक्तं, केषुचिदित्यर्थः उत्पद्यते चाभियोग-भावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु, करोति च विद्यादिलब्धु-पजीविकोऽभियोगभावनां यदाह—
"मंता जोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजेति।
सायरसइङ्गिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ॥"—उत्तरज्झयणाणि ३६/२६४
- ३/२२१ 'इत्थी' त्यादिसंग्रहगाथा गतार्था।
॥ तृतीयशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

विकुर्वणाऽधिकारसंबद्ध एव षष्ठ उद्देशकः तस्य चादिसूत्रम्—

- ३/२२२ 'अणगारे ण' मित्यादि अनगारो गृहवासत्यागाद् भावितात्मा स्वसमयानुसारिप्रशमादिभिः मायीत्युपलक्षणत्वात्कषायवान्, सम्यग्दुष्टिरप्येवं स्यादित्याह—मित्यादुष्टिरन्यतीर्थिक इत्यर्थः वीर्यलब्ध्यादिभिः करणभूताभिः 'वाणारसिं नगरिं समोहए' ति विकुर्वितवान्, राजगृहे नगरे रूपाणि पशुपुरुषप्रासादत्रातीनि जानाति पश्यति विभंगज्ञानलब्ध्या
- ३/२२३ 'नो तथाभावं' ति यथा वस्तु यथा भावोभिसन्धिर्वत्र ज्ञाने तत्तथाभावं अथवा यथैव संवेद्यते तथैव भावो—बाह्य वस्तु यत्र तत्तथाभावं, अन्यथा भावो यत्र तदन्यथाभावं, क्रियाविशेषणे चेमे, स हि मन्यते—
- ३/२२४ अहं राजगृहं नगरं समवहतो वाराणस्यां रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवं 'से' ति तस्यानगारस्येति 'से' ति असौ दर्शने विपर्यासो विपर्ययो भवति, अन्यदीयरूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात्, दिग्मोहादिव पूर्वामपि पश्चिमां मन्यमानस्येति, क्वचित् 'से से दंसणे विवरीए विवच्चासे' ति दृश्यते। तत्र च तस्य तद्दर्शनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्ययेनेतिकृत्वा विपर्यासो-मित्येत्यर्थः।
- ३/२२५-२२७ एवं द्वितीयसूत्रमपि।
- ३/२२८-२३० तृतीये तु वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए' ति वाणारसीं राजगृहं तयोरेव चान्तरालवर्तिनं जनपदवर्गं देशसमूहं समवहतो विकुर्वितवान् तथैव च तानि विभंगतो जानाति पश्यति केवलं नो तथाभावं, यतोऽसौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वाभाविकानीति 'जसे' ति यशोहेतुत्वाद्यशः
- ३/२४०-२४४ 'नगररूवं वा' इह यावत्करणादिदं दृश्यं—'निगमरूवं वा रायहाणिरूवं वा खेडरूवं वा कब्बडरूवं वा मडंबरूवं वा दोणमुहरूवं वा पट्टणरूवं वा आगररूवं वा आसमरूवं वा संवाहरूवं व' ति विकुर्वणाधिकारात्तत्समर्थदेवविशेषरूपणाय सूत्राणि—
- ३/२४४ 'वण्णओ' ति आत्मरक्षदेवानां वर्णको वाच्यः, स चायम् 'सन्नद्धबद्धवम्मियकवया—उप्पीलियसरासणपट्टिया पिण-द्धगेवेज्जाबद्धआबद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा ति-णयाणि ति-संधियाइं वयरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परिमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचावचम्मदंडखग्गपासपाणिणो नील-पीयरत्तचारुचावचम्मदंडखग्गपासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिद्धंति' ति। अस्यायमर्थः—

सन्नद्धाः—संनिहितिकया कृतसन्नाहाः, बद्धः कशाबद्धनतः, वर्मितश्च—वर्मिकृतः शरीरारोपणतः, कवचः—कंकटो यैस्ते तथा, ततः सन्नद्धशब्देन कर्मधारयः, तथोत्पीडिता प्रत्यञ्चारोपणेन शरासनपट्टिका—धनुर्यष्टिर्द्यैस्ते तथा अथवा उत्पीडिता—बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका—धनुर्धरप्रतीता यैस्ते तथा, तथा पिनद्धं—परिहितं ग्रैवेयकं—ग्रीवाभरणं यैस्ते तथा, तथा ग्रन्थिदानेन आविद्धश्च शिरस्यारोपणेन विमलो वरश्च चिह्नपट्टो—योधतासूचको नेत्रादिवस्त्ररूपः सौवर्णो वा पट्टो यैस्ते तथा, तथा गृहीतान्यायुधानि प्रहरणाय यैस्ते तथा, अथवा गृहीतान्यायुधानि—क्षेप्यास्त्राणि, प्रहरणानि च—तदितराणि यैस्ते तथा, 'त्रिनतानि मध्यपार्श्वद्वयलक्षणे स्थानत्रयेऽवनतानि, 'त्रिसन्धितानि' त्रिषु स्थानकेषु कृतसंधिकानि नैकांगिकानीत्यर्थः, वज्रमयकोटीनि धनूषि अभिगृह्य पदतः—मुष्टिस्थाने तिष्ठन्तीति सम्बन्धः, परिमात्रिकः—सर्वतो मात्रवान् काण्डकलापो येषां ते तथा, नीलपाणय इत्यादिषु नीलादिवर्णपुंखत्वान्नीलादयो बाणभेदाः संभाव्यन्ते, चारूचापपाणय इत्यत्र चापं—धनुरेवानारोपितज्यमतो न पुनरुक्तता, चर्मपाणय इत्यत्र चर्मशब्देन स्फुरकः उच्यते, दण्डादयः प्रतीताः, उक्तमेवार्थं संग्रहेणाह—'नीलपीए' त्यादि, अथवा नीलादीन् सर्वानेव युगपत्केचिद्धारयन्ति देवशक्तेरिति दर्शयन्नाह—'नीलपीए' त्यादि, ते चात्मरक्षा न संज्ञामात्रेणैवेत्याह—आत्मरक्षाः स्वाम्यात्मरक्षा इत्यर्थः त एव विशेष्यन्ते—रक्षोपगताः रक्षामुपगताः सततप्रयुक्तरक्षा' इत्यर्थः, एतदेव कथमित्याह—गुप्ताः अभेदवृत्तयः, तथा 'गुप्तपालीकाः' तदन्यतो व्यापृतमनोवृत्तिकाः मण्डलीकाः युक्ताः परस्परसंबद्धाः युक्तपालीकाः निरन्तरमण्डलीकाः प्रत्येकमेकैकशः समयतः—पदातिसमाचारेण विनयतो—विनयेन किंकरभूता इव—प्रेष्यत्वं प्राप्ता इवेति, अयं च पुस्तकान्तरे साक्षाद् दृश्यत एवेति ।

३/२४५ 'एवं सव्वेसिमिंदाणं ति एवमिति—चमरवत् सर्वेषामिन्द्राणां आत्मरक्षा वाच्याः, ते चार्थतः एवं सर्वेषामिन्द्राणां सामानिकचतुर्गुणा आत्मरक्षाः, तत्र चतुःषष्टिः सहस्राणि चमरस्येन्द्रसामानिकानां बलेस्तु षष्टिः शेषभवनपतीन्द्राणां प्रत्येकं षट्सहस्राणि शक्रस्य चतुरशीतिः ईशानस्याशीतिः, सनत्कुमारस्य द्विसप्ततिः, माहेन्द्रस्य सप्ततिः, षष्टिः लान्तकस्य, पंचाशत् शुक्रस्य, चत्वारिंशत् सहस्रारस्य, त्रिंशत् प्राणतस्य, विशंतिः अच्युतस्य, दशसहस्राणि सामानिकानामिति। यदाह—

“चउसङ्गी सङ्गी खलु छच्च सहस्सा उ असुरवज्जाणां।

सामाणिथा उ एए चउग्गुणा आयरक्खा उ ॥

चउरासीइ असीइ बावत्तरि सत्तरी य सङ्गी य।

पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्स ति ॥”

॥ तृतीयशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

षष्ठोद्देशके इन्द्राणामात्मरक्षा उक्ताः। अथ सप्तमोद्देशके तेषामेव लोकापालान् दर्शयितुमाह—

३/२४७ 'राहगिहे' इत्यादि

३/२४८ 'बहूइं जोयणाइं' इह यावत्करणादिदं दृश्यं—'बहूइं जोयणसयाइं बहूइं जोयणसहस्साइं बहूइं जोयणसयसहस्साइं बहूओ जोयणकोडीओ बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्डं दूरं वीईवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे णामं कप्पे पण्णते धाईणपडीणायाए उदीण-दाहिणविच्छिन्ने अद्धचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालिभासरासिव-न्नाहे असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिवक्खेवेणं एत्थ णं सोहम्माणं देवाणं बत्तीसं विमाणवासयसहस्साइं भवन्तीति अक्खाया, ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा जीवा पडिरूवा ।'

३/२५० 'तस्स णं सोहम्मकप्पस्स बहुमज्झदेसभाए' इति। 'वीईवइत्ता' ति व्यतिव्रज्य व्यतिक्रम्य 'जा सूरियाभविमाणस्स' ति सूरिकाभविमानं राजप्रश्नीयोपांगोक्तस्वरूपं तद्वत्कव्यतेह वाच्या। तत्समानलक्षणत्वादस्येति, कियती सा वाच्या? इत्याह—'यावदभिषेकः' अभिनवोत्पन्नस्य सोमस्य राज्याभिषेकं यावदिति, सा चेहातिबहुत्वान्न लिखितेति ।

३/२५१ 'अहे' इति तिर्यग्लोके 'वेमाणियाणं पमाणस्स' ति वैमानिकानां सौधर्मविमानरात्कप्रासाद-प्राकारद्वारादीनां प्रमाणस्येह नगर्यामर्द्धं ज्ञातव्यम् 'सेसा नत्थि' ति सुधर्मादि (काः) सभा इह न सन्ति, उत्पत्तिस्थानेष्वेव तासां भावात्।

३/२५२ 'सोमकाइय' ति सोमस्य कायो—निकायो येषामस्ति ते सोमकायिकाः—सोमपरिवारभूताः 'सोमदेवयकाइय' ति सोमदेवताः—तत्सामानिकादयस्तासां कायो येषामस्ति ते सोमदेवताकायिकाः सोमसामानिकादिदेवपरिवारभूता इत्यर्थः। 'ताराख्व' ति तारकरूपाः 'तब्भत्तिय' ति तत्र सोमे भक्तिः—

१. स प्रतौ 'सतत प्रयुक्त रक्षा'

२. जीवाभिगमे वृत्तौ 'गुप्तपालिका'

सेवा बहुमानो वा येषां ते तद्भक्तिकाः। 'तप्पक्खिय' ति सोमपाक्षिकाः सोमस्य प्रयोजनेषु सहायाः 'तब्भारिय' ति तद्भार्याः तस्य सोमस्य भार्या इव भार्या अत्यन्तं वश्यत्वात्पोषणीयत्वाच्चेति तद्भार्याः, तद्भारो वा येषां बोद्धव्यतयाऽस्ति ते तद्भारिका।

३/२५३ 'ग्रहदंड' ति दण्डा इव दण्डाः—तिर्यगायताः श्रेणयः ग्रहाणां—मंगलादीनां त्रिचतुरादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः, एवं ग्रह-मुशलादीनि^१

नवरमूर्द्धायिताः श्रेणयः 'ग्रहगज्जिय' ति ग्रहसंचालादौ गर्जितानि—स्तनितानि ग्रहगर्जितानि, ग्रहयुद्धानि ग्रहयोरेकत्र नक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थानानि 'ग्रहसिंघाटकानि' ग्रहाणां सिंघाटकफलाकारेणावस्थानानि 'ग्रहापसव्यानि' ग्रहाणामपसव्यगमनानि प्रतीपगमनानीत्यर्थः, अभ्रात्मका वृक्षा अभ्रवृक्षाः, गन्धर्वनगराणि आकाशे व्यन्तरकृतानि नगराकार-प्रतिबिम्बानि 'उल्कापाताः' सरेखाः सोदद्योता वा तारकस्येव पाताः 'दिग्दाहाः' अन्यतमस्यां दिशि अधोऽन्धकारा उपरि च प्रकाशात्मका दह्यमानमहानगरप्रकाशकल्पाः 'जूवय' ति शुक्लपक्षे प्रतिपदादिदिनत्रयं यावद्यैः संध्याछेदा आत्रियन्ते ते यूपकाः। 'जक्खालित्तय' ति यक्षोद्दीप्तानि आकाशे व्यन्तर-कृतज्वलनानि धूमिकामहिकयोर्वर्णकृतो विशेषः, तत्र धूमिका—धूम्रवर्णा धूसरा इत्यर्थः, महिका—त्वापाण्डुरेति^२, 'रउग्घाय' ति दिशां रजस्वलतानि 'चंदोवरागा सूरुवरागा' चन्द्रसूर्याग्रहणानि 'पडिचंद' ति द्वितीयचन्द्राः 'उदगमच्छ' ति इन्द्रधनुःखण्डानि, 'कविहसिय' ति अनभ्रे या विद्युत्सहसा तत् कपिहसितम्, अन्ये त्वाहुः—कपिहसितं नाम यदाकाशे वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसनम् 'अमोह' ति अमोघा आदित्योद-यास्तसमययो^३रादित्यकिरणविकारजनिताः 'आताप्राः' कृष्णाः श्यामा वा शकटोद्धिसंस्थिता दण्डा इति, 'पाईणवाय' ति पूर्वदिग्वाताः 'पईणवाय' ति प्रतीचीनवाताः यावत्करणादिदं दृश्यम् 'दाहिणवायाइ वा उदीणवायाइ वा उडुवायाइ वा अहोवायाइ वा तिरियवायाइ वा, विदिसीवायाइ वा वाउब्भामाइ वा वाउक्कलियाइ वा वायमंडलियाइ वा उक्कलियावायाइ वा मण्डलियावायाइ वा गुंजावायाइ वा झंझावायाइ व' ति इह वातोद्भ्रामाः अनवस्थिता वाताः, वातोत्कलिकाः समुद्रोत्कलिकावत्, वातमण्डलिका वातोल्यः, उत्कलिकावत्ताः उत्कलिकाभिर्ये वान्ति, मण्डलिकावाताः मण्डलि-काभिर्ये वान्ति, गुञ्जावाताः गुञ्जन्तः सशब्दं ये वान्ति,

'झंझावाताः' अशुभनिष्ठुराः निष्ठुराः, संवर्त्तकवाताः तृणादि संवर्त्तनस्वभावा इति।

अथानन्तरोक्तानां ग्रहदण्डादीनां प्रायिकफलानि दर्शयन्नाह—

'पाणक्खय' ति बलक्षयाः 'जणक्खय' ति लोकमरणानि, निगमयन्नाह—वसणब्भूया-मणारिया जे यावन्ने तहप्पगार' ति इहैवमक्षरघटना—न केवलं प्राणक्षयादय एव, ये चान्ये एतद्व्यतिरिक्तास्तत्प्रकाराः—प्राणक्षयादितुल्याः 'व्यसनभूताः आपद्रूपा' 'अनार्याः' षापात्मका न ते अज्ञाता इति योगः 'अण्णाय' ति अनुमानतः 'अदिट्ट' ति प्रत्यक्षापेक्षया 'असुय' ति परवचनद्वारेण 'अमुय' ति अस्मृता मनोऽपेक्षया 'अविण्णाय' ति अवध्यपेक्षयेति।

३/२५४ 'अहावच्च' ति यथाऽपत्यानि तथा ये ते यथाऽपत्या देवाः पुत्रस्थानीया इत्यर्थः। 'अभिण्णाय' ति अभिमता अभिमत्-वस्तुकारित्वादिति 'होत्थ' ति अभवन् उपलक्षणात्वाच्चास्य भवन्ति भविष्यन्तीति द्रष्टव्यम्। 'अहावच्चाभिण्णायानं' ति यथा अपत्यमेव अभिज्ञाता—अवगता यथाऽपत्याभिज्ञाताः, अथवा यथाऽपत्याश्च तेऽभिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः ते चांगारकादयः पूर्वोक्ताः।

३/२५५ एतेषु च यद्यपि चन्द्रसूर्ययोर्वर्षलक्षाद्याधिकं पत्योपमं तथाऽप्याधिक्यस्याविवक्षित्वादांगारकादीनां च ग्रहत्वेन पत्योपमस्यैव सद्भावात् पत्योपमित्युक्तमिति।

३/२५६ 'पेतकाइयं' ति प्रेतकायिकाः व्यन्तरविशेषाः 'पेतदेवकाइय' ति प्रेतसत्कदेवतानां सम्बंधिनः 'कंदप्प' ति ये कन्दर्पभावना-भावितत्वेन कान्दर्पिकदेवेषूपन्नाः कन्दर्पशीलाश्च, कन्द-र्पश्च—अतिकेलिः 'आहियोग' ति येऽभियोगभावनाभावि-तत्वेनाभियोगिकदेवेषूपन्ना^४ अभियोगवर्तिनश्च अभियोगश्च आदेश इति।

३/२५८ 'डिंबाइ व' ति डिम्बा—विघ्नाः, 'डमर' ति एकराज्ये एव राजकुमारादिकृतोपद्रवाः 'कलह' ति वचनराटयः 'बोल' ति अव्यक्ताक्षरध्वनिसमूहाः 'खार' ति परस्परमत्सरः 'महायुद्ध' ति महायुद्धानि व्यवस्थाविहीनमहारणाः 'महासंगम' ति सव्यवस्थचक्रादिव्यूहरचनोपेतमहारणाः, महाशस्त्रनिपात-नादयस्तु त्रयो महायुद्धादिकार्यभूताः 'दुब्भूय' ति दुष्टा-जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुत्वतात्, भूताः—सत्वाः यूकामत्कु-णोन्दुरतिङ्प्रभृतयो दूर्भूता ईतय इत्यर्थः।

१ अ प्रती 'ग्रहमुशलानि'

२ अ प्रती 'चापाण्डुरेति'

३ अ प्रती 'आदित्योदयस्तमनयो' क्वचित् 'आदित्योदयस्तमनयो.....'

४ अ. स प्रती 'आभियोगदेवेषूपन्ना' इति

इन्द्रग्रहादयः उन्मत्तताहेतवः एकाहिकादयो ज्वरविशेषाः।
'उब्धेयम्' ति उद्भेगका इष्टवियोगादिजन्या उद्भेगाः उद्भेजका
वा लोकोद्भेगकारिणश्चौरादयः 'कच्छकोह' ति कक्षाणां—
शरीरावयवविशेषाणां वनगहनानां वा कोथाः—कुथितत्वानि
शटितानि वा कक्षाकोथाः कक्षकोथा वा।

३/२५९ 'अम्ब' इत्यादयः पञ्चदश असुरनिकायान्तर्वर्तिनः
परमाधार्मिकनिकायाः, तत्र—

१. यो देवो नारकानम्बरतले नीत्वा विमुञ्चत्यसौ अम्ब
इत्यभिधीयते।
२. यस्तु नारकान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा
भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यसौ अम्बरीषस्य—भ्राष्ट्रस्य
सम्बन्धादम्बरीष एवोच्यते।
३. यस्तु तेषां शातनादि करोति वर्णतस्तु श्यामः स श्याम इति।
४. 'सबले ति यावरे' ति शबल इति चापरो देव इति प्रक्रमः स
च तेषां अन्त्रहृदयादीन्युत्पाटयति वर्णतश्च शबलः कर्बुर
इत्यर्थः।
५. यः शक्तिकुन्तादिषु नारकान् प्रोतयति स रौद्रत्वादौद्र इति।
६. यस्तु तेषामेवांगोपांगानि भनक्ति सोऽत्यन्त-रौद्रत्वादुपरौद्र इति।
७. यः पुनः कण्ड्वादिषु पचति वर्णतश्च कालः स काल इति।
८. 'महाकाले ति यावरे' ति महाकाल इति चापरो देव इति
प्रक्रमः, तत्र यः श्लक्ष्णमांसानि खण्डयित्वा खादयति वर्णतश्च
महाकालः स महाकाल इति
९. 'असी य' ति यो देवोऽसिना तान् छिनत्ति सोऽसिरेवा।
१०. 'असिपत्ते' ति अस्याकारपत्रवद्वनविकुर्वणादसिपत्रः।
११. 'कुंभे' ति कुंभादिषु तेषां पचनात्कुम्भः। क्वचित् पठ्यते
'असिपत्ते धणू कुंभे' ति तत्रासिपत्रकुम्भौ पूर्ववत्, 'धणु' ति
यो धनुर्विमुक्तार्द्धचन्द्रादिभिर्बाणैः कर्णादीनां छेदन-भेदनादि
करोति स धनुरिति।
१२. 'वालु' ति कदम्बपुष्पाद्याकारवालुकासु यः पचति स वालुक
इति।
१३. 'वेयरणी इ य' ति वैतरणीति च देव इति प्रक्रमः। तत्र
पूयरुधिरादिभृतवैतरण्यभिधाननदीविकुर्वणाद्वैत-रणीति।
१४. 'खरस्वर' ति यो वज्रकण्टकाकुलशाल्मलीवृक्ष-मारोप्य नारकं
खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन् वा कर्षत्यसौ खरस्वरः।
१५. 'महाघोसि' ति यस्तु भीतान् पलायमानान्नारकान् पशूनिव

वाटेषु महाघोषं कुर्वन्निरुणद्धि स महाघोस इति।

'एए पन्नरसाहिय' ति 'एवम् उक्तन्यायेन' एते यमयथाऽप-
त्यदेवाः पञ्चदश आख्याता इति।

३/२६३ 'अतिवास' ति अतिशयवर्षा वेगवद्वर्षणानीत्यर्थः 'मंदवास'
ति शनैर्वर्षणानि 'सुबुद्धी' ति धान्यादिनिष्पत्तिहेतुः 'दुबुद्धि'
ति धान्याद्यनिष्पत्तिहेतुः 'उदब्धेय' ति उदकोद्भेदाः गिरितटा-
दिभ्यो जलोद्भवाः 'उदपील' ति उदकोत्पीलाः—तडागादिषु
जलसमूहाः 'ओवाह' ति अपकृष्टान्यल्पान्युदकवहनानि, तान्येव
प्रकर्षवन्ति प्रवाहाः इह प्राणक्षयादयो जलकृता द्रष्टव्याः।

३/२६४ 'कवकोडए' ति कर्कोटकाभिधानोऽनुवेलन्धरनागराजावासभूतः
पर्वतो लवणसमुद्रे ऐशान्यां दिश्यस्ति तन्निवासी नागराजः
कर्कोटकः, 'कद्मए' ति आग्नेय्यां तथैव विद्युत्प्रभपर्वतस्तत्र
कर्दमको नाम नागराजः 'अंजणे' ति वेलम्बाभिधान-
वायुकुमारराजस्य लोकपालोऽञ्जनाभिधानः 'संखवालए' ति
धरणाभिधाननागराजस्य लोकपालः शंखपालको नाम, शेषास्तुः
पुण्ड्रादयोऽप्रतीता इति।

३/२६८ 'वसुहाराइ व' ति तीर्थकरजन्मादिषु आकाशाद्द्रव्यवृष्टिः
'हिरण्यवास' ति हिरण्यं—रूप्यं घटितसुवर्णमित्यन्ये,
वर्षोऽल्पतरो वृष्टिस्तु महतीति वर्षवृष्टयोर्भेदः, माल्यं तु
ग्रथितपुष्पाणि वर्णः—चन्दनं चूर्णो गन्धद्रव्यसम्बन्धी गन्धाः—
कोष्ठपुटपाकाः 'सुभिव्खाइ व' ति सुकाले दुःकाले वा
भिक्षुकाणां भिक्षासमृद्धयः दुर्भिक्षास्तुक्तविपरीताः 'संनिहि'
ति घृतगुडादिस्थापनानि 'संनिचय' ति धान्यसञ्चयाः 'निहीइ
व' ति लक्षादिप्रमाणद्रव्यस्थापनानि 'निहाणाइ व' ति
भूमिगतसहस्रादिसंख्यद्रव्यस्य संचयाः, किंविधानि? इत्याह—
'चिरपोराणाइ' ति चिरप्रतिष्ठितत्वेन पुराणानि चिरपुराणानि
अतएव 'पहीणसामियाइ' ति स्वल्पीभूतस्वामिकानि
'पहीणसेउयाइ' ति प्रहीणाः—अल्पीभूताः सेक्ताः—सेचकाः
धनप्रक्षेप्तारो येषां तानि तथा, प्रहीणमार्गाणि वा, 'पहीण-
गोत्तागाराइ' ति प्रहीणं—विरलीभूतमानुषं गोत्रागारं—
तत्स्वामिगोत्रगृहं येषां तानि तथा 'उच्छिण्णसामियाइ' ति
निःसत्ताकीभूतप्रभूणि, 'नगरनिद्धवणेसु' ति नगरनिद्धवनेषु
नगरजलनिर्गमनेषु 'सुसाणगिरिकंदरसंतिसेलोवट्टाणभवनगिहेसु
ति गृहशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् श्मशानगृहं—पितृवनगृहं,
गिरिगृहं—पर्वतोपरिगृहं, कन्दरगृहं—गुहा, शान्तिगृहं—
शान्तिकर्मस्थानं, शैलगृहं—पर्वतमुत्कीर्य यत्कृतं उपस्थानगृहं
आस्थानमण्डपो भवनगृहं—कुटुंबिवसनगृहमिति।

॥ तृतीयशते सप्तमोद्देशकः ॥

अष्टम उद्देशकः

देववक्तव्यताप्रतिबद्ध एवाष्टमोद्देशकः, स च सुगम एव, नवरं—सो. का. चि. ष्य. ते. रु. ज. तु. का. आ इत्यनेनाक्षरदशकेन दक्षिणभवनपतीन्द्राणां प्रथमलोकपालनामानि सूचितानि। वाचनान्तरे त्वेतान्येव गाथायां सा चेयम्—

“सोमे य कालवाले चित्त ष्यभ तेउ तह रूपे चेव।

जल तह तुरियगई य, काले आउत्त पढमा उ ॥”

एवं द्वितीयादयोऽप्यभ्यूह्याः। इह च पुस्तकान्तरे अयमर्थो दृश्यते—दाक्षिणात्येषु लोकपालेषु प्रतिसूत्रं यौ तृतीयचतुर्थौ तावौदीच्येषु चतुर्थतृतीयाविति।

३/२७७ ‘एसा वक्तव्या’ सव्वेसु वि कप्पेसु एए चेव भाणियव्व’ ति एषा सौधर्मेशानोक्ता वक्तव्यता सर्वेष्वपि कल्पेषु इन्द्रनिवासभूतेषु भणितव्या—सनत्कुमारादीन्द्रयुग्मेषु पर्वेन्द्रापेक्षयोत्तरेन्द्र-सम्बन्धिनां लोकपालानां तृतीयचतुर्थयोव्यत्ययो वाच्य इत्यर्थः तथैत एव सोमादयः प्रतिदेवलोकं वाच्या न तु भवन-पतीन्द्राणामिवापरारे, ‘जे य इंदा ते य भाणियव्वा’ शक्रादयो दशेन्द्रा वाच्याः। अन्तिमे देवलोकचतुष्टये इन्द्रद्वयभावादिति।

॥ तृतीयशते अष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

देवानां चावधिज्ञानसद्भावेऽपीन्द्रियोपयोगोऽप्यस्तीत्यत इन्द्रियविषयं निरूपयन्नवमोद्देशकमाह—

३/२७९ ‘रायगिहे’ इत्यादि ‘जीवाभिगमे जोइसियउदेसओ णेयव्वो’ ति, स चायम् ‘सोइंदियविसए जाव फासिंदियविसए। सोइंदियविसए णं भंते! पोग्गलपरिणामे कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुब्भिसद्परिणामे य दुब्भिसद्परिणामे य’ शुभाशुभशब्दपरिणाम इत्यर्थः। चक्खिंदिदियविसए पुच्छा, गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुरूवपरिणामे य दुरूवपरिणामे य। घाणिंदियविसए पुच्छा, गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—सुब्भिगंधपरिणामे य दुब्भिगंधपरिणामे य, एवं जिब्भिंदियविसए सुरसपरिणामे य दुरसपरिणामे य। फासिंदियविसए सुहफासपरिणामे य दुहफासपरिणामे य’ इत्यादि, वाचनान्तरे च इंदियविसए उच्चावयसुब्भिणो’ ति दृश्यते। तत्रेन्द्रियविषयसूत्रं दर्शितमेव, उच्चावयसूत्रं त्वेवम्—‘से णूणं भंते! उच्चावएहिं सद्परिणामेहिं

परिणममाणा पोग्गला परिणमंतोति वत्तव्वं सिया? हंता गोयमा! इत्यादि। ‘सुब्भिणो’ ति इदं सूत्रं पुनरेवम्—‘से णूणं भंते! सुब्भिसद्पोग्गला दुब्भिसद्ताए परिणमंति? हंता, गोयमा! इत्यादीति

॥ तृतीयशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः

प्राग्निन्द्रियाण्युक्तानि तद्वन्तश्च देवा इति देववक्तव्यताप्रतिबद्धो दशम उद्देशकः। स च सुगम एव, नवरं—

३/२८० ‘समिय’ ति समिका उत्तमत्वेन स्थिरप्रकृतितया समवती, स्वप्रभोर्वा कोपौत्सुक्यादिभावान् शमयत्युपादेयवचनतयेति, शमिका शमिता वा—अनुद्धता। ‘चंड’ ति तथाविधमहत्वा-भावेनेषत् कोपादिभावाच्चण्डा ‘जाय’ ति प्रकृतिमहत्त्ववर्जित-त्वेनाऽस्थानकोपादीनां जातत्वाज्जाता, एषा च क्रमेणाभ्यन्तरा मध्यमा बाह्या चेति। तत्राभ्यन्तरा समुत्पन्नप्रयोजनेन प्रभुणा गौरवार्हत्वादाकारितैव पार्षवं समागच्छति तां चासौ अर्थपदं पृच्छति, मध्यमा तूभयथाऽप्यागच्छति अल्पतरगौरवविषयत्वात्, अभ्यन्तरया चादिष्टमर्थपदं तया सह प्रबध्नाति—ग्रन्थिबन्धं करोतीत्यर्थः, बाह्या त्वनाकारितैवागच्छति अल्पतम-गौरवविषयत्वात्, तस्याश्चार्थपदं वर्णयत्येव, तत्राद्यायां चतुर्विंशतिदेवानां सहस्राणि द्वितीयायामष्टाविंशतिः तृतीयायां द्वात्रिंशदिति, तथा देवीशतानि क्रमेणाध्युष्टानि, त्रीणि, सार्द्धं च द्वे इति, तथा तद्देवानामायुः क्रमेणाद्धृतृतीयानि पल्योपमानि, द्वे सार्द्धं चेति, देवीनां तु सार्द्धं एकं तदद्धं चेति, एवं बलेरपि नवरं देवप्रमाणं तदेव चतुश्चतुःसहस्रहीनं देवीमानं तु शतेन शक्तेनाधिकमिति, आयुर्मानमपि तदेव नवरं पल्योपमाधिकमिति, एवमच्युतान्तानामिन्द्राणां प्रत्येकं तिस्रः पर्वदो भवन्ति। नामतो देवादिप्रमाणतः स्थितिमानतश्च क्वचित्किंचिद्भेदेन भेदवत्यस्ताश्च जीवाभिगमादवसेया इति।

॥ तृतीयशते दशमोद्देशकः ॥

॥ समाप्तं च तृतीयशतकम् ॥

श्रीपंचमांगस्य शतं तृतीयं व्याख्यातमाश्रित्य पुराणवृत्तीः । शक्तोऽपि गन्तुं भजते हि यानं, पान्थः सुखार्थं किमु यो न शक्तः ॥

अथ चतुर्थशतकम्

प्रथमः— चतुर्थ उद्देशकः

तृतीयशते प्रायेण देवाधिकार उक्तोऽतस्तदधिकारवदेव चतुर्थ शतम्। तस्य पुनरुद्देशकार्थाधिकारसंग्रहाय गाथा—

- ४/१ 'चत्तारीत्यादि व्यक्तायां
४/४ 'अच्चणिय' ति सिद्धायतने जिनप्रतिमाद्यर्चनमभिनवोत्पन्नस्य सोमाख्यलोकपालस्येति।
४/५ चतुर्थशते चत्वारः

॥ चतुर्थशते चतुर्थोद्देशकः ॥

पञ्चमः— अष्टम उद्देशकः

- ४/६ 'रायहाणीसु चत्तारि उद्देशया भाणियव्वा' ते चैवम्—'कहिं णं भंते! ईसाणस्स देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारन्नो सोमानामं रायहाणी पण्णात्ता? गोयमा! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे सपक्खिं इत्यादिपूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्त-विजयराजधानीवर्णकानुसारेण चैकैक उद्देशकोऽध्येतव्य इति। नन्वेता राजधान्यः किल सोमादीनां शक्रस्येशानस्य च सम्बन्धिनां लोकपालानां प्रत्येकं चतस्र एकादशे कुण्डलवराभिधानद्वीपे द्वीपसागरप्रज्ञप्त्यां श्रूयन्ते, उक्तं हि तत्संग्रहिष्याम्—

१. "कुण्डलनगस्स अब्भित्तरपासे होति रायहाणीओ।

सोलस्स उत्तरपासे सोलस पुण दक्खिणे पासे ॥

२. जा उत्तरेण सोलस ताओ ईसाणलोगपालाणं।

सक्कस्स लोगपालाण दक्खिणे सोलस हवंति ॥"

एताश्च सोमप्रभयमप्रभवैश्रमणप्रभवरुणप्रभाभिधानानां पर्वतानां प्रत्येकं चतसृषु दिक्षु भवन्ति, तत्र वैश्रमणनगरीरादौ कृत्वाऽभिहितम्—

३. 'मज्झे होइ चउण्हं वेसमणपभो नगुत्तमो सेलो।

रइकरयपव्वयसमो उव्वेहुच्चत्तविव्खंभे ॥

४. तस्स य नगुत्तमस्स उ चउदिसिं होति रायहाणीओ।

जंबूहीवसमाओ विक्खंभायामओ ताओ ॥

५. पुव्वेण अयलभदा^१ समक्कसा रायहाणि दाहिणओ।

अवरेण उ कुबेरा घणप्पभा उत्तरे पासे ॥

६. एण्णेव कमेणं वरुणस्सवि होति अवरपासंमि।

वरुणप्पभसेनस्सवि चउदिसिं रायहाणीओ ॥

७. पुव्वेण होइ वरुणा वरुणपभा दक्खिणे दिसीभाए।

अवरेण होति कुमुया उत्तरओ पुंडरीगिणीया ॥

८. एण्णेव कमेणं सोमस्सवि होति अवरपासंमि।

सोमप्पभसेलस्सवि चउदिसिं रायहाणीओ ॥

९. पुव्वेण होइ सोमा सोमप्पभा दक्खिणे दिसीभाए।

सिवपागारा अवरेण होइ नलिनाय उत्तरओ ॥

१०. एण्णेव कमेणं अंतकरस्सवि य होति अवरेणं।

समवित्तिप्पभसेलस्स चउदिसिं रायहाणीओ ॥

११. पुव्वेण ऊ अतिविसाला उ दाहिणे पासे।

सेज्जप्पभाऽवरेणं अमुया पुण उत्तरे पासे ॥" इति।

इह च ग्रन्थे सौधर्मावतंसकादीशानावतंसकाच्चासंख्येया योजनकोटीर्व्यतिक्रम्य प्रत्येकं पूर्वादिदिक्षु स्थितानि यानि सन्ध्याप्रभादीनि सुमनःप्रभृतीनि च विमानानि तेषां अधोऽसंख्याता योजनकोटीरवगाह्य प्रत्येकमेकैका नगर्युक्ता ततः कथं न विरोधः इति? अत्रोच्यते अन्यास्ता नगरो यः कुण्डलेऽभिधीयन्ते एताश्चान्या इति, तथा शक्रेशानाग्रमहिषीणां नन्दीश्वरद्वीपे कुण्डलद्वीपे चेति।

॥ चतुर्थशते अष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

अनन्तरं देववक्तव्यतोक्ताऽथ वैक्रियशरीरसाधर्म्यान्नारक-वक्तव्यताप्रतिबद्धो नवमोद्देशक उच्यते, तत्रेदमादिसूत्रम्—
४/७ 'नेरइए ण' मित्यादि 'लेस्सापए' ति सप्तदशपदे 'तइओ उद्देशओ भाणियव्वो' ति क्वचिद् द्वितीय इति दृश्यते स चापपाठ इति स चैवम्—गोयमा! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ नो अणेरइय नेरइएसु उववज्जइ इत्यादि। अयं चास्यार्थः— नैरयिको नैरयिकेषूत्पद्यते न पुनरनैरयिकः, कथं पुनरेतत् ? उच्यते, यस्मान्नारकादिभवोपग्राहकमायुरेवातो नारकाद्यायुःप्रथम-समयसंवेदनकाल एवं नारकादिव्यपदेशो भवति ऋजुसूत्रनय-दर्शनेन यत उक्तं—नयविद्विभ्रृजुसूत्रस्वरूपनिरूपणं कुर्वद्भिः—

१. "पलालं न दहत्यग्निर्भिद्यते न धटः क्वचित् ।

न शून्यानिर्गमोऽस्तीह न च शून्यं प्रविश्यते ॥

२. नारकव्यतिरिक्तश्च नरके नोपपद्यते।

नरकान्नारकश्चास्य न किंचिद् विप्रमुच्यते ॥"

इत्यादीनि 'जाव नाणाइं' ति अयमुद्देशको ज्ञानाधिकारव-सानोऽध्येतव्यः स चायम्—'कण्हेलेस्से णं भंते! जीवे कयरेसु णाणेसु होज्जा? गोयमा! दोसु वा तिसु वा चउसु वा णाणेसु होज्जा। दोसु होज्जमाणे आभिणिबोहियसुयणाणेसु होज्जा, इत्यादि।

॥ चतुर्थशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः

लेश्याधिकारात्तद्वत एव दशमोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—
४/८ 'से नूण' मित्यादि 'तारूवत्ताए' ति तद्रूपतया—नीललेश्या-स्वभावेन, एतदेव व्यनक्ति—'तावण्णत्ताए' ति तस्या इव— नीललेश्याया इव वर्णे यस्याः सा तद्वर्णा तद्भावस्तथा तथा तद्वर्णतया 'एवं चउत्थो उद्देशओ' इत्यादि वचनादेवं

द्रष्टव्यम्—तागंधत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति? हंता गोयमा! कण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति! अयमस्य भावार्थः— यदा कृष्णलेश्यापरिणतो जीवो नीललेश्यायोग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वा कालं करोति तदा नीललेश्यापरिणत उत्पद्यते 'जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसे उववज्जइ' ति वचनात्। अतः कारणमेव कार्यं भवति। 'कण्हलेसा नीललेसं पप्पे' त्यादि तु कृष्णनीललेश्ययोर्भेदपरमु-पचारादुक्तमिति। 'से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ किण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणामइ। गोयमा! से जहाणामए—खीरे दूंसिं पप्प तक्रमित्यर्थः सुद्धे वा वत्थे रागं पप्प तारूवत्ताए..... भुज्जो भुज्जो परिणामइ। से एणट्टेणं गोयमा! एवं वुच्चइ—कण्हलेसे त्यादि। एतेनैवाभिलापेन नीललेश्या कापोतीं, कापोतीं तैजसीं, तैजसी पद्मां, पद्मां शुक्लां प्राप्य तद्रूपत्वादिना परिणमतीति वाच्यम्। अथ कियद्दूरमयमुदेशको वाच्यः? इत्याह—'जावे' त्यादि 'परिणामे' त्यादिद्वारगाथोक्तद्वारपरिसमाप्तिं यावदित्यर्थः, तत्र परिणामो दर्शित एव तथा 'वण्ण' ति कृष्णादिलेश्यानां वर्णो वाच्यः, स चैवम्—कण्हलेसा णं भंते! केरिसिया वण्णेणं षण्णत्ते? त्यादि उत्तरं तु कृष्णलेश्या कृष्णा जीमूतादिवत्, नीललेश्या नीला भृंगादिवत् कापोती कापोतवर्णा खदिरसारादिवत् तैजसी लोहिता शशकरक्तादिवत्, पद्मा पीता चम्पकादिवत्, शुक्ला शुक्लाशंखादिवदिति। तथा 'रस' ति रसस्तासां वाच्यः, तत्र कृष्णा तिक्तरसा निम्बादिवत्, नीला कटुकरसा नागरवत्, कापोती कषायरसा अपक्वबदरवत्, तेजोलेश्या आम्लमधुरा पक्वाद्रा.देफलवत्, पद्मलेश्या कटुककषायमधुररसा चन्द्रप्रभासुरादिवत् शुक्ललेश्या मधुररसा गुडादिवत् 'गंध' ति लेश्यानां गन्धो वाच्यः तत्राद्यास्तिस्रो दुरभिगन्धाः अन्त्यास्तु तदितराः 'सुद्ध' ति अन्त्याः शुद्धा आद्यास्त्वितराः 'अपसत्थ' ति आद्या अप्रशस्ता अन्त्यास्तु प्रशस्ताः 'संक्लिद्ध' ति आद्याः संक्लिष्टा अन्त्यास्त्वितराः 'उण्ह' ति अन्त्या उष्णाः स्निग्धाश्च आद्यास्तु शीता रूक्षाश्च 'गति' ति आद्या दुर्गतिहेतवोऽन्त्यास्तु सुगतिहेतवः 'परिणाम' ति लेश्यानां कतिविधः परिणामः? इति वाच्यं, तत्रासौ जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदास्त्रिधा उत्पात्तादिभेदाद्वा त्रिधेति 'पएस' ति आसां प्रदेशा वाच्यास्तत्र प्रत्येकमनन्तप्रदेशिका एता इति 'ओगाह' ति अवगाहना आसां वाच्या तत्रैता असंख्यातक्षेत्रप्रदेशावगाढाः 'वगण' ति वर्गणा आसां वाच्याः। तत्र वर्गणाः कृष्णलेश्यादियोग्यद्रव्यवर्गणाः ताश्चानन्ता औदारिकादिवर्गणावत् 'ठाण' ति तारतम्येन विचित्राध्यव-

सायनिबन्धनानि कृष्णादिद्रव्यवृन्दानि तानि चासंख्येयानि अध्यवसायस्थानानामसंख्यातत्वादिति। 'अप्पबहुं' ति लेश्यास्थानानामल्पबहुत्वं वाच्यं, तच्चैवम्—'एएसि णं भंते! कण्हलेसाठाणार्णं जाव सुक्कलेसाठाणार्णं य जहण्णगाणं दव्वट्टयाए पएसट्टयाए दव्वपएसट्टयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा.... तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जहण्णगा काउलेसाठाणा दव्वट्टयाए, जहण्णगा नीललेसाठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा कण्हलेसाठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा तेउलेसाठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा पम्हलेसाठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, जहण्णगा सुक्कलेसाठाणा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा इत्यादीनि।

॥ चतुर्थशते दशमोदेशकः ॥

समाप्तं चतुर्थं शतम्

स्वतःसुबोधेऽपि शते तुरीये, व्याख्या मया काचिदियं विदुष्या।
दुग्धे सदा स्वादुतमे स्वभावात्, क्षेपो न युक्तः किमु शर्करायाः? ॥

अथ पञ्चमं शतकम्

प्रथम उद्देशकः

चतुर्थशतान्ते लेश्या उक्ताः, पञ्चमशते तु प्रायो लेश्यावन्तो निरूप्यन्ते इत्येवंसम्बन्धस्यास्योद्देशकसंग्रहाय गाथेयम्—

‘चंपे’ त्यादि, तत्र चंपायां रविविषयप्रश्ननिर्णयार्थः प्रथम उद्देशकः, ‘अनिल’ ति वायुविषयप्रश्ननिर्णयार्थो द्वितीयः, ‘गठिय’ ति जालग्रन्थिकाज्ञातज्ञापनीयार्थनिर्णयपरस्तृतीयः, ‘सद्दे’ ति शब्दविषयप्रश्ननिर्णयार्थश्चतुर्थः, ‘छउम’ ति छद्मस्थवक्तव्यतार्थः पञ्चमः, ‘आउ’ ति आयुषोऽल्पत्वादिप्रतिपादनार्थः षष्ठः, ‘एयण’ ति पुद्गलानामेजनाद्यर्थप्रतिपादकः सप्तमः, ‘नियंठे’ ति निर्ग्रन्थीपुत्राभिधानानगारविहितवस्तुविचारसारोऽष्टमः, ‘रायगिहं’ ति राजगृहनगरविचारणपरो नवमः ‘चंपाचंदिमा’ य ति चम्पायां नगर्यां चन्द्रमसो वक्तव्यतार्थो दशमः।

तत्र प्रथमोद्देशके किञ्चिल्लिख्यते—

५/३ ‘सूरिय’ ति द्वौ सूर्यौ, जम्बूद्वीपे द्वयोरेव भावात् ‘उदीणपाईणं’ ति उदगेव उदीचीनं प्रागेव प्राचीनम् उदीचीनं च तदुदीच्या आसन्नत्वात् प्राचीनं च तत्राच्याः प्रत्यासन्नत्वाद् उदीचीनप्राचीनं—दिगन्तरं क्षेत्रदिगपेक्षया पूर्वोत्तरदिगित्यर्थः। ‘उग्गच्छ’ ति उद्गत्य क्रमेण तत्रोद्गमनं कृत्वेत्यर्थः ‘पाईणदाहिणं’ ति प्राचीनदक्षिणं दिगन्तरं पूर्वदक्षिणामित्यर्थः। ‘आगच्छंति’ ति आगच्छतः क्रमेणैवास्तं यात इत्यर्थः, इह चोद्गमनमस्तमनं च द्रष्टृलोकविवक्षयाऽवसेयं, तथाहि—येषामदृश्यौ सन्तौ दृश्यौ तौ स्यातां ते तयोरुद्गमनं व्यवहरन्ति येषां तु दृश्यौ सन्तावदृश्यौ रतस्ते तयोरस्तमयं व्यवहरन्तीत्यनियतावुदयास्तमयौ, आह च—

१. ‘जह जह समए समए पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे।

तह तह इओवि नियमा जायइ रयणी य भावत्थो ॥

२. एवं च सइ नराणं उदयमत्थमणाइं होंतऽनिययाइं।

सइ देसभए कस्सइ किंची ववदिसए नियमा ॥

३. सइ चेव य निहिद्धो भद्दमुहुतो कमेण सञ्जेसिं।

केसिंचीदाणिंपि य विसयपमाणे रवी जेसिं ॥’

इत्यादि, अनेन च सूत्रेण सूर्यस्य चतसृषु दिक्षु गतिरुक्ता, ततश्च ये मन्यन्ते सूर्यः पश्चिमसमुद्रं प्रविश्य पातालान्

गत्वा पुनः पूर्वसमुद्रमुदेतीत्यादि तन्मतं निषिद्धमिति।

इह च सूर्यस्य सर्वतो गमनेऽपि प्रतिनियतत्वात्तत्रकाशस्य रात्रिदिवसविभागोऽस्तीति तं क्षेत्रभेदेन दर्शयन्नाह—

५/४,५. ‘जया ण’ मित्यादि इह सूर्यद्वयभावादेकदैव दिग्द्वये दिवस उक्तः, इह च यद्यपि दक्षिणाद्धे तथा उत्तराद्धे इत्युक्तं, तथाऽपि दक्षिणभागे उत्तरभागे चेति बोद्धव्यं, अर्द्धशब्दस्य भागमात्रार्थत्वात् यतो यदि दक्षिणाद्धे उत्तराद्धे च समग्र एव दिवसः स्यात्तदा कथं पूर्वेणापरेण च रात्रिः स्यादिति वक्तुं युज्येत, अर्द्धद्वयग्रहणेन सर्वक्षेत्रस्य गृहीतत्वात्, इतश्च दक्षिणाद्धादिशब्देन दक्षिणादिदिग्भागमात्रमेवावसेयं न त्वर्द्धम्

५/६,७ अतो यदापि दक्षिणोत्तरयोः सर्वोत्कृष्टो दिवसो भवति, तदाऽपि जम्बूद्वीपस्य दशभागत्रयप्रमाणमेव तापक्षेत्रं तयोः प्रत्येकं स्याद्, दशभागद्वयमानं च पूर्वपश्चिमयोः प्रत्येकं रात्रिक्षेत्रं स्यात्, तथाहि—षष्ट्या मुहूर्तैः किल सूर्यो मण्डलं पूरयति, उत्कृष्टदिनं चाष्टादशभिर्मुहूर्तैरुक्तम्, अष्टादश च षष्टेर्दशभागत्रितयरूपा भवन्ति, तथा यदाऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति तदा रात्रिर्द्वादशमुहूर्ता भवति। द्वादश च षष्टेर्दशभागद्वयरूपा भवन्तीति, तत्र च मेरुं प्रति नव योजनसहस्राणि चत्वारि शतानि षडशीत्यधिकानि नव च दश भागा योजनस्येत्येतत्सर्वोत्कृष्टदिवसे दशभागत्रयरूपं तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६ $\frac{१}{१०}$ कथम्? मन्दरपरिक्षेपस्य किञ्चिन्नयूनत्रयो विंशत्युत्तरषट्शताधिकैकत्रिंशद्योजनसहस्रमानस्य ३१६२३ दशभिर्भागे हते यल्लब्धं ३१६२ $\frac{३}{१०}$ तस्य त्रिगुणितत्वे एतस्य भावादिति। तथा लवणसमुद्रं प्रति चतुर्नवतियोजनानां सहस्राणि अष्टौ शतान्यष्टषष्ट्यधिकानि चत्वारश्च दशभागा योजनस्येत्येतदुत्कृष्टदिने तापक्षेत्रप्रमाणं भवति ९४८६२ $\frac{५}{१०}$ कथम्? जम्बूद्वीपपरिधेः किञ्चिन्न्यूनाष्टविंशत्युत्तरशतद्वयाधिकषोडशसहस्रोपेतयोजनलक्षत्रयमानस्य ३१६२२८ दशभिर्भागे हते यल्लब्धं तस्य त्रिगुणित्वे एतस्य भावादिति। जघन्यरात्रिक्षेत्रप्रमाणं चाप्येवमेव, नवरं परिधेर्दशभागो द्विगुणः कार्यः, तत्राद्यं षड् योजनानां सहस्राणि त्रीणि शतानिचतुर्विंशत्यधिकानि षट् च दशभागा योजनस्य ६३२४ $\frac{६}{१०}$ द्वितीयं तु त्रिषष्टिः सहस्राणि द्वे पंचचत्वारिंशदधिके योजनानां शते षट् च दशभागा योजनस्य ६३२४५ $\frac{६}{१०}$ सर्वलघौ च दिवसे तापक्षेत्रमन्तरोत्तरात्रिक्षेत्रतुल्यं रात्रिक्षेत्रं त्वनन्तरोक्ततापक्षेत्रतुल्यमिति। आयामतस्तु तापक्षेत्रं जम्बूद्वीपमध्ये पंचचत्वारिंशद्योजनानां सहस्राणीति, लवणे च

१. अ. स प्रतौ ‘छउमत्थ’ ति

२. स प्रतौ ‘चोद्गमनमस्तमयम्’

३. स प्रतौ ‘होंतिऽनियया’

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि त्रिभागश्च योजनस्य ३३३३ $\frac{१}{३}$, उभयमौलने त्वष्टसप्ततिः सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशदधिकानि योजनत्रिभागश्चेति ७८३३३ $\frac{१}{३}$ । 'उक्कोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति' ति इह किल सूर्यस्य चतुरशीत्यधिकं मण्डलशतं भवति, तत्र किल जम्बूद्वीपमध्ये पंचषष्टिर्मण्डलानि भवन्ति, एकोनविंशत्यधिकं च तेषां शतं लवणसमुद्रस्य मध्ये भवति। तत्र च सर्वाभ्यन्तरे मण्डले यदा वर्तते सूर्यस्तादाष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, कथम् ? यदा सर्वबाह्ये मण्डले वर्ततेऽसौ तदा सर्वजघन्यो द्वादश मुहूर्तो दिवसो भवति, ततश्च द्वितीयमण्डलादारभ्य प्रतिमण्डलं द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यां दिनस्य वृद्धौ त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले षड् मुहूर्ता वर्धन्ते इत्येव-मष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, अतएव द्वादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति, त्रिंशन्मुहूर्तत्वादहोरात्रस्य।

५/८, ९ 'अट्टारसमुहृत्ताणंतरे' ति यदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलानन्तरे मण्डले वर्तते सूर्यस्तादा मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयहीनाष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति, स चाष्टादशमुहूर्तादिवसादनन्तरोऽष्टादशमुहूर्तानन्तरमिति व्यपदिष्टः 'सातिरेगा दुवालसमुहृत्ता राइ' ति द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका द्वादशमुहूर्ता 'राइ भवति' ति रात्रिप्रमाणं भवतीत्यर्थः, यावता भागेन दिनं हीयते तावता रात्रिर्वर्द्धते, त्रिंशन्मुहूर्तत्वादहोरात्रस्येति।

५/१० 'एवं एएणं कमेणं' एवमित्युपसंहारे 'एतेन' अनन्तरोक्तेन 'जया णं भंते! जंबूद्वीवे दीवे दाहिणङ्गे' इत्यनेनेत्यर्थः 'ओसारेयव्वं' ति दिनमानं हस्वीकार्यं, तदेव दर्शयति— 'सत्तरसे' त्यादि। तत्र सर्वाभ्यान्तरमण्डलानन्तरमण्डला-दारभ्यैकत्रिंशत्तममण्डलाद्धे यदा सूर्यस्तादा सप्तदशमुहूर्तो दिवसो भवति, पूर्वोक्तहानिक्रमेण त्रयोदशमुहूर्ता च रात्रिरिति। 'सत्तरसमुहृत्ताणंतरे' ति मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयहीनसप्तदश-मुहूर्तप्रमाणो दिवसः। अयं च द्वितीयादारभ्य द्वात्रिंशत्तममण्डलाद्धे भवति। एवमनन्तरत्वमन्यत्राप्युह्यं 'साइरेगतेरसमुहृत्ता राइ' ति मुहूर्तैकषष्टिभागद्वयेन सातिरेकत्वम्, एवं सर्वत्र 'सोलसमुहृत्ते दिवसे' ति द्वितीयादारभ्यैकषष्टितममण्डले षोडशमुहूर्तो दिवसो भवति। 'पन्नरसमुहृत्ते दिवसे' ति द्विनवतितममण्डलाद्धे वर्तमाने सूर्ये 'चोदसमुहृत्ते दिवसे' ति द्वाविंशत्युत्तरशततमे मण्डले, 'तेरसमुहृत्ते दिवसे' ति सार्धद्विपंचाशदुत्तरशततमे मण्डले, 'बारसमुहृत्ते दिवसे' ति त्र्यशीत्यधिकशततमे मण्डले सर्वबाह्य इत्यर्थः।

कालाधिकारादिदमाह—

५/१३ 'जया णं भंते! जंबूद्वीवे दीवे दाहिणङ्गे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ' इत्यादि वासाणं' ति चतुर्मासप्रमाणवर्षाकालस्य

सम्बन्धी 'प्रथमः' आद्यः 'समयः' क्षणः 'प्रतिपद्यते' संपद्यते भवतीत्यर्थः— 'अणंतरपुरक्खडे समयंसि' ति अनन्तरो— निर्व्यवधानो दक्षिणाद्धे वर्षाप्रथमतापेक्षया स चातीतोऽपि स्यादत आह— पुरस्कृतः— पुरोवर्ती भविष्यन्तित्यर्थः। समयः प्रतीतः, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयोऽतस्तत्र।

५/१४ 'अणंतरपच्छकडसमयंसि' ति पूर्वापरविदेहवर्षाप्रथमसमयापेक्षया योऽनन्तरपश्चात्कृतोऽतीतः समयस्तत्र दक्षिणोत्तरयोर्वर्षा-कालप्रथमसमयो भवतीति।

५/१५ 'एवं जहा समएण' मित्यादि आवलिकाऽभलापश्चैवम्— 'जया णं भंते! जंबूद्वीवे दीवे दाहिणङ्गे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जति तथा णं उत्तरङ्गेवि, जया णं उत्तरङ्गे वासाणं पढमावलिया पडिवज्जति तथा णं जंबूद्वीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ? हंता गोयमा! इत्यादि। एवमानप्राणादिपदेष्वपि आवलिकाद्यर्थः पुनरयम्— आवलिका— असंख्यातसमयात्मिका आनप्राणः— उच्छ्वासनिःश्वास-कालः स्तोकः— सप्तप्राणप्रमाणः लवस्तु— सप्तस्तोकरूपः मुहूर्तः पुनर्लवसप्तसप्ततिप्रमाणः ऋतुस्तु मासद्वयमानः।

५/१६ 'हेमंताणं' ति शीतकालस्य 'गिम्हाण व' ति उष्णकालस्य

५/१७, १८ 'पढमे अयणे' ति दक्षिणायनं श्रावणादित्वात्संवत्सरस्य 'जुएणवि' ति युगं पञ्चसंवत्सरमानं 'पुव्वंगेणवि' ति पूर्वाङ्ग चतुरशीतिवर्षलक्षाणां 'पुव्वेण वि' ति पूर्वपूर्वागमेव चतुरशीतिवर्षलक्षेण गुणितम् एवं चतुरशीतिवर्षलक्ष-गुणितमुत्तरोत्तरं स्थानं भवति। चतुर्विंशत्यधिकं चांकशतमन्तिमे स्थाने भवतीति।

५/१९ 'पढमा ओसप्पिणि' ति अवसर्पयति भावानित्येवंशीलाऽवसर्पिणी तस्याः प्रथमो विभागः प्रथमावसर्पिणी। 'उत्सप्पिणि' ति उत्सर्पयति भावानित्येवंशीला उत्सर्पिणी ति।

॥ पञ्चमशते प्रथमोद्देशकः ॥

द्वितीय उद्देशकः

प्रथम उद्देशके दिक्षु दिवसादिविभाग उक्तः, द्वितीये तु तास्वेव वातं प्रतिपिपादयिषुर्वातभेदांस्तावदधिधातुमाह—

५/३१ 'रायगिहे' इत्यादि, 'अत्थि' ति अस्त्ययमर्थे— यदुत वाता वान्तीति योगः, कीदृशाः? इत्याह— 'ईसिं पुरेवाय' ति मनाक् सन्नेहवाताः। 'पत्थावाय' ति पथ्या वनस्त्यत्यादिहिता वायवः, 'मंदावाय' ति मन्दाः शनैः संचारिणोऽमहावाता इत्यर्थः। 'महावाय' ति उद्दण्डवाता अनल्पा इत्यर्थः।

- ५/३२ 'पुरच्छिमेण' ति सुमेरोः पूर्वस्यां दिशीत्यर्थः
- ५/३३ 'एवमेतानि दिग्विदिगपेक्षयाऽष्टौ सूत्राणि । उक्तं दिग्भेदेन वातानां वानम्, अथ दिशामेव परस्परपनिबन्धेन तदाह—
- ५/३४ 'जया ण' मित्यादि। इह च द्वे दिक्सूत्रे द्वे विदिक्सूत्रे इति । अथ प्रकारान्तरेण वातस्वरूपनिरूपणसूत्रं, तत्र—
- ५/३६ 'दीविच्चग' ति द्वैप्याद्वीपसम्बन्धिनः
- ३/३७ 'सामुदय' ति समुद्रस्यैते सामुद्रिकाः
- ५/३९ 'अण्णमण्णविवच्चासेणं' ति अन्योऽन्यव्यत्यासेन यदैके ईषत्पुरोवातादिविशेषणा वान्ति तदेतरे न तथाविधा वान्तीत्यर्थः, 'वेलं नाइक्कमइ' ति तथाविधवातद्रव्यसामर्थ्याद् वेला-यास्तथास्वभावत्वाच्चेति।
अथ वातानां वाने प्रकारान्तरेण वातस्वरूपत्रयं सूत्रत्रयेण दर्शयन्नाह—
- ५/४० 'अत्थि ण' मित्यादि, इह च प्रथमवाक्यं प्रस्तावनार्थमिति न पुनरुक्तमित्याशंकनीयम्
- ५/४१ 'अहारियं रियंति' ति रीतं रीतिः स्वभाव इत्यर्थः तस्यानतिक्रमेण यथारीतं 'रीयते' गच्छति यदा स्वाभाविक्या गत्या गच्छतीत्यर्थः
- ५/४२ 'उत्तरकिरियं' ति वायुकायस्य हि मूलशरीरमौदारिकमुत्तरं तु वैक्रियमत उत्तर-उत्तर-शरीराश्रया क्रिया गतिलक्षणा यत्र गमने तदुत्तरक्रियम्। तद्यथा भवतीत्येवं रीयते गच्छति, इह चैकसूत्रेणैव वायुवानकारणत्रयस्य वक्तुं शक्यत्वे यत्सूत्रत्रयकरणं तद्विचित्रत्वात्सूत्रगतेरिति मन्तव्यं, वाचनान्तरे त्वाद्यं कारणं महावातवर्जितानां, द्वितीयं तु मन्दवातवर्जितानां, तृतीयं तु चतुर्णामप्युक्तमिति।
वायुकायाधिकारादेवेदमाह—
- ५/४६ 'वाउयाए ण' मित्यादि 'जहा खंदए' इत्यादि, तत्र प्रथमे दर्शित एव
- ५/४७ 'अणेगे' त्यादिर्द्वितीयः, स चैवम्—'वाउयाए' णं भंते। वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उदाइत्ता उदाइत्ता तत्थेव 'भुज्जो-भुज्जो पच्चायाइ ? हंता गोयमा!'
- ५/४८ 'पुट्ठे उदाइ' ति तृतीयः स चैवम्—'से भंते! किं पुट्ठे उदाइ अपुट्ठे उदाइ?'
गोयमा! पुट्ठे उदाइ नो अपुट्ठे',
- ५/४९ 'ससरीरी' त्यादिः चतुर्थः, स चैवम्—'से भंते! किं ससरीरी

५/५१

निक्खमइ असरीरी? गोयमा! सिय ससरीरी' त्यादि।
वायुकायश्चिन्तितः, अथ वनस्पतिकायादीन् शरीरतश्चिन्तयन्नाह—

'अहे' त्यादि 'एए णं' ति एतानि णमित्यलंकारे 'किंसरीरी' ति केषां शरीराणि किंशरीराणि? 'सुराए य जे घणे' ति सुरायां द्वे द्रव्ये स्यातां—घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च, तत्र यद् घनद्रव्यम्। 'पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च' ति अतीतपर्याय-प्ररूपणामंगीकृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतयः 'तओ पच्छ' ति वनस्पतिजीव-शरीरवाच्यत्वानन्तरमग्निजीवशरीराणीति वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः, किं भूतानि संति? इत्याह—'सत्यातीय' ति शस्त्रेण—उदूखल-मुशालयंत्रकादिना करणभूतेन अतीतानि—अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि 'सत्यपरिणामिय' ति शस्त्रेण परिणामितानि—कृतानि नवपर्यायाणि^१ शस्त्रपरिणामितानि ततश्च—'अगणिज्झामिय' ति वह्निना ध्यामितानि—श्यामी-कृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा अग्निना ज्ञोषितानि^२ पूर्वस्वभावक्षपणात्, अग्निना सेवितानि वा 'जुषी प्रीतिसेवनयोः इत्यस्य धातोः प्रयोगात् 'अगणिपरिणामियाइं ति' सजाताग्नि-परिणामानि उष्णयोगादिति। अथवा 'सत्यातीता' इत्यादौ शस्त्रमग्निरेव, 'अगणिज्झामिया' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति।

५/५२ 'उवले' ति इह.दग्धपाषाणः 'कसट्टिय' ति कट्टः।

५/५३ 'अट्टिज्झामि' ति अस्थि च तद्ध्यामं च—अग्निना ध्यामलीकृतम्—आपादितपर्यायान्तरमित्यर्थः

५/५४ 'इंगाले' इत्यादि अंगारः निज्वलितेन्धनं, 'छारिए' ति क्षरकं भस्म 'भुसे' ति बुसं 'गोमयं' ति छगणम्, इह च बुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ ग्राह्यौ अन्यथाऽग्निध्यामितादि-वक्ष्यमाणविशेषणानामनुपपत्तिः स्यादिति। एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्यैकेन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयोगेण—स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा एकेन्द्रियशरीराणीत्यर्थः अपि समुच्चये, यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोगपरिणामिता अपीत्यादि दृश्यम्, द्वीन्द्रियादिजीवशरीरपरिणतत्वं च यथासंभवमेव न तु सर्वपदेष्विति। तत्र पूर्वमंगारो भस्म चैकेन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकेन्द्रियादिशरीराणामिन्धनत्वात्। बुसं तु यत्रगोधूम-हरितावस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् गोमयस्तु तृणाद्यवस्थाय-मेकेन्द्रियशरीरम्। द्वीन्द्रियादीनां तु गवादिभिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादि-शरीरमिति।
पृथिव्यादिकायाधिकारदपकायरूपस्य लवणोदधेः स्वरूपमाह—

१. स प्रती कृताभिनवपर्यायाणि

२. क्वचित् अग्निना शोषितानि

५/५५ 'लवणे ण' मित्यादि। 'एवं णेयव्वं' ति उक्ताभिलापानुगुणतया नेतव्यं, जीवाभिगमोक्तं लवणसमुद्रसूत्रम्। किमन्तमित्याह— 'जाव लोगे त्यादि, तच्चेदम्—केवइयं परिवखेवेणं? गोयमा! दो जोयणसयसहस्साइं चक्कवालविकखंभेणं पण्णरस सयसहस्साइं एक्कासीयं च सहस्साइं सयं च इगुणयालं किंचिविसेसूणं परिवखेवेणं पण्णत्ते' इत्यादि, एतस्य चान्ते कम्हा णं भंते! लवणसमुदे जंबूद्वीवं दीवं नो उव्वीलेइ इत्यादौ प्रश्ने गोयमा! जंबूद्वीवे दीवे भरहेरवाएसु वासेसु अरहंता चक्कवट्टी' त्यादेरुत्तरग्रन्थस्यान्ते 'लोगट्टिइ' इत्यादि द्रष्टव्यमिति।

॥ पञ्चमशते द्वितीयोद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

अनन्तरोक्तं लवणसमुद्रादिकं सत्यं सम्यग्ज्ञानप्रतिपादित्वात्, मिथ्याज्ञानप्रतिपादितं त्वसत्यमपि स्यादिति दर्शयंस्तृतीयोद्देशक-स्यादिसूत्रमिदमाह—

५/५७ 'अण्णउत्थियाण' मित्यादि 'जालगंठिय' ति जालं— मत्स्यबन्धनं तस्येव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका— जालिका, किंस्वरूपा सा? इत्याह— 'आणुपुव्विगडिय' ति आणुपूर्व्या-परिपाट्या ग्रथिता— गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानाद् अन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणात्। एतदेव प्रपञ्चयन्नाह— 'अनन्तरगडिय' ति प्रथमग्रन्थीनामान्तर-व्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्रथिता, एवं परम्परैः— व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता, किमुक्तं भवति? 'अण्णमण्णगडिय' ति अन्योऽन्यं— परस्परेण एकेन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन च सहान्य इत्येव ग्रथिता अन्योऽन्यग्रथिता एवं च 'अण्णमण्णगरुयत्ताए' ति अन्योऽन्येन ग्रन्थनाद् गुरुकता— विस्तीर्णता अन्योऽन्यगुरुकता तथा, 'अण्णमण्ण-भारियत्ताए' ति अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तता तथा, एतस्यैव प्रत्येकोक्तार्थ-द्वयस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधातुमाह— 'अण्ण-मण्णगरुयसंभारियत्ताए' ति अन्योऽन्येन गुरुकं यत्सम्भारिकं च तत्तथा सद्भावस्तता तथा अण्णमण्णघडत्ताए' ति अन्योऽन्यं घटा— समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्-भावस्तता तथा 'चिट्टइ' ति आस्ते इति दृष्टान्तोऽथ दार्ष्टान्तिक उच्यते— 'एवामेव' ति अनेनैव न्यायेन बहूनां जीवानां सम्बन्धीनि। 'बहूसु आजाइसहस्सेसु' ति अनेकेषु देवादिजन्मसु प्रतिजीवं क्रमप्रवृत्तेष्वधिकरणभूतेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि ततस्वामि-जीवानामाजातीनां च बहुशतसहस्रसंख्यत्वात्, आनुपूर्वीग्रथिता-

नीत्यादि पूर्ववद्व्याख्येयं नवरमिह भारिकत्वं कर्मपुद्गलापेक्षया वाच्यम्। अथैतेषामायुषां को वेदनविधिः? इत्याह— 'एगेऽवि ये' त्यादि, एकोऽपि च जीव आस्तामनेकः एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतकवत्। अत्रोत्तरं—

५/५८ 'जे ते एवमाहंसु' इत्यादि, मिथ्यात्वं चैषामेवम्— यानि हि बहूनां जीवानां बहून्यायुषि जालग्रन्थिकावत्तिष्ठन्ति तानि यथास्वं जीवप्रदेशेषु संबद्धानि स्युरसंबद्धानि वा? यदि संबद्धानि तदा कथं भिन्नभिन्नजीवस्थितानां तेषां जालग्रन्थिककल्पना कल्पयितुं शक्या? तथाऽपि तत्कल्पने जीवानामपि जालग्रन्थिकाकल्पत्वं स्यात्तत्संबद्धत्वात्, तथा च सर्वजीवानां सर्वायुःसंवेदनेन सर्वभवनप्रसंग इति। अथ जीवानामसंबद्धान्यायुषि तदा तद्वशाद्देवादिजन्मेति न स्यादसंबद्धत्वादेवेति। यच्चोक्तं एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति तदपि मिथ्या, आयुर्द्वयसंवेदने युगपद्भवद्वयप्रसंगादिति। 'अहं पुण गोयमे' त्यादि इह पक्षे जालग्रन्थिका— संकलिकामात्रम्, 'एगमेगस्से' त्यादि एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां बहुधा आजातिसहस्रेषु क्रमवृत्तिष्वतीतकालकेषु तत्कालापेक्षया सत्सु बहून्यायुः सहस्राण्यतीतानि वर्तमानभवान्तानि अन्यभक्तिकमन्यभक्तिकेन प्रतिबद्धमित्येवं सर्वाणि परस्परं प्रतिबद्धानि भवन्ति न पुनरेकभव एव बहूनि— 'इहभविआउयं व' ति वर्तमानभवायुः 'परभविआउयं व' ति परभवप्रायोग्य यद्वर्तमानभवे निबद्धं तच्च परभवे गतो, यदा वेदयति तदा व्यपदिश्यते 'परभविआउयं व' ति। आयुः प्रस्तावादिदमाह—

५/५९ 'जीवे ण' मित्यादि, से णं भंते! ति अथ तद्भदन्त!'
५/६० 'कहिं कडे' ति क्व भवे बद्धं 'समाइण्णे' ति समाचरितं तद्धेतुसमाचरणात्।
५/६२ 'जे जंभिए जोणि उववज्जित्तए' ति विभक्तिपरिणामाद्यो यस्यां योनावुत्पत्तुं योग्य इत्यर्थः 'मणुस्साउयं दुविहं' ति संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदाद्द्विधा 'देवाउयं चउविहं' ति भवनपत्यादिभेदादिति।

॥ पञ्चमशते तृतीयोद्देशकः ॥

चतुर्थ उद्देशकः

अनन्तरोद्देशकेऽन्ययुथिकछद्मस्थमनुष्यवक्तव्यतोक्ता, चतुर्थे तु मनुष्याणां छद्मस्थानां केवलानां च प्रायः सोच्यते इत्येवं-सम्बन्धस्यास्येदमादिसूत्रम्—

५/६४ 'छउमत्थे ण' मित्यादि 'आउडिज्जमाणाइं' ति जुड बन्धने इति वचनाद् 'आजोड्जमानेभ्यः' संबध्यमानेभ्यो मुखहस्त-

दण्डादिना सह शंखपटहङ्गल्लर्यादिभ्यो वाद्यविशेषेभ्य आकुट्यमानेभ्यो वा एभ्य एव ये जाताः शब्दास्ते आजोड्यमाना आकुट्यमाना एव बोच्यन्तेऽतस्तान् आजोड्यमानानाकुट्यमानान् वा शब्दान् शृणोति इह च प्राकृतत्वेनशब्दशब्दस्य नपुंसकनिर्देशः अथवा 'आउडिज्जमाणाइ' ति आकुट्यमानानि परस्परैणाभिहन्यमानानि 'सद्दाइ' ति शब्दानि शब्दद्रव्याणि शंखादयः प्रतीताः नवरं 'संखिय' ति शंखिका ह्रस्वः शंखः 'खरमुहि' ति काहला 'पोया' महती काहला 'परिपिरिय' ति कोलिक-पुटकावनद्मुखो वाद्यविशेषः 'पणव' ति भाण्डपटहो लघुपटहो वा तदन्यस्तु पटह इति। 'भंभ' ति ढक्का 'होरंभ' ति रूढिगम्या 'भेरि' ति महाढक्का 'झल्लरि' ति वलयाकारो वाद्यविशेषः 'दुंदुहि' ति देववाद्यविशेषः।

अथोक्तानुक्तसंग्रहद्वारेणाह—'तताणि वे' त्यादि ततानि वीणादिवाद्यानि तज्जनितशब्दा अपि तताः, एवमन्यदपि पदत्रयं, नवरमयं विशेषस्ततानाम्—

'ततं वीणादिकं ज्ञेयं, विततं पटहादिकम्।

धनं तु कांश्यतालादि, वंशादि शुषिरं मतम्॥' इति

'पुट्टाई सुणेइ' इत्यादि तु प्रथमशते आहाराधिकारवदवसेयमिति।

५/६५ 'आरगयाइ' ति आराद्भागस्थितानिन्द्रियगोचरमागतामित्यर्थः। 'पारगयाइ' ति इन्द्रियविषयात्परतोऽवस्थितानिति, 'सव्वदूरमूलमणतिर्यं' ति सर्वथा दूरं—विप्रकृष्टं मूलं च निकटं सर्वदूरमूलं तद्योगाच्छब्दोऽपि सर्वदूरमूलोऽतस्तम् अत्यर्थं दूरवर्तिनमत्यन्तासन्नं चेत्यर्थः अन्तिकम्—आसन्नं तन्निषेधादनन्तिकम् 'नजोऽल्पार्थत्वात् नात्यन्तमन्तिकम् अदूरासन्नमित्यर्थः तद्योगाच्छब्दोऽप्यनन्तिकोऽतस्तम् अथवा 'सव्व' ति अनेन 'सव्वओ समंता' इत्युपलक्षितं, 'दूरमूलं' ति अनादिकमितिहृदयम्। 'अणंतिर्यं' ति अनन्तिकमित्यर्थः

५/६७ 'मियंपि' ति परिमाणवद् गर्भजमनुष्यजीवद्रव्यादि। 'अमियंपि' ति अनन्तमसंख्येयं वा वनस्पतिपृथिवीजीवद्रव्यादि। 'सव्वं जाणइ' इत्यादि द्रव्याद्यपेक्षयोक्तम्। अथ कस्मात् सर्वं जानाति केवलीत्याद्युच्यते? इत्यत आह — 'अणंते' इत्यादि, अनन्तं ज्ञानमनन्तार्थविषयत्वात् तथा 'निव्वुडे नाणे केवलिसस्' ति 'निर्वृतं निरावरणं ज्ञानं केवलिनः क्षायिकत्वात् शुद्धमित्यर्थः वाचनान्तरे तु 'निव्वुडे वित्तिमिरे विसुद्धे' ति विशेषणत्रयं ज्ञानदर्शनयोरभिधीयते। तत्र च निर्वृतं निष्ठागतं 'वित्तिमिरं' क्षीणावरणम् अतएव विशुद्धमिति।

अथ पुनरपि छद्मस्थमनुष्यमेवाश्रित्याह—

५/६८ 'छउमत्ये' त्यादि 'उस्सुयाएज्ज' ति अनुत्सुक उत्सुको

भवेदुत्सकायेत, विषयादानं प्रत्यौत्सुक्यं कुर्यादित्यर्थः।

५/७० 'जं णं जीव' ति यस्मात् कारणाज्जीवः 'से णं केवलिसस्स णत्थि' ति तत्पुनश्चारित्रमोहनीयं कर्म केवलिनो नास्तीत्यर्थः।

५/७१ 'एवं जाव वेमाणिए' ति एवमिति जीवाभिलापवन्नारकादिदण्डको वाच्यो यावद्वैमानिक इति, स चैवम्—'नेरइए णं भंते! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा, कइ कम्मपयडीओ बंधइ? गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्टविहबंधए वा' इत्यादि। इह च पृथिव्यादीनां हासः प्राग्भक्तितत्परिणामादवसेय इति। 'पोहत्तिएहिं' ति पृथक्त्वे सूत्रेषु—बहुवचनसूत्रेषु 'जीवा णं भंते! हसमाणा वा उस्सुयमाणा वा कइ कम्मपयडीओ बंधंति? गोयमा! सत्तविहबंधगावि अट्टविहबंधगावि, इत्यादिषु 'जीवेगिंदिए' त्यादि जीवपदमेकेन्द्रियपदानि च पृथिव्यादीनि वर्जयित्वाऽन्येष्वेकोनविंशतौ नारकादिपदेषु 'त्रिकभंगः' भंगत्रयं वाच्यं, यतो जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च बहुत्वाज्जीवानां सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्चेत्येवमेक एव भंगको लभ्यते, नारकदिषु तु त्रयं तथाहि— सर्व एव सप्तविधबन्धकाः स्युरित्येकः, अथवा सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्चेत्येवं द्वितीयः अथवा सप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्चेत्येवं तृतीयः इति अत्रैव छद्मस्थकेवल्यधिकारे इदमपरमाह—

५/७२ 'छउमत्ये' त्यादि 'णिद्दाएज्ज व' ति निद्रां—सुखप्रतिबोध-लक्षणां कुर्यात् निद्रायेत, 'पयलाएज्ज 'व' ति प्रचलाम्— ऊर्ध्वस्थितनिद्राकरणलक्षणां कुर्यात् प्रचलायेत्।

केवल्यधिकारात्केवलिनो महावीरस्य संविधानकमाश्रित्येदमाह—

५/७६ 'हरी' त्यादि, इह च यद्यपि महावीरसंविधानाभिधायकं पदं न दृश्यते तथाऽपि हरिनैगमेषीति वचनात्तदेवानुमीयते। हरिनैगमेषिणा भगवतो गर्भान्तरे नयनात्। यदि पुनः सामान्यतो गर्भहरण-विवक्षाऽभविष्यत्तदा 'देवे णं भंते!' इति वक्ष्यदिति, तत्र हरिः—इन्द्रस्तत्सम्बन्धित्वात् हरिनैगमेषीति नाम। 'सव्वकदूए' ति शक्रदूतः शक्रादेशकारी पदात्यनीकाधिपतिर्येन शक्रादेशाद् भगवान् महावीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भं संहत इति। 'इत्थीगम्भं' ति स्त्रियाः सम्बन्धी गर्भः सजीवपुद्गलपिण्डकः स्त्रीगर्भस्तम्। 'संहरमाणे' ति अन्यत्र नयन् इह चतुर्भंगिका तत्र गर्भाद् गर्भाशयादवधेः गर्भ—गर्भाशयान्तरं 'संहरति' प्रवेशयति गर्भं सजीवपुद्गलपिण्डलक्षणमिति प्रकृतमित्येकः।

२. तथा गर्भादवधेः योनिं गर्भनिर्गमद्वारं संहरति योन्या उदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः

३. योनिद्वारेण गर्भं संहरति गर्भाशयं प्रवेशयतीत्यर्थः

४. योनेः सकाशाद्योनिं 'संहरति' नयति योन्या उदरान्निष्काष्य योनिद्वारेणैवोदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः।

एतेषु शेषनिषेधेन तृतीयमनुजानन्नाह—'परामुसिए' त्यादि परामृश्य परामृश्य, तथाविधकरणव्यापारेण संस्पृश्य संस्पृश्य स्त्रीगर्भम् 'अव्याबाधमव्याबाधेन' सुखंसुखेनेत्यर्थः। योनीतः योनिद्वारेण निष्काश्य गर्भं गर्भाशयं संहरति गर्भमिति प्रकृतम्। यच्चेह योनीतो निर्गमनं स्त्रीगर्भस्योक्तं तल्लोकव्यवहारानुवर्तनात्, तथाहि-निष्पन्नोऽनिष्पन्नो वा गर्भः स्वाभावाद्योन्यैव निर्गच्छतीति

अयं च तस्य गर्भसंहरणे आचार उक्तः, अथ तत्सामर्थ्यं दर्शयन्नाह—

५/७७ 'पभू ण' मित्यादि 'महसिरंसि' ति नखाप्रे 'साहरित्ते' ति संहर्तुं—प्रवेशयितुं 'नीहरित्ते' ति विभक्तिपरिणामेन नखशिरसो रोमकूपाद् वा निर्हर्तुं निष्काशयितुं 'आबाहं' ति ईषद्बाधां 'विबाहं' ति विशिष्टबाधां 'छविच्छेदं' ति शरीरच्छेदं पुनः कुर्यात्, गर्भस्य हि छविच्छेदमकृत्वा नखाप्रेदौ प्रवेशयितुमशक्यत्वात्। 'एसुहुम च णं' ति इति सूक्ष्ममिति एवं लघ्विति।

अनन्तरं महावीरस्य सम्बन्धि गर्भान्तरसंक्रमणलक्षणमाश्चर्यमुक्तम्, अथ तच्छिष्यसम्बन्धि तदेव दर्शयितुमाह—

५/७८ 'तेण' मित्यादि 'कुमारसमणे' ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् आह च—

'छव्वरिसो षव्वइओ निग्गंथं रोइऊण पावयणं' ति एतदेव चाश्चर्यमिह, अन्यथा वर्षाष्टकादारान् प्रव्रज्या स्यादिति।

५/७९ 'कक्खपडिग्गहरयहरणमायाए' ति कक्षायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः।

५/८० 'णाविया मे' ति नौका द्रोणिका 'मे' ममेयमिति विकल्पवन्निति गम्यते। 'नाविओ विव नावं' ति नाविक इव—नौवाहक इह 'नावं' द्रोणीम् 'अयं' ति असावतिमुक्तकमुनिः प्रतिग्रहकं प्रवाहयन्नभिरमते, एवं च तस्य रमणक्रिया बालावस्थाबलादिति 'अदक्खु' ति अद्राक्षुः दृष्टवन्तः, ते च तदीयामत्यन्तानुचितां चेष्टां दृष्ट्वा तमुपहसन्त इव भगवन्तं पप्रच्छुः, एतदेवाह 'एवं खलु' इत्यादि

५/८१ 'हीलेह' ति जात्याद्युद्घट्टनतः 'निंदह' ति मनसा 'खिंसह' ति जनसमक्षं 'गरहह' ति तत्समक्षम् 'अवमण्णह' ति तदुचितप्रतिपत्यकरणेन 'परिभवह' ति क्वचित् पाठस्तत्र परिभवः—समस्तपूर्वोक्तपदाकरणेन 'अगिलाए' ति अग्लान्या अखेदेन 'संगिणहह' ति संगृहणीत स्वीकुरुत 'उवगिणहह'

ति उपगृहणीत उपष्टम्भं कुरुत एतदेवाह—'वेयावडियं' ति वैयावृत्यं कुरुतास्येति शेषः 'अंतकरे चेव' ति भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह—'अंतिमसरीरिए चेव' ति चरमशरीर इत्यर्थः।

यथाऽयमतिमुक्तको भगवच्छिष्योऽन्तिमशरीरोऽभवत् एवमन्ये पि यावन्तस्तच्छिष्या अन्तिमशरीराः संवृत्तास्तावतो दर्शयितुं प्रस्तावनामाह—

५/८३ 'तेण' मित्यादि 'महारुक्रात् सप्तमदेवलोकात्

५/८६ 'झाणंतरियाए' ति अन्तरस्य—विच्छेदस्य करणमन्तरिका ध्यानस्यान्तरिका ध्यानान्तरिका—आरब्धध्यानस्य समाप्तिपूर्वस्यानारंभणमित्यर्थः अतस्तस्यां वर्तमानस्य

५/८८ 'कप्पाओ' ति देवलोकात् 'सग्गाओ' ति स्वर्गाद्, देवलोकदेशात्प्रस्तटादित्यर्थः। 'विमाणाओ' ति प्रस्तटैकदेशादिति 'वागरणाइं' ति व्याक्रियन्त इति व्याकरणाः—प्रश्नार्थाः अधिकृता एव कल्पविमानादिलक्षणाः।

देवप्रस्तावादिदमाह—

५/८९ 'देवा ण' मित्यादि

५/९२ 'से किं खाइ णं भंते! देवाइ वत्तव्वं सिय' ति 'से' इति अथार्थः किमिति प्रश्नार्थः। णं वाक्यालंकारार्थः 'देवा' इति यद्वस्तु तद्वक्तव्यं स्यादिति। 'नोसंजया इ वत्तव्वं सिय' ति नो संयता इत्येतद्वक्तव्यं स्यात्, असंयतशब्दपर्यायत्वेऽपि नोसंयतशब्दस्यानिष्टुरवचनत्वान्मृतशब्दापेक्षया परलोकीभूतशब्दवदिति।

देवाधिकारादेवेदमाह—

५/९३ 'देवा ण' मित्यादि 'विसिस्सइ' ति विशिष्यते विशिष्टो भवतीत्यर्थः, 'अद्धमागह' ति भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह—

“प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषा च सौरसेनी च।

षष्ठोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपभ्रंशः॥”

तत्र मागधभाषालक्षणं किंचित्किंचिच्च प्राकृतभाषालक्षणं यस्यामस्ति सार्द्धं मागध्या इति व्युत्पत्त्याऽर्द्धमागधीति।

केवलिलच्छद्मस्थस्य वक्तव्यताप्रस्ताव एवेदमाह—

५/९४ 'केवली' त्यादि यथा जानाति तथा छद्मस्थो न जानाति, कथंचित्पुनर्जानात्यपीति एतदेव दर्शयन्नाह—

५/९६ 'सोच्चे' त्यादि 'केवलिस' ति केवलिनः जिनस्यायमन्तकरो भविष्यतीत्यादि वचनं श्रुत्वा जानातीति, 'केवलिवावगस्स

व' ति जिनस्य समीपे यः श्रवणार्थी सन् शृणोति तद्वाक्यान्यसौ केवलिश्रावकः तस्य वचनं श्रुत्वा जानाति, स हि किल जिनस्य समीपे वाक्यान्तराणि शृण्वन् अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादिकमपि वाक्यं शृणुयात् ततश्च तद्वचन-श्रवणाज्जानातीति, 'केवलिउवासगस्स' ति केवलिनमुपास्ते यः श्रवणाऽनाकांक्षी तदुपासनमात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः तस्य वचः श्रुत्वा जानाति, भावना प्रायः प्राग्वत् 'तप्पक्खियस्स' ति केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्येत्यर्थः, इह च श्रुत्वेति वचनेन प्रकीर्णकं वचनमात्रं ज्ञाननिमित्ततयाऽवसेयं, न त्वागमरूपं, तस्य प्रमाणग्रहणेन गृहीष्यमाणत्वादिति ।

५/९७ 'पमाणे' ति प्रमीयते येनार्थस्तत्प्रमाणं प्रमितिर्वा प्रमाणं 'पच्चक्खे' ति अक्षं—जीवम् अक्षाणि वेन्द्रियाणि प्रति—गतं प्रत्यक्षम् । 'अणुमाणे' ति अनु—लिंगग्रहणसम्बन्धस्मरणादेः पञ्चान्मीयतेऽनेनेत्यनुमानम् 'ओवप्मे' ति उपमीयते—सदृशतया गृह्यते वस्त्वनयेत्युपमा सैव औपम्यम् 'आगमे' ति आगच्छति गुरुपारम्पर्येणेत्यागमः, एषां स्वरूपं शास्त्रलाघवार्थमतिदेशत आह—'जहे' त्यादि, एवं चैतत्स्वरूपं—द्विविधं प्रत्यक्ष-मिन्द्रियनोइन्द्रियभेदात् तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं पञ्चधा—श्रोत्रादीन्द्रियभेदात्, नोइन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिधा—अवध्यादिभेदादिति, त्रिविधमनुमानं—पूर्ववच्छेषवद्दृष्टसाधर्म्यवच्चेति। तत्र पूर्ववत् पूर्वोपलब्धासाधारणलक्षणान्मात्रादि प्रमातुः पुत्रादिपरिज्ञानम् । शेषवत् यत्कार्यादिलिंगात्परोक्षार्थज्ञानं यथा मयूरोऽत्र केकायितादिति, दृष्टसाधर्म्यवत् यथैकस्य कार्षापणादेर्दर्शनादन्येऽप्येवंविधा एवेति प्रतिपत्तिरित्यादि औपम्यं यथा गौर्गवयस्तथेत्यादि, आगमस्तु द्विधा—लौकिकलोकोत्तरभेदात्, त्रिधा वा सूत्रार्थोभयभेदात्, अन्यथा वा त्रिधा—आत्मागमानन्तरागमपरम्परागमभेदात्, तत्रात्मागमादयोऽर्थतः क्रमेण जिनगणधरतच्छिष्यापेक्षया द्रष्टव्याः, सूत्रतस्तु गणधरतच्छिष्य-प्रशिष्यापेक्षयेति । एतस्य प्रकरणस्य सीमा कुर्वन्नाह—'जावे' त्यादि 'तेण परं' ति गणधरशिष्याणां सूत्रतोऽनन्तरागमोऽर्थतस्तु परम्परागमः ततः परं प्रशिष्याणामित्यर्थः ।

केवलीतरप्रस्ताव एवेदमपरमाह—

५/९८ 'केवली ण' मित्यादि चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते, चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये जीवप्रदेशेभ्यः परिशटतीति ।

५/१०० 'पणीय' ति प्रणीतं शुभतया प्रकृष्टं 'धरेज्ज' ति धारयेद् व्यापारयेदित्यर्थः ।

५/१०२ 'एवं अणंतरे' त्यादि, अस्यायमर्थः यथा वैमानिका द्विविधा उक्ताः मायिमिध्यादृष्टीनां च ज्ञाननिषेधः एवममायिसम्यादृष्ट-योऽनन्तरोपपन्नपरम्परोपपन्नकभेदेन द्विधा वाच्याः अनन्तरोप-पन्नकानां च ज्ञाननिषेधः तथा परम्परोपपन्नका अपि

पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा वाच्याः अपर्याप्तकानां च ज्ञाननिषेधः, तथा पर्याप्तको उपयुक्तानुपयुक्तभेदेन द्विधा वाच्याः अनुपयुक्तानां च ज्ञाननिषेधश्चेति ।

वाचानान्तरे त्वदं सूत्रं साक्षादेवोपलभ्यते इति ।

५/१०३ 'आलावं व' ति सकृज्जल्पं 'संलावं' व ति मुहुर्मुहुर्जल्पं मानसिकमेवेति ।

५/१०६ 'लद्धाओ' ति तदवधेर्विषयभावं गताः 'पत्ताओ' ति तदवधिना सामान्यतः प्राप्ताः परिच्छिन्ना, इत्यर्थः 'अभिसमण्णागयाओ' ति विशेषतः परिच्छिन्नाः यतस्तेषामवधिज्ञानं संभिन्न-लोकनाडीविषयं, यच्च लोकनाडीग्राहकं तन्मनोवर्गणाग्राहकं भवत्येव यतो योऽपि लोकसंख्येयभागविषयोऽवधिः सोऽपि मनोद्रव्यग्राही यः पुनः संभिन्नलोकनाडीविषयोऽसौ कथं न मनोद्रव्यग्राही भविष्यति? इष्यते च लोकसंख्येयभागा-वधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वं यदाह—'संखेज्ज मणोदव्वे भागो लोगपलियस्स बोद्धव्वो' ति ।

अनुत्तरसुराधिकारादिदमाह—

५/१०७ 'अमुत्तरे' त्यादि 'उदिण्णमोह' ति उत्कटवेगमोहनीयाः 'उवसंतमोह' ति अनुत्कटवेदमोहनीयाः, परिचरणायाः कथंचिदप्यभावात्, न तु सर्वथोपशान्तमोहाः उपशमश्रेणस्ते-षामभावात् 'नो खीणमोह' ति क्षपकश्रेण्या अभावादिति । पूर्वतनसूत्रे केवल्याधिकारादिदमाह—

५/१०८ 'केवली' त्यादि 'आयाणोहिं' ति 'आदीयते—गृह्यतेऽर्थः एभिरित्यादानानि—इन्द्रियाणि तैर्न जानाति 'केवलित्वात् ।

५/११० 'अस्सि समर्थसि' ति अस्मिन् वर्तमाने समये 'ओगाहिताणं' ति अवगाह्य आक्रम्य 'सेयकालंसिवि' ति एष्यत्कालेऽपि

५/१११ 'वीरियसजोगसद्वव्याए' ति वीर्यं—वीर्यन्तरायक्षयप्रभवा शक्तिः तत्प्रधानं सयोगं—मानसादिव्यापारयुक्तं यत्सद्—विद्यमानं द्रव्यं—जीवद्रव्यं तत्तथा, वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान्विना चलनं न स्यादिति सयोगशब्देन सदद्रव्य विशेषितं, सदिति विशेषणं च तस्य सदा सत्तावधारणार्थं अथवा स्व—आत्मा तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यं ततः कर्मधारयः अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो—योगवान् वीर्यसयोगः, स चासौ सदद्रव्यश्च—मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्द्रव्यस्तस्य भावस्तथा तथा हेतुभूतया 'चलाई' ति अस्थिराणि 'उवकरणाई' ति अंगानि 'चलोवगरणद्वयाए' ति चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणार्थता तथा, चशब्दः पुनरर्थः । केवल्यधिकारात् श्रुतकेवलिनमधिकृत्याह—

५/११२ 'घडाओ घडसहस्सं' ति घटादवधेर्घटं निश्रां कृत्वा घटसहस्रं

‘अभिनिव्वट्टिता’ इति योगः ‘अभिनिव्वट्टिता’ अभिनिर्वर्त्य विधाय श्रुतसमुत्थलब्धिविशेषेणोपदर्शयितुं प्रभुरितिप्रश्नः।

५/११३ ‘उक्कारियाभेएणं’ ति इहं पुद्गलानां भेदः पञ्चधा भवति, खण्डादिभेदात्, तत्र खण्डभेदः खण्डशो यो भवति लोष्टादेरिव प्रतरभेदोऽभ्रपटलानामिव चूर्णिकाभेदस्तिलादिचूर्णवत् अनुतटिकाभेदोऽवटतटभेदवत् उत्कारिकाभेद एरण्डबीजानामिवेति, उत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि ‘लद्धाई’ ति लब्धिविशेषाद्ग्रहणविषयतां गतानि ‘पत्ताई’ ति तत एव गृहीतानि ‘अभिसमण्णागयाई’ ति घटादिरूपेण परिणमयितुमारब्धानि, ततस्तैर्घटसहस्रादि निर्वर्तयति, आहारकशरीरवत्, निर्वर्त्य च दर्शयति जनानाम्, इह चोत्कारिकाभेदग्रहणं तद्भिन्नानामेव द्रव्याणां विवक्षितघटादिनिष्पादनसामर्थ्यमस्ति, नान्येषामितिकृत्वेति॥

॥ पंचमशते चतुर्थोद्देशकः ॥

ग्रन्थाग्र परिमाण ५०००

पञ्चम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके चतुर्दशपूर्वविदो महानुभावतोक्ता, स च महानुभावत्वादेव छद्मस्थाऽपि सेत्स्यतीति कस्याप्याशंका स्यादतस्तदपनोदाय पंचमोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—

५/११५ ‘छउमत्थे ण’ मित्यादि ‘जह पढमसए’ इत्यादि, तत्र च छद्मस्थः आधोऽवधिकः परमाधोऽवधिकश्च केवलेन संयमादिना न सिद्धयतीत्याद्यर्थपरं तावन्नेयं यावदुत्पन्नज्ञानादिधर केवली अलमस्त्विति वक्तव्यं स्यादिति, यच्चेदं पूर्वाधीतमपीहाधीतं तत्सम्बन्धविशेषात्, स पुनरुद्देशकपातनायामुक्त एवेति॥

स्वयुथिकवक्तव्यताऽनन्तरमन्ययुथिकवक्तव्यतासूत्रम्—तत्र च

५/११६ ‘एवंभूयं वेयणं’ ति यथाविधं कर्म निबद्धं एवंभूतामेवंप्रकारतयोत्पन्नां ‘वेदनाम्’ असात्तादिकर्मोदयं ‘वेदयन्ति’ अनुभवन्ति, मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवं—न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मानुभूयते आयुः-कर्मणा-व्यभिचारात्, तथाहि—दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुः—कर्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति, कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजन-प्रसिद्धः स्यात्? कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षणामप्येकदैव मृत्युरुपपद्येतेति?

५/११७ ‘अणेवंभूर्यपि’ ति यथा बद्धं कर्म नैवंभूता अनेवंभूता अतस्तां श्रूयन्ते ह्यागमे कर्मणः स्थितिघातरसघातादय इति।

५/१२१ ‘एवं जाव वेमाणिया ।

५/१२२ ‘संसारमंडलं नेयव्वं’ ति एवम् उक्तक्रमेण वैमानिकावसानं संसारजीवचक्रवालं नेतव्यमित्यर्थः, अथ चेह स्थाने वाचनान्तरे कुलकरतीर्थकरादिवक्तव्यता दृश्यते, ततश्च संसारमण्डलशब्देन पारिभाषिकसंज्ञया सेह सूचितेति संभाव्यत इति।

॥ पंचमशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके जीवानां कर्मवेदनोक्ता, षष्ठे तु कर्मण एव बन्धनिबन्धनविशेषमाह, तस्य चादिसूत्रमिदम्—

५/१२४ ‘कहणं’ मित्यादि ‘अप्पाउयत्ताए’ ति अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कस्तस्य भावस्तत्ता तस्यै अल्पायुष्कतायै अल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः अल्पायुष्कतया वा ‘कर्म’ आयुष्कलक्षणं ‘प्रकुर्वन्ति’ बध्न्ति? ‘पाणे अइवाएत्’ ति प्राणान् जीवान् अतिपात्य विनाश्य ‘मुसं वइत्त’ ति मृषावादमुक्त्वा ‘तहाराव्वं’ ति तथाविधस्वभावं भक्तिदानोचितपात्रमित्यर्थः ‘समणं व’ ति श्राम्यते—तपस्यतीति श्रमणोऽतस्तं ‘माहणं व’ ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति, स्वयं हनननिवृत्तः सन्नसौ माहनः ब्रह्म वा ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वाऽस्यास्तीति ब्राह्मणोऽतस्तं वा शब्दौ समुच्चये ‘अफासुएणं’ ति न प्रगता असवः—असुमन्तो यस्मात्तदप्रासुकं सजीवमित्यर्थः। ‘अणेसणिज्जेणं’ ति एष्यत इत्येषणीयं—कल्प्यं तन्निषेधादनेषणीयं तेन, अशनादिना प्रसिद्धेन ‘पडिलाभेत’ ति प्रतिलभ्य लाभवन्तं कृत्वा, अथ निगमयन्नाह—‘एव’ मित्यादि ‘एवम्, उक्तलक्षणेन क्रियात्रयेणेति, अयमत्र भावार्थः—अध्यवसायविशेषादेतत्त्रयं जघन्यायुः फलं भवति। अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कंचन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति—नूनमनेन भवान्तरे किंचिदशुभं प्राणिघातादि चासेवितमकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत्त इति, अन्ये त्वाहुः—यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्याद्यारम्भेण स्वभाण्डासत्योत्कर्षणादिनाऽऽधकर्मोदिकरणेन च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादिविरतिरिवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षेयमल्पायुष्कताऽवसेया। अथ नैवं निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य अल्पायुष्कत्वस्य च क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतो युज्यमानत्वाद् अतः कथमभिधीयते सविशेषणप्राणातिपातादिवर्ती जीव आपेक्षिकी

चाल्पायुष्कता इति? उच्यते, अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यं, यत इतस्तृतीयसूत्रे प्राणातिपातादित एवाशुभदीर्घायुष्कता वक्ष्यति, न हि सामान्यहेतौ कार्यवैषम्यं युज्यते, सर्वत्रानाश्वासप्रसंगात्, तथा 'समणो-वासयस्स' णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेषणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! बहुतरिया निज्जरा कज्जइ अप्पतरे से पावे कम्मे कज्जइ' ति वक्ष्यमाणवचनादवसीयते—नैवेयं क्षुल्लकभवग्रहणरूपाऽल्पायुष्कता, न हि स्वल्पपापबहु-निर्जरानिबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्ता संभाव्यते, जिनपूजाघनुष्ठानस्यापि तथाप्रसंगात्, नन्वेवं धर्माथं प्राणातिपातमृषावादाप्रासुकदानं च कर्तव्यमापन्नमिति। अत्रोच्यते आपद्यतां नाम भूमिकापेक्षया को दोषः? यतो यतिधर्माशक्तस्य गृहस्थस्य द्रव्यस्तवद्वारेण प्राणातिपातादिकमुक्तमेव प्रवचने दानाधिकारे श्रूयते—द्विविधाः श्रमणोपासकाः—संविग्नभाविता लुब्धकदृष्टान्तभाविताश्च भवन्ति। यथोक्तम्—

“संविग्नभाविद्याणं लोब्धयदिद्वंभविद्याणं च ।

मोचूण खेतकाले भावं च कर्हिंति सुद्धं ॥”

तत्र लुब्धकदृष्टान्तभाविता आगमार्थानभिज्ञत्वाद्यथकथ-चिददति संविग्नभावितास्त्वागमज्ञत्वात्साधुसंयमबाधा-परिहारित्वात्तदुपष्टंभकत्वाच्चौ-चित्येन, आगमश्चैवम्—

“संथरणंमि असुद्धं दोणह्वि गेणहंतदितयाणऽहियं।

आउरदिद्वंतेणं तं चेव हियं असंथरणे ॥”

तथा—“नायामयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दक्खण” मित्यादि, अथवेहाप्रासुकदानमल्पायुष्कतायां मुख्यं कारणं, इतरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं, प्राणातिपातन-मृषावादनयोर्दानविशेषणत्वात्, तथाहि—प्राणानतिपात्याधा-कर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा यथा भोः साधो! स्वार्थमिदं सिद्धं भक्तादि कल्पनीयं वातो नानेषणीयमिति शंका कार्येति, ततः प्रतिलभ्य तथा कर्म कुर्वन्तीति प्रक्रम इति गंधीरार्थं चेदं सूत्रमतोऽन्यथाऽपि यथाऽऽगमं भावनीयमिति।।

अथ दीर्घायुष्कताकारणान्याह—

५/१२५ 'कहण्ण' मित्यादि भवति हि जीवदयादिमतो दीर्घमायुर्यतोऽत्रापि तथैव भवन्ति दीर्घायुषं दृष्ट्वा वक्तारो—जीवदयादि पूर्वं कृतमनेन तेनायं दीर्घायुः संवृतः, तथा सिद्धमेव वधादिविर-तेर्दीर्घमायुस्तस्य देवगतिहेतुत्वात्, आह च—

“अणुव्वयमहव्वएहि थ बालतवोऽकामनिज्जराए थ ।

देवाउयं निबंधइ सम्पद्दिट्ठो य जो जीवो ॥”

देवगतौ च विवक्षया दीर्घमेवायुः दानं चाश्रित्येहैव वक्ष्यति 'समणोवासयस्स णं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जं असण-पाण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगंतंसो निज्जरा कज्जइ “त्ति यच्च निर्जरकारणं तद्विशिष्टदीर्घायुः कारणतया न विरुद्धं महाव्रतवदिति, व्याख्यानान्तरमपि पूर्ववदेवेति।

अथायुष एव दीर्घस्य सूत्रद्वयेनाशुभशुभत्वकारणान्याह—

५/१२६ 'कहण्ण' मित्यादि प्राग्वन्नवरं श्रमणादिकं हीलनादिकरणतः प्रतिलभ्येत्यक्षरघटना, तत्र हीलनं—जात्याद्युद्धइततः कुत्सा निन्दनं—मनसा खिंसनं—जनसमक्षं गर्हणं—तत्समक्षम् अपमाननम्—अनभ्युत्थानादिकरणम् अन्यतरेण बहूनामेकतमेन, अमनोज्ञेन स्वरूपतोऽशोभनेन कदन्नादिना, अत एवा-प्रीतिकारकेण, भक्तिमतस्त्वमनोज्ञमपि मनोज्ञमेव मनोज्ञ-फलत्वात्। इह च सूत्रेऽशनादि प्रासुकाप्रासुकादिना न विशेषितं, हीलनादिकर्तुः प्रासुकादिविशेषणस्य दानस्य फलविशेषं प्रत्यकारणत्वेन मत्सरजनितहीलनादिविशेषणानामेव च प्रधानतया तत्कारणत्वेन विवक्षणात्। वाचनान्तरे तु 'अफासुएणं अणेषणिज्जेणं' ति दृश्यते तत्र च प्रासुकादानमपि हीलनादि-विशेषितमशुभदीर्घायुःकारणम् अप्रासुकदानं तु विशेषत इत्युपदर्शयता 'अफासुएणं' इत्याद्युक्तमिति। प्राणातिपात-मृषावादनयोर्दानविशेषणपक्षव्याख्यानमपि घटत एव अवज्ञादानेऽपि प्राणातिपातादेर्दृश्यमानत्वादिति, भवति च प्राणातिपातादेरशुभदीर्घायुः तेषां नरकगतिहेतुत्वात्, यदाह—

“भिच्छद्दिट्ठिमहारंभपरिगगहो तिब्बलोभ निस्सीलो।

निरयाउयं निबंधइ पावमई रोहपरिणामो ॥”

नरकगतौ च विवक्षया दीर्घमेवायुः।

५/१२७ विपर्ययसूत्रं प्रागिव, नवरं इहापि प्रासुकाप्रासुकतया दानं न विशेषितं, पूर्वसूत्रविपर्ययत्वाद् अस्य पूर्वसूत्रस्य चाविशेषणतया प्रवृत्तत्वात्, न च प्रासुकाप्रासुकदानयोः फलं प्रति न विशेषोऽस्ति। पूर्वसूत्रयोस्तस्य प्रतिपादितत्वात्, तस्मा-दिह प्रासुकैषणीयस्य दानस्य कल्प्याप्राप्ताविरतस्य^१ चेदं फलमवसेयम्। वाचनान्तरे तु 'फासुएणं' मित्यादि दृश्यत एवेति, इह च प्रथममल्पायुःसूत्रं द्वितीयं तद्विपक्षस्तृतीय-मशुभदीर्घायुः सूत्रं चतुर्थं तु तद्विपक्ष इति।

अनन्तरं कर्मबन्धक्रियोक्ता, अथ क्रियान्तराणां विषय-निरूपणायाह—

१. अ स. प्रतौ 'कल्प्याप्राप्ताविरतस्य'

५/१२८ 'गाहावइस्से' त्यादि गृहपतिः—गृही 'मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ' इत्यादि, मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया स्यात्—कदाचित् क्रियते—भवति स्यान्नो क्रियते—कदाचिन्न भवति। यदा मिथ्यादृष्टिगृहपतिस्तदाऽसौ भवति, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदा न भवतीत्यर्थः ।

अथ क्रियास्वेव विशेषमाह—'अहे' त्यादि 'अथे' ति पक्षान्तरद्योतनार्थः 'से भंडे' ति तद्भाण्डं 'अभिसमण्णागए' ति गवेषयता लब्धं भवति 'तओ' ति समन्वागमनात् 'से' ति तस्य गृहपतेः 'पश्चात्' समन्वागमानन्तरमेव 'सव्वाओ' ति यासां संभवोऽस्ति ता आरंभिक्यादिक्रियाः 'पयणुई भवंति' ति प्रतनुकी भवन्ति हस्वी भवन्ति अपहृतभाण्डगवेषणकाले हि महत्यस्ता आसन् प्रयत्नविशेषपरत्वाद्गृहपतेस्तत्लाभकाले तु प्रयत्नविशेषस्योपरतत्वात्ता हस्वी भवन्तीति।

५/१२९ 'कइए भंडं साइज्जेज्ज' ति क्रयिको—ग्राहको भाण्डं स्वादयेत् सत्यंकारदानतः स्वीकुर्यात् 'अणुवणीए सिया' ति क्रयिकाय असमर्पित्वात् 'कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवंति' ति अप्राप्तभाण्डत्वेन तद्गतक्रियाणामल्पत्वादिति, गृहपतेस्तु महत्यो, भाण्डस्य तदीयत्वात्।

५/१३० क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यास्ताः, गृहपतेस्तु प्रतनुकाः। इदं भाण्डस्यानुपनीतोपनीतभेदात् सूत्रद्वयमुक्तम्। एवं धनस्यापि वाच्यं, तत्र प्रथमेवम्

५/१३१ 'गाहावइस्स णं भंते! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा? धणे य से अणुवणीए सिया, कइयस्स णं भंते! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ? ? गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ? गोयमा! कइयस्स ताओ धणाओ हेड्डिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए, गाहावतिस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवंति, धनेऽनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ता भवन्ति, धनस्य तदीयत्वात्, गृहपतेस्तु तास्तनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात्। एवं द्वितीयसूत्रसमामिदं तृतीयमत एवाह—'एयंपि जहा भंडे उवणीए तहा णेयव्वं' ति द्वितीयसूत्रसमतयेत्यर्थः। चतुर्थं त्वेवमध्येयम्—

५/१३२ 'गाहावइस्स णं भंते! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया, गाहावइस्स णं भंते! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ.....? कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? गोयमा! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरंभिया..... मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ, कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुई भवंति' धने उपनीते

धनप्रत्ययत्वात्तासां गृहपतेर्महत्यः, क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः धनस्य तदानीमतदीयत्वात् एवं च प्रथमसूत्रसमामिदं चतुर्थमित्येतदनुसारेण च सूत्रपुस्तकाक्षराण्यनुगन्तव्यानि। क्रियाऽधिकारादिदमाह—

५/१३३ 'अगणी' त्यादि 'अहुणोज्जलिए' ति अधुनोज्जवलितः सद्यः प्रदीप्तः 'महाकम्मतराए' ति विध्यायमानानलापेक्षयाऽतिशयेन महन्ति कर्माणि—ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः, एवमन्यान्यपि, नवरं क्रिया—दाहरूपा आश्रवो—नवकर्मोपादनहेतुः वेदना—पीडा भाविनि तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसंबाधदन्त्या वा 'वोक्कसिज्जमाणे' ति व्यव-कृष्यमाणः अपकर्षं गच्छन् 'अप्पकम्मतराए' ति अंगाराद्य-वस्थामाश्रित्य, अल्पशब्दः स्तोकार्थः (क्षारावस्थायां त्वभावात्:))।

क्रियाऽधिकारादेवेदमाह—

५/१३४ 'पुरिसे ण' मित्यादि 'परामुसइ' ति परामृशति गृहणाति 'आययकण्णाययं' ति आयतः—क्षेपाय प्रसारितः कर्णायतः—कर्णं यावदाकृष्टस्ततः कर्मधारयाद् आयतकर्णायतः अतस्तं इधुं—बाणम् 'उड्डं वेहासं' ति ऊर्ध्वमिति वृक्षशिखराद्यपेक्ष-याऽपि स्यादत आह—विहायसि

इत्याकाशे 'उव्विहइ' ति ऊर्ध्वं विजहाति ऊर्ध्वं क्षिपतीत्यर्थः, 'अभिहणइ' ति अभिमुखमागच्छतो हन्ति 'वत्तेइ' ति वर्तुलीकरोति शरीरसंकोचापादनात् 'लेसेइ' ति श्लेषयति आत्मनि श्लिष्टान् करोति। 'संघाएइ' ति अन्योऽन्यं गात्रैः संहतान् करोति 'संघट्टेइ' ति मनाक् स्पृशति 'परितावेइ' ति समन्ततः पीडयति 'किलामेइ' ति मारणान्तिकादिसमुद्घातं नयति। 'ठाणाओ ठाणं संकामेइ' स्वस्थानात्स्थानान्तरं नयति। 'जीवियाओ ववरोवेइ' ति च्युतजीवितान् करोतीति 'किरियाहिं पुट्टे' ति क्रियाभिः स्पृष्टः क्रियाजन्येन कर्मणा बद्ध इत्यर्थः 'धणु' ति धनुः—दण्डगुणादिसमुदायः, ननु पुरुषस्य पंच क्रिया भवन्तु, कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात् धनुरादिनिर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्चक्रियाः? कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात्, अचेतनकाय-मात्रादपि बन्धाभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसंगः तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोके विपरिवर्तमानत्वात्। किंच-यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्मबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानामेवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्य-कर्मनिबन्धनानि स्युः न्यायस्य समानत्वाद् इति। अत्रोच्यते अविरतिपरिणामाद् बन्धः, अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपीति सिद्धानां तु नास्त्यसाविति

न बन्धः। पात्रादिजीवानां च न पुण्यबन्धहेतुत्वात्, तद्देहोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति, किञ्च-सर्वज्ञवचन-प्रामाण्याद्यथोक्तं तत्तथा श्रद्धेयमेवेति इष्टुरिति—शरपत्र-फलादिसमुदायः।

५/१३५ 'अहे णं से उसू' इत्यादि, इह धनुष्मदादीनां यद्यपि सर्वाक्रियासु कर्थाच्चिन्निमित्तभावोऽस्ति तथाऽपि विवक्षितबन्धं प्रत्य-मुख्यप्रवृत्तिकतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः कृतत्वेनाविवक्षणा-च्छेषक्रियाणां च निमित्तभावमात्रेणापि तत्कृत्वेन विवक्षणा-च्चतस्रस्ता उक्ताः। बाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद् वधक्रियायां प्रवृत्तत्वात्पंचेति। अथ सम्यक्प्ररूपणाधिकारान्मिथ्याप्ररूपणा-निरासपूर्वकं सम्यक्प्ररूपणामेव दर्शयन्नाह—

५/१३६ 'अण्णउत्थिए' त्यादि 'बहुसमाङ्गणे' ति अत्यन्तमाकीर्ण मिथ्यात्वं च तद्वचनस्य विभंगज्ञानपूर्वकत्वादवसेयमिति। 'नेरइएहिं' इत्युक्तमतो नारकवक्तव्यतासूत्रम्—

५/१३८ 'एगत्तं' ति एकत्वं प्रहरणानां 'पुहुत्तं' ति पृथक्त्वं बहुत्वं प्रहरणानामेव 'जहा जीवाभिगमे' इत्यादि, आलापकश्चैवम्—'गोयमा! एगत्तं प्हू विउच्चित्तए पुहुत्तं प्हू विउच्चित्तए एगत्तं विउच्चिमाणा एगं महं मोग्गररूवं वा मुसुंढिरूवं वा' इत्यादि। 'पुहुत्तं विउच्चिमाणा मोग्गररूवाणि वा' इत्यादि, ताइं संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं एवं संबद्धाइं नो असंबद्धाइं सरिसाइं नो असरिसाइं विउच्चित्तं विउच्चित्ता अण्णमण्णस्स कायं अभिहण्णमाणा अभिहण्णमाणा वेयणं उदीरंति उज्जलं विउत्तं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुसं निदुरं चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियासं, 'ति तत्र उज्जवलां विपक्षलेशेनाप्यकलंकितां विपुलां शरीरव्यापिकां, प्रगाढां, प्रकर्षवतीं, कक्कशां कक्कशद्रव्योपमामनिष्ठामित्यर्थः एवं कटुकां परुषां निष्ठुरां चेति, चण्डां रौद्रां तीव्रां झगिति शरीरव्यापिकां दुःखां असुख-रूपां, दुर्गां दुःखाश्रयणीयाम्, अतएव दुरधिसह्यामिति।

इयं च वेदना ज्ञानाद्याराधनाविराधनाविरहेण भवतीत्याराधनाऽभावं दर्शयितुमाह—

५/१३९-१४० 'आहाकम्मे' त्यादि 'अणवज्जे' ति अनवद्यमिति 'निर्दोषमिति 'मणं पहारेत्' ति मानसं 'प्रधारयिता' स्थापयिता भवति 'रइयं' ति मोदकचूर्णादि पुनर्मोदकादितया रचितमौदेशिकभेदरूपम्। 'कंतारभत्तं' ति कान्तारम्—अरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं भक्तं तत्कान्तारभक्तम् एवमन्यान्पि नवरं वार्दलिका—मेघदुर्दिनं, 'गिलाणभत्तं' ति ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत्कृतं भक्तं तद् ग्लानभक्तम्

५/१४१-१४६ आधाकर्मादीनां सदोषत्वेनागमेऽभिहितानां निर्दोषताकल्पनं,

तत एवं स्वयं भोजनमन्यसाधुभ्योऽनुप्रदानं सभायां निर्दोषताभणनं च विपरीतश्रद्धानादिरूपत्वान्मिथ्यात्वादि, ततश्च ज्ञानादीनां विराधना स्फुटैवेति।

आधाकर्मादीश्च पदार्थानाचार्यादयः सभायां प्रायः प्रज्ञापयन्तीत्याचार्यादीन् फलतो दर्शयन्नाह—

५/१४७ 'आथरिये' त्यादि 'आथरियउवज्जाए णं' ति आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्यायः 'सविसयंसि' ति स्वविषये अर्थदानसूत्र-दानलक्षणे 'गणं' ति शिष्यवर्गं 'अगिलाए' ति अखेदेन संगृहणन् 'उपगृहणन्' उपगृह्यन्, द्वितीयः तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवान्तरितो दृश्यः। चारित्रवतोऽनन्तरो देवभव एव भवति न च तत्र सिद्धिरस्तीति।

परानुग्रहस्यानन्तरफलमुक्तम् अथ परोपघातस्य तदाह—

५/१४८ 'जे ण' मित्यादि 'अलिएणं' ति अलीकेन भूतनिह्ववरूपेण पालितब्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालित-मित्यादिरूपेण। 'असम्भूएणं' ति अभूतोद्भावनरूपेण अचौरैऽपि चौरौऽयमित्यादिना, अथवा अलीकेन असत्येन, तच्च द्रव्यतोऽपि भवति लुब्धकादिना मृगादीन् पृष्टस्य जानतोऽपि नाहं जानामीत्यादि। अत एवाह 'असद्भूतेन दुष्टाभिसन्धित्वाद्-शोभनरूपेण अचौरैऽपि चौरौऽयमित्यादिना 'अब्भक्खाणेणं' ति आभिमुख्येनाख्यानं—दोषाविक्रणमभ्याख्यानं तेन 'अभ्याख्याति' ब्रूते 'कहप्पगार' ति कथं प्रकाराणि किं प्रकाराणीत्यर्थः 'तहप्पगार' ति अभ्याख्यानफलानीत्यर्थः 'जत्थेव णं' मित्यादि यत्रैव मानुषत्वादौ 'अभिसमागच्छति' उत्पद्यते तत्रैव प्रतिसंवेदयत्यभ्याख्यानफलं कर्म ततः पश्चाद् वेदयति—निर्जरयतीत्यर्थः॥

॥ पंचमशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

षष्ठोद्देशकान्त्यसूत्रे कर्मपुद्गलनिर्जरोक्ता, निर्जरा च चलनमिति सप्तमे पुद्गलचलनमधिकृत्येदमाह—

५/१५० 'परमाणु' इत्यादि, 'सिय एयइ' ति कदाचिदेजते, कादाचित्क-त्वात्सर्वपुद्गलेष्वेजनादिधर्माणाम्।

५/१५१ द्विप्रदेशिके त्रयो विकल्पाः—स्यादेजनं स्यादनेजनं स्याद्देशेनैजनं देशेनानेजनं चेति, द्वयंशत्वात्तस्येति।

५/१५२ त्रिप्रदेशिके पञ्च—आद्यास्त्रयस्त एव द्वयणुकस्यापि तदीयस्यैकस्याशंस्य तथाविधपरिणामैकदेशतया विवक्षितत्वात्, तथा देशस्यैजनं देशयोश्चानेजनमिति चतुर्थः तथा

देशयोरेजनं देशस्य चानेजनमिति पञ्चमः।

५/१५३ एवं चतुःप्रदेशिकेऽपि नवरं षट्, तत्र षष्ठो देशयोरेजनं देशयोरेव चानेजनमिति।

पुद्गलाधिकारादेवेदं सूत्रवृन्दम्—

५/१५४, १५५ 'परमाणु' इत्यादि 'ओगाहेज्ज' ति अवगाहेत आश्रयेत, छिद्येत द्विधाभावं यायात्, भिद्येत विदारणभावमात्रं यायात् 'नो खलु तस्य सत्त्वं कमइ' ति परमाणुत्वादन्वया परमाणुत्वमेव न स्यादिति।

५/१५६ 'अत्येगइए छिज्जेज्ज' ति तथाविधबादरपरिणामत्वात् 'अत्येगइए णो छिज्जेज्ज' ति सूक्ष्मपरिणामत्वात्।

५/१५७ 'उल्ले सिय' ति आर्द्रो भवेत् 'विणिहायमावज्जेज्ज' ति प्रतिस्खलनमापद्येत 'परियावज्जेज्ज' पर्यापद्येत विनश्येत्।

५/१६१ 'दुपएसिए' इत्यादि यस्य स्कन्धस्य समाः प्रदेशाः सः सार्द्धो यस्य तु विषमाः सः समध्यः संख्येयप्रदेशिकादिस्तु स्कन्धः समप्रदेशिकः इतरश्च यत्र यः समप्रदेशिकः स सार्द्धोऽमध्यः इतरस्तु विपरीत इति।

५/१६५ 'परमाणुपोग्गले णं भन्ते! इत्यादि 'किं देसेणं देस' मित्यादयो नव विकल्पाः, तत्र देशेन स्वकीयेन देशं तदीयं स्पृशति देशेनेत्यनेन देशं देशान् सर्वमित्येवं शब्दत्रयपरेण त्रयः, एवं देशैरित्यनेन ३ सर्वेणेत्यनेन च त्रय एवेति ३ स्थापना—

	देशेन	देशैः	सर्वेण
१.	देशं	देशं	देशं
२.	देशान्	देशान्	देशान्
३.	सर्वं	सर्वं	सर्वं

अत्र च सर्वेण सर्वमित्येक एव घटते, परमाणोर्निरंशत्वेन शेषाणामसंभवात्, ननु यदि सर्वेण सर्वं स्पृशतीत्युच्यते तदा परमाण्वोरेकत्वापत्तेः कथमपरापरपरमाणुयोगेन घटादिस्कन्धनिष्पत्तिः? इति अत्रोच्यते, सर्वेण सर्वं स्पृशतीति कोऽर्थः? स्वात्मना तावन्योऽन्यस्य लगतो, न पुनरर्द्धांशेन, अर्द्धादिदेशस्य तयोरेकत्वात् घटाद्यभावापत्तिस्तु तदैव प्रसज्येत यदा तयोरेकत्वापत्तिः, न च तयोः सा, स्वरूपभेदात्।

५/१६६ 'सत्तमनवमेहिं फुसइ' ति सर्वेण देशं सर्वेण सर्वमित्येताभ्यामित्यर्थः तत्र यदा द्विप्रदेशिकः प्रदेशद्वयावस्थितो भवति तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, परमाणोस्तद्देशस्यैव

विषयत्वात्, यदा तु द्विप्रदेशिकः परिणामसौक्ष्म्यादेकप्रदेशस्थो भवति तदा तं परमाणुः सर्वेण सर्वं स्पृशतीत्युच्यते 'निपच्छिमएहिं तिहिं फुसइ' ति त्रिप्रदेशिकमसौ स्पृशन्निभिरन्त्यैः स्पृशति, तत्र यदा त्रिप्रदेशिकः प्रदेशत्रयस्थितो भवति तदा तस्य परमाणुः सर्वेण देशं स्पृशति, परमाणोस्तद्देशस्यैव विषयत्वात्, यदा तु तस्यैकत्र प्रदेशे द्वौ प्रदेशौ अन्यत्रैकोऽवस्थितः स्यात्तदा एकप्रदेशस्थितपरमाणुद्वयस्य परमाणोः स्पृशविषयत्वेन सर्वेण देशौ स्पृशतीत्युच्यते। ननु द्विप्रदेशिकेऽपि युक्तोऽयं विकल्पस्तत्रापि प्रदेशद्वयस्य स्पृश्यमानत्वात्? नैवं यतस्तत्र द्विप्रदेशमात्र एवायवतीति कस्य देशौ स्पृशति? त्रिप्रदेशिके तु त्रयापेक्षया द्वयस्पर्शने एकाऽवशिष्यते ततश्च सर्वेण देशौ त्रिप्रदेशिकस्य स्पृशतीति व्यपदेशः साधुः स्यादिति, यदा त्वेकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वं स्पृशतीति स्यादिति।

५/१६७ 'दुपएसिए ण' मित्यादि 'ततियनवमेहिं फुसइ' ति यदा द्विप्रदेशिको द्विप्रदेशस्थस्तदा परमाणुं देशेन सर्वं स्पृशतीति तृतीयः, यदा त्वेकप्रदेशावगाढोऽसौ तदा सर्वेण सर्वमिति नवमः। 'दुपएसिओ दुपएसिय' मित्यादि, यदा द्विप्रदेशिकौ प्रत्येकं द्विप्रदेशावगाढौ तदा देशेन देशमिति प्रथमः, यदा त्वेक एकत्रान्यस्तु द्वयोस्तदा देशेन सर्वमिति तृतीयः, तथा सर्वेण देशमिति सप्तमः, नवमस्तु प्रतीत एवेति।

५/१६८ अनया दिशाऽन्येऽपि व्याख्येया इति।

पुद्गलाधिकारादेव पुद्गलानां द्रव्यक्षेत्रभावान् कालतश्चिन्तयति, तत्र—

५/१६९ 'परमाणु' इत्यादि द्रव्यचिन्ता 'उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं' ति असंख्येयकालात्परः पुद्गलानामेकरूपेण स्थित्यभावात्।

५/१७० 'एगपएसोगाढे ण' मित्यादि क्षेत्रचिन्ता 'सेए' ति सैजः सकम्पः 'तम्मि ठाणे' ति अधिकृत एव 'अण्णम्मि व' ति अधिकृतादन्यत्र 'उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं' ति पुद्गलानामाकस्मिकत्वाच्चलनस्य न निरेजत्वादीनामिवा-संख्येयकालत्वं 'असंखेज्जपएसोगाढे' ति अनन्तप्रदेशावगाढस्यासंभवादसंख्यातप्रदेशावगाढ इत्युक्तम्।

५/१७१ 'निरेए' ति निरेजः निष्प्रकम्पः।

५/१७५ 'परमाणुपोग्गलस्से' त्यादि परमाणोरपगते परमाणुत्वे यदपरमाणुत्वेन वर्तनमापरमाणुत्वपरिणतेः तदन्तरं—स्कन्धसम्बन्धकालः स चोत्कर्षतोऽसंख्यात इति।

५/१७६ द्विप्रदेशिकस्य तु शेषस्कन्धसंबन्धकालः परमाणुकाल-श्चान्तरकालः, स च तेषामनन्तत्वात् प्रत्येकं चोत्कर्षतो-

संख्येयस्थितिकत्वादनंतः।

५/१७७-१७८ तथा यो निरेजस्य कालः स सैजस्यान्तरमितिकृतत्वोक्तं सैजस्यान्तरमुत्कर्षतोऽसंख्यातकाल इति यस्तु सैजस्य कालः स निरेजस्यान्तरमितिकृतत्वोक्तं निरेजस्यान्तरमुत्कर्षत आवलिकाया असंख्यातो भाग इति। एकगुणकालकत्वादीनां चान्तरमेक-गुणकालकत्वादिकालसमानमेव, न पुनर्द्विगुणकालत्वादी-नामनन्तत्वेन तदन्तरस्थानन्तत्वं, वचनप्रामाण्यात् । सूक्ष्मादिपरिणतानां त्ववस्थानतुल्यमेवान्तरं, यतो यदेवै-कस्यावस्थानं तदेवान्यस्यान्तरं, तच्चासंख्येयकालमानमिति ।

५/१७९, १८० 'सद्दे' त्यादि तु सूत्रसिद्धम्

५/१८१ 'एयस्स णं भंते! दव्वट्ठाणाउयस्स' ति द्रव्यं—पुद्गलद्रव्यं तस्य स्थानं—भेदः परमाणुद्विप्रदेशिकादि तस्यायुः स्थितिः अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिभावेन यत्स्थानमवस्थानं तद्रूपमायुः द्रव्यस्थानायुस्तस्य 'खित्तट्ठाणाउयस्स' ति क्षेत्रस्य—आकाशस्य स्थानं—भेदः पुद्गलावगाहकृतस्तस्यायुः— स्थितिः अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशादौ स्थानं यत्पुद्गलानामवस्थानं तद्रूपमायुः क्षेत्रस्थानायुः एवमवगाहनास्थानायुः भावस्थानायुश्च, नवरमवगाहना—नियतपरिमाणक्षेत्रावगाहित्वं पुद्गलानां भावस्तु कालत्वादिः, ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः? उच्यते—

क्षेत्रमवगाहमेव^१ अवगाहना तु विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुद्गलानां तत्परिमाणवगाहित्वमिति। 'कयरे' इत्यादि कण्ठ्यं, एषां च परस्परेणाल्पबहुत्वव्याख्या गायानुसारेण कार्या, ताश्चेमाः—

१. "खेतोगाहणदव्वेभावट्ठाणाउ अम्पबहुयत्ते ।

थोवा असंखगुणिया तिनि य सेसा कहं णेया ॥

२. खेतामुत्तत्ताओ तेण समं बन्धपच्चवाभावा ।

तो योगलाण थोवो खेत्तावट्ठाणकालो उ ॥"

क्षेत्रस्यामूर्तत्वेन क्षेत्रेण सह पुद्गलानां विशिष्टबन्धप्रत्ययस्य — स्नेहादेरभावान्नैकत्र ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः, यस्मादेवं तत इत्यादि व्यक्तम्।

अथावगाहनायुर्बहुत्वं भाव्यते—

३. "अण्णक्खेतगयस्सवि तं चिय माणं चिरंपि संचरइ ।

ओगाहणनासे पुण खेतण्णत्तं फुडं होइ ॥"

इह पूर्वाद्धेन क्षेत्राद्धाया अधिका अवगाहनाद्धेत्युक्तम्, उत्तराद्धेन त्ववगाहनाद्धातो नाधिका क्षेत्राद्धेति। कथमेतदेवमित्युच्यते—

४. "ओगाहणावबद्धा खेतद्धा अक्कियावबद्धा य ।

न उ ओगाहणकालो खेतद्धामेत्त संबद्धो ॥"

अवगाहनायामगमनक्रियायां च नियता, क्षेत्राद्धा विवक्षितावगाह-नासद्भावे एवाक्रियासद्भाव एव च तस्या भावादुक्तव्यतिरेके चाभावात् अवगाहनाद्धा तु न क्षेत्रमात्रे नियता, क्षेत्राद्धाया अभावेऽपि तस्या भावादिति। अथ निगमनम्—

५. "जम्हा तत्थऽण्णत्थ य सच्चिय ओगाहणा भवे खेत्ते ।

तम्हा खेतद्धाओऽवगाहणद्धा असंखगुणा ॥"

अथ द्रव्यायुर्बहुत्वं भाव्यते—

६. "संकोयविकोएण व उवरमियाएऽवगाहणाएवि ।

तेत्तियमित्ताणं चिय चिरंपि दव्वाणऽवत्थाणं ॥"

संकोचेन विकोचेन चोपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति द्रव्याणि पूर्वमासंस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति, अनेनाव-गाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्तत इत्युक्तम्, अथ द्रव्य-निवृत्तिविशेषेऽवगाहना निवर्तत एवेत्युच्यते—

७. "संघायभेयओ वा दव्वोवरमे पुणाइ संखित्ते ।

नियमा तदव्वोगाहणाए नासो न संदेहो ॥"

संघातेन पुद्गलानां भेदेन वा तेषामेव यः संक्षिप्तः—स्तोकावगाहनः स्कन्धो न तु प्राक्तनावगाहनः तत्र यो द्रव्योपरमो—द्रव्यान्यथात्वं तत्र सति, न च संघातेन न संक्षिप्तः स्कन्धो भवति, तत्र सति सूक्ष्मतरत्वेनापि तत्परिणतेः श्रवणात्, नियमात्तेषां—द्रव्याणामवगाहनाया नाशो भवति, कस्मादेवमित्यत उच्यते—

८. "ओगाहद्धा दव्वे संकोयविकोयओ य अबबद्धा ।

न उ दव्वं संकोयणविकोयमित्तिम्ब संबद्धं ॥"

अवगाहनाद्धा द्रव्येऽवबद्धा—नियतत्वेन संबद्धा कथं? संकोचाद् विकोचाच्च, संकोचादि परिहृत्येत्यर्थः, अवगाहना हि द्रव्ये संकोचविकोचयोरभावे सति भवति तत्सद्भावे च न भवतीत्येवं द्रव्येऽवगाहनाऽनियतत्वेन संबद्धेत्युच्यते, द्रुमत्वे खदिरत्वमिवेति। उक्तविपर्ययमाह—न पुनर्द्रव्यं संकोचविकाचनमात्रे सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबद्धं, संकोचनविकोचाभ्यामवगाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्तत इत्यवगाहनायां तन्नियतत्वेनासंबद्धमित्युच्यते खदिरत्वे द्रुमत्वेवदिति ।

अथ निगमनम्—

१. "जम्हा तत्थऽण्णत्थ व दव्वं ओगाहण्णाए तं चेव।
दव्वब्धा संखगुणा तम्हा ओगाहणब्धाओ ॥"

अथ भावायुर्बहुत्वं भाव्यते

१०. "संघायभेवओ वा दव्वोवरमेऽवि पज्जवा संति।
तं कसिणगुणविरामे पुणाइ दव्वं न ओगाहो ॥"

संघातादिना द्रव्योपरमेऽपि पर्यवाः सन्ति, यथा घृष्टपटे शुक्लादिगुणाः सकलगुणोपरमे तु न तद्द्रव्यं न चावगाहनाऽनुवर्तते, अनेन पर्यवाणां चिरं स्थानं द्रव्यस्य त्वचिरमित्युक्तम्। अथ कस्मादेवमिति? उच्यते—

११. "संघायभेयबंधाणुवत्तिणी निच्चमेव दव्वब्धा।
न उ गुणकालो संघायभेयमित्तऽद्धसंबब्धो ॥"

संघातभेदलक्षणाभ्यां धर्माभ्यां यो बन्धः—सम्बन्धस्तदनुवर्तिनी— तदनुसारिणी, संघाताद्यभाव एव द्रव्याद्धायाः सद्भावत्तद्भावे चाभावात्, न पुनर्गुणकालः संघातभेदमात्रकालसम्बद्धः संघातादिभावेऽपि गुणानामनुवर्तनादिति। अथ निगमनम्—

१२. "जम्हा तत्थऽण्णत्थ य दव्वे खेत्तावगाहणासुं च।
ते चेव पज्जवा संति तो तदव्वं असंखगुणा ॥

१३. आह अणेगंतोऽयं दव्वोवरमे गुणाणऽवत्थाणं।
गुणविप्परिणामंमि य दव्वविसेसो यऽनेगंतो ॥

द्रव्यविशेषः द्रव्यपरिणामः—

१४. विप्परिणायंमि दव्वे कम्मि गुणपरिणई भवे जुगवं।
कम्मि वि पुण तदवत्थे होइ पुण गुणा परीणामी ॥

१५. भण्णति सच्चं किं पुण गुणबाहुल्ला न सव्वगुणनासो।
दव्वस्स तदण्णत्तेऽवि बहुतराणं गुणाण ठिई ॥"

अनन्तरमायुरुक्तम्, अथायुष्मत आरंभादिना चतुर्विंशतिदण्डकेन प्ररूपयन्नाह—

५/१८२ 'नेरइए' त्यादि

५/१८५ 'भंडमतोवगरण' ति इह भाण्डानि—मृन्मयभाजनानि, मात्राणि—
कांस्यभाजनानि, उपकरणानि—लोहीकडुच्छुकादीनि।

५/१८६ एकेन्द्रियाणां परिग्रहोऽप्रत्याख्यानादवसेयः।

५/१८७ 'बाहिरया भंडमतोवगरण' ति उपकारसाध्मर्याद्द्वीन्द्रियाणां
शरीररक्षार्थं तत्कृतगृहकादीन्यवसेयानि।

५/१८९ 'टंक' ति छिन्न टंका' 'कुड' ति कूटानि शिखराणि वा
हस्त्यादिबन्धनस्थानानि वा, 'सेल' ति मुण्डपर्वताः 'सिहर'
ति शिखरिणः—शिखरवन्तो गिरयः 'पब्भार' ति ईषदवनता

गिरिदेशाः 'लेण' ति उत्कीर्णपर्वतगृहं 'उज्झर' ति अवझरः—
पर्वततटादुदकस्याधःपतनं 'निज्झर' ति निज्झर—उदकस्य
श्रवणं 'चिल्लल' ति चिक्खलमिश्रोदको जलस्थानविशेषः
'पल्लल' ति प्रह्लादनशीलः स एव 'वप्पिण' ति केदारवान्
तटवान् वा देशः केदार एवेत्यन्ये, 'अगड' ति कूपः 'वावि'
ति वापी चतुरस्रो जलाशयविशेषः 'पुक्खरिणि' ति पुष्करिणी
वृतः स एव पुष्करवान् वा, 'दीहिय' ति सारण्यो 'गुंजालिय'
ति वक्रसारण्यः 'सर' ति सरांसि स्वयंसंभूतजलाशयविशेषः
'सरपंतियाओ' ति सरःपंक्तयः 'सरसरपंतियाओ' ति यासु
सरःपंक्तिषु एकस्मात्सरसोऽन्यस्मिन्नन्यस्मादन्यत्र एव
संचारकपाटकेनोदकं संचरति ताः सरः सरःपंक्तयः,
बिलपंक्तयः—प्रतीतः 'आराम' ति आरमन्ति येषु माधवी-
लतादिषु दम्पत्यादीनि ते आरामाः 'उज्जाण' ति उद्यानानि
पुष्पादिमद्वृक्षसंकुलानि उत्सवादी बहुजनभोग्यानि 'काणण'
ति काननानि सामान्यवृक्षसंयुक्तानि नगरसन्नानि 'वण' ति
वनानि नगरविप्रकृष्टानि 'वणसंडाई' ति वनषण्डाः—
एकजातीयवृक्षसमूहात्मकाः 'वणराइ' ति वनराज्यो—
वृक्षपंक्तयः 'खाइय' ति खातिकाः उपरिविस्तीर्णाधः
संकटखातरूपाः 'परिह' ति परिखाः अध-उपरि च
समखातरूपाः 'अट्टालग' ति प्राकारोपर्याश्रयविशेषः 'चरिय'
ति चरिका गृहप्राकारान्तरो हस्यत्यादिप्रचारमार्गः 'दार' ति
द्वारं 'खड्दविका' 'गोडर' ति गोपुरं नगरप्रतोली 'पासाय'
ति प्रासादा देवानां राज्ञां च भवनानि, अथवा उत्सेधबहुलाः—
प्रासादाः 'घर' ति गृहाणि सामान्यजनानां सामान्यानि वा
'सरण' ति शरणानि तृणमयावसरिकादीनि 'आवण' ति
आपणा हट्टाः शृंगाटक स्थापना—△त्रिक स्थापना—┘
चतुष्क स्थापना—□ + चत्वरं स्थापना*।

चतुर्मुखं—चतुर्मुखदेवकुलकादि 'महापह' ति राजमार्गः 'सगडे'
त्यादि प्राग्वत्, 'लोहि' ति लौहि मण्डकादिपचनिका
'लोहकडाहि' ति कवेल्ली 'कुडुच्छुय' ति परिवेषणाद्यर्थो
भाजनविशेषः 'भवण' ति भवनपतिनिवासः।

एते च नारकादयश्छद्मस्थत्वेन हेतुव्यवहारिकत्वाद् हेतवः
उच्यन्ते इति तद्भेदान्तिरूपयन्नाह—

५/१९१ 'पंच हेउ' इत्यादि इह हेतेषु वर्तमानः पुरुषो हेतुरेव
तदुपयोगानन्यत्वात् पञ्चविधत्वं चास्य क्रियाभेदादित्यत आह
—'हेउं' जाणइ 'ति हेतुं साध्याविनाभूतं साध्यनिश्चयार्थं
जानाति विशेषतः सम्यगवगच्छति सम्यग्दृष्टित्वात्, अयं
पंचविधोऽपि सम्यक्दृष्टिर्मन्तव्यो मिथ्यादृष्टेः सूत्रद्वयात्परतो
वक्ष्यमाणत्वादित्येकः एवं हेतुः पश्यति सामान्यत

१. 'खिडकी' इति भाषायां

एवावबोधोदिति द्वितीयः, एवं बुध्यते सम्यक् श्रद्धत इति बोधेः सम्यक्श्रद्धानपर्यायत्वादिति तृतीयः। तथा हेतुं 'अभिसमागच्छति साध्यसिद्धौ व्यापारणतः सम्यक् प्राप्नोतीति चतुर्थः। तथा हेतुं छउमत्ये' त्यादि, हेतुः— अध्यवसानादिर्मरणकारणं तद्योगान्मरणमपि हेतुरतस्तं हेतुमदित्यर्थः छद्मस्थमरणं, न केवलमरणं, तस्याहेतुकत्वात्, नाप्यज्ञानमरणमेतस्य सम्यग्ज्ञानित्वात् अज्ञानमरणस्य च वक्ष्यमाणत्वात् म्रियते—करोतीति पंचमः॥

प्रकारान्तरेण हेतूनेवाह—

५/१९२ 'पंचे' त्यादि हेतुना अनुमानोत्थापकेन जानाति—अनुमेयं सम्यगवगच्छति सम्यग्दृष्टित्वादेकः एवं पश्यतीति द्वितीयः, एवं बुध्यते श्रद्धत इति तृतीयः एवं 'अभिसमागच्छति प्राप्नोतीति चतुर्थः, तथाऽकेवलित्वात् हेतुना अध्यवसानादिना छद्मस्थमरणं म्रियते इति पंचमः।

अथ मिथ्यादृष्टिमाश्रित्य हेतूनाह—

५/१९३ 'पंचे' त्यादि पंच क्रियाभेदात् हेतवो हेतुव्यवहारित्वात् तत्र हेतुं लिंगं न जानाति, नञः कुत्सार्थत्वादसम्यगवैति—१ मिथ्यादृष्टित्वात्, २ एवं न पश्यति, ३ एवं न बुध्यते, ४ एवं नाभिसमागच्छति, तथा हेतुम् अध्यवसानादिहेतुयुक्तमज्ञानमरणं 'म्रियते' करोति मिथ्यादृष्टित्वेनासम्यग्ज्ञानत्वादिति।

हेतूनेव प्रकारान्तरेणाह—

५/१९४ 'पंचे' त्यादि हेतुना लिंगेन न जानाति—असम्यगवगच्छति, एवमन्येऽपि चत्वारः।

अथोक्तविपक्षभूतानहेतूनाह—

५/१९५ 'पंचे' त्यादि प्रत्यक्षज्ञानित्वादिनाऽहेतुव्यवहारित्वादहेतवः— केवलिनः ते पंच क्रियाभेदात् तद्यथा—'अहेतुं जाणइ' ति अहेतुं—न हेतुभावेन सर्वज्ञत्वेनानुमानानपेक्षत्वाद्धूमादिकं जानाति स्वस्यानुमानोत्थापकतयेत्यर्थः अतोऽसावहेतुरेव, एवं पश्यतीत्यादि, तथा 'अहेतुं केवलमरणं मरइ' ति अहेतुं-निहेतुकं अनुपक्रमत्वात् केवलमरणं म्रियते करोतीत्यहेतुरसौपंचम इति ।

प्रकारान्तरेणाहेतूनेवाह—

५/१९६ 'पंचे' त्यादि तथैव नवरं अहेतुना—हेत्वभावेन केवलित्वाज्जानाति योऽसावहेतुरेव एवं पश्यतीत्यादयोऽपि 'अहेउणा केवलमरणं मरइ' ति अहेतुना उपक्रमाभावेन केवलमरणं म्रियते, केवलिनो निहेतुकस्यैव तस्य भावादिति।

अहेतूनेव प्रकारान्तरेणाह—

५/१९७ 'पंच अहेऊ' इत्यादि अहेतवः अहेतुव्यवहारिणः ते च पंच ज्ञानादिभेदात्, तद्यथा—'अहेउं न जाणइ' ति अहेतुं न हेतुभावेन स्वस्यानुमानानुत्थापकतयेत्यर्थः 'न जानाति' न सर्वथाऽवगच्छति कथञ्चिदेवावगच्छतीत्यर्थः नञो देशप्रतिषेधार्थत्वात् ज्ञातुश्चावध्यादिज्ञानवत्त्वात् कथञ्चिज्ज्ञानमुक्तं, सर्वथा ज्ञानं तु केवलिन एव स्यादिति, एवमन्यान्यपि तथा अहेउं छउमत्यमरणं मरइ' ति अहेतुरध्यवसानादेरुपक्रमकारणस्याभावात् छद्मस्थमरणमकेवलित्वात् न त्वज्ञानमरणमवध्यादिज्ञानित्वे ज्ञानित्वात्तस्येति। अहेतूनेवान्यथाऽऽह

५/१९८ 'पंचे' त्यादि तथैव नवरं, अहेतुना हेत्वभावेन न जानाति कथञ्चिदेवाध्यवस्यतीति।

गमनिकामात्रमेवेदमष्टानामप्येषां सूत्राणां, भावार्थं तु बहुश्रुता विदन्तीति ॥

॥ पञ्चमशते सप्तमोद्देशकः ॥

अष्टम उद्देशकः

सप्तमे उद्देशके पुद्गलाः स्थितितो निरूपिताः, अष्टमे तु त एव प्रदेशतो निरूप्यन्ते, इत्येवंसम्बन्धस्यास्येदं प्रस्तावना-सूत्रम्—

५/२०० 'तेण' मित्यादि

५/२०२ 'दव्वादेसेणं' ति द्रव्यप्रकारेण द्रव्यत इत्यर्थः परमाणुत्वाद्याश्रित्येति यावत् 'खेत्तादेसेणं' ति एक—प्रदेशावगाढत्वादिनेत्यर्थः 'कालादेसेणं' ति एकादिसमयस्थितिकत्वेन 'भावादेसेणं' ति एकगुणकालकत्वादिना 'सव्वपोगला सपएसवी' त्यादि, इह च यत्सविपर्ययसार्द्धादिपुद्गलविचारे प्रक्रान्ते सप्रदेशाप्रदेशा एव ते प्ररूपिताः तत्तेषां प्ररूपणे सार्द्धत्वादि प्ररूपितमेव भवतीतिकृत्वेत्यवसेयं, तथाहि— सप्रदेशाः सार्द्धाः सनध्या वा, इतरे त्वनर्द्धा अमध्याश्चेति,

५/२०५ 'अणंत' ति तत्परिमाणज्ञापनपरं तत्स्वरूपाभिधानम्। अथ द्रव्यतोऽप्रदेशस्य क्षेत्राद्याश्रित्याप्रदेशादित्वं निरूपयन्नाह— 'जे दव्वओ अपएसे' इत्यादि यो द्रव्यतोऽप्रदेशः—परमाणुः स च क्षेत्रतो नियमादप्रदेशो, यस्मादसौ क्षेत्रस्यैकत्रैव प्रदेशोऽवगाहते प्रदेशद्वयाद्यवगाहे तु तस्याप्रदेशत्वमेव न स्यात्, कालतस्तु यद्यसावेकासमयस्थितिकस्तदाऽप्रदेशोऽनेक-समयस्थितिकस्तु सप्रदेश इति। भावतः पुनर्यद्येकगुणकाल-कादिस्तदाऽप्रदेशोऽनेकगुणकालकादिस्तु सप्रदेश इति।

निरूपितो द्रव्यतोऽप्रदेशोऽथ क्षेत्रतोऽप्रदेशं निरूपयन्नाह —
'जे खेततो अप्पएसे' इत्यादि, यः क्षेत्रतोऽप्रदेशः स द्रव्यतः
स्यात्सप्रदेशः, द्व्यणुकादिरप्येकप्रदेशावगाहित्वात् स्यादप्रदेशः
परमाणोरप्येकप्रदेशावगाहित्वात्, 'कालओ भयणाए' ति
क्षेत्रतोऽप्रदेशो यः स कालतो भजनयाऽप्रदेशादिर्वाच्यः, तथाहि
—एकप्रदेशावगाढः एकसमयस्थितिकत्वादप्रदेशोऽपि स्यात्
अनेकसमयस्थितिकत्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति। 'भावओ
भयणाए' ति क्षेत्रतोऽप्रदेशो योऽसावेकगुणकालत्वादप्रदेशोऽपि
स्यात् अनेकगुणकालकादित्वाच्च सप्रदेशोऽपि स्यादिति।

अथ कालाप्रदेशं भावाप्रदेशं च निरूपयन्नाह—'जहा खेततो
एवं कालओ भावओ' ति यथा क्षेत्रतोऽप्रदेश उक्त एवं
कालतो भावतश्चासौ वाच्यः तथाहि 'जे कालओ' अप्पएसे
से दव्वओ सिय सप्पएसे सिय अप्पएसे'। एवं क्षेत्रतो
भावतश्च तथा—'जे भावओ अप्पएसे से दव्वओ सिय
सप्पएसे सिय अप्पएसे' एवं क्षेत्रतः कालतश्चेति।

उक्तोऽप्रदेशोऽथ सप्रदेशमाह—'जे दव्वओ सप्पएसे' इत्यादि,
अयमर्थः—यो द्रव्यतो द्व्यणुकादित्वेन सप्रदेशः स क्षेत्रतः
स्यात्प्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स्यादप्रदेश एक-
प्रदेशावगाहित्वात्, एवं कालतो भावतश्च, तथा यः क्षेत्रतः
सप्रदेशो द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वात् स द्रव्यतः सप्रदेश एव,
द्रव्यतोऽप्रदेशस्य द्व्यादिप्रदेशावगाहित्वाभावात् कालतो
भावतश्चासौ द्विधाऽपि स्यादिति, तथा यः कालतः सप्रदेशः
स द्रव्यतः क्षेत्रतो भावतश्च द्विधाऽपि स्यात्, तथा यो
भावतः सप्रदेशः स द्रव्यक्षेत्रकालैर्द्विधाऽपि स्यादिति स-
प्रदेशसूत्राणां भावार्थ इति।

अथैषामेव द्रव्यादितः सप्रदेशाप्रदेशानामल्पबहुत्वविभागमाह—

५/२०६ 'एएसि ण' मित्यादि सूत्रसिद्धं नवरमस्यैव सूत्रोक्ताल्पबहुत्वस्य
भावनार्थं गाथाप्रपंचो वृद्धोक्तोऽभिधीयते—

१. वोच्छं अप्पाबहुयं दव्वखेतद्वभावओ वावि।
अपएससप्पएसाण पोग्गलाणं समासेणं ॥

२. दव्वेणं परमाणू खेतपेगप्पएस समोगाढा
कालेणगसमइया अपएसो पोग्गला होति ॥

३. भावेणं अपएसो एगगुणा जे हवति वण्णाई।
वर्णादिभिरित्यर्थः

ते च्चिय थोया जं गुणबाहुल्लं पायसो दव्वे ॥

द्रव्ये प्रायेण द्व्यादिगुणा अनन्तगुणान्ताः कालकत्वादयो
भवन्ति एकगुणकालकादयस्त्वल्पा इति भावः

४. "एतो कालाएसेण अप्पएसो भवे असंखगुणा।

किं कारणं पुण भवे भण्णति परिणामबाहुल्ला ॥"

अयमर्थः—यो हि यस्मिन् समये यद्वर्णगन्धरसस्पर्श-
संघातभेदसूक्ष्मत्वबादरत्वादिपरिणामान्तरमापन्नः स तस्मिन्
समये तदपेक्षया कालतोऽप्रदेश उच्यते, तत्र चैकसमयस्थिति-
रित्यन्ये, परिणामाश्च बहव इति प्रतिपरिणामं कालाप्रदेश-
संभवात्तद्बहुत्वमिति। एतदेव
भाव्यते—

५. "भावेणं अपएसो जे ते कालेण हंति दुविहावि।

दुगुणादओवि एवं भावेणं जावऽणंतगुणा ॥"

भावतो येऽप्रदेशा एक गुणकालत्वादयो भवन्ति ते कालतो
द्विविधा अपि भवन्ति—सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्यर्थः तथा
भावेन द्विगुणादयोऽप्यनन्तगुणान्ताः एवमिति द्विविधा अपि
भवन्ति, ततश्च—

६. "कालापएसयाणं एवं एक्केक्कओ हवति रासी।

एक्केक्कगुणङ्गाणमि एगगुणकालयाईसु ॥"

एकगुणकालद्विगुणकालादिषु गुणस्थानकेषु मध्ये एकैकस्मिन्
गुणस्थानके कालाप्रदेशानामेकैको राशिर्भवति ततश्चानन्तत्वाद्
गुणस्थानकराशीनामनन्ता एव कालाप्रदेशराशयो भवन्ति।
अथ प्रेरकः

७. "आहाणंतगुणत्तणमेवं कालापएसयाणंति।

जमणंतगुणङ्गाणेसु होंति रासीवि हु अणंता ॥"

एवमिति—यदि प्रतिगुणस्थानकं कालाप्रदेशराशयोऽभिधीयन्त
इति। अत्रोत्तरम्

८. 'भण्णइ एगगुणाणवि अणंतभागमि जं अणंतगुणा।

तेणासंखगुण च्चिय हवति पाणंतगुणियतं ॥"

अयमभिप्रायः—यद्यप्यनन्तगुणकालत्वादीनामनन्तराशयस्तथा-
ऽप्येकगुणकालत्वादीनामनन्तभाग एव ते वर्तन्त इति न
तद्द्वारेण कालाप्रदेशानामनन्तगुणत्वम् अपि त्वसंख्यात-
गुणत्वमेवेति।

९. "एवं ता भावमिणं पडुच्च कालापएसो सिद्धा।

परमाणुपोग्गलाइसु दव्वेवि हु एस च्चैव गमो ॥"

एवं तावत् भावं वर्णादिपरिणामं इमम् उक्तरूपमेकाद्य-
नन्तगुणस्थानवर्तिनमित्यर्थः प्रतीत्य कालाप्रदेशिकाः पुद्गलाः
सिद्धाः, कालाप्रदेशता वा पुद्गलानां सिद्धा प्रतिष्ठिता द्रव्येऽपि
द्रव्यपरिणाममप्यंगीकृत्य परमाण्वादिषु एष एव भावपरिणामोक्त
एव गमः—व्याख्याः।

१०. "एमेव होइ खेते एगपएसावगाहणाईसु।

ठाणंतरसंकीर्ति पडुच्च कालेण मग्गणाया ॥"

एवमेव द्रव्यपरिणामवद् भवति क्षेत्रे क्षेत्रमधिकृत्य एक-
प्रदेशावगाहादिषु पुद्गलभेदेषु स्थानान्तरगमनं प्रतीत्य कालेन
कालाप्रदेशानां मार्गणा।

यथा क्षेत्रतः एवमवगाहनादितोऽपीत्येतदुच्यते—

११. "संकोयविकोयंयि हु पडुच्च ओगाहणाए एमेव।

तह सुहुमबायरथिरेयरे य सदाइ परिणामं ॥"

अवगाहनायाः संकोचं विकोचं च प्रतीत्य कालाप्रदेशाः स्युः
तथा सूक्ष्मबादरस्थिरास्थिरशब्दमनः कर्मादिपरिणामं च प्रतीत्येति।

१२. "एवं जो सव्वो च्चिय परिणामो पोग्गलाण इह समवे।

तं तं पडुच्च एसिं कालेणं अपएससं ॥"

'एसिं' ति पुद्गलानामित्यर्थः

१३. "कालेण अप्पएसा एवं भावापएसएहिंतो।

होति असंखिज्जगुणा सिद्धा परिणामबाहुल्ला ॥

१४. एत्तो दव्वाएसेण अप्पएसा हवतिऽसंखगुणा।

के पुण ते परमाणु कह ते बहुयत्ति तं सुणसु ॥

१५. अणु संखेज्जपएसिय असंख गुणऽणंतपएसिया चेव।

चउरो च्चिय रासी पोग्गलाण लोए अणंताणं ॥

१६. तत्थाणतेहिंतो सुत्तेऽणंतपएसिएहिंतो

जेण पएसट्टाए भणिया अणवो अणंतगुणा ॥"

अनन्तेभ्यः अनन्तप्रदेशिकस्कन्धेभ्यः प्रदेशार्थतया
परमाणवोऽनन्तगुणाः सूत्रे उक्ताः सूत्रं चेदं 'सव्वत्थोवा अणंत-
पएसिया खंधा दव्वट्टयाए, ते चेव पएसट्टयाए अणंतगुणा,
परमाणुपोग्गला दव्वपएसट्टयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया
खंधा दव्वट्टयाए संखेज्जगुणा ते चेव पएसट्टयाए खंधेज्जगुणा
असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा ते चेव
पएसट्टयाए असंखगुण' ति ॥ भगवई २५/१६३

१७. "संखेज्जतिमे भागे संखेज्जपएसियाण वट्टंति।

नवरमसंखेज्जपएसियाण भागे असंखइमे ॥"

संख्येयतमे भागे संख्यातप्रदेशिकानामसंख्याततमे चा-
संख्यातप्रदेशिकानामणवो वर्तन्ते, उक्तसूत्रप्रामाण्यादिति।

१८. "सइवि असंखेज्जपएसियाणं तेसिं असंखभागते।

बाहुल्लं साहिज्जइ फुडमवसेसाहिं रासीहिं ॥"

संख्यातप्रदेशिकानन्तप्रदेशिकाभिधानाभ्यां, इह च संख्यात-
प्रदेशिकाराशेः संख्यातभागवर्तितात्तेषां स्वरूपतो बहुत्वमव-
गम्यते, अन्यथा

तस्याप्यसंख्येयभागेऽनन्तभागे वा तेऽभविष्यन्ति।

१९. "जेणेक्करासिणो च्चिय असंखभागेण सेसरसीणं।

तेणासंखेज्जगुणा अणवो कालापएसिंहिं ॥"

न शेषराशोरिति, अस्यायमर्थः—अनन्तप्रदेशिकाराशेरनन्त-

गुणास्ते संख्यातप्रदेशिकाराशेस्तु संख्यातभागे संख्यातभागस्य
च विवक्षया नात्यन्तमल्पता, कालतः सप्रदेशेष्वप्रदेशेषु च
वृत्तिमतामणूनां बहुत्वात् कालाप्रदेशानां च सामयिकत्वे
नात्यन्तमल्पत्वात् कालाप्रदेशेभ्योऽसंख्यातगुणत्वं द्रव्या-
प्रदेशानामिति।

२०. "एत्तो असंखगुणिया हवति खेत्तापएसियासमए

जं ते ता सव्वे च्चिय अपएसा खेत्ताओ अणवो ॥"

एतद् भावना च वक्ष्यमाणस्थापनातोऽवसेया

२१. "दुपएसियाइएसुवि पएसपरिवुद्धिएसु ठाणेसु।

लब्भइ इक्किक्को चिय रासी खिन्तापएसणं ॥

२२. एत्तो खिन्तापएसेण, चेव सपएसया असंखगुणा।

एगपएसोगाढे मोत्तुं सेसावगाहणया ॥

२३. ते पुण दुपएसोगाहणाइया सव्वपोग्गला सेसा।

ते य असंखेज्जगुणा अवगाहणठाणबाहुल्ला ॥

२४. दव्वेण होति एत्तो सपएसया पोग्गला विसेसहिया।

कालेण य भावेण य एमेव भवे विसेसहिया ॥"

मिश्राणामित्यप्रदेशसप्रदेशानां मीलितानां संक्रमं प्रति—अ-
प्रदेशेभ्यः सप्रदेशेष्वल्पबहुत्वविचारे संक्रमे क्षेत्रतः सप्रदेशा
असंख्येयगुणाः क्षेत्रतोऽप्रदेशेभ्यः सकाशात् स्वस्थाने पुनः
केवलसप्रदेशचिन्तायां स्तोका एव ते क्षेत्रतः सप्रदेशा इति।

२५. "भावाइया वट्टा असंखगुणिया जमऽप्पएसणं।

तो सप्पएसयाणं खेत्ताइविसेसपरिवुद्धी ॥"

एतदेवोच्यते—अर्थत इति व्याख्यानपेक्षया

२६. "मीसाण संकमं पइ सपएसया खेत्ताओ असंखगुणा।

भणिया सट्टाणे पुण थोवच्चिय ते गहेयव्वा ॥"

एतदेवोच्यते—अर्थत इति व्याख्यानपेक्षया

२७. खेतेण सप्पएसया थोवा दव्वट्टभावओ अहिया।

सपएसप्पाबहुयं सट्टाणे अत्थओ एवं ॥

२८. पढमं अपएसणं बीयं पुण होइ सप्पएसणं।

तइयं पुण मीसाणं अप्पबहुं अत्थओ तिण्णि ॥

अर्थतो—व्याख्यानद्वारेण त्रीण्यल्पबहुत्वानि भवन्ति, सूत्रे
त्वेकमेव मिश्राल्पबहुत्वमुक्तमिति।

२९. "ठाणे ठाणे वड्डइ भावाइण जमऽप्पएसणं।

तं चिय भावाइण परिभस्सति सप्पएसणं ॥"

यथा किल कल्पनया लक्षं समस्तपुद्गलास्तेषु भावकाल
द्रव्यक्षेत्रतोऽप्रदेशाः क्रमेण एकद्विपंचदशसहस्रसंख्याः
सप्रदेशास्तु नवनवत्यष्टनवतिपंचनवतिनवतिसहस्रसंख्याः
ततश्च भावाप्रदेशेभ्यः कालाप्रदेशेषु सहस्रं वर्द्धते तदेव
भावसप्रदेशेभ्यः कालसप्रदेशेषु हीयत इत्येवमन्यत्रापीति
स्थापना चेयम्—

- ३० “अहवा खेताईणं जमप्पएसाणं हायए कमसो।
तं चिय खेताईणं परिवट्ठइ सप्पएसाणं ॥”
३१. अवरोपरप्पसिद्धा वुद्धी हाणी य होई दोगहंपि।
अपप्ससप्पएसाणं पोग्गलाणं सलक्खणओ ॥
३२. ते चिय विष ते चउहं वि जमुवचरिज्जंति पोग्गला दुविहा।
तेण उ वुद्धी हाणी तेसिं अण्णोण्णसिद्धा ॥
चतुर्भिरिति—भावकालादिभिरुपचर्यन्ताः इति विशेष्यन्ते
३३. एएसिं रासीणं निदरिसणमिणं भणापि पच्चक्खं।
वुद्धीए सव्वपोग्गल जाव तावाण लक्खाओ ॥
कल्पनया यावन्तः सर्वपुद्गलास्तावतां लक्षम् इति।
३४. एककं च दो य पंच य दस य सहस्साइं अप्पएसाणं।
भावाईण कमसो चउणहवि जहोवइट्ठाण ॥
३५. णउई पंचाणउई अट्ठाणउई तहेव नवनवई।
एवइयाइं सहस्साइं सप्पएसाण विवरीयं ॥
३६. एएसिं जहासंभवमत्थोवणायं करिज्ज रासीणं।
सब्भावओ य जाणिज्जा ते अण्णंते जिणाभिहि ॥”
- अनन्तरं पुद्गला निरूपितास्ते च जीवोपग्राहिण इति जीवांश्चितयन्नाह—

५/२०८ ‘जीवा ण’ मित्यादि

५/२१५ ‘नेरइया णं भंते! केवतियं कालं अवट्ठिया? गोयमा! जहण्णेणं
एककं समयं उवकोसेणं चउवीसमुहुत्तं’ ति, कथं? सप्तस्वपि
पृथिवीषु द्वादश मुहूर्तान् यावन्न कोऽप्युत्पद्यते उद्वर्तते
चोत्कृष्टतो विरहकालस्यैव रूपत्वात् अन्येषु पुनर्द्वादशमुहूर्तेषु
यावन्त उत्पद्यन्ते तावन्त एवोद्वर्तन्त इत्येवं चतुर्विंशतिमुहूर्तान्
यावन्नारकाणामेकपरिमाणत्वादवस्थितत्वं वृद्धिहान्योरभावम्
इत्यर्थः एवं रत्नप्रभादिषु यो यत्रोत्पादोद्वर्तनावि-
कालश्चतुर्विंशतिमुहूर्तादिको व्युत्क्रान्तिपदेऽभिहितः स तत्र
तेषु तत्तुल्यस्य समसंख्यानमुत्पादोद्वर्तना कालस्य मौलनाद्
द्विगुणितः सन्नवस्थितकालोऽष्टचत्वारिंशन्मुहूर्तादिकः सूत्रोक्तो
भवति। विरहकालश्च प्रतिपदमवस्थानकालार्द्धभूतः स्वयमभ्यूह्य
इति।

५/२१९ ‘एगिदिया वड्ढंति वि’ ति तेषु विरहाभावेऽपि बहुतराणा-
मुत्पादादल्पतराणां चोद्वर्तनात् ‘हायंति वि’ ति बहुतराणा-
मुद्वर्तनादल्पतराणां चोत्पादात् ‘अवट्ठिया वि’ ति तुल्याना-
मुत्पादादुद्वर्तनाच्चेति, ‘एतेहिं तिहि वि’ ति एतेषु त्रिष्वपि
एकैन्द्रियवृद्ध्यादिष्वालिकाया असंख्येयो भागस्ततः परं
यथायोगं वृद्ध्यादेरभावात्।

५/२२० ‘दो अंतोमुहुत्तं’ ति एकमन्तर्मुहुत्तं विरहकालो द्वितीयं तु

समानानामुत्पादोद्वर्तनकाल इति।

५/२२३ ‘आणयपाणयाणं संखेज्जा मासा आरणच्चुयाणं संखेज्जा
वास’ ति इह विरहकालस्य संख्यातमासवर्षरूपस्य द्विगुणित-
त्वेऽपि संख्यातत्वमेवेत्यतः संख्याता मासा इत्याद्युक्तम् ‘एवं
गेवेज्जदेवाणं’ ति इह यद्यपि त्रैवेयकाधस्तनत्रये संख्यातानि
वर्षाणां शतानि मध्यमे सहस्राणि उपरिमेव लक्षाणि विरह
उच्यते, तथापि द्विगुणितेऽपि च संख्यातवर्षत्वं न विरुध्यते,
विजयादिषु त्वसंख्यातकालो विरहः स च द्विगुणितोऽपि स
एव सर्वार्थसिद्धे पल्लोपमसंख्येयभागः सोऽपि द्विगुणितः
संख्येयभाग एव स्यादतएव उक्तं ‘विजयवेजयंतजयंतापरा-
जियाणं असंखेज्जाइं वाससहस्साइं’ इत्यादीति।

जीवादीनेव भंग्यन्तरेणाह—

५/२२५ ‘जीवा ण मित्यादि ‘सोपचयाः’ सवृद्धयः प्राक्तनेष्वन्येषामुत्पादात्
‘सापचयाः प्राक्तनेभ्यः केषांचिदुद्वर्तनात्सहानयः ‘सोपच-
यसापचयाः’ उत्पादोद्वर्तनाभ्यां वृद्धिहान्योर्युगपद्भावात्
निरुपचयनिरुपचयाः उत्पादोद्वर्तनयोरभावेन वृद्धिहान्योरभावात्
ननूपचयो वृद्धिरुपचयस्तु हानिः युगपद्वयमद्वयं वाऽवस्थितत्वम्,
एवं च शब्दभेदव्यतिरेकेण कोऽनयो सूत्रयोर्भेदः? उच्यते
पूर्वत्र परिणाममभिप्रेतम्, इह तु तदनपेक्षमुत्पादोद्वर्तनामात्रं,
ततश्चेह तृतीयभंगके पूर्वोक्तवृद्ध्यादिकल्पानां त्रयमपि स्यात्,
तथाहि बहुतरात्पादे वृद्धिर्बहुतराद्वर्तने च हानिः, समोत्पादोद्-
वर्तनयोश्चावस्थितत्वमित्येवं भेद इति। ‘एगिदिया तइयपए’
त्ति सोपचयसापचया इत्यर्थः युगपदुत्पादोद्वर्तनाभ्यां वृद्धि-
हानिभावात्, शेषभंगकेषु तु ते न संभवन्ति, प्रत्येकमुत्पादोद्-
वर्तनयोस्तद्विरहस्य चाभावादिति।

५/२३१ ‘अवट्ठियाहिं’ ति निरुपचयनिरुपचयेषु ‘वकंतिकालो’ ‘भाणियव्वो’
त्ति विरहकालो वाच्यः॥

॥ पञ्चमशते अष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

इदं किलार्थजातं गौतमो राजगृहे प्रायः पृष्ठवान् बहुशो भगवतस्तत्र
विहासदिति राजगृहादिस्वरूपनिर्णयपरसूत्रप्रपञ्चं नवमोद्देशक-
माह—

५/२३५ ‘तेण’ मित्यादि ‘जहा एयणुद्देसए’ ति एजनोद्देशकोऽस्यैव
पंचमशतस्य सप्तमः। तत्र पंचेन्द्रियतिर्यग्बुद्ध्यात् ‘टंका
कूडा सेला सिंहरी’ त्यादिका योक्ता सा भणितव्येति। अत्रोत्तरं—

‘पुढवी वि नगर’ मित्यादि पृथिव्यादिसमुदायो राजगृहं, न पृथिव्यादिसमुदायावृते राजगृहशब्दप्रवृत्तिः

५/२३६ ‘पुढवी जीवाइय अजीवाइय नगरं रायगिहंति पवुच्चइ’ ति जीवाजीवस्वभावं राजगृहमिति प्रतीतं, ततश्च विवक्षिता पृथिवी सचेतनाचेतनत्वेन जीवाश्चाजीवाश्चेति राजगृहमिति प्रोच्यत इति।

पुद्गलाधिकारादिदमाह—

५/२३७ ‘से णूण’ मित्यादि

५/२३८ ‘दिवा सुभा पोग्गल’ ति दिवा दिवसे शुभाः पुद्गला भवन्ति, किमुक्तं भवति? शुभः पुद्गलपरिणामः स चार्ककरसम्पर्कात् ‘रत्ति’ ति रात्रौ।

५/२४० ‘नेरइयाणं असुभा पोग्गल’ इति तत्क्षेत्रस्य पुद्गल-शुभतानिमित्तभूतरविकरादिप्रकाशकवस्तुवर्जितत्वात्

५/२४२ ‘असुरकुमाराणं सुभा पोग्गल’ ति तदाश्रयादीनां भास्वरत्वात्

५/२४३ ‘पुढविकाइए’ इत्यादि पृथिवीकायिकादयस्त्रीन्द्रियान्ता यथा नैरयिका उक्तास्तथा वाच्याः, एषां द्वि नास्त्युद्घोतः अन्धकारं चास्ति, पुद्गलानामशुभत्वात्, इह चेयं भावना एतत्क्षेत्रे रविकरादिसम्पर्के सत्यपि एषां चक्षुरिन्द्रियाभावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावाच्छुभपुद्गलकार्याकरणेनाशुभाः पुद्गला उच्यन्ते ततश्चैषामन्धकारमेवेति।

५/२४५ ‘चउरिदियाणं सुभासुभे पोग्गल’ ति एषां हि चक्षुः सद्भावे रविकरादिसद्भावे दृशयार्थावबोधहेतुत्वाच्छुभाः पुद्गलाः रविकराद्यभावे त्वार्थावबोधजनकत्वादशुभा इति। पुद्गला द्रव्यमिति तच्चिन्ताऽनन्तरं कालद्रव्यचिन्तासूत्रम्—

५/२४८ ‘तत्थ गयाणं’ ति नरकैः स्थितैः षष्ठ्यास्नृतीयार्थत्वात्, ‘एवं पण्णायति’ ति एवं हि प्रज्ञायते, इदं विज्ञायते, ‘समया इ व’ ति समया इति वा

५/२४९ ‘इह तेसिं’ ति इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीनां मानं परिमाणं, आदित्यगतिसमभिव्यंगित्वात्तस्य, आदित्यगतेश्च मनुष्यक्षेत्रे एव भावात् नरकादौ त्वभावादिति, ‘इहं तेसिं पमाणं’ ति इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां—समयादीनां प्रमाणं—प्रकृष्टं मानं सूक्ष्ममानमित्यर्थः। तत्र महूर्तस्तावन्मानं तदपेक्षया लवः सूक्ष्मत्वात्प्रमाणं तदपेक्षया स्तोकः प्रमाणं लवस्तु मानमित्येवं नेयं यावत्समय इति। ततश्च इह तेसिमित्यादि, इह मर्त्यलोके मनुजैस्तेषां—समयादीनां सम्बन्धी एवं वक्ष्यमाणस्वरूपं समयस्वाद्येव ज्ञायते, तद्यथा—‘समया इति वे’ त्यादि, इह च समयक्षेत्राद्बहिर्वर्तिनां सर्वेषामपि समयाद्यज्ञानमवसेयम्।

तत्र समयादिकालस्याभावेन तद्व्यवहाराभावात्।

५/२५०-२५३ तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो भवनपतिव्यन्तरज्ज्योतिष्काश्च यद्यपि केचित् मनुष्यलोके सन्ति, तथापि तेऽल्याः प्रायस्तद्व्यवहारिणश्च इतरे तु बहव इति तदपेक्षया ते न जानन्तीत्युच्यत इति।।

कालनिरूपणाधिकाराद्दूरत्रिन्दिवलक्षणविशेषकालनिरूपणार्थ-मिदमाह—

५/२५४ ‘तेणं कालेण’ मित्यादि, तत्र असंखेज्जे लोए ‘ति असंख्यातेऽसंख्यातप्रदेशात्मकत्वात् लोके—चतुर्दश-रज्ज्वात्मके क्षेत्रलोके आधारभूते ‘अणंता राईदिय’ ति अनन्तपरिमाणानि रात्रिदिवाणि—अहोरात्राणि ‘उप्पज्जिंसु वा’ इत्यादि उत्पन्नानि वा उत्पद्यन्ते वा उत्पत्स्यन्ते वा, पृच्छतामयमभिप्रायः—यदि नामासंख्यातो लोकस्तदा कथं तत्रानन्तानि तानि भवितुमर्हन्ति? अल्पत्वादाधारस्य महत्त्वाच्चाधेयस्येति। तथा ‘परित्ता राईदिय’ ति परीतानि—नियतपरिमाणानि नानन्तानि, इहायमभिप्रायः—यद्यनन्तानि तानि तदा कथं परीतानि? इति विरोधः, अत्र हन्तेत्याद्युत्तरं, अत्र चायमभिप्रायः—असंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽनन्ता जीवा वर्तते, तथाविधस्वरूपत्वाद्, एकत्राश्रये सहस्रादिसंख्यप्रदीपप्रभा इव, ते चैकत्रैव समयादिके कालेऽनन्ता जीवा वर्तते, उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च स, च समयादिकालस्तेषु साधारणशरीरावस्था-यामनन्तेषु प्रत्येकशरीरावस्थायां च परीतेषु प्रत्येकं वर्तते तत्स्थितिलक्षणपर्यायरूपत्वात्तस्य, तथा च कालोऽनन्तः परीतश्च भवतीति, एवं चासंख्येयेऽपि लोके रात्रिन्दिवान्यनन्तानि परीतानि च कालत्रयेऽपि युज्यन्त इति।।

एतदेव प्रश्नपूर्वकं तत्संमतजिनमतेन दर्शयन्नाह—

५/२५५ से णूण ‘मित्यादि’ ‘भे’ ति भवतां सम्बन्धिना ‘अज्जो’ ति हे आर्या! ‘पुरिसादाणीएणं’ ति पुरुषाणां मध्ये आदानीयः—आदेय पुरुषादानीयस्तेन ‘सासए’ ति प्रतिक्षणस्थायी स्थिर इत्यर्थः ‘बुइए’ ति उक्तः। स्थिरश्चोत्पत्तिक्षणादारम्य स्यादित्यत आह—‘आणाइए’ ति अनादिकः स च सान्तोऽपि स्याद्भव्यत्ववदित्याह—‘अनवयगे’ ति अनवदग्रः—अनन्तः ‘परित्ते’ ति परिमितः प्रदेशतः अनेन लोकस्यासंख्येयत्वं पार्श्वजिनस्यापि सम्मतमिति दर्शितम्। तथा ‘परिवुडे’ ति अलोकेन परिवृतः ‘हेट्ठाविच्छण्णे’ ति सप्तरज्जुविस्तृतत्वात्। ‘मज्जे संखित्ते’ ति एकरज्जुविस्तारत्वात्। ‘उप्पिं विसाले’ ति ब्रह्मलोकदेशस्य पञ्चरज्जुविस्तारत्वात्। एतदेवोपमानतः प्राह—‘अहे पलियं कसंठिए’ ति उपरिसंकीर्णत्वाधो-

विस्तृतत्वाभ्याम्। 'मज्जे वरवइरविग्गहिए' ति वरवज्रवद्विग्रहः—शरीरमाकारो मध्यक्षामत्वेन यस्य स तथा स्वार्थिकश्चेकप्रत्ययः 'उप्पिं उद्धमुङ्गागारसंठिए' ति उद्ध्वो न तु तिरश्चीनो यो मृदंगस्तस्याकारेण संस्थितो यः स तथा, मल्लकसंपुटाकार इत्यर्थः। 'अणंता जीव घण' ति अनन्ताः पारंमाणतः सूक्ष्मादिसाधारणशरीराणां विवक्षितत्वात् सन्तत्यपेक्षया वाऽनन्ताः, जीवसन्ततीनामपर्यवसानत्वात्, जीवाश्च ते घनाश्चानन्तपर्यायसमूहं रूपत्वादसंख्येयप्रदेशपिण्डरूपत्वाच्च जीवघनाः। किमित्याह—'उप्पज्जिते' ति उत्पद्योत्पद्य विलीयन्ते विनश्यन्ति, तथा 'परीता' प्रत्येकशरीरा अनपेक्षितातीतानागतसन्तानतया व संक्षिप्ताः जीवघना इत्यादि तथैव, अनेन च प्रश्ने यदुक्तम्। 'अणंता राइंदिया' इत्यादि तस्योत्तरं सूचितं, यतोऽनन्तपरीतजीवसम्बन्धात्कालविशेषा अप्यनन्ताः परीताश्च व्यपदिश्यन्तेऽतो विरोधः परिहृतो भवतीति।

अथ लोकमेव स्वरूपत आह—'से भूए' ति यत्र जीवघना उत्पद्य उत्पद्य विलीयन्ते स लोको भूतः—सद्भूतो भवनधर्मयोगात्, स चानुत्पत्तिकोऽपि स्याद् यथा नयमतेनाकाशमत आह—उत्पन्नः एवंविधश्चानश्वरोऽपि स्याद् यथा विवक्षितघटाभाव इत्यत आह—विगतः स चानन्वयोऽपि किल भवतीत्यत आह—परिणतः—पर्यायान्तराणि आपन्नो न तु निरन्वयनाशेन नष्टः।

अथ कथमयमेवंविधो निश्चीयते? इत्याह—'अजीवेहिं' ति अजीवैः पुद्गलादिभिः सत्तां विभ्रद्भिर्रुत्पद्यमानैर्विगच्छद्भिः परिणमद्भिश्च लोकानन्वयभूतैः लोक्यते निश्चीयते, प्रलोक्यते प्रकर्षेण निश्चीयते भूतादिधर्मकोऽयमिति, अतएव यथार्थनामाऽसाविति दर्शयन्नाह—'जे लोककइ से लोए' ति यो लोक्यते—विलोक्यते प्रमाणेन स लोको—लोकशब्दवाच्यो भवतीति, एवं लोकस्वरूपाभिधायकपार्श्वजिनवचनसंस्मरणेन स्ववचनं भगवान् समर्थितवानिति।

५/२५६ 'सपडिक्कमणो' ति आदिमान्तिमजिनयोरेवावश्यकरीयः प्रतिक्रमणो धर्मोऽन्येषां तु कादाचित्क प्रतिक्रमणं आह च—
"सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं॥" ति अनन्तरं 'देवलोएसु उववन्ना' इत्युक्तमतो देवलोकप्ररूपणसूत्रम्

५/२५८ 'कतिविहा ण' मित्यादि

॥ पञ्चमशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः :

अनन्तरोद्देशकान्ते देवा उक्ता इति देवविशेषभूतं चन्द्रमसं समुद्दिश्य दशमोद्देशकमाह—तस्य चेदं सूत्रम्

५/२६० 'तेणं कालेण' मित्यादि एतच्च चन्द्राभिलाषेण पञ्चमशते प्रथमोद्देशकवन्नेयमिति।

॥ पञ्चमशते दशमोद्देशकः ॥

श्री रोहणाद्रेरिव पञ्चमस्य, शतस्य देशानिव साधुशब्दान्।

विभिद्य कुर्येव बुधोपदिष्ट्या, प्रकाशिताः सन्मणिवन्मयाऽर्थाः ॥

अथ षष्ठं शतकम्

प्रथमः उद्देशकः

व्याख्यातं विचित्रार्थं पञ्चमं शतम्, अथावसरायातं तथाविधमेव षष्ठमारभ्यते। तस्य चोद्देशकार्थसंग्रहणी गाथेयम्—

‘वेद्यणे’ त्यादि, तत्र ‘वेयण’ ति महावेदनो महानिर्जर ‘इत्याद्यर्थप्रतिपादनपरः प्रथमः, ‘आहार’ ति आहाराद्यर्थाभिधायको द्वितीयः, ‘महस्सवे य’ ति महाश्रवस्य पुद्गला बध्यन्ते इत्याद्यर्थाभिधानपरस्तृतीयः, ‘सपएस’ ति सप्रदेशो जीवोऽ-प्रदेशो वा इत्याद्यर्थाभिधायकश्चतुर्थः, ‘तमुए य’ ति तमस्कायार्थनिरूपणार्थः पञ्चमः, ‘भविए’ ति भव्योनारक्तत्वादिनोत्पादस्य योग्यस्तद् वक्तव्यताऽनुगतः षष्ठः, ‘सालि’ ति शाल्यादिधान्यवक्तव्यताऽऽश्रितः सप्तमः, ‘पुढवि’ ति रत्नप्रभादिपृथिवीवक्तव्यताऽर्थोऽष्टमः, ‘कम्म’ ति कर्मबन्धाभिधायको नवमः, ‘अण्णउत्थि’ ति अन्ययूथिकवक्तव्यतार्थो दशम इति।

६/१ ‘से णुणं भंते! जे महावेद्यणे’ इत्यादि, ‘महावेदनः’ उपसर्गादिसमुद्भूतविशिष्टपीडः ‘महानिर्जरः’ विशिष्टकर्मक्षयः, अनयोश्चान्योऽन्याकिनाभूतत्वाविर्भावनाय ‘जे महानिर्जरे’ इत्यादि प्रत्यावर्तनमित्येकः प्रश्नः, तथा महावेदनस्य चाल्पवेदनस्य च मध्ये स श्रेयान् यः प्रशस्तनिर्जराकः कल्याणानुबन्धनिर्जर इत्येष च द्वितीयः प्रश्नः, प्रश्नता च काकुपाठादवगम्या, हन्तेप्याद्युत्तरं, इह च प्रथमप्रश्नस्योत्तरे महोपसर्गकाले भगवान् महावीरो ज्ञातं द्वितीयस्यापि स एवोपसर्गानुपसर्गावस्थायामिति। यो महावेदनः स महानिर्जर इति यदुक्तं तत्र व्यभिचारं शंकमान आह—

६/२ ‘छट्ठी’ त्यादि

६/४ ‘दुद्धोयतराए’ ति दुष्करतरधावनप्रक्रियं ‘दुवामतराए’ ति ‘दुर्वाम्यतरकं’ दुस्त्याज्यतरकलकं ‘दुप्परिकम्मतराए’ ति कष्टकर्तव्यतेजोजननभंगकरणादिप्रक्रियं, अनेन च विशेषणत्रयेणापि दुर्विशोध्यमित्युक्तं, ‘गाढीकयाइ’ ति आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धानि सन् सूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत् ‘चिक्कणीकयाइ’ ति सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्परं गाढसंबंधकरणतो दुर्भेदीकृतानि तथाविधमृत्पिण्डवत् ‘सिलिड्डीकयाइ’ ति निधत्तानि सूत्रबद्धाग्निपतलोहशलाकाकलापवत् ‘खिलीभूतानि’ अनुभूतव्यतिरिक्तोपायान्तरेण क्षपयितुमशक्यानि निकाचितानीत्यर्थः। विशेषणचतुष्टयेनाप्येतेन दुर्विशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं भवति, एवं च ‘एवामेव’ त्याद्युपनयवाक्यं सुघटनं स्याद्, यतश्च तानि दुर्विशोध्यानि

स्युस्ततः ‘संपगाढ’ मित्यादि ‘णो महापज्जवसाणा भवन्ति’ त्ति अनेन महानिर्जराया अभावस्य निर्वाणाभावलक्षणं फलमुक्तमिति नाप्रस्तुतत्वमित्याशङ्कनीयमिति। तदेवं यो महावेदनः स महानिर्जर इति विशिष्ट जीवापेक्षमवगन्तव्यं न पुनर्नारकादिक्लिष्टकर्मजीवापेक्षं, यदपि यो महानिर्जरः स महावेदन इत्युक्तं तदपि प्रायिकं, यतो भवत्ययोगीमहानिर्जरो महावेदनस्तु भजनयेति। ‘अहिगरणि’ ति अधिकरणी यत्र लोहकारा अयोधनेन लोहानि कुट्टयन्ति। ‘आउडेमाणे’ ति आकुट्टयन् ‘सद्देणं’ ति अयोधनघातप्रभवेण ध्वनिना पुरुषहुंकरूपेण वा ‘घोसेणं’ ति तस्यैवानुनादेन ‘परंपराघाएणं’ ति परम्परा—निरन्तरता तत्प्रधानो घातः—ताडनं परम्पराघातस्तेन उपर्युपरिघातेनेत्यर्थः। ‘अहाबायरे’ ति स्थूलप्रकारान् ‘एवामेव त्याद्युपनये ‘गाढीकयाइ’ इत्यादि-विशेषणचतुष्केण दुष्परिशाटनीयानि भवन्तीत्युक्तं भवति। ‘सुद्धोयतराए’ इत्यादि अनेन सुविशोध्यं भवतीत्युक्तं स्यात्, ‘अहाबायराइ’ ति स्थूलतरस्कन्धान्यसाराणीत्यर्थः। ‘सिद्धि-लीकयाइ’ ति श्लथीकृतानि मन्दविपाकीकृतानि ‘निड्डियाइ कयाइ’ ति निस्सत्ताकानि विहितानि ‘विपरिणामियाइ’ ति विपरिणामं नीतानि स्थितिघातरसघातादिभिः। तानि च क्षिप्रमेव विध्वस्तानि भवन्ति, एभिश्च विशेषणैः सुविशोध्यानि भवन्तीत्युक्तं स्यात्तश्च ‘जावइय’ मित्यादि।

अनन्तरं वेदना उक्ता, सा च करणतो भवतीति करणसूत्रं तत्र

६/५ ‘कम्मकरणं’ ति कर्मविषयं करणं—जीववीर्यं बन्धनसंक्रमादि-निमित्तभूतं कर्मकरणं।

६/१३ ‘वेमायाए’ ति विविधमात्रया कदाचित्सातां कदाचिदसातामित्यर्थः। ‘महावेद्यणे’ इत्यादि।

संग्रहगाथा गतार्था।

॥ षष्ठे शते प्रथमोद्देशकः ॥

द्वितीय उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके य एते सवेदना जीवा उक्तास्ते आहारका अपि भवन्तीति

६/१८ आहारोद्देशक

स च प्रज्ञापनायामिव दृश्यः, एवं चासौ—‘नेरइयाणं भंते! किं सच्चित्ताहारस अच्चित्ताहारा मीसाहारा?’

गोयमा! नो सच्चित्ताहारा, अचित्ताहारा, नो मीसाहारा इत्यादि।

॥ षष्ठशते द्वितीयोद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके पुद्गला आहारतश्चिन्तितः इह तु बन्धादितः इत्येवंसम्बन्धस्य तृतीयोद्देशकस्यादावर्थसंग्रहगाथाद्वयम्

१. "बहुकम्मवत्थपोगलपयोगसावीससा य सादीए।

कम्मद्वितीत्यसंजय सम्महिद्धी य सनी य ॥

२. भविए दंसण पज्जत्ते भासअपरित्त नाण जोगेय।

उवओगाहारगसुहुमचरिमबंधी य अप्पबहुं ॥"

'बहुकम्मे' त्यादि, 'बहुकम्म' ति महाकर्मणः सर्वतः पुद्गला बध्यन्ते इत्यादि वाच्यं, 'वत्थे पोगला पयोगसा वीससा य' ति यथा वस्त्रे पुद्गलाः प्रयोगतो विश्रसातश्च चीयन्ते किमेवं जीवानामपीति वाच्यम्। 'साइए' ति वस्त्रस्य सादिः पुद्गलचयः एवं किं जीवानामप्यसौ? इत्यादि प्रश्नः, उत्तरं च वाच्यम्—'कम्मद्विद्धि' ति कर्मस्थितिर्वाच्या, 'थिइ' ति किं स्त्रीपुरुषादिर्वा कर्म बध्नाति? इति वाच्यम्, 'संजय' ति किं संयतादिः? 'सम्मद्विद्धि' ति किं सम्यग्दृष्ट्यादिः? एवं संज्ञी भव्यो दर्शनी पर्याप्तको भाषकः परीतो ज्ञानी योगी उपयोगी आहारकः सूक्ष्मः चरमः, 'बंधे य' ति एतानाश्रित्य बन्धो वाच्यः, 'अप्पबहुं' ति एषामेव स्त्रीप्रभृतीनां कर्मबन्धकानां परस्परेणात्पबहुता' वाच्येति। तत्र बहुकर्मद्वारे—

६/२० 'महाकम्मस्से' त्यादि महाकर्मणः स्थित्याद्यपेक्षया 'महाक्रियस्य' अलघुकायिक्यादिक्रियस्य, 'महाश्रवस्य' बृहन्मिथ्यात्वादि-कर्मबन्धहेतुकस्य, 'महावेदनस्य' महापीडस्य 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु सर्वान् वा जीवप्रदेशानाश्रित्य बध्यन्ते—आसंकलनतः चीयन्ते—बन्धनतः उपचीयन्ते—निषेकरचनतः, अथवा बध्यन्ते—बन्धनतः चीयन्ते—निधत्ततः उपचीयन्ते—निका-चनतः 'सया समियं' ति सदा 'सर्वदा' सदात्वं च व्यवहारतोऽसातत्येऽपि स्यादित्यत आह—'समितं सन्ततं 'तस्स आय' ति यस्य जीवस्य पुद्गला बध्यन्ते तस्यात्मा बाह्यात्मा शरीरमित्यर्थः। 'अणिद्वत्ताए' ति इच्छया अविषयतया 'अकंतत्ताए' ति असुन्दरतया 'अप्पियत्ताए' ति अप्रेमहेतुतया 'असुभत्ताए' ति अमांगल्यतयेत्यर्थः^१: 'अमणुन्नताए' ति न मनसा—भावतो ज्ञायते सुन्दरोऽयमित्य-मनोज्ञस्तद्भावस्तत्ता तथा 'अमणामत्ताए' ति न मनसा—अम्यते—गम्यते संस्मरणतोऽमनोऽम्मस्तद्भावस्तत्ता तथा 'अणिच्छियत्ताए' ति अनीप्सिततया प्राप्तुमनभिवांछितत्वेन, 'अभिज्झियत्ताए' ति भिध्या—लोभः सा संजाता यत्र सो भिध्यतो न भिध्यतोऽभिध्यतस्तद्भावस्तत्ता तथा 'अहत्ताए' ति जघन्यतया

'नो उद्धत्ताए' ति न मुख्यतया ।

६/२१ 'अहयस्स व' ति अपरिभुक्तस्य 'धोयस्स व' ति परिभुज्यापि प्रक्षालितस्य 'तंतुगयस्स व' ति तंत्रात्—तुरीवेमादेर-पनीतमात्रस्य 'बज्झती' त्यादिना पदत्रयेणेह वस्त्रस्य पुद्गलानां च यथोत्तरं सम्बन्धप्रकर्ष उक्तः।

६/२२ 'भिज्जंति' ति प्राक्तनसम्बन्धविशेषत्यागात् 'विद्धंसंति' ति ततोऽधः पातात् 'परिविद्धंसंति' ति निःश्रेषतया पातात्,

६/२३ 'जल्लियस्स' ति जल्लितस्य यानलगतधर्मोपेतमलयुक्तस्य 'पंकियस्स' ति आर्द्रमलोपेतस्य 'मइल्लियस्स' ति कठिन-मलयुक्तस्य 'रइल्लियस्स' ति रजोयुक्तस्य, 'परिकम्मिज्ज-माणस्स' ति क्रियमाणशोधनार्थोपक्रमस्य॥

६/२४ वस्त्रेत्यादिद्वारे 'पओगसा वीससा य' ति छान्दसत्वात् 'प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण 'विश्रसया'^२ स्वभावेनेति। 'जीवाणं कम्मोवचाए पओगसा णो वीसस' ति प्रयोगेणैव अन्यथाऽप्रयोगस्यापि बन्धप्रसंगः।

सादिद्वारे—

६/२९ 'ईरियावहियबंधयस्से' त्यादि, ईर्यापथो—गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं, केवलयोगप्रत्ययं कर्मैत्यर्थः तद्बन्धकस्यो-पशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः, ऐर्यापथिककर्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात् सादित्वम्, अयोग्यवस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वाऽबन्धनात् सपर्यवसितत्वम्

६/३२ 'गतिरागइं पडुच्च' ति नारकादिगतौ गमनमाश्रित्य सादयः आगमनमाश्रित्य सपर्यवसिता इत्यर्थः 'सिद्धा गइं पडुच्च साइया अपज्जवसिय' ति इहाक्षेपपरिहारावेवम्—

१. "साइअपज्जवसिया सिद्धा न य नाम तीयकालंमि।

आसि कयाइवि सुण्णा सिद्धी सिद्धेहिं सिद्धंते॥

२. सव्वं साइ सरीरं, न य नामादि मय देहसब्भावो।

कालाणाइत्तणओ जहा व राइंदियाइणं॥

३. सव्वो साइ सिद्धो न यादिमो विज्जइ तहा तं च।

सिद्धि सिद्धा य सया निहिद्धा रोहपुच्छाए॥"

'तं च' ति तच्च सिद्धानादित्वमिष्यते, यतः 'सिद्धी सिद्धा ये' त्यादीति। 'भवसिद्धिया लद्धि' मित्यादि भवसिद्धिकानां भव्यत्वलब्धिः सिद्धत्वेऽपैतीतिकृत्वाऽनादिः सपर्यवसिता चेति।

कर्मस्थितिद्वारे—

१. स प्रती बहुत्वता

२. स प्रती अमंगल्यतयेत्यर्थः

३. अ प्रती विश्रसतया क्वचित्तमपि

६/३४ 'तिग्णिण य वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणिया कम्मठिईं कम्मनिसेगो 'त्ति' बाधु लोडने बाधत इति बाधा—कर्मण उदयः न बाधा अबाधा—कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम् अबाधया—उक्तलक्षणया ऊनिका अबाधोनिका कर्म्मस्थितिः कर्म्मवस्थानकाल उक्तलक्षणः कर्मनिषेको भवति, तत्र कर्मनिषेको नाम कर्मदलिकस्यानुभवनाथं रचनाविशेषः, तत्र च प्रथमसमये बहुकं निषिंचति द्वितीयसमये विशेषहीनं तृतीयसमये विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टस्थितिकं कर्मदलिकं तावद्विशेषहीनं निषिंचति। तथा चोक्तम्—

१. "मोत्तूण सगमबाहं पढभाए ठिईए बहुतरं दव्वं।

सेसे विसेसहीणं जा उक्कोसंति सव्वसिं।।"

इदमुक्तं भवति—बद्धमपि ज्ञानावरणं कर्म त्रीणि वर्षं सहस्राणि यावदवेद्यमानमास्ते, ततस्तन्मनोऽनुभवनकालस्तस्य, स च वर्षसहस्रत्रयन्यूनस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीमान इति। 'अन्ये त्वाहुः—अबाधाकालो वर्षसहस्रत्रयमानो बाधा कालश्च सागरोपमकोटीकोटीत्रिंशल्लक्षणः तद्वद्वितीयमपि च कर्मस्थितिकालः, स चाबाधाकालवर्जितः कर्मनिषेककालो भवति, एवमन्यकर्मस्वप्यबाधाकालो व्याख्येयो, नवरमायुषि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि निषेकः, पूर्वकोटीत्रिभागश्चाबाधाकाल इति। 'वेयणिज्जं जहण्णेणं दो समय' ति केवलयोगप्रत्ययबन्धापेक्षया वेदनीयं द्विसमयस्थितिकं भवति, एकत्र बध्यते द्वितीये वेद्यते, यच्चोच्यते 'वेयणियस्स जहण्णा बारस नामगोयाण अट्ट(उ) मुहुत्त 'त्ति तत्सकषायस्थितिबन्धमाश्रित्येति वेदितव्यमिति।

स्त्रीद्वारे—

६/३५ 'णाणावरणिज्जं णं भंते! कम्मं किं इत्थी बंधइ' इत्यादि प्रश्नः, तत्र न स्त्री न पुरुषो न नपुंसको वेदोदयरहितः, स चानिवृत्तिबादरसम्परायप्रभृतिगुणस्थानकवर्तो भवति, तत्र चानिवृत्तिबादरसम्परायसूक्ष्मसम्परायौ ज्ञानावरणीयस्य बन्धकौ सप्तविधषड्विधबन्धकत्वात् उपशान्तमोहादिष्वबन्धक एकविधबन्धकत्वात्, अत उक्तं स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नातीति।

६/३६ 'आउगं णं भंते!' इत्यादिप्रश्नः, तत्र स्त्रयादित्रयमायुः स्याद् बध्नाति स्यान्न बध्नाति, बन्धकाले बध्नाति, अबन्धकाले तु न बध्नाति, आयुषः सकृदेवैकत्र भवे बन्धात्, निवृत्तस्त्रयादिवेदस्तु न बध्नाति निवृत्तिबादरसम्परायादिगुणस्थानकेष्वायुर्बन्धस्य व्यवच्छिन्नत्वात्।

संयतद्वारे

६/३७ 'णाणावरणिज्ज' मित्यादि, 'संयतः' आद्यसंयमचतुष्टय-वृत्तिज्ञानावरणं बध्नाति, यथाख्यातसंयतस्तूपशान्तमोहादिर्न

बध्नाति। अत उक्तं 'संजए सिये' त्यादि। असंयतो मिथ्यादृष्ट्यादिः संयतासंयतस्तु देशविरतस्तौ च बध्नीतः, निषिद्धसंयमादिभावस्तु सिद्धः। स च न बध्नाति, हेत्वभावादित्यर्थः। 'आउगे हेड्डिल्ला तिन्नि भयणाए' ति संयतोऽसंयतः संयतासंयत-श्चायुर्बन्धकाले बध्नाति अन्यदा तु नेति भजनयेत्युक्तम् 'उवरिल्ले ण बंधइ' ति संयतादिषूपरितनः सिद्धः स चायुर्न बध्नाति।

सम्यग्दृष्टिद्वारे—

६/३८ 'सम्मदिट्ठी सिय' ति सम्यग्दृष्टिः वीतरागस्तदितरश्च स्यात्तत्र वीतरागो ज्ञानावरणं न बध्नाति, एकनिधबन्धकत्वात् इतरश्च बध्नातीति स्यादित्युक्तं मिथ्यादृष्टिमिश्रदृष्टी तु बध्नीत एवेति, 'आउए हेड्डिल्ला दो भयणाए' ति सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टि आयुः स्याद्बध्नीत स्याद् न बध्नीत इत्यर्थः तथाहि—सम्यग्दृष्टिपूर्वकरणादिरायुर्न बध्नाति इतरस्तु आयुर्बन्धकाले तद्बध्नाति अन्यदा तु न बध्नाति एवं मिथ्यादृष्टिरपि मिश्रदृष्टिस्त्वायुर्न बध्नात्येव तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावादिति।

संज्ञिद्वारे—

६/३९ 'सण्णी सिय बंधइ' ति संज्ञी मनः पर्याप्तियुक्तः, स च यदि वीतरागस्तदा ज्ञानावरणं न बध्नाति, यदि पुनरितरस्तदा बध्नाति ततः स्यादित्युक्तम्। 'असण्णी बंधइ' ति मनःपर्याप्तिकलो बध्नात्येव 'नो सण्णी नो असण्णी' ति केवली सिद्धश्च न बध्नाति, हेत्वभावात्। 'वेयणिज्जं हेड्डिल्ला दो बंधंति' ति संज्ञी असंज्ञी च वेदनीयं बध्नीत अयोगीसिद्धवर्जानां तद्बन्धकत्वात्। 'उवरिल्ले भयणाए' ति उपरितनो नो संज्ञी नोअसंज्ञी, स च सयोगायोगकेवली सिद्धश्च। तत्र यदि सयोगकेवली तदा वेदनीयं बध्नाति। यदि पुनरयोगकेवली सिद्धो वा तदा न बध्नाति, अतो भजनयेत्युक्तम्। 'आउगं हेड्डिल्ला दो भयणाए' ति संज्ञी असंज्ञी चायुः स्याद् बध्नीतः, अन्तर्मुहूर्तमेव तद्बन्धनात्। 'उवरिल्ले न बंधइ' ति केवली सिद्धश्चायुर्न बध्नातीति।

भवसिद्धिकद्वारे—

६/४० 'भवसिद्धए भयणाए' ति भवसिद्धिको यो वीतरागः स न बध्नाति ज्ञानावरणं तदन्यस्तु भव्यो बध्नातीति भजनयेत्युक्तं। 'नो भवसिद्धि ए नोअभवसिद्धि ए' ति सिद्धः। स च न बध्नाति। 'आउयं दो हेड्डिल्ला भयणाए' ति भव्योऽभव्यश्चायुर्बन्धकाले बध्नीतोऽन्यदा तु न बध्नीत इत्यतो भजनयेत्युक्तम्। 'उवरिल्ले न बंधइ' ति सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः।

दर्शनद्वारे—

६/४१ 'हेट्टिल्ला तिण्णि भयणाए' ति चक्षुरचक्षुरवधिदर्शानिनो यदि छद्मस्थवीतरागास्तदा न ज्ञानावरणं बध्नन्ति, वेदनीयस्यैव बन्धकत्वात्तेषां, सरागास्तु बध्नन्ति अतो भजनयेत्युक्तम् 'उवरिल्ले न बंधइ' ति केवलदर्शनी भवस्थः सिद्धो वा न बध्नाति, हेत्वभावादित्यर्थः 'वेयणिज्जं हेट्टिल्ला तिण्णि बंधंति' ति आद्यास्त्रयो दर्शानिनश्छद्मस्थवीतरागाः सरागाश्च वेदनीयं बध्नन्त्येव, 'केवलदंसणी भयणाए' ति केवलदर्शनी सयोगिकेवली बध्नाति अयोगिकेवली सिद्धश्च वेदनीयं न बध्नातीति भजनयेत्युक्तम्।

पर्याप्तकद्वारे—

६/४२ 'पज्जत्तए भयणाए' ति पर्याप्तको वीतरागः सरागश्च स्यात्तत्र वीतरागो ज्ञानावरणं न बध्नाति, सरागस्तु बध्नाति ततो भजनयेत्युक्तम्। 'नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए न बंधइ' ति सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः। 'आउगं हेट्टिल्ला दो भयणाए' ति पर्याप्तकापर्याप्तकौ आयुस्तद्बन्धकाले बध्नीतोऽन्यदा भजना। 'उवरिल्ले ने' ति सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः।

भाषकद्वारे—नेति

६/४३ 'दो वि भयणाए' ति भाषको—भाषालब्धिमांस्तदन्यस्त्वभाषकः। तत्र भाषको वीतरागो ज्ञानावरणीयं न बध्नाति सरागस्तु बध्नाति, अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति। पृथिव्यादयो विग्रहगत्यापन्नाश्च बध्नन्तीति। 'दो वि भयणाए' इत्युक्तं 'वेयणिज्जं भासए बंधइ' ति सयोग्यवसानस्यापि भाषकस्य सद्देवदनीयबन्धकत्वात् 'अभासए भयणाए' ति अभाषकस्त्वयोगी सिद्धश्च न बध्नाति पृथिव्यादिकस्तु बध्नातीति भजना।

परीत्तद्वारे—

६/४४ 'परित्त भयणाए' ति 'परित्तः' प्रत्येकशरीरोऽल्पसंसारो वा स च वीतरागोऽपि स्यात् न चासौ ज्ञानावरणीयं बध्नाति सरागपरीतस्तु बध्नातीति भजना। 'अपरित्ते बंधइ' ति। 'अपरित्तः' साधारणकायोऽनन्तसंसारो वा, स च बध्नाति 'नोपरित्ते नो अपरित्ते न बंधइ' ति सिद्धो न बध्नातीत्यर्थः। 'आउयं परित्तोवि अपरित्तोवि भयणाए' ति प्रत्येकशरीरादिः आयुर्बन्ध काल एवायुर्बध्नातीति न तु सर्वदा ततो भजनेति। सिद्धस्तु न बध्नात्येवेत्यतः आह—'णो परित्ते' इत्यादि।

ज्ञानद्वारे—

६/४५ 'हेट्टिल्ला चत्तारि भयणाए' ति आभिनिबोधिकज्ञानिप्रभृतयश्च-त्वरो ज्ञानिनो ज्ञानावरणं वीतरागावस्थायां न बध्नन्तीति सरागावस्थायां तु बध्नन्तीति भजना। 'वेयणिज्जं हेट्टिल्ला चत्तारि बंधंति' ति वीतरागाणामपि छद्मस्थानां वेदनीयस्य

बन्धकत्वात्। 'केवलनाणी भयणाए' ति सयोगिकेवलिनो वेदनीयस्य बन्धनादयोगिनां सिद्धानां चाबंधनाद्भजनेति।

योगद्वारे—

६/४७ 'हेट्टिल्ला तिण्णिभयणाए' ति मनोवाक्काययोगिनो ये उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनस्ते ज्ञानावरणं न बध्नन्ति, तदन्ये तु बध्नन्तीति भजना। 'अजोगी न बंधइ' ति अयोगी केवली सिद्धश्च न बध्नातीत्यर्थः। 'वेयणिज्जं हेट्टिल्ला बंधंति' ति मनोयोग्यादयो बध्नन्ति सयोगानां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्। 'अयोगी ण बंधइ' ति अयोगिनः सर्वकर्मणाम-बन्धकत्वादिति।

उपयोगद्वारे—

६/४८ 'अट्टसुवि भयणाए' ति साकारानाकारेति भजनेति।

आहारकद्वारे—

६/४९ 'दोवि भयणाए' ति आहारको वीतरागोऽपि भवति न ज्ञानावरणं बध्नाति सरागस्तु बध्नातीति आहारको भजनया बध्नाति, तथाऽनाहारकः केवली विग्रहगत्यापन्नश्च स्यात्तत्र केवली न बध्नाति, इतरस्तु बध्नातीति, अनाहारकोऽपि भजनयेति। 'वेयणिज्जं आहारए बंधइ' ति अयोगिकर्जानां सर्वेषां वेदनीयस्य बन्धकत्वात्। 'अणाहारए भयणाए' ति अनाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातगतकेवली च बध्नाति अयोगी सिद्धश्च न बध्नातीति भजना। 'आउए आहारए भयणाए' ति आयुर्बन्धकाल एवायुषो बन्धनात् अन्यदा त्वबंधनात् भजनेति। 'अणाहारए ण बंधति' ति विग्रहगतिगतानामप्या-युष्कस्याबन्धकत्वादिति।

सूक्ष्मद्वारे—

६/५० 'बायरे भयणाए' ति वीतरागबादराणां ज्ञानावरणस्याबन्धकत्वात् सरागबादराणां च बन्धकत्वाद् भजनेति। सिद्धस्य पुनरबन्धकत्वादाह—'नो सुहुमे' इत्यादि, 'आउए सुहुमे बायरे भयणाए' ति बन्धकाले बन्धनादन्यदा त्वबन्धनाद् भजनेति।

चरमद्वारे—

६/५१ 'अट्ट वि भयणाए' ति इह यस्य चरमो भवो भविष्यति स चरमः। यस्य तु नासौ भविष्यति सोऽचरमः, सिद्धश्चाचरमः, चरमभवाभावात्, तत्र चरमो यथायोगमष्टापि बध्नाति अयोगित्वे तु नेत्येवं भजना। अचरमस्तु संसारी अष्टापि बध्नाति सिद्धस्तु, नेत्येवमत्रापि भजनेति।

अथाल्पबहुत्वद्वारं, तत्र—

६/५२ 'इत्थी वेयगा संखेज्जगुणे' ति यतो देवनरतिर्यकपुरुषेभ्यः तत्स्त्रियः क्रमेण द्वात्रिंशत्सप्तविंशतित्रिगुणा द्वात्रिंशत्सप्तविंशतित्रिरूपाधिकाश्च भवन्तीति। 'अवेयगा अणंतगुण' ति अनिवृत्तिबादरसम्परायादयः सिद्धाश्चावेदा अत स्त्रीवेदेभ्योऽनन्तगुणा भवन्ति। 'नपुंसगवेयगा अणंतगुण' ति अनन्तकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानामिह गणनादिति। 'एएसिं सव्वेसि' मित्यादि 'एतेषां पूर्वोक्तानां संयतादीनां चरमान्तानां चतुर्दशानां द्वाराणां तद्गतभेदापेक्षया अल्पबहुत्वमुच्चारयितव्यम्। तद्यथा—एएसिं णं भंते! संजयाणं असंजयाणं संजयासंजयाणं नोसंजयनोअसंजय-नोसंजयासंजयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा संजया संजयासंजया असंखेज्जगुणा नोसंजयनोअसंजयनोसंजयासंजया अणंतगुणा असंजया अणंतगुणा इत्यादि प्रज्ञापनानुसारेण वाच्यं यावच्चरमाद्यल्पबहुत्वं एतदेवाह—'जाव सव्वत्थोवा जीवा अचरिमे' त्यादि अत्राचरमा अभव्याः। चरमाश्च ये भव्याश्चरमं भवं प्राप्स्यन्ति—सेत्स्यस्यन्तीत्यर्थः ते चाचरमेभ्योऽनन्तगुणाः यस्माद् भव्येभ्यः सिद्धा अनन्तगुणा भणिताः, यावन्तश्च सिद्धास्तावन्त एव चरमाः यस्माद्यावन्तः सिद्धा अतीताद्धायां तावन्त एव सेत्स्यन्त्यनागताद्धायामिति॥

॥ षष्ठशते तृतीयोद्देशकः ॥

चतुर्थ उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके जीवो निरूपितोऽथ चतुर्थोद्देशकेऽपि तमेव भंग्यन्तरेण निरूपयन्नाह—

६/५४ 'जीवे ण' मित्यादि 'कालाएसेणं' ति कालप्रकारेण कालमाश्रित्येत्यर्थः 'सपएसे' ति सविभागः 'नियमा सपएसे' ति अनादित्वेन जीवस्यानन्तसमयस्थितिकत्वात् सप्रदेशता, यो ह्येकसमयस्थितिः सोऽप्रदेशः, द्वयादिसमयस्थितिस्तु सप्रदेशः इह चानया गाथया भावना कार्या—

"जो जस्स पढमसमए षड्ढति भावस्स सो उ अपदेसो।

अण्णम्मि षड्ढमाणो कालाएसेण सपएसो॥"

नारकस्तु यः प्रथमसमयोत्पन्नः सोऽप्रदेशः द्वायादिसमयोत्पन्नः पुनः सप्रदेशोऽत उक्तम्—

६/५५ 'सिय सप्पएसे सिय अप्पएसे' एष तावदेकत्वेन जीवादिः सिद्धावसानः षड्विंशतिदण्डकः कालतः सप्रदेशत्वादिना चिन्तितः, अथायमेव तथैव पृथक्त्वेन चिन्त्यते—

६/५८ 'सव्वे वि ताव होज्ज सपदेस' ति उपपातविरहकालेऽसंख्यातानां पूर्वोत्पन्नानां भावात् सर्वेऽपि सप्रदेशा भवेयुः, तथा पूर्वोत्पन्नेषु मध्ये यदैकोऽप्यन्यो नारक उत्पद्यते तदा तस्य प्रथमसमयोत्पन्नत्वेनाप्रदेशत्वात् शेषाणां च द्वायादिसमयोत्पन्नत्वेन सप्रदेशत्वाद् उच्यते—'सपएसा य अपएसे य' ति एवं यदा बहव उत्पद्यमाना भवन्ति तदोच्यते 'सपएसा य अपएसा य' ति उत्पद्यन्ते चैकदैकादयो नारकाः, यदाह—

"एगो व दो व तिणिण व संखमसंखा व एगसमएणं।

उववज्जन्तेवइया उव्वडुंतावि एमेव॥"

६/६० 'पुढविकाइया ण' मित्यादि एकेन्द्रियाणां पूर्वोत्पन्नानामुत्पद्यमानानां च बहूनां सम्भवात्, 'सपएसावि अपएसावी' त्युच्यते।

६/६२ 'सेसा जहा नेरइए' त्यादि यथा नारका अभिलापत्रयेणोक्तास्तथा शेषा द्वीन्द्रियादयः सिद्धावसाना वाच्याः, सर्वेषामेषां विरहसंभवादेकाद्युत्पत्तेश्चेति। एवमाहारकानाहारकशब्द-विशेषितावेतावेकत्वपृथक्त्वदण्डकावध्येयौ, अध्ययनक्रम-श्चायम्—

६/६३ 'आहारए णं भंते! जीवे कालाएसेणं किं सपएसे अपएसे? गोयमा! सिय सपएसे सिय अपएसे' इत्यादि स्वधिया वाच्यः, तत्र यदा विग्रहे केवलिसमुद्घाते वाऽनाहारको भूत्वा पुनराहारकत्वं प्रतिपद्यते तदा तत्रप्रथमसमयेऽप्रदेशो द्वितीयादिषु तु सप्रदेश इत्यत उच्यते 'सिय सपएसे सिय अपएसे' ति एवमेकत्वे सर्वेष्वपि सादिभावेषु, अनादिभावेषु तु नियमा सपएसे ति वाच्यम्।

पृथक्त्वदण्डके त्वेवमभिलापो दृश्यः—आहारया णं भंते! जीवा कालाएसेणं किं सपएसा अपएसा? गोयमा! सपएसा वि अपएसावि 'ति तत्र बहूनामाहारकत्वेनावस्थितानां भावात्सप्रदेशत्वं, तथा बहूनां विग्रहगतेरनन्तरं प्रथमसमये आहारकत्वसंभवादप्रदेशत्वमप्याहारकाणां लभ्यत इति सप्रदेशा अपि अप्रदेशा अपीत्युक्तम्, एवं पृथिव्यादयोप्यध्येयाः। नारकादयः पुनर्विकल्पत्रयेण वाच्याः, तद्यथा—आहारया णं भंते! नेरइया किं सपएसा अपएसा? गोयमा! सव्वेऽवि ताव होज्ज सपएसा, अहवा सपएसा य अपएसे य, अहवा सपएसा य अपएसा ये' ति। एतदेवाह—आहारगाणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो' जीवपदमेकेन्द्रियपदपंचकं च वर्जयित्वा त्रिकरूपो भंगः त्रिकभंगो—भंगत्रयं वाच्यमित्यर्थः, सिद्धपदं त्विह न वाच्यं तेषामनाहारकत्वात्, अनाहारक-दण्डकद्वयमप्येवमनुसरणीयं, तत्र अनाहारको विग्रहगत्यापन्नः समुद्घातगतकेवली अयोगी सिद्धो वा स्यात्, स च अनाहारकत्वप्रथमसमयेऽप्रदेशः द्वितीयादिषु तु सप्रदेशस्तेन

स्यात् सप्रदेश इत्याद्युच्यते। पृथक्त्वदण्डके विशेषमाह—
 'अणाहारगा ण' मित्यादि जीवानेकेन्द्रियांश्च वर्जयन्तीति
 जीवैकेन्द्रियवर्जाः तान् वर्जयित्वेत्यर्थः जीवपदे एकेन्द्रियपदे
 च 'सपएसा य अपएसाये' त्वेवंरूप एक एव भंगको,
 बहूनां विग्रहगत्यापन्नानां सप्रदेशानामप्रदेशानां च लाभात्।
 नारकादीनां द्वीन्द्रियादीनां च स्तोकराणामुत्पादः, तत्र
 चैकद्वयादीनामनाहारकाणां भावात् षड्भंगिकासंभवः, तत्र द्वौ
 बहुवचनान्तौ अन्ये तु चत्वार एकवचनबहुवचनसंयोगात्,
 केवलैकवचनभंगकाविह न स्तः, पृथक्त्वस्याधिकृतत्वादिति।
 'सिद्धेहिं तियभंगो' ति सप्रदेशपदस्य बहुवचनान्तरस्यैव संभवात्,
 भवसिद्धी य अभवसिद्धी य जहा ओहिय' ति, अयमर्थः—
 औधिकदण्डकवदेषां प्रत्येकं दण्डकद्वयं, तत्र च भव्योऽभव्यो
 वा जीवो नियमात् सप्रदेशः नारकादिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो
 वा, बहवस्तु जीवाः सप्रदेशा एव, नारकाद्यास्तु त्रिभंगवन्तः
 एकेन्द्रियाः पुनः सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येकभंगा एवेति,
 सिद्धपदं तु न वाच्यं, सिद्धानां भव्याभव्यविशेषणानुपत्तेरिति।
 तथा 'नो भवसिद्धि य नो अभवसिद्धि य', ति एतद्विशेषणं
 जीवादिदण्डकद्वयमध्येयम्। तत्र चाभिलाषः—'नो भवसिद्धि ए
 नो अभवसिद्धि ए णं भंते! जीवे सपएसे अपएसे इत्यादि,
 एवं पृथक्त्वदण्डकोऽपि केवलमिह जीवपदं सिद्धपदं चेति
 द्वयमेव नारकादिपदानां नोभ्यनोअभव्यविशेषणस्यानुपत्तेरिति।
 इह च पृथक्त्वदण्डके पूर्वोक्तं भंगकत्रयमनुसर्तव्यमत एवाह—
 जीवसिद्धेहिं तियभंगो ति। संज्ञिषु यौ दण्डकौ तयोर्द्वितीयदण्डके
 जीवादिपदेषु भंगत्रयं भवतीत्यत आह—'सण्णीहि' इत्यादि,
 तत्र संज्ञिनो जीवाः कालतः सप्रदेशा भवन्ति चिरोत्पन्नानपेक्ष्य
 उत्पादविरहानन्तरं चैकस्योत्पत्तौ तत्प्राथम्ये सप्रदेशाश्चा-
 प्रदेशाश्चेति स्यात्। बहूनामुत्पत्तिप्राथम्ये तु सप्रदेशाश्चा-
 प्रदेशाश्चेति स्यात्। तदेवं भंगकत्रयमिति। एवं सर्वपदेषु,
 केवलमेतयोर्दण्डकयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियसिद्धपदानि न
 वाच्यानि, तेषु संज्ञिविशेषणस्यासंभवादिति। 'असन्नीहिं'
 इत्यादि, अयमर्थः—असंज्ञिषु—असंज्ञिविषये द्वितीयदण्डके
 पृथिव्यादिपदानि वर्जयित्वा भंगकत्रयं प्राग्दर्शितमेव वाच्यम्।
 पृथिव्यादिपदेषु हि सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव, सदा
 बहूनामुत्पत्त्या तेषामप्रदेशबहुत्वस्यापि संभवात्, नैरयिकादीनां
 व व्यन्तरान्तानां संज्ञिनामप्यसंज्ञित्वमसंज्ञिभ्य उत्पादाद्भूत-
 भावतयावसेयम्। तथा नैरयिकादिष्वसंज्ञित्वस्य कादाचित्क-
 त्वेनैकत्वबहुत्वसंभवात् षड् भंगका भवन्ति, ते च दर्शिता
 एव, एतदेवाह—'नेरइयदेवमणुए' त्यादि, ज्योतिष्कवैमा-
 निकसिद्धास्तु न वाच्यास्तेषामसंज्ञित्वस्यासंभवात्। तथा
 नोसंज्ञिनोअसंज्ञिविशेषणदण्डकयोर्द्वितीयदण्डके जीव-

मनुजसिद्धपदेषूक्तरूपं भंगकत्रयं भवति, तेषु बहूनामवस्थितानां
 लाभादुत्पद्यमानानां चैकादीनि संभवादिति। एतयोश्च
 दण्डकयोर्जीवमनुजसिद्धपदान्येव भवन्ति। नारकादिपदानां
 नोसंज्ञिनोअसंज्ञितिविशेषणस्याघटनादिति। सलेश्यदण्डकद्वये
 औधिकदण्डकवज्जीवनारकादयो वाच्याः। सलेश्यतायां
 जीवत्ववदनादित्वेन विशेषानुत्पादकत्वात् केवलं सिद्धपदं
 नाधीयते। सिद्धानामलेश्यत्वात्। कृष्णलेश्या नीललेश्याः
 कापोतलेश्याश्च जीवनारकादयः प्रत्येकं दण्डकद्वयेनाहारक-
 जीवादिदुपयुज्य वाच्याः, केवलं यस्य जीवनारकादेरेताः
 सन्ति स एव वाच्यः, एतदेवाह—'कणहलेसे' त्यादि, एताश्च
 ज्योतिष्कवैमानिकानां न भवन्ति। सिद्धानां तु सर्वा न भवन्तीति
 तेजोलेश्याद्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु त एव त्रयो भंगाः
 पृथिव्यव्वनस्पतिषु पुनः षड् भंगाः। यत एतेषु तेजोलेश्या
 एकादयो देवाः पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्त इति।
 सप्रदेशानामप्रदेशानां चैकत्वबहुत्व संभव इति। 'एतदेवाह-
 तेउलेसाए' इत्यादि इह नारकतेजोवायुविकलेन्द्रियसिद्धपदानि
 न वाच्यानि, तेजोलेश्याया अभावादिति। पद्मलेश्या-
 शुक्ललेश्ययोर्द्वितीयदण्डके जीवादिषु पदेषु त एव त्रयो
 भंगकास्तदेवाह—'पह्लेसे' इत्यादि, इह च पंचेन्द्रिय-
 तिर्यग्मनुष्यवैमानिकपदान्येव वाच्यानि, अन्येष्वनयोरभावा-
 दिति, अलेश्यदण्डकयोर्जीवमनुष्य सिद्धपदान्येवोच्यन्ते।
 अन्येषामलेश्यत्वस्यासंभवात्। तत्र च जीवसिद्धयोर्भंगकत्रयं
 तदेवं, मनुष्येषु तु षड् भंगाः, अलेश्यतां प्रतिपन्नानां प्रति-
 पद्यमानानां चैकादीनां मनुष्याणां संभवेन सप्रदेशत्वेऽप्रदेशत्वे
 चैकत्वबहुत्वसंभवादिति, इदमेवाह—'अलेसीहिं' इत्यादि।

सम्यग्दृष्टिदण्डकयोः सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिप्रथमसमयेऽप्रदेशत्वं
 द्वितीयादिषु तु सप्रदेशत्वम् तत्र द्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु
 त्रयो भंगाः, तथैव विकलेन्द्रियेषु तु षड्यतस्तेषु सासादन-
 सम्यग्दृष्टय एकादयः पूर्वोत्पन्ना उत्पद्यमानाश्च लभ्यन्तेऽतः
 सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वयोरेकत्वबहुत्वसंभव इति। एतदेवाह —
 'सम्मदिट्टीही' त्यादि इहैकेन्द्रियपदानि न वाच्यानि, तेषु
 सम्यग्दर्शनाभावादिति। 'मिच्छदिट्टीहिं' इत्यादि मिथ्यादृष्टि-
 द्वितीयदण्डके जीवादिपदेषु तु त्रयो भंगाः—मिथ्यात्वं प्रतिपन्ना
 बहवः सम्यक्त्वभ्रंशे तत्रप्रतिपद्यमानाश्चैकादयः संभवन्तीति
 कृत्वा, एकेन्द्रियपदेषु पुनः सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव,
 तेष्ववस्थितानामुत्पद्यमानानां च बहूनामेव भावादिति, इह च
 सिद्धा न वाच्याः, तेषां मिथ्यात्वाभावादिति। सम्यग्मिथ्यादृष्टि-
 बहुत्वदण्डके 'सम्मामिच्छदिट्टीहिं' छब्भंगा अयमर्थः —
 सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वं प्रतिपन्नकाः प्रतिपद्यमानाश्चैकादयोऽपि
 लभ्यन्त इत्यतस्तेषु षड् भंगा भवन्तीति। इह चैकन्द्रिय-

विकलेन्द्रियसिद्धपदानि न वाच्यान्यसम्भावादिति। 'संजएहिं' इत्यादि संयतेषु संयतशब्दविशेषितेषु जीवादिपदेषु त्रिकभंगः^१, संयमं प्रतिपन्नानां बहूनां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां भावात्, इह च जीवपदमनुष्यपदे एव वाच्ये, अन्यत्र संयतत्वाभावादिति, असंयतद्वितीयदण्डके 'असंजएहिं संजएहिं संजयासंजएहिं' इत्यादि इहासंयतत्वं प्रतिपन्नानां बहूनां संयतत्वादिप्रतिपातेन तत्प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां भावादभंगकत्रयम् एकेन्द्रियाणां तु पूर्वोक्तयुक्त्या सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चैक एव भंग इति, इह सिद्धपदं नाध्येयमसंभावादिति। संयतासंयतबहुत्वदण्डकै 'संजयासंजएहिं' इत्यादि इह देशविरतिं प्रतिपन्नानां बहूनां संयमादसंयमाद् वा निवृत्त्य तां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां भावादभंगकत्रयसम्भवः। इह जीवपंचेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यपदान्ये-वाध्येयानि, तदन्यत्र संयतासंयतत्वस्याभावादिति। नवरमिह जीवसिद्धपदे एव वाच्ये अत एवोक्तं 'जीवसिद्धेहिं तिय-भंगो' ति। 'सकसाईहिं जीवाइओ तिय भंगो' ति, अयमर्थः— सकषायणां सदाऽवस्थितत्वात् सप्रदेशा इत्येको भंगः, तथोपशमश्रेणीतः प्रच्यवमानत्वे सकषायत्वं प्रतिपद्यमाना एकादयो लभ्यन्ते, ततश्च सप्रदेशाश्चाप्रदेशश्च तथा सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्यपरभंगकद्वयमिति, नारकादिषु तु प्रतीतमेव भंगकत्रयम्। 'एगिंदिएसु अभंगयं' ति भंगकानाम-भावोऽभंगकम्। सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव विकल्प इत्यर्थः, बहूनामवस्थितानामुत्पद्यमानानां च तेषु लाभादिति। इह च सिद्धपदं नाध्येयमकषायित्वात् एवं क्रोधादिदण्डकेष्वपि 'कोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो' ति अयमर्थः क्रोधकषायिद्वितीयदण्डके जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एव भंगः शेषेषु त्रयः। ननु सकषायिजीवपदवत्कथमिह भंगत्रयं न लभ्यते? उच्यते इह मानमायालोभेभ्यो निवृत्ताः क्रोधं प्रतिपद्यमाना बहव एव लभ्यन्ते। प्रत्येकं तद्राश्रीनामनन्तत्वात्, न त्वेकादयो। यथोप-शमश्रेणीतः प्रच्यवमानाः सकषायित्वं प्रतिपत्तार इति। 'देवेहिं छब्भंग' ति देवपदेषु त्रयोदशस्वपि षड् भंगाः। तेषु क्रोधोदयवतामल्पत्वेनैकत्वे बहुत्वे च सप्रदेशाप्रदेशत्वयोः संभावादिति। मानकषायिमायाकषायिद्वितीयदण्डके 'नेरइयदे-वेहिं छब्भंग' ति नारकाणां देवानां च मध्येऽल्पा एव मान-मायोदयवन्तो भवन्तीति पूर्वोक्तन्यायात् षड् भंगा भवन्तीति। 'लोहकसाईहिं जीवेगिंदियवज्जो तिययंगो' ति एतस्य क्रोध-सूत्रवद्भावना, 'नेरइएहि छब्भंग' ति नारकाणां लोभोदय-वतामल्पत्वात्पूर्वोक्ताः षड् भंगा भवन्तीति। आह च—

"कोहे माणे माया बोद्धव्वा सुरगणेहिं छब्भंगा।
माणे माया लोभे नेरइएहिं पि छब्भंगा ॥"

देवा लोभप्रचुरा, नारकाः क्रोधः प्रचुरा इति। अकषायिद्वितीय-दण्डके जीवमनुष्यसिद्धपदेषु भंगत्रयमन्येषामसंभवात्, एतदेवाह—'अकसाई' इत्यादि।

'ओहियनाणे आभिनिबोहियणाणे सुयनाणे जीवाइओ तियभंगो' ति, औघिकज्ञानं—मत्यादिभिरविशेषितं तत्र मतिश्रुतज्ञानयोश्च बहुत्वदण्डके जीवादिपदेषु त्रयो भंगाः पूर्वोक्ता भवन्ति, तत्रौघिकज्ञानमतिश्रुतज्ञानिनां सदाऽवस्थितत्वेन सप्रदेशानां भावात्, सप्रदेशा इत्येकः तथा मिथ्याज्ञानान्मत्यादिज्ञानमात्रं मत्यज्ञानान्मतिज्ञानं श्रुताज्ञानाच्च श्रुतज्ञानं प्रतिपद्यमानानामेकादीनां लाभात्सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्च तथा सप्रदेशाश्च अप्रदेशाश्चेति द्वावित्येवं त्रयमिति। 'विगलेदिएहिं छब्भंग' ति द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सासादनसम्यक्त्वसंभवेनाभिनिबोधिकादिज्ञानिनामेकादीनां सम्भवात् एव षड्भंगाः, इह च यथायोगं पृथिव्यादयः सिद्धाश्च न वाच्याः, असम्भवादिति, एवमवध्यादिष्वपि भंगत्रयभावना, केवलमवधिदण्डकयोरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः

सिद्धाश्च न वाच्याः। मनःपर्यायदण्डकयोस्तु जीवा मनुष्याश्च वाच्याः, केवलदण्डकयोस्तु जीवमनुष्यसिद्धा वाच्याः। अतएव वाचनान्तरे दृश्यते 'विण्णेयं जस्स जं अत्थि' ति। 'ओहिण् अन्नाणे' इत्यादि, सामान्येऽज्ञाने मत्यज्ञानादिभिरविशेषिते मत्यज्ञाने श्रुताज्ञाने च जीवादिषु त्रिभंगी भवति। एते हि सदाऽवस्थितत्वात्सप्रदेशा इत्येकः। यदा तु तदन्ये ज्ञानं विमुच्य मत्यज्ञानादितया परिणमन्ति तदैकादिसंभवेन सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्यादिभंगद्वयमित्येवं भंगत्रयमिति, पृथिव्यादिषु तु सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येक एवेत्यत आह— 'एगिंदियवज्जो तियभंगो' ति इह च त्रयेऽपि सिद्धा न वाच्याः, विभंगे तु जीवादिषु भंगत्रयं तद्भावना च मत्यज्ञानादिवत्, केवलमिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः सिद्धाश्च न वाच्या इति। 'सजोई जहा ओहिओ' ति सयोगी जीवादिदण्डकद्वयेऽपि तथा वाच्यो यथौघिको जीवादिः, स चैवम्—सयोगी जीवो नियमात्सप्रदेशो नारकादिस्तु सप्रदेशोऽप्रदेशो वा। बहवस्तु जीवाः सप्रदेशा एव, नारकाद्यास्तु त्रिभंगवन्तः, एकेन्द्रियाः पुनस्तृतीयभंगा इति, इह सिद्धपदं नाध्येयम्। 'मणजोई' इत्यादि मनोयोगिनो योगत्रयवन्तः संज्ञिन इत्यर्थः। वाग्योगिन एकेन्द्रियवर्जाः काययोगिनस्तु सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयः एतेषु च जीवादिषु त्रिविधो भंगः। तद्भावना च मनोयोग्यादीनामवस्थितत्वे प्रथमः। अमनोयोगित्वादित्यागाच्च मनोयोगित्वाद्युत्पादेना-प्रदेशत्वलाभेऽन्यद्भंगकद्वयमिति नवरं काययोगिनो ये एकेन्द्रियास्तेष्वभंगकं, सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भंगक इत्यर्थः, एतेषु च योगत्रयदण्डकेषु जीवादिपदानि यथासंभव-

मध्येयानि सिद्धपदं च न वाच्यमिति। 'अजोगी जहा अलेस' ति दण्डकद्वयेऽप्यलेश्यसमवक्तव्यत्वात्तेषां, ततो द्वितीय-दण्डकेऽयोगिषु जीवसिद्धपदयोर्भंगकत्रयं मनुष्येषु च षड्भंगीति। 'सागारे' त्यादि साकारोपयुक्तेष्वनाकारोपयुक्तेषु च नारकादिषु त्रयो भंगाः, जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशाश्चा-प्रदेशाश्चेत्येक एव। तत्र चान्यतरोपयोगादन्यतरगमने, प्रथमेतरसमयेष्वप्रदेशत्वसप्रदेशत्वे भावनीये, सिद्धानां त्वेकसमयोपयोगित्वेऽपि साकारस्येतरस्य चोपयोगस्यास-कृत्प्राप्त्या सप्रदेशत्वं सकृत्प्राप्त्या चाप्रदेशत्वमवसेयम्, एवं चासकृदवाप्तसाकारोपयोगान् बहूनाश्रित्य सप्रदेशा इत्येको भंगः तानेव सकृदवाप्तसाकारोपयोगं चैकमाश्रित्य द्वितीय तथा तानेव सकृदवाप्तसाकारोपयोगांश्च बहूनाधिकृत्य तृतीयः। अनाकारोपयोगे त्वसकृत्प्राप्तानाकारोपयोगानाश्रित्य प्रथमः। तानेव सकृत्प्राप्तानाकारोपयोगं चैकमाश्रित्य द्वितीयः। उभयेषामप्यनेकत्वे तृतीय इति।

'सवेयगा जहा सकसाइ' ति सवेदानामपि जीवादिपदेषु भंगकत्रयभावात्, एकेन्द्रियेषु चैकभंगसद्भावात् इह च वेदप्रतिपन्नान् बहून् श्रेणिभ्रंशे च वेदं प्रतिपद्यमानकादीनपेक्ष्य भंगकत्रयं भावनीयम्। 'इत्थीवेयगे' त्यादि इह वेदाद्-वेदान्तरसंक्रान्तौ प्रथमे समयेऽप्रदेशत्वमितरेषु च सप्र-देशत्वमवगम्या। भंगकत्रयं पूर्ववद्योज्यं नपुंसकवेददण्डक-योस्त्वेकेन्द्रियेष्वेको भंगः सप्रदेशाश्चाप्रदेशाश्चेत्येवंरूपः प्रागुक्तयुक्तेरेवेति। स्त्रीदण्डकपुरुषदण्डकेषु देवपंचेन्द्रियगति-मनुष्यपदान्येव, नपुंसकदण्डकयोस्तु देववर्जानि वाच्यानि, सिद्धपदं च सर्वेष्वपि न वाच्यमिति।

'अवेयगा जहा अकसाइ' ति जीवमनुष्यसिद्धपदेषु भंगक-त्रयमकषायिवद्वाच्यमित्यर्थः। 'ससरीरी जहा ओहिओ' ति औधिकदण्डकवत्सशरीरिदण्डकयोर्जीवपदे सप्रदेशतैव वाच्याऽनादित्वात्सशरीरत्वस्य नारकादिषु तु बहुत्वे भंग-कत्रयमेकेन्द्रियेषु तृतीयभंग इति। 'ओरालियवेउव्वियसरीराणं जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो' ति औदारिकादिशरीरिस्त्वेषु जीव-पदे एकेन्द्रियपदेषु च बहुत्वे तृतीयभंग एव, बहूनां प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चानुक्षणं लाभात् शेषेषु भंगकत्रयं बहूनां तेषु प्रतिपन्नानां तथौदारिकवैक्रियत्यागेनौदारिकं वैक्रियं च प्रतिपद्यमानानामेकादीनां लाभात् इहौदारिकदण्डकयोर्नारका देवाश्च न वाच्याः। वैक्रियदण्डकयोस्तु पृथिव्यपूतेजो-वनस्पतिविकलेन्द्रिया न वाच्याः। यश्च वैक्रियदण्डके एकेन्द्रियपदे तृतीयभंगोऽभिधीयते स वायूनामसंख्यातानां प्रतिसमयं वैक्रियकरणमाश्रित्य, यद्यपि पंचेन्द्रियतिर्यचो मनुष्याश्च वैक्रियलब्धिभन्तोऽल्पे, तथाऽपि भंगकत्रय-

वचनसामर्थ्याद् बहूनां वैक्रियावस्थानसंभवः, तथैकादीनां तत्प्रतिपद्यमानता चावसेया, 'आहारगे' त्यादि आहारकशरीरे जीवमनुष्ययोः षड् भंगकाः पूर्वोक्ता एव, आहारक-शरीरिणामल्पत्वात्, शेषजीवानां तु तन्न संभवतीति। 'तेयगे' त्यादि तेजसकार्मणशरीरे समाश्रित्य जीवादयस्तथा वाच्या यथौधिकास्त एव, तत्र च जीवाः सप्रदेशा एव वाच्याः, अनादित्वात्सैजसादिसंयोगस्य, नारकादयस्तु त्रिभंगाः एकेन्द्रियास्तु तृतीयभंगाः, एतेषु च शरीरादिदण्डकेषु सिद्धपदं नाध्येयमिति। 'असरीरे' त्यादि अशरीरेषु जीवादिषु सप्रदेशतादित्वेन वक्तव्येषु जीवसिद्धपदयोः पूर्वोक्ता त्रिभंगी वाच्या। अन्यत्राशरीर-त्वस्याभावादिति। 'आहारपज्जतीए' इत्यादि इह जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च बहूनामाहारादिपर्याप्तिः प्रतिपन्नानां तदपर्याप्तित्यागेनाहारपर्याप्त्यादिभिः पर्याप्तिभावं गच्छतां च बहूनामेव लाभात्सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भंगः शेषेषु तु त्रयो भंगा इति। 'भासामणे' त्यादि इह भाषामनसोः पर्याप्तिर्भाषामनःपर्याप्तिः, भाषामनःपर्याप्त्योस्तु बहुश्रुताभिमताने केनापि कारणेनैकत्वं विवक्षितं, ततश्च तथा पर्याप्तका यथा संज्ञिनस्तथा सप्रदेशादितया वाच्याः, सर्वपदेषु भंगक-त्रयमित्यर्थः, पंचेन्द्रियपदान्येव चेह वाच्यानि पर्याप्तीनां चेदं स्वरूपमाहुः—येन करणेन भुक्तमाहारं खलं रसं च कर्तुं समर्थो भवति तस्य करणस्य निष्पत्तिराहारपर्याप्तिः करणं शक्तिरिति पर्यायौ, तथा शरीरपर्याप्तिर्नाम येन करणे-नौदारिकवैक्रियाहारकाणां शरीराणां योग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वौदारिकादिभावेन परिणमयति तस्य करणस्य निर्वृतिः शरीरपर्याप्तिरिति, तथा येन करणेनैकादीनामिन्द्रियाणां प्रायोग्या-णि द्रव्याणि गृहीत्वाऽऽत्मीयान् विषयान् ज्ञातुं समर्थो भवति तस्य करणस्य निर्वृतिरिन्द्रियपर्याप्तिः, तथा येन करणेनान-प्राणप्रायोग्याणि द्रव्याण्यवलम्ब्यावलम्ब्यान्प्राणतया निःसृष्टुं समर्थो भवति तस्य करणस्य निर्वृतिरानप्राणपर्याप्तिरिति, तथा येन करणेन सत्यादिभाषाप्रायोग्याणि द्रव्याण्यव-लम्ब्यावलम्ब्य चतुर्विधया भाषया परिणमय भाषानिसर्जनसमर्थो भवति तस्य करणस्य निष्पत्तिर्भाषापर्याप्तिरिति, तथा येन करणेन चतुर्विधमनोयोग्यानि द्रव्याणि गृहीत्वा मननसमर्थो भवति तस्य करणस्य निष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिरिति। 'आहार अप्पज्जतीए' इत्यादि इह जीवपदे पृथिव्यादिपदेषु च सप्रदेशा अप्रदेशाश्चेत्येक एव भंगकोऽनवरतं, विग्रहगतिमतामाहार-पर्याप्तिमतां बहूनां लाभात्, शेषेषु च षड् भंगाः पूर्वोक्ता एवाहारपर्याप्तिमतामल्पत्वात्। 'सरीरअपज्जतीए' इत्यादि इह जीवेष्वेकेन्द्रियेषु चैक एव भंगोऽन्यत्र तु त्रयम्। शरीराद्यपर्याप्तकानां कालतः सप्रदेशानां सदैव लाभात् अ-प्रदेशानां च कदाचिदेकादीनां लाभात्, नारकदेवमनुष्येषु च

षडेवेति। 'भासे' त्यादि भाषामनोऽपर्याप्त्याऽपर्याप्तकास्ते येषां जातितो भाषामनोयोग्यत्वे सति तदसिद्धिः, ते च पंचेन्द्रिया एव। यदि पुनर्भाषामनसोरभावमात्रेण तदपर्याप्तका अभविष्यंस्तदैकेन्द्रिया अपि तेऽभविष्यंस्ततश्च जीवपदे तृतीय एव भंगः स्यात्, उच्यते च—'जीवाइओ तियभंगो' ति तत्र जीवेषु पंचेन्द्रियतिर्यक्षु च बहूनां तदपर्याप्तिं प्रतिपन्नानां प्रतिपद्यमानानां चैकादीनां लाभात् पूर्वोक्तमेव भंगत्रयं, नेरइयदेवमणुएसु छब्भंग 'ति नैरयिकादिषु मनोऽपर्याप्तिका नामल्पतरत्वेन सप्रदेशाप्रदेशानामेकादीनां लाभात् एव षड् भंगाः, एषु च पर्याप्त्यपर्याप्तिदण्डकेषु सिद्धपदं नाध्येयमसंभवादिति। पूर्वोक्तद्वाराणां संग्रहगाथा 'सपएसे' त्यादि, 'सपएस' ति कालतो जीवाः सप्रदेशाः इतरे चैकत्व-बहुत्वाभ्यामुक्ताः, 'आहारग' ति आहारका अनाहारकाश्च तथैव, 'भविय' ति भव्या अभव्या उभयनिषेधाश्च तथैव, 'सण्णि' ति संज्ञिनोऽसंज्ञिनो द्वयनिषेधवन्तश्च तथैव, 'लेस' ति सलेश्याः कृष्णादिलेश्याः^१६, अलेश्याश्च तथैव, 'दिट्ठि' ति दृक् दृष्टिः सम्यग्दृष्ट्यादिका ३ तद्वन्तस्तथैव 'संजय' ति संयता असंयता मिश्रास्त्रय निषेधिनश्च तथैव, 'कसाय' ति कषायिणः क्रोधादिमन्तः^४ अकषायाश्च तथैव 'नाणे' ति ज्ञानिनः आभिनिबोधिकादिज्ञानिनः^५ अज्ञानिनो मत्यज्ञानादि-मन्तश्च तथैव 'जोग' ति सयोगाः, मनआदियोगिनः अयोगिनश्च तथैव, 'उवओगे' ति साकारानाकारोपयोगास्तथैव, 'वेद' ति सवेदाः स्त्रीवेदादिमन्तः^३ अवेदाश्च तथैव 'ससरीर' ति सशरीरा औदारिकादिमन्तः^५ अशरीराश्च तथैव 'पज्जति' ति आहारादिपर्याप्तिमन्तः^५ तदपर्याप्तकाश्च^५ तथैवोक्ता इति। जीवाधिकारादेवाह—

६/६४ 'जीवा ण' मित्यादि 'पच्चक्खाणि' ति सर्वविरताः 'अपच्चक्खाणि' ति अविरताः। 'पच्चक्खाणापच्चक्खाणि' ति देशविरता इति।

६/६५ 'सेसा दो पडिसेहेयव्व' ति प्रत्याख्यानदेशप्रत्याख्याने प्रतिषेधनीये, अविरतत्वान्नारकादीनामिति।

प्रत्याख्यानं च तज्ज्ञाने सति स्यादिति ज्ञानसूत्रं, तत्र च

६/६६ 'जे पंचिंदिया ते तिण्णिवि' ति नारकादयो दण्डकोक्ताः पंचेन्द्रियाः समनस्कत्वात् सम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानादित्रयं जानन्तीति। 'अवसेसे' त्यादि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः प्रत्याख्यानादित्रयं न जानन्त्यमनस्कत्वादिति।

६/६७ कृतं च प्रत्याख्यानं भवतीति तत्करणसूत्रं,

६/६८ प्रत्याख्यानमायुर्बन्धहेतुरपि भवतीत्यायुः सूत्रं, तत्र च 'जीवा ये'

त्यादि जीवपदे जीवाः प्रत्याख्यानादित्रयनिबद्धायुष्का वाच्याः। वैमानिकपदे च वैमानिका अप्येवं प्रत्याख्यानादित्रयवतां तेषूपादात् 'अवसेसे' ति नारकादयोऽप्रत्याख्याननिर्वृत्तायुषो, यतस्तेषु तत्त्वेनाविरता एवोत्पद्यन्त इति।

उक्तार्थसंग्रहगाथा—'पच्चक्खाण' मित्यादि, प्रत्याख्यान-मित्येतदर्थ एको दण्डकः, एवमन्ये त्रयः॥

॥ षष्ठे शते चतुर्थोद्देशकः ॥

पञ्चम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके सप्रदेशा जीवा उक्ताः, अथ सप्रदेशमेव तमस्कायादिकं प्रतिपादयितुं पंचमोद्देशकमाह—

६/७० 'किमिय' मित्यादि 'तमुक्काए' ति तमसां—तमिश्रपदुगलानां कायो—राशिस्तमस्कायः स च नियत एवेह स्कन्धः काश्चिद्विवक्षितः, स च तादृशः पृथ्वीरजः स्कन्धो वा स्यादुदकरजःस्कन्धो वा न त्वन्यस्तदन्यस्यातादृशत्वादिति, पृथिव्यबुविषयसन्देहादाह—'किं 'पुढवी' त्यादि, व्यक्तम्

६/७१ 'पुढविकाए ण' मित्यादि, पृथिवीकायोऽस्त्येककः कश्चिच्छुभो—भास्वरः, यः किंविधः? इत्याह—देशं विवक्षितक्षेत्रस्य प्रकाशयति भास्वरत्वान्मण्यादिवत् तथाऽस्त्येककः पृथ्वीकायो देशं—पृथ्वीकायान्तरं प्रकाशयामपि न प्रकाशयत्यभास्वर-त्वादन्धोपलवत् नैवं पुनरप्यायस्तस्य सर्वस्याप्यप्रकाशत्वात्, ततश्च तमस्कायस्य सर्वथैवाप्रकाशकत्वादप्यायपरिणामतैव

६/७२ 'एगपएसियाए' ति एक एव च न द्वायादय औत्तरार्धयं प्रति प्रदेशो यस्यां सा तथा तथा, समभित्तितयेत्यर्थः, न च वाच्यमेकप्रदेशप्रमाणयेति, असंख्यातप्रदेशावगाहस्वभावत्वेन जीवानां तस्यां जीवावगाहाभावप्रसंगात्। तमस्कायस्य च स्तिबुकाकाराप्यायिकजीवात्मकत्वात् बाहल्यमानस्य च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति 'एत्थं णं' ति प्रज्ञापकालेख्य-लिखितस्यारुणोद^२समुद्रादेरधिकरणतोपदर्शनार्थमुक्तत्वान्,

६/७३ 'अहे' इत्यादि अधः—अधस्तान्मल्लकमूलसंस्थितः—शरावबुध्नसंस्थानः, समजलान्तस्योपरि सप्तदश योजन-शतान्येकविंशत्यधिकानि यावद्वलयसंस्थानत्वात् स्थापना च

६/७४. 'केवइयं विक्खंभेण' ति विस्तारेण क्वचिद् 'आयामविकखंभेणं' ति दृश्यते, तत्र चायाम—उच्चत्वमिति। 'संखेज्जवित्थडे'

१. प्रकाशित अभयदेवीया वृत्ति के अनुसार कृष्णादिलेश्याः पद तक ग्रन्थ परिमाण ६००० (छह हजार) है।

२. अप्रती प्रज्ञापकालेख्यलिखितस्यारुणादयसमुद्रा ..

इत्यादि संख्यातयोजनविस्तृतः आदित आरभ्य ऊर्ध्वं संख्येययोजनानि यावत्ततोऽसंख्यातयोजनविस्तृत उपरि तस्य विस्तारगामित्वेनोक्तत्वात्। 'असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं' ति संख्यातयोजनविस्तृत्वेऽपि तमस्काय-स्वासंख्याततमद्वीपपरिक्षेपतो बृहत्तरत्वात् परिक्षेपस्यासंख्यात-योजनसहस्रप्रमाणत्वम्। आन्तरबहिः परिक्षेपविभागस्तु नोक्तः, उभयस्याप्यसंख्याततया तुल्यत्वादिति।

६/७५ 'देवे ण' मित्यादि अथ किं पर्यन्तामिदं देवस्य महद्द्व्यादिकं विशेषणम्?

इत्याह—'जाव इणामेव' त्यादि, इह यावच्छब्द ऐदम्पर्यर्थः। यतो देवस्य महद्द्व्यादिविशेषणानि गमनसामर्थ्यप्रकर्ष-प्रतिपादनाभिप्रायेणैव प्रतिपादितानि। 'इणामेव इणामेवतिकड्डु' इदं गमनमेवम्—अतिशीघ्रत्वावेदक चप्पुटिकारूपहस्तव्यापारो-पदर्शनपरम्, अनुस्वाराश्रवणं च प्राकृतत्वात्, द्विर्वचनं च शीघ्रत्वातिशयोपदर्शनपरमितिः उपदर्शनार्थः कृत्वा विधायेति 'केवलकप्पं' ति केवलज्ञानकल्पं परिपूर्णमित्यर्थः। वृद्धव्याख्या तु—केवलः संपूर्णः कल्पत इति कल्पः—स्वकार्यकरणसमर्थो वस्तुरूप इति यावत्, केवलश्चासौ कल्पश्चेति केवलकल्पस्तम् 'तिहिं अच्छरानिवाएहिं' ति तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरित्यर्थः 'तिसत्तखुत्तो' ति त्रिगुणाः सप्त त्रिसप्त त्रिसप्तवारास्त्रिसप्तकृत्व एकविंशतिवारानित्यर्थः 'हव्वं' ति शीघ्रम् 'अत्थेगइय' मित्यादि संख्यातयोजनमानं व्यतिव्रजेदितरं तु नेति।

६/७८ 'ओराला बलाहय' ति महान्तो मेघाः, 'संसेयंति' ति संस्विघ्नन्ते तज्जनक पुद्गलस्नेहसम्पत्त्या संमूर्च्छन्ति तत्पुद्गलमीलनात्-दाकारतयोत्पत्तेः।

६/७९ 'तं भंते!' ति तत् संस्वेदनं समूर्च्छनं वर्षणं च।

६/८० 'बायरे विज्जुयारे' ति इह न बादरतेजस्कायिका मन्तव्याः, इहैव तेषां निषेत्स्यमाणत्वात्, किन्तु देवप्रभावजनिता भास्वराः पुद्गलास्त इति,

६/८२ 'णण्णत्थ विग्गहगईसमावण्णेणं' ति न इति योऽयं निषेधो बादरपृथिवीतेजसोः सोऽन्यत्र विग्रहगतिसमापन्त्वाद्विग्रह-गत्यैव बादरे ते भवतः, पृथिवी हि बादरा रत्नप्रभाद्यास्वष्टासु पृथिवीषु गिरिविमानेषु, तेजस्तु मनुजक्षेत्र एवेति, तृतीया चेह पञ्चम्यर्थे प्राकृत्वादिति।

६/८३ 'फलयस्सओ पुण अत्थि' ति परिपाश्वरतः पुनः सन्ति तमस्कायस्य चन्द्रादय इत्यर्थः।

६/८४ 'कादूसणिगया पुण सा' इति ननु तत्पाश्वरतश्चन्द्रादीनां सद्भावात्तत्राऽपि तत्रास्ति? सत्यं, केवलं कम्—आत्मानं

दूषयति तमस्कायपरिणामेन परिणमनात् कदूषणा सैव कदूषणिका, दीर्घता च प्राकृतत्वात् अतः सत्यप्यसावसतीति।

६/८५ 'काले' ति कृष्णः 'कालोभासे' ति कालोऽपि कश्चित् कुतोऽपि कालो नावभासत इत्यत आह—कालावभासः कालदीप्तिर्वा, 'गंभीरलोमहरिसजणणे' ति गंभीरश्चासौ भीषणत्वाद्रो-महर्षजननश्चेति गंभीररोमहर्षजननः रोमहर्षजनकत्वे हेतुमाह—'भीमे' ति भीष्मः 'उत्तासणए' ति उत्कम्पहेतुः निगमयन्नाह—'परमे' त्यादि, यत एवमत एवाह—'देवेवि ण' मित्यादि, 'तप्पढमयाए' ति दर्शनप्रथमतायां 'खुभाएज्ज' ति 'स्कम्नीयात्' धुभ्येत्, 'अहे ण' मित्यादि अथैनं तमस्कायम् अभिसमागच्छेत् प्रविशेत्ततो भयात् 'सीहं सीहं' ति कायगतेरतिवेगेन 'तुरियं तुरियं' ति मनोगतेरतिवेगात्, किमुक्तं भवति? क्षिप्रमेव, 'वीइवएज्ज' ति व्यतिव्रजेदिति।

६/८६. 'तमे ति वे' त्यादि तमः अन्धकाररूपत्वात् इत्येतत् वा विकल्पार्थः तमस्काय इति वाऽन्धकाराराशिरूपत्वात् अन्धकारमिति वा तमोरूपत्वात् महान्धकारमिति वा महातमोरूपत्वात् लोकान्धकारमिति वा लोकमध्ये तथाविधस्यान्यस्यान्धकारस्याभावात्, एवं लोकतमिश्रमिति वा, देवान्धकारमिति वा देवानामपि तत्रोद्द्योता-भावेनान्धकारात्मकत्वात्, एवं देवतमिश्रमिति वा, देवारण्यमिति वा, बलवद्देवभयान्नश्यतां देवानां तथाविधारण्यमिव शरणभूतत्वात्, देवव्यूह इति वा देवानां दुर्भेदत्वादव्यूह इव चक्रादिव्यूह इव देवव्यूहः देवपरिघ इति वा देवानां भयोत्पादकत्वेन गमनविधातहेतुत्वात् देवप्रतिक्षोभ इति वा तत्क्षोभहेतुत्वात् अरुणोदक इति वा समुद्रः, अरुणोदक समुद्रजलविकारत्वादिति। पूर्वं पृथिव्यादेस्तमस्कायशब्दवाच्यता पृष्टा, अथ पृथिव्यपकायपर्यायतां पृथिव्यपकायौ च जीवपुद्गलरूपाविति तत्पर्यायतां च प्रश्नयन्नाह—

६/८७ 'तमुक्काए ण' मित्यादि बादरवायुवनस्पतयस्त्रसाश्च तत्रोत्पद्यन्तेऽपकाये तदुत्पत्तिसंभवात् त्वितरेऽस्वस्थानत्वात् अत उक्तं

६/८८ 'णो चेव ण' मित्यादि। तमस्कायसादृश्यात्कृष्णराजिप्रकरणम्—

६/८९ 'कणहराईओ' ति कृष्णवर्णपुद्गलरेखाः

६/९० 'हव्विं' ति समं किलेति वृत्तिकारः प्राह 'अक्खाडगे' त्यादि इह आखाटकः—प्रेक्षास्थाने आसनविशेषलक्षणस्तत्संस्थिताः स्थापना चेयम्—

६/९६ 'णो असुरो' इत्यादि असुरनागकुमाराणां तत्र गमनासंभवादिति।

६/१०३ 'कणहराईति व' ति पूर्ववत्, मेघराजीति वा कालमेघरे-

खातुल्यत्वात्, मधेति वा तमिश्रतया षष्ठनारकपृथवीतुल्यत्वात् माधवतीति वा तमिश्रतयैव सप्तमनरकपृथिवीतुल्यत्वात् 'वायफलहे इव' ति वातोऽत्र वात्या तद्वद्वातमिश्रत्वात् परिघश्च दुर्लभ्यत्वात् सा वातपरिघः 'वायपरिखोभे इ व' ति वातोऽत्रापि वात्या तद्वद्वातमिश्रत्वात् परिक्षोभश्च परिक्षोभहेतुत्वात् सा वातपरिक्षोभ इति, 'देवफलहे इ व' ति क्षोभयति देवानां परिघ इव—अर्गलेव दुर्लभ्यत्वाद्देवपरिघ इति 'देवपलिवखोभे इ व' ति देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति।

- ६/१०६ 'अट्टसु उवासंतरेसु' ति द्वयोरन्तरमवकाशान्तरं तत्राभ्यन्तरोत्तरपूर्वयोरेकं पूर्वयोर्द्वितीयम् अभ्यन्तरपूर्वदक्षिणयोस्तृतीयं दक्षिणयोश्चतुर्थम् अभ्यन्तरदक्षिणपश्चिमयोः पंचमं पश्चिमयोः षष्ठम् अभ्यन्तरपश्चिमोत्तरयोः सप्तमं उत्तरयोरष्टमं,
- ६/११० 'लोगंतियविमाण' ति लोकस्य ब्रह्मलोकस्यान्ते—समीपे भवानि लोकान्तिकानि तानि च तानि विमानानि चेति समासः, लोकान्तिका वा देवास्तेषां विमानानीति समासः, इह चावकाशान्तरवर्तिष्वष्टासु अर्चिः प्रभृतिषु विमानेषु वाच्येषु यत् कृष्णराजिमध्यभागवर्ति रिष्टं विमानं नवममुक्तं तद्विमानप्रस्तावादवसेयम्।
- ६/११४ 'सारस्वयमाइच्चाण' मित्यादि, इह सारस्वतादित्ययोः समुदितयोः सप्त देवाः सप्त च देवशतानि परिवार इत्यक्षरानुसारेणावसीयते, एवमुत्तरत्रापि, 'अवसेसाणं' ति अव्यबाधाग्नेयरिष्ठानां
- ६/११५ 'एवं णेयव्वं' ति पूर्वोक्तप्रश्नोत्तराभिलापेन लोकान्तिकविमानवक्तव्यताजातं नेतव्यं, तदेव पूर्वोक्तेन सह दर्शयति—'विमाणाण' मित्यादि गाथाद्धं, तत्र विमानप्रतिष्ठानं दर्शितमेव, बाहल्यं तु विमानानां पृथिवीबाहल्यं तच्च पंचविंशतिर्योजनशतानि, उच्चत्वं तु सप्त योजनशतानि संस्थानं पुनरेषां नानाविधमनावलिकाप्रविष्टत्वात् आवलिकाप्रविष्टानि हि वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रभेदात् त्रिसंस्थानान्येव भवन्तीति। 'बंधलोए' इत्यादि, ब्रह्मलोके या विमानानां देवानां च जीवाभिगमोक्ता वक्तव्यता सा तेषु नेतव्या अनुसर्तव्या, कियद्दूरं? इत्यत आह—'जावे' त्यादि, सा चेयं लेशतः—'लोर्यंतियविमाणा णं भंते! कतिवण्णा पण्णत्ता? गोयमा! तिवण्णा पण्णत्ता लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला, एवं पभाए निच्चालोया गंधेणं इट्ठगंधा एवं इट्ठफासा एवं सव्वरयणमया तेसु देवा समचउरंसा अल्लमहुगवण्णा पम्हलेसा।
- ६/११६ 'लोर्यंतियविमाणेसु णं भंते! सव्वे पाणा ४ पुढविकाइयत्ताए ५ देवत्ताए उववण्णपुव्वा? 'हंते' त्यादि लिखितमेव,
- ६/११८ 'केवतियं' ति छान्दसत्वात् कियत्या अबाधया अन्तरेण

लोकान्तः प्रज्ञप्त इति।

॥ षष्ठशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

व्याख्यातो विमानादिवक्तव्यतानुगतः पञ्चमोद्देशकः, अथ षष्ठस्तथाविध एव व्याख्यायते, तत्र—

- ६/१२० 'कइ ण' मित्यादि सूत्रम्, इह पृथिव्यो नरकपृथिव्य ईषत्प्राग्भाराया अनधिकरिष्यमाणत्वात्, इह च पूर्वोक्तमपि यत् पृथिव्याद्युक्तं तत्तदपेक्षमारणान्तिकसमुद्घातवक्तव्यताऽभिधानार्थमिति न पुनरुक्ता,
- ६/१२२ 'तत्थगए चेव' ति नारकावासप्राप्त एव 'आहारेज्ज वा' पुद्गलानादद्यात् 'परिणामेज्ज व' ति तेषामेव खलरसभावं कुर्यात् 'सरीरं वा बंधेज्ज' ति तैरेव शरीरं निष्पादयेत्। 'अत्थेगइए' ति यस्तस्मिन्नेव समुद्घाते म्रियते 'ततो पडिनिगतति' ततो नारकावासात् समुद्घाताद् वा 'इह समागच्छइ' ति स्वशरीरे
- ६/१२४ 'केवइयं गच्छेज्ज' ति कियद्दूरं गच्छेद्? गमनमाश्रित्य 'केवइयं पाउणेज्ज' ति कियद्दूरं प्राप्नुयात्? अवस्थानमाश्रित्य
- ६/१२५ 'अंगुलस्स असंखेज्जइ भागमेत्तं वे' त्यादि इह द्वितीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या, अंगुलम् इह यावत्करणादिदं दृश्यं—विहत्थं वा रयणिं वा कुच्छिं वा धणुं वा कोसं वा जोयणं वा जोयणसयं वा जोयणसहस्सं वा जोयणसयसहस्सं वा इति 'लोगंते वे' त्यत्र गत्वेति शेषः, ततश्चायमर्थः—उत्पादस्थानानुसारेणांगुलासंख्येयभागमात्रादिके क्षेत्रे समुद्घाततो गत्वा, कथम्? इत्याह—'एगएसियं सेडिं मोत्तूण' ति यद्यप्यसंख्येयप्रदेशावगाहस्वभावो जीवस्तथाऽपि नैकप्रदेशश्रेणीवर्त्यसंख्यप्रदेशावगाहनेन गच्छति तथा-स्वभावत्वादित्यतस्तां मुक्त्वेत्युक्तमिति।

॥ षष्ठशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

षष्ठोद्देशके जीववक्तव्यतोक्ता सप्तमे तु जीवविशेषयोनिवक्तव्यतादिरर्थ उच्यते, तत्र चेदम् सूत्रम्—

- ६/१२९ 'अह भंते!' इत्यादि, 'सालीणं' ति कलमादीना 'वीहीण'

ति सामान्यतः 'ज्वजवाणं' ति यवविशेषाणां 'एतेसि, ण' मित्यादि, उक्तत्वेन प्रत्यक्षाणं 'कोट्टाउत्ताणं' ति कोष्ठे— कुशूले आगुप्तानि—तत्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि तेषां 'पल्लाउत्ताणं' ति इह पल्यो—वंशादिमयो धान्याधार- विशेषः 'मंचाउत्ताणं मालाउत्ताणं' मित्यत्र मंचमालयोर्भेदः— 'अकुञ्जो होइ मंचो मालो य धरोवरि होंति' 'ओलित्ताणं' ति द्वारदेशे पिघानेन सह गोमयादिनाऽवलित्पानां 'लित्ताणं' ति सर्वतो गोमयादिनैव लिप्तानां 'पिहियाणं' ति स्थगितानां तथाविधाच्छादनेन, 'मुहियाणं' ति मृत्तिकादिमुद्रावतां 'लंछियाणं' ति रेखादिकृतलाञ्छनानां 'जोणि' ति अंकुरोत्पत्तिहेतुः 'तेण परं' ति ततः परं 'पमिलायइ' ति प्रम्लायति वर्णादिना हीयते 'पविद्धंसइ' ति क्षीयते, एवं च बीजमबीजं च भवति— उत्तमपि नांकुरमुत्पादयति, किमुक्तं भवति?—'तेण परं जोणीवोच्छेए पण्णते' ति।

६/१३० 'कल' ति कलया वृत्तचनका इत्यन्ये 'मसूर' ति भिलंगाः— चनकिका इत्यन्ये 'निष्काव' ति वल्लाः 'कुलत्थ' ति चवलिकाकाराः चिपिटिका भवन्ति 'आलिसंदग' ति चत्रलकप्रकाराः चवलका एवान्ये 'सईण' ति तुवरी 'पलिमंथग' ति वृत्तचनकाः कालचनका इत्यन्ये

६/१३१ 'अयसि' ति भंगी 'कुसुंभग' ति लट्टा 'वरग' ति वरट्टो, 'रालग' ति कंगुविशेषः 'कोदूसग' ति कोद्रवविशेषः। 'सण' ति त्वक्प्रधाननालो धान्य विशेषः 'सरिसव' ति सिद्धार्थकाः 'मूलगबीय' ति मूलकबीजानि शाकविशेषबीजानीत्यर्थः।

अनन्तरं स्थितिरुक्ताऽतः स्थितेरेव विशेषाणां मुहूर्तादीनां स्वरूपाभिधानार्थमाह—

६/१३२ 'ऊसासद्धा वियाहिय' ति उच्छ्वासाद्धा इति उच्छ्वास- प्रमितकालविशेषाः व्याख्याताः उक्ता भगवद्भिरिति, अत्रोत्तरम्—'असंखेज्जे' त्यादि असंख्यातानां समयानां सम्बन्धिनो ये समुदया—वृन्दानि तेषां याः समितयो मीलनानि तासां यः समागमः—संयोगः समुदयसमितिसमागमस्तेन यत्कालमानं भवतीति गम्यते सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते। 'संखेज्जा आवलियंति किल षट्पंचाशदधिकशतद्वयेनावलिका- कानां क्षुल्लकभवग्रहणं भवति, तानि च सप्तदश सातिरेकाणि उच्छ्वासनिःश्वासकाले, एवं च संख्याता आवलिका उच्छ्वासकालो भवति।

'हट्टस्से' त्यादि 'हृष्टस्य' तुष्टस्य अनवकल्यस्य जरसा- ऽनभिभूतस्य निरुपक्विलष्टस्य व्याधिना प्राक् साम्प्रतं चानभिभूतस्य जन्तोः मनुष्यादेरेक उच्छ्वासेन सह निःश्वास उच्छ्- वासनिःश्वासः य इति गम्यते एष प्राण इत्युच्यते। 'सत्ते'

त्यादि इति प्राकृतत्वात् सप्तप्राणा उच्छ्वासनिःश्वासा य इति गम्यते स स्तोक इत्युच्यते इति वर्तते, एवं सप्त स्तोका ये स लवः, लवानां सप्तसप्त्या एषः—अधिकृतो मुहूर्तो व्याख्यात इति। 'तिणिण सहस्सा.....' गाहा अस्या भावार्थोऽयम्—सप्तभिरुच्छ्वासैः स्तोकाः स्तोकाश्च लवे सप्त ततो लवः सप्तभिर्गुणितो जातैकोनपंचाशत्, मुहूर्ते च सप्तसप्ततिर्लवा इति सा एकोनपंचाशता गुणितेति जातं यथोक्तं मानमिति। 'एताव ताव गणियस्स विसए' ति एता- वान्—शीर्षप्रहेलिकाप्रमेयराशिपरिणामः तावदिति क्रमार्थः गणितविषयो—गणितगोचरः गणितप्रमेय इत्यर्थः।

६/१३३ 'ओवमिय' ति उपमया निर्वृत्तमौपमिकं उपमामन्तरेण यत् कालप्रमाणमनतिशयिना ग्रहीतुं न शक्यते तदौपमिकमिति भावः।

अथ पल्योपमादिप्ररूपणाय परमाण्वादिस्वरूपमभिधित्सुराह—

६/१३४ 'सत्येणे' त्यादि, छेत्तुगिति खड्गादिना द्विष्वा कर्तुं 'भेतुं' सूच्यादिना सच्छिद्रं कर्तुं, वा विकल्पे किलेति लक्षण- मेवास्येदमभिधीयते न पुनस्तं कोऽपि छेतुं भेतुं वाऽऽरभत इत्यर्थः। 'सिद्ध' ति ज्ञानसिद्धाः केवलिन इत्यर्थः, न तु सिद्धाः—सिद्धिगतास्तेषां वदनस्यासंभवादिति। आदिं प्रथमं प्रमाणाणां वक्ष्यमाणोत्पलक्षणश्लक्षिणकादीनामिति, यद्यपि च नैश्चयिकपरमाणोरपीदमेव लक्षणं तथाऽपीह प्रमाणाधिकाराद् व्यावहारिकपरमाणुलक्षणमिदमवसेयम्।

अथ प्रमाणान्तरलक्षणमाह—'अणंताण' मित्यादि 'अनन्तानां' व्यावहारिकपरमाणुपुद्गलानां समुदयाः—द्वयादिसमुदयास्तेषां, समितयो—मीलनानि तासां समागमः—परिणामवशादेकी- भवनं समुदयसमितिसमागमस्तेन या परिमाणमात्रेति गम्यते, सा एका अत्यन्तं श्लक्षणा श्लक्षणाश्लक्षणा सैव श्लक्षणा- श्लक्षिणका उत्—प्राबल्येन श्लक्षणाश्लक्षिणका इति उपदर्शने वा समुच्चये, एते च उतश्लक्षणाश्लक्षिणकादयोऽगुलान्ता दश प्रमाणभेदा यथोत्तरमष्टगुणाः सन्तोऽपि प्रत्येक- मनन्तपरमाणुत्वं न व्यभिचरन्तीत्यत उक्तम्—'उस्सणह- सण्हियाइ वे' त्यादि 'सण्हसण्हिय' ति प्राक्तनप्रमाणा- पेक्षयाऽष्टगुणत्वाद् ऊर्ध्वरेण्वपेक्षया त्वष्टमभागत्वात् श्लक्षणाश्लक्षिणका इत्युच्यते। 'उड्डरेणु' ऊर्ध्वार्ध- स्तिर्यक्चलनधर्मोपलभ्यो रेणुः ऊर्ध्वरेणुः 'तसरेणु' ति त्र्यस्यति—पौरस्त्यादिवायुप्रेरितो गच्छति यो रेणुः स तसरेणुः। 'रहरेणु' ति रथगमनोत्खातो रेणु रथरेणुः वालाग्रलिक्षादयः प्रतीता। 'रयणि' ति हस्तः। 'नालिय' ति यष्टिविशेषः 'अक्खे' ति शकटावयवविशेषः। 'तं तिउणं सविसेसं परिरएणं' ति

तद् योजनं त्रिगुणं सविशेषं, वृत्तपरिधेः किञ्चिन्न्यूनषड्-
भागादिकत्रिगुणत्वात्। 'एककाहियबेहियतेहिय' ति षष्ठीवचन-
लोपाद् एकाहिकद्रवाहिकत्र्याहिकानाम् 'उक्कोस' ति उत्कर्षतः
सप्तरात्रप्ररूढानां भृतो वालाग्रकोटीनामिति सम्बन्धः, तत्रैकाहिक्यो
मुण्डते शिरसि एकेनाह्ना यावत्यो भवन्तीति, एवं शेषास्वपि
भावना कार्या, कथम्भूतः? इत्याह—'संमृष्टः आकर्णभृतः
संनिचितः प्रचयविशेषान्निविडः, किंबहुना? एवं भृताऽसौ
येन 'तेणं' ति तानि वालाग्राणि। 'नो कुत्येज्ज' ति न कुत्ये-
युः प्रचयविशेषाच्छुषिराभावाद्वायोरसंभवाच्च नासारतां
गच्छेयुः रित्यर्थः अत एव नो परिविद्धंसेज्ज ति न परिविद्धंसेरन्
—कतिपयपरिशाटमप्यं-गीकृत्य न विध्वंसं गच्छेयुः, अत
एव च 'नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्ज' ति न पूतितया—न
पूतिभावं कदाचिदा-गच्छेयुः।

'तओ णं' ति तेभ्यो वालाग्रेभ्यः 'एगमेगं बालगं अवहाय'
ति एकैकं वालाग्रमपनीय कालो मीयत इति शेषः। ततश्च
'जावइएण' मित्यादि, यावता कालेन स पत्यः 'खीणे' ति
वलाग्राकर्षणात्क्षयमुपगत आकृष्टधान्यकोष्ठागारवत् तथा
'नीरए' ति निर्गतरजःकल्पसूक्ष्म वालाग्रोऽपकृष्टधान्यरजः-
कोष्ठागारवत्, तथा 'निम्मले' ति विगतमलकल्पसूक्ष्म-
तरबालाग्रः प्रमार्जनिका-प्रमृष्टकोष्ठागारवत् तथा 'निड्डिय'
ति अपनेयद्रव्यापनयमाश्रित्य निष्ठां गतः विशिष्टप्रयत्न-
प्रमार्जितकोष्ठागारवत्। तथा 'निल्लेव' ति अत्यन्तसंश्लेषा-
त्तन्मयतां गतः वालाग्रापहारादपनीतभित्त्यादिगतधान्यलेप-
कोष्ठागारवत्। अथ कस्मान्निर्लेपः? इत्यत आह—'अवहडे'
ति निःशेषवालाग्रलेपापहारात् अत एव 'विसुद्धे' ति
रजोमलकल्पबालाग्रविगमकृतशुद्धत्वापेक्षया लेपकल्प-
वालाग्रापहरणेन विशेषतः शुद्धो विशुद्धः एकार्थश्चैते शब्दाः
व्यावहारिकं चेदमद्धापल्योपमं, इदमेव यदाऽसंख्येय-
खण्डीकृतैकैकवालाग्रभृतपल्याद्वर्षशते वर्षशते खण्ड-
शोऽपोद्धारः क्रियते तदा सूक्ष्ममुच्यते। समये समयेऽपोद्दारे
तु द्विधैवोद्धारपल्योपमं भवति तथा तैरेव बालाग्रैरे स्पृष्टाः
प्रदेशास्तेषां प्रतिसमयापोद्दारे यः कालस्तद्व्यावहारिकं
क्षेत्रपल्योपमं पुनस्तैरेवासंख्येयखण्डीकृतैः स्पृष्टास्पृष्टानां
तथैवापोद्दारे यः कालस्तत्सूक्ष्मं क्षेत्रपल्योपमम्।

एवं सागरोपममपि विज्ञेयमिति ॥

कालाधिकारादिदमाह—

६/१३५ 'जंबुदीने ण' मित्यादि 'उत्तिमदुपताए' ति उत्तमान्—तत्काला-
पेक्षयोत्कृष्टान् अर्थान्—आयुष्कादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ता
उत्तमकाष्ठां प्राप्ता वा—प्रकृष्टावस्थां गता तस्याम्।
'आगारभावपडोयारे' ति आकारस्य—आकृतेर्भावाः—पर्यायाः,
अथवाऽऽकाराश्च भावाश्च अकारभावस्तेषां प्रत्यवतारः—
अवतरणमाविर्भाव आकारभावप्रत्यवतारः 'बहुसमरमणिज्जं'
ति बहुसमः—अत्यन्तसमोऽत एव रमणीयो यः स तथा
'आलिंगपुक्खरे' ति आलिंगपुक्खरं मुरजमुखपुटं लाघवाय
सूत्रमतिदिशन्नाह—एवमित्यादि, उत्तरकुरुवक्तव्यता च
जीवाभिगमोक्तैवं दृश्या—'मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा
'सरस्तलं सर एव, 'करतलेइ वा' करतलं कर एवं इत्यादीत्येवं
भूमिसमताया भूमिभागगततृणमणीनां वर्णपंचकस्य सुरभिगन्धस्य
मृदुस्पर्शस्य शुभशब्दस्य वाप्यादीनां वाप्याद्यनुगतोत्पात-
पर्वतादीनामुत्पातपर्वताद्याश्रितानां हंसासनादीनां लतामृहादीनां
शिलापट्टकादीनां च वर्णको वाच्यः, तदन्ते चैतद् दृश्यम्
—'तत्थ णं बहवे भारया मणुस्सा मणुस्सीओ य आसयंति
सयंति चिद्धंति निसीयंति तुयद्धंती' त्यादि। 'तत्थ तत्थे'
त्यादि तत्र तत्र भारतस्य खण्डे खण्डे 'देसे देसे' खण्डांशे
खण्डांशे 'तहिं तहिं' ति देशस्यान्ते देशस्यान्ते उद्दालकादयो
वृक्षविशेषाः यावत्करणात् 'कयमाला नट्टमाला' इत्यादि
दृश्यम्। 'कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूल' ति कुशाः—दर्भाः
विकुशा—बल्वजादयः तृणविशेषास्तैर्विशुद्धानि — तदपेतानि
वृक्षमूलानि—तदधोभागा येषां ते तथा, यावत् करणात्
'मूलमंतो कंदमंतो' इत्यादि दृश्यम्। 'अणुसज्जित्य' ति
अनुसक्तवन्तः पूर्वकालात् कालान्तरमनुवृत्तवन्तः 'पम्हगंध'
ति पद्मसमगन्धयः, 'मियगंध' ति मृगमदगन्धयः 'अमम'
ति ममकाररहिताः 'तेयतलि' ति तेजश्च तलं च रूपं
येषामस्ति ते तेजस्तलिनः 'सह' ति सहिष्णवः समर्थाः
'सणिंचारे' ति शनैः—मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवंशीलाः
शनैश्चारिणः।

॥ षष्ठशते सप्तमोद्देशकः ॥

अष्टम उद्देशकः

सप्तमोद्देशके भारतस्य स्वरूपमुक्तमष्टमे तु पृथिवीनां तदुच्यते।

६/१३७ 'कइ ण' मित्यादि

१. अणु. वृ. पत्र १६७ अनुयोगद्वारवृत्तौ किञ्चित् पाठभेदो दृश्यते—नो कुत्येयुः प्रचयविशेषादेव
शुषिराभावात् वायोरसंभवाच्च नासारतां गच्छेयुः।
२. अप्रतौ—समयोऽपोद्धार
स प्रतौ—समयाऽपोद्धार

६/१४२ 'बादरे अगणिकाए' इत्यादि, ननु यथा बादराग्नेर्मनुष्यक्षेत्र एव सद्भावान्निषेध इहोच्यते। एवं बादरपृथिवीकायस्यापि निषेधो वाच्यः स्यात् पृथिव्यादिष्वेव स्वस्थानेषु तस्य भावादिति, सत्यं किन्तु नेह यद्यत्र नास्ति तत्र सर्वं निषिध्यते मनुष्यादिवद् विचित्रत्वात् सूत्रगतेरतोऽसतोऽपीह पृथिवीकायस्य न निषेध उक्तः। अप्कायवायुवनस्पतीनां त्विह घनोदध्यादिभावेन भावान्निषेधाभावः सुगम एवेति।

६/१४४ 'नो नागो' ति नागकुमारस्य तृतीयायाः पृथिव्या अधोगमनं नास्तीत्यत एवानुमीयते, 'नो असुरो नो नागो' ति इहाप्यत एव वचनाच्च चतुर्थ्यादीनामधोऽसुरकुमारनागकुमारयोगमनं नास्तीत्यनुमीयते, सौधर्मेऽनानयोस्त्वधोऽसुरो गच्छति चमरवत् न नागकुमारः अशक्तत्वात्। अत एवाह—'देवो पकरेइ' इत्यादि इह च बादरपृथिवीतेजसोर्निषेधः सुगम एवास्व-स्थानत्वात्, तथाऽब्रह्मयुवनस्पतीनामनिषेधोऽपि सुगम एव। तयोरुदधिप्रतिष्ठितत्वेनाब्वनस्पतिसंभवाद् वायोश्च सर्वत्र भावादिति।

६/१५० 'एवं सणकुमारमाहिंदेसु' ति इहातिदेशतो बादराब्वनस्पतीनां संभवोऽनुमीयते, स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेय इति। एवं 'बंभलोयस्स उवरिं सव्वेहिं' ति अच्युतं यावदित्यर्थः परतो देवस्यापि गमो नास्तीति न तत्कृतबलाहकादेर्भावः, 'पुच्छियव्वो य' ति बादरोप्कायोऽग्निकायो वनस्पतिकायश्च प्रष्टव्यः। 'अण्णं तं चेव' ति वचनान्निषेध्यश्च, यतोऽनेन विशेषोक्तादन्यत्सर्वं पूर्वोक्तमेव वाच्यमिति सूचितम्, तथा ग्रैवेयकादीषत्प्राग्भारान्तेषु पूर्वोक्तं सर्वं गेहादिकमधिकृत-वाचनायामनुक्तमपि निषेधतोऽध्येयमिति ॥

अथ पृथिव्यादयो ये यन्नाध्येतव्यास्तां सूत्रसंग्रहगाथयाऽऽह- 'तमुकाय' गाहा 'तमुकाए' ति तमस्कायप्रकरणे प्रागुक्ते 'कप्पणए' ति अनन्तरोक्तसौधर्मादिदेवलोकापंचके च। 'अगणी पुढवी य' ति अग्निकायपृथिवीकायावध्येतव्यौ—अत्थि णं भंते! बादरे पुढविकाए बादरे अगणिकाए? णो इण्णट्ठे समट्ठे नण्णत्थ दिग्गहगतिसमावन्नण्णं इत्यनेनाभिलापेन। तथा 'अगणि' ति अग्निकायोऽध्येतव्यः 'पुढवीसु' ति रत्न-प्रभादिपृथिवीसूत्रेषु, 'अत्थि णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे बादरे अगणिकाए इत्याद्यभिलापेनेति। तथा 'आउतेउवणस्सइ' ति अप्कायतेजोवनस्पतयोऽध्येतव्याः— 'अत्थि णं भंते! बादरे आउकाए बादरे तेउवकाए बादरे वणस्सइकाए? णो इण्णट्ठे समट्ठे' इत्यादिनाऽभिलापेन, केषु? इत्याह—'कप्पुवरिम' ति कल्पपंचकोपरितनस्थानानामधो योऽब्वनस्पतिनिषेधः स यान्यब्रह्मयुप्रतिष्ठितानि तेषामध आनन्तर्येण वायोरेव भावादाकाशप्रतिष्ठितानामाकाशस्यैव

भावादेवगन्तव्यः, अग्नेस्त्वस्वस्थानादिति ॥

अनन्तरं बादराप्कायादयोऽभिहितास्ते चायुर्बन्धे सति भवन्तीत्यायुर्बन्धसूत्रम्।

६/१५१ तत्र 'जातिनामनिहत्ताएउए' ति जातिः एकेन्द्रियजात्यादिः पञ्चधा सैव नामेति—नामकर्मण उत्तरप्रकृतिविशेषो जीवपरिणामो वा तेन सह निधत्तं—निषिक्तं यदायुस्तज्जा-तिनामनिधत्तायुः, निषेकश्च कर्मपुद्गलानां प्रति समयमनुभवनार्थं रचनेति १, 'गतिनामनिधत्ताए' ति गतिः—नारकादिका चतुर्धा शेषं तथैव २, 'ठिइनामनिधत्ताए' ति स्थितिरिति यत्स्थातव्यं क्वचिद्विवक्षितभवे जीवेनायुः कर्मणा वा सैव नाम—परिणामो धर्मः स्थितिनाम तेन विशिष्टं निधत्तं यदायुर्दलितकरूपं तत् स्थितिनामनिधत्तायुः ३, अथवेह सूत्रे जातिनामगतिनाम-अवगाहनानामग्रहणात् जातिगत्यवगाहनानां प्रकृतिमात्रमुक्तं, स्थितिप्रदेशानुभागनामग्रहणात् तासामेव स्थित्यादय उक्तास्ते च जात्यादिनामसम्बन्धित्वान्नामकर्मरूपा एवेति नामशब्दः सर्वत्र कर्मार्थो घटत इति स्थितिरूपं नाम—नामकर्म स्थितिनाम तेन सह निधत्तं यदायुस्तत्स्थितिनामनिधत्तायुरिति। 'ओ-गाहणानामनिधत्ताए' ति अवगाहते यस्यां जीवः साऽव-गाहना—शरीरम् औदारिकादि तस्या नाम—औदारिका-दिशरीरनामकर्मैत्यवगाहनानाम अवगाहनारूपो वा नाम—परिणामोऽवगाहनानाम तेन सह यन्निधत्तमायुस्तदवगाह-नानामनिधत्तायुः 'पएसनामनिहत्ताए' ति प्रदेशानाम्—आयुः कर्मद्रव्याणां नाम—तथाविधा परिणतिः प्रदेशनाम प्रदेशरूपं वा नाम—कर्मविशेष इत्यर्थः प्रदेशनाम तेन सह निधत्त-मायुस्तत्प्रदेशानामनिधत्तायुरिति। 'अणुभागनामनिधत्ताए' ति अनुभाग—आयुर्द्रव्याणामेव विपाकस्तल्लक्षण एव नाम-परिणामोऽनुभागनाम। अनुभागरूपं वा नामकर्म अनुभागनाम तेन सह निधत्तं यदायुस्तदनुभागनामनिधत्तायुरिति। अथ किमर्थं जात्यादि नामकर्मणाऽऽयुर्विशेष्यते? उच्यते, आयुष्कस्य प्राधान्योपदर्शनार्थम्। यस्मान्नारकाद्यायुरुदये सति जात्यादि-नामकर्मणामुदयो भवति। नारकादिभवोपग्राहकं चायुरेव, यस्मादुक्तमिहैव—'नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जइ अनेरइ-एसु नेरइएसु उववज्जइ? गोयमा! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ-इ, नो अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ' ति एतदुक्तं भवति—नारकायुः प्रथमसमयसंवेदन एव नारका उच्यन्ते, तत्सहचारिणां च पंचेन्द्रियजात्यदिनामकर्मणामप्युदय इति। इह चायुर्बन्ध-स्य षड्विधत्वे उपक्षिप्ते यदायुषः षड्विधत्वमुक्तं तदायुषो बन्धाव्यतिरेकाद् बद्धस्यैव चायुर्व्यपदेशविषयत्वादिति। 'दडंओ' ति 'नेरइयाणं भंते! कतिविहे आउयबंभे पण्णत्ते? इत्यादि-र्वैमानिकान्तश्चतुर्विंशतिदण्डको वाच्योऽत एवाह—'जाव

वेमाणियाणं' ति। अथ कर्मविशेषाधिकारात्तद्विशेषि-तानां जीवादिपदानां दण्डकानाह—

६/१५२ 'जीवा णं भंते!' इत्यादि 'जातिनामनिहत्' ति जातिनाम निधत्तं—निधत्तं विशिष्टबन्धं वा कृतं यैस्ते जातिनामनिधत्ताः १, एवं गतिनामनिधत्ताः २, यावत्करणात् ठितिनामनिहत्ता ३, ओगाहणानामनिहत्ता ४, पएसनामनिहत्ता ५, अणु-भागनामनिहत्ता ६, इति दृश्यं व्याख्या तथैव, नवरं जात्यादिनाम्ना या स्थितिर्ये च प्रदेशा यश्चानुभाग-स्तत्स्थित्यादिनाम अवगाहनानाम शरीरनामेति अयमेको दण्डको वैमानिकान्तः तथा

६/१५३ 'जातिनामनिहत्ताउ' ति जातिनाम्ना सह निधत्तमायुर्वैस्ते जातिनामनिधत्तायुषः, एवमन्यान्यपि पदानि, अयमन्यो दण्डकः, एवमेते—

६/१५४ 'दुवालस दंडग' ति अमुना प्रकारेण द्वादश दण्डका भवन्ति, तत्र द्वावाद्यौदर्शितावपि संख्यापूरणार्थं पुनर्दर्शयति— जातिनामनिधत्ता इत्यादिरेकः 'जाइनामनिहत्ताउया' इत्यादि-द्वितीयः। 'जीवा णं भंते! किं जाइनामनिहत्ता' इत्यादिस्तृतीयः, तत्र जातिनाम नियुक्तं—नितरां युक्तं संबद्धं निकाचितं वेदने वा नियुक्तं यैस्ते जातिनामनियुक्ताः एवमन्यान्यपि 'जाइनामनिहत्ताउया' इत्यादिश्चतुर्थः। तत्र जातिनाम्ना सह नियुक्तं—निकाचितं वेदयितुमारब्धं वाऽऽयुर्वैस्ते तथा एवमन्यान्यपि 'जाइगोयनिहत्ता' इत्यादि पंचमः। तत्र जातेः एकेन्द्रियादिकाया यदुचितं गोत्रं—नीचैर्गोत्रादि तज्जातिगोत्रं तन्निधत्तं यैस्ते जातिगोत्रनिधत्ता एवमन्यान्यपि, 'जाइ-गोयनिहत्ताउया' इत्यादि षष्ठः तत्र जातिगोत्रेण सह निधत्तमायुर्वैस्ते जातिगोत्रनिधत्तायुष एवमन्यान्यपि 'जाइगोयनिहत्ता' इत्यादि सप्तमः, तत्र जातिगोत्रं नियुक्तं यैस्ते तथा, एवमन्यान्यपि 'जाइगोयनिहत्ताउया' इत्यादिष्टमः तत्र जातिगोत्रेण सह नियुक्तमायुर्वैस्ते तथा, एवमन्यान्यपि 'जातिनामगोयनिहत्ता' इत्यादिर्नवमः। तत्र जातिनाम गोत्रं च निधत्तं यैस्ते तथा, एवमन्यान्यपि। 'जीवा णं भंते!' किं जाइनामगोयनिहत्ताउया? इत्यादिर्दशमः। तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह निधत्तमायुर्वैस्ते तथा एवमन्यान्यपि.....। 'जाइनामगोयनिहत्ता' इत्यादिरेकादशः। तत्र जातिनाम गोत्रं च नियुक्तं यैस्ते तथा एवमन्यान्यपि। 'जीवा णं भंते!' किं जाइनामगोयनिहत्ताउया' इत्यादिर्द्वादशः। तत्र जातिनाम्ना गोत्रेण च सह नियुक्तमायुर्वैस्ते तथा एवमन्यान्यपि।

इह च जात्यादिनामगोत्रयोरायुषश्च भवोपग्राहे प्राधान्यख्याप-

नार्थं यथायोगं जीवा विशेषिताः, वाचनान्तरे चाद्या एवाष्टौ दण्डका दृश्यन्त इति। पूर्वं जीवाः स्वधर्मतः प्ररूपिताः, अथ लवणसमुद्रं स्वधर्मतः एव प्ररूपयन्नाह—

६/१५५ 'लवणे ण' मित्यादि 'उस्सिओदए' ति उच्छ्रितोदकः ऊर्ध्वं, वृद्धिगतजलः 'पत्थडोदए' ति प्रस्तृतोदक समजल इत्यर्थः। 'खुभियजले' ति वेलावशात् वेला च महापातालकलश-गतवायुक्षोभादिति। 'एत्तो आढत्त' मित्यादि, इतः सूत्रादारब्धं तद्यथा जीवाभिगमे तथाऽध्येतव्यं, तच्चेदम्—

६/१५६ 'जहा णं भंते! लवणसमुद्रे उस्सिओदए नो पत्थडोदए खुभियजले नो अखुभियजले तथा णं बाहिरगा समुद्दा किं उस्सिओदगा? गोयमा! बाहिरगा समुद्दा नो उस्सिओदगा पत्थडोदगा।

नो खुभियजला, अखुभियजला पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्ट-माणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठंति।

६/१५७ 'अत्थि णं भंते! लवणसमुद्रे बहवे ओराला बलाहया संसेयंति संमुच्छंति वासं वासंति? हंता अत्थि।'

६/१५८ 'जहा णं भंते! लवणे समुद्रे बहवे ओराला.... तथा णं बाहिरैसुवि समुद्रेसु ओराला...? नो इणट्टे समट्टे।

६/१५९ से केणट्टेणं भंते! एवं वुच्चइ—बाहिरगा णं समुद्दा पुन्ना जाव घडत्ताए चिट्ठंति? गोयमा! बाहिरएसु णं समुद्रेसु बहवे उदगजोणीया जीवा य पोगगला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उक्वज्जंति। शेषं तु लिखितमेवास्ति। व्यक्तं चेदमिति। 'संटाणओ' इत्यादि, एकेन विधिना प्रकारेण चक्रवाललक्षणेन विधानं—स्वरूपस्य करणं येषां ते एकविधिविधानाः विस्तारतोऽनेकविधिविधानाः कुतः? इत्याह। 'दुगुणे' त्यादि, इह यावत्करणादिदं दृश्यम्— 'पत्थियरमाणा ब्रहुउप्पलपउमकुमुयनलिणसुभगसौगंधिय-पुंडरीयमहापुंडरीयसयपत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवइया' उत्पलादीनां केशरैः फुल्लैश्चोपपात इत्यर्थः 'ओभासमाण-वीइय' ति।

६/१६० 'सुभा नाम' ति स्वस्तिकश्रीवत्सादीनि 'सुभा रूव' ति शुक्लपीतादीनि देवादीनि वा। 'सुभा गंध' ति सुरभिगन्धभेदाः गन्धवन्तो वा कर्पूरादयः 'सुभा रस' ति मधुरादयः रसवन्तो वा शर्करादयः 'सुभा फास' ति मृदुप्रभृतयः स्पर्शवन्तो वा नवनीतादयः। 'एवं णेयव्वा सुभा नाम' ति एवमिति द्वीप-समुद्राभिधायकतया नेतव्यानि शुभनामानि पूर्वोक्तानि तथा 'उद्धारे' ति द्वीपसमुद्रेषूद्धारे नेतव्यः स चैवम्—'दीवसमुद्दा

१. अवभासमानकीचयः समान्यत्रातस्य सर्वत्र भावात् पातालकलसानामन्यत्राभावेऽपि नासंतिर्वैश्वानां

णं भंते! केवइया उद्धारसमएणं पण्णत्ता? गोयमा! जावइया अङ्गुइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइवा दीवसमुदा उद्धारसमएणं पण्णत्ता। येनैकैकेन समयेन एकैकं वालाग्र-मुधियतेऽसावुद्धारसमयोऽतस्तेन। तथा 'परिणामो' ति परिणामो नेतव्यो द्वीपसमुद्रेषु, स चैवम्—'दीवसमुदा णं भंते! किं पुढविपरिणामा आउपरिणामा जीवपरिणामा पोग्गलपरिणामा? गोयमा! पुढवीपरिणामावी' त्यादि। तथा 'सव्वजीवाणं' ति सर्वजीवानां द्वीपसमुद्रेषूपादो नेतव्यः, स चैवम्—दीवसमुदेसु णं भंते! सव्वे पाणा.... पुढविकाइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वा? हंता गोयमा! असइं अदुवा अणंतखुत्तो' ति।

॥ षष्ठशते अष्टमोदेशकः ॥

नवम उद्देशकः

द्वीपादिषु जीवाः पृथिव्यादित्वेनोत्पन्नपूर्वा इत्यष्टमोदेशके उक्तम्। नवमे तूत्पादस्य कर्मबन्धपूर्वकत्वादसावेव प्ररूप्यत इत्येवंसम्बन्धस्यारयेदमादिसूत्रम्

६/१६२ 'जीवे ण' मित्यादि, 'सत्तविहबंधए' आयुरबन्धकाले 'अट्ट-विहबंधए' ति आयुर्बन्धकाले 'छव्विहबंधए' ति सूक्ष्म-सम्परायावस्थायां मोहायुषोरबन्धकत्वात्। 'बंधुदेसो' इत्यादि बन्धोद्देशकः प्रज्ञापनायाः सम्बन्धी चतुर्विंशतितमपदात्मको-ऽत्र स्थाने नेतव्यः अध्येतव्यः। स चायम्—नेरइए णं भंते! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ? गोयमा! अट्टविहबंधगे वा सत्तविहबंधगे वा एवं जाव वेमा-णिणए, नवरं मणुस्से जहा जीवे 'इत्यादि जीवाधिकारादेव-जीवमधिकृत्याह'—

६/१६३ 'देवे ण' मित्यादि 'एगवण्णं' ति कालाद्येकवर्णम् 'एकरूपम्' एकाविधाकारं स्वशरीरादि,

६/१६५ 'इहगए' ति प्रज्ञापकापेक्षया इहगतान् प्रज्ञापकप्रत्यक्षासन्न-क्षेत्रस्थितानित्यर्थः। 'तत्थगए' ति देवः किल प्रायो देवस्थान एव वर्तते इति, तत्रगतान्—देवलोकादिगतान् 'अण्णत्थगए' ति प्रज्ञापकक्षेत्रादेवस्थानाच्चापरत्रस्थितान्, तत्र च स्वस्थान एव प्रायो विकुर्वन्ते यतः कृतोत्तरवैक्रियरूप एव प्रायोऽन्यत्र गच्छतीति नो इहगतान् पुद्गलान् पर्यादाय इत्याद्युक्तमिति।

६/१६६ 'कालयं पोग्गलं नील पोग्गलत्ताए' इत्यादौ कालनीललोहित-हारिद्रशुक्ललक्षणानां पंचानां वर्णानां दश द्विकसंयोग-सूत्राण्यध्येयानि।

६/१६७ 'एवं एयाए परिवाडीए गंधरसफास' ति इह सुरभिदुरभि-लक्षणगन्धद्वयस्य एकमेव तित्तकटुकषायाम्लमधुररसलक्षणानां पंचानां रसानां दश द्विकसंयोगसूत्राण्यध्येयानि। अष्टानां च स्पर्शानां चत्वारि सूत्राणि, परस्परविरुद्धेन कर्कशमृद्वादिना द्वयेनैकैकसूत्रनिष्पादनादिति।

देवाधिकारादिदमाह—

६/१६८ 'अविसुद्धे' त्यादि 'अविसुद्धलेसे णं' ति अविशुद्धलेशयो—विभंगज्ञानो देवः 'असमोहएणं अप्पाणेणं' ति अनुपयुक्तेनात्मना, इहाविशुद्धलेशयः। असमवहतात्मा देवः, अविशुद्धलेशयं देवादिकम् इत्यस्य पदत्रयस्य द्वादश विकल्पा भवन्ति। तद्यथा—अविसुद्धलेसे णं देवे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेस्सं देवं देवीं अण्णयरं जाणइ पासइ? 'णो इणट्टे समट्टे' इत्येको विकल्पः। 'अविसुद्धलेसे असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं देवीं णो इणट्टे समट्टे' इति द्वितीयः। 'अविसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देवीं..... णो इणट्टे समट्टे' इति तृतीयः। 'अविसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं देवीं णो इणट्टे समट्टे' इति चतुर्थः। 'अविसुद्धलेसे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं देवीं णो इणट्टे समट्टे' इति पंचमः। 'अविसुद्धलेसे समोहया-समोहएणं विसुद्धलेसं देवं णो इणट्टे समट्टे' इति षष्ठः। 'विशुद्धलेसे असमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं..... णो इणट्टे समट्टे ति' सप्तमः। 'विशुद्धलेसे असमोहएणं विसुद्धलेसं देवं..... णो इणट्टे समट्टे ति' अष्टमः। एतैरष्टभिर्विकल्पैर्न जानाति, तत्र षड्भिर्मिथ्यादृष्टित्वात् द्वाभ्यां त्वनुपयुक्तत्वादिति।

६/१६९ 'विसुद्धलेसे समोहएणं अविसुद्धलेसं देवं जाणइ? हंता जाणइ' इति नवमः। 'विसुद्धलेसे समोहएणं विशुद्धलेसं देवं..... जाणइ? हंता जाणइ इति दशमः। 'विशुद्धलेसे समोहयासमोहएणं अप्पाणेणं अविसुद्धलेसं देवं जाणइ? हंता जाणइ ति एकादश। 'विसुद्धलेसे समोह-यासमोहएणं अप्पाणेणं विसुद्धलेसं देवं..... जाणइ? हंता जाणइ ति द्वादश। एभिः पुनश्चतुर्भिर्विकल्पैः सम्यग्-दृष्टित्वादुपयुक्तत्वानुपयुक्तत्वाच्च जानाति, उपयोगानुयोग-पक्षे उपयोगांशस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वादिति। एतदेवाह— एवं 'हेट्टिल्लेहिं' इत्यादि, वाचनान्तरे तु सर्वमेवेदं साक्षात् दृश्यत इति।

॥ षष्ठशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशक :

प्राग्विशुद्धलेश्यस्य ज्ञानाभाव उक्तः। अथ दशमोद्देशकेऽपि-
तमेव दर्शयन्निदमाह—

६/१७१ 'अण्णउत्थी' त्यादि 'नो चक्किय' ति नो शक्नुयात् 'जाव
कोलद्वियमायमवि ति आस्तां बहुं बहुतरं वा यावत्
कुवलास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवलयास्थिकं—बदरकुलकः
'निष्फाव' ति वल्लः 'कल' ति कलायः 'जूय' ति यूका।

६/१७३ 'अयण्ण' मित्यादिर्दृष्टान्तोपनयः, एवं यथा गन्धपुद्गलाना-
मतिसूक्ष्मत्वेनामूर्तकल्पत्वात् कुवलयास्थिकमात्रादिकं न दर्श-
यितुं शक्यते। एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति॥

जीवाधिकारादेवेदमाह—

६/१७४ 'जीवे णं भंते! जीवे? जीवे-जीवे? इह एकेन जीवशब्देन
जीव एव गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमित्यतः प्रश्नः, उत्तरं
जीवचैतन्ययोः परस्परेणाविनाभूतत्वाज्जीवश्चैतन्यमेव
चैतन्यमपि जीव एवेत्येवमर्थमवगन्तव्यम्। नारकादिषु पदेषु
पुनर्जीवत्वमव्यभिचारि जीवेषु तु नारकादित्वं व्यभिचारीत्यत
आह—

६/१७५ 'जीवे णं भंते! नेरइए' इत्यादि जीवाधिकारादेवाह—

६/१७८ 'जीवति भंते! जीवे जीवे जीवइ' ति जीवति—प्राणान्
धारयति यः स जीवः उत यो जीवः स जीवति? इति प्रश्नः
उत्तरं तु यो जीवति स तावन्नियमाज्जीवः अजीवस्यायुः
कर्माभावेन जीवनाभावात्। जीवस्तु स्याज्जीवति स्यान्न
जीवति, सिद्धस्य जीवनाभावादिति, नारकादिस्तु नियमा-
ज्जीवति, संसारिणः सर्वस्य प्राणधारणात्मकत्वात्, जीवतीति
पुनः स्यान्नारकादिः स्यादनारकादिरिति, प्राणधारणस्य सर्वेषां
सद्भावादिति। जीवाधिकारात्तदगतामेवान्यतीर्थिकवक्तव्यता-
माह—

६/१८३-१८५ 'अण्णउत्थिया' इत्यादि 'आहच्च सायं' ति कदाचित्सातां
वेदनां कथमिति?

चेदुच्यते—'उववाएण व सायं नेरइओ देवकम्मुणा वावि'
'आहच्च असायं' ति देवा आहननप्रियविप्रयोगादिष्वसातां
वेदनां वेदयन्तीति।

'वेमायाए' ति विविधया मात्रया कदाचित्सातां कदाचिद-
सातामित्यर्थः। जीवाधिकारादेवेदमाह—

६/१८६ 'नेरइया ण' मित्यादि 'अत्तमायाए' ति आत्मना आदाय—

गृहीत्वेत्यर्थः 'आयसरीरखेतोगाढे' ति स्वशरीरक्षेत्रेऽवस्थि-
तानित्यर्थः 'अणंतरखेतोगाढे' ति आत्म शरीरावगाह-क्षेत्रापेक्षया
यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढानित्यर्थः 'परंपरखेतोगाढे' ति
आत्मक्षेत्रानन्तरक्षेत्राद् यत्परं क्षेत्रं तत्रावगाढानित्यर्थः। 'अत्त-
मायाए' इत्युक्तमत आदानसाधर्म्यात् 'केवली ण' मित्यादि
सूत्रम् तत्र च

६/१८७ 'आयाणोहिं' ति इन्द्रियैः।

दशमोद्देशकार्यसंग्रहाय गाथा—'जीवाण' मित्यादि मतार्थः।

॥ षष्ठशते दशमोद्देशकः ॥

प्रतीत्य भेदं किल नालिकेरं, षष्ठं शतं मन्मतिदन्तभंजि।

तथाऽपि विद्धत्समसच्छिलायां, नियोज्य नीतं स्वपरोपयोगम् ॥

अथ सप्तमं शतं

प्रथम उद्देशकः

व्याख्यातं जीवाद्यर्थप्रतिपादनपरं षष्ठं शतम् अथ जीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमेव सप्तमशतं व्याख्यायते, तत्र चादावेवोद्देशकार्यसंग्रहगाथा—

“आहार १ विरति २ थावर ३ जीवा ४ पक्खी ५ य आउ ६ अणगारे ७

छउमत्थ ८ असंबुड ९ अण्णउत्थि १० दस सत्तमंमि सए ॥”

‘आहारे’ त्यादि, तत्र ‘आहार’ ति आहारकानाहारकवक्तव्यतार्थः प्रथमः, ‘विरह’ ति प्रत्याख्यानार्थो द्वितीयः, ‘थावर’ ति वनस्पतिवक्तव्यतार्थस्तृतीयः, ‘जीव’ ति संसारिजीवप्रज्ञापनार्थश्चतुर्थः, ‘पक्खी य’ ति खचरजीवयोनिवक्तव्यतार्थः पञ्चमः, ‘आउ’ ति आयुष्कवक्तव्यतार्थः षष्ठः, ‘अणगार’ ति अनगारवक्तव्यतार्थः सप्तमः, ‘छउमत्थ’ ति छद्मस्थमनुष्यवक्तव्यतार्थोऽष्टमः, ‘असंबुड ति असंबृतानगारवक्तव्यतार्थो नवमः, ‘अण्णउत्थिय’ ति कालोदायिप्रभृतिपरतीर्थिकवक्तव्यतार्थो दशमः इति ।

७/१

‘कं समयं अण्णहारए’ ति परभवं गच्छन् कस्मिन् समयेऽनाहारको भवति? इति प्रश्नः, उत्तरं तु यदा जीव ऋजुगत्योत्पादस्थानं गच्छति तदा परभवायुषः प्रथम एव समये आहारको भवति। यदा तु विग्रहगत्या गच्छति तदा प्रथमसमये वक्त्रेऽनाहारको भवति। उत्पात्तिस्थानानवाप्तौ तदाहारणीयपुद्गलानामभावाद् अत आह—‘पहमे समए सिय आहारए सिय अण्णहारए’ ति तथा यदा एकेन वक्त्रेण द्वाभ्यां समयाभ्यामुत्पद्यते तदा प्रथमेऽनाहारको द्वितीये त्वाहारकः, यदा तु वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदा प्रथमे द्वितीये चानाहारक इत्यत आह—‘वीयसमये सिय आहारए सिय अण्णहारए’ ति तथा यदा वक्रद्वयेन त्रिभिः समयैरुत्पद्यते तदाऽऽधयोरनाहारकस्तृतीये त्वाहारकः। यदा तु वक्रत्रयेण चतुर्भिः समयैरुत्पद्यते तदाद्ये समयत्रयेऽनाहारकश्चतुर्थे तु नियमादाहारक इति कृत्वा ‘तइए समए सिय’ इत्याद्युक्तं, वक्रत्रयं चेत्यं भवति—नाड्या बहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य सतो यस्याधोलोकादूर्ध्वलोके उत्पादो नाड्या बहिरेव दिशि भवति सोऽवश्यमेकेन समयेन विश्रेणितः मनश्रेणीं प्रतिपद्यते, द्वितीयेन नाडीं प्रविशति तृतीयेनोर्ध्वं लोकं गच्छति। चतुर्थेन लोकनाडीतो निर्गत्योत्पत्तिस्थाने उत्पद्यते। इह चाद्ये समयत्रये वक्रत्रयमवगन्तव्य, समश्रेण्यैव गमनात्।

अन्ये त्वाहुः—वक्रचतुष्टयमपि संभवति, यदा हि विदिशो विदिश्येवोत्पद्यते तत्र समयत्रयं प्राग्वत् चतुर्थे समये तु नाडीतो निर्गत्य समश्रेणीं प्रतिपद्यते पंचमेन तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नोति, तत्र चाद्ये समयचतुष्टये वक्रचतुष्टयं स्यात्। तत्र चानाहारक इति इदं च सूत्रे न दर्शितम्। प्रायेणेत्यमनुत्पत्तेरिति। ‘एवं दंडओ’ ति अमुनाऽभिलापेन चतुर्विंशतिदण्डको वाच्यः, तत्र च जीवपदे एकेन्द्रियपदेषु च पूर्वोक्तभावनयैव चतुर्थे समये नियमादाहारक इति वाच्यम्। शेषेषु तु पदेषु तृतीयसमये नियमादाहारक इति। तत्र यो नारकादित्रसस्त्रसेष्वेवोत्पद्यते तस्य नाड्या बहिस्तादागमनं गमनं च नास्तीति तृतीयसमये नियमादाहारकत्वं तथाहि—यो मत्स्यादिर्भरतस्य पूर्वभागाद् ऐरवतपश्चिमभागस्याधो नरकेषूत्पद्यते स एकेन समयेन भरतस्य पूर्वभागात्पश्चिमं भागं याति। द्वितीयेन तु तत ऐरवतपश्चिमं भागं, ततस्तृतीयेन नरकमिति। अत्र चाद्योरनाहारकस्तृतीये त्वाहारकः, एतदेव दर्शयति—‘जीवा एगिंदिया य चउत्थे समये सेसा तइयसमये’ ति

७/२

‘कं समयं सव्वपाहारए’ ति कस्मिन् समये सर्वालपः- सर्वथा स्तोको न यस्मादन्यः स्तोकरोऽस्ति स आहारो यस्य स सर्वालपाहारः स एव सर्वालपाहारकः ‘पढमसमययोववण्णए’ ति प्रथमसमय उत्पन्नस्य प्रथमो वा समयो यत्र तत् प्रथमसमयं तदुत्पन्नमूत्पत्तिर्यस्य स तथा, उत्पत्तेः प्रथमसमय इत्यर्थः। तदाहारग्रहणहेतोः शरीरस्याल्पत्वात्सर्वालपाहारता भवतीति। ‘चरमसमयभवत्ये व’ ति चरमसमये भवस्यजीवितस्य तिष्ठति यः स तथा, आयुषश्चरमसमय इत्यर्थः, तदानीं प्रदेशानां संहतत्वेनाल्पेषु शरीरावयवेषु स्थितत्वात्सर्वालपाहारतेति।

अनाहारकत्वं च जीवानां विशेषतो लोकसंस्थानवशाद्भवतीति लोकरूपणसूत्रम्

७/३

‘सुपइडुगसंठिए’ ति सुप्रतिष्ठकं शरयंत्रकं तच्चेह उपरिस्थापितकलशादिकं ग्राह्यम्। तथाविधेनैव लोकसादृश्योपपत्तेरिति, एतस्यैव भावनार्थमाह—‘हेट्टा विच्छिण्णे’ इत्यादि, यावत्कारणात् ‘मज्जे संखित्ते उप्पिं विसाले अहे पलियंकसंठाणसंठिए’ मज्जे वरवइरविग्गहिए’ ति दृश्यं व्याख्या चास्य प्राग्वदिति। अनन्तरं लोकस्वरूपमुक्तं, तत्र च यत् केवली करोती? तद्दर्शयन्नाह—‘तंसी’ त्यादि। ‘अंतं करेइ’ ति अत्र क्रियोक्ता। अथ तद्विशेषमेव श्रमणोपासकस्य दर्शयन्नाह—

७/४

‘समणे’ त्यादि ‘सामाइयकडस्स’ ति कृतसमायिकस्य, तथा श्रमणोपाश्रये साधुवसतावासीनस्य—तिष्ठतः ‘तस्स ण’ न्ति यो यथार्थस्तस्य श्रमणोपासकस्यैवेति, किलाकृतसामायिकस्य

१. अप्रती — वक्रोऽनाहारको.....

तथा साध्वाश्रयेऽनवतिष्ठमानस्य भवति साम्प्रायिकी क्रिया विशेषणद्वययोगे पुनरैर्यापिथिकी युक्ता निरुद्धकषायत्वादित्या-शंकातोऽयं प्रश्नः उत्तरं तु

७/५ 'आयाहिकरणी भवति' ति आत्मा—जीवः अधिकरणानि—हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्य सन्ति सोऽधिकरणी, ततश्च 'आयाहिकरणवर्तियं च णं' ति आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि तान्येव प्रत्ययः—कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययं साम्प्रायिकी क्रिया क्रियत इति योगः। श्रमणोपासकाधिकारादेव।

७/६ 'समणोवासगे' त्यादि प्रकरणं, तत्र च 'तसपाणसमारंभे' ति त्रसवधः 'नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टइ' ति न खलु असौ तस्य त्रसप्राणस्य अतिपाताय वधाय आवर्तते प्रवर्तते इति न संकल्पवधोऽसौ, संकल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ, न चैष तस्य संपन्न इति नासावतिचरति व्रतम्।

७/९ 'किं चयइ?' ति किं ददातीत्यर्थः 'जीवियं चयइ' ति जीवितमिव ददाति अन्नादि द्रव्यं यच्छन् जीवितस्यैव त्यागं करोतीत्यर्थः, जीवितस्येवान्नादिद्रव्यस्य दुस्त्यजत्वात्, एतदेवाह—'दुच्चयं चयइ' ति दुस्त्यजमेतत् त्यागस्य दुष्करत्वात्। एतदेवाह—दुष्करं करोतीति, अथवा किं त्यजति—किं विरहयति? उच्यते, जीवितमिव जीवितं कर्मणो दीर्घां स्थितिं 'दुच्चयं' ति दुष्टं कर्मद्रव्यसंचयं 'दुक्करं' ति दुष्करमपूर्वकरणतो ग्रन्थिभेदं ततश्च 'दुल्लभं लभइ' ति अनिवृत्तिकरणं लभते, ततश्च 'बोहिं बुज्झइ' ति बोधिं सम्यग्दर्शनं बुध्यते अनुभवति।

इह च श्रमणोपासकः साधूपासनामात्रकारी ग्राह्यः, तदपेक्षयैवावस्य सूत्रार्थस्य घटमानत्वात् 'तओ पच्छ' ति तदन्तरं सिद्धगतीत्यादि प्राग्वत् अन्यत्राप्युक्तं दानविशेषस्य बोधिगुणत्वं, यदाह—'अणुं कपऽकामणिज्जरबालतवे दाणविणए त्यादी। तद्यथा—

“केई तेणेव भवेण निव्वुया सव्वकम्मओ मुक्का।

केई तइयभवेणं सिज्झिस्संति जिणसगासे ॥” ति

अनन्तरमकर्मत्वमुक्तमतोऽकर्मसूत्रम्—

७/१० 'गई पण्णायइ' ति गतिः प्रज्ञायते अभ्युपगम्यते इति यावत्

७/११ 'निस्संगयाए' ति निःसंगतया कर्ममलापगमेन 'निरंगणयाए' ति नीरागतया मोहापगमेन 'गतिपरिणामेणं' ति गतिस्वभाव-तयाऽलाबुद्रव्यस्येव 'बंधणच्छेयणयाए' ति कर्मबन्धनछेदनेन एरण्डफलस्यैव 'निरंधणताए' ति कर्मबन्धनविमोचनेन धूमस्येव, 'पुव्वपओगेणं' ति सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्यैवेति।

एतदेव विवृण्वन्नाह—

७/१२ 'कहण्ण' मित्यादि 'निरुवहयं' ति वाताद्यनुपहतं 'दब्भेहि य' ति दर्भैः समूलैः 'कुसेहि य' ति कुशैः दर्भैरिव छिन्नमूलैः 'भूइ भूइं' ति भूयो भूयः 'अत्याहे' त्यादि इह मकारौ प्राकृत-प्रभवौ अतः अस्ताधे अतएव अतारे अत एव 'अपौरुषेये अपुरुषप्रमाणे

७/१३ 'कलसिंबलियाइ वा' कलायाभिधानधान्यफलिका 'सिंबलि' ति वृक्षविशेषः 'एण्डमिजिया' एरण्डफलम् 'एणंतमंतं गच्छइ' ति एक इत्येवमन्तो—निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थः अतस्तम् अन्तं भूभागं गच्छति, इह च बीजस्य गमनेऽपि यत् कलायसिंबलिकादेः तदुक्तं तत्तयोरभेदोपचारादिति।

७/१४ 'उड्डं वीससाए' ति ऊर्ध्वं विरससया स्वभावेन 'निव्वायाएणं' ति कटाद्याच्छादनाभावात् ।

अकर्मणो वक्तव्यतोक्ता, अथाकर्मविपर्ययभूतस्य कर्मणो वक्तव्यतामाह—

७/१६ 'दुक्खी भंते! दुक्खेण फुडे ति दुःखनिमित्तत्वात्। दुःखं—कर्म तद्वान् जीवो दुक्खी भदन्त! दुःखेन—दुःखहेतुत्वात् कर्मणो—स्पृष्टो बद्धः। 'नो अदुक्खी' त्यादि नो नैव अदुःखी—अकर्मा दुःखेन स्पृष्टः, सिद्धस्यापि तत्रसंगादिति

७/१९ 'एवं पंच दंडका णेयव्व' ति एवं इत्यनन्तरोक्ताभिलाषेन पंच दंडका नेतव्याः। तत्र दुःखी दुःखेन स्पृष्ट इत्येक उक्त एव। 'दुक्खी दुक्खं परियायई' ति द्वितीयः। तत्र दुःखी कर्मवान् दुःखं कर्म, पर्याददाति सामस्त्येनोपादने, निश्चत्तादि करोतीत्यर्थः। 'उदीरेइ' ति तृतीयः। 'वेएइ' ति चतुर्थः। 'निज्जरेइ' ति पंचमः। उदीरणवेदननिर्जरणानि तु व्याख्यातानि प्रागिति।

कर्मबन्धाधिकारात्कर्मबन्धचिन्तान्वितानगारसूत्रम् अनगाराधि-काराच्च तत्पानकभोजनसूत्राणि—तत्र च

७/२१ 'वोच्छिण्णे' ति अनुदिताः

७/२२ 'सइंगालस्स' ति चारित्रेन्धनमंगारमिव यः करोति भोजन-विषयरागाग्निः सोऽंगार एवोच्यते, तेन सह यद्वतते पानकादि तत् सांगारं तस्य 'सधूमस्स' ति चारित्रेन्धनधूमहेतुत्वात् धूमो—द्रेषस्तेन सह यत्पानकादि तत् सधूमं तस्य 'संयोजणादोसदुडुस्स' ति संयोजना—द्रव्यस्य गुणविशेषार्थं द्रव्यान्तरेण योजनं सैव दोषस्तेन दुष्टं यत्तथा तस्य, 'जे णं' ति विभक्तिपरिणामात् यमाहारमाहारयतीति सम्पन्धः 'मुच्छिण्ण' ति मोहवान् दोषानभिज्ञत्वात् 'गिद्धे' ति

तद्विशेषाकांक्षावान् 'गढिए' ति तद्गतस्नेहतन्तुभिः संदर्भितः 'अञ्जोववण्णे' ति तदेकाग्रतां गतः 'आहारमाहारेइ' ति भोजनं करोति 'एस णं' ति एषः आहारः सांगारं पानभोजनं 'महया अप्पत्तियं' ति महदप्रीतिकम् अप्रेमं 'कोहकिलामं' ति क्रोधात्कलमः—शरीरायासः क्रोधकलमोऽतस्तं, 'गुणु-प्यायणहेडं' ति रसविशेषोत्पादनायेत्यर्थः।

७/२३ 'वीङ्गालस्स' ति वीतो गतोऽङ्गारो—रामो यस्मात्तद्दीतांगारम्।

७/२४ 'खेत्ताइक्कंतस्स' ति क्षेत्रं—सूर्यसम्बन्धि तापक्षेत्रं दिनमित्यर्थः तदतिक्रान्तं यत्तत् क्षेत्रातिक्रान्तं तस्य, 'कालाइक्कंतस्स' ति कालं—दिवसस्य प्रहरत्रयलक्षणमतिक्रान्तं कालातिक्रान्तं तस्य, 'मगाइक्कंतस्स' ति अर्द्धयोजनमतिक्रान्तस्य 'पमाणाइक्कंतस्स' ति द्वात्रिंशत्कवललक्षणमतिक्रान्तस्य, 'उवाइणावित्त' ति उपादापय्य—प्रापयेत्यर्थः परं 'अद्धजोयणमेराए' ति अर्द्धयोजनलक्षणमर्यादायाः परत इत्यर्थः 'वीत्तिकमावेत्त' ति व्यतिक्रमय्य—नीत्वेत्यर्थः 'कुक्कडिअंडगपमाणमेत्ताणं' ति कुक्कुटघण्डकस्य यत् प्रमाणं—मानं तत् परिमाणं—मानं येषां ते तथा, अथवा कुकुटीव—कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी—शरीरं कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी तस्या अण्डकमिवाण्डकं उदरपूरकत्वादाहारः कुक्कुटघण्डकं तस्य प्रमाणतो मात्रा—द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते कुक्कुटघण्डकप्रमाणमात्रा अतस्तेषामयमभिप्रायः—यवान् यस्य पुरुषस्याहारस्तस्याहारस्य द्वात्रिंशत्तमो भागस्तत् पुरुषापेक्षया कवलः, इदमेव कवलमानमाश्रित्य प्रसिद्धकवलचतुः-षष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशत्ता कवलैः प्रमाणप्राप्ततोपपन्ना स्यात् न हि स्वभोजनस्यार्द्धं भुक्तवतः प्रमाणप्राप्तत्वमुपपद्यते, प्रथमव्याख्यानं तु प्रायिकपक्षापेक्षया ऽवगन्तव्यमिति। 'अप्पाहारे' ति अल्पाहारः साधुर्भवतीति गम्यम्, अथवा अष्टौ कुक्कुटघण्डकप्रमाणमात्रान् कवलानाहारं 'आहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, चतुर्थांशरूपत्वात्तस्य, एवमुत्तरत्रापि 'आहारेमाणे' इत्येतत्पदं प्रथमैकवचनान्तं सप्तम्यैकवचनान्तं, वा व्याख्येयं। 'अवड्ढेमोयरिय' ति अवमस्य ऊनस्योदरस्य करणमवमोदरिका, अपकृष्टं—किञ्चिदूनमर्द्धं यस्यां साऽपार्द्धां द्वात्रिंशत्कवलापेक्षया द्वादशानामपार्द्धरूपत्वात् अपार्द्धां च सा अवमोदरिका चेति समासः सा भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याख्यानं नेयं, प्रथमान्तव्याख्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्द्धावमौदरिका-साधुर्भवतीत्येवं नेतव्यं, 'दुभागप्पत्ते' ति द्विभागः—अर्द्धं तत्राप्यतो द्विभागप्राप्त आहारो भवतीति गम्यं, द्विभागो वा प्राप्तोऽनेनेति द्विभागप्राप्तः साधुर्भवतीति गम्यम्, 'ओमोयरिय' ति अवमोदरिका भवति धर्मधर्मिणोरभेदाद्वाऽवमौदरिका

साधुर्भवतीति गम्यं, 'पकामरसभोइ' ति प्रकामम्—अत्यर्थं रसानां मधुरादिभेदानां भोगी—भोक्ता प्रकामरसभोगीति।

७/२५ 'सत्थातीतस्स' ति शस्त्राद्—अग्न्यादेरतीतम्—उतीर्णा शस्त्रातीतं, एवंभूतं च तथाविधपृथुकादिवदपरिणतमपि स्यादत आह— 'सत्थपरिणामियस्स' ति वर्णादीनामन्यथाकरणेनाचिती-कृतस्येत्यर्थः, अनेन प्रासुकत्वमुक्तं 'एसियस्स' ति एषणीयस्य गवेषणाविशुद्ध्या गवेषितस्या 'वेसियस्स' ति विशेषेण विविधैर्वा प्रकारैरिषितं—व्येषितं ग्रहणैषणाग्रासैषणाविशोधितं तस्य, अथवा वेषो—मुनिनेपथ्यं स हेतुर्लाभे यस्य तद्वैषिकम् आकार-मात्रदर्शनादवाप्तं न त्वावर्जनया, अनेन पुनरुत्पादनादोषा-पोहमाह, 'सामुदाणियस्स' ति ततस्ततो भिक्षारूपस्य, किंभूतो निर्ग्रन्थः? इत्याह—'निक्खित्तसत्थमुसले' ति त्यक्त्खड्गादिश-स्त्रमुशलः 'ववगयमालावण्णगविलेवणे' ति व्यपगतपुष्पमाला-चन्दनानुलेपनः स्वरूपविशेषणे चेमे न तु व्यवच्छेदार्थे निर्ग्रन्थानामेवंरूपत्वादेवेति 'ववगयचुयचइयचत्तदेहं' ति व्यपगताः—स्वयं पृथग्भूता भोज्यवस्तुसंभवा आगन्तुका वा कृम्यादयः च्युता—मृताः स्वतः एव परतो वाऽभ्यवहार्य-वस्त्वात्मकाः पृथिवीकायिकादयः 'चइय' ति त्याजिता—भोज्यद्रव्यात् पृथक्कारिता दायकेन 'चत्त' ति स्वयमेव दायकेन त्यक्ता—भक्ष्यद्रव्यात्पृथक्कृता देहा अभेदविवक्षया देहिनी यस्मात् स तथा तमाहारम्। वृद्धव्याख्या तु व्यपगतः—ओघतश्चेतनापर्यायादपेतः च्युतः जीववत् क्रियातो भ्रष्टः च्यावितः—स्वतः एवायुष्कक्षयेण भ्रंशितः त्यक्तदेहः-परित्यक्तजीवसंसर्गजनिताहारप्रभवोपचक्रः। तत एषां कर्मधारयोऽतस्तं किमुक्तं भवति? इत्याह—'जीवविप्पज्जढं' ति प्रासुकमित्यर्थः। 'अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयम-कीयगडमणुद्धिद्धं' अकृतं - साध्वर्थमनिर्वीरितं दायकेन, एवमकारितं दायकेनैव। अनेन विशेषणद्वयेनानाधाकर्मिक उपातः 'असंकल्पितं स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया न संकल्पितम्, अनेनाप्यनाधाकर्मिक एव गृहीतः, स्वार्थमारब्धस्य साध्वर्थं निष्ठां गतस्याप्याधाकर्मिकत्वात्, न च विद्यते आहूतम्—आह्वानमामंत्रणं नित्यं मदगृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमित्येवंरूपं कर्मकराद्याकारणं वा साध्वर्थं स्थानान्तरा-दन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतः अनित्यपिण्डोऽनभ्याहूतो वेत्यर्थः, स्पृष्टां वाऽऽहूतं तन्निषेधादनाहूतो, दायकेनास्पृष्ट्या दीयमानमित्यर्थः। अनेन भावतोऽपरिणतभिधानएषणादोषनिषेध उक्तोऽतस्तम् 'अक्रीतकृतं क्रयेण साधुदेयं न कृतम्। अनुद्दिष्टम् अनौद्देशिकं 'नवकोडीपरिसुद्धं' ति इह कोटयो विभागा-स्ताश्चेमाः—बीजादिकं जीवं न हन्ति, न घातयति, घ्नन्तं नानुमन्यते एवं न पचति न क्रीणाति..... इत्येवंरूपाः।

‘दसदोसविष्यमुक्तं’ ति दोषाः—शंकितप्रक्षितादयः
 ‘उग्गमुपायणेसणासुरिसुद्धं’ ति उद्गमश्च—आधाकर्मादि
 षोडशविधः उत्पादना च—धात्रीदूत्यादिका षोडशविधैव,
 उद्गमोत्पादने एतद्विषया या एषणा—पिण्डविशुद्धिस्तया
 सुष्ठु परिशुद्धो यः स उद्गमोत्पादनैषणा-परिशुद्धोऽतस्तम्,
 अनेन चोक्तानुक्तसंग्रहः कृतः वीतांगारीदीनि क्रियाविशेष-
 णान्यपि भवन्ति। प्रायोऽनेन च यासैषणाविशुद्धिरुक्ता ‘असुर-
 सुरं’ ति अनुकरणशब्दोऽयम् एवम् अचवचवमित्यपि ‘अदुयं’
 ति अशीघ्रम् ‘अविलंबियं’ ति नातिमन्थरं ‘अपरिसाडिं’ ति
 अनवयवोद्भूतम्। ‘अक्खोवज्जणवणानुलेपणभूयं’ ति अक्षो-
 पाञ्जनं च शकटधूर्मक्षणं व्रणानुलेपनं च-क्षतस्यौषधेन
 विलेपनम् अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपने ते इव विवक्षितार्थ-
 सिद्धिरसादिनिरभिष्वंगतासाधर्म्याद्यः सोऽक्षोपाञ्जनव्रणानु-
 लेपनभूतोऽतस्तं क्रियाविशेषणं वा। ‘संजमजायामायावत्तियं’
 ति संयमयात्रा—संयमानुपालनं सैव मात्रा—आलम्बनसमूहंशः
 संयमयात्रामात्रा तदर्थं वृत्तिः- प्रवृत्तिर्यत्राहारे स संयमयात्रा-
 मात्रावृत्तिकोऽतस्तं संयमयात्रा-मात्रावृत्तिकं वा यथा भवति
 संयमयात्रामात्रा वा प्रत्ययो यत्र स तथाऽतस्तं संयमयात्रा-
 मात्राप्रत्ययं वा यथा भवति। एतदेव वाक्यान्तरेणाह—
 ‘संयमभारवहणद्वयाए’ ति संयम एव भारस्तस्य वहनं—
 पालनं स एवार्थः संयमभारवहनार्थं स्तद्भावस्तत्ता तस्यै
 ‘बिलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं’ ति बिले इव रन्ध्रे इव
 पन्नगभूतेन सर्पकल्पेन आत्मना करणभूतेनाहारमुक्तविशेषणम्
 ‘आहारयति’ शरीरकोष्ठके प्रक्षिपति, यथा किल बिले सर्प
 आत्मानं प्रवेशयति पार्श्वानसंस्पृशन् एवं साधुर्वदनकन्दर-
 पार्श्वानसंस्पृशन्नाहारेण तदसंचारणतो जठरबिले आहारं
 प्रवेशयतीति। ‘एस णं’ ति एषः अनन्तरोक्तविशेषण आहारः
 शस्त्रातीतादिविशेषणस्य पानभोजनस्य अर्थः—अभिधेयः
 प्रज्ञप्त इति।

॥ सप्तमशते प्रथमोद्देशकः ॥

द्वितीय उद्देशकः

प्रथमोद्देशके प्रत्याख्यानानो वक्तव्यतोक्ता द्वितीये तु प्रत्या-
 ख्यानं निरूपयन्नाह—

- ७/२६ ‘से नूण’ मित्यादि ‘सिय सुपच्चक्खायं सिय दुपच्चक्खायं’
 इति प्रतिपाद्य यत् प्रथमं दुःप्रत्याख्यानत्ववर्णनं कृतं
 तद्यथासंख्यन्यायत्यागेन यथाऽऽसन्नतान्यायमंगीकृत्येति द्रष्ट-
 व्यम्
- ७/२८ ‘नो एवं अभिसमन्नागयं भवति ‘ति’ ‘नो’ नैव एवम् इति
 वक्ष्यमाणप्रकारमभिसमन्वागतम् अवगतं स्यात्।

‘नो सुपच्चक्खायं भवति’ ति ज्ञानाभावेन यथावदपरिपाल-
 नात् सुप्रत्याख्यानत्वाभावः ‘सव्वपाणेहिं’ ति सर्वप्राणेषु
 ‘तिविहेणं’ ति त्रिविधं कृतकारितानुमतिभेदभिन्नं योगमाश्रित्य
 ‘तिविहेणं’ ति त्रिविधेन मनोवाक्कायलक्षणेन करणेन
 ‘असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे’ ति संयतो
 वधादिपरिहारे प्रयतः विरतोवधादेर्निवृत्तः प्रतिहतानि—
 अतीतकालसम्बन्धीनि निन्दातः प्रत्याख्यातानि चानागत-
 प्रत्याख्यानानि पापानि कर्माणि येन स तथा, ततः संयता-
 दिपदानां कर्मधारयस्ततस्तन्निषेधाद् असंयतविरतप्रतिहत-
 प्रत्याख्यातपापकर्मा, अत एव ‘सकिरिए’ ति कायिक्यादि-
 क्रियायुक्तः सकर्मबन्धनो वा। अतएव ‘असंबुडे’ ति असं-
 वृताश्रवद्वारः अत एव ‘एगंतदंडे’ ति एकांतनेन—सर्वथैव
 परान् दण्डयतीत्येकान्तदण्डः अतएव एकांतबालः सर्वथा
 बालिशोऽज्ञः इत्यर्थः॥ प्रत्याख्यानाधिकारादेव तद्भेदानाह—

- ७/२९ ‘कतिविहे ण’ मित्यादि ‘मूलगुणपच्चक्खाणे य’ ति चारित्र-
 कल्पवृक्षस्य मूलकल्पा गुणाः प्राणातिपातविरमणादयो
 मूलगुणास्तद्रूपं प्रत्याख्यानं—निवृत्तिर्मूलगुणविषयं वा प्रत्या-
 ख्यानम्—अभ्युपगमो मूलगुणप्रत्याख्यानं ‘उत्तरगुण-
 पच्चक्खाणे य’ ति मूलगुणापेक्षयोत्तरभूता गुणा वृक्षस्य
 शाखा इवोत्तरगुणास्तेषु प्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानम्।
- ७/३० ‘सव्वमूलगुणे’ त्यादि सर्वथा मूलगुणप्रत्याख्यानं सर्वमूलगुण-
 प्रत्याख्यानं देशतो मूलगुणप्रत्याख्यानं देशमूलगुणप्रत्याख्यानं,
 तत्र सर्वमूलगुणप्रत्याख्यानं सर्वविरतानां देशमूलगुणप्रत्याख्यानं
 तु देशविरतानाम्।
- ७/३४ ‘अणागयं’ गाहा, अनागतकरणादनागतं पर्युषणादावाचार्या-
 दिवैयावृत्यकरणेनान्तरायसद्भावादारत एव तत्तपः करण-
 मित्यर्थः। आह च—

‘‘होही पज्जोसवणा मम य, तथा अंतराइयं होज्जा।

गुरुवेयावच्चेणं तवस्सि गेलण्णयाए’ वा ॥

सो दाइ तवोकम्मं पडिवज्जइ तं अणागए काले।

एयं पच्चक्खाणं अणागयं होइ नायव्वं ॥’’इति,

एवमतिक्रान्तकरणादतिक्रान्तं, भावना तु प्राग्वत्। उक्तं
 च—

‘‘पज्जोसवणाइ तवं जो खलु न करेइ कारणज्जाए।

गुरुवेयावच्चेणं तवस्सि गेलण्णयाए वा ॥

सो दाइ तवोकम्मं पडिवज्जइ तं अइच्छिए काले।

एयं पच्चक्खाणं अतिककंतं होइ नायव्वं ॥’’ ति

कोटीसहितमिति—मीलितप्रत्याख्यानद्वयकोटिचतुर्थादि
कृत्वाऽनन्तरमेव चतुर्थादेः करणमित्यर्थः। अवाचि च —

“पट्टवणओ उ दिवसो पच्चक्खाणस्स निडुवणओ य।

जहियं समेति दोनि उ तं भनइ कोडिसहियं तु ॥”

‘निर्यटितं’ चेव नितरां यंत्रितं निर्यंत्रितं प्रतिज्ञातदिनादौ। ग्लान-
त्वाद्यन्तरायभावेऽपि नियमात्कर्तव्यमिति हृदयम्। यदाह—

“मासे भासे य तवो अमुगो अमुगे दिणंमि एवइयो’

हट्टेण गिलाणेण व कायव्वो जाव ऊसासो ॥

एयं पच्चक्खाणं निर्यटियं धीरपुरिसपन्नत्तं।

जं गेणहंतऽणगारा अणिसिसयप्पा अपडिबद्धा ॥”

‘साकार मिति आक्रियन्त इत्याकाराः—प्रत्याख्यातापवाद-
हेतवो महत्तराकारादयः सहाकारैर्वर्तत इति साकारम्।
अविद्यमानाकारमनाकारं—यद्विशिष्टप्रयोजनसम्भवाभावे
कान्तारदुर्भिक्षादौ महत्तराद्याकारमनुच्चारयद्भिर्विधीयते तद-
नाकारमिति भावः केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसह-
साकारावुच्चारयितव्यावेव, काष्ठांगुल्यादेर्मुखे प्रक्षेपणतो
भंगो मा भूदिति, अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा
साकारमेवेति। ‘परिमाणकृतमिति दत्यादिभिः कृतपरिमाणम्,
अभाणि च—

“दत्तीहिं व कवलेहिं व घरेहिं भिक्खाहिं अहव दव्वेहिं ।

जो भत्तपरिच्चार्यं करेति परिमाणकडमेयं ॥”

निरवशेषं समग्राशानादिविषयं भणितं च

“सव्वं असणं सव्वं च पाणगं सव्वखज्जपेज्जविहिं।

परिहरइ सव्वभावेणेयं भणियं निरवसेसं ॥”

‘साएयं चेव’ ति केतः- चिह्नं सह केतेन वर्तते सकेतं,
दीर्घता च प्राकृतत्वात्।

संकेतयुक्तत्वाद्वा संकेतम्—अंगुष्ठसहितादि। यदाह—

“अंगुडुमुडुगंठीघरसेऊसासथिबुगजोइक्खे।

भणियं संकेयमेवं धीरेहिं अणंतणानीहिं ॥”

‘अद्धाए’ ति अद्धा—कालस्तस्याः प्रत्याख्यानं—
पौरुष्यादिकालस्य नियमनम्। आह च

“अद्धापच्चक्खाणं जं तं कालय्यमाणछेएणं।

पुरिमडुपोरुसीहिं मुहुत्तमासद्धामसेहिं ॥”

७/३५ ‘उवभोगपरिभोगपरिमाणं’ ति उपभोगः—सकृद्भोगः स

चाशनपानानुलेपनादीनां, परिभोगस्तु पुनः पुनर्भोगः स चासन-
शयनवसनवनितादीनां ‘अपच्छिममारणांतियसंलेहणञ्जूस-
गाराहणय’ ति पश्चिमैवामंगलपरिहारार्थमपश्चिमा मरणं—
प्राणं त्यागलक्षणम्। इह यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति
तथापि न तद्गृह्यते। किं तर्हि? विवक्षितसर्वायुष्कक्षय-
लक्षणमिति। मरणमेवान्तो मरणान्तस्तत्र भवा मारणान्तिकी,
संलिख्यते—कृशीक्रियतेऽनया शरीरकषायादिति संलेखना—
तयोर्विशेषलक्षणा ततः कर्मधारयाद् अपश्चिममारणान्तिक-
संलेखना तस्या जोषणं—सेवनं तस्याराधनम्—अखण्डकाल-
करणं तद्भावः—अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराध-
नत्वात्। इह च सप्त दिग्ब्रतादयो देशोत्तरगुणा एव, संलेखना
तु भजनया तथाहि—सा देशोत्तरगुणवतो देशोत्तरगुणः
आवश्यके तथाऽभिधानात्, इतरस्य तु सर्वोत्तरगुणः
साकारानाकारादिप्रत्याख्यानरूपत्वादिति संलेखनामविगणय्य
सप्त देशोत्तरगुणा इत्युक्तम्। अस्याश्चैतेषु पाठो देशोत्तरगुण-
धारिणाऽपीयमन्ते विधातव्य इत्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थं इति।
अथोक्तभेदेन प्रत्याख्यानेन तद्विपर्ययेण च जीवादिपदानि
विशेषयन्नाह—

७/३६ ‘जीवाण’ मित्यादि

७/३९ ‘पंचिंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा य जहा जीव’ ति
मूलगुणप्रत्याख्याननिन उत्तरगुणप्रत्याख्यानिनोऽप्रत्याख्या-
निनश्च नवरं पञ्चेन्द्रियतिर्यंचो देशत एव मूलगुण-
प्रत्याख्यानिनः सर्वविरतेस्तेषामभावत्। इह चोक्तं गाथया—
“तिरियाणं चारित्तं निवारियं अह य तो पुणो तेसिं।

सुव्वइ बहुयाणं चिय महव्वयारोवणं समए ॥”

परिहारोऽपि गाथयैव—

“न महव्वयसब्भावेऽवि चरणपरिणामसंभवो तेसिं।

न बहुगुणाणांपि जहा केवलसंभूइपरिणामो ॥”

अथ मूलगुणप्रत्याख्यानादिमतामेवाल्पत्वादि चिन्तयति—

७/४० ‘एएसि ण’ मित्यादि ‘सव्वथोवा जीवा मूलगुणपच्चक्खा-
णी’ ति देशतः सर्वतो वा ये मूलगुणवन्तस्ते स्तोकाः
देशसर्वाभ्यामुत्तरगुणवतामसंख्येयगुणत्वात्, इह च सर्वविरतेषु
ये उत्तरगुणवन्तस्तेऽवश्यं मूलगुणवन्तः, मूलगुणवन्तस्तु
स्यादुत्तरगुणवन्तः स्यात्तद्विकलाः, य एव च तद्विकलास्त
एवेह मूलगुणवन्तो ग्राह्याः, ते चेतरेभ्य स्तोका एवां बहुतरयतीनां
दशविधप्रत्याख्यानयुक्तत्वात्। तेऽपि च मूलगुणेषुः सं-
ख्यातगुणा एव नासंख्यातगुणाः, सर्वयतीनामपि संख्यात-
त्वात्। देशविरतेषु पुनर्मूलगुणवद्भ्यो भिन्ना अपि उत्तरगुणिनो

लभ्यन्ते। ते च मधुमांसादिविचित्राभिग्रहवशाद्बहुतरा भवन्तीति कृत्वा देशविरतोत्तरगुणवतोऽधिकृत्योत्तरगुणवतां मूलगुणवद्भ्योऽसंख्यातगुणत्वं भवति, अतएवाह—‘उत्तरगुणपच्चक्खाणी असंखेज्जगुण’ ति ‘अपच्चक्खाणी अणंतगुण’ ति मनुष्यपंचेन्द्रियतिर्यच एव प्रत्याख्यानिनोऽन्ये त्वप्रत्याख्यानिन एव वनस्पति-प्रभृतिकत्वात्तेषामनन्तगुणत्वमिति। मनुष्यसूत्रे—

७/४२ ‘अपच्चक्खाणी असंखेज्ज गुणे’ ति यदुक्तं तत्संमूर्च्छिम-मनुष्यग्रहणेनावसेयमितरेषां संख्यातत्वादिति।

७/५०, ५१ ‘एवं अप्याबहुगणि तिण्णवि जहा षढमिल्लए दंडए’ ति तत्रैकं जीवानामिदमेव द्वितीयं पंचेन्द्रियतिरश्चां, तृतीयं तु मनुष्याणाम्, एतानि च यथा निर्विशेषणगुणादिप्रतिबद्धे दण्डके उक्तानि एवमिह शीण्यपि वाच्यानि। विशेषमाह—‘नवर’ मित्यादि ‘पंचेन्द्रियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा व एवं चेव’ ति यथा जीवाः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानादय उक्ता एवं पंचेन्द्रियतिर्यञ्चो मनुष्याश्च वाच्याः, इह च पंचेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानिनो भवन्तीत्यवसेयम्, देशविरतानां देशतः सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानस्याभिमत्त्वादिति।

मूलगुणप्रत्याख्यानिप्रभृतयश्च संयतादयो भवन्तीति संयता-दिसूत्रम्—

७/५४ ‘तिण्णवि’ ति जीवास्त्रिविधा अपीत्यर्थः ‘एवं जहेवे’ त्यादि एवं अनेनाभिलापेन यथैव प्रज्ञापनायां तथैव सूत्रमिदमध्येयम्। तच्चैवं—‘नेरइया णं भंते!’ किं संजया असंजया संजयासंजया? गेयमा! नो संजया असंजया नो संजयासंजये त्यादि। ‘अप्पा’ इत्यादि, अल्पबहुत्वं संयतादीना तथैव यथा प्रज्ञापनायामुक्तं ‘तिण्णवि’ ति जीवानां पंचेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां च, तत्र सर्वस्तोकाः संयता जीवाः, संयतासंयता असंखेयगुणाः, असंयतास्त्वनन्तगुणाः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चस्तु सर्वस्तोकाः संयतासंयताः असंयताः असंखेयगुणाः, मनुष्यास्तु सर्वस्तोकाः संयताः संयतासंयताः संखेयगुणाः असंयता असंखेयगुणा इति। संयतादयश्च प्रत्याख्यानादित्वे सति भवन्तीति प्रत्याख्यान्यादिसूत्रम्—ननु षष्ठशते चतुर्थोद्देशके प्रत्याख्यान्यादयः प्ररूपिता इति किं पुनस्तत्प्ररूपणेन? सत्यमेतत् किन्त्वल्पबहुत्वचिन्तारहितास्तत्र प्ररूपिता, इह तु तद्युक्ताः सम्बन्धान्तरद्वारायाताश्चेति।

जीवाधिकारात्च्छाश्वतत्वसूत्राणि—तत्र च—

७/५९ ‘दव्वडुयाए’ ति जीवद्रव्यत्वेनेत्यर्थः। ‘भावडुयाए’ ति नारकादिपर्यायात्वेनेत्यर्थः।

॥ सप्तमशते द्वितीयोद्देशकः ॥

तृतीय उद्देशकः

जीवाधिकारप्रतिबद्ध एव तृतीयोद्देशकस्तत्सूत्रम् च—

७/६२ ‘वणस्सइकाइया णं भंते! इत्यादि, ‘कं कालं’ ति कस्मिन् काले ‘पाउसे’ त्यादि प्रावृडादौ बहुत्वाज्जलस्नेहस्य महा-हारतोक्ता, प्रावृट् श्रावणादिर्वर्षात्रयोऽश्वयुजादिः, ‘सरदे’ ति शरद् मार्गशीर्षादिस्तत्र चाल्पाहारा भवन्तीति ज्ञेयम्। ग्रीष्मे सर्वाल्पाहारतोक्ताऽत एव च शेषेष्वल्पहारा क्रमेण द्रष्टव्येति,

७/६३ ‘हरियगरेरिज्जमाणे’ ति हरितकाश्च ते नीलका रेरिज्जमानाश्च—देदीप्यमाना हरितकरेरिज्जमानाः ‘सिरिए’ ति वनलक्ष्म्या ‘उसिणजोणिय’ ति उष्णमेव योनियेषां ते उष्णयोनिकाः,

७/६४ ‘मूला मूलजीवफुड’ ति मूलानि—मूलजीवैः स्पृष्टानि व्याप्ता-नीत्यर्थः, यावत्करणात् ‘खंधा खंधजीवफुडा एवं तथा साला पवाला पत्ता पुप्फा फल’ ति दृश्यम्।

७/६५ ‘जइ ण’ मित्यादि, यदि भदन्त! मूलादीन्वेव मूलादिजीवैः स्पृष्टानि तदा ‘कम्ह’ ति कस्मात् केन हेतुना कथमित्यर्थः वनस्पतयः आहारयन्ति?, आहारस्य भूमिगतत्वात् मूलादि-जीवानां च मूलादिव्याप्यैवावस्थितत्वात् केषाञ्चिच्च परस्परव्यवधानेन भूमेर्दूरवर्तित्वादिति, अत्रोत्तरं, मूलानि मूलजीवस्पृष्टानि केवलं पृथिवीजीवप्रतिबद्धानि ‘तम्ह’ ति तस्मात् तत्प्रतिबन्धाद्धेतोः पृथिवीरसं मूलजीवा आहार-यन्तीति, कन्दाः कन्दजीवस्पृष्टाः केवलं मूलजीवप्रतिबद्धाः तस्मात् तत्प्रतिबन्धात् मूलजीवोपात्तं पृथिवीरसमाहार-वन्तीत्येवं स्कन्धादिष्वपि वाच्यम्।

७/६६ ‘आलुए’ इत्यादि, एते चानन्तकायभेदा लोकरुद्धिगम्याः। ‘तहम्मगार’ ति तथाप्रकाराः आलुकादिसदृशाः ‘अणंतजीव’ ति अनन्ता जीवा येषु ते तथा ‘विविहसत’ ति विविधा—बहुप्रकारा वर्णादिभेदात् सत्त्वा येषामनन्तकायिकवनस्पतिभेदानां ते तथा, अथवैकस्वरूपैरपि^१ जीवैरेषामनन्त जीविता स्यादित्याशंकायामाह विविधा—विचित्रकर्मतयाऽनेकविधाः सत्त्वा येषु ते तथा, ‘विवित्तविहिसते’^२ ति क्वचिद् दृश्यते तत्र विचित्रा विधयो—

१. अप्रती अथवैकस्वरूपैरपि

२. विचिताविहिसते ति क्वचित्

भेदा येषां ते तथा ते सत्त्वा येषु ते तथा।

जीवाधिकारादेवेदमाह—

७/६७ 'सिय भंते! कणहलेसे नेरइए' इत्यादि,

७/६८ 'ठिति पडुच्च' ति अत्रेयं भावना—सप्तमपृथिवीनारकः कृष्णलेश्यस्तस्य च स्वस्थितौ बहुक्षपितायां तच्छेषे वर्तमाने पञ्चमपृथिव्यां सप्तदशसागरोपमस्थितिनारको नीललेश्यः समुत्पन्नः। तमपेक्ष्य स कृष्णलेश्योऽल्पकर्मा व्यपदिश्यते, एवमुत्तरसूत्राण्यपि भावनीयानि।

७/७१ 'जोइसियस्स न भण्णइ' ति एकस्या एव तेजोलेश्यायास्तस्य सद्भावात् संयोगो नास्तीति। सलेश्या जीवाश्च वेदनावन्तो भवन्तीति वेदनासूत्राणि—

७/७५ 'कम्मं वेयण' ति उदयं प्राप्तं कर्म वेदना धर्मधर्मिणोर-भेदविवक्षणात्, 'नो कम्मं निज्जरे' ति कर्माभावो निर्जरा तस्या एवंस्वरूपत्वादिति। 'नो कम्मं निज्जरेसु' ति वेदितरसं कर्म नोकर्म तन्निज्जरितवन्तः, कर्मभूतस्य कर्मणो निज्जरणासंभवादिति। पूर्वकृतकर्मणश्च वेदना तद्वतां च कथञ्चिच्छाश्वतत्वे सति युज्जते इति। तच्छाश्वतत्वसूत्राणि, तत्र च

७/९४ 'अव्वोच्छित्तिणयट्टयाए' ति अव्यवच्छित्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयस्तस्यार्थो—द्रव्यमव्यवच्छित्तिनयार्थस्तद्भावस्ता तथाऽव्यवच्छित्तिनयार्थतया—द्रव्यमाश्रित्य शाश्वता इत्यर्थः 'वोच्छित्तिणयट्टयाए' ति व्यवच्छित्तिप्रधानो यो नयस्तस्य योऽर्थः पर्यायलक्षणस्तस्य यो भावः सा व्यवच्छित्तिनयार्थता तथा पर्यायानाश्रित्य अशाश्वता नारका इति।

॥ सप्तमशते तृतीयोद्देशकः ॥

चतुर्थ उद्देशकः

तृतीयोद्देशके संसारिणः शाश्वतादिस्वरूपतो निरूपिताश्च-तुर्थोद्देशके तु तानेव भेदतो निरूपयन्नाह—

७/९७ 'कतिविहा ण' मित्यादि 'एवं जहा जीवाभिगमे' ति एवं च तत्रैतत्सूत्रम्—पुढविकाइया जाव तसकाइया, से किं तं पुढविकाइया? पुढविकाइया दुविहा पण्णत्ता, तंजहा—सुहुमपुढविकाइया बायरपुढवीकाइया' इत्यादि, अन्तः पुनरस्य—'एगे जीवे एगेणं समएणं एक्कं किरियं पकरेइ,

तंजहा—समतकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा' अत एवोक्तं 'जाव सम्मते' त्यादि। वाचनान्तरे त्वदं दृश्यते—

“जीवा छव्विह पुढवी जीवाण ठिती भवहिती काए।

निल्लेवण अणगारे किरिया सम्पत्त मिच्छते ति ॥”

तत्र च षड्विधा जीवा दर्शिता एव, 'पुढवि' ति षड्विधा बादरपृथ्वी श्लक्षणा, शुद्धा, वालुका मनःशिला शर्करा खरपृथिवीभेदात्। तथैषामेव पृथिवीभेदजीवानां स्थितिरन्त-मुहूर्तादिका यथायोगं द्वाविंशतिवर्षसहस्रान्ता वाच्या। तथा नारकादिषु भवस्थितिर्वाच्या, सा च सामान्यतोऽन्तर्मुहूर्तादिका त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमान्ता। तथा कायस्थितिर्वाच्या, सा च जीव-स्य जीवकाये सर्वाद्धमित्येवमादिका। तथा निर्लेपना वाच्या, सा चैवं—प्रत्युत्पन्नपृथिवीकायिकाः समयापहारेण जघन्य-पदेऽसंख्याताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपहियन्ते। एव-मुत्कृष्टपदेऽपि, किन्तु जघन्यपदादुत्कृष्टपदमसंख्येयगुण-मित्यादि। 'अणगारे' ति अनगारवक्तव्यता वाच्या, सा चैयम्—अविशुद्धलेश्याऽनगारोऽसमवहतेनात्मनाऽविशुद्धलेश्यं देवं देवीमनगारं जानाति? नायमर्थ? इत्यादि। 'किरियासम्पत्त मिच्छते' ति एवं दृश्यम्। अन्ययूथिका एवमाख्यान्ति—एको जीव एकेन समयेन द्वे क्रिये प्रकरोति, सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रियां चेति, मिथ्या चैतद्विरोधादिति।

॥ सप्तमशते चतुर्थोद्देशकः ॥

पंचम उद्देशकः

चतुर्थे संसारिणो भेदत उक्ताः, पञ्चमे तु तद्विशेषाणामेव योनिसंग्रहं भेदत आह—

७/९९ 'खहयरे' त्यादि 'जोणीसंगहे' ति योनिः- उत्पत्तिजीवस्य^१ तथा संग्रहः—अनेकेषामेक शब्दाभिलाष्यत्वं योनिसंग्रहः 'अंडय' ति अण्डाज्जायन्ते अण्डजाः—हंसादयः 'पोयय' ति पोतवद्—वस्त्रवज्जरायुवर्जिततया शुद्धदेहा योनिविशेषाज्जाताः पोता-दिव वा उपस्थाज्जाताः^२ पोता इव वा वस्त्रसंमार्जिता इव जाताः पोतजाः वल्गुल्यादयः 'संमुच्छिम' ति संमूच्छेन—योनिविशेषधर्मेण निर्वृताः संमूच्छिमाः—वहिकादयः 'एवं जहा जीवाभिगमे' ति एवं च तत्रैतत्सूत्रम्—'अंडया तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—इत्थी, पुरिसा, नपुंसया, एवं पोययावि, तत्थ णं जे ते संमूच्छिमा ते सव्वे नपुंसगा' इत्यादि,

१. क्वचित् उत्पत्तिहेतुजीवस्य

२. अप्रतौ योनिस्थानाज्जाताः। क्वचित्तमपि — बोहियाज्जाताः

एतदन्तसूत्रं त्वेवम्—‘अत्थि षं भंते! विमाणाइं विजयाइं वेजयंताइं जयंताइं अपराजियाइं? हंता अत्थि, ते षं भंते! विमाणा केमहालया पण्णत्ता? गोयमा! जावइयं च षं सूरिए उदेइ जावइयं च षं सूरिए अत्थमेइ यावताऽन्तरेणेत्यर्थः एवंरूवाइं नव उवासंतराइं अत्थेगइयस्स देवस्स एगे विक्कमे सिया से षं देवे ताए उक्किट्टाए तुरियाए जाव दिव्वाए देवगईए वीईवयमाणे वीईवयमाणे जाव एग्गहं वा दुयाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीईवएज्ज, ति, शेषं तु लिखितमेवास्ते एतदेव च पर्यन्तसूत्रतया यावत्करणेन दर्शितमिति। वाचनान्तरेत्विदं दृश्यते—

“जोणिसंगहलेसा दिट्ठी णाणे य जोग उवओगे।

उववायठिइसमुग्घायचवणजाईकुलविहीओ ॥”

तत्र योनिसंग्रहो दर्शित एव, लेश्यादीनि त्वर्थतो दर्शयन्ते— एषां लेश्याः षड् दृष्टयस्तिस्त्रः ज्ञानानि त्रीणि आद्यानि भजनया अज्ञानानि तु त्रीणि भजनयैव योगास्त्रयः। उपयोगौ द्वौ उपपातः सामान्यतश्चतसृभ्योऽपि गतिभ्यः स्थितिरन्तर्मुहूर्तादिका पत्योपमासंख्येयभागपर्यवसाना समुद्घाताः केवल्याहारकवर्जाः पंच तथा च्युत्वा ते गतिचतुष्टयेऽपि यान्ति तथैषां जातौ द्वादश कुलकोटीलक्षा भवन्ति।

॥ सप्तमशते पञ्चमोद्देशकः ॥

षष्ठ उद्देशकः

अनन्तरं योनिसंग्रहादिरर्थ उक्तः, स चायुष्मतां भवतीत्या-युष्कादिनिरूपणार्थः षष्ठ—

७/१०३ तत्र च ‘एगंतदुक्खं वेयणं’ ति सर्वथा दुःखरूपां वेदनीय-कर्मानुभूतिम् ‘आहच्च सायं’ ति कदाचित्सुखरूपां नरक-पालादीनामसंयोगकाले,

७/१०४ ‘एगंत सायं’ ति भवप्रत्ययात् ‘आहच्च असायं’ ति प्रहाराद्युपनिपातात्।

७/१०७ ‘कक्कसवेयणिज्जाकम्म’ ति कर्कशैः—रौद्रदुःखैर्वेद्यते यानि तानि कर्कशवेदनीयानि स्कन्दकाचार्यसाधूनामिवेति।

७/११० ‘अक्कसवेयणिज्जे’ ति अकर्कशेन—सुखेन वेद्यन्ते यानि तान्यकर्कशवेदनीयानि भरतादीनामिव।

७/१११ ‘घाणाइवायवेरमणेण’ ति संयमेनेत्यर्थः। नारकादीनां तु संयमाभावात्तदभावोऽवसेयः।

७/११४ ‘अदुक्खणयाए’ ति दुःखस्य करणं दुःखनं तदविद्यमानं यस्यासावदुःखनस्तद्भावस्तत्ता तथा अदुःखनतया अदुःखकरणेनेत्यर्थः, एतदेव प्रपञ्च्यते—‘असोयणयाए’ ति दैन्यानुत्पादेन। ‘अजूरणयाए’ ति शरीरापचयकारि-शोकानुत्पादनेन। ‘अतिप्पणयाए’ ति अश्रुलालादिक्षरण-कारणशोकानुत्पादनेन ‘अपिट्टणयाए’ ति यष्ट्यादिताडन-परिहारेण। ‘अपरियावणयाए’ ति शरीरपरितापानुत्पादनेन। दुःखप्रस्तावादिदमाह—

७/११७ ‘जंबुदीवे ण’ मित्यादि ‘उत्तमकट्टपत्ताए’ ति परमकाष्ठाप्राप्तायां, उत्तमावस्थायां गतायामित्यर्थः। परमकष्टप्राप्तायां वा। ‘आगारभावपडोयारे’ ति आकारभावस्य—आकृतिलक्षण-पर्यायस्य प्रत्यवतारोऽवतरणम् आकारभावप्रत्यवतारः ‘हाहाभूए’ ति हाहाइत्येतस्य शब्दस्य दुःखार्तलोकेन करणं हाहोच्यते तद्भूतः—प्राप्तो यः कालः स हाहाभूतः। ‘भंभाभूए’ ति भां भा इत्यस्य शब्दस्य दुःखार्तगवादिभिः करणं भंभोच्यते तद्भूतो यः स भंभाभूत। भम्भा वा—भेरी सा चान्तः शून्या ततो भम्भेव यः कालो जनक्षयाच्छून्यः स भम्भाभूत उच्यते। ‘कोलाहलभूए’ ति कोलाहल इहार्तशकुनिसमूहध्वनिस्तं भूतः—प्राप्तः कोलाहलभूतः। ‘समयसमाणुभावेण य णं’ ति कालविशेषसामर्थ्येन च णमित्यलंकारे ‘खरफरुसधूलिमइल’ ति खरपरुषाः—अत्यन्तकठोरा धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा ‘दुव्विसह’ ति दुःसहा ‘वाउल’ ति व्याकुला असमंजसा इत्यर्थः ‘संवट्टय’ ति तृणकाष्ठादीनां संवर्तकाः ‘इह’ ति अस्मिन् काले ‘अभिवक्खं’ ति अभीक्षणं ‘धूमाहिंति य दिसं’ ति धूमाधिष्यन्ते च—धूममुद्वमिष्यन्ति दिशः पुनः किंभूतास्ताः? इत्याह—‘समंता रउस्सल’ ति समन्तात्—सर्वतो रजस्वला—रजोयुक्ता अत एव ‘रेणुकलुसतमपडलनिरालोगा’ रेणुना—धूल्या कलुषा—मलिना रेणुकलुषाः तमपटलेन—अन्ध-कारवृन्देन निरालोकाः—निरस्तप्रकाशो निरस्तदृष्टिप्रसर वा तमःपटलनिरालोकाः ततः कर्मधारयः ‘समयलुक्खयाए णं’ कालरूक्षतया चेत्यर्थः ‘अहियं’ न्ति अधिकम् ‘अहितं वा’ अपथ्यां ‘मोच्छंति’ ति मोक्षयन्ति स्त्रक्षयन्ति ‘अदुत्तरं च’ ति अथापरं च ‘अरसमेह’ ति अरसा—अमनोज्ञा मनोज्ञरस-वर्जितजला ये मेघास्ते तथा ‘विरसमेह’ ति विरुद्धरसा मेघाः एतदेवाभिव्यज्यते—‘खारमेह’ ति सर्जादिक्षारसमान-रसजलोपेतमेघाः ‘खत्तमेह’ ति करीषसमानरसजलोपेतमेघाः, ‘खट्टमेह’ ति क्वचिद्दृश्यते तत्राम्लजला इत्यर्थः। ‘अग्गिमेह’ ति अग्निवद्दाहकारिजला इत्यर्थः। ‘विज्जुमेह’ ति विद्युत्प्रधाना एव जलवर्जिता इत्यर्थः। विद्युन्निपातवन्तो वा विद्युन्नि-पातकार्यकारिजलनिपातवन्तो वा, ‘विसमेह’ ति जनमरणहेतु-

जला इत्यर्थः 'असणिमेह' ति करकादिनिपातवन्तः। पर्वतादि-
दारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघाः। 'अपिवणिज्जोदग' ति
अपातव्यजलाः अजवणिज्जोदए' ति क्वचिद् दृश्यते
तत्रायापनीयं—न यापनाप्रयोजनमुदकं येषां ते अयापनीयोदकाः।
'बाहिरोगवेदणोदीरणापरिणामसलिल' ति व्याधयः—स्थिराः
कुष्ठादयो रोगाः—सद्योघातिनः शूलादयस्तज्जन्याया वेदनाया
योदीरणा सैव परिणामो यस्य सलिलस्य ततथा। तदेवंविधं
सलिलं येषां ते तथाऽत एवामनोज्ञापनीयकाः। 'चंडानिल-
पहयतिक्खधारानिवायपउरं' ति चण्डानिलेन प्रहतानां तीक्ष्णा-
नां वेगवतीनां धाराणां यो निपातः स प्रचुरो यत्र वर्षे स
तथाऽतस्तं 'जेणं' ति येन वर्षेण करणभूतेन पूर्वोक्तविशेषणा
मेघा विध्वंसयिष्यन्तीति सम्बन्धः 'जणवयं' ति मनुष्यलोकं
'चउप्पयगवेलए' ति इह चतुष्पदशब्देन महिष्यादयो गृह्यन्ते
गोशब्देन गावः एलकशब्देन तु उरभ्राः। 'खहयरे' ति खेचरांश्च
कान्? इत्याह—'पक्खिसंघे' ति पक्षिसंघातान् तथा
'गामारण्णपयारनिरए' ति ग्रामारण्ययोर्यः प्रचारस्तत्र निरता
ये ते तथा तान्, कान्? इत्याह—'तसे पाणे बहुप्पयारे' ति
द्वीन्द्रियादीनित्यर्थः। 'रुक्खे' त्यादि, तत्र वृक्षाः—चूतादयः
गुच्छा—वृन्ताकीप्रभृतयः गुल्मा—नवमालिकाप्रभृतयः, लता
—अशोकलतादयः, वल्ल्योः—वालुंकीप्रभृतयः तृणानि—
वीरणादीनि, पर्वगा— इक्षुप्रभृतयः, हरितानि—दूर्वादीनि,
औषध्यः— शाल्यादयः प्रवालाः—पल्लवांकुराः, अंकुराः—
शाल्यादिबीजसूचयः। ततो वृक्षादीनां द्वन्द्वस्ततस्ते आदिर्येषां
ते तथा तांश्च, आदिशब्दात् कदल्यादिवलयानि पद्मादयश्च
जलजविशेषा ग्राह्याः। कानेवंविधान्? इत्याह—'तणव-
णस्सइकाइए' ति बादरवनस्पतीनित्यर्थः 'पव्वए' त्यादि,
यद्यपि पर्वतादयोऽन्यत्रैकार्यतया रूढास्तथापीह विशेषो दृश्यः।
तथाहि पर्वतननात्—उत्सवविस्तारणात्पर्वताः—क्रीडापर्वता
उज्जयन्तवैभारादयः। गृणन्ति—शब्दायते जननिवासभूतत्वेनेति
गिरयः—गोपालगिरिचित्रकूटप्रभृतयः, डुंगानां—शिलावृन्दानां
चौरवृन्दानां चास्तित्वात्, डुंगराः—शिलोच्चयमात्ररूपाः 'उत्थल'
ति उत्—उन्नतानि स्थलानि धूल्युच्छ्रयरूपाण्युत्थलानि,
क्वचिदुच्छब्दो न दृश्यते 'भट्टि' ति पाश्वादिक्वर्जिता भूमयस्तत
एषां द्वन्द्वस्ते आदिर्येषां ते तथा तान्, आदिशब्दात्
प्रासादशिखरादिपरिग्रहः 'विरावेहिंति' ति विद्रावयिष्वन्ति,
'सलिले' त्यादि सलिलबिलानि च भूमिनिर्झरी गतांश्च—
श्वभ्राणि दुर्गाणि च—खातवलयप्राकारादिदुर्गमाणि, विषमाणि
च विषमभूमिप्रतिष्ठितानि निम्नोन्नतानि च प्रतीतानि
द्वन्द्वोऽतस्तानि।

७/११८ 'ततसमजोइभूय' ति तप्तेन—तापेन समाः—तुल्याः ज्योतिषा—

वह्निना भूता—जाता या सा तथा 'धूलीबहुले' त्यादौ धूलीः—
पांशुः रेणुः—वालुका पंकः- कर्दमः पनकः—प्रतलः
कर्दमविशेषः। चलनप्रमाणः कर्दमश्चलनीत्युच्यते, 'दुन्निक्कम'
ति दुःखेन नितरां क्रमः—क्रमणं यस्यां सा दुर्निक्रमा ॥

७/११९ 'दुरूव' ति दुःस्वभावा 'अणाएज्जवयणपच्चायाए' ति
अनादेयवचनप्रत्याजाते येषां ते तथा, प्रत्याजातं तु जन्म,
'कूडे' त्यादौ कूटं— भ्रान्तिजनकद्रव्यं, कपटं—वञ्चनाय
वेषान्तरादिकरणम् 'गुरुनिओगविणयरहिया य' ति गुरुषु—
मात्रादिषु नियोगेन—अवश्यंतया यो विनयस्तेन रहिता ये ते
तथा, च समुच्चये 'विकलरूव' ति असम्पूर्णरूपाः।
'खरफरुसज्झामवण्ण' ति खरपरुषाः स्पर्शतोऽतीवकठोराः,
ध्यामवर्णा—अनुज्ज्वलवर्णास्ततः कर्मधारयः 'फुट्टिसिर' ति
विकीर्णाशिरोजा इत्यर्थः 'कविलपलियकेस' ति कपिलाः
पलिताश्च—शुक्लाः केशा येषां ते तथा 'बहुणहार-
संपिणद्धदुदंसणिज्जखूव' ति बहुस्नायुभिः संपिनद्धं—बद्धं
अत एव दुःखेन दर्शनीयं रूपं येषां ते तथा, 'संकुडिय-
वलीतरंगपरिवेडियंगमंगा' संकुटितं वलीलक्षणतरंगैः परिवेष्टितं
चांगं येषां ते तथा क इव? इत्यत आह—'जरापरिणयव्व
थेरयणर' ति जरापरिगतस्थविरनरा इवेत्यर्थः, स्थ-
विराश्चान्यथाऽपि व्यपदिश्यन्त इति जरापरिणतग्रहणं, तथा
'पविरलपरिसडियदंतसेठी' प्रविरला दन्तविरलत्वेन परिशदिता
च दन्तानां केषांचित्पतितत्वेन भग्नत्वेन वा दन्तश्रेणिर्येषां
ते तथा, 'उम्भडघडमुह' ति उद्भटं—विकरालं घटकमुखमिव
मुखं तुच्छदशनच्छदत्वाद्येषां ते तथा 'उम्भडघाडामुह' ति
क्वचित् तत्र उद्भटे—स्पष्टे घाटामुखे—शिरोदेशविषयौ येषां
ते तथा 'वंकवलीविगयभेसणमुह' ति वंकं—वक्रं पाठान्तरेण
व्यङ्ग-सलाञ्छनं वलिभिर्विकृतं च बीभत्सं भेषणं—भयजनकं
मुखं येषां ते तथा 'कच्छूकसराभिभूया' कच्छूः- पामा तथा
कशरैश्च—खशरैरभिभूता—व्याप्ता ये ते तथा, अत एव
'खरतिक्खनखकंडुइयविक्खयतणु' ति खरतीक्ष्णनखानां
कण्डूयितेन विकृता—कृतव्रणा तनुः—शरीरं येषां ते तथा,
'ददुकिडिभसिंझफुडियफरुसच्छवि' ति दद्रुकिडिभसिध्मानि
क्षुद्रकुष्ठविशेषास्तत्रधाना स्फुटिता परुषा च छविः—
शरीरत्वम् येषां ते तथा, अतएव 'चित्तलंग' ति कर्बुरवयवाः
टोले त्यादि, टोलगतयः—उष्णादिसमप्रचाराः पाठान्तरेण
टोलाकृतयः—अप्रशस्ताकाराः। विषमाणि ह्रस्वदीर्घत्वादिना
सन्धिरूपाणि बन्धनानि येषां ते विषमसन्धिबन्धनाः
उत्कुटुकानि—यथास्थानमनिविष्टानि अस्थिकानि—कीकसानि
विभक्तानीव च—दृश्यमानान्तरालानीव येषां ते
उत्कुटुकास्थिकविभक्ताः अथवोत्कुटुकास्थितास्तथास्व-

भावत्वाद्भिक्षाश्च—भोजनविशेषरहिता ये ते तथा, दुर्बला—बलहीनाः, कुसंहनना—सेवार्तसंहननाः कुप्रमाणाः—प्रमाणहीनाः कुसंस्थिताः—दुसंस्थानाः तत एषां 'टोलगे' त्यादिपदानां कर्मधारयः, अतएव 'कुरूव' ति कुरूपाः 'कुट्टाणासण-कुसेज्जकुभोइणो' ति कुत्सिताश्रयविष्टरदुःशयनदुर्भोजनाः 'असुइणो' ति अशुचयः स्नानब्रह्मचर्यादिवर्जितत्वात्। अश्रुतयो वा शास्त्रवर्जिताः, 'खलंतविबलगत' ति खलन्ती—स्खलन्ती विह्वला च —अर्दवितर्दा गतिर्येषां ते तथा अनेक-व्याधिरोगपीडितत्वात् 'विगयचेट्टानट्टतेय' ति विकृत-चेष्टानष्टतेजसश्चेत्यर्थः 'सीए' त्यादि शीतेनोष्णेन खरपरुषवातेन 'च विज्झडिय' ति मिश्रितं व्याप्तमित्यर्थः मलिनं च पांशुरूपेण रजसा द्रव्यरसजेत्यर्थः 'उग्गुडियं' ति उद्धूलित च अंगं अंगं येषां ते तथा 'असुह-दुक्खभागि' ति दुःखानुबन्धिदुःखभागिन इत्यर्थः 'ओसण्णं' ति बाहुल्येन। 'धम्मसण्ण' ति धर्मश्रद्धाऽवसन्ना गलिता सम्यक्त्वध्रष्टा रयणिपमाणमेतं' ति रत्नेः—हस्तस्य यत्प्रमाणम्—अंगुलचतुर्विंशतिलक्षणं तेन मात्रा—परिमाणं येषां ते रत्निप्रमाणमात्राः 'सोलसवीस-इवासपरमाउसो' ति इह कदाचित् षोडश वर्षाणि, कदाचिच्च विंशतिवर्षाणि परमायुष्येषां ते तथा 'पुत्तनतुपरियालपणयबहुल' ति पुत्राः—सुताः नप्तारः—पौत्रा दौहित्राश्च एतल्लक्षणे यः परिवारस्तत्र यः प्रणयः—स्नेहः स बहुलो—बहुर्येषां ते, तथा पाठान्तरे 'पुत्तनतुपरिपालणबहुल' ति तत्र च पुत्रादीनां परिपालनं बहुलं बाहुल्येन येषां ते, तथा अनेन अल्पायुष्कत्वेऽपि बहूपत्यता तेषामुक्ताऽल्पेनापि कालेन यौवनसद्भावादिति। 'निस्साए' ति निश्राय—निश्रां कृत्वेत्यर्थः 'निओय' ति निगोदाः—कुटुम्बानीत्यर्थः। 'बीयं' ति बीजमिव बीजं भविष्यतां जनसमूहानां हेतुत्वात् 'बीयमेत' ति बीजस्येव मात्रा—परिमाणं येषां ते बीजमात्राः स्वल्पाः स्वरूपत इत्यर्थः।

७/१२० 'रहपह' ति रथपथः—शकटचक्रद्वयप्रमितो मार्गः 'अक्खसोयप्पमाणमेतं' ति अक्षश्रोतः—चक्रधुरः प्रवेशरन्ध्रं तदेव प्रमाणमक्षश्रोतः प्रमाणं तेन मात्रा—परिमाणमवगाहतो यस्य तत्तथा 'वोज्झिहिंति' वक्ष्यतः। 'आउबहुले' ति बहूप्कायमित्यर्थः 'निद्धाहिंति' ति निद्धाविष्यन्ति निर्गमिष्यन्तिः 'गाहेहिंति' ति 'ग्राहयिष्यन्ति' प्रापयिष्यन्ति स्थलेषु स्थापयिष्यन्तीत्यर्थ 'वित्तिं कप्पेमण्णे' ति जीविकां कुर्वन्तः।

७/१२१ 'निस्सील' ति महाव्रतानुव्रतविकलाः 'निग्गुण' ति उत्तरगुणविकलाः 'निम्पेर' ति अविद्यमानकुलादिमर्यादाः 'निपच्चक्खणपोसहोववास' ति असत्पौरुष्यादिनियमा अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासाश्चेत्यर्थः 'ओसन्नं' ति प्रायो मांसाहाराः, कथम्? इत्याह—मत्स्याहारा यतः, तथा 'खेदाहार'

ति मधुभोजिनः भूक्षोदेन वाऽऽहरो येषां ते क्षोदाहाराः। 'कुणिमाहारे' ति कुणपः—शवस्तद्रसोऽपि वसादिः कुणपस्तदाहाराः। 'ते ण' ति ये तदानीं क्षीणावशेषाश्चतुष्पदाः केचन भविष्यन्ति।

७/१२२ 'अच्छ' ति ऋक्षाः 'तरच्छ' ति व्याघ्रविशेषाः। 'परस्सर' ति शरभाः,

७/१२३ 'ढंक्' ति काकाः 'मट्टुग' ति मद्गवो—जलवायसाः 'सिहि' ति मयूराः।

॥ सप्तमशते षष्ठोद्देशकः ॥

सप्तम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके नरकादावुत्पत्तिरुक्ता, स चासंवृतानां, अथैतद्विपर्ययभूतस्य संवृतस्य यद्भवति तत्सप्तमोद्देशके आह—

७/१२५ 'संबुडे' त्यादि। संवृतश्च कामभोगानाश्रित्य भवतीति कामभोगप्ररूपणाय।

७/१२७ 'रूवी' त्यादि सूत्रवृन्दमाह—तत्र रूपं—मूर्त्तता तदस्ति येषां ते रूपिणः तद्विपरीतास्त्वरूपिण काम्यन्ते—अभिलष्यन्ते एव न तु विशिष्टशरीरसंस्पर्शद्वारेणोपयुज्यन्ते ये ते कामाः—मनोज्ञाः शब्दाः संस्थानानि वर्णाश्च, अत्रोत्तरं—रूपिणः कामा नो अरूपिणः, पुद्गल-धर्मत्वेन तेषां मूर्त्तत्वादिति,

७/१२८ 'सचित्ते' त्यादि सचित्ता अपि कामाः समनस्कप्राणिरूपापेक्षया। अचित्ता अपि कामा भवन्ति शब्दद्रव्यापेक्षयाऽसंज्ञि-जीवशरीररूपापेक्षया चेति

७/१२९ 'जीवे' त्यादि, जीवा अपि कामा भवन्ति, जीवशरीररूपापेक्षया, अजीवा अपि कामा भवन्ति शब्दापेक्षया चित्रपुत्रिकादिरूपापेक्षया चेति।

७/१३० 'जीवाण' मित्यादि, जीवानामेव कामा भवन्ति, कामहेतुत्वात्, अजीवानां न कामा भवन्ति तेषां कामासंभवादिति।

७/१३२ 'रूवि' मित्यादि, भुज्यन्ते—शरीरेण उपभुज्यन्ते इति भोगाः—विशिष्टगंधरसस्पर्शद्रव्याणि। 'रूवि भोग' ति रूपिणो भोगा नो अरूपिणः पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्त्तत्वादिति।

७/१३३ 'सचित्ते' त्यादि, सचित्ता अपि भोगा भवन्ति गन्धादि-प्रधानजीवशरीराणां केषांचित्समनस्कत्वात्, तथा अचित्ता अपि भोगा भवन्ति केषांचिद्गन्धादिविशिष्टजीवशरीराणा-ममनस्कत्वात्।

७/१३४ 'जीवावि भोग' ति जीवशरीराणां विशिष्टगन्धादिगुणयुक्तत्वात्, 'अजीवावि भोग' ति अजीवद्रव्याणां विशिष्टगन्धादिगुणोपेतत्वादिति।

७/१४५ 'सव्वत्थोवा कामभोगि' ति ते हि चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्युस्ते च स्तोका एव, 'नो कामी नो भोगि' ति सिद्धास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणा एव, 'भोगि' ति एकद्वित्रीन्द्रियास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतीनामनन्तगुणत्वादिति। भोगाधिकारादिदमाह—

७/१४६ 'छउमत्थे ण' मित्यादि सूत्रचतुष्टयम्। तत्र च 'से नूणं भंते! से खीणभोगि' ति 'से' ति असौ मनुष्यः नूनं निश्चितं भदन्त! 'से' ति अर्थार्थः^१ अथ शब्दश्च परिप्रश्नार्थः 'खीणभोगि' ति भोगो जीवस्य यत्रास्ति तद्भोगि—शरीरं तत्क्षीणं तपोरोगादिभिर्यस्य सः क्षीणभोगी क्षीणतनुर्दुर्बल इति यावत्। 'णो पभु' ति न समर्थः 'उट्टाणेण' ति ऊर्ध्वोभवनेन 'कम्पेण' ति गमनादिना 'बलेण' ति देहप्राणेन 'वीरिएण' ति जीवबलेन 'पुरिसक्कारपरक्कमेण' ति पुरुषाभिमानेन तेनैव च साधितस्वप्रयोजनेनेत्यर्थः 'भोगभोगाई' ति मनोज्ञशब्दादीन् 'से नूणं भंते! एयमट्टं एवं वयह' अथ निश्चितं भदन्त! एतम्—अनन्तरोक्तमर्थमेवम्—अमुनैव प्रकारेण वदथ यूयं? इति प्रश्नः पृच्छतोऽयमभिप्रायः—यद्यसौ न प्रभुस्तदासौ भोगभोजनासमर्थत्वात् भोगी अत एव न भोगत्यागीत्यतः कथं निर्जरावान्? कथं वा देवलोकगमनपर्यवसानोऽस्तु? उत्तरं तु 'नो इणट्टे समट्टे' ति, कस्माद्? यतः 'पभू णं से' ति स क्षीणभोगी मनुष्यः 'अण्णतराई' ति एकतरान् कांश्चित्क्षीणशरीरसाधूंचितानैवं^२ उचितभोगमुक्तिसमर्थत्वाद्-भोगित्वं तत्प्रत्याख्याच्च तत्त्यागित्वं ततो निर्जरा ततोऽपि च देवलोकगतिरिति।

७/१४७ 'आहोहिण् णं' ति आधोऽवधिकः नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानी।

७/१४८ 'परमाहोहिण् णं' ति परमाधोऽवधिज्ञानी, अयं च चरमशरीर एव भवतीत्यत आह—

७/१४८ 'तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए' इत्यादि।

अनन्तरं छदमस्थादिज्ञानवक्तव्यतोक्ता, अथ पृथिव्याद्यज्ञानवक्तव्यतोच्यते—

७/१५० 'जे इमे' इत्यादि 'एगइया तस' ति एके केचन न सर्वे समूर्च्छिमा इत्यर्थः। अंधं चित्तं अन्धा इवान्धा—अज्ञानाः

'मूढ' ति मूढाः तत्त्वश्रद्धानं प्रति एत एवोपमयोच्यंते 'तमं पविट्ठ' ति तमः प्रविष्टा इव तमःप्रविष्टाः, 'तमपडलमोहजालपडिच्छन्न' ति तमःपटलमिव तमःपटलं— ज्ञानावरणं मोहो—मोहनीयं^३। तदेव जालं मोहजालं ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा 'अकामनिकरणं' ति अकामो— वेदानुभवेऽनिच्छा-ऽमनस्कत्वात् स एव निकरणं—कारणं यत्र तदकामनिकरणं अज्ञानप्रत्ययमिति भावस्तद्यथा भवतीत्येवं वेदानां सुखःदुख-रूपां वेदनं वा—संवेदनं वेदयन्ति अनुभवन्तीति।

अथासंज्ञिविपक्षमाश्रित्याह—

७/१५१ 'अत्थी' त्यादि, अस्त्ययं पक्षो यदुत 'पभूवि' ति प्रभुरपि संज्ञित्वेन यथावद्रूपदिज्ञाने समर्थोऽप्यास्तामसंज्ञित्वेना-प्रभुरित्यपिशब्दार्थः 'अकामनिकरणं' अनिच्छाप्रत्ययमना-भोगात्। अन्ये त्वाहुः- अकामेन—अनिच्छया निकरणं क्रियाया—इष्टार्थप्राप्तिलक्षणाया अभावो यत्र वेदने तत्तथा तद्यथा भवतीत्येवं वेदानां वेदयन्तीति प्रश्नः, उत्तरं तु—

७/१५२ 'जे णं' ति यः प्राणी संज्ञित्वेनोपायसद्भावेन च हेयादीनां हानादौ समर्थोऽपि 'नो पहु' ति न समर्थो विना प्रदीपेनान्धकारे रूपाणि 'पासित्तए' ति द्रष्टुं, एषोऽकामप्रत्ययं वेदानां वेदयतीति सम्बन्धः। 'पुरओ' ति अग्रतः 'अण्णिज्जाएत्ता णं' ति अनिच्छयायं चक्षुरव्यापार्य 'मग्गओ' ति पृष्ठतः 'अणवयविक्खता णं' ति अनवेक्ष्य पश्चाद् भागमनवलोक्येति। अकामनिकरणं वेदानां वेदयतीत्युक्तम्। अथ तद्विपर्ययमाह—

७/१५३ 'अत्थि णं' मित्यादि प्रभुरपि संज्ञित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि। 'पकामनिकरणं' ति प्रकामः—ईप्सितार्थाप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽभिलाषः। स एव निकरणं—कारणं यत्र वेदने तत्तथा। अन्ये त्वाहुः- प्रकामे—तीव्राभिलाषे सति प्रकामं वा अत्यर्थं निकरणम्—इष्टार्थसाधकक्रियाणामभावो यत्र तत् प्रकामनिकरणं तद्यथा भवतीत्येवं वेदानां वेदयतीति प्रश्नः। उत्तरं तु

७/१५४ 'जे णं' मित्यादि, यो न प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं तद्गतद्रव्यप्राप्त्यर्थे सत्यपि तथाविधशक्तिवैकल्यात्, अत एव च यो न प्रभुः समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं, स तद्गताभिलाषातिरेकात् प्रकामनिकरणं वेदानां वेदयतीति।

।। सप्तमशते सप्तमोद्देशकः ।।

१. सप्रतौ अयमर्थः क्वचित्तमपि

२. अप्रतौ साधूंचितानैव चोचितं

३. अ. स. प्रतौ तमः पटलं मोहो मोहनीय

४. सप्रतौ—अनिर्दयाय, क्वचित्तमपि

अष्टम उद्देशकः

सप्तमोद्देशकस्यान्ते छाद्मस्थिकं वेदनमुक्तमष्टमे त्वादावेव
छद्मस्थवक्तव्यतोच्यते,

७/१५६ 'छउमत्थे ण' मित्यादि, एतच्च यथा प्राग् व्याख्यातं तथा
द्रष्टव्यम् अथ जीवाधिकारादिदमाह—

७/१५८ 'से णूण' मित्यादि एवं जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति, तत्र
चैतत्सूत्रमेवं - समे चेव जीवे, से णूणं भंते! हत्थीओ कुंथु
अप्पकम्मतराए चेव अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए
चेव कुंथुओ हत्थी महाकम्मतराए चेव हंता गोयमा!

७/१५९ 'कम्हा णं भंते! हत्थिस्स य कुंथुस्स स समे चेव जीवे?
गोयमा! से जहानामए—कूडागारसाला सिया दुहओ लिता
गुत्ता गुत्तदुवारा निवाया निवायगंभीरा अहे णं केइ पुरिसे
पईवे च जोई च गहाय तं कूडागारसालं अन्तो अन्तो
अणुपविसेइ अणुपविसेइ तीसे कूडागारसालाए सव्वओ समंता
घणनिचियनिरन्तरनिच्छिड्डुइं दुवारवयणाइं पिहेति तीसे य
बहुमज्झदेसभाए तं पईवे पलीवेज्जा, से य पईवे कूडागारसालं
अंतो अंतो ओभासति उज्जोएइ तवइ पभासेइ नो चेव णं
कूडागारसालाए बाहिं, तए णं से पुरिसे तं पईवे इड्डुरेणं
पिहेइं, तए णं से पईवे इड्डुरस्स अंतो अंतो ओभासेइ नो चेव
णं इड्डुरस्स बाहिं, एवं गोकिलंजएणं गंडवाणियाए पच्छिपिड-
एणं आढएणं अद्दाढएणं पत्थएणं अद्धपत्थएणं कुलवेणं
अद्धकुलवेणं चउम्भाइयाए अड्डुभाइयाए सोलसियाए बत्तीसि-
याए चउसट्टियाए, तए णं से पुरिसे तं पइवं दीवगचंपएणं
पिहेइ, तए णं से पईवे तं दीवगचंपणयं अंतो अंतो ओभासइ
नो चेव णं दीवगचंपणयस्स बाहिं नो चेव णं चउसट्टियाए
बाहिं जाव नो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं, एवामेव
गोयमा! जीवेवि जारिसियं पुव्वकम्मनिबद्धं बोदिं निव्वत्तेइ
तं असंखेज्जेहिं जीवपएसेहिं सचित्तीकरेइ शेषं तु लिखित-
मेवास्ति। अस्य चायमर्थः—कूटाकारेण—शिखराकृत्या
युक्ताशाला कूटाकारशाला, 'दुहओ लिता' बहिरन्तरश्च
गोमयादिना लिप्ता 'गुत्ता' प्रकाराद्यावृत्ता 'गुत्तदुवारा' कपाटादि-
युक्तद्वारा 'निवाया' वायुप्रवेशरहिता, किल महद्गृहं प्रायो
निवातं न भवतीत्यत आह—'निवायगंभीरा' निवातविशालेत्यर्थः
'पईवं' तैलदशाभाजनं 'जोई' ति अग्नि 'घणनिचयनिरन्तर-
निच्छिड्डुइं दुवारवयणाइं पिहेति' द्वाराण्येव वदनानि—मुखाणि
द्वारवदनानि पिधत्ते, कीदृशानि कृत्वा? इत्याह—घननिचितानि
कपाटादिद्वारपिधानानां द्वारशाखादिषु गाढनियोजनेन तानि

च तानि निरन्तरं कपाटादीनामन्तराभावेन निश्छिद्राणि च
नीरन्ध्राणि घननिचितनिरन्तरनिश्छिद्राणि 'इड्डुरेणं' ति
गन्त्रीढञ्चनकेन 'गोकिलंजएणं' ति गोचरणार्थं महावंश-
भयभाजनविशेषेण डल्लयेत्यर्थः 'गंडवाणियाए' ति 'गण्ड-
पाणिका' वंशमयभाजनविशेष एव यो गण्डेन-हस्तेन गृह्यते
हल्लातो लघुतरः 'पच्छिपिडएणं' ति पच्छिकालक्षणपिटकेन
आढकादीनि प्रतीतानि नवरं 'चउम्भाइय' ति घटकस्य—
रसमानविशेषस्य चतुर्थभागमात्रो मानविशेषः 'अड्डुभाइया'
तस्यैवाष्टमभागमात्रो मानविशेषः 'एव सोलसिया' षोडशभाग-
माना 'बत्तीसिया' तस्यैव द्वात्रिंशद्भागमात्रा 'चतुष्पट्टिका'
तस्यैव चतुःषष्टितमांशस्वभावा पलमिति तात्पर्यं 'दीवगचं-
पएणं' ति दीपकचंपकेन दीपाच्छादनेन कोशिकेनेत्यर्थः।
एतच्च सर्वमपि वाचनान्तरे साक्षाल्लिखितमेव दृश्यते इति।
जीवाधिकारादिदमाह—

७/१६० 'नेरइयाण' मित्यादि 'सव्वे से दुक्खे' ति दुःखहेतुसंसारनिबन्ध-
त्वाद् दुःखं 'जे निज्जिण्णे से सुहे' ति सुखस्वरूपमोक्षहेतु-
त्वाद्यन्निर्जीर्णं कर्म तत्सुखमुच्यते। नारकादयश्च संज्ञिन इति
संज्ञा आह—

७/१६१ 'कति ण' मित्यादि, तत्र संज्ञानं संज्ञा—आभोग इत्यर्थः
मनोविज्ञानमित्यन्ये संज्ञायते वाऽनयेति संज्ञा वेदनीय-
मोहनीयोदयाश्रया ज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमाश्रया च
विचित्राहारादिप्राप्तये क्रियैवेत्यर्थः, सा चोपाधिभेदाद्भिद्य-
माना दशप्रकारा भवति, तद्यथा—'आहारसन्ने' त्यादि, तत्र
क्षुद्वेदनीयोदयात् कावलिकाद्याहारार्थं पुद्गलोपादानक्रियैव
संज्ञायतेऽनया इत्याहारसंज्ञा, तथा भयमोहनीयोदयाद् भयोद्-
भ्रान्तदृष्टिवचनविकाररोमाञ्चोद्भेदादिक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति
भयसंज्ञा, तथा पुंवेदाद्युदयान्मैथुनाय स्वाद्यं गालोकनप्रसन्न-
वदनसंस्तम्भितोरुवेपथुप्रभृतिलक्षणा क्रियैव संज्ञायतेऽन-
येति मैथुनसंज्ञा, तथा लोभोदयात्प्रधानभव-कारणाभिर्व्वग-
पूर्विका सचित्तेतरद्रव्योपादनक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति परिग्रह-
संज्ञा, तथा क्रोधोदयादावेशगर्भा प्ररूक्षनयनदन्तच्छद-
स्फुरणादिचेष्टैव संज्ञायतेऽनयेति क्रोधसंज्ञा, तथा मानोदयाद-
हंकारात्मिकोत्सेकक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति मानसंज्ञा, तथा
मायोदयेनाशुभसंस्लेशादनृतसंभाषणादिक्रियैव संज्ञायतेऽन-
येति मायासंज्ञा, तथा लोभोदयात्लोभसमन्विता सचित्तेतर-
द्रव्यप्रार्थनैव संज्ञायतेऽनयेति लोभसंज्ञा, तथा मतिज्ञानावरण-
क्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायते
वस्त्वनयेति ओघसंज्ञा, एवं शब्दाद्यर्थगोचराविशेषावबोध-

क्रियैव संज्ञायतेऽनयेति लोकसंज्ञा, ततश्चौघसंज्ञा दर्शनो-
पयोगो लोकसंज्ञा तु ज्ञानोपयोग इति। व्यत्ययं त्वन्ये। अन्ये
पुनरित्यमभिदधति—सामान्यप्रवृत्तिरोघसंज्ञा, लोकदृष्टिस्तु
लोकसंज्ञा। एताश्च सुखप्रतिपत्तये स्पष्टरूपाः पंचेन्द्रिया-
नधिकृत्योक्ता एकेन्द्रियादीनां तु प्रायो यथोक्तक्रियानिबन्ध-
नकर्मोदयादिरूपा एवावगंतव्या इति। जीवाधिकारात्—

७/१६२ 'नेरइये' त्यादि 'परज्झ' ति पारवश्यम्। प्राग् वेदोक्ता सा च
कर्मवशात् तच्च क्रियाविशेषात्। सा च महतामितरेषां च
समैवेति दर्शयितुमाह—

७/१६३ 'से नूणं भंते! हत्थिस्से' त्यादि, अनन्तरविरतिरुक्ता सा च
संयतानामप्याधाकर्मभोजिनां कथंचिदस्तीत्यतः पृच्छति

७/१६५ 'अहे' त्यादि, 'सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं' ति अयमर्थः
जीवः शाश्वतः पण्डितत्वमशाश्वतं चारित्रस्य भ्रंशादिति।

॥ सप्तमशते अष्टमोद्देशकः ॥

नवम उद्देशकः

पूर्वमाधाकर्मभोक्तृत्वेनासंवृतवक्तव्यतोक्ता, नवमोद्देशकेऽपि
तद्वक्तव्यतोच्यते, तत्र चादिसूत्रम्—

७/१६७ 'असंवुडे ण' मित्यादि, 'असंवृतः' प्रमत्तः।

७/१६९-१७२ 'इहगए' ति इह प्रच्छको गौतमस्तदपेक्षया इहशब्द-
वाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च 'इहगतान्' नरलोकव्यवस्थितान्
'तत्थगए' ति वैक्रियं कृत्वा यत्र यास्यति तत्र व्यवस्थिता-
नित्यर्थः 'अण्णत्थगए' ति उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थाना-
श्रितानित्यर्थः 'नवरं' ति अयं विशेषः—'इहगए' इति
इहगतः अनगार इति इहगतान् पुद्गलानिति च वाच्यं, तत्र तु
देव इति तत्रगतानिति चोक्तमिति। अनन्तरं पुद्गलपरिणाम-
विशेष उक्तः, स संग्रामे सविशेषो भवतीति संग्रामविशेष-
वक्तव्यता-भणनाय प्रस्तावयन्नाह—

७/१७३ 'णायमेय' मित्यादि ज्ञातं सामान्यतः 'एतत्' वक्ष्यमाणं वस्तु
'अर्हता' भगवता महावीरेण सर्वज्ञत्वात् तथा 'सुयं' ति
स्मृतमिव स्मृतं स्पष्टप्रतिभासभावात्। विज्ञातं विशेषतः, किं
तत्? इत्याह—'महासिलाकंटए संग्रामे' ति महाशिलैव
कण्टको जीवितभेदकत्वात् महाशिलाकण्टकस्ततश्च यत्र
'तृणशूकादिनाऽप्याभिहतस्याश्वहस्त्यादेर्महाशिलाकण्ट-
केनेवाभ्याहतस्य वेदना जायते स संग्रामो महाशिलाकण्टक

एवोच्यते। द्विर्वचनं चोल्लेखस्यानुकरणे। एवं च किलायं
संग्रामः संजातः—चम्पायां कूणिको राजा बभूव, तस्य
चानुजौ हल्लविहल्लाभिधानौ भ्रातरौ सेचनकाभिधान-
गन्धहस्तिनि समारूढौ दिव्यकुण्डलदिव्यवसनदिव्यहार-
विभूषितौ विलसन्तौ दृष्ट्वा पद्मावत्यभिधाना कूणिक-
राजस्य भार्या मत्सराद्वन्तिनोऽपहाराय तं प्रेरितवती, तेन तौ
तं याचितौ, तौ च तद्भयाद्वैशाल्यां नगर्यां स्वकीयमाता-
महस्य चेटकाभिधानस्य राज्ञोऽन्तिकं सहस्तिकौ सान्तःपुर-
परिवारौ गतवन्तौ, कूणिकेन च दूतप्रेषणतो मार्गितौ, न च
तेन प्रेषितौ, ततः कूणिकेन भाणितं—यदि न प्रेषयसि तौ
तदा युद्धसज्जो भव, तेनापि भाणितम्—एष सज्जोऽस्मि,
ततः कूणिकेन कालादयो दश स्वकीया भिन्नमातृता भ्रातरौ
राजानश्चेतकेन सह संग्रामायाहूताः तत्रैकैकस्य त्रीणि त्रीणि
हस्तिनां सहस्राणि, एवं रथानामश्वानां च, मनुष्याणां तु
प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः कोटयः कूणिकस्याप्येवमेव, एनं च
व्यतिकरं ज्ञात्वा चेटकेनाप्यष्टादश गणराजा मीलिताः, तेषां
चेटकस्य च प्रत्येकमेवमेव हस्त्यादिपरिमाणं, ततो युद्धं
संप्रलग्नं, चेटकराजश्च प्रतिपन्नव्रतत्वेन दिनमध्ये एकमेव
शरं मुञ्चति, अमोघबाणश्च सः। तत्र च कूणिकसैन्ये
गरुडव्यूहः, चेटकसैन्ये च सागरव्यूहो विरचितः, ततश्च
कूणिकस्य कालो दण्डनायको युद्धयमानस्तावद्गतो
यावच्चेटकः, ततस्तेनैकशरनिपातेनासौ निपातितो, भग्नं च
कूणिकबलं, गते च द्वे अपि बले निजं निजमावासस्थानम्,
एवं च दशसु दिवसेषु चेटकेन विनाशिता दशापि
कालादयः, एकादशे तु दिवसे चेटकजयार्थं देवताराधनाय
कूणिकोऽष्टमभक्तं प्रजग्राह, ततः शक्रचमरावागतौ, ततः
शक्रो बभाण-चेटकः श्रावक इत्यहं न तं प्रति प्रहरामि नवरं
भवन्तं संरक्षामि, ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रप्रतिरूपकम-
भेद्यकवचं कृतवान्, चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान्—
महाशिलाकण्टकं रथमुशलं चेति। 'जइत्थ' ति जितवान्
'पराजइत्थ' ति पराजितवान् हारितवानित्यर्थः 'वज्जि' ति
'वज्री' इन्द्रः 'विदेहपुते' ति कोणिकः। एतावेव तत्र जेतारौ
नान्यः कश्चिदिति 'नव मल्लइ' ति मल्लकिनामानो
राजविशेषः 'नव लेच्छइ' ति लेच्छकिनामानो राजाविशेषः
एव 'कासीकोसलग' ति काशी—वाणारसी तज्जनपदोऽपि
काशी तत्सम्बन्धिन आद्या नव कोशला—अयोध्या
तज्जनपदोपि कोशला तत्सम्बन्धिनो नव द्वितीयाः।
'गणरायाणो' ति समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते
गणप्रधाना राजानो गणराजाः सामन्ता इत्यर्थः। ते च तदानीं

१. क्वचित् तुणशलाकादिना शूका—अग्रभागः ।

२. ग्रन्थाय ७०००।

चेटराजस्य वैशालीनगरनायकस्य साहाय्याय गणं कृतवन्त इति। अथ महाशिलाकण्टके संग्रामे चमरेण विकुर्विते सति कूणिको। यदकरोत्तदर्शनार्थमिदमाह—

७/१७४ 'तए ण' मित्यादि, ततो महाशिलाकण्टकसंग्रामविकुर्वणानन्तरम् उदाईति उदायिनामानं 'हत्थिरायं' ति हस्तिप्रधानं 'पडिकप्पेह' ति सन्नद्धं कुरुत 'पच्चप्पिणह' ति प्रत्यर्थयत निवेदयतेत्यर्थः।

७/१७५ 'हट्टुत्तु' इह यावत्करणादेवं दृश्यम्—'हट्टुत्तुच्चित्त-माणंदिया नंदिया पीडमणा' इत्यादि। तत्र हट्टुत्तुम्—अत्यर्थं तुष्टं हट्टं वा—विस्मितं तुष्टं च—तोषवच्चित्तं—मनो यत्र तत्तथा तद् हट्टुत्तुच्चित्तं यथा भवति इत्येवमानन्दिता—ईषन्मुखसौम्यादिभावैः समृद्धिमु-पगताः, ततश्च नन्दिताः—समृद्धितरतामुपगताः प्रीतिः—प्रीणनम् आप्यायनं मनसि येषां ते प्रीतिमनसः 'अंजलिं कट्टु' ति, इदं त्वेवं दृश्यं—'करयलपरिगहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु' तत्र शिरसा अप्राप्तम्—असंसृष्टं मस्तकेऽञ्जलिं कृत्वेत्यर्थः। 'एवं सामी! तहति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेति' ति एवं स्वामिन्! तथेति आज्ञया इत्येवंविधशब्दभणनरूपो यो विनयः स तथा, तेन वचनं राज्ञः संबन्धि 'प्रतिश्रुण्वन्ति' अभ्युपगच्छन्ति। 'छेया-यरिओवएसमइकप्पणाविगप्पेहिं' ति छेको—निपुणो य आचार्यः—शिल्पोपदेशदाता तस्योपदेशाद् या मतिः—बुद्धिस्तस्या ये कल्पना-विकल्पाः—कृतिभेदास्ते तथा तैः प्रतिकल्पयन्तीति योगः 'सुनिउणेहिं' ति कल्पनाविकल्पानां विशेषणं नरैर्वा सुनिपुणैः 'एवं जहा उववाइए' ति तत्र चेदं सूत्रमेवम्—'उज्जलनेवत्थहव्वपरिवच्छियं' उज्ज्वलनेपथ्येन—निर्मलवेषेण 'हव्वं' ति शीघ्रं परिपक्षितः—परिगृहीतः—परिवृतो यः स तथा तं, सुसज्जम्

७/१७६ 'वम्मियसन्नद्धबद्धकवइयउप्पीलियवच्छकच्छगेवेज्जग-बद्धगलगवरभूसणाविराइयं' वर्म्मणि नियुक्ता वर्म्मिकास्तैः सन्नद्धः—कृतसन्नाह वर्म्मिकसंनद्धः बद्धा कवचिका—सन्नाहविशेषो यस्य स बद्धकवचिकः उत्पीडिता—गाढीकृता वक्षसि कक्षा—हृदयरज्जुर्यस्य स तथा प्रैवेयकं बद्धं गलेके यस्य स तथा वरभूषणैर्विराजितो यः स तथा ततः कर्मधारयोऽतस्तम् 'अहियतेयजुत्तं विरइयवरकण्ण-पूरस ललियपलंबावचूलचामरोयरकयंधयारं' विरचिते वर-कर्णपूरेप्रधानकर्णाभरण विशेषो यस्य स तथा सललितानि प्रलम्बानि अवचूलानि—यस्य स तथा चामरोत्करेण कृतमन्धकारं यत्र स तथा ततः कर्मधारयोऽतस्तं 'चित्त-

परिच्छोयपच्छयं' चित्तपरिच्छोको लघुः प्रच्छदो—वस्त्र-विशेषो यस्य स तथाऽतस्तं 'कणगघडियसुत्तगसुबद्धकच्छं' कनकघटितसूत्रकेण सुष्ठु बद्धा कक्षा—उरीबन्धनं यस्य स तथा तं 'बहुपहरणावरणभरियजुज्झसज्झं' बहूनां प्रहरणा-नामा-वरणानां च—स्फुरककण्टकादीनां^१ भृतो युद्ध-सज्जश्च यः स तथाऽतस्तं 'सछत्तं सज्झयं सघटं' 'पंचामेलियपरिमंडियाभिरामं' पंचभिरापीडिकाभिः—चूडाभिः परिमण्डितोऽभिरामश्च—रम्यो यः स तथाऽतस्तं 'ओसा-रियजमलजुयलघटं' अवसारितअवलम्बितं यमलयुगलं—द्वयं घण्टयोर्वत्र स तथाऽतस्तं 'विज्जुपिणद्धं व कालमेहं' भास्वरप्रहरणाभरणादीनां विद्युत्कल्पना कालत्वाच्च गजस्य मेघसमतेति 'उप्पाइयपव्वयं व सक्खं' औत्पातिकपर्वतमिव साक्षादित्यर्थः 'मत्तं मेहमिव गुलुगुलंतं' मणपवणजइणवेगं मनःपवनजयी वेगो यस्य स तथाऽतस्तं, शेषं तु लिखितमेवास्ति, वाचनान्तरे त्विदं साक्षाल्लिखितमेव दृश्यत इति। 'कयबलिकम्मे' ति देवतानां कृतबलिकर्मा 'कयकोउयमंगलपायच्छित्ते' ति कृतानि कौतुकमंगलान्येव प्रायश्चित्तानीव दुःस्वप्ना दिव्योपाहायावश्यं कर्तव्यत्वात् प्रायश्चित्तानि येन स तथा।

तत्र कौतुकानि—मषोपुण्ड्रादीनि मंगलानि—सिद्धार्थ-कादीनि। 'सन्नद्धबद्धवम्मियकवए' ति सन्नद्धः संहननिकया तथा बद्धः कशाबन्धनतो, वर्मितो वर्म्मतथा कृतोऽंगे निवेशनात् कवचः—कंकटो येन स तथा ततः कर्मधारयः। 'उप्पीलियसरासणपट्टिए' ति उत्पीडिता— गुणसारेण कृतावपीडा शरासनपट्टिका—धनुर्दण्डो येन स तथा, उत्पीडिता वा—बाहौ बद्धा शरासनपट्टिका - बाहुपट्टिका येन स तथा, पिणद्धगेवेज्जविमलवरवद्धचिंधपट्टे 'ति पिणद्धं'-परिहितं प्रैवेयकं—ग्रीवाभरणं येन स तथा विमलवरो बद्धश्चिह्नपट्टो—योधचिह्नपट्टो येन स तथा, ततः कर्मधारयः। 'गाहियाउहपहरणे' ति गृहीतानि आयु-धानि—शस्त्राणि प्रहरणाय—परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा, अथवाऽऽयुधानि—अक्षेप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु—क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि। ततो गृही-तान्यायुधप्रहरणानि येन स तथा 'सकोरेंटमल्लदामेण' ति सह कोरेंटप्रधानैः—कोरिण्टकाभिधानकुसुमगुच्छैर्माल्य-दामभिः—पुष्पमालाभिर्यत्ततथा तेन, 'चउचामरवालकीइ-यंगे' ति चतुर्णां चामराणां वालैर्वीजितमंगं यस्य स तथा, 'मंगलजयसदकयालोए' ति मंगलो—मांगल्यो जयशब्दः कृतो—जनैर्विहित आलोके—दर्शने यस्य स तथा। 'एवं जहा उववाइए जाव' इत्यनेनेदं सूचितम्—'अणेगगणनाय-

१. सप्रतौ स्फुरककण्टकादीनां..... क्वचिनमपि

गदंडनाय-गराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंति-
गणग-दोवारियअमच्चचेडपीढमदणगरनिगमसेड्डिसेणा-
वइसत्यवाहदुयसंधिपालसद्धिं संपरिवुडे धवलमहामेह-
निग्गएविव गहगणदिपंतरिक्थतारागणाण मज्जे ससिंव
पियदंसणे नरवई मज्जगणधराओ पडिनिक्खमइ जेणेव
बाहिरिया उवट्टाणसाला जेणामेव उदाई हत्थिराया तेणामेव
उवागच्छइ, ति तत्रानेके ये गणनायकाः—प्रकृतिभहत्तराः
दण्डनायकाः—तंत्रपालाः राजानो—माण्डलिकाः ईश्वराः
—युवराजाः तलवराः—परितुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभू-
षिता राजस्थानीया माण्डम्बिकाः—छिन्नमडम्बाधिपाः कौटु-
म्बिकाः—कतिपयकुटुम्बप्रभवोऽवलगकाः मंत्रिणः—प्रती-
ताः महामंत्रिणो—मंत्रिमंडलप्रधानाः गणकाः—ज्योति-
षिकाः भाण्डागारिका इत्यन्ये दौवारिकाः—प्रतीहाराः
अमात्या—राज्याधिष्ठायाकाः चेटाः—पादमूलिका पीठ-
मर्दाः—आस्थाने आसनासीनसेवकाः वयस्या इत्यर्थः
नगरमिह सैन्यनिवासिप्रकृतयः निगमाः—कारणिका वणिजो
वा श्रेष्ठिनः—श्रीदेवताऽध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितोत्तमांगाः
सेनापतयो—नृपतिनिरूपितचतुरंगसैन्यनायकाः सार्थवाहाः
प्रतीताः दूता—अन्येषां राजादेशनिवेदकाः सन्धिपालाः—
राज्यसन्धिरक्षकाः एतेषां द्वन्द्वस्ततस्तैः इह तृतीया-
बहुवचनलोपो द्रष्टव्यः 'सद्धिं' ति सार्द्धं सहेत्यर्थः न केवलं
तत्सहितत्वमेव अपि तु तैः समितिसमन्तात् परिवृतः—
परिकरित इति।

७/१७७ 'हारोत्थयसुकयरइयवच्छे' हारावस्तृतेन—हारावच्छादनेन
सुष्ठु कृतरतिकं वक्षः—उरो यस्य स तथा 'जहा उवाइए'
ति तत्र चैवमिदं सूत्रम्—पालंबपलंबमाणपडसुकय-
उतरिज्जे' इत्यादि तत्र प्रालम्बेन—दीर्घेण प्रलम्बमानेन—
झुम्बमानेन पटेन सुष्ठु कृतमुत्तरियं—उत्तरासंगो येन स तथा
'महया भडचडगरवंदपरिक्खिते' ति महाभटानां विस्तार-
वत्संधेन परिकरित इत्यर्थः। 'ओयाए' ति उपयातः उपागतः
'अभेज्जकवयं' ति परप्रहरणाभेद्यावरणं 'वइरपडिरूवगं' ति
वज्रसदृशं 'एगहत्थिणावि' ति एकेनापि गजेनेत्यर्थः
'पराजिणित्तए' ति परानभिभवितुमित्यर्थः।

७/१७८ 'हयमहियपवरवीरघाइयविवडियचिंधद्धयपडागे' ति हताः—
प्रहारदानतो भयिता—माननिर्मथनतः प्रवरवीराः—प्रधान-
भटा घातिताश्च येषां ते तथा, विपतिताश्चिह्नध्वजाः—
चक्रादिचिह्नप्रधानध्वजाः पताकाश्च—तदन्या येषां ते तथा,
ततः कर्मधारयोऽतस्तान् 'किच्छपाणगाए' ति कृच्छ्रगत-
प्राणान्—कष्टपतितप्राणानित्यर्थः दिसो दिसिं ति दिशः
सकाशादन्यस्यां दिशि अभिमतदिक्त्यागादिगन्तराभि-

मुखेनेत्यर्थः अथवा दिगेवापदिग् नाशनाभिप्रायेण यत्र
प्रतिषेधने तदिगपदिक् तद्यथा भवत्येवं, 'पडिसेहित्थ' ति
प्रतिषेधितवान् युद्धान्निवर्तितवानित्यर्थः।

७/१७१ 'सारुट्ट' ति संरुष्टाः मनसा 'परिकुविय' ति शरीरे
समन्ताद्दर्शितकोपविकाराः 'समरवहिय' ति संग्रामे हताः।

७/१८२ 'रहमुसले' ति यत्र रथो मुशलेन युक्तः—परिधावन्
महाजनक्षयं कृतवान् असौ रथमुशलः

७/१८६ 'मग्गओ' ति पृष्ठतः 'आयसं' ति लोहमयं 'किडिण-
पडिरूवगं' ति किठिनं वंशमयस्तापससम्बन्धी भाजन-
विशेषस्तत्प्रतिरूपकं—तदाकारं वस्तु।

७/१८८ 'अणासए' ति अश्वरहितः 'असारहिए' ति असारथिकः
'अणारोहए' ति अनारोहकः योधवर्जितः 'महत्ताजणक्खयं'
ति महाजनविनाशं 'जणवहं' ति जनवधं जनव्यथां वा
'जणपमद्' ति लोकचूर्णनं 'जणसंवट्टकप्पं' ति जनसंवर्त
इव—लोकसंहार इव जनसंवर्तकल्पोऽतस्तम्।

७/१९० 'एगे देवलोगेसु उववण्णे एगे सुकुलपच्चायाए' ति
एतत्स्वभावत एव वक्ष्यति।

७/१९१ 'पुव्वसंगइए' ति कार्तिकश्रेष्ठयवस्थायां शक्रस्य कृणि-
कजीवो मित्रमभवत् 'परियायसंगइए' ति पूरणता-
पसावस्थायां चमरस्यासौ तापसपर्यायवर्ती मित्रमासीदिति।

७/१९२ 'जण्णं से बहुजणो उण्णमण्णस्स एवमाइक्खइर'
इत्यत्रैकवचनप्रक्रमे जे ते एवमांसु 'इत्यत्र यो
बहुवचननिर्देशः स व्यत्ययेऽवसेयः 'अहियगजीवाजीवे'
इत्यत्र यावत्करणत् 'उवलद्धपुण्णपावा' इत्यादि दृश्यम्
'पडिलाभेमाणे' ति इदं च 'समणे निग्गंथे फासुएणं
एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिगह-
कंबलरओहरणेणं पीढफलगसेज्जासंधारएणं पडिलाभेमाणे
विहरइ' इत्येवं दृश्यम्।

७/१९४ 'चाउग्घंटं' ति घण्टाचतुष्टयोपेतम् 'आसरहं' ति अश्व-
वहनीयं रथं 'जुतामेव' ति युक्तमेव रथसामग्र्येति गम्यम्।

७/१९५ 'सज्जय' मित्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यं—'सघंटं सपडागं
सतोरणवरं सणंदिघोसं सकिंकिणीहेमजालपेरंतपरिक्खितं'
सकिंकिणीकेन—क्षुद्रघण्टिकायुक्तेन हेमजालेन पर्यन्तेषु
परिक्षिप्तो यः स तथा तं 'हेमवयचित्ततेणिसकणगनिउत्त-
दारुयागं' हैमवतानिहमवद्गिरिजातानि चित्राणि—विचित्रा-
णि तैनिशानि—तिनिशाभिधानवृक्षसम्बन्धीनि स हि दृढो
भवतीति तद्ग्रहणं कनकनियुक्तानि—नियुक्तकनकानि

दारुणि यत्र स तथा तं सुसंबद्धचक्रमंडलधुरागं' सुष्ठु संविद्धे चक्रे यत्र मण्डला च-वृत्ता धूर्यत्र स, तथा तं 'कालायससुकयनेमिजंतकम्मं' कालायसेन लोहविशेषेण सुष्ठु कृतं नेमे—चक्रमण्डलमालाया यंत्रकर्म—बंधनक्रिया यत्र स तथा तं 'आइण्णवरतुरयसुसंपउत्तं' जात्यप्रधानाश्वैः सुष्ठु संप्रयुक्तमित्यर्थः 'कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपगहियं' कुशलनररूपो यश्छेकेसारथिः—दक्षप्राजिता तेन सुष्ठु संप्रगृहीतो यः स तथा तम्। 'सरसयवत्तीसयतोणपरिमंडियं' शरणं शतं प्रत्येकं येषु ते शरशतास्तैर्द्वात्रिंशता तोणैः—शरधिभिः परिमण्डितो यः स तथा तं, सकंकडवडेंसगं सह कंकटैः—कवचैरवतंसैश्च—शेखरकैः शिरस्त्राणभूतैर्यैः स तथा तं, सचावसरपहरणावरणभरियजोहजुद्धसज्जं' सह चापशरैर्यानि प्रहरणानि—खड्गादीनि आवरणानि च—स्फुरकादीनि तेषां भृतोऽत एव योधानां युद्धसज्जश्च—युद्धप्रगुणो यः स तथा तं, 'चाउग्घंटं' 'आसरहं जुतामेव' ति वाचनान्तरे तु साक्षादेवेदं दृश्यत इति। 'अयमेयारूवं' ति प्राकृतत्वादिदं एतद्रूपं वक्ष्यमाणरूपम्॥

७/१९८ 'सरिसए' ति सदृशकः—समानः 'सरित्तए' ति सदृशत्वक् 'सरिव्वए' ति सदृग्वयाः 'सरिसभंडमतोवगरणे' ति सदृशी भाण्डमात्रा—प्रहरणकोशादिरूपा उपकरणं च—कंकटा-दिकं यस्य स तथा 'पडिरहं' ति रथं प्रति।

७/२०१ 'आसुरुत्ते' ति आशु-शीघ्रं रुप्तः—कोपोदयादिविमूढः 'रूप लुप विमोहने' इति वचनात्, स्फुरितकोपलिंगो वा, यावत्करणादिदं दृश्यं 'रुद्धे कुविए चंडिकए' ति तत्र रुष्टः उदितक्रोधः कुपितः प्रवृद्धकोपोदयः चाण्डिकितः सज्जात-चाण्डिक्यः प्रकटितरौरूप इत्यर्थः 'मिसिमिसीमाणे' ति क्रोधाग्निना दीप्यमान इव एकार्थिका चैते शब्दाः कोपप्रकर्षप्रतिपादनार्थमुक्ताः 'ठाणं' ति पादन्यासविशेष-लक्षणं 'ठाति' ति करोति 'आययकण्णाययं' ति आयतः—आकृष्टः सामान्येन स एव कर्णायतः—आकर्णमाकृष्ट आयतकर्णायतस्तम्।

७/२०२ 'एगाहच्चं' ति एका हत्या—हननं प्रहारो यत्र जीवित-व्यपरोपणे तदेकाहृत्यं तद्यथा भवति। 'कूडाहच्चं' ति कूटे इव तथाविधपाषाणसंपुटादौ कालविलम्बाभावसा-धर्म्यादाहत्या—हननं यत्र तत् कूटाहृत्यम्

७/२०३ 'अत्थामे' ति अस्थामा सामान्यतः शक्तिविकलः 'अबले' ति शरीरशक्तिवर्जितः 'अवीरिए' ति मानसशक्तिवर्जितः 'अपुरिसक्कारपरक्कमे' ति व्यक्तं नवरं पुरुषकारः पुरुषाभिमानः स एव निष्पादितस्वप्रयोजनः पराक्रमः

'अधारणिज्जं' ति आत्मनो धरणं कर्तुमशक्यं 'इतिकड्डु' ति इतिकृत्वा इतिहेतोरित्यर्थः 'तुरए णिगिणहइ' ति अश्वान् गच्छतो निरुणद्धीत्यर्थः 'एगंतमंतं' ति एकान्तं विजनं अन्तं भूमिभागं।

७/२०४ 'सीलाइं' ति फलानपेक्षाः प्रवृत्तयः ताश्च प्रक्रमाच्छुभाः 'वयाइं' ति अहिंसादीनि 'गुणाइं' ति गुणव्रतानि 'वेरमणाइं' ति सामान्येन रागादिविरतयः 'पच्चक्खाणपोसहोववासाइं' ति प्रत्याख्यानं—पौरुष्यादिविषयं पौषधोपवासः—पर्व-दिनोपवासः।

७/२०५ 'गीयगंधव्वनिनाए' ति गीतं गानमात्रं गन्धर्व—तदेव मुरजादिध्वनिसनाथं तल्लक्षणो निनादः—शब्दो गीत-गन्धर्वनिनादः।

७/२०६ 'कालमासे' ति मरणमासे मासस्योपलक्षणत्वात् कालदिवसे इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्।

७/२०६ 'कहिं गए कहिं उववण्णे' ति प्रश्नद्वये 'सोहम्मं' त्याद्येकमेवोत्तरं गमनपूर्वकत्वादुत्पादस्योत्पादाभिधानेन गमनं सामर्थ्यादवगतमेवेत्यभि-प्रायादिति।

७/२०८ 'आउक्खएणं' आयुःकर्मदलिकनिर्जरणेन 'भवक्खएणं' ति देवभवनिबंधनदेवगत्यादिकर्मनिर्जरणेन 'ठिइक्खएणं' ति आयुष्कादिकर्मणां स्थितिनिर्जरणेनेति।

॥ सप्तमशते नवमोद्देशकः ॥

दशम उद्देशकः

अनन्तरोद्देशके परमतनिरास उक्तो, दशमेऽपि स एवोच्यते, इत्येवं सम्बन्धस्यास्येदं सूत्रम्—

७/२१२ 'तेण' मित्यादि

७/२१३ 'एगयओ समुवागयाणं' ति स्थानान्तरेभ्य एकत्र स्थाने समागतानामागत्य च सन्निविष्टाणं' ति उपविष्टानां उपवेशनं चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह—'सन्निसन्नाणं' ति संगततया निषण्णानां सुखासीनानामिति। यावत् 'अत्थिकाए' ति प्रदेशराशीन् 'अजीवकाए' ति अजीवाश्च—ते अचेतनाः कायाश्च—राशयोऽजीवकायास्तान् 'जीवत्थिकाय' मित्येतस्य स्वरूपविशेषणायाह—'अरु-विकायं' ति अमूर्तमित्यर्थः 'जीवकायं' ति जीवनं जीवो—ज्ञानाद्युपयोगस्तत्रधानः कायो जीवकायोऽतस्तम् कैश्चि-ज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यतेऽतस्तन्मतव्युदा-

सायेदमुक्तमिति। से कहमेयं मण्णे एवं?’ ति अथ कथ-
मेतदस्ति कायवस्तु मन्ये इति वित्कर्तृः ‘एवम् अमुना
चेतनादिविभागेन भवतीति। एषां समुल्लापः

७/२१६ ‘इमा कहा अविष्कड’ ति इयं कथा—एषास्तिकाय-
वक्तव्यताऽप्यानुकूल्येन प्रकृता—प्रक्रान्ता अथवा न
विशेषण प्रकटा अविष्कटा ‘अविष्कड’ ति पाठान्तरं तत्र
अविद्वत्प्रकृताः अविज्ञप्रकृता अथवा न विशेषत उत्-
प्राबल्यतश्च प्रकटा अव्युत्प्रकटा ‘अयं च’ ति अयं पुनः ‘तं
चेयसा’ इति यस्माद्द्वयं सर्वमस्तिभावमेवास्तीति वदामः
तथाविधसंवाददर्शनेन भवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्—
तस्मात् चेतसा मनसा ‘वेदस’ ति पाठान्तरे ज्ञानेन प्रमाणा-
बाधितत्वलक्षणेन।

७/२१७ ‘एयमट्टं’ ति अमुमस्तिकायस्वरूपलक्षणमर्थं स्वयमेव
‘प्रत्युपेक्षध्वं पर्यालोचयतेति।’

७/२१८ ‘महाकहापडिवण्णे’ ति महाकथाप्रबन्धेन महाजनस्य
तत्त्वदेशनेन।

७/२१९ ‘एयंसि णं’ ति एतस्मिन् उक्तस्वरूपे ‘चक्किया केइ’ ति
शक्नुयात् कश्चित्।

७/२२० ‘एयंसि णं भंते! पोग्गलत्थिकायंसि’ इत्यादि अयमस्य
भावार्थः—जीवसम्बन्धीनि पापकर्माण्यऽशुभस्वरूपफल-
लक्षणविपाकदायिनिपुद्गलास्तिकाये न भवन्ति। अचेतन-
त्वेनानुभववर्जितत्वात्तस्या जीवास्तिकाय एव च तानि तथा
भवन्ति अनुभवयुक्तत्वात्तस्येति। प्राक्कालोदायिप्रश्नद्वारेण
कर्मवक्तव्यतोक्ता, अधुना तु तत्रश्नद्वारेणैव तान्येव यथा
पापफलविपाकादीनि भवन्ति तथोपदिदर्शयिषुः ‘एत्य णं से’
इत्यादि संविधानकशेषभणनपूर्वकमिदमाह

७/२२३ ‘अत्थि ण’ मित्यादि अस्तीदं वस्तु यदुत जीवानां पापानि
कर्माणि पापो यः फलरूपो विपाकस्तत्संयुक्तानि भवन्ती-
त्यर्थः।

७/२२४ ‘थालीपागसुद्धं’ ति स्थाल्यां—उखायां पाको यस्य तत्
स्थालीपाकम् अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा न तथाविधं
स्यादितिदं विशेषणं, शुद्धं—भक्तदोषवर्जितं ततः कर्म-
धारयः स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः ‘अठार-
सवंजणाउलं’ ति अष्टादशभिलोकप्रतीतैर्व्यजनैः—शालन-
कैस्तक्रादिभिर्वा आकुलं संकीर्णं यत्तत्तथा अथवाऽष्टादश-
भेदं च तद्व्यंजनाकुलं चेति। अत्र भेदपदलोपेन समासः,
अष्टादश भेदाश्चैते—

१. “सुओ१ दणो२ जवणं३ तिण्णि च मंसाइं६ गोरसो७ जूसो८।
भक्खा९ गुललवणिया१० मूलफला११ हरियगं१२ डागो१३॥

२. होइ रसालू१४ य तथा पाणं१५ पाणीय१६ पाणगं१७ चेव।
अट्टारसमो सागो१८ निरुवहओ लोइओ पिंढो ॥”

तत्र मांसत्रयं—जलजादिसत्कं ‘जूषो’ मुद्गतन्दुलजीर-
ककटुआण्डादिरसः ‘भक्ष्याणि’ खण्डखाद्यादीनि ‘गुलला-
वणिया’ गुडर्षटिका लोकप्रसिद्धा गुडधाना वा। मूलफ-
लान्येकमेवपदं ‘हरितकं’ जीरकादि ‘डाको’ वास्तुलकादि-
भर्जिका ‘रसालूः’ मज्जिका, तल्लक्षणं चेदम्—

“दो घयपला महुपलं दहियस्सद्दाढयं मिरियवीसा।

दस खण्डगुलपलाइं एस रसालू निवइजोगो।”

‘पानं’ सुरादि ‘पानीयं’ जलं ‘पानकं’ द्राक्षापानकादि
शाकः—तक्रसिद्ध इति। ‘आवाय’ ति आपातस्तत्रथमतया
संसर्गः ‘भदए’ ति मधुरत्वान्मनोहरः ‘दुरुवताए’ ति दूरूप-
तया हेतुभूतया ‘जहा महासवए’ ति षष्ठशतस्य तृतीयो-
द्देशको महाश्रवकस्तत्र यथेदं सूत्रं तथेहाप्यध्येयम्। ‘एवामेव’
ति विषमिश्रभोजनवत्। ‘जीवा णं भंते! पाणाइ-वाए’
इत्यादौ भवतीति शेषः ‘तस्स णं’ ति तस्य प्राणातिपातादेः
‘तओ पच्छा विपरिणममाणे ति ततः पश्चात्’ आपातानन्तरं
‘विपरिणमत्’ परिणामान्तराणि गच्छत् प्राणातिपातादि कार्ये
कारणोपचारात् प्राणातिपातादिहेतुकं कर्मेति ‘दुरुवताए’ ति
दुरुपताहेतुतया परिणमति दुरुपतां करोतीत्यर्थः। ‘ओस-
हमिस्सं’ ति औषधं—महातिक्तकघृतादि ‘एवामेव’ ति
औषधमिश्रभोजनवत् ‘तस्स णं’ ति प्राणातिपातविरमणादेः
‘आवाए नो भदए भवति’ ति इन्द्रियप्रतिकूलत्वात्।
‘परिणममाणे’ ति प्राणातिपातविरमणादिप्रभवं पुण्यकर्म
परिणामान्तराणि गच्छत्।

अनन्तरं कर्माणि फलतो निरूपितानि, अथ क्रियाविशेष-
माश्रित्य तत्कर्तृपुरुषद्वयद्वारेण कर्मादीनामल्पबहुत्वे नि-
रूपयति—

७/२२७ ‘दो भंते!’ इत्यादि अगणिकायं समारंभंति ति तेजःकायं
समारंभेते उपद्रवयतः तत्रैक उज्ज्वालनेनान्यस्तु विध्यापनेन,
तत्रोज्ज्वालने बहुतरतेजसामुत्पादेऽप्यल्पतराणां विनाशो-
ऽप्यास्ति तथैव दर्शनात् अत उक्तं ‘तत्थ णं एगे’ इत्यादि।
‘महाकम्मतराए चेव’ ति अतिशयेन महत्कर्मज्ञानावर-
णादिकं यस्य स तथा चैवशब्दः समुच्चये, एवं
‘महाक्रियतराए चेव’ ति नवरं क्रिया—दाहरूपा ‘महा-
सवतराए चेव’ ति बृहत्कर्मबन्धहेतुकः ‘महावेयणतराए
चेव’ ति महती वेदना जीवानां यस्मात्स तथा।

अनन्तरमग्निवक्तव्यतोक्ता, अग्निश्च सचेतनः सन्नवभासते एवमचित्ता अपि पुद्गलाः किमवभासन्ते? इति प्रश्न-यन्नाह—

७/२२९ 'अत्थि ण' मित्यादि 'अचित्तावि' त्ति सचेतनास्ते-जस्कायिकादयस्तावदवभासन्त एवेत्यपिशब्दार्थ 'ओभासंति' त्ति सप्रकाशा भवन्ति 'उज्जोइति' त्ति वस्तुद्घोतयन्ति 'तर्वति' त्ति तापं कुर्वन्ति 'पभासंति' त्ति तथाविधवस्तु-दाहकत्वेन प्रभावं लभन्ते।

७/२३० 'कुद्धस्स' त्ति विभक्तिपरिणामात्कुद्धेन 'दूरं गन्ता दूरं निवयइ' त्ति दूरगामिनीति दूरे निपततीत्यर्थः अथवा दूरे गत्वा दूरे निपततीत्यर्थः। 'देसं गंता देसं निवयइ' त्ति अभिप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्रमशतादेदेशे—तद्धादौ गमनस्वभावेऽपि देशे तदद्धादौ निपततीत्यर्थः क्त्वाप्रत्ययपक्षेऽप्यमेव 'जहिं जहिं च' त्ति यत्र यत्र दूरे वा तद्देशे वा सा तेजोलेश्या निपतति। 'तहिं तहिं' तत्र तत्र दूरे तद्देशे वा 'ते' त्ति तेजोलेश्या-सम्बन्धिनः।

।। सप्तमशते दशमोद्देशकः ।।

शिष्टोपदिष्टयष्ट्या पदविन्यासं शनैरहं कुर्वन् ।

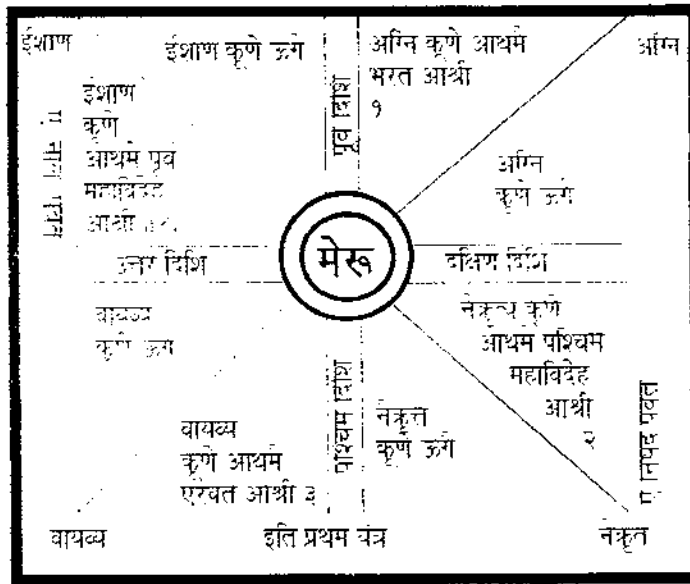
सप्तमशतविवृत्तिपथं लंघितवान् वृद्धपुरुष इव।

समाप्तं च सप्तमं शतं वृत्तितः

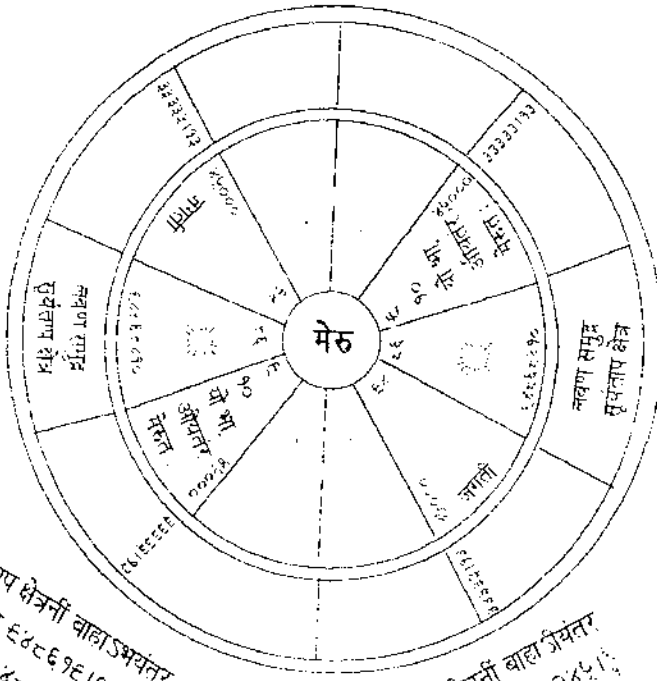
परिशिष्ट – ६

१. सूर्य का उदयास्त-विधि चित्र^१
२. तापक्षेत्र का चित्र^२
३. तमस्काय का चित्र^३
४. कृष्णराजि का चित्र^४
५. गणना कालबोधक यन्त्र^५

सूर्य का उदयास्त-विधि चित्र

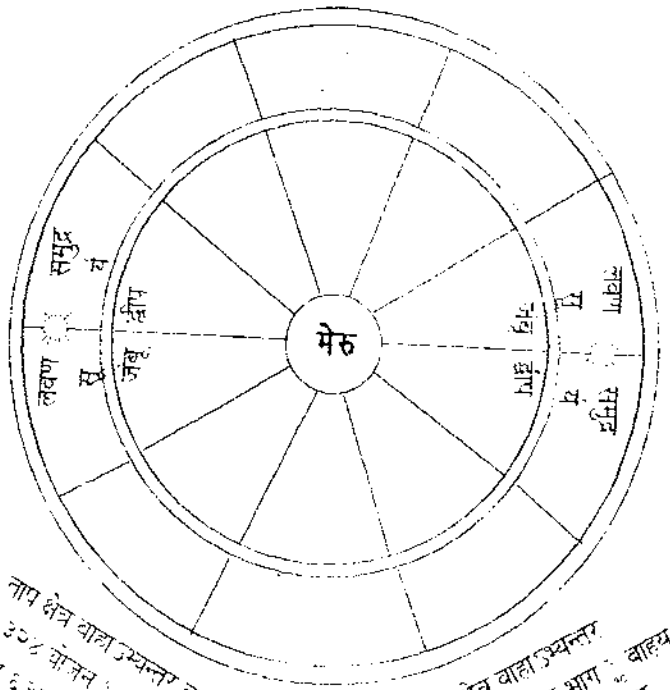


तापक्षेत्र का चित्र



ताप क्षेत्रनी बाहाऽभवन्तर
बाहा ६४८६१६१९० वाहिरली
बाहा ६४८६७१४१९०

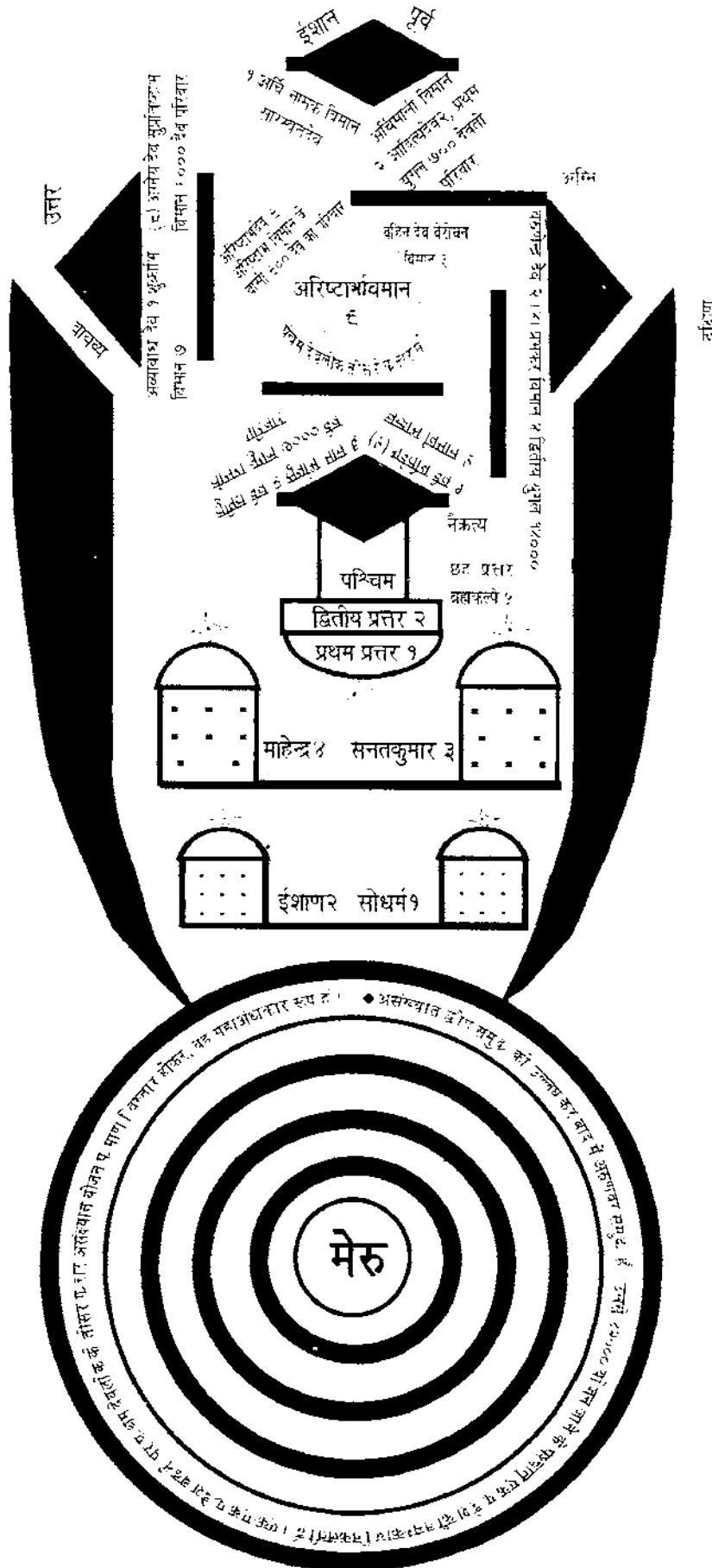
अंधकार क्षेत्रनी बाहाऽभवन्तर
बाहा ६३२४११ बाहा ६३२४५११



ताप क्षेत्र बाहाऽभवन्तर बाहा
६३२४११ बाहा ६३२४५११
बाहा ६३२४५११ बाहा ६३२४५११

अंधकार क्षेत्र बाहाऽभवन्तर
बाहा ६४८६६ बाहा ६४८६६
बाहा ६४८६६ बाहा ६४८६६

तमस्काय का चित्र



वाचना-प्रमुख: आचार्य तुलसी
संपादक : भाष्यकार : आचार्य महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी (१९१४-१९९७) के वाचना-प्रमुखत्व में सन् १९५५ में आगम-वाचना का कार्य प्रारम्भ हुआ, जो सन् ४५३ में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के सान्निध्य में हुई संगति के पश्चात् होनेवाली प्रथम वाचना थी। सन् १९९९ तक ३२ आगमों के अनुसंधानपूर्ण मूलपाठ संस्करण और ७ आगम संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण सहित प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य (आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध) मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी-संस्कृत भाष्य एवं भाष्य के हिन्दी अनुवाद से युक्त प्रकाशित हो चुका है। आचार-भाष्य का अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हो रहा है।

इस वाचना के मुख्य सम्पादक एवं विवेचक (भाष्यकार) हैं—आचार्य श्री महाप्रज्ञ (मुनि नथमल/युवाचार्य महाप्रज्ञ) (जन्म १९२०) जिन्होंने अपने सम्पादन-कौशल से जैन आगम-वाङ्मय को आधुनिक भाषा में समीक्षात्मक भाष्य के साथ प्रस्तुति देने का गुरुतर कार्य किया है। भाष्य में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य, आयुर्वेद, पारश्चात्य दर्शन एवं आधुनिक विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर समीक्षात्मक टिप्पण लिखे गए हैं।

आचार्य श्री तुलसी ११ वर्ष की आयु में जैन ष्वेताम्बर तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर २२ वर्ष की आयु में नवमाचार्य बने।

आपकी औदार्यपूर्ण वृत्ति एवं असाम्प्रदायिक चिन्तन-शैली ने धर्म के सम्प्रदाय से पृथक् अस्तित्व को प्रकट किया। नैतिक क्रान्ति, मानसिक शांति और शिक्षा-पद्धति में परिष्कार के लिए आपने क्रमशः अणुव्रत आन्दोलन, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान का त्रि-आयामी कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। युगप्रधान आचार्य, भारत-ज्योति, वाक्पति जैसे गरिमापूर्ण अलंकरण, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार (१९९३) जैसे सम्मान आपको प्राप्त हुए थे। साधु और श्रावक के बीच की कड़ी के रूप में आपने सन् १९८० में समणश्रेणी का प्रारंभ किया, जिसके माध्यम से देश-विदेश में अनाबाध-रूपेण धर्मप्रसार किया जा रहा है। आपने ६० हजार कि.मी. की भारत की पदयात्रा कर जन-जन में नैतिकता का भाव जगाने का प्रयास किया था।

हिन्दी, संस्कृत एवं राजस्थानी भाषा में अनेक विषयों पर ६० से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। १८ फरवरी १९९४ को आपने आचार्यपद का विसर्जन कर उसे अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ में प्रतिष्ठित कर दिया था। २३ जून सन् १९९७ को आपका महाप्रयाण हुआ। सन् १९९८ में भारत सरकार ने आपकी स्मृति में डाक-टिकट जारी किया।

दशमाचार्य श्री महाप्रज्ञ दस वर्ष की अवस्था में मुनि बने, सूक्ष्म चिन्तन, मौलिक लेखन एवं प्रखर वक्तृत्व आपके व्यक्तित्व के आकर्षक आयाम हैं। जैन दर्शन, योग, ध्यान, काव्य आदि विषयों पर आपके १०० से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत आगम-वाचना के आप कुशल संपादक एवं भाष्यकार रहे हैं।

जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित आगम साहित्य

वाचना प्रमुख : आचार्य तुलसी
संपादक-विवेचक : आचार्य महाप्रज्ञ

ग्रंथ का नाम	पृष्ठ	मूल्य
अंगसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-सहित)		
भाग-१—(आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	११००	७००.००
भाग-२—(भगवई-विआहपण्णती)	१५००	७००.००
भाग-३—(नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, अणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइं, विवागसुयं)	९२५	५००.००
आगम शब्दकोष		
अंगसुत्ताणि तीनों भागों की समग्र शब्द-सूची	८२३	३००.००
उवंगसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-सहित, शब्द-सूची)		
खण्ड-१—(ओवाइयं, राइपसेणइयं, जीवाजीवाभिगमे)	८००	४००.००
खण्ड-२—(पण्णवणा, जंबुदीवपण्णती, चंदपण्णती, सूरपण्णती, निरयावलियाओ, कप्पवडिंसियाओ, पुप्फियाओ, पुप्फचूलियाओ, वण्हदसाओ)	११७०	६००.००
नवसुत्ताणि (मूलपाठ, पाठान्तर-सहित, शब्द-सूची)		
(चार मूल, चार छेद, आवश्यक—आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइं, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहज्झयणं)	१३००	६९५.००
निर्युक्तिपंचक	८५४	५००.००
भगवती जोड़ { भाग १ २ ३ ४ ५ ६ ७ } —प्रत्येक		४००.००
	पृष्ठ सं. ४७२ ४७५ ४८० ४७६ ४२० ३५६ ४७७	

मूल, छाया, हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पण-सहित

ग्रंथ का नाम	पृष्ठ	मूल्य	ग्रंथ का नाम	पृष्ठ	मूल्य
दसवेआलियं	६५०	५००.००	अणुओगदाराइं	४३०	४००.००
उत्तरज्झयणाणि	७६८	६००.००	आचारांगभाष्यम्	६००	५००.००
ठाणं	१०९०	७००.००	आयारो	३५९	२००.००
समवाओ	४६८	५००.००	दसवेआलियं (गुटका)	१०७	७.००
भगवई (विआहपण्णती) खण्ड-१	४१२	५९५.००	उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	४४१	२५.००
भगवई (विआहपण्णती) खण्ड-२	५९०	६९५.००	नन्दी	२५५	३००.००
भगवई (विआहपण्णती) खण्ड-३			सूयगडो		

कोश

देशी शब्दकोश	५७०	१००.००	जैनागम : वनस्पति कोश	३६३	३००.००
निरुक्त कोश	३७०	६०.००	जैनागम : प्राणी कोश	१३१	२५०.००
एकार्थक कोश	३९६	७०.००	श्री भिक्षु आगम विषय कोश	७५७	५००.००